

MAF-R-DEC KALYAN
1952
G.K.U.

FT-035



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, मार्च सन् १९५२

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-अवधकी वीथियोंमें खेलते हुए चारों भैया [कविता] (श्रीतुलसीदासजी)	... ८७३
२-कल्याण ('शिव')	... ८७४
३-समता [दो पत्र] (श्रीअरविन्द)	... ८७५
४-विवाहित स्त्रियोंके कर्तव्य (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	... ८७६
५-सदुपदेश [संकलित—महाभारतसे]	... ८७९
६-सुखी जीवनका रहस्य (स्वामी श्रीचिदानन्दजी)	... ८८०
७-होलीके लिये आवाहन (श्री 'दुर्गेश')	... ८८४
८-नाम-साधना (आचार्य श्रीअक्षयकुमार बन्दोपाध्याय, एम्. ए.)	... ८८५
९-सच्ची शिक्षा	... ८९१
१०-अमृतत्व (पं० श्रीशम्भुनाथजी चतुर्वेदी, प्रयाग)	... ८९२
११-भगवत्पूजन और शुद्ध सत्कर्म [कविता] (अकिञ्चन)	... ८९५
१२-गोमाताकी सेवासे (एक गो-सेवक कृष्णक)	... ८९६
१३-शक्ति-उपासना और चण्डीकी रहस्य विद्या (श्रीहरिनारायणजी बाथम)	... ८९७
१४-ज्ञानविभावना (श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्. ए.)	... ९०२
१५-पूजाके बारह फूल [कविता] (अकिञ्चन)	... ९०४
१६-भक्त-गाथा [श्रीचिदम्बर दीक्षित]	... ९०५
१७-राम-गीता (श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्. ए.)	... ९०७
१८-कर्तव्यकी जड़ मत काटो [कहानी] (श्री 'चक्र')	... ९०९
१९-पुकार [कविता] (प्रो० श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव, एम्. ए., एल्. एल्. बी., साहित्यरत्न)	... ९१४
२०-कामके पत्र	... ९१५
२१-कटु-मिष्ट (श्रीबालकृष्ण बलदुवा)	... ९२४
२२-भगवान्की कृपा (श्रीशम्भुनाथजी चतुर्वेदी, लखनऊ)	... ९२५
२३-दुर्भावपूर्ण भावनाओंको इस प्रकार जीत लीजिये (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्. ए.)	... ९२८
२४-सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन (सङ्कलनकर्ता—एक सत्सङ्गी)	... ९३१
२५-शाकद्वीपीय ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें भ्रम-संशोधन (पं० श्रीरामकुमारजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य)	... ९३६

चित्र-सूची

तिरंगा

१-अवधकी वीथियोंमें लट्टू खेलते हुए चारों भैया	... ८७३
---	---------

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥ विदेशमें १०) (१५ शिल्लिङ्ग)	जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनन्द भूमा जय जय ॥ जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥ जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥	{ साधारण प्रति भारतमें ॥ विदेशमें ॥ (१० पैसे
---	---	--

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्पनलाल गोस्वामी, एम्. ए., शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri





अवधकी वीथियोंमें लड्डू खेलते हुए चारों भैया



सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दका आगामी चैत्र शुक्ल ११ तारीख पाँच अप्रैलके लगभग ऋषिकेश, स्वर्गाश्रम गीता-भवनमें पहुँचनेवाले हैं और सदाकी भाँति उनका आषाढ़ शुक्ल पक्षतक वहाँ ठहरनेका विचार है। जिन सज्जनोंका सत्सङ्गके लिये आनेका विचार हो, वे चैत्र शुक्ल ११ के बाद आ सकते हैं। स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके किसी घरके आदमीको साथ लिये बिना अकेले नहीं आना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी कोई चीज साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लावें जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रवन्ध कर सकते हों। सब लोगोंको बच्चे साथ नहीं लाने चाहिये; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी प्रायः सभी चीजोंका प्रवन्ध रहेगा, परंतु दूधका प्रवन्ध होना बहुत कठिन है।

अवधकी वीथियोंमें खेलते हुए चारों भैया

ललित-ललित लघु-लघु धनु-सर कर, तैसी तरकसी कटि कसे, पट पियरे।
ललित पनही पायँ पैजनी-किंकिनी-धुनि, सुनि सुख लहै मनु, रहै नित नियरे ॥
पहुँची अंगद चारु, हृदय पदिक हारु, कुंडल-तिलक-छवि गड़ी कव जियरे।
सिरसी टिपारो लाल, नीरज-नयन विसाल, सुंदर बदन ठाढ़ सुरतरु सियरे ॥
सुभग सकल अंग, अनुज बालक संग, देखि नर-नारि रहैं ज्यों कुरंग दियरे।
खेलत अवध-खोरि, गोली भौरा चक डोरि, मूरति मधुर बसै तुलसीके हियरे ॥

—श्रीतुलसीदासजी



अवधकी वीथियोंमें लड्डू खेलते हुए चारों भैया



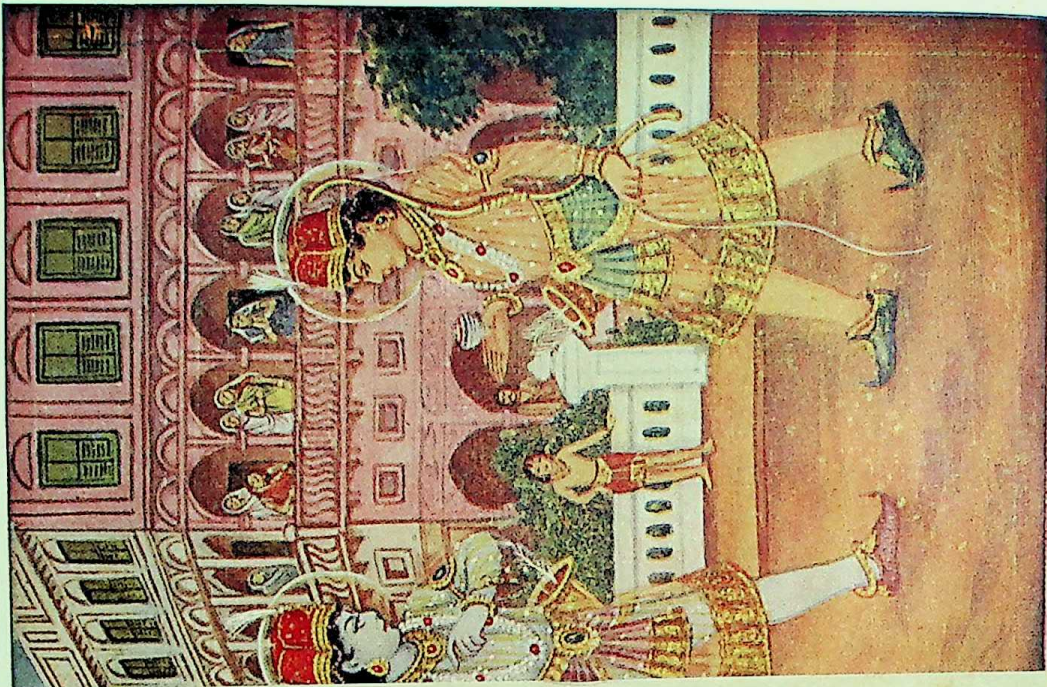
सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दका आगामी चैत्र शुक्ल ११ तारीख पाँच अप्रैलके लगभग ऋषिकेश, स्वर्गाश्रम गीता-भवनमें पहुँचनेवाले हैं और सदाकी भाँति उनका आषाढ़ शुक्ल पक्षतक वहाँ ठहरनेका विचार है। जिन सज्जनोंका सत्सङ्गके लिये आनेका विचार हो, वे चैत्र शुक्ल ११ के बाद आ सकते हैं। स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके किसी घरके आदमीको साथ लिये बिना अकेले नहीं आना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी कोई चीज साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लावें जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों। सब लोगोंको बच्चे साथ नहीं लाने चाहिये; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी प्रायः सभी चीजोंका प्रबन्ध रहेगा, परंतु दूधका प्रबन्ध होना बहुत कठिन है।

अवधकी वीथियोंमें खेलते हुए चारों भैया

ललित-ललित लघु-लघु धनु-सर कर, तैसी तरकसी कटि कसे, पट पियरे।
ललित पनही पायँ पैँजनी-किँकिनी-धुनि, सुनि सुख लहै मनु, रहै नित नियरे ॥
पहुँची अंगद चारु, हृदय पदिक हारु, कुंडल-तिलक-छवि गड़ी कव जियरे।
सिरसी टिपारो लाल, नीरज-नयन विसाल, सुंदर बदन ठाढ़ सुरतरु सियरे ॥
सुभग सकल अंग, अनुज बालक संग, देखि नर-नारि रहैं ज्यों कुरंग दियरे।
खेलत अवध-खोरि, गोली भौरा चक डोरि, मूर्ति मधुर बसै तुलसीके हियरे ॥

—श्रीतुलसीदासजी



भारों भैया





यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद् वर्षं तद्वच्छुभं नेत्रे चेतपसोर्जिते मुरुचिरे याम्यां हरिर्दृश्यते ।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

वर्ष २६ }

गोरखपुर, सौर चैत्र २००८, मार्च १९५२

{ संख्या ३
पूर्ण संख्या ३०४

अवधकी वीथियोंमें खेलते हुए चारों भैया

ललित-ललित लघु-लघु धनु-सर कर, तैसी तरकसी कटि कसे, पट पियरे ।
ललित पनही पायँ पैजनी-किंकिनी-धुनि, सुनि सुख लहै मनु, रहै नित नियरे ॥
पहुँची अंगद चारु, हृदय पदिक हारु, कुंडल-तिलक-छवि गड़ी कव जियरे ।
सिरसी टिपारो लाल, नीरज-नयन विसाल, सुंदर बदन ठाढ़ सुरतरु सियरे ॥
सुभग सकल अंग, अनुज बालक संग, देखि नर-नारि रहैं ज्यौँ कुरंग दियरे ।
खेलत अवध-खोरि, गोली भौरा चक डोरि, मूरति मधुर बसै तुलसीके हियरे ॥

—श्रीतुलसीदासजी

कल्याण

याद रक्खो—भगवान् मङ्गलमय हैं, चाहे तुम्हें अच्छा न लगे, पर वे जो कुछ करते हैं, तुम्हारे अच्छे-के लिये ही करते हैं। इसलिये कुछ कहना-सुनना हो, कुछ अभाव-अभियोग हो तो सच्चे हृदयसे हृदय खोलकर उन्हींसे कहो। किसी दूसरेसे कुछ भी आशा मत करो।

याद रक्खो—जगत्के लोग तुम्हारे स्वार्थकी बात मन लगाकर कभी नहीं सुनेंगे। वे उसी बातको रसके साथ सुनेंगे, जो उनके स्वार्थकी होगी। तुम उनके सामने अपना दुःख रोकर कुछ भी नहीं पाओगे। वे सुनेंगे नहीं, सुनेंगे तो लापरवाहीसे सुनेंगे।

याद रक्खो—एक भगवान् ही ऐसे हैं, जो तुच्छ-से-तुच्छ जीवके सुख-दुःखकी बात ध्यानसे सुनते हैं, सुनकर उसको सुखी करनेके लिये प्रयास करते हैं; क्योंकि वे सबके अपने हैं, सबके आत्मा हैं, सबके सुहृद् हैं, सबका सुख-दुःख उनका अपना ही सुख-दुःख है। इसीसे गीतामें भगवान्ने कहा है कि 'मुझको सुहृद् जानते ही शान्ति मिल जाती है।'।

याद रक्खो—भगवान्की तुम्हारेमें ममता है, तुम कैसे हो इस बातको भगवान् नहीं देखते। वे देखते हैं केवल इस बातको कि उनमें तुम्हारा विश्वास है या नहीं। यदि तुम्हारा उनमें विश्वास-भरोसा है तो वे वैसे ही तुम्हारा सहज ही मङ्गल करेंगे, जैसे स्नेहमयी माता अपने मैले-कुचैले मलभरे पुत्रका करती है।

याद रक्खो—भगवान्पर विश्वास-भरोसा करनेसे ही भगवान्की सहज कृपाका अनुभव होता है, अतः दूसरी ओर, दूसरोंकी ओर ताकना छोड़ दो। किसी मनुष्यकी कृपाकी ओर या किसी कार्यविशेषकी ओर ललचायी दृष्टिसे न देखकर, सब ओरसे दृष्टि हटाकर अपनी दृष्टि केवल भगवान्की अमोघ कृपाकी ओर लगा दो। पुकारो, रोओ, उन अपने परम आत्मीयके सामने जो किसी अवस्थामें तुमसे घृणा नहीं करते, कभी किसी

बातसे भी मन मैला नहीं करते, अपराधोंको विसारकर अल्प-से गुणोंपर ही रीझ जाते हैं और जो अमोघ तथा अतुलनीय शक्तिशाली हैं।

याद रक्खो—मनुष्य यदि प्रसन्न भी हुआ तो वह क्या देगा? क्या वह तुम्हारे अभावकी निवृत्ति कर देगा; जो स्वयं अभावग्रस्त है, जो स्वयं तृष्णाके मारे व्याकुल है, जो खुद कामनाकी आगसे जल रहा है, वह तुम्हारे अभावकी निवृत्ति किस वस्तुको देकर कर देगा, वह तुम्हारी तृष्णाको कैसे शान्त कर देगा और वह तुम्हारी कामनाकी आग कैसे बुझा देगा। भिखमंगा कैसे किसी भिखारीके भिखारीपनको हर सकता है?

याद रक्खो—तुम मनुष्य हो, बुद्धिमान् हो, विवेकशील हो—एक छोटा-सा पक्षी पपीहा खातीके जलको छोड़कर प्राण निकलनेकी अवस्थामें भी दूसरा जल नहीं पीता, जलके लिये दूसरी ओर नहीं ताकता, अपनी टेकपर अड़ा रहता है, तब तुम मनुष्य होकर भी क्या इतने गये-बीते हो, जो सर्वसमर्थ सर्वज्ञ परम सुहृद् भगवान्को छोड़कर इधर-उधर ताकते हो! व्यभिचारिणी कुलटा स्त्रीकी भाँति जिस-तिसके हाथ अपने मनको बेचकर उसकी ओर ललचायी आँखोंसे देखते हो! तुम्हें लज्जा आनी चाहिये।

याद रक्खो—तुम्हारे ये संसारी बन्धु, संसारी पदार्थ, संसारी सुविधा तुम्हें समयपर ऐसा धोखा देंगे कि तुम उसे देखकर दंग रह जाओगे और अपनी भूलपर सिर पीटकर पछताओगे; पर उस समय कोई उपाय तुम्हारे हाथमें नहीं रह जायगा। अभीसे चेत जाओ और केवलमात्र भगवान्को—भगवान्की कृपाको ही लक्ष्य बनाकर अपनी जीवन-नौकाको उन्हींके भरोसे छोड़ दो। डाँड़ चलाओ—विहित कर्म करो, पर आशा-भरोसा रक्खो—एकमात्र अपने नित्य साथ रहनेवाले और साथ देनेवाले केवल एक भगवान्का ही।

‘शिव’

समता

[दो पत्र]

(लेखक—श्रीअरविन्द)

(१)

समता ही सच्ची आध्यात्मिक चेतनाका प्रमुख अवलम्बन है और जब साधक भाव, वचन या कर्ममें किसी प्राणिक गतिमें निजको बह जाने देता है, तब वह समतासे ही विच्युत होता है। समता और तितिक्षा एक ही चीज नहीं हैं, यद्यपि यह बात संशयरहित है कि समताके प्रतिष्ठित होनेसे मनुष्यकी सहनशीलता और तितिक्षाकी क्षमता अत्यधिक परिणाममें, यहाँतक कि असीमरूपमें बढ़ जाती है।

समताका अर्थ होता है मन और प्राणका अचञ्चल तथा अविचलित होना। इसका अर्थ यह होता है कि जो कुछ घटित हो या तुम्हें जो कुछ कहा जाता हो या तुम्हारे सम्बन्धमें जो कुछ किया जाता हो, इन सबका तुमपर कोई स्पर्श न हो और न तुम इन सबसे विचलित ही होओ; वरं तुम इन्हें सीधी दृष्टिसे देख सको, तुम्हारी यह दृष्टि व्यक्तिगत भावनाओंकी विकृतियोंसे विमुक्त रहे और तुम यह समझनेका प्रयत्न करो कि इनके पर्देके पीछे क्या चीज है, ये चीजें क्यों घटित हो रही हैं, इनसे क्या सीखा जा सकता है, हमारे स्वयंके अंदर क्या चीज है, जिसपर इनका प्रहार हो रहा है और इन सबसे हम कौन-सा आन्तरिक लाभ उठा सकते हैं या कौन-सी प्रगति कर सकते हैं। इसका अर्थ होता है प्राणिक गतियोंपर आत्म-प्रभुत्वका होना; क्रोध, संवेदनशीलता, अहङ्कार और कामना तथा और सब बाकी चीजोंपर भी आत्म-प्रभुत्वका होना, अपनी भावमय सत्ताको कभी इन चीजोंके हाथोंमें पड़ने देकर आन्तरिक शान्तिको विक्षुब्ध नहीं होने देना, इन चीजोंके प्रवाह और वेगमें नहीं बोलना और न कार्य ही करना, सदैव आत्माकी शान्त

आन्तरिक स्थितिसे बोलना और कार्य करना। किसी पूर्णमात्रामें इस समताको प्राप्त करना आसान नहीं, परंतु इसे अपनी आन्तरिक स्थिति और बाह्य गतियोंका अधिकाधिक आधार बनानेका प्रयत्न हमें सदैव करते रहना चाहिये।

समताका एक और अर्थ भी है—मनुष्यों, उनकी प्रकृति, उनके कार्यों और उन्हें चलानेवाली शक्तियोंके प्रति समदृष्टि रखना। इससे हमें देखने और निर्णय करनेमें अपने मनसे समस्त व्यक्तिगत भावनाओंको, यहाँतक कि समस्त मानसिक पक्षपातोंको ढकेल बाहर करनेमें सहायता मिलती है। व्यक्तिगत भावना सदैव विकृतिले आती है और इससे यह होता है कि हम मनुष्योंके कार्योंमें केवल उन कार्योंको ही नहीं, वरं उनके पीछे ऐसी चीजोंको देखते हैं जो अधिक प्रायः वहाँ नहीं होती हैं। इसके परिणाममें गलतफहमी होती है, गलत निर्णय होते हैं और ये चीजें ऐसी होती हैं जिनका वर्णन किया जा सकता था। छोटे-छोटे महत्त्वोंवाली चीजें बहुत बड़े रूप धारण कर लेती हैं।

मैंने देखा है कि जीवनमें होनेवाली इस प्रकारकी प्रतिकूल घटनाओंमेंसे आधीसे अधिकका कारण यही रहता है; किंतु साधारण जीवनमें व्यक्तिगत भावनाएँ और संवेदनशीलता मानव-प्रकृतिका स्थायी अङ्ग रहती हैं और स्वरक्षाके लिये उनकी आवश्यकता भी हो सकती है, पर मेरे विचारमें वहाँ भी मनुष्यों और चीजोंके प्रति एक सन्न, विशाल और सम दृष्टिकोण बनाये रखना रक्षाका कहीं अधिक अच्छा साधन होता है; किंतु साधकके लिये तो इन चीजोंको पार करना और बल्कि आत्माकी प्रशान्त शक्तिमें निवास करना ही उसकी प्रगतिका आवश्यक अङ्ग है।

आन्तरिक प्रगतिकी पहली शर्त है प्रकृतिके किसी भी अङ्गमें हो रही या विद्यमान गलत गतिको पहचानना; गलत विचार, गलत भावना, गलत वचन, गलत कर्म जो कुछ भी हो, उसे पहचानना, और गलतका अर्थ होता है उस चीजसे, जो सत्यसे विच्युत हो, उच्चतर चेतना और उच्चतर आत्मासे विच्युत हो, भगवान्‌के मार्गसे विच्युत हो । और तब, एक बार पहचान लेनेपर इसे उचित नहीं ठहराना है और न इसका समर्थन करना है, वरं इसे स्वीकार करना है और भगवान्‌को अर्पित कर देना है ताकि उनकी ज्योति और कृपा अवतरित हों और इसके स्थानपर सच्ची चेतनाकी ठीक गतिको प्रतिष्ठित करें ।

(२)

पूर्ण समताकी स्थापनामें लंबा समय लगता है और यह तीन चीजोंपर निर्भर करती है—आन्तरिक समर्पणके द्वारा अन्तरात्माका भगवान्‌को आत्मार्पण, ऊपरसे आध्यात्मिक प्रशान्ति एवं धीरताका अवतरण, और समताका विरोध करनेवाली समस्त अहमात्मक, राजसिक तथा अन्य भावनाओंका स्थिर, दीर्घ तथा अटल वर्जन ।

पहली चीज जो करनी है वह है हृदयका पूर्ण निवेदन एवं अर्पण,—अहं, रजोगुण आदिका वर्जन कार्यकारी हो सके, इसके लिये आध्यात्मिक शान्ति एवं समर्पणका वर्द्धन अनिवार्य है ।

विवाहित स्त्रियोंके कर्तव्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

विवाहिता स्त्रीके लिये पतिव्रतधर्मके समान कुछ भी नहीं है, इसलिये उसे मनसा-वाचा-कर्मणा पतिके सेवा-परायण होना चाहिये । स्त्रीके लिये पतिपरायणता ही मुख्य धर्म है । इसके सिवा अन्य सब धर्म गौण हैं । महर्षि मनुने स्पष्ट लिखा है कि स्त्रियोंको पतिकी आज्ञाके बिना यज्ञ, व्रत, उपवास आदि कुछ भी न करने चाहिये । स्त्री केवल पतिकी सेवा-शुश्रूषासे ही उत्तम गति पाती है एवं स्वर्गलोकमें देवता लोग भी उसकी महिमा गाते हैं । जो स्त्री पतिकी आज्ञाके बिना व्रत, उपवास आदि करती है, वह अपने पतिकी आयुको हरती है और स्वयं नरकमें जाती है ।

इसलिये पतिकी आज्ञाके बिना यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि भी नहीं करने चाहिये, दूसरे लौकिक कर्मों-की तो बात ही क्या । स्त्रीके लिये पति ही तीर्थ है, पति ही व्रत है, पति ही देवता एवं परम पूजनीय गुरु है । ऐसा होते हुए भी जो स्त्रियाँ अपने पतिकी आज्ञाके बिना दूसरेको

गुरु बनाती हैं, वे घोर नरकको प्राप्त होती हैं । आजकल बहुतसे धूर्तलोग साधु, महंत और भक्तोंके वेषमें 'बिना गुरुके मुक्ति नहीं होती'—ऐसा भ्रम फैलाकर भोली-भाली स्त्रियोंको मुक्तिका झूठा प्रलोभन देकर उनके धन और सतीत्वका हरण करते हैं और घोर नरकके भागी बनते हैं । ऐसे धूर्त-ठगोंसे माताओं और बहिनोंको खूब सावधान रहना चाहिये । ऐसे पुरुषोंका मुख देखना भी धर्म नहीं है । मनु आदि शास्त्रकारोंने स्त्रियोंकी मुक्ति तो केवल पतिव्रतसे ही बतलायी है । गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

एकइ धर्म एक व्रत नेमा । कायँ बचन मन पति पद प्रेमा ॥
मन बच कर्म पतिहि सेवकाई । तियहि न यहि सम आन उपाई ॥
बिनु भ्रम नारि परम गति लहई । पतिव्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥

वही स्त्री पतिव्रता है, जो अपने मनसे पतिका हित-चिन्तन करती है, वाणीसे सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य बोलती है, शरीरसे उसकी सेवा एवं आज्ञाका

पालन करती है। जो पतिव्रता होती है, वह अपने पतिकी इच्छाके विरुद्ध कुछ भी आचरण नहीं करती। वह स्त्री पतिसहित उत्तम गतिको प्राप्त होती है और उसीको लोग साध्वी कहते हैं। स्त्रियोंके लिये इस लोक और परलोकमें पति ही नित्य सुखका देनेवाला है।

इसलिये स्त्रियोंको किञ्चिन्मात्र भी पतिके प्रतिकूल आचरण कभी नहीं करना चाहिये। जो नारी ऐसा करती है यानी पतिकी इच्छा और आज्ञाके विरुद्ध चलती है, उसको इस लोकमें निन्दा और मरनेपर नीच गतिकी प्राप्ति होती है।

पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। विधवा होइ पाइ तरुनाई ॥

इस प्रकार पतिकी इच्छाके विरुद्ध चलनेवालीकी यह गति लिखी है। फिर जो नारी दूसरे पुरुषोंके साथ रमण करती है, उसकी घोर दुर्गति होती है, इसमें तो कहना ही क्या है ?

पति बंचक परपतिरति करई। रौरव नरक कल्प सत परई ॥

अतः स्त्रियोंको जाग्रतकी तो बात ही क्या, स्वप्नमें भी परपुरुषका चिन्तन नहीं करना चाहिये। वही उत्तम पतिव्रता है, जिसके मनमें ऐसा भाव है—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग माहीं ॥

पति यदि कामी हो, शील एवं गुणोंसे रहित हो तो भी साध्वी यानी पतिव्रताको ईश्वरके समान मानकर उसकी सदा सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये—

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।

उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥

(मनु० ५। १५४)

अपमान तो अपने पतिका कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो नारी अपने पतिका अपमान करती है, वह परलोकमें जाकर महान् दुःखोंको भोगती है।

बुद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किणूँ अपमान। नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥

साध्वी स्त्रियोंको पुरुषों और स्त्रियोंके जो सामान्य धर्म बतलाये हैं, उनका पालन करना चाहिये। पतिव्रत-धर्मके रहस्यको जाननेवाली स्त्रियोंको अपने पतिसे बड़े-सास, ससुर आदिकी बड़े आदरके साथ सेवा-पूजा और आज्ञापालन करनी चाहिये, क्योंकि वे पतिके भी पति हैं। पतिव्रतधर्मके आदर्श स्वरूप सीता, सावित्री आदिने ऐसा ही किया है। जब सावित्री अपने पतिव्रत साथ वनमें गयी, तब पतिकी आज्ञा होनेपर भी वह सास-ससुरकी आज्ञा लेकर ही गयी थी। श्रीसीताजी भगवन् श्रीरामचन्द्रजीके साथ माता कौसल्यासे आज्ञा, शिक्षा और आशीर्वाद लेकर ही गयी थीं।

साध्वी स्त्रीको उचित है कि अपने लड़के-लड़कियों को आचरण एवं वाणीद्वारा उत्तम शिक्षा दें। माता पिता जो आचरण करते हैं, बालकोंपर उनका विशेष असर पड़ता है। अतः स्त्रियोंको झूठ-कपट आदि दुराचार एवं काम-क्रोध आदि दुर्गुणोंका सर्वथा त्याग करके उत्तम आचरण करने चाहिये। बहुत-सी स्त्रियाँ लड़कियोंको 'रौंड़' और लड़कोंको 'तू मर जा', 'तेरा सत्यानाश हो जाय' इत्यादि कटु और दुर्वचन बोलती हैं, एवं उनको भुलानेके लिये 'मैं तुझे अमुक चीज मँगवा दूँगी' इत्यादि झूठा विश्वास दिलाती हैं और 'बिहूँ आयी', 'हाऊ आया' इत्यादिका झूठा भय दिखाती हैं इससे बहुत नुकसान होता है, अतएव ऐसी बातोंसे स्त्रियोंको बचना चाहिये। बालकका चित्त कोमल होता है, उसमें यह बातें सहज ही जम जाती हैं और वह झूठ बोलना, धोखा देना आदि सीख जाता है, एवं अत्यन्त भीरु और दीन बन जाता है। बालकोंके मनमें वीरता और गम्भीरता उत्पन्न हो, ऐसे ओज और तेज भरे हुए सच्चे वचनोंद्वारा उनको आदेश देना चाहिये, उनमें बुद्धि और ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये सत्-शास्त्रिक शिक्षा देनी चाहिये। बालकोंको गाली आदि नहीं देना चाहिये; क्योंकि गाली देना उनको गाली सिखाना है

अश्लील गंदे-कड़वे अपशब्दोंका प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। सङ्गका बहुत असर पड़ता है। पशु-पक्षी भी सङ्गके प्रभावसे सुशिक्षित और कुशिक्षित हो जाते हैं। सुना जाता है कि मण्डनमिश्रके द्वारपर रहनेवाले पक्षी भी शास्त्रवचनोंका उच्चारण किया करते थे। देखा भी जाता है कि गाली बकनेवालोंके पास रहनेवाले पक्षी भी गाली बका करते हैं। अतः सदा सत्य, प्रिय, सुन्दर और मधुर हितकर वचन ही बहुत प्रेमसे, धीमे स्वरसे और शान्तिसे बोलने चाहिये। बालकोंके सम्मुख पतिके साथ हँसी-मजाक एवं एक शय्यापर सोना-बैठना कभी नहीं करना चाहिये। जो स्त्रियाँ ऐसा करती हैं, वे अपने बालकोंको व्यभिचारकी शिक्षा देती हैं।

परपुरुषका दर्शन, स्पर्श, एकान्तवास एवं उसके चित्रका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। लोभ, मोह, शोक, हिंसा, दम्भ, पाखण्ड आदिसे सदा बचकर रहना चाहिये और उत्तम गुण एवं आचरणोंके लिये गीता, रामायण, भागवत, महाभारत एवं सती-साध्वी स्त्रियोंके चरित्र पढ़नेका अभ्यास रखना चाहिये और उनके अनुसार ही बालकोंको शिक्षा देनी चाहिये।

बच्चोंको खिलाने-पिलाने इत्यादिमें भी अच्छी शिक्षा देनी चाहिये। मदालसाने अपने बालकोंको बाल्यावस्थामें ही ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा देकर उन्हें उच्च श्रेणीका बना दिया था। बच्चे बुरे बालकों एवं बुरे स्त्री-पुरुषोंका सङ्ग करके कुशिक्षा ग्रहण न कर लें, इसके लिये माता-पिताको विशेष ध्यान रखना चाहिये। हाथके बुने स्वदेशी वस्त्र स्वयं पहनने और बालकोंको भी पहनाने चाहिये। बच्चोंको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे उनका प्रेम शृङ्गार, देहकी सजावट, विलासिता आदिमें न होकर सदाचार, सद्गुण, सादगी, सेवा और ईश्वर तथा धर्म आदिमें हो।

बालकोंको गहने पहनाकर नहीं सजाना चाहिये।

इससे स्वास्थ्यकी हानि एवं कहीं-कहीं प्राणोंकी भी जोखिम हो जाती है। बल बढ़नेके लिये व्यायाम और बुद्धिकी वृद्धिके लिये विद्या एवं उत्तम शिक्षा देनी चाहिये। थियेटर, सिनेमा आदि देखनेका व्यसन और बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, गाँजा, सुल्फा आदि मादक वस्तुओंका सेवन करनेकी आदत न पड़ जाय, इसके लिये भी माता-पिताको ध्यान रखना चाहिये। लड़की और लड़केके खान-पान, प्यार-दुलार और व्यवहारमें भेद-भाव नहीं रखना चाहिये। प्रायः स्त्रियाँ खान-पान, प्यार-दुलार और दुःख-सुख, मरण आदिमें भी लड़कोंके साथ जैसा व्यवहार करती हैं, लड़कियोंके साथ वैसा नहीं करतीं। उनका अपमान करती हैं। जो स्त्रियाँ इस प्रकार अपने ही बालकोंमें विषमताका व्यवहार करती हैं, उनसे समताकी आशा कैसे की जा सकती है? इस प्रकारकी विषमतासे इस लोकमें अपकीर्ति और परलोकमें दुर्गति होती है। अतः बालकोंके साथ समताका ही व्यवहार रखना चाहिये।

बहुत-सी स्त्रियाँ भूत, प्रेत, देवता, पीर आदिका किसीमें आवेश समझकर भय करने लग जाती हैं। यह प्रायः व्यर्थ बात है। ऐसी बातपर कभी बहम-विश्वास नहीं करना चाहिये। इस प्रकारकी बातें अधिकांशमें तो हिस्टीरिया आदिकी बीमारीसे होती हैं। बहुत-सी जगह तो जान-बूझकर ऐसा ढोंग किया जाता है। कभी-कभी बहम या भयसे भी आवेश आ जाता है। अतः इनपर विश्वास नहीं करना चाहिये। यह सब व्यर्थकी और हानिकार बातें हैं। इसलिये स्त्रियोंको जादू-टोना, हाथ दिखाना, झाड़ू-झूँक, मन्त्र आदि अपने या अपने घरवालोंपर नहीं करवाने चाहिये एवं ऐसा करनेवाली स्त्रियोंका सङ्ग भी नहीं करना चाहिये।

वेश्या, व्यभिचारिणी, लड़ाई-झगड़ा करनेवाली, निलज और दुष्ट स्त्रियोंका सङ्ग कभी नहीं करना

चाहिये। परंतु उनमें घृणा और द्वेष भी नहीं करना चाहिये। उनके अवगुणोंसे ही घृणा करनी चाहिये। बड़ोंकी, दुखियोंकी और घरपर आये हुए अतिथियोंकी एवं अनाथोंकी सेवापर विशेष ध्यान देना चाहिये। यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, देवपूजन आदि पतिके साथ उसकी आज्ञाके अनुसार उसके सन्तोषके लिये अनुगामिनी होकर ही करें, खतन्त्र होकर नहीं।

पतिका जो इष्ट है वही स्त्रीका भी इष्ट है, अतः पतिके बताये हुए इष्टदेव परमात्माके नामका जप और रूपका ध्यान करना चाहिये। स्त्रियोंके लिये पति ही गुरु है। यदि पतिको ईश्वरकी भक्ति अच्छी न लगती हो तो पिताके घरसे प्राप्त हुई शिक्षाके अनुसार भी ईश्वरकी भक्ति, बाहरी भजन, सत्संग, कीर्तन आदि न करके गुप्तरूपसे मनमें ही भगवान्‌का स्मरण, जप और ध्यान करना चाहिये। भक्तिका मनसे विशेष सम्बन्ध होनेके कारण जहाँतक बन सके, गुप्तरूपसे भक्ति करनी चाहिये; क्योंकि गुप्तरूपसे की हुई भक्ति विशेष महत्त्वकी होती है।

पति जो कुछ भी कहे उसका अक्षरशः पालन करे, किंतु जिस आज्ञाके पालनसे पति नरकका भागी हो उसका पालन नहीं करना चाहिये। जैसे पति काम,

क्रोध, लोभ, मोहवश चोरी या किसीके साथ व्यभिचार करने, मांस-मदिराका सेवन करने, किसीको विष पिलाने, जानसे मारने, भ्रूणहत्या-गोहत्या आदि घोर पाप करनेके लिये कहे तो वह नहीं करे। ऐसी आज्ञाका पालन न करनेसे अपराध भी समझा जाय तो भी पतिको नरकसे बचानेके लिये उसका पालन नहीं करना चाहिये। जिस कामसे पतिका परम हित हो, वह काम स्वार्थ छोड़कर करनेकी सदा चेष्टा करनी चाहिये। पतियोंको चाहिये कि वे अपनी सदाचारपरायणा साध्वी पत्नियोंको कदापि बुरे आचरण करनेका आदेश भूलकर भी न दें।

विधवा स्त्रियोंकी सेवापर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि अपने धर्ममें दृढ़ रहनेवाली विधवा स्त्री देवीके समान है। उसकी सेवा-शुश्रूषा करने, उसके साथ प्रेम करने-से स्त्री इस लोकमें सुख और परलोकमें उत्तम गति पाती है। जो स्त्री विधवाको सताती है, वह उसकी हायसे इस लोकमें दुखिया हो जाती है और मरनेपर नरकमें जाती है।

ऊपर बताये हुए पतिव्रत-धर्मको स्वार्थ छोड़कर पालन करनेवाली साध्वी स्त्री इस लोकमें परम शान्ति एवं परम आनन्दको प्राप्त होती है और मरनेके बाद परम गतिको प्राप्त होती है।

सदुपदेश

मृधावादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः। न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् ॥

(महाभारत, वनपर्व २०७।४२)

झूठ बोलना छोड़ दे, बिना कहे ही दूसरोंका प्रिय करे तथा न कामनासे, न क्रोधसे और न द्वेषसे ही धर्मका त्याग करे।

न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्। आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति ॥

(महाभारत, वनपर्व २०७।४४)

पाप करनेवालेके प्रति बदलेमें पाप न करे—बुरा करनेवालेसे बदला न ले। सदा साधुस्वभावसे ही रहे। जो पापी किसीके प्रति अकारण पाप करना चाहता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है।

सुखी जीवनका रहस्य

(लेखक—स्वामी श्रीचिदानन्दजी)

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम् ।
यथाप्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥

इस जगत्की रचना ही त्रिगुणात्मक है, इसलिये इसमें सर्वत्र विषमता रहेगी ही और यह विषमता ही कभी सुखरूपसे भासित होती है तो कभी दुःखरूपसे । सुख और दुःख एक ही सिक्केकी दो दिशाएँ हैं । एक ओरसे देखो तो सुख दीखता है और दूसरी ओरसे देखो तो दुःख ।

एक समय एक परिस्थिति अनुकूल दीख पड़ती है तो दूसरे समय वही अनुकूलता प्रतिकूल दीखने लगती है; और इस कल्पित अनुकूलता और प्रतिकूलताको ही मनुष्य प्रिय और अप्रिय नाम देकर सुखी-दुखी होता है ।

इसी कारण श्लोकमें कहा गया है कि यदि सुखरूप जीवन व्यतीत करना हो तो 'यथाप्राप्तमुपासीत' यानी जिस समय जो भोग आ जाय उसे सहर्ष सिर चढ़ा लो; क्योंकि वह तुम्हारे पूर्वकृत कर्मोंके पुरस्कारस्वरूप ईश्वरकी ओरसे तुम्हारे ही हितके लिये तुमको मिला है । कैसे सिरपर चढ़ावें, यह समझाते हुए कहते हैं—'हृदयेन अपराजितः' यानी हृदयको आघात न पहुँचाते हुए, हृदयपर बल न पड़े इस प्रकारसे । हृदयको मजबूत रखकर लाभालाभको शान्तिपूर्वक सहन करते रहना ही सुखी जीवनकी कुंजी है ।

सभी प्राणी जबसे जन्मते हैं, तभीसे सुखकी खोजमें लगे दीखते हैं । ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य पालन करते हैं और तपस्वी तप करते हैं, वे भी सुखकी प्राप्तिके लिये ही । बालक खेलते हैं, विद्यार्थी विद्याभ्यास करते हैं, गृहस्थ गृहस्थाश्रम चलाते हैं और वानप्रस्थ

तथा संन्यासी अपना-अपना धर्म पालन करते हैं, सब सुखकी प्राप्तिके लिये ही राजा राज्य करता है और प्रजा अपने धर्मका पालन करती है सुखकी ही आशासे । परंतु इनमेंसे किसी भाग्यशालीको ही सुख मिलता है । इसका कारण यह है कि सुख क्या है और कहाँ मिलेगा, इसका ज्ञान प्राप्त करनेके बदले सभी लोग सीधे ही सुखकी खोजमें लग जाते हैं । अन्नके बाजारमें जाकर पुस्तक खोजें, या लोहेकी दूकानपर जाकर ओषधि खोजें तो वह कहाँसे मिल सकेगी ? यानी जो वस्तु जहाँ नहीं है, उस वस्तुके लिये वहाँ मनुष्य कल्पभर खोजता रहे तो भी वह उसे कदापि नहीं मिल सकती । और जिस वस्तुकी खोज करते हैं, जबतक उसके स्वरूपको न जान लें, तबतक वह कहाँ मिलेगी, इसका निश्चय कैसे कर सकते हैं ? इस प्रकार जैसे एक अंधा खोयी हुई वस्तुको ढूँढ़नेके लिये व्यर्थ प्रयत्न करता है पर वह हाथ नहीं लगती, वैसे ही सुख भी किसीको हाथ नहीं लगता । अतः यदि सुखकी खोज करनी हो तो सुख क्या वस्तु है अर्थात् उसका स्वरूप क्या है, यह पहले जानना चाहिये । उसके बाद यह निश्चय करना चाहिये कि वह कहाँ मिलेगा । इन दोनों बातोंका निश्चय करनेके बाद यदि सुखकी खोज की जायगी तो उचित कीमत देनेपर वह अवश्य ही मिल जायगा ।

अतएव पहले—सुख क्या है और इसका स्वरूप क्या है, इसका विचार करना है । एक छोटे शिशुका सुख गलीमें खेलनेवाले लड़केके सुखसे पृथक् होता है । एक विद्यार्थीका सुख गलीमें खेलनेवाले लड़केके सुखकी अपेक्षा विलक्षण होता है । स्त्रीका सुख पुरुषके सुखसे अलग होता है । गृहस्थका सुख संन्यासीके सुखके विरुद्ध

होता है। त्यागी पुरुष शरीरको कष्ट देकर सुखका अनुभव करता है और भोगी सारे भोग प्राप्त करके भी दुखी दीख पड़ता है। इस प्रकार सुख प्रत्येक व्यक्तिके लिये अलग-अलग दिखलायी देता है। अतएव सुखकी परिभाषाका एक सामान्य नियम खोजना चाहिये।

बुद्धिके आधारपर प्राणिमात्रको दो विभागोंमें बाँटें तो एक ओर मनुष्य होंगे और दूसरी ओर अन्य सारे प्राणी। इन सारे प्राणियोंमें एक ही अहङ्कार-वृत्ति काम करती है, अतः उनके सुखका आदर्श एक ही होता है। उनके अहङ्कारका अर्थ है—'मैं हूँ और मुझे जीना है।' यही कारण है कि उनका सारा व्यवहार देहके निर्वाहके लिये ही होता है और तदात्मक प्रवृत्तिमें ही केन्द्रित हो जाता है। यानी (१) जीनेके लिये आहार प्राप्त करना, (२) थकनेपर आराम करना, (३) शरीरके नाशका भय दिखलायी पड़े तब उसका साधना करना और (४) कामवासनाके वश होकर सन्तान उत्पन्न करना। इन चार बातोंके सिवा दूसरा कोई भी विचार मनुष्येतर प्राणियोंको नहीं होता। और इन चारों बातोंका निर्वाह बिना अड़चनके हो, यही इन प्राणियोंका सुख है। अतएव इन सभी प्राणियोंके सुखका आदर्श एक ही है।

परंतु मनुष्यको पूर्ण विकसित अन्तःकरण मिला है, इससे उसके शरीरमें अहङ्कारके अतिरिक्त मन, बुद्धि, चित्त—ये तीन वृत्तियाँ और रहती हैं। प्रत्येक अन्तःकरणकी वृत्तियोंके संस्कार विभिन्न होनेके कारण प्रत्येक मनुष्यके सुखके आदर्शमें भी विभिन्नताका होना स्वाभाविक है। तथापि समर्थ चिन्तकोंने इन सारे आदर्शोंको विवेकसे समझनेके लिये सुख-दुःखकी परिभाषा इस प्रकार की है—(१) अनुकूलवेदनीयं सुखम्, (२) प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्। यानी (१) जिस परिस्थितिसे अनुकूलताका बोध हो, वह

सुख है और (२) जिससे प्रतिकूलताका बोध हो, वह दुःख है।

अब यदि इस कसौटीपर सुख-दुःखको कसें तो प्रत्येक व्यक्तिकी दृष्टिमें अनुकूलता और प्रतिकूलता विभिन्न दीख पड़ेगी; क्योंकि प्रतिकूलता और अनुकूलताका भान होना चित्तके संस्कारपर अवलम्बित है। उदाहरणके लिये बीड़ी पीनेवालेके लिये बीड़ी पीना अनुकूल जान पड़ता है और जिसको इसकी टेव नहीं, उस मनुष्यको बीड़ीका धुआँ भी प्रतिकूल जान पड़ता है। इस प्रकार एक ही वस्तु एक मनुष्यको सुखरूप दीख पड़ती है और वही उससे पृथक् संस्कारवालेको दुःखरूप लगती है। इसी प्रकार मधुररस एक आदमीको सुखरूप लगता है और दूसरेको नहीं लगता। अफीमचीको अफीम मिलनेपर आनन्दका पार नहीं रहता और उसीको खानेसे, वह आदमी जिसको अफीम खानेकी आदत नहीं है, मृत्युको प्राप्त हो जाता है। इससे सहज ही समझा जा सकता है कि सुख-दुःख उत्पन्न करनेकी शक्ति किसी भी पदार्थमें नहीं है। बल्कि वह चित्तके संस्कारपर अवलम्बित है।

अब इसके बाद यह देखना है कि प्राणिमात्र सुखकी खोजमें क्यों लगे हैं? इसके लिये प्राणियोंमें जो जीवनात्मक चेतन अंश है, उसके स्वरूपको देखना चाहिये। सत्-चित्-आनन्दधन परमात्मा स्वयं ही अपनी मायाका परदा ओढ़कर ईश्वर बनता है और सृष्टिकी रचना करके उसका संचालन करता है तथा वही परमात्मा अविद्याका परदा डालकर जीवरूप बन जाता है और संसारमें सुख-दुःखके व्यवहारमें फँस जाता है। जीव शुद्धस्वरूपसे तो आनन्दस्वरूप यानी सुखरूप ही है; परंतु अविद्याके आवरणके कारण उसका सुखस्वरूप ढक गया है, अतएव भ्रान्तके समान अपने ढके हुए सुखको अपनेमें न खोजकर बाहरके

पदार्थोंमें खोजता है और अपने ही अंदरके निरतिशय और अक्षय सुखका स्वयं अनुभव किया हुआ होनेके कारण विषयोंके सङ्गसे प्राप्त होनेवाले क्षणिक सुखसे उसको तृप्ति नहीं होती । इसलिये वह निरतिशय और अक्षय सुख पानेके लिये जोर मारा करता है । मनुष्यके शरीरकी रचना ही ऐसी है कि इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं । बहिर्मुख इन्द्रियोंके कारण प्रत्येक जीव अनादि कालसे अनेक योनियोंमें भटकता, बाहरके पदार्थोंमें यानी संसारके विषयोंमें ही सुखकी खोज करता आ रहा है । पर उसे सच्चा सुख मिलता नहीं; क्योंकि विषयोंमें सुख है ही नहीं, यह हम पहले ही देख चुके हैं ।

विषयोंमें तो सुखकी भ्रान्ति ही होती है, और लोग उसको सच्चा सुख मानकर भोगते हैं, पर प्राप्त होता है सुखके बदले दुःख । यह भ्रान्ति क्यों होती है, इसका विचार करना चाहिये । एक कुत्ता जब सूखे हाड़का टुकड़ा मुँहमें डालकर जोरसे चबाता है, तब वह कड़ा हाड़ उसके जबड़ेसे घिसता है और उससे खून निकल आता है । उस लहूका स्वाद कुत्तेको मिलता है, और वह स्वाद हाड़मेंसे आ रहा है, ऐसा समझकर कुत्ता उसे बारम्बार चबाता है, जिससे उसका अपना ही जबड़ा अधिक छिलता जाता है और खून भी अधिक निकलता है । उसके स्वादको कुत्ता सूखे हाड़का स्वाद मानता है । इसी प्रकारकी भ्रान्ति जीवको भी होती है और इससे जीव भी मान लेता है कि उसको विषयोंमें ही सुख मिलता है । यह कैसे होता है, यह समझनेके लिये सहज ही विशेष विचारकी आवश्यकता प्रतीत होती है ।

एक आदमीको मिठाई खानेकी तीव्र इच्छा हुई । इच्छा होते ही उसका चित्त व्यग्र हो गया और उन्मत्तके समान वह मिठाई पानेके लिये चेष्टा करने लगा । प्रारब्धवश मिठाई मिल गयी, वह शान्त और प्रसन्न हो गया । चित्त शान्त और प्रसन्न

होते ही उसमें सुखस्वरूप आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ा और इससे उसको सुखकी अनुभूति हुई । मिठाई खा लेनेके बाद चित्तमें कोई दूसरी इच्छा जाग्रत हुई और इच्छाके जाग्रत होते ही उसके स्वभावके अनुसार चित्त फिर व्यग्र हो गया तथा पूर्वप्राप्त सुखकी अनुभूति भी नष्ट हो गयी । अब यदि मनुष्य 'सुख कहाँसे आया' इसका स्थिरबुद्धिसे विचार करे तो उसकी समझमें आ जायगा कि मिठाई मिलने या किसी इच्छित पदार्थके मिलनेपर चित्त शान्त हुआ और उसके कारण ही सुखका अनुभव हुआ । अतएव सुखका कारण मिठाईका मिलना नहीं है, बल्कि मिठाईके द्वारा प्राप्त शान्तिके द्वारा ही उसकी अनुभूति हुई । इसके बदले मनुष्य भ्रमवश यह मान लेता है कि मिठाईसे सुख मिला और इसी कारण वह सुखके लिये विषयोंमें दौड़ा करता है । इस बातको और भी स्पष्ट करके कहें तो कह सकते हैं कि (१) मिठाईकी इच्छा होनेसे चित्त चञ्चल हुआ, (२) मिठाई पानेसे चित्तकी चञ्चलता मिटकर शान्ति मिली, (३) चित्त शान्त होनेपर उसमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ा और सुखका अनुभव हुआ ।

चित्त शान्त होनेपर उसमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़नेपर सुख हुआ । इस मुख्य बातको भूलकर जीव इस भ्रमका सेवन करता है कि मिठाईसे सुख मिला । इसी प्रकार वह विषयोंका सेवन तो करता है सुख मिलनेकी आशासे, पर सुख नहीं मिलता । इसका समर्थन करते हुए श्रीविद्यारण्यजी कहते हैं—

यत्सुखाय भवेत्तत्तद् ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात् ।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ॥
(पञ्चदशी)

अर्थात् जिस पदार्थके प्राप्त होनेसे सुख मिलता है, उसका कारण वह पदार्थ नहीं; बल्कि इच्छित पदार्थकी प्राप्तिसे चित्त शान्त होता है और उसमें आत्माका

प्रतिविम्ब निर्विघ्न पड़ता है, जिससे सुखकी अनुभूति होती है। इससे यह सारांश निकला कि चित्तका स्थिर होना ही सुखप्राप्तिका उपाय है।

इस प्रकार चित्तका शान्त रहना यानी भगवत्स्वरूप-में लगे रहना ही सच्चा सुख है। सुखका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है। अब यह देखना है कि सुखकी प्राप्तिके लिये चित्तकी शान्ति कैसे मिले? सुख-दुःखकी परिभाषा करते हुए श्रीमनु भगवान् ने कहा है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

अर्थात् जिसकी प्राप्ति करनेमें अपनेको दूसरोंके ऊपर आश्रित रहना पड़ता है, वह दुःखरूप है और जिसकी प्राप्तिके लिये अपने अतिरिक्त दूसरेका अवलम्बन नहीं लेना पड़ता, वह सुख है।

हमें अपने सिवा यानी अपनी आत्माके अतिरिक्त मन, बुद्धि या इन्द्रियोंके ऊपर अवलम्बन करना पड़ता है, इसे परवशता कहते हैं। यानी भोग्य-पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंके संयोगके द्वारा जो सुखका अनुभव होता देख पड़ता है, उसमें परवशता है। इसलिये वहाँ दुःखमें ही सुखकी भ्रान्ति होती है। ऐसा समझना चाहिये। भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति प्रारब्धके अधीन है। इसलिये उनकी प्राप्तिमें भी परवशता है और पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होना मनके अधीन है। इसलिये उसमें भी परवशता है। और यह भी कोई नियम नहीं कि संयोग होनेसे सुखका ही अनुभव होगा; क्योंकि एक ही वस्तुसे मन कभी सुखका अनुभव कराता है तो कभी दुःखका। अतएव सुखका अनुभव होनेमें भी परवशता है। सबका सारांश यह है कि आत्मानुभवके सिवा जो दूसरे सुखका अनुभव होता है, वह वास्तविक सुख नहीं; बल्कि सुखकी भ्रान्ति ही है।

इस बातको भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बहुत सरल शीतिसे समझाया है—

‘सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।’

अर्थात्—

‘यद् आत्यन्तिकं सुखमस्ति तद् अतीन्द्रियमस्ति। अतएव तद् बुद्धिग्राह्यमस्ति।’

यानी जिसे आत्यन्तिक सुख कहते हैं, वह निरतिशय और अक्षय सुख है, उसका अनुभव इन्द्रियोंद्वारा नहीं हो सकता। इसलिये उसका अनुभव बुद्धिके द्वारा यानी सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा ही हो सकता है। ‘बुद्धिके द्वारा आत्यन्तिक सुखका अनुभव होता है’ इसका अर्थ इतना ही है कि जीव जब विशुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा अपने यथार्थ स्वरूपको समझता है। यानी ‘मैं आनन्द-स्वरूप आत्मा हूँ, इसलिये सुख-दुःखसे परे होनेके कारण सुखकी प्राप्तिके लिये मुझे कुछ भी यत्न करना नहीं है। चीनीकी डलीको मिठास प्राप्त करनेमें जैसे परिश्रम नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार मुझ आनन्द-स्वरूप आत्माको सुख पानेके लिये परिश्रम करना पड़ता ही नहीं’—ऐसा अनुभव होनेपर अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।

प्रारम्भमें हमने देखा था कि मनुष्यमात्र सुखकी खोज करते हैं, पर सुखका स्वरूप क्या है। यह न जाननेके कारण उन्हें यह भी पता नहीं कि उसे कहाँ खोजना है? इसलिये असंख्यों प्रयत्न करनेपर भी उन्हें सुख नहीं मिलता। अतएव चित्तकी शान्ति ही सुखका सच्चा स्वरूप है और वह प्राप्त होती है अपने स्वरूपके ज्ञानके द्वारा; और इसके लिये जो मूल्य चुकाना पड़ता है, वह है इच्छामात्रका त्याग।

साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर शास्त्राभ्यासके द्वारा बुद्धिको निर्मल करे और फिर उस विशुद्ध बुद्धिकी सहायतासे अपने स्वरूपका यथार्थ दर्शन कर ले। यानी मैं आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ और इस कारण सुखकी

प्राप्तिके लिये मुझे कुछ नहीं करना है । इस ज्ञानके दृढ़ होनेपर इच्छामात्रका त्याग अपने आप हो जाता है और इच्छाका नाश होते ही चित्त अविचल शान्ति-वाला बन जाता है । ऐसा होनेपर मनुष्यको निरतिशय सुख प्राप्त होगा और वह स्थिर रहेगा । यही है जीवनको सुखमय बनानेकी कला ।

होलीके लिये आवाहन

(श्री 'दुर्गेश')

कलम ! यह लो फिर होली आ पहुँची, कबसे मैं आपका आवाहन कर रही हूँ होली खेलनेके लिये; परंतु न जाने क्या कारण है आप नहीं आये तो नहीं ही आये । मेरे प्रभु तो बड़े रंगीले हैं फिर क्या कारण है न आनेका ? कहीं मेरे साज-शृङ्गारमें तो कोई त्रुटि नहीं है ? अरे—यह मैंने क्या कर रक्खा है ? जिस हृदय-झोलीमें भक्तिकी अवीर होनी चाहिये उसमें मान, मोह, मत्सर इत्यादि कंकड़-पत्थर भर रखे हैं । राम राम ! ऐसे कहीं होली खेली जाती है ? छिः ! यह झोली भी तो कितनी मैली हो रही है । काम, क्रोध इत्यादि कितने चिकने मैल इसपर चढ़ रहे हैं ! मैंने इसे अभीतक कभी विवेक-नीरमें धोया ही नहीं ! क्या बतलाऊँ, मेरा ध्यान ही इस ओर नहीं गया था, न मेरी किसी सहेलीने ही इस ओर संकेत किया । जिसे देखो वही तारीफ़ करती थी मेरी इस तैयारीकी । कैसी हैं वे ? जरा बतला देतीं तो भला उनका क्या बिगड़ जाता ? बेचारी करें क्या, यदि कुछ कहतीं तो मुझे सहन ही कहाँ होता ? उस दिन ही अमुक सखीने कहा था कुछ, तो मैंने उसमें सौ-सौ दोष निकाले । बेचारी चुप हो गयी । हाय ! यदि उसी दिन चेत गयी होती तो इतना विलम्ब क्यों होता और मुझे क्यों पछताना पड़ता ! किसीने सच ही कहा है—

निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय ॥
बिन साबुन पानी बिना, निरमल करे सुभाय ॥

अच्छा ! हुआ सो हुआ; अब इन प्रशंसकोंसे दूर ही रहूँगी, इनकी बातोंपर कभी विश्वास नहीं करूँगी । निन्दकोंकी बातें ध्यान देकर सुँगी और उनसे प्रेम करूँगी । अब उनके प्रति जो द्वेष मनमें सँजो रक्खा था, उसे फेंक दूँगी । अरे, हाँ ! होलीके लिये क्या तैयारी करना है ? किससे पूछूँ । अब मैं ही अपने दिमाग-को थोड़ा स्थिर करूँ । अच्छा, पहली चीज तो खच्छता है । काम, क्रोध, मोह, लोभ, मान, मत्सरको साफ़कर फेंकना होगा; फिर विरागके झाड़ूसे सारा कूड़ा-कर्कट निकालकर विमल विवेक-सलिलसे हृदय-धामको धोना होगा । तब सामग्री एकत्रित करनी होगी होली खेलनेकी । अनन्य भक्ति-प्रेमकी अवीरमें अगाध श्रद्धाके पुष्प मिलाकर भर लूँ हृदय-झोली, मन-पिचकारीको भी अच्छी तरह धो लूँ, फिर उसमें उत्कट लगनके गुलाब-जलमें आत्म-समर्पणरूपी केसर घोलकर भर लूँ । तब करूँ प्यारे प्रभुजीका आवाहन ।

रसिया मैं तो होरी खेलन आई ।

जग-स्वारथ कीचड़से हटकर तुव चरनन चित लाई ॥
जनम-जनमकी व्याकुल प्यासी भक्ति-सुधा हित धाई ।
दीनानाथ दीनहितकारी, त्रिभुवन जस रह्यो छाई ॥
युग-युगकी है साध हृदय अब तुम बिन रह्यो न जाई ।
चरन-कमलकी मिलै चाकरी, जनम सफल हो जाई ॥

नाम-साधना

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार बन्दोपाध्याय पृष्ठ ५०)

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः ।

पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिज्ञात्मा नामनामिनोः ॥

स्त्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् ।

अजामिलोऽप्यगाध्वाय किं पुनः श्रद्धया गृणन्

योगिराज गम्भीरनाथजी साधन-सम्बन्धमें अपने गृहस्थ शिष्योंको प्रधानतः गुरुदत्त मन्त्रका ही आश्रय देनेका उपदेश देते थे । यदि कोई शिष्य साधनप्रक्रियाके विषयमें कोई प्रश्न करता तो प्रायः वे कह देते थे, 'जो सिला है, उसीका जप करो; यह बहुत तेजस्वी मन्त्र है, नामपर विश्वास रखो, नामसे सब कुछ हो जायगा।' गुरुदत्त भगवन्नाममें सर्वार्थ-साधनकी क्षमता निहित रहती है । श्रद्धा, भक्ति और ऐकान्तिक निष्ठाके साथ उस नामका जप करते-करते क्षमताका विकास होता है भोजन करते समय जैसे ध्यान रहता है व्यञ्जनकी ओर, स्वादकी ओर, किंतु प्रत्येक ग्रासके साथ-ही-साथ जैसे क्षुधानाश, देह और इन्द्रियोंकी शक्तिवृद्धि तथा स्वादका सुख अपने-आप मिलता जाता है, उसी प्रकार नाम-जपके समय चित्त तो संलग्न रहता है नाम-नामीके अभिन्नस्वरूप मन्त्रमें, किंतु प्रतिवारके नामोच्चारणके साथ-ही-साथ अलक्षितरूपमें अनित्य विषय-भोग-वैराग्य, नित्य सत्य-चिदानन्दस्वरूप मन्त्रात्मा भगवान्में प्रेमभक्ति एवं सर्वार्थ-सिद्धिमयी भगवदनुभूति और तज्जनित अतीन्द्रिय सुख हृदयके अंदर विकास पाता रहता है । भोजनके फलस्वरूप ग्रास-ग्रासमें पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति इत्यादिके सम्पन्न होते रहनेपर भी जैसे वे प्रति-ग्रासमें दिखायी नहीं देते, अनेक ग्रासोंका फल सञ्चित होने-पर ही पता लगता है, उसी प्रकार नाम-जपके अत्याश्चर्य-जनक फलको भी प्रतिवारके नामोच्चारणके साथ-साथ अस्वच्छबुद्धि साधक समझनेमें समर्थ नहीं होता । दीर्घकालके निरन्तर साधनसे अन्तःकरणमें सञ्चित आध्यात्मिक सम्पत्ति अपनी ज्योतिसे ऊपरी मलको दग्ध करके बुद्धि और हृदयके सम्मुख जब प्रकाशित होती है तभी इसका अनुभव होता है । बुद्धि और हृदय जब स्वच्छ हो जाते हैं, तभी नामके भीतर निहित अचिन्त्य भावसम्पत्तिका प्रतिवारके नामस्मरणमात्रमें आस्वाद प्राप्त होने लगता है ।

आक्षरिक या शाब्दिक अर्थ भी नहीं होता । मन्त्रमें अक्षर-बुद्धि रखना शास्त्रोंमें महान् अपराध माना गया है । मन्त्र प्राणवान् होता है और होता है आध्यात्मिक तेजका आधार । सद्गुरु अपनी साधनलब्ध अलौकिक योगशक्ति दीक्षामन्त्रमें निहित किये रहते हैं एवं उसी मन्त्रको सजीव सचेतन अचिन्त्य शक्तिमय बनाकर शिष्यको प्रदान करते हैं । गुरु शिष्यके प्रति जिस अक्षरसमष्टिका उच्चारण करते हैं एवं जिस अक्षरसमष्टिकी बार-बार आवृत्ति करनेके लिये शिष्यको उपदेश करते हैं, वह अक्षरसमष्टि ही मन्त्र नहीं है । अक्षरसमष्टि तो मन्त्रका देहमात्र है—आलम्बन-मात्र है । उसके भीतर जो चिन्मय आत्मा विद्यमान है, जो श्रोत्रातीत और वाणीसे अतीत जीवनशक्ति उसमें अनुप्रविष्ट रहती है, वही वस्तुतः मन्त्र है । असीम शक्ति-सम्पन्न गुरु अपनी गुरुशक्तिको केन्द्रीभूत करके—अपने दैहिक व्यक्तित्वका अतिक्रमण कर अपनेको चिच्छक्तिरूपमें परिणत करके—मन्त्राक्षर-समष्टिमें प्रवेश करते हैं एवं उसके आत्मारूपमें विराजमान रहते हैं । वह चिच्छक्तिमय मन्त्रात्मा गुरु ही मन्त्रका यथार्थ स्वरूप है । गुरु ही मन्त्र है, मन्त्र ही गुरु है । गुरुशक्ति ही मन्त्रशक्ति है । असाधारण योगशक्तिसम्पन्न उपास्यभावभावित महापुरुष अपनी साधनोद्बुद्ध चिच्छक्तिमय अनुप्राणनके द्वारा जड़-स्वभाव मिट्टी, पत्थर, काष्ठादिकी बनी हुई प्रतिमाकी जड़ता नष्ट करके उसके अंदर जैसे अत्यद्भुत दैवी शक्तियों और ईश्वरीय भावोंका आविर्भाव सम्पादन करते हैं एवं श्रद्धालु भक्तकी दृष्टिमें वही प्रतिमा जैसे फिर जड़रूपमें प्रकाशित न होकर चिन्मय और शक्तिमय अभीष्ट देवताके स्वरूपमें ही प्रकट होती रहती है, उसी प्रकार योगशक्तिके आधार करुणा-निधान सद्गुरु अक्षरविशेष, शब्दविशेष या वाक्यविशेषको भी उसी प्रकार आत्मशक्तिके अनुप्रवेश-द्वारा प्राणवान्, चैतन्यमय और महाशक्तिसम्पन्नित अभीष्ट देवतारूपसे प्रकट करके शिष्यके हृदयमें प्रतिष्ठित कर देते हैं । देवविग्रहके समान ही मन्त्र भी गुरु और देवतासे अभिन्न होता है ।

तत्त्वदृष्टिसे जैसे परमदेवता परमेश्वर अन्तरात्मारूपसे

गुरुदत्त मन्त्र अक्षरसमष्टि नहीं है, किंवा उसका सभी नेत्रग्राह्य रूपोंमें विराजमान रहते हैं, उसी प्रकार

श्रोत्रग्राह्य शब्दोंमें या और विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य विषयसमूहमें नित्य विराजमान रहते हैं। विषयमात्रके पारमार्थिक स्वरूप तो वे ही हैं। किंतु अपनी ही मायासे अपनेको समावृत रखकर वे जडधर्मी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि प्राकृतिक विषयरूपमें प्रतीत होते रहते हैं। माया-मुक्त विद्याशक्तिसम्पन्न भागवत पुरुषगण अध्यात्म-कल्याणकामी मनुष्योंके प्रति अहेतुकी कृपा दिखाते हुए विशेष-विशेष रूप और शब्दसमष्टिको मायाके आवरणसे निर्मुक्त करके उसके अंदर अपने अन्तर्यामी चैतन्यमय परमात्माको अनाविल समुज्ज्वल मूर्तिमें प्रकट कर देते हैं, एवं उसीको उपास्यदेवताके रूपमें उन उपासकोंके निकट उपस्थित करते रहते हैं। वे सब रूप भी भावमय होते हैं, एवं वे शब्द भी भावमय होते हैं। वे सभी विशेष-विशेष रूपोंमें प्रकाशित होनेवाले भगवान्‌के ही विग्रह-स्वरूप होते हैं। भगवान्‌के ज्ञान-शक्ति-प्रेमादि माहात्म्योंकी विज्ञापक वे सभी भावराशियाँ रूपमय देह धारण करके प्रतिमा या प्रतीक और शब्दमय देह धारण करनेसे 'मन्त्र' कहे जाते हैं।

अचिन्त्य ज्ञानशक्तिसम्पन्न भगवद्भावभावित सद्गुरु उस स्वाभिन्न सच्चिदानन्दघन मन्त्रमूर्ति भगवान्‌को शिष्यके हृदयमन्दिरमें चिरजाग्रत् रूपमें प्रतिष्ठित कर देते हैं। शिष्य जितना ही दिन-पर-दिन, क्षण-पर-क्षण उस मन्त्रकी सेवा करता रहता है, उतना ही मन्त्रका माहात्म्य शिष्यके विशोधित अन्तःकरणमें प्रकाशित होता रहता है, उतना ही मन्त्रनिहित शक्ति, ज्ञान, भाव, रसादि ऐश्वर्य स्वयं प्रकट करके शिष्यको कृतार्थ कर देता है। शिष्यको सर्वाङ्गीण कल्याणपर पहुँचानेके लिये जिस-जिस वस्तुका प्रयोजन होता है, सभी कुछ गुरुदत्त मन्त्रकी सेवासे सुलभ हो जाता है। शास्त्रीय विचारके द्वारा मन्त्रतत्त्वको हृदयङ्गम करके उसकी अचिन्त्य शक्तिमें अविचल विश्वास रखना आवश्यक होता है। ऐसी धारणा बनाये रखना चाहिये कि गुरु और भगवान् दोनों एक मूर्ति हो मन्त्ररूप चिन्मय देह धारण करके अपनी कृपासे हमारे हृदयमें विराजमान हैं; सुतरां सर्वदा सतर्क, अप्रमत्त और भक्तिपूत चित्त होकर उनकी सेवामें संपूर्ण शक्तियोंका लगाना ही हमारा कर्तव्य है। नित्य-निरन्तर प्रेमके साथ उसका स्मरण, चिन्तन और निदिध्यासन ही उसकी सेवा है। यही नाम-जप है। इसीसे सर्वार्थ-सिद्धि होती है। 'जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः।'।

योगिराज गम्भीरनाथजीसे जब मन्त्रका अर्थ पूछा जाता था तब वे कहते थे, 'यह तो भगवान्‌का नाम है, और अर्थसे क्या होगा?' नाम कहनेमात्रसे जिसका नाम होता है, उसीको समझा जाता है। नामके उच्चारण या स्मरणमात्रसे नामीका स्वरूप चित्तपटपर उदित होता है। नामद्वारा पुकारते ही नामी उत्तर देते हैं, सुनवाई करते हैं। सुतरां नामका अर्थ है—नामी। गुरुपदिष्ट मन्त्र भगवान्‌का नाम है; अतएव स्वयं भगवान् ही मन्त्रके अर्थ हैं। नामीके स्वरूपके साथ जितना घनिष्ठ परिचय संस्थापित होता है, नामका अर्थ उतना ही परिष्कृत होता है। नामका विश्लेषण करके उसके प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक मात्राके अर्थ एवं उनकी समष्टिके शाब्दिक अर्थकी शब्दशास्त्र और युक्तितर्ककी सहायतासे बुद्धिद्वारा यथासम्भव निपुणताके साथ पर्यालोचना करनेपर भी नामके वास्तविक अर्थका यथार्थ ज्ञान नहीं होता किसी एक नये मनुष्यके साथ भेंट होनेपर, उसके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके आकार-सन्निवेश और गतिविधिका विशेषरूपसे निरीक्षण करनेसे, अथवा बाहरसे उसकी कितनी ही बातें सुनकर या कार्योंको देखकर या उसकी वंशावलीका परिचय जाननेसे उस मनुष्यको यथार्थरूपसे जाना या पहचाना नहीं जाता। मनुष्यके साथ नाना प्रकारकी अवस्थाओंमें बार-बार सङ्ग करते-करते उसके कार्यकलाप, वार्तालाप, हावभाव इत्यादिके भीतरसे उसके अन्तर्जीवनकी प्रकृतिके सम्बन्धमें जितना घनिष्ठ परिचय प्राप्त होता है, मनुष्यकी चिन्ताधारा, भावधारा, कर्मधारा, ज्ञानविज्ञान, शक्ति-सामर्थ्य और सुख-दुःख इत्यादिके साथ जितना योग संस्थापित होता है, उतना ही उसको पहचाना जाता है, समझा जाता है और उसके साथ एक सम्बन्ध प्रतिष्ठित हो जाता है। उसी प्रकार, जब सद्गुरु जीवन्त नामके रूपमें परमाराध्य भगवान्‌को शिष्यके निकट उपस्थित करते हैं, तब उस नाम-देहके अङ्ग-प्रत्यङ्गके सन्निवेशको बारीकीसे खोजनेपर भी—नाम शब्दके व्यष्टिगत और समष्टिगत, अर्थको अतिशय विशदरूपमें जानकर, नाना प्रकारकी शास्त्रयुक्ति और महापुरुषवाक्यकी सहायतासे उसके अर्थगत माधुर्य, सौन्दर्य और वैशिष्ट्यका प्रतिपादन करनेमें समर्थ होनेपर भी, देहीके सम्बन्धमें कोई वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं होता, नामके रूपमें जो उपस्थित हुए हैं, उनके साथ कोई वास्तविक परिचय स्थापित नहीं होता, अतएव

तत्त्वतः नामका अर्थ अज्ञात ही रह जाता है। नामके वास्तविक अर्थका यथार्थ परिचय प्राप्त करनेके लिये नित्य-निरन्तर विचारशील चित्तसे नामका सङ्ग करना आवश्यक है। ऐकान्तिक भावसे नामकी सेवा करना आवश्यक है। भ्रद्धा, भक्ति और एकाग्रताके साथ विचारपूर्वक नामका सङ्ग और सेवा करते-करते—नाम-रूपमें अवतीर्ण भगवान्‌का स्मरण, चिन्तन और कीर्तन करते-करते—देह, मन और बुद्धि जितनी निर्मल, निर्वासन, विक्षेपरहित एवं प्रेमरससिक्त होगी, उतना ही नामके अन्तर्जीवनके साथ साधकका परिचय होगा, उतना ही नाम और नामीके बीचका प्रातीतिक व्यवधान तिरोहित होगा, नामके भीतर भगवान्‌का प्रकाश भी उतना ही समुज्ज्वल होगा, उतना ही सच्चिदानन्दघन जीवप्रेममहासिन्धु विश्वगुरु श्रीभगवान् अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण माधुर्य और सम्पूर्ण शक्ति लेकर नामके भीतरसे अपनेको प्रकट करके आराधकको कृतार्थ कर देंगे। तभी नामका सम्यक् अर्थ जाना गया। सद्गुरुदत्त नामके अर्थको समझ सकना या नामी भगवान्‌के स्वरूपकी उपलब्धि कर लेना एक ही बात है। भगवान्‌को पहचानना ही नामको पहचानना है, भगवान्‌के साथ परिचय होना ही नामसे परिचय होना है। सुतरां कार्यतः नामका या गुरुदत्त मन्त्रका सम्यक् अर्थबोध हो जाना ही सिद्धि है। यह अर्थ-बोध शिष्यके साधनसापेक्ष है। सुहृद् विश्वास और अनुरागके साथ नाम-साधन करते-करते जितनी ही नामकी अर्थोपलब्धि होगी, अर्थात् नामके साथ परिचय होगा, उतना ही नामका प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक मात्रा चिन्मय जान पड़ेगी। प्रेम-माधुर्यसे भरपूर होकर उसका आह्वान होगा एवं नाम-स्मरण-मात्रसे चित्त भगवान्‌में समाहित हो जायगा—भगवत्प्रेम-सागरमें डूब जायगा। साधनके आरम्भसे ही गुरुदत्त 'नाम' को चिन्मय, अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न और भगवान्‌के साथ स्वरूपतः अभिन्न मानकर विश्वास रखना चाहिये।

सद्गुरु श्रीगम्भीरनाथ शिष्योंको नाम-साधनमें दीक्षित करनेके समय एक सुगम्भीर तत्त्वकी ओर अङ्गुलिनिर्देश करके समझा देते थे। इस तत्त्वकी उपलब्धि न होनेके कारण केवल साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता, दलबन्दी और कलहकी ही सृष्टि नहीं होती, बल्कि साधक आध्यात्मिक जीवनमें बहुत ही थोड़ा अग्रसर हो पाता है। नाम-साधन और उपासनाके द्वारा चरम कृतार्थताकी प्राप्ति बहुत दूर रह जाती है। शिव-नाममें दीक्षित अनेक स्थूलबुद्धि साधक समझते

हैं कि वे ब्रह्मा, विष्णु, काली, दुर्गा प्रभृति विभिन्न देवताओंसे पृथक् और श्रेष्ठ एक देवताविशेषकी उपासना करते हैं एवं ऐसे अज्ञानमूलक सङ्कीर्ण चित्तसे साधन करनेके फल-स्वरूप वे विशेष देवताकी आराधनाका अनित्य और विशेष फल ही पाते हैं; भगवदाराधनाके अमृतमय फलस्वरूप तत्त्वज्ञान, सर्वात्मबोध, विश्वप्रेम और संसार-क्लेशसे आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं प्राप्त कर पाते। ब्रह्मा, विष्णु, श्रीकृष्ण, राम, काली, दुर्गा प्रभृति विभिन्न नामोंमें दीक्षित विचारविहीन साधकगण भी ऐसी ही सङ्कीर्णताका हृदयमें पोषण करके बहुत दिनोंतक एकनिष्ठ सानुराग उपासना करनेपर भी परम कृतार्थ होनेसे वञ्चित रह जाते हैं। वे आराधनाके लिये जितना आयास और त्याग स्वीकार करते हैं, तदनुरूप फल नहीं प्राप्त कर पाते। शिष्यगण ऐसे भ्रममें पड़कर परम पुरुषार्थसे भ्रष्ट न हो जायें, एवं साम्प्रदायिक दलबन्दीमें पड़कर अशान्ति न भोगें, इसी उद्देश्यसे गुरुदेव दीक्षाके अन्तमें सबसे पहले यह उपदेश देते थे कि 'ब्रह्मा, विष्णु, शिव, श्रीकृष्ण, काली, दुर्गा और सब देवता एक ही हैं, कोई भेद-बुद्धि मत रखना। रूप बहुत हैं, स्वरूप एक ही है।' वे जिस नामकी दीक्षा देते थे, उसके सम्बन्धमें सतर्क कर देते थे कि यह किसी देवताविशेषका नाम नहीं है, स्वयं एक अद्वितीय सर्वविध भेदवर्जित भगवान्‌का ही नाम है। सर्वदेवमय सर्वान्तर्यामी सर्वमङ्गलालय सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान्‌को ही वे आराध्य देवताके रूपमें शिष्यके अन्तश्चक्षुके समक्ष उपस्थापित करते थे। उनके शिष्योंको शैव, शाक्त, वैष्णव इत्यादि किसी विशेष साम्प्रदायिक नामसे नहीं पुकारा जा सकता, एवं किसी सम्प्रदायके बहिर्भूत भी नहीं कहा जा सकता। उनके द्वारा उपदिष्ट उपासनामार्गमें किसी प्रकारका साम्प्रदायिक विधि-निषेध नहीं होता था, उनके उपदेशके किसी भी अंशमें साम्प्रदायिकताकी गन्धमात्र भी नहीं मिलती थी।

उपास्य देवतामात्र ही स्वरूपतः एक हैं, कोई भी व्यक्ति या सम्प्रदाय किसी नाम या मूर्ति, या पद्धतिका अवलम्बन करके भले ही उपासनामें प्रवृत्त हो, परंतु उनमेंसे प्रत्येक ही एक अद्वितीय परमेश्वरकी ही आराधना करता है। एक सर्वाराध्य भगवान् ही विभिन्न नामोंमें, विभिन्न रूपोंमें, विभिन्न प्रणालियोंमें विभिन्न मार्गावलम्बी साधकोंके द्वारा

नाम, रूप और भावके नाना प्रकार पार्थक्य रहनेपर भी, उपास्यमें स्वरूपगत कोई पार्थक्य ही नहीं होता—इस मूल महासत्यकी ओर सद्गुरु गम्भीरनाथजी अपने शिष्योंकी विवेकदृष्टि तीव्ररूपसे आकर्षित करते थे और इस तत्त्वको उनके हृदयमें प्रगाढ़रूपसे अङ्कित कर देनेका प्रयत्न करते थे। एक ही अभिनेता विभिन्न प्रकारकी पोशाकसे अपने वास्तविक स्वरूपको ढककर, विभिन्न प्रकारके नाम और उपाधिको धारण करके एवं विभिन्न प्रकारके कण्ठस्वर, वाक्यविन्यास, भावभङ्गि और गतिविधिका अवलम्बन करके बाह्याङ्गविमोहित दर्शकवृन्दोंके निकट विभिन्न व्यक्तिके रूपमें दिखायी देनेपर भी, जैसे वह स्वरूपतः एक अभिन्न व्यक्ति ही रहता है एवं सूक्ष्मदर्शी द्रष्टा जैसे उसको एक ही व्यक्ति समझते हैं, उसी प्रकार एक अद्वितीय सर्वविध-विकारवर्जित नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप परिपूर्ण भगवान् विविध नाम-रूप और उपाधियोंसे अपने स्वरूपको आवृत करके, नाना भावोंमें प्रकट होकर तत्त्वदृष्टिविहीन सङ्कीर्ण-बुद्धि मनुष्योंके समीप पृथक्-पृथक् देवताके रूपमें प्रतीयमान होनेपर भी एवं एक-एक प्रकारके नाम, रूप और उपाधिके अलङ्कारोंद्वारा एक-एक श्रेणीके साधकोंके चित्तको विशेषरूपसे आकर्षण करनेपर भी, स्वरूपतः वे एक अखण्ड, अविक्रिय सत्तामें ही नित्य विराजमान रहते हैं, नाम, रूप और उपाधिका पार्थक्य उनके स्वरूपमें कोई पार्थक्य नहीं उत्पन्न कर सकता। नाम, रूप और उपाधिमें जिनका चित्त आसक्त और दृष्टि आबद्ध नहीं रहती, नाम-रूपादिके अन्तर्यामी प्राणपुरुषके दर्शनसे जो वञ्चित नहीं रहते, वे ही तत्त्वदर्शी साधक सकल नामों, सकल रूपों, सभी भावों, सब उपाधियोंके भीतर उस अद्वितीय, निरञ्जन, सर्वातीत, स्वाराध्य परमदेवताको पहचानने और दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं।

इसी हेतु विवेकदृष्टिसम्पन्न साधक किसी भी देवताको अपने उपास्यसे पृथक् नहीं मानते, विभिन्न नाम, रूप और उपाधिसे विभूषित अपने एकमात्र उपास्यदेवको ही सभी देवताओंके रूपमें जानकर उनकी पूजा करते हैं। किसी नाम, रूप या उपाधिके ऊपर वे अश्रद्धा या विद्वेषभावका पोषण नहीं करते; क्योंकि वे जानते हैं कि उनके प्रेममय, लीलासय, परमाराध्य भगवान् ही नाना भावोंमें जीवके निकट आत्मप्रकाश करके, उनके साथ नाना प्रकारके सम्बन्धोंसे युक्त होकर लीला करते हैं, एवं विचित्र स्वभाव-

युक्त उपासकोंके द्वारा विचित्र प्रणालियोंमें पूजित होकर सभीका कल्याण-साधन करते हैं। भगवान्का यथार्थ उपासक किसी भी देवताके उपासकको भिन्न देवताका उपासक नहीं मानता, न अवज्ञाकी दृष्टिसे देखता है। तत्त्वविचारशील कपटरहित साधक सभी देवताओंके प्रति भक्तिमान् होता है, सभी सम्प्रदायोंको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है, सभी श्रेणीके साधकोंके साथ प्रेमके सम्बन्धसे युक्त रहता है। सद्गुरु गम्भीरनाथप्रदत्त दीक्षामन्त्रमें भी यह गम्भीर, महान् विश्वजनीन भाव निहित रहता था, उनके ध्यानसम्बन्धी उपदेशोंमें भी यही तत्त्व परिस्फुट होता था, अन्यान्य उपदेशोंमें भी वे इस असाम्प्रदायिक दृष्टि और व्यवहारको बनाये रखनेकी विशेष शिक्षा देते थे।

सद्गुरु गम्भीरनाथ नाम-जपके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी संख्या, समय, आसन या प्रणालीका निर्देश नहीं करते थे। जो शिष्य आसनके सम्बन्धमें उपदेशकी प्रार्थना करता था, उससे वे साधारणतः कह देते थे कि जिस आसनसे, जिस प्रकार बैठकर जप करनेसे चित्त सहज ही एकाग्र हो जाय, शरीरमें किसी प्रकारकी वेदनाका बोध न हो, अपेक्षाकृत अधिक समयतक अनायास, प्रशान्त और प्रसन्नताके साथ बैठे रहना संभव हो, एवं मनको नाम और नामीके अंदर डुबाये रख सकें, विचार और परीक्षाद्वारा उसी आसनको निर्धारित कर लेना उचित होगा। पद्मासन, सिद्धासन या सुखासनसे बैठकर भी जप किया जा सकता है और निर्दिष्ट आसनोंसे भिन्न किसी अन्य आसनसे बैठकर भी जप किया जा सकता है, जिसको जिसमें सुविधा हो। जपके समय मन जिससे नाममें और उसके अन्तर्यामी भगवान्में अविच्छिन्नरूपसे संलग्न रहे एवं चाञ्चल्य या निद्राद्वारा अभिभूत न हो, उसीपर विशेष दृष्टि रखना आवश्यक है।

जपमाला अथवा अन्य किसीकी सहायतासे संख्याकी गणना करके निर्दिष्टसंख्यक नामजप करनेकी प्रयोजनीयताके सम्बन्धमें पूछनेपर सर्वबन्धनविरोधी योगिराजजी साधारणतः अपने स्वभावसिद्ध मृदुमधु स्वरमें उत्तर देते थे, 'यह भी तो बन्धन है।' वे साधनसम्बन्धमें भी शिष्योंको किसी प्रकारके बन्धनमें नहीं रखना चाहते थे। कोई शिष्य यदि कहता कि वह मालासे संख्याकी गणना करके जप करना चाहता है अथवा मालाकी सहायतासे निरन्तर संख्याक

होकर यथार्थ वतता है। के प्रति देखता युक्त भी यह उनके होता है। कारकी करते करता सनसे, प्राय हो अपेक्षा-व्रताके आमीके उसी पासन, सकता सनसे उविधा यामी य या रखना व्याकी यताके राजजी र देते भी थे। गणना यतासे लता

और निद्रावेशके आक्रमणसे सहज ही अपनेको वचनानेमें समर्थ होता है, नियमानुवर्तनके अभ्याससे सुविधा पाता है, एवं जपका समय और संख्या क्रमशः बढ़ानेमें समर्थ होता है, तो गुरुदेव प्रसन्न दृष्टिसे उसे अनुमति दे देते थे; प्रयोजन होनेपर संख्यागणनादिका नियम भी सिखा देते थे, माला स्पर्श करके उसमें शक्ति-सञ्चार भी कर देते थे। इन सब विषयोंमें शिष्यकी रुचि और विचारके विरुद्ध उनका कोई अनुशासन नहीं होता था। वे कहते थे, 'जिसका जैसा संस्कार।'।

जपके समयके सम्बन्धमें योगिराजजीकी आज्ञा थी, 'सवेरे और शाम एक घण्टा, आध घण्टा, पाव घण्टा, जितना अवकाश हो, जप करना।' पहले ही बतला दिया गया है कि प्रेमधन-मूर्ति सद्गुरुवरिष्ठ गम्भीरनाथजी अपने दुर्बल शिष्योंके संसारभारपीड़ित कन्धोंपर किसी प्रकारके आदेशका बोझ लादना नहीं चाहते थे, उन लोगोंके लिये कभी भी ऐसे विधि या निषेधकी आज्ञा नहीं देते थे, जिसे कार्यतः प्रतिपालन करनेमें असमर्थ होकर वे अपराधग्रस्त हो जायें। योगिराजजीके शिष्यगण चाहे और कोई अपराध भले ही करें, गुरुवाक्य-लङ्घन-जनित अपराधसे लित होनेकी सम्भावना उनके लिये बहुत ही कम थी। धन्य उनकी करुणा ! शिष्योंके पूछनेपर वे जो भी उपदेश देते थे, वह भी ऐसी भाषामें, ऐसे भावसे प्रकाशित होता था कि उनकी स्वाधीनतापर कोई हस्तक्षेप न हो, उनका दायित्वज्ञान किसी प्रकार क्षुण्ण न हो।

शिष्योंके प्रति योगिराजजीके सभी उपदेशों और व्यवहारोंसे यही अभिप्राय प्रकट होता था कि शिष्यगण अपने जीवन-परिचालनके सम्बन्धमें सम्पूर्णरूपसे स्वाधीन रहें—स्वाधीन विचार, स्वाधीन इच्छा और स्वाधीन चेष्टाके यथोचित प्रयोगद्वारा स्वयं स्वाधीनरूपसे अपनी गतिविधि नियन्त्रित करके कल्याणके मार्गपर अग्रसर हों। 'जितना अवकाश हो, जप करना' इस उपदेशमें भी वही अभिप्राय प्रकट है। इसमें एक ओर जैसे वे शिष्योंको साधनाके समयके सम्बन्धमें पूरी स्वाधीनता देते हैं, दूसरी ओर उन लोगोंका दायित्वबोध सर्वदा जागरूक रखनेके लिये भी इङ्गित करते हैं। वस्तुतः स्वाधीनता और दायित्व एक ही वस्तु है, अथवा एक ही वस्तुके दो पहलू हैं। अधिकार शब्दमें स्वाधीनता और दायित्व दोनों ही भाव परिलक्षित हैं। जो जितने परिमर्जित है, स्वाधीनता सम्मोह

करता है, उसके ऊपर भगवद्विधानसे उसी परिमाणमें कर्तव्यका भार अर्पित रहता है; एवं कर्तव्य-सम्पादनमें दायित्वज्ञान जिसका जितना विकसित रहता है—जो अपने विचारसे कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करके स्वाधीनरूपसे निर्भक्ता और दृढ़ताके साथ मङ्गलके मार्गपर अग्रसर होनेमें और अमङ्गलके प्रलोभनसे आत्मरक्षा करनेमें जितनी अधिक शक्ति प्राप्त कर लेता है—वह उसी परिमाणमें स्वाधीनताका सम्मोह करनेके योग्य होता है। दायित्व-ज्ञानका अभ्यास ही स्वाधीनताका अभ्यास है। गुरुदत्त या भगवत्प्रदत्त स्वाधीनताका अपव्यवहार करनेसे प्रकृतिराज्यमें पराधीनता अवश्यम्भावी हो जाती है।

'जितना अवकाश हो, जप करना'—इस उपदेशके द्वारा गुरुजी शिष्योंकी विचारदृष्टि अपने-अपने व्यावहारिक जीवनकी ओर सुतीक्ष्णरूपसे आकर्षित करते थे। गृहस्थ शिष्यगण यदि विचारदृष्टिसे आत्मनिरीक्षण करके धारणा करनेका यत्न करें कि यथार्थ उनके अवकाशका परिमाण कितना है, कितना समय वे आलस्यमें, गपशपमें, परचर्चामें, व्यर्थके आमोद-प्रमोदमें, नाना प्रकारकी अनावश्यक वस्तुओंके उपार्जनकी चेष्टामें एवं विवेकहीन लोगोंके निकट वाहवाही पानेके उद्देश्यसे निरर्थक कर्माडम्बर-के आयोजनमें बिताते रहते हैं। यों करनेसे वे सहज ही समझ पायेंगे कि सांसारिक प्रयोजनीय कर्तव्योंका यथाविधि सुचारुरूपसे निर्वाह करके भी एवं प्रयोजनानुरूप आहार-निद्रा-विश्रामादिके लिये यथेष्ट समय रखकर भी प्रत्येक शिष्यके पास जितना समय रह जाता है, उसको इस प्रकार व्यर्थ नष्ट न करके गुरुपदेशानुसार साधन-भजनमें लगानेसे किसीको भी साधनका समय कम नहीं होता। 'हमलोग संसारी मनुष्य हैं, संसारका भार ढोते हुए साधनके लिये समय नहीं पाते'—ऐसा बहाना करना बहुतोंके विषयमें सर्वथा निराधार है, विचार करनेसे सहज ही यह जान पड़ेगा। वस्तुतः अनेक कार्योंमें व्यस्त, संसारमें फँसे हुए लोगोंके पास भी जितना अवकाश रहता है, उसका अपव्यय न करनेसे एवं साधनमें अनुराग होनेसे, गुरुकी कृपासे क्रमशः साधनानुकूल अवसर बढ़ जाता है एवं आभ्यन्तरीण और पारिपार्श्विक सभी अवस्थाएँ साधनमें सहायक हो जाती हैं। जप करते-करते जितना ही नामका रसस्वाद मिलता है, चित्तमें भगवद्भक्तिका विकास होता है एवं भगवदुपासना अनुभूत होती है, उतना ही

उपासनाके लिये अवसर भी अधिक मिलता है, संसारके बहुतसे आवश्यक जान पड़नेवाले कार्य बिल्कुल अनावश्यक जान पड़ने लगते हैं, भोगार्थ किये जानेवाले कर्मसमूह अपने-आप क्रमशः बिदा होकर साधकको योगसम्बन्धी कर्मसाधनके लिये अवकाश देने लगते हैं। अन्तर्दृष्टि गुरु गम्भीरनाथजी निर्दिष्ट परिमाण समयमें साधन-भजन करनेके लिये शिष्योंको बाध्य न करके उनको अपनी विचार-दृष्टिसे अवसरका निरूपण करके उसे यथाशक्ति सद्यवहार करनेके लिये उपदेश देते थे। नियमित उपासनाके लिये उत्तम समय बताते हुए प्रातःकाल और सायंकालका विशेष उल्लेख करते थे।

योगिराजजी एक ओर जैसे अवसरके अनुसार जप करनेका उपदेश देकर शिष्योंको सम्पूर्णरूपसे उनके विचारबुद्धि और दायित्वज्ञानके ऊपर निर्भर रखकर छोड़ देते थे, दूसरी ओर वैसे ही नाम-साधनके आदर्शको उनके मानस चक्षुके सम्मुख प्रशोत्तरके बहाने समुज्ज्वलरूपमें उपस्थापित करते थे। वे समझा देते थे कि किसी नियमित समयमें निर्दिष्ट कालके लिये जप करनेसे ही नामसाधन नहीं होता, रात-दिनके बीच केवल कुछ कालके लिये जपमें मन लगाकर शेष सभी समय अपनी इच्छासे विषयरसमें डूबे रहनेसे नामकी शक्ति और माधुर्यका अनुभव नहीं होता, अन्तःकरण नाममय नहीं होता, साधनाकी पूर्णता नहीं होती, जीवन कृतार्थ नहीं होता। निरन्तरका नामजप ही प्रकृष्ट साधन है। खाते, सोते, बात करते, रास्ता चलते, काम करते—सर्वदा सभी अवस्थाओंमें नाम-स्मरण रखनेकी चेष्टा बनी रहनेपर शीघ्र-शीघ्र उन्नति होती जाती है। प्रत्येक श्वास-प्रश्वासके साथ नाम-जप कर सकना अच्छा है। श्वास लेनेके साथ-साथ अचिन्त्यशक्तिसमन्वित नाम मानो भीतर प्रवेश करके शरीर, इन्द्रिय और मनके प्रत्येक रन्ध्र-रन्ध्रमें प्रवेश कर जाता है, एवं सम्पूर्ण सत्ताको भगवद्भाव-भावित और भगवद्भक्तिरससे रसित कर देता है। नामजप

इस प्रकार करना आवश्यक है कि नामजप करनेमें कोई विशेष आयोजन या प्रयत्नकी आवश्यकता न पड़े, अपने अनजानमें भी मन जिसमें स्वभावसे ही नाम-जपमें लगा रहे। बहुत साधक नाम-साधनका ऐसा अभ्यास करते हैं कि बड़े-बड़े विषयसम्बन्धी कार्योंमें गम्भीररूपसे व्यापृत रहते समय भी, यहाँतक कि सोते समय भी, उनका जप स्वतः ही चलता रहता है। नामकी शक्तिसे मनका धर्म बदल जाता है, नित्य-निरन्तर भगवद्भावाविष्ट होकर रहना ही उसका स्वभाव बन जाता है। शरीर यदि अपवित्र हो, इन्द्रियाँ यदि चञ्चल रहें, मन यदि कुत्सित चिन्तामें डूबा हो, तो भी नामको नहीं छोड़ना चाहिये। नामको किसी प्रकार अपवित्र नहीं किया जा सकता, नामका माहात्म्य किसी प्रकार नष्ट नहीं किया जा सकता, नाम नित्यशुद्ध, नित्यमुक्त, महाशक्तिका आधार है। सभी अवस्थाओंमें नामका सङ्ग करते-करते, नाम ही देहेन्द्रिय-मन-बुद्धिकी पवित्रता, स्थिरता और आत्मनिष्ठता सम्पादन करके अपने स्वरूपको प्रकाशित करेगा। नित्य-निरन्तर नामसाधनका अभ्यास करनेसे और किसी साधनका प्रयोजन नहीं होता, किसी शक्ति या प्रक्रियाकी सहायता लेनेकी आवश्यकता नहीं होती।

प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि योगाङ्गोंके अभ्यासकी आवश्यकताके सम्बन्धमें पूछनेपर अनेक शिष्य उत्तर पाते थे, 'नामजप करते रहो, नामसे शनैः-शनैः सब आ जायगा।' ऐकान्तिक निष्ठा और अनुरागके साथ नामजप करते-करते प्राणका कार्य अपने-आप नियमित हो जाता है, चित्त नामानन्द-रसके आकर्षणसे विषयविमुख होकर भगवत्स्वरूपमें धारणा करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है, एवं क्रमशः भगवान्में निश्चला स्थिति प्राप्त कर लेता है। योगके सभी प्रयोजनीय अङ्ग नाम-साधनाके साथ-ही-साथ अभ्यस्त हो जाते हैं। नाम-साधकके लिये एक-एक करके सभी योगाङ्गोंका अभ्यास करना आवश्यक नहीं होता। *

* इस लेखमें नाम-साधनाके साथ सद्गुरुका सुन्दर प्रसङ्ग आया है। यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐसी शक्ति भगवत्प्राप्त महापुरुष सद्गुरुमें ही होती है। जिनका अपना जीवन-स्तर ही बहुत नीचा है, जो स्वयं अन्धकारमें भटक रहे हैं, वे किसीको कैसे ज्ञानकी ज्योति देंगे, कैसे वे नाममें भगवत्प्राप्ति प्रदान करेंगे। वे तो अंधोंको पकड़कर ले जानेवाले अंधेकी भाँति स्वयं भी गढ़में गिरेंगे तथा दूसरोंको भी गिरावेंगे। अतएव ऐसे गुरुओंसे सावधान रहना चाहिये। नामका साधन हरेक स्थितिमें मंगलमय है। सद्गुरुप्रदत्त शक्तिसे युक्त नाम हो तब तो कहना ही क्या है, यों भी नामका आश्रय सबके लिये कल्याणकारी है।

सच्ची शिक्षा

रविशङ्कर महाराज एक गाँवमें सवा सौ मन गुड़ बाँट रहे थे, एक लड़कीको वे जब गुड़ देने लगे, तब उसने इन्कार करते हुए कहा—‘मैं नहीं लूँगी।’

‘क्यों?’ महाराजने पूछा।

‘मुझे माने कहा है कि यों नहीं लेना चाहिये।’

‘तो कैसे लेना चाहिये?’

‘ईश्वरने दो हाथ तथा दो पैर दिये हैं और उनके बीचमें पेट दिया है। इसलिये मुफ्त कुछ भी नहीं लेना चाहिये। यह तो आप मुफ्त दे रहे हैं, मजदूरीसे मिले तो ही लेना चाहिये।’

महाराजको आश्चर्य हुआ। इसको ऐसी शिक्षा देनेवाला कौन है, यह जाननेके लिये उन्होंने पूछा—‘तुझे यह सीख किसने दी?’

‘मेरी माने।’

महाराज उसकी माँके पास गये और पूछा—‘तुमने लड़कीको यह सीख कैसे दी?’

‘क्यों महाराज? मैंने इसमें नयी बात क्या कही? भगवान्ने हाथ-पग दिये हैं, तब मुफ्त क्यों लेना चाहिये?’ ‘तुमने धर्मशास्त्र पढ़े हैं?’

‘ना’

‘तुम्हारी आजीविका किस प्रकार चलती है?’

‘भगवान् सिरपर बैठा है। मैं लकड़ी काट लाती हूँ और उससे अनाज मिल जाता है। लड़की राँध लेती है। यों मजदूरीसे हमारा गुजराना सुख-सन्तोषके साथ निभ रहा है।’

‘तो इस लड़कीके पिताजी.....’

वह बहिन उदास हो गयी, कुछ देर ठहरकर

बोली—‘लड़कीके पिता थोड़ी उम्र लेकर आये थे। जवानीमें ही वे हमें अकेले छोड़कर चले गये। पर लगभग तीस बीघे जमीन और दो बैल वे छोड़ गये थे। लेकिन मैंने विचार किया कि इस सम्पत्तिमें मेरा क्या लेना-देना है? मैं कब इसके लिये पसीना बहाने लगी थी? अथवा यदि मैं पुरानी बुढ़िया होती या अपंग अथवा अशक्त होती तो अपने लिये सम्पत्तिका उपयोग भी करती। परंतु ऐसी तो मैं थी नहीं। मेरे मनमें आया कि इस सम्पत्तिका क्या करूँ और भगवान्ने ही मुझे यह सुझाव दिया कि यदि यह सम्पत्ति गाँवके किसी भलाईके काममें लगा दी जाय तो बहुत अच्छा हो। मैंने सोचा, ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता है—मेरी समझमें यह आया कि इस गाँवमें जलकी बहुत तकलीफ है इसलिये कूआँ बनवा दूँ। मैंने सम्पत्ति बेच दी और उससे मिली हुई रकम एक सेठको सौंपकर उनसे कहा कि आप इन पैसोंसे एक कूआँ बनवा दें। सेठ भले आदमी थे। उन्होंने परिश्रम और कोर-कसर करके कुएँके साथ ही उसी रकममेंसे पशुओंके जल पीनेके लिये खेल भी बनवा दी।’

इस प्रकार उस बहिनने पतिकी सम्पत्तिका हक छोड़ करके उसका सद्व्यय किया। उसे नहीं तो उसके हृदयको तो इतनी शिक्षा अवश्य मिली होगी कि ‘मैं जो पतिको व्याही हूँ सो सम्पत्तिके लिये नहीं, पर ईश्वरकी—सत्यकी प्राप्तिके मार्गमें आगे बढ़नेके लिये ही मैं व्याही हूँ।’ इस प्रकारकी समझ तथा संस्कारसे बढ़कर और कौन-सी शिक्षा हो सकती है?—हिंदू

अमृतत्व

(लेखक—पं० श्रीशम्भुनाथजी चतुर्बेदी, प्रयाग)

यह स्थावर-जड़म सृष्टि, जो हमें दृष्टिगोचर होती है, पुरुष एवं प्रकृतिके संयोगसे बनी है। पुरुषके विषयमें श्रुति कहती है कि यह विश्व जो कुछ हुआ अथवा होगा, उसीको पुरुष जानना चाहिये—

‘पुरुष एवेदः सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।’

प्रकृति भी अनादि ही है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वन्मनादी उभावपि । (गीता)

इसके दो भेद हैं—एक पञ्चधा यानी अपरा, जिसके संयोगसे यह पाञ्चभौतिक शरीर बना है और दूसरी परा—जिसके द्वारा इस पाञ्चभौतिक शरीरमें क्रिया-शक्तिका संचार होता है। इन्हींको क्रमशः ‘जड’ तथा ‘चेतन’ प्रकृति भी कहते हैं। इस प्रकृतिसे ही सत्त्व-रजस्तमोमय त्रिगुणोंकी उत्पत्ति हुई है। इस त्रिगुणात्मक प्रकृतिको वेदान्तशास्त्रमें माया अथवा अविद्या भी कहते हैं, जिसके ऊपर अधिष्ठान करके पुरुष सृष्टिकी उत्पत्ति करता है।

अनन्त जन्मोंकी वासनाएँ जीवको संस्कार-चक्रमें घुमा रही हैं। हम जो भी शुभ अथवा अशुभ करते हैं, वे सब संचित हो जाते हैं। उन संचित कर्मोंसे एक जन्मका भोग लेकर शरीर बनता है, उसे प्रारब्ध कहते हैं। इन प्रारब्ध कर्मोंको भोगनेके लिये ही जीवको शरीर धारण करना पड़ता है; क्योंकि उनका नाश तो बिना भोगे हो ही नहीं सकता। आगेके लिये जैसी वासना रखकर जीव मृत्युको प्राप्त होते हैं, वैसे ही वास्तविक बनते जाते हैं।

इसी गुण और कर्मके विभागसे यह अण्डज, उद्भिज, रवेज और जरायुज—चार प्रकारकी सृष्टि बनी है। इन्हीं चार खानियोंके अन्तर्गत जीव चौरासी लक्ष

योनियोंमें भ्रमता फिरता है। शुभ कर्मोंसे क्रमशः उत्थान तथा अशुभ कर्मोंसे पतन होता रहता है। उत्थान प्राप्त करते-करते जीव इस शरीरको छोड़कर इससे उत्तरोत्तर उत्तम पितृलोकका, गन्धर्व-लोकका अथवा देवलोक या प्रजापति-लोकका शरीर प्राप्त कर लेता है; परंतु भोगके द्वारा पुण्य-कर्मके क्षय होनेपर वह पुनः मनुष्यलोकमें जन्म लेता है। इसीको आवागमन कहते हैं। सृष्टिके इस आवागमनके चक्रके चलते रहनेसे ही इस संसारको जगत् कहते हैं।

इन चौरासी लक्ष योनियोंमें जन्म लेनेवाले सभी नाशवान् हैं, इसीको लौकिक-भाषामें ‘मृत’ कहते हैं। एक विराट् पुरुष (पुरुषोत्तम-परमात्मा) ही ऐसा है, जो अक्षय तथा अव्यय है। वही अमृत है, इसी अमृतमें विलीन हो जानेको ‘अमृतत्व’ कहते हैं, जिसको प्राप्त कर लेनेपर जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिका भय नहीं होता—

‘जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ।’

उपर्युक्त पञ्चधा प्रकृतिमें समन्वित मन और अहङ्कार-सहित बुद्धिको विवेकमयी बनानेकी क्षमता मानव-योनिमें ही उपलब्ध है, जिसके कारण मनुष्य अन्धकाररूपी अज्ञानको शुद्ध ज्ञानके द्वारा अतिक्रम कर सकता है। इसीलिये भगवान् श्रीरामने अपने श्रीमुखसे इसे सुर-दुर्लभ योनि कहा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्दि गावा ॥

सर्वसमर्थ देवता भी यज्ञादिके द्वारा अपना भाग पानेके लिये मानव-गृहस्थके आश्रित रहते हैं। केवल वे ही नहीं, अपितु ऋषि एवं पूर्वमृत पितृगण भी तुष्टिके हेतु सदाचारपरायण सद्गृहस्थके आश्रित रहते हैं। इस कारणसे भी इस योनिको सुर-दुर्लभ ही कहा जा सकता है। ऐसे दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर भी

जिसने परमगतिकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नहीं किया, वह आत्मघाती माना गया है और ऐसे आत्मघाती मृत्यु-के अनन्तर अज्ञान-अन्धकारसे आवृत असुर-लोकमें जाते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताः स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(ईशा • उ • ३)

अतः इस दुर्लभ मानवशरीरको पाकर आत्माका उद्धार करना ही चाहिये । यह आत्मा स्वयं ही आत्माका बन्धु अथवा शत्रु है—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
(गीता ६ । ५)

मानव-शरीरमें जन्म ग्रहण करते ही जीवको माता-पिता, भाई-बहिन और अन्य सगे-सम्बन्धियोंका प्यार प्राप्त होता है, जो रागमें परिणत हो जाता है । बड़े होनेपर शनैः-शनैः संगी-साथी और मित्र बढ़ते जाते हैं । विवाह हो जानेपर स्त्री-पुत्र और धनके संचयके चक्रमें पड़ जाता है । क्रमशः यह माया-मोहका फंदा इस जीवको जकड़ता ही जाता है । सारा ही जगत् इस मोहमयी प्रमादमदिराको पीकर उन्मत्त हो रहा है—

‘पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ।’

यह अन्धकारका पर्दा परमात्माके वास्तविक ज्ञानको आच्छादित कर लेता है । मर्त्यलोकके प्राकृतिक जीवों-के लिये ही ऐसा हो, सो बात नहीं । इस मायाके चक्रमें बड़े-बड़े देवता तथा ऋषि-महर्षि भी फँस चुके हैं । फिर पामर जीवकी कौन विसात है । भगवान् ने अपने श्रीमुखसे इस अपनी गुणमयी दैवी मायाको दुरत्यय बतलाया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

इसी मायाके द्वारा—

नद मर्कट इव सबहि नचावत । राम-धर्मोसुखेद अज्ञातवत् ॥

इस मायासे तरनेका उपाय भगवान् ने बताया है अपनी शरणागति—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।

इसके लिये वे भक्त अर्जुनसे कहते हैं—मुझमें मनवाले हो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करनेवाले बनो और मुझे नमस्कार करो—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

और तब तुम मुझे ही प्राप्त होओगे, तुम मेरे प्रिय हो, इससे मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ—

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।

अतः पूर्णतया उन्हीं परमात्माकी शरण जानेसे और उन्हींकी कृपासे परम शान्ति तथा परमपद प्राप्त होगा । परंतु इस मार्गपर चलना बहुत सहज नहीं है—

धुरस्य धारा निशिता दुरत्यया

दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।

यदि यह मार्ग निर्विघ्न निभ जाय, तब तो परमपदकी प्राप्ति हो ही जाय । इसके लिये—

अति हरि कृपा जाहि पर होई । पाउँ देइ एहि मारग सोई ॥

इस पथमें श्रद्धारूपी पाथेय और संतोंके सत्सङ्गकी अत्यन्त आवश्यकता होती है, जो पग-पगपर मार्ग प्रदर्शित कर सकें । ये संत भी बिना भगवान् की कृपाके नहीं मिलते—

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ।

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥

ज्ञानी गुरु अथवा महान् संतोंका सत्सङ्ग करनेकी भावना अन्तःकरणसे ही प्रेरित होती है । यह भावना तभी उत्पन्न होती है, जब चित्त सांसारिक विषयोंसे उपरत होने लगता है । आधिभौतिक सुखकी खोजमें आदमी जब इधर-उधर दौड़ते-दौड़ते थक जाता है, तब वह विचारता है कि वास्तविक सुख संसारमें कहीं नहीं है । धनी-निर्धन, पुत्रवान्-निःसन्तान, राजा-रक्ष—

कोई भी सुखी नहीं है। वास्तविक सुख तो सन्तोषमें है। 'संतोषं परमं सुखम्'।

गोधन गजधन बाजिधन अरु धन मेरु समान।

जब आवै संतोष धन सब धन धूरि समान ॥

सन्तोष रागमें नहीं, वैराग्यमें है। जब यह समझमें आ जाता है, तब इच्छाओं अथवा वासनाओंको दमन करनेकी प्रवृत्ति स्वयं जाग्रत होने लगती है। इन्द्रियोंमें सबसे बलवान् मन है, जो बुद्धि और अहंकारनामक मन्त्रियोंकी सहायतासे शेष कर्मेंद्रियोंपर शासन करता है। यही मन साधकके मोक्ष अथवा बन्धनका कारण है और इसीका बुद्धिके द्वारा सदुपयोग और अहङ्कारके द्वारा दुरुपयोग होता है। अहङ्कारके परामर्शसे चक्कर खाता हुआ मन अन्तमें जब बुद्धिसे परामर्श लेता है तभी स्वस्थ होता है। राजर्षि विश्वामित्र, सौभरि मुनि, ययाति और ऐल आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जब बड़े-बड़े तपस्वियोंकी यह दशा हुई, तब इस पथपर अग्रसर एक नवीन साधारण पथिककी दशाका अनुमान लगा लेना कठिन नहीं। इस विषयमें एक साधारण उदाहरण दिया जाता है।

एक विद्यालय है, जिसमें बहुत-से छात्र अध्ययन करते हैं। हर कक्षामें कुछ तो मन न लगनेके कारण, कुछ यथेष्ट व्यय न कर सकनेके कारण पढ़ाई ही छोड़ बैठते हैं। कुछ वार्षिक परीक्षामें अनुत्तीर्ण होनेके कारण उसी कक्षामें रुक जाते हैं। इस क्रमसे हाईस्कूल परीक्षातक तो बिरले ही विद्यार्थी पहुँच पाते हैं। जो उस परीक्षामें भी किसी प्रकार उत्तीर्ण हो गये, उनमेंसे कुछ तो अध्ययन वहीं समाप्त कर देते हैं और बिरले ही आगे भी क्रम जारी रखते हैं। इस तरह उस प्रारम्भिक कक्षाके साथियोंमेंसे बहुत थोड़े ऐसे निकलते हैं जो एम्. ए. की अन्तिम परीक्षातक साथ-साथ रहते हैं और उसमें उत्तीर्ण होते हैं। यही भाव गीतामें भगवान् ने निम्नाङ्कित श्लोकमें वर्णित किया है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(७।३)

इस पथमें अग्रसर हुए सहस्रों प्रयत्नशील साधकोंमेंसे बिरले कोई एक-दो ही गन्तव्य स्थानतक सफलता पहुँच पाते हैं। साधन प्रबल होनेपर तो भगवत्कृपासे एक ही जन्ममें सफलता मिल जाती है। पर सम्भव है यह सफलता एक ही जन्ममें न प्राप्त हो। जितना पथ शेष रह जाता है, उसके लिये एक या अनेक बार पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। ब्रह्म शुद्ध है, अतः वह भ्रमित प्रत्येक आत्माको पूर्णतया तपाकर खरा बना लेता है। जितना मार्ग तै कर लिया है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता और अगले जन्ममें ऐसे साधन स्वतः ही उपलब्ध हो जाते हैं, जिससे वह योगभ्रष्ट पथिक क्रमसे अपने निर्दिष्ट मार्गकी ओर अग्रसर होता रहता है। यथा—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

(गीता ६।४१-४२)

अतः यह स्पष्ट हो गया कि इन्द्रियोंका विषयोंसे क्रमशः उपरत होना भगवत्कृपाका द्योतक है।

भगवान् ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २।६४-६५)

'स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष राग-द्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरता हुआ प्रसादको—प्रसन्नताको प्राप्त होता है। इस प्रसन्नतासे समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है।' इसीसे शान्ति मिलती है। पर यह विषयकामी पुरुषोंको नहीं मिलती। यह तो उन्हीं पुरुषोंको मिलती है जिनमें सारे भोग—समुद्रमें नदियोंकी भाँति किसी प्रकारका क्षोभ उत्पन्न न हो सके।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

(गीता २ । ७०)

ऐसे साधक जो बाह्य सुख-दुःखोंको उपेक्षाकी दृष्टिसे बहन करते हुए अपने प्रकाशमय अन्तःकरणमें ही सुखपूर्वक रमण करते हैं, वे ही ब्रह्मनिष्ठ साधक ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं ।

भियते हृदयग्रन्थिश्लिच्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

यह हृदयकी अज्ञानरूपी ग्रन्थिका कट जाना ही मोक्ष है—

अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ।

(शिवगीता १३ । ३२)

इस प्रकार इस जन्ममें या जन्मान्तरमें जीव वासुदेव-के आश्रय और वासुदेवपरायण होकर समस्त पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त करता है—

वासुदेवाश्रयो मय्यो वासुदेवपरायणः ।

सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥

(वि० स०)

स्वर्गसे तो जीवको पुण्य क्षीण होनेपर पुनः-पुनः जन्म धारण करना पड़ता है, परंतु सनातन ब्रह्ममें लीन हो जानेपर आवागमनसे मुक्ति मिल जाती है—

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।

इसी अमृतत्वकी प्राप्ति ही प्रत्येक जीवका प्रधान ध्येय है ।

भगवत्पूजन और शुद्ध सत्कर्म

सुखियोंका सुख है दुखियोंके सुखका शोषण ।
लौटाते रहनेसे ही वह पाता पोषण ॥
पर यदि उसे सहर्ष नहीं लौटाता मानव ।
तो उसको जगसे मिटना पड़ता, बन दानव ॥
संग्रहका कर त्याग भोगसे ममता हर लो ।
सारा सुख सबमें वितरणकर समता कर लो ॥
इस जगमें जो कुछ भी है, सब ही ईश्वर है ।
उतना ही भोगो, सच्चा हक जितनेपर है ॥
पर-स्वसे नित बचो, कभी मत मन ललचाओ ।
सबको उनका हक देकर अपना हक खाओ ॥
यज्ञ यही है, भगवत्पूजन, धर्म यही है ।
मानवता है यही, शुद्ध सत्कर्म यही है ॥

—अकिञ्चन

गोमाताकी सेवासे

(लेखक—एक गो-सेवक कृपक)

मेरे पूर्वज गाँवमें सदा सम्पन्न रहे, मेरे पिताजीका जीवन भी उन्नत रहा; वे चार-पाँच घण्टे ईश्वराराधनमें लगाते और शेष समय साहूकारी, गल्ला बीजके लिये देनेमें और खेतीके कार्यमें व्यतीत करते। इस कार्यमें उनका खूब मन लगता। उन्होंने भूमि भी पर्याप्त एकत्र कर ली थी। वे कृपि बहुत उत्तम तरीकेसे करते। गाँवके लोगोंपर उनका प्रभाव था और सब लोग उनसे सन्तुष्ट रहते थे। पिताजीके परलोकगमनके बाद गृहस्थीका सारा दायित्व मुझपर आ पड़ा। किंतु क्रमशः सम्पत्तिका हास होने लगा। थोड़े ही समयमें मेरी सम्पत्ति आधी रह गयी। भूमिका कार्य स्थगित हो गया। बीजका गल्ला सब डूब गया। पैसेकी आय बंद हो गयी। खेतीसे अब कम होने लगा और अधिकांश जमीन परती पड़ गयी। देखते-देखते सारा काम चौपट हो गया।

मैं रात-दिन चिन्तित रहने लगा। भाग्यने जैसे मेरा साथ छोड़ दिया था। मैं जिस कार्यमें हाथ डालता, उसीमें असफल होता। मेरे दो और छोटे भाई हैं। उन लोगोंकी इच्छासे मुझे उनसे पृथक् होना पड़ा। सारी सम्पत्ति तीन भागोंमें बराबर-बराबर बाँटकर हम सब अपना-अपना कार्य चलाने लगे। मुझे चार वर्ष बीत गये—किंतु मेरी दशा उत्तरोत्तर अवनत होती गयी। गाँवके लोग मुझे निरुद्यमी और आलसी कहने लगे। मुझपर ऋण भी काफी हो गया। यहाँतक कि अनाजके लिये भी मैं दूसरोंका मुँह देखने लगा। जिनको मैं गल्ला और रुपया दिया करता था, अब उनके द्वारपर मुझे दौड़ना पड़ता, किंतु इतना होनेपर भी मैं धैर्य नहीं छोड़ सका और भगवान्का भरोसा मेरे मनमें बना रहा।

एक दिन चिन्तित-मन चारपाईपर मैं लेटा हुआ था कि मेरी आँख लग गयी। निद्रामें मुझे लगा कि बैल-गाय मुझे मारने दौड़ रहे हैं और मनुष्यकी भाषामें बोलते हुए मुझसे कह रहे हैं कि 'अभी हम तुझे और तंग करेंगे। तूने अपने खाने-पीनेके सिवा कभी हमारी भी खबर ली है कि हम भूखे या प्यासे हैं? सारों (गोशाला) में कभी जाकर देखा भी है कि वह साफ है या हम गोबर-मूत्रमें पड़े

हैं? तू अपने इसी पापका परिणाम भोग रहा है। तू अब भी चेत जा और अपना तरीका बदल दे, नहीं तो अन्ततः तेरा सर्वनाश हो जायगा।'

गाय-बैलोंके वचन सुनकर मुझे बहुत व्यथा हुई और मैं चौंककर जाग उठा। मैंने देखा, यह तो स्वप्न था। रात आधीसे अधिक बीत चुकी थी। किंतु मैं उसी समय लालटैन लेकर गोशालामें गया। वहाँ देखा, सारे पशु भूखे खूँटेसे बँधे हैं। उनके आगे घास-भूसाका एक तिनका भी नहीं था। कूड़ेका ढेर लगा है। मैं मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगा। मैंने उसी क्षण अपने हाथसे गोशालाको साफ करना शुरू किया और दिनके दस वजेतक गोशालाकी सफाईमें लगा रहा। उस दिनसे हर समय मैं अपने जानवरों एवं गोशालापर ध्यान रखने लगा। प्रातः-सायं गो-दुग्ध अपने हाथसे दुहना और चारा-घास एवं स्वच्छ जल अपने सामने डलवाना मेरा मुख्य कर्तव्य हो गया। मेरे गाय-बैल जब चरने जाते, तब मैं गोशाला अपने हाथोंसे साफ करता। कूड़ा-करकट अलग गड्ढेमें डालता और उसकी अच्छी खाद बनती। जानवर सुखपूर्वक रहने लगे। मेरे जानवर स्वस्थ और दृष्ट-पुष्ट हो गये। घृत-दुग्ध पर्याप्त मिलने लगा। बैलोंके सुस्वास्थ्यके कारण मेरी कृपि चमक उठी और अनाज पाँचगुना-छःगुना उत्पन्न होने लगा। खेतीमें मेरी रुचि बढ़ गयी और निराशा दूर हो गयी। ऋण भी अधिकांश चुका दिया गया। मेरी स्थितिमें काफी परिवर्तन हो गया। मुझे निरुद्यमी, आलसी और अभागे कहनेवाले लोग अब मेरी प्रशंसा करने लगे।

यह घटना बिल्कुल सच्ची है। रईसीके चक्करमें मैं अपनी सम्पत्तिका नाश कर चुका था, किंतु आज ईश्वरकी कृपा, गो-माताकी आशिष और अपने हाथों काम करनेके कारणसे मेरी दशा अत्यन्त सुन्दर हो गयी। यदि कोई गोपालक कृपक भाई मेरी तरह दरिद्रनारायणके शिकार हो गये हों तो उन्हें मेरे पथका अनुसरण करना चाहिये। मैं डंकेकी चोट कहता हूँ कि भगवान्पर विश्वास और गो-माताकी सेवासे बुरी-से-बुरी हालत बदलकर अच्छी हो जायगी।

शक्ति-उपासना और चण्डीकी रहस्यविद्या

(लेखक—श्रीहरिनारायणजी बाथम)

भारतवर्षमें शक्तिकी उपासना प्राचीनकालसे चली आ रही है। कितने हजार वर्षोंसे यह उपासना यहाँ प्रचलित है—इसका कुछ पता नहीं है। तो भी इन दिनोंमें इतिहास-चिह्नवेत्ताओं (Archeologists) ने जो मोहन-जोदड़ो और हरप्पा में खुदाई करके निकाला है, उनमें भी देवीकी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनसे देवीकी उपासना भारतवर्षमें प्राचीन मालूम होती है।

वेदोंमें शक्तिसम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं, ऋग्वेदके अनुसार निखिल ब्रह्माण्डको बनानेवाली शक्ति ही है। उपा-देवी, सूर्यदेवी तथा लक्ष्मीदेवीके सूक्तोंमें भी देवीभाव प्रकट किया गया है। उपनिषदोंमें भी शक्तिके संकेत पाये जाते हैं, ब्राह्मण तथा आरण्यकमें शक्तिके सरस्वती, गायत्री तथा सावित्री आदि नाम दिये हैं। गायत्री नामकी वेदशक्ति वेदत्रयीके रहस्यका ज्ञान करने-वाली मानी गयी है। श्रुतिके अनुसार देवी अचिन्त्य तथा अमित आकारवाले ब्रह्मकी शक्ति है। पुराण तथा देवीभागवत तो समस्त शक्तियोंकी कथाओंसे परिपूर्ण है। दुर्गासप्तशती देवीकी उत्पत्ति तथा स्तुतियोंसे भरी पड़ी है, जिनका रहस्य इस लेखमें विशेषरूपसे व्यक्त किया गया है।

बौद्धों तथा जैनियोंमें भी शक्तिकी उपासना पायी जाती है। हिंदुओंके समान बौद्धोंकी विशेष देवीका नाम तारा है। उग्रतारापञ्चाङ्ग, ताराकल्पलता, ताराप्रदीप, तारा-तत्त्व आदि तैत्तिरीय ग्रन्थ हैं, जिनमें तारादेवीकी उपासनाका विस्तृत वर्णन है। जावामें जो लेख प्राप्त हुए हैं, उनमें भी तारादेवीका उल्लेख है। लङ्का और स्याममें समुद्रकी देवी मणिमेखला नामसे पूजी जाती है।

जैनियोंमें यद्यपि प्रत्यक्षरूपसे शक्ति-पूजाका कोई चिह्न देखनेमें नहीं आता है तो भी उनके अधिकांश तीर्थस्थानोंमें देवीकी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। अनेक जैनी कवियोंने सरस्वती-की उपासनाको प्रत्यक्षरूपसे स्वीकार किया है।

कई विद्वानोंने तो यहाँतक बतलाया है कि शक्तिकी उपासनापद्धति प्राचीनकालमें अनेक देशोंमें प्रचलित थी, जैसे मिश्र, एशिया माइनर, फिनिशिया तथा यूनानमें शक्तिका जो रूप प्रचलित है, उससे इस शक्तिकी उत्पत्ति होती है।

भारतवर्षके हर प्रान्तमें शक्तिकी पूजा प्रचलित है। विशेषकर बङ्गाल और दक्षिणमें।

आजकल यूरोप, अमेरिका इत्यादि देशोंमें जो खोज हो रही हैं, वे भी शक्तिके उपार्जन करनेके लिये। इसलिये उपर्युक्त देशवासियोंके ध्यान और कर्म शक्तिकी ओर लगे हुए हैं, जो एक प्रकारकी उपासना हो जाती है। परंतु यह उपासना भारतीय उपासनासे बिल्कुल भिन्न है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

इस संसारमें अनेक प्रकारकी शक्तियाँ हैं—जैसे प्राण, विद्युत्, चुम्बकीय इत्यादि। इन सब शक्तियोंमें प्राण मुख्य हैं, क्योंकि चेतनात्माका प्रथम प्रकाश प्राणके रूपमें होता है। फिर आगे चलकर संसार बनानेके लिये यही प्राण अनेक रूप और गुण धारण कर लेता है। इसलिये प्राण ही इन सब शक्तियोंकी मातारूपसे विराजमान है और इसी कारण भारतवर्षमें शक्ति-उपासक उसको माता तथा देवीके नामसे आवाहन और पूजन करते हैं और दुर्गासप्तशतीमें इसीको चामुण्डा कहते हैं।

दुर्गासप्तशतीकी रहस्यविद्या

प्रत्येक विद्याके दो अङ्ग होते हैं, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक। पहला अङ्ग काल्पनिक या सैद्धान्तिक (Theoretical) और दूसरा क्रियात्मक या व्यावहारिक (Practical), जैसे सांख्यवादके लिये व्यावहारिक विज्ञान (Practical Aspect), पातञ्जल दर्शन है, उसी प्रकार ब्रह्मवादके लिये चण्डी है। सांख्यवादके त्रिगुण तत्त्व और ब्रह्मवादके त्रिवृत तत्त्व एक ही वस्तु हैं। सांख्यमतमें जब विश्लेषणद्वारा चैतन्यसे अनुभूतिको अलग करके देखते हैं, तब दो स्वतन्त्र तत्त्व मालूम होते हैं—एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। अथवा एक अचेतन और दूसरा चेतन। प्रकृतिको गुणमयी और पुरुषको निर्गुण कहते हैं। परंतु ब्रह्मवादमें बोधस्वरूप परमात्मामें ही ये सब एकमात्र पर्यवसित हैं। इसमें तत्त्वतः गुणगुणी भेद नहीं है। इसमें जगत्, जो बाहर दिखायी देता है, वह सब आत्माकी ही त्रिवृत मूर्ति है। इसमें एक परमतत्त्व है, जो आप-ही-आप अपनेको चिन्तन बना लेता है। सांख्यवादके त्रिगुण तत्त्व और

ब्रह्मवादके त्रिवृत तत्त्व ये दोनों ही चण्डीके भीतर गृहीत हैं। इन दोनोंको निचोड़कर परमतत्त्वके पानेके लिये चण्डीमें एक रहस्यविद्या निकाली गयी है। यह रहस्य-विद्या ही चण्डीकी विशेषता है। एकरस परमतत्त्व परमात्मामें एक ऐसी अपूर्व शक्ति है, जिसके बलसे वे स्वयं त्रिवृत हो जाते हैं और इस वैचित्र्यमय जगत्को धारण कर लेते हैं। जिस शक्तिके प्रभावसे परमतत्त्व स्वयं यह सब बन जाते हैं, उसी परमा शक्तिको चण्डी देखने और पहचाननेके लिये कहती है। यह बात और कहीं नहीं कही गयी है, केवल चण्डीमें ही है और जिसकी सफलताके लिये चण्डी पूजन और ध्यानकी विधि भी बतलाती है। आत्माकी इस स्वयंशक्तिको, इस परमा शक्तिको, इस रहस्यविद्याको चामुण्डा कहते हैं। चण्डीमें इस शक्तिकी जो सृष्टि, स्थिति और लयात्मक महिमा और लीला है, उसीका वर्णन है। इन तीन प्रकारकी लीलाओंके लिये चामुण्डाने भी तीन रूप धारण किये और सृष्टिको बनाया तथा चला रही है।

आजकलके भौतिक विज्ञानने संसारकी वस्तुओंका विश्लेषण करके यह मादूम किया है कि संसार केवल विद्युत्-शक्तिसे ही बना है, जो शिथिल (Neutral) रूपमें सर्वव्यापी है। परंतु जब यह क्रियात्मक होती है, तब उसके दो रूप और हो जाते हैं, एक धनात्मक (Positive) और दूसरा ऋणात्मक (Negative)। विद्युत्के इन्हीं तीनों रूपोंके सूक्ष्मांशको प्रोटोन (Proton), इलेक्ट्रोन (Electron) और न्यूट्रोन (Neutron) कहते हैं। इन्हींके समावेशसे हर वस्तुके परमाणु बनते हैं, जिनके संमिश्रणसे सारा संसार बना हुआ है। परंतु इस विद्युत्-शक्तिको सामयिक विज्ञान-वेत्ता जड़ और अनात्म समझते हैं; क्योंकि अभी तक उनका ध्यान आत्माकी ओर उतना आकर्षित नहीं हुआ है, जितना इन्द्रियग्राह्य वस्तुओंकी ओर हुआ है। चेतनात्मासे अपरिचित होनेके कारण उनको हर वस्तु जड़ और अनात्म दिखायी देती है।

भारतवर्षके ऋषियोंने भी विश्वकी रचना शक्तिद्वारा ही पायी थी और उन्होंने भी इस शक्तिको तीन रूपोंमें देखा था। परंतु इसको उन्होंने जड़ और अनात्म नहीं पाया; क्योंकि इसके मूलमें उन्होंने उस चेतन आत्माको भी पाया था, जिसकी चेतना इन शक्तियोंमें भी वर्तमान है। इसी कारण उनको यह विश्व चैतन्यमय भासता था और इस चेतनाके कारण उन्होंने इन शक्तियोंका व्यक्तिकारण

(Personification) किया था और उनको वे देवियोंके नामसे पुकारते थे। इन तीन शक्तियोंके कारण ही सप्तशती तीन भागोंमें विभाजित है।

इस दुर्गास्तुतिमें सृष्टिकी रचना, उसकी स्थिति और उससे मुक्ति कैसे मिलती है, इन तीन कामोंके लिये तीन प्रकारकी शक्तियाँ, जो देवी कहलाती हैं; इनसे जो तीन प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, जो असुर कहलाते हैं, तीन प्रकारके ऋषि, देवता तथा जीव, जिनके द्वारा और जिनके कारण ये सब शक्तियाँ और उनकी प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित और क्रियात्मक होती हैं—इन सबका यथाक्रमसे वर्णन किया गया है। इन सबका परिचय और मर्म जाने बिना चण्डीतत्त्व समझना कठिन है। इसलिये पहले मर्मकी बातपर विचार करना आवश्यक है।

ऋषियोंने देवीकी इस महिमात्रयीको तम, रज और सत्त्व कहा है और उन्हींको महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वतीके नामसे आवाहन किया है। देवीकी जो तमोमयी मूर्ति है—जिसको काली, पार्वती और भीमा कहते हैं, उसकी महिमा मोह है। रजोमयी मूर्ति—जिसको लक्ष्मी, अम्बिका और शाकम्भरी कहते हैं, उसकी महिमा कर्म है और सत्त्वमयी मूर्ति—जिसको सरस्वती, कात्यायनी और नन्दा कहते हैं, उसकी महिमा भोग है। आत्मबोधशून्यताका नाम मोह है। जब 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञानतक नहीं रहता है, तब मोहका पूर्ण विकास होता है, जैसे निद्रा और मृत्यु-अवस्थामें 'मैं हूँ' इसका ज्ञानतक नहीं रहता। यही मोहका यथार्थ स्वरूप है यानी चरम सीमा है। किसी वस्तु या भाव-विशेषमें अपनेको भूल जाना और खो देना भी मोह है। चेतनप्रवाहका नाम कर्म है। चेतनाका किसी प्रकारका विवर्तन ही कर्म है। आत्मा और चेतनद्वारा आत्मा और चेतनको जानना भी कर्म है। आत्मबोधका नाम भोग है। जब चेतनद्वारा चेतनाके या स्वसंवेदनके आनन्दको जानते हैं, तब वह भोग होता है। फिर किसी वस्तु, व्यक्ति और भावविशेषको आत्मस्थ करके देखना या उसको अपनी सत्ताका विशेष अंश बोध करना भी भोग है। सारांश, आंशिकभावमें या पूर्णभावमें अपनेको खो देना मोह है। चित्तचाञ्चल्य ही कर्म है। आंशिकभावमें या पूर्णभावमें दूसरेको अपनी सत्ताका अंशवत् देखना या आत्मस्थ होकर आत्मबोध पुष्ट करना—भोग है। चेतनशून्यता मोह, चेतन-मोह और चेतनभोग है। मोहकी प्रतिक्रिया

भय या भीति—जिसको चण्डीमें मधु-कैटभ कहा है, कर्मकी प्रतिक्रिया कोप, जो महिषासुर है और भोगकी प्रतिक्रिया अदृष्ट और पुरुषत्व या संस्कार और जीवत्व किंवा प्रकृति और पुरुषत्व है, जो शुम्भ-निशुम्भ नामक असुर है।

मोह, कर्म और भोग

अपनेको दूसरा और पर करके मानना मोहका लक्षण है। जैसे यदि मैं किसीको चाहता हूँ अथवा किसीमें मुग्ध होता हूँ, तब उस मुग्धतामें जो प्रथम चेतनका उदय होता है तो उस समय यह मालूम होता है कि मैं अब मुझमें नहीं रहा; बल्कि दूसरेका हो गया हूँ, इस प्रकार आप ही अपनेसे अपनेको दूसरा करके मानना मोह है। फिर किसी जनशून्य स्थानमें जहाँ गम्भीर अन्धकार है, वहाँ मनमें भय आता है मानो मुझे कोई घास करने आता है और मैं अपनेको खोये दे रहा हूँ। उस समय जिन लोगोंको मैं अपना समझता था, वे कोई मुझे वहाँ नजर नहीं आते हैं। बल्कि दूसरेकी सत्ताका बोध होता है, जिससे मुझे भय होता है। यह दूसरेकी सत्ता या द्वितीय सत्ता अपनी सत्तासे ही उदय होती है और यही अपनेको दूसरा या पर करके मानना है अर्थात् अपनेको द्वितीयवत् समझना और प्रतिपन्न करना है। प्रलयान्तमें यही मोह ब्रह्माको भी हुआ था।

अपनेको पर कर लेना यह भोगकी प्रतिक्रिया है। दूसरेको या परको या द्वितीयवत् प्रतिपन्न अपनेको जब हम अपनेसहित युक्त करने जाते हैं, तभी हम बद्ध वा मुक्त होते हैं। आप ही अपनेको पा रहा हूँ—जब ऐसा बोध होता है, तब मुक्ति होती है और जब मैं दूसरे या परको पा रहा हूँ, तब ऐसा बोध बन्धन हो जाता है। इस प्रकार जब हम पर या दूसरेको लेने जाते हैं, तब हम बड़े विप्लवमें पड़ जाते हैं, यही शुम्भ-निशुम्भका विप्लव है। इस अवस्थामें हमारे सहचररूपमें निम्न-लिखित होते हैं—अज्ञानान्धता, मत्तता, परश्रीकातरता और बन्धनकी संस्कारराशि। यदि हम चेतनमें मुग्ध होते हैं तो वही योगनिद्रा हो जाती है। चेतना यदि निजके पानेके लिये चञ्चल होती है तो यही चाञ्चल्य साधना हो जाती है। इसके विपरीत यदि हम पर या दूसरेमें मुग्ध होते हैं तो मूढ़ता आ जाती है और उच्छृङ्खल अध्यवसाय आ जाता है। यही महिषासुर है। सारांश, चेतनामें चेतनाको पाना मुक्ति है और चेतनामें पर या दूसरेको पाना बन्धन है।

तीन शक्तियों और उनकी प्रतिक्रियाओंके

विशेष-विशेष कर्म

जीवकी जीवनशक्ति तीन प्रकारसे काम करती है, जिनके कारण प्रत्येक मनुष्य तीन अवस्थाओंका अनुभव करता है। इन तीन अवस्थाओंको सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत कहते हैं। जीवकी चेतनाको मोहके अन्धकारमें डालना अर्थात् सुषुप्तिमें लाना, फिर उसी अन्धकारकी अज्ञानतासे जगाना अर्थात् अहं या मैंपनको अव्यक्तसे जगाना और मुक्तिके मैदानमें लाना—काली, पार्वती और भीमा शक्तिका काम है। जाग्रत होनेपर जीवको सिद्धि, विद्या, वीर्य, श्री देना और विश्ववीजकी रचना और विस्तार करना अभिका, दुर्गा और शाकम्भरीका काम है। जीवको भोगोंके द्वारा तृप्त करना, जीवत्वको परिपुष्ट करना तथा सर्वज्ञत्व या आत्मकामत्व देना कात्यायनी, सरस्वती और नन्दाका काम है।

सुषुप्तिमें मोहकी मूर्च्छारूप मधुमयी सुषुप्ति ही मधु नामक असुर है और भय देनेवाली मृत्यु ही कैटभ है। व्यक्तिगत सुषुप्ति और मृत्यु खण्डप्रलय हैं और विराट्में इन्हींको महाप्रलय कहा है और यही दोनों प्रकारके प्रलय मधु-कैटभ हैं। जीवको इन प्रलयोंसे जगाना अर्थात् मधु-कैटभका वध करना महाकालीका काम है। जब जीव इस मोहसे जगता है, तब उसके कर्मका आरम्भ होता है और तभी रम्भ नामक असुरका पुत्र महिषासुर जीवको कर्म करनेमें ऐसा फँसाता है कि वह अपनेको ही सब कर्मोंका कर्ता समझने लगता है और ईश्वरको बिल्कुल भूल-सा जाता है। तब उसको इन कर्मोंके मोहसे ईश्वरीय शक्ति अभिका और दुर्गा छुड़ाती हैं अर्थात् महिषासुरका वध करती हैं और फिर विराट्में विश्वक्रीड़ाके बीजको संगृहीत करके जीवके ध्यानको विराट्में लगाती हैं। तब जीव छोटी-छोटी वस्तुओंके लिये कर्म करना छोड़कर बड़े-बड़े कर्मोंकी ओर आकर्षित होता है और छोटे विचारोंवाला न होकर बड़े विचारोंवाला हो जाता है। इन भोगोंमें जीवको शुम्भ-निशुम्भ नामक असुर मोहित करते हैं। इनसे छुटकारा पाना अर्थात् शुम्भ-निशुम्भका वध करना कात्यायनी, सरस्वती तथा नन्दा नामक सत्त्वगुणी शक्तिका काम है।

दुर्गासप्तशतीका मर्म

उपर्युक्त तीन शक्तियोंके अनुसार दुर्गास्तुति तीन चरितोंमें लिखी गयी है। प्रथम चरितके पहले उपाख्यानमें

सुरथ राजा और समाधि वैश्य मोहसे पीड़ित होकर मेघस्त्रुषिसे दुर्गास्तुतिके रूपमें उपदेश पाकर अपने इच्छानुसार भगवत्-प्राप्तिमें सफल हुए थे। सुरथ राजाका उद्देश्य था ब्रह्म होकर ब्रह्मकी भाँति रमण करना और समाधि वैश्यका उद्देश्य था ब्रह्म होकर ब्रह्ममें रहना। सो उन्होंने चण्डी सुनकर और तदनुसार कर्म करके प्राप्त किया था। इन दोनों व्यक्तियोंको मनुष्योंका प्रतिनिधि समझना चाहिये।

उसके बाद प्रलयका दृश्य दिखलाकर जब कुछ नहीं था, केवल शून्य-ही-शून्य तथा अन्धकार-ही-अन्धकार था और महाकालकी तमोगुणी शक्ति महाकालीके रूपमें सबको घोर निद्रामें सुलाये हुए थी, तब कालीने ब्रह्माको जाग्रत किया, तमोगुणमें रहनेके कारण जगनेपर ब्रह्मामें द्वैतभाव बना रहा। द्वैतभावमें दूसरेको देखना आवश्यक है। इस कारण ब्रह्माने द्वैतके रूपमें मधु-कैटभको पाया। मोहकी प्रतिक्रिया भय है। क्रियाके साथ प्रतिक्रियाका होना अनिवार्य है; क्योंकि क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया सङ्ग चलती है; (Action and reaction go together.) इसलिये मोहजनित द्वैतसे अर्थात् मधु-कैटभसे ब्रह्माको भय हुआ, तब ब्रह्माने महाकालीसे प्रार्थना की कि वे विष्णुको इन्हें मारनेके लिये जगा दें। और विष्णुने जागकर उन दोनों असुरोंका वध किया। इसके बाद ब्रह्माने सृष्टिका कर्म आरम्भ किया अर्थात् कर्म होने लगा, जो मध्यम चरितका विषय है। कर्म करनेमें पहले-पहल मनुष्य फलासक्तिके कारण कर्म करता है और जब उसके इच्छानुसार फल नहीं मिलता है, तब वह क्रोधादिसे दुःखित होता है। इस फलासक्ति तथा क्रोधादिसे छुटकारा पाना अर्थात् कर्मको निष्कामकर्ममें बदलना अर्थात् महिषासुरका वध करना रजोगुणरूपी महालक्ष्मी शक्तिका काम है। निष्कामकर्म करनेवालेमें द्वैतज्ञान बना रहता है, इसलिये उत्तर चरितमें निष्काम काम करनेवाले जीवका द्वैतज्ञान हटानेके लिये अर्थात् शुम्भ-निशुम्भका वध करनेके लिये सत्त्वगुणरूपी सरस्वती शक्तिका आविर्भाव होता है।

इस प्रकार त्रिपुराकी त्रिविध कहानीके वर्णन करनेमें ऋषिने प्रथम चरितमें तमः, सुषुप्ति और मोह, मध्यम चरितमें रजः और जाग्रदवस्था और उत्तर चरितमें सत्त्व और भोग दिखलाया है। प्रथम चरितमें ऋषि ब्रह्मा उदबुद्ध होकर मोहका दृश्य देखते हैं। उस समय नग्ना प्रलय-कारिणी महाकाली मोहके अन्धकारका वसन विछाड़ते हैं और

जगत्-प्राण विष्णु उसी वसनपर शिशुकी भाँति योगनिद्रासे समावृत हैं। उस समयका दृश्य बड़ा भयङ्कर है। केवल शून्य या अन्धकार है, मानो स्वसत्ता स्वसत्ताको ग्रास करने आ रही है। इस सर्वग्रासिनी अव्यक्तके मध्यमें ब्रह्मा जाग्रत होते हैं और आत्मसत्ताको मृत्युमय द्वितीय बोध करते हैं तथा भयभीत होते हैं। इसके बाद जब मोहरात्रिरूपिणी महाकालीको परमाशक्तिके रूपमें पहचानते हैं और अपने प्राण विष्णुको सम्बुद्ध करके उस भयसे परित्राण पाते हैं, तब प्राणके जागरणसे भयका (मधु-कैटभका) निधन होता है, फिर दूसरे चरितमें अव्यवसाय (महिषासुर) का राज्य होता है और उसका निधन भी होता है और पराविद्याके पादस्पर्शसे नैष्कर्म्यका उदय होता है और साथ-ही-साथ विद्या, शक्ति, श्री और सिद्धिकी प्राप्ति होती है। और इस चरितके ऋषि विष्णु हैं। प्राण और विष्णुप्रमुख देवतावृन्दके कारण जब पराविद्याका आविर्भाव होता है, तब संस्कार और खण्डजीवत्व लयको प्राप्त होते हैं और सर्वविपरीत समन्वय होकर परमात्मदर्शन होता है। अर्थात् यही संस्कारसह जीवत्व या निशुम्भसह शुम्भका निधन होता है और वे मुक्त पुरुषके अधीन हो जाते हैं, इसलिये इस चरितके ऋषि रुद्र हैं।

सारांश—सुषुप्ति या मृत्यु, अव्यवसाय या कर्म और कर्मफल या जीवत्व—इन त्रिपादको लेकर जीव बना है और सृष्टि, स्थिति और लयको लेकर विश्व बना है। सुषुप्ति, मूर्छा या मृत्यु मधु-कैटभ हैं, कर्म महिषासुर है और अदृष्ट (कर्मफल) या जीवत्व शुम्भ-निशुम्भ हैं। इसी प्रकार जब विश्वेश्वरीकी ओर देखते हैं, तब सुषुप्ति ही प्राणके अंकमें योगनिद्रा हो जाती है और प्राणके अंकमें मृत्यु भी हो जाती है और फिर यही विदेहमुक्ति हो जाती है। जब कर्म ब्रह्मयक्षाकारमें या नैष्कर्म्यमें पर्यवसित होता है, तब महिषासुरका वध होता है, शेषमें जब भोग मुक्तिके आकारमें और जीवत्व एक अबाध आत्मप्रत्ययमें विसर्जित होते हैं, तब शुम्भ-निशुम्भका वध होता है।

शुम्भ-निशुम्भके वध होनेपर द्वैतज्ञान नष्ट होकर अद्वैतज्ञान प्राप्त होता है। इसके सम्बन्धमें पुराणोंमें एक उपाख्यान है। शुम्भ-निशुम्भके वध होनेपर इन्द्रने सोचा कि अब मेरा उद्धार हो गया है। किंतु तब भी उसका उद्धार नहीं हुआ था; क्योंकि तब भी एक असुर शेष उद्धार नहीं हुआ।

यह असुर शुम्भ-निशुम्भका छोटा भाई नमूचि (अमुक्तिबोध) है। तब नमूचिके संग इन्द्र लड़े और हारकर उसके बंदी हो गये। इसपर भी नमूचिने इन्द्रको एक वर दिया कि 'यदि तुम मुझको जीतना चाहते हो तो एक ऐसा अस्त्र तैयार करो, जो न भींगा हो, न सूखा हो और उस अस्त्रसे मुझे ऐसे समयमें मारो जब न दिन हो और न रात्रि।' तब इन्द्रने समुद्रके फेनसे एक अस्त्र तैयार किया और दिन-रात्रिके सन्धि-समयमें उसको मारा और इन्द्रत्व-लाभ किया।

शुम्भ-निशुम्भके वध होनेपर द्वैतज्ञान नष्ट हो जाता है अर्थात् चित् और अचित् या पुरुष और प्रकृति एकत्वमें पर्यवसित हो जाते हैं। इतना होनेपर भी यद्यपि जीव अपनेको, विश्वको और सबको ज्ञानमय देखने लगता है तो भी वह यह नहीं कह सकता कि मैं मुक्त हो गया हूँ; क्योंकि तब भी ऐसे पुरुषके सामने विश्व खड़े होकर मानो कहता है कि मुझको अभीतक कोई जीत नहीं सका और मैं अजेय हूँ, क्योंकि पूर्व अभ्यासके कारण जब ऐसे जीवकी आँख किसी वस्तुपर पड़ती है, तब पहले उसको जड़ता ही देखनेमें आती है और फिर उसको ज्ञानमय करके देखता है। इसका कारण यह है कि अभीतक नमूचिका वध नहीं हुआ। परंतु जिस समय जीव किसी वस्तु और दुनियाको देखते ही ऐसा भास करने लगता है कि यह वस्तु या दुनिया उसकी प्रज्ञा है अथवा उसीके प्राणसे बनी है, यहाँतक कि यह सब उसके प्राण ही हैं, तब नमूचिका वध होता है और तभी उसको सब ज्ञानमय, प्राणमय और चैतन्यमय मालूम होने लगता है और तभी उसका अचित् या जड़-बोध बिल्कुल मिट जाता है और तभी जीव अपनेको पूर्ण स्वतन्त्र पाता है और तभी यह विश्व उसके लिये अजेय नहीं रहता है।

दुर्गासप्तशतीसे लाभ

जो लोग चण्डीप्रदर्शित विधिसे चण्डीपाठ और ध्यान करते हैं, उनके हृदयमें प्रज्ञारूपी गुरु उदय होते हैं और आत्मचैतन्यरूपिणी चण्डिका उनके भीतर क्रमसे आत्मप्रकाश करते हुए साधनाके हर स्तरमें, जो विशेष-विशेष अचित्-दर्शनरूप असुरसमूह आते हैं, उन सबका निघन करते हुए साधकके निकट अन्तर-बाह्यविहीन और वैशिष्ट्यविहीन भूमा, जो चिदानन्दस्वरूप है, उसको व्यक्त कर देती हैं।

चण्डीतत्त्वके विशेष दो मन्त्र

चण्डीमें दो महामन्त्र हैं। एक चामुण्डा मन्त्र 'ऐं ह्रीं क्लीं' और दूसरा 'ॐ महिषमर्दिनी नमः'। विश्वमाताकी पूजामें 'ऐं ह्रीं क्लीं' और दुर्गोत्सवमें 'ॐ महिषमर्दिनी नमः' का प्रयोग होता है। इन दोनों मन्त्रोंका अर्थबोध जिस मनुष्यको हो जाता है, उसके लिये फिर कुछ अप्राप्य नहीं रहता है। चामुण्डातत्त्वका वर्णन करनेमें ऋषिने 'ऐं ह्रीं क्लीं' कहा है। चामुण्डा-शक्ति ही 'ऐं' अर्थात् निज-ही-निजमें प्रकाश है, यही सत्त्व है। चामुण्डा ही 'ह्रीं' अर्थात् प्राणस्वरूप या हृदयस्वरूप तथा रजः हैं। फिर यही 'क्लीं' अर्थात् कामदा या अन्नदा तथा तमः हैं। जो शक्ति कामना या रति पैदा करती है, वही कामदा है।

जब मनुष्य अनात्मबुद्धिमें समाच्छन्न रहता है, तब भगवतीको बुलानेके लिये उसमें इच्छा नहीं होती है और यदि बुलाता भी है तो उससे कुछ नहीं होता; क्योंकि उसका शरीर मलिन है। इसलिये पहले शरीरको निर्मल करनेके लिये महिषमर्दिनी मन्त्रका प्रयोग करना चाहिये। भगवतीका इस मन्त्ररूपमें आविर्भाव होनेसे जड़ता दूर भाग जाती है। मा दुर्गा जैसे असुरके कन्धेको पैरसे दबाकर उसपर आघात कर रही हैं, उसी प्रकार अपने बायें पैरके ऊपर जोर देकर बैठनेपर और 'ॐ महिषमर्दिनी नमः' मन्त्रको तीन बार उच्चारण करनेसे जड़ता या सुस्ती बिल्कुल दूर हो जाती है।

ये दोनों मन्त्र दो रत्न हैं। इनका प्रयोग जाने बिना इनकी महिमा कुछ नहीं—केवल शब्दमात्र है। जब मनुष्य अपनेको दुर्बल, कातर या विपन्न पाये, तब उपर्युक्त रीतिसे महिषमर्दिनी मन्त्र उच्चारण करे और चण्डिकाका आवाहन करे, फिर कार्य करनेमें अग्रसर हो, तब सफलता अवश्य मिलती है। इसकी जाँच कभी नहीं करनी चाहिये। 'मैंने देवीको इतना बुलाया तो भी कुछ नहीं हुआ।' ऐसा तभी होता है जब प्रयोग करनेमें भूल होता है; क्योंकि यह मन्त्र व्यर्थ कभी नहीं होता। दो बार, दस बार कहनेसे यदि कुछ नहीं हुआ तो फिर बुलाना चाहिये। इस प्रकार बार-बार मन्त्रका प्रयोग करनेसे वह आप-ही-आप ठीक हो जाता है; क्योंकि जब प्रज्ञारूपी गुरुको छोड़कर और कोई आश्रय नहीं रहता, तब सद्गुरु उसके ऊपर कृपा करके उसको ठीक पथपर ले आते हैं और सफलता प्रदान करते हैं।

ज्ञानविभावना

(लेखक—श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्. ५०)

नद-नदियाँ गिरिशिखरस्थित तुषारस्तूपसे उत्पन्न होकर देश-देशान्तरमें बहती चली जाती हैं। वैसे ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे समस्त ज्ञान-विज्ञान-विद्या प्रवाहित होकर आती है और शत-सहस्र मानवोंकी मन-बुद्धि-चित्त-प्रणालीके पथसे वह समस्त पृथ्वीमें फैल जाती है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा निखिल ज्ञान-विज्ञानके निधानरूपसे प्रत्येक कल्पमें प्रकट होते हैं। वे वेदमय पुरुष हैं। मूर्तिमान् वेद-विद्या-विज्ञान-समुच्चय हैं। वे ज्ञान-विज्ञान परिवेषणके सर्वप्रधान प्रतिनिधि हैं। मरीचिप्रभृति महर्षियोंने ब्रह्मासे समुद्भूत होकर उनसे विविध ज्ञान-विज्ञान प्राप्त किया और उनसे देवर्षियों, मुनियों और धी-सम्पन्न व्यक्तियोंने नाना प्रणालियों-से ज्ञान प्राप्त किया।

स्वायम्भुव मनुके दौहित्ररूपमें जो 'आदिविद्वान्' के नामसे विख्यात हैं, वे कपिलदेव सृष्टि-प्रवृत्तिके प्रथम युगमें अवतीर्ण हुए थे। परमेश्वरके सावन्धमें श्वेताश्वतरोपनिषद्-में कहा गया है—

अपि प्रभूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥

(५ । २)

समस्त ज्ञान-विज्ञानके मूल सांख्यज्ञानका कपिलदेवने सबसे पहले मानव-जगत्में प्रचार किया। कपिलदेवके लाखों वर्षों बाद पराशर, वेदव्यास, शुक्रदेव और वैशम्पायन प्रभृतिका आविर्भाव हुआ था; क्योंकि इन सबका प्राकट्य हुआ था वैवस्वत मन्वन्तरमें और कपिलदेव आविर्भूत हुए थे प्रथम मन्वन्तरमें। इन दो युगोंके बीचमें प्रत्येक युगमें कितने ऋषि, कितने तत्त्वज्ञानी पृथ्वीमें प्रकट हो चुके हैं, इसकी कोई संख्या नहीं है। ऐतिहासिक युगमें बुद्ध, सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि आये। पाश्चात्य दार्शनिक-गण आये। डेकार्टे, लावोनिज, स्पेन्सोजा, कांट, हेगल आये। तदनन्तर जगदीश, रवीन्द्र, अरविन्द आये। ये सभी प्रदीपवाहक हैं। इन्होंने नये-नये दीपक जलाये। पर अग्नि किसीने नहीं जलायी। अग्नि तो थी ही, रहती ही है। आविष्कार किया जाता है, दीपककी बत्ती धराई (जलायी) जाती है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

पूर्वगामी महापुरुष जो कुछ कह गये हैं, उन्हीं सब बातोंको पकड़कर पीछे होनेवाले पण्डितोंने नये-नये भावोंसे भरी हुई, नयी-नयी दिशाओंका प्रदर्शन करनेवाले संकेतोंसे भरी हुई, नयी-नयी बातोंकी घोषणा की। इस गम्भीर सत्य-को भारतीय सुधीगण, ज्ञानीगण कभी भूले नहीं और पाश्चात्य पण्डितोंने कभी इसे याद किया नहीं! यूरोपकी मनोवृत्ति आत्मगरिमामयी है। ह्यूमका कांटपर कितना ऋण है, इसको उन्होंने कितना स्वीकार किया है इसका तो पता नहीं, परंतु उपनिषदोंके ऋषियोंका हेगलपर जितना ऋण है, उसको उन्होंने स्वीकार तो किया ही नहीं वरं उसे ढक देनेके लिये भारतीय ज्ञान-विद्याकी प्रचुर मात्रामें निन्दा की है और उस अपराधको ढकनेके लिये ग्रीक ज्ञान-विद्याकी बड़ी प्रशंसा की है। इधर प्रत्येक भारतीय ऋषि यही कहते हैं—'हम इस बातको नहीं जानते, हमने उन ज्ञानियोंसे इसको सुना है जिन्होंने विशेषरूपसे इस तत्त्वका अनुधावन किया था।' 'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।' वे कभी अपनेपर गौरव नहीं लेते। सभी बातें मानो दूसरोंकी हैं। दूसरोंसे प्राप्त किया हुआ ज्ञान है। अपना कुछ भी नहीं है; परंतु अपना होता है बहुत कुछ। इसका अभिप्राय यह कि वे लोग सत्यसे प्रीति करनेवाले थे—अपनेसे नहीं।

शिल्पकार जो शिल्पद्रव्योंको प्रस्तुत करता है, उसमें सभी कुछ शिल्पकारका नहीं होता। कर्णभूषणके सुचारु निर्माणका कृतित्व ही केवल शिल्पकारकी चीज है। उपादान स्वर्णादि उसके नहीं हैं। वस्त्रका बुननामात्र तन्तुवाय (जुलाहे) का है; सूत, रूई या रेशम आदि दूसरोंकी—प्रकृतिकी दी हुई चीजें हैं। दार्शनिक या कवि जो कुछ लिखते हैं, उसमें केवल रचना-कौशल-दार्शनिक या कविका है; वास्तवमें तो वह भी नहीं है, वे जो कुछ ज्ञान और भाव-सामग्री लिखते हैं, वह अन्तस्तलसे अज्ञात शक्तिके द्वारा सञ्चारित होकर समाहृत होती है। उसकी रचना नहीं हो सकती। सलिलाधार (जलका पात्र) आधारमात्र है, वह सलिलका सृजन नहीं करता। मन आधारमात्र है। ज्ञान-प्रवाहके धारण करनेका पात्रमात्र है। वह ज्ञानके प्रकाशनकी प्रणालीमात्र है।

ऋषियोंका यह अनुभव अत्यन्त गम्भीर था। पाश्चात्त्योंका अत्यन्त अल्प है। 'नहीं है' भी कहा जा सकता है। पश्चिमका मनोभाव अहमिका-प्रधान है।

‘नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।’

—यह ज्ञान पाश्चात्य पण्डितोंको नहीं है। न होनेके कारण ही वहाँके दार्शनिक दिव्य-दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते। वे असम्यग् दृष्टि होते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दिका ज्ञान उन्नीस सौ वर्षों पूर्व नहीं था, सो बात नहीं है। जो नहीं है, वह कभी नहीं है। जो है, वह सदा ही है। ज्ञान-विज्ञान चिरन्तन है। ज्ञानस्रोतकी धारा सनातन है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।

आदौ वेदमयी विद्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

यह युग-युगमें, अंश-अंशमें, विभाव-विभावमें प्राप्त होकर प्रकाशित होती है। इस प्राप्ति और प्रकाशके लिये मनोरूप आधार युग-युगमें नाना प्रकारसे निर्मित होता है। गठित होता है। नये-नये ग्रन्थ लिखे जाते हैं। नया-नया साहित्य, नया-नया विज्ञान और दर्शनतन्त्र प्रकट होता है। यह सब प्रकाशमात्र है। आविष्कारमात्र है। अनावृत होना-मात्र है। नवीन सृजन कहीं नहीं रहता। निर्माण नामकी कोई बात नहीं है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु..... ॥

अनादि अनन्त सत्य नद-नदी-गिरि, वन-पशु-पक्षी मनुष्यादिके विचित्र जीवनके अंदर आच्छन्न-आवृत होकर (ढका हुआ) रहता है। पण्डित लोग अपनी-अपनी साधनाके प्रभावसे उस ज्ञानमय सत्यको नाना भावोंसे अनावृत करते (खोलते) हैं। प्रकाशित करते हैं। प्रचारित करते हैं।

ज्ञान-विज्ञान सत्यका ही है। सत्य ही ज्ञान-विज्ञानके रूपमें नाना प्रकारसे प्रत्येक चित्तमें गृहीत होता है। विश्वमें जो कुछ भी है सभी ज्ञान और विज्ञान ही है। विष्णुपुराणमें कहा गया है—

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित्

क्वचित् कदाचिद् द्विज वस्तुजातम्।

इसके कुछ ही पहले कहते हैं—

तथा हि शैलान्निधरादिभेदान्

जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥

(२।१२।३१)

दृश्यमान और अदृश्यमान जगत्में जो कुछ भी है, सब सत्य और ज्ञान है। ‘सत्यमभवद् यदिदं किञ्च ।’ (तैत्तिरीय० २।६)। ज्ञान-विज्ञानकी पराकाष्ठा है भक्ति। सत्यज्ञान आदि ही मनुष्यका परमार्थ है। ज्ञान शब्दसे सत्यको ही समझना चाहिये। सत्य शब्दसे सौन्दर्यको। सौन्दर्यसे आनन्द-प्रीति-प्रेम-शोभा-सम्पदका स्फुरण होता है और समस्त अन्तहीन कल्याणमें विधृत होकर तद्रूपसे जाननेमें आता है। जो ज्ञान सौन्दर्य-प्रेम-माधुर्यके पथपर नहीं चलता, वह शुष्क—शून्य तत्त्वमात्रमें पर्यवसित हो जाता है। वह ज्ञान आत्मनाशी—आत्मसंहारी होता है। वह निर्वाणके पथको मुक्त करता है।

ज्ञान जो केवल ज्ञान ही है, वह सत्य-सौन्दर्य-प्रेम होकर प्रस्फुटित नहीं होता, वह शून्याकाशमें मिल जाता है। सत्यात्मक ज्ञानका स्वरूप है—प्रेम-सौन्दर्यमय अमृतजीवन। सांख्यसूत्रकारने बौद्धदर्शनके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, यहाँ उसका स्मरण करना कर्तव्य है। ‘शून्यं तत्त्वम् । भावो विनश्यति । वस्तुधर्मत्वाद् विनाशस्य ।’ शुष्क ज्ञानका यही परिणाम है। सूत्रकारने इस भीषण ज्ञानविभावनाके सम्बन्धमें कहा है— ‘अपवादमात्रमबुद्धासारम्’ यह निर्बोध लोगोंका प्रलापमात्र है। निर्वाणज्ञानके पथपर जानेके लिये मनुष्यके मनमें एक कठिन गतिवेग है। गीताकार उसका अनुमोदन नहीं करते। इस निर्वाण आकर्षणसे मनुष्यकी रक्षा करनेके लिये और उसे प्रेमभक्तिके पथपर चला देनेके लिये बड़े ही कौशलके साथ वे सुमङ्गल सङ्केत करते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।

शान्तिं निर्वाणपरमां..... ॥

(६।१५)

यहाँतक कहकर, फिर भावार्थको धुमाकर कहते हैं— ‘मत्संस्थामधिगच्छति ।’ भगवत्संस्थ, श्रीकृष्ण-संस्थ होनेसे यह निश्चय हो जाता है कि वह निर्वाण-शून्यतामें जाकर बुझ नहीं जायगा, वरं पूर्णतामें अर्थात् प्रेमभक्तिमें प्रस्फुटित होगा। यह वाक्य-कौशल गीतामें सर्वत्र अनुस्यूत है। तथाकथित शुद्ध ज्ञानकी गति निर्वाणकी ओर है।

निर्विशेष-ब्रह्म-विलीनता और निर्वाण एक ही बात है। जितना भी भावानुभव है—सभी प्राकृत, सभी मिथ्या, सभी मोह हैं—यही ज्ञानियोंका ज्ञान है। 'इस समस्तको भावान्तरित करके अमृत-भाव-रसादिका परिस्फुरण करना सम्भव है और वही वाञ्छनीय है। अद्वैत ज्ञानीगण इस ज्ञानसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' उस अमृत-जीवनात्मक तत्त्वकी प्राप्ति ही ज्ञानका मुख्य लक्ष्य है और इस लक्ष्यमें ही ज्ञान प्रेमभक्तिमें परिणत होता है—यह सत्य किसीको भूल नहीं जाना चाहिये।

इस दृष्टिभङ्गिमाका परिवर्तन करनेपर यह जिज्ञासा होती है कि ज्ञानकी प्रकृति क्या है ? ज्ञानानुसन्धान कैसे होता है ? ज्ञानका रूप क्या है ? ज्ञान साकार है या निराकार ? मूर्त है या अमूर्त, शक्तिरहित या शक्तिमान् है ? श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायीमें एक बड़ी सुन्दर मनोरम अनुसन्धानकी चर्चा है, वह ज्ञानघन मनोमोद पुरुषका अनुसन्धान है, परन्तु वही क्या सच्चे ज्ञानका अनुसन्धान नहीं है ?

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता

विचिक्क्युरुन्मत्तकवद्वनाद् वनम् ।

पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-

भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥

(१०।३०।४)

ज्ञानवती भक्तिमती प्रेमवती रमणियाँ विज्ञानघन परमेश्वरका अनुसन्धान कर रही हैं। यह ज्ञानानुसन्धान नहीं है। यह है ज्ञानमय परमेश्वरका अन्वेषण। अतएव

प्रश्न उठता है कि ज्ञान तथा सत्य और सत्यनारायण परमेश्वरमें क्या भेद है ? उनमें क्या सम्बन्ध है ? ज्ञान-विज्ञानमय ईश्वर और आनन्दचिन्मय पुरुषोत्तममें क्या सम्बन्ध है ? माया, मायाधीश और मायातीतमें क्या सम्बन्ध है ? इन सारे प्रश्नों और उत्तरकी आलोचना न करके हम श्रीमद्भगवद्गीताके दशमाध्यायके प्रति पाठकोंकी दृष्टि आकर्षित करते हैं।

अर्जुनने कहा—'हे देवदेव ! जगत्पते ! अपना दिव्य विभूति-तत्त्व मुझे सुनाइये। आप अनन्त विभूतियोंके द्वारा जगत्में व्याप्त होकर विराजित हैं, वह विभूतिविषयक यत्किञ्चित् ज्ञान मैं आपकी कृपासे प्राप्त करना चाहता हूँ।' क्या यही ज्ञान विज्ञानका यथार्थ अनुसन्धान नहीं है ? यह क्या ज्ञानजिज्ञासा—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा नहीं है ? जिन विभूतियोंका भगवान्ने वर्णन किया है, वे अनित्य नहीं हैं। कारण युग-युगमें, कल्प-कल्पमें जिन विभूतियोंका प्रकाश होता है, उनमें कोई भी अनित्य नहीं हो सकती। ऊपर रासपञ्चाध्यायीका जो श्लोक उद्धृत किया गया है, उसमें परमेश्वरको खोकर छोटी-बड़ी विविध विभूतियोंमें उनके अनुसन्धानका प्रसङ्ग है। गीतामें परमेश्वरको सामने पाकर भी वे कहाँ किस प्रकार छिपे रहते हैं, किस-किस भावसे, किस-किस विभावसे खोज करनेपर वे मिल सकेंगे। साधक यही बात पूछ रहा है। इन दोनों कलाचित्रोंको सम्मुख रखकर हम विचार करेंगे कि ज्ञानका स्वरूप क्या है ? उसकी प्रकृति क्या है ? यह आलोचना अगले लेखमें आरम्भ की जायगी।

पूजाके बारह फूल

डरे हुएको अभय दान दो, भूखेको अनाजका दान ।
प्यासेको जलदान करो, अपमानितका साधो सम्मान ॥
विद्या दान करो अनपढ़को, विपद्ग्रस्तको आश्रय दान ।
वस्त्रहीनको वस्त्र दान दो, रोगीको औषधका दान ॥
धर्मरहितको धर्म सिखाओ, शोकातुरको धीरज दान ।
भूलेको सन्मार्ग बता दो, गृहहीनको दो गृहदान ॥
नम्र और निस्वार्थ भावसे दो, कुछ भी न करो अहसान ।
सबको ईश्वर मानो, सबको दो, उनका स्वत्व पहचान ॥
प्रभु-पूजा करता जो इन बारह पुष्पोंसे, तज अभिमान ।
हो निष्काम प्रेमयुत, उसको, निश्चय मिलते हैं भगवान् ॥

भक्त-गाथा

[श्रीचिदम्बर दीक्षित]

महाराष्ट्रके बीजापुर प्रान्तमें गोटे नामक एक ग्राम है। यहाँ मार्त्तण्ड मल्हार जोशी नामक एक शुद्धयजुर्वेदीय काण्वशाखाके ब्राह्मण रहते थे। इन्होंने सोमयाग किया था, इससे उसी समय इस कुलका नाम 'दीक्षित' पड़ा। मार्त्तण्ड दीक्षितकी परम्परागत वृत्ति ज्योतिषीकी थी। पर इस वृत्तिसे इनका चित्त यौवनकालमें ही हट गया और—

‘ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते’

—ऐसा विवेक इनके अंदर जाग उठा। विद्यार्जन और तपश्चर्याके लिये ये काशी गये। तदनन्तर हिपरगी, चिदम्बरम् आदिमें वर्षों रहकर अपनी पत्नीके साथ मुरगोड स्थानमें लौट आये। फिर मार्त्तण्ड दीक्षितने मुरगोडसे तीन मीलपर सोगल (सुगाल) नामक पुण्यस्थानमें जाकर ब्रह्मतेजोवृद्धिके लिये गायत्रीके तीन पुरश्चरण किये। यहीं भगवान्‌के आशीर्वादसे संवत् १८१५ मार्गशीर्ष कृष्ण ६ सूर्योदयसे १० घटिका बाद मकर लग्नमें इनके घर श्रीचिदम्बर दीक्षितका शुभ जन्म हुआ। इनको लोग साक्षात् भगवान्‌ शङ्करका अवतार मानते हैं।

संवत् १८४९ में इनके पिता मार्त्तण्ड दीक्षितका देहावसान हुआ। केंगेरी नामक स्थानमें उनकी उत्तरक्रिया की गयी। दहन होनेपर तीसरे दिन उस स्थानमें औदुम्बरके गॉच पौधे उग आये। ये पौधे धीरे-धीरे बढ़े, काल पाकर बड़े बृक्ष हो गये। चिदम्बरको यह स्थान बहुत प्रिय था। यहाँ वे नित्य एकान्तमें जाकर बैठा करते थे। ब्रह्मचर्याश्रमका काल समाप्त होते ही श्रीचिदम्बर गृहस्थाश्रमी हुए। इनकी दो पत्नियाँ थीं; एकका नाम सरस्वती था और दूसरीका सावित्री। इनके सात सन्तान हुई—छः पुत्र और एक कन्या। मुरगोडमें इन्होंने बड़ी पाठशाला स्थापित की थी, जिसके द्वारा वेद-वेदाङ्गों और शास्त्रोंके ज्ञानका खूब प्रचार होता था। अनेक प्रकारसे देशसेवा, धर्मसेवा आदि हुआ करती थी। मुरगोडका बड़ा ही रमणीय धार्मिक वातावरण बन गया था, पर इसी बीच वहाँ एक काण्ड हुआ जिसमें एक ब्राह्मणकी हत्या हो गयी। इससे उद्भिन्न होकर श्रीचिदम्बर वहाँसे उठकर १२ मील दूर प्रभाके किनारे जा विराजे। इस स्थानको कनाड़ी भाषामें ‘गुर्ल होसुर’ अर्थात् गुरुका स्थान कहते हैं। यहाँ बाजीराव पेशवा तथा बापू गोखले

आदि बड़े-बड़े सरदारोंकी कई हवेलियाँ बनी हुई हैं। ये लोग श्रीचिदम्बरके दर्शन, सत्सङ्ग और सेवाके लिये प्रायः वहाँ आकर रहते थे। निपाणीकर, नरगुंदकर आदि कई माण्डलिक राजा इनके शिष्य हुए थे। गुर्ल होसुर जानेके पूर्व श्रीचिदम्बर मुरगोडसे पहले देवलपुर गये थे। वहाँ नरसोबाके नारायण स्वामी अपने उपास्य देवकी प्रेरणासे श्रीचिदम्बरके दर्शन करने आये थे। रामयोगी नामक एक सिद्ध पुरुष भी पधारे थे। देवलपुरसे कुसुगल, शिरहट्टी आदि अनेक स्थानोंमें भ्रमण करते हुए महाराजने अनेक भक्तोंका उद्धार किया और गोण्णगर आये। गोण्णगरमें महाराजने बड़े ठाटके साथ विधिपूर्वक सोमयाग किया। अब्बू नानाकृत ‘श्रीचरित्र’ ग्रन्थमें इस यज्ञका आँखों देखा हाल वर्णन किया हुआ है। अक्कलकोटके स्वामी महाराज कहा करते थे कि ‘चिदम्बरके यज्ञमें हम भी परोसते थे, फुल्कोंकी खाँचियाँ ढोते-ढोते पीठपर गड़े पड़ गये हैं।’ इससे यह प्रकट होता है कि चिदम्बर दीक्षितका कितना बड़ा अधिकार था कि जिनके यहाँ यज्ञमें अक्कलकोटके स्वामी महाराज भोजन परोसते थे! इससे अक्कलकोटके स्वामी महाराजकी आयुर्मर्यादाकी अगम्यता भी सूचित होती है।

श्रीचिदम्बर दीक्षितने ज्ञान-भक्ति-कर्मका प्रचार करते हुए सनातन वैदिक धर्मका उद्धार किया। शिक्षित-अशिक्षित, वेदपाठी और शास्त्रज्ञ, राजा और रंक सभी उनके शिष्य-वर्गोंमें थे। काशीसे रामेश्वरतक और द्वारकासे जगन्नाथपुरी-तक उनकी कीर्ति-पताका फहरा रही थी और चारों दिशाओंसे लोग उनके दर्शनार्थ आते थे। गुर्ल होसुरमें कुछ वर्ष रहकर श्रीचिदम्बर दीक्षित पुनः मुरगोडमें ही आ गये। दोनों ही गॉवोंमें बड़ी-बड़ी पाठशालाएँ (भोजनगृहसहित) उन्होंने चला रखी थीं। साक्षात् अन्नपूर्णा ही उनके घर रहकर अन्न-सत्र चला रही थीं। संक्षेपमें उनकी दिनचर्या इस प्रकार थी—प्रातः स्नान, सन्ध्यापूजादि नित्य कर्म करके वे प्रतिदिन प्राचीन पद्धतिके अनुसार सभा करते थे। इसके बाद भोजन, अध्यापन, पुराणप्रवचन, कथा-कीर्तनादि कर्म होते थे। बड़े-बड़े ज्ञानी और अधिकारी पुरुष उनके दर्शनार्थ आते थे, इससे वहाँ भक्तिविषयक चर्चा मुमुक्षु

और साधक नित्य ही सुनकर हर्षित होते थे । सकाम भक्तोंकी भी कामनाएँ वहाँ पूरी होती थीं । राजा-रईस, अमीर-उमरा सभीतरहके लोग आते थे, इससे गाने-बजानेका आनन्द भी खूब था । तात्पर्य, श्रीचन्द्रिन्द्वर दीक्षितका प्रपञ्च एक बड़ा-सा राज्य ही था और उनके दरबारसे सदा 'नित्य श्रीनित्यमंगल' का ही वितरण होता था । जब कभी कहीं भ्रमण करने जाते, तब सबके दैन्य-दुःखका नाश करके महदानन्द लाभ कराकर लौटते थे ।

नित्य सभामें आनेके साथ महाराज पहले 'शुभं ब्रूयात् । मङ्गलं ब्रूयात् । शुभं ब्रूयात्' इस प्रकार तीन-चार बार कहकर अपने आसनपर विराजमान होते थे । उनका सबसे यह कहना था कि कोई कभी किसी भी कारणसे किसी स्थानमें विनोदबुद्धिसे भी मुखसे अमङ्गल शब्द न निकाले । उनकी यह शिक्षा थी कि कर्मन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाली शक्तियोंमें वाक्शक्तिका बड़ा महत्त्व है; इच्छा-शक्ति बड़ी है और अत्यन्त पवित्र है, पर वह भी बहुत कुछ वाङ्मय तपके वशमें होती है; अमङ्गल शब्द मुँहसे निकालनेका परिणाम किस जीवको किस प्रकार भोगना पड़ता है और स्वयं उस शब्दको कहनेवालेकी भी उससे किस प्रकार हानि होती है, यह बात यद्यपि सबकी समझमें नहीं आती तथापि इसमें सन्देह नहीं कि 'अमङ्गल' शब्दका उच्चारण सबके लिये ही अनिष्टकारक होता है ।

प्रतिग्रह और दान

ब्राह्मणोंको षट्कर्माधिकार है । इसमें एक अधिकार है प्रतिग्रहका अर्थात् दान लेनेका । इसके विषयमें दीक्षित महाराजकी यह शिक्षा थी कि, 'हम ब्राह्मणोंको—ब्रह्म-स्वरूपियोंको दूसरोंके सामने हाथ पसारना ही अपना स्वधर्म न मानना चाहिये, बल्कि इतना दानवीर होना चाहिये कि संसारका सर्वस्वदान हम दूसरोंको कर सकें । दान देनेमें धन्यता है, लेनेमें नहीं । किसीसे कुछ भी न लेना एक ऐसा व्रत है जिससे सबको जिस-तिसका इष्ट दान करनेकी सामर्थ्य प्राप्त होती है । ब्राह्मणोंको दान लेनेकी जो छूट दी गयी है, उसका हेतु यही है कि ब्राह्मण उपाधिरहित हो मोक्षधर्मका आचरण करके आत्मतेजकी वृद्धि करें । दातृत्वसे आत्मविकास होता है और प्रतिग्रहा-शक्तिसे ब्रह्मवर्चस् नष्ट होता है । एक बार उनके ज्येष्ठ पुत्र दिवाकर दीक्षितने पिताके नामसे लाभ उठाकर स्थान-

स्थानमें शिष्योंके पास जा-जाकर एक लाख रुपया इकठ्ठा कर ले आये । दीक्षित महाराज इस बातसे बहुत दुःखी हुए । उन्होंने अपने पुत्रसे कहा कि, 'यह सब रुपया ले जाकर गरीबोंको बाँट दो या जगह-जगह कुएँ और धर्मशाला बनवानेमें इसे खर्च कर डालो, अन्यथा मैं तुम्हारा मुँह न देखूँगा ।' दिवाकर दीक्षितने पिताकी इच्छाके अनुसार ही किया और उस एक लाख रुपयेमेंसे एक पैसा भी अपने घरमें नहीं रक्खा ।

प्रेम और दया

एक स्त्री थी । उसके सन्तान ही न होती थी । उसने अनेक व्रत-उपवास आदि किये, पर भगवान् प्रसन्न नहीं हुए । आखिर वह एक दिन दीक्षित महाराजके पास आयी और अपना दुखड़ा सुनाकर बैठ गयी । दीक्षित महाराजने उसे अपनी अङ्गलि भरकर भूँजे हुए चने दिये और उससे कहा कि 'अभी बाहर बैठो, मैं बुटाऊँ तब आना ।' वह बाहर जाकर बैठ गयी और चने खाने लगी । इसी समय पाँच-सात लड़के खेलते-खेलते वहाँ आ निकले । कुछ लड़के मुँहकी ओर देखने लगे और कुछने हाथ भी फैलाये; पर उस स्त्रीने यह सोचा कि 'यदि इनमें एकको भी मैं देती हूँ तो सबको देना होगा, इसलिये किसीको भी न देकर आँचलमें मुँह छिपाकर चुपचाप खा लेना ही अच्छा ।' यह सोचकर उसने ऐसा ही किया । जब वह चने खा चुकी तब दीक्षित महाराजने उसे बुलवाया और कहा—'मुफ्तके चनोंमेंसे चार दाने भी जब तुमसे न देते बने, तब भगवान् तुम्हें मानुष तनके अनमोल रत्न भला कैसे और क्यों दें ! केवल व्रत और उपवाससे भगवान् प्रसन्न नहीं होते, जबतक प्रेम और दया न हो ।'

कुलधर्म और वर्णाश्रमधर्म

दीक्षित महाराज स्वयं पूर्ण ज्ञानी होनेपर भी अपने कुल, वर्ण और आश्रमके सब धर्मोंका यथाविधि पालन करते थे । उनका यह सिद्धान्त था कि श्रीगुरुकृपासे अध्यात्म-ज्ञानारूढ होनेके उपरान्त भी कुलधर्म और वर्णाश्रमधर्मका अवश्य पालन करना चाहिये ।

दीक्षित महाराजका स्वभाव अत्यन्त सदा और शान्त था । उनका वर्ण श्याम था, रहन-सहन सादा और वेश शुभ्र होता था । सिरपर शुभ्र पाग बँधा रहता था और हाथमें जलपूरित पात्र होता था । स्वयं अत्यन्त पवित्र रहते

ये, साक्षात् शङ्करके ही अवतार माने जाते थे। पर उन्होंने कभी किसी महापापीका भी तिरस्कार या अपमान नहीं किया। जो लोग उन्हें पीड़ा पहुँचाते या उनकी निन्दा करते थे, उनकी भी कभी उन्होंने अवहेलना नहीं की। ऐसे सब लोगोंके दोषोंको वे प्रकृति-दोष कहकर उन्हें क्षमाया करते थे और मृदु मधुर शब्दों और व्यवहारोंसे

उन्हें सन्मार्गपर ले आते थे। माता-पिताकी सेवाके तो दीक्षित महाराज मूर्तिमन्त दृष्टान्त ही थे। संवत् १८७२ में, अपनी वयस्कके ५७ वें वर्ष महाराजने अपना शरीर त्यागा। कंगेरी स्थानमें, पिताके समाधिस्थानके समीप ही उनके पुण्य शरीरको अग्नि दी गयी। वहीं पीछे एक मन्दिर बनाकर उनके नामपर श्रीशिवलिङ्गकी स्थापना हुई।

राम-गीता

(लेखक—श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी एम्. ए.)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीविरचित रामचरितमानसमें बीच अवसरोंपर क्रमवद्ध रूपसे ज्ञानोपदेश दिलाये गये हैं। इन्हें हम विभिन्न गीताओंके नामसे जानते हैं। सर्वप्रथम अयोध्याकाण्डमें निषादराज और लक्ष्मणकी वात्सल्यमें कर्मफल-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। इसे हम 'लक्ष्मण-गीता' कहते हैं। इसी प्रकार अन्तमें उत्तरकाण्डके अन्तर्गत 'ज्ञान-गीता' अथवा 'भक्ति-गीता' आती है, इसमें श्रीमुनिगुण्डिजीके प्रश्नोत्तरस्वरूप ज्ञान और भक्तिकी चर्चा की गयी है तथा ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी व्यावहारिकताका प्रतिपादन किया गया है।

भगवान् श्रीरामने अपने श्रीमुखसे तीन विभिन्न अवसरोंपर उपदेश दिये हैं। इन्हें हम 'राम-गीता' कहते हैं। प्रथम राम-गीता अरण्यकाण्डमें आती है। वहाँ भगवान् श्रीराम अपने अनुज लक्ष्मणको ज्ञान, वैराग्य, माया तथा भक्तिका स्वरूप समझाते हैं तथा ईश्वर और जीवका निरूपण करके दोनोंका पारस्परिक भेद बताते हैं—

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना ॥
सुर नर सुनि सचराचर साईं। मैं पृष्ठउँ निज प्रभु की नाईं ॥
मोहि समझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा ॥
कहहु ग्यान बिराग अहमाया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाय्या ॥

ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ ॥

भगवान् श्रीराम इन प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर देते हुए अन्तमें कहते हैं—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा ॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें ॥

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहि निःकाम।

तिन्ह के हृदयकमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥

बस, यही पहली राम-गीता है—

द्वितीय 'राम-गीता' लंकाकाण्डमें आती है। राम और रावणका प्रलयकारी संग्राम हो रहा है। रावण रथारूढ़ है और भगवान् श्रीराम पैदल हैं। उनके पास न रथ है, न सारथी और न उनके शरीरपर कवच है। भक्त विभीषणको कुछ सन्देह-सा होने लगता है।

हुहु दिसि जय जयकार करि निज निज जोरी जानि।

भिरे बीर इत रामहि उत रावनहि बखानि ॥

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि विभीषन भयउ अधीरा ॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा ॥
नाथ न रथ नहि तन पद त्राना। केहि विधि जितब बीर बलवाना ॥

भक्तके सन्देहका निवारण करनेके लिये भगवान् विश्वपर विजय प्राप्त करनेका उपाय बताते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि वास्तविक विजय आत्मविकासके द्वारा प्राप्त होती है। बाह्यरथ इत्यादि साधनोंके बलसे नहीं।

पुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ॥

x x x x इत्यादि

वस, यही द्वितीय राम-गीता है।

इसी प्रकारका तृतीय स्थल उत्तरकाण्डमें आता है। इसे हम पुरजन-गीता भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत भाई भरतको भगवान् संत-असंतोंके पृथक्-पृथक् लक्षण बताते हैं, इस गीताका सारांश निम्न दो चरणोंमें समाविष्ट है।

पंत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी ॥

x x x x

रहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

वस यही तीसरी 'राम-गीता' है। इसीका दूसरा अंश पुरवासियोंको उपदेश है, जो—

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुर द्विज पुरबासी सब आए ॥

—से आरम्भ होता है। 'राम-गीता' का उपर्युक्त महत्वपूर्ण वह अंश है, जिसमें भगवान् ने भक्तकी अटपटी गणी सुनकर एक मृदुल मुसकानके साथ आत्मविकासके साधन बताये हैं। भक्तका भ्रम निवारण करते हुए उन्होंने बताया है कि विजय इन रथादि स्थूल साधनोंद्वारा नहीं प्राप्त होती। रावणरूपी दुर्जय शत्रु पर विजय प्राप्त करनेके साधन तो अन्य ही हैं। वही वैश्वविजय रथ है। सुनिये भगवान् के श्रीमुखसे निःसृत भमृतवाणी—

पुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ॥

नौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य लील दृढ़ ध्वजा पताका ॥

बल बिवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जो ॥

इस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥

हान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। वर बिरयान कठिन कोदंडा ॥

भमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥

कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा ॥

सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके ॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।

जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर ॥

अर्थात् यदि हमें विश्वपर विजय प्राप्त करनी है तो हमें पहले स्वयं अपने आपपर विजय प्राप्त करनी चाहिये। यदि हमने स्वयं अपने-आपको जीत लिया तो समझ लेना चाहिये कि हमने समस्त संसारको जीत लिया। इतना ही नहीं, बल्कि फिर हमारे प्रति शत्रुभाव रखनेका कोई साहस भी न कर सकेगा, 'जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके' का यही अभिप्राय है। जिसने विवेक एवं समत्वबुद्धिके बलपर क्षमा और कृपाका निर्वाह कर लिया, उसे समस्त विश्व आत्मीय ही दिखायी पड़ेगा। शत्रु और शत्रुभावका सर्वथा लोप हो जायगा। यही विजय-रथ है और यही समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है।

व्यक्तित्वके उत्थानपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेका दूसरा नाम आत्मचिन्तन है, और आत्मविकासकी साधना ही वास्तविक रचनात्मक चिन्तन एवं रचनात्मक कार्य है। व्यक्तित्वके विकासद्वारा ही समस्त स्थूल साधनोंसे रहित होनेपर भी अकेले रामने कैलाश पर्वतको उठा लेनेवाले महाबली रावणको दलबलसहित परास्त किया था। भगवान् श्रीरामके पास रथ, सारथी, सैन्य, कोष इत्यादि कोई भी बाह्य साधन नहीं थे। उनका बल था केवल एक और वह बल था आत्मबल। सफलताकी यह कुंजी उन्होंने अपने प्रिय भक्तोंको विभीषणको उपदेश देनेके बहाने बतायी है, चाहें तो हम भी उसपर मनन कर उसका अवलम्बन कर सकते हैं।

कर्तव्यकी जड़ मत काटो

[कहानी]

(लेखक—श्री‘चक्र’)

वेद काटि हैं पालउ सींचा । मीन जिअन निति बारि उलींचा ॥

‘मैं तो सत्य, अहिंसा और सदाचारको मानता हूँ ।’ नवयुवकोंमें जो स्वाभाविक आवेश होता है, वह तब रोके नहीं रुकता, जब वे किसी विषयपर एक पक्ष लेकर विवाद करने लगते हैं । यद्यपि बातचीत तीन व्यक्तियोंमें ही हो रही थी और वे चलती हुई ट्रेनके ड्योढ़े दर्जेमें आमने-सामने लगभग घुटने-से-घुटने सदाये-से बैठे थे; किंतु वक्ता इस प्रकार बोल रहे थे, जैसे किसी बड़ी सभामें व्याख्यान दे रहे हों, या कम-से-कम इस पूरे डब्बेके यात्रियोंको उपदेश करनेका भार उनपर आ पड़ा हो ।

‘धर्म और ईश्वर, परलोक और परमार्थ—ये तो आदियुगकी भयजनित कल्पनाएँ हैं; जिन्हें पीछे अपना पेट भरनेके लिये स्वार्थी लोगोंने बनाये रक्खा तथा पुष्ट और बलवान् बनाया ।’ दूसरेने पहलेका समर्थन दृढ़ने उत्साहसे करते हुए कहा—‘इनसे न व्यक्तिका कोई लाभ है और न समाजका । ये तो भोले लोगोंको मगनेके साधन हैं ।’

‘सभी धूर्त एवं स्वार्थी हैं, ऐसा तो मैं नहीं कहता ।’ पहलेने अपने साथीकी बातका प्रतिवाद किया । वह उदारतापूर्वक विचार करना चाहता है । अनुदार होना और दूसरोंपर आक्षेप करना उसे पसंद नहीं । उसने अपने खरको भी कुछ गम्भीर और गीमा कर लिया—‘बहुत दिनोंतक जो लोग धर्म-कर्म, राजा-पाठमें लगे रहते हैं, उनमें भी ऐसे-ऐसे लोग मिलते हैं कि उनकी चर्चा न करना ही अच्छा । इसलिये मैं तो सत्य-सदाचारको ही सच्चा कर्तव्य मानता हूँ ।’

‘आज जिनके लिये कहा जाता है कि उन्होंने पीछे हाथ करके लंबी रकनें बनायी हैं, जिन्हें आज झूठ बोलनेमें तनिक भी हिचक नहीं, क्या उनमें अनेक ऐसे नहीं हैं जो सच्चे त्यागी थे ? क्या ऐसे लोग उनमें कम हैं, जो निःस्वार्थभावसे देशपर सर्वस्व उत्सर्ग करने आये थे ? सत्य, सदाचार, त्याग जिनमें आदर्शरूपमें कभी था, आजके अवाञ्छनीय लोगोंमें क्या ऐसे पर्याप्त लोग नहीं हैं ?’ इस बार तीसरे साथीने धीरेसे सिर उठाकर अपनी बात सहज खरमें कह दी । इस व्यक्तिको देखनेसे ही लगता है कि इसे बोलना कम और सुनना अधिक पसंद है ।

‘आप कहना क्या चाहते हैं ?’ दोनों व्यक्तियोंने अपने तीसरे साथीकी ओर देखा । वे कुछ समझ गये थे और उन्हें यह स्मरण आ गया था कि अपने इस तीसरे साथीका वे सम्मान करते हैं । केवल तब—जब वे किसी विवादके आवेशमें होते हैं, उनका यह सम्मानभाव विस्मृत हो जाया करता है ।

‘क्या इन लोगोंको पश्चात्ताप होता है ? क्या बिन किसी दबावके ये फिर वै से ही सत्यवादी त्यागी, निःस्वार्थ-सेवापरायण बन सकते हैं ?’ तीसरेने दोनों मित्रोंके प्रश्नको जैसे सुना ही नहीं । उसने अपनी बात प्रश्नोंमें ही पूरी की ।

‘ये रंगे सियार—इन्हें भला कैसा पश्चात्ताप । ये बिना दबावके तो दूर, किसी दबावसे भी अब ठिकानेप नहीं आ सकते । समाजके लिये इनसे कुछ भी आश करना दुराशा है । चाहे जैसे हो, इन्हें समाजके सिरपरसे फेंकना ही होगा ।’ पहलेने रोषपूर्वक कहा ‘आक्षेप मत करो ! असन्तुष्ट होनेसे कोई लाभ होनेसे

रहा ।' तीसरेने खरको और गम्भीर बना लिया था—
 'सोचनेकी बात यह नहीं है कि इन्हें दूर कैसे किया
 जाय । सोचनेकी बात तो यह है कि ये सत्यवादी,
 सच्चे त्यागी आज इतने गिर कैसे गये ? सत्य और
 यागके आचरणमें त्रुटि कहाँ थी, जिससे वे टिक नहीं
 सके ? इस समय हमलोग इसी विषयपर बातें कर
 रहे हैं ।' स्पष्ट था कि यदि तीसरा साथी बातको
 मूल प्रश्नपर न ले आता तो उसकी दिशा बदल चुकी
 थी । नवयुवकोंकी गोष्ठियोंमें जो विवाद होते हैं, वे प्रायः
 अनिश्चित दिशाओंमें मुड़ते-बढ़ते चले जाते हैं और
 सदा ऐसे विवाद अनिर्णीत ही रहते हैं । आजका यह
 विवाद भी किसी निर्णयपर नहीं पहुँचकर समाप्त
 हुआ । यद्यपि तीसरे सार्थने इसे वैयक्तिक
 आलोचनाओंकी दिशामें भ्रान्त होनेसे बचा लिया
 था; किंतु अब उनके उतरनेका स्टेशन पास आ गया
 था । विवादको चलानेकी अपेक्षा विस्तरोंको समेटकर
 बाँध देना अधिक आवश्यक जान पड़ा; क्योंकि
 गाड़ीकी गति क्रमशः मन्द होने लगी थी ।

× × ×

[२]

'यह सब क्या है ?' यदि आप भी वहाँ जायँ
 तो आपके मनमें भी यही प्रश्न उठेगा । अयोध्याके
 रेलवे स्टेशनके थोड़ी ही दूर, जिस ओर रेलवे लाइनसे
 अयोध्यापुरी है, उसके दूसरी ओर मणिपर्वत है ।
 चारों ओर वन है और उसमें छोटी-बड़ी, खुली-ढकी,
 गुर्जानुमा-मसजिदनुमा कब्रोंकी असम्बद्ध श्रेणियाँ हैं ।
 जेवर जायँ, जेवर देखें, बस पक्की कब्रें-कब्रें ही हैं ।

'मनुष्यकी दुरभिसन्धिको प्रकृति मिटा रही है ।'
 आपको यह उत्तर अद्भुत लगेगा और वहाँ भी श्रोताको
 शक्ताका यह उत्तर अद्भुत ही लगा । वह आश्चर्यसे
 शक्ताके मुखकी ओर देखता रहा एक क्षण । लेकिन
 शक्ता अप्रत्याशितरूपमें गम्भीर हो रहे थे । मनुष्यके

दुराग्रह, अन्धपक्षपात, उत्पीड़न एवं ध्वंसके इस
 इतिहासको जो कोई भी जानता है, वह यहाँ आकर
 गम्भीर हुए बिना रह कैसे सकता है ?

'प्रकृति मिटा रही है—मनुष्यके षड्यन्त्रको
 मिटानेमें लगी है वह !' सच बात है—हम आप
 कोई हों; मन्दिर, मसजिद, गिर्जाघर तथा समाधि एवं
 कब्रें हमारे लिये कितनी भी सम्मान्य एवं पवित्र हों;
 किंतु क्या कोई यह इच्छा कर सकता है कि मनुष्यके
 रहने एवं जीनेकी सम्पूर्ण भूमि मन्दिरों, मसजिदों,
 कब्रों या समाधियोंसे ढक दी जाय ? भारतके सर्वदर्शी
 ऋषियोंने तो इसीलिये शरीरको भस्म कर देने या
 जलमें प्रवाहित करनेकी आज्ञा दी । समाधि बनानेकी
 प्रथा हममें बाहरसे आयी और कब्रोंके अनुकरणपर
 आयी, यह कहनेमें भी हानि नहीं ।'

'यह अयोध्या है । भारतीय संस्कृति एवं भारतीय
 समाजकी—भारतकी गौरवभूमि ।' वे कहते जा
 रहे थे—'एक वर्गने धर्मोन्मादमें निश्चय कर लिया
 कि यह एक लाख पक्की कब्रें बना दी जायँ, तब वह
 उसकी तीर्थभूमि होगी । कोई मरे कहीं, पर गाड़ा
 जाय अयोध्यामें और कब्र पक्की ही बने । झूठी-सच्ची
 कब्रोंसे भूमि पाट दी गयी । जेवर जाइये कब्रें..... ।
 और जब मनुष्य समष्टिजीवनके साथ इस प्रकार
 दुरभिसन्धि करता है, प्रकृतिको उसका प्रतीकार करना
 ही पड़ता है ।'

'ये चिह्न तो कुछ और ही बात कहते हैं ।' एक
 पत्थरकी ओर सङ्केत था, जो कहींसे टूटकर लुढ़क
 गया था । कालके सङ्घर्षने उसे जो रूप घिस-घिसाकर
 दे दिया था, उसमें भी यह किसी प्रकार लक्षित हो
 जाता था कि किसी समय उसमें एक सुन्दर मूर्ति
 अङ्कित थी । कोई मूर्ति—इस समय इससे अधिक और
 कुछ नहीं कहा जा सकता ।

'यह अब शीघ्र ही गम्भीर कहा जाता है ।' एक

क्षण रुककर उन्होंने कहा—‘है यह सहस्रशीर्षा मन्दिर और इसमें ऐसे मन्दिरके अवशेष जान-बूझकर छोड़े गये थे । पराजितको निरन्तर पराजय एवं अपमानका स्मरण दिलानेके लिये ये मनुष्यके उद्धत गर्वके प्रतीक हैं !’ उन्होंने वाक्यके अन्तमें ‘मनुष्य’ शब्दपर बल देकर व्यङ्ग्यपूर्वक उसका उच्चारण किया और यह ठीक ही है; क्योंकि दूसरोंको इस प्रकार पीड़ित करते रहनेकी कुभावना क्या मनुष्यके योग्य है ?

‘तुम क्या सोचने लगे ? प्रकृतिके कुशल कर ला गये हैं ।’ श्रोताको कुछ गम्भीर होते देखकर वे तनिक हँस पड़े—‘पशुत्वका उत्तर पशुत्व नहीं है । मनुष्य जब मनुष्यतासे गिर जाता है; वह अपनी ही सबसे अधिक हानि करता है । देखते क्या हो, क्या यह सब करनेवालोंको कुछ लाभ हुआ ? उन्होंने अपने धर्म या समाजकी कोई सेवा की इसके द्वारा ? केवल विरोधी भाव जगे और जगते ही गये ।’

सचमुच क्या लाभ हुआ उन्हें ? विरोधी भावोंके संघर्षने उनके उद्देश्य विफल कर दिये और अब उनके ये स्मृतिचिह्न—इनकी ईंटें बिखर रही हैं, वृक्षोंकी जड़ें इन्हें तोड़ती जा रही हैं, दीवारें ढह रही हैं । किसी कब्रपर मीठी नीमने आसन जमाया है और कहीं वटवृक्षने दीवारोंका स्मारकतक निःशेष कर दिया है । बिखरी टूटी ईंटें, मुख फाड़े खँडहर—इन्हीं ईंट-पत्थरोंके लिये मनुष्य मनुष्यका रक्त बहाता है ! इनके पीछे—इस जड़के पीछे वह चेतनको पीड़ित, अपमानित, लज्जित करनेमें अपने गर्वका अनुभव करता है !

‘ये धर्म और ईश्वर, यह मन्दिर और मसजिद, यही समस्त अनर्थोंको जड़ें हैं ।’ श्रोता उत्तेजित होकर बोलने लगा—‘मानवताकी प्रगतिके ये सदासे रोड़े रहे हैं । मनुष्य इनके भ्रममें उलझकर पशु ही नहीं, अनेक बार पिशाच बन गया है ।’

‘और आप अब कहना चाहते हैं कि क्योंकि लोहेसे तोपें और तलवारें बनती हैं, इसलिये विश्वका समस्त लोहा समुद्रमें डुबा देना चाहिये ?’ वक्ताने ध्यानसे श्रोताकी ओर देखा ।

‘लेकिन धर्म और ईश्वरने हमें दिया क्या !’ श्रोताकी उत्तेजना गयी नहीं थी ।

‘मानवता, जिसे आप कहते हैं, उसके टिकनेका कुछ आधार भी मिला है आपको ?’ वक्ताने प्रश्न किया—‘जिते आप प्रगति कहते हैं, जिसे जीवन-स्तरका उठाना कहते हैं, वह पशुत्वकी बहुलता—शारीरिक सुख-सुविधाकी प्रचुरता ही तो है ? फिर इन भोगोंको प्राप्त करनेके लिये छीना-झपटी, धोखा-धड़ी, मार-काट न हो या न को जाय, ऐसा क्यों ? जीवन-स्तरका ऊपर उठना, शारीरिक सुखोंका एकत्र होना और मानवता—सत्य-सदाचारादि गुणोंका समन्वय क्या ?’

श्रोता बहुत दिनोंसे स्वयं इसी उलझनमें है । यहाँ उसके हृदयमें ग्रन्थि है, प्रश्न वहीं आकर अटक गया । पता नहीं क्यों, विश्वके सारे प्रश्न वहीं जाकर अटकते हैं, जहाँ हमारे हृदयमें कोई गाँठ—कोई अटक होती है । उत्सुकता और गम्भीरता दोनोंका यही सन्धिस्थल है; किंतु संसार संसार ही इसलिये है कि वह अनिर्णीत है । हमारे प्रश्न—जीवनके समस्त प्रश्न सदासे अनिर्णीत ही चले आ रहे हैं । उनपर सोचा ही नहीं गया । जो सोचता है, जो निर्णय करनेपर उतर आता है, जो हृदयकी खटकको सह नहीं पाता, वह क्या संसार चलाता है ? जिसकी हृदय-ग्रन्थि खुल गयी, उसके लिये संसार कैसा । अतः श्रोताका प्रश्न भी अनिर्णीत ही रह गया । यह वन आसपास-के रहनेवालोंके लिये प्रातःसायं नित्य निवृत्त होनेके काम आता है । वे दोनों अब पृथक् होनेवाले थे; क्योंकि शरीरकी आवश्यकता कहती थी कि बौद्धिक

विवाद कुछ देरको स्थगित रक्खा जा सकता है ।

× × ×

[३]

संतोंका स्वभाव विचित्र होता है, उनकी रहनी विचित्र होती है और उनके उत्तर देने तथा बातचीत करनेकी पद्धति भी विचित्र होती है । सच्ची बात तो यह है कि संतोंके जो हृदयधन हैं—उन्हें आप भगवान् कहें या और कुछ, वे स्वयं बड़े विचित्र हैं । न धरिणीके, न आकाशके, और धरित्री-आकाश, दोनोंके एक साथ; सो उन रहस्यमयने अपने इन परमप्रिय लोगोंको जिन्हें हम-आप संत कहते हैं, अपने-जैसा ही विचित्र बना डाला है ।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे, सजे-बजे, सुसभ्य, सुसंस्कृत बेचारे वे तीनों युवक अयोध्या आये थे । मुझमें साहस नहीं कि आजकी नूतन सभ्यतापर गौरव करनेवाले उन भले आदमियोंको तीर्थयात्री बताकर उनका अपमान करूँ । वे तो यों ही घूमने निकले थे और अयोध्या एक पुराना नगर है, इसलिये वहाँ भी उतर पड़े थे । वैसे तो ये सुपठित लोग अपने किसी काममें आकाशके तारोंसे मन्त्रणा करते नहीं; किंतु कभी-कभी तारे जब इतना मन्त्रणा करनेपर उतर आते हैं..... पता नहीं आज राहु, केतु, शनि, मङ्गलमेंसे कौन-सा क्रूर ग्रह टोंग अड़ाये बैठा था कि तीनों यात्रियोंको एक विचित्र साधु मिल गया था । ऐसा साधु था वह जिसने उनको देखकर—‘आइये, आइये’ नहीं कहा, आसन नहीं दिया बैठनेको और यह भी नहीं पूछा कि ‘आप कहाँसे पधारे ?’ पूछना-ताछना तो दूर, उसने अपनी कंठी-माला भी ठीक नहीं की, रीढ़ सीधी करके बैठातक नहीं । अजी, उसने तो आँख उठाकर देखनेका कष्ट भी नहीं उठाया । तीनों बाबुओंने हाथ जोड़कर बिना सिर झुकाये ‘बाबाजी, जय सीताराम !’ कहा तो उसने

भी बिना सिर उठाये ‘जय सीताराम !’ कह लिया और फिर अपने काममें ऐसा जुट गया जैसे उसके पास तीन उजले कपड़ेवाले मनुष्य आये ही नहीं, जैसे तीन तितलियाँ या वृक्षोंकी टहनियाँ वहाँ आ गयीं । तीन कुत्तेके पिल्ले भी आते तो वह इससे अधिक उनकी ओर ध्यान देता ।

‘महात्माजी ! आप कर क्या रहे हैं ?’ जब कोई हमारी ओर ध्यान न दे तो हमें ही उसकी ओर ध्यान देना पड़ता है । स्वामी रामतीर्थजीका कहना है कि जो मायाकी ओर पीठ करके चल देता है, माया उसके पीछे-पीछे चल पड़ती है । साधु नहीं बोलते तो फिर बाबुओंको बोलना ही ठहरा ।

‘अच्छा, अच्छा ! आपलोग तो पढ़े-लिखे विद्वान् हैं, बड़े बुद्धिमान् हैं ! इस पेड़को लगा तो दीजिये ।’ संतने अब तीनोंकी ओर मुख उठाया और बड़े सरल भावसे कह दिया । कपड़े मैले हो जायँगे, हाथोंमें मिट्टी लग जायगी, इच्छा बिल्कुल नहीं; किन्तु बैठना पड़ा किसी प्रकार सम्हल कर । ये साधुलोग सभ्यता तो जानते ही नहीं, किसीसे कुछ कहते समय तनिक भी विचार नहीं करते । लेकिन अनेक बार संकोचवश रूखा बनना अशक्य हो जाता है

‘इसमें तो जड़ है ही नहीं बाबा ! यह लगे कैसे ?’ नीमके पेड़की एक डाली कह लीजिये उसे, या वह लगभगतीन-चार इंच मोटे नीमके छोटे पेड़का ऊपरी भाग । खुर्पी लिये संत उसीको गाड़नेके प्रयत्नमें थे । तीनों यात्री समीप-समीप बैठ गये थे । एकने खुर्पी उठा ली थी और दूसरेने उस तनेको ले लिया था हाथोंमें ।

‘जड़का क्या करना है ? वह तो पृथ्वीके भीतर रहती है । उससे न छाया मिलती, न शाकके लिये फूल मिलते, न ओषधिके लिये पत्ते या छाल मिलती है । उसको लकड़ी के लिये काटकर दाँत खोदनेको सीक या

ह लिय
से उसके
नी नहीं
वहाँ आ
अधिक
कोई
ध्यान
है कि
उसके
तो फिर
दान हैं
' संतने
भाक्से
ही ला
किसी
नते ही
विचार
रुखा
लोग
ये उसे
ऊपरी
में थे।
ने खुर्ची
या था
भीतर
लिये
मिली
क था

चिट्ठी चिपकानेको जरा-सा गोंद भी नहीं मिलता ।
साधुने बड़े भोलिपनसे कहा—‘यह खूब हरा-भरा है ।
आपलोग इसे लगा दें । मैं इसमें खाद दूँगा, जल
दूँगा, इसकी रक्षा करूँगा ।’

‘इसकी जड़ कहाँ है ?’ यात्रियोंमेंसे एकने पूछा

‘वहाँ !’ साधुने एक ओर संकेत किया ‘एक
गाय आज तोड़ गयी इसे । अब जड़में क्या रक्खा है ।
उसमें एक भी पत्ता नहीं ।’

‘हम उस जड़के आस-पास थाला बना देते हैं ।
आप उसे सींचते रहेंगे तो उसमें पत्ते आ जायेंगे, उससे
खूब घना वृक्ष हो जायगा । आपकी कुटियाके पास
आया हो जायगी !’ उसी यात्रीने समझाया ।

‘लेकिन जड़से क्या करना है, यह देखो अभी हरा है ।
तनिक भी मुरझाया नहीं है ।’ साधुने उसी तनेकी ओर
बड़े स्नेहसे देखा ।

‘अब इसमें कुछ नहीं है ।’ यात्री हँस पड़े । चाहे
यह जितना भी हरा हो और चाहे आप इसे जितना
खाद-पानी दें, यह बिना जड़की डाली तो सूखकर रहेगी ।
बहुत हुआ तो दस-पाँच घंटे अधिक टिकेगी इसकी
हरियाली । इस डालीको छोड़कर बाबा ! आप तो
जड़को सींचिये ।’

‘हाँ भैया, मैं जड़को ही सींचूँगा !’ साधुने देखा
उनकी ओर । ‘लोग कहते हैं कि धर्म और ईश्वरसे तो
कुछ लाभ ही नहीं है । सत्य, सदाचार चाहिये मनुष्य-
में—बस ! भला, तुम्हीं कहो कि जब जड़ ही नहीं
रहेगी तो ये डाल-पात कै दिन हरे रहेंगे ?’

x x x x

[४]

‘साधुकी बात समझमें आने योग्य है !’ तीनों यात्री
अपने डेरेकी ओर लौट रहे थे । उनमें अपनी वही
पुरानी उधेड़-बुन चल रही थी ।

‘धर्म और ईश्वर मानवताके आधार हैं ? मेरी
समझमें यह बात आती नहीं !’ दो व्यक्ति मार्गपर आगे-
आगे जा रहे थे । उनके हाथोंमें जलसे भरे लोटे थे । उनमें
जो चर्चा हो रही थी, तीनों यात्रियोंका ध्यान उस चर्चाकी
ओर गया । वे पैर बढ़ाकर उनके पीछे हो लिये । उनमें
एक कह रहा था—‘सबसे अधिक झूठ बोला जाता
है धर्मके नामपर, सबसे अधिक छल चलता है ईश्वरके
सहारे । धर्म और ईश्वरके कारण जितने झगड़े, जितने
कलह, जितने युद्ध, जितना रक्तपात हुआ, उतना और
किसी प्रश्नपर नहीं हुआ । मानवताके लिये तो धर्म
और ईश्वर ही सबसे विरोधी भाव हैं ।’

‘अरे हाँ, तुम इन्हें पहचानते हो ?’ उत्तर देनेके
स्थानपर आगे चलनेवाले दूसरे व्यक्तिने एक सज्जनकी ओर
संकेत किया ।

‘खूब पहचानता हूँ । यहाँका यह प्रसिद्ध
लफंगा—अब सिरसे पैरतक खादी पहनकर कैसा
भला आदमी बना दीखता है ।’

‘खादी और लफंगा ?’ खरमें कुछ हँसी आ गयी ।

‘इसमें हँसनेकी क्या बात है ? जो वेश अच्छा
माना जायगा, बुरे लोग उसीको अपनाकर उसमें
अपनेको छिपाना और अपना स्वार्थ-साधन करना
चाहेंगे ।’

‘फिर भी—तनिक रुककर कहा गया—तो
अब अच्छे आदमियोंको ही खादी छोड़ देनी चाहिये ।’

‘आप तो अच्छाईकी जड़ ही काट देना चाहते
हैं ।’ वह झल्लाया ‘जो भी वेश, जो भी काम, जो
भी बात अच्छी होगी; जिसे भी अच्छे लोग अपनायेंगे,
उसीमें बुरे लोग अपनी बुराई छिपाना चाहेंगे । यदि
इस प्रकार अच्छे लोग अच्छी बातोंको छोड़ते जायें तो
अच्छाईकी जड़ ही कट जायगी ।’

‘धर्म और ईश्वर.....!’ लेकिन बात पूरी नहीं हो सकी। दो जगधारी पास ही झगड़ रहे थे। उन्होंने जलानेको रक्खी लकड़ियाँ उठा ली थीं एक दूसरेपर आघात करनेके लिये। इस समय उनको रोकना आवश्यक हो गया था।

‘सियाराम, सियाराम जपना चाहिये’ एकका पक्ष था और ‘सीताराम, सीताराम जपना चाहिये’ यह दूसरेका। इसी बातपर वे दोनों साधु भिड़ पड़े थे। बड़ी कठिनाईसे उन्हें धर-पकड़कर अलग किया जा सका। इस झमेलेसे अलग हानेपर उन यात्रियोंमेंसे एकने कहा—‘क्योंजी, सियाराम बड़े या सीताराम?’

‘तुम भी ऐसे ही रहे!’ दूसरा साथी हँसा—‘सियाराम या सीतारामका झगड़ा कहाँ था? झगड़ा तो था कि बात मेरी बड़ी या तेरी? अर्थात् मैं बड़ा या तू? नहीं तो, इन दोनोंको न तो सिया-

रामसे काम था और न सीतारामसे प्रेम-परस्पर।’

‘और यही सीधी बात तुम आज कई दिनसे नहीं समझ पा रहे हो!’ बड़ी गम्भीरतासे वे बोल रहे थे—‘कि धर्म और ईश्वरका नाम लेकर जिन लोगोंने रक्तपात किये, जिन्होंने अधर्म या दम्भको अपनाया, उन्हें धर्म या ईश्वरसे कुछ मतलब नहीं था। उनके झगड़े अहंकारके लिये थे। वे स्वार्थके सेवकमात्र थे!’

‘लेकिन इतने अनर्थोंकी जो आड़ है उसे रक्खा ही क्यों जाय?’ अब बहसका उत्साह नहीं था बोलनेवालेमें। वह स्वयं समझता था कि अब वह दुराग्रह कर रहा है। परन्तु अपनी बात पूरी की उसने—‘मनुष्य कर्तव्यका पालन करें, सत्य-सदाचार-को अपनावें.....।’

‘जी!’ हँसते हुए दूसरे साथीने कहा—‘और जड़ काटकर नीमका पेड़ लगावे?’

पुकार

(१०—प्रो० श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव, एम० ए०, एल्-एल्०वी०, साहित्यरत्न)

कितनी बार पुकारा मैंने कितनी बार पुकारा !
जब-जब अनुभव किया हृदयने निजको बिना सहारा
तब-तब नाथ ! अनाथ आर्त-सा मैंने तुम्हें पुकारा ।
दुखकी लहर-लहर घहराती
तव मनभर चिंता छा जाती
याद तुम्हारी ही तब आती ।
मैंने उन संकटकी घड़ियोंमें बस तुम्हें पुकारा
भटक रहा था मैं जगके पथ
घर-घर कर चलता जीवन-रथ
कुछ न ज्ञात जीवनका इति-अथ
तेरे चरण-शरणको मैंने तब अविलम्ब निहारा
कितनी बार पुकारा मैंने कितनी बार पुकारा !

कामके पत्र

(१)

आडम्बरपूर्ण खर्चीले जीवनसे हानि

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । उत्तरमें देर हो गयी, इसके लिये क्षमा करें । आपने अपनी परिस्थिति लिखते हुए अभावोंका और उनके कारण होनेवाले कष्टोंका विस्तारसे उल्लेख किया सो बिल्कुल ठीक है । धनियोंकी देखा-देखी समाजमें प्रशंसा पानेका एक बिलक्षण मोह जाग उठा है, इस मोहके कारण जीवनकी व्यर्थ आवश्यकताएँ बढ़ गयी हैं । खान-पान, कपड़े-लत्ते, जूते-चप्पल, तैल-साबुन, मोटर-बिमान, सिनेमा-रेडियो, उच्च श्रेणियोंमें रेलयात्रा, क्लब-पार्टी, बढ़िया मकान, पल-पलमें छायाचित्र लेनेकी प्रवृत्ति, उच्चस्तर (?) का रहन-सहन आदिमें मानो होड़ लग रही है । धनियोंमें परस्पर प्रतियोगिता है ही; गरीब असमर्थ लोग भी इसी चक्रमें पड़े हैं । इससे इतना दुःख बढ़ गया है कि जिसकी कोई सीमा नहीं है और वह अभी बढ़ता ही जा रहा है !

पहले साधारण गृहस्थजीवनमें लोग अपनी हैसियतके अनुसार पूजा-पर्वका महोत्सव, अतिथिसेवा, अपने जाति-समाजके अपनेसे गरीब भाइयोंकी सेवा-सहायता आदि करते थे । अधिक सम्पन्न लोग कूआँ, धर्मशाला आदि बनवाते थे । उसमें भी खर्च होता था पर उससे लोकोपकार होता था; भूखोंको अन्न मिलता था, गरीबोंको आश्वसन मिलता था और देवपूजादिसे मनमें पवित्रता आती थी । उससे भोगप्रवृत्ति या विलासिताको आश्रय नहीं मिलता था । निजका खर्च कम-से-कम करनेमें और दूसरोंकी सेवामें अधिक-से-अधिक खर्च करनेमें होनेवाली प्रतियोगिता—ऐसी होड़ हानिकारक नहीं होती । पर अब तो उच्चस्तरके जीवनमें इतने अभाव बढ़ गये हैं कि उनकी पूर्तिमें

जीवनकी सारी कमाई ही पूरी नहीं हो जाती है, ऋणभार बढ़ता जाता है । इसीलिये नाना प्रकारके छल-कपट, चोरी-वैदमानी, झूठ-दगा करके धन कमानेकी चेष्टा होती है । अतिथिसेवा और परार्थ धन लगानेके लिये तो अवकाश ही नहीं रह गया है । अपना ही खर्च नहीं चलता, तब दूसरेकी सेवा कोई कैसे करे ?

प्राचीन समाजव्यवस्थाके शिथिल हो जानेसे सब ओर मनमानी हो रही है और व्यर्थकी वावूगिरीमें व्ययभार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है । एक ओर श्रमकी महिमा गायी जा रही है, दूसरी ओर पीढ़ियोंके श्रमिक लोग भी श्रम छोड़कर कलम पकड़नेमें गौरव मानने लगे हैं । शारीरिक श्रम मानो अप्रतिष्ठाका स्वरूप समझा जाने लगा है । सिनेमामें करोड़ों रुपये खर्च होते हैं और उससे समाजमें सदाचारका बड़ी बुरी तरहसे नाश हो रहा है, परंतु आवश्यक आमोद-प्रमोद और धनोत्पादक धंधेके नामपर उसकी पतनकारिणी प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ती जा रही है । भोगका आडम्बर, विलासकी लालसा और झूठी शौकीनी बढ़ रही है !

कुछ लोग मानते हैं कि समाजमें विलासिताकी वृद्धि अथवा उच्चस्तरका जीवन हमारी धनवृद्धिका लक्षण है । पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है । धन नहीं बढ़ा है—बढ़ा है आडम्बर, बढ़ी है सादगीमें शर्म, बढ़ा है अनाचार-मिथ्याचार और कदाचारका व्यसन, बढ़ी है उच्छृङ्खलता और शौकीनी तथा झूठे दिखावेकी बेवसी, बढ़ा है आलस्य, प्रमाद और मोह तथा बढ़ी है अविवेकशीलता और स्वेच्छाचारिता । पहले जो धन सर्वसाधारणके लिये खर्च होता था, अब वह व्यक्तिगत भोगमें खर्च होता है । पहले धन-व्ययसे किसीका भला होता था, अब उससे किसीका भला तो होता ही नहीं, अपनी भी हानि होती है ।

‘धर्म और ईश्वर.....!’ लेकिन बात पूरी नहीं हो सकी। दो जगधारी पास ही झगड़ रहे थे। उन्होंने जलानेको रक्खी लकड़ियाँ उठा ली थीं एक दूसरेपर आघात करनेके लिये। इस समय उनको रोकना आवश्यक हो गया था।

‘सियाराम, सियाराम जपना चाहिये’ एकका पक्ष था और ‘सीताराम, सीताराम जपना चाहिये’ यह दूसरेका। इसी बातपर वे दोनों साधु भिड़ पड़े थे। बड़ी कठिनाईसे उन्हें धर-पकड़कर अलग किया जा सका। इस झमेलेसे अलग होनेपर उन यात्रियोंमेंसे एकने कहा—‘क्योंजी, सियाराम बड़े या सीताराम?’

‘तुम भी ऐसे ही रहे!’ दूसरा साथी हँसा—‘सियाराम या सीतारामका झगड़ा कहाँ था? झगड़ा तो था कि बात मेरी बड़ी या तेरी? अर्थात् मैं बड़ा या तू? नहीं तो, इन दोनोंको न तो सिया-

रामसे काम था और न सीतारामसे प्रेम-परस्पर।’

‘और यही सीधी बात तुम आज कई दिनसे नहीं समझ पा रहे हो!’ बड़ी गम्भीरतासे वे बोल रहे थे—‘कि धर्म और ईश्वरका नाम लेकर जिन लोगोंने रक्तपात किये, जिन्होंने अधर्म या दम्भको अपनाया, उन्हें धर्म या ईश्वरसे कुछ मतलब नहीं था। उनके झगड़े अहंकारके लिये थे। वे स्वार्थके सेवकमात्र थे।’

‘लेकिन इतने अनर्थोंकी जो आड़ है उसे रक्खा ही क्यों जाय?’ अब बहसका उत्साह नहीं था बोलनेवालेमें। वह स्वयं समझता था कि अब वह दुराग्रह कर रहा है। परन्तु अपनी बात पूरी की उसने—‘मनुष्य कर्तव्यका पालन करें, सत्य-सदाचार-को अपनावें.....।’

‘जी!’ हँसते हुए दूसरे साथीने कहा—‘और जड़ काटकर नीमका पेड़ लगावे?’

पुकार

(१०—प्रो० श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव, एम० ए०, एल्-एल्०वी०, साहित्यरत्न)

कितनी बार पुकारा मैंने कितनी बार पुकारा !
जब-जब अनुभव किया हृदयने निजको विना सहारा
तब-तब नाथ ! अनाथ आर्त-सा मैंने तुम्हें पुकारा ।
दुखकी लहर-लहर घहराती
तब मनभर चिंता छा जाती
याद तुम्हारी ही तब आती ।
मैंने उन संकटकी घड़ियोंमें बस तुम्हें पुकारा
भटक रहा था मैं जगके पथ
घर-घर कर चलता जीवन-रथ
कुछ न ज्ञात जीवनका इति-अथ
तेरे चरण-शरणको मैंने तब अविलम्ब निहारा
कितनी बार पुकारा मैंने कितनी बार पुकारा !

कामके पत्र

(१)

आडम्बरपूर्ण खर्चिले जीवनसे हानि

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । उत्तरमें देर हो गयी, इसके लिये क्षमा करें । आपने अपनी परिस्थिति लिखते हुए अभावोंका और उनके कारण होनेवाले कष्टोंका विस्तारसे उल्लेख किया सो बिल्कुल ठीक है । धनियोंकी देखा-देखी समाजमें प्रशंसा पानेका एक बिलक्षण मोह जाग उठा है, इस मोहके कारण जीवनकी व्यर्थ आवश्यकताएँ बढ़ गयी हैं । खान-पान, कपड़े-लत्ते, जूते-चप्पल, तैल-साबुन, मोटर-खिमान, सिनेमा-रेडियो, उच्च श्रेणियोंमें रेलयात्रा, क्लब-पार्टी, बढ़िया मकान, पल-पलमें छायाचित्र लेनेकी प्रवृत्ति, उच्चस्तर (?) का रहन-सहन आदिमें मानो झोड़ लग रही है । धनियोंमें परस्पर प्रतियोगिता है ही; गरीब असमर्थ लोग भी इसी चक्रमें पड़े हैं । इससे इतना दुःख बढ़ गया है कि जिसकी कोई सीमा नहीं है और वह अभी बढ़ता ही जा रहा है ।

पहले साधारण गृहस्थजीवनमें लोग अपनी हैसियतके अनुसार पूजा-पर्वका महोत्सव, अतिथिसेवा, अपने जाति-समाजके अपनेसे गरीब भाइयोंकी सेवा-सहायता आदि करते थे । अधिक सम्पन्न लोग कूआँ, धर्मशाला आदि बनवाते थे । उसमें भी खर्च होता था पर उससे लोकोपकार होता था; भूखोंको अन्न मिलता था, गरीबोंको आश्वसन मिलता था और देवपूजादिसे मनमें पवित्रता आती थी । उससे भोगप्रवृत्ति या विलासिताको आश्रय नहीं मिलता था । निजका खर्च कम-से-कम करनेमें और दूसरोंकी सेवामें अधिक-से-अधिक खर्च करनेमें होनेवाली प्रतियोगिता—ऐसी झोड़ हानिकारक नहीं होती । पर अब तो उच्चस्तरके जीवनमें इतने अभाव बढ़ गये हैं कि उनकी पूर्तिमें

जीवनकी सारी कमाई ही पूरी नहीं हो जाती है, ऋणभार बढ़ता जाता है । इसीलिये नाना प्रकारके छल-कपट, चोरी-वैदमानी, झूठ-दगा करके धन कमानेकी चेष्टा होती है । अतिथिसेवा और परार्थ धन लगानेके लिये तो अवकाश ही नहीं रह गया है । अपना ही खर्च नहीं चलता, तब दूसरेकी सेवा कोई कैसे करे ?

प्राचीन समाजव्यवस्थाके शिथिल हो जानेसे सब ओर मनमानी हो रही है और व्यर्थकी वावृत्तिमें व्ययभार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है । एक ओर श्रमकी महिमा गायी जा रही है, दूसरी ओर पीढ़ियोंके श्रमिक लोग भी श्रम छोड़कर कलम पकड़नेमें गौरव मानने लगे हैं । शारीरिक श्रम मानो अप्रतिष्ठाका स्वरूप समझा जाने लगा है । सिनेमामें करोड़ों रुपये खर्च होते हैं और उससे समाजमें सदाचारका बड़ी बुरी तरहसे नाश हो रहा है, परंतु आवश्यक आमोद-प्रमोद और धनोत्पादक धंधेके नामपर उसकी पतनकारिणी प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ती जा रही है । भोगका आडम्बर, विलासकी लालसा और झूठी शौकीनी बढ़ रही है ।

कुछ लोग मानते हैं कि समाजमें विलासिताकी वृद्धि अथवा उच्चस्तरका जीवन हमारी धनवृद्धिका लक्षण है । पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है । धन नहीं बढ़ा है—बढ़ा है आडम्बर, बढ़ी है सादगीमें शर्म, बढ़ा है अनाचार-मिथ्याचार और कदाचारका व्यसन, बढ़ी है उच्छृङ्खलता और शौकीनी तथा झूठे दिखावेकी बेवसी, बढ़ा है आलस्य, प्रमाद और मोह तथा बढ़ी है अविवेकशीलता और स्वेच्छाचारिता । पहले जो धन सर्वसाधारणके लिये खर्च होता था, अब वह व्यक्तिगत भोगमें खर्च होता है । पहले धन-व्ययसे किसीका भला होता था, अब उससे किसीका भला तो होता ही नहीं, अपनी भी हानि होती है ।

अधिकांश शहरोंमें रहनेको स्थान नहीं है, बड़े-बड़े महल झुक रहे हैं, मोटरोंके मारे रास्ता नहीं मिलता, सिनेमाओंके सङ्गीतोंसे आकाश भरा रहता है, चारों ओर बिजलीकी रोशनी जगमगाती है, खान-पानमें अनाप-शनाप व्यय होता है। इस प्रकार विलास और आडम्बरके समुद्रमें डूबे रहनेपर भी प्रायः किसीको भी सुख-शान्ति नहीं है। कुछ लोगोंको छोड़कर (वे कुछ लोग भी दूसरी तरहके दुःखोंसे पीड़ित हैं) शेष सभी अभावग्रस्त दुखी हैं। कहीं घरमें बीमारी है पर दवाके लिये दाम नहीं है, कहीं नौकरी नहीं है, कहीं व्यापार नहीं चलता, कहीं बड़ी कन्याके विवाहकी चिन्ता है, कहीं बालकोंकी शिक्षाका भार वहन करना कठिन हो रहा है। जीवन कष्टों और दुःखोंका भण्डार बन रहा है, इतनेपर भी विलासिता और आडम्बरका खर्च तो करना ही पड़ेगा; क्योंकि जीवनके उच्चस्तरको कायम रखना है। कैसी विडम्बना है !

इस दशामें अभावका नाश कैसे होगा और अभाव रहते दुःख मिटेगा कैसे ? महँगीकी राक्षसी तो मुँह बाये खड़ी ही है; पर इसमें भी यदि जीवन आडम्बर-हीन और सादा हो तो अपेक्षाकृत बहुत कम खर्चमें काम चल सकता है और जीवनका दुःखभार बहुत कुछ हल्का हो सकता है पर इस ओर प्रवृत्ति ही नहीं है।

आपकी परिस्थितिपर आप स्वयं ध्यान देकर देखिये—आपको यथार्थ अभाव कितना है और आडम्बरके लिये कल्पित अभाव कितना है। आपको जितनी आमदनी है, यद्यपि आजकल समय बहुत कठिन है; पर यदि आप आडम्बर छोड़ दें और समाजकी मिथ्या प्रशंसाका मोह अथवा इज्जत घटनेका भय त्यागकर अनावश्यक खर्चोंको कम कर दें तो मैं जोरके साथ कह सकता हूँ कि उतनेमें आपका काम मजेमें चल सकता है।

कोई-सा भी खर्च अनावश्यक नहीं है कि आप झूठी तारीफके लोभमें उसको अपनाये हुए हैं। चार नौकरोंकी जगह एक नौकर रखें, मोटर निकाल दें, कम भाड़ेका छोटा मकान ले लें, सादे तथा सीधी सिलाईके कपड़े पहनें, साधारण साफ-सुथरी साड़ियाँ लेकर घरके लोग काम चलावें, तेल-साबुन आदि कम कर दें, सिनेमाको तो बिल्कुल ही त्याग दें, मित्रोंको कभी दावत न दें, कुछ बचाकर उससे ऋणका भार कम करें, जिससे व्याजका नुकसान कम हो जाय—इस प्रकार सब ओर कोर-कसर करनेसे खर्च घट सकता है और आप सुखी हो सकते हैं। यह दुःख तो आपका अपना ही खरीदा हुआ है जो आपकी कोशिशसे ही मिट सकता है। साथ ही आतुर होकर विश्वासके साथ आप भगवत्प्रार्थना करें। प्रार्थनाकी अमोघ शक्ति है। सच्ची विश्वासभरी प्रार्थना धैर्यके साथ निरन्तर होनेपर आपको भगवान्की ओरसे सद्बुद्धि, शक्ति, सम्पत्ति और सहज स्थिति अवश्य प्राप्त होगी। शेष भगवत्कृपा।

(२)

केवल भगवान्पर भरोसा कीजिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। मेरी तो यही राय है कि आप दूसरोंकी ओर ताकना छोड़कर, 'दूसरोंकी कृपासे आपका कार्य हो जायगा' इस आशाको त्यागकर सर्वशक्तिमान्, आपके सहज सुहृद् भगवान्पर भरोसा करके अपना साधारण काम करते रहिये। भगवान्की इच्छा होगी तो उसीमेंसे आपका कार्य सफल हो जायगा। अपने-आप कोई-न-कोई ऐसी योजना बन जायगी जो आपके अभावोंको मिटा देगी। मैंने देखा है—बड़े-बड़े कार्य करनेपर भी और 'बस, बड़ी सफलता हो गयी'—ऐसा एक बार सामने दीख पड़नेपर भी परिणाममें असफलता होती है, उलटा परिणाम होता है और छोटे-से कार्यसे भी सफल हो जाता है। कुछ

दिनों पहलेकी बात है—एक परिवार बहुत चिन्तित था। उसके लिये उसके किसी सम्बन्धीने बड़ा व्यापार करवाया, खूब प्रयत्न किया; परंतु उसमें सफलता नहीं मिली। इसलिये वह काम बंद कर दिया गया। वह परिवार अपने पुराने छोटेसे व्यापारमें लगा रहा। उसने भगवान्‌को पुकारा और उसी छोटे-से व्यापारमेंसे ही कोई ऐसी योजना बन गयी कि थोड़े ही दिनोंमें वह परिवार अभावमुक्त होकर पर्याप्त साधन-सम्पन्न हो गया। डाली-पत्तोंको सींचनेसे क्या होगा? जड़में पानी देना चाहिये, जिससे सारे डाली-पत्ते आप ही पनपेंगे और वृक्ष पुष्पित-फलित हो जायगा।

एक बात और है—मनुष्य किसीके पास भी किसी चाहसे यदि जाता है तो वह प्रायः सम्मान नहीं पाता। संसारकी सहानुभूति चाहनेसे या माँगनेसे नहीं मिलती, उसकी ओरसे लापरवाह होनेपर—मुँह मोड़ लेनेपर मिल करती है। इसलिये द्वार-द्वार ठोकर न खाकर एक भगवान्‌का आश्रय लीजिये और उन्हींको पुकारकर अपने मनकी बात सुनाइये। दूसरे किसके सामने हृदय खोलेंगे? कौन आपकी दुःख-कहानी सहानुभूतिके साथ सुनेगा? किसके पास इतना समय और ऐसा हृदय है, जो आपके लिये कुछ करेगा? एक भगवान् ही ऐसे हैं जो पीड़ितों, दुखियों, अभावग्रस्तों—और जिनको कोई भी नहीं जानता-मानता, कोई भी अपने पास बैठकर दुःखकी कहानी सुनना नहीं चाहता—उनकी सारी दुःखगाथा सहानुभूतिसे सुनते हैं, उसे अपनाते हैं, उसकी सहायता करते हैं और उसके अभावोंको नाश करते हैं।

और यदि भगवान् ही चाहते हैं कि आपके अभाव दूरे रहें या आपकी मानी हुई सम्पत्ति, सुख-सुविधा, मान-इज्जत, संसारके प्रिय आत्मीय और ममताकी वस्तुएँ आपके पास न रहें तो फिर किसीकी खुशामद करनेसे वह कैसे और कहाँसे दे देगा या बचा देगा? आप सच

मानिये—संसारकी प्रत्येक वस्तु भगवान्‌की है। आपका शरीर और आप भी भगवान्‌के हैं। जब भगवान् ही अपनी उस वस्तुको यहाँ नहीं रहने देना चाहते, वे ही जब आपकी भाषामें 'दया नहीं करते', उसको यहाँ-से उठा लेना चाहते हैं, तब आप माया-मोह करके उसे क्यों पकड़े रखना चाहते हैं? आपको तो वह वस्तु केवल सेवाके लिये सौंपी गयी है, मालिक तो वही हैं। यदि अपनी चीजको वे ले लेना चाहते हैं तो इसमें आपको क्षोभ या विषाद क्यों होना चाहिये? उनकी चीज उनके इच्छानुसार चाहे जैसे, चाहे जहाँ रहे, इसीमें आपको प्रसन्नता होनी चाहिये।

अतएव आप अपने मनकी इच्छा खुले दिलसे भगवान्‌के सामने रख दीजिये और उनसे कहिये कि 'वे जिस तरहसे जिसमें आपका कल्याण समझें, वही करें।' ऐसा न चाहकर यदि आप अपने मनकी ही बात चाहते हों तो भी अनन्य विश्वासपूर्वक केवल उन्हींको पुकारिये। वे या तो आपके मनकी बात का देंगे या आपके मनसे उस बातको ही निकाल देंगे। और दोनों ही हालतोंमें आपको वे अपना तो लेंगे ही। इसीका फल होगा अचल सुख-शान्तिकी प्राप्ति। शेष भगवत्कृपा।

(३)

पाप करनेवाले क्यों मजे लूट रहे हैं?

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपा-पत्र मिला था। अस्वस्थताके कारण उत्तर लिखनेमें देर हो गयी, इसके लिये क्षमा करें। आप विस्तारके साथ उदाहरण देते हुए पूछते हैं कि 'भगवान्‌के सच्चे भक्त, ईमानदार, हककी कमाई खानेवाले और धर्मपर दृढ़ रहनेवाले लोग दीन और दुखी क्यों पाये जाते हैं जब कि सरासर धोखाधड़ी, बेईमानी और बूखोरीसे धन हड़पनेवाले मजे लूट रहे हैं?'

आपका यह प्रश्न आज सचमुच बहुत व्यापक हो रहा है और यह बड़ा गम्भीर रूप धारणकर चुका है। प्रत्येक विचारशील सत्यान्वेषी पुरुषके अन्तरसे इस प्रश्नकी ध्वनि उठ रही है। वास्तवमें इस समय देशकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो रही है। समाजमें जो सम्मान एवं प्रतिष्ठाके पात्र समझे जाते हैं, उच्च कोटिके सामाजिक और राजनीतिक नेता कहलाते हैं; ऐसे लोगोंका भी नैतिक धरातल बहुत नीचा हो गया है। व्यापारीवर्ग भी ईमानदारी और सचाईकी कमाईसे पेट नहीं भरना चाहता। वह भी झूठ, कपट, धोखा, अन्याय जैसे भी सम्भव हो, दूसरोंका हक मार लेनेमें ही गौरव और सम्मान समझने लगा है। सरकारी कर्मचारी तो और भी गिर गये हैं। ऊँचे अधिकारियों-तकका मन विचलित हो गया है। जहाँ जिसको जरा भी अवसर मिला, वह अन्यायसे पैसे कमानेमें अपना गौरव मानता है। सर्वत्र घूस और चोरवाजारी चल रही है। सरकारी करोंका बोझ और महँगी भी इसमें एक प्रधान कारण है। परंतु मुख्य वस्तु तो धर्ममें अनास्था ही है। देश और समाजका ऐसा व्यापक पतन पहले कभी नहीं देखा-सुना गया था। अधर्मपूर्ण आसुरी वृत्तियोंका जब उत्थान होने लगता है, तब धर्म और दैवी वृत्तियोंका सहज ही हास होता है। इस दशामें धर्मनिष्ठ एवं साधुस्वभावके व्यक्तियोंको लौकिक दृष्टिसे सहज ही दैन्य और दुःखका शिकार होना पड़े, इसमें क्या आश्चर्य है?

परंतु यह विचारणीय है कि 'क्या वास्तवमें अधर्म, छल, कपट, अन्याय और बेईमानीकी राहपर चलनेवाले लोग सुखी हो सकते या मजा छूट सकते हैं?' उत्तर एक ही है—'नहीं।' जो लोग इस समय अन्यायके बैसेपर गुलछरें उड़ाते हुए दिखायी दे रहे हैं, वह उनपर आनेवाली विपत्तिकी भूमिकामात्र है। जैसे कत्तईके छूरेके नीचे जानेवाला बकरा पहले हरी-हरी

घास खाता दिखायी देता है, वही दशा इन लोगोंकी समझिये। एक नृशंस डाकू किसी गृहस्थकी हत्या करके उसका धन छूट लेता है और उससे हल्ला-पूरी उड़ाता है, जिसने इतना ही देखा है, और जो उसके भविष्यसे अनभिज्ञ है, वह समझता है कि डाकू बड़ा सुखी है और सुखकी प्राप्तिका मार्ग यह डकैती ही है। परंतु जब वही हत्यारा डाकू पकड़ा जाता है और उसे फाँसीकी सजा भोगनी पड़ती है, तब मादूम होता है, कि वास्तवमें वह सुख नहीं, बरं महान् दुःखका—आत्मविनाशका मार्ग था। संखिया मिले हुए लड्डू भी बड़े सुन्दर और मीठे लगते हैं परंतु खानेवालोंको परिणाममें तो मृत्यु ही मिलती है। पापका प्रारम्भ आपातरमणीय हुआ करता है, वह पहले सुखदायक जान पड़ता है, परंतु पीछे भयानक दुःखोंके समुद्रमें गिरा देता है। फिर, एक बात और है, सुख-दुःख पूर्वकर्मोंके फल हैं—पूर्वकालमें अपने किये हुए ही कर्म प्रारब्ध बनकर सुख-दुःख भुगतते हैं। वर्तमानमें मिलनेवाला सुख इसी जन्मके इसी कर्मका फल नहीं है। अतएव जो लोग इस समय दूसरोंका धन अन्यायसे लेकर मजे उड़ा रहे हैं, उनका यह सुख इस पापका फल नहीं है। वे इस पापको न करते तो भी वह सुख उन्हें मिलता ही—बरं और भी श्रेष्ठ तथा सुन्दर रूपमें निश्चय ही प्राप्त होता। इस पापका फल तो उन्हें आगे मिलेगा। वस्तुतः पाप करके उन्होंने अपने लिये भयङ्कर विपत्तिकी सामग्री ही तैयार की है। कुछ क्षणोंके सुखके लिये उन्होंने जिस अन्याय और अधर्मके पथपर पा बढ़ाया है, वह उन्हें अनन्त कल्पोंतक दुःख और यन्त्रणाके नरकमें सड़ानेवाला ही होगा। इस ओर कभी उनकी दृष्टि ही नहीं गयी है। वे उस डाकूकी भाँति ही धन पाकर खुशीमें फूल रहे हैं, फाँसीकी डोरी गलेमें पड़ेगी, इस बातकी ओर उनका ध्यान ही नहीं

है । यहाँ मनुष्य छल-बल-कौशलसे दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंककर अपनेको निर्दोष सिद्ध कर सकते हैं परंतु घट-घटव्यापी अन्तर्यामी परमात्माकी सर्वतोमुखी दृष्टिसे अपनेको छिपा लेना किसीके लिये भी सम्भव नहीं है । पापकर्म करनेवाले मनुष्यका क्षणभरका हृदयोच्छास उसके अनन्त युगोंतकके रोनेमें कारण बन जाता है !

जो सच्चे भक्त हैं, जिनका भगवान्‌में विश्वास है और जिनका जीवन भगवान्‌के लिये ही है; उनके मनमें तो लौकिक भोग-सुखोंकी कामना-इच्छा कभी होती ही नहीं । वे तो संसारके तमाम सुख-भोगोंको माया-मरीचिका मानकर उनकी ओर दृष्टि ही नहीं डालते और नित्य निरन्तर परम मधुर दिव्यातिदिव्य भगवदीय रसका समाखादन करना चाहते हैं । वे अपने जीवनको, जीवनके सारे सुखोंको—सर्वस्वको अपने परम सर्वस्व प्रभुके अरुण चरणकमलयुगलोंपर न्योछावरकर कृतार्थ हो जाते हैं । उनका परम, चरम और अनुपम सुख अपने प्राणाधिक भगवान्‌की स्मृति, सेवा और उनकी प्रसन्नता सम्पादनमें ही है । वे संसारके सुख-दुःखोंकी कुछ भी परवा नहीं करते । यहाँके सुखोंके लिये उनके मनमें स्पृहा नहीं होती । दुःखोंसे उन्हें उद्वेग नहीं होता । श्रीभगवान्‌ने अपने ऐसे प्रिय भक्तोंका लक्षण बतलाते हुए कहा है—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

‘जो न तो (सांसारिक दृष्टिसे अनुकूल मानी जाने वाली वस्तुके प्राप्त होनेपर) हर्षित होता है, न (प्रति-कूल वस्तुसे) द्वेष करता है, न (अनुकूलके नाशका) शोच करता है और न (प्रति-कूलके नाश और अनुकूलकी प्राप्तिकी) आकाङ्क्षा करता है । शुभ या अशुभ दोनोंको ही (मनसे) त्याग करनेवाला है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।’

यही बात सच्चे धर्मनिष्ठके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है । धर्मनिष्ठ पुरुष किसी भी भय, प्रलोभन और प्राण जानेकी स्थिति होनेपर भी धर्मका त्याग नहीं करता । धर्मके लिये बलिदान हो जानेमें ही तो उसके लिये गौरव है—वही तो सच्ची धर्मनिष्ठा है । यह अग्निपरीक्षा है, जिसमें धर्मनिष्ठ पुरुष सगौरव अपनेको झोंक देता है । यह परीक्षाका समय सदा नहीं रहता । इस अग्निपरीक्षामें तपाये हुए स्वर्णकी भाँति खरा उतरनेवाला मनुष्य देवताओंतकके आदरका पात्र होता है तथा भगवान्‌का तो हृदयहार बन जाता है । रन्तिदेव, शिवि, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर आदि इस धर्मनिष्ठाकी अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण होनेके कारण ही अचलकीर्ति तथा भगवान्‌के प्रिय हो सके हैं । ऐसे धर्मात्मा भक्त ही अक्षय सुख, शाश्वती शान्ति और श्रीभगवान्‌के परमधामके भागी होते हैं । वे ही पुरुष इस जगत्‌में धन्य हैं, जो धर्म और भगवान्‌के लिये सहर्ष कष्टोंका वरण करते हैं । शेष भगवत्कृपा ।

(४)

सन्तान दुःखमें ही हेतु है

सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपने सन्तान न होनेके कारण अत्यन्त दीनता प्रकट करते हुए जो लिखा कि ‘मैं इस दुःखसे सदा पीड़ित रहता हूँ, मेरी आत्माको क्षणभरके लिये भी शान्ति नहीं मिलती ।’ सो जब मनुष्य प्रबल रूपसे किसी अभावका अनुभव करने लगता है, तब उसे अशान्ति तथा दुःख होता ही है । पर यह दुःख विचारसे टल सकता है । यह एक प्रकारका मोह है । सन्तानवाले सब सुखी हैं, ऐसी बात नहीं है । आजकल तो कुलको उज्ज्वल करनेवाली आज्ञाकारी सन्तानोंकी संख्या ही घटती जा रही है । सुखका हेतु मनका विचार है, कोई वस्तु नहीं है; आप मनमें यदि ऐसा निश्चय कर

लें कि 'भगवान् ने मेरा कल्याण इसीमें सोचा है कि मेरे सन्तान न हो' तो आपका दुःख मिट सकता है । सच कहा जाय तो यही बात है कि सन्तान होनेपर मोहकी फाँसी और भी गहरी लग जाती है । फिर मानव-जीवनका प्रधान उद्देश्य जो भगवत्प्राप्ति है, उसके सफल होनेमें और भी बाधा पड़ जाती है । संसार-सागरके भँवरमें जीवन-नौका फँस जाती है । जिनको सन्तान नहीं है, वे बिना बखेड़े भगवान् की ओर लग सकते हैं । रही वंश चलनेकी बात, सो यह भी मोह ही है । हमने भूलसे इस 'शरीर' को अपना स्वरूप, इसके 'नाम' को अपना नाम और इस 'घर' को अपना घर मान लिया है, इसीसे इसमें मैं-मेरापन हो गया है और इसीसे 'सन्तानके द्वारा मेरा वंश चलता रहे' ऐसी कामना होती है । ऐसे असंख्य शरीर इससे पहले मिल चुके हैं, वहाँ उन शरीरोंमें जब थे, तब उनके लिये यही भाव था । अब उनकी स्मृति ही नहीं है । यही हाल इस शरीरका और शरीरके सम्बन्धी घर तथा वंशका भी होगा । असलमें यह शरीर 'आप' नहीं हैं, आप तो विशुद्ध आत्मा हैं, जो अज्ञानवश जीवत्वको प्राप्त होकर विभिन्न शरीर धारण करते रहते हैं । न मालूम कितने शरीरोंमें आपकी कितनी सन्तानें हुई हैं और उनके कितने वंश विभिन्न योनियोंमें चल रहे हैं । एक जन्मके एक शरीरका वंश न चला तो इसमें कौन-सी हानि है । अतएव आपको इस प्रकार विचार करके सन्तानके लिये होनेवाले संतापसे मुक्त हो जाना चाहिये । यह दुःख असलमें आपका अपना ही बुलाया हुआ है और आपके निकाल देनेसे ही निकल सकता है ।

प्रथम तो प्रारब्धमें हुए बिना सन्तान होनी कठिन है । यदि हो और कुछ समय बाद मर जाय तो, न होनेकी अपेक्षा अधिक दुःख होता है । कितने ही प्रकारके नये-नये अभाव सन्तान होनेपर उत्पन्न होते और बढ़ जाते हैं । कहीं कुपात्र पुत्र निकल गया तो

वह सत-दिन जलाता रहता है । इन सब बातोंपर आप विचार कीजिये ।

यदि सन्तान बिना रहा ही न जाय तो उसके लिये कुछ उपाय कीजिये । उपाय सफल ही हो जायगा, यह तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रारब्धके प्रबल प्रतिबन्धको रोककर नवीन प्रारब्ध बनानेवाला कर्म भी वैसा ही हो, तब कहीं फल हुआ करता है । परंतु प्रयत्न किया जा सकता है । इसके लिये किसी सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणके द्वारा हरिवंशपुराणका पाठ आप दोनों पति-पत्नीको सुनना चाहिये और सन्तान-गोपालमन्त्रका स्वयं जप करना चाहिये । सन्तान-गोपालमन्त्र यह है—

देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते ।

देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं समुपाश्रितः ॥

विधि तथा श्रद्धापूर्वक जबतक सन्तान न हो, तबतक प्रतिदिन इसका एक सहस्र जाप करना आवश्यक है । इससे सन्तान न भी हुई, तो भगवान् का नाम तो आवेगा ही । यही एक बड़ा लाभ है । साथ ही, किसी सुयोग्य चिकित्सकसे निदान करवाकर, यदि रोग हो तो उसकी चिकित्सा भी करवानी चाहिये, क्योंकि यदि स्त्री या पुरुषके कोई ऐसा रोग होता है तो उसके कारण भी सन्तान नहीं होती, परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि सन्तानके लिये किया जानेवाला प्रयत्न वस्तुतः प्रायः दुःखका ही कारण होता है । शेष भगवत्कृपा ।

(५)

श्रीराधा-कृष्ण एक ही तत्त्व हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपाफल मिला । उत्तरमें निवेदन है कि श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण वस्तुतः एक ही तत्त्वके दो नाम-रूप हैं । इनका नित्य अभिन्न सम्बन्ध है । अतः इनके विवाह होने, न होनेका प्रश्न ही नहीं उठता । विवाह तो लौकिक जीवोंमें

आप

लिये

यह

प्रबल

कर्म

परंतु

किसी

पाठ

न्तान-

न्तान-

हो।

कस्यक

म तो

किसी

तो तो

यदि

उसके

रखना

प्रयत्न

है ।

कृपाकर

श्रीकृष्ण

नित्य

होने-

जीवोंमें

होता है । तथापि ब्रह्मवैवर्तपुराणमें इनके विवाहकी बात भी आती है । इनकी लीला नित्य है और नित्य ही वे अपने ही एक तत्त्वके दो स्वरूपोंमें लीला-विहार करते रहते हैं । समस्त दिव्य धामोंमें प्रमुख सच्चिद-परमानन्दमय गोलोकधाम है, वही समस्त ब्रह्माण्डका आत्मा है । उसीमें अनन्त ब्रह्माण्ड नित्य अनुप्राणित होते रहते हैं । वह नित्य सच्चिदानन्दमय परधाम सबसे बिलक्षण और सर्वोपरि होनेपर भी सर्वत्र व्याप्त और सबमें स्थित है । इतनेपर भी उसकी पादविभूति—एक अंशमें ही समस्त प्राकृत लोकोंकी परिसमाप्ति हो जाती है । इनसे सर्वथा अस्पृष्ट जो त्रिपादविभूति है, वह भनैसर्गिक अप्राकृत सच्चिदानन्दमय परधाम है । वही साकेत, वैकुण्ठ, कैलास आदि परधामोंके रूपमें भक्तोंके अनुभवमें आता है । उस परमोज्ज्वल, परम मधुर, परम कल्याणमय, परम सुन्दर, सर्वातिशायी नित्य गोलोकधाममें ही वृन्दावन, मथुरा, गोकुल, नन्दग्राम, बरसाना, गिरिराज तथा विरजा और यमुना आदि दिव्य शाश्वत प्रदेश हैं । हमारा यह मर्त्यधाम पार्थिव है, ठोस है, यहाँ एकमें दूसरा नहीं रह सकता । जहाँ काशी है, वहाँ प्रयाग नहीं है—दोनों पृथक्-पृथक् हैं, परंतु दिव्य सच्चिद-परमानन्दमय धाम इस प्रकारका जड तथा ठोस नहीं है, वह कैसा है इसे वाणीसे नहीं समझा जा सकता । परंतु इतना जान लेना चाहिये कि भगवान्की भाँति ही वह सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वाधार, दिव्य, प्रकाशमय, तेजोमय, नित्य सत्य भावमय है । उसीमें समस्त दिव्य लोकोंका सत्य स्फुरण है । वे साकेत, वैकुण्ठ, कैलास आदि भेदोंसे सत्य-सत्य ही अनेक होते हुए ही सत्य-सत्य एक ही हैं । उसी परतम गोलोकधामकी अधीश्वरी श्रीराधारानी हैं जो श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्न होनेपर भी श्रीकृष्णको नित्य परमानन्द प्रदान करनेवाली उनकी ह्लादिनी शक्ति हैं । श्रीकृष्णके स्वरूपका आधार वे हैं और श्रीकृष्ण उनके स्वरूपके आधार हैं । वे

नित्य प्रिया-प्रियतम हैं । कभी एक क्षणके लिये भी उनका वियोग नहीं होता । पर यह प्रिया-प्रियतमभाव कैसा है । इसे समझनेके लिये कोई भी लौकिक दृष्टान्त समीचीन और उपयुक्त नहीं है, जैसे भगवान् सर्वविलक्षण निरुपाधि और अतुलनीय तथा अचिन्त्य हैं, वैसे ही यह प्रिया-प्रियतमभाव भी अतुलनीय और अचिन्त्य है ।

इस प्राकृत जगत्में जो इन सैवका अवतरण हुआ था, कहा गया है कि वह इनके दिव्य राज्यमें इनकी एक स्वप्नलीला थी । विचित्र लीलासम्पादिनी भगवान्की योगमाया सदा लीलावैचित्र्यके आयोजनमें ही लगी रहती हैं । प्रिया-प्रियतम निकुञ्जमें शयन कर रहे हैं । इसी समय प्रिया श्रीराधारानीके सामने योगमाया एक दृश्य उपस्थित करती हैं । श्रीजीको स्वप्न होता है,—‘मैं भारतमें श्रीवृषभानुपुरीमें कीर्तिदा माताके अङ्गमें बालिका रूपसे प्रकट हुई हूँ, इत्यादि ।’ स्वप्न मनका सङ्कल्प है । श्रीजी सदा सत्य-सङ्कल्प हैं, अतः उनके उस सङ्कल्पके अनुसार भारतवर्षके व्रजमण्डलान्तर्गत वृषभानुपुरीमें उनके प्रादुर्भावकी लीला सम्पन्न होने लगी । इसी प्रकार योगमायाके सङ्केतसे श्रीकृष्णने भी सङ्कल्पसे ही अवतरण किया । यहाँकी इस लीलामें श्रीकृष्ण ग्यारह वर्षकी आयुतक ही व्रजमें विराजे । श्रीजीकी आयु भी लगभग इतनी-सी ही थी । कहते हैं कि वे श्रीकृष्णसे पंद्रह दिन छोटी थीं । इसी बाल्यकालमें व्रजमें इन दोनोंमें प्रथम दर्शन, पूर्वराग, संयोग आदिकी समस्त रसलीलाएँ सम्पन्न हुईं । लोकदृष्टिमें इनकी सगाईकी चर्चा चल रही थी । किसी-किसी भक्तने इनके विवाहका भी वर्णन किया है । हमारे पास एक पुरानी हस्तलिखित पुस्तक है, जिसमें बड़ी सुन्दर विवाह-लीलाका सचित्र वर्णन है । ब्रह्मवैवर्तपुराणके अनुसार भी लोगोंकी दृष्टि बचाकर साक्षात् श्रीब्रह्माजीने वृन्दावनमें सखियोंके सामने इन शाश्वत प्रिया-प्रियतमका

विवाह भी करवा दिया था । फिर श्रीकृष्ण मथुरा पधारे और तदनन्तर द्वारका गये । तत्त्वतः श्रीकृष्णस्वरूपिणी नित्य कृष्णसंगिनी श्रीकृष्णप्रिया श्रीराधारानी प्रेमयोगिनी विरहिणीका प्रेमानुरागमय जीवन बिताने लगीं । अवतार-लीला सम्पन्न होनेमें यहाँके परिमाणके अनुसार लगभग सवा सौ वर्ष लग गये । तत्पश्चात् परमधाम-गमनसे पूर्व ही भगवान् श्रीकृष्णने व्रजमें आकर समस्त गोप-गोपियों-को तथा व्रजमण्डलको गोलोकधाममें भेज दिया । इतना सब देख चुकनेपर श्रीराधाजीका स्वप्न भङ्ग हुआ । उन्होंने देखा—'मेरी आँख लग गयी, इतनेमें ही क्षण-भरमें मैंने यह स्वप्न देख लिया था । वस्तुतः तो मैं प्रियतम श्रीकृष्णके पास ही हूँ । न कहीं गयी न आयी ।' श्रीकृष्ण तथा अन्य सबने भी लीलानुरोधसे यही अनुभव किया । यह एक प्रसङ्गकी कथा है । कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि श्रीराधाकृष्ण नित्य सनातन परस्पर-अभिन्न प्रिया-प्रियतम हैं । इनका स्वरूप अनिर्वचनीय है—अचिन्त्य है । इनकी परम कृपासे ही उसका किसी-किसीको कहीं कुछ आभास मिलता है । उनका आदर्श और महत्त्व यही जानते हैं । आपकी कृपासे पत्रका उत्तर लिखनेके बहाने प्रिया-प्रियतमकी पवित्र स्मृति हुई, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ । शेष भगवत्कृपा ।

(६)

परमार्थके लिये धर्मपर चलना उत्तम है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर नीचे लिखा जा रहा है—

(१) सच्चा संन्यासी ऐश्वर्य, सुख-भोग और कीर्तिकी कामना नहीं कर सकता । संन्यासीका अर्थ ही है—सब कुछका सब प्रकारसे त्याग करनेवाला । जिसके मनमें सुख-भोग और कीर्तिकी कामना है, वह सर्वत्यागी—यानी संन्यासी ही नहीं है । संन्यासी साधक यदि ऐसी

कामना करता है तो उसका पतन होता है । योगी सिद्धियोंके द्वारा सुख-भोग प्राप्त कर सकता है । परंतु वह परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें विघ्न ही है । परमात्माको प्राप्त योगीमें ऐसी इच्छा नहीं होती । भगवत्प्राप्त भक्त या योगी भगवान्के इच्छानुसार तो सब कुछ कर सकते हैं । पर वह करना भी न करना ही है ।

(२) परमार्थके लिये धर्मपथपर चलना और परमार्थके लिये ही योगसाधन करना सर्वोत्तम है ।

(३) एक ही पुरुष समस्त जगत्का सुधार कर सकता है यदि भगवान् उसे ऐसी शक्ति और मति दे दें ।

(४) भगवान् रामकी भाँति पापियोंको मारनेका अधिकार भगवान् रामको ही है । वे साक्षात् परमात्मा हैं । उनकी देखा-देखी किसीको मारनेकी बात सोचना भी पाप ही है । हमें तो यही भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये और यही भावना करनी चाहिये कि भगवान् सबको सदबुद्धि दें, सभी धर्मके पवित्र मार्गपर चले, सभी सबका हित करें, सभी सुखी हों, सभी कल्याणको प्राप्त हों और सभी भगवान्की कृपा प्राप्त करें । इसीमें अपना तथा सबका कल्याण है । शेष भगवत्कृपा ।

(७)

पतिके सामने पत्नीकी मृत्यु अच्छी क्यों ?

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । धन्यवाद । उत्तरमें निवेदन है कि पतिके सामने पत्नीकी मृत्युको अच्छा माना गया है; क्योंकि वह अन्तकालतक सौभाग्यवती रहती है । इसके विपरीत पत्नीके रहते पतिकी मृत्यु इसलिये बुरी मानी गयी है कि उसे दुःखदैव्यपूर्ण वैधव्य जीवन बिताना पड़ता है । पुरुषके सामने मरनेवाली पत्नी अपने शुभाशुभ कर्मानुसार अच्छी-बुरी गतिको प्राप्त होती है । इसी प्रकार पुरुष भी कर्मानुसार शुभाशुभ गतिका अधिकारी होता है ।

संख्या ३]

पति-पत्नीके एक दूसरेके शुभाशुभ कर्मका परिणाम भी दोनोंपर होता है। पतिव्रता पत्नी अपने सत्कर्मसे पतिको तार देती है और कुलत्र उसे नरकमें ढकेलनेमें सहायक बनती है। भगवान्का भक्त पुरुष अपने माता, पिता और पत्नी—तीनों कुलोंकी अनेकों पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है। शास्त्रदृष्टिसे पति-पत्नी एक प्राण दो देह माने गये हैं। दोनों एक दूसरेसे सम्बन्धित हैं। इसलिये उनका उत्तरदायित्व भी मिला हुआ-सा होता है। हाँ, जो पुरुष या स्त्री भक्ति-ज्ञानके प्रभावसे मुक्त हो गये हों, उनपर कोई दायित्व नहीं रहता। अथवा पति सदाचारी हों और पत्नीमें पापकी वृत्ति हो तथा पतिके समझाने-बुझाने एवं रोकनेपर भी वह पापपथसे न हटती हो, तब उसके पापका फल उस अकेलीको ही भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार पत्नीके समझाने-रोकने-पर पति उसकी राय न मानकर पापाचरणमें प्रवृत्त रहता है तो उसके फलका जिम्मेवार भी वह अकेला ही होता है। जहाँ पति-पत्नीमें एकमत हो, वहीं उनके कर्मोंका संयुक्त उत्तरदायित्व भी है। शेष भगवत्कृपा।

(८)

पतिका अहित हो, ऐसी आज्ञा न मानना धर्म है

प्रिय बहिन ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। आपने लिखा कि 'मेरे पतिदेव पूजा-पाठ नहीं करते। मांस-मछली खाते हैं, मुझको भी खानेके लिये आग्रह करते हैं, पूजा-पाठ भी छोड़नेके लिये कहते हैं। पतिकी आज्ञा मानना पत्नीका परम धर्म है, परंतु मैं मांस-मछली किसी प्रकार खा नहीं सकती और पूजा-पाठ छोड़ते भी मुझे दुःख होता है, अतएव मैं क्या करूँ।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि हिंदूशास्त्रके अनुसार पतिकी सेवा करना और पतिकी आज्ञा मानना स्त्रीके लिये परम धर्म है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं, और पत्नीको प्राणपणसे इस परमधर्मका पालन भी करना चाहिये। परंतु इससे भी श्रेष्ठ परम

धर्म है पतिका हित करना। जिसमें पतिका हित होता हो और पत्नीको नरकयन्त्रगाका भी भोग करना पड़ता हो, उस कार्यको भी पतिका हित चाहनेवाली पत्नी सहर्ष करती है, वह अपने दुःख-क्लेशकी परवा न करके पतिका हित देखती है। परंतु जिसमें पतिका अहित होता हो, वह कार्य पतिकी आज्ञा होनेपर भी नहीं करती और वस्तुतः करना भी नहीं चाहिये। लेकिन इसके लिये कलह-लड़ाई भी नहीं करनी चाहिये। मांस-मछली खाना निःसन्देह पाप है और पाप करने वाला, करानेवाला और पापका समर्थन करनेवाला—तीनों ही पापके भागी होते हैं, अतएव पति यदि मांस मछली खाने, इसी प्रकार (किसीका खून करने व्यभिचार करने आदि) की आज्ञा दें तो उस आज्ञाके न मानकर पतिको नव्रताके साथ समझाना चाहिये। उनका सारा दुःख अपने ऊपर ले लेनेमें आपत्ति नहीं और आज्ञा न माननेपर यदि वे दण्ड दें तो उसे भी सहर्ष सह लेना चाहिये; परंतु उनके आज्ञानुसार पापका नहीं करना चाहिये, न लड़ना ही चाहिये। भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे पतिदेवकी बुद्धिको ठीक कर दें। बुद्धि ठीक हो जायगी तो बुरा कर्म करने करानेकी इच्छाका ही उदय नहीं होगा।

रही पाठ-पूजाकी बात, सो इसमें भी वही बात है भगवान्की पाठ-पूजा सर्वोत्तम कार्य है और उसे किस भी हालतमें किसीके भी कहनेसे नहीं छोड़ना चाहिये परंतु यह कार्य मनसे भी हो सकता है। अतएव यदि पतिदेव बाहरी पूजा-पाठसे नाराज रहते हों तो हठ करके बाहरी पूजा-पाठ बंद कर देना चाहिये और मन ही-मन भगवान्का स्मरण, पूजन-ध्यान करना चाहिये मानसिक पूजा-पाठको कोई भी नहीं रोक सकता और अभ्यास हो जानेपर वह, चाहे जब हो सकत

। योग
तु वह
आत्माको
भक्त
सकते
और
है।
र का
दे दें।
रनेका
आत्मा
मोचना
करनी
गवान्
चले,
माणको
इसीमें
।
?
आपका
पतिके
क्योंकि
वेपरीत
गयी है
ता है।
भाशुभ
प्रकार
धिकारी

वेचार नहीं है। रातको बारह बजे मन-ही-मन प्रातः-
कालकी भावना करके भगवान्की प्रातःकालीन पूजा की
जा सकती है। मानसिक सामग्री भी सब जगह सब समय
पथेच्छ प्राप्त हो सकती है। स्थानका भी विचार नहीं, अपने
गोने-बैठनेके स्थानमें ही तीर्थ और मन्दिरकी भावनाकी
जा सकती है। अतएव आपको पूजा-पाठका मानसिक
अभ्यास आरम्भ कर देना चाहिये और सेवा-शुश्रूषा,
उदयवहार, विनय, नम्रता, सहिष्णुता आदिके द्वारा
पतिव्रतको प्रसन्न करके उनके विचार बदलनेका प्रयत्न
करना चाहिये। भगवान्की प्रार्थना तो सभी अवस्था
और सभी कार्योंमें लाभदायक है। उससे लोक-
परलोक दोनों ही बनते हैं। मन-ही-मन भगवान्के
नामका जप और भगवान्की विश्वासपूर्वक प्रार्थना करते
हुए भगवान्की सेवाके भावसे घरके कार्य और
पतिदेवकी सेवा करनी चाहिये। आप ऐसा करेंगी तो
आपकी सारी अड़चनें दूर होकर आप सहज ही
भगवान्की भक्ति प्राप्त कर सकती हैं और पतिदेव भी
आपके अनुकूल हो सकते हैं।

मेरी प्रार्थना उन पुरुषोंसे भी है जो अपनी पत्नियों-

पर अनुचित दबाव डालकर उन्हें कुकर्ममें प्रवृत्त कराना
चाहते हैं—भगवान्की पूजा-पाठ छुड़ाना, मद्य-मांस
मछलीके सेवन कराना, पर-पुरुषोंसे मिलाना, सिनेमाओं
में बिना इच्छा ले जाना आदि पाप हैं। और मेरे पास
ऐसे बहुतसे पत्र आते हैं, जिनसे पता लगता है कि
पतिगण पत्नियोंको इन सब कार्योंके लिये बाध्य करते
हैं और न करनेपर बहुत नाराज होते हैं। कुछ लोग
तो ऐसे भी हैं—यद्यपि बहुत थोड़े—जो अपनी स्त्रीके
व्यभिचारतकके लिये आदेश देते हैं। ऐसा उनको
नहीं करना चाहिये। वे स्वयं तो कुमार्गपर हैं ही। यदि
पत्नी सन्मार्गपर रहेगी तो वह कुलको तारनेमें भी समर्थ
हो सकती है। उसे भी बिगाड़ दिया तो फिर कौन
आशा ही नहीं रह जायगी। साथ ही, ऐसा करना
सती साध्वी धर्मशील पत्नियोंपर अत्याचार करना है और
अपने हाथों अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारना है। अतएव
इस पापसे पुरुषोंको बचना चाहिये और घरकी सती-
साध्वी धर्मशील पत्नियोंका समादर करना चाहिये तथा
भगवान्की बड़ी कृपा माननी चाहिये कि उन्हें ऐसी
धर्मपरायणा पत्नी प्राप्त हुई है। शेष भगवत्कृपा।

कटु-मिष्ट

आजतक प्यालेपर प्याले पिलाये—

सभी एक-से-एक बढ़कर कड़ुवे।

मैं भी पीता गया; तेरी मनचाही करता गया।

यका, खीझा, तड़पा पर किया वही, जो तूने चाहा।

याला मिट्टीका रहा या सोनेका, पर रहा कड़ुवा ही।

और यों मैं समझ बैठा—

विष-पान ही मेरा भाग्य है। तिसपर भी नहीं मरना;

गोते ही रहना—तड़पते ही रहना; फिर भी मुसकराये
शो जाना।

मैंने समझा—

विडम्बना ही मेरा भाग्य है। अभाव ही मेरा

बाहुल्य है। स्वयम्में रीता; दूसरोंके लिये भरा।

और निरन्तरकी एक-सी अनुभूतिने विषमताका
तीक्ष्णता हर ली।

एक अफीमची-सा मैं कड़ुवेपनका आदी हो गया।

तभी तूने फिर प्याला बढ़ाया।

ओंठ भीगे और मैं चौंक पड़ा।

यह मिठास कैसी ?

यह छल है या सान्त्वना ?

यह घाव सुहलाना है या और अधिक नोचनेका उपक्रम ?

क्या सचमुच कड़ुवे घूँटोंके साथ-साथ मीठे घूँट भी

मिलते रहेंगे—अबसे; आगे ? —बालकृष्ण बलदुव

भगवान्की कृपा

(लेखक—श्रीशम्भूनाथजी चतुर्वेदी, लखनऊ)

यह संसार एक विलक्षण मायाजाल है और हमको प्रायः सभी उस पक्षीके समान हैं जो चारेकी जालचमें जालके समीप जाता है और उसीमें फँस जाता है। फिर वह जितना ही उससे छूटनेका प्रयत्न करता है, उतना ही अधिकाधिक फँसता जाता है। भगवान् उसे कर्मानुसार घुमाया करते हैं, परंतु वे हैं बड़े दयालु। जो उनका भजन करते हैं उनको प्रेममार्गसे और जो मदान्ध होकर विपरीताचरण करते हैं उनको दण्ड देकर पुनः सन्मार्गपर ले आते हैं। इतना होनेपर भी मनुष्य भगवत्कृपाका आश्रय न लेकर दुःखमय मिथ्यासुख विषयोंको ही अपनाते हैं, और बार-बार एक सङ्कटसे दूसरे सङ्कटमें पड़ते रहते हैं। भगवान्की दयालुताकी ओर देखकर जो परम सुखरूप भगवान्का आश्रय लेते हैं, वे ही धन्यजीवन हैं।

कुछ समय पहलेकी बात है—काशीमें एक अत्यन्त निर्धन मनुष्य रहता था। उसके पास धन तो दूर रहा, खानेकको नहीं था। जो मिलता वही खा लेता, जहाँ जगह मिलती वहाँ सो रहता। पर उसका भगवान्की प्रार्थनामें विश्वास था। वह नित्य गङ्गास्नान करने जाता और गङ्गाकी धवल धाराको देखकर प्रमुदित होता। वहाँ लोगोंको दान-पुण्य करते देखता तब मन-ही-मन कहता—“भगवन् ! मेरे पास धन होता तो मैं भी इसी प्रकार दीन-दुखियोंकी सहायता करता।” दूसरे ही क्षण उसे क्षोभ होता देवपर कि ‘या तो मुझे इतना विशाल हृदय न देना था और यदि हृदय दिया तो उसके साथ धन भी देना था। जिससे वह अपनी अमिलाषाओंको पूर्ण कर सकता।’

अन्तमें करुणामय ईश्वरको उसपर दया आ गयी और उन्होंने उसकी मनोकामना पूर्ण की। एक दिन

जब कि वह गङ्गास्नान करके लौट रहा था तो उसे अपने सम्मुख कोई चमकती हुई वस्तु दिखलायी पड़ी उसने उसे उठा लिया। वह एक बहुमूल्य रत्न था उसकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। उसे विचार हुआ कि यह सब कृपालु ईश्वरकी ही कृपा है उसने अपने जीवनमें कभी ऐसा रत्न नहीं देखा था और न कभी स्वप्नमें भी उसे ऐसी कल्पना हुई थी कि उसे एकाएक ऐसा रत्न प्राप्त हो जायगा। वह ईश्वरकं धन्यवाद देता हुआ कृतज्ञहृदयसे चल दिया।

उसने रत्नको ले जाकर एक जौहरीको दिखलाया जौहरीकी आँखें रत्नकी चमकसे चौंधिया गयीं। उसने रत्न बेच देनेके लिये उससे कहा। उधर वह मनुष्य भी आवश्यकतामें था। दोनोंमें सौदा पट गया। और जौहरीने पाँच सौ रुपये उसके हाथमें दे दिये। उसने उन रुपयोंसे व्यापार करनेका विचार किया। एक छोटी-सी दुकान ले ली और व्यापार प्रारम्भ किया। भगवान्की कृपासे उसे व्यापारमें सफलता मिली और शनैः-शनैः वह उन्नति करने लगा। अब वह पहलेका निर्धन व्यक्ति न था। उसके पास एक बहुत बड़ी कोठ थी और वह अब सेठ घीसारामके नामसे समस्त काशीमें विख्यात था।

कुछ दिनों पश्चात् उसने अपना विवाह कर लिया विवाह बहुत धूम-धामसे हुआ। दिल खोलकर रुपय व्यय किया गया। ऐसा विवाह काशीमें बहुत दिनोंसे नहीं हुआ था। लोग दाँतोंतले अँगुली दबाते थे अब सेठजी सब प्रकारसे सुखी हो गये थे। उन्हें किसी बातका अभाव न था।

शनैः-शनैः उनके चार पुत्र उत्पन्न हुए। उन्हें सब

तरहसे सम्मान-सत्कार प्राप्त था।

अब सेठसाहबकी प्रसन्नताका ठिकाना न था । पर इस धनका मद उनमें आने लगा । आखिर वे उसके नशेमें इतने चूर हुए कि ईश्वरकी कृपाकी बात तो दूर, ईश्वरतकको बिल्कुल भूल गये । दिन-रात गुलछरें उड़ने लगे । प्रमादकी सरितामें बाढ़ आ गयी । सत्कर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं रह गया । साधु-संन्यासी या भक्तके नामसे ही उन्हें घृणा-सी हो गयी । कोई साधु या भिखारी आता तो उसे दरवाजे-पर फटकनेतक न दिया जाता । चौकीदारोंको यह आज्ञा थी कि वे किसी ऐसेको दरवाजेपर भी न आने दें ।

भगवान्ने देखा कि उनका भक्त पथभ्रष्ट होकर अब दिनोंदिन भोग-विलासके नरकमें निमग्न होता जाता है, तब उन्होंने उसकी आँखें खोलनी चाहीं । उसे एक बार सचेत करना चाहा और उसके सामनेसे अज्ञानका पर्दा हटाना चाहा ।

एक दिन सेठसाहबके यहाँ भगवान् एक साधुका रूप धरकर गये । दरवाजेपर पहुँचे तो उन्हें चौकीदारने डाँटा-फटकारा । साधुने कहा कि 'मैं सेठसाहबसे मिलना चाहता हूँ ।' इसपर दरवानने उन्हें गालियाँ दीं और धक्के देकर बाहर निकालना चाहा, पर साधुके तेजसे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा । अब साधु बिना किसी रोक-टोकके अंदर चले गये । वहाँ जाकर उसने देखा कि सेठसाहब पलंगपर पड़े हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं । साधुने सेठसे कहा—'भाई ! सीताराम !' यह सुन सेठसाहबने ऊपर आँख उठाकर देखा तो उनके सम्मुख एक साधु खड़े थे । सेठसाहब अपनी आँखें झल करके बोले—'तुम यहाँ कैसे चले आये ! सीताराम सीताराम चिल्लाकर मेरी नाकमें दम कर दी । जल्दी भाग चलो, नहीं तो अभी धक्के देकर निकलवा दूँगा ।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने चौकीदारको पुकारा; परंतु वह तो पहलेसे ही मूर्च्छित पड़ा था ।

जब साधुने सेठमें इतना अभिमान देखा और इस प्रकार तिरस्कार करते पाया, तब उन्होंने कहा—'अरे राम ! राम ! तुम्हें सीतारामके नामसे इतनी घृणा हो गयी है ? तो लो मैं स्वयं ही बाहर जाता हूँ ।' यों कहकर वे बाहर चले गये ।

दूसरे दिन सेठसाहब गङ्गास्नानको गये और वहाँ जाकर उन्होंने अपने वस्त्रादि उतार दिये तथा स्नान करने गये । इतनी देरमें भगवान् स्वयं ठीक उन्हीं सेठजीका रूप धारणकर आये और उन्होंने मोटर-डाइवरसे घर चलनेको कहा । डाइवरने पूछा—'सेठजी ! आज आप बहुत जल्दी स्नान कर आये ?' सेठजीने उत्तर दिया—'आज मुझे बहुत जल्दी हुंडीका भुगतान देना है । इसीलिये जल्दी चल रहा हूँ ।' ऐसा कहकर वे मोटरमें बैठ गये और थोड़ी ही देरमें घर आ पहुँचे ।

उनके पुत्रोंने देखा कि आज पिताजी बहुत शीघ्र लौट आये तो उन्होंने पूछा कि 'आज आप इतनी जल्दी कैसे लौट आये ?' सेठजीने कहा कि 'आज गङ्गाजी-पर एक ऐसा बहुरूपिया आया है जो न जाने कितने लोगोंको ठग चुका है । जब मैं पहुँचा, तब मैंने देखा कि वह बिल्कुल मेरे-जैसा ही रूप बनाये हुए है । मैं उसे देखकर आश्चर्यमें पड़ गया और मैंने यह विचार किया कि कहीं यह घर जाकर तुमलोगोंको ठग न ले । इसीलिये मैं शीघ्र चला आया ।' यह सुनकर उनके पुत्रोंने कहा—'पिताजी ! आपने बहुत अच्छा किया जो जल्दी लौट आये । नहीं तो, कहीं वह आकर हमें ठग ले जाता ।'

इधर जब सेठ घीसाराम गङ्गा-स्नान करके लौटे, तब देखा कि उनकी मोटर लापता है । उन्होंने चारों ओर नजर दौड़ायी किंतु उन्हें मोटर कहीं भी न दिखायी दी । तब उन्होंने यह विचार किया कि कदाचित् लड़कोंके स्कूलमें देर हो जानेके कारण डाइवर मोटर ले गया होगा । ऐसा विचारकर वे ताँगेमें बैठकर घर पहुँचे । वहाँ

तो लोगोंको पहलेसे ही ज्ञात था। चारों तरफ लोगोंने शोर मचाना प्रारम्भ किया कि 'देखो-देखो वह बहुरूपिया आ गया।' सेठसाहबके पुत्रोंने जूतोंसे उसके सिरकी खूब मरम्मत की। सेठजी रोने-चिठ्ठाने लगे और कहने लगे—'अरे ! मैं तुम्हारा पिता हूँ और तुमलोग मुझे जूतोंसे मार रहे हो।' यह सुनकर उनके लड़कोंने उनकी और भी पूजा की। लड़कोंने कहा कि 'हमारे पिताजी तो ऊपर बैठे हैं।' यह सुनकर तो सेठसाहब किर्कटव्यविमूढ़ हो गये। इतनेमें वे सेठरूपी भगवान् नीचे उतर आये। जब सेठने अपने ही समान दूसरे सेठको भी देखा, तब उनके होश-हवाश हवा हो गये !

अन्तमें उन्होंने न्यायाधीशके यहाँ जाकर यह प्रार्थना-पत्र भेजा कि एक ऐसा बहुरूपिया आया है जिसने उनकी-जैसी ही आकृति बनाकर न के लड़कोंको ठग लिया है और उनकी सम्पत्तिपर अधिकार कर लिया है। न्यायाधीशने यह सुना तो वे भी बड़े असमंजसमें पड़ गये। उन्होंने दोनोंको उपस्थित होनेकी आज्ञा दी।

जब दोनों उपस्थित हुए, तब न्यायाधीश भी चक्रमें पड़ गये। उन्होंने दोनोंकी आकृतिमें तनिक भी अन्तर न देखा। अन्तमें न्यायाधीशने कहा कि 'जो बहीखातेके सब हिसाबोंको बतला देगा, वही वास्तविक सेठ माना जायगा।' तब बहीखाते मँगवाये गये और दोनोंसे पूछा गया। सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ सेठरूपधारी भगवान्ने सब बातें ठीक-ठीक बतला दीं। सेठ धीसारामको सब बातोंकी रकमें याद नहीं थीं। वे एक आधी बात ही बतला सके। तब न्यायाधीशने कहा कि 'मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ कि तुमने बहुत सफल बहुरूपियेका रूप

धारण किया है। पर तुमने सेठ धीसारामके लड़कोंको ठगनेकी चेष्टा करके अपराध भी किया है, इसलिये मैं तुम्हें पुरस्कार और दण्ड दोनों दूँगा। दण्ड यह दूँगा कि तुम्हें सारे शहरमें काला मुख करके गदहेपर चढ़ाकर घुमाऊँगा और पुरस्कार यह दूँगा कि तुम्हें जेल नहीं भेजूँगा।' यह सुनकर सेठजीको बहुत दुःख हुआ; किंतु वे विवश थे, कुछ कह न सके।

दूसरे दिन सेठरूपधारी भगवान् पुनः गङ्गा-स्नान करने गये। वहाँ उन्होंने देखा कि सेठजी ठंडके मारे ठिठुरे जा रहे हैं। जब सेठजीने उनको देखा, तब उन्होंने भगवान्के चरणोंपर पड़कर बहुत प्रार्थना की, बहुत रोये-गिड़गिड़ाये। अब भगवान्को भी उनपर दया आ गयी। उन्होंने कहा कि 'जाओ, घर जाकर सुख भोगो। मुझे तुम्हारी सम्पत्ति और ऐश्वर्यसे कुछ प्रयोजन नहीं है, पर तुम्हें अपनी स्थितिको याद रखकर सदा विनयशील रहना चाहिये। धनके मदमें भगवान्को भूलना नहीं चाहिये। धन तो भगवान्का है, वह केवल जन-सेवाके लिये तुमको मिला है, उससे दुखी जनरूपी भगवान्की सेवा करो और संसारमें स्वयं वैसे ही निर्लिप्त रहो जैसे जलसे कमल रहता है। कभी ममता, मोह और अहंकार मत करना। और ईश्वरको कभी न भूलना।' यों कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

आज सेठ धीसाराम गङ्गा-स्नान करके घर पहुँचे तो उनका नशा उतर चुका था, अब वे बिल्कुल बदले हुए थे। उन्होंने भगवान्का एक मन्दिर बनवाया। अब सम्पत्तिका गरीबोंकी निष्काम सेवामें सदुपयोग होने लगा और वे अपना अधिकतर समय ईश्वर-आराधनामें ही बिताने लगे।

ईश्वर-पूजन

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः। संतोषं जनयेत् प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम् ॥

बुद्धिमान् मनुष्योंको चाहिये कि वह जिस किसी उत्तम प्रकारसे किसी भी प्राणीके सन्तोष उत्पन्न करे; यही ईश्वर-पूजन है।

दुर्भावपूर्ण भावनाओंको इस प्रकार जीत लीजिये

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)

‘जो व्यक्ति अपना सर्वस्व दूटनेवाले छः डाकुओंपर पहले विजय प्राप्त नहीं करते और समझते हैं कि हमने दस दिशाओंको जीत लिया है, वे मूर्ख हैं। वस्तुतः जिस ज्ञानी और जितेन्द्रिय महात्माको समस्त प्राणियोंके प्रति समता प्राप्त हो जाती है, उसीके अज्ञानजनित शत्रु मरते हैं। फिर उसके बाहरके शत्रु तो रहें ही कहाँसे!—प्रह्लाद

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—ये तन्मय कर दें कि हमारा सांस्कृतिक विकास ऊँचा हो, हम उच्च आध्यात्मिक विषयोंमें निरत रहें।

मनुष्यके छः भीतरी शत्रु हैं। दूसरे शब्दोंमें ये मनुष्यकी मौलिक कमजोरियाँ हैं। जब मनुष्य इन भावनाओंके बशमें होता है तब वह प्रत्यक्ष राक्षसतुल्य बन जाता है। उसकी विवेक-बुद्धि उत्तेजनासे आक्रान्त हो जाती है। इन मनोविकारोंके क्षणिक आवेशमें प्रायः लोग ऐसे मूर्खतापूर्ण जघन्य कार्य कर बैठते हैं, जिनके लिये उन्हें सदा आत्मग्लानिका अनुभव होता रहता है।

इन दुर्भावनाओंको जीतनेके लिये दृढ़ निश्चय, आत्मिकभाव तथा अभ्यासकी अतीव आवश्यकता होती है। जबतक हम इन्हें जीत नहीं लेते, तबतक आन्तरिक शान्ति और सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता। जिस व्यक्तिने जितने अनुपातमें मनोविकारोंका नियन्त्रण कर लिया है, वह उतने ही अंशोंमें विकसित-आत्मा है।

कामभावपर विजय

कामको जीतनेके लिये हमें उसके ठीक विरोधी भावको विकसित करनेकी आवश्यकता है। शास्त्रकारोंने इसके लिये हमें ‘मातृवत्परदारेषु’ का उपदेश दिया है। अर्थात् हमें चाहिये कि समस्त स्त्री-जातिको माताके रूपमें देखें, बरतें तथा तदनुकूल निज आचरण करें।

कामवासना अनेक व्यक्तियोंके अन्तर्मनमें प्रविष्ट हो जाती है। यह अतृप्ति भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर आचरणको दूषित करती है। कामवासनाको उच्च कलाओं, साहित्यके अध्ययन, मनन, पूजन, कीर्तन तथा स्वाध्यायमें परिवर्तित कर देना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि हम अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंको उच्च विषयोंके अध्ययन, ललित कलाओंके आचरणमें, ज्ञान

भ्रमण, प्राकृतिक दृश्योंका निरीक्षण, पुष्पोंके प्रति प्रेम, गोसेवा इत्यादिमें हम निम्न वासनाओंको विस्मृत कर सकते हैं। हमें चाहिये कि समाज-सेवाके किसी पुण्यकार्यको अपने जीवनका उद्देश्य बना लें और निरन्तर अपनी निम्न वृत्तियोंको उच्च उद्देश्योंमें विलीन करते रहें।

कामवासनाके दमनका मार्ग मानसिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे हानिकार बताया जाता है। पर ऊपर इसके उदात्तीकरण (Sublimation) का जो मार्ग निर्देश किया गया है, वह स्वास्थ्यकी दृष्टिसे हितकर है।

वासनाको उद्दीप्त करनेवाले सिनेमा, नाटक, गंदे गीत, गंदी पुस्तकें, अश्लील चित्र, स्त्रियोंका संसर्ग, गुप्त स्त्रीचिन्तन, वासना उत्पन्न करनेवाली कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास, गंदा साहित्य प्रत्यक्ष विषतुल्य है। इनसे सर्वथा सदा दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

वासना एक आँधी और तूफान है। इसके बशमें होनेसे मनुष्यकी शक्तिका हास होता है। मनकी सरल शान्तवृत्ति, जिसमें बुद्धि, विवेक, सद्विचार ठीक रहते हैं, मानसिक स्वास्थ्यके लिये उपकारी है।

क्रोधपर विजय

क्रोधको बशमें करनेका यह उपाय है कि उसे एक प्रकारका पागलपन (उत्तेजना) समझा जाय। जब हम क्रोधको आवेश समझते हैं, तब यह भी स्पष्ट है कि उस पागलपनमें कोई काम तुरंत कर बैठना भी भारी मूर्खता ही होगी। क्रोध जब शान्त हो जाता है तब विदित होता है कि हम क्या-क्या मूर्खतापूर्ण कार्य करने लगे थे। क्रोधको शान्ति, सौजन्य, सहानुभूति

प्रेम, उदारता इत्यादि उपकारी भावोंको विकसितकर परास्त करना चाहिये। शान्तिका विकास करनेके लिये मनुष्यको अन्तर्मनमेंसे विपरीत संघर्षपूर्ण विचार, ईर्ष्याकी भावनाएँ, दुश्चिन्ताएँ निकालकर मैत्रीभावकी वृद्धि करनी चाहिये। 'जगत्में सब हमारे मित्र हैं। हमारा किसीसे कोई विरोध नहीं है। हम सबसे प्रेम करते हैं।' इस भावनाकी वृद्धि करनेसे क्रोधकी उत्तेजना बिलुप्त हो जाती है।

लोभपर विजय

लोभको परास्त करनेका अस्त्र संतोषवृत्ति धारण करना है। शास्त्रकारोंने इस सम्बन्धमें जो सुझाव उपस्थित किया है वह है—'परद्रव्येषु लोषवत्' अर्थात् पराये धनको मिट्टीके समान समझना। हमें यह भलीभाँति मनमें सोच लेना चाहिये कि अन्याय और अधर्मका धन कभी नहीं टिकता। हरामका पैसा हराममें ही जाता है। जितने पैसेकी आपको अपनी शक्ति, समृद्धि, सादगी और सचाईसे रहनेके लिये आवश्यकता है, उसके अतिरिक्त केवल पूँजीपति बननेके लिये पैसा मत संग्रह कीजिये।

मोहका दमन

मोहका अर्थ है—जरा-जरा-सी वस्तुके लिये आसक्तिका भाव। मोहयुक्त व्यक्ति अपने फटे चियड़े, टूटे-छूटे बरतन, कूड़ा-करकट, व्यर्थकी अनुपयोगी वस्तुओं-तकसे अनुचित लगाव रखता है। इस वृत्तिको छोड़नेके लिये आवश्यक है कि मनुष्य शास्त्रोंका अध्ययनकर वैराग्यवृत्ति धारण करे।

तनिक विचार कीजिये, यदि आप क्षुद्र सांसारिक वस्तुओंके व्यर्थ मोहमें, सांसारिक ऐश्वर्य, सुख, वासनावृत्ति या लालचमें पड़े रहेंगे, तो किस प्रकार आत्म-नैसे दिव्य तत्त्वकी प्रतीति कर सकेंगे? धन, जन, मकान, आलीशान बाग, जमीन-जायदाद—प्रत्येक वस्तु आपसे दूर होनेवाली है। नश्वर संसारमें आपका किसीपर भी अधिकार नहीं हो सकता। आपका लगाव कुछ वस्तुओंसे अल्पकालके लिये हो गया है। पर संसारके

नश्वर पदार्थोंके मोहजालमें अपने उच्च आध्यात्मिक जीवनको विस्मृत करना भारी मूर्खता है।

संसारके बड़े-बड़े योगी, संन्यासी, विद्वानोंके विचारोंका सार तत्त्व यही है कि तृष्णाको छोड़ दिया जाय और वैराग्यद्वारा आत्मशक्तिका विकास किया जाय। जगत्के मोहजालमें अपने बहुमूल्य आध्यात्मिक जीवनको भूलना बड़ा अत्याचार करना है। हमें सच्ची शान्ति प्राप्त करनी है तो छोटी चीजोंको नीचे छोड़कर ऊपर उठना होगा। शान्तिका मूल्य है—मोहवृत्तिका परित्याग और आध्यात्मिक सत्व-सम्पत्तियोंको एकत्र करना।

मदको पछाड़ दीजिये

मद अर्थात् घमंडपर विजय प्राप्त करनेके लिये विनयको धारण करना चाहिये। घमंडमें क्या धरा है। बड़े-बड़े व्यक्तियोंका घमंड चूर्ण हो चुका है। धन, शक्ति, विद्या, सौन्दर्य इत्यादि प्रायः प्रत्येक क्षेत्रमें बड़े-बड़े व्यक्ति पड़े हैं। हम इन वस्तुओंका मद क्यों करें? ये अस्थायी हैं। धन आज आपके पास है तो कल किसी अन्यके पास। लक्ष्मीका तो स्वभाव ही चञ्चल है। शक्ति शरीरका एक गुण है, जब शरीरके विषयमें ही हमें पता नहीं, तो शक्तिके विषयमें कौन कह सकता है; रहे, न रहे। विद्याका मद विनाशकारी है। ऐसा व्यक्ति भविष्यमें अपनी बौद्धिक प्रगति नहीं कर पाता।

सौन्दर्यका मद अनेक अनर्थकारी बातोंको उत्पन्न करनेवाला शत्रु है। सुन्दर व्यक्ति बाहरसे बने-ठने चिकने-चुपड़े अवश्य रहते हैं, पर प्रायः देखा गया है कि उन्हें बुद्धि, विद्या या सांसारिक ज्ञानका विवेक नहीं होता। बड़ी-बड़ी प्रख्यात अभिनेत्रियाँ बाह्य दृष्टिसे मोहक होनेपर भी नैतिक दृष्टिसे सर्वथा निन्द्य होती हैं।

शक्तिका घमंड व्यर्थ है। संसारमें ऐसे-ऐसे शक्तिशाली विद्वान् पड़े हैं कि उनकी हम कोई बराबरी नहीं कर सकते। यदि हम शक्तिशाली हैं, तो हमारी शक्ति दूसरोंकी सेवा और सहायतामें ही लगानी चाहिये। हम दूसरोंको चिरन्तर अपने बढ़ाये, प्रोत्साहन प्रदान

करें; तभी हमारी शक्तिका कुछ मूल्य हो सकता है।

समता अर्थात् सबसे बराबरीका आत्मभाव रखना एक उत्तम आध्यात्मिक गुण है। उसके पालन करनेसे प्रेम उत्पन्न होता है। समता समस्त सिद्धियोंकी जननी है। जिसके हृदयमें सदा समता विराजती है, वही पुरुष सम्पूर्ण लोकोंमें श्रेष्ठ, योगियोंमें गणना करने योग्य और आदर्श होता है। जो सदा इसी प्रकारका व्यवहार करता है, वह अपनी अनेकों पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है। समताभावकी वृद्धिसे पुरुषमें सत्य, इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, धीरता, स्थिरता, आलस्यहीनता आदि गुणोंकी स्वाभाविक वृद्धि होती है। उसके देहके भीतर साक्षात् श्रीविष्णु विराजमान रहते हैं।

मत्सरको भी जीतना है

मत्सर या डाह सर्वथा त्याज्य है। इसकी अग्नि अंदर-ही-अंदर मनुष्यको दग्ध कर देती है। इसपर विजय प्राप्त करनेके लिये 'आदमी अपनी शक्ति एवं परिस्थितिके अनुसार उन्नति करता है'—इस भावके विकसित करनेकी आवश्यकता है। हमें दूसरेसे जलनेसे क्या लाभ प्राप्त हो सकता है। हम क्यों दूसरोंकी उन्नति, समृद्धि, सुख-सुविधा, आलीशान मकान, पोशाक या बौद्धिक उन्नति देखकर जलें?

चित्तमें मत्सर उत्पन्न करनेवाले विचार-तरङ्गोंकी गति वक्राकार होती है। द्वेषका प्रत्येक विचार ऐसे ही कलुषित भावोंका एक वातावरण अपने चरों ओर बनाता है। विचार-शास्त्रका यह नियम है कि मानव-मनसे कोई भी विचार-तरङ्ग निकलकर पूरा मण्डल (सरकिल) बनाकर पुनः उसी मनमें वापिस आकर प्रवेश कर जाती है। यदि आपके हृदयमें किसीके प्रति द्वेषका भाव है, तो उस घातक भावको तुरंत निकाल डालना चाहिये, अन्यथा वह आपको हानि पहुँचायेगा।

हमें चाहिये कि निज पुरुषार्थ भावको विकसित करें। हमारा मार्ग ईर्ष्या और कटुताका नहीं, गति, प्रगति, विकास, उत्तरोत्तर आगे बढ़ना होना चाहिये।

यदि हमारे अन्तःकरणमें किसीके लिये प्रेम, सहानुभूति, दया और आदरके भाव उत्पन्न होंगे, तो वे दूसरोंके हृदयसे टकराकर हमारे हृदयमें पुनः प्रवेश करेंगे। ऐसे शुभ विचारोंका भी एक मण्डल बन जायगा। यदि आध्यात्मिक दृष्टिसे देखा जाय, तो हृदयकी तिजोरीमें सामर्थ्य, समृद्धि, शान्तिके रत्न रखने चाहिये। ये रत्न अधिकाधिक अभिवृद्धिको प्राप्त होंगे। यदि आप दूसरोंमें इन्हीं शुभ-सात्त्विक भावोंका दर्शन करेंगे, तो आपके चरित्रमें भी इनका निश्चय ही विकास होगा।

श्रीरूपनारायणजी पाण्डेयने इन दुर्भावनाओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये बड़ी उपयोगी सम्मति प्रदान की है। आपका कथन है, 'कोई शायद यह कहे कि बुराई करनेवालेके साथ बुरा व्यवहार क्यों न किया जाय? मैं कडूंगा, यह तर्क ठीक नहीं है। यदि कोई हमारे साथ बुरा व्यवहार करता है, तो उसके दो ही कारण हो सकते हैं। या तो वह जाहिल, मूर्ख या गँवार है, या दुष्ट प्रकृतिका व्यक्ति है। यदि वह मूर्ख है, तो हम उसका अनुकरण करके क्यों मूर्ख बनें? उसका कार्य तो अपने पाँवमें कुल्हाड़ी मारनेके समान है। वह दूसरेकी राहमें काँटे बिछाकर अपना ही मार्ग कष्टकाकीर्ण करता है। अगर हम समझदार होकर उसके साथ 'जैसा-का-तैसा' की नीतिका व्यवहार करें, तो हमारे ज्ञान और उसकी मूर्खतामें क्या अन्तर रहा? इसलिये हमें अपने भाईकी मूर्खतापर ध्यान न देकर स्नेह और प्रेमका ही व्यवहार करना चाहिये। दो-चार बार प्रेम-प्रदर्शन करनेपर बहुत सम्भव है, वह अपनी मूर्खताका अनुभव कर लज्जित हो और हमारा हितैषी मित्र बन जाय, किंतु यदि हम उससे बदल लेनेपर उतर आयेंगे, तो सर्वप्रथम तो हमारी आत्माका पतन होगा। इसके अतिरिक्त बैर, विरोध तथा क्रोध बढ़ता रहेगा, जिससे ऐहिक अनर्थ भी थोड़ा न होगा। और यदि हमारा अपकार करनेवाला मनुष्य दुष्ट प्रकृतिका है, तब तो हमें कदापि उस-जैसा नहीं बनना चाहिये।'।

सत्सङ्ग-वाटिकाके विखरे सुमन

(सङ्कलनकर्ता—एक सत्सङ्गी)

१. जिस वस्तु, भाव, क्रिया आदिका चिन्तन जितना प्रगाढ़ होता है, उसी प्रकारका मनुष्य बन जाता है। कीट-भ्रमर-न्यायवादी बात है। मन जिस प्रकारकी चीजोंका बार-बार चिन्तन करता रहेगा, उसी प्रकारके हम बनते रहेंगे। भगवान्‌का चिन्तन होगा तो भगवान्‌के आकारकी वृत्ति बनेगी और विषयोंका होगा तो विषयाकार वृत्ति होगी।

२. संसारके हमें जितने हानि-लाभ प्राप्त होते हैं, उनमें प्रधान कारण है दैव-प्रारब्ध, हमारे पूर्वजन्मोंके कर्म ही हानि-लाभके रूपमें प्रकट होते हैं। हमारे कर्म ही बीज हैं। मूल वस्तु यही है, जिसके द्वारा हमें वह फल मिलता है। दूसरा तो मिट्टी-पानीकी भौति केवल निमित्त है। जो किसीके दुःखमें जान-बूझकर निमित्त बनता है, वह तो पाप करता है; पर जिसको दुःख प्राप्त होता है, उसको वह फल मिलता है उसके प्रारब्धवश ही।

३. क्रोध आनेवालेको जलाता है पहले, जिसपर आता है उसे जलाता है पीछे। आनेवालेको तो आते ही जलाने लगता है, सामनेवालेको तो क्रिया होनेपर जला सकता है।

४. भगवद्भक्तिका अर्थ है—विषयभोगोंसे पूर्ण विरक्ति और भगवान्‌में पूर्ण प्रीति। जब भगवान्‌में प्रेम होता है, तब विषय-प्रेम मर जाता है।

५. अच्छे कामके लिये भी बुरी चीजका (शरीर तथा मनसे) उपयोग न करे। और बुरी चीज वह है जो हमारे मनमें विकार उत्पन्न करे तथा भगवान्‌की विस्मृति करा दे।

६. प्रकृतिके सम्बन्धको सर्वथा छोड़कर जो भजन करता है, वही शृङ्गारका भजन कर सकता है। जबतक मन प्रकृतिमें स्थित है, तबतक भगवान्‌के शृङ्गारस्वरूपका भजन करना बड़े दुःसाहसका कार्य है।

७. स्वलन तो पद-पदपर अनायास हो सकता है। पर गिरकर उठनेमें ताकत लगानी पड़ती है। ऊँची छतपर चढ़नेमें तो और भी ताकत चाहिये। अतएव सावधानी रखनी चाहिये इस बातकी कि कहीं ऐसी फिसलानकी जगह न पहुँच जायँ कि जहाँ पैर फिसलकर गिरना सहज हो। जहाँ पैर फिसला और उठनेका मौका मिलनेसे पूर्व ही यदि मेलेकी भीड़की भाँति कहीं पीछेसे धक्का लग गया तो फिर सिवा कुचल-मरनेके और क्या होगा।

८. साधकका जीवन तो सावधानीका है। जो पद-पदपर ध्यान रखे कि कहीं गिर न जाऊँ; मेरी इन्द्रियाँ जहाँ जा रही हैं, वहाँसे वे क्या ला रही हैं। जरा-सा भी विकार लाती हों तो सावधान हो जाय।

९. जबतक बुराईमें बुराई दीखती है, तबतक तो बुराई होनेपर मनमें बड़ा दुःख होता है। पर जहाँ बुराईके प्रति मनसे बुरापन निकल जाता है, वहाँ बुराई होनेमें सुख होता है। फिर बुराई नहीं छूटती।

१०. भगवान्‌को भुलनेवाली तथा भोगोंमें लगानेवाली जो भी वस्तुएँ हैं—वे सभी त्याज्य हैं।

११. किसी कारणको लेकर, गुणको देखकर जो भक्ति होती है वह गुण न दीखनेपर, कारण मिट जानेपर मिट जाती है। जो भक्ति स्वाभाविक चित्तको भगवान्‌में लगाये रखती है, वह गुण नहीं देखती। भगवान्‌ क्या करेंगे—अपनायेंगे कि नहीं, इससे मतलब नहीं रहता। उसमें करना रहता है—केवल भजन।

१२. भजनमें रति वहीं है, जहाँ भजन ही साधन हो और भजन ही साध्य। ऐसे भजनके फल हैं भगवान्‌। भगवान्‌ ऐसे भजन करनेवालेको अपना लेते हैं। यदि कमी होती है, उसे पूरी कर देते हैं।

१३. भजनमें जिसकी लगन होती है, वह फिर दूसरी ओर नहीं ताकता। इससे अच्छा भी दूसरा कोई

काम हो सकता है, यह उसके मनमें नहीं आती। विवाह हो जानेपर पतिव्रता स्त्रीके मनमें यह कभी आती है क्या कि उसके पतिदेवसे अच्छा कोई दूसरा पुरुष संसारमें है ?

१४. लोक-निन्दा और लोक-वन्दनासे सच्चे भजनकर्ताको कुछ मतलब नहीं, वह तो अपने रामको अपने मनसे भजता है। उसके मनमें यह कभी कल्पना भी नहीं होती कि इसका फल मुझे अमुक मिलना चाहिये; क्योंकि वह भजनके लिये भजन करता है। भजन ही उसका प्राणाधार है; उसके बिना उसके प्राण छूटपटाने लगते हैं। वह भजन इसलिये करता है कि उससे रहा नहीं जाता भजन किये बिना। भजन छूटनेपर उसका चित्त अशान्त होता है। हमलोगोंका मन बहुत जगह लगा हुआ है। भजनमें लगता नहीं, इसीसे अशान्ति होती है। पर इसका मन अशान्त होता है भजन छूटनेपर।

१५. निरन्तर बाहर सैर करनेवाली इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करना है—उन्हें भगवान्की ओर लगाना है। काया, वाणी, मन सबसे भगवान्का भजन हो।

१६. अक्रोध क्षमा नहीं है; निष्क्रियताका नाम क्षमा नहीं है। बुरा हो जाय—चाहते हैं, पर असामर्थ्यके कारण कुछ कर नहीं सकते। यह भी क्षमा नहीं है। क्षमा वह है, जिसमें किसीके अपराधको अपनी क्षमाके द्वारा मिटा दिया जाय; भगवान्से चाहकर उसे क्षमा करवा दिया जाय।

१७. दया दूसरेके लिये नहीं होती। यह मनकी एक ऐसी वृत्ति है कि दूसरेके दुःखको देखकर उसे सहन नहीं कर सकती और उसको मिटानेका प्रयत्न किये बिना चैन नहीं लेने देती। दयालु पुरुष किसी-पर उपकार करता है तो वह उसके लिये नहीं करता, अपने लिये करता है। दूसरेके अभाव, कष्ट आदिको देखकर उसके मनमें ऐसी चीज उत्पन्न हो गयी है कि उसको मिटाने बिना वह शान्तिका अनुभव नहीं करता।

दया जिसके मनमें उत्पन्न होती है वह तभी तृप्त होता है जब दुःखमें पड़े हुए व्यक्तिके लिये कुछ कर देता है।

१८. दयालु पुरुष दया करते समय यह भूल जाता है कि यह मेरा मित्र है या वैरी, यह मेरा हित करनेवाला है या बुरा करनेवाला। वह तो सामनेवाले को दुःखमें देखकर उसकी रक्षा करनेमें सहज ही प्रवृत्त हो जाता है।

१९. सत्य वह है, जिससे किसी निर्दोष प्राणीका अहित न हो। जिस सत्यसे निर्दोष प्राणीका अहित होता हो वह सत्य, सत्य नहीं है; ऐसे प्रसंगमें सत्यको छिपा लेना भी सत्य है।

२०. नामसे पाप नाश होते हैं और पापनाशसे मनकी शुद्धि होती है। अतएव जीभसे नामका निरन्तर स्पर्श होता रहे तो बहुत अच्छा है। नाममें शक्ति है। जीभसे उस शक्तिका स्पर्श होता रहेगा तो वह शक्ति भीतर जायगी और पापको नष्ट कर देगी।

२१. मन बड़ा दुर्धर्म है, पर यदि ठीक-ठिकानेसे उसे लगाया जाय तो वह बड़ी सहायता करता है।

२२. असलमें शिक्षा होती है आचरणसे, उपदेश से नहीं। स्वयं अपने बनें तो जगत् बनेगा। जगत्को पापमुक्त करनेकी चिन्ता करें और अपनेको पापके मैदानमें खुला छोड़ दें। इससे जगत्का भला नहीं होगा। अपने अंदर हिंसा, द्वेष, वैर, ईर्ष्या, काम, क्रोध भरा है और उसी हृदयको लेकर जगत्को शुद्ध करनेके लिये हम जाते हैं तो जगत्को हम क्या देंगे ?—वही, जो हमारे अंदर है, उसकी भाषा चाहे कुछ भी हो। अतएव अपनेको शुभसे भरें, मङ्गलसे भरें और मङ्गलसे भरनेका उपाय है—इन्द्रियोंसे मङ्गलमय—भगवत्प्रीतिकर ही आचरण करें।

२३. इन्द्रियोंके द्वारा वर्तमान कार्य अच्छे करने चाहिये। पहलेका बुरा कार्य भी होगा तो वह वर्तमानके अच्छेसे दब जायगा। मनुष्यका मन नवीनको अधिक प्रहण करता है। प्याजके गोदाममें आगे कपूर, केसर

भर दिया जाय तो, उसमेंसे अधिकतर कपूर, केसरकी ही गन्ध आयेगी ।

२४. जिस विषयको इन्द्रियाँ मनको साथ लेकर ग्रहण करती हैं, वह विषय मनपर अङ्कित हो जाता है—यह नियम है । इसलिये निरन्तर यह चेष्टा रखनेकी आवश्यकता है कि इन्द्रियाँ कभी भी ऐसी चीज न ग्रहण करें, जो गंदी हो, जो आगे चलकर मनको खराब करनेवाली हो । संस्कारके रूपमें कभी बुरेका संग्रह न हो ।

२५. 'हम कैसे हैं'—इसका निर्णय किसी दूसरेके द्वारा नहीं हो सकता । हम चाहें दुनियाभरमें प्रशंसा प्राप्त कर लें, पर उससे अच्छे नहीं हो जायेंगे । संसार देखता है—हमारे बाहरी आचरणको, परंतु हम जानते हैं हमारे अंदर किस प्रकारकी चीजें भरी हैं । हमारा मन जैसा है, वैसे ही हम हैं ।

२६. हमारा मानस-जीवन अवनत है तो हम आस्तवमें गिरे हुए हैं, फिर चाहे लोगोंमें हम महात्मा कहलते हों । जिसका मन पवित्र है उसका सब पवित्र; जिसका मन अपवित्र, उसका सब अपवित्र । जिसका मन अपवित्र है, उसके बाहर इतना मल आ जाता है कि वह सहजमें धुलता नहीं । बाहरी मल यदि केवल बाहरसे आता है, मनका उसके साथ संसर्ग नहीं रहता तो वह झटसे उतर जाता है । परंतु जो गंदगी अंदरसे या अंदरके संसर्गसे आती है, वह बाहरके धोनेसे नहीं मिटती, उसे अंदरसे धोना होगा । केवल चर्मरोग लगानेकी दवासे मिट सकता है, पर भीतरी दोषसे होनेवाला कोढ़ बाहरी दवासे नहीं मिटता ।

२७. अपने दोषोंको सहन करना और दूसरेके दोषोंको देखना—ये दोनों ही वृत्तियाँ गिरानेवाली हैं । आस्तवमें अपने दोषोंका कभी सहन न हो ।

२८. जो साधक अपना भला चाहता है वह दूसरेकी बुराईको न देखे । अपनी बुराईको हजार आँखोंसे देखे; बड़ी सावधानीसे देखे, कहीं छिपी न रहे

जाय और जो दिखायी दे उसे तुरंत बड़े प्रयत्नसे निकाले । जैसे सौंपको घरसे तुरंत निकाल देना चाहते हैं, वैसे ही बुराईसे वचना चाहिये । ऐसा न करें तो बुराई समुद्रकी तरह बढ़ जायगी ।

२९. बुराईसे वचनेका कवच है—रामनाम । जिसने रामनामका आश्रय ले लिया, उसमें यह बहुत कम आती है । पूर्ण आश्रय कर लेनेपर तो बुराई आती ही नहीं ।

३०. भगवान्का आश्रय ही सब दुर्गुणोंसे वचनेका सर्वोत्तम उपाय है । और भी बहुत-से उपाय हैं । इच्छा-शक्तिमें बड़ा बल है, उससे बुराईसे वचना होता है । पर उसमें भगवान्का आश्रय समन्वित हो जाय तो दुर्गुणोंका प्रभाव तुरंत नष्ट हो जाता है ।

३१. सबसे बड़ा रोग है—मानसिक । शरीरके रोग न मिटें तो क्या, वे शरीरके साथ मिट जायेंगे । पर मानसिक रोग तो मरनेपर भी साथ जाते हैं । काम-क्रोध आदि जन्म-जन्मान्तरतक साथ लगे रहते हैं ।

३२. मनके रोग हमें तो रोगी बनाते ही हैं वे जगत्में भी रोग फैलाते हैं । मनके रोग बड़े भयानक होते हैं । जबतक मनमें रोग भरे हैं, तबतक बाहरके रोग आते ही रहेंगे ।

३३. जो साधन-भजन बला टालनेके भावसे होता है—किसी तरह पूरा करके छुड़ी करें—तो वह बिल्कुल न करनेसे तो जख्म अच्छा है; क्योंकि थोड़ी देरके लिये भी किसी प्रकारसे भी उसमें लगे तो उसके संस्कार तो पड़ेंगे ही—पर इससे आगे बढ़नेमें बड़ी देर होती है ।

३४. भजन व्यसन बन जाय । सारे व्यसन त्याग्य हैं, पर भगवान्में मन लगानेका व्यसन जितना गहरा हो, दृढ़ हो, उतना ही अच्छा है । 'क्या करें, कहाँसे मन हटता ही नहीं'—ऐसी स्थिति हो जाय ।

३५. जितने भी साधन हैं संसारकी वस्तु प्राप्त करनेके, उनमें भगवान्की सहायता मिलती है चाहने-पर; परंतु भगवान्के मार्गमें तो मार्ग ही भगवान्का ठहरा ।

अतएव उनके मार्गमें उनकी ओरसे जो व्यवस्थाएँ बनी हुई हैं वे स्वतः सहायक होती हैं; किन्तु आता है तो वह मिट जाता है। भगवान् के मार्गपर जो चढ़ जाता है, उसके सामने जितनी सुविधाएँ आनी चाहिये, उन्हें भगवान् देते हैं। यहाँतक कि उसके छोटे-छोटे काम भगवान् करने लगते हैं। भगवान् बड़े विचित्र दयालु हैं। जो कुछ भी कमी है, वह बस, हमारे विश्वासकी कमी है। जिस भक्तका भगवान् के साथ सम्बन्ध हो जाता है, उस भक्तके साथ भगवान् का कैसा विलक्षण व्यवहार होता है, इसे हम नहीं जानते; क्योंकि हमें उसका अनुभव नहीं है।

३६. भक्तके साथ भगवान् का जैसा सम्बन्ध है, वैसा किसीके साथ नहीं होता। गोपियोंने जिस सुखको प्राप्त किया, वह लक्ष्मीजीके भी भाग्यमें नहीं।

३७. ब्रजमें भगवान् हारे-ही-हारे। जब-जब कोई खेल होता तब-तब भगवान् सदा हारते ही। प्रेमीके सामने हारनेमें जो मजा है, वह जीतनेमें नहीं।

३८. भगवान् का हो जानेपर भगवान् किस प्रकारका भाव रखते हैं उसके प्रति, उसके साथ किस प्रकारका व्यवहार करते हैं इसका उसे ही पता होता है जो भगवान् का हो गया, जिसने भगवान् के प्रेमका रस चख लिया।

३९. जो जितना सरल होगा, वह उतना ही भगवान् को पानेका विशेष अधिकारी होगा। सरल हृदयमें ही विश्वास टिकता है।

४०. भगवान् को सर्वप्रिय कौन है ?—जो सरल हृदय है, जिसके मनमें नाना प्रकारके छल-कपट और कुतर्क नहीं बसते, जो सरलतासे भगवान् की बातोंमें विश्वास कर लेता है। भगवान् प्रतिध्वनिकी भाँति, जिसका हृदय जैसा होगा, उसके लिये वैसे ही हैं।

४१. स्वार्थ जितना ही संकुचित होता है, उतना ही वह गंदा होता है। जितना विस्तृत होता है, उतना ही वह पवित्र होता है। यदि हमारा 'स्व' सारे विश्वके साथ मिला हुआ हो तो सारे

विश्वमें हम अपने आपको व्याप्त समझें। जो स्वार्थ सब जगह फैला हुआ होता है, वह पवित्र हो जाता है; क्योंकि उसमें एक प्रवाह रहता है। प्रवाहका जल निर्मल होता है। एक छोटी नाली भी यदि बह रही हो तो थोड़ी देरमें उसका पानी निर्मल हो जायगा। पर यदि उस नालीको बंद कर दिया जाय तो उसमें कीड़े पड़ जायँगे। ऐसे ही जो स्वार्थ जितनी दूरतक प्रवाहित होता है, वह उतना ही पवित्र होता है..... जितना जितना स्वार्थका विस्तार है, उतना-उतना संकुचित स्वार्थका त्याग है। 'स्व' जगत्भरमें फैले—इसकी साधना है—अपने निजी स्वार्थको कम करना और दूसरेके स्वार्थको अपना स्वार्थ बना लेना। इसके लिये चाहिये प्रेम और त्याग। इस त्यागमें धनकी आवश्यकता नहीं।

४२. हमलोगोंकी दया व्यापारी-दया होती है। सहज दया एवं व्यापारी-दयामें बड़ा अन्तर है। दया स्वान्तःसुखाय होती है, दूसरेपर उपकार करनेके लिये नहीं। दूसरेके दुःखको देखकर मनमें एक ऐसा संताप उत्पन्न हो जाता है कि उसे दूर किये बिना रहा नहीं जाता। अपने संतापको दूर करनेके लिये ही दयालु पुरुष दया करता है, दूसरेपर उपकार या अहसान करनेके लिये नहीं। पर लेन-देनके लिये होनेवाली दयामें यह बात नहीं होती।

४३. मित्र कौन ?—सम्पत्तिमें भाग लेनेवाला नहीं, जो सम्पत्तिसे तो दूर भागे, पर विपत्तिमें सब हिस्सा बटावे, वही मित्र है।

४४. मनुष्यके जीवनका एक-एक क्षण बहुमूल्य है। प्रत्येक क्षण भगवान् की प्राप्तिमें हेतु बन सकता है, इसलिये जीवनका कोई भी क्षण प्रमादमें न करने योग्य कार्योंमें या व्यर्थमें कभी नहीं जाना चाहिये।..... भगवान् के स्मरणमें जो क्षण गया वह ठीक गया, स्मरण किये बिना गया वह व्यर्थ गया। पर उस क्षणमें हमसे बुरा काम हुआ—दूसरेका अहित हुआ तब तो उतने समयका अत्यन्त ही दुरुपयोग हुआ।

४५. इन्द्रियोंके विषयोंका भोग सभी करते हैं, पर मानव-जीवन इसके लिये नहीं है । दूसरी-दूसरी धीनियोंमें जो इन्द्रियाँ भोगोंमें लगी रहती हैं, वे ही इन्द्रियाँ मानव-शरीरमें भगवद्विषयमें लग जायँ । बुद्धिके द्वारा भगवान्की बात विचारी जाय, शरीरके द्वारा भगवान्का काम हो । भगवान्के सिवा और जो कुछ भी काम हो, वे छूट जायँ ।जो भगवान्का महत्त्व जानता है, जो अपने जीवनको भगवान्में लगाना चाहता है और लगाता है, उसके लिये भगवान्के कामको छोड़कर अपने लिये कोई काम रहता ही नहीं । वह खाता है पर स्वादके लिये नहीं, शौकीनीके लिये कपड़ा नहीं पहनता, आरामके लिये सोता नहीं । वह खाता है भगवान्के लिये, कपड़े पहनता है भगवान्के लिये, सोता है तो भगवान्के लिये । जो कुछ भी करता है, सब भगवान्के लिये ही ।

४६. भगवान्को भूलकर जो मनुष्य अनन्त कामनाओंसे ग्रस्त रहता है, वह पापसे कभी बच नहीं सकता । पापके होनेमें हेतु है—कामना; पापका जन्म होता है कामनासे और दुःख पापसे उत्पन्न होता है । अतएव कामनायुक्त प्राणी पाप-तापसे बच नहीं सकता—यह नियम है ।

४७. इन्द्रियोंको ऐसे प्रयत्नमें लगाये रहे कि पल-पलमें भगवान्का स्मरण हो । सारी इन्द्रियोंको भगवान्में लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये । मनुष्यकी मानवता इसीसे है कि वह जीवनके प्रधान कार्यमें लगे, और प्रधान कार्य है—भगवान्की प्रीति ।

४८. विपत्ति और सम्पत्ति भी यदि मनुष्यको उसके धर्ममें निर्वेद उत्पन्न करके भगवान्में लगा दे तो उसके लिये शुभ हैं । वह विपत्ति—विपत्ति नहीं जो भगवान्में लगा दे और वह सम्पत्ति—सम्पत्ति नहीं जो भगवान्को भुला दे ।

४९. भगवान्की विस्मृति अनन्त पापोंकी जड़ है ।

मन तो मरा नहीं; जिसने भगवान्को छोड़ा, उसने भगवान्के विरोधी विषयोंको पकड़ा । जहाँ मन भगवद्विषयोंका चिन्तन करता था, वहाँ अब लौकिक विषयोंका चिन्तन करने लगा । अतएव मनको निरन्तर भगवान्में लगाये रखनेमें सचेष्ट रहे ।भगवान्की विस्मृति करानेवाला जो सुख, अधिकार, पद, सम्पत्ति, परिवार है, वह सारा-का-सारा दुःख उत्पन्न करनेवाला है, दुःखकी जन्म-भूमि है ।

५०. जिस किसी उपायसे, घटनासे, संगसे भगवान्में मन लगे, वही हमारे लिये परम शुभ और आदरणीय है । भगवच्चरणोंमें प्रेम ही परम लाभ है—परम सौभाग्य, परम पुण्य है और भगवान्की विस्मृति, भगवान्के चरणोंको भुलाकर जगतके पदार्थोंकी स्मृति होना—यही सबसे बड़ी हानि है, सबसे बड़ा अभाग्य है ।

५१. विषयोंमें सुख है, मनका यह निश्चय ही सबसे बड़ी भ्रान्ति है और जबतक यह भ्रान्ति बनी है, तबतक हम दुःखोंसे, अशान्तिसे बच नहीं सकते ।

५२. आग जितनी बड़ी होगी, उसकी आँच उतनी अधिक होगी । इसी प्रकार भोग-कामना जिसकी जितनी कम है, उसको उतना कम जलना पड़ता है और जिसकी अधिक बढ़ी हुई है उसे अधिक जलना पड़ता है ।

५३. जीवनका परम लाभ है भगवान्का नित्यचिन्तन । यही मानव-जीवनकी सफलताका प्रत्यक्ष लक्षण है ।

५४. मुख्य चीज है—मनका भलापन । मनका भलापन है तो निर्व्यनता भी अच्छी है, परन्तु मनका भलापन न हो तो संसारके धन-बल कुछ भी कामके नहीं । वे मनुष्यको अधिक पापमें डालनेवाले होते हैं ।संसारके बल जितने ही अधिक हों किसीके पास, और मनमें सात्त्विकता हो नहीं, तो वे सारे बल उसे उतने ही गहरे पापमें गिरानेवाले होते हैं ।

शाकद्वीपीय ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें भ्रम-संशोधन

(लेखक—पं० श्रीरामकुमारजी शास्त्री व्याकरणाचार्य)

विगत वर्षके 'कल्याण' की ८ वीं तथा ९ वीं संख्याओंमें 'संस्कृतिकी जननी' शीर्षक एक धारावाहिक लेख छपा था, जिसके लेखक हैं—श्रीसुदर्शनसिंहजी । उसके उत्तरार्द्धमें पृष्ठ १३०८ पर जाति-सम्मिश्रणके प्रसङ्गमें शाकद्वीपी ब्राह्मणोंको, जिनका प्राचीन नाम शास्त्रोंमें 'मग' पाया जाता है, मिश्रित जाति बताया गया है । उनके इस कथनका आधार है 'वैदिक सम्पत्ति' नामक एक अर्वाचीन पुस्तक, जिसके रचयिता हैं—पं० श्रीरघुनन्दन शर्मा । उक्त पुस्तकमें साम्बपुराण तथा महाभारतके प्रमाण देते हुए यह सिद्ध किया गया है कि प्राचीन मग जाति मिश्रितजाति थी तथा वे लोग बाहरसे भारतमें आये थे । यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रमपूर्ण है । इस विषयमें अति संक्षेपसे शास्त्रोंका निचोड़ राठकोंके समक्ष दिया जा रहा है ।

हमारे शास्त्रोंमें पृथ्वीको 'सप्तद्वीपवती' कहा गया है । जम्बूद्वीप आदि सात द्वीपोंमें शाकद्वीपकी भी गणना की गयी है । महाभारत आदि ग्रन्थोंमें वर्णन आता है कि त्रेतायुगमें पुत्रेष्टि यज्ञ करानेके लिये महाराज दशरथने तथा द्वापरमें अपने औरस पुत्र जाम्बवतीनन्दन साम्बके कुष्ठरोगकी निवृत्तिके लिये शाकद्वीपसे मग जातिके ब्राह्मणोंको बुलाया था । मग जातिके ब्राह्मणोंके लिये 'भोजक', 'ऋतव्रत' तथा 'याजक' आदि शब्दोंका व्यवहार भी शास्त्रोंमें पाया जाता है । मूलतः शाकद्वीपनिवासी होनेके नाते इन्हें शाकद्वीपी कहते हैं । साम्बपुराण, अध्याय २५ में लिखा है—

अष्टादशकुलानीह मगानां वेदवादिनाम् ।

यास्यन्ति च त्वया सार्द्धं..... ।

सपुत्रदारसंयुक्ताः..... ॥

इससे सिद्ध होता है कि द्वापरमें सूर्याराधनके लिये मग जातिके १८ कुल—जो सभी वेदपाठी थे—स्त्री-पुत्रादिके साथ शाकद्वीपसे भारतमें आये । कुष्ठादि राजरोगोंकी निवृत्तिके लिये भगवान् सूर्यकी आराधना हमारे शास्त्रोंमें विशेष लाभदायक मानी गयी है । उसी ग्रन्थमें यह भी लिखा है कि शाकद्वीपमें ब्राह्मणादि चार वर्णोंको क्रमशः मग, मामग, मानस और मन्दग नामोंसे पुकारा जाता था—

मगाश्च मामगाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा ।

मगा ब्राह्मणभूयिष्ठा मामगाः क्षत्रियास्तथा ॥

वैश्यास्तु मानसा ज्ञेयाः शूद्रास्तेषां तु मन्दगाः ।

ओंकारके मकारसे सूर्यका बोध होता है और सूर्योपासक

होनेसे ही शाकद्वीपी ब्राह्मणोंकी 'मग' संज्ञा है । भगवान् सूर्यको नैवेद्य अर्पण करनेके कारण ये 'भोजक' कहलाते हैं और उन्हींका यजन-पूजन करनेसे वे 'याजक' कहलाये (सा० पु० अ० २७) । साम्बपुराणके अतिरिक्त वायुपुराण, विष्णुपुराण, महाभारत (भीष्म० अ० ११) तथा पद्मपुराण (स्वर्गखण्ड, अ० ९) में भी 'मगा ब्राह्मणभूयिष्ठा' आदि वचन मिलता है ।

स्वर्गाय महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीजीने अपने 'गणक-तरङ्गिणी' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि सूर्यसिद्धान्तारि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके रचयिता आचार्य वराहमिहिर—जो भगवान् सूर्यके अवतार माने जाते हैं—शाकद्वीपीय मग ही थे । श्रीजयसिंहकल्पद्रुमके पृष्ठ ८४६ में लिखा है—'संवत्सरान्ते मगान् द्विजान् पूजयेत्' अर्थात् संवत्सरके अन्तमें मगजातीय ब्राह्मणोंकी पूजा करे । गरुडसंहिताका वचन है—

सामगानां च विप्राणां शाकद्वीपनिवासिनाम् ।

दर्शनात्स्पर्शनात् सद्यः पापनाशो भवेद् ध्रुवम् ॥

अर्थात् सामगानपरायण शाकद्वीपी ब्राह्मणके दर्शन एवं स्पर्शमात्रसे पापोंका नाश होता है ।

इतना ही नहीं, चण्डेश्वरतन्त्रमें तो यहाँतक कहा है—

ब्राह्मणः परमः श्रेष्ठो ब्राह्मणानां तथा मगः ।

'ब्राह्मण सभी वर्णोंमें श्रेष्ठ है और ब्राह्मणोंमें मग जातिके ब्राह्मण और भी श्रेष्ठ हैं ।' लाट्यायन-सूत्रमें भी लिखा है—

दर्शनाच्छोकनाशः स्याच्छाकद्वीपनिवासिनाम् ।

अर्थात् शाकद्वीपी ब्राह्मणोंके दर्शनसे ही शोक दूर हो जाता है । श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५ अध्याय २० में शाकद्वीपी ब्राह्मणोंके लिये 'ऋतव्रत' शब्दका प्रयोग किया गया है तथा दशम स्कन्धके ६४ वें अध्यायमें प्रसिद्ध दानवीर राजा नृगके प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि उन्होंने गुणशीलवान् ऋतव्रत नामके ब्राह्मणोंको असंख्य गौओंका दान किया—'स्वलंकृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः ऋतव्रतेभ्यः'—इत्यादि शब्दकल्पद्रुम नामक बृहत्कोशमें भी 'शाक' एवं 'ब्राह्मण' शब्दोंके अन्तर्गत 'ऋतव्रत' शब्दको शाकद्वीपी ब्राह्मणका ही वाचक माना गया है ।

उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि शाकद्वीपी ब्राह्मणोंको जो 'मिश्रित जाति' कहा गया है, वा बिल्कुल निराधार भूल है एवं सर्वथा अमान्य है ।

‘कल्याण’ के ‘भक्त-चरिताङ्क’ में भक्तों के चरित लिखने का प्रयत्न करने तथा जनसाधारणों को उनके महान् पवित्र जीवनसे लाभ उठाने के लिये ही प्रकाशित किये गये हैं, किसी महापुरुष भक्त या सम्प्रदायका अपमान करने या किन्हींको दुःख पहुँचाने के लिये कदापि नहीं; यह बात विश्व पुरुष भलीभाँति जानते हैं। चरितों में चरितनायकों के सम्बन्ध में वे ही बातें लिखी गयी हैं जो किसी भी सूत्रसे जानी गयी हैं या चरितलेखक ने जैसे उनको लिख भेजा है। इनमें कहीं भूल रहना भी सम्भव है। ऐसी ही कुछ भूलों के लिये हमपर कृपा रखनेवाले महानुभावों ने हमें उपालम्ब दिये हैं। हम उनके उलाहनों को सिर-माथे स्वीकार करते हैं और उनको दुःख पहुँचा है, इसके लिये क्षमा चाहते हैं।

(१) गुरु श्रीनानकदेवजीको ‘भक्त’ लिखा गया, इससे हमारे माननीय निर्मले संतोंको बड़ा दुःख हुआ है। अवतक अन्यन्य बड़े-बड़े विद्वानोंका अनुसरण करते हुए हमलोग गुरु श्रीनानकदेवजीको महान् संत और भक्त ही मानते आये हैं। इसीसे उनको ‘भक्त’ लिखा गया और ‘भक्त-चरिताङ्क’ में उनका संक्षिप्त चरित भी दिया गया। यों तो सभी भगवान् के ही स्वरूप हैं, फिर भक्त और भगवान् में तो कोई भेद ही नहीं है और शिष्य या भक्तका अपने परम पूजनीय गुरुदेवको भगवान् मानना सर्वथा उचित ही है; पर दूसरे लोग उन्हें ‘महापुरुष’ भी मान सकते हैं। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णको करोड़ों हिंदू साक्षात् भगवान् मानते हैं परंतु हमारे सम्मान्य आर्यसमाजी भाई उन्हें महापुरुष बतलाते हैं, और इसके लिये उन भाइयोंपर कोई नाराज नहीं होता। न कोई मानापमानका ही प्रश्न उठता है। तथापि इस विषयमें हमें कोई भी विवाद नहीं करना है। और जब माननीय निर्मले संत महानुभाव हमारी भूल मानते हैं तो हम अपनी भूल स्वीकार करते हैं और उन्हें जो दुःख पहुँचा है उसके लिये हार्दिक खेद प्रकट करते हुए उनसे सविनय क्षमा चाहते हैं।

ऐसे और भी कई संतों के चरित हो सकते हैं जिनको भक्त कहा गया है; पर जिनको उनके सम्प्रदायमें भगवान् माना जाता है। हम उन सभी के लिये उन सभीसे (क्योंकि हम किन्हींको दुःख पहुँचाना नहीं चाहते अतएव) क्षमा चाहते हैं।

(२) आचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य के चरितमें छपा है कि “कृष्णप्रणामी या प्रणामी सम्प्रदायके आचार्य श्रीप्राणनाथजीकी जीवनीमें उनको हरिदासजीका शिष्य कहा गया है, इस प्रकार ‘कृष्ण-प्रणामी’ परम्परा भी निम्बार्क-सम्प्रदायकी हरिदासजीकी परम्पराकी ही शाखा है।” इसपर श्रीकृष्णप्रणामी-सम्प्रदायके संतोंको दुःख पहुँचा है और इसके विरोधमें उनके पत्र मिले हैं। हमें इस सम्बन्धमें कोई भी जानकारी नहीं है; श्रीवृन्दावनके निम्बार्क-सम्प्रदायके एक सज्जनने आचार्यका जीवन-चरित भेजा था, उसीके अनुसार उपर्युक्त प्रसङ्ग छपा गया था। यदि यह बात नहीं है तो हम इसके लिये खेद प्रकट करते हुए प्रणामी-सम्प्रदायसे क्षमा चाहते हैं।

(३) श्रीकेशव काश्मीरीजी भट्ट महाराजको श्रीचैतन्य महाप्रभुका शिष्य लिखा गया है। लेखकने यह बात ‘भक्त-चरितावली’ नामक पुस्तकके आधारपर लिखी थी। परंतु यह बात यदि ठीक नहीं है, तो हम खेद प्रकट करते हुए निम्बार्क-सम्प्रदायके महानुभावोंसे क्षमा चाहते हैं।

(४) श्रीडाकोरजीमें विराजित श्रीरणछोड़रायजीको द्वारिकासे डाकोर लानेवाले भक्तराजका नाम ‘रामदास’ नहीं, श्रीविजयसिंह या वोडाणाजी था ! एक सज्जनने इस भूल-सुधारके लिये अनुरोध किया है, इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

उपर्युक्त विषयमें अब और कोई लिखा-पढ़ी या प्रकाशन नहीं किया जायगा। सब महानुभाव कृपया क्षमा करें।

सम्पादक—‘कल्याण’

चेतावनी

औसर हाय्यौ रे, तैं हाय्यौ ।

मानुष-जनम पाइ नर बौरे, हरि कौ भजन बिसाय्यौ ॥
 रुधिर बूँद तैं साजि कियौ तन, सुंदर रूप सँवाय्यौ ।
 जठर अग्नि अंतर उर दाहत, जिहिं दस मास उबाय्यौ ॥
 जब तैं जनम लियौ जग भीतर, तब तैं तिहिं प्रतिपाय्यौ ।
 अंध, अचेत, मूढ़मति, बौरे, सो प्रभु क्यों न सँभाय्यौ ॥
 पहिरि पटम्बर, करि आडम्बर, यह तन झूठ सिगाय्यौ ।
 काम-क्रोध-मद-लोभ, तियारति, बहु बिधि काज बिगाय्यौ ॥
 मरन भूलि, जीवन थिर जान्यौ, बहु उद्यम जिय धाय्यौ ।
 सुत-दारा कौ मोह अँचै बिष, हरि-अमृत-फल डाय्यौ ॥
 झूठ-साँच करि माया जोरी, रचि-पचि भवन सँवाय्यौ ।
 काल-अवधि पूरन भई जा दिन, तनहूँ त्यागि सिधाय्यौ ॥
 प्रेत-प्रेत तेरौ नाम पय्यौ जब, जेंवरि बाँधि निकाय्यौ ।
 जिहिं सुत कै हित बिमुख गुबिन्दै, प्रथम तिहीं मुख जाय्यौ ॥
 भाई-बंधू कुटुंब-सहोदर, सब मिलि यहै बिचाय्यौ ।
 जैसे कर्म, लहौ फल तैसे, तिनुका तोरि उचाय्यौ ॥
 सतगुरु कौ उपदेस हृदय धरि, जिन भ्रम सकल निवाय्यौ ।
 हरि भजि, बिलंब छाँड़ि, 'सूरज' सठ, ऊँचै टेरि पुकाय्यौ ॥

—सूरदासजी



कल्याण

वर्ष २६

अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
 जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
 रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
 जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, अप्रैल सन् १९५२

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-कल्याण ('शिव')	१३८
२-मृत्युपर शोक नहीं ! [दो पत्र] (श्रीअरविन्द)	१३९
३-कुछ महत्त्वपूर्ण बातें (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१४०
४-आवत गोधन कौं अगुआये [कविता] (श्रीहरीशजी साहित्यालङ्कार)	१४५
५-मधु-ब्रह्म (श्रीवसन्तरावजी)	१४६
६-एकादशीव्रत-विज्ञान (पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)	१५४
७-'नमोऽकिञ्चनविप्ताय' (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	१५८
८-श्रीश्रीनामामृतलहरी [भगवन्नाम-माहात्म्य] (श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)	१६३
९-भगवान्को जगाओ (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)	१६७
१०-बोधमाला (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)	१६८
११-परब्रह्म श्रीरामजी (श्रीकुन्दनलालजी नन्हौरया)	१७२
१२-यज्ञोपवीत-तत्त्व (श्रीसूर्यनारायणजी शास्त्री, काव्यतीर्थ)	१७८
१३-ज्ञानतत्त्वान्वेषण (आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्० ए०)	१८३
१४-दाताकी जय हो ! [कहानी] (श्री 'चक्र')	१८६
१५-प्रार्थनासे रोगनाश (श्रीमती सी० ई० एच्०, रेव० एच्० जे० गालेण्ड)	१९१
१६-कामके पत्र	१९३
१७-भक्त-वाणी [कविता] (श्रीभगवतरसिकजी)	१०००

चित्र-सूची

तिरंगा

१-मैं दुहिहों मोहि दुहन सिखावहु	१३७
---------------------------------	-----

वार्षिक मूल्य } जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनंद भूमा जय जय ॥ { साधारण
 भारतमें ७॥) } जय-जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥ { भारतमें १॥
 विदेशमें १०) } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ { विदेशमें १॥
 (१५ शिल्लिङ्ग) }

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

॥
॥
॥

९५२

संख्या

९३८

९३९

९४०

९४५

९४६

९५४

९५८

९६३

९६७

९६८

९७२

९७८

९८३

९८६

९९१

९९३

२०००

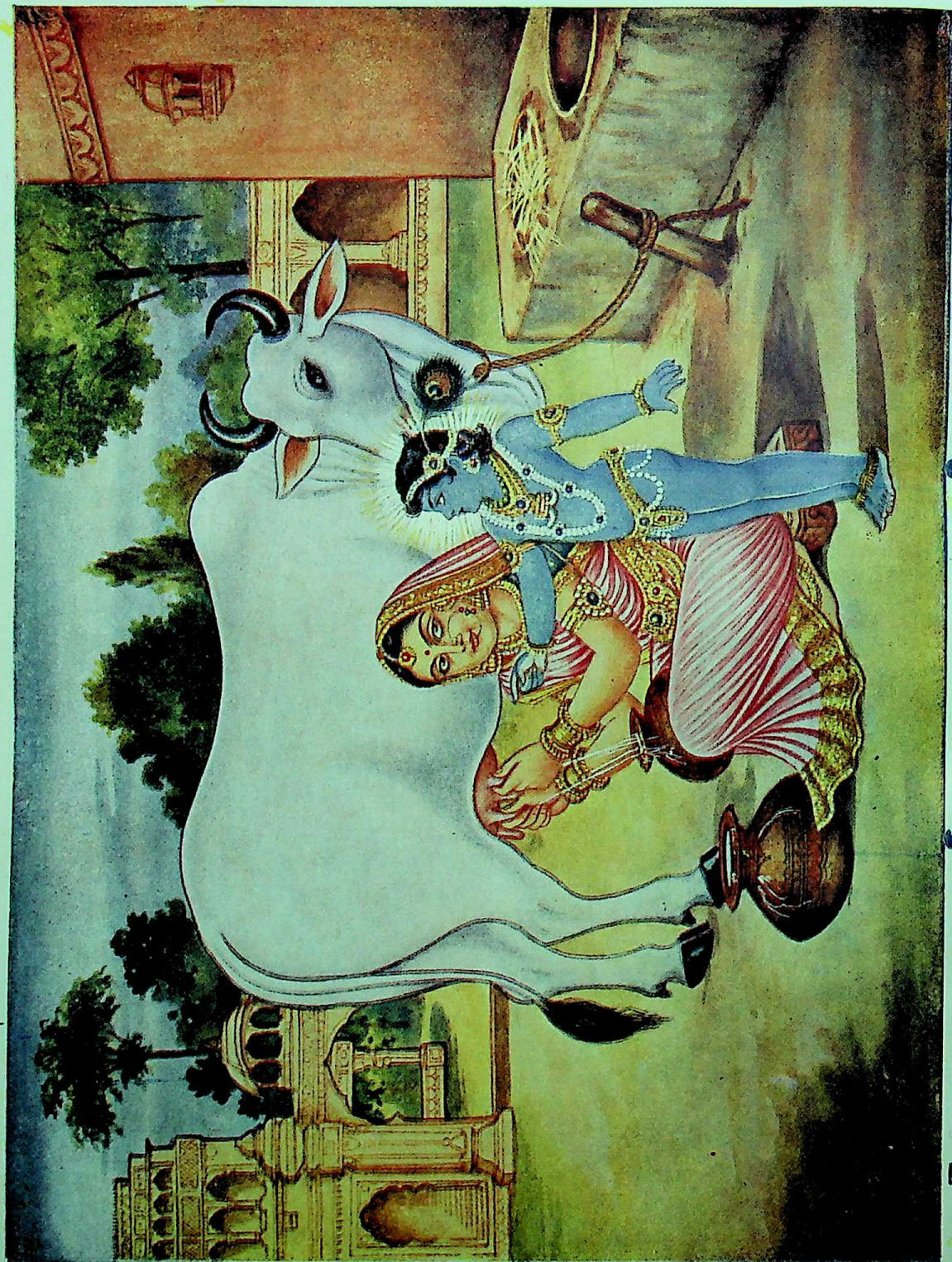
९३७

साधारण

भारतमें

विदेशमें

(१० पैस)



में दुहिहों मोहि दुहन सिखावहु

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुत्पद्यते । पूर्णस्य पूर्णमादानं पूर्णमेवावशिष्यते ॥



यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद् वर्षं तद्वच्छुभं नेत्रे चेतपसोर्जिते सुरुचिरे याम्यां हरिर्दृश्यते ।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

वर्ष २६ }

गोरखपुर, सौर वैशाख २००९, अप्रैल १९५२

{ संख्या ४
पूर्ण संख्या ३०५

मैं दुहिहों मोहि दुहन सिखावहु ।

कैसे गहत दोहनी घुटुवनि, कैसे बछरा थन लै लावहु ॥

कैसे लै नोई पग बाँधत, कैसे लै गैया अटकावहु ।

कैसे धार दूधकी बाजति, सोइ सोइ बिधि तुम मोहि बतावहु ॥

निपट भई अब साँझ कन्हैया, गैयनि पै कहुँ चोट लगावहु ।

सुर स्याम सौ कहत ग्वाल सब धेनु दुहन प्रातहि उठि आवहु ॥

—सूरदासजी

कल्याण

याद रक्खो—जैसे कृष्णपक्षके बाद शुक्लपक्ष आता है, रात्रिके बाद दिन आता है, आँधीका अँधेरा कटकर फिर उजाला होता है, वैसे ही दुःखका समय समाप्त होकर फिर सुखका समय आयेगा । निराशाकी रात्रि बीतकर फिर सुन्दर आशाका प्रभात होगा । किसी भी स्थितिमें घबराना नहीं चाहिये ।

याद रक्खो—वस्तुतः दुःख तुम्हारे मनकी कामना और आसक्तिको लेकर ही होता है, वैसे दुःख कोई वस्तु नहीं है, इसी प्रकार सांसारिक वस्तुओंसे प्राप्त होनेवाला सुख भी मोहजनित ही है । सांसारिक वस्तुओंसे सुखकी आशा है, इसीसे बार-बार दुःख आता है; क्योंकि उनमें सुख यथार्थमें है ही नहीं ।

याद रक्खो—सुखकी प्राप्ति कामनाकी पूर्तिसे नहीं होती; क्योंकि नयी-नयी कामनाएँ उत्पन्न होती ही रहती हैं । सर्वोत्तम सुख तो संतोषमें ही मिलता है ।

याद रक्खो—जिसकी आवश्यकताएँ कभी पूरी नहीं होतीं, उसकी गरीबी भी कभी नहीं मिटती, चाहे उसकी बाहरी स्थिति कैसी भी क्यों न हो जाय । और जबतक गरीबी है, तबतक दुःख रहेगा ही ।

याद रक्खो—नये-नये विशाल भोगोंको प्राप्त करने तथा भोगनेकी एवं विषयोंके संग्रह-परिग्रहकी इच्छा ही मनकी गरीबी है । यह गरीबी अज्ञानवश बुलायी हुई है, संतोषके द्वारा इसे निकालकर और फिर न बुलाकर मनुष्य सुखी हो सकता है ।

याद रक्खो—भोग-पदार्थोंका कहीं अन्त नहीं है; क्योंकि प्रकृतिका विस्तार अनन्त है । इसी प्रकार कामनाका भी अन्त नहीं है; क्योंकि ज्यों-ज्यों भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, त्यों-त्यों ईधन-धी डालनेपर अग्निके बढ़नेकी भाँति कामनाएँ भी बढ़ती रहती हैं ।

याद रक्खो—जिसको अपनी स्थितिमें सन्तोष है, वह दूसरोंके ऐश्वर्यकी उन्नति देखकर जलता नहीं, न कभी वैसा बननेकी आकांक्षा ही करता है । इसलिये वह सदा सुखी रहता है ।

याद रक्खो—जो मनुष्य तड़कीले, भड़कीले और खर्चीले जीवनमें गौरव मानता है और ऐसे जीवनको आवश्यक तथा सुखका कारण समझता है, वह वस्तुतः बेसमझ है और उसे कभी सुख नहीं मिल सकता ।

याद रक्खो—जो मनुष्य अपरिग्रही, त्यागी पुरुषोंके जीवनको आदर्श मानकर अपनी आवश्यकताओं और अभावोंको घटाकर सादा-सीधा बहुत कम खर्चका जीवन बना लेता है, वह सुखी रहता है । परन्तु जो मनुष्य संग्रही तथा भोगी मनुष्योंके जीवनको आदर्श मानकर अपनी आवश्यकताओं और अभावोंको बेहद बढ़ाकर भड़कीला और खर्चीला जीवन बना लेता है, उस प्रमादमें पड़े हुए मनुष्यको बार-बार नये-नये दुःखोंका शिकार होना पड़ता ही है ।

याद रक्खो—सच्चे संतोषके दर्शन होते हैं भगवान् पर और उनके मङ्गलमय विधानपर अडिग विश्वास करनेसे । जो मनुष्य भगवान्की मङ्गलमयी इच्छापर अपनेको छोड़ देता है और यथासाध्य भगवदाज्ञानुसार व्यवहार करता हुआ प्रत्येक स्थितिमें प्रसन्न रहता है, वह सदा ही अपनेको भगवान्के कृपापूर्ण कर-कमलकी छायामें पाता है । भगवान्की कृपासे उसके मनमें दुःखलेशका प्रवेश नहीं हो पाता ।

याद रक्खो—जो भगवान्की मङ्गलमयी कृपाका आश्रय ले लेता है, भगवान्की कृपाशक्ति उसको सदा ही परम सुखकी अनुभूति कराती रहती है । वस्तुतः सांसारिक वस्तु और स्थितिमें सुख है ही नहीं,

संख्या ४]

वह तो भ्रान्ति है और है आनेवाली विपरीत वस्तु और स्थितिकी दूसरी दिशा । इसे दुःखकी पूर्वभूमिका भी कह सकते हैं ।

याद रखो—भगवत्कृपाका पूर्ण आश्रय लेनेपर सारी प्रतिकूलताएँ सदाके लिये अनुकूलतामें परिणत हो जाती

हैं, इसलिये दुःख भी सदाके लिये मिट जाते हैं—फिर सबमें सब समय अनुकूलता और सुख ही प्राप्त होता है, वस्तुका स्वरूप चाहे कैसा भी रहे—

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई । गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥

‘शिव’

मृत्युपर शोक नहीं !

[दो पत्र]

(श्रीअरविन्द)

(१)

तुम्हारी स्त्रीकी दारुण मृत्युसे तुम्हें जो चोट अवश्य ही लगी होगी, उसे मैं भलीभाँति समझ सकता हूँ; किंतु तुम सत्यकी खोज कर रहे हो और साधक हो । तुम्हें अब अपने मनको मानव-प्राणीकी सामान्य प्रतिक्रियाओंसे ऊपर उठा लेना होगा और चीजोंको एक महत्तर और विशालतर प्रकाशमें देखना होगा ।

अपनी मृत स्त्रीको इस रूपमें देखो कि वह एक आत्मा थी जो कि अज्ञानके जीवनके विपर्ययोंके बीच प्रगति कर रही थी, जिस प्रकार इस पृथ्वीपर अन्य सब कोई कर रहे हैं । उस प्रगतिमें ऐसी घटनाएँ होती हैं, जो कि मनुष्यके मनको दुर्भाग्य प्रतीत होती हैं । और हमारी इस लोककी अनुभूतिके खल्प कालको (सदा ही खल्प), जिसे हम जीवन कहा करते हैं, अकालमें ही समाप्त कर देनेवाली आकस्मिक या अस्वाभाविक मृत्यु मनुष्यके मनके लिये विशेषतः दर्दनाक और दुर्भाग्यपूर्ण होती है । किंतु जो व्यक्ति बाहरी रूपके पीछे जा पहुँचता है, वह यह जानता है कि नाना अनुभवोंकी धाराएँ प्रत्येक आत्माको उस मोड़की ओर ले जा रही हैं जहाँसे वह अज्ञानसे निकलकर प्रकाशकी ओर जा सके । और आत्माकी प्रगतिमें जो कोई भी घटना होती

है, उसका इन अनुभवोंकी शृंखलामें अपना एक अर्थ होता है, एक आवश्यकता होती है और अपना एक स्थान रहता है । वह जानता है कि दैवी विधानमें जो कुछ भी होता है, वह उत्तम—भलेके लिये ही होता है, भले ही मनुष्यके मनको वह और कैसा ही क्यों न लगे ।

अपनी स्त्रीको ऐसे अन्तरात्माके रूपमें देखो, जो जीवनकी दो अवस्थाओंके बीचके व्यवधानको पार कर गया है । अपने विश्राम-स्थानकी ओर उसकी यात्रामें उसकी सहायता करो । यह सहायता तुम कर सकते हो शान्त—स्थिर विचारोंके द्वारा और भगवान्की सहायताकी पुकार कर-कर कि वह उसकी यात्रामें मदद दें । अत्यधिक समयतक किया गया शोक मृत व्यक्तिकी आत्माकी यात्रामें सहायता नहीं देता है, बल्कि उसमें देर लगाता है । अपनी हानिकी चिन्ता मत करो, केवल उसका (अपनी स्त्रीका) आध्यात्मिक मङ्गल ही सोचो ।

(२)

जो हुआ है उसे अब स्थिरता और शान्तिसे स्वीकार कर लेना है, यह जानकर कि उसकी आत्माकी प्रगति के लिये वही चीज नियत थी और उत्तम भी,

भले ही मानव-आँखोंके लिये उत्तम न हों; क्योंकि ये आँखें केवल वर्तमानको और बाहरी रूपको देखती हैं। आध्यात्मिक जिज्ञासुके लिये मृत्यु तो जीवनके एक रूपसे निकलकर दूसरे रूपमें जानेका रास्ता है, और कोई मरता नहीं है, केवल चला जाता है। इस घटना-

को इसी रूपमें देखो और प्राणिक शोककी सारी प्रतिक्रियाओंको झाड़ खड़े होओ, इन सबसे उसकी यात्रामें सहायता नहीं मिल सकती, और भगवान्‌के मार्गपर दृढ़तासे चलते रहो।

(प्रेषक श्रीश्यामसुन्दर छुनछुनवाला)

कुछ महत्वपूर्ण बातें

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सबके लिये

निम्नलिखित बातोंपर विचार करना चाहिये। ये बातें सर्वथा अमूल्य हैं, सबके हितकी हैं, लोक-परलोकमें हित करनेवाली और परमानन्द प्रदान करनेवाली हैं। इन्हें समझकर सदा काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

१. प्रत्येक भाई-बहिनको अपने कल्याणके लिये अधिक-से-अधिक संख्यामें निष्कामभाव और प्रेमपूर्वक भगवन्नामका जप करना चाहिये।

२. चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम-काज करते—सब समय भगवान्‌को याद रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। पहले आध-आध घंटेपर, फिर पंद्रह-पंद्रह मिनटके बाद निरन्तर भगवत्स्मरणका अभ्यास करना चाहिये। इसके लिये निम्नलिखित चार उपायोंसे बड़ी सहायता मिल सकती है—

(क) एकान्तमें बैठकर करुणाभाव और गद्गद-वाणीसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे परमेश्वर ! मैं हृदयसे आपकी स्मृति चाहता हूँ। आपकी स्मृति बनी रहनेके लिये आपसे विनय करता हूँ।' इस प्रकार नित्य अपने भावोंको भगवान्‌के आंगे रखकर कातर स्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये। एक मिनटकी सच्ची प्रार्थनासे भी बड़ा लाभ होता है।

(ख) नित्य-नियमपूर्वक सत्सङ्ग करे। यदि कभी सत्सङ्ग न मिले तो सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय एवं भगवद्-वाक्योंका मनन करे।

(ग) 'समय बड़ा मूल्यवान् है, मनुष्यका दुर्लभ शरीर सहज ही मिल गया, यह भगवान्‌की बड़ी दया है। अब भी यदि भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रह गये तो फिर हमारे समान कौन मूर्ख होगा। हमें अपने अमूल्य समयको अमूल्य काममें ही लगाना चाहिये। भगवान्‌की स्मृति ही अमूल्य है।' इस प्रकार विचार करना चाहिये।

(घ) 'पता नहीं कब मृत्यु आ जाय। वह प्रतिक्षण हमारे सामने मुँह बाये खड़ी है। मृत्युके समय हमारा मन भगवान्‌में लगा रहना आवश्यक है, क्योंकि अन्त समयके भावके अनुसार ही गति होती है। उस समय यदि भगवान्‌को छोड़कर अन्य कहीं मन रह गया तो वही गति होगी और मनुष्यजीवन निष्फल हो जायगा। अतः निरन्तर भजन होना चाहिये, नहीं तो बड़ा खतरा है।' इस प्रकार बराबर मृत्युको याद रखनेसे भी विषयोंसे वैराग्य होकर भगवद्-स्मृति बनी रह सकती है।

इसके अतिरिक्त निम्न उपायोंको काममें लानेसे भी भगवान्‌की स्मृतिमें मदद मिल सकती है—

नित्य प्रातः-सायं सब बड़ोंको प्रणाम करना

चाहिये । इसका अभ्यास यदि छूट गया हो तो फिरसे प्रारम्भ कर देना चाहिये । दिनमें कम-से-कम एक बार तो अवश्य ही बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये । ऐसा करनेसे घरमें कलह नहीं होता और आपसमें प्रेमकी वृद्धि होती है । यह बहुत बड़ा लाभ है । बड़ोंको प्रणाम करनेसे तप, तेज, आयु, कीर्ति, विनय, बल और धर्मकी वृद्धि एवं मरनेपर उत्तम गति मिलती है ।

प्रेम बहुत ही पवित्र वस्तु है और हृदयमें पवित्र भावोंको उत्पन्न करके उन्हें बढ़ानेवाला है, क्योंकि प्रेममें त्याग तथा हित भरा है । अतएव भगवान्‌से तथा भगवान्‌के नाते सबसे प्रेम करना चाहिये । इससे बहुत थोड़े समयमें भाव सुधर सकते हैं । भगवान् भी शीघ्र ही मिल सकते हैं । प्रेमके लिये महाराज दशरथजी और श्रीभरतजीका आदर्श सराहनीय है । भगवान् प्रेमीके अधीन हो जाते हैं । हमलोगोंको परस्परमें निरन्तर प्रेमकी वृद्धि करनी चाहिये । मेरे द्वारा दूसरेका हित कैसे हो, निरन्तर यही बात सोचते रहना चाहिये । अपने घरमें सबके साथ प्रेमकी नदी बहा देनी चाहिये । संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रेमके बदलेमें दी जा सके । तन, मन, धन प्रायः सभी इसपर निछावर किये जा सकते हैं । यथाशक्ति सबकी सेवा-सहायता करनी चाहिये । प्रेम बढ़ानेका सर्वोत्तम उपाय सेवा, हित और सरल तथा मधुर भाषण है । इसे हरेक भाई-बहिनको काममें लाना चाहिये, जिससे मरनेके बाद भी आपको लोग याद करते रहें । स्वयं भगवान्‌ने गीतामें डंकेकी चोट कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।

‘जो सब जीवोंके हितमें लगे रहते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं ।’ अपनेसे जो बड़े हैं, पूज्य हैं अथवा दुखी हैं, लाचार हैं, उनकी सेवाका और भी महत्त्व है । कोई भी मिल जाय, उसे देखकर ऐसा प्रसन्न होना

चाहिये, मानो भगवान् ही मिल गये । अपनी दृष्टिसे तो सबको भगवान्‌का स्वरूप समझना चाहिये । सबसे मीठा बोलना चाहिये । सेवा भी इसी भावसे करनी चाहिये । सेवाका इतना प्रभाव है कि अपनेसे द्वेष करनेवालेका हृदय भी पिघल जाता है और वह अनुकूल हो जाता है । इसलिये तन, मन, धनसे माता-पिता, गुरु, भाई, बहन, सास, ससुर, देवरानी, जेठानी, ननद आदि घरके लोगोंकी तथा यथासमय प्रत्येक जीवकी सेवा परम प्रसन्नतासे मनके साथ करनी चाहिये ।

सेवा करनेके दो साधन हैं—दाम (धन) और काम (कर्म) । हमें भगवान्‌ने रुपये, भोग-पदार्थ, ऐश्वर्य, जमीन आदि जो कुछ भी दिया है, वह यदि किसी प्रकार भी दूसरोंकी सेवामें लगे तो अपना अहोभाग्य समझना चाहिये । उसे दूसरोंको देकर बहुत प्रसन्न होना चाहिये । यह मानना चाहिये कि आज मैंने भगवान्‌की ही सेवा की है ।

इसी प्रकार शरीरसे करनेयोग्य सेवाका कोई काम सामने आ जाय तो उसे खूब सावधानीके साथ प्रसन्नचित्तसे करना चाहिये । सेवाके दोनों साधन—दाम और काम बड़े महत्त्वके हैं । एकमें धनका त्याग है, दूसरेमें शारीरिक परिश्रम है । अथवा यों कहें कि एकमें ममताका त्याग और दूसरेमें अहंताका त्याग है । अहंता और ममता ये दो बड़ी व्याधियाँ हैं । इनका त्याग होना बड़ा आवश्यक है । अतः कहीं भी सेवाका अवसर मिल जाय तो समझना चाहिये कि असली धन मिल गया । सेवाका काम मिल गया तो ऐसी प्रसन्नता होनी चाहिये कि मानो भगवान् ही मिल गये ।

अच्छे पुरुष अपने समयका एक-एक क्षण शुभ कर्ममें लगाते हैं । आयु समाप्त हो जाती है, पर काम समाप्त नहीं हो पाते । गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोगकी

बड़ी प्रशंसा की है। स्वार्थका त्याग ही कर्मयोगका मूल है। यही असली कर्मयोग है। इसका उलटा फल कभी नहीं होता और न इसका कभी नाश ही होता है। इसका थोड़ा-सा भी पालन किया जाय तो वह जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा सकता है—

नेहाभिकमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

खल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

(गीता २।४०)

‘इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं होता है, इसलिये इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी साधन, जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है।’ इसलिये इसको साक्षात् भगवान्की सेवा समझकर उसका तत्परताके साथ आदरपूर्वक सेवन करना चाहिये। सेवा रत्नोंकी ढेरी है, उसे छूटनेकी चीज समझकर खूब छूटना चाहिये। सेवाके कई स्वरूप हैं। दूसरोंको मान-बड़ाई देना भी सेवा ही है। कोई भी नीचा काम—जैसे पैर धुलवाना, हाथ धुलाना, जूँठी पतल उठाना, बर्तन धोना, झाड़ू देना आदि मिल जाय तथा किसी बीमारकी और दूसरेके बालकोंकी टट्टी-पेशाब उठानेका काम मिल जाय, तब तो भगवान्की और भी विशेष दया समझनी चाहिये। सेवाकार्यमें जितना उच्च भाव रक्खा जा सके, रखना चाहिये। सेवाकार्यको साक्षात् परमात्माकी सेवा समझी जाय तब तो कहना ही क्या है। इससे परमात्मा बहुत शीघ्र मिल सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति हमसे सेवा करावे तो हमें अपने-पर उसकी बड़ी दया समझनी चाहिये। समझना चाहिये कि वह हमें मुक्त करनेके लिये हमसे सेवा करवा रहा है। किसीने हमारी सेवा स्वीकार कर ली तो समझना चाहिये कि उसने हमारा उद्धार कर दिया। सेव्यको यदि ईश्वर मानकर सेवा की जाय, तब तो

बेड़ा पार है। ऐसे सेवकको साक्षात् नारायणकी सेवाका लाभ हो सकता है। यह बड़ा ऊँचा भाव है। सेवाको नारायणकी सेवा बनाना सेवकके हाथकी बात है। धन-ऐश्वर्यको अपने पूज्यजनों एवं दीन-दुखियोंकी सेवामें समर्पित कर देना चाहिये और यह समझना चाहिये कि साक्षात् नारायण ही उनके रूपमें प्रकट होकर मेरे धन और ऐश्वर्यको सेवाके रूपमें स्वीकार कर रहे हैं।

इससे दूसरा लाभ यह समझना चाहिये कि हमारी ममताका परित्याग हो रहा है। हमारा बोझ हल्का हो रहा है। तीसरा लाभ यह है कि धन और ऐश्वर्यके त्यागसे उदारता बढ़ती है, दया बढ़ती है। यह सद्गुण धन और ऐश्वर्यसे कहीं अधिक मूल्यवान् है। आज यदि हमारी मृत्यु हो जाय तो यह धन और ऐश्वर्य तो यहीं छूट जायँगे और फिर न जाने ये किस काममें लगेंगे। अतः इन्हें बटोरकर रखनेसे कोई लाभ नहीं। जीते-जी ही इनको भगवान्की सेवामें लगा देना चाहिये, नहीं तो ये उल्टे हमारे लिये बन्धनरूप भी हो जा सकते हैं। एक रहस्यकी बात और भी है। अन्त समयमें भगवान्को छोड़कर यदि इनमें हमारा मन रम गया तो हमें असंख्य जन्मोंके लिये भटकना पड़ेगा। परंतु यदि हमने इनको दूसरोंकी सेवामें लगा दिया और इनसे दूसरोंका उपकार हो गया तो समझ लीजिये कि हमारा बड़ा उपकार हो गया। भगवान्की चीजें भगवान्के काममें लग गयीं ऐसा समझकर निष्काम भावसे अपना सारा स्वत्व दूसरोंकी सेवामें अर्पित कर दिया जाय तो वह एक बड़ा भारी लाभ है। इसीके साथ अपने शरीरके द्वारा भी इसी भावसे सेवाकार्य सम्पादन करना चाहिये।

सबको अपने-अपने कर्तव्योंका पालन सावधानीके साथ भलीभाँति करना चाहिये। कोभके त्यागका विशेष

ध्यान रखना चाहिये । सत्यका सेवन तो पूर्णरूपसे करना ही चाहिये । प्राण भले ही जायँ, पर सत्य कभी न जाय, यह व्रत बना लेना चाहिये । मनुष्य यदि झूठ, कपट, पराया हक मारनेकी चेष्टाका तथा लोभका त्याग कर दे तो उसका बहुत शीघ्र सुधार हो सकता है । आसक्तिका त्याग एक प्रधान कर्तव्य है । विशेषकर कञ्चन, कामिनी और देहकी आसक्तिका त्याग बड़ी दृढ़ताके साथ करना चाहिये । काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रबल शत्रु हैं । साक्षात् नरकमें ले जानेवाले हैं (गीता १६।२०) । इसलिये इनसे विशेष सावधान रहना चाहिये । मान, बड़ाई अथवा प्रतिष्ठाकी इच्छा मृत्युकी इच्छाके समान है । अच्छे-अच्छे मनुष्य इसमें फँसकर साधनसे च्युत हो जाते हैं । यहाँ तक कि कञ्चन-कामिनीका त्याग करनेवाले भी इसमें फँसकर साधनमार्गसे रुक जाते हैं, आगे नहीं बढ़ पाते । इसलिये बड़ी सावधानीके साथ इनसे बचना चाहिये । वैराग्यका अभ्यास करना चाहिये । संयम मनुष्यकी रक्षा करनेके लिये सुदृढ़ किला है । उसे हरेक शत्रु नहीं तोड़ सकता । मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ही संयम है । इन्द्रियों और मनकी वृत्तियोंको वैराग्य, विवेक या भय दिखाकर सांसारिक भोग-पदार्थोंकी ओर जानेसे रोकना चाहिये । इसीसे रक्षा होती है ।

प्रत्येक मनुष्यको अधिकारानुसार स्वाध्याय करना चाहिये । गीता, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, वेद, उपनिषद् आदिका स्वाध्याय करना सबसे बढ़कर है । गीता, रामायण और महापुरुषोंके वचनोंमें तो सबका अधिकार है । वे सभीके लिये अत्यन्त लाभप्रद हैं । इसलिये प्रतिदिन नियमसे एवं प्रेमपूर्वक इनका स्वाध्याय करना चाहिये । प्यारे मनमोहनको कभी नहीं बिसारना चाहिये । हृदयसे सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते रहना चाहिये । प्राण चाहे छूट जायँ, पर प्राण-

प्रिय उन परमात्माकी स्मृति एक क्षणके लिये भी हृदयसे न हटे । नेत्र उन्हींको देखें, कान उन्हींकी चर्चा सुनें, वाणीसे उन्हींके गुणोंका कीर्तन और नामका जप हो, शरीरके द्वारा उन्हींको प्रणाम किया जाय और हाथ भी उन्हींकी सेवा-पूजामें सदा लगे रहें । अर्थात् शरीर एवं मनसहित सारी इन्द्रियाँ भगवान्में लग जायँ—ऐसी चेष्टा करनी चाहिये । यही सच्ची वीरता है ।

नीचे लिखी कुछ बातें विशेषरूपसे काममें लानी चाहिये—

१. भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम, तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावका श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक श्रवण, पठन, कथन तथा स्मरण करना चाहिये ।

२. घरमें भगवान्का श्रीविग्रह रखकर उनकी श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक पूजा-आरती करना, भोग लगाना, उनमें श्रद्धा-प्रेम बढ़ाना, उनकी स्तुति और प्रार्थना करनी चाहिये ।

३. भगवान्में निष्काम प्रेमभावसे दास्यभाव, मित्र-भाव, वात्सल्यभाव, माधुर्यभाव करना तथा उनको सर्वस्व समर्पण करना चाहिये और उनके विधानमें सदा सन्तुष्ट रहना तथा उनकी इच्छा एवं आज्ञानुसार चलना चाहिये ।

४. संसारसे वैराग्य और उपरति रखना तथा मन-इन्द्रियोंका संयम करना चाहिये ।

५. भगवान्से मिलनेकी तीव्र इच्छा करना तथा सत्सङ्ग और शास्त्रोंके अभ्यासकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये ।

६. बड़ोंकी सेवा, जीवोंपर दया और स्वार्थत्यागपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

७. प्रमाद, आलस्य, भोग और पापका सर्वथा

त्याग करके सद्गुण और सदाचारके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

८. काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और दुर्गुणों तथा दुर्विचारोंका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

९. एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये और समयका उत्तम-से-उत्तम कार्यमें सदुपयोग करना चाहिये ।

स्त्रियोंके लिये

उपर्युक्त बातें तो सबके लिये हैं । अब कुछ कामकी बातें स्त्रियोंके लिये विशेषरूपसे कहनी हैं । स्त्रियोंमें लड़ाई-झगड़े प्रायः अधिक होते हैं । इसका कारण उनकी नासमझी है । अतः घरमें प्रेम बढ़ानेके लिये उन्हें नम्रताके साथ सबसे हँसकर बोलना चाहिये । सबके साथ विनयपूर्वक हितभरा व्यवहार करना चाहिये । कोई क्रोध करे तब भी प्रसन्नतासे हँसकर मीठा ही उत्तर देना चाहिये । मधुर भाषण स्त्रियोंका प्रधान गुण है । जो स्त्री दूसरोंको मान-बड़ाई देती है, सबके साथ विनय और प्रेमका बर्ताव करती है, उसके अहंकार तथा कठोरताका नाश होता है और उसपर भगवान् शीघ्र प्रसन्न होते हैं । यदि किसी स्त्रीके कारण घरमें कलह हो गया तो उसे ऐसा मानना चाहिये कि मुझपर बड़ा कलंक लग गया । इस बातका ध्यान रखना चाहिये और दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि अपनेको तो संसारसे भलाई लेकर ही जाना है । भलाई तभी मिल सकती है, जब हमारा व्यवहार सबके अनुकूल, सबके लिये सुखकर और हितकर होगा । स्त्रियाँ प्रायः भोली होती हैं । उनकी गहनों-कपड़ोंमें, बाल-बच्चोंमें आसक्ति अधिक होती है । यह आसक्ति बन्धन है । मुक्तिमें बाधा डालनेवाली वस्तु है । इसे यथासाध्य हटाना चाहिये । दूसरेके हितके लिये उदारतापूर्वक इन वस्तुओंका त्याग करना चाहिये । स्त्री-पुरुष दोनोंके ही लिये पर-पुरुष अथवा पर-स्त्रीकी ओर देखना ब्रह्मचर्यमें

कलंक समझना चाहिये । विधवा स्त्रीको तो यह समझना चाहिये कि यदि किसी पुरुषकी ओर दृष्टि चली गयी तो उसके पवित्र धर्ममें बड़ी हानि हो गयी । स्त्रियाँ झाड़-फूँक और टोना आदिपर अधिक विश्वास करती हैं । ये सब बहम हैं । इनका त्याग कर देना चाहिये । कोई कामना करनी हो तो सीधे परमेश्वरसे करनी चाहिये । पतिव्रता स्त्री तो कभी कामना करती ही नहीं । यदि करती है तो अपने पतिसे ही करती है, किसी दूसरेसे नहीं । इसी प्रकार ईश्वरको छोड़कर किसी दूसरेसे कभी कामना न करे । सर्वोत्तम बात तो यह है कि किसीसे याचना करे ही नहीं । स्त्रियोंको चाहिये कि वे कल्पित-बनावटी देवी-देवताओंके स्थानोंमें भूलकर भी न जायँ । उनकी मान्यता छोड़कर शास्त्रीय देवी-देवताओंकी उपासना करनी चाहिये । पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री आदि देवियों; ब्रह्मा, शिव, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि देवताओं; व्यास, वशिष्ठ, नारद आदि ऋषि-महात्माओं और ध्रुव, प्रह्लाद, हनुमान् आदि महान् भक्तोंकी पूजा-उपासना करनी चाहिये । इनके अतिरिक्त किसी बहकावेमें पड़कर, अशास्त्रीय देवी-देवताओंकी पूजा कदापि नहीं करनी चाहिये । नहीं तो, धूर्तोंकी बन आती है । पीर-पैगम्बर आदिका पूजन तो बिल्कुल ही नहीं करना चाहिये । इनका पूजन-अर्चन करना और इनसे किसी कामनाकी सिद्धि चाहना पाप और मूर्खताके सिवा कुछ भी नहीं है । अतः इनका परित्याग करना चाहिये ।

प्रत्येक स्त्रीको अपना घर शुद्ध-पवित्र बनाना चाहिये । पूजा या तो भगवान्की करनी चाहिये या शास्त्रीय देवी-देवताओंकी । भगवान्के भक्त तो देवताओंसे भी बढ़कर होते हैं । स्त्रियोंको खान-पानमें भेद-भाव नहीं रखना चाहिये । जो स्त्री घरमें खान-पानके सम्बन्धमें भेद-बुद्धि रखती है, वह मरकर चमगादड़ होती है । ऐसी बात शास्त्रोंमें पायी जाती है ।

बालकोंके लिये

अब कुछ बालकोंके लाभकी बातें बतायी जाती हैं ।
ये बड़ोंके लिये भी कामकी हैं—

१. प्रत्येक बालकको इस बातकी चेष्टा करनी चाहिये कि उसके बलकी वृद्धि हो । इनमें चार बातें सहायक हैं—

(क) ब्रह्मचर्यका पालन । इससे शरीरके साथ-साथ आत्मबलकी भी वृद्धि होती है ।

(ख) नित्यप्रति नियमपूर्वक व्यायाम करना । इससे शरीरमें पौरुष एवं स्फूर्तिका उदय होता है ।

(ग) सायं-प्रातः उचित मात्रामें दुग्धपान करना । दुग्ध साक्षात् अमृत है, बल एवं बुद्धिकी वृद्धि करने-वाला है । इससे बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं है । व्यायाम करके दुग्ध पीनेसे विशेष लाभ होता है । दुग्धसे मन सात्त्विक बनता है ।

(घ) स्वास्थ्यकी बातोंपर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है ।

२. प्रत्येक बालकको अपनी बुद्धिका विकास करना चाहिये । विद्या और सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे बुद्धि बढ़ती है । वृद्ध और अच्छे पुरुषोंका संग, सेवन और उनको प्रणाम करनेसे विचार निर्मल होते हैं । उत्तम गुणोंका संग्रह, उत्तम आचरण एवं शौचाचारका पालन करनेसे भी बुद्धि पवित्र एवं तीक्ष्ण होती है ।

३. बालकोंको उच्छिष्ट नहीं खाना और खिलाना चाहिये । इससे उनकी बुद्धि तामसी हो जाती है ।

४. सब बालकोंको अपने हृदयमें भगवान्की भक्ति धारण करनी चाहिये । भगवद्भक्तिके सदाचार और सद्गुणोंकी वृद्धि अपने-आप होने लगती है । भगवद्-भक्ति उत्तम आचरणोंकी जननी है । भगवान्का भजन, ध्यान, पूजा, प्रार्थना, नमस्कार, स्तुति—ये सब भक्तिके अङ्ग हैं । बालकोंको इनपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

आवत गोधन कौं अगुआये

वेनु बजावत वै अथये दिन नाम लै धूमरि धौरि औ लाली ।
धेनु रँभात तजै चरिबो धुनि जोवत कान उठाय कै आली ॥
प्यावत तैं बछरा कौं कोऊ पय-आवति कान्ह जहाँ बनमाली ।
धावति कोऊ धरे मुख मैं तन भूलि चलावति है न जुगाली ॥१॥
वै पय फेन विमंडित आनन जान में आली बछा चलि आये ।
फैलि रहै इत तैं उत लौं सुनि तान अगा औ पछा चलि आये ॥
कालिंदी कूल कछारन तैं स-उमंग रँगिले रछा चलि आये ।
आछे सधे सब गोप कुमार वै संग के काछैं कछा चलि आयें ॥२॥
गोपद रेनु रमी अलकैं झलकैं मुकुटा बिच चंद सुहाये ।
पीत पटा कटि काछिनी मंजुल गुंजकी माल गरे विरमाये ॥
ग्वाल सखा मुसकात हँसात सबै नँदलालन संग लिवाये ।
वेनु बजावत गावत मोहन आवत गोधन कौं अगुआये ॥३॥

—हरीश साहित्यालङ्कार

मधु-ब्रह्म

(लेखक—श्रीवसन्तरावजी)

ब्रह्म मधु है—भगवान् मधुर हैं। सत्, चित्, सत्य, शिव और अस्ति, भाति—ऐसे भगवान् आनन्द, सुन्दर और प्रिय हैं। उनकी इस प्रियता, सुन्दरता और आनन्दताकी मधुरिमा सदा ही भागवत-संतोंकी भावग्राह्य रही है। भक्तोंका भगवान् के प्रति यह भाव परम प्रेमरूप अर्थात् भक्ति ही है—‘सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा’। भक्तिकी यही नारदोक्त व्याख्या है। इस प्रेमास्पद मधुताकी झलकका वैदिक ऋषियोंने साक्षात् किया और मधुताके प्रकाशक ब्रह्मका मधुरूपसे निर्देश किया।

पुष्पोंमें रस सर्वत्र व्याप्त रहता है। मधुमक्खियाँ पुष्पोंसे रस ग्रहणकर उसको एकत्र करके मधुका सञ्चय करती हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक सृष्टिका प्रत्येक घटक एक रसपूर्ण पुष्प है, जिसमें अखण्ड एकरसतासे भगवान् विद्यमान (अस्ति) और अभिव्यक्त (भाति) हैं। इन पुष्पोंका रसरूप माधुर्य भगवान् का ‘प्रियत्व’रूप है। व्यक्त सृष्टिके घटकोंमें सर्वत्र समदर्शन करके मधुरूप एक ही ब्रह्मरसका ग्रहण मधुमक्खीकी-सी तत्परतासे करनेवाले द्रष्टाओंने एकरसतासे व्याप्त सच्चिदानन्द परब्रह्मका आदेश ‘मधु’ इस यथार्थसुन्दर अभिधानसे किया है।

अश्विनौ और दधीचि

वेदोपनिषदोंमें ब्रह्मकी मधुताका प्रतिपादन करनेवाली यह ब्रह्मविद्या ‘मधुविद्या’के नामसे प्रसिद्ध है। अथर्वाके पुत्र महर्षि दधीचिने इस विद्याका उपदेश अश्विनीकुमारोंको किया था। ‘इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्।’ यह शतपथ ब्राह्मणका वचन है। दधीचि ऋषिने इस मधुको स्वयं देखकर—इसका साक्षात् करके उपदेश किया। बृहदारण्यकके द्वितीय अध्यायके पञ्चम ब्राह्मणमें मधु-विद्याका प्रवचन आया है। दधीचिने अश्विनौको जिस प्रकार मधु-विद्याका जो उपदेश किया, वह प्रसंग वहाँ वेद-ऋचाओंसे दर्शित किया गया है—

तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्न्यतुर्न वृष्टिम् ।
दध्यङ्ङ ह वा यन्मध्याथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र पदीमुवाच ॥
आथर्वणायाश्विना दधीचेऽऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् ।
स वां मधु प्र वोचदतायन् त्वाष्ट्रं यद्वत्तावपिकक्ष्यं वाम् ॥

(ऋ० १।११६।१२, ११७।२२)

‘हे नेता अश्विदेवो ! जो अथर्वापुत्र दधीचि ऋषि घोड़ेके सिरसे ही तुमको इस मधुविद्याका प्रवचन करते उपदेश किया, उस तुम दोनोंके भीषण कार्यको गरजने वाला मेघ जैसे वर्षाका आविष्कार करता है, वैसे ही जनसेव होनेके लिये मैं प्रकट करता हूँ ।’

‘हे शत्रुनाशक अश्विदेवो ! अथर्वाके पुत्र दधीचिके तुम दोनोंने घोड़ेका सिर लगा दिया। तब वह ऋषि यज्ञमार्ग का प्रचार करता हुआ तुम दोनोंको इस त्वाष्ट्र मधुविद्याका उपदेश कर चुका और वैसे ही उसने दूटे अवयवोंके जोड़नेकी (अपिकक्ष्य) विद्या तुमसे कही थी ।’

उपर्युक्त मन्त्रोंके द्रष्टा उशिकके पुत्र कक्षिवान् अश्विदेवोंको आवाहन करते हुए और भी कहा है—

उत स्या वां मधुमन्मक्षिकारपन्मदे
सोमस्यौशिजो हुवन्यति ।

युवं दधीचो मन आ विवासथोऽथा

शिरः प्रति वामश्व्यं वदत् ॥

(ऋ० १।११९, ९)

‘मधुमक्षिका जिस प्रकार मीठे स्वरसे गुञ्जन करती है उस तरह सोमके आनन्दमें उशिकका पुत्र (यह कक्षिवान्) तुम्हें आवाहन करता है। तुमने सेवा करके दधीचिका मन अपनी ओर आकर्षित किया, पश्चात् (तुम्हारे द्वारा लगाये हुए) अश्विशिरसे उसने तुम्हें मधुविद्याका उपदेश किया ।’

इन्द्रके आत्मकथनमें भी (ऋ० १०।४८।२) आया है कि ‘मैंने (इन्द्रने) अथर्वाके पुत्रका सिर काटा—‘अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणः ।’

उपर्युक्त ऋचाओंसे निर्दिष्ट घटनाका समग्र वर्णन यहाँ अप्रासङ्गिक नहीं होगा। वह गाथा इस प्रकार है—

अथर्वाके पुत्र दधीचिको इन्द्रने मधुविद्याका उपदेश देकर उनसे कहा था कि ‘यदि यह विद्या किसी दूसरेसे कहेंगे तो मैं आपका वध करूँगा।’ अश्विनीकुमारोंने दधीचिसे इस विद्याके सीखनेकी इच्छा की, तब ऋषिने उनसे इन्द्रका वृत्तान्त कहा। ऐसी स्थितिमें विद्योपदेश कैसे मिलता। इसपर अश्विनीकुमारोंने उपाय सोचा। वे ‘अपिकक्ष्य विद्या जानते थे (यह विद्या दधीचिने ही उनको सिखायी थी, ऐसा ऋचामें उल्लेख है); उस विद्यासे वे खण्डित अवयवोंको जोड़ सकते थे। उन्होंने दधीचिसे कहा कि ‘हम आपके

संख्या ४]

सिरको अलग उतारकर वहाँ घोड़ेका सिर लगा देंगे, तब आप उस अश्वशिरसे हमें उपदेश दीजियेगा। इन्द्रके द्वारा आपका वध किये जाने (उस सिरके काटे जाने) पर हम आपका असली सिर लगाकर आपको पुनः जीवित कर देंगे। फिर इन्द्र अपने प्रतिज्ञानुसार आपको नहीं मार सकेंगे। इसपर ऋषिके आज्ञा देनेपर अश्विनीकुमारोंने उनका सिर उतार लिया और वहाँ घोड़ेका सिर जोड़कर उसे जीवन-व्यापारके अनुकूल बना दिया। देववैद्य अश्विनौका यही उग्र दंस—भीषण कृत्य है। तब उस अश्वमुखसे दधीचि-ऋषिने प्रवचन करके अश्विनीकुमारोंको मधुविद्याका उपदेश किया। इन्द्रको यह ज्ञात होते ही उसने वज्र-प्रहारकर ऋषिका सिर—वह प्रवचन करनेवाला अश्वमुख काटकर गिरा दिया। ऐसा होते ही अश्विनीकुमारने ऋषिका असली सिर उनकी धड़पर लगाकर उन्हें पूर्ववत् ठीक कर दिया।*

इस गाथाका दूसरे प्रकारसे भी उल्लेख मिलता है। वह यों है—‘मधुविद्याके ग्रहणकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये दधीचिके आज्ञानुसार अश्विनीकुमार तप करने चले गये थे। इस अवसरमें एक बार इन्द्रने दधीचिके आश्रममें आकर उनसे ज्ञानोपदेशकी इच्छा प्रकट की। अधिकारी न होनेपर भी अतिथिरूपमें और देवराज होनेके नाते इन्द्रका सम्मान रखनेके लिये ऋषिने इन्द्रको उपदेश देना स्वीकार किया। ब्रह्मविद्याके प्रतिपादनमें दधीचिने भोगोंकी निन्दा और वैराग्यका प्रतिपादन करते हुए, विषयभोगकी दृष्टिसे इन्द्रकी कुत्सेसे तुलना की। इसपर इन्द्रने क्रोधित होकर इस प्रकारका उपदेश बंद करनेके लिये ऋषिसे कहा; और साथ ही यह भी कहा कि मेरे स्वर्गकी निन्दा करनेवाला

यह ज्ञान तुम अपने पास ही रहने दो; यदि और किसीसे कहोगे—मेरी निन्दा करोगे तो मैं तुम्हारा सिर काट डालूँगा।’ अस्तु।

इसके बाद इन्द्रवज्रसे कटा हुआ ऋषिका वह अश्वशिर अश्विनौने घोड़ेके धड़से जोड़कर उसे भी जीवित कर दिया।

बृहद्देवताके अनुसार दधीचिका अश्वशिर पर्वतोंमें शर्याणावती नामक सरोवरमें जा गिरा।*

इन्द्रने दधीचिसे यह विद्या कही थी (प्रादादिन्द्रोऽपि सुप्रीतः सुताय तदथर्वणः ।) बृहदारण्यकके दूसरे अध्यायके छठे ब्राह्मणमें (वंशब्राह्मणमें) ऐसा वंशक्रम है—अश्विनौ दधीचि आथर्वणात्, दध्यङ्-आथर्वणोऽथर्वणो दैवात्, अथर्वा दैवो मृत्योः प्राञ्चंसनात्। अर्थात् दध्यङ् आथर्वणके उपदेश गुरु दैव अथर्वा हैं। अस्तु।

मधु-विद्या

महर्षि दध्यङ्-आथर्वणके द्वारा अश्विनौको उपदेशकी हुई मधु-विद्या मधु-ब्राह्मणके नामसे बृहदारण्यकमें ग्रथित है। विस्तारभयकी दृष्टिसे हम यहाँ उसका आशयमात्र देते हैं। मधुब्राह्मणमें विविध अधिदैव तत्त्वोंको और उनके आध्यात्मिक पर्यायोंको लेकर एक ही विशिष्ट मकारका विवेचन किया है। जैसे—

‘यह पृथ्वी सब भूतोंका मधु, सब भूत इस पृथ्वीके मधु हैं। इस पृथ्वीमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है तथा अध्यात्ममें जो शरीर (शरीरविषयक) तेजोमय अमृतमय पुरुष है; वही यह आत्मा, यह अमृत, यह ब्रह्म और यही सब कुछ है।’

इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघगर्जना, आकाश, धर्म, सत्य, मनुष्य और जीव—ये सब भूतोंके मधु हैं और सब भूत इनके मधु

* दधीचश्च शिरश्चाश्व्यं कृतं वज्रेण वज्रिणा ।
पपात सरसो मध्ये पर्वते शर्याणावति ॥

(बृहद्देवता ३।२३)

दधीचिके इसी अश्वशिरकी हड्डियोंसे इन्द्रने ८१० वृत्रोंका वध किया ऐसा वेदमें उल्लेख है—

इन्द्रो दधीचो अस्मिर्वृत्राण्यप्रतिष्कृतः । जघान नवतीर्नव ॥

इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपभितम् । तदिदच्छर्याणावति ॥

(ऋ० १।८४।१३-१४)

* प्रादादिन्द्रोऽपि सुप्रीतः सुताय तदथर्वणः ।
स चामवदृषित्तेन ब्रह्मणा दीप्तिमत्तरः ॥
तमृषि निषिषेधेन्द्रो मेदं वोचः क्वचिन्मधु ।
न हि प्रोक्ते मधुन्यस्मिज्जीवन्तं त्वोत्सृजाम्यहम् ॥
तमृषि त्वश्विनौ देवौ विविक्ते मध्वयाचताम् ।
स च ताभ्यां तन्नाचष्टे यदुवाच शचीपतिः ॥
तमब्रूतां तु नासत्यावाश्येन शिरसा भवान् ।
मध्वाशु प्राह्यत्वावां मेन्द्रश्च त्वावधीत्ततः ॥
आश्वयेन शिरसा तौ तु दध्यङ्बाह्वयदश्विनौ ।
तदस्येन्द्रो हरद्वन्यत्यधत्तामस्य यच्छिरः ॥

हैं। इन ब्रह्माण्डस्थित आधिदैविक तत्त्वोंमें तथा इनके पर्यायरूप अध्यात्ममें जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही यह आत्मा, यह अमृत, यह ब्रह्म और यही सब कुछ है। पृथ्वीविषयक उपर्युक्त विवेचनके अनुसार ही इनकी व्यवस्था जाननी चाहिये, तथा पृथ्वीका व्यष्टिपर्याय शारीर पुरुष है, वैसे ही इन दैव तत्त्वोंके व्यष्टिपर्याय निम्नाङ्कित प्रकारसे हैं—

जलका रेतस्, अग्निका वाङ्मय, वायुका प्राण, सूर्यका चाक्षुष, दिशाओंका श्रोत्र प्रातिभुक्त (श्रोत्रविषयक), चन्द्रका मानस, विद्युत्का तैजस, मेघगर्जनाका शब्द सौवर (शब्द और स्वरविषयक), आकाशका हृद्याकाश (हृदयरूपी आकाश), धर्मका धर्म (धर्मविषयक), सत्यका सात्य (सत्यविषयक)—इनमें तथा मानुष और जीवमें यह आत्मा अमृत ब्रह्म और सर्वरूप तेजस्वी अमृत पुरुष है।

अधिदैव तत्त्व और समस्त भूतमात्र इस प्रकार मधु-विद्याके अनुसार एक दूसरेके मधु हैं। परस्परके सारभूत, निष्कर्ष हैं। अधिदैवस्थ व्यक्त भाव—पुरुषतेज और अमृतमय है। ब्रह्मकी ही तेजस्विता और अमृतता दैविक तत्त्वोंमें निहित (अस्ति) और प्रकट (भाति) है। ब्रह्माण्डस्थित अधिदैव भावका आनुप्रांगिक व्यष्टिगत अध्यात्मरूप भी तत्तद्भाववाच्य तेज और अमृत पुरुष है। सर्वव्यापक परमात्मामें ही व्यक्त सृष्टिके ये अध्यात्मादि तीनों घटक स्थित हैं (यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः) तथा परमात्मा इन अध्यात्मादि पुरोंमें व्याप्त और प्रकट 'पुरुष' है। ये पुरुष इन सबके अन्तर्यामी आत्मा हैं, अमृत हैं। याज्ञवल्क्यने जनकके यज्ञमें आरुणिके प्रश्नपर इसका प्रतिपादन किया है। 'जो पृथ्वीमें रहता है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है और पृथ्वीके अंदर रहकर जो उसको चलाता है वह आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।' * (बृहदारण्यक० ३।७।३)

यह अन्तर्यामी अमृत आत्मा जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौः, आदित्य, दिशा, चन्द्र-तारका, आकाश, तम, तेज, सब भूत, प्राण, वाचा, चक्षुः, श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान, रेत—इनमें रहकर इनको चलाता है, ये सब आत्माके शरीर

* यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः ॥

इसी प्रकारका समस्त विवेचन होनेसे उसे उपनिषद्में देखनेके लिये पाठकोंसे प्रार्थना है।

हैं; किंतु ये उसको नहीं जानते। यहाँ पृथ्वीसे तेजतक आधिदैविक तत्त्व, समस्त भूतमात्र और प्राणसे रेततक आध्यात्मिक तत्त्व—तीनोंको लिया गया है। (बृहदारण्यक० अध्याय ३, अष्टम ब्राह्मण)

इस प्रकार ब्रह्माण्डमें आधिदैविक और पिण्डमें आधिदैविकके पर्यायरूप आध्यात्मिक दृष्टिसे लक्षित नामोंसे वाच्य अनेकविधतासे प्रकट एक ही यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यह अस्तित्वदर्शक अहंपदवाच्य—आत्मा, अविनाशी, शाश्वतरूप, अमृत, सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापक, अक्षरभाव ब्रह्म और 'यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वः सर्वतश्च यः। यश्च सर्वमयो नित्यम्'—सर्वात्मा भगवान् हैं जो मधुशरीरी पुरुष हैं।

सर्वाणि भूतानि—'सब भूत' पद यहाँ (मधुब्राह्मण तथा अन्तर्यामिब्राह्मणमें) 'इन्द्रियोंके विषय' के अर्थमें संगत होता है। केवल पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) ऐसा अर्थ यहाँ नहीं होगा, इसलिये कि त्रिगुणात्मिका और पञ्चतत्त्वात्मिका ऐसी अष्टधा प्रकृतिके ही समस्त चराचर घटक हैं तथा इन पृथ्वी-जल-तेज-दि-पाँचोंको सूर्य, बिजली, दिशा आदिकी श्रेणीमें लेकर आधिदैविकतासे इनका विवेचन किया गया है। 'भूत'का दूसरा प्रचलित अर्थ 'प्राणी' लेनेपर समस्त जीवसृष्टिका ग्रहण होता है। इन्द्रियोंमें प्राण व्याप्त होकर उनको अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त करनेवाला है; इन्द्रियोंके द्वारा प्राण ही कार्य करता है इसलिये इन्द्रियोंको प्राण ही कहा गया है *। इन प्राणोंके आश्रय देहको धारण करनेवाले अर्थात् प्राणी, इनका समुच्चयसे निष्कर्षरूप, आधिदैविक तत्त्वोंका प्रत्येक अंश है; जो प्रत्येक इन्द्रियरूपी प्राणका अधिष्ठान है। जैसे समस्त व्यष्टि-चक्षुओंका अधिदैव (समष्टिरूप) सूर्य, सब व्यष्टि-मनोंका चन्द्र, सब व्यष्टि-प्राणोंका वायु इत्यादि। इसके अतिरिक्त, इन्द्रियोंके कार्य विषय यह 'सब भूत'का अर्थ होता है। यद्यपि ये विषय तथा इनके† एकायनरूप इन्द्रिय दोनों ही क्षर हैं, तो भी 'इन्द्रिय-विषय' अर्थ क्रमके

* 'ते हे मे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमानाः' इत्यादि, और आगे 'अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्—हैवेमान्प्राणान्संवर्ह—' (बृहदारण्यक० ६।१।७, १३)

† 'स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेव सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमेव सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेव सर्वेषां रसानां जिह्वेकायनमेव'—इत्यादि। (बृहदारण्यक० २।४।११)

अनुकूल जान पड़ता है । अधिदैव तत्त्व, उनसे प्रकाशित और इन्द्रियोंद्वारा करणीय विषय अर्थात् अधिभूत तथा अधिदैवके व्यष्टिपर्याय विषयोंके करणरूप अध्यात्म तत्त्वोंका क्रम इस प्रकार है—

अधिदैव	अधिभूत	अध्यात्म
आदित्य	द्रष्टव्य	चक्षु
दिशा	श्रोतव्य	श्रोत्र
पृथिवी	घ्रातव्य	नासा
वरुण	रसयितव्य	जिह्वा
वायु	स्पर्शयितव्य	त्वचा
अग्नि	वक्तव्य	वाचा
इन्द्र	आदातव्य	हस्त
विष्णु	गन्तव्य	पाद
मृत्यु	विसर्जयितव्य	पायु
प्रजापति	आनन्दयितव्य	उपस्थ
चन्द्रमा	मन्तव्य	मन
ब्रह्मा	बोद्धव्य	बुद्धि
क्षेत्रज्ञ	चेतयितव्य	चित्त
रुद्र	अहंकर्तव्य	अहंकार

मधुब्राह्मणमें इन्हीं तीन भावोंको लक्ष्य करके उनकी मधुता और उनमेंकी तेजोऽमृत पुरुषताका प्रतिपादन किया गया है ।

समस्त आधिदैविक भावों और उनके आध्यात्मिक पर्यायोंमें जो प्रकाश्य—ग्राह्य सम्बन्धसे अनुलक्षित है, वह आधिभौतिक भाव है । ऐसे सर्वभूत—इन्द्रियोंके कार्य विषयमात्रका तत्त्वतः आधारभूत समष्टिभाव ही इन सब भूतोंका मधुरूप अधिदैव भाव है । पृथक्-पृथक् द्रष्टव्य विषयोंका कारणरूप सूर्य द्रष्टव्योंका (दृश्यभूत विषयोंका) मधु है, इसी प्रकार पृथक् प्रकारसे सब भूतोंके कारणरूप अधिदैवभाव हैं । इन अधिदैव तत्त्वोंके आनुषङ्गिक प्राणीशरीरके आध्यात्मिक पर्यायोंद्वारा तदनुकूल 'भूत' अर्थात् विषय ग्राह्य हैं ।

परमात्माका अस्तिभाव सर्वत्र समरूपसे होनेपर भी; व्यक्त सृष्टिके उपर्युक्त अध्यात्मादि तीनों घटकोंमें अभिव्यक्त होनेसे उन्हीं अध्यात्मादि दृष्टियोंसे लक्षित रूपमें प्रतिपादित है । वे भगवान् आदित्यवर्ण और तमके परे होनेसे 'तेजोमय' हैं । उन महान् पुरुषको जाननेसे अतिमृत्यु

(मृत्युके परे) की गतिरूप स्वयं उन अमृतस्वरूप भगवान् के सायुज्यकी प्राप्ति होती है, ऐसे वे 'अमृतमय' हैं । इन्हीं शब्दोंको पूर्वसूरियोंने स्वानुभवसे कथन किया है—

युजे वां ब्रह्म पूर्वं नमोभि-

र्विश्लोकायन्ति पथ्येव सूरः ।

शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्रा

आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-

मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

(श्वेताश्वतर० २ । ५, ३ । ८)

यह मधु त्वाष्ट्र है ।

'स वां मधु प्रवोचत् श्रुतायन् त्वाष्ट्रं यत्'—उस श्रुतिने यज्ञमार्गके प्रचारके उद्देश्यसे तुम दोनोंको मधु कहा, जो त्वष्टा अर्थात् आदित्यविषयक है ।

मधुब्राह्मणमें आधिदैविक तत्त्वोंमें सूर्यकी गणना होनेपर भी प्रस्तुत ऋचांमें समूची मधुविद्या ही त्वाष्ट्र—सूर्यविषयक कही है । इस सूर्यविषयक मधुके बारेमें कहा गया है— 'असौ वा आदित्यो देवमधु'—यह आदित्य देवोंका मधु है । (छान्दोग्य० अ० ३, खं० १)

मधुविद्याप्रतिपादित मधुमत् पुरुष ब्रह्म है और ब्रह्मका संकेत भी आदित्यसे ही किया गया है—'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः ।' आदित्य ब्रह्म है ऐसा आदेश है (छान्दोग्य० अ० ३, खं० १९) ।

इस प्रकार आदित्यके मधुरूप तथा ब्रह्मत्वसे अध्यात्मादि तीनों भूमिकाओंमें व्याप्त एक ही मधुमत् ब्रह्म पुरुषका निर्देश किया गया है ।

देवमधु आदित्यका विस्तृत विवेचन छान्दोग्योपनिषद्के तीसरे अध्यायमें १ से ११ खण्डतक है । इसके अनुसार देवमधु आदित्यका वर्णन संक्षेपतः इस प्रकार है—

युलोक एक तिरछा बाँस-जैसा है और अन्तरिक्ष उससे लगा हुआ एक छत्ता है । इस अन्तरिक्षरूपी छत्तेमेंका मधु सूर्य है । इस छत्तेमें छिद्ररूप (मधुनाडी) सूर्य-किरण हैं । इन मधुनाडियोंमेंसे ऋचा, यजु, साम और अथर्वान्तरिक्ष मन्त्ररूपी तथा गुह्य आदेशरूपी मधुमन्त्रियाँ प्रवेश करती

हैं। ये मधुमक्खियाँ ऋक्, यजु, साम, इतिहास, पुराण और ब्रह्म—इन पुष्पोंको ताप देकर—इनसे रस चूसकर अन्तरिक्ष छत्तेके क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व दिशाओंकी मधुनाडियोंसे उस छत्तेमें प्रवेश करती हैं। वेद, इतिहास, पुराण और ब्रह्म इनका प्रतिपादित कर्मयशरूपी अमृत यही इन पुष्पोंका रस है। यही रस वे मधुमक्खियाँ छत्तेमें संचित करती हैं। उपर्युक्त पाँचों दिशाओंमें अमृतका रूप क्रमशः रोहित, शुक्ल, कृष्ण, अतिकृष्ण और क्षुभित इस प्रकारका है। यह मधुरूप आदित्य देवोंका अमृत है। इस अमृतके पाँचों प्रकारोंपर अग्निमुखसे वसु, इन्द्रमुखसे रुद्र, वरुणमुखसे आदित्य, सोममुखसे मरुत् और ब्रह्ममुखसे साध्य उपजीविका करते हैं। देव इस अमृतको न खाते हैं न पीते हैं, केवल इसे देखकर ही तृप्त होते हैं। यह अमृत देवताओंकी स्थितिरूप है; तथा अमृतके इन रोहित, शुक्ल-कृष्णादि उपजीव्य रूपोंमें वसु, रुद्रादि देवता प्रवेश करते और इन्हीं रूपोंसे उदित होते हैं।

इस प्रकार आदित्यके रूपमें मधुका संकेत किया गया है।

प्राणरूप देवगण

वसु, रुद्र, आदित्य ये देवगण प्राणरूप हैं। मनुष्य यज्ञरूप है^१। इस यज्ञके तीनों सवन इन देवोंके अधिकारमें हैं। देवोंके छन्दाक्षरोंके समान परिगणित वर्षोंसे हुए, आयुके तीन विभाग ही तीन सवन हैं।

प्राण वासहेतु हैं इसलिये वसु, रुद्रानेवाले होनेसे रुद्र और (आयुको) लेनेवाले—कर्म करनेवाले होनेसे आदित्य हैं। वायुके सात प्रकारोंके सात-सात भेद ऐसे ४९ मरुद्गण स्वयं वायु या प्राण ही हैं। कतिपय स्थानोंमें मरुतोंकी जगह विश्वेदेवोंको गिनाया है। ये विश्वेदेव (सब देव अर्थात् इन्द्रियरूप प्राण) भी प्राण ही हैं; यथा—‘मध्ये वामनं आसीनं विश्वेदेवा उपासते’ ॥ आदित्यके ऊर्ध्वदिशामें साध्यगण स्थित हैं। व्यास-शुक-संवादमें साध्योंके विषयमें आया है कि साध्यगणोंसे पहले समान वायु प्रकट हुआ, समानसे उदान हुआ, उदानसे व्यान, व्यानसे अपान और अपानसे प्राण प्रकट हुआ। इस प्रकार कार्य-कारण-

भावसे पाँचों प्राणोंकी उत्पत्ति हुई, जिनका आदिरूप साध्य दर्शाया गया है^१। इस उपपत्तिसे साध्य भी प्राण ही सिद्ध होते हैं।

ये प्राणरूप देवगण आदित्यके सब ओर स्थित हैं। आदित्यके अमृतरूपसे ये तृप्त होते हैं। सूर्य-किरणोंसे प्राणोंका पोषण होता है, यह प्रत्यक्ष है। आदित्यकी किरणें विश्वमें सब ओर फैलती हैं और प्रजारूप प्राणोंको अपनेमें धारण करती—उनका पोषण करती हैं।

“अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते । यदक्षिणां यत्प्राचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥”

(प्रश्नोपनिषद् १ । ६)

ऐसा यह आदित्य प्राणोंका आधारभूत जीवन है, जो देवरूपसे इसके सब ओर रहकर इसकी अमृतरूप किरणोंसे तृप्त होते हैं, इसीमें प्रविष्ट और इसीसे उदित होते हैं। यह विश्वरूप प्राण है, यही इस ऋचामें कहा है—

‘विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥’

प्राणोंका प्राण यह आदित्य है। ये सब इसीके रूप होनेसे यह विश्वरूप हैं। इसी देवमधुसे देव उदित होते हैं अर्थात् आधिदैविकादि सब रूपोंसे यही प्रस्फुरित है।

अश्विनौकी मधुकशा

मधुका अश्विनौसे अद्वैत सम्बन्ध है। वेदोंमें अश्वि-देवताओंके मन्त्रोंमें मधु और अश्विनौके परस्पर सम्बन्ध-विषयक मन्त्र प्रचुरतासे हैं। प्रायः सभी मन्त्रोंमें जहाँ अश्विनौ धन-संपत्ति, इच्छित भोग, पशु, प्रजा, अन्न, पय, बल आदिके देनेवाले; चिकित्सा, संकटोंसे संरक्षण करनेवाले हैं; वहाँ वे मधुके दाता, मधुका पान करनेवाले, मधुको अपने पास रखनेवाले, मधुका वितरण करनेवाले भी बतलाये गये हैं। उनका रथ भी मधुवहन करनेवाला है—‘अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथः ।’ (ऋ० १ । १५७, ३)

१. ‘पुरुष’ यज्ञके साथ ही ‘प्राणरूप देवोंका मूलस्वरूप’ साध्य उत्पन्न हुए। जैसे मनुने कहा है—

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः ।

साध्वीनां च रणे सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥

१. पुरुषो वाव यज्ञः’ इत्यादि छान्दोग्य तृतीय प्रपाठकका षोडश खण्ड ।

तात्पर्य यह कि अश्विदेवोंको मधु प्रिय है, वे दोनों मधुको सदा अपनी सन्निधिमें रखते, उसका सेवन करते और आराधकोंके प्रार्थना करनेपर उनको प्रदान करते हैं।

उपास्यदेवताके स्वरूपमें जिन अश्विनौकी स्तुति, आवाहन; उनके पराक्रमोंका गुणगान तथा अभ्युदय और संरक्षणके लिये उनकी प्रार्थना की गयी है, वे ही दोनों अश्विनीकुमार ब्रह्माण्डमें द्यावा-पृथिवी हैं। ये द्यावा-पृथिवी प्रत्यक्ष अश्विदेव हैं, यह शतपथ ब्राह्मणका वचन है।

‘अथ यदश्विनावितीमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविति—॥’

(श० ब्रा० का० ४, अ० १, ब्रा० ५।१६)

मधु अश्विनौका प्रियधाम है—

‘दध्यङ् ह वा अभ्यामाथर्वणः, मधुनाम ब्राह्मणमुवाच तदेनयोः प्रियं धाम— ।’ (श० ब्रा० ४।१।५।१८)

—मधुमती ऋचासे इसका ग्रहण होता है।

दध्यङ् आयर्वणके द्वारा कहा हुआ मधुब्राह्मण अर्थात् तत्प्रतिपाद्य मधुरूप परमात्मतत्त्व, देवमधु आदित्यसे संकेतित प्राणोंके * प्राण, अखण्डैकरस सच्चिदानन्द परब्रह्म अश्विनौका प्रियधाम है। मधुमती ऋचासे इसका मधुकशाके रूपमें निर्देश किया गया है।

‘या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तथा यज्ञमिभिक्षतम् ॥’

(ऋ० १।२२।३)

अश्विदेवो ! अपनी मधुर वाणीसे यज्ञको रसपूर्ण करो। कशाका अर्थ वाणी अथवा चाबुक है। मधुरवाणीसे प्रोत्साहन दिया जाता है। यह चाबुक मीठा है। इस मधुकशासे प्रेरणा करनेपर लगनेकी वेदना नहीं होती; किंतु उसकी प्रेरणानुसार तदनुकूल आचरण करनेमें तत्परता आती है। ऐसा यह मधुर चाबुक प्राण ही है, जो इन्द्रियोंको अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त करता है। आधिदैविक तत्त्वोंद्वारा अधिभूत (विषयमात्र) प्रकट किये जाते हैं और उन विषयोंको ग्रहण करनेकी अध्यात्मभावरूप इन्द्रियोंको प्रेरणा मिलती है। यही प्राणका कार्य है, जिसने अध्यात्म, अधिभूत

* प्राणोंके प्राण—

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केनोपनिषद् १।८)

और अधिदैवको अपने सूत्ररूपसे ओतप्रोत कर रक्खा है। ‘मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव’ इस भगवदुक्तिसे यही प्रकट होता है। उपनिषद्में वायुरूप ब्रह्म, जो प्राण ही है, सूत्र कहा गया है।

‘नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।’ तथा ‘वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संरब्धानि भवन्ति ॥’

(बृहदारण्यक० ३।७।२)

प्राण और मधुका आदेश आदित्यरूपसे किया ही है। आदित्य ब्रह्म है। इस आदेशके उपव्याख्यानमें आदित्यके कारण ब्रह्माण्डके दो शकल बने हुए बतलाये हैं। ऊपरका शकल सुवर्ण-सदृश और नीचेका रौप्यसदृश। ये दोनों शकल शुद्ध और पृथिवी हैं। सूर्यके कारण ये शकल हुए। अश्विनीकुमार सूर्यके ही दो पुत्र हैं—यह पुराणोंसे सिद्ध है। शतपथके वचनानुसार द्यावापृथिवी जो प्रत्यक्ष अश्विनौ हैं, सूर्यके ही कारणसे उत्पन्न बतलाये गये हैं।

द्यावापृथिवी अश्विनौ और प्राणः प्रजानाम्, देव-मधु ऐसा आदित्य उनकी मधुकशा है। यह सूर्य विश्वरूप है; अर्थात् यह सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत्, आकाश, वायु, जल, पृथिवी इत्यादि रूपोंसे व्यक्त हुआ है। इन सब आधिदैविक तत्त्वोंद्वारा, इन सबका एकीभूत (वैश्वानर विश्वरूप) आदित्य, प्रेरणाकारी मधुरिम प्राणोंसे प्रस्फुरित होता रहता है। इन्हीं विविध परन्तु एकसूत्री भावोंसे प्रकट होनेवाली यह मधुकशा है।*

मधुमती उपासना

मधुरूप परमात्माकी उपासना माधुर्यसे ओतप्रोत है। विश्वरूप ब्रह्मका प्रत्येक अभिव्यक्त स्वरूप उपास्य है। उपासकोंके लिये ही ब्रह्मको यह नाम-रूपकी उपाधि है।

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।

उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

* दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात्समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे ।
तां चायित्वामृतं वसाना हृद्भिः प्रजाः प्रतिनन्दन्ति सर्वाः ॥१॥
महत्पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेतमाहुः ।
यत एति मधुकशा रराणा तत्प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥२॥
—इस प्रकार अथर्ववेदमें मधुकशाका संपूर्ण सूक्त ही है।

(अथर्व० काण्ड ९। सूक्त १)

भगवान्की अव्यक्त उपासनामें क्लेश हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

(गीता १२ । ५)

इतना ही नहीं, अपि तु व्यक्त उपासना भी क्लिष्ट है । भगवान्के सगुण श्रीविग्रह अथवा इस विश्वमें प्रकट वस्तु-मात्रकी भगवद्रूपता—इनकी उपासनामें इन सगुण साकार रूपोंका इन्द्रियोंको प्रत्यक्ष आलंबन रहता है, इसलिये उपासनाके क्लेशोंका अभाव-सा हो जाता है । देहात्मभावसे भोग्यमात्र ही प्रतीत होनेवाले इन्द्रियगोचर भौतिक विषय साधककी आत्मानुकूल धारणासे भगवदर्पण अतएव परमात्म-पूजाके उपहारस्वरूप बन जाते हैं ।

अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भगवान्के किसी भी रूपकी उनकी असीम सत्ताको न जानते हुए भी की हुई श्रद्धापूर्ण उपासना उनकी उपासना है ।

रुचीनां वैचित्र्याहजुक्तुलिनानापथजुषां

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

(महिम्नस्तोत्र)

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

(गीता ९ । २३)

उपनिषद्के अनुसार उपासनाके फलका स्वरूप इस प्रकार है—

प्राणरूप देवगणोंकी उपासनासे ऐतरेय महीदासने दीर्घ जीवन प्राप्त किया था ।

इन्हीं वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वदेवोंके प्रीत्यर्थ यजमान तीन अग्नियोंमें यज्ञ करके देवोंके स्वाराज्यरूप तीन लोकोंको प्राप्त करता है । यह ब्रह्मवादियोंका कथन है ।

इसी प्रकारसे देवमधु आदित्यके अमृतसे तृप्त होनेवाले देवगणोंके विषयमें उनके ज्ञाताको फल मिलता है, ऐसा कहा गया है ।

आदित्य जबतक (१) पूर्वमें उदय होकर पश्चिममें अस्त होता है; (२) पूर्वमें उदय, पश्चिममें अस्त, दक्षिणमें उदय और उत्तरमें अस्त होता है; (३) दक्षिणमें उदय, उत्तरमें अस्त, पश्चिममें उदय और पूर्वमें अस्त होता है; (४) पश्चिममें उदय, पूर्वमें अस्त, उत्तरमें उदय और

दक्षिणमें अस्त होता है; (५) उत्तरमें उदय, दक्षिणमें अस्त, ऊर्ध्व दिशामें उदय और अर्वाक् (अधो) दिशामें अस्त होता है—तबतक पूर्वोक्त (१) वसु, (२) रुद्र (३) आदित्य, (४) मरुत् और (५) साध्योंके स्वाराज्य प्राप्त करता है ।* इन देवोंका स्वाराज्य प्राप्त करनेमेंसे एक होकर वह उपासक रहता है । किंतु देवोंके स्वाराज्य पुनरावर्ती हैं ।

आब्रह्मभुवनालोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

(गीता ८ । १६)

इसके उपरान्त ऊर्ध्वमें उदय होकर, आदित्यका फल कहीं उदयास्त नहीं होता । वह वहाँ सदा प्रकाशमान रहता है । इसके ज्ञाताको शाश्वतता प्राप्त होती है । देवगण उसको सत्यब्रह्मसे दूर नहीं करते । (छान्दोग्य ०३ । ११) यहाँ पुनरावर्ती स्वाराज्योंकी मर्यादारूप उदयास्तकी ब्रह्मत्व न होकर केवल दिन (तमसः परस्तात्) रहता है । किसी प्रकाशित न होनेवाला, सब प्रकाशोंका प्रकाशक यह परम तेजोरूप परमधाम है । इसको प्राप्त होनेपर वापस लौटना नहीं पड़ता ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(क० उ० २ । ५ । १५)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

(गीता १५ । १२)

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(गीता १५ । १६)

इस सत्य, ज्योतिर्मय, अमृत गन्तव्यको लक्ष्य करके उपासना-मार्गमें अग्रसर होनेवाले भक्तको भगवान्की मधुमत्ता अन्तर्मुखतासे अनुभूत होती रहती है । सगुण सरूप भावमय भगवान्की उपासनामें साधक उस बिन्दुतक उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरमें प्रगति करता रहता है, जहाँ ये सब रूप

* देव-स्वाराज्योंका क्रम बतलानेवाली ये आदित्यके उदयास्ता की दिशाएँ देवयानकी गतिकी परिचायक हैं । विशिष्ट स्थानोंपर अवस्थित देवलोकोंसे होता हुआ यह देवयानाख्य मार्ग गया हुआ है ।

एकतासे अवस्थित हैं। विश्वके विविध बाह्य रूपोंको देखते हुए भी उनकी प्रतीति साधकको एकतासे ही आती है और सब ओर व्याप्त एक ही आत्माको जानकर वह द्वन्द्वोंके पार हो जाता है। *

बहिर्मुख, देहात्मदृष्टिसे प्रतीत वस्तुमात्र अनात्म अतएव अनाराध्य है। अन्तर्मुखतासे ही सम्यक् आत्मारोधन होता है। 'अन्तर्मुखसमाराध्या बहिर्मुखसुदुर्लभा।' (ललिता-सहस्रनाम)।

अपने निषेधक गुणोंसे कर्मबन्धोंका विच्छेद करके उपासनाका फल लौकिक व्यवहारमें विधायकतासे प्रकट होता है और साधकके लिये लौकिक-अलौकिकका भेद नाममात्र रह जाता है। यह योगमें 'मधुमती भूमिका' कहलाती है। युक्तचेता उपासकोंके साधनकी-योगकी यह अवस्था, मधुसेवनसे मिलनेवाले आनन्दके सदृश आनन्ददायिनी होती है। इसके परिणाम सिद्धियोंके प्राथमिक स्वरूप हैं, जो वास्तवमें लौकिक भोगोंकी ही उच्च कोटिकी अवस्था है। इस भूमिकापर आरुढ़ होनेसे, सर्वदुःखोंकी निवृत्तिपूर्वक प्रसन्नता प्राप्त होकर साधककी आत्मानुकूल बुद्धि दृढ़ रहती है। इसीको योगमें प्रज्ञाजय कहा है। मधुमती भूमिकाके स्वरूपका और प्रज्ञाजयसे प्राप्त हुई निश्चयात्मिका बुद्धिका उदाहरण गार्ग्य-अजातशत्रु-संवादमें मिलता है। बृहदारण्यक और कौषीतकी उपनिषदोंमें गर्गगोत्रज बालाकि और काशीराज अजातशत्रुके संवादका प्रसंग है। इस संवादका मधुब्राह्मणसे अत्यन्त निकट सम्बन्ध और सादृश्य है। मधुब्राह्मणमें दैव-आत्म अधिपुरुषका परमात्मरूप स्पष्टतासे बतलाया गया है। 'येऽप्यन्यदेवता भक्ताः' जैसा गार्ग्य अंशरूप अधिदैवपुरुषको ही पृथक्-पृथक् ब्रह्म बतलाता है; वहाँ अजातशत्रु उस पुरुषकी उपासनाका फल बतलाकर चरमतासे एकत्वको सिद्ध करता है। † व्यवसायात्मिका एक बुद्धिका उदाहरण अजात-

* महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(क० २।१।४, ईश० ७)

† रागद्वेषवियुक्तैस्तु

विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा

प्रसादमधिगच्छति॥

प्रसादे

सर्वदुःखानां

हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नचेतसो

आशु

बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २।६४-६५)

† व्यवसायात्मिका

बुद्धिरेकेह

कुरुनन्दन।

बहुशाखा

अनन्ताश्च

बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

(गीता २।४१)

शत्रु और बहुशाखामय अनेक बुद्धियोंका उदाहरण गार्ग्य है। दोनोंका उपास्यतत्त्व एक ही होनेपर भी, निश्चयात्मिका बुद्धि और बुद्धिभेदकी दृष्टिसे उसका वैलक्षण्य है। बृहदारण्यक (अध्याय २, ब्राह्मण १) और कौषीतकि (चतुर्थ अध्याय) में प्रस्तुत संवाद देखनेयोग्य हैं। योगीको मिलनेवाली मधुमती भूमिकाकी अनुभूति इस संवादमें पुरुषकी उपासनाके फलस्वरूपसे निर्दिष्ट है।

मधुरूप ब्रह्म ही उपासनामें ओतप्रोत है, यही अश्विनौकी यज्ञको सींचनेवाली मधुकशा है। उपासना (यज्ञमार्ग) का प्रचार हो। इसी उद्देश्यसे दध्यङ् आथर्वणने मधुविज्ञानका अश्विनौको उपदेश किया, यह ऋचा में स्पष्ट है—'स वां मधु प्रवोचत् ऋतायन्।' परमैश्वर्यशाली भगवान् ही अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव रूपोंमें प्रकट तेजस्वी, अमृत पुरुष हैं; जिन्होंने अपनी शक्तिसे ये रूप धारण किये हैं।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति।

यही इन सब रूपोंसे है।

'अयं वै हरयोऽयं वै दश च

सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च।'

(बृहदारण्यक २।५।१९)

जरामरणशील जन्मजीवनको छोड़कर अतिमृत्युको प्राप्त होनेके लिये जो भगवदाश्रितगण यत्नशील रहते हैं, उन युक्तचेता महात्माओंको अक्षरब्रह्मसे लेकर अधियज्ञपर्यन्तके भगवत्सत्ताके भाव नामरूपकी उपाधिमय और भगवान्से अभिन्न ही प्रतीत होते हैं।

'तमेकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।'

विश्वकी ऐसी कार्य और स्थितिरूप सत्तामें अधिभूत क्षरभाव, अधिदैव पुरुष कूटस्थका अक्षरभाव—ये दो पुरुष प्रमुखतासे हैं। ईनमें स्थित और इनसे भी उत्तम अधियज्ञ-स्वरूप अन्य पुरुष 'परमात्मा' कहा गया है; जो तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर उनको धारण करनेवाला अव्यय ईश्वर

१ भगवद्गीता ७।२९, १०

२ " ८।३, ४

३ " १५।१६

४ " १५।१७

५ तीन लोक—भूः, भुवः, स्वः। भूमि, अन्तरिक्ष, यौ।

अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव।

है। क्षराक्षरात्मक होकर भी उनसे अतीत एवं उत्तम ऐसे सर्वलोकेश, विश्वको धारण करनेवाले भगवान् लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे विख्यात हैं।

क्षराक्षररूप दो (पुरुष) अश्विदेवोंके ये प्रिय धाम हैं। अश्विनौ आधाररूप ये ही मधुवाहन रथ हैं। इस रथरूपके अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव ये तीन चक्र हैं। इसी रथसे अश्विनीकुमार मधुका वितरण करते हैं, जिस

मधुतत्त्वसे उपासना परिष्कृत और परम सिद्धिरूप होती है।

अज्ञानरहित—ज्ञानसत्यसे ओतप्रोत ऐसी ('ऋतंभर तत्र प्रज्ञा' यो० समाधिपा० ४८) प्रज्ञासे युक्त जो व्यक्ति इस पुरुषोत्तम तत्त्वको जानता है, वह सब प्रकारसे भगवान्में ज्ञाननिष्ठ होकर सर्वभावसे उनकी उपासना करता है। इस गुह्यतम सिद्धान्तको जानकर प्राज्ञ और कृतकृत्य होना चाहिये, यह पार्थसारथि जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णका आदेश है।

एकादशीव्रत-विज्ञान

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'

(गीता २ । ५९)

'तपो नाऽनशनात् परम्'

(कार्तिकमाहात्म्य १७ । २५)

'व्रतं नैकादशीसमम्'

(कार्तिकमाहात्म्य १७ । २७)

हमारे प्राचीन महानुभाव वैज्ञानिक-शिरोमणि थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उन्होंने हमारे लिये कर्तव्यतारूपसे जो-जो बताया है, उसका रहस्य यद्यपि उन्होंने उस समय नहीं प्रकट किया, तथापि आजके विद्वान् उनके नियमनमें बहुतसे लाभ होते हुए देखकर उनकी बुद्धिपर आश्चर्य प्रकट करते हैं।

यह बात किसीसे छिपी नहीं है कि शुक्ल तथा कृष्ण—दोनों पक्षोंमें एकादशी तिथि आया करती है। उसमें हमारे पूर्वजोंने हमारे लिये उपवासका आदेश दे रखा है। उसके माहात्म्य भी उन्होंने बताया है। 'कार्तिकमाहात्म्य'में कहा है—

एकादशीव्रतं नाम सर्वकामफलप्रदम् ।

एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोर्भयोरपि ॥

मातेव सर्वबालानामौषधं रोगिणामिव ।

रक्षार्थं सर्वलोकानां निर्मितैकादशी तिथिः ॥

एकादशेन्द्रियैः पापं यत्कृतं येन वा द्विजाः ।

नरो निर्धूय तन्नूनं प्रीतः स्वर्गतिमान् भवेत् ॥

महापातकयुक्तोऽपि युक्तोऽपि ह्युपपातकैः ।

एकादश्यां निराहारः स्थित्वा याति परं पदम् ॥

(१७ । ३, ४, ५, १०)

यहाँपर एकादशीको बच्चोंके लिये माताकी तरह रोगियोंके लिये औषधके समान सबके रक्षार्थ बनी हुई माना है। ग्यारह इन्द्रियोंसे किये हुए पापोंसे हटकर व्रती स्वर्गमें जाना बतलाया है। महापातक तथा उपपातकोंका भी दूर हो जाना माना है।

अर्वाचीन पुरुष पहले इन फलोंपर उपहास करते थे, व्रतोंका विरोध करते थे और व्रत-उपवासोंको नियत करनेमें प्राचीन महानुभावोंकी क्रूरता एवं निर्दयता मानते थे; पर

१ क्षराक्षरात्मिका सर्वलोकेशी विश्वधारिणी । (ललितासहस्रनाम)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि

चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (गीता १५ । १८)

२ अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथः । (ऋ० १ । १५७ । ३)

३ त्रयः पवयो मधुवाहने रथे । (ऋ० १ । ३४ । २)

४ पूर्णं रथं वहेथे मध्व आचितं तेन दाश्वंसमुप याथो अश्विना ॥ (ऋ० १ । १८२ । २)

५ यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ । एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥

(गीता १५ । १९-२०)

पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने जब उनके लाभोंका अनुमोदन किया, तब अर्वाचीन लोग प्राचीनोंके विज्ञानपर नतमस्तक हो गये। उपवास मनुष्योंके लिये बिना दवाईका औषधालय है। यह रोगके बीजोंको जला डालता है, सञ्चित मलको अंदरसे निकालकर शरीरका संशोधन कर देता है, पाचन-क्रियाओंको शक्ति देता है, वास्तविक भूखको उत्पन्न करता है एवं मनको शुद्ध और प्रसन्न कर देता है। हम जो कुछ खाते हैं, उसका अपक्वांश जव-तब अंदर बच जाया करता है। तदनन्तर बार-बार खाते रहनेसे शारीरिक अंतर्द्वियोंपर बड़ा भार पड़ जाता है। उनको विश्राम न मिलनेसे भीतर विष उत्पन्न होकर वह सारे शरीरमें व्याप्त हो जाता है, उसका धुआँ मस्तिष्कमें पहुँचता है जो शारीरिक शक्तिका हास कर देता है एवं श्वास, खाँसी, कुष्ठ, स्वप्नदोष और दुर्बलता आदि नाना रोगोंको उत्पन्नकर शरीरको सर्वथा अस्वस्थ कर देता है। साथ ही मनकी एकाग्रताको हटा देता है।

मनुष्य रोगाक्रान्त होकर भौति-भौतिकी विदेशी ओषधियोंका सेवन करता है। वे ओषधियाँ उस रोगको बलात् दूर करना चाहती हैं। उनसे अंदरका रोग शान्त नहीं होता, अपितु उस दवाका अपना विष भी अंदर सञ्चित हो जाता है, जो हमें निर्बल बना देता है और कालान्तरमें विभिन्न रोग हमपर फिर आक्रमण कर बैठते हैं। ऐसी स्थितिमें उपवास ही एकमात्र सर्वोत्तम उपाय है। इसीलिये कहा है कि ज्वरके आरम्भमें लंघन (उपवास) करो, मध्यमें दवा करो और ज्वरके अन्तमें पाचन करो—

‘ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु भेषजम् ।

ज्वरान्ते पाचनं विद्यात् ।’

उपवासका महत्त्व पशु-पक्षी भी जानते हैं। अचेतन पदार्थ भी जानते हैं। जब कोई पशु-पक्षी रोगी होता है, तब उसको खानेको दीजिये, वह कुछ भी नहीं खायेगा। अब अचेतन कही जानेवाली पृथिवीको ही लीजिये। जिस भूमिका कृषिके लिये सदा ही उपयोग किया जाता है और उसको विश्रामका अवसर नहीं दिया जाता, तो उसकी उत्पादन-शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है। तब उसकी स्वाभाविक शक्तिके उत्पादनार्थ उसके द्वारा भी उपवास कराया जाता है। पृथिवीके बड़ी होनेके कारण उसका उपवास भी बड़ा होता है। एक साल या छः मास उसके द्वारा उपवास कराये जानेपर उसकी उत्पादन-शक्ति बढ़

जाती है। उसे उतना खाद तथा पानी देनेकी आवश्यकता भी नहीं रह जाती। इस प्रकार पक्ष-पक्षमें एक-एक उपवास करनेसे हमारे पाचन-क्रिया करनेवाले अङ्गोंका कार्य भी थोड़ा हो जाता है। विश्राम प्राप्त हो जानेसे उन अङ्गोंमें शक्तिका सञ्चय हो जाता है। आगेका भोजन अनायास पच जाता है और शरीर नीरोग रहता है।

उपवाससे शरीरका शोधन ही होता है। निर्जीव यन्त्रोंका भी उपवाससे संशोधन किया जाता है। इससे वे स्थायी तथा अधिक कार्य करनेवाले सिद्ध होते हैं। दो यन्त्र हों— एक वह, जिसका संशोधन समयपर हो और दूसरा वह, जिसका संशोधन कभी भी न किया जाय; दोनोंके कार्य-निरीक्षणसे पता लगेगा कि जिस यन्त्रका उपवासपूर्वक शोधन किया जाता है, वह स्वस्थ है और दूसरा रोगी है, उसका कार्य शिथिल गतिसे होता है।

इसी प्रकार हमारा शरीर भी यन्त्र है। अन्य यन्त्रोंमें तो शोधनकी यह सुविधा है कि उनके अङ्गोंको पृथक्-पृथक् करके उनका संशोधनकर फिर उन्हें अपने-अपने स्थानपर फिट कर दिया जाता है। पर हमारे शरीरके अङ्गोंका पृथक् करना सम्भव नहीं। उनको पृथक् करना तो दूर रहा, उनमें हमारी दृष्टि भी नहीं पहुँचती। तब शरीरके भीतरी छोटे-छोटे अवयवों तथा सूक्ष्म स्नायुओंका संशोधन कैसे हो! तो क्या प्रकृतिने हमारे शरीरकी अन्तःशुद्धिके लिये कोई मार्ग न रखकर मूर्खता की है! नहीं-नहीं; हमारे भीतरी भागके शोधनार्थ की जानेवाली उपायराशिका नाम ही उपवास है। उसके द्वारा शरीरके भीतरी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके शोधनका कार्य सहज ही हो जाता है।

घरकी सजावटके लिये जव-तब विशिष्ट स्वच्छताकी आवश्यकता पड़ती है, तभी वहाँ दीमक-चूहे आदिसे बचाव होता है। इसी प्रकार शरीररूपी घरकी भी प्रत्येक पक्षमें शुद्धि करनेसे भीतरी अग्नि अवशिष्ट दोषोंको दग्ध कर देती है। इससे शरीर निर्मल हो जाता है। शरीरकी निर्मलतासे मन भी निर्मल होता है। निर्मलताको प्राप्त मन ही धर्म, कर्म तथा उपासनाके योग्य सिद्ध होता है।

व्रतसे एक लौकिक लाभ आजकल यह भी है कि यदि घरके सभी व्यक्ति महीनेमें दो बार विधिपूर्वक व्रत करें तो राशनकी कमी मिट जाती है। अथवा बचा हुआ अन्न भूखसे पीड़ित भाइयोंके उपयोगमें भी आ सकता है। इससे

देशमें अन्नका अभाव कम हो जाता है। व्रतका अभ्यास हो जानेपर कहीं भोजन न मिलनेसे व्याकुलता नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त स्वयं भूखका कष्ट सहनेसे ही हम दूसरे भूखे-नंगे व्यक्तियोंका कष्ट जान सकते हैं—अन्यथा नहीं—‘न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसवेदनाम्’। एक दिन भी जिसने उपवास नहीं किया, वह प्रतिदिन पाँका करने-वाले क्षुधापीड़ित प्राणियोंका कष्ट कैसे जान सकता है ?

इधर भूखे रहनेसे यदि कुछ कष्ट होता भी है, तो यह एक तपस्या है। इससे पिछला पाप नष्ट होता है। पापका परिणाम ही दुःख हुआ करता है। जब हम क्रमशः दुःखको झेलते रहेंगे, तब क्रमशः हमारा पाप भी क्षीण होता रहनेसे हमारे पुण्यकी अभिवृद्धि होगी। कष्ट सहनेका नाम तप है। चान्द्रायण आदि व्रत इसीलिये तप कहलाते हैं। अतः एकादशीव्रत भी एक तपस्या है।

व्रत तथा उपवास यद्यपि जब-तब किया जा सकता है, तथापि उसमें कोई नियम नहीं रहता। नियमके अनुवर्तनसे शरीर उसका अभ्यस्त होकर सदा प्रकृतिस्थ—स्वस्थ रहता है। इस कारण मुनियोंने हमारे लिये साधारण उपवास एकादशीमें आदिष्ट किया है। एकादश शब्दसे एकादश इन्द्रियोंके विशिष्ट विषयोंका उपवास भी सूचित होता है। जैसे कि ‘कार्तिक-माहात्म्य’में कहा है—

श्रोत्र-त्वग्-घ्राण-दृग्-जिह्वा-वाग्-दो- (भुज) मेढ्राङ्घ्रि-पायवः ।
इतीन्द्रियाणि मनसा वश्यान्येकादशैव, हि ॥
(१७।७)

इससे, मल-मूत्र, दर्शन, स्पर्श आदि अनिवार्य विषयोंका निषेध नहीं; किंतु उन इन्द्रियोंसे वैषयिक आस्वाद, असद् दर्शन, श्रवण, स्पर्शन आदिका निरोध करना चाहिये—यही सूचित होता है। वाणीका निरोध ‘मौन’ है, मौन भी एक तपस्या है। ‘मुनेर्भावो मौनम्’ यह ‘मौन’का विग्रह है। मौनसे मुनित्व अनायास प्राप्त हो जाता है। हरिकीर्तन आदिके अतिरिक्त कुछ न बोलना यह मौन है। इस कारण मुनियोंने इस दिन स्नान-दान आदिसे अतिरिक्त भगवत्पूजन, भगवन्नामगुण-कीर्तन-गायन, नृत्य, पुराणश्रवण आदिकी भी आज्ञा दी है। जैसे कि—‘कार्तिकमाहात्म्य’में कहा है—

स्नात्वा च विधिवद् विष्णुमर्चयेत् प्रयतो नरः ।

गन्धपुष्पादिभिः सम्यग् रात्रौ कुर्वीत जागरम् ॥

गीतं वाद्यं च नृत्यं च पुराणश्रवणं तथा ।
भूपं दीपं च नैवेद्यं गन्धपुष्पाबुलेपनैः ॥

(१७।११-१२)

इसके अतिरिक्त अमावास्या तथा पौर्णमासीमें सूर्य और चन्द्रमाका आपसमें विशेष सम्बन्ध होता है। उसका पृथिवीपर प्रभाव पड़नेसे हमारी जठराग्निपर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे भी रोग सम्भव होता है; परंतु दशमीकी रात्रिमें भी भोजन न करनेसे अथवा लघु भोजन करनेसे, दूसरे दिन एकादशीमें उपवास करनेसे, फिर द्वादशीमें लघु भोजन वा प्रदोषव्रत करनेसे शरीरका शोधन हो जाता है। ‘कार्तिक-माहात्म्य’ में यही कहा है—

उपवासफलं लिप्सुर्जह्याद् भुक्तिचतुष्टयम् ।
पूर्वापरदिने रात्र्यामहोरात्रं च मध्यमे ॥

(१७।८)

इसीकी स्पष्टता अगले पद्यमें की गयी है—

भवेद् दशम्यामेकाशी द्वादश्यां च मुनीश्वराः ।
एकादश्यां निराहारः स्थित्वा याति परं पदम् ॥

(१७।१०)

यह बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि व्रत एवं उपवास मारक सिद्ध नहीं होता, किंतु अन्नाशन ही मारक हो जाया करता है। अजीर्णता आदि सब अन्नके दुराशन (अवैध भोजन) के ही परिणाम हैं। अजीर्णताकी वृद्धि ही शरीरको जर्जर करके नष्ट कर देती है, उपवास नहीं। वह तो इन सब दोषोंको दूर कर देता है। मृत्युका रजिस्टर देखनेपर शत होगा कि उपवाससे उतने पुरुष नहीं मरते जितने अवैध भोजनसे। व्रत एवं तपके अनुष्ठानमें लगे हुए हमारे मुनियोंकी अकालमृत्यु कहीं नहीं सुनी गयी, प्रत्युत उनकी दीर्घ आयु ही सुनी जाती है। इसी कारण कोई भी रोग क्यों न हो, उसको दूर करनेके लिये वैद्यलोग रोगियोंसे उपवास कराते हैं। तभी उनकी चिकित्सा सफल होती है।

फलतः उपवास ही पाचक ओषधि है। उसीसे हमारे भीतरी अवयव-प्रत्यवयव रविवारकी भाँति अवकाश पाकर फिर नये हो जाते हैं और नवीन शक्ति प्राप्त करके भावी रोगोंसे मुकाबला करके उन्हें हरा सकते हैं। उपवाससे भीतरी विष या मल निकल जाता है। खाँसी, दमा आदि रोगोंके दूर करनेके लिये लंबे उपवासोंकी आवश्यकता पड़ती है, परंतु प्रत्येक पक्षमें एकादशी व्रत करनेपर विशिष्ट रोगोंकी उत्पत्ति ही नहीं होती, अतः आगे दीर्घ उपवासोंकी

आवश्यकता ही नहीं पड़ती। कभी भी व्रत न करनेवाले और सदा ही खानेमें लगे हुए पुरुषोंकी चर्चा बढ़ जाती है, कफ बढ़ जाता है, शरीरमें मलके व्याप्त हो जानेसे विकार-पूर्णता सदा स्थित रहती है, स्फूर्ति नहीं रह जाती, सदा उदासीनता ही बनी रहती है। कोई भी रोग जब-तब शरीरमें अधिष्ठित रहता है; मनकी वृत्ति दूषित रहती है। ईश्वर या तपस्याके प्रति प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। हृदय सदा भोगवासनासे वासित तथा कलिकल्मष-कलुषित होकर दुष्प्रवृत्तियुक्त रहता है। पाचन-क्रियामें निर्बलता हो जाती है। तब खाया हुआ अन्न जीर्ण (हजम) नहीं होता, चित्तमें सदा उद्वेग रहता है। पास पड़ा धन धीरे-धीरे वैद्यों-के औषधालयोंमें सञ्चित होता जाता है। निर्बलताके कारण किसी भी सत्कार्यमें प्रवृत्ति नहीं हुआ करती।

निर्बलताके दूर करनेके लिये लोग वैद्योंसे पुष्टिकारक दवाइयोंका सेवन करते हैं; पर उसका फल कुछ भी नहीं होता; प्रत्युत दुर्बल अङ्ग उस ओषधिके भी उपयुक्त सिद्ध नहीं होते, तब अंदर विष व्याप्त हो जाता है। व्रत-उपवास-द्वारा उसका प्रतीकार न करनेपर क्रमशः राज्यरूपा आदि रोग अङ्गोंको आलिङ्गन कर लेते हैं। व्रत आदि करनेपर तो शरीरकी निर्मलतासे मन भी प्रभावित हो जाता है। 'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति' यह पद्य भी चरितार्थ हो जाता है। मस्तिष्क उज्ज्वल हो जाता है। विचारशक्ति प्रवृत्त हो जाती है। विचारशक्ति मानसिक बलपर निर्भर है और मानसिक बल शरीरकी निर्विकारतापर निर्भर है। विकारपूर्ण शरीरमें पुरुषका मानसिक विकास नहीं होता, क्योंकि शरीरमें विकार होनेपर मानसिक शक्तियोंकी विचारोंके साथ संलग्नता ही नहीं होती। संलग्नता एवं तन्मयताके लिये मस्तिष्ककी जो रूप-रेखा आवश्यक हुआ करती है, वह रूप-रेखा पाक्षिक व्रतके बिना मस्तिष्कमें उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि तन्मयता और संलग्नता अल्प आहार चाहती हैं। व्रत-उपवास ही उस मिताहारका अङ्ग हुआ करता है।

जो लोग व्रत-उपवासके द्वारा शरीरका अथवा मनके अङ्गोंका संशोधन नहीं करते, उनमें संलग्नता और तन्मयता नहीं हुआ करती; क्योंकि उस समय उनमें तमोगुणकी वृद्धि होनेसे सात्त्विकता नहीं हो पाती, तब उनका मन कैसे एकाग्र हो ? प्राचीनकालमें तपस्वीगण ईश्वराराधनमें अधिक तन्मयता सिद्ध करते थे, जिससे कि वे ईश्वरकी शक्तिमें

अपने-आपको मिला सकें; वे लोग मिताहार वा व्रत-उपवासकी अपेक्षा किया करते थे।

जो कभी भी भोजन नहीं छोड़ते, शारीरिक बलके लिये सतत बहुभोजनमें लगे रहते हैं, उनमें मस्तिष्क-बल या प्रतिभावल भी नहीं रह जाता। हमारे उज्ज्वल मस्तिष्कवाले ऋषि-मुनि बहुत मोटे-ताजे या सतत बहुभोजन-शाली नहीं हुआ करते थे; किन्तु आभ्यन्तरिक शक्तिधारी और मानसिक शक्तिसम्पन्न होते थे; उसमें मिताहार और जब-तब व्रत-उपवासका उनका नियम एक प्रधान कारण था। बाहरसे दृष्ट-पुष्ट और भीतरसे क्षीण एवं रोगी मस्तिष्क-बल तथा प्रतिभाशालिताको कभी प्राप्त नहीं करते; न वे भविष्यमें यशकी स्थापना करनेवाले ग्रन्थोंके निर्माण आदिका कार्य ही कर सकते हैं।

फलतः भीतरी अपक्वांशको दग्ध करने और सञ्चित मलको नष्ट करनेमें व्रत-उपवास एक रामबाण औषध है, एक अपूर्व अचूक योग (नुस्खा) है, इसके लिये न तो डाक्टरोंकी आवश्यकता रहती है, न अस्पतालोंकी, न दवाइयोंकी, न जुलाबकी, न किसी अन्य साधनकी। इसमें कुछ खर्च भी नहीं होता, अपितु कुछ बचत ही होती है।

इस व्रत आदिमें स्नान, दान, भजन-पूजन, ध्यान भी आवश्यक अङ्ग हैं—यह कभी न भूलना चाहिये। इनका लाभ बच्चेसे लेकर बूढ़तक समान-भावसे होता है। इस प्रकारका व्रतोपवासकर्ता ही प्राणियोंमें-सद्भावना रखता है, उपकार-वृत्तिमें रहता है। वह दूसरोंका धन हड़पनेमें नये-नये आविष्कारोंकी खोजमें नहीं रहता। सदा सत्य व्यवहारमें निरत रहता है। जो बात धर्मनिरपेक्ष राजकीय कानूनोंसे लाख सिर पटकनेपर भी नहीं होती, वह शुद्ध-वृत्ति सात्त्विकता इसी धार्मिक नियमके अवलम्बनसे अनायास हो जाती है।

एकादशीके विषयमें यह जानना चाहिये कि उसका अमावास्या और पूर्णिमाके साथ विशेष योग होता है। अमावास्यामें सूर्य और चन्द्रमा एक स्थानमें होते हैं और पूर्णिमामें दोनों सम-रेखामें होते हैं; तब उनका प्रभाव रस-युक्त कठोर त्वचावाले वृक्षोंपर भी होता है, तब यह मनुष्य-शरीरकी तो बात ही कौन-सी है ? वह प्रभाव एकादशीसे प्रारम्भ हो जाता है। इन्हीं दिनों रोगके बीज प्रारम्भ होते हैं। पूर्वोक्त प्रकारसे दशमीकी रात्रिमें उपवास या लघु भोजन करके, एकादशीके दिन दिन-रात पूर्ण उपवास करके और

द्वादशीके दिन ब्राह्मणभोजन तथा दान-दक्षिणा देकर स्वयं मृदु एवं मित भोजन तथा रात्रिमें फिर उपवास करके पूर्णिमा आदिमें फिर 'सत्यनारायण-व्रत' करनेपर 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्' इस न्यायसे अमावास्या और पूर्णिमामें सम्भावित शारीरिक एवं मानसिक हानि सर्वथा नहीं हो पाती।

इस प्रकारके महान् लाभदायक नवजीवन-सञ्चारक व्रतोपवासका एकादशी-तिथिमें नियमतः अवलम्बन करना हम सबके लिये आवश्यक है। जो पहले इसमें कठिनता समझें, वे उस दिन अन्न तथा ओदन (चावल) तो अवश्य छोड़ दें, मुनियोंके अन्न श्यामाक (साँवक), कूटद्रुका आटा अथवा फल आदिका उपयोग करें। फिर

क्रमशः उपवासका अभ्यास करें। दूसरे दिन लघु तथा मित भोजन करें। इस प्रकार करनेपर पूर्व कहे हुए सब लाभ अनायास प्राप्त हो सकेंगे। हमें 'कल्याण' के एक लाखसे अधिक ग्राहक-पाठकोंसे यह आशा है कि वे एकादशीव्रतका नियमतः अवलम्बन करके अपना तथा दूसरोंका लाभ करनेमें सक्षम हो सकेंगे। अन्तमें 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः' (गीता २।५९) इस भगवद्वचनको तथा 'तपो नानशनात् परम्' (कार्तिक-माहात्म्य १७।२५) 'व्रतं नैकादशीसमम्' (१७।२७) इन वचनोंको पुनः स्मरण कराते हुए हम इस निबन्धको समाप्त करते हैं।

‘नमोऽकिञ्चनवित्ताय’

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

रोड़ा हो रहू बाटका, तजि ममता अभिमान।
यही वेदका सार है, यही ज्ञान-विज्ञान ॥
रोड़ा हुआ तो क्या हुआ, पंथीको दुख देह।
साधू ऐसा चाहिये, ज्यों जंगलका खेह ॥
खेहो हुआ तो क्या हुआ, उड़ि उड़ि लागत अंग।
साधू ऐसा चाहिये, ज्यों पानीका रंग ॥
पानी हुआ तो क्या हुआ, तात सीर होइ जाय।
साधू ऐसा चाहिये, हरिमें रहे समाय ॥
हरिदू हुआ तो क्या हुआ, हरि ते सब कुछ होय।
साधू ऐसा चाहिये, जाते कछु न होय ॥

प्रायः यह देखा गया है कि प्राणी जब किसी घोर संकटसे व्याकुल होकर अत्यन्त कातर स्वरसे प्रभुको पुकारता है, तब उसका संकट तत्क्षण ही दूर हो जाता है, चाहे वह किसी प्रकार क्यों न हो। यदि शान्त और समाहित होकर ऐसे समयकी स्थितिका ध्यान किया जाय तो पता लगता है कि उस समय प्राणी अत्यन्त कातर एवं दीन होकर परमात्माको पुकारता है और जहाँ अत्यन्त कातरता एवं दीनताका प्रादुर्भाव हुआ कि प्रभुकी आँकी बिल्कुल स्पष्ट दीखने लग जाती है। इस तरह यह अकाट्य एवं सुनिर्णीत

सिद्धान्त सुस्थिर होता है कि प्रभुके साक्षात्कारके लिये बस, आत्यन्तिक दैन्य एवं व्यग्रतामात्रकी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि विपत्तिमें भगवत्स्मरणका जितना शीघ्र फल होता है उतना किन्हीं अन्य श्रेयों, विशेषकर अर्थ-कामोपलब्धिमें नहीं। यही कुन्ती देवीकी—

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।

आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥

(श्रीमद्भा० १।८।२७)

‘आप निर्धनोंके धन हैं, मायाके प्रपञ्चसे रहित हैं। अपने-आपमें रमण करनेवाले परम शान्तस्वरूप हैं। आप ही कैवल्य मोक्षके अधिपति हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करती हूँ।’

—इस प्रार्थनाका तथा—

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥

—इस नियमका गूढ़ रहस्य है और इसीलिये मर्मज्ञ तज्ञ एवं परम विज्ञ भागवत, परमहंस महानुभाव, परम अकिञ्चन एवं सर्वथा हीन तथा दीन बनकर ही भगवत्प्राप्तिका ध्यान-स्मरण किया करते हैं और बड़े

राजा-महाराजा, सम्राट्-अधिराट् अपना राजपाठ, गृह-कुटुम्बतकका परित्याग कर अपनेको परम दीन बना लेते हैं। इन्हींको लक्ष्य करके गोपियोंने—

‘सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ।’

—और भागवतकारने ‘ग्रामाद् वनं क्षितिमुजोऽपि ययुर्यदर्थाः’ का कई बार सादर गान किया।

मुनिवर जतन करहिं जेहि लागी। श्रूप राज तजि होहिं विरागी ॥

—का भी एकमात्र रहस्य यह ‘दैन्याविर्भाव’ ही है।

वस्तुतः आत्यन्तिक दीनता एवं अन्यान्य आश्रयोंका सर्वथा परित्याग (चित्त-नैर्मल्य) ये भगवान्की प्रसन्नताके मुख्य हेतु हैं। गजेन्द्रको जबतक अपने-अपने स्कन्धावारों तथा हथिनियोंकी आशा थी, तबतक प्रभु नहीं पधारे, पर ज्यों ही उसे ‘कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम्’ की सूझ हुई कि प्रभु झट दृगोचर हो गये। यही दशा द्रौपदी आदिकी हुई। पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय हम-जैसे कलियुगियोंके पथप्रदर्शक गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

नागराज निज बल बिचारि हिय हारि चरन चित दीन्हो।
भारत गिरा सुनत खगपति तजि चलत बिलंब न कीन्हो ॥
दितिसुत त्रास त्रसित निसिदिन प्रह्लाद प्रतिग्या राखी।
अतुलित बल मृगराज-मनुज तनु दनुज हत्यौ श्रुति साखी ॥
भूप सदसि सब नृप बिलोकि प्रभु राखु कह्यौ नर-नारि।
बसन पुरि, अरि-दरप दूरि करि भूरि कृपा दनुजारि ॥

इसलिये सभीने एक स्वरसे स्वीकार किया—

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।

ततः सद्यो विमुच्येत यद्विभेति स्वयं भयम् ॥

(श्रीमद्भा० १।१।१४)

‘जन्म-मृत्युके घोर चक्रमें पड़ा हुआ विपत्तिग्रस्त जीव यदि कभी भगवान्के मङ्गलमय नामका विवश होकर भी उच्चारण कर ले तो वह तुरंत उससे मुक्त हो जाता है;

क्योंकि स्वयं भय भी भगवान्से डरता रहता है।’

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥

‘हरिरित्यवशेनाह पुमान्नाहति यातनाम्’,
‘हरिस्मृतिः सर्वविषद्विमोक्षणम् ।’

सोच संकटनि सोच संकट परत,
जर जरत प्रभाव नाम ललित ललामको।

आयी मीचु मिटति जपत रामनामको ॥

ऐसे तो भगवन्नाम-जप, भगवच्चरणोंका ध्यान, भगवान्का आराधन सारे मनोरथोंको ही पूर्ण कर देता है—

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।

एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥

(श्रीमद्भा० ४।८।४१)

हरेराधनं पुंसां किं किं न कुरुते वत।

पुत्रमित्रकलत्रादि राज्यं स्वर्गापवर्गदम् ॥

जिस पुरुषको अपने लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थकी अभिलाषा हो, उसके लिये उनकी प्राप्तिका उपाय एकमात्र श्रीहरिके चरणोंका सेवन ही है।

रामनाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोकपितु माता ॥

इन आराधनाओंमें पूर्वजन्मोंके कर्मानुबन्धके अनुसार कुछ या अधिक विलम्ब भी होता देखा गया है, किंतु अनन्य विश्वासपूर्ण यथार्थ विवशता, कातरता और दीनताकी बात न्यायी है, वहाँ किञ्चिदपि विलम्ब प्रभुको असह्य हो जाता है और ऐसे अवसरपर वे ‘गरुड़ तजि सिधारे’, ‘खगपति तजि चलत बिलंब न कीन्हो’ को आचरित कर देते हैं।

‘जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे’

इसपर जिज्ञासुके हृदयमें यह प्रश्न स्वभावतः उठ खड़ा होता है कि ‘भगवान्को दीन प्यारा ही क्यों होता है?’ इसके समाधानमें भक्तशिरोमणि नारदजीके बड़े सुन्दर शब्द हैं—

असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमञ्जनम् ।
 आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥
 यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नैच्छति तां व्यथाम् ।
 जीविसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः ॥
 दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह ।
 कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥
 नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः ।
 इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते ॥
 दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः ।
 सङ्गिः क्षिणोति तं तर्षतत आराद् विशुद्ध्यति ॥
 साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् ।
 उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसङ्गिरसदाश्रयैः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १० । १३-१८)

अर्थात् 'धनके मदसे अंधे हुए दुष्ट पुरुषके लिये दरिद्रता ही परम श्रेष्ठ अञ्जन है । दीन-दरिद्र अन्य दीन प्राणियोंके कष्टोंको अनुभूत करता है और उसके लिये 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का आचरण करना साधारण बात होती है; क्योंकि जितना एक कण्टकविद्धाङ्ग (जिसे काँटा चुभा है) प्राणी अन्योके निमित्त उस व्यथाको बुरी समझता है, उतना अविद्धकण्टक नहीं । साधारण कहावत भी है कि 'बौझ कि जान प्रसवकी पीरा' । सभी प्रकारके मद, मान एवं हेकड़ियोंसे मुक्त दीन एवं दरिद्र प्राणीको स्वयमेव जो सर्वत्र कष्टोंका सौलभ्य बना रहता है, वही उसकी महान् तपस्या होती है । अन्नादिकी आकाङ्क्षावाले, नित्य-निरन्तर क्षुधा आदिकी व्यथासे दुर्बल शरीरवाले दीन-दरिद्र प्राणीकी इन्द्रियाँ अपने-आप विषयोंसे विमुख हो जाती हैं और वह हिंसादि अन्य पाप कर्मोंसे भी निवृत्त हो जाता है । समदर्शी, परहितनिरत साधु-संत भी दरिद्रोंको ही मिलते रहते हैं और उनके सान्निध्यमें आकर वह शीघ्र ही पाप-तापसे मुक्त होकर विशुद्ध बन जाता है । आनन्दकन्द मुकुन्दके चरणोंकी इच्छा रखनेवाले समचित्त साधुओंको असदाश्रय, धनमदान्ध, उपेक्ष्य, दुष्टोंके कष्ट प्रयोजन, १'

स्वयं आनन्दकन्द प्रभुके श्रीमुखसे निकले हुए वाक्य हैं—

निष्किञ्चना वयं शश्वच्चिष्किञ्चनजनप्रियाः ।
 तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे ॥
 (श्रीमद्भा० १० । ६० । १४)

अर्थात् 'हे रुक्मिणी ! मैं स्वयं निष्किञ्चन हूँ तथा बराबर निष्किञ्चनोंका ही प्यारा हूँ । सुमध्यमे ! यही कारण है कि धनी-मानी लोग प्रायः मेरा भजन नहीं करते ।' अन्यत्र भी आपकी सूक्ति है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
 ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥
 स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया ।
 मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥
 तद् ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।
 अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान् भजते जनः ॥
 ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।
 मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते ॥
 (श्रीमद्भा० १० । ८८ । ८-११)

अर्थात् 'मैं जिसपर कृपा करता हूँ उसका धन धीरे-धीरे अपहरण कर लेता हूँ, तब उसे निस्सात जानकर परिवारवाले घोर संकटमें डालकर छोड़ देते हैं । वह भी निर्विण्ण एवं उद्योगमें असफल होकर मेरे भक्तोंसे नाता जोड़ता है और तब तत्काल ही परम सूक्ष्म, चिन्मात्र, सदनन्तक ब्रह्म मैं उसके सामने आ जाता हूँ । यही कारण है कि प्रायः प्राणी मुझे छोड़कर श्री, ऐश्वर्य, प्रजा आदिकी इच्छासे आशुतोषादि देवताओंकी आराधना करता है और उनसे राज्य, श्री आदि पाकर उद्धत, मत्त, प्रमत्त बन उन्हींका अपमान कर विनष्ट हो जाता है ।' बलिपर भी कृपा करनेके समय आपने ब्रह्माजीसे कहा था —

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
 यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥
 यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन् निजकर्मभिः ।
 नातामोनिस्ततोऽयं पौरुषी गतिमाव्रजेत् ॥

संख्या ४]

जन्मकर्मवयोरूपविधैश्वर्यधनादिभिः ।
 यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥
 मानस्तम्भनिमित्तानां जन्मादीनां समन्ततः ।
 सर्वश्रेयःप्रतीपानां हन्त मुह्येन्न मत्परः ॥
 (श्रीमद्भा० ८ । २२ । २४-२७)

अर्थात् 'ब्रह्मन् ! जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसका धन चौपट कर डालता हूँ; क्योंकि धनके ही मदसे मनुष्य स्तम्भ, मूढ़ एवं प्रमत्त होकर अन्यजनोंका तथा मेरा तिरस्कार करता है। बड़ी कठिनातासे परवश जीवात्मा अपने कर्मोंके फलस्वरूप संसृतिमें चकर काटता मनुष्य-शरीर प्राप्त करता है। ऐसी दशामें यदि वह प्रमत्त हुआ तो पुनः महान् संसृतिचक्रमें जा फँसता है। इसलिये मनुष्यशरीरको प्राप्तकर यदि वह सदा अप्रमत्त, सावधान तथा सतर्क रह सका तो अवश्य ही कृतार्थ हो जाता है। इसलिये जन्म, कर्म, वय, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धनादिके मदसे कोई (भरतजी और बलि-जैसा पात्र) बच पाया तो इसमें एकमात्र कारण मेरा अनुग्रह ही समझना चाहिये ।'

ये सभी वाक्य 'ब्रह्मसम्मित' वेदतुल्य भागवत-पुराणके हैं, अतएव 'जेहि दीन पिआरे वेद पुकारे' वा 'जिनहि परम प्रिय खिन्न'की उक्ति बिल्कुल ठीक है। इस तरह स्पष्ट हुआ कि अत्यन्त सरल, शुद्ध एवं नम्रहृदय होनेके कारण ही 'हरिर्दीनानुकम्पनः' (श्रीमद्भा० ८ । १६ । २१) हैं, क्योंकि—

निर्मलमनजनसो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

—उनका सहज स्वभाव है।

इधर परम दैन्यका नित्य-निरन्तर अनुभव करनेवाला प्राणी भी बड़ा विलक्षण होता है। वह अपनेको सबसे तुच्छ मानता है। फलतः सबके प्रति नम्रता उसका स्वाभाविक गुण होता है। किसीसे व्यङ्ग—हँसी-मजाककी बात तो उससे स्वप्नमें भी सम्भव नहीं। वह सर्वदा सावधान, समाहित एवं संसारके मायावी

आकर्षणों तथा प्रपञ्चोंसे यथासाध्य अलग रहता है। इस दीनतासे उसकी बुद्धि ऐसी निर्मल, सूक्ष्म, प्रखर, तत्त्व-प्राहिणी एवं भगवदनुगामिनी बन जाती है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। उसे इस दशामें सहज ही एक अमृतोपम आनन्दसुधाका स्वाद मिलता रहता है और वह अनायास ही सर्वव्यापी, सर्वान्तरात्मा प्रभुकी कृपाविशेषका भाजन बनकर कृतकृत्य हो जाता है।

दीनताकी एक साक्षात् साकार प्रतिमा

ऐसे तो स्वदैत्यके विशेषज्ञ एवं भगवच्चरणोंमें उसे प्रकट करनेवाले श्रीयामुनाचार्य (आलवन्दार), श्री-लीलाशुकादि एक-से-एक बढ़कर भक्त हुए हैं; किंतु जिसके व्यक्तित्वको स्मरण करते ही 'धैर्यं धुनोति बत कम्पयते शरीरं रोमाञ्चयत्यति विलोपयते मतिं च' श्रुततः धैर्यका वाँच दृढ़ होने लगता है, शरीरमें कम्प उत्पन्न हो जाता है, रोमाञ्च होने लगता है एवं बुद्धि लुप्त होने लगती है; वे हैं हमारे परम गुरु पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय प्रभु गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज। मेरा तो कुछ ऐसा विचार है कि पू० गोस्वामीजीके ग्रन्थोंको बिना अच्छी तरह समझे वेद, दर्शन, धर्मशास्त्र एवं इतिहास-पुराणोंका मर्म ही ठीक नहीं समझा जा सकता। पहले 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' 'इतिहास-पुराणोंद्वारा वेदके रहस्योंको समझे और व्याख्या करे' जहाँ यह शिष्टता थी, अब वहाँ श्रीगोस्वामीजीके रामायणादि साहित्योंद्वारा अपने धर्मग्रन्थोंके मर्मको समझे और व्याख्या करे यह आवश्यक हो गया। श्रीगोस्वामीजीके ग्रन्थों या एकमात्र श्रीरामचरित-मानसद्वारा मनुष्य धर्मके तत्त्वको जानकर ईश्वरको प्राप्त कर ले यह तो शक्य है, किंतु रामायणादिको जाने बिना पुराणादिके यथार्थ आनन्द तथा रहस्यके जाननेकी सम्भावना कम ही है। यदि आज हम अपने दैन्यको किसी क्षण समझ पाते हैं तो इसमें संदेह नहीं कि इसमें गोस्वामीजीकी कृपा ही उसमें प्रधान कारण है।

यदि हम उन पूज्यपादको मूर्तिमान् दैन्य एवं भगवत्प्रेम कहें तो अत्युक्ति न होगी। बिनयपत्रिकाका शायद ही कोई ऐसा पद होगा, जिसमें दैन्य न टपकता हो—

हौं नहिं दीन मलीन हीन,* कियौ वेदन मृषा† पुकारे।

माधव मो समान जग माहीं।

सब बिधि हीन, मलीन, दीन, अति लीन-बिषय कोउ नाहीं ॥

तुम सम हेतुरहित कृपालु आरतहित ईस न त्यागी।

मैं दुख सोक बिकल कृपालु ! केहि कारन दया न लागी ॥

जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न दास तुम स्वामी।

तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं जद्यपि अंतरजामी ॥

एक हौं दीन, मलीन, हीन मति बिपति जाल अति बेरो।

तापर सहि न जाय करुनानिधि मनको दुसह दरेरो ॥

कृपासिंधु जन दीन दुआरे दादि न पावत काहे।

जब जहँ तुमहिं पुकारत आरत तब तिनके दुख दाहे ॥

नाथ गरीब निवाज हैं, मैं गही न गरीबी।

तुलसी प्रभु निज ओर तैं बनि परैं सो कीबी ॥

यह दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई।

दीन दयालु दीन तुलसीकी काहु न सुरति कराई ॥

कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी।

‘ऐसे राम दीन हितकारी’

और

‘दीनको दयालु दानि दूसरो न कोऊ।’

—आदि शब्दोंमें कितनी दीनता और शरणापन्नता टपकती है। यह नहीं कहा जा सकता कि रामायण आदि काव्योंमें उन्होंने दैन्य प्रकट नहीं किया। मीमांसकोंकी उपक्रमोपसंहार-पद्धतिसे तो रामायणको निर्मित कर पूज्यपाद उसे समर्पण करते हुए एक ही अपना निवेदन रखते हैं, बस, एक ही वर माँगते हैं और वह है—

मो सम दीन न दीन हित, तुम्ह समान रघुबीर।

अस बिचारि रघुबंसमनि, हरहु बिषम भव भीर ॥

* कहीं-कहीं ‘हौं नहिं अधम समीत दीन’ ऐसा पाठ है।

† पाठभेद ‘मृषा’।

आदि-मध्यमें भी उन्होंने ‘सूझ न एकौ अंग उपाऊ
‘कहँ मति मोरि निरत संसारा’……‘को जग मे
मलिनमति मोते’ से ‘आरति बिनय दीनता मोरी’ के
प्रतिज्ञा पूरी की है और ‘जिनहिं परम प्रिय खिना
‘जेहि दीन पिआरे वेद पुकारे’, ‘भए प्रगट कृपाल
दीन दयालु’, ‘अस प्रभु दीन दयालु हित कारन रहि
कृपाल’ आदिसे पग-पगपर भगवान्की दीनदयालुता में
बतलाते चलते हैं और—

जे रघुबीर चरन अनुरागे। ते सब भोग रोग सम त्यागे।
राम-चरन-पंकज रति जिनहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन
रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी।
मुनिबर जतन करहिं जेहि लागी। भूप राज तजि होहिं बिरागी।

—आदि चौपाइयोंसे भगवत्प्रीत्यर्थ भोग-त्याग और
दीनता अपनानेकी भी सलाह देते चलते हैं। अन्य
भी कवितावली आदि ग्रन्थोंमें ‘भयो तिकाल तिहूँ लेख
तुलसी सो मंद’, ‘हौं तो दीन-दूबरो’ आदि की
भरमार दीखती है। यदि ध्यानसे देखा जाय तो दीन
बनकर भगवच्चरणोंकी अनन्य शरण लेना और नाम
यश, कीर्तन-श्रवणमें जीवन-यापन करना ही गोस्वामीजीका
परम और चरम सिद्धान्त दीखता है। पर यदि दीन
होकर भी दीनता याद न आयी, प्रभुके चरणोंमें न
आये तो यह तो महान् दुर्भाग्य ही हुआ; क्योंकि—

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा।

षड्वर्गसंयमैकान्ता: सर्वा नियमचोदना:।

तदन्ता यदि नो योगानावहेयु: श्रमावहा: ॥

(श्रीमद्भा० ७। १५। २८)

—आदिसे सभी शास्त्र-नियमका पर्यवसान काम
क्रोध, लोभादि षड्वर्गोंके विजयमें ही है, पर यह सब
होकर भी यदि भगवत्प्रेम न हुआ तो सब श्रम-ही-श्रम
रहा—

धर्मः स्तनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

(श्रीमद्भा० १। २। ८)

चिन्ताकी बात

पर आज हमारा यह बड़ा दुर्भाग्य है कि हम सभी प्रकारसे, मनसे, धनसे, विद्यादिसे निर्बल एवं हीनतम एवं दीनतम होते हुए भी अपनी निर्बलता और दीनताको देख नहीं पाते। हमारे ऊपर केवल कष्ट-ही-कष्ट लदे हैं। जिस दृष्टिसे देखें आगे कष्ट, पीछे कष्ट, वर्तमानमें कष्ट, चतुर्दिक्से कष्टोंके समुद्र उमड़ पड़े हैं, पर हम इतने प्रमत्त हो रहे हैं कि उधर ध्यान न देकर हृष्ट और दृष्ट होकर सर्वथा अवाञ्छनीय कार्य कर रहे हैं, जिससे स्वयं हमें आगे चलकर महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा और यदि विचारें तो तत्काल भी वह प्रशंसनीय नहीं दीखेगा।

इस अवसरपर यदि कहीं हम अपनी दीनताको अपना कर व्यग्रचित्तसे भगवद्भरणोंमें महामना नारदजी और कुन्तीजीके—

‘नमोऽकिञ्चनचित्ताय आत्मारामाय नमो नमः।’

‘नमोऽकिञ्चनचित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।’

—शब्दोंका उच्चारण करते हुए छल-कपट छोड़कर सर्वस्वात्म निवेदन कर शरणापन्न हो जाते तो निश्चय ही ‘दीन जानि प्रभु तेहि अपनावा’ की मुहर पड़ जाती और हम सर्वथा कृतकृत्य हो जाते। पर हमें ऐसी बुद्धि कहाँ ? यह तो तभी हो जब अकारण-करुण, करुणावरुणालय प्रभु ‘यमेवैष वृणुते’ के नाते ‘स्वकृतेन तुष्येत्’ की कृपादृष्टिसे वीक्षण करें।

श्रीश्रीनामामृतलहरी

(भगवन्नाम-माहात्म्य)

(लेखक—श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)

‘होता है ?’

‘निश्चय होता है।’

‘इस युगमें मनुष्य मरणपर विजय प्राप्त कर सकता है ?’

‘कर सकता है, कर सकता है, कर सकता है।’

‘वह उपाय क्या बहुत कठिन है ?’

‘ना, ना, कठिन नहीं है, अति सहज सरल सुगम है।’

‘मुझे वह रास्ता बताइये।’

‘तुम अविराम (बिना रुके) नाम लो, उससे मरण-जयमें समर्थ हो सकोगे।’

‘केवल नाम लेनेसे ही ? श्रद्धा-भक्तिविहीन, काम-क्रोधका किङ्कर, सैकड़ों दोषोंका एकमात्र घर, महापापी मैं—केवल नाम लेनेसे ही उद्धार पा जाऊँगा ?’

‘पा जाओगे। नाम लेते-लेते काम चला जायगा,

सारे पाप-ताप दूर हो जायेंगे, प्रेमकी महान् बाढ़में बहते-बहते तुम उस आनन्दके देशमें पहुँच जाओगे।’

‘तो श्रद्धा-भक्तिहीन व्यक्तिके लिये भी उपाय है ?’

‘हाँ, हाँ ! एक वेश्याके एक सुग्गा था। वह वेश्या उस पक्षीको सदा ‘राम’ नाम पढ़ाया करती—’

‘फिर ?’—

रामनाम परं ब्रह्म सर्ववेदाधिकं फलम्।

समस्तपातकध्वंसि शुक्रस्तु तत्तदापठत् ॥

(क्रियायोगसार)

‘समस्त वेदोंके पाठसे अधिक फलदायक, समस्त पापोंके ध्वंस करनेवाले परब्रह्म ‘राम’ नामको सुग्गा पढ़ता।

वेश्याके मुखसे सुनकर वह भी बोलता—राम, राम, राम ! वेश्याकी राम नाममें प्रीति नहीं थी। उसने सुग्गा पाला था, उसे कुछ सिखाना चाहिये, इसीलिये

वह उसे 'राम' नाम सिखाती और उसके मुँहसे सुनती । सुग्गा खूब सीख गया—इसी कारण वह उसके मुँहसे रामनाम सुनती थी । 'राम' नाम उसे अच्छा लगता था सो बात नहीं थी । तो भी क्या होता है ? रामनाम तो सहज चीज नहीं है ।

रामोच्चारणमात्रेण तयोश्च शुकवेश्ययोः ।

विनष्टमभवत् पापं सर्वमेव सुदारुणम् ॥

रामनामके उच्चारणमात्रसे ही शुक और वेश्या—दोनोंके अत्यन्त दारुण समस्त पाप विनष्ट हो गये ।

'कोई-कोई कहते हैं कि शास्त्रोंमें जो नामकी इतनी महिमा देखनेमें आती है, वह केवल लोगोंको सन्मार्गपर लानेके लिये ही है, पापीको सन्मार्गपर लाकर उसको जब दूसरे-दूसरे साधन-भजन सिखाये जाते हैं और वह उन्हें करता है, तब उसे शान्ति मिलती है ।'

'जो लोग ऐसी बातें कहते हैं, वे नामके रास्तेपर कभी नहीं चले हैं—दूसरे रास्तेसे ही चले हैं । केवल यदि 'राम' इन दो अक्षरोंको पकड़ रक्खा जाय तो उसीसे साधन-भजन, भक्ति-मुक्ति—सब आकर उसे हृदयपर लेकर सीधे भगवान्के पास ले जाते हैं ।'

'यदि यही बात है तो भक्तलोग रामायण, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंको क्यों सुनते-पढ़ते हैं ।'

'नाममें दृढनिष्ठा प्राप्त करनेके लिये । चञ्चल चित्त एकको पकड़कर नहीं रह सकता, इसीलिये पूजा-पाठ आदि करनेकी बात शास्त्र और साधुलोग कहते हैं ।'

'यदि कोई 'राम-नाम' लेता है तो क्या उसे ध्यान नहीं करना पड़ेगा ?'

'ध्यानके लिये उसे कल्पनाकी सहायता नहीं लेनी पड़ेगी । वह नाम ही वाचिक, उपांशु अवस्थाको लौघकर मानसमें पहुँच जायगा और वहाँ लीला करने लगेगा । मानस-जप ही ध्यान है । यहाँ किसी कल्पना या किसी अन्धविश्वासकी आवश्यकता नहीं होती । 'राम-राम' करते-करते वह अस्थि-मज्जा, रक्त-मांसमें मिल जाता है ।

नाम लेनेवालेकी एक-एक नाड़ीमें नामका प्रवाह बहने लगता है । बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हजार दो सौ नाड़ियोंमें नाम खेलने लगता है । चौवन करोड़ सड़सठ हजार रोम नाचने लगते हैं । फिर प्रभु आकर दर्शन और वरदान देते हैं । निर्गुण, सगुण, आत्मा, अवतार सब एकमात्र वे ही हैं, यह प्रत्यक्ष करानेके लिये उससे रामनाम लेकर ओङ्कार दे जाते हैं । इस नादमय उँकारका आश्रय ले लेनेपर फिर कुछ भी जानना और करना शेष नहीं रह जाता ।'

'उँकारकी मात्रा, ध्यान अथवा उँकारसम्बन्धी और कोई विचार नहीं करना पड़ेगा ?'

'ना, ना । कुछ भी नहीं करना पड़ेगा—केवल 'नाद'को पकड़े रखना होगा । यहाँ कल्पना या अन्ध-विश्वास नहीं है—स्वतःप्रकाश, अविराम गतिसे जो नाद क्रीड़ा करता है, केवल उस नादका ध्यान करनेसे ही सब कुछ जाना जा सकेगा । प्रभु हृदयसे लगाये रखेंगे ।

रामनाम्नैव नाम्नैव नाम्नैव मम जीवनम् ।

संसारविषयान्धानां नराणां पापकर्मणाम् ॥

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

(स्कन्दपुराण)

राम-नाम ही, राम-नाम ही, राम-नाम ही मेरा जीवन है । पापकर्ममें लगे हुए संसार-विषयान्धोंके लिये दूसरी गति नहीं है, नहीं है, नहीं ही है ।'

'असम्भव ।'

'किस लिये असम्भव समझते हो ?'

'मनुष्यको केवल नाम लेनेसे वह जो चाहेगा सो मिल जायगा, इस बातपर क्या विश्वास किया जा सकता है ?'

'कभी तुमने इसपर चाहकर देखा है ?'

'नहीं ।'

'तब तुम किस साहससे—ऋषिरूप श्रीभगवान्के द्वारा प्रचारित शास्त्रवचनोंको मिथ्या बतलाते हो ?'

सर्वमङ्गलमङ्गल्यमायुष्यं व्याधिनाशनम् ।

भुक्तिमुक्तिप्रदं दिव्यं वासुदेवस्य कीर्तनम् ॥

(विष्णुधर्मोत्तर)

‘श्रीभगवान्का नाम-कीर्तन समस्त मङ्गलोंका मङ्गल-कारी, आयुर्वर्धक, व्याधिनाशक और भोग तथा मोक्ष-प्रदान करनेवाला है ।’

‘नाम लेनेसे आयु बढ़ती है ? बीमारीका नाश होता है ?’

‘इसमें क्या कोई सन्देह है ? पापकर्मके द्वारा आयुका क्षय होता है और श्रीभगवान्के नाम-कीर्तनसे आयु बढ़ती है—इसमें सन्देह कहाँ है ?’

‘आयु कैसे बढ़ती है ? जितने दिन जीना है, वह तो पहलेसे ही निश्चित रहता है; फिर भगवान्का नाम लेनेसे आयु कैसे बढ़ सकती है । यों व्यर्थ बात नहीं करनी चाहिये । अँधेरेमें पत्थर नहीं फेंकना चाहिये ।’

‘आयु श्वासपर निर्भर है । साठ प्राणकी एक नाड़ी होती है, साठ नाड़ीका एक अहोरात्र (दिन-रात) होता है । दिन-रातमें २१६०० श्वास आते हैं; तीन सौ साठ दिन वर्षके माननेपर वर्षमें श्वासकी संख्या सतहत्तर लाख छिहत्तर हजार होती है । स्वस्थ पुरुषके सौ वर्षकी आयुमें श्वासकी संख्या होती है—सतहत्तर करोड़ छिहत्तर लाख ।’

‘इससे क्या हुआ ?’

‘एक मनुष्य पचास वर्ष जीता है तो उसकी श्वास-संख्या अड़तीस करोड़ अड़तीस लाख होती है, इस श्वासको लेकर ही उसने जन्म लिया है । जो भगवान्का नाम लेता है, उसका श्वास लम्बा होने लगता है । दैनिक २१६०० श्वास खर्च न होनेसे उसकी आयु बढ़ जाती है । नाम श्वासको अन्तर्मुख कर देता है—तब अन्तमें श्वास-प्रश्वासकी गति ही नहीं रहती ।’

‘श्वासका ज्यादा खर्च किनके द्वारा होता है ?’

‘जो बुरा कर्म करते हैं, उनके श्वास अधिक आते

हैं । स्वाभाविक श्वासकी गति १२ अंगुल है । जो चलनेमें २४ अंगुल, गायनमें १६ अंगुल, मैथुनमें ३८ अंगुल और निद्रामें ३० अंगुल होती है ।’

‘नाम लेते-लेते प्राणायाम हो जाता है, इसीसे आयु बढ़ती है । यही तो बात है ?’

‘हाँ ।’

‘फिर रोग कैसे मिटते हैं ?’

‘तारकेश्वरमें धरनेकी बात तुमने सुनी है ?’

‘हाँ, अति कठिन रोग होनेपर बाबाके यहाँ धरना देनेसे उनकी कृपासे रोग मिट जाते हैं ।’

‘केवल रोग-नाश ही नहीं, एकान्तभावसे अनाहार पड़े रहकर नाम जपनेसे बाबाके दर्शन होते हैं—जन्म-जन्मान्तरके संवादतक बाबा बतला देते हैं और जन्मान्तरमें किये हुए पापोंके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था भी कर देते हैं । तारकेश्वरमें धरना देनेपर बाबाके दर्शन होने, औषध मिलने आदि—बातोंको कौन नहीं जानता । नामके द्वारा भगवद्दर्शन और रोगनिवारण होता है, यह प्रत्यक्ष है । नाम कल्पतरु है । नामसे जो चाहोगे, वही मिलेगा—मिलेगा ही । एक कामनासे यदि कोई नाम लेता है, तो उसकी सौ कामनाएँ पूरी होती हैं । अच्छा तो मैं तुम्हें अन्धविश्वास करनेकी बात नहीं कहता । तुम एक महीनेतक विश्वासके साथ ठीक नियमित रूपसे सुबह-शाम नाम लेकर देखो—तभी तुम नामकी महिमा समझ सकोगे ?’

‘एक ही महीनेमें समझ सकूँगा ?’

‘अनन्त महिमामेंसे कुछ-न-कुछ तो समझ ही सकोगे—तब अविश्वास नहीं रहेगा ।’

‘सुनता हूँ, पढ़ता हूँ, तब भी मानो विश्वास नहीं कर सकता ! अच्छा, नामसे ही यदि सब होता है, तब सांख्य-वेदान्त-पातञ्जल-पुराणादि शास्त्रोंमें साधनके इतने भेद क्यों बतलाये गये हैं ? एक नामकी ही बात न कहकर ऋषियोंमेंसे किसीने कहा—‘अहं ब्रह्मास्मि’

(मैं ब्रह्म हूँ), कोई कहते हैं—‘प्रकृतेभिन्नमात्मानं विचारय सदानघ !’ (आत्मा प्रकृतिसे भिन्न है, इसका सदा विचार करो ।) किसीने बतलाया—‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ (चित्तवृत्तिका निरोध योग है) । इत्यादि । यह सब क्यों ? कोई जाड़ेकी रात्रिमें जलमें गलेतक डूबे रहते हैं, वर्षामें बाहर रहते हैं और गर्मियोंमें पञ्चतपा करके तपस्या करते हैं, यह सब क्यों करते हैं ? सभी लोग तो सीधा ‘हरि-हरि’ पुकार सकते थे ।

‘सब बातें अधिकारको लेकर हैं । प्राक्तन कर्मवश जिसको जैसा अधिकार मिला है, उसको उसी पथपर चलना होगा । इसीसे ऋषियोंने बहुत-से पथोंकी बात कही है । अपने साधन किये हुए पथपर स्वाभाविक ही अनुराग होता है, इसीलिये जो जैसा अधिकारी है, वह उसी पथपर चलेगा, इसीलिये बहुत-से पथोंकी बातें पहले सुनी जाती हैं । फिर अन्तमें जाकर सब एक हो जाते हैं—शाक्त, वैष्णव, शैव, सौर, गाणपत्य, हिंदू, मुसल्मान, ईसाई—सभी एक मार्गपर जा मिलते हैं ।’

‘साधनकी अनुभूति क्या अलग-अलग नहीं होती ?’

‘कुछ ऐसी बातें हैं, जिनमें अलग-अलग नहीं होती । जैसे—अश्रु, पुलक, कम्प, ज्योति, नाद आदि । ये सब साधकमात्रके लिये एक ही समान हैं, इनमें शाक्त, शैव या हिंदू-मुसल्मानका भेद नहीं है ।’

‘तब जो भिन्न-भिन्न पथ हैं, वे अधिकारिभेदसे ही हैं ?’

‘हाँ, तथापि साधक किसी भी पथसे क्यों न चले, ‘पाथेय’ रूपमें उसे ‘नाम’ तो लेना ही पड़ेगा । उसमें गौणभाव हो सकता है । जैसे पातञ्जलदर्शनमें असम्प्रज्ञात समाधिकी प्राप्तिके अनेक उपाय बतलाये गये हैं, उनमें—‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा’—ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी प्राप्ति होती है, यह भी कहा गया है । यहाँ ईश्वर-

प्रणिधान गौण है, समाधि मुख्य है । ‘नाम’ मुख्यत्वा ही श्रीभगवान्के साक्षात् दर्शन कराता है, इसीलिये भक्तगण नामका साधन किया करते हैं ।’

‘अच्छ क्या दर्शन ऐसे ही होते हैं, जैसे मैं आपको ले रहा हूँ, इन्हीं आँखोंसे होते हैं ।’

‘इन्हीं आँखोंसे होते हैं । (उतने समयके लिये यही आँखें भगवत्कृपासे दिव्य हो जाती हैं) हृदय सजगतामें होते हैं और समाधिकालमें भी होते हैं । सुस्पष्ट दर्शन होते हैं, वे बातें करते हैं, वर देते हैं ।’

‘कल्पनासे तो नहीं ?’

‘मनकी इतनी शक्ति ही नहीं कि वह उस रूप कल्पना कर सके । वे अकल्पित रूपसे ही आदर्शन देते हैं ।’

‘मैं ‘पापी भजन-हीन’ शब्दोंको बार-बार दुहरा रहा हूँ, कुछ विचार न कीजियेगा ।’

‘ना, ना, कहो-कहो ।’

‘महापापी—साधन-भजनहीन मनुष्य यदि ‘नाम’ ले तो क्या उसको भी वे दर्शन देते हैं ?’

‘देते हैं, देते हैं, देते हैं । मैं सौ बार, हजार बार करोड़ बार कहता हूँ, जो केवल नाममात्रका अवलम्ब करके ही रह सकते हैं, वे दर्शन पाते हैं और कृत होते हैं । अन्तमें परमधाममें जाते हैं । अधिक कष्ट श्रद्धासे, लापरवाहीसे भी यदि कोई रामनामका उच्चारण करता है तो वह भी सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है । वह यदि समस्त सदाचारोंसे रहित है, ताप-क्लेशादि युक्त भी है—तो भी राम-नाम-सङ्कीर्तनके द्वारा सनातन ब्रह्मको प्राप्त होता है ।

सदाचारविहीनोऽपि तापक्लेशादिसंयुतः ।

श्रीरामनाम सङ्कीर्त्य याति ब्रह्म सनातनम् ॥

(ब्रह्मरहस्य)

भगवान्को जगाओ

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरण महेन्द्र, एम्० ए०)

भगवान् सोते थे, परंतु तुलसीदासके लिये जाग गये। भगवान्की यह विशेषता है कि उन्हें तनिक-सा कोई जगाने आये तो वे तुरंत जाग जाते हैं।

भगवान्का निवासस्थान हममेंसे प्रत्येक मानवका मन है। वे उस मनमें सोये रहते हैं। वे उसमें मौजूद हैं। जो यह कहता है कि उसके मनमें उनका निवासस्थान नहीं है, वह गलती करता है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, उच्च या निम्न वर्ग सभीके हृदयमें परमेश्वरका निवास है। जिसको हम अन्तरात्माके नामसे पुकारते हैं, वह परमेश्वरकी ही ध्वनि है। जब आप कोई गंदा कार्य करते हैं तो आपको मन-ही-मन आत्मलानिका अनुभव होता है। आप पछताते हुए कहते हैं कि 'आपको ऐसा गहिँत कार्य न करना चाहिये था।' अन्तर्ध्वनि प्रत्येक अशुभ, असुन्दर, अनैतिक कार्यके पश्चात् होनेवाली नैतिक प्रतिक्रिया है। जिस व्यक्तिके मनमें आत्माकी आवाज उठती है, उसके परमेश्वर जागे हुए हैं।

चोरी करनेवाले, झूठ बोलनेवाले, धोखा, छल, फरेब करनेवाले, कामी, क्रोधी, दम्भी, ईर्ष्यावान् व्यक्तिके भगवान् सोये हुए हैं। पापी व्यक्तिमें परमेश्वरका अस्तित्व है, किंतु उसके परमेश्वर प्रगाढ़ निद्रामें निमग्न हैं। उसे इसका भान नहीं है कि ईश्वरीय तत्त्व उसमें मौजूद है। यदि किसी प्रकार उसे यह विदित हो जाय कि उसके ईश्वर सोये हुए हैं, तो वह उन्हें जगा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने भगवान्को जगा सकता है। अर्थात् उसके मनमें सत्पथपर अग्रसर होनेकी इच्छामात्र होनी चाहिये। यदि वह सत्-ज्ञानका संग्रह करने लगे, सन्मार्गका पथिक बन जाय, सत्सङ्ग-सच्चिन्तन करने लगे, मनमें पवित्र संकल्पोंको धारणकर शुभ कार्योंमें

निरत हो जाय, तो निश्चय ही वह अपने भगवान्को जगा सकता है।

भगवान् क्या हैं ? आपकी अन्तरात्मामें जो शुभ-संकल्प, सद्भावनाएँ, सत्परामर्श उदित होते हैं, वे भगवान्के स्वरूप हैं। आप जब अपने स्वार्थोंको त्यागकर परमार्थके चिन्तनमें लीन होते हैं, तब आप भगवान्के प्रतिनिधिस्वरूप रहते हैं। जब आप दीन-दुखियोंकी सहायताके लिये दान देनेमें प्रवृत्त होते हैं, तब आप भगवन्मय होते हैं। प्रत्येक अच्छा विचार, सद्भावना, सत्संकल्प, पवित्र स्थानपर जाना आपके मनमन्दिरमें विराजनेवाले परमात्मासे प्रेरित होता है।

जब हम कहते हैं कि अपने भगवान्को जाग्रत करो, तब हमारा अभिप्राय यही होता है कि अपने उच्चस्वरूप (Higher Nature) को विकसित करो। जिस चीजको देवत्व कहते हैं, उसको विकसित करो।

जब भगवान्को जाग्रत करनेका विचार आता है, तब अपने मनका असुरत्व दबानेका, उसको जडमूलमे उन्मूलन करनेका प्रयत्न भी स्वाभाविक है। जो व्यक्ति अपने असुरत्वका दमन करना चाहता है, उसे चाहिये कि वह अपने परमेश्वरको उत्तरोत्तर जाग्रत करता रहे। परमेश्वरको जाग्रत करनेसे दुष्ट विकार, कुत्सित भावनाएँ, ईर्ष्या, प्रतिशोध, क्रोध, घृणा, लोभ इत्यादिका अनर्थकारी ताण्डव शान्त हो जाता है। भगवान्के सम्मुख असुर कैसे टिक सकते हैं। प्रकाशके सम्मुख अन्धकार कैसे टिक सकता है ? सूर्यकी प्रखर रश्मियोंके सम्मुख अन्धकारका अस्तित्व कहाँ ?

तुम भगवान्के प्रतीक हो। तुम्हारा मन भगवान्का मन्दिर है। तुम्हारे शरीरके प्रत्येक अणुमें परमात्म-तत्त्व व्याप्त हो रहा है। तुम्हें अपने इसी सत्-चित्त-आनन्द स्वरूपको विकसित करना चाहिये।

बोधमाला

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

काल बोलता है

समय बदल गया है । विषम समय आ गया है । इस समय जीव समझकर न चलेगा तो उसे निश्चय ही दुःख और विनाशकी प्राप्ति होगी ।

(१) कभी उद्यम मत छोड़ो । काम-धंधा करो । धंधेसे दुःख नहीं मिलता, परंतु धंधोंमें मिला हुआ अधर्म ही दुःखदायी होता है । घरबारी आदमी यदि धर्मयुक्त धंधेको छोड़ना चाहेगा तो वह जरूर दुःखमें जा पड़ेगा ।

(२) किसी प्रकारका भी व्यसन हो, तो जैसे हो, वैसे उसका त्याग करो । दुर्व्यसन शरीर, सम्पत्ति और बुद्धिका नाश करता है ।

(३) अपने बालक और स्त्रियोंको स्वतन्त्र मत छोड़ो । इस समय इतने अधिक आकर्षण और कुसङ्गकी सम्भावना है कि बालक और स्त्रीके ऊपर नजर रखते हुए उनकी भलाईके लिये नियन्त्रण न रक्खा जायगा तो बुरी सङ्गति और बुरे आकर्षणकी ओर जाकर वे विनाशके मार्गमें चले जायँगे ।

(४) कर्ज कभी मत लो, सुख चाहते हो तो व्यापारके लिये भी कर्ज मत ही करो । अपनी पूँजीके अनुसार ही काम-धंधा करो । पूँजी न हो तो नौकरी करके पूँजी बनाओ । जो किसीका देनदार नहीं है, उसके सुखको देनदार जान ही नहीं सकता । जो कभी देनदार नहीं बनता, वह सदा निश्चिन्त रहता है, सुखसे सोता है और सुखसे मरता है ।

(५) सादा कपड़ा, सादा भोजन और सादे व्यवहारका सदा ही सेवन करो । आडम्बर, मोह तथा

दूसरे सारे अनावश्यक प्रसङ्गोंको बंद करो । जिससे जीवन टिका रहे और शरीरको सुख हो, वैसे भोजन और वस्त्रका सेवन करो । जितनी सादगी उतना ही सुख और जितना दम्भ उतना ही दुःख ।

(६) नाटक-सिनेमा आदि देखनेका खर्च तथा बैकामकी मुसाफिरी बंद कर दो । नाटक-सिनेमासे कोई बोध मिलेगा, यह बात बहुत अंशमें झूठी है । नाटक-सिनेमासे लाभ तो नहींके समान है और स्थान, संयोग और सङ्गको देखते हुए असीम हानि है । इनसे शरीर और सम्पत्ति दोनोंका नाश होता है । यह समय जैसे ही वैसे खर्च कम करके कुछ सञ्चय करनेका है । अतएव जिस खर्चके बिना जीवन निभ जाय, उन सारे खर्चोंको बंद कर दो । अपने पास धन हो तो भी उसे इन कामोंमें न लगाकर, परमार्थमें लगाना ही सुखकारक है ।

(७) अपने बालकोंकी शिक्षा तथा उनके पालन-पोषण, चरित्रनिर्माण करनेकी चिन्ता और देख-रेख स्वयं रक्खो । दूसरेको यह काम सौंपनेसे, उसके सङ्गसे उसकी इच्छाके अनुसार शिक्षा और पालन-पोषण तथा जीवन-निर्माण होगा । अपनी इच्छाके अनुसार बालकोंको बनाना हो तो सीधे अपनी देख-रेख और अपने तत्वावधानमें उन्हें रक्खो । किसी अड़चनके कारण बालकोंको किसी भी संस्था या स्थानमें शिक्षाभ्यासके लिये रक्खा जा सकता है, पर खास देख-रेख और सम्हाल तो अपनी ही होनी चाहिये ।

(८) निर्मल जल, अच्छा भोजन, दूध, शुद्ध हवा और प्रकाशका सेवन करो । निर्मलता ही शुद्धता है और निर्मलतासे ही सुख मिलता है ।

(९) घर, कप-लत्ते, घरके आस-पासकी जगह और घरकी तमाम वस्तुओंको स्वच्छ रखो। स्वच्छता ही सुन्दरता है, स्वच्छता ही शृङ्गार है, स्वच्छता ही छस्मीके रहनेका स्थान है। स्वच्छतामें ही भगवान् बसते हैं।

(१०) विचार करके बोलो। विचारकर वचन दो। विचारकर काम करो। पहलेसे ही लाभ-हानि देखकर, जाँचकर, अच्छी तरह विचार किये बिना कोई काम नहीं करना चाहिये।

(११) जुआ या सट्टा कभी न खेलो। जिसको दुःखमय जिंदगी बितानी हो, लाज-आबरू खोनी हो, बर्बाद होना हो, बेमौत मरना हो और इस लोक तथा परलोकसे भ्रष्ट होना हो, उसीको जुए और सट्टेका गस्ता पकड़ना चाहिये।

(१२) अपनेको सम्हालनेका समय है, दूसरोंमें मायापच्ची करनेका समय नहीं। ईश्वरने यदि बहुत अनुकूल स्थिति प्रदान की हो तो भले ही दूसरेका सुधार करो, परंतु अपनेको बिगाड़कर दूसरोंको सुधारने बानेका साहस कभी न करो।

(१३) उद्यम करेगा वह खायेगा, उद्यम करेगा वह निभेगा, बाकी लोग हैरानीमें पड़ेंगे। इसलिये झूठ और छल-कपट छोड़कर मनसे अपना सच्चा उद्यम हमेशा करते रहो।

(१४) रातको नौ बजे सोओ और चार बजे उठो। दस बजे सोओ तो पाँच बजे उठो। दस बजेके बाद जागो मत और पाँच बजेके बाद सोओ मत। उद्यमी पुरुषको सात घंटे सोना चाहिये। नींद शरीर और मनको सुख और शान्ति देती है और थकावट हर लेती है। यों छः घंटेसे भी काम चल सकता है।

(१५) सोनेकी जगह स्वच्छ और एकान्तमें होनी

चाहिये। बिछानेका गद्दा, चादर और ओढ़ना सब कुछ स्वच्छ और निर्मल होना चाहिये। जहाँतक हो सके, एकके बिछौनेपर दूसरा न सोवे। दो आदमी साथ न सोवें। सिर पूर्व या दक्षिण करके सोओ। पश्चिम या उत्तरकी ओर सिर करके कभी नहीं सोना चाहिये।

(१६) भोजन एकान्तमें करो। भोजनका कमरा स्वच्छ होना चाहिये, सजा हुआ हो तो और अच्छा। पूर्वकी ओर मुँह करके भोजन करना चाहिये। भोजनके पदार्थ शरीरके अनुकूल, सात्विक, प्रिय, स्वच्छ, ताजा, शरीर और मनको सुख-शान्ति तथा आरोग्य और आनन्द देनेवाले होने चाहिये। भोजन करते समय कभी कलह या क्रोध नहीं करना चाहिये। खूब शान्ति और आनन्दसे भोजन करना चाहिये। भोजनके कमरेमें फूल या सुगन्धित धूप हो तो अच्छा है।

(१७) प्रतिदिन कुछ एकान्त सेवन करो। प्रतिदिन जितना बन सके, मौन रहो। प्रतिदिन खुली हवामें घूमने जाओ। जितना हो, सत्सङ्ग करो। संत-समागम न हो सके तो संतोंकी पुस्तकोंका बौचन भी सत्सङ्ग है।

(१८) प्रतिदिन अपने अंदर क्या-क्या दोष हैं इसका विचार करो और उसको दूर करनेका उपाय खोजो। उस उपायको आचरणमें लाओ और परमार्थ-के मार्गके विघ्नरूप इच्छा, क्रोध, भय, झूठ, चोरी, दुराचार, दुर्व्यसन, दम्भ, ईर्ष्या, कपट आदि दोषोंको प्रतिदिन धीरे-धीरे दूर करो।

(१९) परनिन्दा और आत्मप्रशंसा कभी न करो। दूसरे करते हों तो उसे सुननेमें प्रीति करो ही मत।

(२०) शरीरका रोग औषधसे या दूसरे उपाचार-

से मिटता है। मनका रोग सत्सङ्ग, भक्ति और धर्मा-
चरणसे मिटता है।

(२१) संसारमें अलग-अलग वस्तुएँ हैं और उनके गुण भी अलग-अलग हैं। उनमें जिनकी जरूरत होती है, उनको हम ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार जगत्में जीवन धारण करनेवाले प्राणीका भी एक स्वभाव होता है। दूसरेका स्वभाव अपनेको न रुचे तो उसका सङ्ग छोड़ देना चाहिये। परंतु दूसरेका स्वभाव हमें अच्छा नहीं लगता, इसलिये वह हमें खुश करनेके लिये कभी अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकता। जगत्में जिसको जो रुचता है, उसका वह संग्रह करता है। जिन वस्तुओंका स्वभाव उसे अच्छा लगता है, उनको वह रखता है। अपना स्वभाव जबतक अपनेको बुरा नहीं लगता, तबतक वह छोड़ता नहीं।

(२२) मनुष्य दुःखको छोड़ता है और सुखको रखता है। अविवेकी मनुष्य तात्कालिक सुखको सुख समझता है। विचारवान् मनुष्य परिणाममें सुख पहचाननेवाले सुखको सुख समझता है। तात्कालिक सुख क्षणभरके लिये होता है, परिणामी सुख चिरकालके लिये होता है। यही बात दुःखके बारेमें है। इसलिये जिस क्रियासे, जिस वस्तुसे और जिसके सहवाससे परिणाममें सुख हो, उसका सेवन करो और परिणाममें दुःख हो तो उसका त्याग कर दो।

(२३) जिस-जिसके साथ रहनेका अवसर आवे, उनके साथ शान्ति, सन्तोष और आनन्दसे रहो। धैर्यपूर्वक कठिनाइयोंको सहन करो; जहाँतक सहन हो वहाँतक साथ रहो; न सहन हो, तब दूर हट जाओ। पर साथ रहकर क्लेश, कलह और दुःख न बढ़ा करो।

(२४) प्रत्येक दुःखमय परिस्थितिके दो ही उपाय हैं—या तो उसको दूर करनेका उपाय करो या उसे

सहनेके लिये धैर्य धारण करो। इसलिये जिसको सुख होना हो, उसे उद्यम और धैर्य दोनोंका सेवन करना चाहिये।

(२५) सत्य, शान्ति, सन्तोष और उद्यम जिस सदा बसते हैं; उसके लिये सारा ब्रह्माण्ड सुखदायी होता जाता है। वह राजाओंका भी राजा है।

(२६) दूसरेकी आशा कभी न करो। आशा दीनता है। आशा दारिद्र्य है। आशासे तेज घटता है। लचारी आती है। आशामात्रका त्याग ही मुक्ति है। अपने स्वरूपको जाने बिना और सत्, चित और आनन्दस्वरूप आत्माको जाने बिना आशामात्र का त्याग नहीं हो सकता।

(२७) कपड़े स्वच्छ पहनो, शरीर स्वच्छ रखो अपनी सारी वस्तुएँ स्वच्छ रखो, गुणोंसे शोभा प्रदर्शित करो, पर पोशाककी टीप-टाप और शृङ्गार आदि अच्छा दिखलानेकी इच्छा न करो।

(२८) मान-बड़ाईकी इच्छा न करो, मिले जहरके समान जानो।

(२९) परस्त्रीके ऊपर दृष्टि न डालो, दृष्टिके द्वारा उसकी वासनारूपी विष मनको मूर्च्छित कर देगा, होश हवास गुम कर देगा और अनेक प्रकारके दुःखें डालेगा।

(३०) दूसरेका उत्कर्ष, दूसरेकी शक्ति, दूसरेकी बल देखकर कभी मत जलो, बल्कि हर्ष प्राप्त करो। तुम वैसा चाहते हो तो उसके लिये सत्य उद्यम करो। भगवान्से माँगो। परंतु दूसरेकी वस्तु हरण करने का नाश करनेकी इच्छा कभी न करो।

(३१) अधर्मकी इच्छाकी अपेक्षा मौतकी इच्छा अच्छी है।

(३२) रूपसे मोहित मत होओ, पर गुणकी इच्छा करो। सुख देनेवाला गुण है, रूप नहीं।

(३३) जगत्का वैभव पूर्वजन्मके पुण्यकी अधीन है। दुःख पापके अधीन है। सुख पुण्यकी

है। सुख चाहिये तो पुण्य करो और दुःख चाहिये तो पाप करो। दूसरेको सुख देना पुण्य है और दूसरेको दुःख देना पाप है। परमात्माकी भक्ति पुण्य है और परमात्माकी विमुखता पाप है।

(३४) दिनमें मत सोओ। दिनमें मैथुन मत करो।

(३५) सत्य और प्रिय वाणी अद्भुत कशीकरण है।

(३६) प्राणीमात्रको हरिस्वरूप देखना और जानना उत्तम-से-उत्तम ज्ञान है।

(३७) जब कोई काम न हो, तब चित्तको प्रभुके नाम-रत्नमें लगाओ। चित्तको कुछ-न-कुछ चाहिये। बेकाम रहेगा तो संकल्प-विकल्प करेगा। अनेकों उपद्रव खड़े कर देगा। इसलिये उद्यमसे छूटनेपर उसे हरिस्मरणका काम सौंप दो।

(३८) हरिस्मरण करते-करते सो जाओ और हरिस्मरण करते उठो। सारे दिन और रातमें बारंबार हरिस्मरण करो। चित्त या तो हरिस्मरण करेगा या भोगस्मरण करेगा। हरिस्मरण करनेसे शान्ति, सुख और आनन्द मिलेगा। भोगस्मरणसे अशान्ति, दुःख और क्लेश मिलेगा।

(३९) दूसरेसे सुख पानेका नाम भोग है। भोगके अर्जनमें दुःख होता है और भोगके परिणाममें दुःख होता है। भोगकालमें क्षणिक सुख जान पड़ता है और भोगेच्छाके शमनसे (चित्तकी शान्तिसे) अनुभव होनेवाला आत्मसुख है। इच्छारहित चित्तकी अखण्ड शान्तिसे अखण्ड सुखका अनुभव होता है।

(४०) भोगेच्छा ही दुःख है, भोगेच्छा ही दुःखका कारण है। भोगेच्छाका त्याग ही मुक्तिकारण है।

(४१) ऊपर देखकर मत फूलो, नीचे देखकर मत चलो। तुम्हारे ऊपर देखकर फूलनेसे, देखो तो सही, कितने जीव तुम्हारे पैरों तले चिंथकर मर जाते हैं। तुम मूर्खतासे यह नहीं समझते कि उनके जीवनका भी

कोई मूल्य है। तुम्हारी काया पञ्चभूतोंकी है और उनकी काया भी पञ्चभूतोंकी है। तुम्हारी कायामें चेतन आत्मा है, उनकी कायामें भी चेतन आत्मा है। तुममें और उनमें कोई भेद नहीं।

(४२) कभी कड़वी बात न बोलो और न क्रोधभरी आँखें दिखाओ। दूसरेका दिल मत जलाओ। भगवान् सबके हृदयमें रहते हैं। प्राणीमात्रका हृदय भगवान्का मन्दिर है। तुम्हारे मर्म-वेधी वचनसे भगवान्का मन्दिर डोलता है और उसमें दरार पड़ जाती है। दूसरेको दुःख देनेसे तुम्हें कभी सुख नहीं मिलेगा।

(४३) तुम्हें सुखी होना हो तो दूसरोंको सुखी करो। तुम्हें दुखी होना हो तो दूसरोंको दुःख दो। तुम्हें धन चाहिये तो सुपात्रको ईश्वरप्रीत्यर्थ धन दो। जो दोगे वही पाओगे।

(४४) बिना समझे जैसे-तैसे मत बोलो। बूढ़ेका, देवताका, आश्रितका, दुखीका, रोगीका, बालकका, त्यागीका, निराश्रितका और गरीबका तिरस्कार करनेवालेको अवश्य दुखी होना पड़ेगा।

(४५) माता-पिता, गुरु और उपकार करनेवाले-ये जीते-जागते परमेश्वर हैं। इनकी सेवा करो, इनका सम्मान करो और इनको प्रसन्न करो। इनको दुःख देनेवाला महापापी है और उसे अनन्त दुःखोंका भाक्त होना पड़ेगा।

(४६) भाई ! यदि तुम व्यापार करते हो तो किसीको कम न दो, एकके बदले दूसरी वस्तु न दो। मिलावट न करो, धोखा न दो, सच बोलो, हो सके तो समानताका बर्ताव करो। स्पष्ट कहो, शान्ति रखो। किसीका अनादर न करो, विनय रखो। तुम-नौकरी करते हो तो किसीको हैरान न करो, घूसन लो, चोरी मत करो। नम्रता, विवेक, सादगी और बुद्धिमानी धारण करो। सबके साथ प्रेम रखो और मिल-जुलकर चलो। (क्रमशः)

परब्रह्म श्रीरामजी

(लेखक—श्रीकुन्दनलालजी नन्दौरया)

राम कृष्ण प्रभु एक हैं रूप तेज तिल रेख ।

इनके दग गंभीर हैं उनके चपल बिसेख ॥

नन्दलाल दशरथतनय उभय एक सरकार ।

नारायण जो दो कहें ते नर बिना विचार ॥

कुछ श्रीकृष्ण-प्रेमी सजन जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और श्रीकृष्णचन्द्रजीकी लीलाओंकी तुलना करने लगते हैं, तब बात-ही-बातमें वे कहने लगते हैं कि 'श्रीकृष्णकी भाँति श्रीराम कभी हँसे नहीं, वे गम्भीर रहे। उनमें प्रसादकी कमी है, आदि। यद्यपि उनमेंसे अधिकांशका यह एक विनोद ही होता है, तथापि लोगोंमें भ्रमधारणा हो सकती है, इसलिये वहाँ इस विषयपर कुछ विचार प्रकट किये जाते हैं। हेतु खण्डन-मण्डन नहीं, केवल भगवान्का गुणगान ही है। भाशा है पाठक इससे प्रसन्न होंगे। यों तो तत्त्वतः भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण एक ही हैं, पर श्रीरामजी अवतीर्ण हुए थे एक चक्रवर्ती सम्राट्के महलोंमें राजा दशरथजीके पुत्ररूपमें। इसके विपरीत श्रीकृष्णजी अवतीर्ण हुए थे एक कारावासी गृहस्थके यहाँ तथा उसी क्षणसे उनका बाल्यकाल बीता था एक (यशोदामैया और नन्द बाबा) गोपके घरमें ग्वाल-पुत्रके रूपमें। प्राकृत्यकी इस विभिन्नताके कारण दोनों अवतारोंकी लीला-कथाओंमें भिन्नता होना स्वाभाविक है।

राजकुमार होनेके नाते श्रीरामजी सबके साथ अबाधरूपसे मिलें, प्रजाजनोंके साथ धमाचौकड़ी करें और हँसते फिरें; यह कदापि शोभनीय नहीं वरं उलटे अशिष्टता और उच्छृङ्खलता कही जायगी। किस परिस्थितिमें कैसे हँसना है, यह वे जानते थे।

जब वे पालनेमें ही झूल रहे थे, तब माता कौशल्याजी-को उन्होंने जो विराट्स्वरूप बताया और हँसे भी। इस शौकीको देखिये—

हरि पूजा नैदेख चढ़ावा। आपु गई जहाँ पाक बनावा ॥

बहुरि मानु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देख सुत जाई ॥

जननी सिसु पहिँ मयमीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥

बहुरि आई देखा सुत सोई। हृदयँ कंप मन धीर न होई ॥

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा ॥

देखि राम जत्रनी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड ।

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥

अग्नित रवि ससिसिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ।

काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ । सोउ देखा जो सुना न काऊ ।

देखी माया सब विधि गाढ़ी । अति समीत जोरें कर ठाढ़ी ।

देखा जीव नचावड़ जाही । देखी भगति जो छोरइ ताही ।

तन पुलकित मुख बचन न आवा । नयन मूढ़ि चरननि सिरु नावा ।

बिसमयवंत देखि महतारी । मप बहुरि सिसुरूप खरारी ।

अस्तुति करि न जाइ भय माना । जगत पिता मैं सुत करि जाना ।

हरि जननी बहुविधि समुझाई । यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ।

जब 'जानु पानि' से विचरण करते हुए काकभुशुण्डि

कीड़ा करते हैं, तब—

पीत शीनि झगुली तन सोही । किलकनि चितवनि भावति मांही ।

रूप रासि नृप अजिर बिहारी । नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी ।

मोहि सन करहिं बिबिधि विधि कीड़ा । बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा ।

किलकत मोहि धरन जब धावहिं । चलउँ मागि तब पूष देखावहिं ।

आवत निकट हँसहिं प्रभु माजत रुदन कराहिं ।

जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं ॥

प्राकृत सिसु इव लीला देखि मयउ मोहि मोह ।

रुवन चरित्र करत प्रभु विदानंद संदोह ॥

✕ ✕ ✕ ✕
भ्रम ते चकित राम मोहि देखा । बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा ।

✕ ✕ ✕ ✕
देखि कृपाल विकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर ।

बिहँसतही मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर ॥

और जब ठुमुक-ठुमुककर चलने लगे, तब—

भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ ।

माजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ ॥

(हँसनेकी अपेक्षा बच्चोंकी किलकारीमें अधिक माधुर्य

है) कैकेयी मातासे वनगमनका समाचार सुनकर श्रीरामजी मुसकरा देते हैं—

सबु प्रसंगु रघुपतिहि सुनाई । बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई ।

मन मुसुकाइ भानुकुल भानू । राम सहज आनंद निवानू ।

बोले बचन विगत सब दुपन । मृदु मंजुल जुन बाग बिमूषन ।

ऐसी दशामें भी विषादका सम्पूर्ण अभाव श्रीरामजीमें है। और गङ्गाजीके तटपर—

पुनि केवट के बैन प्रेम लपटे अटपटे ।
बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन ॥

मुतीक्ष्ण मुनि कहते हैं कि—

अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं । तुम्ह कहैं नाथ निहोरा नाहीं ॥
(तब) —

देखि कृपानिधि मुनि चतुराई । लिप संग बिहसे द्वाँ माई ॥
लर-दूषणकी सेना लड़नेके लिये आती है; परंतु श्रीरामजी हँसते ही हैं—

खि राम रिपुदल चलि आवा । बिहसि कठिन कोदंड चढ़ावा ॥

समुद्रतटपर श्रीलक्ष्मणजी सिन्धु सोखनेको कहते हैं तो—

मुनत बिहसि बोले रघुवीरा । पेसेहिं करब घरहु मन धीरा ॥

और सेतुबन्धपर—

देखि सेतु अति सुंदर रचना । बिहसि कृपानिधि बोले बचना ॥
फिर—

अस कौतुक बिलोकि द्वाँ माई । बिहँसि चले कृपाल रघुगई ॥
मुबेल पर्वतपर पहुँचते हैं, तब—

पवन तनय के बचन सुनि बिहँसे राम सुजान ।

रखिन दिसि अवलोकि प्रभु बोले कृपा निधान ॥

और—

परम चतुरता प्रबन सुनि बिहँसे राम उदार ।

समाचार पुनि सब कहे गढ़ के बालिकुमार ॥

जब लंकाकी समरभूमिमें रावण क्रोधित होकर दुर्वचन कहता है, तब—

मुनि दुर्वचन कालबस जाना । बिहँसि बचन कह कृपानिधाना ॥

तथा जब अपनी सेनाको विकल होते देखते हैं, तब भी श्रीरामजी हँसते हैं—

गुर बानर देखे बिकल हँस्यो कोसलावीस ।

अजि सारंग एक सर हते सकल दससीस ॥

ऐसे प्रसंगोंपर भी श्रीरामजी हँसते थे । अतएव यह कहना कि उन्हें किसीने कभी हँसते नहीं देखे, उचित नहीं है ।

अन्तमें विजयके पश्चात् लंकामें ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हँसी-मजाकका तमाशा करते हैं—

बहुरि बिभीषण भवन सिधायो । मनिगन बसन बिमान मरायो ॥

कै गुणक प्रभु आगे राखा । हँसि करि कृपासिंधु तब भाषा ॥

चढ़ि बिमान सुनु सखा बिभीषण । गगन जाइ बरषहु पट भूषण ।
नम पर जाइ बिभीषण तबही । बरषि दिण मनि अंबर सबही ।
जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं । मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं ।
हँसे रामु श्री अनुज समेता । परम कौतुकी कृपा निकेता ।

मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद ।

कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक विनोद ॥

मालु कपिन्ह पट भूषण पाप । पहिरि पहिरि रघुपति पहिं आप ।

नाना जिनस देखि सब कीसा । पुनि पुनि हँसत कोसलावीसा ।

इससे अधिक प्रसाद और कैसा होता है ?

और तो क्या सद्गज विरारागरूप मनवाले जनकज कहते हैं कि—

सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता । आनंदहू के आनंद दाता ।

श्रीरामजी तो आनन्दको भी आनन्द देनेवाले हैं । उनमें प्रसादकी कमी हो ही नहीं सकती ।

पुराणोंमें चरित्रनायककी मुख्य-मुख्य घटनाओंका ही वर्णन किया जाता है । इसलिये मुख्य प्रसंगोंपर उपयुक्त अवसर उपस्थित होनेपर उचित मात्रामें हास्यका प्रदर्शन करनेमें श्रीरामजी कैसे चूक सकते थे ? प्रतिष्ठाकी जिस ऊँचाईपर श्रीरामजी स्थित थे, उसके अनुकूल जितना भी संयत विनोद स्वाभाविक है, उसकी उनके लीलाक्षेत्रमें किंचित भी कमी नहीं । वेमौके और बड़ोंके सामने ठाठाकर हँसन अशिष्टतासूचक है और विशेषकर जब बड़े, बूढ़े, गुरुजन प्रशंसा करें । इसीलिये जब जनकजीसे विश्वामित्रजी कहते हैं कि—

प प्रिय सबहि जहाँ लगी प्रानी । (तो) मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी ।

और वाल्मीकिजीके प्रशंसा करनेपर—

मुनि मुनि बचन प्रेम रस साने । सकुचि राम मन महुँ मुसुने ।

ऐसा हास्य ही सभ्य और शिष्ट कहा जायगा । जिस प्रकार श्रीकृष्णजी केवल मक्खन खाने और गौएँ चरानेके लिये नहीं अवतीर्ण हुए थे, उसी प्रकार श्रीरामजीने भी हँसोड़पनकी प्रतिभूर्ति बनने और राजगद्दीपर बैठक हुकूमत करनेके लिये राजकुमारका रूप धारण नहीं किया था, इसे न भूल जाना चाहिये ।

दूसरी कमी यह बतायी जाती है कि श्रीरामजीने आजन्म एक रूप धारण किया और कई बार देवताओंके याद दिलानेपर भी उनको अपने स्वरूपका ज्ञान कठिनतासे हुआ

आजन्म एक रूप धारण करनेकी कमी बतानेका क्या अभिप्राय है सो समझ नहीं पड़ता । परंतु उस एक ही रूपसे

नो नयी-नयी लीलाएँ श्रीरामजीने कीं और अपने त्रिलोक-
नायकत्वका परिचय कराया, संक्षेपमें लिखनेका प्रयत्न
केया जाता है।

माता कौसल्याजीको अपने विराट् स्वरूप बतानेका
प्राख्यान पहले कहा जा चुका है। पालनेमें झूलनेवाले
उन जगत्पिताको किसी देवताने आकर याद नहीं दिलायी थी।
इसी प्रकार जानु-पाणिसे विचरण करते हुए श्रीरामजीने
अपना विराट् स्वरूप काकमुशुण्डिजीको दिखाया—

धर माझ सुनु अंडजराया । देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया ॥
अति विचित्र तहँ लोक अनेका । रचना अधिक एक ते एका ॥
आदि-आदि ।

नो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ ।
सो सब अद्भुत देखेउँ वरनि कवनि विधि जाइ ॥
एक एक ब्रह्मांड महुँ रहउँ बरष सत एक ।
रहि विधि देखत फिरउँ मैं अंड कटाह अनेक ॥

× × × ×

अथ धरी महँ मैं सब देखा । मयउँ भ्रमित मन मोह विसेषा ॥
और जब जनकपुरीकी रंगभूमिमें श्रीरामचन्द्रजी
घाते हैं, तब—

जेन्ह कै रही भावना जैसी । प्रभु मूर्ति तिन्ह देखी तैसी ॥
रखिँ रूप महा रनधीरा । मनहूँ बीर रसु धरै सरीरा ॥
रे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी । मनहूँ भयानक मूर्ति भारी ॥
है असुर छल छोनिष बेषा । तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा ॥
रबासिन्ह देखे दोउ भाई । नर भूषन लोचन सुखदाई ॥
नारि बिलोकहिं हरषि हियँ निज निज रुचि अनुरूप ।

अनु सोहत सिंगार धरि मूर्ति परम अनूप ॥

बेदुषन्ह प्रभु विराट मय दीसा । बहु मुख कर पग लोचन सीसा ॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसैं । सजन सगे प्रिय लागहिं जैसैं ॥
रहित बिदेह बिलोकहिं रानी । सिसु सम प्रीति न जाति बखानी ॥
गोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा । सांत सुदृ सम सहज प्रकासा ॥
इरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता । इष्टदेव इव सब सुखदाता ॥
रामहि चितव भायँ जेहि सीया । सो सनेहु सुखु नहिं कथनीया ॥
अनुभवति न कहि सक सोऊ । कवन प्रकार कहै कवि कोऊ ॥
रहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ । तेहिं तस देखेउ कोसलराऊ ॥

× × × ×

नेज निज रख रामहि सत्र देखा । कोउ न जान कलु मरमु विसेषा ॥

यह है त्रिलोकीनाथ श्रीरामजीकी अलौकिक लीला,
जैसे बतानेके लिये किसी देवताने उन्हें याद नहीं दिलायी ।

भीष्मपितामहके शस्त्र-शिक्षक श्रीपरशुरामजी वनुष
भंग-ध्वनि सुनकर रंगभूमिमें आते हैं और रोषमें भरकर
संग्राम करनेके लिये ललकारते हैं, तब श्रीरामजी अपने क्षत्रिय
त्वको अक्षुण्ण रखते हुए परशुरामजीके क्रोधको पानी-पानी कर
देते हैं । बस, परशुरामजी एकदम झुक पड़ते हैं और
श्रीरामजीकी गरिमाको व्यक्त करनेके लिये अपने अन्तस्तलके
मार्मिक भावोंको स्वल्प किंतु अत्यन्त हृदयग्राही शब्दोंमें
प्रदर्शित करनेकी चेष्टा करते हैं—

जय सुर विप्र धेनु हितकारी । जय मद मोह कोह भ्रम हारी ॥
विनय सील करुना गुन सागर । जयति वचन रचना अति नागर ॥
करौं काह मुख एक प्रसंसा । जय महेस मन भानस हंसा ॥
अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता । छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता ॥

तेईस दिन क्या तेईस वर्ष लड़ाई चलती; परंतु उससे
न तो कोई लाभ होता और न संसारके सामने कोई आदर्श
ही रक्खा जा सकता । इसलिये श्रीरामजी अपने क्षत्रियत्वकी
रक्षा करते हुए जिस चतुराईसे संग्रामका अन्त करते हैं,
उससे उनका गौरव पराकाष्ठापर पहुँच जाता है और यही
अनुकरणीय है । यदि आज दिन संसारके सबल राष्ट्र ऐसे
आदर्शोंका अनुसरण करें तो एक महासमरके बाद दूसरा
और दूसरेके बाद तीसरेकी नौबत ही न आवे । अस्तु । यहाँ
भी यदि श्रीरामजीको अपने स्वरूपका भान न होता तो—
बाल ब्रह्मचारी अति कोही । विस्व बिदित छत्रिय कुल द्रोही ॥

भृगुपतिजीको कैसे अपने स्वरूपका ज्ञान करते ?

भरतजी अयोध्यावासियोंको लेकर श्रीरामजीके दर्शन
निमित्त चित्रकूट आते हैं तो—

आरत लोग राम सबु जाना । करुनाकर सुजान भगवाना ॥
जो जेहि भायँ रहा अभिराधी । तेहि तेहि कै तसितसि रख राखी ॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू । कीन्ह दूरि दुखु दाखन दाहू ॥
यह बाँडे बात राम कै नाहीं । जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं ॥

और फिर जब किष्किन्धा-पर्वतपर वानर-कटक जमा
होता है, तब—

अस कपि एक न सेना माहीं । राम कुसल जेहि पूछी नाहीं ॥
यह कलु नहिं प्रभु कइ अधिकाई । विस्वरूप व्यापक रघुराई ॥

फिर लंकाविजय करके भगवान् श्रीरामचन्द्रजी
अयोध्यापुरी आते हैं तो—

प्रेमातुर सब लोग निहारी । कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी ॥
अमित रूप प्रापे तेहि काला । जथा जोगमिले सबहि कृपाला ॥
कृपा दृष्टि रघुवीर बिलोकी । किए सकल नर नारि विसोकी ॥

अन महिं स्वहि मिले भगवाना । उमा मरम यह काहु न जाना ॥
और तो क्या जब शङ्कर-प्रिया सतीजीको संदेह होता है
और वे कपटसे श्रीसीताजीका वेष धरकर श्रीरामजीकी परीक्षा
ले आती हैं, तब अन्तर्यामी भगवान् श्रीरामजी किसी देवता-
के कहनेसे नहीं वरं स्वयं ही अपने त्रिलोकनायकत्वका
परिचय देते हैं—

बहु चितवहिं तहँ प्रभु आसीना । सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना ॥
इसे सिव विधि बिष्णु अनेका । अमित प्रभाउ एक तेँ एका ॥
रुद्रत चरन करत प्रभु सेवा । विविध वेष देखे सब देवा ॥

स्ती विधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप ।

जहिं जहिं वेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप ॥

इसे जहँ तहँ रघुपति जेत । सकिन्ह सहित सकल सुर तेते ॥

शिव चराचर जो संसारा । देखे सकल अनेक प्रकारा ॥

पूजहिं प्रभुहि देव बहु वेषा । रामरूप दूसर नहिं देखा ॥

आदि-आदि ।

श्रीरामजीकी इन अलौकिक लीलाओंसे स्पष्ट है कि उन्हें
अपने त्रिलोकनायकत्वका भान सदा बना रहता था और
अवसर आनेपर जहाँ जैसा चाहिये, ठीक उसी प्रकारसे वे
उसका प्रयोग भी करते थे ।

तीसरी कमी यह बतायी जाती है कि श्रीरामजीने मर्यादा
बोधनेके लिये स्वयं अपनेको मर्यादाओंके बन्धनमें बेतरह
बकड़ लिया । ईश्वर-अवतारमें विश्वास रखनेवाले इस बात-
को मानते हैं कि—

सबस जीव स्वस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकंता ॥
और वैसे तो—

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी । मत हमार अस सुनहु सयानी ॥

फिर भी जब यह बात कही जाती है, तब इसपर भी
विचार कर लेना आवश्यक है ।

श्रीरामावतारके रहस्यको देवाधिदेव श्रीशंकरजीसे अधिक
बाननेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं । उनके विचार सुनिये—

हृदयँ विचारत जात हर केहि विधि दरस्तु होइ ।

गुप्त रूप अवतरण प्रभु गएँ जान सबु कोइ ॥

भगवान्का सहज स्वभाव है कि वे अपने साकार दिव्य
स्वरूपको गुप्त रखते हैं तथा अपने आपको मायाके आवरणसे
आच्छादित किये रहते हैं । वे जानते हैं कि शतरूपारूपी
कौसल्याजी राजमाता होते हुए भी बड़ी सीधी-सादी हैं,—
‘सरल सुभाउ राम महतारी’ । इसलिये जो विराट् स्वरूप
उनको दिखाया है सो अपने लालके प्रेमावेशमें उस रूपका

भंडाफोड़ जहाँ-तहाँ कर देंगी अतएव तुरंत स्पष्ट कह देते
हैं कि ‘यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ।’ केवल अपने
निज भक्तोंको ही भगवान् अपने सगुणरूपमें दर्शन देते हैं ।
उनकी कृपाके बिना उन्हें देख लेनेपर भी यह नहीं जाना
जा सकता कि ये ही भगवान् हैं और इस बातका एकमात्र
प्रमाण यही है कि रामायण और महाभारतके जितने भी
छोटे-बड़े पात्रोंने श्रीरामजी और श्रीकृष्णजीको देखा, पर
सभीने उन्हें भगवान् जाना हो, सो बात नहीं ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी समस्त विद्याओंके निधान हैं,
फिर भी लोकाचारके नाते वे लोकप्रथाका अनुसरण करते हैं—

गुरुगृहँ गए पढ़न रघुराई । अल्प काल विद्या सब आई ॥

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी । सो हरि पढ़ यह कौतुक मारी ॥

विद्या बिनय निपुन गुन सीला । खेलहिं खेल सकल नृपलीला ॥

‘अल्पकाल’ कितनी सुन्दरतासे घटित होता है ।

प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी समझसे समयका अनुमान लगावे,

फिर भी उससे अल्प (कम) चारों वेद जिनके स्वाभाविक

श्वास हैं, उनके लिये इतने दिनमें यह विद्या और उतने दिन-

में वह विद्याकी अवधि कैसे लगायी जाय ? वे भगवान् पढ़ें,

यही एक बड़ा कौतुक (अचरज) है । वे तो मानवरूपमें

आदर्श लीला कर रहे हैं ।

इसके पश्चात् महामुनि शानी विश्वामित्रजी अयोध्यासे
श्रीरामजीको लेकर अपने आश्रमको लौटते हैं तो—

चले जात मुनि दीन्हि दिखाई । मुनि ताड़का क्रोध करि घाई ॥

एकहि वान प्रान हरि लीन्हा । दीन जानि तेहिनिज पद दीन्हा ॥

तब रिषि निज नाथहि जिय चीन्ही । विद्या निधि कहुँ विद्या दीन्ही ॥

भगवान् श्रीरामजी विद्याके समुद्र हैं, कोई उन्हें क्या

विद्या देगा ? उनके एक ही बाणने ताड़का राक्षसीके प्राण

हर लिये । विश्वामित्रजी पहले जानते ही थे, परन्तु अब निज

प्रभुको पहचान भी लिया और विद्याका भण्डार समझते हुए

भी विद्या दी । महामुनि शानी, वयोवृद्ध विश्वामित्रजीसे

श्रीरामजी कहें भी कैसे कि यह सब विद्या उनकी जानी हुई

है, क्योंकि ऐसा कहना उदण्डता जो होती है सो चुपचाप

उनके गुरुत्वको स्वीकार कर लेते हैं । यह है श्रीरामजीका

शील—‘विद्या बिनय निपुन गुन सीला’ और—

बेद पुरान बसिष्ट बखानहिं । सुनिहिं राम जद्यपि सब जानहिं ॥

तत्पश्चात् अपने आश्रमसे श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और

सुनिवृन्दको साथ लेकर विश्वामित्रजी जनकपुरी आते हैं—

बिस्वामित्र महामुनि आए । समाचार मिथिलापति पाए ॥

संग सचिव सुचि मुरि मट मसुर बर गुर ग्याति ।
बहे मिलन मुनिनाथकहि मुदित राउ पहि भौति ॥
और जनकजीका विश्वामित्रजीसे प्रेमालाप होता है—
मुरति मधुर मनोहर देखी । भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ॥

प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर ।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर ॥
कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक । मुनि कुलतिलक कि नृपकुल पालक ॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा । उमय वेष धरि की सोइ आवा ॥
सहज विराग रूप मनु मोरा । थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
वाते प्रभु पूछउँ सति भाऊ । कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥
इन्हि बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा ॥

जब जनकजी सत्य (निश्छल) भावसे पूछते हैं कि बताइये, छिपाव न कीजिये । तब विश्वामित्रजीको ठीक-ठीक उत्तर देना ही पड़ता है । मुनि हँसकर कहते हैं, 'राजन् ! आप यथार्थ कह रहे हैं, आपका वचन मिथ्या नहीं । जगत्में जहाँतक (जितने भी) प्राणी हैं, उन सभीको ये प्यारे हैं ।'

कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका । वचन तुम्हार न होइ अलौका ॥
ए प्रिय सबहि जहाँ लगि प्राणी । मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी ॥
'ए प्रिय सबहि जहाँ लगि प्राणी'—कहनेके पश्चात् ब्रह्म निगमनेति, ब्रह्मसुख आदिकी जो बातें जनकजीने पूर्णों से विश्वामित्रजी कहने जा रहे हैं, परंतु इससे भगवान् श्रीरामजीके अवतारका रहस्य मुनिमण्डली, मन्त्री, योद्धा, ब्राह्मण और जातिके लोगोंके सामने खुलता है । गुरु विश्वामित्रजीको मना भी करें तो कैसे, इसलिये श्रीरामजी मुसकरा देते हैं । वस, विश्वामित्रजी उस मधुर मोहिनी भूर्तिकी मुसकानमें फँस जाते हैं और सांसारिकतापर आ जाते हैं सो 'रघुकुलमनि दशरथ के जाए' आदि बातें कहने लगते हैं ।

निःसंदेह भगवान् श्रीरामजी अपने स्वरूपका विशापन होने देना नहीं चाहते हैं ।

उपर्युक्त कारणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् जब जो रूप धारण करते हैं, उस रूपके अनुसार कार्य भी करते हैं ताकि जनसाधारणपर उनका रहस्य प्रकट न हो ।

भादिकवि वाल्मीकिजी अपने आश्रमपर आये वनवासी श्रीरामजीसे कहते हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनार्द । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥
तुम्हहि कृपा तुम्हहिरघुनंदन । जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥
चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ॥

नर तनु घरहु संत सुर काजा । कहहु करहु जस प्राकृत राजा ।
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे । जइ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ।
तुम्ह जो कहहु करहु सनु सौँचा । जस काछिअ तस चाहिअ नाचा ।

'तस चाहिअ नाचा' को मर्यादाओंके बन्धनोंमें जकड़ लेना और सो भी बुरी तरह, कहते समय इस बातको न भूल जाना चाहिये कि भगवान् स्वतन्त्र तो हैं पर उद्देश्यहीन कार्य करनेवाले नहीं । फिर श्रीरामजीके अवतारका कारण भी तो मर्यादाकी रक्षा है—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति संतु ।

जग विस्तारहिं विसद जस राम जन्म कर हेतु ॥

(और भी)

कस न कहहु अस रघुकुलकेतू । तुम पालक संतत श्रुति संतु ।

भगवान् श्रीरामजीके नित्य-नैमित्तिक कर्म शिष्टाचार विनय, शील, बड़ोंके प्रति आदर आदि इतने पवित्र हैं कि उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यमात्र सहजमेंही देव सम्पत्तियाँ प्राप्त कर ले सकता है । अन्तर्दृष्टिसे उनके नित्य नैमित्तिक कर्मोंके भीतर ही उनकी अलौकिक लीलाओंके और भगवत्सत्ताके दर्शन मिलते हैं; परंतु बाह्य दृष्टिसे उनके ये कार्य करना अपनेको मर्यादाओंके बन्धनों जकड़ लेना प्रतीत होता है । निम्नाङ्कित दोहे-चौपाइयों का कमुशुण्डिजीने इस बातका खुलासा कर दिया है—

भगत हेतु भगवान् प्रभु राम धरेउ तनु भूप ।

किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥

जथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोइ ।

सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ ॥

अस रघुपति लीला उरगारी । दनुज विमोहनि जन सुखकारी ।

जे मति मलिन बिषय बस कामी । प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ।

नयन दोष जा कहँ जब होई । पीत वरन ससि कहँ कह सोई ।

जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा । सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ।

नौकारुद्ध चलत जग देखा । अचल मोह बस आपुहि लेखा ।

बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी । कहहिं परस्पर मिथ्याबादी ।

हरि बिषइअ अस मोह बिहंगा । सपनेहुँ नहिं अग्यान प्रसंगा ।

मायावस मतिमंद अभागी । हृदयँ जमनिका बहु बिधि लागी ।

ते सठ हठ बस संसय करहीं । निज अग्यान राम पर धरहीं ।

इसी प्रकार वनवासमें भगवान् श्रीरामजी जब ऋषि

अगस्त्यजीसे निवेदन करते हैं—

तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ । ताते तात न कहि समझायउँ ।

अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही । जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही ।

तब अमास्यजी कहते हैं—

मुनि मुसुकाने मुनि प्रभु बानी । पूछेहु नाथ मोहि का जानी ॥
तुम्हें मजन प्रभाव अघारी । जानउँ महिमा कछु तुम्हारी ॥

X X X X

ते रूख मच्छक कठिन कराला । तब भयँ डरत सदा सोड काला ॥
ते तुम्ह सकल लोकपति साई । पूछेहु मोहि मनुज की नाई ॥
और अन्तमें खुलासा कर देते हैं—

संत दासन्ह देहु बड़ाई । ताते मोहि पँछेहु रघुराई ॥
श्रीरामजीका यही तो वडप्पन है कि वे संतोंके सामने
अपने त्रिलोकनायकत्वको छिपा लेना चाहते हैं । क्या ऐसे
शीलके आचरणको मर्यादाके बन्धनमें जकड़ लेना कहा
जायगा ! भगवान् श्रीरामजी अपने श्रीमुखसे सातवीं भक्तिका
कथन इस प्रकार करते हैं—

सातवें सम मोहि मय जग देखा । मोते संत अधिक करि लेखा ॥

और भी—

तिन्हते पुनि मोहि प्रिय निज दासा । जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥

गीताके अध्याय ३ श्लोक २१ में श्रीकृष्णजी कहते हैं
कि 'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी
वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ प्रमाण
कर देते हैं, उसीके अनुसार समस्त मनुष्यसमुदाय बरतने
लग जाता है ।' अतएव श्रीरामजी अथवा श्रीकृष्णजीकी
लीला कथाओंका असली आशय और सार-तत्त्व विवेकबुद्धिसे
भी समझमें न आ सके तो कोई विशेष हानि नहीं । छल-
छपट छोड़कर उनके गुणोंका गान करना नवधा भक्तिका
एक अङ्ग है; परंतु इन लीला-कथाओंको स्वेच्छाचारिता
माननेसे समाज-विरोधी उच्छृङ्खल आचरण, उद्धतपन
आदि आदि दुर्भावोंको प्रोत्साहन मिलता है ।

भारत-भूमि इतनी भाग्यवान् और पवित्र है कि
संभवामि युगे युगे'के अनुसार युग-युगमें भगवान् यहाँ
अवतीर्ण होते हैं और फिर समय-समयपर संत-महात्माओंको
दिव्य दृष्टि देकर अपने निर्मल यशका विस्तार करनेकी प्रेरणा

भी करते हैं । ऐसे संत-महात्माओंमें गोस्वामी तुलसीदासजी
भी हो गये हैं, जिन्होंने रामायणको भाषाबद्ध करके काव्य-
ग्रन्थ रामचरितमानसको लगभग पौने चार सौ वर्ष पहले
संसारके सामने रक्खा । श्रीरामचरितमानसको आरम्भ करते
हुए वे लिखते हैं—

श्रीगुरु पद नख मनिगन जोती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती ॥
दलन मोहतम सो सप्रकासू । बड़े माम र आवइ जासू ॥
सूझहिं रामचरित मनि मानिक । गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि, खानिक ॥

X X X X

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमिअ दग दोष बिमंजन ॥
तेहि करि बिमल विवेक विलोचन । बरनउँ रामचरित भव मोचन ॥

विदेशी शिक्षाका प्राबल्य होनेपर भी आज दिन इस
ग्रन्थकी लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी है कि गाँवकी झोंपड़ीसे
लगाकर महल्लोंतकमें रामचरितमानसका पठन-पाठन होता
रहता है । थोड़ा भी पढ़ लेनेवाले बच्चोंसे लगाकर दिग्गज
विद्वान् और बिना पढ़े-लिखे केवल सुनकर, रामचरितमानसमें
सुख, शान्ति और आनन्दका रसास्वादन करते हैं । मनुष्य-
जीवनके उच्च आदर्शोंकी सजीव मूर्तिके दर्शन रामचरित
मानसमें होते हैं, अतः आज दिन यदि कोई अनुकरणीय
ग्रन्थ है तो केवल रामचरितमानस । सीधी, सादी, सरल
भाषामें इस काव्य-ग्रन्थको प्रस्तुत करके गोस्वामी तुलसीदास-
जीने समस्त हिंदूजातिका जो उपकार किया है, वह
अवर्णनीय है ।

स्त्री-पुरुषोंके आदर्श, देवी-देवताओंके भी आदर्श ऐसे
महान् केवल सीता-राम ही हमारे राष्ट्रके आदर्श हो सकते
हैं । भारतवर्षके उच्च नेतागण रामराज्यके नारोंके सहारे
ही स्वतन्त्रता प्राप्त करनेमें समर्थ हुए और आज दिन इसी
रामराज्यको स्थापित करनेके प्रयत्नमें अपनी पड़ी-चोटीका
पसीना एक कर रहे हैं । सीता-रामके आदर्शपर ही समाजको
आधुनिक युगके अनुरूप बनानेमें हमारी भलाई है । समाजके
कल्याणका केवल यही एकमात्र मार्ग है ।*

* भगवान् श्रीरामके स्वरूपके सम्बन्धमें 'कल्याण' वर्ष १३ संख्या ३ में प्रकाशित 'श्रीरामका स्वरूप और उनकी प्रसन्नताका
साधन' शीर्षक लेख देखना चाहिये ।

यज्ञोपवीत-तत्त्व

(लेखक—श्रीसूर्यनारायणजी शास्त्री, काव्यतीर्थ)

वेदविहित कर्म करनेमें मानव-जन्मकी सफलता निहित है। हविर्याग-सोमयागादि श्रौतकर्मोंकी भाँति वेदानुकूल मनुस्मृत्यादिमें प्रतिपादित संस्कारादिरूप स्मार्तकर्म भी वैदिककर्म ही हैं। संस्कारोंकी संख्याके विषयमें आचार्योंका मतभेद है। गौतमधर्मसूत्रमें ४८, वैखानशगृह्य और बृहत्पराशरस्मृतिमें ४०, व्यास तथा जातूकर्ण्यके मतमें १६ एवं दूसरे गृह्यसूत्रोंमें भी संस्कारोंकी संख्या न्यूनाधिक है। ऐसा होनेपर भी यज्ञोपवीतसंस्कार सर्वसम्मत है। इस संस्कारमें दण्ड-मेखला आदिकी अपेक्षा यज्ञोपवीतरूप सूत्रका ही प्राधान्य है; क्योंकि स्नातक होनेके बाद भी यह बना ही रहता है। अतएव संस्कार और सूत्र दोनोंके लिये यह शब्द प्रयुक्त होता है। इसको यज्ञोपवीत क्यों कहते हैं ?

यज्ञाख्यः परमात्मा य उच्यते चैव होतृभिः।

उपवीतं ततोऽस्येदं तस्माद् यज्ञोपवीतकम् ॥

(स्मृतिसारः)

अर्थात् 'यज्ञो वै विष्णुः'के अनुसार वैदिक लोग परमात्माको यज्ञ कहते हैं। उसकी प्राप्तिका साधन होनेसे इसको यज्ञोपवीत कहा जाता है। अथवा इसके धारण करनेके बाद मनुष्य यज्ञ करनेका अधिकारी बनता है। अतः यज्ञके लिये धारण किया जानेसे इसका यह नाम पड़ा है। इस संस्कारमें विद्याप्राप्तिके लिये कुमारको पिता आदि-द्वारा आचार्यके समीप पहुँचाया जाता है। इसलिये इस संस्कारको उपनयन या उपनायन भी कहते हैं। 'व्रतबन्ध' 'ब्रह्मसूत्र' आदि इसके अन्य नाम भी अन्वर्थ ही हैं। इस संस्कारके बाद कुमार (मनु० २। १६९-१७०; याज्ञ० १। ३९ आदिके अनुसार) द्विज—दूसरी बार जन्मा हुआ कहलाता है। यह श्रौत तथा स्मार्त कर्म करनेका अधिकारी बननेका चिह्न है। इससे शान्त तथा तपोमय ऋषिजीवनकी स्मृति जाग्रत् होती है। मनमें पवित्र भावनाका सञ्चार होता है। यथेच्छाचारके स्थानमें मर्यादामय जीवन वितानेकी शिक्षा मिलती है। यह आस्तिकभावनाके आधार सच्छास्त्रों तथा देवता, ऋषियों और अपने पूर्वजोंके प्रति श्रद्धाभाव प्रकाशन करनेका मूलस्तम्भ है।

आजकल आर्यसंस्कृतसे अपरिचित हमारे बहुतसे भाई पाना प्रकारकी उपहासात्मक आशङ्काएँ करते हुए इसको

व्यर्थ सिद्ध करनेका बड़ा प्रयत्न करते हैं। उनकी संज्ञासे निवेदन है कि छान्दोग्योपनिषद् (४। ४। १) के सत्य-काम-जाबालके वर्णनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये बातें सच्छास्त्रों तथा पूज्य पुरुषोंके निदेशानुसार कर्म करके मनको सात्त्विक बनानेपर ही समझमें आया करती हैं। वेद, उपनिषद् और आयुर्वेदादि शास्त्रोंका पूर्ण अनुभव करनेवाले साक्षात्-कृतधर्मा महर्षियोंके वचनोंपर भी यदि हमें अश्रद्धा होती है तो हम आर्यसंतान कहलानेके अधिकारी कभी भी नहीं हो सकते। हाँ, यदि कोई बात समझमें न आये तो उसका विशेषरूपसे अन्वेषण करना चाहिये; क्योंकि—

‘व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्’

अर्थात् ‘सन्दिग्ध स्थलका विचारद्वारा निश्चय करना चाहिये न कि परित्याग।’ कुछ काल पूर्व असम्भव मानी जानेवाली वायुयान, रेडियो आदि वस्तुओंको आज विज्ञानने प्रत्यक्ष कर दिखा दिया है।

यज्ञोपवीत कोई नयी वस्तु नहीं है; किंतु संहिता, ब्राह्मण, उपनिषदादि प्राचीन साहित्यमें इसका पूर्ण उल्लेख मिलता है—देखिये ‘हरिकेशयोपवीतिने’ (शु० यजु० १६। १७); ‘निर्वीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानाम्’ (तै० संहिता २। ५। ११। १); ‘प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे’ (शौनकसंहिता ९। १। २४); (पैप्पलाद सं० १६। ३४। ९) एवं (शौ० सं० ११। ५। ३) ‘होता प्रथमो दीक्षितानां प्राचीनावीतं कृत्वा मार्जालीयं परीयात्’ (काठक सं० ३४। २); (तै० ब्राह्मण १। ४। ६। ६) तथा (काठक सं० ३६। १२); मैत्रायणी (१। १०। १८); (तै० आरण्यक २। १। १); (माध्यन्दिनशतपथ १२। ५। १। ६); (छा० उ० ४। ४। १)। इनके अतिरिक्त काठकश्रौतसङ्कलन पृ० ७२में यज्ञोपवीत ब्राह्मण और उपनिषदोंमें यज्ञोपवीतोपनिषद् (अड्यार सं० पृ० २०७) इसकी प्राचीनकालकी सर्वप्रियताके परम प्रमाण हैं। श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्रोंमें तो इसका बहुत ही उल्लेख है। इससे देश, जाति तथा धर्मकी उन्नति, शारीरिक शुद्धि एवं उदारता आदि भावोंके प्रदर्शनकी भी पूर्ण शिक्षा मिलती है। देखिये—सर्वप्रथम हमारे सामने ९५ प्रतिशत अशिक्षित जनताको शिक्षित बनानेकी समस्या है। इसके लिये बहुत-७

‘ब्रौह्म शिक्षा-केन्द्र’ खोले जानेपर भी सफलता प्राप्त नहीं हो रही है; क्योंकि बहुत-से लोग यह कहते हैं कि ‘हम तो मजदूर हैं। हमको पढ़कर पण्डित या प्रोफेसर तो बनना नहीं है। फिर व्यर्थ माथापच्ची क्यों करें’ इत्यादि। यदि ऐसे लोगोंको धार्मिक पुष्ट देकर समझाया जाय कि ‘यथा-धिकार यज्ञोपवीत धारण कर स्नान और सन्ध्योपासनादि कर्म करना हमारा परम धर्म है। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो लकड़ीके हाथी आदि खिलौनोंकी भाँति नाममात्रके ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कहलाते हैं, वास्तविक नहीं।’

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।

ब्राह्मणस्त्वनधीयानन्नयस्ते नामधारकाः ॥

(पराशरसंहिता अध्याय ८)

इत्यादिरूपसे उनकी धार्मिक भावनाको अपठित मुसल्मानोंकी भाँति बहुत शीघ्र जाग्रत् किया जा सकता है। फिर वे स्वयं ही कुछ-न-कुछ पढ़नेका प्रयत्न अवश्य करते हैं। जिन लोगोंको विशेष मतानुसार यज्ञोपवीत नहीं दिया जाता है, उनकी धार्मिक भावनाको उसके सदृश ‘रामनाम’ आदिके उपदेशसे जाग्रत् किया जा सकता है। इस तरह हमारी वैदिक तथा धार्मिक उन्नतिका मुख्यद्वार—अशिक्षितोंकी तपस्या—बिना किसी विशेष परिश्रमके स्वयं ही खुल सकता है।

दूसरी समस्या चोरबाजारी, जुआ, सट्टा आदि देश और जातिको गिरानेवाले दुष्कर्मोंको दूर करनेकी है। वह भी यज्ञोपवीतके तत्त्व समझने और समझानेसे बड़ी सुगमतासे सुलझाया जा सकती है; क्योंकि इसके प्रत्येक तन्तुमें प्रजापति तथा अग्नि आदि देवताओंका आवाहन किया जाता है। इसके ९६ चर्वोंमें ८० हजार कर्मकाण्ड और १६ हजार उपासनाकाण्डके मन्त्रोंकी और सङ्केत किया जाता है। एक बात और भी है कि प्रत्येक मनुष्य अपने हाथसे साढ़े तीन हाथका होता है और एक हाथ २४ अङ्गुलका होता है। इस प्रकार मानवमान ८४ अङ्गुलका हुआ। देवमान ९६ अङ्गुलका कहा जाता है। इस प्रकार यज्ञोपवीतधारी पुरुषमें ९६ चर्वोंके यज्ञोपवीतके द्वारा ‘देवो भूत्वा देवान् भावयेत्’ के अनुसार ‘देवत्व’ पैदा किया जाता है; क्योंकि यज्ञोपवीत देवताओंका चिह्न माना गया है ‘उपव्ययते देवलक्ष्ममेव कुरुते’, (तै० संहिता २।५।११।१) ‘तेनोपवीतेन देवलक्ष्ममेव देवचिह्नमेव कृते भवति (जायणः) ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा.....उपासीदन् (प्रजापतिम्)’ (मा० शतपथ २।

४।२।१) इसलिये भी यज्ञोपवीती अपने-आपको देवत्वसे युक्त समझकर उदारता आदि गुणोंको धारण करता है। तन्तुओंकी प्रथम त्रिगुणतासे मन, वाणी और कायाके संयम, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके अधिकार, दूसरी त्रिगुणतासे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ-आश्रमस्थ पुरुषोंके अधिकार एवं तीसरी त्रिगुणतासे ‘जायमानो ह वै ब्राह्मणास्त्रिमि-ऋण वा जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः’ (तै० सं० ६।३, १०, ५) बौधायनधर्म (२।६।३५; ९।१६) वासिष्ठधर्म (११।४८) इत्यादि प्रमाणोंके अनुसार पैदा होते ही मनुष्यके सिरपर आये हुए देव, ऋषि तथा पितृ-ऋणमेंसे अवश्य मुक्त होनेकी भावनापर अत्यधिक बल दिया गया है। तन्तुओंमें देवताओंके रूपमें व्यष्टिरूपसे विद्यमान परब्रह्मका ग्रन्थिमें सब तन्तुओंका समन्वय होनेसे—‘एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति’ (ऋ० १।१६४।४६) ‘एकस्यैवात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि’ (निरुक्त ७।४) के अनुसार समष्टिरूपसे बोध कराया जाता है। * तात्पर्य यह निकला कि यज्ञोपवीतमें

* ‘धर्मविज्ञान’ नामक ग्रन्थमें षोडश संस्कारोंके प्रकरणमें लिखा गया है—‘यज्ञोपवीतमें जो नौ तन्तु और तीन दण्ड होते हैं, उनके भी अति गूढ़ तात्पर्य हैं। यथा—

ऌकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च ।

तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता ॥

पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः ।

सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च ॥

सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः ।

ब्रह्मणोत्पादितं स्रवं विष्णुना त्रिगुणोक्तम् ॥

रुद्रेण दत्तो ग्रन्थिवै सावित्र्या चाभिमन्त्रितम् ।

यज्ञोपवीतके नौ तन्तुओंमें नौ देवताओंका अधिष्ठान है।

उनके नौ पृथक्-पृथक् गुणोंके साथ यज्ञोपवीत धारणद्वारा द्विजबालक भूषित हो सकते हैं। प्रथम देवता ऌकार-गुण ब्रह्मज्ञान, द्वितीय देवता अग्नि-गुण तेज, तृतीय देवता अनन्त-गुण धैर्य, चतुर्थ देवता चन्द्र-गुण सर्वप्रियता, पञ्चम देवता पितृगुण-गुण स्नेहशीलता, षष्ठ देवता प्रजापति-गुण प्रजापालन, सप्तम देवता वायु-गुण बलशालिता, अष्टम देवता सूर्य-गुण प्रकाश और नवम देवता सर्व देवता-गुण सात्त्विकता। नवतन्तुयुक्त यज्ञोपवीत धारणद्वारा इन देवताओंका नित्य सरण तथा हृदयमें गुणाधान होता है। इसी कारण नवतन्तु-धारण विधि है। ब्रह्माने यज्ञसूत्रको बनाया है, विष्णुने त्रिगुणित किया है, रुद्रेण ग्रन्थि दी है और सावित्री देवोंने अभिमन्त्रित किया

बहुत-से देवताओंका वास है। इस देवताओंके चिह्नको धारण करके दैवी भावनासे युक्त हुआ मनुष्य देवताओंकी साक्षीमें वेद और धर्मशास्त्रादि सञ्छास्त्रोंमें प्रतिपादित नियमोंके पालन करनेका व्रत लेता है। अब यदि मोटे तौरपर भी विचार करें कि जिस ८, ११ या १२ वर्षके बालकके पवित्र मनमें यह विचार दृढ़ हो गया हो कि मैंने ऐसा व्रत ले रक्खा है, अतः मुझे उसके विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये, तो फिर क्या उससे कभी कोई देश, जाति या धर्म-विरोधी दुष्कर्म हो सकनेकी सम्भावना की जा सकती है? कभी नहीं।

इस संस्कारमें भिक्षा माँगनेकी प्रथा भी बड़ी रहस्यमयी है। राजा और रज्जके बालकको समानरूपसे भिक्षा माँगनी पड़ती है और वह भी सर्वप्रथम अपनी माताजी या उसी जैसी पूज्या किसी दूसरी स्त्रीसे। फिर समस्त भिक्षा गुरुजीको समर्पित की जाती है और उनकी आज्ञा पाकर ही उपभोगमें लायी जाती है। इसपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि इस प्रथासे बालकके मनमें यह संस्कार पैदा किया जाता है कि 'माता-पिताने मुझे जन्म दिया है और आचार्यजीने आचार-व्यवहार सिखाकर इस लोक तथा परलोकमें कल्याण प्राप्त करनेका मार्ग दिखाया है। सारे देशके अन्नसे मैं पला हूँ। अतः माता, पिता, आचार्य तथा देशकी सेवामें इस शरीर-को समर्पण कर देनेमें भी मुझे अपना अहोभाग्य ही समझना चाहिये।' इसपर भी उसको 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव', 'आचार्यदेवो भव', 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' इत्यादिके साथ-साथ 'पृथ्वीसुक्त' तथा 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादिकी पवित्र शिक्षा दी जाती है। अब जरा सोचिये कि क्या कभी ऐसे कट्टर

हैं। ग्रन्थि देते समय इनके स्पर्शद्वारा भी शक्तिलाभ तथा ज्ञानलाभ होता है। यज्ञोपवीतका परिमाण ९६ अङ्गुल होता है, इसका अर्थ यह है कि मानवसमाज ८४ अङ्गुलका है और देवमान ९६ अङ्गुलका होता है। यज्ञोपवीत पहनकर वेदव्रत, ब्रह्मव्रत आदिके अनुष्ठान-द्वारा मनुष्यको देवत्व और अन्तमें ब्रह्मत्व प्राप्त हो—इसी भावको लक्ष्यमें रखकर देवमानका यज्ञोपवीत बनाया जाता है। इसके सिवा तीन दण्डके द्वारा कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्ड—इन तीनों दण्ड अर्थात् संयमकी विधि बतायी गयी है। काय-संयमके द्वारा ब्रह्मचर्यभारण, तपस्यादि; वाक्-संयमद्वारा वृथावाक्य या मिथ्यावाक्य-परिहार और मनःसंयमद्वारा विषयोंसे मनको हटाना यही सब यज्ञोपवीतधारी द्विजमात्रका कर्तव्य है। इस प्रकार उपनयन-संस्कार-द्वारा द्विजगणको महान् लाभ होते हैं।

देशभक्त मनुष्य किसी भी प्रकारसे कभी देश, धर्म या जातिके कोई क्षति पहुँचाने दे सकते हैं? इस प्रकार जिस देशके प्रत्येक बालकके मनमें शुद्ध देशभक्ति आदिके संस्कार पैदा किए जाते हैं, वह देश कितनी उन्नति कर सकता है। प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं ही सोच सकता है। पहले प्रथम मातासे भिक्षा माँगनेका तात्पर्य यह है कि पिताकी अपेक्षा माताका पुत्रपर अधिक स्नेह होता है। भिक्षा देने समय उसको यह ज्ञान हो जाता है कि इस बालकपर केवल मेरे ही अधिकार नहीं हैं किंतु समस्त देशका भी है। इससे वह उसके आवश्यकता होनेपर देशकी रक्षाके लिये प्राणोंकी बलि देने को तैयार होनेसे भी मोहवश रोक नहीं सकती है। कि वीर-क्षत्राणियोंकी भाँति उसको अपने हाथोंसे युद्धका काम पहनानेमें आनन्दका अनुभव करती है।

अथवा भिक्षा माँगनेकी प्रथासे राजा-महाराजा और बड़े-बड़े धनी-मानियोंके बालकोंको भी गरीबोंकी दशा अनुभव कराया जाता है, जिससे कि वे भविष्यमें परोपकारात्मक शुभ कर्मोंको भूल न सकें। इस प्रथाकी सहायतासे ही सुदाम जैसे अति दरिद्र भी श्रीकृष्णजी-जैसोंके साथ समानरूपसे शिक्षा पा सकते थे। इसीसे राजा भोज आदिके समर्थ सभी लोग शिक्षित होते थे। अबतक भी विशिष्ट संस्कृत साहित्य तथा धार्मिक भाव इसीके सहारेसे चलते रहे हैं। अब इस पद्धतिके नष्टप्राय होनेसे बहुत बड़े हुए शिक्षा व्ययको सहन करनेमें असमर्थ १५ प्रतिशत गरीब जनता शिक्षासे वञ्चित हो गयी है।

भिक्षाको लेकर गुरुजीको समर्पित करनेसे बालकके मनमें त्याग और बड़ोंका आदर करनेकी भावना पैदा की जाती है। इससे शिष्यपर गुरुजीका स्नेह भी बढ़ता है, जिससे उसको अपना योग्य पुत्र समझकर पढ़ाते रहे हैं न कि आजकलके ट्यूटर्सकी भाँति। गुरुजीकी आज्ञा पाकर ही भोजन करनेके नियमसे स्वास्थ्य ठीक रखने तथा आत्मसंयम करनेकी शिक्षा दी जाती है।

यज्ञोपवीत अन्य प्रकारसे भी देशकी उन्नतिके लिए साधन है; क्योंकि देशकी उन्नति शिक्षा-व्यवस्थापर निर्भर है और शिक्षा-व्यवस्था आचार्यकी योग्यतापर। आचार्य कहता है—'मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु, मम वाचमेकमेव जुषस्व' (पारस्करगृह्य २।२।१६) 'हे शिष्य! तेरे चित्त और वाणी मेरे चित्त और वाणीके समान हों।' शास्त्रवचनों तथा अनुभवसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है।

कि आचार्यके विचारों तथा रहन-सहन आदिका भावी राष्ट्रसूत्र-सञ्चालक बालकोंके हृदयपर पूर्ण प्रभाव पड़ता है। अतएव अब भी योग्य-से-योग्य विद्वान्को आचार्य बनानेका प्रयत्न किया जाता है। यह बात सब तरहसे उचित तथा शास्त्र-सम्मत भी है। 'तमसो वा एष तमः प्रविशति, यमविद्वानु-स्रयते।' (आपस्तम्बधर्म १।१.११;) हिरण्यकेशिधर्म (१।१.१९) अर्थात् 'जिसका उपनयन करानेवाला भविद्वान् हो, वह बड़े भारी अज्ञानमें पड़ जाता है।' अतः रहले जैसे योग्य आचार्य होते थे, वैसे ही योग्य शिष्य भी थे। अब भी जैसे आचार्य वैसे ही शिष्य और वैसी ही देशकी दशा भी प्रत्यक्ष ही है। यदि सब जोग भलीभाँति समझकर शास्त्ररीतसे—केवल प्रथापूर्तिके लिये ही नहीं—यशोपवीत धारण करने लग जायें तो—
वेदैकनिष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुचिम्।
स्वशाखाजमनालस्यं विप्रं कर्तारमीप्सितम् ॥

(व्यास)

इत्यादिके अनुसार वेदतत्त्वज्ञ शुद्ध हृदय तथा निरालस्य आचार्य भी बनने लग जायें तथा तदनुकूल ही गुरुकुल और शिष्यकुल भी बन जायें तो वह दिन दूर न रह जायगा जब कि भारत—

एतद्देशप्रसूतस्य

सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनु० २।२०)

इत्यादिसे सिद्ध अपने पूर्वगौरवके अनुसार केवल शशियाका ही नहीं किन्तु समस्त संसारका गुरु बन जायगा। एष्य ऋषियोंकी रक्तपरम्परा तथा उपदेशके प्रभावसे आज-कल भी भारत सदाचारमें संसारके सब देशोंमें श्रेष्ठ है।

इस संस्कारकी विधिमें ऋतुओं और वर्षोंका निश्चय भी विशेष महत्त्वका है। सब ऋतुओंमें वसन्त सार्विक है। शीलिये गीता १०।३५ में 'ऋतूनां कुसुमाकरः' कहकर एकको दैवी विभूतियोंमें गिनाया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों तथा निरुक्तके अध्याय ७ में इस ऋतुका सम्बन्ध प्रातःकालसे भी बताया है, वह भी इसकी सार्विकताका साधक है। ब्राह्मण-बालक भी स्वभावतः सार्विक होता है। अतएव 'वसन्तो ब्राह्मणस्यर्तुः' (तैत्तिरीय ब्रा० १।१।२।६;) 'वसन्तो ब्राह्मणः प्रोक्तो ब्रह्मयोनिः स उच्यते' (बृहत्पराशरस्मृति ब्र० १५;) इत्यादि वचनोंसे वसन्त ऋतुका ब्राह्मणसे विशेष सम्बन्ध होनेके कारण इस ऋतुमें दिया गया उपदेश ब्राह्मण-

बालकके लिये विशेष लाभदायक होता है। अतएव ब्राह्मणका अन्याधान भी इसी ऋतुमें विहित है। क्षत्रिय-प्रकृतिका बालक स्वभावतः उग्र होता है, तभी तो उसमें शत्रुओंके दमन और राज्य-कार्य सञ्चालनका सामर्थ्य होता है। ग्रीष्म-ऋतु भी पूर्ण प्रचण्ड होता है। अतएव 'क्षत्रं ग्रीष्मः' (मा० शतपथ २।१।३।७;) 'ग्रीष्मो वै राजन्यस्यर्तुः' (तै० ब्राह्मण १।१।२।७;) इत्यादिमें ग्रीष्मऋतुका क्षत्रिय-प्रकृतिके बालकसे सम्बन्ध बताया गया है। वही उसका उपदेशकाल माना गया है। शरदऋतुमें पोषणशक्तिका विशेष ध्यान रखा जाता है। 'पश्येम शरदः शतम्' इत्यादि इसी बातके पोषक हैं। पोषण-शक्तिके आधार धनके संग्रहका अधिक सामर्थ्य वैश्य-प्रकृतिके बालकमें ही होता है। अतएव 'शरद्वै वैश्यस्यर्तुः' (तै० ब्राह्मण १।१।२।७) इत्यादिमें दोनोंका सम्बन्ध बोधित होनेसे वैश्यप्रकृतिके बालकके लिये यही ऋतु उपदेशके उपयोगी निश्चित हुआ। यह तो हुई ऋतुओंकी बात। अब वर्षोंके निर्णयकी बात भी सुनिये—'गायत्री वसूनां पत्नी' (गोपथब्राह्मण २।९) 'गायत्री ब्राह्मणायानुब्रूयात्' (पारस्करगृ० २।३।७) इत्यादिके अनुसार गायत्री छन्द और सार्विक प्रकृतिवाले वसुओंका ब्राह्मणसे सम्बन्ध सिद्ध होता है। अतः गायत्रीके प्रथमपादके अक्षरों तथा वसुओंकी संख्या आठ होनेसे ब्राह्मण-बालकके यशोपवीतका काल भी अष्टमवर्ष ही निश्चित हुआ। 'त्रिष्टुब् रुद्राणां पत्नी' (गो० ब्रा० २।२।९) 'क्षत्रं त्रिष्टुप्' (मा० शतपथ ३।४।१।१०) इत्यादि वचनोंसे उग्र प्रकृतिवाले रुद्रदेवता और त्रिष्टुप् छन्दका क्षत्रियप्रकृतिके बालकसे सम्बन्ध सिद्ध होता है। त्रिष्टुप् छन्दके प्रथमपादके अक्षरों और रुद्रोंकी संख्या एकादश होनेसे क्षत्रियबालकका उपनयनकाल भी एकादश वर्ष सिद्ध हुआ। एवं 'जगती छन्दा वैश्यः' (तै० ब्राह्मण १।१।९।७) 'जगतो वैश्यः' (ऐतरेय ब्रा० १।२८) इत्यादिसे जगती छन्दका वैश्यप्रकृतिके सम्बन्ध होता है। जगती छन्दके प्रथमपादके अक्षरों तथा पोषणशक्तिप्रधान आदित्योंकी संख्या द्वादश होनेसे वैश्य-बालकका उपनयन-काल भी द्वादश वर्ष निर्णीत हुआ। निरुक्तके सातवें अध्यायमें भी प्रातः सवन, वसन्तऋतु, गायत्री छन्द और माध्यन्दिनसवन ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द एवं सायं सवन, जगती छन्द, शरदऋतु और आदित्यका परस्पर सम्बन्ध बोधन किया गया है।

इसी तरह दण्ड और मेखला आदिका निर्णय भी सात्त्विकादि प्रकृतिके अनुसार ही किया गया है। इनका फिर कभी यथावसर विवेचन किया जा सकता है।

यज्ञोपवीतका मानसिक शुद्धिके साथ-साथ शारीरिक शुद्धि-से भी विशेष सम्बन्ध है। देखिये—सर्वप्रथम यज्ञोपवीत बनानेके लिये शुद्ध—जिसमें गंदा खाद न पड़ता हो—क्षेत्रकी कपास लेकर पवित्र हुई ब्राह्मणीसे कतवावे। (देवलस्मृति)

छेदे विनाशे वा स्नातः कन्यया निर्मितं शुभम्।

विधवाद्याभिरथवा सूत्रं गृहीतं वै शुचिः॥

(स्मृतिसारः)

यहाँ कन्या या विधवा आदिसे कतवानेको कहा है, किन्तु—

विधवानिर्मितं सूत्रमनध्याये च यत् कृतम्।

त्रिच्छिन्नं चाप्यधो यातं भुक्तनिर्मितमुत्सृजेत्॥

(स्कन्दपुराण)

इसमें विधवानिर्मित सूत्रका निषेध किया गया है। अतः वीरमित्रोदयादिमें यह व्यवस्था की गयी है कि यदि पृथवा ब्राह्मणी या कन्याद्वारा काता गया सूत्र मिलना असम्भव हो तो विधवाका काता हुआ भी लिया जा सकता है एवं बीचमें टूट गया सूत्र भी त्याज्य है, परंतु दूसरे सूत्रका मिलना असम्भव होनेपर उसको जोड़कर भी यज्ञोपवीत बनाया जा सकता है। यह तो सूत्रशुद्धिकी बात है। अब धारण करनेकी ओर भी ध्यान दीजिये। यज्ञोपवीत नाभितक ही रहना चाहिये, ऊपर या नीचे नहीं। (कात्यायनस्मृति १।३)

नाभेरूर्ध्वमनायुष्यमधोनाभेस्तपःक्षयः।

नस्मान्नाभिसमं कुर्यादुपवीतं विचक्षणः॥

(बसिष्ठ)

अर्थात् यज्ञोपवीत नाभिसे ऊपर हो तो आयुक्षय और नीचे हो तो तपका क्षय होता है। अतः नाभितक ही रहना चाहिये। इसमें हेतु यह है—‘ऊर्ध्वं वै पुरुषस्य नाभ्यै मेघ्यमवाचीनममेध्यम्’ (तै० संहिता ६।१।३।३; बौधायनधर्म १।५।७५) ‘ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः’ (मनु० १।९२)। इसीलिये शरीरका नाभिसे नीचेका भाग बायें और ऊपरका दायें हाथसे धोया जाता है। यहाँ नाभिसे नीचेके भागको अशुद्ध और ऊपरके भागको शुद्ध बताकर शरीर-शुद्धिपर बहुत ध्यान दिलाया गया है। स्थान-स्थानपर दिये गये ‘स्नातः’ ‘शुचिः’ इत्यादि

विशेषणोंसे भी यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है। स्वास्थ्य-सुधार तो स्वतः ही सिद्ध हो जाता है।

इन्हीं कारणोंसे आचार्योंने यज्ञोपवीत-धारण करना मनुष्य की इच्छापर न छोड़कर अत्यावश्यक कहा है। ब्राह्मणका यज्ञोपवीत अधिक-से-अधिक १६, क्षत्रियका २२ और वैश्यका २४ वर्षतक किया जा सकता है। इसके बाद वे व्रात्य—सर्वधर्मबहिष्कृत—कहलाते हैं। यज्ञोपवीतसंस्कार होनेके बाद इस यज्ञोपवीतको प्रतिक्षण धारण किये रहना चाहिये, न कि यथावसरपर—कभी-कभी। क्योंकि—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।

विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

(कर्मप्रदीप १-४)

अर्थात् यज्ञोपवीत और शिखाअन्धिके बिना किये गये सब कर्म निष्फल होते हैं।

प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञोऽप्रसृतोऽनुपवीतिनः।

(तै० आरण्यक २।१।१)

अर्थात् यज्ञोपवीतधारी पुरुषका यज्ञ प्रसृत=उत्कृष्ट फल देनेवाला होता है। ‘यज्ञोपवीती देवेभ्यो दोहयति।’ (मा० शतपथ १२।५।१।६) ‘यज्ञोपवीतधारी पुरुष देवताओंसे अभीष्ट फल प्राप्त करता है। गुरु, वृद्ध तथा अतिथियोंकी सेवा, जप, होम, स्वाध्याय और भोजनके समय यज्ञोपवीत अवश्य होना चाहिये। (आपस्तम्बब्राह्मण सूत्र १।१५।१)।

विना यज्ञोपवीतेन भोजनं कुरुते द्विजः।

अपि सूत्रपुरीषे च रेतःसेवनमेव च॥

त्रिरात्रोपोषितो विप्रः पादकृच्छ्रं तु भूमिपः।

अहोरात्रोपोषितो वैश्यः शुद्धिरेषा पुरातनी॥

(बृहत्पराशरस्मृति अध्या० ९)

इत्यादि वचनोंके अनुसार यज्ञोपवीतके बिना सूत्र तथा पुरीष (शौच) तकका निषेध किया गया है। यहाँ शङ्का होती है कि यदि किसी गहन वनमें या अन्य किसी ऐसे स्थान में—जहाँ कि यज्ञोपवीत मिलना असम्भव हो—यज्ञोपवीत टूट जाय तो अत्यावश्यक मूत्रणादि क्रिया कैसे करनी चाहिये। इसके लिये वीरमित्रोदयमें निगमपरिशिष्टका वचन है—

वाससा यज्ञोपवीतानि कुरुते, तदभावे त्रिवृता सूत्रेण

कुशमुज्जबालत्वक्शणरज्जुमेव वेति।

अर्थात् कुश, उज्जबाल, त्वक्, शण, रज्जु, ताम्रपत्र, किसी अँगोछे आदि वस्त्र, उल्लेख

अभावमें त्रिगुण धागा अथवा कुश, मुञ्ज, गोवालवृक्षकी छाल, शण तथा कुछ भी न मिले तो किसी भी तृणकी रस्सीको यज्ञोपवीतकी भाँति धारण करके आवश्यक क्रियाएँ पूर्ण कर लेनी चाहिये। तथा च—

कार्पासश्चौमगोवालशणवल्कतृणोद्भवम् ।

पदा सम्भवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः ॥

(देवलस्मृति)

इस विषयमें और भी बहुत-से प्रमाण मिलते हैं।

यज्ञोपवीत परम पवित्र है। शौचादिके समय निम्नाङ्ग अशुद्ध हो जाते हैं, इसलिये यज्ञोपवीतको दक्षिण कानपर चढ़ाया जाता है। इसमें और भी रहस्य है तथा अन्य बहुत-सी बातें विचारणीय हैं। अस्तु।

इस प्रकार यज्ञोपवीत देश, जाति और धर्मकी उन्नतिके साथ-साथ मानसिक तथा शारीरिक शुद्धि, स्वास्थ्यवृद्धिका हेतु होनेके कारण ऐहिक और पारलौकिक कल्याणका निदान सिद्ध होता है।

ज्ञानतत्त्वान्वेषण

(लेखक—आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्. ए.)

ज्ञान होनेसे ही ज्ञाता भी होगा, ज्ञेय भी होगा। ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता एक त्रिकोण-मण्डल । इन तीनों कोणोंको सांख्य और समाधि-साधनाके संघर्षणसे घिसकर, क्षीणकर, लीन कर देनेपर जो बच रहता है, वही है कैवल्य। अर्थात् केवल पुरुष। प्रकृतिविमुक्त पुरुष। ज्ञेयका ज्ञानमें पर्यवसान होता है। ज्ञान ज्ञातामें पर्यवसित हो जाता है। रहता है निष्क्रिय निर्गुण स्वरूप-प्रतिष्ठित चितिशक्तिमात्र पुरुष। इन्द्रिय-मन-बुद्धिके लिये कुछ भी करणीय नहीं रहता। अतएव सब कुछ लुप्त हो जाता है। 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्। स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।' पातञ्जलदर्शनकी यह अन्तिम बात है। गीताके 'आत्मसंयम-योगान्नौ बुद्धिर्ज्ञानदीपिते।' (४ । २७) वाक्यका यही अर्थ है। अध्यात्मयोग-हुताशनसे सब कुछ भस्मीभूत हो जाता है। रह जाता है निर्विकार निष्पन्द पुरुषमात्र।

निर्विशेष अद्वैतज्ञाननिर्देशित महाशान्तिमय, महाशून्यमय निर्वात नभोमण्डलकी ओर आरोहण करनेका प्रयास परित्यागकर हम स्वतःपूर्ण, सदापूर्ण, शतलक्ष-वस्तुभाव-सम्पन्न ज्ञानका अन्वेषण करेंगे। जो ज्ञान सर्वैश्वर्य, सर्वसौन्दर्य और सर्वरस-सम्पदका वहन करता है, जो ज्ञान पूर्णामृतमय है, हमारा वाञ्छित वही ज्ञान है। साधारणभावमें ज्ञाता जीव है, ज्ञेय जगत् है और जगत् जिस रूपमें अन्तःकरणमें प्रतिभासित होता है, वही ज्ञान है। किसी पदार्थके सम्बन्धमें हम जो जानते हैं, उसमें उस पदार्थका सत्य ज्ञान रहता है या मिथ्या ज्ञान, आंशिक ज्ञान रहता है अथवा विकृत ज्ञान ! जिसको वास्तविक समझते हैं, वह वास्तविक है या

काल्पनिक ? यदि बाह्य जगत् है तब क्या उसको जानना सम्भव है ? हम जिसको जानते हैं, वही असली जगत् है या स्थिर स्वप्नमात्र है या वास्तवका आभासमात्र, मिथ्या छायामात्र, गोरखधन्धामात्र अथवा वाष्पका आवरण-मात्र है ? सत्यको जानने और समझनेकी शक्ति मनकी कितनी है ? इत्यादि सैकड़ों प्रश्न, सैकड़ों संशय-सन्देह पाश्चात्य दार्शनिकोंने उठाये हैं और उनका अद्भुत-अद्भुत उत्तर देनेकी चेष्टा की है इन दार्शनिकोंके मानसिक स्वास्थ्यके सम्बन्धमें, सहजज्ञानयुक्ताके सम्बन्धमें हमें बड़ा सन्देह है। मनुष्यकी भूल-भ्रान्ति मिथ्या धारणा कल्पना बहुत हैं। उनका संशोधन भी है। किंतु शतसहस्र वर्षोंसे, शतसहस्र लक्ष लोगोंके द्वारा जो जगत् शतसहस्र प्रकारसे सत्य-वास्तव रूपमें जाना गया है और जाना जा रहा है, उसे असत्य-अवास्तव, मानसिक सृष्टिमात्र कहना बड़ा दुःसाहस है। प्रतिदिन जिसको एक ही प्रकारसे देख रहे हैं, वह सत्य नहीं; तब सत्य क्या है ? चाहे नित्य न हो, परंतु उसके व्यावहारिक सत्यको, सामयिक वास्तवताको कैसे अस्वीकार किया जा सकता है।

पारमार्थिक सत्य क्या है, हम कुछ नहीं जानते। जिस वस्तुका सदा परिवर्तन होता रहता है, जो सदा रूपान्तरित, भावान्तरित होती है, वह वस्तुतः अर्थात् तत्त्वतः क्या है, यह हम नहीं जानते। तथापि इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हमारी मानसिक प्रतिच्छविका एक बाह्य कारण, एक सत्य पदार्थ निश्चय ही है। वह पदार्थ शत-शत मनोंके ऊपर एक ही प्रतिभास डाल रहा है।

नारियलका वृक्ष आमका वृक्ष किसीको नहीं लगता। सभी देखते हैं नारियलका वृक्ष है। कोई भी उसे आमका या अन्य कोई वृक्ष नहीं देखता। कुत्तेको कोई बिल्ली नहीं समझता, बिल्लीको कोई कुत्ता नहीं समझता, यद्यपि दोनों ही प्राणी चार पैर और पूँछवाले हैं। उन्नीसवीं शताब्दिमें जो घोड़ा था, बीसवीं शताब्दिमें वह बैल नहीं हो गया। बाह्य जगत् सत्य ही है, मनका छायाभास नहीं है। मनकी भूलसे नदी कभी पहाड़ नहीं होती, जल कभी फल नहीं हो जाता।

हम जो विषय देखते हैं, उनमें बहुत भूल-भ्रान्ति होती है और देखनेके भी बहुत भेद होते हैं। अलग-अलग लोगोंका देखना अलग-अलग प्रकारका होता है। एक मनुष्यका देखना भी अलग-अलग समयमें अलग-अलग प्रकारका होता है। इसके अतिरिक्त स्वाभाविक साधारण इन्द्रियके द्वारा होनेवाला अनुभव एक श्रेणीका होता है—एकजातीय होता है। और मन तथा इन्द्रियोंको समाहित करके ध्यान-धारणा-समाधिके मार्गसे जो दर्शन, अनुभव या ज्ञान होता है, वह भिन्न प्रकारका होता है। वही सम्यक् दर्शन है। धारणा-ध्यान-समाधिके बिना विषयका यथार्थ ज्ञान कभी नहीं होता। पातञ्जल-दर्शनकी भाषामें जो 'अर्थमात्रनिर्भासस्वरूपश्चैवमिव,' मैं जानता हूँ यह ज्ञान वहाँ नहीं रहेगा, मन विषयमें निमग्न हो जायगा। ऐसा जो जानना है वही यथार्थ जानना है। इसीके द्वारा विषयका यथार्थ ज्ञान होता है। विषयका तत्त्व जाननेके लिये और उपाय नहीं है। इसीका नाम है—अध्यात्मयोगाधिगम। वही सत्य ज्ञान है। इसी ज्ञानप्रणालीका नाम समापत्ति या सविकल्पादि समाधि है। इसमें मानस-दृष्टिकी रश्मियाँ विषयके मर्मस्थलमें प्रवेश करती हैं। इसीसे विषयका तत्त्व प्रकट होता है। हम बाह्यदृष्टिसे जो कुछ देखते हैं, वह बाह्यवस्तुका बाहरी आवरणमात्र है। सत्य वस्तुका ग्रहण तो समाधिरूपसे ही होता है।

पाश्चात्य दार्शनिकोंके ज्ञानानुभवकी धारणा और तत्त्व-विषयक उनकी गवेषणा तो पल्लवग्राहिता अथवा बालकोचित जल्पना है। लॉक, ह्यूम, बर्कले आदिकी विचारपद्धति भारतवर्षमें ग्राह्य नहीं है। ये सब Theory of Knowledge श्रद्धाके योग्य नहीं हैं। काण्टने अवश्य अपने Critique of Pure Reason प्रभृतिमें बहुत-सी गम्भीर ज्ञानगहन बातें कही हैं; परंतु सांख्यज्ञानकी तुलनामें

—समाधिलब्ध ज्ञानकी तुलनामें दूसरे सभी ज्ञानतन्त्र अश्रद्धेय हो जाते हैं। सांख्य, पातञ्जल और वेदान्त समस्त तत्त्वदर्शनोंमें शीर्षस्थानीय हैं। इस सम्पर्कमें हमें वेदान्तज्ञान मयी गीताकी एक वाणीका स्मरण आता है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥४॥

जो योगी नहीं है, वह ज्ञानी नहीं है। लोक असंदिग्ध बात उल्लेखयोग्य नहीं है। बर्कले आदिका ज्ञान काल्पनिक है

ज्ञानका उद्देश्य है—बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् का है, उसका क्या रूप है, क्या प्रकृति है, क्या भाव है, क्या व्यापार है—इसको प्रकट कर देना। परंतु जो मन जानता है, वह अन्तःकरण ज्ञान आहरण करता है, वह कोई स्थावर अर्थ Static यन्त्र या शक्ति या तत्त्व नहीं है। अन्तःकरण विकाशशील या सङ्कोचशील है। प्रवर्द्धमान या प्रक्षीयमान है। अतएव बाह्यजगत्का या अन्तर्जगत्का ज्ञान—अर्थ जिसे 'ज्ञान' कहा जाता है, वह विभिन्न होगा ही। और नाना मनोमें सङ्गहीन ज्ञान नाना प्रकारका होगा ही। तब फिर जगत्के यथार्थज्ञानकी प्राप्ति कैसे होगी? उसकी प्राप्ति एक ही उपाय है और वह उपाय भारतवर्षमें ही है। अन्य नहीं है। पाश्चात्य विज्ञान Observation, Experiment और Induction के द्वारा बाह्यजगत्के जिस ज्ञानका संग्रह करके जगत्में प्रचार कर रहा है। यह ज्ञान बहुत अंशों भ्रान्तिहीन और विश्वासयोग्य होनेपर सम्पूर्ण रूपमें नहीं है। परंतु अन्तर्जगत्के और अतीन्द्रिय तथा अतिप्राकृतिक सत्य का और सत्ताका जो ज्ञान पाश्चात्य दर्शनविज्ञान अथवा कल्पनानुमानके द्वारा आहरण करता है, वह तो परस्पर विवदमान है। एकका स्वीकार करनेसे दूसरेका त्याग करना पड़ता है। अतएव विश्वासयोग्य या निर्भर करने योग्य नहीं है। कारण, वह सारा काल्पनिक ज्ञान है। तत्त्वभित्ति रहित अनुमान-संग्रहीत है। श्रीशङ्कराचार्यकी भाषामें 'स्वप्नमिह' मात्र है। दार्शनिक या चिद्विज्ञानप्राप्त ज्ञान नहीं है। अन्तश्चित्तालोकमें—हृदयाकाशमें प्रकाशित ज्ञान नहीं है। नित्य, सत्य, तत्त्वप्रतिष्ठित, अभ्रान्त, संशयहीन ज्ञान वह है, जो किसी प्रकार भी अन्यथा प्रमाणित नहीं हो सकता। उस ज्ञान-लाभका उपाय एकमात्र भारतवर्षमें ही है। वह है—अध्यात्मयोगविद्या। यह योगलब्ध ज्ञान असंदिग्ध होता है। श्रुतिकी भाषाका अनुकरण करके कहा जा सकता है—

afflatus, Revelation, Apocalypse आदि ज्ञान-लभकी जितनी प्रणालियाँ यूरोपमें सुनी जाती हैं, वे सभी 'अध्यात्मयोगाधिगम' हैं। सभी योगसंसिद्धिसंज्ञात ज्ञान हैं। अनुमान (Speculation) के द्वारा बर्कले, स्पाइनोजा लिबनिज आदि इस ज्ञानको नहीं प्राप्त कर सके।

योगप्रणालीकी कई सोपान-श्रेणियाँ हैं। उच्चसे उच्चतर अनेकों भूमियाँ हैं। धारणा-ध्यान-समाधिकी प्रकृतिके विषयमें भी अनेकों भेद हैं। इन भेदोंके द्वारा योगलब्ध ज्ञानमें भी भेद होता है—सवितर्क-निर्वितर्क, सविचार-निर्विचार, सविकल्प-निर्विकल्प आदि। साधारण अवस्थामें चित्त अत्यन्त मलिन और विकृत रहता है। उसमें कुछ भी परिस्फुट नहीं होता—कोई भी प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। ऐसे चित्त-मनके द्वारा हम जो कुछ देखते हैं, सो तो देखना ही नहीं है। वह तो अन्धप्राय व्यक्तिके देखनेके समान है। चित्तको निर्मल करनेका—स्फटिकके सदृश स्वच्छ करनेका उपाय है। इस उपायका नाम है—अष्टाङ्गयोग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। तप, शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच प्रकारके नियम हैं। योग यथार्थमें षोडशाङ्ग है। एक-एक अङ्गके साधनसे एक-एक विशेष शक्तिका स्फुरण होता है। जैसे अहिंसा सिद्ध होनेपर हिंस व्याघ्रादि पशु भी योगीके सामने हिंसा नहीं करते। अपरिग्रहसिद्धिसे योगीको पूर्वजन्मकी स्मृति प्राप्त हो जाती है। स्वाध्यायसिद्धिसे योगीको इष्टदेवताके दर्शन होते हैं। प्राणायामसिद्धिसे दिव्य दृष्टिकी प्राप्ति होती है। योगसाधना जैसे-जैसे क्रमशः चलती है, वैसे-वैसे ही चित्त-मनका विकास होता जाता है और उच्चसे उच्चतर भूमिपर आरोहण होता रहता है तथा नयी-नयी शक्तिका उन्मेष होता रहता है।

ज्ञानसिद्धिकी प्राप्तिके लिये योगानुशासन मानना ही पड़ेगा। योगसाधना ही ज्ञानसाधना है। 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।' योगसाधनाके द्वारा ज्ञानसाधना परमार्थसाधनामें परिणत हो जाती है।

योगसाधनासे इन्द्रियाँ मनके अधीन हो जाती हैं और तीक्ष्ण और तेजस्वी हो जाती हैं। मन निर्मल हो जाता है। उज्ज्वल हो जाता है।

कारण, इन्द्रियोंकी बाह्यविषयोंके मार्गमें विचरण करनेकी प्रवृत्ति नियमित और निरुद्ध हो जानेसे व्यर्थ वासनाकी मलिनता मनसे मिट जाती है। मन सात्त्विकी और सन्मार्ग-गामिनी बुद्धिके साथ संगत हो जाता है। अहङ्कारकी अनात्मभावात्मिका अहमिका उस शुद्ध बुद्धिमें मिल जाती है। सुनिर्मल बुद्धि शान्त स्वच्छ चित्तके सहित सुखमय शुभ संयोग प्राप्त करती है। वह भगवज्ज्योतिका प्रकाश करने योग्य हो जाती है। इस पुण्य चित्तभूमिमें वह गुणमयी मायाके मोहसे मुक्त हो जाती है। इसी भूमिमें 'प्रकृति-पुरुषविवेक-ख्याति' सम्भव होती है। इस विवेकख्यातिके प्राप्त होते ही साधक सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वशातृत्वको प्राप्त हो जाता है। यही ज्ञानसाधना-सिद्धिकी पराकाष्ठा है। इसके बाद है कैवल्य या मोक्ष। ज्ञानसाधना और अध्यात्मसाधना पृथक्-वस्तु नहीं है।

मनुष्य केवल मनुष्य नहीं है। यह मनुष्य नाना अचिन्तनीय, अतिमानुष अप्राकृत शक्तिका, दिव्य शक्तिका अशेष आधार है। योगसाधनाके द्वारा यह प्रमाणित होता है। पाश्चात्य दार्शनिकगण इस अपूर्व साधनाका और इसके द्वारा प्राप्त आश्चर्यशक्तियोंका कुछ भी सन्धान किसी समय भी नहीं पा सके हैं। उन्होंने साधारण ध्यान-धारणा और मनोयोगके द्वारा कल्पना और अनुमानका आश्रय लेकर विश्वतत्त्व और मनस्तत्त्वको समझनेकी चेष्टा की है एवं रचना-कला-कौशलके द्वारा अपने विचारोंको सजाकर और कल्पनाओंको एकत्रकर ग्रन्थ लिखे हैं। उन्हीं ग्रन्थोंका नाम हो गया है—दर्शन। ये दृष्टिहीन दर्शन हैं। वहिव्याहृत विलोकन है। स्वप्नालोकित भाव-विचार-विवेचनका विलास है। अन्धकारमें खद्योतिकाकी ज्योतिच्छटा है। भारतीय ज्ञानसाधन-प्रणालीके सम्बन्धमें दूसरे लेखमें और भी आलोचना की जायगी।

प्रार्थना

श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर । संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ॥
हे श्रीकृष्ण ! रुक्मिणीकान्त ! गोपीजन-मन-हारी ! जगद्गुरो ! संसारसागरमें डूबे हुए मुझको उबारिये ।

दाताकी जय हो !

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

कुएँपर रक्खा पत्थर पानी खींचनेकी रस्सीसे बराबर रगड़ता रहता है और उसपर लकीरें पड़ जाती हैं; इसी प्रकार कोई एक ही शब्द बराबर रटा करे तो उसकी जीभपर या मस्तिष्कपर कोई विशेष लकीर पड़ती है या नहीं, यह बताना तो शरीरशास्त्रके विद्वान्का काम है। मैं तो इतना जानता हूँ कि जहाँ वह नित्य बैठा करता था, वहाँका पत्थर कुछ चिकना हो गया है। श्रीबाँकेविहारीजीके मन्दिरके बाहर कोनेवाली सँकरी सीढ़ीके ऊपर वह बैठा था और एक ही रट थी उसकी—'दाताकी जय हो !'

मैं अनेक बार दर्शन खुलनेसे पर्याप्त पूर्व पहुँचा हूँ। वैसे भी श्रीबाँकेविहारीजी बड़े मनमौजी ठाकुर हैं। कभी उठेंगे तो साढ़े नौ बजे ही उठ जायँगे और नहीं तो बारह बजेतक भी दर्शनार्थी गर्भगृहके फाटककी ओर टकटकी लगाये रहेंगे। अनेक बार मुझे एक घंटेसे भी अधिक दर्शनकी प्रतीक्षामें बैठना पड़ता है। इतनेपर भी कभी ऐसा नहीं हुआ कि मैंने उसे उस सीढ़ीके ऊपरी भागपर अनुपस्थित पाया हो। वह कब वहाँ आकर बैठा था और कब वहाँसे उठता था, यह मुझे पता नहीं। इतना महत्वपूर्ण वह नहीं था कि कोई भी उसके आने या चले जानेपर ध्यान दे। मुझे आशा नहीं कि सीढ़ीके पास या सामनेकी दिशामें जो तनिक हटकर दूकान है, उसके दूकानदार भी उस भिखारीके वहाँ बैठने तथा वहाँसे जानेका समय बता सकें।

जैसे दीमकोंने किसी मिट्टीके ढेलको चारों ओरसे खा लिया हो या चूहोंने किसी फलको ऊपर-ऊपरसे कुतर लिया हो, भगवती रासभवाहिनीने उसके मुखको ऐसी ही आकृति दे दी थी। शीतलादेवीने उसकी

आकृति ही नहीं विगाड़ी थी, उसके नेत्र भी लिये थे। उसके नेत्रोंमेंसे एक तो बाहर निकल-आया था और दूसरा धँसकर लाल रंगका पतला गड्ढामात्र रह गया था। उन नेत्रोंकी ओर देखना किसीके लिये भी अरुचिकर था और इसीलिए यदि मैं उसकी पूरी हुलिया ठीक-ठीक न बता पाऊँ तो मुझे पूरी आशा है कि आप मुझे क्षमा कर देंगे; क्योंकि आप समझ ही सकते हैं कि वह कोई दर्शनीय पुरुष नहीं था। मैंने तो जितना एक दृष्टिमें देखा जा सकता है, अनिच्छापूर्वक उसे देखा है और क्योंकि ऐसा बार-बार करना पड़ा है, इससे मुझे इतना और पता लग गया है कि उसपर लकवेने भी कभी कृपा की थी। उसका एक हाथ और एक पैर लगभग तभीसे पेश-पाने योग्य हो गये। वह घसिठता हुआ ही चल पाता था।

मन्दिरके मुख्यद्वारके सामनेकी सीढ़ी पर्याप्त चौड़ी है; किंतु भिखारी बैठना चाहते हैं और बैठते हैं कोनेवाली सीढ़ीके पास। वह सीढ़ी बाजारकी ओरसे आनेवालोंको पहले मिलती है, अतः लोग उसीसे ऊपर चढ़ते हैं और उसीसे उतरते भी हैं। सँकरी है वह सीढ़ी और भीड़ भी उसपर अधिक रहती है। उसके ऊपरी भागमें दोनों ओर कठिनासे दो-दो मनुष्य दब-सिकुड़कर बैठ सकते हैं। दो वृद्धा बंगाली भिखारिणें बैठती हैं, एक कोई और भिक्षुक तथा एक वह अन्ध बैठा करता था।

मैले फटे चिथड़े थे उसके शरीरपर और जो बायाँ हाथ काम कर सकता था, उसमें अल्मोनियमकी एक पिचकी मैली कठोरी रहती थी। अपनी कठोरी वह प्रायः आगे बढ़ाये रहता था और जैसे जप करता हो।

एक ही रट लगाये रहता था—‘दाताकी जय हो !’

बाबू लोग और बाबा लोग दोनों ही उस गंदे भिखारी-को छू जानेके भयसे वहाँ पहुँचकर झिझक उठते थे और उनके एक ओर हटनेके प्रयत्नमें वहाँ दूसरे यात्रियों-को धक्का लगना एक सहज क्रिया हो गयी थी। चटक-मटक करती, चप्पलें चटकाती महिलाएँ उसे देखकर मुख फेर लेतीं। उनकी नाकसे अकारण ही रुमाल जा टकराता था। कभी कोई श्रद्धालु चाबू या कोई वृद्धा उसकी कगरीमें एक पैसा या कोई फल अथवा किसी अन्नके कुछ दाने डाल भी देते थे और तब उसके कण्ठमें उत्साह आ जाता था। वह अधिक उच्चध्वनिसे कहता था—‘दाताकी जय हो !’

लोग उससे घृणा करते थे, उसे देखकर दूर हटते थे, नाक-भौं सिकोड़ते थे; किंतु उसे इससे क्या ? सभी बातोंमें कुछ-न-कुछ अच्छाई होती है। उसके अन्धे होनेमें भी यह अच्छाई थी कि वह लोगोंके इस घृणा-भाव एवं तिरस्कारको देख नहीं पाता था। नेत्रोंकी शक्तिने खयं नष्ट होकर उसे इस अपमानसे असम्भूत बना दिया था। वह तो एक समान सभी पदध्वनियोंको समझता था। उसके लिये तो बालक और बूढ़े, स्त्री और पुरुष, उजले और मैले, सुन्दर और कुरूप, सब एक-जैसे थे। वह तो सभी पदध्वनियोंका स्वागत करता और कहता—‘दाताकी जय हो !’

[२]

‘वह कौन हैं ?’ आज जब वह अन्धा भिखारी अपने स्थानपर बैठा दिखायी नहीं पड़ा, तब नित्यकी अभ्यस्त आँखें वहीं रुक गयीं। उसके बैठनेका स्थान कुछ सूना-सूना लगा, कुछ ऐसा जो अनुभव होता है; किंतु कहा नहीं जा सकता। पैर स्वतः वहाँ रुक गये और तब जिज्ञासा हुई—‘वह आज यहाँ क्यों नहीं है ?’

यात्री सीढ़ीसे धड़ाधड़ ऊपर जा रहे थे या नीचे उतर रहे थे, दूकानदार ग्राहकोंको सामान दे रहे थे

और थोड़ी दूरीपर चबूतरेपर बँधी बछिया पागुर करती हुई आने-जानेवालोंको अघखुले नेत्रोंसे यदा-कदा देख लेती थी। किसीको स्मरण नहीं आया कि एक मनुष्य आज अनुपस्थित है। किसीका ध्यान अन्धे भिखारीके रिक्त स्थानकी ओर नहीं गया। किसीको ध्यान देनेका अवकाश नहीं था और वह स्थान अब रिक्त भी कहाँ था। वहाँ एक दूसरा अन्धा भिखारी अभी-अभी आकर बैठ गया है। यह उससे तगड़ा है। इसके नेत्र और मुख उतने कुरूप नहीं। इसके दोनों हाथ और दोनों पैर स्वस्थ हैं। यह ‘दाताकी जय’ नहीं मनाता। यह कहता है—‘भैया, भैया, देते जाओ ! अन्धेको कुछ देते जाओ। राधेश्याम !’

हाँ, तो उसका स्थान रिक्त नहीं रहा। उस भिखारीका स्थान भी रिक्त नहीं रहा। विश्वमें किसीका स्थान रिक्त नहीं रहता। चाहे कोई कितना भी बड़ा हो, उसके न रहनेपर विश्वका कोई काम दो क्षणके लिये भी अटकता नहीं। वह तो भिखमंगा था। उसकी ओर कौन ध्यान देता; लेकिन जो प्रख्यात हैं, जिनके बहुत अधिक खजन-वान्धव हैं, उन्हींकी ओर कौन ध्यान देता है। कौन किसके लिये अपनेको व्यस्त करता है ? वैसे तो नन्हे बच्चेका खिलौना टूट जाता है तो वह भी रोता है। इसी प्रकार जिनके स्वार्थको धक्का लगता है, वे रो-पीट लेते हैं। वह अन्धा था, अपाहिज था। उससे किसीका स्वार्थ नहीं था। वह जीता हो तो और मर गया हो तो, अब उसकी खोज-खबर कौन ले ? किसलिये ?

‘वह अन्धा कहाँ गया ?’ कुतूहलवश पास बैठी बुढ़ियासे पूछ लिया।

‘पता नहीं क्या हुआ ?’ बुढ़ियाको भी आश्चर्य था और खेद भी था। उसने कहा—‘बाबू ! बहुत सीधा था वह। मुझसे कभी झगड़ता नहीं था। दैवने उसे

भिखारी बना दिया, नहीं तो, बड़े आदमीका लड़का था वह ।'

'बड़े आदमीका लड़का ?' कुतूहल और सहानुभूति जगी । सच तो यह है कि हमारे मनमें मनुष्यके प्रति सहानुभूति नहीं रही है । हमारी मानवता मर गयी है । बड़प्पनके प्रति, धनके लिये हमारी जो लिप्सा है, वही कभी नम्रता, कभी भय, कभी आतंक, कभी सहानुभूति और कभी अन्य कोई रूपमें व्यक्त होती है ।

उस अन्धेने अपने समीप बैठनेवाली इस वृद्धा भिखारिणीसे अपना पिछला जीवन-परिचय बताया था । स्वाभाविक था कि समाजसे उपेक्षित दो भिखारियोंमें परस्पर सहानुभूति हो और वे एक-दूसरेसे अपनी बीती बतावें । बुढ़िया कोई इतिहास-अन्वेषक नहीं थी और न अन्धेने ही उसे एक ही दिनमें क्रमवद्ध जीवन-चरित सुनाया होगा । यह भी सम्भव है कि अन्धेने कुछ बातें छोड़ दी हों और कुछ सर्वथा गढ़कर सुनायी हों । अपनेको गौरवशाली सिद्ध करनेका प्रलोभन जिन्हें झूठ बोलनेके लिये फुसला न पाये, कम-से-कम वह अन्धा ऐसे महत्तम लोगोंमें था या नहीं, यह कौन जानता है । लेकिन मेरे पास अब सच-झूठका विवेचन करनेका कोई साधन नहीं है । अन्धेके गत जीवनकी बातोंमें बहुत-सी झूठी हों, तो भी आप निश्चिन्त रह सकते हैं । उससे आपकी, समाजकी या इतिहासकी कोई हानि नहीं होगी; क्योंकि वह बेचारा अन्धा और चाहे जो रहा हो, पर ऐतिहासिक पुरुष तो एकदम नहीं था ।

बुढ़ियाने मुझे जो बताया, उसका तात्पर्य यह था कि वह कहीं पूरवका (जापान, सिंगापुर या रंगूनका नहीं और कलकत्तेका भी नहीं । पूरवका अर्थ बलिया, छपरा या बिहारका) रहनेवाला था । उसके पिता अच्छे जमींदार थे । गङ्गा-किनारे पक्का बड़ा-सा मकान था । घरपर हार्यी, घोड़े, गाय, बैल सभी थे । अपने पिताका वह अकेला लड़का था । माता जन्मके कुछ दिन पीछे ही

भगवान्‌के घर चली गयी । पिताने उसे पाला-पोसा उसका बड़ा दुलार—बड़ा सत्कार था । बड़े होने वह स्कूल जाने लगा और उसे घरपर भी पढ़ानेके लिए मास्टर आने लगे । चौथी कक्षामें परीक्षा दे चुकने पश्चात् उसपर शीतल देवीकी कृपा हुई । इस रोग उसके नेत्र ले लिये । घरपर सुकदमेमें पिताजीके लगने कारण जमींदारी विक गयी । बिहारके प्रसिद्ध भूकम्प उसकी कोठी गिर पड़ी और पिताजीकी उसीमें समा हो गयी । इस शोकके समय ही उसे लकवेका धर लगा । भूकम्पमें जो स्वयंसेवक सेवाकार्य करने आये थे, उन लोगोंकी सेवा तथा चिकित्सासे प्राण बच गये । कई महीनेमें वह घिसटकर चलने योग्य हुआ । जब भूमिमें रहना अब उसके लिये कठिन हो गया । आप कोई सगा-सम्बन्धी था नहीं । कोई रहा भी हो तो ऐसी दशामें क्या संसारके सम्बन्धी कभी सहायक होते हैं किसी प्रकार माँगते-खाते, वह चल पड़ा । रेल बाबुओंके तिरस्कार और गालीकी उपेक्षा किये कि काम कैसे चलता ? अन्ततः वह श्रीवृन्दावन-धर पहुँच गया ।

बुढ़ियाने उसके घरका ऐश्वर्य बहुत बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया । उसने कभी उसकी माता या उसके पिता की प्रशंसा की और कभी उसके अज्ञात सगे-सम्बन्धियों तथा रेलके टिकटबाबुओंको कोसा । उसकी सब बातें यहाँ लिखना किसी कामका नहीं है । उसे आज साफ-सुथरे वस्त्रवाला श्रोता मिला था । वह उमंगमें लगी थी और इस उमंगने ही अन्धे भिखारीके प्रति उसकी सहानुभूति और बढ़ा दी । उसकी कथा का विराम देनेके लिये मैंने पूछा—'वह गया कहाँ ?'

'बाबू ! मुझे क्या पता कि वह कहाँ गया ।' कुछ खिन्न होकर बोली—'आज पहली बार वह नहीं आया है ।'

'रहता कहाँ है वह ?' मैं जानता था कि वह

सड़कके किनारे या किसी खँडहरमें उसका डेरा होगा ।
 'कालीदहके पास जो टूटी बुर्जी है.....।' बुढ़ियाने
 एक पता बताया आसपासके सब चिह्नोंका वर्णन
 करके । उसे आश्चर्य हो रहा कि एक बाबू क्यों इस
 प्रकार एक भिखारीके सम्बन्धमें उत्सुक हो रहा है ।
 मैंने उसके सामने एक दुअन्नी फेंक दी और उस
 भिखारीका पता लगाने मुड़ पड़ा । पता नहीं क्यों मेरे
 मनमें उसके लिये पूरा कुतूहल जाग पड़ा था ।

× × ×

[३]

'बाबूजी !' बुढ़िया भिखारिनने मुझे पुकारा । मैं
 कठिनाईसे दस पद गया होऊँगा ।

'क्यों ?' लौटकर मैंने उससे पूछा ।

'कल वह अन्धा शामको मन्दिरमें चला गया था ।'
 बुढ़ियाको कभी कदाचित् ही किसी एक व्यक्तिने दो
 आने पैसे दिये होंगे । उसे आज दुअन्नी मिली थी, अतः
 उसे जो कुछ पता था, वह सब बता देना चाहती थी ।

'अच्छा ही हुआ । उसने भगवान्को प्रणाम कर
 लिया !' मुझे बुढ़ियाने ही बताया था कि वह अन्धा
 जातिसे ऊँचा था । कदाचित् ब्राह्मण था वह । इसलिये मन्दिर-
 में उसके चले जानेकी बात मुझे खटक नहीं सकती थी ।

'प्रणाम कहाँ किया उसने । वह तो वहाँ भी
 'दाताकी जय !' कहकर कटोरी आगे करके भगवान्से
 भीख माँग रहा था । मन्दिरके दाढ़ीवाले अधिकारीने
 उसे डाँट दिया और लोगोंने ठेल-ठालकर निकाल दिया
 मन्दिरसे बाहर ।' बुढ़ियाका स्वर कह रहा था कि ऐसा
 होना ही स्वाभाविक हुआ । भला कहीं कोई ठाकुरजीसे
 भीख माँगता है ।

'सभी तो माँगने ही जाते हैं । एक अन्धा भिखारी
 भी माँगने गया उस सर्वेश्वरके समीप तो कौन-सी भूल की
 उसने ? लेकिन दूसरे मुस्टंडे भिखारियोंसे यह देखा
 नहीं गया । उन्होंने उस दीनको दीनबन्धुके यहाँसे भी

धक्का देकर निकाल दिया !' मैंने ये बातें अपने मनमें
 ही कहीं; क्योंकि वह बुद्धा इनको समझेगी, ऐसी आशा
 नहीं की जा सकती ।

'वह जो पत्थर है न, उसपर एक संन्यासी बाबा
 कल शामको दर्शन खुलनेसे कुछ पहले आ बैठे थे ।
 उनके साथ कई बाबू लोग थे । वे महात्माजी जोर-
 जोरसे बातें कर रहे थे ।' मन्दिरसे बाहर चबूतरापर
 कई पत्थरके चौड़े तख्ते-से बने हैं । उन पट्टियोंपर
 दर्शनार्थी थोड़ा-बहुत विश्राम कर लेते हैं, आगे-पीछे
 छूटे साथियोंकी प्रतीक्षा कर लेते हैं या दर्शन खुलनेमें
 कुछ देर हो तो दो-दो चार-चार बैठकर कुछ चर्चा भी
 करते हैं । बुढ़ियाने इनमेंसे उस अन्तिम पत्थरकी ओर
 संकेत किया, जो इस सीढ़ीसे सबसे समीप है ।

'वे महात्माजी कह रहे थे कि भगवान् बड़े दयालु
 हैं । श्रीवाँकेविहारीजीसे बड़ा दानी सारे संसारमें और
 कोई नहीं । लोग झूठे ही दूसरोंके आगे हाथ फैलाते
 हैं । बाँकेविहारीके आगे हाथ फैलाकर फिर और
 किसीके आगे नहीं फैलाना पड़ता । बुढ़िया कहती
 गयी—'बाबू ! साधु, संत तो ऐसी ज्ञानकी बातें कहते
 ही हैं । कोई ऐसी बात सुनकर कहीं भगवान्से भीख
 माँगने थोड़े ही जाता है ? लेकिन वह तो घसिटा हुआ
 मन्दिरमें चला ही गया । मैं उसे मना करती उसके
 पीछे-पीछे गयी । उसने जाते ही कटोरी बढ़ा दी और
 चिल्लाकर बोला—'दाताकी जय !' मैं बचाकर निकाल
 न लाती तो लोग पीठ-पीठकर उसको भरता बना देते ।
 बाहर आकर वह बैठा नहीं, सीधे घसिटा हुआ चला
 गया यहाँसे । बाबू ! कहीं भिखारीका रूठना और
 शान दिखाना चल सकता है ?'

बुढ़ियाकी धारणा थी कि वह अन्धा शानमें आकर
 चला गया है और इसीलिये आज नहीं आया है । यह
 बात वह पहले कहना नहीं चाहती थी । मेरे
 लिये अब वहाँ ठहरना कठिन हो गया था । मैं तो उस

मानधनीको देखनेके लिये उत्सुक हो उठा था।

x x x

[४]

आप क्या सोचते हैं—मुझे वह अन्धा भिखारी मिल गया ? हाँ, मिल तो गया; किंतु न अन्धा मिला और न भिखारी ही मिला। यदि बुढ़ियाके बताये खँडहरमें अपने चिथड़ोंमें लिपटा वह तबतक पड़ा न होता तो मैं उसे पहचान सकता—ऐसा सम्भव नहीं था। वही चिथड़े, वही कटोरी, वही दीमकोंसे खाये डेले-जैसा मुख; किंतु वह अन्धा नहीं था। उसकी दोनों आँखें भली चंगी थीं। उसके दोनों हाथ और दोनों पैर स्वस्थ थे, यह मैं पीछे देख सका लेकिन यह मैंने पहुँचते ही देख लिया कि जैसे वह अन्धा नहीं है, वैसे ही वह भिखारी भी नहीं है। उसके मुखपर न दीनता है न याचना है। उसपर तो ऐसी मस्ती है, ऐसा तेज है, ऐसी सम्पन्नता है; जैसे सारा विश्व भिक्षुक है और एकमात्र दाता वह स्वयं है।

‘बाबा !’ कोई भी होता मेरे स्थानपर तो उसे इसी प्रकार पुकारता। आज उसकी उपेक्षा या तिरस्कार करना शक्य नहीं था। मैंने पंद्रह-बीस मिनट चुपचाप बिताये देखनेमें और तब पुकारा उसे।

‘बाबा !’ मेरा शब्द खँडहरमें प्रतिध्वनित हुआ और वह चौंका। उसने मेरी ओर देखा और खुलकर हँस पड़ा। बड़ी देरतक हँसता रहा वह। ‘तू आ गया ? इतनी जल्दी आ गया तू ? जा, मैं नाराज नहीं हूँ। क्या हुआ जो उन लोगोंने मुझे धक्के देकर निकाल दिया। तू इतनी दूर क्यों आया ? भूखा होगा तू। थक गये होंगे तेरे चरण। जा, वहाँ भोग लग रहा होगा। अरे हाँ, जब तू ही मेरा है तो लेना-देना क्या ? बार-बार क्षमा माँगने क्यों आता है ? चल, मैं ही चलता हूँ तेरे साथ।’ सम्भवतः वह पागल हो गया था। उसके नेत्र मेरी ओर थे, बस, इतना ही सच है; नहीं तो, वह न तो मुझे देख रहा था और न मुझसे बातें कर रहा था। वह किससे बातें कर रहा

था ? पागल किससे बातें करते हैं, यह क्या कभी को जान सका है ?

वह पागल था ? ना, वह पागल नहीं था। लेकिन अब यह बात कहनेसे लाभ क्या ? जब यह बात समझमें आयी, वह जा चुका था। वह बात करते करते सहसा उठ खड़ा हुआ। मेरी अपेक्षा किये कि मेरे बगलसे खँडहरसे निकला। पासके कुएँमें उसे अपनी कटोरीमेंसे कुछ उठाकर फेंक दिया। क्या फेंक दिया ? पीली-पीली चमकीली कोई वस्तु। सम्भवतः एक अशर्फी। अशर्फी ? हाँ; क्योंकि उसकी कटोरीमें मैंने एक शलक पहले पा ली थी। कहाँ मिली उसे यह सहसा स्मरण हुआ कि कल सायंकाल वह श्रीब्रह्म विहारीजीके सामने कटोरी करके कह आया था—‘दाताकी जय !’ तब उन दीनबन्धुने उसे क्या छू लौटा दिया होगा ?

वह किससे बातें कर रहा था ? अब क्या यह भी बतानेकी बात है ? क्या कोई और भी ऐसा है जो अपने याचकको स्वयं अपने-आपको दे डाले और इतने पर भी संकुचित ही होता रहे ? लेकिन अब वह बात करनेवाला यहाँ नहीं है और जिससे वह बातें कर रहा था, उसे तो उसके-जैसे भाग्यशालीके नेत्र ही देख पाते हैं। मैं उस कुएँके पास खड़ा रह गया कुछ क्षण ठक्से और इतनेमें वह दौड़ता-भागता किधर चला गया कुछ पता नहीं। बहुत ढूँढ़ा, बहुत देखा इधर-उधर किंतु क्या इस प्रकार कभी ऐसे लोग मिला करते हैं।

x x x

देशमें कितने मन्दिर हैं, कैसे गिना जाय और यह भी कैसे बताया जाय कि उनके सामने सीढ़ियोंपर या सड़कोंपर कितने भिखारी बैठते हैं तथा ‘दाताकी जय’ मनाया करते हैं। वे चाहे जो शब्द बोलें, तात्पर्य एक ही है। उन भिखारियोंकी ही चर्चा क्यों, कोठियोंमें रहनेवाले, मोटरोंमें घूमनेवाले बाबूजी, सेठजी, लालजी, कलक्टरसाहेब, मिनिस्टरसाहेब आदि कहलानेवाले भी तो भिखारी ही हैं। कोई हाथ फैलाकर पेट

दिखाकर माँगता है, कोई मुख बनाकर, भौहें मटकाकर माँगता है। सब माँगते हैं, सब चाहते हैं, सबके मुख न सही प्राण तो कहते ही हैं—‘दाताकी जय हो !’

मन्दिरोंमें आराध्यपीठपर वही महादानी विराजमान है। ये भिखारी क्यों सीढ़ियोंपर ही दिन-रात बैठे रहते हैं ? ये क्यों भिखारियोंके सामने हाथ फैलाते-फैलाते थके जाते हैं ? क्यों ये मन्दिरमें नहीं जाते ? क्यों ये

उस सच्चे दाताके आगे ही हाथ फैलाकर नहीं कहते—‘दाताकी जय हो !’

कौन समझावे इन्हें ? जो समझाने योग्य था, जो अनुभवी था, वह तो पता नहीं कहाँ चला गया। मैं नित्य श्रीबाँकेविहारीजी जाता हूँ; पर वह तो फिर आया ही नहीं। वह जहाँ बैठकर भीख माँगता था, वह स्थान तो भर गया; किंतु जहाँ उसने सच्चे दातासे माँगा था, वह रिक्त है। कोई भरेगा उसे ?

प्राथनासे रोगनाश

[१]

(ले०—श्रीमती सी० ई० एच०)

हमारे बच्चेको बहुत छोटी ही अवस्थामें वातज्वर हो गया था। इसके फलस्वरूप उसके हृदयमें मरमराहट उत्पन्न हो गयी और दूसरे बच्चोंकी तरह उसमें दृढ़ता एवं स्फूर्ति नहीं रही। हमलोग इस विषयमें सदा सावधान रहते कि उसे पर्याप्त मात्रामें विश्राम मिले और उसे बराबर डाक्टरके पास परीक्षाके लिये ले जाते। डाक्टरका कहना था कि बड़े होनेपर उसकी ये शिकायतें जाती रहेंगी। इससे हमलोगोंको कोई चिन्ता नहीं थी।

लगभग एक वर्ष पूर्व गत जनवरीमें हृदयके कई एक अंतरचित्र (Cardiographs) लेनेके उपरान्त डाक्टरोंने मेरे पतिको और मुझको एकान्तमें बुलाकर कहा कि ‘तुम्हारे लड़केकी दशा बहुत शोचनीय हो गयी है’ और वास्तवमें उसकी दशा कुछ दिनोंसे बराबर गिरती जा रही थी। हृत्कपाट भयानक रूपसे क्षत हो गया था और स्वयं हृदयपर ही एक ओर प्रबल शोथके लक्षण प्रकट हो रहे थे। डाक्टर दयालु थे। दशा सुधर जायगी, इस आशाके पीछे वह अपनी आशंकाको कुछ दिनोंतक छिपाते रहे; किंतु अब उन्हें प्रकट ही करना पड़ा; क्योंकि यह स्पष्ट कर देना था कि अपने जीवनके शेष इने-गिने दिनोंमें बच्चा पंगुहृदय बनकर

रहेगा और उसके लिये नियन्त्रणकी आवश्यकता है।

हमलोगोंने इस भयानक निर्णयको स्वीकार करनेका सामर्थ्य प्राप्त होनेके लिये प्रार्थना की। मेरी चाचीने प्रार्थना की कि कोई चमत्कार हो जाय और उन्होंने युनिटिके प्रार्थना-विभागसे भी उनके साथ प्रार्थना करनेका अनुरोध किया। हमलोगोंको चमत्कारोंमें विश्वास नहीं था।

उस भयानक दिनके नौ महीने बाद हमलोग फिर डाक्टरके कमरेमें बच्चेकी नयी जाँचका फल जाननेके लिये उपस्थित हुए। डाक्टर साहब कमरेमें टहल रहे थे और अत्यन्त गम्भीर दिखायी दे रहे थे। वे हमलोगोंकी ओर घूमकर कहने लगे—‘मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ उसका कोई तर्कसम्मत कारण तो मुझे दिखायी देता नहीं, इसलिये कैसे कहूँ, यह बात समझमें नहीं आती। तुम्हारे लड़केका हृदय बिल्कुल ठीक है। हृत्कपाटका क्षय अपने-आप ठीक नहीं होता; किंतु यहाँ तो असम्भव सम्भव हो गया है। न तो शोथ है, न मरमराहट और न किसी अन्य प्रकारका कोई विकार। नाना प्रकारके यन्त्रोंसे देखनेपर भी कोई त्रुटि नहीं पकड़में आती। मैं इसे समझ तो नहीं पाता किंतु भगवान्को धन्यवाद देता हूँ कि ऐसा हो

गया है ।' उन्होंने हमसे फिर कहा—'आपने प्रार्थना की है क्या ? ऐसा व्यक्तिगत प्रश्न पूछनेके लिये मुझे क्षमा कीजियेगा; किंतु इस चमत्कारका कारण केवल प्रार्थना ही समझमें आता है । हम डाक्टरोंको ऐसी बात बहुधा देखनेमें आती है ।'

अब नौ महीने और बीत चुके हैं । हमारा लड़का पूर्ण स्वस्थ है । मैं दिन-रात भगवान्‌को उनकी कृपालुताके लिये धन्यवाद देती रहती हूँ और अब ईश्वरीय चमत्कारोंमें विश्वास करने लगी हूँ ।

[२]

(ले०—रेव० एच० जे० गालेंड)

लंदनके हाइडपार्क कार्नरमें स्थित सेंट जार्ज अस्पतालमें भर्ती हुए एक सिपाहीकी सेवाका काम मेरी एक नर्स मित्रको मिला था । सिपाहीकी छातीमें चोट लगी थी और उसे एक कोनेमें तकियेके सहारे लिटाकर उसके दोनों पैरोंको लकड़ीके तख्तोंमें बाँधकर पृथ्वीसे ऊपर उठाकर रखा गया था । वह केवल इसी अवस्थामें साँस ले सकता था । धीरे-धीरे उसकी दशा बिगड़ती गयी और नर्ससे कहा गया कि सम्भवतः वह आज रातको मर जायगा और अगर ऐसा होना ही है तो जितनी जल्दी हो जाय उतना ही अच्छा है । इससे सबकी आफत टलेगी । प्रधान परिचारिकाने कड़ा आदेश दिया कि 'इस रोगीको एक क्षणके लिये भी अकेला न छोड़ा जाय । वह कुछ भी खाने-पीनेकी इच्छा प्रकट करे वह पूरी की जाय; क्योंकि खानेसे मृत्यु शीघ्र आ जायगी ।' ऐसा सुन्दर और तरुण पुरुष मरने जा रहा है, इस बातसे उस नर्सको बहुत दुःख हुआ । उसको इतना क्लेश हुआ कि मध्यरात्रिमें आज्ञाका उल्लङ्घन करके और कुछ मिनटोंके लिये उसे अकेले छोड़कर वह पासके एक कमरेमें चली गयी तथा वहाँ उसने भगवान्‌से उसे जीवनदान दे देनेके लिये प्रार्थना की । उसे विश्वास था कि उसकी प्रार्थना स्वीकृत होगी, यद्यपि

काम असम्भव दीख रहा था । लौटकर आनेपर रोगी नीबू डालकर बालीका जल पीनेको माँगा । इसे तैयार करनेके लिये उसे रोगीको कुछ समयके लिये छोड़ दिया जाना पड़ा । जब वह गिलास लेकर लौटी, तब देखा रोगी तबतक जीवित था । उसे पी लेनेके बाद उसने फिर माँगा और उसे तुरंत ही दिया गया । प्रातःकाल प्रधान परिचारिका एवं डाक्टरोंको उसे जीवित अप्रतीक्षितरूपसे सुबहते देखकर महान् आश्चर्य हुआ । कुछ ही सप्ताह बाद वह शय्यापर लेटने लायक हो गया और धीरे-धीरे उसके घायल फेंफड़े ठीक हो गये । कुछ सप्ताह बाद उसे समुद्रतटस्थित एक विश्रामगृह भेज दिया गया । जिस दिन उसने अस्पताल छोड़ा नर्सने उससे कहा, 'शायद हमलोग फिर कभी न मिलेंगे, इसलिये मैं एक बात बताना चाहती हूँ । उस रातको हुई थी, जिसे हमलोग तुम्हारे जीवनके अन्तिम रात्रि समझ रहे थे ।' सिपाहीने कहा—'जानता हूँ तुम क्या कहने जा रही हो । तुम कहने जा रही हो कि जब तुम मुझे कुछ मिनटोंके लिये छोड़ गयी, तब तुमने जाकर मेरे अच्छे हो जानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की । यद्यपि तुमने मुझसे कहा कि तुम मेरे लिये क्या करने जा रही हो, मैं जान गया कि तुम प्रार्थना कर रही थी । तुम्हारी प्रार्थनासे प्राप्त शक्तिका अनुभव हुआ; मैं जाना कि मुझे जीवनदान देनेकी तुम्हारी अर्जित भगवान्‌ने स्वीकार कर लिया है ।' नर्सने उत्तर दिया—'हाँ, मैं यही कहना चाहती थी और मुझे हर्ष है कि तुम इस बातको मानते हो कि भगवान्‌ने प्रार्थनाके उत्तरमें तुम्हें जीवनदान दिया ।'

चिकित्सा-शास्त्रकी कुशलता सीमाबद्ध है परंतु महान् चिकित्सककी शक्तियोंकी कोई सीमा नहीं है । उसके लिये कोई रोगी असाध्य नहीं है ।*

* कैलिफोर्निया (अमेरिका) से प्रकाशित 'युनिट'में ये घटनाएँ छपी हैं ।

कामके पत्र

(१)

एक ही परमेश्वरके अनेक स्वरूप हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला ।

धन्यवाद । आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) महादेवजी, पार्वतीजी अथवा गणेशजी अनादिसिद्ध देव हैं । एक ही परमेश्वर सृष्टि, पालन और संहारके लिये विभिन्न गुणोंको आश्रय देकर विभिन्न नाम तथा रूपोंसे प्रसिद्ध हो रहे हैं । सृष्टिके रचयिताको ब्रह्माजी, पालकको भगवान् विष्णु तथा संहार-शक्तिको रुद्र या महादेव कहते हैं । जैसे परमेश्वर अनादि, अनन्त एवं सनातन हैं, वैसे ही ये महादेवजी आदि भी हैं । इनका न कभी जन्म होता है, न मृत्यु—ये सदा रहते हैं । जैसे अग्निके परमाणु सर्वत्र व्याप्त हैं । इस रूपमें अग्नि सदा मौजूद है । यह उसका अव्यक्त स्वरूप है । वही अग्नितत्त्व सूर्यके रूपमें हमें प्रत्यक्ष दीख पड़ता है तथा वही आगके रूपमें, दीपकके रूपमें घर-घरमें प्रज्वलित हो प्रकट दिखायी देता है । ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि सभी वस्तुतः एक ही ज्योतिर्मय महातत्त्वके विभिन्न स्वरूप हैं । इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य, काली, गणेश आदि एक ही परमात्माके तेजोमय स्वरूप हैं । जैसे आग बुझती है और जलती है, परंतु उसका अभाव नहीं होता, उसी प्रकार उक्त सभी स्वरूपोंका जगत्में आविर्भाव होता है और तिरोभाव (प्रकट होने और छिपनेका भाव) होता है, परंतु उनका अभाव कभी नहीं होता ।

इसीलिये उनके जन्म आदिकी कथा एक आरोप या लीलामात्र है । आविर्भाव और तिरोभाव कभी गिने नहीं जा सकते । महासागरमें अबतक कितनी लहरें उठीं और बिलीन हुईं, इसे कौन बता सकता है ? ये सब सनातन होते हुए भी लीलाके लिये प्रादुर्भाव

तिरोभूत होते रहते हैं । इनके जन्म-मरण नहीं होते । ये सदा सत्य हैं और भक्तजनोंको इनके दर्शन सदा ही हो सकते हैं ।

श्रीमहादेवजी तो अजन्मा हैं ही । इनकी आह्लादिनी-शक्ति महादेवी भी उनसे अलग नहीं होती । वे लीलाके लिये कभी दक्षकन्या सती होकर अपने प्रभुकी सेवामें रहती हैं और कभी गिरिराजनन्दिनी पार्वती होकर अपने प्रियतमकी आराधना करती हैं । प्रत्येक कल्पमें ऐसा होता है; इसलिये ये सती और पार्वती भी अनादि हैं, न जाने कबसे इनका प्रादुर्भाव और तिरोभावका क्रम चल रहा है ? कौन कह सकता है ? गणेशजी भी परमात्माके एक स्वरूप हैं । विघ्नहरण, मङ्गलकरण इनका कार्य है । किसी समय पार्वतीजी जब इनका स्मरण करती हैं, तब ये अव्यक्तसे व्यक्त हो जाते हैं; उनके पुत्ररूपमें साकार होकर लीलाएँ करने लगते हैं । इनके प्रादुर्भावका क्रम भी अनादि है । शिव-पार्वतीके विवाहकालमें उन्हीं अनादिसिद्ध विघ्नहरण मङ्गलकरण गणेशतत्त्वका पूजन होता है । गोस्वामी तुलसीदासजीने भी लोगोंकी शङ्काका निवारण करते हुए कहा है—

मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि ।
कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जियँ जानि ॥

(२) एक समय शुभ-निशुभके अत्याचारसे पीड़ित देवतालोक भगवती विष्णुमायाकी स्तुति करने लगे । स्तुतिके अन्तमें भगवान्की योगमायास्वरूपा पार्वतीजी उनके सामने प्रकट हुईं । उन्होंने अपने-आप ही उनसे प्रश्न किया—“भवद्भिः स्तूयतेऽत्र का ।” आप-ही उनसे प्रश्न किया—“भवद्भिः स्तूयतेऽत्र का ।” आप-लोग यहाँ किसकी स्तुति करते हैं ? पार्वतीजीके शरीरसे एक तेजोमयी देवीने तत्काल प्रकट होकर उत्तर दिया—“ये लोग मेरी ही स्तुति करते हैं ।” वह देवी शरीरकोशसे प्रकट हुई थी, इसीलिये ‘कौशिकी’ कहलायी । उसीको

‘अप्रभुजा सरस्वती’जी भी कहते हैं। कौशिकीके निकल जानेके बाद पार्वतीका रंग काला पड़ गया और वे हिमाचलपर ‘काली’के नामसे प्रकट हुईं। यह कथा मार्कण्डेयपुराणमें है। इस प्रकार यद्यपि पार्वतीजी ही काली, कालिका, गौरी, सरस्वती हैं, काली और गौरी दोनों उन्हींके नाम हैं; तथापि जो महाकाली महादेवजीके वक्षपर पैर रखते हुए दिखायी देती हैं, वे दूसरी ही हैं। तत्त्वतः या स्वरूपतः सब एक हैं, तथापि लीलाके लिये कुछ भेद स्वीकार किया जाता है। कहते हैं—एक समय किसी असुरका संहार करके महादेवी दुर्गा बड़े क्रोधमें भर गयीं। उस समय उनके क्रोधको शान्त करनेमें कोई समर्थ न हो सका, ऐसा जान पड़ता था कि कालीजी समस्त जगत्का संहार कर डालेंगी। वे उस समय विकराल महाकालीके रूपमें उपस्थित थीं। किसी देवताका भी उनके सामने जानेका साहस नहीं होता था, तब महादेवजीने एक युक्ति सोची। वे उनके सामने मुर्देकी तरह लेट गये। महाकालीजी क्रोधमें बड़ी आ रही थीं। उनकी छातीपर पैर रखते ही महाकालीजीका ध्यान भङ्ग हुआ। वे क्रोधका आवेश कम करके नीचे देखने लगीं। देखा तो शङ्करजी नीचे दबे हैं। यह देख उनके मनमें सङ्कोचका उदय हुआ, वे लज्जासे जीभ निकालकर पीछे हट गयीं। उसी स्वरूपकी झाँकी देखनेमें आती है। मुण्डमाला असुरोंके मुण्डोंसे बनी है। उसमें कितने मुण्ड हैं इसकी गिनती नहीं।

(३) महादेवजीके गलेमें जो मुण्डमाला है, उसकी भी कहीं कोई गणना नहीं दी गयी है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

ईमानदारीका आदर्श

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपने जो कुछ लिखा, आजके पतित

है। हमारा आदर्श, हमारे उच्च भाव, हमारी सच्चाई और ईमानदारीका आदर्श, हमारी महान् त्यागकी भावना समस्त भूतमात्रको अपना स्वरूप या भगवान् समझनेके सिद्धान्त केवल हमारे अध्यात्मग्रन्थोंमें रह गया है। हमारे जीवनमें वह ढूँढ़े भी नहीं मिलता। यह अत्यन्त ही परितापका विषय है। सचाई और ईमानदारी जगत्में आज सबसे बढ़कर आदर्श व्यवहार है अंग्रेज जातिमें। अभी कुछ ही दिनों पूर्व लंदनसे एक समाचार आया था, जिसका सारांश इस प्रकार है—“एक ब्रिटिश फार्मने हालमें ही अपने ग्राहकोंको चार लाख (एक पौंडके दाम आज १३॥) हैं, इस हिसाबसे ५४ रुपये) की बड़ी रकम वापस दी है, उस फार्ममें गत्तेके बिल बनते हैं। उसका अनुमान था कि गत्ते महँगे मिलें। इससे उसने डिब्बोंके दाम ज्यादा रख दिये थे। ग्राहकों उसी दाममें डिब्बे स्वेच्छापूर्वक खरीदे थे; परन्तु फार्मको यह पता लगा कि गत्ते सस्ते मिले हैं; इस मुनाफा उसको करना नहीं था, इसलिये उसने अपने मुख्य ग्राहकोंको एक पौंडके पीछे दो शिल्लिङ्ग अर्थात् पूरी रकमका दसवाँ हिस्सा लौटा दिया।”

कितना आदर्श व्यवहार है। आजके भारत व्यापारियोंमें तो शायद ही कोई ऐसा हो जिसके इस प्रकारका मुनाफा लौटानेकी कल्पना भी हो। अंग्रेजोंसे इस विषयमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। इतना नहीं तो कम-से-कम व्यापारमें—कम तौल अधिक लेना, मिलावट करना, बढ़ियाके बदले बुरा माल देना, घाटा होनेपर स्वीकृत सौदेको अस्वीकार देना और छिपाव या चोरीसे ज्यादा रुपये ले लेना—आदि दोषोंका परित्याग तो करना ही चाहिये। उक्त तो यह है कि जिसके साथ अपना व्यापार हो, भगवान् मानें और उसकी सेवा, उसके हित और सुख पहुँचानेके लिये ही उसके साथ व्यापार करें।

भगवत्पूजाके भावसे व्यापार करने

व्यक्ति या फार्म परिणाममें घाटेमें तो रहेगा ही नहीं, यहाँ भी उसे आशातीत लाभ होगा और भगवत्पूजाके भावसे किया हुआ व्यापार परम साधन बनकर उसे भगवान्की प्राप्ति करा देगा । भगवान्ने स्वयं कहा है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा भगवान्की पूजा करके मनुष्य सिद्धिको—भगवान्को प्राप्त हो जाता है । इस प्रकारकी चेष्टा करनी चाहिये । समाज न करे तो न सही, जिसकी समझमें यह तत्त्व आ जाय उसे तो अपने इहलोक-परलोकके हित और मानव-जन्मकी सफलताके लिये ऐसा करना ही चाहिये । शेष भगवत्कृपा ।

(३)

संन्यासी और स्त्री

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र पढ़कर आश्चर्य हुआ, साथ ही खेद भी । दूसरोंको धर्मका उपदेश देनेवाले लोग भी यदि स्वयं ही स्वधर्मका पालन न करें तो वे अपना और दूसरेका क्या उद्धार कर सकते हैं ? यदि कोई मनुष्य वीतराग संन्यासीका वाना धारण करके भी स्त्रियोंसे शरीरका स्पर्श कराता है, तो वह न केवल स्वधर्मसे भ्रष्ट होता है, अपने संसर्गमें आनेवाले अन्य स्त्री-पुरुषोंको भी पापका भागी बनाता है । वे स्त्रियाँ भी अपनेको नरकमें ले जा रही हैं, जो संन्यासीके अङ्गका स्पर्श करके उसे तो धर्मभ्रष्ट करती ही हैं, स्वयं भी परम पवित्र सतीधर्मसे गिरकर दूसरोंके लिये बुरा आदर्श उपस्थित करती हैं । शास्त्रोंने संन्यासीको सदा अकेला रहनेकी सलाह दी है—
‘एकधरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।’ (श्रीमद्भागवत ११ । १८ । २०) अर्थात् ‘संन्यासी अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर सङ्गरहित हो अकेला ही इस पृथ्वीपर विचरे ।’ ‘एकारामः’ (याज्ञ० स्मृति ३ । ५८) ‘अकेलेमें ही सुखका अनुभव करनेवाला हो ।’ दक्ष-

स्मृतिमें लिखा है—

**एको भिश्रुर्यथोक्तश्च द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥**

‘संन्यासी यदि अकेला रहे तो वास्तवमें संन्यासी है । दो होनेपर वह मिथुनयुक्त समझा जाता है । तीन संन्यासी एकत्र हो जायँ तब तो पूरा गाँव ही बस गया और इससे अधिक इकट्ठे हों तो वह उनके लिये एक बड़ा-सा नगर समझना चाहिये ।’

संन्यासीके लिये यह स्पष्ट आदेश है कि वह स्त्रीसे दूर रहे । जीती-जागती स्त्रीकी तो बात ही क्या है, काठकी बनी हुई युवती स्त्रीकी प्रतिमाका भी पैरसे भी स्पर्श न करे । जैसे हाथी काठकी हथिनीके अङ्गका स्पर्श करके बँध जाता है, वैसे ही वह संन्यासी बन्धनमें पड़ सकता है ।

**पदापि युवतीं भिश्रुर्न स्पृशेद् दारवीमपि ।
स्पृशन् करीव वज्रयेत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥**
(श्रीमद्भा० ११ । ८ । १३)

नारद-पारिव्राजकोपनिषद्में संन्यास-धर्मकी बड़े विस्तारसे व्याख्या की गयी है । उसमें लिखा है—

**माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति ।
तस्माद् दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥
संभाषणं सह स्त्रीभिरालापं प्रेक्षणं तथा ।
नृत्यं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥**
(६ । ३१-३२)

‘मनुष्य मदिराको तो पीनेपर मतवाला होता है, परंतु तरुणी स्त्रीको देखकर ही उन्मत्त हो उठता है । इसलिये दर्शनमात्रसे विषका-सा प्रभाव डालनेवाली नारीको संन्यासी दूरसे ही त्याग दे । स्त्रियोंके साथ बातचीत करना, उनके पास संदेश भेजना, उनकी ओर देखना, नाचना, गाना, हास-परिहास करना तथा परायी निन्दा करना—संन्यासी इन सबका त्याग कर दे ।’

नारदजीने यहाँतक कहा है कि—

न संभाषेत् स्त्रियं काञ्चित् पूर्वदृष्टं च न स्मरेत् ।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येत्स्त्रितामपि ॥
एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतेः ।
चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात् प्रणश्यति ॥
(४ । ३-४)

‘संन्यासी किसी भी स्त्रीसे बातचीत न करे ।
पहलेकी देखी हुई किसी स्त्रीका स्मरणतक न करे ।
उनकी चर्चासे भी दूर रहे तथा स्त्रियोंका चित्र भी
न देखे । सम्भाषण, स्मरण, चर्चा तथा चित्र-दर्शन—स्त्री-
सम्बन्धी इन चार बातोंका जो मोहवश आचरण करता
है, उसके चित्तमें अवश्य विकार उत्पन्न होता है और
उस विकारसे वह धर्मभ्रष्ट होनेके कारण नष्ट हो
जाता है ।’

इसी प्रकार स्त्रीकी शारीरिक और मानसिक स्थिति-
पर विचार करते हुए धर्मशास्त्रोंने उसे सदा अपने
गुरुजनोंके अधीन रहनेकी सलाह दी है, वह कभी
स्वतन्त्रतापूर्वक कोई काम न करे—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेऽपि ॥
(मनु० ५ । १४७)

स्त्री वचपनमें पिताके, युवावस्थामें पतिके और वृद्धा-
वस्थामें, यदि पति न रहे तो पुत्रोंके अधीन रहे; स्वतन्त्र
न रहे—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥
(मनु० ५ । १४८)

पति ही उसे इहलोक और परलोकमें सुख देने-
वाला है—

सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ।
(मनु० ५ । १५३)

स्त्रीको अपने पतिकी देवबुद्धिसे सेवा करनी चाहिये ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्या सततं देववत् पतिः ।
(मनु० ५ । १५४)

स्त्रियोंके लिये पतिसे अलग स्वतन्त्ररूपसे कोई क-
र्तव्य और उपवास करनेकी विधि नहीं है; वह पति
जो सेवा करती है, उसीसे स्वर्गलोकमें सम्मानित हो
है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गं महीयते ॥
(मनु० ५ । १५५)

पति ही स्त्रियोंका गुरु है, इस विषयमें शास्त्रों
बहुत-से प्रमाण मिलते हैं; वे सभी यथार्थ एवं सत्य
हैं । प्रातःस्मरणीया भगवती सीताजीने भी पतिको गुरु
कहा है—‘यो मे भर्ता स मे गुरुः ।’ ‘विदितं
ममाप्येतद् यथा नार्याः पतिर्गुरुः ।’ पतिकुलमें रहना
स्त्रियोंके लिये गुरुकुलमें वास है—‘पतिसेवा गुरु-
वासः ।’ मनुजीने तो यहाँतक कह दिया है कि पति
पिता, भाई अथवा पुत्रसे पृथक् अकेली विचरनेवाली
अपने दोनों कुलोंको कलङ्कित कर देती है—‘पति-
कुर्यादुभे कुले ।’

आजकल स्त्रियोंको आत्मकल्याण करनेके नाम
उन्हें उनके धर्मसे गिराकर भ्रष्ट किया जाता है
शास्त्र कहता है—पुरुष अत्यन्त कष्ट सहन करता
बड़े-बड़े धर्म और यज्ञके द्वारा जिस पुण्यलोकको प्राप्त
करता है, उसे ही स्त्री केवल पतिसेवासे पा लेती है
इसलिये स्त्रियाँ धन्य हैं—

योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा-
तद्विता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः ।
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा-
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषिता ॥
(विष्णुपु० ६ । २ । २८-२९)

कहीं भी शास्त्रमें ऐसा विधान नहीं है कि
पतिव्रत्य धर्म छोड़कर किसी संन्यासीकी चरणसेवा
करके आत्मज्ञानका उपदेश ले ।

तजों न नारद कर उपदेश । आपु कहैं सत बार महेश्वर ।

पार्वतीजीके इस कथनका यह अर्थ नहीं कि पतिकी आज्ञाकी अवहेलना करके स्वयं बनाये हुए किसी दम्भी गुरुकी आज्ञासे नारी स्वधर्म छोड़ दे और संन्यासीके साथ विचरती रहे। उपर्युक्त चौपाईमें सतीशिरोमणि सतीके अविचल पति-प्रेमका उदाहरण है। नारदने यही तो कहा था कि 'भगवान् महेश्वरको पतिरूपमें पानेके लिये पार्वती तपस्या करे।' इससे 'पति' की उच्चता और दुर्लभता सिद्ध होती है। जैसे कोई भक्त कहे कि हम भगवान्‌के कहनेसे भी उनकी भक्ति नहीं छोड़ेंगे तो इस कथनसे उसकी अतिशय भक्ति ही सूचित होती है, न कि भगवद्द्रोह। इसी प्रकार सतीने कहा—मैं महेश्वरके कहनेसे भी उनके प्रति प्रेम तथा उनकी प्राप्तिके लिये साधन नहीं छोड़ूँगी। सप्तर्षिलोग भी तो गुरु बनकर ही आये थे और महेश्वरमें जो प्रेम है, उसे छोड़नेका सदुपदेश दे रहे थे; परंतु पार्वतीने उनको दूरसे ही नमस्कार किया; पतिप्रेमके विरुद्ध कोई उपदेश मान्य नहीं। 'वरौं संभु न त रहौं कुमारी।' का अङ्गि निश्चय सुनकर वे महर्षिगण चलते बने। फिर सतीको उपदेश देनेका साहस नहीं किया; उल्टे उस पतिव्रताकी स्तुति करके गये। भगवद्भक्तिमें स्त्री-पुरुष सभीका अधिकार है, पर उसमें पतिसेवा छोड़नी नहीं पड़ती। पतिमें ही भगवद्भाव करके सेवा की जाती है।

शास्त्रोंमें गुरुकी बड़ी महिमा है। पुरुषको ही गुरुकी शरण लेकर उनसे आत्मज्ञानका उपदेश लेना चाहिये। पत्नीको पतिसेवासे ही सब कुछ मिल जाता है। पतिव्रताने सूर्यदेवको स्तम्भित कर दिया था। अनावृष्टिके समय पतिव्रता अनसूयाने अपने सतीत्वसे जल प्रकट करके प्रजाकी रक्षा की थी। ब्रह्मा, विष्णु, शिव सभी उसके पुत्र बन गये थे। पतिव्रता सावित्रीने पतिको मृत्युके मुखसे बचा लिया था। पातिव्रत्यकी शक्तिके सामने सारी शक्तियाँ नतमस्तक होती हैं।

किसको उपदेश न देना और किसको देना चाहिये?

इस विषयमें जो कुछ लिखा है तथा जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे यह नहीं सिद्ध होता कि स्त्रीको भी इस प्रकार उपदेश लेनेका अधिकार है; क्योंकि 'नास्तिकाय कृतध्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने' इत्यादि वचनोंमें जितने विशेषण आये हैं, सब पुरुषके हैं। उनमें स्त्रीलिङ्गका प्रयोग नहीं है, अतः वे वचन पुरुषोंपर ही लागू होते हैं।

वे लिखते हैं—'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' इत्यादिके साथ 'पतिदेवो भव' का उपदेश नहीं है। इसलिये उनकी रायमें 'पतिभक्ते' का उपदेश शास्त्रीय नहीं है। स्त्रीके लिये गुरुभक्तिका उपदेश शास्त्रीय है। बलिहारी है इस सूत्रकी।

वहाँ स्पष्ट लिखा है—वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—अर्थात् 'वेदोंको पढ़ाकर अन्तमें आचार्य अपने शिष्यको उपदेश देते हैं।' यह स्पष्ट है कि वेद पढ़नेकी आज्ञा पुरुषोंको ही है। अतः उपनिषद्का वह आदेश ब्रह्मचारी बालकोंके लिये है, बालिकाओंके लिये नहीं। अतः 'पतिदेवो भव' उपदेश वहाँ क्यों होता? 'आचार्यदेवो भव' उपदेश यदि स्त्रीके लिये होता तो 'आचार्यदेवा भव' लिखा जाता; 'आचार्यदेवो भव' यह पुँलिङ्ग प्रयोग नहीं होता।

जहाँ स्त्री-धर्मका वर्णन है, वहीं स्पष्ट लिखा है कि स्त्री अपने पतिकी देवताकी भाँति पूजा करे।

उपचर्यः स्त्रिया साध्या सततं देववत् पतिः।
(मनु०)

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता, यह सत्य है; परंतु पतिव्रता स्त्रीको वह ज्ञान पातिव्रत्यसे ही प्राप्त हो जाता है। इस जन्ममें नहीं तो दूसरे जन्ममें। महाभारतमें पतिव्रता और धर्म-व्याध आदिके उपाख्यान प्रसिद्ध हैं। जो स्वधर्मके विपरीत स्त्रियोंसे अपनी सेवा कराते हैं, उनकी सेवासे मोक्षदायक ज्ञान प्राप्त होगा, ऐसी आशा तो किसीको

कोई
इ पति
नेत
येतम्
येते।
। १५५
शास्त्र
एवं म
तिको
विदित
रहना
सेवा
कि प
नेवाली
है—
के नाम
जाता है
इन क
कको प्र
लेती
गिरा
द्विजा
यथा
पेवितः
२८-२९
है कि
चरण
र महेश्व

नहीं रखनी चाहिये । सच्ची पतिव्रता थोड़े ही समयमें सिद्धि-लभ करके त्रिकालज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान भी प्राप्त कर लेती है । स्वयं भगवान् उसकी पतिभक्तिसे संतुष्ट होकर उसे तत्त्वज्ञान करा देते हैं और वह मोक्ष प्राप्त कर लेती है ।

अतएव मेरी समझसे आपके बतलाये हुए उक्त संन्यासी महोदय भोली-भाली स्त्रियोंको बरगलाकर उनसे अनुचित लाभ उठा रहे हैं । इसका प्रतिवाद होना चाहिये । मेरी उन देवियोंसे प्रार्थना है कि वे उनके पास जाकर अपने धर्मपथसे च्युत न हों । शेष भगवत्कृपा ।

(४)

सहनशील बनिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें । आपने अपनी स्थिति लिखी और संसारको छोड़कर अपने-आपको श्रीभगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर देनेकी इच्छा प्रकट की, सो भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर देना तो बहुत ही उत्तम है । मनुष्य यदि अपनेको सचमुच भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर दे तब तो फिर उसके लिये कुछ करना ही न रह जाय, पर भगवान्‌के अर्पण करनेका अर्थ घर छोड़कर कहीं चले जाना नहीं है । संसारमें जो आसक्ति है, जिसके कारण प्रतिकूलता सामना करना पड़ता है और प्रतिकूलतासे बचनेके लिये ही घर छोड़नेकी इच्छा होती है; उस आसक्तिका त्याग करना है । संसारके पदार्थोंसे आसक्ति निकल जानेपर पिताजीके द्वारा किये हुए तिरस्कारसे आपको दुःख नहीं होगा । सम्मान अच्छा लगता है, इसीलिये अपमानमें दुःख होता है । दुनियामें आपको किसी भी चीजसे मोह नहीं है, सो तो बहुत ही अच्छी बात है, पर जब मोह नहीं है, तब घरमें सब सौतेला-सा नजर क्यों आता है ? या तो सब वस्तुओंसे वैराग्य होता चाहिये था, या

सभी पदार्थोंमें सदा-सर्वदा भगवान्‌को देखकर प्रेम आनन्द होना चाहिये था । चित्तमें जो ऊबनेकी भाव आती है, वह मोहका ही एक परिणाममात्र है । कुछ भी हो, मेरी सम्मतिमें आप घरका परित्याग कीजियेगा । छोटी लड़की और उसकी माताके रेखकी जिम्मेवारी आपके ऊपर है, उसे शान्ति धीरजके साथ पूरी करते रहिये । श्रीभगवान्‌के नाम जप तथा विश्वासपूर्वक श्रीभगवान्‌से प्रार्थना कीजिए प्रार्थनासे आपको बल मिलेगा तथा भगवान्‌की कृपा आपके मार्गकी अड़चनें दूर होंगी ।

दूसरी माताका आपके प्रति प्रेम कम है, सो स्वाभाविक ही है । इससे बुरा नहीं मानकर अपनी सेवा में सद्‌व्यवहारसे उनका हृदय बदलनेकी चेष्टा करनी चाहिये । आप निरन्तर सद्भावनापूर्वक सम्मानके साथ उनका मन और नम्र व्यवहार करेंगे और कुछ सहनशील बन जायेंगे निवास सम्भव है, आज जो उनकी प्रतिकूलता है बहुत अल्पद्वेषसे में दूर हो जाय । शेष भगवत्कृपा ।

(५)

मन, बुद्धि आदिके स्वरूप

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिली धन्यवाद ! आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है । (१) अन्तःकरणमें जो मनन अथवा संकल्प-विकल्प का वृत्ति है, उसीका नाम मन है । मन संशयात्मक है; फिर उस संशय या संकल्प-विकल्पपर विचार किसी निश्चयपर पहुँचानेवाली जो वृत्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं । बुद्धि विचारपूर्वक निर्णय देती है । इन दोनों वृत्तियोंका साक्षी अथवा द्रष्टा है । वह और बुद्धि दोनोंके कार्योंको तटस्थ रहकर देखता उसीके सहज प्रकाशसे मन, बुद्धि अपने कार्योंमें होते हैं । आत्मा मनका भी मन और बुद्धिकी भी ओरसे

हो तो वे सत्ताशून्यकी भाँति हो जाते हैं, फिर तो वे कुछ नहीं कर सकते। यही इन तीनोंका अन्तर है।

(२) मन जिस कार्यके लिये आज्ञा देता है, उसमें उसका कुछ राग या द्वेष अवश्य रहता है। वह प्रायः ऐसी प्रेरणाएँ देता है, जिनसे उसकी इच्छा पूर्ण हो। विषयसेवन या भोगसंग्रहकी प्रेरणा मनके द्वारा ही प्राप्त होती है। वह रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—भोगोंके प्रति आसक्त होता है; अतः उनकी ओर वह आकृष्ट करना चाहता है। जीवको वह अपने पीछे चलाता चाहता है। किसी शत्रुसे बदला लेनेकी भावना भी मनमें होती है, अतः वैसे कार्य भी उसीकी प्रेरणासे होते हैं। इसमें द्वेष छिपा रहता है। राग और द्वेष ही काम और क्रोधके रूपमें परिणत होते हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये ही तीनों राग-द्वेष या काम-क्रोधके निवास-स्थान हैं; अतः इनका प्रत्येक कार्य राग या द्वेषसे प्रेरित होता है। आत्मा इन सबसे ऊपर है, वह जबतक इनके मोहजालमें फँसकर अपने स्वरूपको भूल हुआ है, तभीतक मनके इशारेपर चलता है। मैं इन सबका स्वामी, शासक और इनसे सर्वथा विलक्षण हूँ। मैं सर्वत्र व्यापक एवं नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वरूप हूँ। यह ज्ञान होते ही वह इन मन आदि-का शासक हो जाता है; फिर तो ये ही आत्माके अनुशासनमें चलते हैं। विशुद्ध आत्मासे प्रेरित होकर जो कार्य होगा, उसमें राग-द्वेषकी गन्ध भी नहीं होगी। सबके प्रति मैत्री, दया, परोपकार, सेवा, भगवद्भजन, सत्सङ्ग तथा सत्कर्म आदिके भाव मनमें तभी जगते हैं, जब विशुद्ध आत्माकी प्रेरणा होती है। मन, इन्द्रिय आदि जब आत्माके अधीन होते हैं, तब इनके द्वारा कोई अशुभ कर्म नहीं होता। थोड़ेमें इतना ही समझ लें कि सद्धर्म एवं सद्भावपूर्ण कार्योंके लिये प्रेरणा आत्मासे मिलती है और राग-द्वेषपूर्ण कार्योंकी प्रेरणा मनकी ओरसे प्राप्त होती है।

जो कर्म राग-द्वेषरहित और वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे होते हैं, उनसे प्रसाद—चित्तकी निर्मलता—प्रसन्नता या भगवान्की कृपा प्राप्त होती है और उससे समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
(गीता २ । ६४-६५)

(३) विशुद्ध आत्माका नाम ही परमात्मा है। इनमें कोई भेद नहीं है। इस आत्मा या परमात्माका कभी पतन नहीं होता। जैसे घटाकाश या महाकाशमें कोई अन्तर नहीं। वैसे ही शरीरान्तर्यामी आत्मा और परमात्मा में भी कोई अन्तर नहीं। मन, प्राण और सूक्ष्म इन्द्रियोंका समुदाय सूक्ष्म शरीर कहलाता है। यह स्थूल शरीरके भीतर रहता है। इसीकी प्रेरणाके अनुसार स्थूल शरीर द्वारा क्रियाएँ होती हैं। इस सूक्ष्म शरीरके साथ तादात्म्य हुए आत्माको जीव कहते हैं। इसी सूक्ष्मशरीरमें राग-द्वेषमूलक प्रवृत्ति होती है; अतः उसीका पतन होता है। वही नरकमें और वही स्वर्गमें भी जाता है। उसीका जन्म और उसीकी मृत्यु होती है। इस प्रकार आत्मा जबतक इस सूक्ष्म शरीरको अपना स्वरूप मानता है, तभीतक उसके सुख-दुःखसे वह सुखी-दुखी होता है। और विविध योनियोंमें भटकता रहता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदस्यो निजन्मसु ॥

‘प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक समस्त पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।’ उस सूक्ष्म शरीरके ही पतनका आरोप लोग अज्ञानवश आत्मापर करते हैं। क्या घड़ेमें रक्खी हुई कीचड़का लेप आकाशमें भी लग सकता है? इसी प्रकार सूक्ष्म शरीरके दोष आत्माको छू भी नहीं सकते हैं। अतः

सूक्ष्म शरीर या उसका अभिमानी जीव पतित होता है, आत्मा या परमात्मा नहीं ।

(४) आत्मा या परमात्मा अनादि और अनन्त है । जन्म लेता है सूक्ष्म शरीर और वही मरता भी है । अज्ञानवश लोग आत्मापर उसका आरोप करते हैं । मनुष्य जन्म लेता है, इससे आत्माका जन्म लेना कैसे सिद्ध हुआ ? एक विशेष प्रकारके शरीरको मनुष्य कहते हैं । आत्माका शरीरसे क्या सम्बन्ध ? सूक्ष्म शरीरके द्वारा जो शुभाशुभ कर्म सम्पादित होते हैं, उन्हींके फल-स्वरूप उसको मनुष्य आदि जीवोंके स्थूल शरीर प्राप्त होते हैं । शेष भगवत्कृपा ।

(६)

निराश न होकर भगवान्पर विश्वास कीजिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । पूज्य श्रीजयदयाल-जीके नाम आपका पत्र मिला । आपने अपने स्वास्थ्यकी और अर्थसम्बन्धी जो परिस्थिति लिखी, वह अवश्य विचारणीय है । परंतु आपने जो यह लिखा कि—‘यही मनमें आता है कि पत्नीसहित आत्महत्या ही ठीक है ।’ सो आपका यह विचार बिल्कुल ठीक नहीं है । स्वाभाविक मृत्यु आ जाय, तब तो कोई उपाय नहीं है, परंतु संसार-के दुःखोंसे घबराकर आत्महत्याका विचार करना बड़ा अपराध है । आपको इतना निराश नहीं होना चाहिये तथा भगवान्पर विश्वास रखकर चिकित्सा करानी चाहिये । श्रद्धापूर्वक भगवान्से कर्पण प्रार्थना करनी

चाहिये । दयामय भगवान् उचित समझेंगे तो आपकी स्थितिमें आश्चर्यजनक परिवर्तन कर देंगे । आप ईश्वर-चिन्तन और विनय करते हैं सो बड़ी अच्छी बात है । विशेष श्रद्धा तथा विश्वासके साथ करते रहिये । भगवान्की कृपासे ऐसा कोई काम नहीं; जो न हो सके ।

धैर्य रखिये और भगवान्को हृदयमें लाइये । मनुष्य विश्वास, धैर्य और ईश्वरकी शरणागतिके अपनेमें पवित्र भगवदीय प्रकाशको जाग्रत् कर लेता तब उसका मार्ग बहुत सरल हो जाता है और सारा निराशाएँ, समस्त दुर्भाव, जो उसे पद-पदपर भयानक करते थे—पथभ्रष्ट करना चाहते थे, सहज ही नष्ट जाते हैं और उसकी मझधारमें झोंके खाती हुई दीखनेवाली जीवन-नौका बड़े आनन्दके साथ पार जाती है ।

आप अपना पूरा नाम-पता ‘कामके पत्र-कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेसके पतेपर कृपया लिख भेजिये; पता मिलनेपर आपको व्यक्तिगत पत्र और भी एक ऐसा उपाय लिखा जायगा जो ‘कल्याण’ में प्रकाशित नहीं किया जा सकता । आप घबरा नहीं—‘हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम ।’ आप पत्नी यदि ‘रामचरितमानस’का नवाह-पारायण और रोग-नाशादिके लिये—‘दैहिक दैविक भौतिक तारामराज काहुहि नहि व्यापा ॥’ यह सम्पुट लपक करती रहें तो बहुत उत्तम है । शेष भगवत्कृपा ।

भक्त-वाणी

हरिको भजन, साधुकी सेवा, सर्वभूतपर दया ।
हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागै, विष सम देखै माया ॥
सहनशील, आशय उदार अति, धीरजसहित, विवेकी ।
सत्यवचन सबको सुखदायक गहि अनन्य व्रत एकी ॥
इंद्रियजित, अभिमान न जाके, करै जगतको पावन ।
भगवतरसिक तासुकी संगति, तीनहुँ ताप नसावन ॥

दो नयी पुस्तकें !

वेदान्त-दर्शन

(हिंदी-व्याख्यासहित)

व्याख्याकार—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ४१६, भगवान् वेदव्यासका सुन्दर तिरंगा चित्र, हाथ करघे-के बुने कपड़ेकी जिल्द, मूल्य २) मात्र ।

महर्षि वेदव्यासरचित ब्रह्मसूत्र बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसमें थोड़े-से शब्दोंमें परब्रह्मके स्वरूप-का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है, इसलिये इसका नाम 'ब्रह्मसूत्र' है । यह ग्रन्थ वेदके चरम सिद्धान्त-का निदर्शन कराता है, अतः इसे 'वेदान्त-दर्शन' भी कहते हैं । वेदके अन्त या शिरोभाग—ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्के सूक्ष्म तत्त्वका दिग्दर्शन करानेके कारण भी इसका उक्त नाम सार्थक है । वेदके पूर्वभागकी श्रुतियोंमें कर्मकाण्डका विषय है, उसकी समीक्षा आचार्य जैमिनिने पूर्वमीमांसा-सूत्रोंमें की है । उत्तरभागकी श्रुतियोंमें उपासना एवं ज्ञानकाण्ड है; इन दोनोंकी मीमांसा करनेवाले वेदान्त-दर्शन या ब्रह्मसूत्रको 'उत्तरमीमांसा' भी कहते हैं । प्रस्थानत्रयीमें ब्रह्मसूत्रका प्रधान स्थान है ।

संस्कृत भाषामें इस ग्रन्थपर अनेक भाष्य एवं टीकाएँ उपलब्ध होती हैं; परन्तु हिंदीमें कोई सरल तथा सर्वसाधारणके समझने योग्य टीका नहीं थी; इसलिये यह सुगम एवं सस्ता संस्करण प्रकाशित किया गया है । प्रस्तुत ग्रन्थमें मूल सूत्र, उनके शब्दार्थ एवं प्रत्येक सूत्रका दूसरे सूत्रसे सम्बन्ध दिखाते हुए उन सूत्रोंकी सरल हिंदीमें व्याख्या की गयी है । साथ ही विस्तृत विषय-सूची और ग्रन्थके अन्तमें अकाराविक्रमसे सूत्रोंकी वर्णानुक्रमणिका भी दे दी गयी है ।

लोक-परलोकका सुधार

(कामके पत्र भाग ४)

लेखक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित 'कामके पत्रों' का यह नया संग्रह प्रकाशित किया गया है । आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २८८, सुन्दर पुष्ट टाइटल, मूल्य ॥) मात्र ।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त दो पुस्तकोंके नये संस्करण

कठोपनिषद्

(सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित)

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १७८, यम और नचिकेताका सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य ॥-१) इसमें मन्त्र, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और उसका हिंदी-अनुवाद मूलके सामने-सामने दिया गया है ।

केनोपनिषद्

(सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित)

[पद-भाष्य एवं वाक्य-भाष्य]

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ १४२, उमा और इन्द्रका सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य ॥) कठोपनिषद्की तरह इसमें भी मन्त्र, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और उसका हिंदी-अनुवाद मूलके सामने-सामने है । ग्रन्थोंके अन्तमें मन्त्रोंकी वर्णानुक्रमसूची भी दे दी गयी है ।

बहुत दिनोंसे पाठक इन ग्रन्थोंके पुनर्मुद्रणकी बाट देख रहे थे, ये अब तयार हो गये हैं ।
पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

‘भक्त-चरिताङ्क’ अभी मिल सकता है

‘कल्याण’ के ‘भक्त-चरिताङ्क’ को भारत के सभी श्रेणी के लोगों ने बहुत ही पसंद किया है। देश के प्रसिद्ध समाचारपत्रों ने इसकी महत्त्वपूर्ण आलोचना प्रकाशित की है। कई जगह तो नियमित रूप से ‘भक्त-चरिताङ्क’ की कथा होने के समाचार मिले हैं। इसमें सभी श्रेणी के प्राचीन और नवीन भक्तों के मधुर, पावन और उपदेशप्रद चरित्रों का सचित्र चित्रण होने से यह सभी के लिये प्रिय वस्तु हो गया है। इसे भक्तों का एक विशाल चरित्रकोष समझना चाहिये। ‘भक्त-चरिताङ्क’ को पढ़ना चाहने वाले कई सज्जन बड़ी उत्सुकता से पत्र लिखकर पूछते हैं कि ‘भक्त-चरिताङ्क’ से ‘कल्याण’ के ग्राहक अभी बनाये जाते हैं या नहीं ? उन लोगों की जानकारी के लिये तथा नया ग्राहक बनने की इच्छा रखने वालों के लिये यह सूचना दी जाती है कि अभी तक ‘भक्त-चरिताङ्क’ से ‘कल्याण’ के नये ग्राहक बनाये जा रहे हैं। जिनको ग्राहक बनना हो, वे तुरंत मनीआर्डर से साढ़े सात रुपये भेजकर या बी० पी० से ‘भक्त-चरिताङ्क’ तथा अब तक के प्रकाशित अङ्क भेजने का आदेश देकर शीघ्र ग्राहक बन जायँ। नये ग्राहकों की माँग बराबर आ रही है। इसी तरह ग्राहक बनते गये तो कुछ समय बाद नये ग्राहक बनाना बंद करना पड़ेगा। इसलिये जल्दी करनी चाहिये।

प्रसिद्ध ‘हिंदू-संस्कृति-अङ्क’ के लिये भी लोग पूछते हैं, उनसे भी निवेदन है कि ‘हिंदू-संस्कृति-अङ्क’ अभी मिल सकता है। मूल्य डाकव्यय सहित साढ़े छः रुपये हैं।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’ गोरखपुर

कालपाप



६-६-५२

वर्ष
२६

सत्य-पथ-परिपालन-
सर्वदा-संन्यास-सिद्धि

अंक
५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
 जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
 रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
 जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, मई सन् १९५२

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-राम-श्यामका वन-विहार [कविता] (श्रीमद्भा० १० । ८ । ७—११ के अनुसार)	१००१
२-कल्याण ('शिव')	१००२
३-वैदिक प्रार्थना (श्रीरामलालजी पहाड़ा)	१००३
४-धक्कार है ! [संकलित] (श्रीधरस्वामी)	१००४
५-स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१००६
६-गाँधीजीकी दिव्य वाणी	१०१७
७-भगवान् श्रीरामचन्द्रकी जन्मकुण्डली और फलादेश (प्रेषक—पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)	१०१९
८-श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन	१०२०
९-ऐसी वेदना समा गयी [कविता] (श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)	१०२६
१०-हृदयकी सरलतासे प्रमुक्त साक्षात्कार (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	१०२७
११-विद्या, श्रद्धा, उपनिषद् (श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)	१०३०
१२-विनती [कविता] (श्रीकबीरदासजी)	१०३१
१३-प्रतीकोपासना और शिवलिङ्ग-रहस्य (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)	१०३२
१४-बोधमाला (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)	१०३६
१५-सावधान ! अज्ञानसे परिचित रहना (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)	१०४२
१६-सुखी संसारका सुखी मानव (पं० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०)	१०४४
१७-विनती [कविता] (श्रीविहारीलालजी)	१०४९
१८-अध्यात्मकी ओर [कहानी] (श्री 'चक्र')	१०५०
१९-आत्म-परीक्षा (श्री रावी)	१०५६
२०-जाको राखे साँझों मार सकै ना कोय	१०५८
२१-भक्ताराज श्रीनारायणजी भट्टाचार्यका महाप्रस्थान (श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)	१०५९
२२-संतकी वृत्ति (संकलित)	१०६१
२३-श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामायणके प्रचारकी योजना	१०६२

चित्र-सूची

तिरंगा

१-राम-श्याम और ग्वालबालोंकी वन-क्रीडा

१००१

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिल्लिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनन्द भूमा जय जय ॥
 जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
 जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ७॥
विदेशमें १०॥
(१० पैसे)

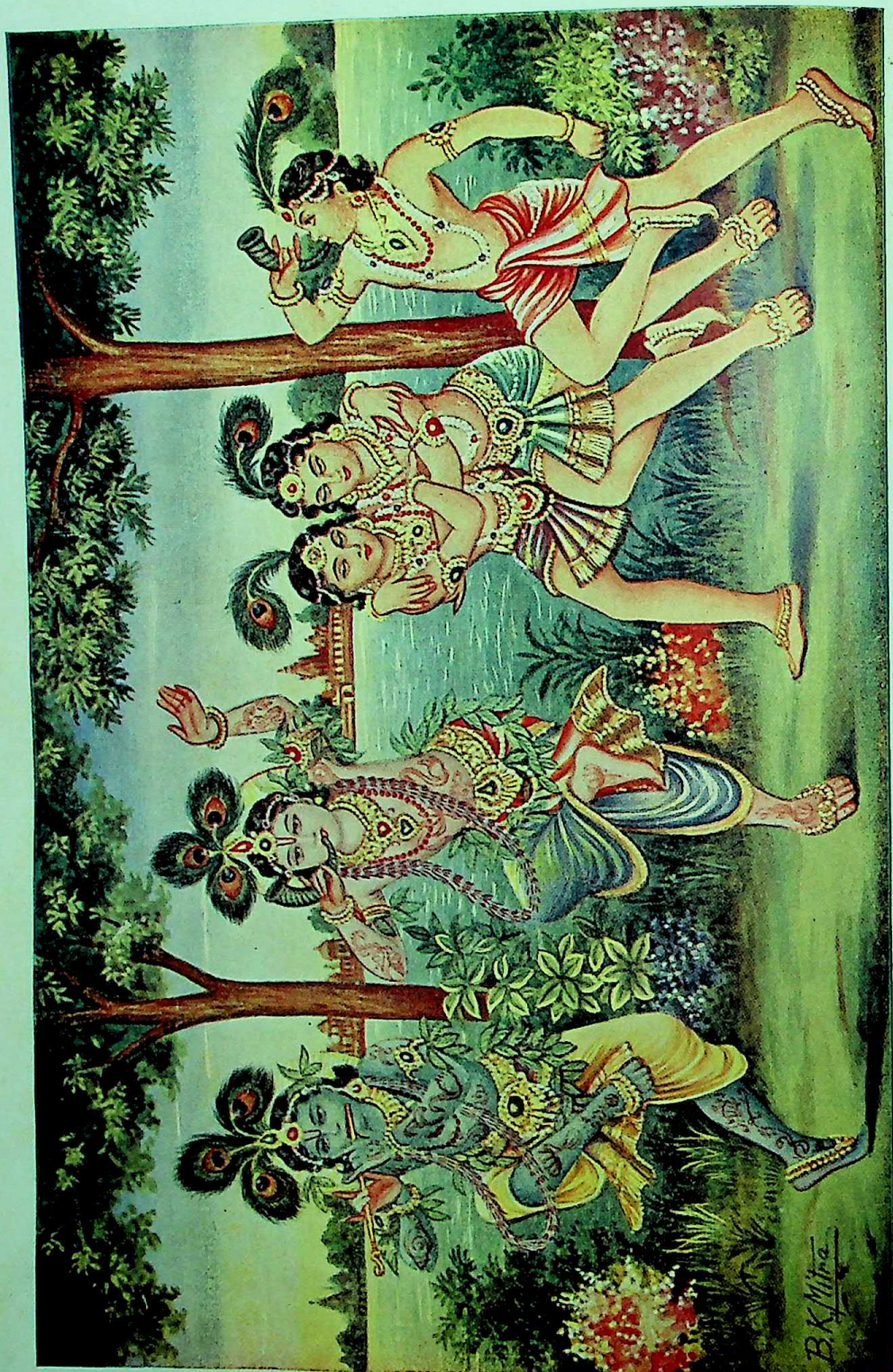
सम्पादक—श्रीमन्मदनमोहन मालवीय, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—धनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

२
१
२
३
४
५
६
७
८
९
१०
११
१२
१३
१४
१५
१६
१७
१८
१९
२०
२१
२२
२३
२४
२५
२६
२७
२८
२९
३०
३१
३२
३३
३४
३५
३६
३७
३८
३९
४०
४१
४२
४३
४४
४५
४६
४७
४८
४९
५०
५१
५२
५३
५४
५५
५६
५७
५८
५९
६०
६१
६२
६३
६४
६५
६६
६७
६८
६९
७०
७१
७२
७३
७४
७५
७६
७७
७८
७९
८०
८१
८२
८३
८४
८५
८६
८७
८८
८९
९०
९१
९२
९३
९४
९५
९६
९७
९८
९९
१००

गारण प्र
तमें १७
शमें १८
० वें

कल्याण



राम-श्याम और ग्वालबालोंकी वन-क्रीडा

श्रीगुरुभ्यो नमः
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय



यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद्वर्ष्म तद्वच्छुभं नेत्रे चेतपसोजिते सुरुचिरे गाम्भ्यां हरिर्दृश्यते ।
साबुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

वर्ष २६ }

गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २००९, मई १९५२

{ संख्या ५
पूर्ण संख्या ३०६

राम-श्यामका वन-विहार

खेलत ग्वालन सँग दोउ भैया ।

नटवर वेष बने अति सुंदर, चलीं जाति आगें सब गैया ॥
नव पल्लव-वन-धातु-विभूषित, पुष्पहार-गल, निपुन नचैया ।
मोर-पिच्छ-गुच्छनसों सोभित नाचत ताल सहित सरसैया ॥
सींग-बाँसुरी मधुर बजावत गावत सबकें साथ कन्हैया ।
ताल ठोंकि मल्लई करत सब एक एकको मन रिझवैया ॥
क्रीडत विविध भाँति मोहन वन करत हर्ष-धुनि हैया हैया ।
ग्वाल बालको रूप धारि सुर धन्य धन्य कहि लेत बलैया ॥
(श्रीमद्भा० १० । ८ । ७-११ के अनुसार)

कल्याण

धन संसार-निर्वाहके लिये आवश्यक है; परंतु उसको इतना आदर कभी मत दो कि जिसमें वह इष्टदेव या भगवान्‌के आसनपर अधिकार कर ले। धनका गौरव उसके पर-पीड़ा-निवारणार्थ किये जानेवाले विसर्जनमें है, न कि अनावश्यक संग्रहमें। धनका यथायोग्य सदुपयोग करो—उसके द्वारा सुयोग्य पात्रकी पूजा करो, परंतु धनकी पूजा कभी न करो।

याद रखो—धन मनुष्यकी सुख-सुविधाके लिये है, उसे परेशान करनेके लिये नहीं। जिस धनसे मनुष्य एक-दूसरेकी भलाई करता है, वही धन सार्थक है। धन-को मनुष्यका सेवक बनकर रहना चाहिये, स्वामी बनकर कदापि नहीं।

धन पाकर मनुष्यको सौभाग्य प्राप्त हुआ है या दुर्भाग्य, इसका पता धनके व्यवहारसे लगता है। यदि धन धर्ममें सहायक है तो वह मनुष्यके लिये सौभाग्य है और यदि पापमें सहायक है तो दुर्भाग्य है। याद रखो—धन हो जाना ही सौभाग्यका चिह्न नहीं है।

जो धन अन्यायमार्गसे नहीं आता, अपने हकका और अपनी मेहनतकी सच्ची कमाईका आता है, वही धन धर्ममें सहायक होता है। छल और चोरीसे या असत्य और अन्यायके आश्रयसे जो धन आता है, वह तो पापबुद्धि पैदा करके पाप ही बढ़ाता है।

धनको सेवापरायण बनाना चाहिये, भोगपरायण नहीं। और जो धन केवल संग्रह करनेके लिये ही आता है, वह तो जैसे गढ़में इकट्ठा हुआ बिना बहता जल सड़कर गंदगी फैलाता है, वैसे ही मनुष्यके मन-को अत्यन्त गंदा कर डालता है और जैसे गढ़का जल सड़कर सूख जाता है वैसे ही वह धन भी गंदगी फैलाकर अन्तमें सूख जाता है। सूखे जलकी जमीनमें दरारें पड़ जाती हैं, वैसे ही यह सूखा धन भी हृदयको विदीर्ण कर डालता है।

धनमें कभी आसक्ति मत होने दो तथा न काम उसे अपनी चीज समझो। जिसका धन है, उसीकी सेवामें उदारता तथा दक्षताके साथ निरन्तर खुले हाथों लगाते रहो।

धन उपार्जन करो, पर धनका लोभ मत करो। लोभ पापका मूल है। जिस मनुष्यके मनमें धनका लोभ उत्पन्न हो गया है, उसका प्रयत्न करनेपर भी पापसे बचना बहुत कठिन है।

धनको ही इष्ट माननेवाले धनियोंका, ऐसे धनियोंके आस-पास रहनेवाले उनके संगियोंका और धन-लोभियोंका सङ्ग मत करो। उनका सङ्ग बुद्धिमें भ्रम पैदा करके धनका लोभ जाग्रत कर देगा और तुम्हें गहरे पापके कीचड़में ढकेल देगा।

धनका अभिमान बड़ी बुरी चीज है। धनाभिमान लोग माता-पिता, गुरु, साधु, महात्मा और भगवान्‌तक का अपमान कर बैठते हैं। धन-दुर्मदान्धसे ऐसा कौन-सा पाप है, जो नहीं हो सकता। धनका नशा चढ़ा कि मनुष्य पागल होकर गहरी खाईमें गिरा !

धनका सदुपयोग-दुरुपयोग कर्ताकी बुद्धिपर निर्भर करता है। धनसे अन्नदान, भूमिदान, शिक्षादान, कूप-तालाब-निर्माण आदि सत्कार्य भी हो सकते हैं और शराब, व्यभिचार, खून, गोले-बारूद और परमाणु बम-का निर्माण आदि दुष्कार्य भी हो सकते हैं। जिनके पास धन हो, उन्हें सात्त्विक बुद्धिसे धनका सदुपयोग करना चाहिये। धन सहज ही बुद्धि बिगाड़ता है, फिर पहलेसे ही बिगड़ी बुद्धि हो तब तो कहना ही क्या है ! 'गिलोय और नीम चढ़ी !'

जिसके पास धन अधिक है, वह अधिक सुखी है—इस भ्रमको त्याग दो। वरं जिसके पास जितना धन अधिक है, उतनी ही उसके मनमें अभावकी भावना

अधिक है। जितनी ही अभावकी अनुभूति अधिक है, उतना ही दुःख अधिक है। अवश्य ही धनहीन व्यक्ति के दुःखका स्वरूप दूसरा होता है और बड़े धनीके दुःखका दूसरा; पर जहाँ जितनी ही कामनाकी आग बढ़ी हुई होगी, उतना ही ताप—जलन अधिक होगी। यह निश्चय है।

धनको कभी अनावश्यक महत्त्व मत दो—बटोरने में भी और दान करनेमें भी। धनसे ही दान, सत्कर्म या सेवा होगी, यह धारणा ठीक नहीं है। सच्चे दान, सत्कर्म और सेवामें मनके भावकी महत्ता है, धनकी

कदापि नहीं। महिमा त्यागकी है, धनकी नहीं।

धनको गरीबोंकी सेवामें लगाओ। किसीको सताने या तंग करनेमें जो मनुष्य धनका उपयोग करता है, उसके लिये तो वह धन महान् अभिशाप है और उसे भयङ्कर नारकीय यन्त्रणा प्राप्त करानेमें प्रधान कारण होता है।

दूसरेका स्वत्व—हक मारकर धन कमानेकी कल्पना करना भी बड़ा पाप है। हकका कमाओ, हकका खाओ और शुद्ध हकका ही सदा सेवन करो! दूसरे धनको भयानक विष समझो—‘धन पराव विषते विष भारी।’

‘शिव’

वैदिक प्रार्थना

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

(प्रार्थना=याचना, कामना, काङ्क्षा, अभिलाषा)

(१) स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसा-
विव। पुनर्ददताग्रता जानता सं गमेमहि।

(ऋ० ५।५१।१५)

(सूर्य=प्रसिद्ध भौतिक पिण्ड, हृदयप्रेरक, विवेक, सर्वाधार आत्मा, आध्यात्मिक संयम, उग्रता। चन्द्रमा=प्रसिद्ध भौतिक पिण्ड, शान्ति, प्रसन्नता, मायानन्द, प्रकृति-व्यवहार, सङ्कल्प।)

सूर्य=Spiritual Knowledge

चन्द्र=Materialism, Worldly gain

‘हम बार-बार देते हुए, किसीकी धारणा करते हुए, जानते हुए परस्पर मिलते रहें और सूर्य-चन्द्रमाके समान कल्याण-पथका अनुसरण करते रहें।’

सूर्य-चन्द्रमा परस्पर आदान-प्रदान कर लाखों वर्षोंसे नियमित रीतिसे कार्य कर रहे हैं। कभी अपने काममें प्रमाद नहीं करते। अपने आश्रित जनोंको धोखा

नहीं देते, वरं यथोचित समयपर कार्य करनेमें सहायता देते हैं। हम भी उनका आदर्श सामने रखकर काम करें। हम भी अपने विलासको (चन्द्रमाको) विवेक (सूर्य) के अधीन मर्यादित रखें। अवसर देखकर कभी उग्रतासे और कभी शान्तिसे काम करें।

(२) विश्वानि देव सवितर्दुर्गितानि परा सुव
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥ (ऋ० ५।८२।५)
‘हे सवितादेव! सब प्रकारके कष्टों (पापों) को दूर करो और जो कल्याणकारक हो, वही हमारे लिये लाओ, उत्पन्न करो।’

भौतिक पक्षमें—सूर्य तभी कल्याण करता है, जब हम उसके समान नियमसे काम करनेवाले हों। प्रातः-काल उठकर सूर्य-सेवन (खुले मैदानमें सन्ध्योपासन, जीवन-निर्वाहके कार्य) करते हों, तब सब प्रकारसे कल्याण होता है। स्वास्थ्य बढ़ता है।

आध्यात्मिक पक्षमें—जैसे सूर्यके प्रकाशसे अन्धकार

शीघ्र मिट जाता है, वैसे ही हृदयमें विवेकके उदय होते ही मोह, लोभ, काम, क्रोध आदि दुःख देनेवाले विकारोंका अँधेरा मिट जाता है और दया, न्याय, क्षमा, परोपकार आदि कल्याणकारक भावोंका उदय हो जाता है । यह भी बड़े भाग्यसे (पुण्यसे, सतत आराधनासे) होता है ।

दलन मोह तम सो सप्रकासू । बड़े भाग उर आवइ जासू ॥

(३) प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम् ।

येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥

(यजु० ४ । २९)

‘हम निष्पाप कल्याणके मार्गको प्राप्त करें, वह पन्थ लक्ष्य-प्राप्तिके लिये सरल हो । जिससे चलकर मनुष्य समस्त द्वेषी शत्रुओंको त्याग देता और अभीष्ट धन प्राप्त करता है ।’ अर्थात् हम प्रामाणिकतासे परिश्रम कर लक्ष्यपर पहुँचें और धन प्राप्त करें । किसीको धोखा न दें और अमर्याद लाभ पानेका प्रयत्न न करें । यही उपाय समाजमें शान्ति रख सकता है ।

(४) न देवानामपि द्रुतः सुमतिं न जुगुक्षतः ।

श्रवो बृहद् विवासतः ॥

(ऋ० ८ । ३१ । ७)

(श्रवः=अन्न, आवश्यक वस्तु)

जगत्के स्त्री-पुरुष देवोंके सम्बन्धमें अपलाप न करें । अनुचित बातें न बकते रहें । (देव=बुद्धिमान् या द्योतन अनादि-दीपन, दान देनेवाले पुरुष) सुमतिका त्याग न करें । जीवनभर अधिक-से-अधिक प्रमाणमें अन्नादिका वितरण करते रहें ।

हम देवोंकी (शासकोंकी) व्यर्थ निन्दा न किया करें और विचार न छोड़ें, यथाशक्ति अन्नादिका वितरण करें । आवश्यकतासे अधिक संग्रह न करें । यदि अधिक हो तो समाजमें उसका यथोचित मूल्य लेकर वितरण किया करें । अतिशय लाभकी या चोर-

वाजारकी आशामें उसको न रोक रखें । कंटोले करनेवाले महापुरुषोंको चाहिये कि वे भी यथासम्भव वितरण करते रहें । अन्नादिको रोक रखना और वस्तुओंको सड़ा डालना सामाजिक पाप है, जो एक दिन सबको खा जाता है ।

(५) अन्नपते ऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्रप्र दातारं तारिष ऽ ऊर्जे नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ।

(यजु० ११ । ८३)

हे अन्नपति (किसान, व्यापारी, नियन्त्रणाध्यक्ष) हमें विषरहित, सरस, बलदायक अन्न (खाद्य वस्तुएँ) दो । परमात्मन् ! दाताको बाधाओंसे पार कर दो । हमें मनुष्यों और पशुओंके पालनके लिये अन्न दो, अन्नके संग्रह करनेवाले उचित मूल्य लेकर जनताको सरस वस्तु देते रहें । उन्हें सड़ाकर विकारी न का डालें । अनुचित संग्रह कर खाद्य वस्तुओंको सड़ाकर बेचना अक्षम्य अपराध है ।

(६) मा कस्याद्भुतक्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः ।
मा शेषसा मा तनसा । (ऋ० ५ । ७० । ४)

(अद्भुत=नित्य नवीन । शेषसा=पुत्र । तनसा=

पौत्रादि—)

‘हम नर-नारी नित्य नवीन काम करनेवाले किसीके संग्रहका उपभोग न करें । हम अपने परिश्रमसे प्राप्त किये हुए पदार्थोंका उपभोग करें ।’ अर्थात् हम स्वावलम्बी हों और आत्मगौरव रखें; अपने आश्रित जनोंके, पुत्रके या पौत्रादिके द्वारा भी उपभोग न लें । हम सब कुटुम्बमें रहकर यथोचित परिश्रम कर आवश्यक वस्तुओंको प्राप्त करते रहें । अपना भार किसीपर न डालें । (ऋषि पिस्सु-प्रकृतिके विरुद्ध है ।)

(७) मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देव-
यन्तम् । सुमनैरिद् व आ विवासे । (ऋ० १ । ४१ । ८)
देवगण ! देवताओंके प्रति श्रद्धा रखनेवाले

संख्या ५]

देवोपम सदाचारका पालन करनेवाले साधु पुरुषको जो मारता या गाली देता है उसको वैसा ही उत्तर हम नहीं दे रहे हैं, उस दुष्टको इसके लिये दण्ड देनेका भार हम आपपर छोड़ते हैं और अपने धनसे आपकी आराधना करते हैं। हम किसीका घात करते हुए या किसीको शाप (गाली) देते हुए वचन न बोलें। देव-समान व्यवहार करते हुए सुखोंके साथ वर्ष व्यतीत करते रहें। सदाचारद्वारा सबको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करते रहें।

(८) पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्रुतः।
उमा हिरण्यपेशसा ।

(ऋ० ८ । ३१ । ८)

‘हम (पति-पत्नी) दोनों (ईश्वर-कृपासे) पुत्र-पुत्रियोंके साथ (संतानवान्) तथा धन-वस्त्रसे युक्त होकर (सम्पत्तिशाली होकर) पूर्ण आयु प्राप्त करें।’ परस्पर प्रेम करते हुए संतति और सम्पत्ति प्राप्तकर पूरी आयुका उपभोग लेते रहें। हमारा कभी वियोग न होवे। तलाकका अवसर न लावें।’ गृहस्थधर्मकी कितनी उदार आकाङ्क्षा है !

(९) अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम् ।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥

(ऋ० ८ । १८ । १०)

‘हे अखण्ड नियमोंके पालनेवाले देवगणो (आदित्या-सो) ! हमारे रोगोंको दूर करो, हमारी दुर्मतिका दमन

करो और पापोंको दूर हटा दो।’—सूर्यकी आराधना और प्राकृतिक नियमोंके पालन करनेसे रोग दूर होते हैं, स्वास्थ्य स्थिर रहता है। स्थिर स्वास्थ्यसे सुमति होती है और सुमति पापको दूर हटाती है।

जहाँ सुमति तहाँ संपति नाना।

जहाँ कुमति तहाँ बिपति निदाना ॥

(१०) मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो
गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । मा नो वीरान् रुद्र
भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ।

(यजु० १६ । १६)

(रुद्र=रुत+द्र=रोग, दरिद्रता, पापको नाश करनेवाले)

हे रुद्रदेव ! हमारे पुत्र, पौत्र और आयुषोंपर क्रोध न करो, हमारे गाय-बैलोंपर, घोड़ोंपर क्रोध मत करो, हमारे सुन्दर वीरोंका वध मत करो। हम सदा हविसे (उचित द्रव्यसे) तुम्हारा स्तुकार करते हैं। हम रोगोंको हटानेके लिये प्राकृतिक नियमोंका पालन करते हैं। प्रातःकाल उठकर स्नान-ध्यान कर शुद्ध भोजन करते और परिश्रम करके विराम लेते हैं। दरिद्रताको हटानेके लिये यथोचित परिश्रम कर वस्तुएँ उत्पन्न करते और प्रामाणिकतासे उचित मूल्य लेकर समाजमें उनका वितरण करते हैं। समाजमें शान्ति रखनेको सबके साथ सदाचारका व्यवहार करते हैं।

शुभमस्तु

धिकार है !

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां

येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा ।

येषां श्रीकृष्णलीलालितरसकथासादरौ नैव कर्णौ

धिक् तान् धिक् तान् धिगेतान् कथयति नियतं कीर्तनस्थो मृदङ्गः ॥ (श्रीधरस्वामी)

जिन मनुष्योंकी यशोदानन्दनके चरणकमलोंमें भक्ति नहीं है, जिनकी रसना गोपकुमारियोंके प्राणाधारके गुणगानमें अनुरागिणी नहीं है और जिनके कर्ण अति ललित श्रीकृष्णलील-सुधार-रसके प्यासे नहीं हैं, उनके लिये कीर्तनमें बजता हुआ मृदंग ‘धिक् तान्, धिक् तान्, धिगेतान्’ (उन्हें धिक्कार है ! धिक्कार है ! धिक्कार है !) —ऐसा कहता है ।

स्त्रियोंके लिये कर्तव्यशिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इधर स्त्रियोंके लिये उपयोगी शिक्षाके विषयमें लिखनेके लिये कुछ भाइयोंने अनुरोध किया था। अतएव यहाँ इस विषयपर कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जाता है—

प्रत्येक स्त्रीको उचित है कि वह अपने नैहर और ससुरालमें सबके साथ बहुत ही उत्तम व्यवहार करे। व्यवहार करते समय नीचे लिखी तीन बातोंका खयाल रखनेसे व्यवहार शीघ्र ही बहुत उच्चकोटिका हो सकता है।

(१) व्यवहार करते समय भगवान्को याद रखना चाहिये, जैसे गोपियाँ हर समय भगवान्को याद रखती हुई ही घरके सारे काम-काज किया करती थीं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

या दोहनेऽवहने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनाभ्ररुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(१० । ४४ । १५)

‘जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपरमणियाँ धन्य हैं !’

(२) जिसके साथ व्यवहार किया जाय, अपना स्वार्थ छोड़कर उसके हितकी दृष्टिसे किया जाय।

(३) दूसरोंके सच्चे गुणोंका तो वर्णन किया जाय, पर अवगुणोंकी चर्चा न की जाय।

इस प्रकारका आचरण करनेसे व्यवहारका भी सुधा होता है और सबके साथ प्रेम भी बढ़ता है। घरमें जो अपनेसे बड़ी अवस्थावाले स्त्री-पुरुष हों, श्रद्धापूर्वक उनकी आज्ञा पालनेकी चेष्टा और सेवा करनी चाहिये तथा उनके चरणोंमें नित्य नमस्कार करना चाहिये। स्त्रियोंको तो पैर छूकर प्रणाम करना चाहिये और पतिके सिवा दूसरे पुरुषोंको हाथ जोड़कर भूमि मस्तक लगाकर प्रणाम करना चाहिये। अपने समान व्यवहारियोंको आदर-सत्कारपूर्वक निःस्वार्थ प्रेमभावसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा करनी चाहिये और अपनेसे जो छोटे हैं, उनका जिस प्रकार हित हो, इसका विशेष ध्यान रखते हुए वात्सल्यभावसे पालन करना चाहिये। बालकोंके गुण, स्वभाव और चरित्र अच्छे बनानेके लिये अपना उत्तम-से-उत्तम चरित्र उनके सामने रखना और उसी प्रकारकी उन्हें शिक्षा देनी चाहिये। माताके उपदेशकी अपेक्षा भी उसके चरित्रका असर बालकोंपर अधिक पड़ता है। बालकोंके लिये प्रथम गुरु माता ही है। श्रीतुलसीदासजीका रामायणमें देखिये सुमित्राने अपने पुत्र लक्ष्मणके प्रति कैसा उत्तम उपदेश दिया है—

तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता रामु सब भौंति सनेही ।
अवध तहाँ जहाँ राम निवासु । तहाँ दिवसु जहाँ भानु प्रकासु ।
जौ पै सीय रामु बन जाहीं । अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ।
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं । सेइअहिं सकल प्रान की नाईं ।

×

×

×

पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुत होई ।
नतर बाँझ भलि बादि बिआनी । राम बिमुख सुत तँ हित जानी ।
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं । दूसर हेतु तात कछु नाहीं ।

×

×

×

सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ।

×

×

अहिं न रामु बन लहहिं कलेसु । सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसु ॥

बाल्मीकीय रामायणमें भी इसी प्रकार कहा है—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।

अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥

(२ । ४० । ९)

बेटा ! तुम इच्छानुसार सुखपूर्वक वनमें जाओ, श्रीरामको पिता दशरथ समझना, सीताको माता (मुझे) समझना और वनको अयोध्या समझना ।

इसी प्रकार राजा ऋतध्वजकी धर्मपत्नी मदालसा एक बड़ी उच्चकोटिकी विदुषी स्त्री थी । उसकी कथा मार्कण्डेयपुराणमें विस्तारसे आती है, वहाँ देखनी चाहिये । अपने पुत्रोंको उसने बचपनमें ही ज्ञानका उपदेश देकर ज्ञानी बना दिया था । * मदालसाका यह उद्देश्य था कि मेरे गर्भमें आये हुए बालकको यदि पुनः दूसरी माताके गर्भमें जाकर जन्म लेना पड़े तो उस बालकको प्रसव करना मेरे लिये लज्जाकी बात है !

स्त्रियोंको चाहिये कि घरवालों और बाहरके सभी मनुष्योंके साथ बर्ताव करते समय वाणीका संयम रखें । अश्लील, गंदे, कटु, व्यङ्ग्यभरे, हिंसात्मक और व्यर्थ शब्द न बोलकर परिमित, सत्य, प्रिय और हितके ही वचन कहने चाहिये । शब्दोंका प्रयोग उत्तम अर्थ और भावयुक्त होना चाहिये । इसका असर सभीपर अच्छा पड़ता है और अपना हित भी इसीमें है ।

* मदालसा अपने बालकको इस प्रकार कहा करती—

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम

कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव ।

पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति

नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः ॥

(मार्कण्डेयपुराण)

हे तात ! तू तो शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है । यह कल्पित नाम तो मुझे अभी मिला है । यह शरीर भी पाँच भूतोंका बना हुआ है । न यह तेरा है, न तू इसका है, फिर किसलिये रो रहा है ?

अपनेद्वारा किसीकी भी हिंसा न हो, बल्कि सबके साथ निःस्वार्थ प्रेम हो, इस भावको हृदयमें रखते हुए प्रेम और विनययुक्त सरलताका व्यवहार करना चाहिये । जो वर्ण, आश्रम, पद, अवस्था, जाति, गुण, आचरण, ज्ञान—किसी भी दृष्टिसे पूज्य और बड़ा हो, उसकी निःस्वार्थभावसे आदरपूर्वक सेवा और उसे नमस्कार करना चाहिये । परपुरुषोंके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, एकान्तवास और चिन्तनका सर्वथा त्याग करना चाहिये । विशेष आवश्यक कार्य होनेपर बड़ेको पिताके समान, बराबरवालेको भाईके समान और छोटेको पुत्रके समान समझते हुए नीची दृष्टि रखकर थोड़े शब्दोंमें आवश्यकतानुसार नीतियुक्त बात की जा सकती है । पद्मपुराणमें बतलाया है—

सुवेपं या नरं दृष्ट्वा भ्रातरं पितरं सुतम् ।

मन्यते च परं साध्वी सा च भार्या पतिव्रता ॥

(सुष्टि० ४७ । ६०)

‘जो साध्वी स्त्री सुन्दर वेषधारी परपुरुषको देखकर उसे भ्राता, पिता अथवा पुत्र मानती है, वह पतिव्रता है ।’

स्त्रियोंको शौचाचार, सदाचार और अन्तःकरणकी पवित्रतापर विशेष ध्यान देना चाहिये । शरीर और घरकी सफाई आदि सब शौचाचारके ही अङ्ग हैं तथा सबके साथ उत्तम व्यवहार करना सदाचार है । शौचाचार और सदाचार—ये दोनों ही अन्तःकरणकी पवित्रतामें बहुत ही सहायक हैं । काम-क्रोध, लोभ-मोह, अभिमान-अहङ्कार, राग-द्वेष, मद-मत्सर आदि दुर्गुणोंका अभाव एवं पूर्वसञ्चित पापोंका नाश ही अन्तःकरणकी पवित्रता है । अतः इनके नाशकी विशेष चेष्टा रखनी चाहिये । आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक शिक्षाकी पुस्तकोंको स्वयं पढ़ना और बालकोंको भी पढ़ाना चाहिये । भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि विषयक गीता, रामायण,

भागवत आदि आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं । मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थ हैं । विदुरनीति, चाणक्यनीति, शुक्रनीति आदि नैतिक पुस्तकें हैं । इन पुस्तकोंमें तथा महाभारत आदि इतिहास और पद्मपुराण आदि पुराणोंमें सामाजिक और व्यावहारिक बातोंका भी जगह-जगह वर्णन आता है । घरमें सब लोग एकत्र होकर यदि एक घंटा भी इन ग्रन्थोंके सुनने-सुनानेका प्रबन्ध कर लें तो सभी लोगोंको शास्त्रोंका अनुभव स्वाभाविक ही अनायास हो सकता है ।

स्त्रियोंको चाहिये कि शरीरसे हर समय काम लेती हुई अपने जीवनको परिश्रमजीवी बनावें । आटा पीसना, रसोई बनाना, चौका-वर्तन करना आदि गृहकार्योंको कर्तव्यबुद्धिसे धैर्य और उत्साहके साथ करें एवं चर्खा कातना, कपड़े सिलाई करना आदि शिल्पकार्य भी अवश्य करें । ऐसा करनेसे बल, बुद्धि, आरोग्य, उत्साह, शरीर और मनमें प्रसन्नता तथा स्फूर्ति बढ़ती है । ये सब कार्य उन्हें लड़कियोंको भी सिखलाने चाहिये तथा आलस्य, प्रमाद, दुर्गुण-दुराचार, अश्लीलता, मादक वस्तुओंका सेवन, बुरे व्यसन, नाटक-सिनेमा, थियेटर, क्लब, खेल-तमाशा, ताश, चौपड़, शतरंज, फिजूलखर्ची और कुरीतियोंका भी कतई त्याग करना चाहिये । डोरा-यन्त्र, ताबीज, टोना, जात-झड़ल आदिको मिथ्या ब्रह्म समझकर इन कामोंसे स्त्रियोंको बचकर रहना चाहिये । स्त्रीके लिये लज्जा ही भूषण है, अतः लोक और शास्त्रकी मर्यादापर विशेष ध्यान देना चाहिये । किसीसे भी हँसी-मजाक कभी नहीं करना चाहिये ।

सुहागिन स्त्रियोंके लिये पातिव्रत्यधर्म एक बहुत ही महत्त्वकी चीज है । पातिव्रत्य धर्मके पालनसे स्त्रीको तीनों कालोंका ज्ञान हो जाता है और वह अपने पतिके सहित परमपद—भगवान् के परमधामको प्राप्त

कर लेती है । इसके लिये स्त्रियोंको पद्मपुराणके खण्डमें नरोत्तम ब्राह्मणकी कथाके प्रसङ्गमें 'शुभा' नामकी पतिव्रता स्त्रीके आख्यानपर ध्यान देना चाहिये ।

प्राचीनकालमें नरोत्तम नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे । वे अपने माता-पिताका अनादर करके तीर्थसेवनके लिये चल दिये । तीर्थमें घूमते समय उनका वस्त्र प्रतिदिन आकाशमें बिना ही किसी आधार से गिरने लगता था । इससे अहङ्कारवश वे कहने लगे कि 'मेरे सम्पूर्ण पुण्यात्मा और महायशस्वी कोई नहीं है ।' एक दिन ऐसा कहते हुए उनके ऊपर एक बगुलेने धोती फेंक दी । ब्राह्मणने क्रोधमें आकर उसे शाप दे दिया जिससे बगुला भस्म हो गया । इस पापके कारण उसका वस्त्र आकाशमें नहीं ठहरता था, इससे उसका बड़ा दुःख हुआ । तब आकाशवाणी हुई कि 'तुम धर्मात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ, वहाँ जानेसे तुम्हारा धर्मका ज्ञान होगा ।'

यह सुनकर नरोत्तम मूक चाण्डालके घर गये । उस समय मूक चाण्डाल अपने माता-पिताकी सेवा में संलग्न था । नरोत्तमने उससे कहा—'तुम मेरे पास आओ, मैं तुमसे सबके सनातन हितकी बात पूछता हूँ । उसे ठीक-ठीक बताओ ।' इसपर मूक चाण्डाल बोले—'मैं माता-पिताकी सेवा करनेके बाद आपकी आवश्यकता पूर्ण कर सकूँगा, तबतक ठहरिये ।' इससे नरोत्तम आग-बबूला हो गये । तब चाण्डाल बोले—'आपको क्या व्यर्थ क्रोध करते हैं । मैं बगुला नहीं हूँ । अब आपकी धोती आकाशमें नहीं ठहर पाती है, इसीसे आकाशवाणी सुनकर आप मेरे घर आये हैं । अब थोड़ी देर ठहरें तो मैं आपके प्रश्नका उत्तर दे सकता हूँ, अन्यथा आप पतिव्रता 'शुभा' के पास जाइये ।'

तदनन्तर, चाण्डालके घरमें जो ब्राह्मणलोग आये, वे सब सदा निवास किया करते थे ।

निकलकर नरोत्तमसे कहने लगे कि 'चलो ! मैं भी पतिव्रता देवीके घर चलता हूँ ।' नरोत्तम कुछ सोचकर उनके साथ चल दिये । रास्तेमें उन्होंने पूछा—'वह पतिव्रता कौन है, उसका शास्त्रज्ञान कितना है तथा पतिव्रताके क्या लक्षण हैं ? इस बातको आप ठीक-ठीक बतलाइये ।'

ब्राह्मणरूपधारी श्रीभगवान् बोले—'ब्रह्मन् ! नदियोंमें गङ्गाजी, स्त्रियोंमें पतिव्रता और देवताओंमें भगवान् श्रीविष्णु श्रेष्ठ हैं । जो पतिव्रता नारी प्रतिदिन अपने पतिके हित-साधनमें लगी रहती है, वह अपने पितृकुल और पतिकुल—दोनोंका उद्धार कर देती है । जो स्त्री पुत्रकी अपेक्षा सौगुने स्नेहसे पतिकी आराधना करती है, राजाके समान उसका भय मानती है और पतिको भगवान्का स्वरूप समझती है, वह पतिव्रता है । जो पतिके साथ गृहकार्यमें दासी, रमणकालमें रमणी तथा भोजनके समय माताके समान आचरण करती है और जो विपत्तिमें उनको नेक सलाह देकर मन्त्रीका काम करती है, वह स्त्री पतिव्रता मानी गयी है । जो मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा कभी पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करती तथा सदा पतिके भोजन कर लेनेपर ही भोजन करती है, उस स्त्रीको पतिव्रता समझना चाहिये । जिस-जिस शय्यापर पति शयन करते हैं, वहाँ-वहाँ जो प्रतिदिन यत्नपूर्वक उनकी सेवा करती है, पतिके प्रति कभी जिसके मनमें डाह नहीं पैदा होती, कृपणता नहीं आती और जो मान भी नहीं चाहती, पतिकी ओरसे आदर मिले या अनादर—दोनोंमें जिसकी समान बुद्धि रहती है, ऐसी स्त्रीको पतिव्रता कहते हैं । जो साध्वी स्त्री सुन्दर वेषधारी परपुरुषको देखकर उसे भ्राता, पिता और पुत्र मानती है, वह पतिव्रता है । द्विजश्रेष्ठ ! तुम उस पतिव्रताके पास जाकर उससे अपने हितकी बात पूछो । उसका नाम शुभा है । वह रूपवती युवती है, उसके हृदयमें दया भरी है ।'

यों कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये, इसपर ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने पतिव्रता शुभाके घर जाकर उसके विषयमें पूछा । शुभा तुरन्त घरसे बाहर आकर दरवाजेपर खड़ी हो गयी । नरोत्तमने कहा—'देवि ! तुमने जैसा देखा और समझा है, उसके अनुसार मेरे हितकी बात बताओ ।'

पतिव्रता बोली—'ब्रह्मन् ! इस समय मुझे पतिदेवकी सेवा करनी है, अतः अवकाश नहीं है; इसलिये आपका यह कार्य पीछे करूँगी । इस समय मेरा आतिथ्य ग्रहण कीजिये ।'

नरोत्तमने कहा—'मुझे भूख, प्यास और थकावट नहीं है, मुझे अभीष्ट बात बताओ, अन्यथा मैं तुम्हें शाप दे दूँगा ।'

इसपर पतिव्रता बोली—'द्विजश्रेष्ठ ! मैं वगुला नहीं हूँ । आप धर्म तुलाधारके पास जाइये और उन्हींसे अपने हितकी बात पूछिये ।' यों कहकर शुभा घरके भीतर चली गयी । उसकी बात सुनकर नरोत्तम ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ, तब ब्राह्मणवेषधारी श्रीभगवान्ने बतलाया कि यह शुभा पतिव्रता है, इसीसे यह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी बातें जानती है ।

पतिव्रता शुभाके पातिव्रत्यके प्रतापसे भगवान् उसके घरपर भी ब्राह्मणके रूपमें निवास किया करते थे और अन्तमें वह पतिके सहित भगवान्के परमधाममें चली गयी ।

स्त्रियोंके लिये कल्याणका बहुत ही सुगम साधन है पातिव्रत्य-धर्म । इसके करनेमें न तो कोई कष्ट है और न कोई खर्च ही । यदि कहें कि स्त्रियोंका कल्याण पातिव्रत्य धर्मके पालनसे कैसे होता है सो ठीक है । यह शास्त्रकी आज्ञा है कि स्त्रीका पातिव्रत्य धर्मके पालनमात्रसे कल्याण हो जाता है और शास्त्र भगवान्का विधान है तथा भगवान्के विधान किये हुए नियमोंके अनुसार करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होना उचित ही है ।

यदि कहें कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, तो यह ठीक है। पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे स्त्रीके राग-द्वेषादि दोषोंका नाश हो जाता है, इससे अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे अपने-आप ही ज्ञान हो जाता है। यह नियम है कि अपने अनुकूलमें राग और हर्ष तथा प्रतिकूलमें द्वेष और शोक होते हैं। कोई कार्य अपने पतिके तो अनुकूल हो पर अपने प्रतिकूल हो तो पतिव्रता स्त्री अपनी प्रतिकूलताका त्याग करके पतिके अनुकूल ही आचरण करती है; एवं अपने मन-के अनुकूल हो पर पतिके प्रतिकूल हो तो उसे वह नहीं करती। इस प्रकार अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलता-पर बार-बार आघात पड़नेसे अपनी अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, जिससे उन वृत्तियोंसे उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव होकर उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एवं भगवत्कृपासे परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होकर वह परमात्माको प्राप्त हो जाती है। यह शास्त्रोक्त एवं युक्तिसङ्गत भी है।

पुरुष यज्ञ, दान, तप, होम, सेवा, पूजा, तीर्थ, व्रत, श्राद्ध आदि जो भी कुछ धार्मिक कार्य करता है, अपनी पत्नीको साथ लेकर ही करनेसे उसका वह कार्य सफल होता है; क्योंकि विवाह-संस्कारके समय पत्नीकी प्रार्थनापर पुरुष यह बात स्वीकार करके उसके साथ नियमबद्ध हो जाता है। इसलिये पतिके किये हुए धार्मिक कृत्यमें सम्मिलित होनेके कारण पत्नी उसके आधे हिस्सेकी भागिनी होती है; क्योंकि स्त्रीके लिये विवाहकी विधि ही वैदिक संस्कार माना गया है तथा उसके लिये पतिकी सेवा ही गुरुकुलमें निवास और गृहकार्य ही अग्निकी परिचर्या है।

वैवाहिकी विधि: स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥

जो पुरुष कोई भी धार्मिक कृत्य अपनी पत्नीके बिना अकेला करता है, उसका वह कार्य सफल नहीं होता। यह विषय पद्मपुराणके भूमिखण्डमें कृकल वैश्यकी कथामें किया गया है। वह कथा यहाँ संक्षेपसे दी जाती है।

काशीपुरीमें एक वैश्य रहते थे। उनका नाम कृकल। उनकी पत्नी परम साध्वी तथा उत्तम व्रत पालन करनेवाली थी। वह सदा धर्माचरणमें रत पतिव्रता थी। उसका नाम था सुकला। वह सुप्रसन्नमयी, सत्यवादिनी, शुभा और शुद्ध स्वभाववाली थी। उसकी आकृति बड़ी मनोहर थी। कृकल वैश्य भी धर्म विवेकसम्पन्न और सद्गुणी थे। वैदिक तथा पौराणिक धर्मोंके श्रवणमें उनकी बड़ी लगन थी। उन्होंने तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें यह सुना कि तीर्थोंका सेवन पुण्यदायक और कल्याणकारी भी है। यह सुना उन्होंने तीर्थयात्राके लिये जानेवाले ब्राह्मणों के व्यापारियोंके साथ चलनेका विचार कर लिया।

इसपर सुकलाने कहा—प्राणनाथ ! मैं आपकी पत्नी हूँ। आपकी छायाकी भाँति मैं पातिव्रत्यके उत्तम व्रतका पालन करूँगी, जो नारियोंके पापोंका नाश करता है और उन्हें सद्गति देनेवाला है। जो स्त्री पतिपरायणा है, वह संसारमें पुण्यमयी कहलाती है। स्त्रियोंके लिये पतिके सिवा दूसरा कोई ऐसा तीर्थ नहीं, जो इस संसार में सुखद और परलोकमें स्वर्ग तथा मोक्ष देनेवाला है। साधुश्रेष्ठ ! स्वामीके दाहिने चरणको प्रयाग और बाएँ चरणको पुष्कर समझिये। जो स्त्री इस प्रकार समझती है, पतिके चरणोदकसे स्नान करनेपर उन तीर्थोंमें स्नान करनेका पुण्य प्राप्त होता है; क्योंकि स्त्रियोंके लिये पतिके चरणोदकका अभिषेक निःसन्देह प्रयाग, पुष्करतीर्थमें स्नान करनेके समान है। पति के तीर्थोंके समान है, पति सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूप है।

* सच्यं पादं स्वर्भुवश्च प्रयागं विद्धि सत्तम । पुष्करं तस्य या नारी परिकल्पयेत् ॥

यज्ञकी दीक्षा लेकर यज्ञोंके अनुष्ठान करनेसे पुरुषको जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुण्य साध्वी स्त्री अपने पतिकी पूजा करके तत्काल पा लेती है। अतः प्रियतम ! मैं भी आपकी सेवा करती हुई तीर्थोंमें चढ़ूँगी और आपकी ही छायाका अनुसरण करती हुई लौट आऊँगी।

इसपर कृकलने उसे साथ ले जाना स्वीकार कर लिया किंतु उसने सोचा—‘सर्दी और धूपके कारण तीर्थोंके दुर्गम मार्गपर चलनेमें इसे बड़ा कष्ट होगा। अतः इसे साथ न लेकर मैं अकेला ही यात्रा करूँगा।’ और वे रातमें बिना पता दिये ही चुपकेसे साधियोंके साथ चल दिये। जब सुकला प्रभातके समय उठी, तब उसने स्वामीको घरमें नहीं देखा। पतिदेव तीर्थयात्राको चले गये, यह जानकर उस पतिपरायणा स्त्रीने निश्चय किया कि ‘जबतक स्वामी लौटकर नहीं आयेंगे, तबतक मैं भूमिपर चटाई बिछाकर सोऊँगी। घी, तेल और दूध-दही नहीं खाऊँगी। पान और नमकका भी त्याग कर दूँगी। गुड़ आदि मीठी चीजोंको भी छोड़ दूँगी। स्वामीके आनेतक एक समय भोजन करूँगी अथवा उपवास करके रह जाऊँगी।’

इस प्रकार नियम लेकर सुकला बड़े दुःखसे दिन बिताने लगी। उसने एक वेणी धारण करना आरम्भ कर दिया। एक ही अँगियासे वह अपने शरीरको ढकने लगी। उसका वेष मलिन हो गया। वह एक ही मलिन वस्त्र धारण करके रहती। इस तरह दुःखमय आचारका पालन करनेसे वह अत्यन्त दुबली हो गयी। निरन्तर पतिके लिये व्याकुल रहने लगी। दिन-रात रोती रहती थी। रातको उसे कभी नींद नहीं आती थी और न भूख ही लगती थी।

तस्य पादोदकस्नानात्तत्पुण्यं परिजायते ।

प्रयागपुष्करसमं स्नानं स्त्रीणां न संशयः ॥

सर्वतीर्थसमो भर्ता सर्वधर्ममयः पतिः ।

सुकलाकी यह अवस्था देखकर उसकी सहेलियोंने पूछा—‘सखी ! तुम इस समय क्यों रो रही हो ?’ सुकला बोली—‘सखियो ! मेरे धर्मपरायण स्वामी मुझे छोड़कर तीर्थ-यात्रा करने चले गये हैं, अतः मैं उनके वियोगसे अत्यन्त दुखी हूँ।’

सखियोंने कहा—‘बहिन ! तुम व्यर्थ ही शोक कर रही हो। वृथा ही अपने शरीरको सुखा रही हो तथा अकारण ही भोगोंका परित्याग कर रही हो। मौजसे खाओ-पीओ, क्यों कष्ट उठाती हो। कौन किसका स्वामी, कौन किसके पुत्र और कौन किसके सगे-सम्बन्धी हैं ? संसारमें कोई किसीका नहीं है। किसीके साथ भी नित्य सम्बन्ध नहीं है। सखी ! खाना-पीना और मौज उड़ाना, यही इस संसारका फल है। मनुष्यके मर जानेपर कौन इस फलका उपभोग करता है और कौन उसे देखने आता है।’

सुकला बोली—‘सखियो ! तुमलोगोंने जो बात कही है, वह वेदोंको मान्य नहीं है। जो नारी अपने स्वामीसे अलग होकर सदा अकेली रहती है, उसे पापिनी समझा जाता है। श्रेष्ठ पुरुष उसका आदर नहीं करते। वेदोंमें सदा यही बात देखी गयी है कि पतिके साथ नारीका सम्बन्ध पूर्वसञ्चित पुण्यके प्रभावसे ही होता है और किसी कारणसे नहीं। शास्त्रोंका वचन है कि पति ही सदा नारियोंके लिये तीर्थ है, इसलिये स्त्रीको उचित है कि वह सच्चे भावसे पतिसेवामें प्रवृत्त होकर प्रतिदिन मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा पतिका ही आवाहन करे और सदा पतिका ही पूजन करे। गृहस्थ नारी पतिके बायें भागमें बैठकर जो दान-पुण्य और यज्ञ करती है, उसका बहुत बड़ा फल बतलाया गया है; काशीकी गङ्गा, पुष्करतीर्थ, द्वारकापुरी, उज्जैन तथा केदारतीर्थमें स्नान करनेसे भी वैसा फल नहीं मिल सकता; किंतु यदि स्त्री अपने पतिको साथ लिये बिना ही कोई यज्ञ करती है तो उसे उसका फल नहीं

मिलता । पतिव्रता स्त्रीको पतिकी प्रसन्नतासे उत्तम सुख, पुत्रका सौभाग्य, स्नान, पान, वस्त्र, आभूषण, सौभाग्य, रूप, तेज, फल, यश, कीर्ति और उत्तम गुण आदि सब कुछ मिल जाता है । जो स्त्री पतिके रहते हुए उसकी सेवाको छोड़कर दूसरे किसी धर्मका अनुष्ठान करती है, उसका वह कार्य निष्फल होता है तथा वह लोकमें व्यभिचारिणी कही जाती है ।* नारियोंका यौवन, रूप और जन्म—सब कुछ पतिके लिये होते हैं, इस भूमण्डलमें नारीकी प्रत्येक वस्तु उसके पतिकी आवश्यकता-पूर्तिका ही साधन है । पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु, पति ही देवताओंसहित उसका इष्टदेव और पति ही तीर्थ एवं पुण्य है ।† पतिके बाहर चले जानेपर यदि स्त्री शृङ्गार करती है तो उसका रूप, वर्ण सब कुछ निरर्थक है । पृथ्वीपर लोग उसे देखकर कहते हैं कि यह निश्चय ही व्यभिचारिणी है । इसलिये किसी भी स्त्रीको अपने सनातनधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये । जब पतिदेव यहाँ उपस्थित नहीं हैं, तब मैं फिर किस प्रकार भोगोंका उपभोग करूँ । मेरे लिये ऐसा विचार निश्चय ही पापपूर्ण होगा ।'

सुकलाके मुखसे इस प्रकार उत्तम पातिव्रत्यधर्मका वर्णन सुनकर सखियोंको बड़ा हर्ष हुआ । नारियोंको सद्गति प्रदान करनेवाले उस परम पवित्र धर्मका श्रवण करके समस्त नर-नारी धर्मानुरागिणी महाभागा सुकलाकी प्रशंसा करने लगे ।

सुकलाके मनमें केवल पतिका ही ध्यान था और पतिकी ही कामना थी । उसके सतीत्वका प्रभाव देवराज

* विद्यमाने यदा कान्ते अन्यधर्मे करोति या ।

निष्फलं जायते तस्याः पुंश्चली परिकथ्यते ॥

(पद्म० भूमि० ४१ । ६९)

† भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता देवता देवतैः सह ।

भर्ता तीर्थश्च पुण्यं च नारीणां नृपनन्दन ॥

(पद्म० भूमि० ४१ । ७५)

इन्द्रने भी भलीभाँति देखा तथा उसके विषयमें पूर्णतः विचार करके वे मन-ही-मन कहने लगे—'मैं इसे इस अविचल धैर्यको नष्ट कर दूँगा ।' ऐसा निश्चयपूर्वक उन्होंने कामदेवका स्मरण किया । कामदेव अपनी प्रिय रतिके साथ वहाँ आ गये और हाथ जोड़कर इन्द्रने बोले—'नाथ ! इस समय आपने मुझे किसलिये याद किया है । आज्ञा दीजिये, मैं सब प्रकारसे उसका पाक करूँगा ।'

इन्द्रने कहा—'कामदेव ! यह जो पातिव्रत्यमें तप रहीनेवाली महाभागा सुकला है, वह परम पुण्यवती और मङ्गलमयी है, मैं इसे अपनी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ । इस कार्यमें तुम मेरी पूरी तरहसे सहायता करो ।'

कामदेवने उत्तर दिया—'सहस्रलोचन ! मैं आपकी इच्छापूर्तिके लिये आपकी सहायता अवश्य करूँगा । मैं देवताओं, मुनियों और बड़े-बड़े ऋषियोंको भी जीतनेकी शक्ति रखता हूँ, फिर एक साधारण कामिनीको, जिसके शरीरमें कोई बल ही नहीं होता, जीतना कौन बड़ी बात है ।'

तब देवराज इन्द्र उस स्थानपर गये, जहाँ वह परम पुण्यवती पतिव्रता रहती थी । वह अपने घरके द्वारपर अकेली बैठी थी और केवल पतिके ध्यानमें तन्मय हो रही थी । वह प्राणोंको वशमें करके स्वामीका चिन्तन करती हुई विकल्पशून्य हो गयी थी । कोई भी पुरुष उसकी स्थितिकी कल्पना नहीं कर सकता था । उस समय इन्द्र अनुपम तेज और सौन्दर्यसे युक्त, विलास और हाव-भावसे सुशोभित अत्यन्त अद्भुत रूप धारण करके सुकलाके सामने प्रकट हुए । उत्तम विलास और कामभावसे युक्त पुरुषको इस प्रकार सामने विचरण करते देख धर्मात्मा कृकल वैश्यकी पत्नीने उसके रूप, गुण और तेजका तनिक भी सम्मान नहीं किया । जैसे

कमलके पत्तेपर छोड़ा हुआ जल उस पत्तेको छोड़कर दूर चला जाता है, उसपर ठहरता नहीं, उसी प्रकार वह सती भी उस पुरुषकी ओर आकृष्ट नहीं हुई। वह वरके भीतर चली गयी और अपने पतिमें ही अनुरक्त हो उन्हींका चिन्तन करने लगी।

इन्द्र सुकलाके शुद्ध भावको समझकर सामने खड़े हुए कामदेवसे बोले—‘इस सतीने सत्यरूप पतिके ध्यानका कवच धारण कर रक्खा है, अतः सुकलाको परास्त करना असम्भव है। यह पतिव्रता अपने हाथमें धर्मरूपी धनुष और ध्यानरूपी उत्तम बाण लेकर इस समय रणभूमिमें तुमसे युद्ध करनेको उद्यत है। अज्ञानी पुरुष ही महात्माओंके साथ वैर बाँधते हैं। कामदेव ! इस सतीके तपका नाश करनेसे हम दोनोंको अनन्त एवं अपार दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिये अब हमें इसे छोड़कर यहाँसे चल देना चाहिये। तुम जानते हो, पहले एक बार मैं सती अहल्याके साथ समागम करनेका पापमय परिणाम—असह्य दुःख भोग चुका हूँ। महर्षि गौतमने मुझे भयंकर शाप दिया था। इस आगकी लपटको छूनेका साहस कौन करेगा। कौन ऐसा मूर्ख है, जो अपने गलेमें भारी पत्थर बाँधकर समुद्रमें उतरेगा तथा किसको मौतके मुखमें जानेकी इच्छा है, जो सती स्त्रीको विचलित करनेका प्रयत्न करे।’

इन्द्रने कामदेवको उत्तम शिक्षा देनेके लिये बहुत ही नीतियुक्त बात कही; उसे सुनकर कामदेवने इन्द्रसे कहा—‘देवेश ! मैं तो आपके ही आदेशसे यहाँ आया था। अब आप धैर्य, प्रेम तथा पुरुषार्थका त्याग करके ऐसी पौरुषहीनता और कायरताकी बातें क्यों करते हैं ?’

तत्पश्चात् इन्द्र और कामदेव सुकलाका सतीत्व नष्ट करनेके लिये पुनः गये। तब सत्यने धर्मसे कहा—‘धर्म ! कामदेवकी जो चेष्टा हो रही है, उसपर दृष्टिक

करो। मैंने तुम्हारे, अपने तथा महात्मा पुण्यके लिये जो स्थान बनाया था, उसे यह नष्ट करना चाहता है। दुष्टात्मा काम हमलोगोंका शत्रु है। तपस्वी ब्राह्मण, सदाचारी पति और पतिव्रता पत्नी—ये तीन मेरे निवास-स्थान हैं। जहाँ मेरी वृद्धि होती है, जहाँ मैं पुष्ट और संतुष्ट रहता हूँ, वहाँ तुम्हारा भी निवास होता है। श्रद्धाके साथ पुण्य भी वहाँ आकर क्रीड़ा करते हैं। मेरे शान्तियुक्त मन्दिरमें क्षमाका भी आगमन होता है तथा जहाँ मैं रहता हूँ, वहीं संतोष, इन्द्रिय-संयम, दया, प्रेम, प्रज्ञा और लोभहीनता आदि गुण भी निवास करते हैं। वहीं पवित्र भाव रहता है। ये सभी मेरे बन्धु-बान्धव हैं। धर्म ! चोरी न करना, अहिंसा, सहनशीलता और बुद्धि—ये सब मेरे ही घरमें आकर धन्य होते हैं। गुरुशुश्रूषा, लक्ष्मीसहित भगवान् श्रीविष्णु तथा अग्नि आदि देवता भी मेरे घरमें पधारते हैं। मोक्षमार्गके प्रकाशक ज्ञान और उदारता आदिसे युक्त हो पूर्वोक्त व्यक्तियोंके साथ मैं धर्मात्मा पुरुषों और सती स्त्रियोंके भीतर निवास करता हूँ। ये जितने भी साधु-महात्मा हैं, सब मेरे गृह-स्वरूप हैं; इन सबके भीतर मैं उक्त कुटुम्बियोंके साथ निवास करता हूँ। कल्याणमय भगवान् शिव भी मेरे निवास-स्थान हैं। कृकल वैश्यकी प्रियतमा भार्या मङ्गलमयी सुकला भी मेरा उत्तम वर है; किंतु आज पापी काम इसे भी जला डालनेको उद्यत हुआ है।’

धर्मने कहा—‘मैं कामका तेज कम कर दूँगा। मैंने ऐसा उपाय सोच लिया है, जिससे काम आज ही भाग खड़ा होगा।’

उधर कामदेवकी भेजी हुई क्रीडा सती स्त्रीका रूप धरकर सुकलाके घर गयी। उस रूपवती नारीको आयी देख सुकलाने आदरयुक्त वचन कहकर उसका सम्मान किया। फिर दोनोंमें परस्पर बातचीत होने लगी। क्रीडा बोली—‘देवि ! मेरे खामी बने

बलवान्, गुणज्ञ, धीर और अत्यन्त पुण्यात्मा हैं, परंतु मुझे छोड़कर न जाने वे कहाँ चले गये हैं । मैं मन्दभागिनी हूँ ! महाभाग ! नारियोंके लिये रूप, सौभाग्य, शृङ्गार, सुख और सम्पत्ति सब कुछ पति ही है—यही शास्त्रोंका मत है ।’

पतिव्रता सुकलाने क्रीडाकी इन सारी बातोंको एक दुखिनी नारीके हृदयका सच्चा भाव समझकर सुना और वह उसके दुःखसे दुखी हो गयी । फिर उसने अपना हाल थोड़ेमें कह सुनाया । तब क्रीडाने उसे सान्त्वना देकर बहुत समझाया-बुझाया । तदनन्तर एक दिन उसने सुकलासे कहा—‘सखी ! देखो, सामने अनेकों दिव्य वृक्षोंसे शोभायमान सुन्दर वनमें एक परम पवित्र पापनाशन तीर्थ है, चलो, हम दोनों वहाँ पुण्य-सञ्चय करने चलें ।’

यह सुनकर सुकला उस मायामयी स्त्रीके साथ चली गयी । उसने वनमें प्रवेश करके देखा तो उसे प्रतीत हुआ मानो उसमें नन्दन-वनकी सारी शोभा उतर आयी हो ।

इसी समय रतिके साथ काम और इन्द्र भी वहाँ आये । इन्द्र सम्पूर्ण भोगोंके अधिपति होकर भी कामोपभोगके लिये व्यग्र थे । उन्होंने कामदेवको पुकारकर कहा—‘लो; यह सुकला आ गयी, क्रीडाके आगे खड़ी है, इसपर प्रहार करो ।’ कामदेव बोला—‘सहस्रलोचन ! आप लीला और चातुरीसे युक्त अपने दिव्यरूपको प्रकट कीजिये, जिसका आश्रय लेकर मैं इसके ऊपर प्रहार करूँ; क्योंकि महादेवने मेरे रूपको पहले ही हर लिया, जिससे मेरा शरीर है ही नहीं । जब मैं किसी नारीको अपने बाणोंका निशाना बनाना चाहता हूँ, उस समय पुरुषशरीरका आश्रय लेकर अपने रूपको प्रकट करता हूँ । इसी तरह पुरुषपर प्रहार करनेके लिये मैं नारी-देहका आश्रय लेता हूँ । पुरुष जब पहले-पहल किसी नारीको देखकर, तब ही

उसीका चिन्तन करने लगता है, तब मैं चुपके उसके भीतर घुसकर उसे उन्मत्त बना देता हूँ । स्मरण—चिन्तनसे मेरा प्रादुर्भाव होता है, इसीलिए मेरा नाम ‘स्मर’ हो गया है । आज मैं आपके रूपका आश्रय ले इस नारीको अपने इच्छानुसार नचाऊँगा । यों कहकर कामदेवने इन्द्रके शरीरमें प्रवेश किया ।

उस वनमें जानेपर देवी सुकलाने क्रीडासे पूछा—‘सखी ! यह मनोरम दिव्य वन किसका है ।’ क्रीडा बोली—‘यह स्वभावसिद्ध दिव्य गुणोंसे युक्त सारा कामदेवका है, तुम भलीभाँति इस वनका निरीक्षण करो ।’

दुरात्मा कामकी यह चेष्टा देखकर पतिव्रता सुकलाने वायुके द्वारा लायी हुई वहाँके फूलोंकी सुगन्धको ग्रहण नहीं किया और न वहाँके रसोंका ही आस्वाद किया । यह देखकर कामदेवका मित्र वसन्त बहुत लज्जित हुआ ।

इसके बाद कामदेवकी पत्नी रति प्रीतिको साथ लेकर आयी और सुकलासे हँसकर बोली—‘भद्रे ! तुम्हारा कल्याण हो ! मैं तुम्हारा स्वागत करती हूँ । तुम मुझ रति और प्रीतिके साथ यहाँ रमण करो । सुकलाने कहा—‘जहाँ मेरे स्वामी हैं, वहीं मैं भी हूँ । मैं सदा पतिके साथ रहती हूँ । मेरा काम, मेरी प्रीति सब वहीं है । यह शरीर तो निराश्रय है—छायामात्र है ।’ यह सुनकर रति और प्रीति दोनों लज्जित हो गयीं तथा कामके पास जाकर बोली—‘महाप्राज्ञ ! अब आप अपना पुरुषार्थ छोड़ दीजिये इस नारीको जीतना कठिन है । यह महाभाग पतिव्रता सदैव अपने पतिकी ही कामना रखती है ।’

कामदेवने कहा—‘देवि ! जब यह इन्द्रके रूपको देखेगी, उस समय मैं इसे अवश्य वायल कर दूँगा । तदनन्तर देवराज इन्द्र परम सुन्दर वेष धारण कर रतिके पीछे-पीछे चले । उनकी गतिमें अत्यन्त लज्जा-विशेष होता था । वे सब प्रकारके आभूषण

दिव्य माला, दिव्य वस्त्र और दिव्य गन्धसे सुसज्जित हो सुकलाके पास आये और बोले—‘मैंने तुम्हारे पास अपनी दूती (क्रीडा) प्रीति और रतिको भेजा था । तुम मेरी प्रार्थना क्यों नहीं मानती । मैं स्वयं तुम्हारे पास आया हूँ, मुझे स्वीकार करो ।’

सुकला बोली—‘जबतक मेरे नेत्र खुले रहते हैं, तबतक मैं निरन्तर पतिके ही कार्यमें लगी रहती हूँ । आप कौन हैं, जो मृत्युका भी भय छोड़कर मेरे पास आये हैं ? इन्द्रियसंयममें संयुक्त विभिन्न गुणोंद्वारा उत्तम धर्म सदा मेरी रक्षा करता है । वह देखो, शान्ति और क्षमाके साथ सत्य मेरे सामने उपस्थित हैं । महाबली और परम यशस्वी सत्य कभी मेरा त्याग नहीं करता । फिर आप क्यों बलपूर्वक मुझे प्राप्त करना चाहते हैं । मेरे सत्य, धर्म, पुण्य और ज्ञान आदि बलवान् पुत्र सदा मेरी रक्षामें तत्पर हैं । मैं नित्य सुरक्षित हूँ । इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहमें तत्पर हूँ । साक्षात् शचीपति इन्द्र भी मुझे जीतनेकी शक्ति नहीं रखते । यदि महापराक्रमी कामदेव भी आ जाय तो मुझे कोई परवा नहीं है, क्योंकि मैं अनायास ही सतीत्वरूपी कवचसे सदा सुरक्षित हूँ । निस्सन्देह मुझपर कामदेवके बाण व्यर्थ हो जायेंगे, प्रत्युत ये महाबली धर्म आदि तुम्हींको मार डालेंगे, दूर हटो, भाग जाओ, मेरे सामने खड़े न होओ । यदि मना करनेपर भी खड़े रहोगे तो जलकर खाक हो जाओगे । मेरे स्वामीकी अनुपस्थितिमें यदि तुम मेरे शरीरपर दृष्टि डालोगे तो जैसे आग सूखी लकड़ीको जला देती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हें भस्म कर डालूँगी ।’*

* अहं रक्षापरा नित्यं दमशान्तिपरायणा ।
न मां जेतुं समर्थश्च अपि साक्षाच्छचीपतिः ॥
यदि वा मन्मथो वापि समागच्छति वीर्यवान् ।
दंशिताहं सदा सत्यमत्याकष्टेन सर्वदा ॥
निरर्थकास्तस्य बाणा भविष्यन्ति न संशयः ।
यामेव हि हनिष्यन्ति भर्मादाते महाबलाः ॥

सुकलाने जब यह कहा, तब तो उस सतीके भयङ्कर शापके डरसे व्याकुल हो इन्द्र आदि सब लोग जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये । सबके चले जानेपर पुण्यमयी पतिव्रता सुकला पतिका ध्यान करती हुई अपने घर लौट आयी ।

धर्मात्मा कृकल वैश्य भी सब तीर्थोंकी यात्रा पूरी करके अपने साथियोंके साथ बड़े आनन्दसे घरकी ओर लौटे । वे सोचते थे कि मेरा संसारमें जन्म लेना सफल हो गया; मेरे सब पितर स्वर्गको चले गये होंगे । वे इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि एक दिव्य रूपधारी विशालकाय पुरुष उनके पिता-पितामहोंको प्रत्यक्षरूपसे बाँधकर सामने प्रकट हुए और बोले—‘वैश्य ! तुम्हारा पुण्य उत्तम नहीं है । तुम्हें तीर्थयात्राका फल नहीं मिला । तुमने व्यर्थ ही इतना परिश्रम किया ।’ यह सुनकर कृकल वैश्य दुःखित हो गये और उन्होंने पूछा—‘आप कौन हैं, जो ऐसी बात कह रहे हैं ? मेरे पिता-पितामह क्यों बाँधे गये हैं ? मुझे तीर्थका फल क्यों नहीं मिला ?’

धर्मने कहा—‘जो पतिव्रता पत्नीको अकेली छोड़कर धर्म करने बाहर जाता है, उसका किया हुआ सारा धर्म व्यर्थ हो जाता है । जो सब प्रकारके सदाचारमें संलग्न रहनेवाली, प्रशंसाके योग्य आचरणवाली, धर्मसाधनमें तत्पर, सदा पातिव्रत्यका पालन करनेवाली, सब बातोंको जाननेवाली तथा ज्ञानसे प्रेम करनेवाली है, ऐसी गुणवती, पुण्यमयी और महासती नारी जिसकी पत्नी हो, उसके घरमें सदा देवता निवास करते हैं । पितर भी उसके घरमें रहकर निरन्तर

दूरं गच्छ पलायस्व नात्र तिष्ठ ममाग्रतः ।
वार्यमाणो यदा तिष्ठेर्भस्मीभूतो भविष्यसि ॥
भर्त्रा विना निरीक्षेत मम रूपं यदा भवान् ।
यथा दाह ददेद्बहिस्तथा धक्ष्यामि नान्यथा ॥

(पद्य ० भूषि० ५८ । ३२—३६)

उसके यशकी कामना करते रहते हैं । गङ्गा आदि पवित्र नदियाँ, सागर, यज्ञ, गौ, ऋषि तथा सम्पूर्ण तीर्थ भी उस घरमें उपस्थित रहते हैं । अपनी पत्नीको साथ लिये बिना जो तुमने तीर्थमें श्राद्ध और दान किया है, उसी दोषसे तुम्हारे पूर्वज बाँधे गये हैं । तुम चोर हो और तुम्हारे ये पितर भी चोर हैं; क्योंकि इन्होंने लोलुपतावश तुम्हारा दिया हुआ श्राद्धका अन्न खाया है । पत्नी ही गार्हस्थ्यधर्मकी स्वामिनी है; उसके बिना ही जो तुमने शुभ कर्मोंका अनुष्ठान किया है, यह स्पष्ट ही तुम्हारी चोरी है । जब पत्नी अपने हाथसे तैयार करके देती है, तब वह अमृतके समान मधुर होता है । उसी अन्नको पितर प्रसन्न होकर भोजन करते हैं तथा उसीसे उन्हें विशेष संतोष और तृप्ति होती है । अतः पत्नीके बिना जो धर्म किया जाता है, वह निष्फल होता है ।'

कृकलने पूछा—'धर्म ! अब कैसे मुझे सिद्धि प्राप्त होगी और किस प्रकार मेरे पितरोंको बन्धनसे छुटकारा मिलेगा ?' तब धर्मने कहा—'महाभाग ! अपने घर जाओ । तुम्हारी धर्मपरायणा पुण्यवती पत्नी सुकला तुम्हारे बिना बहुत दुखी हो गयी थी, उसे सान्त्वना दो और उसीके हाथसे श्राद्ध करो । अपने घरपर ही पुण्य-तीर्थोंका स्मरण करके तुम श्रेष्ठ देवताओंका पूजन करो, इससे तुम्हारी की हुई तीर्थयात्रा सफल हो जायगी ।'

यों कहकर धर्म लौट गये । परम बुद्धिमान् कृकल भी अपने घर गये और पतिव्रता पत्नीको देखकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए । सुकलाने स्वामीको आया देख उनके शुभागमनके उपलक्षमें माङ्गलिक कार्य किया । तत्पश्चात् धर्मात्मा वैश्यने धर्मराजकी सारी चेष्टा बतलायी । स्वामीके आनन्ददायक वचन सुनकर महाभाग सुकलाको

कृकलने घरपर ही रहकर पत्नीके साथ श्रद्धापूर्वक और देवपूजन आदि पुण्यकर्मका अनुष्ठान किया । इससे प्रसन्न होकर देवता, पितर और मुनिगण विमानोंके द्वारा वहाँ आये और महात्मा कृकल तथा उसकी साखी पत्नी दोनोंकी सराहना करने लगे । भगवान् श्रीविष्णु, ब्रह्मा तथा महादेवजी भी अपनी-अपनी देवताओंके साथ वहाँ आये । इन्द्रादि सम्पूर्ण देवता उस सती सत्यसे संतुष्ट थे । सबने उन दोनों पति-पत्नीसे कहा—'सुव्रत ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपनी पत्नीके साथ वर माँगो ।'

कृकलने पूछा—'देववरो ! मेरे किस पुण्य के तपके प्रसङ्गसे पत्नीसहित मुझे वर देनेको आपने पधारे हैं ?' इन्द्रने कहा—'यह महाभाग सुकला सती है । इसके सत्यसे संतुष्ट होकर हमलोग तुम्हें वर देना चाहते हैं ।' यह कहकर इन्द्रने सुकला की सतीत्वकी परीक्षाका सारा वृत्तान्त थोड़ेमें कह सुनाया । उसके सदाचारका माहात्म्य सुनकर उसके स्वामीकी प्रसन्नता हुई । हर्षोल्लाससे कृकलके नेत्र डबडबा आये । धर्मात्मा वैश्यने पत्नीके साथ समस्त देवताओंको बार साष्टाङ्ग प्रणाम किया और कहा—'महाभाग देवगण ! आप सब लोग प्रसन्न हों; तीनों सनातन देवता—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव हमपर संतुष्ट हों । मैं अन्य जो पुण्यात्मा ऋषि मुन्यपर कृपा करके यहाँ पधारे हैं, वे भी प्रसन्न हों । मैं सदा भगवान्की भक्ति करता रहूँ । आपलोगोंकी कृपासे धर्म तथा सत्य मेरा निरन्तर अनुराग बना रहे । एवं अन्तमें पितरों और पितरोंके सहित मैं भगवान् श्रीविष्णुके धाममें जाऊँ चाहता हूँ ।'

देवता बोले—'महाभाग ! एवमस्तु, यह सब तुम्हें प्राप्त होगा ।' यों कहकर देवताओंने उन दोनों की प्रार्थना की तथा उनको

देकर पतिव्रताकी स्तुति करते हुए अपने-अपने लोक-को चले गये । जो मनुष्य सुकलाके इस उपाख्यानको सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।

पतिव्रता सुकलाके इस आख्यानसे पुरुषोंको यह उपदेश ग्रहण करना चाहिये कि स्त्रीको साथ लिये बिना किये हुए यज्ञ, दान, तप, श्राद्ध आदि निष्फल

होते हैं तथा स्त्रियोंको यह उपदेश लेना चाहिये कि पातिव्रत्य धर्मका कितना भारी प्रभाव है कि देवराज इन्द्र तो सतीके भयसे प्राणोंको लेकर भाग गये और उसके पातिव्रत्यके कारण देवता, पितर और ऋषिगण उसके घर पधारे एवं ब्रह्मा-विष्णु-महेशके दर्शन करके वरदान पाकर वे मुक्त हो गये । (अपूर्ण)

गाँधीजीकी दिव्य वाणी

(१)

मेरे पास एक रामनामके सिवा कोई ताकत नहीं है । वही मेरा एक आसरा है । मैं एक मिनटके लिये भी भगवान्‌को भूलता नहीं । ईश्वर मेरे सामने खड़े हैं, यही समझकर सब काम करता हूँ ।

थोड़ा-सा झूठ भी मनुष्यका नाश कर देता है, जैसे दूधको एक बूँद जहर भी ।

सच बोलकर मनुष्य ईश्वरतक पहुँच सकता है ।

जो सत्य लगता है, वही कहना हमारा धर्म है । अपने दोषको स्वीकार करनेसे आदमी पवित्र बनता है और ऊँचा उठता है । अपने दोषोंको छिपानेसे आदमी गिरता है ।

सत्यके दर्शन बगैर अहिंसाके हो ही नहीं सकते । इसीलिये कहा है 'अहिंसा परमो धर्मः ।' अहिंसा साधन है, सत्य ध्येय है । अहिंसा परमश्रेष्ठ मानव-धर्म है । पशुबलसे वह अनन्त गुना महान् और उच्च है ।

संसार आज इसलिये खड़ा है कि यहाँपर घृणासे प्रेमकी मात्रा अधिक है, असत्यसे सत्य अधिक है, हिंसासे अहिंसा अधिक है । संसारमें हिंसा, घृणा, द्वेषभाव, स्वार्थपरायणता, धोखेबाजी, गुंडागिरी आदिकी मात्रा जितनी ही अधिक बढ़ती जायगी, उतना ही

संसार दुखी होता जायगा और अन्तमें नाशको प्राप्त होगा । महायुद्धोंका अन्तिम परिणाम लोगोंने देखा ही है ।

अगर अहिंसा या प्रेम हमारा जीवन-धर्म न होता तो इस मर्त्यलोकमें हमारा जीवन कठिन हो जाता ।

पारस्परिक प्रेमकी बढ़ौलत ही कुदरतका काम चलता है ।

संसारमें कायर (डरपोक) का कोई स्थान नहीं है । कायरका तो क्षय ही होता है । क्षय होने योग्य ही है ।

हिंसा करनेका पूरा सामर्थ्य रखते हुए भी जो मनुष्य स्वेच्छासे और प्रेमभावसे किसीकी हिंसा नहीं करता, वही अहिंसा-धर्मका पालन करता है । शास्त्रोंमें उसे वीर पुरुष कहा है ।

मेरा अहिंसा धर्म मुझे शिक्षा देता है कि औरोंकी रक्षाके लिये अपनी जान दे दो, दूसरेको मारनेके लिये हाथतक न उठाओ पर मेरी अहिंसा कायरता नहीं सिखाती । मैं कायरताको किसी भी हालतमें सहन नहीं कर सकता । मेरे मरनेके बाद कोई यह न कहने पावे कि गाँधीने लोगोंको नामर्द बनाना सिखाया । अगर आप सोचते हों कि मेरी अहिंसा कायरताके बराबर है या उससे कायरता ही पैदा होगी तो आपको

इसे छोड़नेमें जरा भी हिचकना न चाहिये। आप निपट कायरतासे मरें, इसकी अपेक्षा आपका बहादुरीसे प्रहार करते हुए और प्रहार सहते हुए मरना मैं कहीं बेहतर समझूंगा।

गुंडे सिर्फ बुजदिल लोगोंके बीचमें ही पनप सकते हैं।

ईर्ष्या करना, ईर्ष्या करनेवालेको खाती है। जिसकी वह ईर्ष्या करता है, वह अविच्छिन्न रहता है, शायद अनजान भी।

क्रोध यह एक प्रकारका रोग है, क्षणिक पागलपन है। क्रोध आवे उस समय मौन धारण कर राम-नाम लेना चाहिये। अपने घरवालों और मित्रोंको कह देना चाहिये कि जब कभी मुझमें क्रोधरूपी बीमारी देखो तो राम-नामकी दवा देना।

(२)

राम-जपके द्वारा पाप-हरण इस प्रकार होता है। शुद्धभावसे नाम जपनेवालोंमें श्रद्धा होती ही है। नाम-जपके द्वारा पाप हरण होगा ही, इस निश्चयसे वह आरम्भ करता है। पाप-हरण अर्थात् आत्मशुद्धि। श्रद्धाके साथ नाम जपनेवाला थक ही नहीं सकता

अर्थात् जीभसे बोला जाता है, वह अन्तमें हृदयमें उतरता है और उससे आत्माकी शुद्धि होती है। यह अनुभव निरपवाद है। मानसशास्त्रियोंका भी यह विचार है कि मनुष्य जैसा विचार करता है वैसा बनता है। रामनाम इस नियमका ही अनुसरण करता है। नाम-जपपर मेरी श्रद्धा अटूट है। नाम-जपकी जिसने खोज की, वह अनुभवों था और उसकी यह खोज अत्यन्त महत्त्वकी है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। निरक्षरकी भी शुद्धिका द्वार खुला रहना चाहिये, यह नाम-जपसे होता है। (देखो गीता ९. २२, १०. १७) माला इत्यादि एकाग्र होनेका साधन है।

स०—क्या दिलमें राम-नाम रखना काफी नहीं ? उसे जवानसे बोलनेमें कुछ है ?

ज०—राम-नाम लेनेमें खूबी है, ऐसा मैं मानता हूँ। जो आदमी जानता है कि राम सचमुच उसके दिलमें है उसे राम-नामका उच्चारण करनेकी जरूरत नहीं। यह मैं कबूल कर सकता हूँ। लेकिन ऐसे आदमीको मैं नहीं जानता। इससे उल्टा मुझे निजी अनुभव है कि राम-नामके रटनेमें कुछ चमत्कार है, वह क्यों और कैसे, यह जाननेकी जरूरत नहीं।*

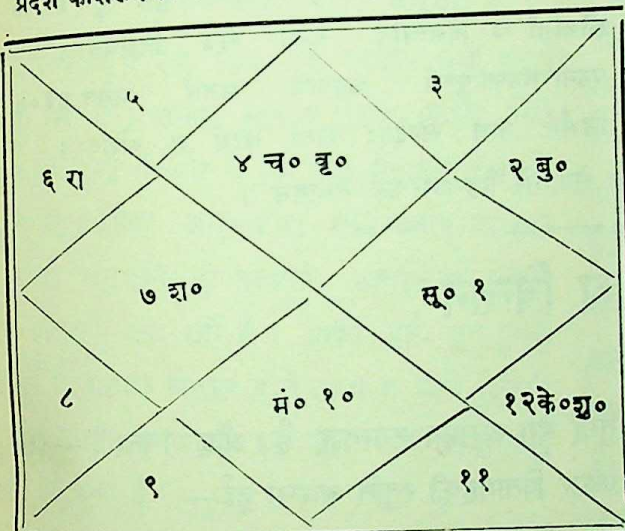
* इनमें (१) पहला अवतरण 'गाँधी-चित्रावली'से लिया गया है और दूसरा 'राम-नामकी महिमा'से। ये दोनों ही पुस्तकें 'हिन्दी-साहित्य-मन्दिर, अजमेर'से प्रकाशित हैं। सब विषयोंमें सबका एकमत तो होता ही नहीं, तथापि दोनों ही पुस्तकें बहुत ही सुन्दर, सुपाठ्य और सद्विचारोंसे पूर्ण हैं। 'गाँधी-चित्रावली'के लेखक और सम्पादक हैं श्रीजीतमलजी लूणिया और 'राम-नामकी महिमा'के सम्पादक हैं श्रीविष्णु प्रभाकर। 'गाँधी-चित्रावली'में गाँधीजीके लङ्कपनसे लेकर अन्ततकके आर्टिपेपरपर छपे लगभग १०० सुन्दर चित्र हैं और संक्षेपमें उनकी जीवनी तथा कुछ उपयोगी उपदेशोंका महत्त्वपूर्ण संग्रह है। पृष्ठ-संख्या १४४ है। मूल्य प्रचारार्थ केवल १) है। 'राम-नामकी महिमा'में १४० पृष्ठोंमें गाँधीजीके राम-नामसम्बन्धी विचारोंका सुन्दर संग्रह है। कुल ८० लेख हैं। इसका भी मूल्य १) है। जो लोग 'गाँधी-चित्रावली' और 'राम-नामकी महिमा' इन दोनों पुस्तकोंमेंसे किसी एक या दोनों पुस्तकोंकी चार या अधिक प्रतियाँ लेते हैं, उनसे डाकखर्च नहीं लिया जाता।

भगवान् श्रीरामचन्द्रकी जन्मकुण्डली और फलादेश*

(प्रेषक—पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

[महर्षि भृगुप्रणीत]

श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे चतुर्विंशति-
तमे युगे त्रेतायुगे चतुर्थचरणे मासानां मासोत्तमे मासे
चैत्रमासे शुक्ले पक्षे नवम्यां तिथौ भौमवासरे पुनर्वसु-
नक्षत्रेऽभिजित्मुहूर्ते श्रीरामो दाशरथिः भारतवर्षे महापुण्य-
प्रदेशे कोशलनगरे कौसल्यायाम् प्रादुर्बभूव ।



अथ वेदसागरः स्तवः ।

पूर्वांशित् क्षेपा च कर्कटे चन्द्रवाक्पतिः ।
कन्यायां सिंहिकापुत्रस्तुल्यस्थो रविनन्दनः ॥ १ ॥
पाताले मेदिनीपुत्रो वृषस्थश्चन्द्रमासुतः ।
आकाशे मेषमे सूर्यः शषस्थौ केतुभार्गवौ ॥ २ ॥
सर्वग्रहानुमानेन योगोऽयं वेदसागरः ।
वेदसागरके जातः पूर्वजन्मनि भार्गव ॥ ३ ॥
पूर्णब्रह्म स्वयं कर्ता स्वप्रकाशो निरञ्जनः ।
निर्गुणो निर्विकल्पश्च निरीहः सच्चिदात्मकः ॥ ४ ॥

गिरा ज्ञानं च गोतीत इच्छाकारी स्वरूपधृक् ।
विना घ्राणं सदा घ्राणी विना नेत्रे च दीक्षकः ॥ ५ ॥
अकर्णेन श्रुतं सर्वं गिराहीनं च भाषितम् ।
करहीनं कृतं सर्वं कर्मादिकं शुभाशुभम् ॥ ६ ॥
पदहीना गतिः सर्वा कुशला सकला क्रिया ।
स्वरूपे रूपहीनश्च समर्थः सर्वकर्मसु ॥ ७ ॥
त्रैविद्यास्त्रिगुणः कालस्त्रिलोकी सचराचरः ।
महेन्द्रो देवताः सर्वा नागकिन्नरपद्मगाः ॥ ८ ॥
सिद्धविद्याधरा यक्षा गन्धर्वाः सकलः कवे ।
राक्षसा दानवाः सर्वे मानवा वानराराजाः ॥ ९ ॥
सागराश्च खगा वृक्षाः पशुकीटादयस्तथा ।
शैल्य नद्यः कल्यः सर्वा मोहमायादिकाः क्रिया ॥ १० ॥
इच्छा माया त्रिवेदाश्च निर्मिता विविधाः क्रियाः ।
शरण्यः सर्वदा शान्तः अलक्ष्यो लक्षकः सदा ॥ ११ ॥
जरामरणविहीनश्च महाकालस्य चान्तकः ।
सर्वं सर्वेण हीनोऽपि सचराचरदर्शकः ॥ १२ ॥
पूर्वापरक्रियाज्ञानी शृणु शुक्र न चान्यथा ।
प्रेरितः सर्वदेवैश्च कालान्तरगते कवे ॥ १३ ॥
धरित्री ब्रह्मणो लोके जगाम दुःखपीडिता ।
शिवो ब्रह्मा सुराः सर्वे प्रार्थयाञ्चक्रतुर्मुहुः ॥ १४ ॥
सुदुःखं वचनं श्रुत्वा देववाणी भवेत् कवे ।
धैर्यमाध्वं सुराः सर्वे प्रार्थना सफला भवेत् ॥ १५ ॥
श्रुत्वा हृष्टाः सुराः सर्वे जगाम क्षितिमण्डले ।
नरवानररूपं च धृत्वा ब्रह्मेच्छया कवे ॥ १६ ॥
यत्र तत्र सुराः सर्वे हरिदर्शनमानसाः ।
अधर्मनिरतान् लोकान् दृष्ट्वा कष्टेन पीडितान् ॥ १७ ॥

* श्रीरामावतारकी कुण्डलीकी ग्रहस्थिति ऐसी है कि जिसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती । अतः मुझे उसके फलादेश जाननेका बड़ा कुतूहल था । ज्योतिषियोंने फलादेश किया भी, पर उससे मेरे मनको संतोष नहीं हुआ । अनन्त श्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीशंकराचार्यजीके मन्त्री पं० श्रीबालकृष्णजी मिश्र साहित्याचार्य, बी० ए०, एल्.एल्. बी० की कृपासे मुझे वेदसागरस्तोत्रकी प्राप्ति हुई । उसमें श्रीरामजीकी कुण्डलीका महर्षि भृगुप्रणीत फलादेश पाकर मुझे बड़ा ही हर्ष हुआ । फलादेशमें कुछ अशुद्धियाँ हैं, जो दूर की जा सकती हैं; परन्तु मिश्रजीकी सम्मति उसमेंसे एक अक्षरके भी परिवर्तनकी नहीं हुई, इसलिये ज्योतिषियोंका छपा जा रहा है । आशा है इससे रामभक्तोंको आनन्द मिलेगा ।

—विजयानन्द त्रिपाठी

तत इच्छाप्रभावेण गोब्राह्मणसुरार्थकम् ।
 मायामानुषरूपेण जगदानन्दहेतवे ॥१८॥
 आजगाम धरापृष्ठे कौशलालये महापुरे ।
 इक्ष्वाकुवंशे भो शुक्र भूत्वा मानुषरूपधृक् ॥१९॥
 सरस्वा दक्षिणे भागे महापुण्ये च क्षेत्रके ।
 मधुमासे च धवले नवम्यां भौमवासरे ॥२०॥
 पुनर्वसौ च सौभाग्ये मातृगर्भात्समुद्भवः ।
 मन्मथानां च कोटीनां सुन्दरः सागरोपमः ॥२१॥
 श्यामाङ्गं मेघवर्णाभं मृगाक्षं कान्तिमत्परम् ।
 भव्याङ्गं भव्यवर्णं च सर्वसौन्दर्यसागरम् ॥२२॥
 सर्वाङ्गेषु मनोहरमतिबलं शान्तमूर्तिं प्रशान्तम् ।
 वन्दे लोकाभिरामं मुनिजनसहितं सेव्यमानं शरण्यम् ॥२३॥
 कोटिवाकपतिश्रीमांश्च कोटिभास्करभास्वरः ।
 दयाकोटिसागरोऽसौ यशःशील पराक्रमी ॥२४॥

सर्वसारः सदा शान्तः वेदसारो हि भार्गव ।
 दश वर्ष सहस्राणि भूतले स्थितिमानसौ ॥२५॥
 चतुर्दशसमाः शुक्र अभ्रमच्च वने वने ।
 राक्षसानां वधार्थाय दुष्टानां निग्रहाय च ॥२६॥
 प्रादुर्भूतो जगन्नाथो मायामानुषवत्कवे ।
 अयोध्यानगरे शुक्र बहुवत्सर सहस्रकम् ॥२७॥
 नानासु निगणैर्युक्तो विहरन् धर्मवत्सलः ।
 सर्वे साकं स्वमायाभिरन्तधानमियात् कवे ॥२८॥
 इच्छया लीलया युक्तः स्वीये लोके वसेत्सदा ।
 माया क्रीडा पुनर्भूयात् काले काले युगे युगे ॥२९॥
 लोकानां च हितार्थाय कलौ चैव विशेषतः ।
 पठनाच्छ्रवणात्पुण्यं कल्याणं सततं भवेत् ॥३०॥
 निर्भयं नात्र सन्देहः सत्यं सत्यं न संशयः ।

इति श्रीभृगुसंहितायां श्रीभृगुशुक्रसंवादे षट्त्रिंशति क्षेपान्तरे वेदसागरफलं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५४)

‘स्तवनीय श्रीकृष्णचन्द्र ! तुम्हें नमस्कार है ।
 विश्वमें एकमात्र वन्दनीय तुम्हीं हो नाथ ! मैं तुम्हारी
 वन्दना कर रहा हूँ । अहा ! नवजलधर श्यामल अङ्ग-
 कान्तिवाले प्रभुके लिये नमस्कार है ! स्थिर सौदामिनी-
 सदृश पीताम्बरधारीके लिये प्रणाम है ! गुञ्जारचित कर्ण-
 भूषणसे, चूड़ाके मयूरपिच्छसे परिशोभित मुखवालेके
 लिये मेरा नमन है । वनमाली—वन्य पत्रपुष्परचित
 मालाधारीके लिये मेरी वन्दना है ! नन्हे-से करतलपर
 दधिमिश्रित अन्नका प्रास, कक्षमें वेत्र एवं शृङ्ग, कटिकी
 फेटमें वेणु—इन असाधारण चिह्नोंसे अप्रतिम शोभाशालीके
 लिये नमस्कार है । इन लघु कोमल पादपद्मवाले प्रभुके
 लिये प्रणाम है । श्रीगोपेन्द्रतनयके लिये अनन्त वन्दन
 है । गोपाललालके इस सुमधुर वेषके लिये सर्वस्व
 न्यौछावर है । और कुछ नहीं नाथ ! बस, तुम्हें ही
 अनन्तकालतक प्राप्त होनेके लिये—तुम्हारे ही शीतल
 शन्तम चरणसरोजका अखण्ड आश्रय प्राप्त करनेके लिये

तुम्हें मेरा असंख्य नमस्कार है श्रीकृष्णचन्द्र !—इस
 प्रकार पितामहकी स्तुति आरम्भ हुई—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
 गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
 वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
 लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥
 (श्रीमद्भा० १० । १४ । १)

अहो ईड्य ! नवघन तन स्याम,
 तडिदिव पीत-बसन अभिराम ।
 मोर-पिच्छ-छबि छाजत भाल,
 नैन विसाल, सु-उर बनमाल ॥
 रस-पुंजा गुंजा अवतंस,
 कवल, विषान, वेत्र बर बंस ।
 मृदु पद बृंदा-बिपिन बिहार,
 नमो नमो ब्रजराज कुमार ॥

× × × ×
 नौमि ईड्य घनस्याम सरिरा ।
 तडिदिव पीत लसत कटि चीरा ॥

गुंजमाल कुंडल श्रुति सोहत ।
 मोर पिच्छ माथे जग मोहत ॥
 श्रीमुख पंकज अति छबिकारी ।
 मैन कोटि छबि तापर वारी ॥
 वन भव माल विसद उर राजै ।
 पानि कदल धरि अति छबि छाजै ॥
 धरे बेत अरु बेनु बिषाना ।
 मृदु पद लस कल्याण निधाना ॥
 नंदसुवन तुम प्रभु गुन भारी ।
 प्रनयों बार बार असुरारी ॥

सत्राको आज एक साथ एक स्थलपर सभी वस्तुएँ प्राप्त हो गयी हैं। ज्ञानका आवरण सर्वथा सदाके लिये विलीन हो चुका है और वे सब कुछ यथावत् देख रहे हैं। उनके प्राणोंका अनुभव ही शब्द बनता जा रहा है, प्रत्येक अनुभूति ही स्तवनके शब्दोंसे झर-झरकर बाहर बिलखती जा रही है। इससे पूर्व युग-युगके आरम्भमें वेदज्ञानका विस्तार होते समय न जाने कितनी बार स्वयं उनके मुखसे ही इस परम सत्य सिद्धान्तका प्रकाश हो चुका है—

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
 सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति ॥

‘आकाशसे बरसती मेघकी जलधारा कहीं भी गिरे, सागरकी ओर ही प्रवाहित होगी। वैसे ही समस्त देवोंके प्रति किया हुआ नमस्कार भी श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणसरोजोंकी ओर ही केन्द्रित हो जाता है।’

—किंतु ब्रह्माको ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो प्रथम बार इस सत्यको वे जान पाये हों, श्रीकृष्णचन्द्र ही अनन्त रूपोंमें अनन्त उपासकोंके द्वारा अपने-अपने भावोंसे आराधित होते हैं, सब वास्तवमें इन्हींकी वन्दना करते हैं, सबके मूलस्वरूप ये ही हैं, इस ज्ञानकी उपलब्धि आज हुई हो। इसीलिये उल्लसित होकर वे श्रीकृष्णचन्द्रको ‘स्तवनीय’ कहकर सम्बोधित कर रहे हैं, सबके स्तवनका पर्यवसान जहाँ निज तत्त्वाभासमें

है, वहीं वे न्यौछावर हो रहे हैं। और इतनेमें पुनः नेत्रोंमें भर जाती है श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंकी नव-नीरदकान्ति। वे सोचने लगते हैं—‘सचमुच जैसे नव-जलधर विचार नहीं करता उच्च-नीचका, मलिन-पवित्रका; सर्वत्र समानभावसे बरसकर वह ग्रीष्मका ताप शमित कर देता है; वैसे ही ये श्रीकृष्णजलधर भी कहाँ देखते हैं उज्ज्वल, तमोमय भावोंकी ओर; समानभावसे सबपर बरस रही है इनकी लीलासुधाकी, करुणामृतकी मधुर धारा। उस बालघातिनी पूतनाको मातृगति, इस महानिर्दय अघासुरके संसरणका अन्त—समान कृपा-वर्षणके ही तो निदर्शन हैं। इससे पूर्व मत्स्य-कूर्म आदि रूपोंमें प्रभुकी कृपाका ऐसा अयाचित दान कहाँ किसे मिला था? यह तो नवजलधर-श्यामल रूपका ही मानो निजस्व है। वस, वस, यही है! नाथ! तुम्हारा यह नवमेघ श्यामल विग्रह ही मेरा सारसर्वस्व है, मेरा अणु-अणु सिक्त हो जाय इसकी अनोखी श्यामछायेसे।’—पितामहके अन्तर्मनका यही भाव बाहर व्यक्त हो उठता है इस रूपमें—‘नवजलधर श्यामल अङ्गकान्ति-वाले प्रभुके लिये नमस्कार है!’

अब पीताम्बर आकर्षित करता है पद्मयोनिके मनको। श्रीअङ्गोंकी स्निग्ध श्यामल ज्योतिके प्रवाहमें डूबती-उतराती हुई उनकी दृष्टि पीतपटके छोरमें उलझ जाती है, तथा एक अभिनव भावका स्फुरण होता है—‘अहा! जैसे नवजलधरमें सदा विद्युत् रहती है, वैसे ही इन कृष्ण जलधरमें भी पीतवसनरूप तडित्का निवास है। अन्तर इतना ही है कि प्राकृत मेघमें वह सतत चञ्चल है, किंतु इन कृष्ण-मेघकी यह सौदामिनी सुस्थिर सुशान्त है।’ इतना ही नहीं, पितामहको प्रतीत हुआ, मानो ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके पद्म-दलायत नेत्रोंसे यह सङ्केत झर रहा हो—‘देखते हो न, तडित्-सी चञ्चल वस्तु भी मेरे सम्पर्कमें आकर न, तडित्-सी चञ्चल वस्तु भी मेरे सम्पर्कमें आकर स्थिर हो गयी है। ऐसे ही कोई अपने अतिशय चञ्चल

चित्तको भी यदि मुझे समर्पित कर दे तो मैं उसे निश्चल करके सदाके लिये अपने पास ही रख लेता हूँ— 'सजल स्यामघन बरन लीन है, फिर चित अनत न मटक्यौ।' कोई देकर देखे तो सही !' —बस, ब्रह्मा बह चले इसी भावनाकी ऊर्मियोंमें तथा उनकी वाणी पुकारने लगी—'स्थिर सौदामिनी-सदृश पीताम्बरधारीके लिये प्रणाम है।'।

इसी निमित्तसे अन्य सजातीय संस्कार जाग उठते हैं। पद्मयोनिको स्मृति हो आती है वैकुण्ठाधिपति श्रीनारायणदेवकी। वे सोचने लगते हैं—'वे भी तो नव-नील-नीरदवर्ण हैं, पीत पटधारी हैं। इतना साम्य तो उनमें भी है। पर उनके आभरण इन पुरोवर्ती गोपेन्द्रनन्दनसे सर्वथा भिन्न हैं। वे मणिमुकुटसे विभूषित हैं; मणिकुण्डल धारण करते हैं; अङ्गद, रत्नमय वलय, कङ्कणसे परिशोभित हैं, नूपुर, कटक (कड़े), मेखला, अङ्गुलीयक आदि उनके आभूषण हैं। मानो किसी भी साधारण वस्तुके लिये वहाँ स्थान नहीं, सर्वोत्कृष्ट रत्नसमूह ही श्रीअङ्गोंके आभरणरूपमें स्वीकृत हुए हैं। किंतु बलिहारी है इन व्रजराजकुमार की ! अहा ! अतिशय सामान्य वस्तु गुञ्जाका तो ये अवतंस धारण किये हुए हैं, तुच्छ मयूरपिच्छसे इनका शिरोभूषण निर्मित हुआ है, वनसे चयन किये हुए पल्लव-पुष्पोंकी माला वक्षःस्थलका आभरण है। अतः मेरे-जैसे तुच्छ दीन-हीन अकिञ्चनको भी यदि कहीं आश्रय मिल सकता है तो इन व्रजराजकुमारके चरण-प्रान्तमें ही ! श्रीनारायणके चरणाश्रयके उपयुक्त कहाँ पाऊँगा मैं समुज्ज्वल दिव्य भाव ! उत्कृष्टतम वैभवसे नित्य परिवेष्टित वैकुण्ठविहारी मुझे क्यों स्वीकार करने लगे। मुझे तो आश्रय दान कर सकते हैं मयूर-पिच्छधारी व्रजविहारी ही।—इसी भावसे भावित होकर स्रष्टा कह उठते हैं—'गुञ्जावतंससे, मयूरपिच्छसे परिशोभित मुखवालेके लिये, वनमालीके लिये मेरी वन्दना है।'।

ब्रह्माके समक्ष अब इन वनमाली व्रजलीलविहारी अनन्त अपरिसीम माधुर्यसिन्धु उद्वेलित हो उठते अपने पार्षदोंको इस प्रकार अनर्गल विशुद्ध प्रेमदान, असंख्य पार्षदोंके साथ लीलासिन्धुमें निर्बाध संतरण, वंशीके छिद्रोंसे स्वरूपानन्दका समान वितरण, रूपमाधुरीकी ऊर्मियोंसे विश्वसंप्लावन—इससे पूर्व किसी अवतारमें व्यक्त हुआ। उन गोवत्सोंका सिर सूँघना, मुखचुम्बन अपने करकमलोंसे हरित मृदुल तृणका सञ्चय करना, अपने अञ्जलिपुटमें जल भरकर, उनके देना, अपना आर्द्र पीताम्बर निचोड़कर उनकी तृष्णावाहर करना, अगणित गोपशिशुओंमेंसे प्रत्येककी रुचिकर आदर करना—पार्षदोंके प्रति यह प्रेम-व्यवहार अप्रति कभी प्रकट नहीं हुआ। असंख्य पार्षदोंके साथ माधुरीका ऐसा प्रकाश कभी नहीं हुआ था। पितामाधुर्यका वितरण—वंशीसे दिव्यातिदिव्य रस प्रेरणा स्थावर-जङ्गमको विमोहित करनेकी अनोखी क्रिया पहली बार हुई है। सुर-असुर, नर-नाग, पुरुष-संरूपसुधाका पानकर विमुग्ध हो जायँ, इसमें कदाहिस क्या है, स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन भी अपने ही रूपमें विमुग्ध हो उठें—ऐसी उन्मादक रूपमाधुरी की हुई है इसी बार। आकाशपथसे पितामहका अपरिसीम रस-सागरका एक बिन्दुमात्र हुआ था—उन्हें दीख गये थे व्रजराजकुमारके विचित्र वेशमें सखाओंके साथ पुलिनपर हुए ! वे इस रस-सिन्धुमें अवगाहन करनेका एक कणमात्रका पुनः आस्वादन पा लेंगे—संवरण न कर सके और उन्होंने कसहरण अबतक तो मानो वे भूले हुए-से थे इन बातोंके चरणोंमें किये हुए अपराधकी भावनासे दबे हुए प्रेमिल भाव। किंतु आँखें डूबीं, मन डूबा, बुद्धि

गुञ्जावतंस-मयूरपिच्छकी छटासे उल्लसित वनमालीके वदना-
रविन्दकी सौन्दर्य-सुधा-सिन्धु-सरितामें ! फिर अपराधकी
भावना कहाँ टिकती ? वह गयी वह भी इसके प्रवल प्रवाह-
में । चतुर्मुखकी आँखोंने पुनः देख लिया श्रीकृष्णचन्द्रके
उस अभिनव साजको ही—दध्योदन, वेत्र, विषाण,
वेणु वैसे ही यथास्थान सुसज्जित हैं । पितामहके प्राण
प्रेमवेशसे स्पन्दित होने लगते हैं । लालसा हिलोरें लेने
लगती हैं—‘अनन्तकालतक श्रीकृष्णचन्द्रका यह माधुर्य-
मय रूप ही मेरे प्राणोंका आधार रहे, श्रीकृष्णचन्द्र
रु, उनके इस रूपमें ही मुझे चरण-शरण दें’—तथा यही अभिलाषा
उनकी तृष्णा बाहर झड़ूत होने लगती है—‘करतलपर दध्योदन,
रुचिक कक्षमें वेत्रशृङ्ग, कलौटीमें वेणुरूप असाधारण चिह्नोंसे
प्रेम-व्यवहार अप्रतिम शोभाशालीके लिये नमस्कार है ।’

दोँके साथ बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रका यह बाल्यावेश
हुआ था । पितामहके मनका मन्थन कर रहा है । किसी अचिन्त्य
व्य रस प्रेरणावश ब्रजेन्द्रनन्दनके जन्मसे लेकर अवतककी
अनोखी कि समस्त लीलाएँ स्रष्टाके मानसतलमें स्फुरित होने लगती हैं ।
र-नाग, एवे सोचते हैं—प्रभुके भक्तवात्सल्यका प्रकाश जितना
इसमें कहाँ बालरूपमें हुआ है, उतना और किसी रूपमें
ही रूपमें नहीं । अहा ! वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंके, गोपोंके
पमाधुरी भोगोत्थ पूर्ण करनेके लिये ब्रजेन्द्रनन्दनने कैसी-कैसी
पितामहके मनोहर लीलाएँ कीं । ब्रजपुरन्धियोंके गृहोंमें जाकर
न्दुमात्र उपलब्धकी रुचिका अनुसरण करते हुए नवनीतहरणकी
थे ब्रजपुराणभूतपूर्व लीला इस बालरूपमें ही सम्पन्न हुई । इन
पर भोजन परब्रह्म पुरुषोत्तमने वात्सल्यवती जननी यशोदाके दिये
करनेका—हुए बन्धनको स्वीकार किया इस बालरूपसे ही । युग्म
पा लेने अर्जुनवृक्षोंको अयाचित, अतुलनीय कृपाका दान मिला
हरण किया दामबन्धनमें आये हुए बाल्यलीलारसमत्त प्रभुके
इन बातोंके द्वारा ही । आह ! किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश ये
आसे दबे हुए बालगोपाल मुझे भी अपने चरणोंकी शरण दान कर
दूबा, बुझते, गोप-गोपियोंकी भाँति मुझे भी बालकृष्णके चरण-
मल श्रीअ

करनेका अधिकार मिल जाता तो चिरजीवनकी एकमात्र
साध पूरी हो जाती; मैं कृतार्थ हो जाता ! इससे पूर्व
अपने चरणदर्शनके दुर्लभ अवसर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने
दिये अवश्य हैं, पर उस समय आजकी भाँति सुख-सेव्य
चरण कहाँ ? और तो क्या, इन चरणोंकी सन्निधिमें
भी जा सकूँ, यह साहस ही मुझमें उस समय कहाँ
था ? भयवश प्राण कम्पित हो रहे थे । ओह ! अभी
भी श्रीकृष्णचन्द्रके उस नृसिंहरूपकी स्मृति प्राणोंमें
भयका सञ्चार कर दे रही है—ग्रीवाके केशसमूहसे
टकराकर सुरविमान अस्त-व्यस्त हो गये । स्वर्ग डगमग-
डगमग कर उठा । पादकी धमकसे धरा धूझने लगी; वेगसे
पर्वत उड़ चले । तेजकी ऐसी चकाचौंध फैली थी कि
आकाश एवं दिशाओंका ज्ञान लुप्त हो गया—

द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसङ्कुला

प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता ।

शैलाः समुत्पेतुमुष्ण रंहसा

तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ८ । ३३)

—किसीका साहस न था कि समीप जाकर प्रभुको
अपनी सेवा समर्पित कर सके—

प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन ।

(श्रीमद्भा० ७ । ८ । ३४)

दूरसे ही मैंने प्रभुकी वन्दना की थी—

नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये

विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे ।

विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान् गुणैः

खलीलया संदधतेऽव्ययात्मने ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ८ । ४०)

‘प्रभो ! आप अनन्त हैं, आपको नमस्कार कर
रहा हूँ । आपकी शक्तिका पार नहीं । आपके पराक्रम
विचित्र हैं, कर्म पवित्र हैं । आप गुणोंके द्वारा ही अपनी
लीलासे विश्वका सृजन, पालन, प्रलय करते हैं, फिर भी
निर्विकार हैं ! आपको नमस्कार है प्रभो !’

—बस, प्रणाममात्र निवेदन कर लौट आया था । इसके पश्चात् वामनरूपसे प्रभुने अवसर दिया था चरणस्पर्शका । बलिके द्वारा सङ्कल्प की हुई तीन पग भूमिको ग्रहण करनेके लिये प्रभुने चरण-विस्तार किये । वामन देवका वह पदविन्यास ऊपरकी ओर उठता हुआ महर्लोक, जनलोक, तपोलोकका अतिक्रमण कर मेरे आवास सत्यलोकमें आया । उनके उस चरणनखचन्द्रकी छटासे सत्यलोककी आभा प्रतिहत हो गयी । मैं स्वयं उस प्रकाशमें निमग्न हो गया । दौड़ा मैं अभिनन्दन करने । और मैंने फिर उस चरण-अङ्गुष्ठाका प्रक्षालन किया—

उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो

महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः ॥

(श्रीमद्भा० ८ । २० । ३४)

सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभि-

हृतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात् ।

(श्रीमद्भा० ८ । २१ । १)

अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णो-

रुपाहरत् पद्मभवोऽर्हणोदकम् ।

(श्रीमद्भा० ८ । २१ । ३)

उस समय भी प्रभुके चरण मेरे लिये सुखसेव्य न हो सके; किंतु आज किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे भक्तवत्सल प्रभु बाल-गोपालके चरण मेरे समक्ष हैं— इस रूपमें हैं कि मैं इन्हें यथेच्छ अपने हृदयपर धारण कर अपनी चिर लालसाको पूर्ण कर सकूँ । इस बारकी लीलामें बृहद्वनकी वृन्दाकाननकी धराने, धराके वक्षःस्थल पर स्थित तरु-गुल्म-लताओंने इन बाल्यलीलाविहारीके अनावृत चरणोंका स्पर्श पाया है । और तो क्या— कीट, पतङ्ग, भृङ्गोंने भी उड़-उड़कर इन चरणसरोरुहका मधुर मनोहारी घ्राण प्राप्त किया है, स्पर्श-सुखसे वे उन्मत्त हुए हैं । प्रभु मुझे भी इस बार वञ्चित नहीं ही रखेंगे । पर आह ! मेरे लिये तो मर्यादाकी रोक लगी है । जो मेरे जन्मदाता पिता हैं, जिनके नाभिपद्मसे मेरा प्रादुर्भाव हुआ है, जो मेरे उपदेष्टा हैं, जिनके

उपदिष्ट मन्त्रकी मैं उपासना करता हूँ, जो मेरे हैं, जिनके नियन्त्रणमें ही विश्वका सृजन करता हूँ, उन्हें बालक कहकर सम्बोधन कैसे करूँ, इन पिता-स्वामीको पहले बालक बतलाकर फिर चरण-दानकी प्रार्थना कैसे करूँ ? शिष्टमर्यादाके विपरितः यह आचरण कैसे क्षम्य होगा ? साथ ही बाल्योपकी लीलामधुरीके आस्वादनका लोभ परित्याग कर यह भी सम्भव नहीं । क्या करूँ ? कैसे प्रभुसे.....।' —इस प्रकार—क्षण भी न ला-पितामह इतनी अधिक बात सोच गये । वे व्याकुल उठे । फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपाशक्तिने अपने स्रष्टाकी भावनाको अक्षुण्ण रखते हुए ही बाल्योप उपयुक्त शब्दयोजना कर दी और चतुर्मुखके निकल पड़ा—‘इन लघु कोमल पादपद्मवाले प्रभुके प्रणाम है !’

यह सब हुआ । किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके चरण पा लेनेके लिये भी एक पद्धति है । अनुसरण शरण चाहनेवालेके लिये अनिवार्य चतुर्मुख इससे अपरिचित हों, ऐसी बात नहीं । गगनमें उड़ते हुए राजहंसको देखकर पकड़ ले पकड़कर अपने उद्यानके सरोवरमें, अथवा पिञ्जरमें रुद्ध रखनेकी लालसा कितनोंकी ही होती है । पर उसे सचुच पकड़ लेनेकी सामर्थ्य नहीं होती, नहीं हो सकती । जो वनविहङ्गमोंको आवद्ध करनेका कौशल जानता हो, उसके समक्ष अपनी अभिलाषा निवेदन करनी पड़ती है और राजहंस अपने उद्यानकी, पिञ्जरकी शोभा बढ़ानेके प्राप्त हो सकता है । चतुर्मुख जानते हैं—अनन्त ऐश्वर्यके आकाशपथमें उड़ते हुए राजहंसको वात्सल्यप्रेमके जालमें उरझाकर करनेकी कला ब्रजेश्वरीको—ब्रजराजको ही जानते हैं—वात्सल्यका जाल विस्तीर्ण कर इन बाल

मरालको अपनी निधि बना लिया है। इसीलिये उनकी ही कृपाकोरसे मुझे बालकृष्णके चरण प्राप्त हो सकेंगे, इन मृदुल चरणोंका सेवाधिकार मिल सकेगा।' स्रष्टाके अन्तर्हृदयमें ये भाव लहराने लगते हैं—'ओह ! कैसे पाऊँ ब्रजरानीका, ब्रजेश्वरका पुनीत आशीर्वाद, उनकी कृपाभरी दृष्टिकी एक छाया। मैं देवशरीरसे उनकी कन्दना भी करने जाऊँ तो वे सङ्कुचित हो उठेंगे, नहीं-नहीं, उनके वात्सल्यपूरित चित्तमें अपने नीलसुन्दरके लिये आशङ्का उत्पन्न हो जायगी। यह तो एक नया अपराध बन जायगा। फिर क्या कहूँ ? अच्छा, एक उपाय है, किसी भी विद्याके पारङ्गत महानुभावका स्मरणमात्र ही वैसे अभीष्ट उद्देश्यकी सिद्धिमें सहायक होता है। मैं ब्रजेश्वरको स्मरण करके, उनसे इन बालगोपालके नित्य सम्बन्धका निर्देश करके कन्दना कहूँ तो मुझे अपना चिरवाञ्छित मिलकर ही रहेगा, अपने पिताका नाम सुनकर प्रभु द्रवित हो ही जायँगे। बस, अविलम्ब ऐसा ही हो ! हे ब्रजेश्वरके वात्सल्यजालमें उलझे हुए, बँधे हुए बालगोपाल ! तुम्हारे योगीन्द्रपुनीन्द्र-मनमोहनके ऐसे वेशके दर्शन इसी लीलामें हुए। इससे पूर्व अनन्त रूपोंमें तुम्हारे पुनीत लीला-यशसे मेरे द्वारा निर्मित यह जगत् पावन हो चुका है, पर तुम्हारा माधुर्य मेरे प्राणोंका मन्थन कर दे, मुझे भी विमोहित कर दे, यह इसी बार, इसी लीलामें हुआ नाथ ! मेरे प्राण आकुल हैं प्रभो ! तुम्हारे चरणसरोरुहकी 'शीतल छाया प्राप्त कर लेनेके लिये एकमात्र अभिलाषा है, ब्रजेन्द्रकुलचन्द्र ! गोपगोपीसंलालित इन लघु चरणोंका आश्रय मुझे भी सदाके लिये, अनन्तकालतकके लिये मिल जाय। इतनी-सी कृपा कर दो ब्रजराजनन्दन !'—जगत्-स्रष्टाकी यह भावना ही सिमटकर इन शब्दोंमें परिणत हो जाती है—'श्रीगोपेन्द्रतनयके लिये अनन्त कन्दन है।.....'

अस्तु, भावकी तरङ्गोंपर लहते हुए सदाके लिये ही

शब्दोंमें अपनी अभिलाषा श्रीकृष्णचन्द्रके पादपद्मोंमें निवेदन कर दी। इसी समय ब्रजराजकुमारके अरुणिम अधरोंपर मन्दस्मितकी एक लहर-सी आयी। नेत्रकमल भी किञ्चित् चञ्चल हो उठे। स्रष्टाको प्रतीत हुआ, मानो ब्रजेन्द्रनन्दन व्यङ्गात्मक संकेत कर रहे हों—'पितामह ! कर क्या रहे हो ! कहाँ तो तुम जगदैश्वर्याधिपति और कहाँ मैं एक वनवासी गोपका पुत्र ! अरे, तुम तो पुरातन पुरुष ठहरे और मैं एक शिशु हूँ। तुम हो वेदका अर्थ-तात्पर्य जाननेवाले परम विद्वान्, सदाचार-परायण और कहाँ मेरा यह जीवन कि मैं गोकसोंका चरवाहा हूँ। इसीलिये वेदाध्ययनका सौभाग्य तो मुझे मिलनेसे रहा; सर्वथा अध्ययनशून्य हूँ मैं। स्मृतिके आचारकी गन्ध भी मुझमें नहीं। मैं जानता ही नहीं। बैठे, खड़े, घूमकर—चाहे जैसे, भातका घ्रास मुखमें रख लेता हूँ। और देखो न, तुम तो माया जाननेवाले हो, परम सुखी हो, साक्षात् परमेश्वर ही हो, और मेरी दशा यह है कि तुम्हारी मायासे मोहित हुआ, दुःखका मारा वनमें यहाँसे वहाँ घूम रहा हूँ। सोचो, तुम इतने महान्, मैं इतना तुच्छ—मैं कभी तुम्हारे स्तवनके योग्य हूँ ?

भो ब्रह्मस्त्वं जगदैश्वर्याधिपतिरहं तु वन्यगोपाल-पुत्रस्त्वं पुरातनोऽहं तु बालस्त्वं वेदार्थतात्पर्यविश्व-त्वात् परमविद्वान् सदाचारपरायणोऽहं तु वत्सचार-कत्वादध्ययनशून्यः सार्त्ताचारगन्धमव्यजानंस्तिष्ठन् भ्राम्यन्नप्योदनकवलं भुञ्जानस्त्वं मायी परमसुखी साक्षात् परमेश्वर एवाहं तु त्वन्मायामोहितो मनोदुःखेन वने पर्यटंस्त्व स्तवं कर्तुं नार्हामीति।

(सारार्थदर्शिनी)

आखिर मेरे प्रति इतनी विनय क्यों ? विशेषतः मेरे इस काले शरीरके लिये तुम्हारे मनमें इतना आकर्षण क्यों है ? इसमें तुम्हें क्या दीख रहा है। अपने वेदज्ञानके आलोकमें देखकर इसमें यदि कोई तत्त्व-रहस्य है, तो उसे बताओ तो सही'—पद्म-

योनिकी आँखोंने ब्रजेन्द्रनन्दनकी भोली चितवनमें इस इङ्गितकी कल्पना कर ली और वे विह्वल हो उठे । आठों नेत्रोंमें एक पश्चात्तापपूर्ण आर्त्ति भर आयी और इङ्गितका उत्तर दैन्यमरे इङ्गितमें पहले उन नेत्रोंने ही दे दिया—
‘नाथ ! नाथ ! बहुत हो चुका ! अब मुझे विमोहित मत करो ब्रजराजकुमार ! मेरे लिये तुम्हीं एकमात्र अवलम्ब हो, तुम्हारा श्याम कलेवर ही मेरे जीवनका आधार है, रहेगा । हे महामहिम ! कैसे बताऊँ तुम्हारी एवं तुम्हारे इस श्याम-कलेवरकी महिमाको । सच तो यह है, सदा जगत्-सृजनमें ही निरत मेरी बुद्धि, मेरे मनमें सामर्थ्य नहीं कि उसे स्पर्श कर सकें, वाणी तो करेगी ही क्या ! इतना ही कह सकता हूँ कि—
‘...।’—बस, फिर तो पितामहकी वाणी पुनः चञ्चल हो उठती है और वे कहने लग जाते हैं—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । २)

‘देव ! तुम्हारा यह श्रीविग्रह अपने स्वजनोकी अभिलाषाके सर्वथा अनुरूप है, भक्तोंकी अभिलाषा-मयी ही यह तुम्हारी अभिव्यक्ति है । विशेषतः इसका

प्रकाश तो मुझपर अनुग्रह करनेके लिये ही है । यह पञ्चभूतोंकी रचना कदापि नहीं है नाथ । यह तो अप्राकृत विशुद्ध सत्त्वमय है । अन्यकी बात दूर, स्वयं समाधिमें स्थित होकर भी इस सच्चिदानन्द-विग्रहकी महिमा नहीं जान सकता । फिर आत्मानन्दानुभवस्वरूपा साक्षात् तुम्हारी महिमाको—जहाँ रसराज महाभक्त स्वरूपमें तुम नित्य विराजित हो, उसे कोई कैसे जान सकता है स्वामिन् !’

देव देव हे दीनदयाला । यह नर-वपु तब प्रगट कृपाला ।
गोचर नयन-मयनमनहारी । यह अवतार धर-यो सुखकारी ।
सोड महिमा मोहि अघट गोसाँई । अपर जानि सक किन मतिपारी ।
यह बपु तुम निज भक्तहित, धर-यो नाथ यह जानि ।
गोकुल-गोपी-गोपजन सब काहू सुखदानि ॥
तौ किमि जानि सकै नहिं कोई । इमि जो नाथ कहौ जिय जोई ।
तुम अनीह आतम सुखरूपा । पूरन ब्रह्म अगुन गुनरूपा ।
एक अनेक सकल घट बासी । कृपासिंधु तुम जन-सुखराली ।
कौन लखे तब चरित कृपाला । यातें गाइअ गुन-गन-माला ।

× × ×

हो प्रभु यह तुम्हरी अवतार, सुलभहि प्रगट सकल श्रुतिसार ।
मो पर परम अनुग्रह करयौ, किधौ भक्तनकी इच्छा धरयौ ।
याकी महिमा नहिं कहि परै, मो से जौ अनेक पचि सरै ।
जो साच्छात वस्तु इक आहि, अवतारी अवलंबत ताहि ।
सो तुम जाने परत कौन पै, ससि है जात न गहौ बोन पै ।

ऐसी वेदना समा गयी

मोहन तुम्हारी मनमोहिनी मनोज्ञ मूर्ति, मधुपुरियोंके मन ऐसी कुछ भा गई ।
आ गई प्रतीति अनजानते तुम्हारे लिए, आँख अनमोल बिन मोल ही बिका गई ।
चित्तवृत्ति खोजती तुम्हें है उर मन्दिरमें, मानस पटी पै हे छटाकी घटा छा गई ।
कहते बनै न कुछ, रहते बनै न कहे, सहते बनै न ऐसी वेदना समा गई ।

आपका ही अकिंचन—रूपनारायण चतुर्वेदी

हृदयकी सरलतासे प्रभुका साक्षात्कार

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

मनुष्यका हृदय ज्यों ही निर्मल, विशुद्ध, सभी छल-प्रपञ्चोंसे मुक्त, परम सरल एवं शान्त अवस्थाको प्राप्त होता है, त्यों ही अकारण-करुण, अशरण-शरण, करुणा-वरुणालय, कल्याणैकतान, समस्त कल्याणगुणामृतोदधि प्रभुकी अनुपम झाँकी ज्ञाननेत्रोंसे दीखने लग जाती है, या यों कहिये कि उस समय उनके अतिरिक्त दूसरा कुछ दीखता ही नहीं। पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय, परम भागवत, संत-कुलकमलदिवाकर, भक्तशिरोमणि परमगुरु श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने इसका जगह-जगह उल्लेख किया है। स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके शब्दोंमें वे कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥

एक दूसरे स्थलपर वे ही कहते हैं—

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजतहिं कृपा करहिं रघुराई॥

वस्तुतः यह ऐसा विषय है कि समझते बनता है, समझाते नहीं। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धका दूसरा अध्याय बड़ा ही सुन्दर, महत्त्वपूर्ण, उपादेय तथा हृदयप्राही है। इसका प्रत्येक अक्षर मननीय, आदरणीय एवं संप्रहणीय है। मुझे तो ऐसा लगता है कि भागवत तथा रामचरितमानसके प्रत्येक अक्षर ही भगवान्‌के मूर्तिमान् स्वरूप हैं। इसमें सन्देह भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि 'श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि। कृष्णे स्वधामोपगते...पुराणार्कोऽधुनोदितः।' 'रामभ्रमरभूषितः' आदि शब्दोंसे इसका बहुधा समर्थन भी किया गया है। हाँ, तो उसी भागवतके दूसरे अध्यायमें भगवत्साक्षात्कारके पूरे नियम बतलाये गये हैं और वे हैं अत्यन्त निश्चित और तत्काल फल दिखलाने-वाले। निःसन्देह वहाँ भगवच्चरितामृतपानको ही भगवत्साक्षात्कारका मूल बतलाया गया है और यही सम्पूर्ण

भागवत तथा रामचरितमानसका मत भी है; फिर भी यह सर्वसम्मत है कि उसमें निष्कपटता एवं हृदयकी सरलताकी भी महती आवश्यकता है। यद्यपि भागवतका तथोक्त प्रसङ्ग किञ्चित् विस्तृत है; किंतु वह इतना रम्य, हृदयाकर्षक एवं मधुरिमामय है कि सर्वथा मननीय है, अथ च प्रभुके साक्षात्कारमें, उनके साथ सम्बन्ध करनेमें महान् सहायक है। अतएव पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करने योग्य है। वहाँ सूतजीके निर्मल हृदयके ये परम दिव्योद्गार हैं—

‘मुनिगण! आपलोगोंने बड़ा अच्छा किया जो जगन्मङ्गल मङ्गलमय श्रीकृष्णके सम्बन्धमें प्रश्न पूछे। महात्माओ! पुरुषका तो सबसे बड़ा धर्म वही है, जिसके अनुष्ठानसे श्रीकृष्णके चरणोंमें अकारण, अहैतुकी, अव्यवहिता भक्ति उत्पन्न हो जाय, जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है*। भगवान् श्रीकृष्णमें प्रयुक्त भक्ति शीघ्र ही वैराग्य एवं अद्वय ज्ञानको उत्पन्न करती है।

❖ ये शब्द इतने मोहक, महामहिम तथा ओजपूर्ण हैं कि हृदयको हठात् आकृष्ट तथा वशीभूत कर लेते हैं। पूज्यपाद परम गुरुदेव श्रीमानसकारने इसका इन शब्दोंमें समर्थन किया है—

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग विराग ग्यान निपुनाई॥
नाना कर्म धर्म व्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥
भूतदया द्विज गुर सेवकाई। विद्या विनय विवेक बड़ाई॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥
जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥
लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा।॥
जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥
जप तप मख सम दम व्रत दाना। विरति विवेक जोग विग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

इसलिये अनुष्ठित समस्त धर्म-कर्म यदि भगवच्चर्चा, भगवदीय-वार्तामें परमोत्कृष्टा एवं अनन्य रति न उत्पन्न कर सकें तो वे केवल श्रम ही हुए; क्योंकि धर्मका फल मोक्ष, भगवत्प्राप्ति होना चाहिये न कि अर्थ। इसी प्रकार अर्थकी* सफलता धर्मोपार्जनमें है, कामोप-भोगमें नहीं। कामका तात्पर्य जीवन धारण निमित्त भोजन-शयनमें है, इन्द्रियतृप्तिमें उनकी कोई महत्ता नहीं और जीनेका भी यही अर्थ होना चाहिये कि प्राणी 'तत्त्व' को समझ सके। स्वर्ग-प्राप्तिसे मनुष्य कृतार्थ नहीं हो सकता†। और वस्तुतः तत्त्व भी वही है जिसे सांख्यवादी 'अद्वय ज्ञान' कहते हैं, वेदान्ती 'ब्रह्म' कहते हैं, योगी 'परमात्मा' कहते हैं और भक्त-भागवत जिसे 'भगवान्' कहते हैं। और उस तत्त्वको मननशील मुनिजन ज्ञान-वैराग्ययुक्त श्रवणादि भक्तिके सहारे आत्मतत्त्वके रूपमें आत्मामें ही साक्षात् देखते हैं। इसलिये ब्राह्मणश्रेष्ठो ! यह सिद्ध हुआ कि सारे धर्म-कर्मोंके अनुष्ठानका पर्यवसान भगवान्को प्रसन्न करनेमें है। पर जब यही बात है, तब क्यों नहीं एकप्र मनसे बराबर सात्वतपति श्रीभगवान्की ही चर्चा सुनी जाय, कही जाय और उनका ही ध्यान और पूजन किया जाय। पुण्य-श्रवण-कीर्तन श्रीकृष्ण अपनी कथा सुनने-सुनानेवालोंके अन्तःकरणमें समासीन होकर सम्पूर्ण अमङ्गलमय काम-क्रोधादिका संहार कर डालते हैं‡।

* सो धन धन्य प्रथम गति जाकी ।

‘दानं भोगो नाशस्तिष्ठो गतयो भवन्ति धनस्य’ (भर्तृहरि)
राज नीति विनु धन विनु धरमा। इत्यादि शब्दोंसे भी यही सिद्ध है।

† ‘अमृतत्वस्य नाशस्ति विचेन’ (वृ० आ० उप०)

‡ गीताके १०।१०-११ में तथा रामचरितमानसकी—
तब लगि हृदय बसत खल नाना। काम क्रोध मच्छर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा ॥
ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥
तब लगि बसत जीव उर मारि। जब लगि प्रभु प्रतापरवि नारी ॥

आदि चौपाइयोंमें भी यही बात कही गयी है।

इस प्रकार रज-तम आदि भावों एवं काम, क्रोध, लोभादि भयङ्कर दुर्गुणोंसे अनाविद्ध विशुद्ध चित्तमें विशुद्ध तत्त्वका आविर्भाव होता है एवं आत्मप्रसादकी उपलब्धि होती है। इस प्रकार मुक्तात्मा प्रसन्न-मन* पुरुष हृदयमें भगवद्भक्तिके योगसे भगवत्तत्त्व-विज्ञानका उपलब्ध होता है और फिर तत्त्वज्ञ हृदयकी सारी प्रणियों का शांति होती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और सारे कल-क्षीण हो जाते हैं। वस्तुतः ये हृदयकी प्रणियाँ ही सारी अनर्थोंकी जड़ हैं। यों तो प्राणीके हृदयमें परमानन्दका सच्चिदानन्दघन प्रभुका नित्य निवास है ही, किन्तु हृदय छल-छद्म एवं अनेकानेक तुच्छ प्रपञ्चोंसे उनपर ढाले हुए रहते हैं और भूलकर भी उनकी ओर दृष्टिपात करना नहीं चाहते। प्राणी यदि अन्तर्दृष्टि और बाह्यमें सामञ्जस्य स्थापित कर सके तो परमानन्द स्वरूप परमात्माके अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं देख सकेगी। सत्यकी महत्ता बतलाते हैं और उसकी महत्ता हृदयमें है वही मुँहसे कहा जाय। यह परिभाषा बतलाती है; पर वस्तुतः हृदयमें तो साक्षात् परमात्मा ही है इसलिये परम और चरम सत्य वही है और इस अमृत तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले सहृदय संत इस—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं

सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।

सत्यस्य सत्यामृतसत्यनेत्रं

सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

(श्रीमद्भा० १०।२।२६)

—के भावोंसे नित्य-निरन्तर, सदा-सर्वदा उन्होंने

कथा-श्रवण, चरित्र-चिन्तन, नाम-कीर्तन, रूप-स्मरण एवं पाद-सेवन, वन्दन आदिमें निरत रहते हैं। वस्तुतः निश्चल हृदयके प्राणीकी ‘श्रवणनिहि’ और कथा-निहि सुनिहौं, रसना और न गैहोंकी प्रतिज्ञा निभ पाती है।

* यहाँ प्रसन्न-मनका अर्थ प्रसादसम्पन्न मन है, हस नहीं

सचमुच जबतक प्राणी सारे छल-कपटोंका परित्याग कर सर्वात्मना भगवान्का आश्रय नहीं ले लेता, उसे परमार्थकी प्राप्ति नहीं होती। हृदयकी ग्रन्थि छोड़कर वह निश्चिन्त हो जाता है और पुनः धर्म-कर्म आदिकी चिन्ताको छोड़कर वह सदा सर्वत्र निर्लज्ज और निःशङ्क होकर भगवत्सम्बन्धी वार्ताओंमें ही रत रहता है। भगवन्नाम, यश, रूप आदिका ध्यान ही उसका जीवन होता है और यही 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज' का अर्थ होता है। किसी भी बुद्धिमान्को यह तिरोहित न होना चाहिये कि हृद्ग्रन्थिका मूल कारण तथा छल-छद्मका प्रमुख आवरण प्राणीका हर्ष ही होता है और यह हर्ष ही, दर्पादि सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल एवं भगवद्धानादिकोंसे च्युत करानेवाला होता है। आपस्तम्बमें यह बहुत ठीक लिखा है कि हर्षित प्राणी दृष्ट (दर्पयुक्त) हो जाता है और वह अहङ्कारके वश होते ही धर्मका अतिक्रमण करने लग जाता है—

‘दृष्टो दृष्यति, दृष्टो धर्ममतिक्रामति’

वस्तुतः प्रमुखा खिन्न एवं दीन प्राणी ही अत्यन्त प्यारा होता है 'जिन्हहि परम प्रिय खिन्न' *। 'निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः'। 'जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे' 'यहि दरवार दीनको आदर रीति सदा चलि आई' आदिसे भी पूज्य गुरुदेवने यही बात प्रदर्शित की है। इसीलिये कुन्तीने पग-पगपर विपत्तियाँ ही माँगीं—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।

भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

(श्रीमद्भा० १।८।२५)

क्योंकि दृष्ट और दृष्टा पुरुष अकिञ्चन-गोचर प्रमुखा जानने योग्य नहीं रहता।

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।

नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥

(श्रीमद्भा० १।८।२६)

इतना ही नहीं, वह असदाश्रय, हर्षोन्मत्त, दृष्ट पुरुष मुकुन्द-पद-पद्ममकरन्दैषी संतोंद्वारा भी उपेक्षणीय होता है।

साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् ।

उपेक्ष्यैः किं धनस्तस्मैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥

(श्रीमद्भा० १०।१०।१८)

दृष्ट पुरुष अशान्त तथा असमाहित भी होता है और श्रुति उसे प्रज्ञानके योग्य नहीं बतलाती। इस तरह हर्ष, दर्प एवं मायाके अन्यान्य आवरणादिकोंसे उन्मुक्त विशुद्ध, निर्मल चित्तसे धारावाहिक भगवद्-ध्यानादियुक्त पुरुष ही सरलतापूर्वक प्रतिक्षण भगवान्की दिव्य झाँकीका आलोक प्राप्त करता चलता है। दीनता और तदनुकूल निरुल्लता हो तो प्रमुखा आलोकमें किञ्चिदपि विलम्ब नहीं, पर जब हम वस्तुतः सर्वथा दीन, हीन, पतित एवं गये-गुजरे होकर भी झूठमूठकी स्वभावता, प्रसन्नता एवं आढ्यताका नाटकीय प्रदर्शन करने लग जाते हैं, तब वस्तुतः अपने दुर्भाग्यको क्या कहा जाय ?

* इसीलिये आत्तोंका आर्त्तिशमन नाम जपते न जपते ही होता देखा जाता है—

जपहिं नाम जन आरत भारी । मिटै कुसंकट होहिं सुखारी ॥

† अहङ्कारी प्राणी तो भगवान्का सबसे प्रबल शत्रु-सा होता है। अन्यत्र भी कहा गया है—

यथा सूर्योदये याते तमोरूपं न तिष्ठति । अहङ्काराङ्कुरस्याग्रे तथा पुण्यं न तिष्ठति ॥

(देवीभा० ४।७।२६)

विद्या, श्रद्धा, उपनिषद्*

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

किसी विषयमें कुछ जानना हो, अर्थात् विद्यालाभ करना हो, तो स्वाध्यायसे और अन्य विद्वानोंसे बहुत कुछ जाना जा सकता है; परंतु उस विषयके 'उपनिषद्' को ज्ञात करना हो, उसका रहस्य-भेद करना हो, तो अपनी बुद्धिकी सूक्ष्मताके साधनकी आवश्यकता होती है।

मनुष्यकी बुद्धि साधारणतः इन्द्रियग्राह्य विषयोंके द्वारा परिचालित होती है। नेत्रने कुछ देखा तो बुद्धि उसे ग्रहण करती है और उसीमें निबद्ध रहती है; नासिकाको कोई गन्ध प्राप्त हुई तो बुद्धि उसे अनुराग या घृणासे ग्रहण करती है और उसीमें निबद्ध रहती है। ऐसे ही इन्द्रियग्राह्य बाहरी विषयोंके अतिरिक्त बुद्धि अन्य विषयोंका परिचय नहीं दे सकती। मनुष्यकी बुद्धि स्वभावतः बाहरी वस्तुओंको ही ग्रहण करती है। कठोपनिषद्में कहा है—

पराञ्छि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-

स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ॥

'परमेश्वरने समस्त इन्द्रियोंको बाहरकी ओर जानेवाली बनाया है; इससे मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा बाहरकी वस्तुओंको ही देखता है, अन्तरात्माको नहीं।'।

इसलिये मनुष्यकी बुद्धि भी इन्द्रियोंसे सीमित, सङ्कीर्ण-भूमिमें विचरण करती है। परंतु बुद्धिकी दृष्टिको यदि क्रमशः अन्तरकी ओर मोड़ दिया जाय, वे स्थूल वस्तुओंकी सीमा पार कर यदि सूक्ष्म वस्तु ग्रहण करनेमें समर्थ हो जायें, तो बहुतेरे रहस्य स्वतः ही उद्घाटित हो जायें।

एक दूसरी बात भी है। मनुष्यकी बुद्धि रजोगुण और तमोगुणसे आच्छादित है। इन दोनों आवरणोंको अपसारित करनेपर, बुद्धि सत्त्वगुणविशिष्ट हो जाती है और शानालोक अपने-ही-आप प्रकाशित हो जाता है। पर इनको दूर करनेके लिये साधनाकी आवश्यकता है।

श्रीश्रीचण्डीमें तमोगुण और रजोगुण—मधु और कैटभ नामसे निर्देश किये गये हैं। मधु-कैटभ जब ब्रह्माका वध करनेके लिये उनपर आक्रमण करनेको उद्यत

हुए, तब ब्रह्माने नारायणके निकट प्राण-रक्षाके लिए कातरभावसे प्रार्थना की; परंतु नारायण उस समय योगनिद्रामें मग्न थे। सुतरां ब्रह्माने योगनिद्राके भङ्ग लिये स्तव-पाठ करना आरम्भ किया। तब योगनिद्रासे उत्तर नारायणने मधु-कैटभका वध किया। यह आख्यायिका मनुष्यके जीवनमें, जो अहरहः युद्ध चल रहा है उसका एक रूपक-विवरण भी है। मनुष्यमें रज-तमरूप दो कैटभ हैं, जिन्होंने आसुरीभावसे उसके मन-बुद्धिको विक्षिप्त और आवृत कर रक्खा है। और उसमें उसकी नारायणी सत्ता भी है, जो कि निद्रामग्न है। मनुष्य-जीवनका यही व्यंग्य है कि इस ऐश्वरीय शक्तिको जाग्रत् करे और उसके वध इन दैत्योंका नाश करे।

इसके साधनके लिये एक प्रधान उपाय है—अर्थात् सहित गायत्री-मन्त्रका जप; क्योंकि गायत्री बुद्धि अधिष्ठात्री देवता हैं। जपके समय शब्द और अर्थका यथार्थभावसे प्रयोग करनेपर जपका फल अवश्य मिलता है। शब्दोंका यथारीति उच्चारण और अर्थका पूर्णतः बोध होनेसे, वरणीय ज्योति हमारी बुद्धिवृत्तिको कल्याण और प्रेरित करती है।

इस कार्यमें दो बाधाएँ हैं—(१) रसना-मल, जिसके कारण शब्दका उच्चारण शुद्ध नहीं हो पाता; (२) कर्ण-मल, जिसके कारण शब्दोंके ग्रहण करनेमें रुकावट होती है। श्रीश्रीचण्डीमें कहा है कि मधु-कैटभ कर्ण-मलसे उत्पन्न हुए थे। वह यही विषय-भोगरूप कर्ण-मल है, जिसके कारण मन्त्र व्यर्थ हो जानेपर रजोगुण और तमोगुण फैल निकलते हैं। इस तथ्यको यों समझना चाहिये—रजोगुण और तमोगुणसे हमारा चित्त चञ्चल और प्रमादयुक्त होनेके कारण जपका मन्त्र कर्णगोचर नहीं होता और अज्ञानके कारण मन्त्रका उच्चारण शुद्ध नहीं होता है। अतः जपका सब निष्फल हो जाता है।

एक उदाहरण लिया जाय। प्रणव शब्द प्रायः 'ओम्' कहकर उच्चारण किया जाता है; इससे प्रणव-जपका फल प्रायः प्राप्त नहीं होता। यदि 'अ-उ-म्' कहा जाय—

* इस निबन्धका विषय और भाव लेखकको पूज्य स्वामी श्रीप्रत्यगात्मानन्दजी सरस्वतीसे मिला है।

संख्या ५]

इस प्रकारसे कि मध्यका 'उ' ऊर्जितवान् हो जाय और उसके एक ओर 'अ' और दूसरी ओर 'म' शक्ति-सम्पन्न हो जाय, तो प्रणव-जपका फल हाथों-हाथ मिलता है। और फल यह होता है कि साधक नाद-विन्दु-कलाकी ओर अग्रसर हो जाता है। परंतु लिखना जितना सहज है, कार्य उतना सहज नहीं है। प्रणव 'अ, उ, म' और 'नाद-विन्दु-कला'—यों षडङ्गयुक्त हैं। इसके मध्यस्थलमें 'अर्धमात्रा' स्थित है, जो कि सेतु-स्वरूप है। 'अ, उ, म' से आगे बढ़नेपर 'नाद' पर्यन्त पहुँचनेके पहले साधकको इस सेतुसे पार होना है, इसके लिये प्रणव-जप ही एकमात्र उपाय है।

परंतु यह साधना बहुत कष्टकर है; इसके लिये श्रद्धापूर्वक दीर्घ अभ्यासका प्रयोजन है। इस साधनामें 'वैखरी' भूमिमें वाचिक जपसे आरम्भ कर, 'मध्यमा' की सेतु पार करते हुए, 'पश्यन्ती' भूमि लाभ होनेपर मानस-जप निरन्तर चलाना पड़ता है; परंतु एक बार जब 'अर्धमात्रा' की सेतु पार कर साधक उस पार पहुँच जाता है, तब नाद और विन्दु, और फिर कलापर्यन्त पहुँचनेमें कदाचित् ही रुकावट होती है। केवल यही नहीं, फिर इसी 'अर्धमात्रा' की सहायतासे जो कि नित्या और अनुचर्या है, कलातीत अवस्था भी प्राप्त होती है।

परंतु इसके पहले जब त्रिमात्रा 'अ, उ, म' से आगे चलकर साधक जप-यज्ञमें दृढ़ रहता है, तब नाद-शब्दसे उसका चित्ताकाश भर जाता है। उसके अनन्तर एक गूढ़ रहस्यकी अनुभूति होती है—शब्दमें ज्योतिका प्रकाश दिखायी देता है—

नादाभ्यन्तरं ज्योतिर्ज्योतिरभ्यन्तरं मनः ।

तन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम् ॥

‘नादके भीतर ज्योति है; उस ज्योतिमें जब मन स्थिर

हो जाय, तब वह मन विष्णुके परमपदमें लय हो जाता है।’

इस ज्योतिके प्रकाशसे जब बुद्धि प्रकाशित होती है, तब सब रहस्य खुल जाता है।

परंतु यह सब कर्म जैसे शास्त्राचार्योंपदेशसे और विद्यार्जनसे आरम्भ होता है, वैसे ही श्रद्धायुक्त होकर साधकको इनमें तत्पर होना चाहिये। श्रद्धाहीन व्यक्ति किसी कार्यका अधिकारी नहीं होता। श्रद्धावान् पुरुषके एकान्तचित्तसे साधनमें प्रवृत्त होनेपर, उसे 'श्रद्धावीर्य-स्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक' सिद्धि प्राप्त होती है।

यह तो प्रयत्नजनित फल है, परंतु भगवान्‌के शरणागत होनेपर वे ही साधकको उपयुक्त बुद्धि प्रदान करते हैं। उन्होंने कहा है—‘ददामि बुद्धियोगं तम्’। उनके चरणोंमें तृणकी तरह अपनेको तुच्छ समझकर उत्सर्ग कर देनेपर उनका आश्रय लाभ होता है। राग-द्वेषका त्यागकर, अहङ्कारशून्य होकर, उनके निकट आत्म-समर्पण कर दिया जाय तो अवश्य उनकी कृपा मिलती है। तब वह केनोपनिषद्में वर्णित तृणसदृश हो जाता है, जिसे न आग जला सकती है, न हवा उड़ा सकती है।

तुभ्यं तृणाय सदा हैमवत्याः

कारुण्य-शौर्यं

सुरगर्वहारि ॥३॥

‘यदि तुम एक तृणकी तरह उनकी दृष्टिमें अपनेको निछावर कर दो, तो निश्चय जानना कि तुम्हारी तृणरूप सत्ताकी रक्षाके लिये श्रुति-प्रसिद्ध उमा-हैमवतीकी कृपा और असीम शौर्य सदैव प्रस्तुत है, जिसे न समझनेके कारण देवताओंका गर्व खर्व हो गया था।’

अतएव यह सिद्धान्त समीचीन है कि 'श्रद्धा' की नींव डाली जाय और 'विद्या', 'प्रक्रिया' और 'उपनिषद्' के द्वारा साधनरूप गठन कार्य सम्पूर्ण किया जाय।

विनती

क्या मुख ले विनती करौं, लाज लगत है मोहि । तुम देखत औगुन करौं, कैसे भावौं तोहि ॥
अवगुन मेरे वापजी, बकसु गरीबनिवाज । जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिताको लाज ॥

—कबीर

प्रतीकोपासना और शिवलिङ्ग-रहस्य

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम० ए०)

सम्पूर्ण भारतवर्षमें शिवलिङ्गकी उपासना प्राचीन कालसे ही प्रचलित है। न केवल जनसमूहमें बल्कि गाँवोंमें, नगरोंमें, दुर्गम पर्वतशृङ्गाँपर, गहन वनोंमें, लोक-भयङ्कर महाश्मशानोंमें—सर्वत्र शिवलिङ्ग प्रतिष्ठित देखा जाता है। भारतीय संस्कृति जहाँ-जहाँ फैली, वहाँ-वहाँ इस सनातनी संस्कृतिके प्रतीकरूपमें शिवलिङ्गकी प्रतिष्ठा हुई। शिवलिङ्गको केन्द्र करके ही भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें अनेक तीर्थ-क्षेत्र बने। भारतका सनातनधर्म अनेक सम्प्रदायोंमें विभक्त होनेपर भी शिवलिङ्गकी पूजा प्रायः सभी सम्प्रदायोंमें की जाती है—किसी-किसी साधक-श्रेणीमें तो मुख्य भावसे, तो किसी श्रेणीमें गौणभावसे। सभी शैवतीर्थ सब सम्प्रदायोंके तीर्थ माने जाते हैं। अभी उस दिन दस्युविध्वंसित सोमनाथ तीर्थके पुनः संगठनके समय केन्द्रीय मन्दिरमें शिवलिङ्गके पुनः प्रतिष्ठाकार्यके उपलक्ष्यमें प्रधान यजमानका कार्य हमारे राष्ट्रपति महोदयने किया था एवं इस अवसर-पर उन्होंने भी शिवलिङ्गको भारतीय संस्कृतिके श्रेष्ठ प्रतीकरूपमें बतलाया था। इसे किसी प्रकार अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह स्वच्छन्द रूपसे कहा जा सकता है कि समस्त भारतवर्षके अखण्डत्वकी संस्थापनामें शिवलिङ्गकी देन अतुलनीय है। सद्यः प्रकारके प्राकृतिक, राष्ट्रिय, सामाजिक और आर्थिक विप्लवोंके मध्य हजारों वर्षोंतक भारतके सभी श्रेणीके नर-नारियोंके हृदयमें इस शिवलिङ्गने भारतीय संस्कृतिके प्रदीपको ज्वलन्त रखा है।

यह सभी जानते हैं कि हिंदू-धर्ममें 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' की आराधना अनेक नामों और रूपोंमें होती आ रही है। विभिन्न नाम और विभिन्न रूपोंके प्रति विशेष अनुराग होनेके कारण हिंदू उपासकगण, विभिन्न सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदायोंमें विभक्त हैं। प्रतीकोपासना हिंदू-धर्मका एक विशेष अङ्ग है। यह सभी सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदायोंमें प्रचलित है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, समुद्र, नदी, पर्वत, सूर्य, चन्द्र, तारे, ओषधि, वनस्पति—'यत्किञ्च भूतम्' सभी पदार्थोंको हिंदू उपासक आध्यात्मिक दृष्टिसे देखकर उन्हें ब्रह्मके प्रतीकरूपमें ग्रहण करते हैं एवं किसी भी प्रतीकका अवलम्बन करके एक ही ब्रह्मकी

आराधना करते हैं। विश्वके सभी पदार्थोंमें ब्रह्मोपस्थित उनका लक्ष्य है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और इसको साक्षात् अनुभव करना ही उनकी साधनाका चरम आदर्श है। सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डका सभी कुछ विचित्र नाम-रूपोंके उपाधियोंमें ब्रह्मका ही विलास या विवर्त है। ब्रह्म सत्तासे ही सबकी सत्ता है। ब्रह्मकी चित्-ज्योतिसे ही सब प्रकाश है। ब्रह्म ही अनादि-अनन्तकालसे अपनी अकिञ्च शक्तिके द्वारा असंख्य द्रष्टा और दृश्यरूपमें प्रतीयमान रहा है।

जिस वस्तुके अंदर जिस किसी प्रकारके वीर्य के ऐश्वर्यका परिचय है, जिस किसी प्रकारके सौन्दर्य के माधुर्यका परिचय है, जिस किसी प्रकारकी विशालता के महत्ताका परिचय है, जिस किसी प्रकारकी विद्या और प्रेम का परिचय है—जिस क्षेत्रमें जो कोई विशेषता दीखती है—सभीका मूल कारण है वही एक अद्वितीय परमपुरुष। सब सकल प्रकारकी विशेषताओंके अंदर उन्हींकी अलग-अलग महिमाका आंशिक परिचय है। हिंदू-साधक सारे जगत् जहाँ कहीं भी, जो कोई विभूति देखता है, उसीके अंदर ब्रह्मकी अनन्त विभूतिकी विशेष अभिव्यक्तिको लक्ष्य करके आन्तरिक श्रद्धाञ्जलि प्रदान करता है। विश्वजगत्के यावत् पदार्थ ही ब्रह्मबुद्धिसे साधकोंके उपास्य हो सकते हैं। विदेवगणों और महापुरुषोंके अंदर ब्रह्मकी भगवत्ताका विशेष जीवन्त प्रकाश रहता है, उनके अंदर भगवान्की असीम विभूति लीलायित होती है। अतएव साधारण मनुष्यके हृदय स्वभावसे ही उन लोगोंकी ओर विशेषरूपसे आकर्षित होता है एवं सम्भ्रम, श्रद्धा और भक्तिसे अवनत होता है। वे लोग सहज ही मनुष्यके उपास्यके आसनपर अधिरूढ़ होते जाते हैं। विशालको अवलम्बन करके मनुष्यका चित्त असीमके साथ अपना योगानुसन्धान करता है। महाज्ञानी और महाशक्तिशालीके साथ चित्तका योगसाधन करके साधक प्रेममय, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्को विभूति अनुभव करनेका प्रयास करता है। साधकगण जगत्के अंदर जिन-जिन पदार्थोंमें चरम आराध्य कारण-कारण ब्रह्मकी महिमाका जितना अधिक अनुभव करनेमें समर्थ होता है, उन-उन पदार्थोंको ही उतने ही

प्रतीकरूपमें आश्रय करके वह ब्रह्मकी आराधनामें प्रवृत्त होता है, एवं अपने अंदर और विश्वजगत्में सर्वत्र एक सच्चिदानन्दमय सर्वभावमय और सर्वभावातीत परमतत्त्वको अनुभव करनेका प्रयत्न करता है।

प्रतीकोपासनामें हिंदू साधकगण केवलमात्र भगवद्विभूति-के परिचायक विशेष-विशेष देवता, प्राकृत पदार्थ और श्रेष्ठ मानवगणको ही ब्रह्मके प्रतीकरूपमें अवलम्बन नहीं करते। अपनी कल्पनाशक्ति और सृजनशक्तिका विकास करके उसके नये-नये प्रतीक सृजन करते हैं, ब्रह्मकी विचित्र प्रतिमाएँ निर्माण करके पूजाके आसनपर स्थापित करते हैं। शिल्प-कलाका अनुशीलन करके वे अरूपको रूप देते हैं, असीमके भावको सीमामें रूपायित करते हैं, अन्तरके आदर्शको बाहर इन्द्रियगोचर आकारमें उपस्थित करनेकी चेष्टा करते हैं। चित्र बनाकर, प्रतिमा निर्माण कर, मिट्टी, काष्ठ या पत्थरके भीतर विचित्र-वीर्य-ऐश्वर्य-सौन्दर्य-माधुर्य-ज्ञान-प्रेम-शान्ति-वैराग्य और आनन्दका भाव अभिव्यक्त करके भगवान्की भगवत्ताको वे प्रत्यक्षका विषय बनानेका प्रयत्न करते हैं। शिल्पीकी निपुणता मानो असीम और ससीमके बीच, अप्राकृत और प्राकृतके बीच, अतीन्द्रिय और इन्द्रिय-ग्राह्यके बीच, चिदानन्द-राज्य और जड विषयराज्यके बीच सेतुबन्धकी रचना करती है। अपनी बनायी हुई मृण्मयी या प्रस्तरमयी मूर्तिमें, अपने हाथसे अङ्कित चित्रमें नित्य सत्य चिदानन्दमय हृदयदेवताको विग्रहवान् देखकर साधक उसकी पूजामें हृदयका समस्त भक्ति-प्रेम उड़ेल देता है। भगवान्की सृष्टिके साथ अपनी सृष्टिका योग करके भक्त भगवान्को अपने अतिनिकट उतार लेता है एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा उनका अनुभव और आस्वादन करनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार साधककी रुचि और कल्पनाके वैचित्र्यके अनुसार सर्वाराध्य एक अद्वितीय परम-देवताकी विचित्र प्रतिमा या मूर्ति हिंदूसमाजमें निर्मित और पूजित होती है। प्रतिमा-पूजा प्रतीकोपासनाकी एक विशिष्ट धारा है। हिंदू नर-नारी सभी प्रतिमा-पूजासे प्रचुर कल्याण और आनन्द प्राप्त करते हैं।

हिंदूसमाजमें ब्रह्मनिष्ठ साधकोंके भाववैचित्र्यके अनुसार ब्रह्मके असंख्य माहात्म्यव्यञ्जक नाम और असंख्य प्रकारके भाव-व्यञ्जक रूपोंकी प्रतिष्ठा हुई है, विचित्र गुणशक्ति-लीला-दिव्यञ्जक प्रतिमाओंका निर्माण करके एक ही परम तत्त्वको विचित्र आकार-प्रकारमें सभी श्रेणीके नर-नारियोंके चक्षु

और हृदयके सम्मुख उपस्थित किया गया है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव, काली, दुर्गा, कार्तिक, गणेश, राम, कृष्ण इत्यादि देव-देवियोंकी जितनी मूर्तियाँ विचित्र आकार-प्रकारमें, विचित्र वेश-भूषामें हिंदू-नर-नारियोंके चित्तको आकर्षण करती हैं एवं उनकी पूजा प्राप्त करती हैं, वे सब ही हैं 'साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना।' प्रत्येक मूर्तिके अवलम्बनसे एक अद्वितीय ब्रह्मकी ही आराधना होती है। मूर्तिपूजा—प्रतीकोपासना उपनिषद् और वेदान्तदर्शनके देशकालातीत चित्तेन्द्रियातीत परमतत्त्व-को भारतीय जनसाधारणके प्रत्यक्ष अनुभूतिके क्षेत्रमें उतार कर नर-नारीमात्रको ही ब्रह्मोपासनाका अधिकार प्रदान करती है।

उपास्यके आसनपर स्थापित प्रत्येक प्रतीक ही वस्तुतः 'ब्रह्मलिङ्ग' रूपसे परिगृहीत होता है। प्रतीक किसी देवताकी मूर्ति हो या मनुष्यकी मूर्ति हो या कोई प्राकृत पदार्थविशेष हो, जब वही उपासनाके आलम्बनरूपसे स्वीकृत होता है, तभी परम उपास्यकी सब शक्ति, सब गुण, सब भाव उसमें आरोपित हो जाते हैं, तभी उपासक उसके भीतर अपने अन्तरके आराध्यदेवताको मूर्तिमान् देख पाता है। प्रतीक-द्वारा प्रत्यक् ही लक्षित होता है, विशेष मूर्ति या प्रतिमा—सभी मूर्तियों और प्रतिमाओंका मूल कारण और अन्तर्यामी एक सच्चिदानन्द ब्रह्मको ही निर्देश करता है। लिङ्ग शब्दका अर्थ ही यही है—'लिङ्ग्यते लक्ष्यते निर्दिश्यते अनेन इति लिङ्गम्।' जिसके द्वारा जो लक्षित या निर्दिशित होता है, वही उसका लिङ्ग (चिह्न) होता है। उपास्यरूपसे अवलम्बित वस्तुविशेष, मूर्तिविशेष, विग्रहविशेषद्वारा सर्वजीवोपास्य, सर्वकारण कारण, सर्वान्तर्यामी, सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्म ही लक्षित या निर्दिशित होता है, इसलिये वह उपासककी दृष्टिमें ब्रह्मका ही लिङ्ग (चिह्न) है। उपासकोंकी रुचि, बुद्धि और भावके वैचित्र्यके कारण विचित्र प्रकारके ब्रह्मलिङ्ग भारतमें सर्वत्र उपास्यदेवके आसनपर प्रतिष्ठित देखे जाते हैं।

इन सब ब्रह्मलिङ्गोंके विचित्र नाम, विचित्र रूप और विचित्र उपाधियाँ हैं। प्रत्येक लिङ्गका ही विशेष-विशेष ध्यान है, विशेष-विशेष पूजा-विधि है। परम लक्ष्य तत्त्व एक होनेपर भी उपाधिका वैचित्र्य है, भावका वैचित्र्य है। एक-एक प्रतीक या लिङ्ग ब्रह्मके एक-एक प्रकारका शक्तिगुण-भाव—विश्वके अंदर उनका एक-एक प्रकारका प्रकाश—विशेषरूपसे सूचित करता है। उसके द्वारा विभिन्नजातीय

विशेषप्रकृतिविशिष्ट साधकका चित्त विशेषरूपसे आकृष्ट होता है। फलतः एक विशेष उपासक सम्प्रदाय उत्पन्न हो जाता है।

विशाल हिंदू-समाजमें असंख्य प्रतीक या लिङ्ग या मूर्तियोंकी पूजा प्रचलित रहनेपर भी दो प्रतीकोंकी प्रतिष्ठा असाधारण और सार्वजनीन है। एक तो विष्णुलिङ्ग या शालग्राम शिला और दूसरा शिवलिङ्ग। ये दोनों ही लिङ्ग हस्तपदचक्षुर्णादिविहीन, स्त्रीपुरुषादिभेदविवर्जित और सभी प्रकारसे विशेषभावविनिर्मुक्त हैं। दोनोंके आकारोंमें कुछ सामान्य पार्थक्य है। सभी प्रकारके 'विशेष' प्रतीकोंमें ये मानो 'निर्विशेष' प्रतीक हैं। ब्रह्मके लिङ्ग या प्रतीकके ख्यालसे इन दोनोंकी सर्वत्र पूजा होती है। सभी प्रकारके विशेष देव-देवियोंकी विशेष पूजाके अङ्गस्वरूप शालग्राम-शिलाकी और शिवलिङ्गकी पूजाका भी विधान शास्त्रोंमें है। ये दो लिङ्ग मानो सर्वसाधारणको सर्वदा स्मरण करते रहते हैं कि असंख्य देव-देवियाँ—नाम, रूप, भाव और उपाधिमें विभिन्न होनेपर भी वे सभी तत्त्वतः एक हैं—उनके नाम-रूपादिके वैचित्र्यमें एक 'निर्विशेष' का ही 'विशेष-विशेष' आत्मपरिचय है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि सनातन धर्मकी अध्यात्म-साधनाके क्षेत्रमें मूलतः विष्णु-शिला और शिव-शिला अभिन्न थे। एक निर्विशेष ब्रह्मके ही सर्व विशेषवर्जित लिङ्गमात्र थे; किंतु कालक्रमसे वेदवादी और ब्रह्मवादियोंके—प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्गके अनुयायियोंके—गार्हस्थ्या-नुरागी और संन्यासानुरागी साधकोंके—वैष्णव और शैव उपासकोंके—साम्प्रदायिक मतभेद या रुचि-वैचित्र्यके फल-स्वरूप विष्णुशिला और शिवशिलामें भेद माना जाने लगा। समाजमें एकका विष्णुलिङ्ग और दूसरेका शिवलिङ्ग नामसे प्रचार हुआ। वैदिक कर्मकाण्ड, प्रवृत्तिमार्ग, गार्हस्थ्यधर्म और यागयज्ञादिके अनुरागी उपासकगण प्रायः विष्णुके आराधक होते थे और वे शालग्राम शिलाको विष्णुका प्रतीक या ब्रह्मके विश्वपालनी शक्तिको लिङ्ग कहकर खूब आदर करते थे। दूसरी ओर निवृत्तिमार्ग और ज्ञानसाधनाके अनुरागी वर्णाश्रमधर्म-त्यागी याग-यज्ञादिविमुख योगी उदासी संन्यासी उपासक लोग शिवके आराधक होकर शिवलिङ्गको अधिक आदर और श्रद्धा प्रदर्शन करते थे। इसी हेतु गृहस्थ धार्मिकोंके सभी प्रकारके माङ्गलिक कार्योंमें शालग्राम शिलाकी पूजा अवश्य

कर्तव्यरूपमें विहित हुई; यागयज्ञादि व्यापारोंमें विष्णु यज्ञेश्वर माने गये। दूसरे पक्षमें भारतमें सर्वत्र ही—श्मशान वनमें, पहाड़पर, दुर्गम स्थानमें शिवलिङ्गका ही एकाधिक देखे जाते हैं। गृहत्यागी समाजत्यागी निवृत्तिमार्ग साधकोंने प्रव्रज्या-क्रमसे जहाँ भी निवास किया है, वहाँ शिवका राज्य प्रतिष्ठित हुआ है, वहीं शिवलिङ्गकी उपास प्रवर्तित हुई है। श्मशानमें आनन्दकाननका निर्माण हुआ, निर्जन वनमें लोकालय स्थापित हो गया, दुरधिप पर्वत-शिखरपर तीर्थक्षेत्र प्रतिष्ठित हो गया—ये सभी भारत समाजके ऊपर शिवभक्त संसारत्यागी योगी-संन्यासियोंके प्रभावके सूचक हैं।

शिवोपासनाकी एक विशेषता यह है कि कोई सर्वाङ्ग सम्पन्न मूर्ति निर्मित करके, प्रतिमा निर्माण करके उनकी पूजा नहीं होती। यह सत्य है कि ध्यानके लिए उनके श्रीविग्रहकी आराधना होती है, उनका पञ्चवक्त्र-त्रिनेत्र, त्रिशूल-डमरूधारी, व्याघ्राम्बरधर प्रभृति वर्णन किया जाता है, किंतु पूजाके आसनपर कोई प्रतिमा प्रतिष्ठित करनेकी रीति प्रायः नहीं देखी जाती। शिववक्षहस्तपदादिविहीन चक्षुःकर्णादि-सर्वेन्द्रियवर्जित निर्विशेष दण्डाकृति एक लिङ्गपर सर्वत्र उनकी पूजा होती है। विष्णुपूजा शालग्रामशिलामें जैसे विहित है, वैसे ही शिवपूजा शिवलिङ्गमें ही होती है। नाना प्रकारके सुपरिकल्पित सर्वावयवसम्पन्न देवमूर्ति अवतारमूर्तिमें भी उनकी पूजा अर्चना सर्वत्र प्रचलित है किंतु अति प्राचीन कालसे भारतमें सर्वत्र ही शिवपूजा यह एक ही प्रकारका प्रतीक चला आ रहा है। शिवकी लीला-कथाएँ पुराणोंमें, काव्योंमें, लोककथाओंमें, अनेक हैं, अनेक महापुरुषोंको शिवका अवतार कहकर धोती किया गया है; किंतु विष्णुकी किंवा शक्तिकी लीला-कथाएँ मूर्तियोंकी, जिस प्रकार पूजा-अर्चना होती है, अवतार प्रतिमाको पूजाके आसनपर प्रतिष्ठित करनेकी जैसी रीति शिवके लिये वैसी नहीं है। किसी शिवके अवतारको शिव के आसनपर बैठाकर पूजा करनेका प्रचार नहीं है। बहुत से शिवका कोई अवतार ही नहीं मानते। शिवकी आराधना सुपरिचित शिवलिङ्गमें ही होती है एवं सर्वत्र मठमें, श्मशानमें, वनमें और पर्वत-कन्दराओंमें यह एक प्रकारका विग्रह प्रतिष्ठित रहता है।

एक विशेषता और यह है कि शिवलिङ्गकी पूजा अर्चनामें वर्णाश्रम-सम्प्रदायादि भेदजनित कोई अधिक

संख्या ५]

भेद नहीं है। समाजके शीर्षस्थानीय अशेषशास्त्राध्यायी याग-यज्ञादिनिष्ठ ब्राह्मणगण जैसे शिवलिङ्गके पूजनके अधिकारी हैं, उसी प्रकार शास्त्रज्ञानविहीन उपनयनादि संस्कार-विहीन शूद्रगण, ब्राह्मणगण, अन्त्यजगण भी शिवलिङ्गका स्पर्श करनेके, सेवा-पूजा करनेके, भक्ति-अर्घ्य प्रदान करनेके अनधिकारी नहीं हैं। पुरुष और नारीका शिवपूजामें समान अधिकार है। जिस शिवलिङ्गको मुमुक्षु संसार-त्यागी यति तपस्वी योगिपुरुषगण अन्तरमें ज्ञान-भक्ति-वैराग्य लेकर पूरी श्रद्धाके साथ उपासना करते हैं, उसी शिवलिङ्गको संसारकामनाओंसे भरे हुए गृहस्थ नर-नारीगण भी कामना-पूर्तिकी आकाङ्क्षासे श्रद्धा-भक्तिके साथ पूजा करते हैं। समाजमें कुमारियोंको पहले शिव-पूजनकी ही शिक्षा दी जाती है। विधवाएँ भी शिवपूजामें दीक्षित होती हैं। हिंदू-समाजमें जो अस्पृश्य कहे जाते हैं, शिवजीके निकट अस्पृश्य नहीं रहते। शालग्राम-शिलाकी साक्षात् पूजा-अर्चनामें नारी, शूद्र और शूद्रेतरोंका अधिकार नहीं होता; किंतु शिवलिङ्गकी साक्षात् आराधनामें सबका समान अधिकार रहता है। शिवके निकट स्पृश्यास्पृश्यका विचार नहीं है। समाजमें जो हेय और अस्पृश्य कहे जाते हैं, विद्याबुद्धि, कर्मशक्ति, वंशमर्यादा और धन-मानके अहङ्कारसे समाजके उन्नत-स्तरके लोग जिन लोगोंके संस्पर्शसे अपनेको नाना प्रकारके विधि-निषेधके कौशलसे दूर-दूर रखते हैं, उन लोगोंका भी शिवके दरबारमें अबाध प्रवेश है, वे सभीको समान आदरसे अपनी सन्निधिमें ग्रहण करते हैं। शिव-पूजाके क्रियाकाण्डमें कोई आडम्बर या जटिलता नहीं होती; विचित्र वस्तुसमूहकी आवश्यकता नहीं होती; न मन्त्रादिकी बहुलता होती है। नितान्त सहज मन्त्रोंसे, सरल प्रक्रियासे, स्वच्छन्द वनजात सुलभ पत्र-पुष्पोंसे शिवलिङ्गकी पूजा सम्पन्न हो जाती है। अन्तरकी विश्वासभक्ति ही प्रधान उपकरण है। इसलिये सरलस्वभाव नर-नारीमात्र ही शिवपूजामें समर्थ हैं। सभी उनको अपने प्राणोंका देवता मानकर हृदयमें धारण करनेके अधिकारी हैं।

यहाँ एक बात विशेषरूपसे स्मरण रखनी चाहिये। मूलतः निवृत्ति-मार्गावलम्बी ज्ञानी, योगी, संन्यासी और तपस्वी लोगोंके द्वारा ही शिवकी आराधना और शिवलिङ्गकी पूजाका हिंदू-समाजमें प्रवर्तन और प्रचार हुआ है। प्रवृत्ति-मार्गाका अनुसरण करनेवाले, जटिल कर्मकाण्डके अनुरागी, समाजसंगठनमें आग्रहशील वेदवादी और भक्तगण आदि

शिवके आदर्शको समाजमें स्थान देना उचित नहीं समझते थे। शिवके अनुचरोंकी गार्हस्थ्य-धर्मसे विमुखता, समाज-विधिका उल्लङ्घन, वैदिक कर्मकाण्डके प्रति औदासीन्य, स्वतन्त्र सहज जीवनयापन-प्रणालीको वे पसंद नहीं करते थे।

प्रजापति दक्षके शिवहीन यज्ञकी कहानी वेदवादियों और शिववादियोंके-प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गके परिपोषकोंके-दीर्घकालव्यापी मतभेदका ही एक निदर्शन-मात्र है। आगे चलकर वेदवादी समाजनेताओंने क्रमशः शिवोपासकोंके प्रभावसे कर्मकाण्डके भीतर भी शिवजीको स्वीकार किया; प्रवृत्तिमूलक क्रियाकाण्डमें निवृत्तिमार्गके आदर्शको ग्रहण करना उन्होंने समीचीन मान लिया। दूसरी ओर एकान्त रूपसे निवृत्तिमार्गके अनुयायी समाज-विधान-परित्यागी शिववादी स्वतन्त्र विहारी वनपर्वतनिवासी योगी संन्यासी तपस्वियोंने भी वर्णाश्रमधर्मके साथ, याग-यज्ञादि कर्मकाण्डके अनुष्ठानके साथ, समाजसंगठनके अनुकूल क्रियाविधिके साथ एक समझौता करके दोनों आदर्शोंका समन्वय करना आवश्यक समझा। प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गका मिलन हुआ। वर्णाश्रमी समाजके बीच शिवके आदर्शको स्थान मिला। संन्यासीगण गृहस्थोंके गुरु माने जाने लगे। शिवसाधना और शक्तिसाधनाका, त्याग-साधना और भोग-साधनाका योग हुआ। शिव शक्तियुक्त होकर एवं शक्ति शिवमयी होकर नर-नारीमात्रके उपास्य-रूपमें वरण किये गये। गार्हस्थ्य-जीवनके परिणामस्वरूप संन्यासका अवलम्बन समाजमें आदर्श माना गया। मोक्षको जीवनका चरम लक्ष्य माना गया और उसका सर्वसाधारणमें प्रचार किया जाने लगा।

त्यागी योगी साधु संन्यासी ही शिवोपासनाके प्रवर्तक और उपदेशक हुए। इसी कारण शिवाराधनामें वर्णाश्रम-विहित अधिकार-भेद नहीं; क्रियाकाण्डकी बहुलता नहीं। ये सब यति संन्यासीगण समाजके बाहर जाकर वनमें, जंगलोंमें, पहाड़-पर्वतोंपर रहते थे, परिव्राजकरूपसे भारतमें सर्वत्र भ्रमण करते थे, समाजके अन्तर्भुक्त और बहिर्भुक्त सभी स्तरोंके और सभी श्रेणियोंके नर-नारी उनके सान्निध्य-लाभका सुयोग पाते थे, उनके जीवन और उपदेशसे आध्यात्मिक जीवनकी अनुप्राणना और आस्वादन पाते थे। वे आध्यात्मिक साधनामें किसीको अनधिकारी नहीं मानते थे। ब्रह्मोपासनामें मनुष्यमात्रका ही जन्मगत अधिकार है। विशेष-
कर्मकाण्डके क्षेत्रमें अधिकारभेद अवश्यम्भावी है। विशेष-

विशेष साधन-प्रक्रियामें अधिकारभेद करना ही होगा । ज्ञान-शक्ति, कर्मशक्ति, संयम, प्रेम, पवित्रता इत्यादिके बिना उन्नत स्तरोंके क्रियाकाण्ड सम्पादनमें भी सामर्थ्य नहीं उत्पन्न होती, उन्नततर आध्यात्मिक साधनप्रणालीमें प्रवृत्त होनेकी भी सामर्थ्य नहीं उत्पन्न होती । किंतु ब्रह्मोपासना तो इन सब सामर्थ्योंपर निर्भर नहीं है । ब्रह्म तो सबके अन्तःकरणमें अन्तरात्मारूपसे नित्य विराजमान है । सरल प्राणसे, सरल मनसे सभी ब्रह्मकी उपासना कर सकते हैं और सबके अंदर ब्रह्मसत्ताकी अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं । जिस देहमें ब्रह्म स्वयं विराजमान है वह ब्रह्मका अस्पृश्य कैसे होगा ? जिस मनका अन्तर्यामी ब्रह्म है, वह मन ब्रह्मोपासनाका अनधिकारी कैसे होगा । निवृत्तिमार्गके समाज-

त्यागी साधकोंने समाजबहिर्भूत वनवासी पर्वतवासी सदाचर दुराचारी आर्यकुलपतित या अनार्यजातिप्रसूत सभी नारियोंके चित्तमें अध्यात्मभावको उद्दीपित किया था, सभी ब्रह्माराधनाके अधिकारके सम्बन्धमें जाग्रत् किया था, सभी श्रेणियोंमें शैव-आदर्शका प्रचार किया था और सर्वत्र ब्रह्मके सरलतम प्रतीक शिवलिङ्गकी प्रतिष्ठा की थी । इसीलिए भारतवर्षमें ऐसा कोई वन नहीं, पर्वत नहीं, जहाँ किसी लिङ्गकी प्रतिष्ठा न हुई हो । ऐसी कोई जाति या श्रेणी नहीं जिसके अंदर शिवकी आराधनाका प्रचार न हुआ हो जिन अञ्चलोंमें किसी दूसरे वेदप्रसिद्ध देवताका शुभाचार नहीं हुआ, ऐसे प्रदेशोंमें भी शिवजीका प्रवेश हुआ और शिवलिङ्गकी प्रतिष्ठा हुई । (शेष क...

बोधमाला

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्कसे आगे]

(४७) यह संसार मुसाफिराना है । उसमें तुम मुसाफिर हो । सबके साथ हिल-मिलकर चलो । एक दूसरेका सम्बन्ध थोड़े दिनोंके लिये है । किसीसे वैर न करो, इसी प्रकार प्रीति भी न बाँधो ।

(४८) कभी भी परस्त्रीके साथ एकान्त-सेवन मत करो । हास्य-विनोद मत करो, एक कमरेमें न सोओ, परस्त्रीका सेवन कभी न करो । परस्त्रीका सेवन जीते-जी सुख-सम्पत्ति, शक्ति और धर्मका नाश करता है और मरनेके बाद नरक प्रदान करता है । इन्द्रियों और मन चञ्चल हैं, इन्हें सहवास और संयोग मिलेंगे तो वे तुम्हें परस्त्री-सङ्गके पापमें डाल देंगे, इसलिये सावधान रहो और दूर रहो ।

(४९) जिसका सङ्ग करोगे, उसका असर तुमपर पड़ेगा । इसलिये सज्जनका सङ्ग करो । तुम्हें जैसा होना हो वैसा ही सङ्ग करो । यह कभी मत मानो कि सङ्ग करनेके बाद उसका असर नहीं पड़ेगा ।

(५०) मनुष्य जब धन कमाता है, तब वह धन मुसाफिर है । वहाँ साधन मिलनेवाला

यह मानकर खर्च करता है कि उसकी यह कमाई हमेशा चालू रहेगी या और बढ़ेगी । परंतु यह भूल है हमेशा आमदनीसे कम खर्च करो, बचाओ, संग्रह करो विशेष आमदनी हो तब जान लो कि भविष्यके खर्च लिये रखनेको यह आया है । इसलिये विशेष बच करो । गृहस्थाश्रम धनके आधारपर चलता है इसलिये तुम जरूर धन सञ्चय करो । मनुष्य मेहनत पहले धन प्राप्त करे, उससे बचाकर धनको धन कमावे । बहुधा यह बचाया हुआ धन अपनी बड़ों सी खुद-मेहनतकी कमाईसे बढ़ जाता है । कमावे, उतना बोलना नहीं, भूख लगे उतना नहीं और जितना पैसा हो उतना खर्चना नहीं ।

(५१) तुम यह निश्चय समझो कि जवानी च जायगी, शरीर अशक्त हो जायगा और मौत आने लगेगी यहाँकी सारी वस्तुएँ यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा । साधन पाथेय क्या ले जाओगे, उसकी तैयारी करो ।

संख्या ५]

है। यहाँके सगे-प्यारे वहाँ काम नहीं आनेवाले हैं। यहाँ खाने-पीने और मौज करनेमें तुमने जो जिंदगी गवाँ दी, शरीर छोड़कर परलोक जाते समय वह मौज-मजा क्या काम देगा? पाथेयके बिना भूखों मरोगे, इसलिये सदाचार, सत्कर्म, परमात्माकी भक्ति और दयाका पाथेय, जबतक शरीर सशक्त है तभीतक-में बाँध लो।

(५२) वही खाना-पीना, वही पहनना और वही भोग। रोजका यही काम। भला इस प्रकार करते तुम्हें उकताहट नहीं होती? इन सबका अन्तिम फल क्या है? कोन्हूका बैठ खूब चळता है पर रहता वहीं-का-वहीं है। तुम्हारे अनेकों जन्म और अनेकों वर्ष बीते, पर ईश्वरकी ओर तुम्हारा कितना रास्ता कटा, इसका तुमने कभी विचार किया है? ज.गो, कालका डंका बज रहा है, मौतका निमन्त्रण आ रहा है, जानेके पहले भगवान्‌को प्राप्त करनेका साधन साध लो। सबके साथ हिलमिलकर चलो, वैर न करो। फिर यहाँ नहीं आना है इसलिये हिलमिलकर भेंट कर लो। चलो, जल्दी है, तैयारी करो, भगवान् तुमसे मिलनेके लिये बाट जोह रहे हैं।

(५३) प्राणिमात्रमें परमात्मा है, इसलिये किसीसे द्वेष न करो। किसीका तिरस्कार न करो। सबका मन और मनका स्वभाव अलग-अलग होता है, इसलिये जिसके सम्पर्कमें जाओ, उसका स्वभाव जानकर जहाँ-तक खप सके और बदनामी न हो, ऐसा बर्ताव करो।

(५४) हर एक हालतमें, प्रत्येक संयोगमें आनन्दमें रहना सीखो। अप्राप्त वस्तुके लिये तरसो मत। बीती हुईके लिये शोक न करो और वर्तमानमें संतोष मानकर खूब आनन्दमें रहो। सारे धर्मोंका, सारे पुण्यकर्मोंका, जप, तप, तीर्थ, दया, दान—सबका एक ही फल है—प्रत्येक दशामें प्रसन्न रहो, सदा आनन्दसे रहो।

(५५) पराये धर्मसे द्वेष न करो, दूसरेके धर्मकी आलोचना न करो। जैसे एक गाँवके जानेके अनेक मार्ग होते हैं, उसी प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये, अखण्ड शान्तिरूपी मुक्तिकी प्राप्तिके लिये अनेकों मार्ग सबके अधिकारके अनुसार हैं। जिसको जो रुचे उस मार्गसे जाय। अन्तमें सब एक जगह इकट्ठे होने-वाले हैं।

(५६) परमात्मा कैसा है, यह जानने और देखनेके लिये श्रम मत करो। आत्मा एक है या अनेक—इस बखेड़ेमें तुम न पड़ो। तुम्हारे चित्तमें आत्यन्तिक शान्ति आवे, तुम्हारा चित्त निर्विकार हो, ऐसा रास्ता खोजो और उसका आचरण करो। आशा, इच्छा और तृष्णाका त्याग किये बिना, सत्य, सदाचार, संतोष, दया, प्रेम और ईश्वरकी भक्तिका सेवन किये बिना, लाख उपाय करो पर तुम्हें सम्पूर्ण शान्ति नहीं मिलेगी। जिससे चित्तको बेचैनी हो, जिसके करनेसे पछताना पड़े, जिसे करनेसे भय हो, जिसे करनेसे परिणाममें दुःख हो, चिन्ता, भय और शोक हों, जिसे करनेसे सुखकी नींद सोनेको न मिले, उसे कभी न करो। इतना करनेके बाद परमात्मा अपने-आप तुम्हें जना देंगे। तब तुम देख लोगे कि वह कैसा है। इतना करते ही जान पड़ेगा कि प्राणिमात्रमें एक ही परमात्मा है। अपने अनुभवके बिना दूसरेकी बात बिना शङ्का-सन्देहके मनमें बैठती नहीं। चित्तकी विकाररहित शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करो।

(५७) भाई! तुम जिस कुलमें, जिस घरमें, जिस जत्थेमें, जिस जातिमें, जिस देशमें रहते हो, उसकी व्यावहारिक रीति-नीतिके अनुसार आचरण करोगे तो सुखी होंगो। साधारण मनुष्यको इस प्रकारकी रीति-नीतिका विरोध नहीं करना चाहिये। इस प्रकारकी रीति-नीति अधर्मरूप नहीं होंती, बल्कि केवल समाजकी प्रथा होती है। उसका विरोध करनेमें अपना बल न खर्च

करो । नियम दो प्रकारके होते हैं—व्यावहारिक और पारमार्थिक । तुम पारमार्थिक नियम लो और उसका आमरण पालन करो । सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, पवित्रता, संतोष, इन्द्रियोंका निग्रह, परमात्माकी भक्ति आदि नियम यथाशक्ति लेकर पालन करो । तुम्हारे इन नियमोंमें जो रीति-रिवाज बाधक न हो, जिससे विशेष लाभ न हो और मामूली बाधा भी हो, परंतु सब लोग जिसका पालन करते हों, तो उसका पालन करनेसे ही तुम्हें शान्ति और आनन्द मिलेगा । नहीं तो विक्षेप होगा; और तुम्हारा जो बल परमात्माकी प्राप्तिमें लगाना चाहिये था वह व्यवहारकी खटपटमें लग जायगा ।

(५८) तुम चाहे जिस पंथमें रहो, चाहे जो जाप करो, चाहे जो ध्यान करो, उसमें अटल श्रद्धा रखो । निश्चय करनेके पहले सावधानी रखो, पर जिसमें मनकी रुचि हो, अपने हितैषीका बताया हुआ हो, उसमें अचल श्रद्धा धारण करो और उसमें लगे रहो । धर्माचरणका फल यदि जगत्के पदार्थोंकी इच्छा नहीं हो तो, अवश्य ही चित्तकी शान्ति है । और शान्त चित्तमें आत्माके स्वरूपकी धारणा होती है और आत्माके सत्य-स्वरूपको समझना ही मोक्ष है; क्योंकि आत्मा नित्य है, असङ्ग है और सच्चिदानन्दस्वरूप है और सदैव मुक्त ही है । इसलिये यदि तुम फलकी इच्छाको छोड़कर स्वधर्मके अनुसार धर्म-ध्यान, जप आदि करते हो तो दूसरोंके ढिगानेसे कभी ढिगाना मत, लगे रहना, ईश्वर तुम्हारी सहायता करेगा और मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति होगी ।

(५९) जगत्के पदार्थोंकी इच्छा हो तो सद् उद्यम करो और ईश्वरकी आराधना करते रहो । गुणवान् बनो । गुणकी ही विजय होती है, गुण ही पूजा जाता है, गुणसे ही इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होती है । इसलिये गुणका सेवन करो, अवगुणको छोड़ो । गुण ही महा-

पुरुषोंको प्रिय है, गुण ही भगवान्को प्रिय है, इसलिये गुणी बनो । गुणी बनकर उद्यमके द्वारा तुम जो कुछ हो, उसे उसी प्रकार जगत्-पिता भगवान्से माँगो । बालक अपने मा-बापसे माँगता है । श्रद्धा धारण करो वह देगा । वह दयालु है । उसके घर किसी वस्तु की कमी नहीं है । वह कृपण नहीं, उदार है ।

(६०) शारीरिक क्रिया कभी न छोड़ो । धर्मगुरु कार्योंको करते जाओ । कर्म करो, पर क्लेश, चिन्त, क्रोध, उद्वेग, राग-द्वेष न करो । मन निश्चिन्त हो निर्विकल्प हो, भयसे मुक्त हो—ऐसा काम को किसी जप, तीर्थ, क्रिया या तपसे मुक्ति नहीं मिलती । ये सारे साधन चित्तको शान्त करनेवाले हैं । शान्तचित्तमें स्वरूपका विचार करो । इस विचार ही मुक्ति मिलती है । इस विचारसे ही जान पड़ेगा मैं सदा मुक्त हूँ । सात्विक आहार, सत्सङ्ग, विक्षेपरहित स्थान, जप, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया, सदाचार आदिका सेवन करो । ये सारे मुक्तिके लिये उपयोग्य साधन हैं । ये सारे साधन फलकी इच्छाको छोड़कर सेवन किये जायँ तो आत्मविचार प्रकट होता है और आत्मविचारका फल मुक्ति है । सत्सङ्गमें आत्मविचार अच्छी तरह उदय होता है, इसलिये सत्सङ्गका निरन्तर सेवन करो ।

(६१) जिस घरमें घरके लोग घरके मुखिया पुरुष के अनुसार चलते हैं, वह घर सदा सुखी रहता है । जहाँ पुत्र पिताका कहा न माने, स्त्री स्वामीका कहा न माने, बहू सासका कहा न माने, छोटे बड़ोंका कहा न मानें; जिस घरमें क्लेश, कलह, अव्यवस्था और दुःख दीखता हो, उस घरमें लक्ष्मी और परमात्माका वास न होता । उस घरके आदमी सुख, शान्ति और आनन्द अनुभव नहीं करते ।

(६२) जिस मनुष्यका मन और इन्द्रियाँ वशमें रहें वह सदा सुखी है और जिस मनसे हम अलग

संख्या ५]

वह मन हमारे कहे बिना ही जैसा उसे रुचता है वैसा ही बर्ताव करता है और कुलटा स्त्रीका स्वामी जिस प्रकार लचारीसे सब कुछ देखता है और दुखी होता है उसी प्रकार अवश मनकी क्रियाको हम देखते हैं और दुखी होते हैं। जितना हम कहें उतना ही मन करे तो समझना चाहिये कि मन वशमें है। व्यवहारमें हो या परमार्थमें—दोनोंमें वशमें रहनेवाले मनसे काम लेनेपर जल्दी ही सफलता मिलती है। उदाहरणके लिये, मनसे कहो कि अब दो घंटे जप कर और कुछ भी न कर, न सोच। इस प्रकार दूसरा विचार लाये बिना यदि मन जप कर ले तो इसका नाम है 'वशमें किये हुए मनका जप।' यह सबसे अच्छा जप है। धीरे-धीरे हमें अपने कहे अनुसार मनसे काम करानेकी आदत डालनी चाहिये। जिस प्रकार फैली हुई ज्वालाकी ज्योति मन्द दीखती है, परंतु जब उसे रोककर सीधी कर देते हैं, तब वह विशेष तेज और ताप देती है, उसी प्रकार जैसे-जैसे विचार करते हुए मनको रोककर और उसकी शक्तिको केन्द्रित करके अपने कहे अनुसार विचारने और काम करनेकी आदत डाली जाय तो इससे वह और हम दोनों सुखी होते हैं। मनकी निर्विचार अवस्थामें अद्भुत शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है। इसलिये मनको निर्विचार करनेका अभ्यास करो।

(६३) भाई ! अपने छोटे लड़कोंके खान-पान, वस्त्र, पढ़ने-लिखने और उनके चरित्रके ऊपर ध्यान रखना तुम्हारा धर्म है। उनको सदा आनन्दमें रखो। बूढ़े माता-पिता और कुटुम्बके लोगोंको खान-पान और आदर-सत्कार तथा सेवासे संतुष्ट करो। जिसके घरमें बालक, वृद्ध और स्त्री कलपते हों, उसके यहाँ सुख, सम्पत्ति और बस्तीका नाश होता है। स्त्रीको अच्छे कपड़े, शृंगार, दान, व्रत, तीर्थयात्रा और देवपूजामें विशेष रुचि होती है, इसलिये अपनी शक्तिके अनुसार उनको ये वस्तुएँ प्रदान करो।

(६४) पड़ोसीके साथ, कुटुम्बीके साथ, दुर्जनके साथ, अफसरके साथ और गाँवके मुखियाके साथ कभी वैर न करो। यदि ऐसा प्रसङ्ग आवे तो सहन करो। पर जहाँतक हो सके झगड़ा न खड़ा करो।

(६५) जिसके पशु दुबले हैं, जिसके बालक मैले, दरिद्र और रोते हैं, जिसका आँगन साफ नहीं, जिसके घरमें बर्तन और वस्तुएँ व्यवस्थित और स्वच्छ नहीं, जिसके घरमें स्त्री लंबी साँस छोड़ती है और जिसके घरमें बूढ़े और बालक भयभीत रहते हैं, वह घर दुखी होता है और वहाँ लक्ष्मी, धर्म और सुख नहीं रहते।

(६६) मनुष्यके जीवन-निर्माणमें पुस्तकोंका सङ्ग बहुत अच्छा काम करता है, इसलिये अच्छी पुस्तकोंको पढ़ो और अच्छी सङ्गत रखो। वृद्ध, विद्वान्, चरित्रवान्, धर्मिष्ठ, परोपकारी, स्वधर्म और स्वकर्मका त्याग न करनेवाले पुरुषोंका सदा सङ्ग करो।

(६७) अभिमान और द्वेष नाशके दूत हैं। जिस वस्तुका तुम्हें अभिमान है, वह वस्तु तुमसे बिछुड़नेवाली है, ऐसा जान लो। इसलिये कभी अभिमान न करो। दूसरेके प्रति द्वेष तुम्हारे मनमें उसकी बुराई करनेकी प्रेरणा करता है और बुराई करनेकी हमारी वृत्ति, दूसरोंकी बुराई करनेसे पहले ही हमारी बुराई तो सहज ही कर देती है।

(६८) अपना दिया हुआ किसीसे न कहो, किया हुआ प्रकट न करो और वृथा गर्व न करो। पापीका तिरस्कार न करो, बल्कि उसपर दया करो। तुम जो पापी नहीं हो, इसमें परमात्माकी दयाके सिवा दूसरा कोई भी कारण नहीं है।

(६९) बेकार न बैठो। दूसरोंके घर बिना कामके न जाओ, वहाँ बेकाम बैठो मत। गप्प न हाँको। समय और वाणीका सदुपयोग करो। रातमें ईश्वरका स्मरण करते हुए सोओ। सबेरे ईश्वरका स्मरण करते हुए उठो। दिनमें बारंबार प्रभुको याद करो।

(७०) साधारणतः मनुष्यको अपने गुण सुनना अच्छा लगता है। दोष सुनना अच्छा नहीं लगता; क्योंकि दोषको उसने दोष जानकर संग्रह नहीं किया, बल्कि गुण जानकर संग्रह किया है। यदि दोष समझा होता तो रक्ता ही नहीं। प्रत्येक मनुष्यमें गुण और दोष दोनों होते हैं। इसलिये यदि किसीको कहना हो तो उसमें जो सच्चे गुण हों, उनकी प्रशंसा उसके सामने करो, यह अच्छी-पे-अच्छी वशीकरण विद्या है, और इसके द्वारा अपने प्रियके दोषोंको सुधारो। उसको कमी उलाहना देना ही हो तो दूसरोंके सामने न कहकर उसे एकान्तमें बुलाकर धीरेसे समझाते हुए दोषको दिखलाओ और उसके दूर करनेका रास्ता बताओ। क्या पशु और क्या मनुष्य, सबको दूसरोंके सामने अपने गुण सुननेमें ही अच्छे लगते हैं और दूसरोंके सामने दोष सुननेपर गुस्सा आता है। दूसरेमें दोष है, इसलिये तुम अकुलाओ नहीं। क्या तुममें दोष नहीं है? तुम्हें अपने दोष सूझते नहीं।

(७१) क्या तुम्हें गम खाना आता है? कठोर वचन सहना आता है? सहन तो शठ भी करते हैं, गम तो वैरी भी खाते हैं; परंतु उन दोनोंके पेटमें बर लेने और बुराई करनेके लिये मौका ढूँढ़नेकी वृत्ति रहती है। जान-बूझकर वे अपने गुस्सेको ऊपरसे मारते हैं, भीतर तो गुस्सा रहता ही है। ऐसे मनुष्य बहुत भयानक होते हैं। परंतु जो दूसरेके कठोर वचन और दुष्कृत्यको हजम कर जाता है। कभी याद ही नहीं करता, उल्टे उसका हित करना चाहता है, ऐसा पुरुष धन्य है। वैर साधनेकी बुद्धि रखकर सहन करने-वालेकी अपेक्षा तुरंत सामने प्रतीकार करनेवाला अच्छा है।

(७२) मौत आ जायगी। इन सब चीजोंको छोड़कर जानेकी तैयारी होगी। उस समय तुम्हें क्या याद आयेगा? किये हुए पाप आँखोंके सामने नाचने लगेंगे।

सगे-सम्बन्धियोंको दुःख पहुँचाया है, यह याद आयेगी। तुम्हें ऐसा लगेगा कि, 'थोड़ेसे जीवनके लिये मैंने पाप क्यों किये? दूसरे लोगोंको, साधुजनोंको, ही क्यों दुःख पहुँचाया?' पर उस समय पछताया क्या होगा? आजहीसे चेत्तो, समझो समझकर प्रतिज्ञा करो कि किसीको दुःख न दूँगा कोई पाप न करूँगा। मरनेके बाद भगवान् तुम्हारे का हिसाब लेगा। तुमने क्या किया? कौन-सा किया, क्या पाप किये? खाना-पीना और कुटुम्भ भरण-पोषण—इसमें नहीं गिना जायगा। ईश्वरकी और परोपकार ये दोनों जीवनमें नहीं किये होंगे, तुमको वहाँ दुःख मिलेगा। इसलिये भाई! जीवन कृतार्थ करो और परलोकका पाथेय तैयार कर लो।

(७३) परमार्थके मार्गकी जिसको इच्छा हो, उस दिनमें आठ घंटेसे अधिक आजीविकाके काममें लगाना चाहिये और कम-से-कम चार घंटे जप, और सत्सङ्गमें लगाना चाहिये। जैसे-जैसे अनुकूलता देता जाय, वैसे-वैसे आजीविकाके काम कम करके परमार्थके मार्गमें समयको बढ़ाते रहो। प्रपञ्चमें न पड़ो, नित्य आत्महितका चिन्तन करो।

(७४) इतना न दो कि जिसके लिये सिरपर सवार हो जाय। निर्लज्ज, विश्वासघाती, चोर, मा-त्रापको दुःख देनेवाले, व्यभिचारी, पापी अधर्मीकी तो बात ही मत करो। प्रसङ्गकी नौकरी जाय तो किसी युक्तिसे टालकर अलग हो जाओ। ब्यसनी, आलसी, नीच कुठके, लवारा और बोलनेवाले—इन सबका सङ्ग छोड़ो।

(७५) प्रत्येक भोग और प्रत्येक सुख तुम्हें पुण्यका नाश करता है। प्रत्येक दुःख तुम्हारे पापों का नाश करता है। इसलिये भोग-सुखको भोगो, छुटकारा नहीं है, इस भावसे भोगो और दुःखोंसे बचो। सुखमें फूलो मत, अभिमान

संख्या ५]

न करो; क्योंकि वे भोगसुख तुम्हारे पुण्यकी पूँजीको प्रत्येक क्षण खाये जा रहे हैं। दुःखको आनन्दसे इसलिये भोगो कि वे दुःख तुम्हारे पापका नाश करके तुम्हारे भारको हल्का कर रहे हैं।

(७६) लड़कोंको चाहिये कि माता-पिताके पैर छुएँ। स्त्री पतिके पाँव लगे। बहू सासके पग लगे, छोटा भाई बड़े भाईका पग लगे। सब बड़ोंको और गुरुको प्रणाम करें। पग लगते हुए लाज न करे। या तो लंबे पड़कर दण्डवत्-प्रणाम करे, नहीं तो नीचे बैठकर सिरको जमीनपर अड़ाकर प्रणाम करे। ऐसा करनेसे तुम्हें बहुत लाभ होगा। तुम्हारा पुण्य, लक्ष्मी, आयु, बल, तेज, ज्ञान, विनय और सम्पत्ति बढ़ेगी। यह सच्ची बात है, इसमें तुम श्रद्धा करो। तुम्हें पग लगानेमें लज्जा आवे तो इस बुरी लज्जाको आँखें मूँदकर निकाल डालो। ऐसे पुण्यका काम करनेमें लज्जा किस बातकी? तुम्हें झूठ बोलनेमें, चोरी करनेमें, दुराचारका सेवन करनेमें और पाप करनेमें तो शरम नहीं आती? अच्छे काम करनेमें यदि शरम आड़े आती है तो उसे दूर करो। एक बार पग लगाना शुरू कर दो। पग लगते ही तुम जिसके पग लगोगे, वह तुमको हृदयसे आशीर्वाद देगा और वह आशीर्वाद तुम्हारा कल्याण करेगा। देवताके शापको दूर करनेमें गुरु या मां-बाप जैसे बड़े समर्थ होते हैं, परंतु मा-बाप या गुरुके शापको देवता भी दूर नहीं कर सकते। इसलिये पूज्य जनोंको संतुष्ट रखो। उनका दिल कभी न दुखाओ। उनकी सेवा करो, उनको सदा प्रसन्न रखो; उनके प्रसन्नताभरे हृदयसे ऐसा आशीर्वाद निकलेगा कि जिसके प्रतापसे तुम सब प्रकारसे सुखी हो जाओगे।

(७७) ब्रह्मचर्यसे बल, बुद्धि, तेज, उत्साह और पुण्यकी वृद्धि होती है। तुम्हारा विवाह नहीं हुआ है तो तुम बराबर मन, वचन और शरीरसे ब्रह्मचर्यका पालन करो। तुम विवाहित हो तो जितना हो सके ब्रह्मचर्यका

सेवन करो। जितना अधिक सेवन करोगे उतना ही लाभ होगा। ब्रह्मचर्यके फलको यही इसी जीवनमें अनुभव कर सकोगे। विवाहितके लिये ब्रह्मचर्य-पालन करनेका सीधा रास्ता यह है कि सप्ताहके सात दिनोंमें प्रतिवर्ष एक-एक दिन छोड़ता जाय। इस प्रकार मनुष्य अपनी जिंदगीमें एक वर्षमें एक-एक दिन प्रति सप्ताह छोड़नेका दृढ़ अभ्यास करे तो भी सात वर्षमें पूर्ण ब्रह्मचर्य पालनेका अभ्यास हो जाता है। स्त्री और पुरुषका सहवास सुख और आनन्द प्रदान करनेवाला है। और सुख तथा आनन्दका नाश करनेवाली है—विषय-वासना। स्त्री-पुरुषकी विषयवासनाका नाश हो जाय तो इसी जीवनमें उनका जीवन कितना ऊँचा और आनन्दमय हो जायगा। यह बात अनुभवसे ही समझमें आ सकती है। इसलिये धैर्यपूर्वक स्त्रीको पुरुषका और पुरुषको स्त्रीका सहयोग प्राप्त करके ब्रह्मचर्यकी शिक्षाका अभ्यास करना चाहिये।

(७८) बालक बड़ोंसे अनेकों वस्तुएँ माँगता है। अनेक प्रकारसे खर्च करनेके लिये कहता है। स्त्री अपने पतिसे अनेकों इच्छाओंकी पूर्ति करनेकी माँग करती है। घरके प्रमुख पुरुषोंके सामने घरके सभी लोग अपनी-अपनी इच्छाएँ रखते हैं और उनको पूरी करनेके लिये आग्रह करते हैं। वे सब लोग उस घरके मालिकके पास उनकी माँगोंको पूरी करानेके लिये पर्याप्त साधन या शक्ति है या नहीं और है तो कितनी है, इस बातको ठीक-ठीक नहीं जानते। वह मालिक प्रेमके कारण किसीका तिरस्कार करता नहीं। परंतु भाई! अपने मनमें वह जरूर व्याकुल होता है और चिन्तातुर रहता है। इसलिये तुम अपने बड़ोंको या पूज्यजनोंको कभी भी, खास जरूरत न हो, ऐसी चीजकी माँग करके दुखी न करो, उनको चिन्तित न करो। अपने मौज-शौक और मोहको पूरा करनेकी इच्छा न करो। तुम्हारे बड़े या पूज्यजनोंके हृदयमें चिन्ता या दुःख उत्पन्न हो, ऐसा कुछ भी काम तुम करोगे या

उनसे कहोगे तो इससे तुम्हारा कभी भला न होगा । किसीको भी दुःख देकर जब सुखी नहीं हुआ जा सकता, तब अपने बड़ों और पूज्यजनोंको दुःख देकर तो सुखकी आशा कैसे की जा सकती है ?

(७९) भाई ! कुछ-न-कुछ पुण्य-परोपकार प्रतिदिन करते रहो । प्राणिमात्रके घटमें भगवान् है, उसकी सेवा प्रतिदिन किसी-न-किसी रूपमें करते रहो । ईश्वरने यदि तुम्हें धन आदि साधन दिया हो तो उस साधनसे तुम प्राणियों की सेवा करो । साधन न हो तो जलसे या शरीरसे सेवा करो । मीठी, सत्य और हितकारक वाणीसे सेवा करो । तुमसे कुछ न बन पड़े तो प्रतिदिन मनमें इतना कहो कि 'हे प्रभु ! सबका भला करो ।' परोपकारके लिये—प्राणीकी सेवाके लिये साधनकी कमी नहीं, बल्कि मनके लक्ष्यकी कमी है । घरके बालकको स्नान कराना, कपड़े पहनाना, पढ़ाना-लिखाना, हितकी बातें कहना,

पशु-पक्षीको प्रेमसे दाना-पानी डालना, जिससे सुख आ पड़े, उससे इस प्रकार बातचीत और वर्तन कि उसे सुख मिले—यही प्राणि-सेवा है । प्रतिदिनके कामको भी भगवत्-सेवा समझकर सत्यता से करना चाहिये ।

(८०) भाई ! कितना समय तुमने शरीर, और मनका प्यार-दुलार करनेमें खो दिया । इस भी कितने ही वर्ष इन्हींके प्यार-दुलारमें व्यर्थ बीत अब भी चेतोगे ? मनका प्यार-दुलार करनेमें तुमने उसने, दोनोंने ही अनेकों प्रकारके दुःख झेले हैं । माताके गर्भसे निकलकर दूसरे गर्भमें पड़े हो । तुम और वह विचारकर ऐसा उपाय करो कि जन्म-मरणका और संसारका दुःख न देखना इसका एक ही उपाय है—भोगमात्रका त्याग और स्वरूपका विचार । (शेष आगे)

सावधान ! अज्ञानसे परिचित रहना

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

जिसे ज्ञान नहीं है, वह व्यक्ति एक ऐसे अन्धकारमें निवास करता है, जिसमें उसे कूपमण्डूककी भाँति जीवनके क्षुद्र स्वार्थ ही दीखते हैं । महर्षि वाल्मीकि ज्ञान-प्राप्तिसे पूर्व एक हिंसक चोरका जीवन-यापन किया करते थे । आने-जानेवाले पथिकोंको लूटना, हत्या करना और अपने छोटे-से परिवारकी जीविकाका प्रबन्ध करना उनका काम था । एक दिन नारद मुनि उधरसे निकले और वाल्मीकिके हाथों पकड़े गये । नारदजीने वाल्मीकिको स्वार्थ-परमार्थकी सच्ची व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की । हिंसक चोरके आन्तरिक नेत्र यकायक खुल गये । उसके अपने समस्त पूर्वकृत्य अन्तर्मनमें पापमय दुर्भावपूर्ण प्रतीत हुए । मनमें आत्म-ग्लानिका उदय हुआ । उन्होंने देखा कि उनका अधिसे अधिक

जीवन निम्नस्तरका जीवन व्यतीत करनेमें निकल था, जिसमें अज्ञान-जन्य विकारोंके अतिरिक्त कुछ न था ।

जो आन्तरिक अवस्था वाल्मीकिकी हुई, वह ज्ञानका प्रथम सोपान है । जिनके मनमें अन्तर्जाग्रत् है, वे ही आत्म-ग्लानिका अनुभव करते हैं । अज्ञानीकी अन्तरात्मा सुप्तावस्थामें रहती है । साधारणतः पशु-जीवनके स्तरपर रहता है । तथा मैथुनके अतिरिक्त उसे अन्य उच्च मनोवृत्तियाँ ज्ञान नहीं होता । उसका दृष्टिकोण परिमित रहता है । उसे यह भान नहीं होता कि इन पार्थिव प्रसक्त अतिरिक्त भी कोई उच्चतर जीवन है । जो साधक अज्ञानसे परिचित हो गया है,

संख्या ५]

आध्यात्मिक उन्नतिका प्रथम सोपान तय करना शुरू कर दिया है। वह मोहमायामय क्षुद्र जीवनसे जाग्रत हो गया है। उसका स्वप्न टूट गया है तथा शुद्ध ज्ञानमय ज्योतिका प्रकाश प्रारम्भ हो गया है। यह जागृति आध्यात्मिक उन्नतिकी प्रथम रश्मि है। यह अवस्था कुछ व्यक्तियोंमें सत्सङ्ग, चिन्तन, मनन या किसी आकस्मिक ठेससे अन्योकी अपेक्षा शीघ्र आ जाती है। कुछ अन्ततक अपरिपक्व, चञ्चल, अस्थिर, क्षुद्र और छोटी बातोंमें लगे रहते हैं।

अवस्थाके साथ-साथ मनुष्योंको सांसारिक विषयोंसे (जैसे कामवासना-मूलक आनन्द, लंबी आयुमें पुनर्विवाह, बख्शोंका चटकीलापन, जिह्वाके नाना स्वाद, सिनेमा, चटपटे मसालेदार चाट, पकौड़ी, विलासमय जीवन) विरक्त होकर उच्च विषयक तत्त्वोंकी ओर आकृष्ट होना चाहिये। इनमें भजन-पूजन, आराधन, सत्सङ्ग, कीर्तन, सद्ग्रन्थावलोकन, आत्मा, जीवन उद्देश्यके प्रति चिन्तन, मोहका धीरे-धीरे तोड़ना इत्यादि सम्मिलित हैं। बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिये कि क्रमशः छोटी बातोंके प्रति वैराग्य धारण कर ज्ञानसे परिपूर्ण जीवनमें रुचि उत्पन्न करे। स्वार्थ एवं संकुचितताके स्थानपर निःस्वार्थभावसे जनसमुदायकी सेवाके निमित्त उदारता, आत्मभावका प्रसार, समाज-सेवा, दुखी, त्रस्त, उद्विग्नके प्रति मनःशान्तिका विकास करता चले। सांसारिक सुख देनेवाले किंतु अंदरसे

खोखले विषयोंका परित्याग कर भगवत्पूजन तथा ब्रह्म-चिन्तनमें अधिक समय व्यतीत करे।

अज्ञानके अन्धकारसे ज्ञानके शुभ्र प्रकाशमें आनेके क्या लक्षण हैं? इन्द्रियोंका विषयोंसे क्रमशः उपरत होना ब्रह्मज्ञानकी ओर प्रगतिका प्रथम लक्षण है। भगवान्का निर्देश है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
(गीता २।६४-६५)

‘स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष राग-द्वेषरहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरता हुआ प्रसादको—प्रसन्नताको प्राप्त होता है। इस दैवी आनन्दसे समस्त सांसारिक दुःखोंका नाश हो जाता है।’

सांसारिक भोगसे क्रमशः वैराग्य प्राप्त कर बाह्य सुख-दुःखोंकी उपेक्षा कर अपने प्रकाशमय अन्तःकरणमें ही ब्रह्मचिन्तन करनेसे शान्ति प्राप्त होती है। ऐसे ही ब्रह्मनिष्ठ साधक ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं। हृदयसे अज्ञानरूपी ग्रन्थिका कट जाना ही मोक्ष है—

अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ।
(शिवगीता १३।३२)

इस पृथ्वीतलपर वे पुरुष धन्य हैं, जो ज्ञानवान् हैं। उन्हींके द्वारा महान् कार्य सम्पन्न होते हैं।

रे रे मानसभृङ्ग मा कुरु मुधा झङ्कारकोलाहलं निःशब्दं हरिपादफुल्लकमले माध्वीकमाखादय ।
तस्मिन् सर्वतृषापहारिणि चिदानन्दे मरन्दे सकृन्निष्पीते क नु ते प्रयास्यति लयं साहङ्गुतिर्ज्ञङ्कृतिः ॥
अरे मन-मधुप ! तू व्यर्थ झंकार-कोलाहल न कर, मौन होकर श्रीहरिके पदरूपी प्रफुल्लकमलके मकरन्दका आखादन कर । सारी तृषा बुझानेवाले उस चिदानन्द मकरन्दका एक बार भी पान कर लेनेपर तेरी यह झङ्कारयुक्त झङ्कार न जाने कहाँ विलीन हो जायगी ।

सुखी संसारका सुखी मानव

(लेखक—पं० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्. ० ५०)

कहते हैं कि ब्रह्माने सृष्टिके समस्त ठोस पदार्थ पुरुषके निर्माणमें समाप्त कर दिये। पुरुष उनके पास पहुँचा और बोला कि अकेले मेरा मन नहीं लगता है। ब्रह्माने कमलसे होमलता, सूर्यसे दाहकता, कोकिलसे स्वर, सारससे दाम्पत्य-प्रेम आदि लेकर नारीका निर्माण किया और उसे पुरुषको सौंप दिया; नारीको पाकर पुरुष अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

थोड़े दिनों बाद पुरुष ब्रह्माके पास फिर पहुँचा और बोला—‘भगवन् ! आप नारीको वापस ले लीजिये, इसके कारण मुझे बहुत असुविधाएँ हैं, कभी यह रोती है, कभी चिल्लाती है, कभी लड़ती है...’ अच्छी बात है, कहकर ब्रह्माने उसे वापस लौटा लिया।

कुछ दिनों पीछे पुरुष फिर ब्रह्माजीसे आकर नारी-भिक्षा माँगने लगा, यह कहकर—‘मेरा अकेले मन नहीं लगता है’, ‘यह लो’ कहते हुए ब्रह्माजीने नारी पुरुषको वापस दे दी। थोड़े दिनों बाद फिर पुरुष आया और लगा वही पुरानी गाथा गाने। इस बार ब्रह्माजीको क्रोध आ गया, उन्होंने उत्तर दे दिया, ‘कभी तुम कहते हो कि नारी मुझे दे दो, कभी कहते हो कि वापस ले लो, मैं अब तुम्हारी एक भी न सुनूँगा, जाओ और जैसे बने वैसे नारीको साथ लेकर रहो।’

कथानक आगेतक चलता है, इसका सारांश यह है कि जिन व्यक्तियोंको हम चाहते हैं, उनके साथ रहनेमें हमें असुविधाएँ होती हैं और उनके बिना संसार हमें सूना भी दिखायी देता है। प्रियजनोंकी उपस्थिति और अनुपस्थिति दोनों ही दशाओंमें हमसे रहते नहीं बनता है, महात्मा बुद्धने सम्भवतः इसी कारण यह कहा था कि ‘विश्वमें दुःख बहुत है’ (Misery is greater than happiness.) वास्तवमें आनन्दकी स्थिति क्षितिजके समान है, हम उसे केवल दूरसे देख सकते हैं, परंतु प्राप्त नहीं कर पाते, ज्यों-ज्यों हम उसकी ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों वह हमसे दूर हटता जाता है।

पुरुषने सोचा था कि स्त्रीके साथ वह प्रसन्न रह सकेगा, परंतु वह न रह सका; क्योंकि वह उसके साथ रहना न जानता था, परिणाम यह हुआ कि उसकी आशा पूरी न

हो सकी। हम सब लोगोंका ठीक यही हाल है, अपने साथियोंके साथ हमसे रहना आता नहीं, हम हर घड़ी बड़ी बड़ी आशाएँ, बड़े-बड़े मनसूखे बाँधते रहते हैं, उन्हें पूर्ति होती नहीं, फलतः हम दुखी होते हैं। इस प्रकार विश्व निराश और दुखी व्यक्तियोंसे भरा पड़ा है। निराश और दुखी व्यक्तियोंके संसारमें सुखी जीवन और जीवने प्रति आस्था आदि बातें कहाँ देखनेको मिल सकती हैं।

किसीको सम्पत्तिका दुःख है, किसीको शरीरका, किसीका पुत्र मर गया है, तो किसीका पति, किसीकी आत्मा वीथियाँ छितरा चुकी हैं, तो किसीके श्रद्धेयने पतित होकर आदर्शोंकी हत्या कर दी है, आदि। इस प्रकार निराश और दुखी व्यक्तियोंने समस्त विश्वको ऐसा बना रखा है, जो किसी सुखकी इच्छा करना ही सम्भवतः अस्वाभाविक लगता हो। प्राचीन द्रष्टाओंको भी इस तथ्यका पता था, उन्होंने यह निश्चित मत स्थापित कर लिया था कि जो विश्वको सुखी बनाना है, तो व्यक्तिको सुखी बनाना होगा और यदि व्यक्तिको सुखी बनाना है, तो उसे अपने पारस्परिक सम्बन्धों और व्यवहारोंको सुखी बनाना होगा। इसी विचारधारामें बहते-बहते वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि त्यागकी भावना ही सुखकी जननी है, उन्होंने मानवके पूर्ण दर्शनका प्रयत्न किया, वे परमात्माकी ओर बढ़ गये। वेदान्त अथवा अद्वैतवादके नामपर उन्होंने मानवको ब्रह्मरूपमें देखा और मानवको पूर्ण परब्रह्म बनानेकी बातें सोचने लगे।

× × × ×

पूर्णत्वकी खोज और पूर्णत्वकी प्राप्तिके प्रयास निरन्तर चलते रहे, मानव पूर्ण विश्वका अध्ययन करने चला, विज्ञानका जन्म हुआ, उसने सर्वत्र व्याप्त तथ्य (Reality) को जाननेका प्रयास किया। धर्मका जन्म हुआ, अन्तमें वह मनुष्यके स्वभावकी ओर अग्रसर हुआ। ‘दर्शन’का जन्म हुआ। अतः समझ लेना चाहिये कि वास्तविकताकी खोज धर्म है, Religion is enquiry of Reality मनुष्य स्वभावके खोज ‘दर्शन’ है Philosophy is enquiry of nature of man तथा विश्वकी खोज विज्ञान है।

संख्या ५]

Science is the enquiry of the Universe.
यदि तीनोंका सुखद संयोग हो, तो जीवनका सम्यक् दर्शन
सम्भव हो।

X X X

धर्म, विज्ञान और दर्शनके विवेचनार्थ शिक्षा-पद्धतिकी
उत्पत्ति हुई और शिक्षाका उद्देश्य हुआ शारीरिक, मानसिक
एवं आध्यात्मिक विकासका माध्यम उपलब्ध करना। शिक्षाके
माध्यमद्वारा मानवने उपर्युक्त तीनों दिशाओंमें ज्ञानार्जन
प्रारम्भ किया। धर्म और विज्ञानके प्रवाहमें वह अपने-आपको
भूल गया; धार्मिक क्षेत्रमें उसे भ्रमने आ बैठा, मायाकी
मायाने उसे मायामय बना दिया और विज्ञानने उसे बालकी
बाल खींचनेमें लगा दिया। धर्म और विज्ञानकी भँवरोंमें
रह जानेसे मानव भूल गया कि वह कौन है और क्या
करनेके लिये वह निकला था। फलतः मानव और मानव-
समाजके स्वरूप ही विकृत हो गये हैं।

धर्मकी चर्चाओंने सम्प्रदायोंको जन्म दिया; मत-
मतान्तरोंके नामपर विभिन्न मठों और गढ़ियोंकी स्थापना
हो गयी। धर्म अब केवल दिखाकर खा लेने और डुवाकर
पी लेनेमें ही शेष रह गया है। धर्मका एक पक्ष यह भी है
कि अपने पापोंको छिपानेके लिये उसका उपयोग कर
लिया जाय। प्रातःकाल किया हुआ पूजन मानो हमें
दिनभर पाप करनेकी शक्ति प्रदान करता है, और
शयनकालकी पूजा मानो हमारे समस्त कलुषोंको धो डालती
है। चोरबाजारमें एक लाख रुपया पैदा करके ठाकुरद्वारेके
निर्माणार्थ दो हजार रुपया दान करके हम शत-प्रतिशत
धार्मिक बन जानेका सफल स्वाँग कर लेते हैं। समाज भी
हमें धर्मभोजन करके सम्बोधित करने लगाता है। सत्यका
अन्वेषक धर्म व्यभिचारका अस्त्र बनाया जा रहा है। ब्रह्मके
सेरमें मानव स्वयं अपने आपको विस्मृत कर बैठा। इस
प्रकार 'धर्म-संहार'को ही 'धर्म' मान लिया गया।

विज्ञानकी उससे भी बुरी दशा है। धर्मद्वारा किया
गानेवाला अहित निषेधात्मक ही है, विज्ञानद्वारा होनेवाला
अहित विन्यात्मक है। कार्यक्षमताके विचारसे मनुष्यने
पशुनि उत्पन्न की; वह मशीनोंका दास बन गया। विश्वकी
बाजमें उसने विश्वका कोना-कोना छाना और कण-कण
बाजो, अणु वम उसके हाथ लगा। वह निकला था
अपने परिवारको खोजनेके लिये, अपने विश्वको बढ़ानेके
लिये, परन्तु करने लगा उसका संहार। आजका उन्नत

विज्ञान हमें विनाशकी ओर ले जा रहा है। वह हमें अपने
पड़ोसियोंको मारना सिखाता है। वह हमें बताता है कि
हम किस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र विश्वको मिटा सकते हैं।
प्रश्न होता है कि अन्ततोगत्वा यह विपर्यय कैसे हो गया
उत्तर स्पष्ट है।

वैज्ञानिक प्रगतिकी धुनमें मानवके मस्तिष्कका तं
भरपूर विकास हुआ; परन्तु उसका हृदय पीछे पड़
गया। वह अपनी आत्माकी उपेक्षा कर बैठा और
उसकी विचारधारा और भावधाराके बीच भारी अन्त
उत्पन्न हो गया। यह अन्तर केवल बृहत् ही नहीं है,
अपितु विषम भी है। मानव आगे बढ़नेको सोचता है,
किन्तु अकेले आजका विज्ञान-विशारद नये-नये आविष्कार
तो करता है, परन्तु यह नहीं सोचता कि उनका प्रभाव
क्या होगा। वह उन्नति करता है, परन्तु यह नहीं
सोचता कि वह उन्नति किस कीमतपर हो रही है।
विज्ञानकी अतिशय उन्नतिने मानवको चाहे जो बना
दिया हो परन्तु उसे मानव तो नहीं रहने दिया है।

मशीनोंका अत्यधिक विकास हुआ; मशीनोंके कार्य
घंटोंमें और घंटोंके कार्य क्षणोंमें करने सम्भव हो गये।
जिस कामको पाँच सौ व्यक्ति करते थे, उसे केवल पाँच
व्यक्ति ही पूर्ण करनेमें सफल हो गये। इसका परिणाम
यह निकला कि मनुष्यके पास अवकाश, खाली समय,
अधिक हो गया। उसे नहीं मालूम कि इस खाली
समयमें वह क्या करे, विज्ञानने मनुष्यके सामने सम्यक्
उपयोग करनेकी एक नयी समस्या उपन्न कर दी। ज्यों
ज्यों मशीनें बढ़ती गयीं, त्यों-त्यों नित्य नयी समस्याएँ
बढ़ती गयीं।

मशीनें इतना अधिक शोर करती हैं कि हमें किसीका
भी आवाज सुनायी नहीं देती है। हम मशीनोंका चलना
देखते हैं। उनकी खट-खट सुनते हैं; परन्तु बगलमें बैठे
हुए भाईकी आवाज नहीं सुन सकते। विज्ञानके वितंडेरे
फँस जानेसे मनुष्यका यह हाल हो गया है कि न वह
अपनी बात कह सकता है और न वह किसी औरकी
बात सुन ही सकता है।

विज्ञानके कारण उत्पन्न होनेवाली इन समस्याओं
का कारण एक मौलिक भूल है, उसने प्रकृतिको जड़ समझकर
औसतके सिद्धान्त (Rule of average) द्वारा प्राकृतिक

नियमोंपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा की। उसने किसी नदीकी गहराई दस जगह नापी और इस नतीजेपर पहुँचा कि नदीकी औसत गहराई ४ फुट है। औसत गहराई चार फुट है—इस धोखेमें वह नदीको पैदल पार करनेके लिये चल पड़ा, उसे ध्यान ही न रहा कि जिस स्थानपर गहराई औसतसे अधिक होगी, वहाँ उसका क्या हाल होगा।

मनुष्यका भी इसी प्रकार विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया। तुरंत विदित हो गया कि मानवके शरीरका निर्माण अमुक-अमुक पदार्थोंद्वारा हुआ है तथा अमुक-अमुक मात्राओंमें वे पदार्थ उपलब्ध हैं। उसके शरीरमें इतना फॉस्फोरस है, इतना लोहा है, इतना पानी है आदि। अपनी धुनमें वैज्ञानिक यह भूल गया कि हम अपने भाई, अपनी पत्नी आदिको उनके शरीरमें विद्यमान लोहे, ताँवे, फॉस्फोरस आदिके कारण प्रेम नहीं करते, हमारे पारस्परिक प्रेम एवं आकर्षणका कुछ और ही कारण है और वह है हमारा मनुष्यत्व।

शरीर, मन तथा आत्माके विकासके लिये शिक्षा-मदतिका निर्माण हुआ था और कुछ दिनोंतक वह ठीक रास्तेपर चली भी। समयके प्रभावसे वह जीवनसे विमुख हो गयी है। आप किसी भी विद्यार्थीसे पूछकर देखिये, 'क्यों भाई! क्या करनेका विचार है,' वह तुरंत उत्तर देगा, 'नहीं मालूम'।

वर्तमान शिक्षा हमें केवल यह बताती है कि क्या नहीं करना चाहिये। यह बतानेमें कि जीवनके साथ क्या किया जाय, वह सर्वथा असमर्थ है।

आजकल शिक्षासंस्थाओंके प्रत्येक वर्ष अथवा विद्यार्थी जीवनके मुख्यतः पाँच भाग होते हैं। यथा—

१. राजनीतिका समय—इसमें विभिन्न संस्थाओं और कमितियोंके चुनाव होते हैं। यह समय जुलाईसे लेकर सितम्बरके महीनेतक रहता है।

२. सामाजिकताका समय—यह समय अक्टूबरसे प्रारम्भ होता है तथा दिसम्बरमासके अन्ततक चलता है। इसमें तरह-तरहके खेल-कूद, गाने-बजाने, वाद-विवाद, प्रतियोगिताएँ, झूमे, पार्टियाँ, भोज, फोद्योग्रुप आदि इधर-उधरकी कार्यवाहियाँ करते हैं। नियमानुसार इन्हें Extra curricular activities कहना चाहिये।

३. भयका समय—यह नववर्ष अथवा जनवरीमाससे

प्रारम्भ होकर मार्चमासके मध्यतक चलता है। इन दिनों विद्यार्थीके ऊपर परीक्षाका भय सवार रहता है। वह दिन रात, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, हर क्षण परीक्षाके स्वप्न देखता रहता और फेल हो जानेके भयसे त्रस्त बना रहता है।

४. धर्म करनेका समय—यह काल परीक्षाओंके प्रारम्भ होता है। इन दिनों पास होनेके लिये विद्यार्थी अनेक देवी-देवताओंकी मनौतियाँ करते, उन्हें साक्षी बनाते, भौति-भौतिकी प्रतिज्ञाएँ करते, सफल हो जानेपर प्रार्थना करनेका सङ्कल्प करते हैं आदि।

५. उद्योगकाल—परीक्षाएँ समाप्त होनेके साथ ही उद्योगकालका श्रीगणेश होता है। इन दिनों अपने नंबर बढ़ाने तथा परीक्षकोंके पास सिफारिश पहुँचानेके लिये जोड़-तोड़ बिढ़ाये जाते हैं। अस्तु—

जो भी हो, आजकलके विद्यार्थीके जीवनका एक उद्देश्य है किसी प्रकार परीक्षा पास कर लेना। परीक्षा इसलिये पास करना चाहता है क्योंकि उसे नौकरके अथवा अन्य किसी प्रकारसे अपनी जीविका कमाने की या अपना पेट भरना है। लड़की परीक्षा पास करती है ताकि उसे अच्छा पति मिल सके। संक्षेप में आजकलकी शिक्षा-संस्थाएँ या तो फावड़े और बसूलेकी रोजी कमानेका साधन हैं अथवा पतिरूपी रेलकी प्रतीक बेटीग रूमका काम देती हैं।

इस प्रकार धर्म, विज्ञान और शिक्षा—तीनोंने हमें विचित्र उलझनमें डाल दिया। विचारकोंने विचार किया कि जबतक मानवका अध्ययन न किया जायगा, तबतक समाज हल न निकल सकेगा। वे मानवके पूर्णरूपमें अध्ययन करनेके लिये अग्रसर हुए। वर्षोंके विचार-विनिमय और चिन्तनके फलस्वरूप विभिन्न सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया। उनमें चार सिद्धान्त मुख्य हैं, यथा—

१. कार्ल मार्क्सका सिद्धान्त Marxian Theory सिद्धान्तके अनुसार मानव अपनी आर्थिक परिस्थितियोंका शिकार है। अर्थ उसके जीवनकी सबसे बड़ी समस्या है। सुलझानेमें उसकी सफलता है, वैसे उसका कोई ब्यक्ति नहीं है।

२. डार्विनका सिद्धान्त Darwinian Theory मनुष्य बंदरका विकसित रूप है, वह पशुओंकी संतान

संख्या ५]

तथा पार्श्विक वृत्तियोंके द्वारा उसका निर्माण हुआ। यह सिद्धान्त मानवके आध्यात्मिक रूपको स्वीकार नहीं करता।

३. फ्रायडका सिद्धान्त Freudian Theory इस सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य प्रत्येक कार्य यों ही बिना विचारे करता रहता है। उसका सुप्त मन उसके क्रिया-कलापोंका सञ्चालन करता रहता है और वह वृत्तियाँ Instincts का दास है। यह सिद्धान्त बुद्धि-विवेकको कोई स्थान नहीं देता।

४. मशीनवाला सिद्धान्त Instrumental Theory इस सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य अपनी आदतोंका दास है, वह जिन परिस्थितियोंमें रख दिया जाता है, उन्हींके अनुरूप व्यवहार करने लगता है। मशीनोंके समकक्ष उसकी कार्य-क्षमता अत्यन्त न्यून है। यह सिद्धान्त मनुष्यके अंदर स्वतन्त्र मस्तिष्क एवं विचारशक्तिको स्वीकार नहीं करता है।

आधुनिक विचारधारापर उपर्युक्त आधुनिक सिद्धान्तोंके प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होते हैं, यथा—

१. हम नहीं जानते कि किस प्रकार जीवित रहें अथवा अपने जीवनके साथ क्या करें।

२. हमारा सब समय रोटीकी समस्या हल करनेमें ही व्यतीत हो जाता है। फलस्वरूप स्नायु-सम्बन्धी अनेक रोग फैल रहे हैं।

३. हमारी दृष्टिमें मानव बहुत ही महत्त्वहीन जीव है; क्योंकि मशीनोंको देखते हुए उसकी कार्य-क्षमता अत्यन्त न्यून है।

४. मनुष्य परिस्थितियोंका दास एवं पशुओंका वंशज है। अतएव उसके स्वतन्त्र विकासकी कोई सम्भावना नहीं है आदि।

इसीका परिणाम है कि आज २० वीं शतीके तथ्या-कथित उन्नतिशील मानवके हृदयमें अपने जीवनके प्रति किसी प्रकारकी आस्था शेष नहीं रह गयी है। वह जीता इसलिये है क्योंकि उसे जीवित रहना है। वैसे उसे जीवनके प्रति कोई आकर्षण नहीं है। वह जीता क्यों है वह उसे नहीं मालूम। उसे यह भी नहीं मालूम कि जीकर वह करेगा भी क्या। आजके दिन सामाजिककी दशा उस जन्मान्ध व्यक्तिके समान है, जो यह नहीं जानता कि यदि उसकी आँखें ठीक

हो जायँ, उसकी दृष्टि यदि उसे वापिस मिल जाय, तो वह क्या करेगा।

भाँति-भाँतिके कष्टों और दुःखोंसे दुखी एवं त्रसित मानवकी दशा भाड़में भुननेवाले उस चने-जैसी हो रही है, जो तप्त वादसे बचनेके लिये ऊपरको उछटता है, परंतु रास्ता न पाकर फिर उसीमें आ गिरता है। चनेकी दृष्टिमें भड़भूजेके भाड़ और उसकी रेत-भरी चलनीके अतिरिक्त विश्व है ही कहाँ ?

अतः हमारी समस्या ज्यों-की-त्यों है। सुखी सामाजिक अथवा घटकका किस प्रकार निर्माण हो ?

इस समस्याको सुलझानेके लिये हमें फिर नये सिरेसे चलना होगा, हमें फिरसे इस तथ्यको स्वीकार करना होगा कि वास्तविक समस्या मानवसे सम्बन्धित है, समाजसे नहीं। हमारी खोज बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी एवं केन्द्रगत होनी है। हमें गम्भीरतापूर्वक सम्पूर्ण मानवका अध्ययन करना होगा, क्योंकि बिना पूर्ण अध्ययनके निदान सम्भव नहीं और बिना निदानके उपचारकी बात करना केवल बालवृद्ध ही कहा जायगा।

तो अब विचारणीय बात यह है कि मनुष्यके दुःखका आखिर कारण क्या है? आप सहमत होंगे कि समस्त दुःखोंका कारण है—हमारा मस्तिष्क। वह प्रत्येक बातको बढ़ाकर देखता और नवीनतम कठिनाइयोंकी कल्पना करता रहता है। इन कल्पनाओंके आधारपर हमारा मन इधर-उधर भटकता रहता है। एक स्थान, एक बात, एक प्रसङ्ग अथवा एक पदार्थपर वह टिकता नहीं। कभी-कभी वह नाना प्रकारके मनो-राज्यका निर्माण भी कर लेता है। मन अथवा चित्तकी यह चञ्चलता ही समस्त दुःखोंकी जननी है, क्योंकि कल्पना और सत्यका मेल बहुत कम होता दिखायी देता है। जीवनकी यह विषमता ही समस्त कष्टों एवं दुःखोंका कारण बनती है। महारथी अर्जुनको भी मनकी इस चञ्चलताने सताया था, जिसके कारण गीता-जैसे महाग्रन्थका प्रणयन करके भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको वैराग्य और अभ्यासके द्वारा मनको वशमें रखनेका उपदेश एवं आदेश दिया था।

मनकी अस्थिरता अथवा मनुष्यके कष्टोंके कई कारण हैं। हम अपनी कठिनाइयोंको बढ़ाकर देखते हैं, हम दम्भमें बुरी तरह जकड़ गये हैं और अपनी परिस्थितियोंके प्रति क्षुब्ध हैं, अथवा हमें इष्टका वियोग सहना पड़ रहा है। प्रायः

हमारा पड़ोसी अथवा निकट सम्बन्धी ही हमारे दुःखका कारण बन जाता है; क्योंकि उसके पास हमारी अपेक्षा अधिक धन है तथा उसके पास विलासके समस्त साधन; रहनेको कोठी; चढ़नेको कार; खानेको दूध-मलाई तथा पीनेको सुरा एवं सिगरेट उपलब्ध हैं। किसीको अपनेसे अधिक सुखी देखकर दुखी होनेमें मानवको बहुत पहिलेसे ही सिद्धि मिली है और वह इस विद्यामें पूर्णतया दक्ष है। दुःखका एक अन्य कारण राग अथवा मोह है। अनेक वस्तुओंके प्रति हमारा लगाव है, उन्हें हम अपना समझते हैं; परंतु उनपर हमारा वश नहीं चलता। स्पष्ट है कि हमारी अधिकार-भावना दुःख उत्पन्न करनेकी अपूर्व क्षमता रखती है।

मनुष्य मिथ्याज्ञानके कारण दुखी रहता है, अन्यथा यह आनन्दस्वरूप है, वह अपने-आपको स्वयं दुखी मान बैठता है, इसीलिये वह दुखी है, अन्यथा उसके पास दुःखका क्या काम। अपनी बुद्धिके समुचित उपयोगद्वारा वह सदैव दुःखभावनासे निर्लिप्त रह सकता है।

यह तो हुआ सैद्धान्तिक किंवा शास्त्रीय पक्ष। परंतु हमारे व्यावहारिक जीवनमें क्या सचमुच सुख आता भी है? हाँ, आता है और प्रायः आता है; परंतु उससे न्यूनतर सुखकी प्राप्ति, बीते हुए सुखका स्मरण, भावी दुःखकी कल्पनाएँ आदि हमारे नैराश्य-जनित दुःखके कारण बनते हैं। सुखकी सापेक्षता हम इसलिये करते हैं, क्योंकि हम उसे भौतिक मान बैठे हैं। जिस तरह हम यह कहते हैं कि यह किताब बड़ी है, यह किताब छोटी है, उसी प्रकार हम यह भी कहने लगे हैं कि साइकिलसे मिलनेवाले सुखकी अपेक्षा मोटरकारसे मिलनेवाला सुख अधिक है। हम भूल जाते हैं कि शारीरिक सुखकी कहीं भी सीमा नहीं है और मानसिक सुखका कभी क्षय नहीं होता। आनन्दरूप मानसिक संस्थानके कारण ही मानव ईश्वरकी सर्वोत्कृष्ट कृति बताया गया है। तत्त्व-चिन्तन करनेवालोंने उसे परमात्माका प्रतिरूप ही माना है, भारतीय दार्शनिकोंने उसे ब्रह्मरूप बताया, मुसलमानोंने आदममें खुदाकी तस्वीर देखी और कह दिया कि अगर आदम खुदा नहीं है, तो खुदा भी आदमसे जुदा नहीं है, यूरोपवालोंके ईसामसीह भी आदमी ही तो थे।

मानवमें वास्तवमें अपार शक्ति है। काल्पनिक मिथ्या एवं भौतिक सुखोंके फेरमें उसे अपना बल विस्मृत हो जाता है। वेदान्तियोंने इसीको मायाजाल कहा है। यदि वह

इस मायाजालसे अपने आपको दूर रख सके अथवा निकट रख सके, तो फिर बात ही क्या है? इस सामान्य स्तरसे ऊँचा उठा हुआ मानव; मन-प्रसादमें रमण करनेवाला परमात्मासे प्रत्यक्ष बात करने लग जाता है। वह परमात्मा सद्ब्रह्म कलाकारके रूपमें प्रकृतिके सुन्दर चित्रोंका सृजक करता और आदर्शको यथार्थ रूपमें अवतरित करने माध्यम बन जाता है। जो अपने आपको सुखी नहीं मान सकता है, वह कैसे कह सकता है कि उसे ईश्वरके अधिकार है, उसपर अन्य लोग तो विश्वास करेंगे, क्योंकि ?

संक्षेपमें हमारी गति एक बड़े और सुन्दर जहाज समान है, जिसके पास कुतुमनुमा नहीं है और उसके बिना वह अथाह एवं अपार सागरमें इधर-उधर भटक रहा। कुतुमनुमा न होनेसे उसे दिशा-ज्ञान नहीं हो पा रहा है यही हाल हमारे जीवनरूपी जहाजका है। यदि स्थिर रूपी कुतुमनुमा हो; तो भवसागर पार हो और इन दुःखों-हमारा पिण्ड छूटे। हमने अभी देखा था कि दुःख करनेका एकमात्र उपाय है अधिकार-भावनाका अथवा त्याग-भावनाका विकास। यदि अनासक्ति हमारे जीवनका व्यावहारिक आदर्श बन सके, तो हम सुखी हो सकते हैं, अर्थात् आजकलके विकृत धर्म, शिक्षा तथा विज्ञान वजाय यदि दर्शनद्वारा हमारे जीवनपथका निर्माण हो तो हम सुखी रह सकते हैं।

यह हमने कोई नयी बात नहीं बतायी, यह तो बहुत पुराना आदर्श है और विभिन्न आचार्योंने विभिन्न प्रकारसे इसे दोहराया है। चूँकि यह एक अखण्ड एवं चिरन्तन तत्त्व है, इसलिये वह अनन्त सौन्दर्यमय है, और इसी कारण चिर नवीन भी उसकी चर्चा और उसका विवेचन हम भी पुराने नहीं पड़ते।

यह जानते हुए भी कि अनासक्तिके बिना जीवन सुख नहीं रह सकता, हमलोग अनासक्तिके पथसे विचलित हो जाते हैं। कहने-सुननेको अनासक्ति बहुत ऊँची वस्तु है परंतु व्यावहारिक जीवनमें इतनी अधिक आसक्तियाँ आती हैं कि अनासक्ति हमारी आँखोंसे ओझल हो जाती है। यही कारण है कि इन चर्चाओंसे लोकका विश्वास उठ गया है जबतक किसी वस्तुका व्यावहारिक रूप नहीं दिखायी देता तबतक लोक उसका अनुकरण कैसे करेगा? यदि मैं हमेशा घराब पीता हूँ और लगूँ भाषण करने उसके अवगुण

एवं दोषोंपर तो मेरी बात सुननेको कौन तैयार होगा। महात्मा गांधीने अहिंसा एवं अनासक्तिका अपने जीवनमें व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया, लोकने उन्हें और उनकी बातोंको शिरोधार्य किया। हम संसारी लोग परमात्माकी, परमात्माकी बातोंकी, त्याग-तपस्या आदिकी भी चर्चाएँ तो चर्चाएँ वंटे कर लेते हैं, परंतु व्यवहार कदाचित् एक क्षण भी नहीं। यही कारण है कि स्वयं हमारा मन हमारा विश्वास नहीं करता, और आजकलके नेताओं, धर्मोपदेशकों आदिके प्रति लोकको आस्था नहीं रह गयी है। अमरीकाके प्रसिद्ध विद्वान् इमर्सन Emerson ने इसी तथ्यकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करनेके लिये ये महत्त्वपूर्ण शब्द कहे थे—You want people believe in God; let people see what God can make you like. अर्थात् यदि तुम चाहते हो कि लोग परमात्मामें विश्वास करें, तो तुम्हें दिखाना होगा कि परमात्मा तुम्हें क्या बना सकता है।

अधिकार-भावना 'अनासक्ति' की सबसे बड़ी विरोधी शक्ति है। अधिकार छिन जानेका भय ही हमें अनासक्तिसे दूर हटाता रहता है। हम जिन परिस्थितियोंमें रहते हैं, उनपर अपना अधिकार मान बैठते हैं। हम यही चाहते हैं कि उनमें किसी प्रकारका परिवर्तन न हो। वस, मिथ्याधिकारमें अन्तर्हित यह भयकी भावना ही हमारे मनको इधर-उधर हुलाती रहती है। कभी हमें परिस्थितियोंके परिवर्तनका भय सताता है, तो कभी जरा और मृत्युका भय खाता है, कभी हमें अपने अधिकारोंके छिन जानेका भय लगता है, तो कभी अपने वारेमें समाजकी रायका भय कुरेदने लगता है। मतलब यह है कि उठते-बैठते, चलते-फिरते, हर समय हम भौंति-भौंतिके भयोंसे घिरे रहते हैं। यही कारण है कि हम अपने आपको नहीं देख पाते हैं। किसीने ठीक ही कहा था कि हमें सबसे अधिक भय स्वयं अपने आपसे लगता है। हम अपने भीतरके अँधेरेसे डरकर ही इधर-उधर देखनेका प्रयास करते हैं। जैसे ही हम अपने मनकी

ओर देखते हैं कि हमें अँधेरा दिखायी देता है और हम भयभीत होकर इधर-उधरकी बातोंमें अपना ध्यान बँटाना चाहते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अँधेरेमें जाते हुए डरनेवाला लड़का जोर-जोरसे हनुमान-चालीसाका पाठ करने लगता है। अँधेरेमें रक्खी हुई प्रत्येक वस्तु, खूँटीपर टंगे हुए कपड़ेतक, उस बालकको भूत ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार हमारे मनका अंधकार हमारी आँखोंपर अंधकारका आवरण अथवा चश्मा चढ़ा देता है और हमें समस्त विश्व ही अंधकारमय दिखायी देने लगता है। किन्हीं विचारकोंने इस अंधकारको पापका रूप बताया है। यथा—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।

जो दिख खोजा अपना, मुझसा बुरा न कोय ॥

(रहीम)

यदि हमारे मनका भयरूपी अंधकार दूर हो जाय तो हमारे लिये विश्वका पापरूपी दुःख-समुदाय भी समाप्त हो जाय। यदि हमारा मन उज्ज्वल एवं प्रसन्न बन सके, तो विश्व भी आनन्दके सागरमें अद्गाहन करता हुआ दिखायी देने लगे। 'आत्मा सुखी तो जग सुखी' का भी यही तात्पर्य है।

आजकलका मानव भयसे बुरी तरह ग्रसित है। भयभीत मानवोंका समाज दुखी हो, यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। यदि मानवसमाजको सुखी होना है, तो उसे भयमुक्त मानवका निर्माण करना होगा। यदि मानवको सुखी बनना है, तो उसे भयका त्याग करना होगा। मानवके भयका सबसे बड़ा कारण मानव ही है। आज मानवका मानवके प्रति विश्वास नहीं रहा है। इसी कारण वह सदैव सशङ्कित और भयग्रस्त बना रहता है। यदि हम एक दूसरेके प्रति विश्वास कर सकते हैं, तो हम निश्चय ही सुखी हैं। इस विश्वासकी भित्ति त्याग ही है, बिना त्यागके छीनाझपटी दूर नहीं होगी और उसके बिना सुख नहीं होगा। समाजके सुखके लिये, संसारकी शान्तिके लिये, विश्वके कल्याणके लिये सुखके इच्छुक मानवोंको इस ओर गम्भीरतापूर्वक विचार करना ही होगा।

विनती

इति कीजत तुमसों यहै विनती बार हजार। जिहि तिहि भौंति डरयो रहौं, परयो रहौं दरबार ॥

—विहारी

अध्यात्मकी ओर

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

[१]

यह एक द्वीप है। मैं पता-ठिकाना इतना नहीं जानता कि उसके आधारपर उसे आप मानचित्रमें पा सकें या पानीमें अथवा हवामें चलकर इसका पता लगाने निकल पड़ें। मुझे इतना ही पता है कि यह द्वीप है; क्योंकि इसके चारों ओर समुद्र हिलोरे मारता है। यह द्वीप इतना बड़ा है कि एक ओरसे दूसरी ओर किनारे तक जानेमें मुझे तीन दिन लग जाते हैं। जितना लंबा है, मुझे लगता है कि उतना चौड़ा भी है। वैसे मैंने कभी अपनी लाठीसे इसे नापा नहीं है। कुछ लोग इसे गोल कहते हैं। गोल हो या चौकोर, बहुत अच्छा है। इसलिये भी अच्छा है कि हमलोगोंका है—मेरा है।

ऊँचे-ऊँचे वृक्ष हैं नारियलके, केलेका वन है, लंबी-लंबी घासे हैं। इतना अच्छा द्वीप देखा है कहीं आपने? हमारे यहाँ और भी बहुत-से वृक्ष हैं और वे खूब घने हैं। सदा हरे-भरे रहते हैं। प्रायः वर्षा होती रहती है और जब बादल हटते हैं, धुले आकाशमें चमकती धूप निकलती है। क्या हुआ कि हमारे वनोंमें साँप बहुत हैं, कीड़े बहुत हैं और दूसरे साधारण तथा भयङ्कर पशु भी बहुत हैं। जो अच्छी भूमि होती है, वहीं तो सभी रहना चाहते हैं। यह ठीक है कि हमारे यहाँ लोग साँप काटनेसे या बीमार होकर मरते हैं और कभी-कभी उन्हें चीते या तेंदुए भी खा लेते हैं; पर क्या ऐसा भी कोई देश आप जानते हैं, जहाँ लोग मरते न हों? क्या सब कहीं लोग इससे भी अधिक कष्टसे नहीं मरते?

यहाँ कई झीलें हैं, निर्मल झरने हैं, फलोंसे सरोवर हैं और दो नदियाँ भी हैं। मुझे अपने टापूपर गर्व है। मुझे पूरा विश्वास है कि इस अच्छी और कोई भूमि कहीं नहीं है। नारियल कच्चे फलोंका हम पानी पीते हैं, पकनेपर उस गिरी खाते हैं। नारियलका तेल तो हमारे घरकी मुख्य वस्तु है। केले हम पके तो काममें लेते ही हैं; बहुत अधिक काममें लेते हैं। कच्चे केलेको मुला आटा बना लेते हैं। केलेकी रोटी और केलेका शाक—होता है ऐसा कोई पदार्थ आपके यहाँ। रोटी, उबला चावल और दाल तो अब कुछ हमारे यहाँ कुछ लोग सफेद मनुष्योंकी देखा खाने लगे हैं। अच्छे लोग इन बातोंको रोकते हैं। इन सफेद मनुष्योंकी नकल करना अच्छी बात नहीं है। ये लोग तो ऊदबिलावकी भाँति मछलियाँ खाते हैं। उन्हें उबाल लेते हैं—इतनेसे हो क्या गया। पर चञ्चलतासे घूमनेवाली कोमल उज्ज्वल सुन्दर मनुष्य क्या पेड़ोंपर फुदकनेवाली मनोहर चिड़िया या कूदने-दौड़नेवाले हिरन अथवा शशककी भाँति देखनेमें अच्छी लगनेवाली और प्यार पानेयोग्य है? क्या मनुष्यको चाहिये कि उसे दुःख दे। तो यहाँ तक सुना है कि ये सफेद लोग अपनी धुँप काली लाठीसे दूरसे ही चिड़ियोंको, मृगको और शशकको भी मार देते हैं और उन्हें भी खा जाते हैं। ये मायावी लोग हैं। इनके पास जाना ही अच्छा है। इन लोगोंने ही हममेंसे कुछ लोगोंको यह चमत्कार गेहूँ और पता नहीं और क्या-क्या वास-पात सिखा दिया है। नहीं तो, जबसे यह पृथ्वी

हमारे पूर्वज पवित्र नारियल और केलेका उत्तम आहार
ही करते आये हैं ।

आपने हमारे घर देखे हैं ? आज आप मेरे घर
भोजन करें । मेरी माता आपको देखकर बहुत प्रसन्न
होगी । हमपर आपकी यह कृपा होगी; क्योंकि मेरे
बड़े भाई प्रतिदिन तबतक भोजन नहीं करते, जबतक
घरमें एक नवीन अतिथिको भोजन न करा दिया जाय
और आप जानते ही हैं कि यह बहुत कठिन नियम
है । कोई बहुत ही कृपा करता है, तब किसीके घर
वह अतिथि बनकर पहुँचता है । भगवान् ने कर्मोंमें
इतने नारियल और केले लगा रखे हैं कि कोई किसीके
घर भोजनकी आवश्यकता होनेपर जायगा, यह सोचा
ही नहीं जा सकता । लेकिन आप मेरा घर देखकर
प्रसन्न होंगे । हमने अभी इसी वर्ष नारियलके हरे
पत्तोंसे उसे बनाया है । ऊँचे लट्टोंपर हमने उसे इस
प्रकार बनाया है कि जब भी अतिथि आयें, उन्हें
कम-से-कम सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ें । हमारे घरमें केवल
दस सीढ़ियाँ चढ़कर आप पहुँच जायेंगे । यद्यपि चीते
तथा सर्पके चढ़नेका भय रहता है; फिर भी अतिथिको
कभी पुकारना न पड़े, इसलिये हम रात्रिमें भी सीढ़ीको
झकते रहने देते हैं । उसे ऊपर नहीं खींचते ।
आप जब मेरे घर पधारेंगे, देखेंगे कि मुन्नी आपको
देखते ही प्रसन्नतासे किलकने लगेगी और हमारी
गायक हुम्मा-हुम्मा करके आपका स्वागत करेगी ।
यही बड़ी उत्तम गाय है । दोनों समय दूधसे हमारा
कर्म भर देती है और अतिथिका स्वागत करना भी
उसने सीख लिया है । यह गाय मैं दूसरे गाँवसे लाया ।
हाँकें एक सज्जन इसे एक सफेद आदमीसे ले आये
थे । सफेद आदमियोंने हमें यही एक उत्तम काम
सिखाया । अब आप कृपा करके मेरे साथ मेरे घर
पधारें ।

मैं उन सज्जनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ । आजसे दस
वर्ष पूर्व मेरी प्रार्थनापर वे मेरे घरपर अतिथि हुए थे ।
उस समय मेरे घर था, यह कहना ही ठीक नहीं है ।
सहस्रों वर्षसे हमारे पूर्वज जैसे रहते आये थे, हम भी
वैसे ही थे—अपढ़, असंस्कृत और असन्ध ! कुछ
ऊँचे लट्टे भूमिमें गाड़कर पृथ्वीसे दस-बारह फुट
ऊँचाईपर लकड़ियों तथा पत्तोंसे एक जो गंदा घोंसला
बनाया जाता था, आदि-युगसे हम उसीको घर कहते
आते थे । मेरे लिये तो वह भी घर नहीं था । हमारा
वह घोंसला, झोंपड़ा या घर आप उसे जो चाहें कहें—
वह था मेरे बड़े भाईका । मुझे तो उनकी आज्ञामें ही
सदा रहना पड़ता था । मैं एक प्रकारसे दास था
उनका । उन सज्जनने उसी दिन मुझसे मित्रता कर
ली । उनके कारण पाश्चात्य जातिके लोगोंसे मेरा
परिचय हुआ । जिनको 'सफेद आदमी' कहकर हम
वृणा करते थे, उन्होंने ही हमको सन्ध बनाया,
शिक्षित बनाया । हम उनके सम्पर्कमें आकर ही
मनुष्य बन सके ।

हमारे ये पक्के मकान सहज ही नहीं बन गये
हैं । कर्मोंको काटनेमें, वन-पशुओंका विरोध तथा
प्राकृतिक कठिनाई इतनी अधिक नहीं थी, जितनी
कठिनाई अपने स्वजनोंके विरोधसे किसी प्रकार बचनेमें
उठानी पड़ी । आप देखते ही हैं कि मेरे बड़े भाईने
मेरा साथ नहीं दिया है । वे अपने उस गंदे घोंसलेको
छोड़ना नहीं चाहते । मुझे भी वे उसीमें बंद रखना
चाहते थे । उनसे बहुत विवाद हुआ । किसी प्रकार
लड़-झगड़कर मैं यहाँ चला आया; क्योंकि मैंने कुछ
पढ़ी लड़कीसे अपनी इच्छासे विवाह कर लिया है ।
बड़े भाईने मुझसे पूरा सम्बन्ध तोड़ लिया है । यह
अच्छ ही हुआ; क्योंकि नवीन समाजमें मुझे इसलिये

संकुचित-लजित नहीं होना पड़ता कि मेरा सम्बन्ध एक असभ्य, असंस्कृत परिवारसे है।

हमारा द्वीप छोटा है, इसलिये यूरोपसे आये उदार लोगोंको अपना प्रभाव यहाँ फैलानेमें बहुत समय नहीं लगा। यद्यपि वृद्धलोग विरोध करते रहे और वे अब भी विरोध ही करते हैं; किंतु युवकोंने इस सभ्यताके प्रकाशका स्वागत किया। अब आपको हमारे द्वीपमें पर्याप्त पक्के मकान मिलेंगे जो सुरक्षित ढङ्गसे बनाये गये हैं। जहाँ-तहाँ पादरीलोग शिक्षा देने लगे हैं। मैंने स्वयं इतना अभ्यास कर लिया है कि पुस्तकों पढ़ लेता हूँ। हमें पादरी बिना मूल्यके ही पुस्तकों देते हैं, जिन्हें हम पढ़कर लौटा देते हैं। द्वीपमें दो-तीन चिकित्सालय भी चलने लगे हैं।

आप मेरे घर चलकर देखेंगे कि हम यूरोपसे बने यन्त्रोंका पर्याप्त प्रयोग करने लगे हैं। यद्यपि केलेके पत्ते लपेटनेवाले लोग अभी बहुत हैं; किंतु असभ्यताका यह चिह्न शीघ्र समाप्त हो जायगा। हमने वनोंको बहुत कुछ काटकर घटा दिया है। धानकी खेती करने लगे हैं। वन-पशु तो आखेटके कारण स्वतः घट गये। हमारा द्वीप अब धीरे-धीरे उन्नत होता जा रहा है। मछलियोंका व्यवसाय हमने अभी ही प्रारम्भ किया है और यह आयकी दृष्टिसे उत्तम व्यवसाय सिद्ध हो रहा है। मैंने अपने घरके आसपास फूल लगा रखे हैं और सुगंधियों, वस्त्रों तथा शशक भी पाल रखे हैं। ये स्वादिष्ट भोजनके साधन तो हैं ही, अच्छी आमदनी भी इनसे हो जाती है।

हमारे गाँवमें सप्ताहमें दो बार पादरी आता है। मेरे ऊपर ही वह ठहरता है। उसके उपदेश एवं शिक्षाके प्रभावसे हम अपने पुराने अन्धविश्वासोंको छोड़ते जा रहे हैं। मैंने ही अपनी पसंदकी लड़कीसे विवाह किया, जैसा कि पहले कभी सम्भव नहीं था।

अब हमने पेड़ों तथा पत्थरोंको पूजना भी छोड़ दिया है। बीमारी होनेपर पुरोहितकी उलटी-सीधी क्रियाओंसे माननेवाले अब घटते जा रहे हैं। अब चिकित्सालयोंमें जाकर औषधि लेते हैं।

यह ठीक है कि हम अभी यूरोपियन लोगोंसे कुछ पिछड़े हैं, हमारे घरोंमें और मनोमें भी अभी बहुत अन्धविश्वास बचे हैं, अभी बहुत कुछ सीखना करना है हमें तथा बहुत उलट-फेर करना होगा इसलिये अपने घरोंमें एवं समाजमें; किंतु हम इसे क्यों हमारा निश्चय दृढ़ है। हम पूर्ण सभ्य एवं सुसंस्कृत बनेंगे। हमारा जातीय जीवन संसारमें किसीसे पिछड़ा नहीं रहेगा। जीवन-निर्वाहके स्तरको हम क्रमशः ऊँचा उठाते जा रहे हैं और मेरे घर चलनेपर स्वयं समझ लेंगे कि मेरी बातोंमें कितना सत्य है। अब अक्सर कभी मेरे यहाँ पधारें।

x

x

x

[३]

और दस वर्ष पश्चात्—

मैं उस कथाको दुहराना नहीं चाहता। विदेशियोंके कारण हमारे इस छोटे-से सुन्दर द्वीप पर घटी है। अत्याचार, शोषण और उत्पीड़नकी कहानी उससे कुछ भी भिन्न नहीं है, जो आपके देश में घटित हुई। यदि आपका देश कभी इन पाशवी लोगोंकी अधीनतामें रहा है। यदि सौभाग्यसे ऐसा नहीं है, तो किसी भी पुस्तकालयमें किसी पराधीन इतिहास देख लेना आपके लिये पर्याप्त होगा। पराधीनता एवं हमारे उत्पीड़नका क्रम भी वही जो सदा सर्वत्र रहता आया है। अब इस इतिहासको दुहरानेसे लाभ क्या? मैं तो केवल आप लोगोंकी और अपनी बात सोचता हूँ। शिकारी जाल फैलाता ही है और दाने भी डालता है

संख्या ५]

किंतु खेद तो पक्षीपर है जो नेत्र रहते भी उस जाल-पर जा बैठता है ।

हमने शिक्षा प्राप्त की, स्वच्छता सीखी, सभ्यता सीखी और बहुत कुछ सीखा ! हमें पक्के मकान मिले, कल-कारखाने मिले, चमकते-दमकते वस्त्र मिले, बिजली मिली, नवीनतम चिकित्सा एवं मनोरञ्जनके साधन मिले, रेल, मोटर, वायुयान तथा सभी वैज्ञानिक उपकरण मिले, लंबी-लंबी उपाधियाँ मिलीं, तितली-सी पलियाँ मिलीं और इसी प्रकार बहुत-सी बातें मिलीं । लेकिन यह बात अधूरी रह जायगी, यदि मैं यह न कहूँ कि इसके साथ ही हमें चोरी मिली, झूठ मिला, क्रोध मिला, दम्भ मिला, छल मिला, आलस्य मिला, अनाचार मिला, अविश्वास मिला, अश्रद्धा मिली, कलह मिला, आडम्बर मिला, बिलसिता मिली, फिजूलखर्ची मिली और ऐसे ही सभ्यता-का वह सब प्रसाद मिला जो सभ्य देशोंको प्राप्त होता है ।

हमने अपनी झोपड़ियाँ छोड़ दीं, असभ्यता छोड़ दी, केलेके छिलके लपेटने छोड़ दिये और भोलापन छोड़ दिया । इसके साथ ही हमें अपनी शान्ति, अपना सुख, अपना आचार भी छोड़ देना पड़ा । हमें दया, क्षमा, सरलता, सादगी सब छोड़ देनी पड़ी । हमारे समाजमें जो आज नेता हैं, जो विद्वान् हैं, वे अब भी इस टापूकी इस उन्नतिपर गर्व करते हैं । वे बार-बार कहते हैं कि उन्हींके सत्प्रयत्नसे यहाँके लोगोंका जीवन-स्तर इतना ऊँचा हुआ है । मैं उनकी बातको खीकार नहीं करता; किंतु मुझे लगता है कि जीवन-स्तर ऊँचा होनेके साथ-साथ वास्तविक जीवन उसी क्रमसे नीचा होता गया है और मानवता तो हमसे बहुत ही दूर जा पड़ी है ।

हमारा टापू अब वैसा हरा-भरा कहाँ है ? कहाँ हैं वे केले और नारियलके प्राकृतिक वन ? केले और नारियल तो हैं; पर अब वे शोभाके लिये लगाये गये

हैं । अब वे लड्डोंपर बनी पवित्र कुटीरें दिखायी ही नहीं पड़ती ! कहाँ हैं अब वैसे सरल निष्कपट स्वस्थ लोग ? अब तो नियमितरूपसे घरोंमें सातवें दिन डाक्टर आता है । उसे रोज न आना पड़े, यह गृहपतिके लिये सौभाग्यकी बात है । अब दूसरोंसे व्यवहार करते समय यह मान लिया जाता है कि वह यदि मूर्ख नहीं है तो हमें ठगेगा और हमें उसको ठगना है । यह तो सामाजिक कर्तव्य है । अतिथि-सत्कारकी तो चर्चा ही करना व्यर्थ है ।

हमारे नेता कहते हैं कि हमारे सौभाग्यसे ही हमारे टापूमें इतने खनिज प्राप्त हुए कि यदि ये खनिज न प्राप्त होते—परंतु मैं किस मुँहसे दूसरी बात कहूँ ! मैंने स्वयं टेका ले रक्खा है दो खदानोंका और उसका पूरा लाभ उठाता हूँ । मेरे पास उस पीली चमकीली वस्तुका अभाव नहीं है, जिसे संसार 'सोना' कहता है । आज कोई उसके बिना कैसे प्रतिष्ठा पा सकता है ! मेरे पास तो कुछ बहुमूल्य चमकीले पत्थर भी हैं । इन पत्थरों-रत्नोंका हमारे समाजने पहले नाम भी नहीं सुना था । इस सोनेको भी हममेंसे गिने-चुने लोगोंने ही दूर-से देखा था । इनके बिना मजेसे हमारा काम चल जाता था । आज भी हम इन्हें खाते नहीं । इन्हें पहननेसे सदी दूर नहीं होती । लेकिन आज यदि ये हमारी तिजोरीमें बंद न हों..... ।

आप पूछते हैं कि मैं इतना क्षुब्ध क्यों हूँ ? मैं स्वयं ही इसका उत्तर नहीं सोच पाता हूँ । हमने जो किया है, उसका फल जब सामने है, तब हमें क्षोभ क्यों होना चाहिये ? मेरा पुत्र मेरी बात नहीं मानता । मैं अपने बड़े भाईसे इसीलिये तो पृथक् हुआ कि उनकी दासता मुझे अखर रही थी । उनका स्नेह मुझे काटने दौड़ता था । मेरा पुत्र मेरी दासता खीकार नहीं करता तो उसका दोष ? वह सभ्य है, शिक्षित है; फिर क्यों किसीकी दासता खीकार करे ? वह अपने पसंदकी एक

लड़कीसे विवाह करने जा रहा है। मैंने रोकना चाहा था, उसने स्पष्ट कह दिया—‘मेरे व्यक्तिगत जीवनमें हाथ देनेका आपको कोई अधिकार नहीं।’ मैं जानता हूँ कि उस लड़कीका आचरण अच्छा नहीं है। वह अच्छे कुलकी भी नहीं है। जो भी हो, उसके साथ जब मुझे नहीं, मेरे लड़केको पूरा जीवन व्यतीत करना है, तो मैं क्यों बीचमें पड़ता हूँ? मुझे क्या अधिकार?

मेरी लड़कीके आचरणके विषयमें कुछ लोगोंने मुझसे उलटी-सीधी बातें कही हैं। मैंने आज अपनी पुत्रीसे बड़े प्रेमसे पूछा। वह क्रोधसे लाल हो गयी। उसने कहा—‘आचारकी ये रूढ़ियाँ हम स्त्रियोंको गुलाम बनानेके लिये गढ़ी गयी हैं। पुरुषोंकी दासता मैं स्वीकार नहीं कर सकती। किसीको कोई अधिकार नहीं कि मेरे आने-जाने, मिलने-जुलनेपर प्रतिबन्ध लगावे। मैं अपने सम्बन्धमें स्वयं विचार कर सकती हूँ।’ मैं चुप रह गया। जैसे पुरुष स्वतन्त्र है, वैसे ही स्त्री भी स्वतन्त्र है। अब इस स्वतन्त्रताके युगमें कोई किसीसे क्यों कुछ कहे-सुने?

‘मेरी पत्नी?’ अब आप यह न पूछते तो अच्छा करते। मेरी वह पत्नी जिसके साथ मैंने बड़े भाईकी अवज्ञा करके विवाह किया था, वह इस समय सातवाँ विवाह कर चुकी है। मेरे भाग्य इस विषयमें अच्छे हैं; क्योंकि मेरी दूसरी पत्नी ही मेरे घरमें अबतक है। वैसे मेरी वर्तमान पत्नीके लिये यह तीसरा पति-गृह है। मेरी ये गृहदेवी संयोगवश ही मुझे प्राप्त हुई और अबतक मैं सीख चुका था कि अपनी रुचि एवं स्वतन्त्रताका गर्व कितना कष्टदायी है। अब मेरे घरमें मुझे छोड़कर शेष सब स्वतन्त्र हैं। केवल मैं ही सबकी इच्छाका परतन्त्र हूँ। सबके लिये धन कमानेका यन्त्र बनकर रह गया है मेरा जीवन और उसमें भी परिश्रम-ही-परिश्रम है, परिश्रमके पश्चात् मिलनेवाला विश्राम नहीं; क्योंकि जब विश्रामके स्थानपर जो कि ‘घर’ कहा जाता है, जाता

हूँ, तब वहाँ इस प्रकारका स्वागत मिलता है कि पाकर मेरे घरका कुत्ता भी वहाँ दो क्षण बैलें चाहता।

नहीं—आप भ्रममें न पड़ें। मेरा घर सुखित एवं सम्य है। मेरे घरका कोई व्यक्ति समाजकी सम्पत्ति का अनादर कभी नहीं करता। मेरा पुत्र, मेरी पुत्री और मेरी स्त्री कभी मेरा अपमान नहीं करेंगी यदि तीसरा व्यक्ति वहाँ हो। मेरी दोनों संतानें प्रातः-सन्ध्य नियमित अभिवादन करना नहीं भूलते। मेरी पत्नी सब शिष्टाचार पूरे चुकाती है, जो एक सम्य क चुकाने चाहिये। हम यन्त्रके युगके प्राणी हैं, क आराधक हैं, तब हमें क्यों इन यन्त्र-से आचरित संतुष्ट नहीं रहना चाहिये। हृदय—लेकिन क्या हमने अपने पास हृदयको जीवित रहने दिया है? अपने हाथों हमने उसका गला घोट दिया, तब न मिलनेपर असंतोष क्यों?

दूसरोंकी बात छोड़ दीजिये—यह मेरा शरीर मन है। मैं श्रम करता हूँ या कपट करता हूँ; प सोनेकी ढेरी लगा दी है। इतनेपर भी मुझे सुख मिला? डाक्टर कहता है कि मुझे मधुमेह है। पेट खराब है। मुझे सब मीठी वस्तुएँ छोड़ देनी हैं। खुरखे, उबाले शाकोंपर मुझे रहना पड़ता है। आमोद-प्रमोद मेरे उपयोगका नहीं। मैं दौड़ नहीं चल नहीं सकता कुछ दूर और दो घंटे बैठा रह सकता। मनकी दशा और दयनीय है। ग्लानि-क्षोभ, विषाद-दुःखके अतिरिक्त वहाँ कुछ भी है। अशान्ति, क्लेश, शोक—जीवन जैसे इन शब्दोंसे ही बना है।

आप कहते हैं मेरे घर चलनेके लिये। मेरा द्वीपके सुन्दरतम उपवनमें है। मेरा भवन बहुत है और कलापूर्ण सामग्रियोंसे सुसज्जित है। बड़ी

संख्या ५]

भड़कसे आप-जैसे अतिथिका राजोचित सम्मानपूर्वक सकार किया जा सकता है; किंतु आप मेरा घर देखना चाहते हैं; इस द्वीपके एक वास्तविक निवासीका घर देखनेकी इच्छा है आपकी। क्या मुँह लेकर मैं आपसे अपने घर पधारनेका कहूँ ?

x x x x

[४]

जब कि कुछ वर्ष और बीत चुके—

मेरा कोई घर नहीं है। मेरा घर था, वह कहना भी सत्य नहीं है। मैंने परिश्रम करके कोई घर नहीं बनाया था। मेरा घर या भवन तथा मेरी सम्पत्ति, जिसके विषयमें आप पूछ सकते हैं, वह तो समाजकी थी। मैंने छल, झूठ और कपटके व्यवहारके द्वारा समाजसे उसे ठग लिया था। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि आज समाजमें इसे नीतिपटुता या दूसरा कोई उत्तम नाम दिया जाता है। इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ता कि समाजके प्रतिष्ठित व्यक्ति ऐसा ही करते हैं। समाज उसपर मेरा खूब मान चुका था, यह तो ऐसी ही बात है, जैसे हम चोके पास जो चोरीकी वस्तु है, उसे चोरीकी न जानने-के कारण चोरके स्वत्वकी वस्तु मानते हैं। मैं वह सब समाजको दे आया। स्त्री, पुत्र और पुत्रीके प्रति मेरा कर्तव्य पूरा हो चुका था; क्योंकि स्त्रीको अपने लड़केके साथ रहना स्वीकार था और संतानोंकी शिक्षा पूरी हो चुकी थी। वे दोनों स्वतन्त्र रहना चाहते थे। जीवनके पूरे क्षेत्रमें—विचार-आचार एवं उपार्जन सबमें मैंने उन्हें स्वतन्त्र कर दिया है।

मेरे बड़े भाई अत्यन्त उदार हैं। उन्होंने पूछातक नहीं मेरी पिछली भूलोंके विषयमें। अब भी वे द्वीप-निवासियोंका पुराना जीवन व्यतीत करते हैं। अवश्य ही मेरे लिये अब उनके झोंपड़ेमें कभी-कभी चावल या आलू उबाल लिया जाता है तथा रोटियाँ सेंक ली जाती हैं। वैसे वे नारियल तथा केलेके पुराने आहारपर ही रहते हैं। आपको देखकर वे प्रसन्न होंगे और यह

आपकी कृपा होगी कि आप उस झोंपड़ीपर पधारें। वे अब भी किसी अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन नहीं करते। आप जानते ही हैं कि अतिथि बननेवालोंका अब इस टापूमें कितना बड़ा समुदाय ही हो गया है; किंतु वे लोग नारियल एवं केलेपर रहनेवाले मेरे बड़े भाईकी झोंपड़ीका आतिथ्य स्वीकार करनेका उत्साह कभी नहीं दिखाते।

मेरी बात आप पूछते हैं ? मैंने तो सभ्यता छोड़ दी, नगर छोड़ दिया और विज्ञानके दिये उपहार छोड़ दिये। इसके फलस्वरूप मेरे शरीरने रोग छोड़ दिये। अब मजेसे बड़े भाईके लिये केले और नारियल संग्रह करता हूँ। यथेष्ट चल लेता हूँ और थोड़ा-बहुत दौड़ भी सकता हूँ। मेरे मनने भी बहुत कुछ छोड़ दिया है। अब शोक, क्लेश, क्षोभ मुझे तंग नहीं करते। मैंने अपने द्वीपके पुराने जीवनको अपनाया और उसने मुझे सुख तथा शान्तिके उपहार दिये।

मैं मानता हूँ आपकी यह बात कि द्वीपका पूरा समाज अब अपने कई दशक पीछेके जीवनपर नहीं लौट सकता। हमारे नारियलके वन जितनी सरलतासे काटे जा सके, उतने शीघ्र बनाये नहीं जा सकते। हमारे हृदय तो सर्वथा ही नहीं बदले जा सकते। लेकिन एक काम किया जा सकता है। वह जो पीपलके नीचे मठिया है, हम उसे फिर बना सकते हैं। मेरा अर्थ सम्भवतः आप समझते होंगे। हम अपने देवताको फिर अपना सकते हैं और देवता तो तभी अपनाया जाता है, जब सत्य, सदाचार तथा परिश्रमसे पवित्र जीवन एवं पूजा-सामग्री लेकर हम उसकी मठियामें जायँ।

मुझे पता नहीं कि द्वीपके लोगोंने मठियाको अपनाया या नहीं और मैं नहीं जानता कि पृथ्वीके लोग भी मठियाको अपनायेंगे या नहीं; किंतु मानवता क्या उस मठियामें नहीं है ? क्या मनुष्यको मनुष्य बननेके लिये मठियाकी पगडंडीपर बड़े बिना भी कोई दूसरा मार्ग मिल सकता है ?

आत्म-परीक्षा

(लेखक—रावी)

किसी आश्रममें एक महात्माजी अपने एक शिष्यके साथ रहते थे । अनेक प्रारम्भिक साधनाओंमें पारङ्गत कराकर महात्माजी अपने उस शिष्यको पहली महादीक्षा-के लिये तैयार कर रहे थे ।

एक दिन एक अत्यन्त निधन मनुष्य उस आश्रममें आया । महात्माजीने उसपर दया करके पत्थरकी एक बटिया भीतरसे निकाली और उस आदमीके एक हाथमें पड़े हुए लोहेके कड़ेसे छुआ दी । वह कड़ा तुरन्त ही सोनेका हो गया । उस आदमीने बड़े कृतज्ञ भावसे महात्माजीको ग्यारह बार दण्डवत्-प्रणाम किया । फिर वह चला गया ।

शिष्यने पहली बार ही यह चमत्कार देखा था । उसकी जिज्ञासापर गुरुने बताया कि 'यह पारसकी सिद्धि-बटिका है और उससे संसारका सारा लोहा सोनेमें बदला जा सकता है ।'

शिष्यको सारी रात नींद नहीं आयी । उसने सोचा कि 'यदि वह पारस उसे मिल जाय तो वह सारे संसारका मालिक बन सकता है; राज-पाट, यश-श्रेष्ठ्य और संसारके सभी भोग उसकी मुट्ठीमें आ सकते हैं । धनसे धर्म और धर्मसे दीक्षा और दीक्षासे मुक्ति—दीक्षा और मुक्तिका यह भी तो एक मार्ग है ।'

अगली सुबह उसने अपने मनकी सारी बात गुरुसे कह दी ।

गुरुने कहा—'निस्संदेह बेटा, यह पारस एक दिन तुम्हें प्राप्त होना ही चाहिये । लेकिन उसके पहले बीचकी दो-तीन साधनाएँ तुम्हें और साधकर पहली महादीक्षा प्राप्त कर लेनी चाहिये । उसके पश्चात् तुम्हें संसारमें जाकर भले और बुरे मनुष्योंकी पहचान

प्राप्त करनी पड़ेगी । और वह पहचान आते ही सिद्धि तुम्हें तुरन्त ही प्राप्त हो जायगी और तुम सिद्धिके दुरुपयोगसे बचकर उसका सदुपयोग करोगे ।'

'तो गुरुदेव, क्या यह सम्भव नहीं कि मैं संसारमें जाकर मनुष्योंकी पहचान प्राप्त कर लूँ ? उसके पश्चात् महादीक्षाकी शेष साधनाएँ पूरी कर लूँ ? महादीक्षाका आयोजन इस वैशाख-पूर्णिमाको नहीं अगले वर्षकी वैशाख पूर्णिमाको हो जायगा ?' किन्तु गुरुने कहा ।

'सम्भव क्यों नहीं; चलो पहले यहाँ गुरुने कहा और उसे साथ लेकर वे देशछाड़ निकल पड़े ।

चलते-चलते एक नगरमें सन्ध्या-समय वे एक दानी सेठके अतिथि हुए । रातको ही भोजनानि निवृत्त होकर महात्माजीने उस बनियेसे कहा कि 'अपने घरका सारा लोहा एकत्र करे और वे प्रातः उसे पारस छुलाकर सोना बना देंगे ।

सेठने अपने नौकरोंको लगाकर पड़ोसके लुहारके घरका सारा लोहा चोरी करा लिया और घरके लोहेके साथ महात्माजीके सामने रख दिया । महात्माजीने अगली सुबह उसे पारस छुलाकर सोना कर दिया और पड़ोसी लुहारके लिये भी कुछ सोना देकर उन्होंने आगेकी राह ली । राहमें उन्होंने शिष्यको उस बनियेकी चोरीका भी समाचार दिया ।

अगली साँझ एक दूसरे नगरमें उसी प्रकार वे शिष्य और गुरु अतिथि हुए । वह और

संख्या ५]

धर्मपत्नी अपने धर्मभाव और सच्चरित्रताके लिये बहुत प्रसिद्ध थे। महात्माजीने उनका भी वैसा ही उपकार करनेका प्रस्ताव रखते हुए एक शर्त यह रखी कि उसे रातभरके लिये अपनी पत्नी सेवाके लिये उन्हें देनी होगी। गृहस्थ बड़े कुत्सित संदेह और असमंजसमें पड़ गया और अन्तमें सोच-विचारकर उसने निश्चय किया कि 'एक रातके लिये अपनी पत्नी उन्हें दे देगा और फिर दुबारा उसे ग्रहण न कर वह पापसे बचा रहेगा। वह प्राप्त सोनेके धनसे अपनी परित्यक्ता पत्नीके भरण-पोषणका भी भार उठाता रहेगा और अपने लिये दूसरी पत्नी ब्याह लेगा।' गृहस्थने अपनी पत्नीको राजीकर महात्माजीके पास भेज दिया। महात्माजीने उसी समय उस गृहस्थके घरके लोहेको सोनेमें बदलकर बाहरकी राह ली और नगरके बाहरी मन्दिरमें आकर रात काटी। गृहस्थकी पत्नी उसीके घर रही।

तीसरी रात उन्होंने तीसरे नगरमें एक लोक-प्रसिद्ध विद्वान्के घर बितायी। महात्माजीकी माँगपर, उनकी खर्ण भेंटके बदले उस विद्वान्ने स्वीकार कर लिया कि 'वह अपने रचित सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थपरसे अपना नाम हटाकर यह घोषित कर देगा कि यह ग्रन्थ उसका नहीं, बल्कि उन महात्माजीका ही रचा हुआ है।' महात्माजीने अपनी सोनेकी भेंटसे उस विद्वान्की कीर्तिका क्रय कर लिया और उसे फिर उसीको लौटाकर आगेकी राह ली।

चौथी रात वे राजाके अतिथि हुए। उन दिनों राजाके लड़केके पड़ोसी राज्यकी राजकन्यासे विवाहकी तैयारियाँ धूम-धामसे हो रही थीं। महात्माजीने राजासे कहा—

'यदि तुम देवीके समक्ष बलिदान करनेके लिये मुझे किसीका एक नवजात बालक दिला दो तो मैं तुम्हारे रथ-गृहके सभी रथ और हाथी-घोड़ोंके साज-सामान अपनी पारस-सिद्धिद्वारा सोनेके बना दूँगा।'

राजाने तुरंत महलोंके पीछे रहनेवाली एक अनाथ विधवाका—जिसके पतिको मरे महीना भी पूरा नहीं हुआ था—नवजात बालक उठाकर महात्माजीकी भेंट कर दिया। महात्माजी अपना वचन पूरा करके उस बालकको लेकर चल दिये और उसे उसकी रोती-बिलखती माको सौंपकर आगे बढ़े।

इसी प्रकार सौ रातोंतक गुरु-शिष्यने सौ विभिन्न व्यक्तियोंका परीक्षण किया। कञ्चनके लोभसे अछूता कोई भी व्यक्ति उन्हें नहीं मिला, जो उसके लिये बड़े-से-बड़ा दुष्कर्म करनेके लिये तैयार न हो। कोई कमपर गिरा तो कोई अधिकपर; परंतु इस लोभके आगे विचलित सभी हुए।

आश्रमको लौटकर गुरुने शिष्यसे पूछा—'देखा बेटा! तुमने मनुष्यकी पहचान कर ली न? बताओ, मनुष्य कैसे हैं?'

'मनुष्य सभी पापी, धूर्त, नीच और मूर्ख हैं। खर्णके लिये वे अपने धर्म, यश, सुख-शान्ति और सर्वस्वको ही निछावर करनेके लिये तैयार हैं। ऊपरसे कोई कैसा भी हो, भीतरसे देखनेपर सभी लोभी और निकृष्ट हैं।' शिष्यने कहा।

'तुम्हारा निष्कर्ष सर्वथा यथार्थ है' गुरुने कहा, 'मनुष्य अपनी प्रकृतिसे सचमुच नीचातिनीच है और अवसर आनेपर वह लोभके वशीभूत होकर सभी कुछ कर सकता है। मनुष्यको कहीं प्रकट और कहीं छिपी इस प्रकृतिकी जानकारी और इससे सतर्क रहनेकी सावधानी साधकद्वारा लोक-कल्याणके लिये आवश्यक है। इससे क्षमा और सहिष्णुताका उदय होता है। अब इस पारस-सिद्धिको प्राप्त करनेके लिये तुम्हें केवल एक प्रश्नका ठीक उत्तर और देना है। यदि वे सौ व्यक्ति भी यहाँपर इस पारस-सिद्धिके सम्भावित अधिकारीके रूपमें तुम्हारे साथ खड़े कर दिये जायँ तो

उनमें सबसे बड़ा अनधिकारी और सबसे छोटा अनधिकारी कौन होगा ?

शिष्यने कुछ देर सोचकर कहा—‘महाराज ! सबसे अधिक नीच और मूर्ख, अतः सबसे बड़ा अनधिकारी मैं राजाको कहूँगा, जिसने अपने पुत्रकी बारातको सजानेके लिये एक विधवाकी जीवन-आशाको ही समाप्त करने और मानव-हत्याके महापापको अपनानेका उपक्रम किया । और सबसे छोटा अनधिकारी मैं उस सेठको कहता हूँ जिसने पड़ोसके लुहारकी चोरी करायी ।’

‘नहीं पुत्र !’ महात्माजीने कहा, सबसे बड़ी नीचता, मूर्खता और पापकी अभिव्यक्ति तो तुम्हारे ही द्वारा हुई है; क्योंकि तुमने सोनेके लिये अपनी

महादीक्षाका तिरस्कार किया है । औरोंने तो केवल साधारण नैतिक आचारों, हृदयकी सहज भावनाओं और लौकिक यश-कीर्तिका ही सोनेके लिये त्याग किया है; पर तुमने उसके लिये अपनी महादीक्षा होनेवाले संसारके महाकल्याणकी अवहेलना की है । यदि तुम मनुष्यकी और इस प्रकार इन एक सौ मनुष्योंमें अपने स्थानकी ठीक पहचान कर लेते निःसंदेह इसी समय इस पारस-सिद्धिके अधिकारी होते जाते । अब तुम्हारे सामने केवल दो मार्ग हैं—तो यहीं रहकर अपनी प्रारम्भिक साधनाओंका अभ्यास करके उन्हें पुनः प्राप्त करो और अपने हुए विवेकको जगाओ या संसारमें जाकर एक साधारण गृहस्थका जीवन व्यतीत करो ।’

जाको राखे साइँयाँ मार सकै ना कीय

स्थान लसाडिया तहसील, जिला उदयपुर, राजस्थानसे श्रीलालसिंहजी सकसेना बम्बोरनिवासी लिखते हैं—

मैं ता० २४ । ४ । ५२ के सुबह ९ बजे करीब आफिसमें काम कर रहा था कि अचानक दैवी-प्रकोपकी भाँति खजानाके मकानकी सारी-की-सारी छत टूटकर एकदम बैठ गयी । मैं नीचे गिर गया । गिरते वक्त ‘भगवान् रक्षा करो’ इतना उच्चारण हुआ । गिरते ही ऊपरसे ईंट, पत्थर, चूनेके साथ तिजोरी, दो पेटियाँ, मेजें आदि काफी सामान लगभग १०० मन करीब ऊपर गिरा । मैं आध घंटेतक दबा रहा । ईस्वर अंदर वैसे ही रक्षा करता रहा, जैसे गज-प्राह-युद्धमें हाथीकी, प्रह्लादके समय कुम्हारिके बच्चोंकी आगसे रक्षा की थी ।

बात इस प्रकार हुई कि दो पाटिये आडे आ गये, बीचमें मैं रह गया और सारा वजन उन पाटियोंपर

रहा । सब क्लर्क आदि आशा छोड़ बैठे थे । निकालनेवालोंने जल्दी की और मलबा हटाया तो बिल्कुल जीवित निकला । मामूली चोट जरूर आई एक बड़ी तिजोरी खिसक गयी थी, लेकिन भगवान्ने अपने आकर्षणसे उसे पकड़ रखा । गिर नहीं पायी, वह गिर जाती तो मेरे प्राण बचते; परन्तु भगवान्ने स्वयं रक्षा की । उस सिल्ले दिलमें कोई विकार नहीं था । मेरे जीवित निकलने पर प्रेमी महानुभावोंने काफी खुशी मनायी, श्रद्धालु पुण्यादि किया गया और भगवान्के प्रति विश्वास अति बढ़ गया ।

(घटना सच्ची है तो बड़ी चमत्कारपूर्ण है । भगवान् जिसको बचाना चाहते हैं, वह यों ही बच करता है । पत्र ज्यों-का-त्यों—कहीं-कहीं भाषा सुधार कर प्रकाशित किया गया है । —सम्पादक)

भक्तराज श्रीनारायणजी भट्टाचार्यका महाप्रस्थान

(लेखक—श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)

बंगाल—हुगली जिलेके अन्तर्गत दिगसुई ग्राममें गदाधर विद्याभूषण नामक एक शास्त्रज्ञ निष्ठावान् अशूद्र-प्रतिप्राही ब्राह्मण निवास करते थे। उन्हींके वंशमें योगिराज भक्तप्रवर श्रीनारायण भट्टाचार्य महाशयका जन्म हुआ था। उन्होंने शास्त्रका अध्ययन किया था; परंतु वे कोई प्रसिद्ध पण्डित नहीं थे। गृहदेवता श्रीबालगोपाल भगवान्की सेवा-पूजा वे अपने हाथों करते, श्रीगोपालजीकी सेवा उनके जीवनका एक व्रत था। रहनेके घरसे पश्चिमकी ओर एक जगह खरीद ली थी, वहाँ श्रीतुलसी और बेलके वृक्षके नीचे बैठकर वे सारी रात जप किया करते।

उनके चार पुत्र थे। सबसे बड़े विष्णुचरण राजेन्द्र मल्लिकके नूतन बाजारमें नौकरी करते। उनसे छोटे अनादि दिनाजपुर राजमहलमें काम करते। तीसरे आशुतोष ग्रामकी पाठशालामें विद्यार्थियोंको पढ़ाते और सबसे छोटे रामप्रसन्न रेलवेमें नौकरी करते थे।

श्रीनारायण भट्टाचार्य बाजारमें कभी किसी चीजका दर-मोल नहीं करते। बेचनेवाला जितना दे देता, उतना ही ले आते। शान्ति-खस्त्ययन—अनुष्ठान आदिमें उनकी असीम शक्ति देखी जाती थी। किसी रोगीको पता लग जाता कि भट्टाचार्य महाशय खस्त्ययन कर रहे हैं तो वह समझ लेता कि इस बार उसकी मृत्युसे रक्षा हो गयी। दो पक्षोंमें जिस पक्षके लोग नारायण महाशयकी शरणमें चले जाते, मुकदमेमें उनकी जय अनिवार्य थी।

वे जिस-किसीका दान नहीं लेते। कुछ यजमान थे, उन्हींसे किसी प्रकार उनकी जीवनयात्रा चल जाती। आगे चलकर तो पुत्र समर्थ हो गये थे।

गाँवमें सुर-परिवार बड़ा धनी था। उनमेंसे किसीने एक बार श्रीभट्टाचार्य महाशयके ठाकुर श्रीगोपालजीकी मनौती की कि 'हे गोपालजी! इस मुकदमेमें मेरी जय हो गयी तो सौ रुपये चढ़ाकर मैं आपकी पूजा करूँगा।' श्रीगोपालजीकी कृपासे मुकदमेमें जीत हो गयी; किंतु जिस-किसीका दान न लेनेवाले, तेजोदीप्त ब्राह्मण नारायण भट्टाचार्यके पास गोपालजीकी पूजाके लिये रुपये भेजनेका साहस नहीं हुआ। आखिर उन्होंने अपने पुरोहित गोपालचन्द्र भट्टाचार्यके द्वारा सौ रुपये भिजवाये। गोपालचन्द्र श्रीठाकुरजीके मन्दिरमें रुपये रखकर छिप गये। नारायण भट्टाचार्य महाशयने पूजाके लिये आकर देखा कि रुपये पड़े हैं। तब 'यहाँ कौन रुपया रख गया' कहकर पुकारने लगे। तब गोपालचन्द्र भट्टाचार्यने सामने आकर सारी बात कही। नारायण भट्टाचार्यने उत्तरमें कहा—'मैं दरिद्र ब्राह्मण हूँ। मुझे लोभ दिखानेमें उनका कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होगा? रुपये उठाकर ले जाओ और यहाँ गोबरका लेप कर दो। यह देवमन्दिर है, रुपयोंके रखनेकी जगह नहीं।' इनकी ऐसी रुख देखकर गोपाल भट्टाचार्यने रुपये उठाये, वहाँ गोबरका चौका लगाया और चुपकेसे अपनी राह ली।

श्रीनारायण भट्टाचार्यके पुत्र श्रीविष्णुचरण एक दिन श्रीगोपालजीके भोग लगा रहे थे। इसी बीचमें गोपालजीका श्रीविग्रह गिर पड़ा और उनका बायाँ हाथ और बायाँ पैर टूट गया। अङ्गहीन विग्रह रखना निषिद्ध है—यह सोचकर दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीगोपालजीको गङ्गामें बहा देनेका निश्चय किया गया। प्रातःकाल उठकर नारायण भट्टाचार्यने कहा—'नहीं भाई! गोपालको गङ्गामें नहीं बहायेंगे। गोपालने मुझसे कहा

है कि 'माता-पिताके हाथ-पैर टूट जानेपर क्या कोई उन्हें गङ्गामें फेंक देता है।' सबको पता लग गया कि भक्तवाञ्छाकल्पतरु श्रीगोपालजी भक्तके आकुल क्रन्दनको सुनकर स्थिर नहीं रह सके और उन्होंने दर्शन देकर गङ्गामें बहानेसे नारायणजीको रोक दिया। श्रीनारायणजी प्रतिदिन बड़ी निष्ठा, भक्ति और प्रीतिके साथ भगवान् गोपालजीकी पूजा करते और पूजाके अन्तमें बालक-बालिकाओंको प्रसाद बाँट देते। प्रसाद पाकर सबके आनन्दकी सीमा नहीं रहती।

भट्टाचार्य महाशय इस प्रकार सुख-दुःखमें सम-भावापन्न होकर ब्राह्मणोचित नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका सम्पादन करते हुए भगवान्की सेवामें जीवन बिताने लगे। बंगला संवत् १२९१ फाल्गुन महीनेमें उनकी धर्मपत्नी बीमार हुई। बीमारी बहुत बढ़ जानेके कारण पुत्रोंको घर बुला लिया गया।

होलीके पहले दिन श्रीनारायण भट्टाचार्यने अपने पुत्रोंसे कहा—'अरे भैया ! आज तुम लोग मेरी गङ्गा-यात्राकी* व्यवस्था कर दो !' पुत्रोंने कहा—'पिताजी ! मा बीमार हैं, फिर आपकी गङ्गायात्रा क्यों ?' उन्होंने कहा—'मैं अब इस शरीरको नहीं रखूँगा। गोपाल बुला रहे हैं; वे कहते हैं तू बूढ़ा हो गया, दाँत गिर गये, अब वहाँ मत रह।'।

पुत्रोंने बात सुनी, पर क्या करना चाहिये इस बातका वे कुछ भी निर्णय नहीं कर सके। इसी बीचमें अनुभवी डाक्टर सत्य बाबू वहाँ आ पहुँचे। पुत्रोंने उनसे कहा—'डाक्टर बाबू ! पिताजीका हाथ तो देखिये। ये कहते हैं मैं गङ्गायात्रा करूँगा।' डाक्टर सत्य बाबूने भट्टाचार्य महाशयका हाथ देखकर कहा—

* बंगालमें मरणासन्न व्यक्तिको गङ्गा या निकटकी किसी पुण्य नदीपर प्राणत्यागके लिये ले जानेकी प्रथा है। इसीको 'गङ्गायात्रा' कहते हैं।

'क्या बात है ? वैसे तो कोई लक्षण समझमें नहीं आता। भट्टाचार्य महाशयने कहा—'तुम रोगीका हाथ देखकर समझ सकते हो, मेरा हाथ देखकर क्या समझो? मैं देह नहीं रखना चाहता, तुम गङ्गायात्राकी व्यवस्था करनेके लिये इनसे कह दो।' डाक्टर बाबू भट्टाचार्य महाशयको विशेषरूपसे जानते थे; उन्होंने उनके पुत्रोंसे कहा—'जब ये कह रहे हैं तो आप लोग वही व्यवस्था कर दीजिये।'।

तारागुण ग्रामसे डोली लानेके लिये आदमी भेज दिया गया। भट्टाचार्य महाशयने कहा—'इन-इन चीजें श्रीगोपालजीके भोग लगाओ।' भोग लगाये जानेपर उन्हें प्रसाद लिया और रामनामीको कंधेपर डालकर श्रीगोपालजीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर बीमार पत्नीको पास जाकर उन्होंने कहा—'तुम रहो ! मैं चलता हूँ। तदनन्तर तीसरी गर्भवती पुत्रवधूके पास जाकर बोले—'मा, तुम 'कड़े रे कड़े रे !' पुकार-पुकार कर रो रही हो इससे मुझे बड़ा कष्ट होता है। तुम्हारा वह कष्ट आ रहा है। मुझसे तो उसका मिलना नहीं होगा।'। जा रहा हूँ।'।

भट्टाचार्य महाशय 'श्रीहरि' कहकर डोलीमें सवार हो गये। शिवजीका मन्दिर आनेपर डोलीसे उतरकर शिवजीको प्रणाम किया। मामूदपुर ग्राममें पेशाब हाजत होनेपर डोलीसे उतरे। उन्हें पूर्वमुख बैठ दिया गया। वे बोले—'मुझे पूर्वमुख क्यों बैठाया ? पूर्वमुख ओर तो पेशाब करना निषिद्ध है।' इस बातको देखकर रास्तेके लोगोंने कहा कि 'लड़कोंकी कैसी बुद्धि हो गयी है ? जिनको इतना ज्ञान है उन्हें क्या समझकर ये गङ्गायात्रा ले जा रहे हैं।' डोली पहुँची। उस रात्रिको गङ्गातीरपर निवास किया गया। प्रातःकाल बड़े लड़केसे कहा—'तुम्हारा रुखना उचित

[भाग ५]

है। तुम चले जाओ !' पुत्रने कहा—'इस अवस्थामें मैं कैसे जाऊँ।' भट्टाचार्य महाशय बोले—'मैं कहता हूँ, तुम चले जाओ।' सबसे छोटे पुत्र रामप्रसन्नको आदेश दिया—'तुम दिगसुई चले जाओ। तुम्हारी भाभी पूर्णगर्भा हैं। वहाँ एक आदमीका रहना आवश्यक है। अकस्य ही ऐसा कुछ होगा नहीं।' पिताकी आज्ञा न टाल सकनेके कारण कनिष्ठ पुत्र गाँव चले गये। ब्राह्मण होकर दासत्व कर रहे हैं—इसलिये अथवा किसी दूसरे कारणसे महापुरुषने इन लोगोंको दूर भेज दिया, सो कहा नहीं जा सकता। तीसरे पुत्र आशुतोषसे बोले—'तुम उपवास करो। मैं यदि उस समय स्वयं चान्द्रायण नहीं कर सका तो तुम करना।' पुत्र आशुतोषने उपवास किया। उन्होंने यहाँ भी श्रीगोपालजीके कुछ भोग चढ़ाकर ही प्रसाद पाया।

ज्यों-ज्यों दिन चढ़ने लगा, त्यों-त्यों वे गङ्गाके निकटस्थ होने लगे। सन्ध्याको बोले—'आशु ! चान्द्रायणकी व्यवस्था करो।' आशुतोषने विचार किया—'पिताके चान्द्रायणकी व्यवस्था मैं ही करूँगा।' इधर-उधर करते हुए वे ऊपरकी ओर जा रहे थे, इसी समय त्रिवेणीके अम्बिकाचरण विद्यारत्नके साथ उनकी भेंट हो गयी। विद्यारत्नने पूछा—'आशु ! यहाँ कहाँ ?' आशुतोषसे सारी बातें सुनकर, विद्यारत्न महोदयने कहा—'नारायण दादा देहत्याग करनेके लिये आये हैं, चलो—उनके पास जायँ।' विद्यारत्न महाशयके

पास पहुँचते ही भट्टाचार्यजीने कहा—'अम्बिका ! आ गये भाई ! मुझे चान्द्रायण करा दो।' विद्यारत्न महाशयने चान्द्रायण कराया और भट्टाचार्य महाशयजीने स्वयं किया।

दिन बीतनेपर ही था। भट्टाचार्य महाशय जलमें उतरे और छातीतकके जलमें जाकर जप करने लगे। चारों ओर मनुष्योंकी भीड़ लगी हुई है। घोषपाड़ाके दोलयात्री लोगे 'दिगसुई' ग्रामके नारायण भट्टाचार्य महाशय देहत्याग कर रहे हैं—सुनकर गाँवको नहीं लौटे और वहीं नाम-संकीर्तन करने लगे। हरिनामकी बड़ी घनी और ऊँची ध्वनिसे त्रिवेणीका तट गूँज उठा। बड़े जोरोंसे हरिनाम-संकीर्तन चलने लगा।

श्रीसूर्यदेव अस्ताचलपर पहुँचे। जब भगवान् भास्कर अर्धास्त थे, तभी महापुरुषने कहा—'आशु ! मेरी कमर तो पकड़ो।' आशुतोषने कमर पकड़ ली। उन्होंने भ्रूमध्यमें दृष्टि जमाकर ब्रह्मरन्ध्रके द्वारसे देहत्याग कर दिया और परमधामको पधार गये। आश्चर्यमें डूबा हुआ जनसमूह महापुरुषके इस दिव्य महाप्रयाणके दर्शन कर निर्वाक् और स्तब्ध रह गया। दिनकरने महापुरुषकी वियोग-वेदनासे व्यथित होकर अपनेको छिपा लिया ! सुना जाता है कि उस समय वहाँ कुछ वर्षा हुई। प्रत्यक्षदर्शी बतलाते हैं कि चन्दनकी वर्षा हुई थी।

संतकी वृत्ति

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति ।

सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोऽस्ति सङ्गयो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः ॥ (महाभारत)

संतोंका सदा सनातनधर्मके अनुकूल बर्ताव होता है। संत कभी हतोत्साह या व्यथित नहीं होते। सत्पुरुषोंका सत्पुरुषोंके साथ किया हुआ समागम कभी निष्फल नहीं होता। सत्पुरुषोंसे सत्पुरुषोंको कभी भय नहीं प्राप्त होता।

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामायणके प्रचारकी योजना

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखकी अमृतवाणी है। मानवमात्रके लिये उसमें निःसन्देह है। कर्तव्यके सम्बन्धमें सन्देहमें पड़े हुए वीरवर अर्जुनके बहाने भगवान् ने जगत्भरके मनुष्योंके लिये परमश्रेष्ठ कर्तव्यपथका सरल और स्पष्ट निर्देश श्रीमद्भगवद्गीतामें किया है। इस प्रकार गीता कर्तव्यशास्त्र है। साथ ही वह महान् दार्शनिक तत्त्वोंको सरल भाषामें प्रत्यक्ष दिखा देनेका प्रकाशपुञ्ज है। इसलिये वह महान् अध्यात्मशास्त्र है। ज्ञानी, भक्त, योगी, कर्मयोगी, संसारी सभीके लिये गीतामें सदुपदेश है। गीताकी शिक्षाके अनुसार जीवन बन जाय तो सारा संसार सुखी हो सकता है। साथ ही गीताका प्रत्येक श्लोक महामन्त्र है। उसके पाठसे महान् लाभ है।

गीताको जीवनमें उतारनेवालोंके लिये तो कहना ही क्या है, जो गीताका अध्ययन करता है, उसका पाठ करता है, उसकी भी भगवान् अपने श्रीमुखसे प्रशंसा करते हैं। भगवान् ने स्वयं अर्जुनसे कहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ (गीता १८।७)

‘जो पुरुष हम दोनोंके संवादरूप इस धर्ममय गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानपूजित होऊँगा। ऐसा मेरा मत है।’

इससे सिद्ध है कि जो गीताका पाठ करता है, वह ज्ञानयज्ञके द्वारा श्रीभगवान् की पूजा करता है। गीतामें जिस सत्यके स्वरूप और अधिकारीभेदसे उसकी प्राप्तिके विविध उपायोंका उपदेश उसका प्रत्यक्ष उदाहरण श्रीरामचरितमानसका इतिहास है। गीतामें जो कुछ कहा गया है, भाग्य श्रीरामकी जीवनलीलाओंमें वही किया गया है। श्रीरामचरितमानसमें उसीका सुन्दर, सरस सजीव वर्णन है। साथ ही रामचरितमानस भी मन्त्रमय है।

रामचरितमानसकी प्रशंसा करते हुए श्रीगोस्वामीजी स्वयं कहते हैं—

जे एहि कथहि सनेह समेता । कहिहहिं सुनिहहिं समुद्धि सचेता ॥

होइहहिं रामचरन अनुरागी । कलिमलरहित सुमंगल भागी ॥

अन्तमें वे कहते हैं—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं

मायामोहमलपहं सुविमलं प्रेमाशुभुपूरं शुभम् ।

श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये

ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दहन्ति नो मानवाः ॥

‘यह श्रीमद् रामचरितमानस बड़ा ही पवित्र, पापहारी, सदा कल्याणकारी, विज्ञान और प्रदान करनेवाला, मायामोहरूपी मलका नाशक तथा प्रेमरूपी निर्मल और पवित्र जलसे परिपूर्ण है। लोग भक्तिपूर्वक इसमें गोता लगाते हैं, वे संसाररूपी प्रचण्ड सूर्यकी किरणोंसे नहीं जलते।’

ये दोनों ग्रन्थ विश्व-साहित्यके अमूल्य रत्न हैं। इनके स्वाध्यायसे लोक-परलोकमें परम कल्याण प्राप्ति होती है। इन्हीं दोनों कल्याणमय ग्रन्थोंके भावोंका अधिकाधिक प्रचार तथा इनके पारायणका घर विस्तार हो, इसी उद्देश्यसे गीताप्रसंगे अध्यान ‘श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ’ की स्थापना की गयी

संख्या ५]

इसमें गीता-विभागमें ५ प्रकारके तथा श्रीरामायणमें ३ प्रकारके सदस्य बनाये जाते हैं। प्रत्येक वर्ण, जाति और आश्रमके नर-नारी, बालक, युवा, वृद्ध सभी इसमें सदस्य बन सकते हैं। सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। प्रेमपूर्वक गीता और रामायणका पारायण और अध्ययन ही इसकी सदस्यताका मूल्य है। अवतक २१००० के लगभग सदस्य बन चुके हैं। इसके नियम नीचे दिये जाते हैं। उन्हें पढ़कर तथा समझकर उनका घर-घर प्रचार करना चाहिये और अधिक-से-अधिक सदस्य बन-बनाकर पुण्य-जीवन बनाना चाहिये। कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे मैं विनीत भावसे इसके लिये अनुरोध करता हूँ। सदस्यताके आवेदनपत्रका कार्ड साथ जा रहा है। जिस प्रकारका सदस्य बनना हो उस संख्यापर + निशान लगाकर नाम, पता इत्यादि भरकर कार्ड भेज देना चाहिये।

विनीत—हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक—'कल्याण'

सङ्घके नियम

- (१) श्रीगीता और रामायणके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखनेवाला तथा सङ्घके नियमोंका पालन करनेवाला प्रत्येक पुरुष, स्त्री, बालक, युवा, वृद्ध और प्रत्येक वर्ण और आश्रमका मनुष्य इस सङ्घका सदस्य बन सकता है।
- (२) सदस्य बननेके लिये सङ्घद्वारा निर्धारित आवेदन-पत्र भरकर संयोजकके पास भेजना होगा।
- (३) एक ही व्यक्ति गीता और रामायण दोनों विभागोंका सदस्य बन सकता है।
- (४) जो सज्जन स्वयं श्रीगीता और रामायणका पाठ करेंगे तथा दूसरोंसे भी पाठ करानेकी चेष्टा करेंगे, वे सङ्घके सहायक समझे जायेंगे।
- (५) संयोजक किसी सज्जनको उनकी विशेष योग्यताके कारण भी सङ्घका सदस्य या सहायक बना सकता है।
- (६) संयोजक आवश्यकतानुसार सङ्घके नियमोंमें परिवर्तन-परिवर्तन कर सकता है।
- (७) सङ्घके दो विभाग हैं—एक गीता-विभाग और दूसरा रामायण-विभाग।

श्रीगीता-विभागमें सम्मिलित होनेवाले सदस्योंके निम्न पाँच प्रकार हैं—

- (१) जो नित्य सम्पूर्ण गीताका (१८ अध्यायोंका) अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमसहित एक पाठ करें। इनके द्वारा प्रतिवर्ष सम्पूर्ण गीताके ३६० पाठ हो सकेंगे।
- (२) जो नित्य गीताके नौ अध्यायोंका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें अर्थात् एक दिन अ० १ से ९ तक और दूसरे दिन अ० १० से १८ तक पाठ करें। इनके द्वारा एक वर्षमें सम्पूर्ण गीताके १८० पाठ हो सकेंगे।
- (३) जो नित्य गीताके ६ अध्यायोंका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें अर्थात् पहले दिन अ० १ से ६ तक, दूसरे दिन अ० ७ से १२ तक, तीसरे दिन अ० १३ से १८ तक—इस क्रमसे करें। इनके द्वारा वर्षभरमें सम्पूर्ण गीताके १२० पाठ हो सकेंगे। वर्षभरका अर्थ यह है कि जिस तिथि या तारीखसे पाठ आरम्भ किया जाय, अगले वर्ष उसी तिथि या तारीखको नववर्षारम्भ समझा जाय।
- (४) जो पंद्रह दिनोंमें प्रेमपूर्वक सम्पूर्ण गीताका अर्थसहित पाठ करें अर्थात् प्रतिपदासे लेकर एकादशी-तक म्यारहवें अध्यायतकका पाठ करें, द्वादशीको बारहवें और तेरहवें अध्यायका, त्रयोदशीको चौदहवें और पंद्रहवें अध्यायका, चतुर्दशीको सोलहवें और सतरहवें अध्यायका तथा अमावास्या या पूर्णिमाको

अठारहवें अध्यायका पाठ करें। इस प्रकार एक मासमें दो पाठ यानी कृष्णपक्षमें एक और शुक्लपक्षमें एक पाठ करें। यदि कोई तिथि उस पक्षमें बढ़ती हो तो सोलहवें-सतरहवें अध्यायोंका पाठ एक ही दिनमें न करके दो दिनोंमें पूरा करें और यदि कोई तिथि घटती हो तो सातवें और आठवें अध्यायका एक ही दिनमें कर लें। तात्पर्य यह कि एक महीनेमें सम्पूर्ण गीताके दो पाठ अवश्य पूर्ण करने हों। इसके अतिरिक्त सालमें २४ पाठ मूलके भी करने चाहिये। प्रत्येक एकादशीको या सुविधानुसार अमावास्या-पूर्णिमाको सम्पूर्ण गीताका एक पाठ कर लेनेसे मासमें दो पाठ हो सकते हैं। इस प्रकार

सालमें कुल ४८ (२४ मूल, २४ अर्थसहित) पाठ होने चाहिये।

- (५) गीताके अनुसार जीवन बनानेके लिये प्रतिदिन कम-से-कम एक घंटा गीताके श्लोकोंपर गम्भीरतासे विचार करें। इसके सदस्य उन्हीं लोगोंको बनना चाहिये जो गीताके भावोंको समझनेकी योग्यता रखते हों।

गीताका पाठ करनेवाले प्रत्येक सज्जनसे विशेषकर ५ वें प्रकारवालोंसे यह निवेदन है कि जो गीताके दो श्लोकोंका भाव समझ सकें तो प्रतिदिन 'गीताप्रेससे प्रकाशित गीता-तत्त्वविवेचनी' टीकामेंसे गीताके दो श्लोकोंका भाव प्रेमपूर्वक पठन और मनन करें।

श्रीरामायण-विभागमें सम्मिलित होनेवाले सदस्योंके निम्न तीन प्रकार हैं—

- (१) जो नित्य नवाह्न-पारायणकी रीतिसे तुलसीकृत रामायण (श्रीरामचरितमानस) का अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।
 - (२) जो नित्य मासपारायणकी रीतिसे अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।
 - (३) जो नित्य कम-से-कम सात दोहोंका (चौपाई-छंद आदिसहित) प्रेमपूर्वक अर्थसहित पाठ करें।
- इस प्रकार सम्पूर्ण रामायणका एक पारायण चैत्र शुक्ल दशमीको आरम्भ करके आश्विन शुक्ल दशमीको पूरा हो जाय और दूसरा आश्विन शुक्ल दशमीको आरम्भ करके चैत्र शुक्ल ९ को पूरा हो जाय। सालभरमें सम्पूर्ण रामायणके कम-से-कम दो पाठ कर लें।

(मासपारायण और नवाह्नपारायणके विश्रामस्थल गीताप्रेससे प्रकाशित रामचरितमानस अनुसार समझने चाहिये ।)

मन्त्री—

राम अग्रवाल

संयोजक—

रामजीदास बाजवा

गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सूचना—जो सज्जन सङ्घका सदस्य बनना चाहें वे सदस्य बननेके आवेदन-पत्र सङ्घके कार्यालयसे पत्र लिख मँगवा लें।

आवेदन-पत्र भरते समय ठिकाना तथा पाठके प्रकारको स्पष्ट लिखना चाहिये एवं पो० तथा जिला हिन्दी अंग्रेजी दोनोंमें साफ-साफ लिखना चाहिये।

एक बार बने हुए सदस्य दुबारा आवेदन-पत्र न भरें।

पत्र-व्यवहार करते समय अपनी सदस्य-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये।

सालमें दो बार पाठकी सूचना अवश्य देनी चाहिये।

पाठोंके सूचना-कार्डोंमें सदस्य नहीं बनाने चाहिये।

लोक-परलोकका सुधार

प्रकाशित हो गयीं !!

(कामके पत्र भाग ५)

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २८०, सुन्दर सचित्र मुखपृष्ठ, मूल्य ॥) मात्र—

कल्याण-कुञ्ज भाग ३

‘शिव’ के मनकी तरङ्गोंका यह नया संग्रह प्रकाशित किया गया है। पृष्ठ-संख्या १८४, भगवान्

शिवका सुन्दर बहुरंगा चित्र, मूल्य १=) मात्र।

श्रीरामचरितमानस—मूल मझली साइजके

सातों काण्ड अलग-अलग

कई जगह विद्यालयोंके शिक्षाक्रममें मूल रामचरितमानसके पृथक्-पृथक् सातों काण्ड रक्खे गये हैं। गीताप्रेससे सटीक तो पहलेसे ही मिलते हैं, अब मूल भी प्रकाशित हो गये हैं। विवरण—बालकाण्ड—पृ० १२, तिरंगा चित्र, मू० ॥=), अयोध्याकाण्ड—पृ० १६०, तिरंगा चित्र, मू० ॥), अरण्यकाण्ड—मू० ३), किल्बिषाकाण्ड—मू० ३), सुन्दरकाण्ड—मू० ३), लङ्काकाण्ड—मू० १) और उत्तरकाण्ड—मू० १)

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पाँच पुस्तकोंके नये संस्करण

श्रीमद्विद्वद्वर—वरदराजाचार्यप्रणीत

लघुसिद्धान्तकौमुदी (टिप्पणियाँ सहित)

डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ ३६८, सुन्दर टाइटल, मूल्य ॥१) मात्र।

संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये अतीव उपयोगी इस व्याकरण ग्रन्थके सात संस्करण गीताप्रेससे बहुत दिन पहले ही निकल चुके थे। युद्धजनित कठिनाइयोंके कारण इसका पुनर्मुद्रण रुक गया था। अब आठ सालके बाद फिर छपी है। सन् १९४३से १९५२ तकके ‘प्रश्नपत्र’ भी अन्तमें दे दिये गये हैं।

प्रश्नोपनिषद्

(सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित)

डिमाई आठपेजी, पृष्ठ १२८, पिप्पलादके आश्रममें सुकेशादि मुनिका तिरंगा चित्र, मू० ॥३), इसमें मन्त्र, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और उसका हिन्दी-अनुवाद मूलके सामने-सामने दिया गया है।

ऐतरेयोपनिषद्

(सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित)

इसमें भी उसी तरह मन्त्र, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और उसका हिन्दी अनुवाद है। पृष्ठ-सं० १०४, भगवान् शङ्कराचार्यका तिरंगा चित्र, मू० ॥=) मात्र।

मुण्डकोपनिषद्

(सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित)

पृ० १२२, अङ्गिरस और शौनक-संवादका तिरंगा चित्र, मू० ॥३) मात्र।

२) वाली श्रीरामचरितमानस

(मूल—मझली साइज)

—छपकर तैयार हो गयी है। बहुत दिनोंसे लोग माँग रहे थे, अब ले सकते हैं।

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग।

यहाँ आर्डर भेजनेसे पहले अपने स्थानके बुकसेलरसे माँगिये। इससे आपका डाकखर्च बचेगा।

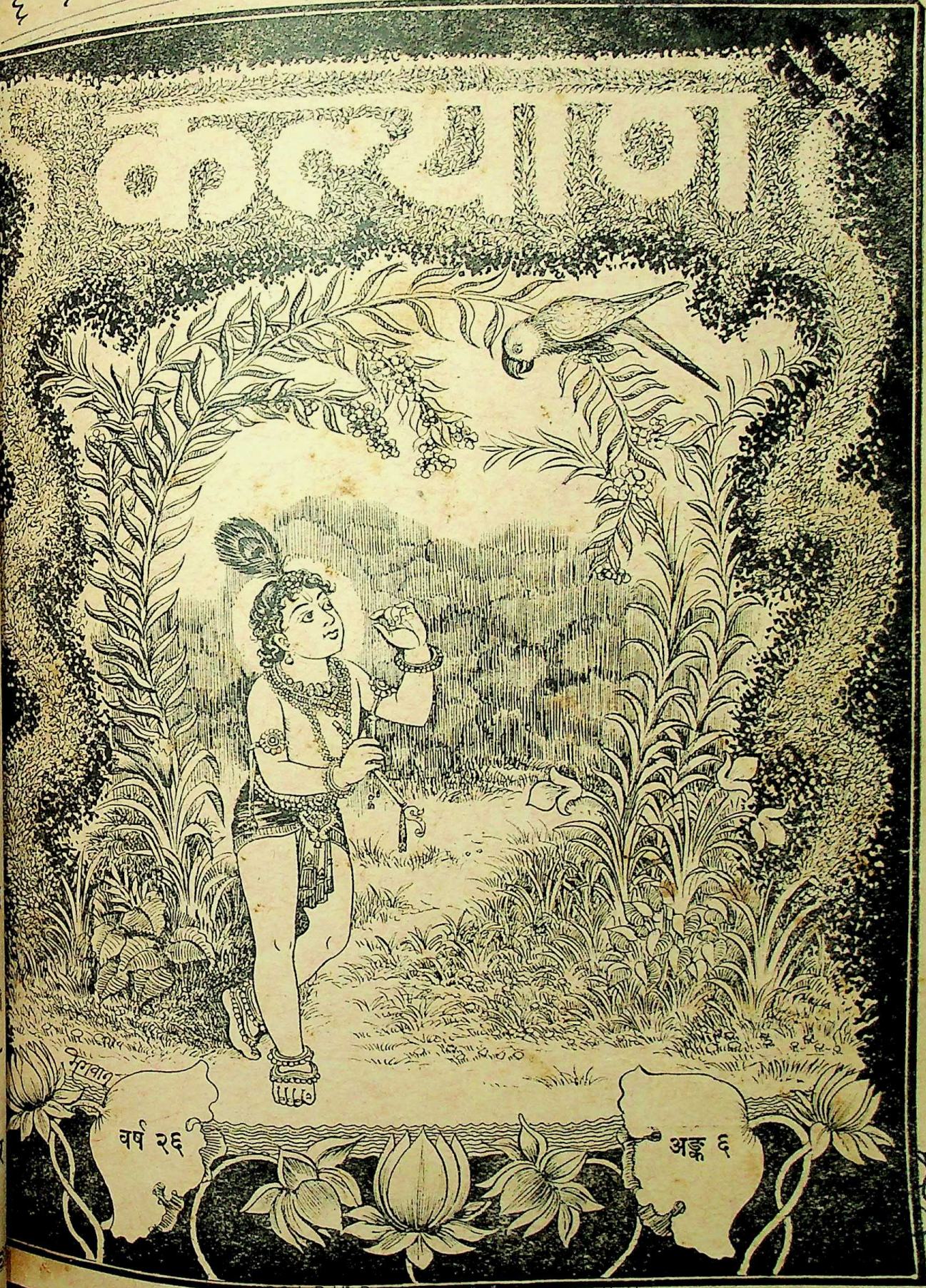
‘भक्त-चरिताङ्क’ अभी मिल सकता है

‘कल्याण’ के ‘भक्त-चरिताङ्क’ को भारत के सभी श्रेणी के लोगों ने बहुत ही पसंद किया है। देश के प्रसिद्ध समाचारपत्रों ने इसकी महत्त्वपूर्ण आलोचना प्रकाशित की है। कई जगह तो नियमित रूप से ‘भक्त-चरिताङ्क’ की कथा होने के समाचार मिले हैं। इसमें सभी श्रेणी के प्राचीन और नवीन भक्तों के मधुर, पावन और उपदेशप्रद चरित्रों का सचित्र चित्रण होने से यह सभी के लिये प्रिय वस्तु हो गया है। इसे भक्तों का एक विशाल चरित्रकोष समझना चाहिये। ‘भक्त-चरिताङ्क’ को पढ़ना चाहने वाले कई सज्जन बड़ी उत्सुकता से पत्र लिखकर पूछते हैं कि ‘भक्त-चरिताङ्क’ से ‘कल्याण’ के ग्राहक अभी बनाये जाते हैं या नहीं ? उन लोगों की जानकारी के लिये तथा नया ग्राहक बनने की इच्छा रखने वालों के लिये यह सूचना दी जाती है कि अभी तक ‘भक्त-चरिताङ्क’ से ‘कल्याण’ के नये ग्राहक बनाये जा रहे हैं। जिनको ग्राहक बनना हो, वे तुरंत मनीआर्डर से साढ़े सात रुपये भेजकर या बी० पी० से ‘भक्त-चरिताङ्क’ तथा अब तक के प्रकाशित अङ्क भेजने का आदेश देकर शीघ्र ग्राहक बन जायँ। नये ग्राहकों की माँग बराबर आ रही है। इसी तरह ग्राहक बनते गये तो कुछ समय बाद नये ग्राहक बनाना बंद करना पड़ेगा। इसलिये जल्दी करनी चाहिये।

प्रसिद्ध ‘हिंदू-संस्कृति-अङ्क’ के लिये भी लोग पूछते हैं, उनसे भी निवेदन है कि ‘हिंदू-संस्कृति-अङ्क’ अभी मिल सकता है। मूल्य डाकव्यय सहित साढ़े छः रुपये हैं।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’ गोरखपुर

बहुत ही
लोचना
की कथा
भक्तोंके
सभीके
समझना
सुकतासे
नी बनाये
ग्राहक
अभीतक
जिनके
या वी०
आदेश
ही है
माना बंध
नसे भी
कव्यय
गोरखपुर



वर्ष २६

अंक ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २००९, जून १९११

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-भगवान्की झाँकी [कविता] (संकलित—श्रीमद्भागवत ३ । २१ । ९-११ के आधारपर)	१०६
२-कल्याण ('शिव')	१०६
३-सभी वर्णाश्रमोंमें मुक्ति (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१०६
४-श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन	१०६
५-चाह और स्थिति [कविता] (श्री 'भारतेन्दु' जी)	१०६
६-कर्ममीमांसा (स्वामी चिदानन्दजी सरस्वती)	१०६
७-रसखानि [कविता] (श्री 'रसखान' जी)	१०६
८-प्रतीकोपासना और शिवलिङ्ग-रहस्य (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्योपाध्याय, एम० ए०)	१०६
९-हमारा आदर्श क्या है ? (श्रीनलिनीकान्त गुप्त)	१०६
१०-श्रीरामचरितकी उज्ज्वलता (श्रीश्रीकान्तशरणजी)	१०६
११-उपदेश [कविता] (संकलित)	१०६
१२-अपने कामको ईमानदारीसे पूर्ण करना ही प्रभुकी पूजा है (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)	१०६
१३-सत्य, क्षमा, तितिक्षा, इन्द्रियदमन आदिकी महिमा	१०६
१४-बोधमाला (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)	१०६
१५-कुसङ्गसे हानि (संकलित—महाभारत, वनपर्व)	१०६
१६-धर्मात्मा [कहानी] (श्री 'चक्र')	१०६
१७-पश्चिमीय विचारधारामें ईश्वरका आकर्षण (श्रीपरिपूर्णानन्दजी बर्मा, एम० एल० ए०)	१०६
१८-कुछ नहीं (श्रीआनन्दीप्रसादजी मिश्र 'निर्द्वन्द्व')	१०६
१९-ऐसी रहनी रहिये [कविता] (श्री 'भगवतरसिक' जी)	१०६
२०-मानसकी स्वप्न-कथाएँ (श्रीकुन्दनलालजी नन्हौरया)	१०६
२१-परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)	१०६

चित्र-सूची

तिरंगा

१-कर्मको कृतार्थ करनेवाले भगवान् श्रीहरि

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ छिल्लिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनन्द भूमा जय जय
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥



यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद् वर्ष्म तद्वच्छुभं नेत्रे चेतपसोजिते सुरुचिरे श्वाभ्यां हरिर्दृश्यते ।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

वर्ष २६ }

गोरखपुर, सौर आषाढ २००९, जून १९५२

{ संख्या ६
पूर्ण संख्या ३०७

भगवान्की झाँकी

मनिजटित मंजु किरीट कुंडल कल कपोल सुहावने ।
मुखकंज पर अलकैं सचिक्कन स्याम सौरभसों सने ॥
वर तिलक भ्रकुटी बंक दग आयत मनोहर कंज-सो ।
नासा अधर अति सोहने हसि मधुर चितवनि अमृत-सो ॥
लस उर सुकौस्तुभ माल मुक्ता सुभग बनमाला वनी ।
केयूर कंकन चारि आयुध मुद्रिका अति सोहनी ॥
पट पीत तडित-विनिंद कर लिये केलि-पंकज सोहनो ।
कटि किंकिनी पदकंज नूपुर शब्द अति मनमोहनो ॥
पदकंज विनतासुअनके वर अंस पर राजत घनो ।
तेहि देखि कर्दम प्रेम भर हिय हरष अति गदगद तनो ॥
(संकलित—श्रीमद्भागवत ३ । २१ । ९-११ के आधारपर)

कल्याण

यह तो जानते ही हो—दुःख पापका परिणाम है और सुख पुण्यका । अतः जब तुम्हें संसारमें दुःख मिलता है, तुम्हारे भोग-सुखका नाश होता है, तब तुम्हारे पापका क्षय होता है, तुम एक भयानक कर्म-ऋणसे मुक्त होते हो; और जब तुम्हें संसारमें भोग-सुख प्राप्त होता है, तुम्हारे भौतिक दुःखका अभाव होता है, तब तुम्हारे पुण्यका क्षय होता है, तुम्हारे सत्कर्मकी पूँजी समाप्त होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि भोग-सुखकी प्राप्तिमें हानि है और सांसारिक दुःखकी प्राप्तिमें लाभ है । इसलिये जब भोग-सुख मिले, तब तो उसे इस प्रकार अनिच्छासे भोगो कि 'भोगे बिना छुटकारा नहीं, इसलिये बाध्य होकर भोगना पड़ता है, वस्तुतः है तो हानिकी चीज' और सांसारिक दुःख मिले तब उसे चावसे—उत्साहसे भोगो—यह समझकर कि इसमें बड़ा लाभ है ।

याद रखो—तुम्हारे रोने-चिल्लानेसे प्रारब्धका दुःख-भोग मिट नहीं जायगा और बड़ी भारी चाह तथा चिन्ता करनेसे भोग-सुख मिल नहीं जायगा; पर यदि तुम दुःखमें सुख तथा लाभ-बुद्धि कर लोगे और सुखमें दुःख तथा हानि-बुद्धि कर लोगे, जो यथार्थ है, तो तुम्हें सांसारिक दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेग या क्लेश नहीं होगा और सुखोंकी स्पृहा या अभिलाषा नहीं होगी । अपने-आप आनेपर तुम दोनोंमें ही निर्विकार और प्रसन्न रहोगे ।

याद रखो—भोग-सुखकी स्पृहा या इच्छा ही सारे दुःखोंका मूल है । इसीके कारण मनुष्य नाना प्रकारके दुष्कर्म करता है और इसीके कारण बार-बार निराश, उदास और कर्तव्यच्युत होकर आत्मविनाशके पथपर चलता है । यदि भोग-सुखकी हानियोंसे मनुष्य परिचित हो जाय और उनका स्मरण रखे तो वह भोग-सुखके लिये कभी ललचा नहीं सकता ।

याद रखो—गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि—'जितने भी ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोग प्राप्त होनेवाले भोग हैं, वे सब विषय-विमोहित लोगों को सुखरूप दीखनेपर भी वास्तवमें निश्चित दुःख उत्पन्न करनेवाले ही हैं तथा अनित्य हैं । इसलिये कोई भी बुद्धि रखनेवाला मनुष्य इन भोग-सुखोंमें नहीं रमता ।'

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(५।२२)

याद रखो—सच्चा बुद्धिमान् तो वह है, जो रहस्यको समझ लेता है और सारे जगत्की उत्पत्तिका कारण और जगत्की सारी प्रवृत्तियोंका हेतु एकमात्र श्रीभगवान्को मानकर, भावपूर्ण हृदयसे भगवान्को भजता है ।

याद रखो—भगवान्को भजनेवाला सच्चिदानन्दभगवान्को प्राप्त होता है और विषयोंका चिन्तन करनेवाला अनित्य और दुःखमय विषयोंको । भगवान्की प्राप्तिसे सारे दुःखोंका सदाके लिये अन्त होकर परम सुख शान्तिकी नित्य अनुभूति होती है और विषयोंकी प्राप्तिसे विषयोंकी अपूर्णता, परिवर्तनशीलता, क्षणभङ्गुरता और भोग-पराधीनताको लेकर नित्य नये-नये दुःखोंकी आग बढ़ती रहती है, जो जन्म-जन्मान्तरतक भीषण रूपसे जलाती रहती है ।

याद रखो—मनुष्यका शरीर दुःखोंसे सर्वथा छुटकारा दिलानेके लिये भगवान्ने कृपापूर्वक दिया है इसे यदि नये-नये भयानक दुःखोंकी प्राप्ति करानेवाले विषयासक्ति, विषय-सेवा और भगवान्की विमुखतामें बिता दिया तो इससे बड़ी मूर्खता एवं हानि और कष्ट होगी ? क्योंकि ऐसा करनेपर भगवत्कृपाकी अवहेलना होती है और मानव-जीवनके दुर्लभ सुअवसरका दुरुपयोग होता है ।

‘शिव’

सभी वर्णाश्रमोंमें मुक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कई सज्जन कहते हैं कि मुक्ति संन्यास-आश्रममें ही होती है, गृहस्थमें नहीं; किंतु उनका यह कहना कहाँ तक उचित है—समझमें नहीं आता; क्योंकि श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंको देखनेसे मालूम होता है कि सभी वर्ण और आश्रमोंमें मुक्ति होती है। मुक्तिमें वर्ण, आश्रम और जातिकी प्रधानता नहीं; सद्गुण, सदाचार, ईश्वरभक्ति और ज्ञानकी ही प्रधानता है; और यह बात शास्त्र एवं युक्तिसङ्गत है।

यदि कहें कि मुक्ति तो ज्ञानसे ही होती है—‘ऋते ज्ञानान् मुक्तिः’—इस सिद्धान्तके अनुसार निष्कामकर्म और ईश्वरभक्ति आदि साधनोंसे मुक्ति नहीं होती तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि जिस परमात्माके ज्ञानसे मुक्ति बतलायी है, वह ज्ञान निष्कामकर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अपने-आप ही हो जाता है।

गीतामें भगवान् ने कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

(४ । ३८)

‘इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।’

इसके सिवा, गीतामें जगह-जगह निष्काम कर्मसे मुक्ति बतलायी है (जैसे—२ । ५१, ३ । १९, ५ । ११-१२ आदि-आदि)।

जब निष्कामकर्मसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर अपने-आप ही ज्ञान होकर मुक्ति हो जाती है, तब ईश्वरकी भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाय,

इसमें तो कहना ही क्या है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान् ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

तेषामेवानुक्तमर्थमहमज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(१० । १०-११)

‘उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।’

तथा श्रीभगवान् ने नवें अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

‘हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।’

ईश्वरकी भक्तिसे जब स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि आदितककी परम गति बतलायी है, तब फिर यह कहना बन ही कैसे सकता है कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती। ईश्वरकी भक्तिसे जातिसे नीच मनुष्योंतकके कल्याणकी बात श्रीमद्भगवत्में भी आती है—

किरातह्वणान्धपुलिन्दपुल्कसा

आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।

येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः

शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

‘जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुलकस, आभीर, कङ्क, यवन, और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।’

शास्त्रोंमें सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें भक्ति, ज्ञान और निष्कामभाव आदि सभी साधनोंसे मुक्ति बतलायी है और इसके अनेकों उदाहरण भी वेद-पुराण और इतिहासमें मिलते हैं।

छान्दोग्योपनिषद्में बतलाया है कि उद्दालक मुनिने अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति ज्ञानका उपदेश देकर उसका उद्धार कर दिया। जबालके पुत्र सत्यकामको गुरुकी आज्ञा पालन करनेसे ब्रह्मचर्याश्रममें रहते हुए ही ब्रह्मज्ञान होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी एवं सत्यकामके शिष्य उपकोशल-ने भी ब्रह्मचर्याश्रममें ही गुरुकी सेवासे ब्रह्मको प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार राजर्षि अश्वपति और राजा जनक स्वयं तो मुक्त थे ही, उनके पास बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी ज्ञान लेने जाते और मुक्ति प्राप्त किया करते थे। राजा अश्वपतिके पास जाकर प्राचीनशाल आदि ऋषियोंने ज्ञान प्राप्त किया और वे मुक्त हो गये।

याज्ञवल्क्य ऋषिसे उनकी पत्नी मैत्रेयीने ज्ञान प्राप्त किया। वचक्रुकी पुत्री गार्गी स्वयं ही जीवनमुक्त थीं, जिन्होंने राजा जनककी सभामें ब्रह्मवेत्ताओंके प्रसङ्गमें याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किये थे। इनकी कथा बृहदारण्यको-पनिषद्में देखनी चाहिये।

यमराजसे उपदेश प्राप्त करके नचिकेताके जीवनमुक्त होनेकी बात कठोपनिषद्में आती ही है।

माता-पिताकी सेवासे मूक चाण्डाल, पातित्रयके पालनसे शुभा नामकी स्त्री, न्याययुक्त सत्यतापूर्वक कय-विक्रयसे तुलाधार वैश्य, उत्तम गुणोंसे सज्जन अद्रोहक एवं भगवद्भक्तिसे वैष्णव परमात्माको प्राप्त हो गये।

इनका आख्यान पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें बड़े ही विस्तार आता है, वह देखने योग्य है।

राजा चोल तथा ब्राह्मण विष्णुदास भी ईश्वर भक्तिसे परमपदको प्राप्त हो गये, यह कथा पद्मपुराण पातालखण्डमें आती है। राजा अम्बरीष भीष्मपितामहको भगवद्भक्तिके प्रभावसे भगवान्की प्राप्ति होनेका उल्लेख श्रीमद्भागवतमें आता है तथा अर्जुन और द्रौपदीको परमपद-प्राप्तिका वर्णन महाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें है। मार्कण्डेयपुराणमें भगवत्प्राप्ति के उपासनासे समाधि वैश्यकी परमपद-प्राप्तिकी कथा है। सूत, सञ्जय और दासीपुत्र विदुर, जिनकी कथा महाभारतमें आती है, भगवान्की भक्तिसे भगवान्को प्राप्त हो गये। शबरी भीलनीने भी भगवान्की भक्ति कर भगवत्प्राप्ति कर ली, जिसकी कथा वाल्मीकीय रामायण मिलती है।

इस प्रकार सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें अनेक स्त्री-पुरुषोंको कर्म, उपासना तथा योग आदि साधनोंसे परमात्माकी प्राप्ति होनेका उल्लेख शास्त्रोंमें जगह-जगह पाया जाता है, कहाँतक दिखलावें।

उपर्युक्त उदाहरणोंमें अधिकांश गृहस्थाश्रमी हैं अन्य सभी आश्रमियोंका भरण-पोषण गृहस्थाश्रमसे होता है, इसलिये पुराणोंमें कहीं-कहीं तो गृहस्थाश्रमसे अन्य आश्रमोंसे श्रेष्ठ भी बतलाया है। इसलिये जो नारी गृहस्थाश्रममें रहकर अपने वर्णधर्मका निष्कामभाव पालन करते हुए ईश्वरकी अनन्यभक्ति करते हैं, उनकी मुक्तिमें कोई सन्देह नहीं है? श्रीस्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डमें महात्मा नन्दभद्र वैश्यकी बड़ी महत्वपूर्ण कथा है, जिनमें अपने वर्णधर्मका भावसे आचरण करना, सम्पूर्ण धर्मोंके सारसत्त्वको समझकर सबको आदर देना एवं साधन-सामान्य भक्ति करना—ये तीनों

[भाग ६]

विशेषताएँ विद्यमान थीं। उनका विस्तृत आख्यान स्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डमें देखने योग्य है। यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये उसका संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

नन्दभद्र नामक एक वैश्य थे। वे साक्षात् धर्मराजकी भाँति समस्त धर्मोंके विशेषज्ञ थे। धर्मोंके विषयमें जो कुछ कहा गया है, उसमें कोई भी ऐसी बात नहीं थी, जो नन्दभद्रको ज्ञात न हो। वे सबके सुहृद् थे और सदा सभीके हितसाधनमें संलग्न रहते थे। उन्होंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा इस परोपकार-धर्मका ही आश्रय ले रखा था। नन्दभद्रने इस विशाल धर्म-समुद्रका सब ओरसे मन्थन करके सारतत्त्व ग्रहण किया था।

वे जीविकाके लिये न्याययुक्त वाणिज्यको श्रेष्ठ मानते थे और उसीको अपनाये हुए थे। उन्होंने थोड़ेसे काठ और घास-फूससे अपने रहनेके लिये घर बना रखा था और सब लोगोंकी भलाईके लिये तथा शरीरनिर्वाहके लिये वे कम मुनाफा लेकर व्यापार करते थे। उनके क्रय-विक्रयकी वस्तुओंमें मदिरा सर्वथा वर्जित थी। उनके यहाँ ग्राहकोंके साथ भेदभाव न करके समताका व्यवहार किया जाता था। झूठ और कपटका तो वहाँ नाम भी न था। वस्तुओंके आदान-प्रदानमें वे सबके साथ समतापूर्ण बर्ताव करते थे। बिना छल-कपटके दूसरोंसे खरीदकी वस्तु लेकर उसे बिना किसी धोखाधड़ीके वे सब लोगोंको समानभावसे बेचते थे; यही उनका श्रेष्ठ व्रत था।

कुछ लोग यज्ञकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र सर्वथा ऐसा नहीं मानते थे। वे श्रद्धापूर्वक देवपूजन, नमस्कार, स्तुति, नैवेद्य-निवेदन आदि यज्ञकी सारभूत बातोंका सदा ही पालन करते थे। कोई-कोई संन्यासकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्र उनसे भी सर्वथा सहमत

नहीं थे। उनका कहना था कि जो किसीका बाहरसे त्याग करके मनसे उनका चिन्तन करता है, वह पुरुष गृहस्थ और संन्याससे अथवा इहलोक और परलोक—दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर फटे हुए बादलकी भाँति नष्ट हो जाता है। संन्यासका जो सारभूत उत्तम तत्त्व है, उसका आदर तो नन्दभद्र भी करते थे।

वे किसीके कर्मोंकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करते थे। किसीके साथ न उनका द्वेष था, न राग; न अनुरोध था, न विरोध। पत्थर और सुवर्णको वे समान समझते तथा अपनी निन्दा और स्तुतिमें भी समान भाव रखते थे। वे स्वभावसे ही धीर थे। सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय रहते थे। अपनी आकृति ऐसी बनायी रखते थे, मानो अन्धे और बहरे हों; अर्थात् वे दूसरोंके दोषोंको न देखते और न सुनते। कर्मोंके फलकी उन्हें कोई आकाङ्क्षा नहीं थी। अतः प्रत्येक कर्म उनके लिये भगवान् सदाशिवकी आराधनाका अङ्ग बन जाता था। इसी कारण वे धर्मका अनुष्ठान तो चाहते और करते थे, परंतु उसमें कोई स्वार्थ नहीं रखते थे। नन्दभद्रने भलीभाँति विचार करके इस मोक्षप्राप्तिके साररूप धर्मको ग्रहण किया था।

कुछ लोग खेतीकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्रने उसके भी सारभागको ही अपनाया था। खेतीकी आयमेंसे तीसवें भागका त्याग करना चाहिये—उसे धर्मके कार्यमें लगा देना चाहिये। बूढ़े पशुओंका भी स्वयं ही पालन-पोषण करना चाहिये। जो ऐसा करे, वही श्रेष्ठ किसान है। नन्दभद्रने इसीको खेतीका सार मानकर इसका आदर किया था।

प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों (अतिथियों), ब्राह्मणों तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भूतोंके लिये अन्न देना चाहिये। सदा इन सबको देकर ही स्वयं भोजन करना उचित है। यह

उनका मत था ।*

कुछ लोग ऐश्वर्यकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र उसे प्रशंसाके योग्य नहीं मानते थे; क्योंकि ऐश्वर्यशाली पुरुष अपनेको चिरस्थायी समझकर दूसरोंके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। वास्तवमें जो धनके मदसे उन्मत्त होता है, वह पतित होकर विवेक खो बैठता है। अतः सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना स्वरूप मानकर उनके प्रति अपने ही जैसा बर्ताव करना चाहिये ।†

* गीतामें भी भगवान्ने ऐसा ही कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(३ । १३)

‘यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूटते हैं और जो पापीलोग अपने शरीरपोषणके लिये ही पकाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं ।’

† श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

(६ । २९)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(६ । ३२)

‘अर्जुन ! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है ।’

‘अर्जुन ! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।’

‘अपनी सादृश्यतासे सम देखने’का तात्पर्य है—जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर, गुदाके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और ग्लेच्छादिकोंका-सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे उनके सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब भूतोंमें देखना चाहिये ।

जिसकी सर्वत्र आत्मदृष्टि है, वह ऐश्वर्यसे नहीं होता । इसलिये नन्दभद्रने ऐश्वर्यका भौतिक निकाल लिया था । वे अपनी शक्तिके अनुसार प्राणियोंकी सेवा करते थे, किसीकी भी सेवा नहीं होते थे । इस आचरणसे रहनेवाले नन्दभद्रके सद्व्यवहारकी देवतालोग भी रखते थे ।

इसी स्थानमें एक शूद्र भी रहता था, जो नन्दभद्रका पड़ोसी था । उसका नाम तो था सत्यव्रत, वह बड़ा भारी नास्तिक और दुराचारी था । इच्छा थी, यदि इनका कोई छिद्र देख पाऊँ तो धर्मसे गिरा दूँ । नन्दभद्रके वृद्धावस्थामें एक पुत्र किंतु वह चल बसा । इसे प्रमत्तका फल मानकर महामति वैश्यने शोक नहीं किया । तदनन्तर, नन्दभद्रकी प्यारी पत्नी कनका, जो पतिव्रता अरुन्धतीकी साध्वी स्त्रियोंके समस्त सद्गुणोंसे विभूषित तथा धर्मकी साक्षात् मूर्ति थी, सहसा मृत्युको प्राप्त हो गई । सत्यव्रतको बहुत दिनोंके बाद बड़ी प्रसन्नता हुई कि ‘कष्टकी बात हुई,’ ऐसा कहता हुआ वह शीघ्र नन्दभद्रके पास आया और मित्रकी भाँति मिलकर बोला—‘नन्दभद्र ! यदि तुम-जैसे धर्मात्माको फल मिला तो इससे मेरे मनमें यही आता है कि धर्म-कर्म व्यर्थ ही है । मैं वाणीके अठारह और नौ दोषोंसे रहित सर्वथा निर्दोष वाक्य

* सूक्ष्मता, संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोजन पाँच अर्थ जिसमें उपलब्ध होते हैं, उसे वाक्य कहते हैं, वह ‘प्रयोजन’ नामक वाक्य कहा गया है । यह प्रथम लक्षण है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्रतिज्ञा करके वाक्यके उपसंहारमें ‘यही वह है’ देना जो विशेषरूपसे सिद्धान्त बताया जाता है, वह ‘निर्णय’ वाक्य है । ‘यह पहले और यह पीछे कहना चाहिये’

प्रकार क्रमविभागपूर्वक जो प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन

संख्या ६]

शास्त्रोंके जालसे पृथक् हो मिथ्यावादोंको छोड़कर केवल सत्य कहना ही मेरा व्रत है । इसलिये मैं 'सत्यव्रत' कहलाता हूँ । मैं तुमसे सच्ची बात कहूँगा ।

जाता है, उसे वाक्यतत्त्वके ज्ञाता विद्वान् 'कर्मयोग' कहते हैं । जहाँ दोषों और गुणोंका यथावत् विभाग करके दोनोंके लिये प्रमाण उपस्थित किया जाय, उसे 'संख्या' वाक्य समझना चाहिये और जहाँ वाक्यके विभिन्न अर्थोंमें अभेद देखा जाता है, उस अतिशय अभेदकी प्रतीतिमें जो हेतु है, उसे ही 'सूक्ष्मता' कहते हैं । यह वाक्यके गुणोंकी गणना हुई ।

वाणीके अठारह दोष इस प्रकार समझने चाहिये—
अपेतार्थ, अभिन्नार्थ, अप्रवृत्त, अधिक, अश्लक्ष्ण, संदिग्ध, पदान्त अक्षरका गुरु होना, पराङ्मुख-मुख, अनृत एवं असंस्कृत, त्रिवर्गविरुद्ध, न्यून, कष्टशब्द, अतिशब्द, व्युत्क्रामिहृत, सशेष, अहेतुक तथा निष्कारण । जिस वाणीके उच्चारण करनेपर भी अर्थका भान न हो, वह 'अपेतार्थ' है । जिससे अर्थभेदकी स्पष्ट प्रतीति न हो, वह 'अभिन्नार्थ' है । जो सदा व्यवहारमें न आता हो ऐसा शब्द 'अप्रवृत्त' कहा गया है । जिसके न रहनेपर भी वाक्यार्थ-बोध हो जाता है, वह वाक् या शब्द 'अधिक' है । अस्पष्ट अथवा अपरिमार्जित वाणीको 'अश्लक्ष्ण' कहते हैं । जिससे अर्थमें संदेह हो, वह 'संदिग्ध' है । 'पदान्त अक्षरका गुरु उच्चारण' भी एक दोष ही है । वक्ता जिस अर्थको व्यक्त करना चाहता है, उसके विपरीत अर्थकी ओर जानेवाली वाणीको 'पराङ्मुख-मुख' कहा गया है । 'अनृत'का अ^० है असत्य । व्याकरणसे सिद्ध न होनेवाली वाणीको 'असंस्कृत' कहते हैं । धर्म, अर्थ और कामके विपरीत विचार प्रकट करनेवाली वाणी 'त्रिवर्ग-विरुद्ध' कही गयी है । अर्थबोधके लिये पर्याप्त शब्दका न होना 'न्यून' दोष है । जिसके उच्चारणमें क्लेश हो, वह 'कष्टशब्द' है । अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दको यहाँ 'अतिशब्द' कहा है । जहाँ क्रमका उल्लङ्घन करके शब्द-प्रयोग हुआ हो, वह 'व्युत्क्रामिहृत' कहलाता है । वाक्य पूरा होनेपर भी यदि बात पूरी नहीं हुई तो वहाँ 'सशेष' नामक दोष है । कथित अर्थकी सिद्धिके लिये जहाँ उचित तर्क या युक्तिका अभाव हो, वहाँ 'अहेतुक' दोष है । जब किसी बातके कहे जानेका कोई कारण नहीं बताया गया हो, अथवा किसी शब्दके प्रयोगका उचित कारण न हो, तब वहाँ 'निष्कारण' दोष है ।

'जवसे तुम पत्थर (शिवलिङ्ग) पूजनेमें लग गये' तबसे तुम्हें कोई अच्छा फल मिला हो, ऐसा मैं नहीं देखता । तुम्हारे एक ही तो पुत्र था, वह भी नष्ट हो गया । पतिव्रता पत्नी थी, सो भी संसारसे चल बसी । भैया ! देवता कहाँ हैं ? सब मिथ्या है । यदि होते तो दिखायी न देते ? यह सब कुछ कपटी ब्राह्मणोंकी झूठी कल्पना है । संसारकी सृष्टि और संहार—ये दोनों बातें झूठी हैं । यह विश्व स्वभावसे ही सदा वर्तमान रहता है, ये सूर्य आदि ग्रह स्वभावसे ही आकाशमें विचरण करते हैं, स्वभावसे ही पृथ्वी स्थिर है, स्वभावसे ही समुद्र अपनी मर्यादामें स्थित है, स्वभावसे ही ये बहुतेरे जीव उत्पन्न होते हैं, स्वभावसे ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है । इसका कोई प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला कर्ता (ईश्वर) नहीं है ।

'धूर्तलोग इस मनुष्ययोनिको भी सबसे श्रेष्ठ बतलाते हैं, किंतु मनुष्ययोनिसे बढ़कर दूसरी किसी योनिमें कष्ट नहीं है । ये पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े बिना किसी बन्धनके सुखपूर्वक विहार करते हैं, इनकी योनि अत्यन्त दुर्लभ है । मनुष्योंकी अपेक्षा अन्य योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले सभी जीव धन्य हैं । इसलिये नन्दभद्र ।

काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, कुटिलता, दयाहीनता, सम्मान हीनता, धर्महीनता—ये नौ बुद्धिके दोष हैं । जब वक्ता, श्रोता और वाक्य तीनों अविकल रहकर बोलनेकी इच्छामें समान अवस्थाको प्राप्त हों, तभी वक्ताका अभिप्राय यथावत् रूपसे प्रकट होता है । बातचीत करते समय जब वक्ता श्रोताकी अवहेलना करता है अथवा श्रोता ही वक्ताकी उपेक्षा करने लगता है, तब बोला हुआ वाक्य बुद्धिपथपर नहीं चढ़ता । इसके सिवा, जो सत्यका परित्याग करके अपनेको अथवा श्रोताको प्रिय लगनेवाला वचन बोलता है, उसके उस वाक्यमें सन्देह उत्पन्न होने लगता है, अतः वह वाक्य भी सद्दोष ही है । इसलिये जो अपनेको या श्रोताको प्रिय लगनेवाली बात छोड़कर केवल सत्य ही बोलता है, वही इस पृथ्वीपर यथा^० वक्ता है, दूसरा नहीं ।

तुम मिथ्याधर्मका परित्याग करके मौजसे खाओ, पीओ, खेलो और भोग भोगो । पृथ्वीपर बस, यही सत्य है ।'

सत्यव्रतके इन वाक्योंसे, जो अशुभकर, अयुक्ति-सङ्गत तथा असमञ्जस (दोषपूर्ण) थे, महाबुद्धिमान् नन्दभद्र तनिक भी विचलित नहीं हुए । वे क्षोभरहित समुद्रकी भाँति गम्भीर थे । उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—'सत्यव्रतजी ! आपने जो यह कहा कि धर्मात्मा मनुष्य सदा दुःखके भागी होते हैं, वह झूठ है । हम तो पापियोंपर भी बहुतेरे दुःख आते देखते हैं । संसारबन्धनजनित क्लेश तथा पुत्र और स्त्री आदिकी मृत्युके दुःख पापी मनुष्योंके यहाँ भी देखे जाते हैं । इसलिये मेरे मतमें धर्म ही श्रेष्ठ है ।

दूसरी बात जो आप यह कहते हैं कि इस संसारका कारण कोई महान् ईश्वर नहीं है, यह भी बच्चोंकी-सी बात है । क्या प्रजा बिना राजाके रह सकती है ? इसके सिवा आप जो यह कहते हैं कि तुम झूठे ही पत्थरके लिङ्गकी पूजा करते हो, इसके उत्तरमें मुझे इतना ही निवेदन करना है कि आप शिवलिङ्गकी महिमाको नहीं जानते हैं । ठीक उसी तरह, जैसे अन्धा सूर्यके स्वरूपको नहीं जानता । भगवान् श्रीरामने युद्धमें रावणको मारकर समुद्रके किनारे श्रीरामेश्वर लिङ्गकी स्थापना की है, क्या वह झूठा ही है ?

'आप जो यह कहते हैं कि देवता नहीं हैं और यदि हैं तो कहीं भी दिखायी क्यों नहीं देते ? आपके इस प्रश्नसे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है । जैसे दरिद्रलोग द्वार-द्वार जाकर भीख माँगते हैं, उसी प्रकार क्या देवता भी आपके पास आकर याचना करें ? यदि आपके मतमें सब पदार्थ स्वभावसे ही सिद्ध होते हैं तो बताइये, कर्ताके बिना भोजन क्यों नहीं तैयार हो जाता ? इसलिये जो भी निर्माणकार्य है, वह अवश्य किसी-न-किसी कर्ताका ही है । और आपने जो यह कहा

है कि ये पशु आदि प्राणी ही सुखी तथा धन्य हैं, बात आपके सिवा और किसीने न तो कही है सुनी ही है । तमोगुणी और अनेक इन्द्रियोंसे जो पशु-पक्षी आदि प्राणी हैं तथा उनके जो वे भी यदि स्पृहणीय और धन्य हैं तो सम्पूर्ण युक्त मनुष्य श्रेष्ठ और धन्य क्यों नहीं ? मैं तो हूँ कि आपका जो यह अद्भुत सत्यव्रत है, इसे नरक जानेके लिये ही संग्रह किया है । आपने ही जो आडम्बरपूर्ण भूमिका बाँधकर अपने परिचय देना आरम्भ किया है, उसीमें आपके वचनोंकी सारहीनता व्यक्त हो गयी है । आपने तो की थी कुछ और कहनेके लिये, परंतु कह कुछ और ही । इसमें आपका कोई दोष नहीं है, दोष मेरा ही है, जो मैं आपकी बात सुनता नास्तिक, सर्प और विष—इनका तो यह स्वप्न है कि ये दूसरेको मोहित करते हैं । प्रतिदिन पुरुषोंका सङ्ग करना धर्मका कारण है । विद्वान्, वृद्ध, शुद्ध भाववाले तपस्वी तथा शान्ति संत-महात्माओंके साथ सम्पर्क स्थापित करना दुष्ट पुरुषोंके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, एक बैठने तथा एक साथ भोजन करनेसे धार्मिक नष्ट होते हैं । नीचोंके सङ्गसे पुरुषोंकी बुद्धि नष्ट है, मध्यम श्रेणीके लोगोंके साथ उठने-बैठनेसे मध्यम स्थितिको प्राप्त होती है और श्रेष्ठ साथ समागम होनेसे बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है । धर्मका स्मरण करके मैं पुनः आपसे मिलनेकी नहीं रखता, क्योंकि आप सदा ब्राह्मण आदिकोंकी निन्दा करते हैं । वेद प्रमाण हैं, स्मृतियाँ प्रमाण हैं, तथा धर्म और अर्थसे युक्त वचन प्रमाण हैं, जिसकी दृष्टिमें ये तीनों ही प्रमाण नहीं हैं, बातको कौन प्रमाण मानेगा ?

संख्या ६]

इस प्रकार कह महात्मा नन्दभद्र वहाँसे उठकर चले गये। वे सदा भगवान् शिवकी उपासनामें लगे रहते और इस प्रकार भगवान् शिवकी भक्ति करते हुए वे परम पदको प्राप्त हो गये।

इस भक्तिसहित निष्काम कर्मके विषयमें शास्त्रका विधिवाक्य भी है। श्रीभगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८।४५-४६)

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५५)

‘इसीलिये नाथ !’—पितामह बोलते ही चले गये—‘जो भक्तजन हैं, वे तुम्हारे स्वरूपकी, ऐश्वर्यकी महिमापर विचार करने नहीं जाते। इसके लिये वे तनिक भी परिश्रम नहीं करते। तीर्थाटन आदि करनेकी भी उनकी रुचि नहीं होती। वे तो तुम्हें ही अपने जीवनका सार-सर्वस्व बना चुकनेवाले संतोंके द्वारका आश्रय ग्रहण करते हैं। अव्यग्रचित्तसे वहाँ निवास करते हुए संतोंके द्वारा कही हुई तुम्हारे नाम, रूप, गुण, लीलाकी कथाओंको ही, उनके द्वारा गान किये हुए भक्त-चरित्रोंको ही श्रवण करते रहते हैं। कथा-श्रवणके समय आदरकी भावनासे उनकी अञ्जलि बँध जाती है; प्रेमावेशसे ‘हरे ! नारायण ! जगत्पते !’ की पावन ध्वनि उनके मुखसे निकल पड़ती है। कथाका अनुमोदन करनेके लिये उनका अन्तर्मन पूर्ण रहता है कथाकी निष्ठासे। इस प्रकार काय-मनोवाक्यसे वे तुम्हारी चर्चाको ही जीवनका सार-संबल बना लेते हैं। उनके आदरकी वस्तु एकमात्र तुम्हारी कथा ही रहती है।

‘अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन।’

‘जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।’

अतएव सभी मनुष्योंको परमात्माकी शरण होकर अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार जगजनार्दनकी सेवा करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये जीतोड़ प्रयत्न करना चाहिये।

उनके प्राणधारणका अवलम्बन केवल तुम्हारी चर्चा ही बच रहती है। और बिना ही परिश्रम उन्हें कथा-श्रवणका यह परम सौभाग्य प्राप्त रहता है संतोंके द्वारपर। वे संत अनृतके भयसे, इन्द्रियोंकी चञ्चलता-बहिर्मुखताके डरसे, अथवा तुम्हें ही प्राप्त हो जानेके कारण उनके लिये सदा-सर्वथा समस्त प्रयोजनोंका अभाव हो जानेसे अन्य प्रसङ्गोंमें मौन रहनेपर भी तुम्हारे नाम, रूप, गुण, लीलाका कीर्तन किये बिना रह नहीं सकते। इसीलिये तुम्हारी चर्चा अतिशय सुलभ रहती है, उन संतोंके निकट निवास करनेवालोंको ! जीवनका प्रत्येक क्षण बीतता है तुम्हारी कथाके सम्बन्धको लेकर ही। तथा इसीका परिणाम यह होता है कि नाथ ! हे अजित ! जो तीनों लोकमें किसी भी उपायसे किसीके द्वारा भी वशमें किये नहीं जा सकते, वह भी तुम उनके द्वारा—तुम्हारे वार्ताश्रवण-परायणजनोंके द्वारा, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी साधन न करनेपर भी, प्रायः वशमें कर लिये जाते हो। भक्तोंसे आचरित

इस जीवनचर्याको जो अपना लेते हैं, परमार्थके पथमें इस भक्त-पद-चिह्नका ही अनुसरण करते हुए अग्रसर होते हैं—वे चाहे कोई भी हों—उनके लिये ऐसी बात होकर ही रहती है प्रभो !

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३)

ग्यान बिषै प्रयास परिहरै, तुम्हरी कथा बिषै मन धरै ।
जैसे सुंदर संत तुम्हारे, कथा-अमृतके बरषनहारे ॥
तिन पै सुनै, श्रवन रस भरै, मन-बच-कर्म बंदन पुनि करै ।
बैठे ठौर कथा-रस पीवै, जे इहि भाँति जगत में जीवै ॥
अहो अजित ! तिन करि तुम जीते, ग्यानी डोलत भटकत रीते ।

X X X
नैन रूप श्रुति कथा सुहानी ।
मुख तव नाम रटत सुखदानी ॥
इमि विधि जे जीवत जग प्राणी ।
ते कृतकृत्य भए मैं जानी ॥
तीनि लोक महँ अजित अनंता ।
तिन जीतेउ तुम कहँ भगवंता ॥
तव गुन कथा अमृत अति पावनि ।
गलित सूरि मुख तें मनभावनि ॥
निसि दिन पान करत मन लाए ।
जन्म लाहु तिन्ह ही एक पाए ॥

आज ब्रह्माको स्पष्ट दीख रहा है कि उपर्युक्त श्रवणादिरूप भक्तिका आश्रय लिये बिना ज्ञान चाहने-वालेको ज्ञानकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती । तथा वे श्रीकृष्णचन्द्रके चारु-चरण-प्रान्तमें अपने भाव-पुष्प समर्पित करते हुए अपनी इस अनुभूतिको भी निवेदन कर दे रहे हैं—‘हे प्रभो ! सबके लिये नितान्त आवश्यक है तुम्हारी भक्ति । इसके अभावमें न अम्युदय सम्भव है, न अपवर्गकी सिद्धि; क्योंकि सब प्रकारके कल्याणका उदय, विस्तार इस भक्तिरूप मूल स्रोतसे ही तो होता है; समस्त मङ्गलोंका उद्गम जो यह

ठहरी, किंतु लोग भ्रान्त हो जाते हैं नाथ । आश्रय ग्रहण करना तो दूर, इसकी अत्यन्त अंश कर बैठते हैं । उन्हें तुम्हारे मङ्गलमय नामोंका सतत आस्वादनके योग्य नहीं प्रतीत होता, तुम्हारे अनिन्द्यसुन्दर मधुरातिमधुर रूपकी चर्चा आकर्षित नहीं करती । तुम्हारे अनन्त कल्याणमधुस्रावी गुणगणोंका वर्णन-श्रवण-उन्हें प्रिय होता, तुम्हारी दिव्य लीलाएँ, तुम्हारा चिदानन्दविहार उन्हें अपने चिन्तनयोग्य वस्तु नहीं दीखते वे अनादर कर देते हैं तुम्हारी इन रसमयी वार्ताओंको सरस भावनाओंका । और इसके बदले ज्ञानकी प्राप्ति लेकर तुम्हारी महिमाका पर्यवसान देखनेके लिये वे आत्मबोधके लिये ही वे सतत प्रयत्नशील रहते अतिशय परिश्रम करते हैं वे । सर्वमङ्गलनिकेतन तुम्हारी भक्ति उन्हें सहजमें ही ज्ञानकी प्राप्ति करा देती, अवान्तर फलरूपमें उन्हें स्वतः आत्मबोध हो जाता पर इस ओर वे ताकते ही नहीं । वे तो भक्ति उपेक्षा कर केवल ज्ञानलाभके लिये ही अथक प्रयत्न करते रहते हैं, किंतु इतना करनेपर भी प्रभो ! ज्ञानकी आलोकमाला उनके मानस-तलको, उनकी बुद्धि में उद्भासित नहीं करती, अपितु परिणाममें हाथ खाली रहता है—केवल क्लेश-ही-क्लेश—साधन-श्रममात्र, अतिरिक्त और कुछ नहीं—साधनजन्य यत्किन्ही सिद्धियाँ भी नहीं । मिलें कैसे ? समस्त सिद्धियोंका मूल तो तुम्हारे श्रीचरणोंकी अर्चना है । तुम्हारे सम्बन्धसे शून्य कोई भी साधन किसी भी शुभ फल उत्पन्न कर जो नहीं सकते । अतः उनके लिये बच रहता है केवल असफल आयासमात्र—उसी प्रकार जैसे अल्प परिमाणमें सामने रखे धान्यको परित्यागकर तन्दुल निकाले हुए धान्यको राशि—थोड़ी भूरीके ढेरको कूटनेपर अन्नका प्रदुषण नहीं होती, निरर्थक श्रममात्र ही होता है

संख्या ६]

श्रेयकी निर्झरिणी तुम्हारी भक्तिकी जो अवहेलना कर देते हैं, वे शुष्क ज्ञान लाभके लिये भले ही कुछ भी कर लें, उनके लिये अवश्यम्भावी परिणाम यही होता है सर्वेश्वर !

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।

तेषामसौ क्लेशाल एव शिष्यते

नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४)

तुम्हारी भगति अमीरस-सरवर, मोच्छादिक जाके बस निर्झर ।
तिहि तजि जे केवल बोध कौं, करत क्लेश चित्त सोध कौं ॥
तिन कहूँ छिन ही छिन श्रम बढ़ै, और कछु न तनक कर चढ़ै ।
जैसैं कन बिहीन लै धान, धमकि धमकि कूटत अग्यान ॥
फल तहँ बिरथ यहै दुख भरै, खोटक हाथनि फोटक परै ।

X

X

X

त्यागि भक्ति तव मूढ़ नर, ज्ञान हेतु दिन राति ।
करै जतन पचि पचि भरै, लहै न कबहुँ सांति ॥

भक्ति सरोवर अति गंभीरा ।

झरना अमित झरै तेहि तीरा ॥

ऐसी सरस भक्ति सुखदानी ।

तेहि तजि अपर ठाम रुचि मानी ॥

तासु सकल श्रम विफल गुसाई ।

श्रुति पुराण संतत इमि गाई ॥

जिमि कोउ अल्प धान्य को त्यागी ।

धान अभास घनो अनुरागी ॥

कंडन करै ताहि रुचि मानी ।

लहै न अन्न सहै दुख खानी ॥

तिमि तव भक्ति त्यागि नर मूढ़ा ।

सहै कोटि दुख मोह अरुढ़ा ॥

‘भक्तिकी यह महिमा कथनमात्रके लिये हो,
ऐसी बात नहीं है नाथ !’ वेदगर्भ प्रमाण देने लगते हैं—‘अपितु, अतीतके अगणित संतोंका जीवन इस सत्यको प्रत्यक्ष कर दे रहा है । हे भूमन् ! अपरिच्छिन्न प्रभो ! तुमसे छिपा ही क्या है, तुम सम्पूर्णतया सब कुछ जानते हो ! मेरे द्वारा निर्मित इस जगत्के प्रवाहमें एक नहीं, बहुतसे योगिगण हो चुके हैं, जिन्होंने

योगके, ज्ञानके साधनोंको अपनाया था, साधनकी चरमोत्कर्ष दशामें वे अवस्थित भी हो चुके थे; फिर भी ज्ञानकी ज्योति नहीं जग सकी, दृढतल आलोकित नहीं हो सका ज्ञानसूर्यकी रश्मियोंसे । और तब वे लौटे इस पथसे तथा भक्तिमार्ग—राजमार्गका अवलम्बन लिया उन्होंने । अब उनके जीवनकी धारा तुम्हारी ओर बह चली, समस्त इन्द्रियोंका व्यापार होने लगा तुम्हारे उद्देश्यसे ही, उनकी सब चेष्टाएँ समर्पित होने लगीं तुम्हें ही । इस कर्म-समर्पणने शीघ्र ही मनका मैल धो दिया; तुम्हारी कथा-श्रवणके प्रति आदर जाग उठा तथा संत-समागमका सौभाग्य लाभकर वे सतत तुम्हारी कथा-सुधामें ही निमग्न रहने लगे । कथामृत-पानके अनिवार्य परिणामस्वरूप भक्तिका उन्मेष हुआ ही । फिर तो स्वरूप-ज्ञान होनेमें विलम्ब ही क्या था; वह तो स्वतः हो गया । इस प्रकार अनायास अतिशय सुगमतासे उन्होंने तुम्हारे परमपदकी प्राप्ति कर ली । हे अच्युत ! सर्वथा उचित ही है ऐसा होना; तुम्हारी भक्तिका आश्रय कर लेनेके अनन्तर कोई भी व्यक्ति अभीष्ट-सिद्धिसे च्युत हो जाय, यह सम्भव जो नहीं ।’

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन-

स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।

विवुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया

प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५)

हो प्रभु ! पाछे बहुतक भोगी, तजि तजि भोग भये भल जोगी ।
दिढ़ अष्टांग जोग अनुसरै, ग्यान हेतु बहुतै तप करै ॥
अति श्रम जानि तहाँ तैं फिरै, तुम कहूँ कर्म समर्पन करै ।
तिन करि शुद्ध भयौ मन मर्म, तब कीने प्रभु तुम्हरे कर्म ॥
कथा श्रवन करि पाई भक्ति, जाके संग फिरत सब मुक्ति ।
ता करि आत्मतत्त्व कौं पाइ, बैठै सहज परम गति पाइ ॥

X

X

X

हे भूमन् पूरब जे जोगी ।

तजि गृहादि सुख भये बियोगी ॥

करि बहु जतन ज्ञान हित भारी ।
 मिलेउ ज्ञान नहि भये दुखारी ॥
 पीछे निज ईहा सब जेती ।
 तुमहि समर्पहि मन बच तेती ॥
 सुनि तव कथा भक्ति हिय आई ।
 जान्यो आत्म रूप बनाई ॥
 ते नर सहज प्रयास बिनु, मुक्ति लहै सुखकंद ।
 परे न भवनिधि माहि पुनि, मिटे सकल जग द्वंद ॥

इतना कह लेनेके अनन्तर स्रष्टाके नेत्र, मन, प्राण पुनः ब्रजराजकुमारके नवजलवर-श्यामल श्रीअङ्गोंकी सौन्दर्यराशिमें, चिदानन्दमय श्रीविग्रहके अनन्त अपरि-सीम पारावारविहीन महिमामें ही डूबने-उतराने लगते हैं । प्राणोंके कण-कणसे झड़ूत हो उठता है—‘सर्वथा अज्ञेय है यह महिमा, ब्रजराजकुमारका यह स्वरूप !’ इसी समय सहसा पद्मयोनिके मनमें, बुद्धिमें ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके निर्विशेष स्वरूपका स्फुरण हो जाता है—मानो ओर-छोरविहीन रससिन्धुमें बहते हुएको एक सुदूर देशमें ज्योतिर्मय, चिन्मय तटकी रेखा-सी दीख जाय ! पर यह स्वरूप भी ज्ञेय थोड़े है ? इसमें भी ‘अथ’ ‘इति’ जो नहीं । इसे भी कैसे जाना जाय । फिर ‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः’—आत्माका दर्शन करे, ‘मनसैवानुद्रष्टव्यम्’ मनके द्वारा बारंवार आत्माका अनुसन्धान करे—इन श्रुतियोंका क्या तात्पर्य है ?—इस प्रकार वेदगर्भके मनमें मानो शङ्का जागी और इसका स्वयं समाधान करते हुए अपने इस निर्णयको भी ब्रजेन्द्रनन्दनके पादपद्मोंमें निवेदन करनेयोग्य वस्तु समझकर वे कह उठते हैं—‘प्रभो ! अज्ञेय हैं तुम्हारे दोनों स्वरूप ही—सविशेष (सगुण), निर्विशेष (निर्गुण), दोनों ही नहीं जाने जा सकते नाथ ! तथापि निर्विशेषकी महिमाका प्रकाश इन्द्रियोंका प्रत्याहार किये हुए मनीषियोंके सम्यक् शुद्ध चित्तमें हो सकता है स्वामिन् ! किंतु तुम्हारी यह अभिव्यक्ति चिदाभाससे होनेवाले प्राकृत वस्तुके ज्ञानके समान नहीं है, नहीं

हो सकती । यह तो तुम अपनी स्वप्रकाशताशक्तिसे आत्माकार हुए चित्तमें प्रतिभासित होने लगते हो प्रभो जब इन्द्रियोंका प्रत्याहार हो जाता है, विषयोंसे वे ली जाती हैं, विषयोंसे उनका कोई भी सम्बन्ध रहता, तब चित्तकी विषयाकारता भी मिट जाती है यह स्थिति ही—चित्तका विषयाकार न रहना ही—आत्माकारता है । इस प्रकार सर्वविध विकार विषयसम्बन्धसे शून्य, आत्माकार हुए चित्तमें ही तुम्हारा स्वप्रकाश निर्विशेष स्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है, हो सकती है नाथ ! आत्माकार चित्तवृत्तिमें तुम्हारा निर्विशेष स्वरूप प्रकाशित हो जाता है, इस कारण ज्ञेय है और चिदाभाससे यह प्रकाशित होनेका ही नहीं इसीलिये यह अज्ञेय है भूमन् !’*

* वस्तुका ज्ञान होनेके सम्बन्धमें शास्त्रीय सिद्धान्त यह है—जगत्में सर्वत्र स्पष्ट अथवा अस्पष्टरूपसे जो चैतन्य सत्ताकी अभिव्यक्ति होती है, इसीको शास्त्रीय भाषण ‘चिदाभास’ कहते हैं । इस चिदाभास एवं इन्द्रियसे जो विषयाकार हुए चित्तके द्वारा ही जीवोंको यह ज्ञान होता है कि यह घड़ा है, यह कपड़ा है इत्यादि । सूक्ष्म रूपसे विचार करनेपर यह ज्ञान ऐसे होता है—जिस समय नेत्र आदि इन्द्रियोंके साथ घड़ा आदि विषयोंका सम्बन्ध होता है, उस समय अन्तःकरण—चित्त, नेत्र आदि इन्द्रियोंकी राहसे निकलकर जहाँ घड़ा आदि विषय अवस्थित रहते हैं, वहाँ चला जाता है; जाकर घट आदि विषयोंके आकारमें परिणत हो जाता है, ठीक उन-उन विषयोंका आकार धारण कर लेता है । इस परिणामको ही ‘वृत्ति’ नामसे कहते हैं; ‘चित्तके विषयाकारता’ भी इसीका नाम है । इसी ‘वृत्ति’में प्रतिबिम्बित चिदाभास है, उसे शास्त्रकार ‘फल’ नाम दे देते हैं । अब जिस समय चित्त घटाकार वृत्तिके रूपमें बन जाता है, उसी समय घटके आवरणक अज्ञानका नाश हो जाता है अर्थात् उस घटरूप विषयके सम्बन्धमें जो अज्ञान रहता है, वह दूर हो जाता है; तथा वहाँ स्थित जो चिदाभास है, जिसे ‘फल’ कहते हैं, उसके द्वारा घड़ा प्रकाशित कर दिया जाता है । दार्शनिक दृष्टिसे इतनी क्रिया हो जानेपर ही यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि यह घड़ा है । इसी प्रकार इन्द्रियोंके समस्त विषयोंके सम्बन्ध

संख्या ६]

तथापि भूमन् ! महिमागुणस्य ते
 विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
 अविक्रियात् स्वानुभवस्वरूपतो
 ह्यनन्यबोधात्मतया न चान्यथा ॥
 (श्रीमद्भा० १० । १४ । ६)

लछ्मी जदपि नित्य उर रहै,
 सो पुनि तनक कबहुँ नहिँ लहै ।
 जाके रूप न रेख, न क्रिया,
 तिहिँ लालच अवलंबै हिया ॥

समझना चाहिये । संक्षेपमें कहनेपर यह कि घड़ा, कपड़ा, मकान आदि किसी भी जागतिक वस्तुका ज्ञान प्राप्त होते समय जीवकी चित्तवृत्तिके द्वारा तो केवलमात्र उस विषयका अज्ञान दूर होता है; किंतु वस्तुको प्रकाशित कर देनेके लिये चिदाभास अपेक्षित है ही । जगत्की जितनी जड वस्तुएँ हैं, उनका स्फुरण चिदाभासकी सहायतासे ही होता है; किंतु सच्चिदानन्द वस्तु इस चिदाभाससे प्रकाशित नहीं हो सकती । इसीलिये भगवान्‌के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानमें यह बात है कि वहाँ आवरक अज्ञानका नाश होनेके लिये वृत्तिव्याप्तिमात्र—केवल चित्तकी आत्माकारता, ब्रह्माकारता ही अपेक्षित है; चिदाभास नहीं । हमें उन्मुक्त आकाशमें प्रकाशित सूर्यके दर्शन हो जायँ, इसके लिये आँखें खोल लेनेकी तो नितान्त आवश्यकता है, किंतु सूर्यको देखनेके लिये दीपकके प्रकाशका कोई उपयोग नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्माका स्फुरण होनेके लिये चित्तकी आत्माकारता तो नितान्त आवश्यक है; किंतु चिदाभासका वहाँ कोई प्रयोजन नहीं है । नेत्र खोल देनेपर जैसे निर्विशेष तेजोमण्डलरूपमें सूर्यके दर्शन हो जाते हैं, वैसे ही आत्माकार हुए चित्तमें भगवान्‌के स्वप्रकाश निर्विशेष सच्चिदानन्द-स्वरूपके ज्ञानका उन्मेष हो जाता है—

घटादिजडवस्तुज्ञानविषये अन्तःकरणं चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटाद्याकारेण परिणमते । स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते । वृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासः फलमित्युच्यते । तत्र वृत्त्या घटाद्यावरकमज्ञानं नाशयते; चिदाभासेन फलाख्येन घटः प्रकाशयते । ततोऽयं घट इत्यादि ज्ञानं जायते । अतो घटादिस्फुरणार्थं फलव्याप्तिरपेक्ष्यते । ब्रह्मविषये तु आवरकाज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिमात्रमपेक्ष्यते । ब्रह्माकारवृत्तौ जातायां ब्रह्मस्फुरणार्थं तु रवि-

तदपि केई तजि तजि सब कृत्ति,
 निर्मल करत चित्त की वृत्ति ।
 सहजहि शून्य समाधि लगाइ,
 लेत हैं तामैं तुम कौं पाइ ॥

× × ×

अगुन रूप जो अहै तुम्हारा । तासु ज्ञान कोउ लहै उदारा ॥
 सगुन रूप तव गुन बहु भारे । लहै न कोउ इमि वेद उचारे ॥
 गुनातीत तव रूप अनूपा । इंद्रिजित जानै सुखरूपा ॥

‘किंतु इसी प्रकार तुम्हारे सगुण स्वरूपकी महिमा भी जान ली जाय, यह कदापि सम्भव नहीं है अनन्त !’—स्रष्टा पुनः ब्रजराजकुमारके सविशेष स्वरूपके वैभवका ही सम्पुट देते हुए-से बोल पड़ते हैं—अनन्त अप्राकृत कल्याणगुणनिलय तुम सदा सबके लिये अज्ञेय ही बने रहते हो । तुम्हारे दिव्य स्वरूपभूत गुणोंकी थाह आजतक किसने पायी है प्रभो ! विश्वके कल्याणके लिये ही तो तुम्हारा यह अवतरण हुआ है नाथ ! इससे पूर्व भी न जाने कितने भक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये किन-किन रूपोंमें अवतरित होकर अपने अनन्त गुणोंमेंसे कौन-कौनसे गुणोंका प्रकाश तुमने किया है स्वामिन् ! जगत्‌के अनादि-प्रवाहमें अनन्त प्राणियोंकी अनन्त भावनाओंसे उपासित होकर, उनके प्रेमसे आकर्षित हुए तुम जब-जब यहाँ अवतीर्ण हुए हो, उस समय तुम्हारे कारुण्य, भक्तवात्सल्य आदि अनन्त गुणोंका कैसी, कहाँ किस रूपमें अभिव्यक्ति हुई है—इसे कौन जानता है विभो ! तुम्हारे गुणगणोंकी गणना किसके द्वारा सम्भव है नाथ !

दर्शनार्थं दीपापेक्षेव चिदाभासापेक्षा नास्ति; ब्रह्मणः स्वयं प्रकाशत्वात्; एतदर्थं संग्रहश्लोकौ च—

बुद्धितत्त्वचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
 तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥
 ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
 स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभासस्तत्र युज्यते ॥

(अन्वितार्थप्रकाशिका)

महाशक्तिसम्पन्न शेष एवं सनकादि योगेश्वरगण दीर्घकालके परिश्रमसे पृथ्वीके धूलिकणोंकी, आकाशके हिमकणोंकी एवं सूर्य-नक्षत्रादिके किरण-परमाणुओंकी भी गणना कर लेनेमें जो समर्थ हो चुके हैं, उनमें भी ऐसी किनकी सामर्थ्य है जो तुम्हारे अनन्त कल्याणमय गुणोंको गिन डालें भगवन् !

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-

भूपांसवः खे मिहिका शुभासः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ७)

पै यह सगुन सरूप तुम्हारौ । ह्याँ मन खोयौ जात हमारौ ॥
ये अद्भुत अवतार जु लेत । बिस्वहि प्रतिपालन के हेत ॥
नाम, रूप, गुन, कर्म अनंत । गनत गनत कोउ लहै न अंत ॥
धरनी के परमान जितेक । हिमकन उडुगन गगन तितेक ॥
कालहि पाइ निपुन जन कोइ । तिनहिँ गनै, अस समरथ होइ ॥
ऐ पर सगुन रूप गुन जिते । काहू पै कहि परत न तिते ॥

X

X

X

यह सख्यात सगुन बपु देवा । नहिँ कोउ जानि सकै तव भेवा ॥
गुन अचिन्त्य महिमा सुखसागर । जग पालन कारन ब्रजनागर ॥
तव गुन गनि न सकै सत सेषा । जिनके बहुमुख अहै असेषा ॥
भूरज गगन ऋक्षगन जेते । बरषा बूँद परै कन केते ॥
हिम कन ब्यूह जहाँ लगी आही । गनै निपुन कोउ अति चित चाही
विपुल काज करि गनै कोउ व्योम किरन परमानु ।
तद्यपि तव गुन गनन कोउ नहिँ समर्थ जग जानु ॥

यह कहते-कहते ही स्रष्टाके मनमें भक्तिका स्रोत उमड़ चलता है । ब्रजराजकुमारके कल्याणमय गुणोंकी स्मृति आत्मसमर्पणके भावोंको उद्बुद्ध कर देती है और वे कहने लगते हैं—‘अतएव हे करुणावरुणालय ! आवश्यकता नहीं है तुम्हारे गुणगणोंकी गणना करनेकी । बस, किसी प्रकार तुम्हारी अनन्त कृपामयतापर विश्वास हो जाय; समयपर प्राप्त हुए सुख-सम्पत्तिके समुदायमें, दुःख-दारिद्र्यके झंझावातमें समानरूपसे सतत तुम्हारी कृपाकी निराविल धाराके ही दर्शन होने लगे; और

कदाचित् यह न हो सके तो तुम्हारी अनुकम्पना प्रतीक्षा ही जाग्रत् हो जाय—‘कब प्रभुकी कृपा सुख-ढलक पड़ेगी’ इस ओर ही दृष्टि केन्द्रित हो जाय । चातक जिस प्रकार निर्झरकी, सरिताकी, सागरकी वारिधाराकी ओरसे मुँह मोड़कर एकान्त मनसे स्वाद-बूँदोंकी ही प्रतीक्षा करता है; तृष्णाकी ज्वालासे जल-विहङ्गमके प्राण भले झुलस जायँ पर अपने अभिलषित मेघके अतिरिक्त किसी भी अन्य ओर वह ताकता नहीं—‘सम्यगीक्षमाणश्चातकवृत्तिरित्यर्थः—’* ; इस प्रकार सबकी आशा परित्यागकर तुम्हारी कृपाकणिकाएँ पा लेनेकी उत्कण्ठा प्राणोंमें निरन्तर जाग्रत् हो जाय तथा जबतक तुम्हारी उस कृपाकी अनुभूति न हो तबतक घोर तप आदिसे शरीर क्षीण करनेके बड़े जन्मान्तरमें अपने ही अर्जित विविध कर्मफलके प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखरूप भोगोंकी विवृति शून्य, अम्लानचित्तसे भोगते रहनेकी वृत्ति उदय हो जाय; साथ ही तुम्हारी स्फूर्ति होते रहनेके कारण प्रेमभरे हृदयसे, गद्गदवाणीसे, रोमाञ्चित हुए शरीर से अपने-आपको तुम्हारे चरणसरोजोंमें समर्पित करते रहनेकी भावना अखण्डरूपसे बनी रहे—जीवन भर उपर्युक्त दिनचर्याके साँचेमें ही ढल जाय, जो को भी अपना ऐसा जीवन बना ले नाथ ! फिर तो तुम्हारे चरणसेवाधिकारको पा लेनेका अधिकारी कौन ही जाता है प्रभो ! जीवित पुत्र पितृसम्पद्का अधिकारी हो जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या है भगवन् ! वरिष्ठ तो वे होते हैं जो मृत पुत्र हैं, पतित पुत्र हैं अपर्युक्त पोष्य पुत्र हैं । तुम विश्वपिताकी संतान ही तो जगत्के ये असंख्य जीवगण हैं । इनमें तुम्हारे पाद-पङ्कजोंकी भजन जिनके जीवनका अवलम्बन है, वे ही तुम्हारे वास्तवमें जीवित हैं, उनका ही जीवनधारण सफल है वे ही तुम्हारे चरणसरोरुहकी सेवारूप महासम्पद्के

संख्या ६]

अधिकारी हैं स्वामिन् ! तथा जो तुमसे विमुख हैं, वे तो मृत ही हैं । भस्त्रा—धौकनीमें भी तो वायु आती-जाती है ? तुम्हारे चरणोंसे पराङ्मुख रहनेवाले प्राणियोंका श्वास लेना ठीक ऐसा ही है देव ! व्यर्थ है इनका जीवन—

‘इतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधाः ।’*

अथवा ये पतित पुत्रकी श्रेणीमें हैं, तुम्हारी मायाके पोष पुत्र हैं प्रभो ! ये पितृसम्पदके अधिकारसे वञ्चित रहेंगे ही, रहते ही हैं । इन्हें कैसे मिले तुम्हारे भक्जालाहारी पादारविन्दकी शीतल शन्तम छाया ? और भगवन् ! वे तुम्हारे अनुग्रहके अनुभवमें ही निमग्न रहनेवाले अथवा तुम्हारी अनुकम्पाकी ही प्रत्याशा लिये बैठे रहनेवाले, प्रारब्धको निर्विकारभावसे भोगनेवाले, तुमपर ही अपने कायमनोवाक्यसे न्यौछावर होकर जीवन धारण करनेवाले भक्तगण कैसे न कृतार्थ हों ? बिना परिश्रम बड़ी सुगमतासे ही वे तो हो ही जायेंगे तुम्हारे नलिन-सुन्दर श्रीचरणोंकी सेवा-प्राप्तिरूप महासम्पदके दायभागी (अधिकारी) । उनके अनादि संसरणका अन्त हो जाय, भवबन्धनसे वे मुक्त हो जायँ—तुम्हारे चरणाश्रयका यह आनुषङ्गिक फल भी उन्हें मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है नाथ !

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते

जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ८)

तातैं तव भगतिहि अनुसरै । तुम्हरी कृपा मनायौ करै ॥ कब मो पर नन्दनदन ढरिहैं । मधुर कटाच्छ चितै रस भरिहैं ॥ निज प्रारब्ध कर्म-फल खाइ । अनासक्त, नैक न ललचाइ ॥ अरु अति तप-कलेस नहिं करै । श्रवन-कीर्तन-रस संचरै ॥ इहि बिधिजियै सुभागाहि पावै । मरयो कहा कोउ झगरन आवै ॥

X X X X

* वेदस्तुति श्रीमद्भा० १० । ८७ । १७ ।

एहि ते हे जगदीस, भक्ति सुगम तव जीव कहूँ ।

अपर न मोहि कछु दीस, भक्ति बिना हे नंदसुत ॥

जो नर चतुर होइ जग कोई । तव कटाच्छ चाहै मन सोई ॥ कब कटाच्छ करिहैं जदुनाथा । यह बंछै नित सुनि हरि गाथा ॥ निज अर्जित जे कर्म पुराने । भल अरु मंद किये जस जाने ॥ तस फल लहै करै सो भोगा । अनासक्त भोगै बिनु सोगा ॥ अति कलेस तप आदिक त्यागी । तव पद संतत ह्वै अनुरागी ॥ एहि विधि जे जीवत हैं प्राणी । भये मुक्तिभागी ते जानी ॥

भक्तिरससे सिक्त हुए मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका यह एक स्वाभाविक लक्षण है—मानका सर्वथा अभाव होकर सच्चे दैन्यका सञ्चार हो जाय, अपनी हीनताका, दोष-मयताका भान होने लगे । पितामह इसी स्थितिमें आ पहुँचे हैं ।

इसके अतिरिक्त ब्रजराजकुमारके अमृतस्यन्दी अधरोंपर एक स्मित नित्य विराजित रहता है, उनके दृगोंमें एक विचित्र स्पन्दनकी रेखा-सी सतत रहती है । कब क्या अर्थ रखते हैं ये—इसका अन्त आज तक किसीको मिला ही नहीं । हाँ, भावदर्पणमें इन स्मित एवं स्पन्दनकी छाया पड़ती है; तथा दर्पणके अनुरूप ही इस छायासे प्राणोंमें कुछ-न-कुछ अभिनव सङ्केत झर पड़ता है प्रत्येकके लिये प्रत्येक झाँकीमें ही । यही बात पद्मयोनिके लिये हुई । उन्होंने देखा श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चञ्चल नयनोंकी ओर, मन्दस्मितकी ओर तथा देखते ही उनके मनने इस बार एक नया अर्थ ले लिया उनसे । ये मानो कह रहे हों—‘पितामह ! मेरे भक्त तो तुम भी हो, अतः मेरे महासम्पदके ‘दायभाक्’ भी तुम हो ही ।’ फिर तो वेदगर्भ व्याकुल हो उठे इस भावनासे । अपनी दीनता, तुच्छता, ब्रजराजकुमारके असमोर्द्ध ऐश्वर्यकी स्मृति, उनके प्रति किये हुए अपराधकी स्मृति, आत्मग्लानि—एक साथ अनेक भावोंका प्रवाह बह चला उनके अन्तस्तलमें । इसीलिये स्तवनकी धारा भी बदल गयी और वे कहने लगे—‘ओह ! प्रभो ! भक्त मैं नहीं हूँ नाथ ! होता तो मेरे द्वारा ऐसी घृष्टता नहीं

होती; मैं ऐसी मूढ़ता नहीं कर बैठता। स्वयं देख लो, अन्तर्या-
मिन् ! मेरी दुर्जनोचित चेष्टाकी मूढ़ताकी सीमा नहीं रही है।
तुम सर्वकारणकारण हो, इस नाते एवं साक्षात् सम्बन्धसे
भी तुम मेरे पिता हो। तुम्हारे नाभिकमलसे ही तो मैं
उत्पन्न हुआ हूँ देव ! भला अपने पिताके प्रति—सो
भी उस समय, जब वे सुखपूर्वक अपने सहचरोंके साथ
भोजनपर बैठे हों—ऐसा अपराध करनेवालेसे बढ़कर
दुर्जन और कौन होगा ? और मेरी मूर्खताको तो कहना
ही क्या है ! देखो सही, तुम अनन्त अपरिच्छिन्नैश्वर्य
हो; तुम्हारे स्वरूप, ऐश्वर्य, महिमा आदिका अन्त नहीं,
तुम्हारा सब कुछ अपरिसीम है। परमात्मा हो तुम—
नियामकरूपसे, सर्वत्र सबके बाहर-भीतर अवस्थित हो;
आत्माओंके भी आत्मा हो तुम। इतना ही नहीं, तुम
सर्वमायाधीश हो स्वामिन् ! शेष, शङ्कर आदि भी तुम्हारी
मायासे विमोहित हो जाते हैं। भला ऐसे महामहिम
सर्वकारणकारण, सर्वनियन्ता, सर्वमायापति, तुमपर अपनी
मायाका विस्तार करने चला था मैं, तुम्हें अपनी मायासे
मुग्ध करके तुम्हारे वैभवका दर्शन करनेकी इच्छा की
थी—नहीं-नहीं, देवसमाजके समक्ष अपनी प्रतिष्ठा
स्थापन करने गया था, 'अखिल ब्रह्माण्डनायक स्वयं
भगवान्को भी पितामहने अपनी मायासे मुग्ध कर
दिया'—इस सुयशका प्रसाद—इस रूपमें अपने
ऐश्वर्यका दर्शन करने गया था। ओह ! इस मूढ़ता—
महामूढ़ताकी भी कोई सीमा है ? तुम्हारी तुलनामें
मेरा अस्तित्व ही क्या है नाथ ! प्रज्वलित अग्निपुष्पके
सामने उसीसे उत्थित एक स्फुलिङ्गकणकी भी कहीं
गणना होती है ? इतने महान् हो तुम और इतना
तुच्छाति-तुच्छ हूँ मैं ! फिर भी मेरी ऐसी कुटिलता !
क्या कहूँ प्रभो !

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये

परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।

मायां

ह्यहं

चित्त्येक्षितुमात्मवैभवं

कियानैच्छमिवाचिरंशौ ॥

(श्रीमन्दा० १०।१४।१)

देखहु नाथ दुर्जनता मेरी। महिमा चह्यौ चह्यौ प्रभु को
अगिनितैं बिस्कुलिंग ज्यों जगै। अगिनिहि बिभव दिखावन
पटबिजना ज्यों पंख डुलाइ। लयौ चहत रबि-मंडल छाड़
और सुनहु प्रभु उपमा आछी। गरुड़हि आँखि दिखावै माछी

×

×

×

देखहु ईस दुष्टता मोरी।

छमा कहँ लगि बरनौ तोरी ॥

तुम मायिकके ईस नियन्ता।

पुनि माया पति हरि भगवंता ॥

मैं मति मंद अल्प निज माया।

सो प्रभुको मैं आनि देखाया ॥

ता करि तव ऐश्वर्य मैं, देखन चहौं अन्त।

किमि देखौं मैं मूढ़ मति, तव महिमा कौ अन्त ॥

‘परंतु जो महान् हैं, वे कहाँ देखते हैं छोटे

अपराधोंकी ओर।’—पद्मयोनि ब्रजेन्द्रनन्दनसे क्षमा

याचना करते हैं—‘और फिर उनके द्वारसे क्षमादान

लिये अञ्जल फैलानेवाले कभी निराश लौटें, यह

असम्भव है। अतएव, हे अच्युत ! तुम भी मुझे क्षमा

कर दो। अपनी अनन्त कृपामयताके स्वरूपसे तुम

कदापि स्वलित नहीं हो सकते, इस शाश्वत सत्य

आशासे मैं भी अञ्जलि बाँधे तुम्हारे श्रीचरणोंकी शरण

आया हूँ भगवन् ! तुच्छ-से-तुच्छ हूँ मैं और तुम महान्

भी सुमहान् हो। मेरे-जैसे नगण्यके द्वारा किये

अपराधोंकी ओर हे महामहिम, तुम दृष्टिपात मत करो

सच तो यह है, स्वामिन् ! मेरी-सी स्थितिमें अवस्थित

द्वारा अपराध न होंगे तो और होंगे ही क्या ? देखो

रजोगुणसे तो उत्पन्न हुआ हूँ मैं; रजोमयी सृष्टि

निर्माणमें ही सतत निरत रहता हूँ। प्राकृत रजो

तमका अंश न रहे, यह सम्भव नहीं। इसलिये तम

छाया भी मुझपर रहेगी ही, तमोगुणजनित अज्ञता

मेरी चिरसङ्गिनी बनी ही रहेगी। यही कारण है—

तुम्हारे स्वरूपको नहीं देख सका, नहीं जान पाया

तथा इसीका परिणाम है कि अपने आपको तुमसे पृथक् ही सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, संसारका स्वामी मान बैठा था । ओह ! प्रभो ! क्या दशा हो गयी थी मेरी ! मैं अजन्मा जगत्कर्ता हूँ—इस मायाकृत मदके घनीभूत अंधेरेसे—गाढ़ तमोमय आवरणसे मेरी आठों आँखें अंधी हो चुकी थीं ! कैसे मैं देख पाता तुम्हें ? ऐसी तमोमयी स्थितिमें मुझसे अपराध बने हैं नाथ ! वस, अब तो अपनी करुणाका चन्द्रोदय हो जाने दो; मेरे मदका अन्धकार सदाके लिये विलीन हो जाय उस परम दिव्य शुभ्र ज्योत्स्नामें, और मैं सतत देख सकूँ तुम्हें सर्वेश्वर !

‘मयि त्वत्कारुण्यचन्द्रोदयेनैव मद्द्वर्धतमस्यपहृते सति त्वं दृश्यो भविष्यसि नान्यथेति भावः’
—सारार्थदर्शिनी ।

साथ ही घटित अपराधोंके लिये क्षमा-दान दे दो । अपने अतिशय सदयहृदयसे मेरे लिये, हे नाथ ! तुम यह सोच लो—‘यह भले सबका पितामह है, पर इसका स्वामी तो मैं ही हूँ । मेरे ही आश्रित रहनेसे यह सनाथ है । मुझसे उपेक्षित हो जानेपर इसका कोई अन्य रक्षक नहीं; इसके लिये कहीं तनिक भी स्थान नहीं । इसलिये यह मेरा भृत्य मेरी कृपाका पात्र है ही; इसपर मेरी अनुकम्पा होनी ही चाहिये ।’
—यह विचार कर, हे कृपासिन्धो ! अपनी करुणा

उच्छलित हो जाने दो मेरे लिये । वह चट्ट मैं तुम्हारी करुणाकी इन ऊर्मियोंमें । मेरे समस्त अपराध धुल जायँ इस निर्मलतम प्रवाहमें—

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।

अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष

एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । १०)

अब कहत कि मेरो अपराध । छमा करहु, हौं निपट असाधु ॥
रज गुन तैं उपज्यौ अग्यानी । तुम तैं भिन्न ईस अभिमानी ॥
मायामद उनमद है गयौ । सूझ न कछु, अंध तम छयौ ॥
यातैं अनुकंपा ही करौ । भृत्य जानि कछु जीय न धरौ ॥

X X X

वैगुन छमहु मोर हे ताता ।

कृपासिंधु तुम सब जग त्राता ॥

रजगुन संभव मैं मति हीना ।

पृथक ईस-मानी अति दीना ॥

अति अजानतैं किय अपराधा ।

दीनबंधु तव कृपा अगाधा ॥

अजारूप तम छाएउ लोचन ।

सूझ न कछु मोहि हे भवमोचन ॥

जद्यपि अपर शम यह नाथा ।

तदपि दास मम श्रुति यह गाथा ॥

एतनो जानि चूक सब मेरी ।

छमा करहु पद-किंकर हेरी ॥

चाह और स्थिति

बोल्यौ करै नूपुर श्रवनके निकट सदा पदतल लाल मन मेरो बिहरयो करै ।
बाजी करै बंसी धुनि पूरी रोम-रोम मुख मन मुसुकानि मंद मनहिं हँस्यौ करै ॥
‘हरीचंद’ चलनि मुरनि वतरानि चित छाई रहै छवि जुग दगन भर्यौ करै ।
प्राणहू ते प्यारो रहै प्यारो तू, सदाई तेरो पीरो पट सदा हिय बीच फहरयो करै ॥
पहिले ही जाय मिले गुनमें श्रवन फेरि, रूप-उधा मधि कीनो नैनहू पयान है ।
हँसनि नटनि चितवनि मुसुकानि सुघराई रसिकाई मिलि मति पय पान है ॥
मोहि मोहि मोहन-मई री मन मेरो भयो, ‘हरीचंद’ भेद ना परत कछु जान है ।
कान्ह भये प्राणमय प्राण भये कान्हमय हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्राण है ॥

—भारतेन्दु

कर्ममीमांसा

(लेखक—स्वामी चिदानन्दजी सरस्वती)

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता

परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

अहं करोमीति वृथाभिमानः

स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः ॥

मनुष्यको सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है । दूसरा कोई मुझे सुख-दुःख देता है, यह मान्यता नासमझीके कारण है । 'मैं करता हूँ', ऐसा जानना तो झूठा अभिमान है । नरसिंह मेहताके शब्दोंमें कहें तो 'मैं करता हूँ, मैं करता हूँ'—यही अज्ञान है; क्योंकि मनुष्यमात्र अपने ही कर्मके बन्धनोंसे जकड़ा हुआ है । और उन कर्मोंके फलरूपमें ही उसे सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है । यह हुआ उपर्युक्त श्लोकका अर्थ । इस अर्थसे उसका रहस्य समझमें नहीं आता; अतएव इसे समझनेके लिये एक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है ।

एक शिकारी हिरनको मारनेके लिये तीर छोड़ता है । दैववश वह तीर हिरनको लगता है और वह मर जाता है । अब यदि उस हिरनको बोलना आता और वह कहता कि इस तीरने मुझे मार डाला यानी इस तीरने मुझको मृत्युका दुःख दिया, तो हम कहते कि 'भाई हिरन ! तुम्हारी बात सच्ची नहीं है । तीर तो जड़ है, वह तुमको कैसे मार सकता है ? तुमको मारनेवाला तो शिकारी है, जिसने तुम्हें मारनेके लिये तीर छोड़ा था ।' अब जरा सूक्ष्म-बुद्धिसे विचार कीजिये कि जैसे तीर शिकारीके हाथका साधनमात्र है, वैसे ही शिकारी भी उस महान् जादूगरके, जो विश्वनियन्ता कहलाता है, हाथका साधनमात्र है । हिरनकी मृत्यु तो उसके प्रारब्धके भोगकी समाप्तिके कारण हुई । उसकी मृत्युका उस क्षणमें निर्माण न होता और यदि उसका प्रारब्धभोग शेष होता तो वह तीर उसको न लगता; क्योंकि यह कहना बनता नहीं कि हर बार शिकारी जब तीर छोड़ता है, तब किसी प्राणीको लगता ही है और लगनेपर वह मर ही जाता है । इसलिये हिरनको तो उसके पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप ही मृत्यु प्राप्त हुई; परंतु शिकारी जो यह अहङ्कार करता है कि हिरनको मैंने मारा तो उसे हिरनकी हत्याका पाप अवश्य लगेगा ।

अर्जुनको भी ऐसा ही मोह कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें हुआ था और उसकी निवृत्तिके लिये भगवान् ने उसको समझाया था कि इन सबको मारनेवाला तो मैं हूँ, तू तो केवल निमित्तरूप है । 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' का भाव यही है ।

जब कर्मके विषयमें भगवान् स्वयं ही कहते हैं—'गहना कर्मणो गतिः'—कर्मकी गति गहन है, तब कर्मके रहस्यको समझानेके लिये मनुष्यकी चेष्टा अनधिकार चेष्टा ही कही जा सकती है; परंतु जबतक देह है, तबतक किसीका भी सारा अभिनिवेश निवृत्त नहीं होता । और इससे प्रत्येक देहधारीको ऐसा लगा करता है कि अनुक वातको जो मैंने समझा है सो ठीक समझा है । अतएव इसे लोगोंने सामने उपस्थित करना चाहिये । कर्मके रहस्यको सम्पूर्णतया समझना और समझाना मनुष्यकी बुद्धिकी सीमाके बाहरकी बात है; परंतु यदि उसे ऐसा लगता है कि अनुक अंश मैंने ठीक-ठीक समझा है और वह उसको उपस्थित करता है तो इसमें कोई दोष भी नहीं है; क्योंकि कदाचित् वह अंश किसी मुमुक्षुके ठीक समझमें न आता हो तो इससे उसका समाधान हो जायगा और उसके लिये तो वह प्रयत्न सार्थक समझा जायगा ।

अब कर्मका रहस्य समझनेके लिये कर्मके दो विभाग करके देखने होंगे । एक तो अनैच्छिक अथवा प्रकृति प्रेरित और दूसरा ऐच्छिक अथवा बुद्धिप्रेरित । अनैच्छिक कर्म शरीरके धर्मके अनुसार अपने-आप हुआ करते हैं और उनमें इच्छा और बुद्धिकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती । उदाहरणके लिये श्वासोच्छ्वासकी क्रिया है जो तुम्हारी इच्छा हो या न हो, पर अपने-आप होती रहती है । इसी प्रकार सारी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ अपने-आप हुआ करती हैं और उनमें इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाकी जरूरत नहीं होती; क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जबतक धर्मही है, तबतक उसके धर्मकी बाधा नहीं हो सकती । यानी जबतक धर्मकी आँख है, तबतक उसके रूप देखनेके धर्म या स्वभावका बाध नहीं हो सकता है यानी उसमें रुकावट नहीं आ सकती । आँखें खुलती हैं तो रूप देखनेके लिये ही खुलती हैं । इस बातको बहुत

संख्या ६]

सरल रीतिसे भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें समझाया है।
वे कहते हैं—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रस्नश्नश्चस्वपञ्चसन् ॥
प्रलपन्वित्सृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

(५ । ८-९)

भाव यह है कि जो मनुष्य कर्मके रहस्यको ठीक समझ गया है, वह अपनी इन्द्रियोंके स्वभाववश होनेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्ता नहीं मानता; क्योंकि वह जानता है कि जबतक चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं, तबतक उनके दर्शन आदि व्यवहारोंको रोकनेका कोई उपाय नहीं है, शरीरनाशके द्वारा ही इन्द्रियोंके व्यवहारोंका अवसान होता है। भगवान् इसीको बहुत विस्तारसे समझाते हैं। पश्यन् यानी देखनेकी क्रिया। जबतक आँख है, तबतक उसका रूप देखनेका स्वभाव मिटाया नहीं जा सकता। शृण्वन् यानी सुननेकी क्रिया। जबतक कान है, सुननेके धर्मका लोप नहीं हो सकता। स्पृशन् यानी स्पर्श करनेकी क्रिया। जबतक स्पर्श-इन्द्रिय वर्तमान है, तबतक स्पर्श-ज्ञान हुए बिना न रहेगा। एक आदमी दोपहरको नदीमें कमरतक पानीमें खड़ा रहे तो उसकी इच्छा हो या न हो, फिर भी कमरके नीचेके भागमें शीतलताका बोध और ऊपरके भागमें उष्णताका बोध हुए बिना न रहेगा। जिघ्रन् यानी सूँघनेकी क्रिया। जबतक नाक है, तबतक सुगन्ध-दुर्गन्ध आदिका ज्ञान अनिवार्य है। अश्नन् यानी खानेकी क्रिया। जबतक जीवन है, तबतक चाहे भले ही औषध अपने मुँहमें डालो और उसका स्वाद जाननेकी तुम्हें इच्छा न हो, तथापि औषधका स्वाद आये बिना न रहेगा। फिर भोजन करनेपर उसका स्वाद आये बिना कैसे रह सकता है? यह हुई ज्ञानेन्द्रियोंकी बात। कर्मेन्द्रियोंकी बात भी इसी प्रकार समझ लेनी चाहिये।

अब जब कि भगवान् कहते हैं—

‘न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।’

(गीता १८ । १२)

तब इसका अर्थ यही होता है कि इन्द्रियोंके नैसर्गिक कर्मोंका त्याग सम्भव नहीं है। यदि हठसे त्याग करने जायें तो शरीरका नाश हो जाय। इस बातको समझाते हुए भगवान् कहते हैं—

‘शरीरस्यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।’

(गीता ३ । ८)

यदि तुम अपनी इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारोंका त्याग करने जाओगे तो तुम्हारे शरीरका निर्वाह न हो सकेगा। यानी इन्द्रियोंके अपने-अपने नैसर्गिक व्यवहारोंके बिना शरीर नहीं टिक सकता।

जिसे केवल तर्क ही करना है और सदाचारकी ओर बढ़ना ही नहीं है, वह यह कहेगा कि ‘जब इन्द्रियोंका नैसर्गिक व्यवहार नहीं रुक सकता, तब मनुष्य क्यों न यथेच्छाचरण करे और अनुचित व्यवहार करे? और इसके लिये उसे उत्तरदायी क्यों माना जाय?’—इसका उत्तर यह है कि अशुभ कर्म कभी इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाके बिना नहीं हो सकता। प्रकृति-प्रेरित व्यापार अनिच्छासे हुआ ही करते हैं, पर अशुभ प्रवृत्तिमें तो सुख पानेकी इच्छा ही कारण होती है। और इसीलिये उस अशुभ क्रियाके लिये कर्त्ता उत्तरदायी है ही। बल्कि अनैच्छिक कर्म जो अपने-आप हुआ करते हैं, उनमें भी भगवान् सावधान रहनेके लिये तो कहते ही हैं; क्योंकि प्रकृति तो सदा ही अधोगामिनी है ही, और मन तो सदा विषयोंसे सुख पानेके लिये तैयार ही रहता है। इसी कारण भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

(गीता ३ । ३४)

‘इन्द्रियोंका उनके विषयोंके साथ संयोग होनेपर राग-द्वेष उपस्थित हो जाते हैं। अतएव राग-द्वेषके फंदेमें न फँसो। यदि फँसे तो अवश्य ही लुट जाओगे।’ इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि चक्षु-इन्द्रियके दर्शनका व्यवहार भले ही हो; परंतु वह व्यवहार राग-द्वेषपूर्वक नहीं होना चाहिये; क्योंकि इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारमें भी यदि राग-द्वेष शामिल हो तो उस व्यवहारका संस्कार अन्तःकरणपर पड़े बिना न रहेगा। और वह संस्कार भावी बन्धनको उत्पन्न करनेवाला बन जाता है। सारांश यह कि आँखसे रूपको देखना तो आँखका धर्म है, पर आसक्तिसे या बुरी नीयतसे रूपको देखना पापकर्म ही माना जायगा और उसका फल भोगना ही पड़ेगा। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारमें भी राग-द्वेषसे तो मुक्त ही रहना चाहिये।

यहाँ तक अनैच्छिक कर्मकी बात हुई । अब इच्छा या बुद्धिके द्वारा प्रेरित कर्मकी ओर देखिये । गीतामें अधिकांश स्थलोंमें ऐसे कर्मोंकी ही चर्चा है । गीताके कर्म-योगका मूलसूत्र है, 'योगः कर्मसु कौशलम्' । यानी कर्ममें कुशलता होनेका नाम ही योग है । कर्ममें कुशलता अर्थात् कर्म ऐसी कुशलतासे करे कि कर्म करनेपर भी कर्मके बन्धनमें न पड़ना पड़े । उसी प्रकारसे जैसे जलके भीतर रहने-वाले कमलको जल स्पर्श नहीं कर पाता ।

कर्मकी मीमांसा करते हुए भगवान् कहते हैं कि इस विषयमें विद्वानोंमें भी दो मत हैं । एक पक्ष कहता है कि 'कर्ममात्र दोष-युक्त है, अतएव जीवको बन्धन करानेवाले हैं । उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये' और दूसरा पक्ष कहता है कि 'यज्ञ, दान और तप-जैसे पवित्र कर्मोंका त्याग न करो । इस विषयमें मेरा क्या निश्चय है—यह मैं बतलाता हूँ, तुम ठीक-ठीक समझो ।'

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

(गीता १८ । ५)

भगवान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप-जैसे कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि उनका अवश्य आचरण करना चाहिये; क्योंकि ये पवित्र कर्म हैं और अन्तःकरणको शुद्ध करके परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं । फिर ये कर्म किस प्रकार किये जायँ—इसे समझाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

(गीता १८ । ५)

इन पवित्र कर्मोंको भी 'मैं करता हूँ,' ऐसा अभिमान रखे बिना तथा इनके फलमें आसक्ति रखे बिना करे; क्योंकि ये शुभ और पवित्र कर्म भी यदि फलेच्छा और अहङ्कारपूर्वक किये जायँ तो बन्धनकारक बनते हैं । अन्तर इतना ही है कि इन कर्मोंसे सोनेकी वेड़ी पड़ती है, जहाँ दूसरे कर्मोंसे लोहेकी वेड़ी । दोनोंमें बन्धन तो समान ही होता है ।

गीता कहती है कि कोई भी कर्म बन्धनकारक नहीं होता । कर्मसे बन्धन करानेवाला तो कर्तापनका अभिमान और फलकी इच्छा—ये दो ही हैं । अतएव अभिमान और

इच्छारहित जो भी कर्म होते हैं, वे बन्धनकारक नहीं होते । यह बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहङ्कतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हृत्वापि स इमाल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥

(गीता १८ । १७)

जिस मनुष्यमें यह अभिमान नहीं है कि मैं यह कर्म करता हूँ तथा यह इच्छा नहीं है कि इस कर्मका मुझे अमुक फल मिले, वह मनुष्य इस युद्ध-क्षेत्रमें खड़े हुए सभी योद्धाओंको मार डाले तो भी कर्मका बन्धन उसको नहीं होता । इससे स्पष्ट हो गया कि कर्म स्वयं बन्धन नहीं कराता; बल्कि बन्धनकारक होती है उसमें रहनेवाली फलेच्छा और कर्तापनका अभिमान ।

जबतक हम संसारमें हैं, तबतक कर्म तो करने ही पड़ेंगे । इससे छुटकारा नहीं है । पर वे कर्म बन्धनकारक कैसे न हों—इसका उपाय बतलाते हुए गीता कहती है कि (१) कर्तापनका अभिमान न रखो, (२) फलकी इच्छा न रखते हुए कर्म करो ।

फलकी इच्छा न रहनेपर कर्म करनेसे फल न मिलता हो सो बात नहीं है । इच्छारहित यानी निष्कामकर्मका फल तो अनन्त गुना होता है और साथ ही वह बन्धनकारक नहीं होता । बल्कि निष्कामकर्म ऐहिक फल देनेके अनन्तर अन्तःकरणकी शुद्धि करता है और इससे जीवनमुक्तकी स्थिति प्राप्त होती है—यह कोई कम लाभ है ?

कर्तापनका अभिमान छोड़नेके लिये भगवान्ने गीतामें अनेक रास्ते बतलाये हैं । एक जगह वे कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

(३ । २७)

यानी कर्म-सम्पादन तो होता है प्रकृतिके गुणोंसे; परंतु अहङ्कारवश मूढ़ बना हुआ जीवात्मा अपनेको कर्ता मान लेता है । अब प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होता है—यह समझना है । प्रकृतिके गुण हैं—सत्त्व, रज और तम । इन तीन गुणों का कार्य यह शरीर है; क्योंकि इन तीनों गुणोंसे पञ्च महाभूत उत्पन्न हुए और पञ्च महाभूतोंसे ये शरीर बने । अतः समस्त कर्म सम्पादित होते हैं स्थूल शरीरसे और स्थूल शरीरको सत्ता देनेवाला है सूक्ष्म शरीर । आत्मा तो केवल इच्छा है । वह कुछ करता नहीं, फिर भी अज्ञानके कारण अपनेको

संख्या ६]

कर्ता मान लेता है और यह अज्ञानसे घिरा हुआ आत्मा जीव-संज्ञाको प्राप्त होता है, यानी अपनेको कर्ता और भोक्ता समझकर जन्म-मरण धर्मवाला मानता है।

कर्ता भोक्ता देह में यही जीवका रूप।

जब आप करता नहीं केवल शिवस्वरूप ॥

कर्ता, भोक्ता तो देह है, और आत्मा 'मैं देह हूँ' अज्ञानवश ऐसा मानकर जीवभावको प्राप्त होता है। जीवका स्वरूप इस अज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है। पर यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको समझ जाय कि 'मैं तो कर्ता नहीं' तो वह शिवस्वरूप है ही। इस प्रकार आत्मा वृथा ही कर्तापनके अभिमानसे बन्धनमें पड़ता है। इसी कारण भगवान् कहते हैं कि आत्मा कर्ता नहीं है। यह निश्चय करके कर्तापनका अभिमान छोड़ दे।

कर्मफलकी आशा छोड़नेके लिये तो भगवान् ने अनेक स्थानों पर कहा है। एक जगह कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्तं हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

(गीता २।५१)

भगवान् कहते हैं कि जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसे बुद्धिमान् और चतुर व्यक्ति कर्मसे उत्पन्न फलका त्याग करके जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होकर अनामय पदको यानी मोक्षसुखको प्राप्त होते हैं। आशय इतना ही है कि यदि कर्म निष्कामभावसे किये जाते हैं, तो उनसे बन्धन नहीं होता। केवल यही नहीं, बल्कि जन्म-मरणका बन्धन भी छूट जाता है और शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है।

कर्मफल-त्यागके विषयमें एक दूसरे प्रसङ्गमें श्रीभगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

(गीता ५।१२)

यानी जो कर्मयोगी है, अर्थात् जिसने कर्मके यथार्थ रहस्यको जान लिया है, वह कर्मके फलका त्याग करके परम शान्तिको प्राप्त करता है, अर्थात् निर्वाणपदको पाता है। पर जो अयोगी है यानी कर्मके रहस्यको न समझकर कर्ममें आसक्ति रखता है, वह फलकी इच्छा रखकर कर्म करता है। इससे कर्मके बन्धनमें जकड़ जाता है। यानी जो कर्मफलकी इच्छा नहीं रखता, वह जन्म-मरणके दुःखसे छूट जाता है और जो कर्मफलकी आशा लिये रहता है, उसका जन्म-मरण चालू रहता है।

इस छोटे-से निबन्धमें आपने देखा कि अनैच्छिक कर्म भी यदि राग-द्वेषसे युक्त होते हैं तो बन्धनके कारण बनते हैं। अतएव अनैच्छिक कर्मोंके करते समय राग-द्वेषसे मुक्त रहना चाहिये और ऐच्छिक कर्ममें कर्तापनका अभिमान नहीं रखना चाहिये। और फलकी आशाका भी सेवन नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे किसी भी कर्मका बन्धन न होकर शाश्वत शान्ति मिलेगी, यानी मुक्तिकी प्राप्ति होगी।

इस लेखके आरम्भमें जो श्लोक उद्धृत किया गया है, वैसे ही भावको बतलानेवाली कुछ पंक्तियाँ भक्तराज नरसिंह मेहतके पदोंसे उद्धृत कर इस लेखको समाप्त करेंगे।

कवि कहते हैं—

हुँ करूँ हुँ करूँ एज अज्ञान छे।

शकटनो भार जेम श्वान ताणे ॥

× × × ×

निपजे नर थी तो कोई न रहे दुःखी

शत्रु मारी सहु मित्र राखे।

× × × ×

जेहना भाग्यमें जे समे जे लख्युँ

तेहने ते समे तेज पहोंचे।

रसखानि

वैन वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन बैनसों सानी
हाथ वही उन गात सरैं अरु पाइ वही जु वही अनुजानी।
जान वही उन प्रानके संग औ माम वही जु करै मनमानी
त्यौ रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि, सो है रसखानी ॥

—रसखान

प्रतीकोपासना और शिवलिङ्ग-रहस्य

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

[गताङ्कसे आगे]

वर्तमानयुगका तथाकथित शिक्षित सम्प्रदाय प्रायः संसार-त्यागी, योगी-संन्यासी लोगोंको स्वार्थपर, आत्ममुक्तिकामी, समाजकल्याण-विमुख कहकर तिरस्कार करता है एवं देशके, व्यक्तिके और जातिके समष्टि-जीवनके लिये उनके अध्यात्म-साधनामय जीवनका कोई विशेष मूल्य नहीं समझता। भारतीय जाति-गठनके इतिहासके सम्बन्धमें बहुतांको इसका ज्ञान नहीं है कि इन संसार-त्यागी अध्यात्मनिष्ठ योगी-संन्यासियोंने ही सम्पूर्ण भारतवर्षके संस्कृतिगत, आदर्शगत और प्राणगत ऐक्यसम्पादनमें सबसे अधिक सहायता की है। देश जव अनेकों परस्पर झगड़नेवाली जातियों और राष्ट्रोंमें विभक्त था, एक प्रदेशकी सामाजिक रीति-नीति, आचार-व्यवहारको जव दूसरे प्रदेशमें अनार्योचित कहकर घृणा की जाती थी, विभिन्न प्रदेशोंके उच्च वर्णादिमें भी जब मेल-जोल और भावका आदान-प्रदान कम ही था, उस अति प्राचीन युगसे आरम्भ करके समस्त भारतमें सांस्कृतिक मिलन-भूमिकी रचना की थी, जातीय एकताकी भित्तिका गठन किया था एवं भाव और आदर्शोंका मेल स्थापन किया था इन संसारविरागी, समाजत्यागी, योगी-संन्यासी और परिव्राजक लोगोंने ही। भारतके नगर, ग्राम, पहाड़, जंगल—सर्वत्र एवं भारतके बाहर भी अनेक प्रदेशोंमें प्रतिष्ठित पाषाणमय शिवलिङ्ग प्रायः योगी-संन्यासियोंकी ही कीर्ति है। यह शिवलिङ्ग अध्यात्मदृष्टिसे जैसे ब्रह्मका प्रतीक है, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे वैसे ही भारतके प्राणगत ऐक्यका प्रतीक है। भारतीय संन्यासी, गृही और ब्रह्मचारी, शानी, कर्मी और भक्त, उपनयनादि संस्कार-समन्वित द्विज और वैदिक संस्कारविवर्जित शूद्रादि, शिक्षित और अशिक्षित, पुरुष और नारी, ग्राम-नगरवासी और वन-पर्वतवासी, विभिन्न धर्मानुरागियोंके मिलनका प्रतीक है। इसके लिये उन संसारत्यागी, शिवानुरागी, निवृत्तिमार्गावलम्बी, योगी-संन्यासियोंका वर्तमान भारत ऋणी है।

शिवलिङ्गके आध्यात्मिक तात्पर्यके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी भ्रान्त धारणा प्रचलित है। अनेक पण्डितमन्य अज्ञ असाधक गवेषक लिङ्ग-शब्दकी और लिङ्ग-आकृतिकी निन्दनीय व्याख्या करके शिवलिङ्गको विडन या पुरुषके

जननेन्द्रियका द्योतक समझते हैं। ऐतिहासिक गवेषणाद्वारा उन लोगोंने यह आविष्कार किया है कि प्राचीन अनेक असभ्य और अर्धसभ्य जातियोंके बीच शिवोपासना प्रचलित थी। उनका सिद्धान्त है कि शिवलिङ्गकी उपासना उन आदिम-असभ्योंकी असंस्कृत धर्मबुद्धिसे समुद्भूत हुई है। अंग्रेजीमें इसे Phallic Worship कहते हैं। भारतीय धर्मालोचनानिरत अनेक पाश्चात्य पण्डितोंने भी इस मत को आपत्ति उठायी है। भारतीय हिंदू-जातिकी आध्यात्मिक और नैतिक संस्कृतिके प्रति उन लोगोंकी इतनी श्रद्धा है कि शिवलिङ्ग यदि शिश्नेन्द्रियका ही द्योतक होता, तो वह अश्लील प्रतीक इस जातिमें ऐसी सार्वजनीनता कभी प्राप्त कर सकता। अन्ततः समाजके उन्नत स्तरके लोग—संन्यासी और गृहस्थ साधकगण—उसे कभी न ग्रहण करते

पूर्वोक्त मतके अश्लीलतादोषको प्रक्षालन करके बहुतेक यह प्रतिपादन करनेका प्रयास किया है कि शिवलिङ्ग भगवान्की सृष्टिशक्ति और सृष्टि-प्रक्रियाका प्रतीक है। विश्व-जगत्में सर्वत्र ही स्त्री-पुरुषके शक्ति-योगसे ही सृष्टि प्रसार देखा जाता है। केवल मानव-जगत्में ही नहीं जीव-जगत्में—यहाँतक कि उद्भिद्-जगत्में भी यौन-मिलन द्वारा ही सृष्टि-विधान होता है। गौरीपीठस्थित शिवलिङ्ग इस यौन-सृष्टिकी ओर ही मनुष्यकी दृष्टि आकर्षित करता है। भगवान्के सृष्टि-कौशलके निकट मनुष्यको श्रद्धा भक्तिपरायण होनेकी शिक्षा देता है, पुरुष-प्रकृतिके मिलन को ही विश्वप्रपञ्चका मूल-तत्त्व निर्देश करता है। पुरुष और तदीया परमा प्रकृतिका नित्य आनन्दमिलन—विश्वप्रपञ्चकी सृष्टि-स्थितिका मूल रहस्य है, वही विश्व जीवन है, उसीसे विश्वमें आनन्दधारा अव्याहत है। विश्वके इसी जीवनधाराके साथ मनुष्यकी व्यक्तित्व जीवनधाराको युक्त करना ही आध्यात्मिक साधना है। एक ही परम पुरुष विश्वके सभी जीवोंके अन्तरात्मा रूपमें विराजमान है, एक ही परमा प्रकृति सबके देहभित्ति मनोबुद्धिकी जननी है। देहेन्द्रिय-मनोबुद्धिमें जो रमण, जो आनन्दविहार, जो अभिन्नताबोध है, उसी परम पुरुष और परमा प्रकृतिके नित्य मिलन

संख्या ६]

ही परिचय है। सर्वत्र परम पुरुष और परमा प्रकृतिके—शिव और शक्तिके—ब्रह्म और मायाके लीला-विलासका प्रत्यक्ष करना ही साधनाका उद्देश्य है। शिवलिङ्गकी पूजा मनुष्यको यही शिक्षा देना चाहती है—यही आदर्श भारतीय प्राणोंका आदर्श है—इसी आदर्शसे सर्वसाधारणको अनुप्राणित करनेके उद्देश्यसे ही सर्वत्र शिवलिङ्गके प्रस्तर-विग्रहकी प्रतिष्ठा हुई। सभी श्रेणियोंमें शिवलिङ्गकी पूजाका प्रचार हुआ।

दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे शिवलिङ्गकी यह व्याख्या अयौक्तिक नहीं है; किंतु ऐतिहासिक दृष्टिसे यह मत सन्देहास्पद है। भारतीय साधनाके इतिहासमें मूलतः शिवको सृष्टिविधाताके रूपमें नहीं माना गया है। वैसा होनेसे वे प्रथमसे ही प्रवृत्तिमार्गके अनुसरणकारी कर्मकाण्डसेवी लोगोंके आराध्य होते और याग-यज्ञ उनका प्रधान स्थान होता। भारतीय साधकसमाजमें ब्रह्मा सृष्टिकर्ता, विष्णु पालनकर्ता एवं शिव संहारकर्तारूपसे माने जाते हैं। एक अद्वितीय ब्रह्मकी ही त्रिविध सगुण भावमूर्तियाँ हैं। जिन लोगोंको विश्व-जगत्की सृष्टि और स्थिति ही प्रिय है—एक-से बहुतकी उत्पत्ति एवं बहुतके मध्य साम्यशृङ्खला-सामञ्जस्य-विधान जिन्हें आकाङ्क्षित है—वे ब्रह्मा और विष्णुकी ही आराधना करते हैं। याग-यज्ञादि समाज-कल्याणकर कर्म-क्रमांश अनुष्ठानादिमें ब्रह्मा और विष्णुको ही आवाहन करते हैं और प्रधान स्थान देते हैं। शिवका कार्य है संहार—वे बहुतको मिटाकर एकत्वकी पुनः प्रतिष्ठा करनेके व्रती हैं—वे संसारके बहुत्वकी शृङ्खलासे जीवको मुक्ति देकर समाजके बन्धनसे साधकोंको बाहर खींचकर मूलकारणमें—ब्रह्मस्वरूपमें—प्रतिष्ठित करनेमें व्यस्त रहते हैं। इसी कारण जो लोग संसारकी वृद्धि नहीं चाहते, सङ्कोच चाहते हैं। सृष्टि नहीं चाहते, संहार चाहते हैं। कर्मकी बहुलता नहीं चाहते, स्व कर्मों और कर्मफलोंसे मुक्ति चाहते हैं; वे ही निवृत्तिमार्ग-के साधकगण—संसारविरागी, योगी, संन्यासी, मुमुक्षुगण—यथानतः शिवकी आराधनाके पक्षपाती होते हैं। उनकी दृष्टिमें शिव ही सुन्दर और महान् हैं, उन्हींकी कृपासे मानव-जीवन-जीवनमें ब्रह्माका आदर्श वर्णन किया है, वे संसारमें प्रजावृद्धि अनुष्ठानमें प्रसन्न होते हैं, गार्हस्थ्यको प्रधान स्थान देते हैं। वे विष्णुभक्त हैं, विष्णुके आदर्शसे अनुप्राणित हैं, वे संसारके वैचित्र्यके मध्य शान्ति-शृङ्खला-सामञ्जस्य विधान करनेमें अपनी

शक्तिका प्रयोग करते हैं; सब जीवोंपर प्रेम और सेवा उनके जीवनका व्रत होता है। मानव-समाजमें वैषम्य और विशृङ्खलाके स्रष्टा स्वार्थी और दाम्भिक राक्षसप्रकृति और असुरप्रकृतिके लोगोंका प्रभाव नष्ट करके प्रेम और अहिंसाका प्रभाव प्रतिष्ठित करनेके लिये सब प्रकारके कर्म-सम्पादनमें निरत रहते हैं। उनका गार्हस्थ्य भी सेवाके लिये होता है; कर्म भी सेवाके लिये होता है। जो लोग शिवभक्त होते हैं, शिवके आदर्शसे अनुप्राणित होते हैं, वे संसारके वैचित्र्यका अतिक्रमण करके परम साम्यमें प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं; वे सभी प्रकारके ऐश्वर्यको तुच्छ समझते हैं; मानव-समाजकी लौकिक श्रीवृद्धिके प्रति उदासीन होकर ज्ञान और वैराग्य-साधना करते हैं। स्वयं योगी-संन्यासी होकर, समाज-धर्म-का उल्लङ्घन करके लोक-समाजमें वैराग्य और मोक्षका आदर्श प्रचार करते हैं। शिव हैं नित्य-वैरागी, नित्य-समाधिशील, नित्य-आत्मसमाहित और आत्मानन्दमें विभोर। संसारकी अपेक्षा उन्हें श्मशान प्रिय है, वे ज्ञान-वैराग्य और मुक्तिके आदर्शको लोक-समाजमें उपस्थापित करके मनुष्योंकी चित्तवृत्तिको संसारके बहुत्वसे ब्रह्मके एकत्वकी ओर आकर्षण करते हैं। वे नित्य काल-क्लेश-कर्म-विपाक-आशयके ऊर्ध्वमें विराजमान रहकर उसी ओर मनुष्यकी अनुरागवृद्धि करते हैं। वे हैं ज्ञानीश्वर, त्यागीश्वर और योगीश्वर—सभी ज्ञानियोंके गुरु, सभी त्यागियोंके गुरु और सभी योगियोंके गुरु। शिवजीके सम्बन्धमें मूलतः यही शिवानुरागी साधकों और आचार्यगणोंकी धारणा है।

जिनकी अध्यात्मदृष्टि और विचारशक्ति साधारण है, वे भी सहज ही सोच सकते हैं कि सृष्टिका व्यञ्जक स्त्री-पुं-शक्तिका भेद, या यौन-मिलनका द्योतक, या प्रजावृद्धिका सूचक कोई भी लिङ्ग या चिह्न या विग्रह मूलतः शिवका प्रतीक नहीं हो सकता। शिव-सम्बन्धी धारणाके साथ उसका किसी प्रकार मेल ही नहीं खाता। शिवोपासनाके चरम लक्ष्यकी साधनाके मार्गमें वह किसी प्रकार भी अनुरूप अवलम्बनके रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस प्रकारका कोई प्रतीक प्रजापति ब्रह्माका लिङ्ग मानकर अवलम्बन किया जा सकता है; परंतु ज्ञानी गुरु, योगी गुरु, त्यागी गुरु, विश्ववैचित्र्यसंहारक, अद्वयत्वप्रकाशक, मुक्तिपदप्रदर्शक शिवका लिङ्ग मानकर ग्रहण नहीं किया जा सकता और यदि विश्वजगत्के यौनसृष्टिविधानके प्रतीकरूपमें ही शिवलिङ्गकी परिकल्पना होती तो संसारविरागी निवृत्तिमार्गावलम्बी अद्वयतत्त्वनिष्ठ

मुमुक्षुयोगी और संन्यासी-सम्प्रदाय इस लिङ्गको उपास्यके आसनपर प्रतिष्ठित न करता—तत्त्वानुसन्धानके आलम्बनरूपमें ग्रहण न करता । जो लोग नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हैं, जो लोग यौनसंस्कारका लेशमात्र भी अपने अन्तरमें सहन नहीं कर सकते, जो लोग स्त्री-पुं-भेदके संस्कारको हृदयसे निकाल देनेका प्रयास करते रहते हैं, वे जननेन्द्रियके द्योतक किसी विग्रहको सम्मुख रखकर साधनमें प्रवृत्त हों, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती, तो भी इन सब सृष्टिविरागी यौन-संस्कारत्यागी एकतत्त्वाभ्यासी योगी, संन्यासी, ब्रह्मचारियोंने ही भारतमें सर्वत्र शिवोपासनाका प्रचार किया, दुर्गम गिरि-कन्दराओंमें, गभीर अरण्योंमें, निर्जन श्मशानोंमें शिवमूर्तिकी प्रतिष्ठा करके इन सभी लोकसमाजवर्जित स्थानोंको तीर्थक्षेत्रोंमें परिणत कर दिया । सृष्टिके देवताको नहीं, संहारके देवताको, मोक्षके देवताको ही उन्होंने भारतके आदर्शस्थानीयरूपमें चिरप्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न किया एवं शिवलिङ्ग इसी संहार-के देवता तथा मोक्षके देवताका ही प्रतीक है । संसारमें सम्पूर्ण बहुत्व ही मृत्युग्रस्त है; जीवनके भीतर अपनी स्वेच्छा-से मृत्युको वरण करके, मृत्युको ज्ञान और वैराग्यके द्वारा आत्मसात् करके अमृतत्व लाभ करना होगा, मृत्युञ्जय-पद-पर प्रतिष्ठित होना होगा । संहारका देवता शिव मृत्युञ्जय नामसे अभिहित हुआ । श्मशानमें, मृत्युके क्षेत्रमें मृत्युञ्जय-की प्रतिष्ठा हुई—इसीलिये मनुष्यकी चित्तके ऊपर शिवलिङ्ग प्रतिष्ठा करनेकी शिक्षा दी गयी है । सुतरां मूलतः शिवलिङ्ग-को सृष्टिका प्रतीक मानकर सिद्धान्त करना नितान्त ही भ्रमजनित है ।

वस्तुतः शिवलिङ्गके लिङ्गशब्दके साथ एवं शिवलिङ्ग-की आकृतिके साथ मनुष्यके पुरुषत्वव्यञ्जक इन्द्रियविशेषका किंवा विश्वके सृष्टिप्रक्रियासूचक यौनमिलनका कोई मौलिक सम्पर्क ही नहीं है । जिसके द्वारा कोई तत्त्व, कोई वस्तु या व्यक्ति या व्यापार लिङ्गित होता है, लक्षित होता है, निर्देशित होता है, परिचित होता है, वही उस तत्त्व, वस्तु, व्यक्ति या व्यापारका लिङ्ग कहा जाता है । एक ही लिङ्गी या लक्षितव्य विषयके नाना प्रकारके लिङ्ग होते हैं ।

अत्यन्त प्राचीनकालसे तत्त्वदर्शी ऋषिगण, मनीषी साधकगण, मुमुक्षु योगी और संन्यासीगण ज्योति, आलोक, अग्नि और सूर्यको चैतन्यका प्रतीक मानकर ग्रहण करते आये हैं । एकमेवाद्वितीयं चैतन्यस्वरूप ब्रह्मका ही स्वयंज्योति, परमज्योति, अखण्डज्योति इत्यादि रूपोंसे वर्णन हुआ है ।

हमलोग इन्द्रियजन्य ज्ञानके द्वारा ज्योतिके दो धर्मों प्रधानतः परिचय पाते हैं—एक प्रकाश और दूसरा विनाश । ज्योति अपनेको स्वयं प्रकाश करती है, सभी विषयोंको प्रकाश करती है एवं अन्धकारका विनाश करती है, विषय आवरण नष्ट करती है और सभी अनित्य दाह्य पदार्थोंका जल करती है । देदीप्यमान सूर्य, प्रज्वलित अग्नि, समुज्ज्वल दीपशिखा सबका प्रकाश और विनाश करती है, किन्तु सब जड़ ज्योतियाँ प्रकाशके लिये चैतन्य ज्योतिके ऊपर निर्भर रहती हैं । चैतन्यकी दीप्तिके बिना किसी भी विषयका प्रकाश नहीं होता । चैतन्यके आलोकसे आलोकित होकर ही सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत्, अग्नि, दीपशिखा इत्यादि जड़ ज्योतिर्मय बड़े-छोटे सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं एवं उनके आलोकसे आलोकित सभी विषय प्रकाशित होते हैं । मनु, कर्णादि इन्द्रियशक्तियाँ भी चैतन्य-शक्तिके प्रकाशसे ही प्रकाशमान और क्रियाशील होते हैं । एकमात्र चैतन्य ही स्वयंप्रकाश स्वयंज्योति है; चैतन्यकी ज्योतिसे ही सम्पूर्ण जगत्का प्रकाश है । श्रुति कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

समस्त विश्वब्रह्माण्ड जब अनभिव्यक्त रहता है, सूक्ष्म-स्यावर-जङ्गम कुछ भी जब व्यक्तरूपसे प्रकाशित नहीं होता, ज्ञाता-ज्ञेय, द्रष्टा-दृश्य, कर्ता-कार्य—किसी प्रकारके भेद मूलक सम्बन्धका जब विकास नहीं होता, जब दिन-रातिका भेद नहीं होता, आलोक अन्धकारका भेद नहीं होता, तब तक कि प्रकाश-अप्रकाशका भी भेद नहीं होता, उस समय भी एक अद्वितीय चैतन्यमय पुरुष अपनी स्वरूपगत ज्योतिसे प्रकाशमान होकर अपने स्वरूपमें स्वयं विराजमान रहते हैं । इसी चैतन्यमय पुरुषकी योगी, संन्यासी, ऋषिगण 'शिव' नाम से उपासना करते हैं । श्रुति कहती है—

‘यदा तमस्तत्र दिवा न रात्रिर्न सन्न केवलः’ ‘एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः’ ‘शिवमद्वयम् ।’

इसी स्वप्रकाश सर्वप्रकाश ज्योतिर्मय शिवका अपने अन्तरमें अनिर्वाणरूपसे दर्शन करते हैं एवं वहिर्जन्य के सभी आलोकबहुल पदार्थोंमें उसीकी ज्योतिकी स्वप्रकाश करते हैं । अतएव जागृतिक ज्योतिकी स्वप्रकाश

संख्या ६]

शिवज्योतिके प्रतीकरूपसे अवलम्बन करके वे साधनामें प्रवृत्त होते हैं एवं जीवनको सम्यक् प्रकारसे ज्ञानालोकमय करनेके लिये यथाविधि प्रयत्न करते हैं। 'शिवो ज्योतीरसो-
मृतम्'—शिव ही विश्वमें सर्वप्रकाशक ज्योतिस्वरूप हैं, शिव ही विश्वके सारभूत रसस्वरूप हैं, शिव ही जीवके चरम आकाङ्क्षणीय अमृतस्वरूप हैं। अनिर्वाण दीप ही शिवका लिङ्ग या प्रतीकरूपसे योगिजनग्राह्य है।

जो अपने स्वरूपभूत चैतन्य-ज्योतिसे नित्य दीप्तिमान् हैं, जिनको श्रुति—'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' कहकर वर्णन करती है, जो निरावरण ज्ञान-समाधिमें नित्य आत्मानन्द-विभोर रहते हैं, जो कालानवच्छिन्न ज्ञानिस्वरूपसे जीवके अज्ञानान्धकारका विनाश करते हैं, एवं वासना-कामनाके विषेको निर्मूल करते हैं, जो ज्ञानयोग और संन्यासरूपी त्रिशूले द्वारा स्थूठ-सूक्ष्म-कारणदेहरूप त्रिविध पुरमें निवास करनेवाले जीवके मायिक अहंरूपी दुर्दान्त त्रिपुरासुरका वध करके जीवात्माको अपने शुद्ध-बुद्ध-चिदानन्दमय स्वरूपमें प्रतिष्ठित करते हैं, जो सर्वपाशविनिर्मुक्त, सर्वविधिनिषेधातीत, सर्वक्लेशकर्मविपाकाशयसे अपरामृष्ट महायोगी, महात्यागी, महाज्ञानीके नित्य आदर्श हैं—अनिर्वाण दीपशिखा या आलोकस्तम्भ ही उनका प्रकृष्ट प्रतीक या लिङ्ग है। यही लिङ्ग ही शिवलिङ्गरूपसे शिवभक्त योगी-संन्यासी मुमुक्षुजनोंके चिर उपास्य है—उपासनाका आलम्बन है। शिवलिङ्गको ज्योतिर्लिङ्ग भी कहा जाता है; क्योंकि ज्योतिरूप लिङ्ग ही शिवस्वरूपका सर्वोत्कृष्ट द्योतक है। दिन-रात प्रदीप जलाकर शिवका ध्यान और आराधना करनेकी रीति आज भी मुमुक्षु योगी साधकोंके बीच देखी जाती है।

विश्व-प्रकृतिके वक्षके ऊपर यह एकमात्र आलोकस्तम्भ देदीप्यमान है। यही एकमात्र ज्योति सम्पूर्ण विश्वप्रकृतिको उद्भासित करती है, इसीके आलोकसे सब कुछ आलोकित है, प्रकाशित है। विश्वका सारा वैचित्र्य इसी ज्योतिको केन्द्र करके ही नियत परिणामको प्राप्त होकर प्रकाशित होता है एवं इसी आलोकसे उद्भासित होते-होते सम्पूर्णरूपसे आलोकमय होकर उसीके अंदर अपना विलय करनेकी ओर अग्रसर होता है। यह ज्योतिःस्वरूप ही विश्वका प्राण, विश्वका आत्मा है। यह एक अद्वितीय सर्ववर्णातीत स्वप्रकाश ज्योति ही विश्वके बीच विचित्र वर्णोंमें आत्मप्रकाश करती है, प्रत्येक वर्णके बीच इस अखण्ड अवर्ण-ज्योति-का ही खण्ड सोपाधिक आत्मप्रकाश आत्मविजय

आत्मविलास है। इसी हेतु विश्वप्रकृति इस स्वयं ज्योतिका योनिपीठ—आत्मविलास, आत्मरमण है; विचित्ररूपमें आत्मोपलब्धि और आत्मपरिचयका क्षेत्र है। योनिपीठस्थित शिवलिङ्ग इस मूलतत्त्वका ही स्मरण सब साधकोंको करा देता है। विश्वके अनन्त वैचित्र्यके बीच विचित्ररूपसे विलसित इस एकमात्र नित्यज्योतिकी ओर दृष्टिको केन्द्रीभूत कर सकनेसे ही मनुष्यके व्यष्टिगत और समष्टिगत जीवनकी सभी भेदजनित समस्याओंका समाधान हो जाता है, सब अज्ञानान्धकार तिरोहित हो जाता है, सभी अविद्याप्रसूत अहङ्कार-ममता, वासना कामना, दुःख-तापका विनाश हो जाता है।

निवृत्तिमार्गके साधक पहले विश्वप्रकृतिके प्रति उदासीन होकर वैदिकधर्म, समाजधर्म, क्रियाकाण्डादिका परित्याग करके, लोक-समाजके बाहर वनमें, समाजमें, पर्वतपर शिवज्योतिके ध्यानमें प्रवृत्त होते हैं एवं जीवनके सभी विभागोंको चैतन्यालोकसे आलोकित करके शिवमय बना डालनेका प्रयास करते हैं। तदुपरान्त ज्ञानालोकित दृष्टिसे सम्पूर्ण विश्वप्रकृतिके मध्य सच्चिदानन्दका विचित्र विलास देखकर वे लोग साधारण नर-नारियोंके जीवनको तत्त्वज्ञानसे आलोकित करनेके उद्देश्यसे, समाजके सभी स्तरोंमें शिवको प्रतिष्ठित करनेके लिये, सबको अखण्ड ज्योतिकी उपासनामें दीक्षित करनेका व्रत लेते हैं। प्रवृत्ति-मार्गके अधिकारी नर-नारियोंके सम्मुख भी शिवज्योतिका आदर्श उपस्थापित करके प्रवृत्ति-धर्मको भी वे निवृत्ति-परायण करनेका प्रयत्न करते हैं। वेदवादियोंके धर्मानुष्ठानमें, समाज-विधानमें, अधिकारनिरूपणमें जो संकीर्णताएँ थीं, जितना भेदबुद्धिका प्रभाव था, शिवज्ञानका प्रकाश डालकर उन संकीर्णताओं और भेदबुद्धियोंको दूर करके वे लोग क्रमशः समाजके ऊपर नये प्रभावका विस्तार करने लगे। गृहस्थ तत्त्वपिपासुओंने शिवोपासक योगी और संन्यासियोंका शिष्यत्व ग्रहण करके शिवको गृहदेवता, कुलदेवता, ग्राम-देवता, जातिदेवतारूपमें प्रतिष्ठित किया। शिवजी मानो गृहस्थ हो गये—कर्मके साथ ज्ञानका मिलन हुआ, भोगके ऊपर त्यागका प्रभुत्व स्थापित हुआ, गृहस्थोंकी कर्ममयी, भोगमयी, वैचित्र्यमुखी, बहुत्वप्रसविनी चेतना ज्ञानी गुरु, त्यागी गुरु, आत्मचैतन्यसमाहित, भेद-बुद्धिविनाशी शिवको पतिरूपसे वरण करके उनके अनुगत हुई। शिव और

संतान-संततिमें शिवका अद्वय एकत्व प्रतिफलित हुआ । शिवके योनिपीठके रूपमें विश्वप्रकृतिकी स्थापना हुई । विश्व-प्रकृतिके आधारसे ज्ञानालोकमय चैतन्यज्योति सभी दिग्-दिगन्तरको उद्भासित करके प्रकाशित होने लगी ।

यही शिवलिङ्गका आध्यात्मिक रहस्य है । शिवलिङ्गकी स्थापना पहलेसे ही दीपशिखा या आलोकस्तम्भ या प्रदीप्त ज्योतिके रूपमें हुई है । इस ज्योतिको प्रतीकोपासनाके क्षेत्रमें सर्वत्र स्थायी रूप देनेके उद्देश्यसे ही उसे प्रस्तरीभूत अर्थात् पाषाणमयी बनाकर प्रतिष्ठित करनेकी सुन्दर प्रकल्पना हुई । शिवलिङ्ग छोटा होनेसे दीपशिखाके आकारमें एवं अपेक्षाकृत बड़ा होनेसे आलोकस्तम्भके आकारमें प्रतिष्ठित करनेका ही विधान है । पत्थरको पत्थर न सोचकर ज्योतिर्मयरूपसे ही ध्यान करनेका आचार्योंने शिक्षा दी है । भारतवर्षमें सर्वत्र चिज्ज्योतिर्मयी अनिर्वाणदीपशिखा जलती है, सर्वत्र ज्ञानका आलोक बिखर रहा है, सर्वत्र सभी

वैचित्र्य और परिणामोंके बीच एक, नित्य, स्थिर, स्वयंज्योति स्वरूपानन्द शिव या ब्रह्मके दर्शन करनेकी कला सिखानेकी व्यवस्था हुई है । नर-नारियोंके जीवन-विकासके आरम्भमें प्रत्येक स्तरमें मन, प्राण, हृदय, बुद्धि, इन्द्रियको तत्त्वज्ञानसे आलोकित करनेके उद्देश्यसे, तत्त्वज्ञानालोकित मन-प्राण-हृदय-बुद्धि-इन्द्रिय लेकर सभी प्रकारके अधिकारानुसार जागतिक कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी शिक्षा देनेके लिये सबके सभी अवस्थाओंमें शिवज्योतिकी उपासनामें प्रोत्साहित किया गया है, यह शिक्षा ही भारतीय संस्कृतिका प्राण है । शिवलिङ्ग आपातदृष्टिसे एक पाषाणदण्डमात्र होनेपर भी ज्योतिर्लिङ्गरूपमें देखना चाहिये एवं वह एक अद्वितीय स्वयंज्योति परमात्माका ही द्योतक है । विश्वके सभी अंग परमात्माके ही आत्मविलास हैं, परमात्माकी ज्योतिसे ही सभी उद्भासित हैं । इसी तत्त्वके प्रतीकरूपमें ही शिवलिङ्ग भारतीय संस्कृतिके प्राणके प्रतीकरूपमें ग्रहणीय है ।

हमारा आदर्श क्या है ?

(लेखक—श्रीनलीनिकान्तजी गुप्त)

आज हम अच्छी तरहसे देखेंगे, समझेंगे और पहचानेंगे कि हमारा लक्ष्य क्या है ? आज अपने जीवन-देवताकी बात हम फिर कहेंगे । हम कहाँ हैं ? क्या करने जा रहे हैं ? हमारा उद्देश्य क्या है ? हमारा उद्देश्य यह है कि हमारी जो भागवत-सच्चा है, उसे सर्वतोभावसे, पूर्णरूपसे हम अपनेमें उपलब्ध करेंगे, अपने जीवनमें प्रकट करेंगे; उसके बाद उसी ज्ञान और उसी उपलब्धिको जगत्में फैला देंगे, प्रतिष्ठित करेंगे । हमारा उद्देश्य है पृथ्वीपर स्वर्गको ले आना और उसे यहाँ अक्षुण्णभावसे कायम रखना । पृथ्वीपर स्वर्गराज्य लायेंगे, इसीलिये उस स्वर्गराज्यको सबसे पहले अपने भीतर लानेकी जरूरत है । अर्थात् हम समझेंगे स्वर्गराज्य क्या है, उसकी साधना करेंगे, उसको अपने भीतरमें, भावमें और कर्ममें अटल करेंगे, एवं उसको आधार बनाकर सब मनुष्योंके बीच, जगत्के बीच उसको गूँथ देंगे, मनुष्यके कर्ममें, जगत्के क्रिया-कलापोंमें उसको मूर्तिमान् करके रक्खेंगे ।

यह स्वर्गराज्य क्या है ? यह है दिव्य या भागवत-जीवन । जीवनमें भगवान्का आविर्भाव और उनकी प्रतिष्ठा, यही हमारा लक्ष्य है । भगवान् हैं पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति,

पूर्ण आनन्द । इसी ज्ञानसे, इसी शक्तिसे और इसी आनन्दसे विश्व-ब्रह्माण्ड व्याप्त है तथा इसीसे परिचालित होता है । जो कुछ हम देख रहे हैं, वह इसी ज्ञानका, इसी शक्तिका और इसी आनन्दका मुक्त रूप है । यही पूर्ण ज्ञान, यही पूर्ण शक्ति और यही पूर्ण आनन्द ही हमारा अन्तर्यामी देवता है; हमारा अन्तरात्मा है, हमारा अपना आपा है; किंतु यह ज्ञान, यह शक्ति और यह आनन्द हमारे भीतर छिपे हुए हैं, हमारे बाहर तो उसने केवल छाया ही फैला रखी है—लक्ष्य है उसे प्रकट करना । दीप्त करके रखना । वर्तमानमें बाह्य जीवन है खण्ड ज्ञान, खण्ड शक्ति, खण्ड आनन्द अर्थात् भूल और सत्य, दुर्बलता और सबलता, सुख और दुःखका द्वन्द्व । इस द्वन्द्वके दूर करना होगा, खण्डको सम्पूर्ण करना होगा । शरीर रोगा-बुढ़ापा, मृत्युका दास; प्राण थकावट और असामर्थ्यका दास; हृदय भावोंकी चञ्चलतासे डाँवाडोल; मन और बुद्धि कल्पनाकी माया-मरीचिकाके और वाद-विवादके गुलाम जाल-जंजालसे आबद्ध । शरीरको अमृतमय करके धारण करना होगा, प्राणोंमें अद्वैत शान्ति और निरन्तर मिलनभाव की कर्म करनेकी सामर्थ्य होगी, हृदय स्वच्छ प्रशान्त प्रेमसे

संख्या ६]

भरपूर होगा। मन-बुद्धि सरल दिव्य दृष्टिका क्षेत्र हो जायगी। हम पूर्ण ज्ञानकी दृष्टिसे सब देखेंगे, सब समझेंगे, पूर्ण शक्तिकी प्रेरणासे जीवनके कर्म करेंगे, पूर्ण आनन्दमें सदा प्रतिष्ठित रहेंगे, यही भागवत-जीवन है। मानव-समाज जितना ही इस भावको ग्रहण कर सकेगा, भूतलमें उसी मात्रामें स्वर्ग-राज्यका फैलाव होगा। मानवके व्यष्टिगत जीवनमें इस स्वर्गराज्यकी प्रतिष्ठा होनेपर उसे अपने समष्टिगत जीवनमें प्रतिष्ठित करना पड़ेगा, नहीं तो, वह पूर्ण नहीं हो सकेगा। समष्टिगत जीवनमें, अर्थात् परस्परके सब प्रकारके आदान-प्रदानमें, सामाजिक जीवनमें, केवल इतना ही नहीं, समाजके साथ समाजके, जातिके साथ जातिके और देशके साथ देशके सम्बन्धोंको भी इसीपर आधारित एवं प्रतिष्ठित करना होगा।

लक्ष्य तो यह है पर उपाय ? उपाय है योग-साधन। इस योगसाधनके बारेमें हम यहाँ विशेष कुछ नहीं कहेंगे। वह उपाय जो कुछ हो, उस उपायको सार्थक करनेके लिये जिसकी पहले जरूरत है, उसीकी बात आज कहेंगे। लक्ष्य जान लिया, उपाय भी है, किंतु उसके लिये जरूरत है श्रद्धाकी; अटूट, अकुण्ठित श्रद्धा चाहिये, भगवान्‌में श्रद्धा चाहिये, भागवत-जीवनमें श्रद्धा चाहिये और श्रद्धा चाहिये अपने-आपपर। इस श्रद्धाके रहनेसे सारी आशा है, इस श्रद्धाके न होनेसे कुछ भी होनेवाला नहीं है। गीताकी बात याद कीजिये 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही हो जाता है।

भगवान्‌में श्रद्धा रखनेका अर्थ उनके या उनकी शक्तिके बारेमें एक अस्पष्ट धारणामात्र नहीं है—एक मानसिक विश्वास, आस्तिक बुद्धि एवं चित्तका आवेग भी नहीं है। इस तरहका भाव तो प्रायः मनुष्यमात्रमें ही रहता है, ठीक विपदा या सम्पदाके समय अचानक वह जग उठता है, किंतु दूसरे ही क्षण समुद्रकी लहरोंकी तरह विलीन हो जाता है। भगवान्‌में श्रद्धाका अर्थ है वह श्रद्धा जो ज्ञानपर प्रतिष्ठित है, जिस श्रद्धाके द्वारा हम अपना पूरा जोर लगाकर भगवान्‌में विश्वास करते हैं, उन्हें कसकर पकड़ लेते हैं, कुछ भी बचाकर नहीं रखते, वरं सम्पूर्ण-भावसे उन्हें आत्मसमर्पण कर देते हैं। भगवान्‌में श्रद्धाका अर्थ वह श्रद्धा है, जो एक बार प्रतिष्ठित होनेपर हटती नहीं, आँखोंसे देख रही है कि हमारा भाव, हमारा उद्देश्य जिसका आश्रय लेकर नवजीवन पाने जा रहा था, वह

सब विफल हो रहा है; फिर भी वह श्रद्धा अटूट अचल रहती है। जिसकी कभी आशा नहीं की थी, वैसी सिद्धि मिल जानेपर जैसा भाव रहता है, उसी प्रकार परम असिद्धि, पूर्ण पराजयके समय भी उसी भावसे वह श्रद्धा विकारहीन रहेगी।

उसके बाद श्रद्धा चाहिये भागवत-जीवनमें। जीवनमें भगवान्‌को, पृथ्वीकी मिट्टी लेकर स्वर्गके देवताको गढ़नेके लिये, इस आदर्शको पूर्ण करनेके लिये, इसमें एकनिष्ठ होकर रहनेकी जरूरत है। उस साधककी तरह होनेसे नहीं चलेगा जो कहता था कि ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये मैं पाँच वर्ष लगाऊँगा, इन पाँच वर्षोंमें मैं संन्यासी होकर पहाड़ोंमें रहूँगा, इन पाँच वर्षोंमें ब्रह्म मिल जायँ तो अच्छा, नहीं तो, वापस आकर गृहस्थी बसाऊँगा। इस तरहकी अश्रद्धासे, संदेहसे, डाँवाडोल चित्तसे जो आदर्शको प्राप्त करना चाहता है, वह कभी कृतकार्य नहीं होगा। भागवत-जीवनमें हमारा विश्वास नहीं होता। इसका इसके सिवा कोई कारण नहीं कि हमारी पहलेकी शिक्षा, हमारा पुराना अभ्यास, हमारे संस्कार वैसे बने हुए हैं, जो कुछ भी नवीन देखते ही बेचैनी मालूम करते हैं, इसीसे श्रद्धाके बलपर आधारमें ये नवीन संस्कारके बीज रोपने होंगे, नवीन अभ्याससे नयी प्रकारकी शिक्षासे उसको सहज स्वाभाविक बनाना होगा। इसी श्रद्धाके जोरसे ज्ञान प्राप्त होगा, जो आँखोंमें अँगुली डालकर दिखायेगा कि यह आदर्श भगवान्‌की ही नयी सृष्टिकी इच्छा है, जगत्‌को नये रूपसे गढ़नेकी प्रेरणा है।

उसके बाद अपने-आपमें श्रद्धाकी आवश्यकता है, अपनी शक्तिमें कभी न घटनेवाला विश्वास होना चाहिये। मनुष्य जो दुर्बल अशक्त है, उसका कारण है शक्तिके ऊपर अश्रद्धा और दुर्बलताके ऊपर श्रद्धा। मनुष्यकी जो इतनी कमजोरी है, उसका प्रथम कारण यह है कि वह समझता है कि इस सामर्थ्यको विपुल या असीम करना असम्भव है। दूसरा कारण यह है कि वह यह नहीं जानता कि किस तरहसे सामर्थ्यको बढ़ाया जा सकता है। फलतः जीवनमें प्रतिमुहूर्त जो सरल सत्य प्रमाणित हो रहा है, हमलोगोंकी अपनी हरेककी जो जानकारी है उसे हम भूल जाते हैं; वह यह है कि असम्भवके लिये चेष्टा करनेसे ही वह सम्भव होता है। वास्तवमें जगत्‌में जो दुःख-दैन्य है, वह मनुष्यका

ही काम है। वह कृत्रिम चीज है, कृत्रिम इसलिये कि उसके न रहनेसे भी काम चल सकता है, उसका होना कोई बहुत जरूरी नहीं है। अपनी शक्तिपर श्रद्धा रखकर एक बार खड़े होइये तो देखियेगा कि आपकी शक्ति कितनी बढ़ गयी है, रास्ता कितना सरल हो गया है, लक्ष्य भी दूर नहीं है; किंतु एक विषयमें सावधान होनेकी जरूरत है, वह यह कि अपनेपर जो श्रद्धा हो, वह अहंकार या

आत्मस्तम्भिता नहीं होनी चाहिये; श्रद्धा शानपर प्रतिष्ठित है शान बताता है कि सब जीवमात्र एक हैं, एक ही महाशक्ति एक ही भगवान् इन विभिन्न आधारोंमें वास करते हैं—'ईशावास्यमिदं सर्वम्'—एवं प्रत्येक आधार, प्रत्येक क्षेत्र उसीकी पूर्णतासे पूर्ण है। इस 'पूर्णस्य पूर्णम्' में अपने अस्वयं अन्तरात्माके प्रति जीव जब जाग्रत् होगा, तब उसके पक्षमें सब कुछ ही सम्भव होगा।

श्रीरामचरितकी उज्ज्वलता

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामजीके सभी चरित्र आदर्श एवं परम उज्ज्वल हैं। श्रीगोस्वामीजीने श्रीरामचरितकी पावनतासे तुलना करते हुए श्रीगङ्गाजीकी लहरोंका वर्णन किया है—

सोहत ससि धवल धार सुधा-सलिल-भरित ।

बिमलतर तरंग लसत रघुवरके-से चरित ॥

(बिनयपत्रिका १९)

'पावन गंग तरंग माल से' (श्रीरामचरितमानस बा० ३१)

तथा—

'जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु ।'

(श्रीरामचरितमानस बा० १२१)

'बरनउँ रघुवर बिमल जसु जो दायकु फल चारि ।'

(रा० मा० अयो०)

'रावनारि जसु पावन ।'

(रा० मा० अरण्य०)

'त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं ।'

(रा० मा० किष्किन्धा०)

'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं । गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं ॥'

(रा० मा० लंका० ६६)

आदिकवि महर्षि वाल्मीकिजीने लिखा है—

चारित्र्येण च को युक्तः..... ।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।

(१।१।३-८)

महर्षिने पूछा—'उत्तम चरित्रसे युक्त कौन पुरुष है ?'

नारदजीने उत्तर दिया—'ऐसे एक महापुरुष राजा इक्ष्वाकुके कुलमें प्रकट हुए हैं । लोगोंमें 'श्रीराम' के नामसे उनकी प्रसिद्धि है ।'

महर्षि व्यासजीने लिखा है—

सर्वभूतमनःकान्तो रामो राज्यमकारयत् ।

रामो रामो राम इति प्रजानामभवत्कथा ॥

रामाद्रामं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति ।

(महा० द्रोण० ५९।२२-२३)

'समस्त प्राणियोंके मनको प्रिय लगनेवाले श्रीराम जो राज्य करने लगे, उस समय समस्त प्रजामें राम, राम केवल रामकी ही चर्चा होती थी । रामके राज्यशासनकालमें सम्पूर्ण जगत् अभिराम-से-अभिराम—परम सुन्दर सुखमय हो गया ।'

तथा—

एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः ।

स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत् ॥

(श्रीमद्भा० ९।१०।५५)

'श्रीराम एकपत्नीव्रतका पालन करनेवाले थे । उनका पावन चरित्र प्राचीन राजर्षियोंके सदृश निर्मल था । वे बाहर और भीतरसे भी परम पवित्र थे । उन्होंने दूसरोंके अपने गृहस्थोचित धर्मकी शिक्षा देते हुए स्वयं उसका आचरण किया ।'

यस्यामलं नृपसदःसु यशोऽधुनापि

गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपटम् ।

तं नाकपालवसुपालकिरीटगुह-

पादाम्बुजं रघुरति शरणं प्रपद्ये ॥

(श्रीमद्भा० ९।११।२१)

'भगवान् श्रीरामका निर्मल यश समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है । वह इतनी दूरतक फैल गया है कि दिग्गजोंके

मंथ्या ६]

श्यामल शरीर भी उसकी उज्ज्वलतासे आलोकित हो उठा है। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि आज भी राजाओंकी सभामें उसका गान करते रहते हैं। स्वर्गके देवता और पृथ्वीके नरपति अपने कमनीय किरीटोंसे उनके चरण-कमलोंकी सेवा करते रहते हैं। मैं उन्हीं रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी शरण ग्रहण करता हूँ।

श्रीरामयशकी उज्ज्वलतापर एक प्राचीन एवं प्रसिद्ध श्लोक है—

महाराज श्रीमञ्जु जगति यशसा ते धवलिते
पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते ।
कपर्दी कैलासं कुलिदाष्टगभौमं करिवरं
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना ॥

‘महाराज श्रीराम ! आपके परमोज्ज्वल यशसे समस्त जगत् दुग्ध-सा धवल (श्वेत) हो गया है। श्वेत रंगकी सभी वस्तुएँ उस उज्ज्वल यशोराशिमें खोयी हुई-सी अदृश्य हो गयी हैं; अतएव ये परमपुरुष नारायण अपने निवास-स्थान क्षीरसागरको ढूँढ़ते फिरते हैं, पर पता नहीं पाते। यही हाल महादेवजीका भी है, वे अपने कैलासकी खोजमें लगे हुए हैं। वज्रधारी इन्द्र अपने दिव्य गजराज ऐरावतका पता लगा रहे हैं। राहु ग्रहण लगानेके लिये चन्द्रमाको खोजता फिरता है, पर देख नहीं पाता। कमलमें निवास करनेवाले ब्रह्माजीका हंस भी खो गया है, वे उसीको ढूँढ़ रहे हैं।’

ऐसे परम उज्ज्वल श्रीरामचरितमें भी कुछ लोग कुछ चरित्रोंपर भ्रमसे आक्षेप किया करते हैं। समाधान करनेके लिये उनका उल्लेख किया जाता है—

(१) श्रीरामजीने बालीको छिपकर क्यों मारा, जिससे उन्हें गाली सहनी पड़ी; यथा—

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि व्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

(रामचरितमानस कि०)

बालीके इन दो प्रश्नोंमें दूसरेका ही उत्तर श्रीरामजीने दिया है। ‘व्याधके समान छिपकर आपने क्यों मारा?’ इसपर पहले प्रश्नका उत्तर नहीं दिया गया। इसीसे गाली-का सहन करना लिखा गया है; यथा—

का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति-रीति-निरबाहु ।
वासु बंधु वर्यो व्याध ज्यों, सो सुनत सोहात न काहु ॥

(विनयपत्रिका १९३)

कपि सुग्रीव बंधु-भय-व्याकुल, आयो सरन पुकारी ।
सहि न सके दारुन-दुख जनके, हृत्यो ब्रह्मसहि गारी ॥

(विनयपत्रिका १६६)

महर्षि वाल्मीकिजीने (४।१८।३६-४१) में जो श्रीरामजीका उत्तर देना लिखा भी है, तो उसे बालीने जबरदस्तीका ही उत्तर मानकर स्वीकार किया है; यथा—

यश्चमात्य नरश्रेष्ठ तत्तथैव न संशयः ॥
प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात् ।

(४।१८।४५-४६)

अर्थात् ‘हे नरश्रेष्ठ ! आप जो कहते हैं, वह वैसा ही है। श्रेष्ठ मनुष्यके समक्ष छोटा मनुष्य प्रति-उत्तररूपमें बोल नहीं सकता।’

श्रीगोस्वामीजीने भी इस प्रसङ्गको—

‘सुनहु राम स्वामी सन चरु न चातुरी मोरि।’

इस वचनसे उसी प्रकार ग्रहण किया है, इसीसे उन वचनोंको नहीं लिखा। गोपियोंने भ्रमर-गीत-प्रसङ्गमें कहा है,

‘मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा.....’

(श्रीमद्भा० १०।४७।१७)

अर्थात् व्याधके समान बालीको मार डाला, ऐसे स्वेच्छाचारी हैं।

इन वचनोंसे श्रीरामचरितमें भी दोष स्थापित होता है, किंतु भगवान्के चरितोंमें दोष नहीं होता, यदि किसीको उनमें दोष देख पड़ता है तो वह अज्ञान-कल्पित है; यथा—

संज्ञायते येन तदस्तदोषं
शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम् ।

संदृश्यते वाप्यवगम्यते वा
तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम् ॥

(वि० पु० ६।५।८७)

अर्थात् ‘जिसके द्वारा वे (भगवान्) निर्दोष, विशुद्ध, निर्मल और एकरूप परमात्मा देखे या जाने जाते हैं, उसीका नाम ज्ञान है और जो इसके विपरीत है, वही अज्ञान है।’

वास्तवमें भगवान्में दोष हैं ही नहीं, तब देखनेमें कहाँसे आयें ? यथा—

‘समस्तहेयरहितं विष्णवाख्यं परमं पदम् ॥’

(वि० पु० १।२२।५३)

अर्थात् 'समस्त हेय गुणोंसे रहित विष्णुनामक परमपद है।'।

'ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।

भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥

समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ

स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः ।

इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः

संसाधिताशेषजगद्धितो यः ॥

तेजोबलैश्वर्यमहावबोध-

सुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।

परः पराणां सकला न यत्र

क्लेशादयः सन्ति परावरेषे ॥

(वि० पु० ६।५।७९, ८४-८५)

अर्थात् 'हेय (त्याज्य) गुण आदिसे रहित ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज आदि सद्गुण ही 'भगवत्' शब्दके वाच्य हैं। वे भगवान् सम्पूर्ण कल्याणगुणोंके स्वरूप हैं, उन्होंने अपनी शक्तिके लेशमात्रसे सम्पूर्ण प्राणियोंको व्याप्त कर रक्खा है। वे अपनी इच्छासे अपने मनके अनुकूल महान् शरीर धारणकर सम्पूर्ण संसारका कल्याण-साधन करते हैं। वे तेज, बल, ऐश्वर्य, महाविज्ञान, वीर्य और शक्ति आदि गुणोंकी एकमात्र राशि हैं, वे प्रकृति आदिसे परे हैं, उन उभय-विभूतिनायकमें अविद्या आदि सम्पूर्ण क्लेशोंका अत्यन्ताभाव है।' भगवान्ने स्वयं कहा है—
यथा—

'जन्म कर्म च मे दिव्यम् ।' (गीता ४।९)

अर्थात् 'मेरे जन्म और कर्म निर्मल एवं अलौकिक हैं।'।

इन वचनोंसे सिद्ध है कि भगवान्का कोई भी चरित दोषयुक्त नहीं हो सकता। तब उपर्युक्त दोषरूपमें देख पड़नेवाले प्रसङ्गपर विचार करना आवश्यक है; अवश्य वे प्रसङ्ग कल्याणगुणपरक ही हैं। श्रीरामजीके चरित्रोंका रहस्य समझ लेनेपर उक्त प्रसङ्गका असामञ्जस्य दूर हो जाता है।

श्रीरामचरितका रहस्य

भगवान्ने स्वयं कहा है, यथा—

'जन्म कर्म च मे दिव्यम् ।' (गीता ४।९)

अर्थात् 'मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं।' दिव्य पदकी सिद्धि—

'दिव्य क्रीडाविजिगीषाव्यवहारधुतिस्तुतिमोक्ष-
स्वप्नकान्तिगतिषु ।'

इस धातुसे होती है। यहाँ क्रीडापरक अर्थ लेना सही जैसे बड़े-बड़े राजा बड़े-बड़े मूल्यवान् जड़ाऊ वस्त्र भूषण धारणकर राजकार्य करते हैं। कभी-कभी सन्ध्या-समय वे मन-बहलावके लिये राजकार्यके मूल्य वस्त्राभूषण उतारकर उपवन एवं वाटिका-विहारकी हल्के वस्त्राभूषण धारणकर उपवन जाते हैं और वैसे अभिनय करते हैं। वैसे ही महाराज श्रीरामजी विभूतिस्थ श्रीसाकेत (अयोध्या) राजधानीमें उक्त शक्ति आदि दिव्यगुणरूपी मूल्यवान् वस्त्रोंसे विभूषित हैं। प्रतिकल्पान्तरूपी सन्ध्याकालमें जब वे अपने कृपा दया, करुणा एवं सौशील्य आदि गुणरूपी वस्त्रोंसे धरे देते हैं, तब इन गुणोंकी तृप्तिकी इच्छासे इन्हें धारण इस लीला-विभूति (जगत्) रूपी उपवनमें क्रीडा-टहलनेकी इच्छासे उक्त कृपा आदि गुणरूपी वस्त्रोंको धारण कर अवतार लेते हैं और उन गुणोंकी तृप्ति करते हुए ही अभिनय करते हैं। चरितमर्मज्ञ महर्षि वाल्मीकि कहना भी है। यथा—

'राम देखि सुनि चरित तुम्हारे । जड़ मोहहिं बुध होहिं तुम्हारे ।
तुम्हारे जो कहहु करहु सबु सौँचा । जस कालिअ तस चाहिअ नाच ।'

(रामचरितमानस)

तथा—

मेरि सुधारिहि सो सब भौंती । जासु कृपा नहिं कृपाँ अन्ती ।
(रामचरितमानस)

भगवान् भक्तोंके लिये इन गुणोंके साथ अवतार लेते और वैसी ही लीला करते हैं—

भगत हेतु भगवान् प्रभु राम धरेउ तनु मूप ।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥
जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ ॥
असि रघुपति लीला उरगारी । दनुज विमोहनि जन सुखकारी ।

(रामचरितमानस)

यह 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' की व्यवस्था वेद-वाक्य भी प्रतिपन्न होती है।

यथा—

युवा सुवासाः परिवीत आगाद स उदरे

भवति जायमानः ।

वह पारस्करगृह्यसूत्रमें वस्त्र पहनानेके मन्त्रका पूर्वार्ध है। इसके पश्चात् श्रेयान् भवति जायमानः ।' इस वाक्यखण्डका यह भावार्थ है कि वह परमात्मा कल्याण-गुणोंसे सज-धजकर जन्म लेता है।

उपर्युक्त दृष्टिसे देखनेपर यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् श्रीरामजीके सभी चरित उनके किसी गुणको प्रकट कर उससे भक्तोंका हित करनेके लिये होते हैं। उदाहरणरूपमें प्रारम्भके दो-एक चरितपर विचार किया जाता है—

१. जैसे कि विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षण-प्रसङ्ग वीर्य-गुण प्रकट करनेके लिये हैं; क्योंकि अभी श्रीरामजीकी पंद्रह वर्षकी किशोर अवस्था थी, इसमें आपने उन अजेय राक्षसोंपर विजय प्राप्त की है, जिनका नाम सुनकर इन्द्रकी सहायता करनेवाले राजा दशरथ भी काँप उठे थे। (वाल्मीकि० १। २०। १५-२० देखिये।)

इस प्रसङ्गमें बाल-अवस्थामें सुखमय माता-पिता एवं राजमहलके वैभवका हर्षपूर्वक त्याग करनेमें त्यागवीरता, सुनियोंके रक्षणमें दयावीरता, विविध प्रकारसे राक्षस-वधमें बाणविद्या-वीरता, उत्साहपूर्वक युद्ध करनेमें पराक्रमवीरता और यज्ञ-रक्षणमें धर्म-वीरता है। इस प्रकार पाँचों प्रकारकी वीरता प्रकट की गयी है। इस अवस्थामें ऐसा असाधारण वीर्य ईश्वरमें ही हो सकता है।

यथा—
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

(श्वेता० ६। ८)

इस वीर्यगुणसे दोष और दुःखके साथ भक्तोंकी दुराशा-का नाश होता है। नामार्थ-अनुसन्धान-प्रसङ्गमें स्पष्ट लिखा गया है—

मिहित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीर्ति विद्याकी ॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रवि निमि नासा ॥

(रामचरितमानस बाल०)

इसमें ताड़काके समान दुराशा, मारीचके समान दोष-मय मनोवृत्ति और सुबाहु एवं सेनाके समान दुःखमय दुराशासम्बन्धी सङ्कल्पोंका समूह है।

यथा—
पद-राग-जाग चहौं कौंसिक ज्यों कियो हों।
कलि-मल खल देखि भारी भीति भियो हों ॥

(बिनय-पत्रिका १८१)

२. दूसरा उदाहरण अहल्योद्धारके निहंतु कृपालुता-गुणका है—

गौतम नारि श्राप वस उपल देह धरि धीर।

चरन कमल रज चाहति कृपा करहु गधुवीर ॥

—यह उपक्रममें लिखा गया है।

सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी ॥

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित कृपाल।

(रामचरितमानस बाल०)

—यह उपसंहारपर कहा गया है। भगवान्की इस निहंतु कृपालुतासे आश्रितोंकी जड़मति (कुमति) में चेतनता-रूपी जागर्तिकी प्राप्ति होती है।

यथा—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥

(रामचरितमानस बाल०)

सहस सिलातें अति जड़ मति मई है।

कासों कहौं कौने गति पाहनहिं दर्ई है ॥

(बिनय-पत्रिका १८१)

जागर्तिरूपी चेतनता।

यथा—

जानिअ तवहि जीव जग जागा। जव सब विषय विलास विरागा ॥

होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तव रघुनाथ चरन अनुरागा ॥

(रामचरितमानस अयो०)

इसी प्रकार भगवान्के सभी चरित उनके गुण प्रकट करनेवाले हैं। उपर्युक्त 'बालि-प्रान कर भङ्ग' प्रकरण भगवान्के करुण-गुणका प्रकाशक है।

करुण-गुण

आश्रितार्थमग्निना हेन्ना रक्षितुर्हृदयद्रवः।

अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद् द्रवत् ॥

कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्तिनिवारणम्।

इतीच्छादुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणत्वंरा ॥

परदुःखानुसन्धानाद्विह्वलीभवनं विभोः।

कारुण्याख्यगुणस्त्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः ॥

(श्रीभगवद्गुणदर्पण)

अर्थात् आश्रितके दुःखरूपी अग्निसे रक्षकके हृदयका सोनेके समान पिघल जाना, उसके चित्तका अत्यन्त कोमल हो जाना, यहाँतक कि अश्रुपात आदि होने लगना, 'आश्रितके दुःखका निवारण कैसे करूँ और कब कर डालूँ?' इस

प्रकारकी इच्छारूपी दुःखसे दुखी हो जाना और आत्तोंके रक्षणार्थ त्वरा (उतावली) होना तथा परदुःखका अनुसन्धान करके परम समर्थ भगवान्का विह्वल हो जाना कारण-संज्ञक उनका यह गुण आत्तोंके भयका निवारण करनेवाला है । सुग्रीवजीके शरण होनेपर श्रीरामजीके करुण-गुणका इस प्रकार उदय हुआ है—

सुनि सेवक दुख दीनदयाला । फरि उठीं द्वै मुजा विसाला ॥

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं वान ।

ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्राण ॥

(रामचरित० कि०)

श्रीसुग्रीवजी पहले श्रीरामजीके आश्रित हो चुके थे ।

यथा—

पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दढ़ाइ ।

यहाँ 'जोरी प्रीति दढ़ाइ' इस वाक्यमें शरण होनेका भाव है । आगे श्रीरामजीके वचनसे स्पष्ट हो गया है ।

यथा—

मम मुज बल आश्रित तेहि जानी । मारा चहसि अधम अभिमानी ॥

महर्षिजीने तो और भी स्पष्ट कर दिया है ।

यथा—

'रोचते यदि मे सख्यं बाहुषे प्रसारितः ।

गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा ॥

संग्रह्यमना हस्तं पीडयामास पाणिना ॥'

(वाल्मीकि० ४ । ५ । ११-१२)

अर्थात् श्रीसुग्रीवजीने श्रीरामजीसे कहा कि 'यदि मेरी मित्रता आपको रुचती है तो मैं अपनी यह बाहु फैलाता हूँ । आप अपने हाथसे इसका ग्रहण करें और दृढ़ प्रतिज्ञा करें ।'

जैसे पाणिगृहीता भार्याका सारा भार उसका भर्त्ता ग्रहण करता है, वैसे ही आश्रित सुग्रीवजीको शरणमें लेकर श्रीरामजीने उनका सारा भार स्वयं लिया था । अतः जब सुग्रीवजीने अपना दुःख कहा—

रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी ।

हरि लीन्हेसि सर्वसु अरु नारी ॥

ताकें मय रघुबीर कृपाला ।

सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला ॥

इहाँ साप बस आवत नार्ही ।

तदपि समीत रहउँ मन मारही ॥

इसपर कहा गया है—'सुनि सेवक दुख'... आश्रितकी दीनता और उसके दुःखपर दीनदयालु उत्तरीति की करुणा उदीत हो आयी । इससे आश्रित-त्वरासे उनकी दोनों विशाल भुजाएँ फड़क उठी । सेवकके दुःखपर अपने कोमल चित्तसे विह्वल हो के अतः नीतिकी सँभाल न रही, इससे सहसा आपने बाणसे बालीका वध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली 'सुनु मारिहउँ'..... ।'

तथा—

'अद्यैव तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ॥'

(वाल्मीकि० ४ । ८ । १३)

विह्वलतासे यहाँपर नीतिकी अवहेलना हुई, अतः रावणको दो बार दूतके द्वारा समझाया गया है । तो आज ही और एक बाणसे ही वध करनेकी प्रतिज्ञा ली गयी । अब श्रीरामजीको प्रतिज्ञा-पालन और आश्रित-रक्षणकी स्वयं त्वरा हुई । अतः वे सुग्रीवको साथ ले बालीके समीप गये । सुग्रीवजीने बालीके समीप जाकर वध की । दोनोंका युद्ध हुआ । प्रथम बालीको विजय प्राप्त हुआ । फिर श्रीरामजीने सुग्रीवजीको माला पहना भेजा । तब बालीसे कुछ समयतक युद्ध हुआ । सुग्रीवजीको हारा हुआ और समीत जानकर श्रीरामजी एक ही महाबाण मारा, उससे बाली व्याकुल हो गिर पड़ा । श्रीरामजी वृक्षकी ओटसे देखते थे, वहींसे उन्होंने प्रहार किया था ।

प्रश्न—श्रीरामजीने करुणावश आतुरतामें एक ही बाण मारनेकी प्रतिज्ञा की थी । तब सामने होकर भी तो मार सकते थे, जब एक ही बाणमें मारना है, तब छिपनेकी आवश्यकता थी ?

उत्तर—(क) श्रीरामजीने सुग्रीवजीके द्वारा बालीके दोष कहे जानेपर और उनके अत्यन्त समीत एवं अर्त्त होने पर प्रार्थना करनेपर यह भी प्रतिज्ञा उसी करुणाके अन्तर्गत कर ली थी, यथा—

अमोघाः सूर्यसंकाशा निशिता मे शरा इमे ।

तस्मिन्वालिनि दुर्वृत्ते पतिष्यन्ति रुषान्विताः ॥

यावत्तं न हि पश्येयं तव भार्यापहारिणम् ।

तावत्स जीवेत् पापात्मा बाली चारित्रदूषकः ॥

(वाल्मीकि० ४ । १० । ३२-३४)

इसमें 'यावत्तं न हि'... इस चरणमें यह कहा गया है

[भाग ६]

जबतक मैं तुम्हारे स्त्री-हरण करनेवाले वालीको नहीं देखता हूँ, तभीतक वह पापी जीवे। इस वचनके अनुसार सामने रहनेपर वालीको युद्धका यश कुछ भी न मिलता तथा भुग्रीवजीकी भी युद्धाकाङ्क्षा रह ही जाती। इससे आप तबतक छिपे रहे, बाण चलाकर तब सम्मुख हुए, इससे इस प्रतिज्ञा-की भी रक्षा की है।

(ख) वालीके प्रति किसी ऋषिका वरदान था कि सम्मुख होनेवाले योद्धाका बल उसे प्राप्त हो जाता था। यह वरदान महर्षिजीके निम्न लिखित वचनोंसे ठीक जान पड़ता है।

१. परस्परं व्रतोस्तत्र वानरासुरयोस्तदा।

भासीन्दीनोऽसुरो युद्धे शक्रसूनुर्व्यवर्धत ॥

(वाल्मीकि० ४।११।४४)

अर्थात् उस युद्धमें परस्पर (वाली और दुन्दुभि) प्रहार करते थे। तब असुरका बल कम पड़ने लगा और इन्द्रपुत्र वालीका बल बढ़ने लगा। पीछे तुरन्त वालीने उसे मार डाला।

इस प्रसङ्गमें असुरका बल घटने लगा और साथ ही 'वालीका बढ़ने लगा' इस वचनमें वह वरदान घटित होता है। ऐसा ही एक दूसरा प्रसङ्ग है—

२. वाल्मीकीय रामायण-उत्तरकाण्ड सर्ग ३४ में लिखा है कि रावण वालीसे विजय प्राप्त करनेके लिये किष्किन्धा गया। वाली उस समय दक्षिण-सागर-तटपर सन्ध्या कर रहा था, रावण वहाँ भी गया। सम्भवतः रावणको वालीके उक्त वरदानकी बात ज्ञात थी। इससे वह वालीको पीछेसे ही पकड़नेके लिये धीरे-धीरे निःशब्द पैरोंसे जा रहा था, यथा—

ग्रहीतुं वालिनं तूर्णं निःशब्दपदमव्रजत् ॥१३॥

अकस्मात् रावणको इस अभिप्रायसे आते हुए वालीने देख लिया। उसने मनमें निश्चित कर लिया कि मैं पकड़कर उसे काँखमें दबाकर शेष तीनों समुद्रोंकी भी सन्ध्या पूरी करूँगा। उधर रावण भी वालीको पीछेसे ही पकड़ लेनेके अभिप्रायसे चुपकेसे नितान्त समीप पहुँचा।

हस्तग्राहं तु तं मत्वा पादशब्देन रावणम्।

पराङ्मुखोऽपि जग्राह वाली सर्पमिवाण्डजः ॥२०॥

ग्रहीतुकामं तं गृह्य रक्षसामीश्वरं हरिः।

खसुत्पपात वेगेन कृत्वा कक्षावलम्बनम् ॥२१॥

रावणके पैरोंकी आहटसे वालीने समझ लिया कि मैं अब इसे हाथसे ही पकड़ लूँगा। तब वालीने दूसरी ओर

मुख किये हुए ही सर्पको गरुड़के समान, रावणको पकड़ लिया। इस प्रकार वालीने रावणको पकड़ लिया और काँखमें रावणको दबाकर वह वेगसे आकाशको उछला।

इस प्रकार वालीने उसे पीछेसे ही पकड़ा। सम्मुख होकर पकड़ता तो रावणका गर्व रह जाता कि इसने वरदानके प्रभावसे पकड़ा है। यहाँ वालीने उसे अपना पुरुषार्थ दिखाया है।

इन प्रसङ्गोंसे यदि वह वरदानकी बात ठीक मानी जाय तो ऋषि-वाक्य-रक्षाके लिये भी श्रीरामजी उसके सम्मुख नहीं हुए। नरनाट्यमें उक्त वरदानका भी निर्वाह करना था।

(२) आक्षेपका दूसरा उदाहरण यह है कि महारानी श्रीसीताजीको शुद्ध जानते हुए एवं अग्नि-परीक्षासे शुद्ध किये हुए भी श्रीरामजीने कुछ अनभिज्ञोंके कहनेपर क्यों निकाला? क्या यह महारानीके प्रति अन्याय नहीं किया गया?

(३) तीसरा आक्षेप यह है कि अपना उत्कर्ष चाहते हुए तपस्वी शूद्र शम्बूकका क्यों वध किया गया?

इन दूसरे और तीसरे आक्षेपोंका उत्तर 'कल्याण' २२ वें वर्षके ११-१२ वें अङ्कके 'श्रीराम-राज्य-रहस्य' शीर्षक लेखमें आ गये हैं।

(४) एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि श्रीराम-चरितमानस-लङ्काकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके मूर्च्छित होनेपर श्रीरामजीने एक ही दोहेके भीतर चार बातें असङ्गत कही हैं। वे बातें यदि प्रलापरूपमें हैं तो ईश्वरमें ऐसी अनवधानता कैसे हो सकती है?

इस आक्षेपका उत्तर देते हुए मैं पहले इस प्रसङ्गको उद्धृत कर देना चाहता हूँ, तब समाधान करना ठीक होगा।
उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी ॥
अर्धं राति गइ कपि नहीं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ ॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुमाऊ ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु विपिन हिम आतप वाता ॥
सो अनुराग कहौ अव भाई। उठहु न सुनि मम वच विकलाई ॥
जौ जनतेउँ बन बंधु मिछोहू। पिता वचन मनतेउँ नहि ओहू ॥
सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥
अस विचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना ॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौ जइ दैव जिआवै मोही ॥

जैहउँ अवध कौन मुहु लाई । नारि हेतु प्रिय भाई गँवाई ॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं । नारि हानि विसं छति नाहीं ॥
अव अपलोकु सोकु सुत तोरा । सहिहि निटुर कठोर उर मोरा ॥
निज जननी के एक कुमारा । तात तासु तुम्ह प्रान अघारा ॥
सौपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी । सब विधि सुखद परम हित जानी ॥
उतरु काह दहउँ तेहि जाई । उठि किन मोहि सिखावहु भाई ॥
बहु बिधि सोचत सोच विमोचन । सवत सलिल राजिव दल लोचन ॥
उमा एक अखंड रघुराई । नर गति भगत कृपाल देखाई ॥

प्रभु प्रलाप सुनि कान विकल भए वानर निकर ।

आइ गयउ हनुमान जिमि करना महँ वीररस ॥

इस प्रसङ्गमें भी भक्तपर उपर्युक्त करुणा दिखलायी गयी है । इस करुण-रसके उपक्रममें 'बोले वचन मनुज अनुसारी' लिखा गया है और उपसंहारपर भी 'नर गति भगत कृपाल देखाई' है । करुणामें विद्वलता आदिका नाट्य करना होता है, वह ऐश्वर्य-वृत्तिमें नहीं बनता; क्योंकि ईश्वरमें अनवधानता कैसी ? जबतक विद्वलता आदि न हों, तबतक करुण-रसकी पूर्ति नहीं हो सकती । इसलिये नर-गतिमें ही यह चरित किया गया है ।

करुणरस, यथा—

शोकस्थायिभावको मृताद्यालम्बनकस्तद्गुणाद्युद्दीपितो
रोदनाद्यनुभावितो दैन्यादिसंचारितः करुणः ।

अर्थात् 'शोक स्थायीभाववाला, मृत आदि आलम्बन-वाला, उस पात्रके गुण आदिसे उद्दीप्त, रोदन आदिसे अनुभावित और दैन्य आदिसे सञ्चारित करुण रस होता है ।'

उपर्युक्त प्रसङ्गमें 'अर्ध राति गइ'... इस अर्द्धालीमें मृत-संभावना आलम्बन है । 'सकहु न दुखित'... एवं 'मम हित लागि'... इन दो अर्द्धालियोंमें गुण-कथनसे उद्दीपन है । 'जौं जनतेउँ बन'... से 'उतरु काह दैहउँ'... यहाँतक रोदनद्वारा अनुभाव है । 'जथा पंख बिनु खग'... एवं 'अस मम जिवन'... इन अर्द्धालियोंमें दीनता-कथन सञ्चारी है और 'अव अपलोकु सोकु'... इसमें शोक-संभावना तथा 'प्रभु प्रलाप सुनि कान विकल भए वानर निकर ।' इसमें शोककी पूर्णता स्थायीभाव है, श्रीरामजीके प्रलापकथन एवं शोकपर सारी वानरी सेना शोकसे व्याकुल हो गयी । महर्षिजीने इसी प्रसङ्गपर स्पष्ट कहा है, यथा—

सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः ससुग्रीवमहाबलाः ।

परिवार्य महात्मानौ तस्थुः शोकपरिप्लुताः ॥

(बाष्मीकि० ६।४९।९)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

अर्थात् श्रीसुग्रीवजीके साथ समस्त वानरश्रेष्ठ जाकर दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मणके पास चारों ओरसे उलझे हैं । इस प्रकार करुण-रसको स्थायी कहकर तब गया है—

आइ गयउ हनुमान, जिमि करना महँ वीररस ॥

अर्थात् करुण-रसकी पूर्णतापर 'जिमि करना' इस प्रकार उसका निर्देश किया गया है । आगे वीररस कहकर प्रतीत किया गया है कि इस वीररससे करुण-रसका शमन होता और अब आगे वीररसकी प्रवृत्ति होगी ।

इस करुण-रसकी पूर्तिपर 'प्रभु प्रलाप'... उपर्युक्त रोदनको करुणाका प्रलाप कहा गया है । 'प्रलाप' नर्थक वचः ।' इस अमरकोषके प्रमाणसे यहाँ करुणा विद्वलतामें प्रभुका नर-नाट्यमें कुछ ठीक और असङ्गत कथन प्रलाप ही है । स्मृति भूल गयी है, जो ऐसा होता है, यथा—

सोक विकल दोउ राज समाजा । रहा न ग्यान न धीरज राजा
(रामचरित० बने)

रावणकी मृत्यु नरके हाथ होनेसे ब्रह्माजीका वचन होता होगा; इसलिये नरके समान प्रलाप किया गया है । रावण वन्धु-प्रेमकी पराकाष्ठा दिखाते हुए शोकपूर्णता प्रकट करने पर पुरुषोत्तमताका आदर्श दिखाया गया है । इस प्रसङ्गमें भगवान्का भक्तपर स्नेह भी प्रकट किया गया है । प्रसङ्ग-पूर्तिपर 'भगत-कृपाल' कहा गया है । श्रीलक्ष्मणकी भक्ति सर्वत्र प्रकट है, उनके प्रति स्वामीका कैसा स्नेह यह भी यहाँ दिखाया गया है । अन्यथा ऐसी ही शक्ति वर लक्ष्मणजीपर रावणने भी चलायी है, परंतु प्रभुने वचन मात्रसे कहकर भाईको चैतन्य कर दिया है; क्योंकि अब रावणादि यही समझेंगे कि पूर्वकी ओषधिसे अच्छे हो गये अतः ब्रह्माको झूठा न कहेंगे ।

करुण-रसकी पूर्तिपर ईश्वरताकी संभाल करते हुए ग्रन्थकारने कहा है—'उमा एक अखंड रघुराई ।' अर्थात् भगवान् श्रीरामजी एक हैं । अतः इनमें शोक वास्तविक नहीं (लीलामात्र) है, यथा—

'एको देवः सर्वभूतेषु गृहः'... (श्वेता० ६।११)

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।' (ईश०)

अर्थात् एकत्व दृष्टिपर शोक एवं मोह नहीं होते ।

[भाग ६]

अखण्ड है, अतः उनमें संयोग-वियोगका विकार भी यथार्थ नहीं है। यह लीलामात्र है। करुणाका स्वाँग दिखाया गया है। भक्तगण इस लीलाकी भावनासे भगवान्‌की करुणासे लाभ उठाते हैं।

१४ लक्ष्मण-विरह-प्रसङ्गमें जो असङ्गत चार बातें हैं—

- १-पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू।
- २-मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।
- ३-निज जननी के एक कुमारा।
- ४-सौँपसि मोहि तुम्हहि गहि पानी।

इनकी व्यवस्था उपर्युक्त रीतिसे करुणापतिकी अनवधानतासे प्रलप-कथन माननेसे ही होती है। और अनेक प्रकारके अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है। ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा है—

‘सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान।’

(रामचरित० बाल०)

अतएव सीधे शब्दार्थमें ही अर्थकी व्यवस्था करनी चाहिये। इन प्रसङ्गोंपर जो नाना प्रकारके अर्थ किये जाते हैं, वे तर्कपर रखनेसे कट जाते हैं। नाना प्रकारके अर्थ करके उनका खण्डन करनेमें प्रकरण बहुत बढ़ जायगा। इसलिये मैंने उन्हें नहीं लिखा।

रामायण यद्यपि इतिहास है। अतएव इसमें गुणके साथ दोष भी कहा जा सकता है, तथापि यहाँ तो भगवान्‌ श्रीरामजीके स्वरूप एवं चरितमें दोष हैं ही नहीं, उपर्युक्त विष्णुपुराणके प्रमाण देखें, तब दोष कहाँसे लाये जायँ।

साहित्यकी रीति भी है कि जिसका उत्कर्ष कहा जाता है, तब उसका पराजय आदि अपकर्ष भिन्न प्रसङ्गमें कहा जाता

है। जैसे वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्डमें महर्षि अगस्त्यजीने रावणकी विजय कहनेके समय उसकी पराजयकी कथाएँ नहीं कहीं, यद्यपि वे प्रसङ्ग उसी दिग्विजयके साथके हैं। जब श्रीरामजीने उनसे पूछा कि ‘क्या वह कहीं हारा ही नहीं?’ तब उन्होंने पृथक् प्रसङ्गमें उसकी हारके प्रसङ्ग कहे।

इस रीतिसे भी रामायणमें श्रीरामजीके दोष-कथन होनेका सम्भावना नहीं हो सकती; क्योंकि श्रीवाल्मीकिजीने और श्रीगोस्वामीजीने भी श्रीरामजीके यश-कथनकी ही प्रतिज्ञा की है। यथा—

‘को न्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।

अर्थात् ‘इस समय संसारमें कौन गुणवान् और पराक्रमी है?’

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।

(वाल्मीकि० १।१।२-७)

‘आपने जो बहुत-से दुर्लभ गुण गिनाये हैं (वे सब श्रीराममें हैं)’ तथा—

‘करन चहउँ रघुपति गुन गाहा।’

(रामचरित० बा० ७)

यह उपक्रममें कहा गया है।

‘कलुक राम गुन कहेउँ बखानी।’

(रामचरित० उ० ५१)

यह उपसंहारपर कहा गया है।

इस प्रकार श्रीरामचरितकी उज्ज्वलताके प्रति आक्षेपोंके यथामति समाधान किये गये हैं। और भी यदि कोई आक्षेप आवेंगे तो उनपर भी यथामति चेष्टा की जायगी।

उपदेश

तुलसी हठि हठि कहत नित चित सुनि हित करि मानि ।
 लाभ रामसुमिरन बड़ो, बड़ी बिसारे हानि ॥
 तुलसी ममता रामसों समता सब संसार ।
 राग न रोष न दोष दुख दास भये भवपार ॥
 विगरी जनम अनेककी सुधरै अवही आजु ।
 होहि रामको नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु ॥
 काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।
 सब परिहरि रघुवीरहि भजहु भजहि जेहि संत ॥

अपने कामको ईमानदारीसे पूर्ण करना ही प्रभुकी पूजा है

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)

गीतामें एक बड़ा महत्वपूर्ण वचन है, जिसकी सिद्धि प्रत्येक कर्ममें निरत साधकके लिये उपयोगी है—

सकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।

अर्थात् जो व्यक्ति अपने कार्यको सचाईसे परिपूर्ण करता है, वह प्रभुकी पूजा करता है और उसीसे उसको सिद्धिकी प्राप्ति होती है ।

हम सब भिन्न-भिन्न कार्य मानवसमाजके लिये सम्पन्न कर रहे हैं । कृषक दिन-रात खून-पसीना कर अन्नोत्पादन करते हैं । मजदूर दिनभर सख्त परिश्रम करते हैं । बनिये नाना स्थानोंसे वस्तुएँ ला-लाकर गृहस्थोंके लिये उपादेय बनाते हैं । ब्राह्मणवर्ग ज्ञान प्राप्तकर साधारण जनताको विद्यादान देनेमें निरत हैं । इसके अतिरिक्त एक बड़ा भाग उन शूद्रोंका है, जो दिन-रात सबर्णोंकी सेवा किया करते हैं । संक्षेपमें, प्रत्येक नागरिकके पास कोई-न-कोई काम है । वह इसे अर्थप्राप्ति जीविकोपार्जनके लिये करता है । बिना काम किये उसे रोटी नहीं प्राप्त होती । संसारका नियम कुछ ऐसा है कि जो जितना काम करे, उसे उतना ही सुख-सुविधा प्राप्त हो । परिश्रमके अनुसार समृद्धि प्राप्त होना ईश्वरीय व्यवस्था है ।

किंतु आज हम देखते हैं कि इस ईश्वरीय व्यवस्थामें गीरे-धीरे हमारी नीची भावनासे भ्रष्टाचार आ गया है । कुछ दिनोंकी बात है, हमने एक कम्पाउंडरसे पूछा— भाई साहब ! आपकी आय (४५) रुपये मासिक है, सात-आठ व्यक्ति कुटुम्बमें हैं । आपलोग अच्छा खाते, अच्छा पहनते हैं । तिसपर आप मकान बनवा रहे हैं । आप कैसे यह आर्थिक सुव्यवस्था कर लेते हैं । बतलाइये ?

वे बोले—‘छः हजारमें कच्चा टूटा-फूटा मकान

लिया था । ऊपरसे सात-आठ हजार और लाये तब कहीं यह मकान तैयार हुआ है प्रोफेसर साहब शफाखानेकी बँधी आमदनीमें क्या होता है । ऊपरसे आमदनीसे ही काम चलता है । यदि ऊपरसे कमायें, तो काम कैसे चले । न साफ कपड़े मित्र न रहनेके लिये घरबार ही ।’

और यह ऊपरकी आमदनी आती किस प्रकार है ? मुफ्तके अस्पतालसे लायी हुई दवाइयोंका शफाखाना कम्पाउंडर साहबके घरमें चलता है । बूँद मरीजोंका ठीक ड्रेसिङ्ग न कर उन्हें घरपर पट्टी बाँध आनेके लिये बाध्य किया जाता है, जहाँ उन्हें देने पड़ते हैं । प्रत्येक मरीजके घर जानेका एक-दो रुपया अलग-से रहा । यदि कोई ऑपरेशनका फँस गया तो कुछ न पूछिये, मासका वेतन उसी वसूल हुआ समझिये । यह एक उदाहरण है, जो सार्वजनिकजीवनकी बीमारीका, जो हमें खाये जा रही है ।

इसी प्रकारके रिश्त, भ्रष्टाचार, काला बाजार श्रमकी चोरीके सैकड़ों उदाहरण पेश किये जा सकते हैं । जो व्यक्ति कोर्टके मुकदमोंमें फँसा है, वह जानता है कि प्रत्येक चपरासीसे लेकर मुहरिर्, नकलकर्ता तथा उच्च अधिकारीतक ऊपरकी आमदनी कमायें व्यस्त हैं । शिक्षा-संस्थाओंमें जो कार्य अध्यापकोंके निज कर्तव्य समझकर प्रेम और उदारतासे सम्पन्न करना चाहिये, उसीका व्यापार किया जाता है । हमारे सार्वजनिक जीवनका कलङ्क है ।

जो सार्वजनिक संस्थाओंमें नौकर हैं और राज्य वेतन प्राप्त करते हैं, उनका यह पुनीत कर्तव्य होता है कि अपने पेशेसे सम्बन्धित नाना कार्यों

प्रभुकी सेवाके समान पवित्र समझकर सम्पन्न करें ।

सद्व्या ६]

जनता प्रभुका रूप है। जनता-जनार्दनकी सेवा करना परमेश्वरकी पूजा करनेसे कम नहीं है। अध्यापक, पुलिसकर्मचारी, डाक्टर, कम्पाउंडर, कचहरियोंके तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओंके कार्यकर्ता नित्यप्रति जनताके निकट-सम्पर्कमें आते रहते हैं। उन्हें अपने आपको सौभाग्यशाली समझना चाहिये कि प्रभुस्वरूप जनताकी सेवा करनेका पुण्य अवसर प्राप्त हो रहा है।

पापकी कमाई नष्ट हो जाती है। रिश्ततसे कमाया हुआ धन क्षणभरमें निकल जाता है। धोखेबाजी, चोरी, अनुचित उपायोंसे जनताको डरा-धमकाकर अर्जित धन कभी नहीं फलता-फूलता। धर्मकी कमाईका एक पैसा झूठ और बेईमानीद्वारा अर्जित हजार रुपयेसे कहीं श्रेष्ठ है।

कार्लाइलने निर्देश किया है, Work is worship अर्थात् कार्य ही पूजा है। इस विद्वान्के इस वाक्यमें गहरी सत्यता निहित है। जब हम अपने कार्यको पूजा मानकर करते हैं, तब हमारे अंदर ईश्वरीय शक्ति-शरा प्रकाशित अनुपम ईमानदारी, सहृदयता, पवित्रता, साधुता, सरलता, शक्ति, कार्यनिष्ठा जाग्रत हो जाती है। हमारे तन, मन, प्राण एकरस होकर काममें एकाग्र हो जाते हैं। एक गुप्त शक्ति हमारे कण-कणमें कामके प्रति दिलचस्पी और एकरसता भर देती है। जिसने अपनी भावनाका तार-तार ईश्वरसे संयुक्त कर लिया है, वह जानता है कि दैवीशक्तिके तादात्म्यसे हमारी कार्यसम्पादिका शक्तिकी कैसी अभिवृद्धि हो जाती है।

बौद्धिक दृष्टिकोणसे अधूरा, अधकचरा, अपूर्ण काम करना या पैसे लेकर पूरा श्रम न करना अन्यायपूर्ण है। कहाँका न्याय है कि हम मजदूरी तो पूरी लें और समय व्यर्थ लुक-छिपकर काट दें? हमें स्मरण रखना चाहिये कि न्याय सर्वोपरि है; न्याय यम-नियमकी आत्मा है; मानवताका दुग्ध है, योगका आधार है और धर्मका स्तम्भ है। सत्य सत्यके लिये प्यारा नहीं

है, न्यायके लिये प्यारा है। अस्तेय अस्तेयके लिये नहीं, न्यायके लिये है। कामकी चोरी अन्याय है। हमारे नैतिक जीवनके लिये नितान्त अनुचित है। जब हम दूसरी तरहकी चोरियोंसे परहेज करते हैं और उन्हें निन्द्य मानते हैं, तब पूरा काम न करना य कामसे जी चुराकर अधिक रुपयेके लोभसे काम करना भी निन्द्य समझना चाहिये।

यदि हम अपने स्थानपर रहकर पूरा और खरा काम करते हैं, अनुचित रीतिसे आर्थिक लोभवश अपने मालिकोंको धोखा नहीं देते हैं तो हम कर्ममार्गके पथिक बन जाते हैं। श्रीमती लिडी एल० एलनका विचार है कि 'पूरे और खरे कार्यके समक्ष सबका झुकना पड़ता है। जो छोटा-से-छोटा कार्य निकम्मा, अधूरा अथवा आधे मनसे किया जाता है, वही परमात्माकी सेवा या अपना कर्तव्य समझकर सम्पूर्ण चातुर्य तथा कलासे अच्छा भी किया जा सकता है। किसी भी स्त्री या पुरुषके लिये इससे अधिक लज्जा और पतनकी क्या बात होगी—उसे एक कार्यको दुबारा करनेके लिये कहा जाय कि उसने अपना कार्य आधे मनसे किया है।'।

जिस शैली या ढंगसे कोई कार्य किया जाता है, वही कार्य करनेवाले व्यक्तिके चरित्रको प्रकट कर देता है। रिश्तत या ऊपरकी आमदनीके मोहमें फँसे हुए आदमीका दिल कार्यमें नहीं होता। वह आदर्श चाहे किसी परिस्थितिमें क्यों न हो, काम काम करके अधिक पैसा खींचनेके लोभमें लगा रहता है। यह वृत्ति सर्वथा त्याज्य है। कुछ व्यक्ति मालिककी उपस्थितिमें तो कार्य करते हैं; किंतु अनुपस्थितिमें कुछ नहीं करना चाहते। ऐसे व्यक्ति भी चोर हैं। हमें अपने जीवनको वास्तविक इतना पूर्ण एवं परिश्रम बनाना चाहिये कि ऊपरसे कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा ही मनमें शेष न रहे।

सत्य, क्षमा, तितिक्षा, इन्द्रियदमन आदिकी महिमा

महाभारत शान्तिपर्व ज्ञानका भण्डार है। उसमें ऐसे एक-से-एक बढ़कर महत्त्वपूर्ण उपदेश भरे पड़े हैं, जिनके एक-एकके मनन और धारणसे जीवन पवित्र और सुखमय हो सकता है। संसारके लोग यदि इन उपदेशोंके अनुसार कार्य करने लगे तो सारे उपद्रव शान्त होकर जगत् सुखी और कल्याण-पथका अधिकारी हो सकता है। आज यहाँ, हंसरूपसे प्रजापतिने साध्यगणों-को जो उपदेश किया था, उसीका सार 'कल्याण'के पाठकोंके और अपने हितार्थ दिया जाता है। हंसने कहा—

‘अमृतपान करनेवाले देवो ! मैं तो सुनता हूँ कि तप, इन्द्रियोंका दमन, सत्य और आत्मसंयम आदि कार्य ही सबसे श्रेष्ठ हैं। हृदयकी गाँठोंको खोलकर प्रिय (मन-इन्द्रियोंके अनुकूल विषय) और अप्रिय (मन-इन्द्रियोंके प्रतिकूल विषय) को अपने वशमें कर ले। अर्थात् न तो अनुकूल विषयकी प्राप्तिमें हर्ष हो और न प्रतिकूलकी प्राप्तिमें उद्वेग हो*। किसीके मर्ममें चोट न पहुँचावे, कठोर वचन न बोले, नीच मनुष्यसे श्रेष्ठ वस्तु समझनेकी चेष्टा न करे, जिसे सुनकर दूसरोंको उद्वेग हो, ऐसी नरकादि प्रापणियोंमें डालनेवाली अमङ्गलमयी बात भी न कहे। वचनरूपी बाण जब मुँहसे निकल पड़ते हैं, तब उनकी चोट खाकर मनुष्य दिन-रात शोकमें डूबा रहता है। वे दूसरोंके मर्मपर आघात पहुँचाते हैं, अतएव विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह किसीपर भी वाग्बाणका प्रयोग न करे। दूसरा कोई भी यदि विद्वान्को कटु वचनरूपी बाणोंसे खूब घायल करे तो भी उसे शान्त ही

रहना चाहिये। दूसरोंके क्रोध करनेपर भी जो बदले प्रसन्न ही रहता है, वह उनके पुण्यको ग्रहण कर लेता है।* जो जगत्में निन्दा करानेवाले और आवेशमें डालनेवाले प्रज्वलित क्रोधका दमन कर लेता है, जिसका कि दोषरहित और प्रमुदित रहता है तथा दूसरोंके दोष नहीं देखता, वह पुरुष अपनेसे द्वेष रखनेवालोंके पुण्य छीन लेता है। मुझे कोई गाली दे तो भी मैं चुपचाप जाता हूँ, कोई मारे तो भी मैं उसे क्षमा करता हूँ। आर्यपुरुष क्षमा, सत्य, सरलता और अनिष्टरता (दया) को श्रेष्ठ बतलाते हैं। वेदका फल है सत्य, उसका फल है इन्द्रिय-मनका दमन और उसका फल है मोक्ष। सत्यका अनुशासन शास्त्रका आदेश है। वाणीका मनका वेग, क्रोधका वेग, तृष्णाका वेग, उदरका वेग और उपस्थका वेग—इन प्रचण्ड वेगोंको जो दम लेता है, उसीको मैं ब्राह्मण और मुनि कहता हूँ। क्रोधीसे क्रोध न करनेवाला, सहन न करनेवाला सहनशील, अमानवसे मानव और अज्ञानीसे ज्ञानी श्रेष्ठ है। जो दूसरेकी गाली सुनकर भी बदलेमें उसे गाली नहीं देता, उस सहनशील मनुष्यका दबा हुआ क्रोध ही गाली देनेवालेको भस्म कर सकता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है†।

‘दूसरेके मुखसे कड़वे वचन सुनकर भी जो उसके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता तथा किसीके

* वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति राज्यहीनः परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु परस्चेदेनमतिवाद्वाणैर्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यं संरोष्यमाणः प्रतिमृष्यते यः स आदत्ते सुकृतं वै परस्य॥

(महाभारत, शान्ति० २८३।१, २०)

† आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेवं तितिक्षतः। आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति॥

(महाभारत, शान्ति० २८३।११)

* न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

(गीता ५।२०)

मारनेपर भी जो वैरभावसे बदलेमें न तो उसे मारता है और न उसकी बुराई ही चाहता है, उस पुरुषके दर्शनके लिये देवता भी सदा ललचाते रहते हैं । पाप करनेवाला अपनेसे बड़ा हो या बराबरका, उसके द्वारा अपमानित होकर, मार खाकर और गाली सुनकर भी उसे क्षमा ही कर देना चाहिये । ऐसा करनेवाला पुरुष परमसिद्धिको—मोक्षको प्राप्त होता है ।

यद्यपि मैं सब प्रकारसे परिपूर्ण हूँ तथापि सदा सत्पुरुषोंकी उपासना करता हूँ, (सत्सङ्ग और सत्सेवन करता हूँ ।) मुझपर न तृष्णाका जोर चलता है, न क्रोधका । मैं लोभवश धर्मका उल्लङ्घन नहीं करता, न विषयोंकी इच्छासे कहीं आता-जाता हूँ, मुझे कोई शाप दे दे तो भी मैं उसे शाप नहीं देता, मैं इन्द्रिय-मनके दमनको अमृत—मोक्षका द्वार जानता हूँ । इस समय तुमलोगोंको मैं एक गुप्त रहस्य बतला रहा हूँ । वह यह है कि मनुष्य-शरीरसे बढ़कर श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं है । जिस प्रकार बादलोंके आवरणसे छूटकर चन्द्रमा प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार पापोंसे मुक्त होकर शुद्धचित्त धीर पुरुष धैर्यके साथ कालकी प्रतीक्षा करता है (पवित्र साधनोंमें लगा रहता है, भ्रमरता नहीं), वह इससे सिद्धिको प्राप्त होता है । जो अपने सद्व्यवहारसे आधारस्तम्भकी भाँति सबके आदरका पात्र होता है तथा जिसके प्रति सब लोग प्रसन्नताके साथ मधुर वचन बोलते हैं, वह संयतात्मा पुरुष देवभावको प्राप्त हो जाता है । किसीसे द्वेष या हाह रखनेवाले मनुष्य जिस तरह उसके दोषोंका वसाहपूर्वक वर्णन करना चाहते हैं, उस तरह उसके अंदर रहे हुए कल्याणमय गुणोंका बखान नहीं करना चाहते । जिसकी वाणी और मन सुरक्षित होकर (सुराईसे सदा बचे रहकर) भगवान्‌के नाम-गुण-कीर्तन और चिन्तनमें लगे रहते हैं, वह वेदाध्ययन, तप और त्याग—इन सबके फलको पा जाता है ।

‘अतएव बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह गाली देने और अपमान करनेवाले अज्ञानियोंको उनके दोष बतलाकर समझानेका प्रयत्न न करे, उनके क्रोधको न बढ़ावे और न अपनी हिंसा करे । विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह अपमान पाकर अमृत पीनेकी भाँति परितृप्त हो; क्योंकि अपमानित पुरुष तो सुखसे सोता है; किंतु अपमान करनेवालेका नाश हो जाता है । क्रोधी मनुष्य जो यज्ञ करता, दान देता, तप करता और हवन करता है, उन सब कर्मोंके फलको यमराज हर लेते हैं । क्रोध करनेवालेका यह सारा परिश्रम व्यर्थ होता है । देवताओ ! जो पुरुष अपने उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और वाणी—इन चार द्वारोंको पापसे बचाये रखता है, वही धर्मको जाननेवाला है । जो पुरुष सत्य, मन-इन्द्रिय-दमन, सरलता, अनिष्टुरता (दया), धृति और सहनशीलताका विशेषरूपसे सेवन करता है, स्वाध्यायमें लगा रहता है, दूसरेकी वस्तु लेना नहीं चाहता तथा एकान्तमें निवास करता है, वह उच्च गतिको प्राप्त होता है । जैसे बछड़ा अपनी माताके चारों स्तनोंका पान करता है, उसी प्रकार मनुष्यको सब सद्गुणोंका सेवन करना चाहिये । मेरी समझसे सत्यसे बढ़कर पवित्रतम कुछ भी नहीं है । मैं चारों ओर घूमकर मनुष्यों और देवताओंसे कहा करता हूँ कि जैसे समुद्रसे पार होनेका साधन जहाज है, उसी प्रकार सत्य ही दिव्यलोकतक पहुँचनेकी सीढ़ी है ।

‘मनुष्य जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे मनुष्योंका सेवन-सङ्ग करता है और जैसा होना चाहता है वैसा ही होता है । जैसे सफेद क़ख़को जिस रंगमें रंगा जाय, वह वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी साधु, असाधु, तपस्वी या चोर—जिसका सङ्ग करता है, उसीके वश हो जाता है । देवतागण सदा साधु पुरुषोंका सङ्ग करते हैं—उन्हींकी बातें सुनते हैं, इसीलिये वे मनुष्योंके विषय-भोगोंकी ओर देखने भी

नहीं जाते । जो विषयोंके बढ़ने-घटनेवाले स्वरूपको ठीक-ठीक जानता है, उसकी समानता न चन्द्रमा कर सकते हैं, न वायु । जो दोषोंको छोड़कर हृदयके अंदर रहनेवाले पुरुषोत्तम भगवान्‌के ध्यानमें स्थित रहता है, वही सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थित है, उसीके साथ देवता प्रेम करते हैं । जो शिशोदरपरायण हैं अर्थात् सदा पेट पालने और जननेन्द्रियके भोग भोगनेमें ही

लगे रहते हैं तथा जो चोरी करने और कठोर का बोलनेवाले हैं, वे यदि (प्रायश्चित्त आदिके द्वारा) उन कर्मोंके दोषसे छूट भी जायें तो भी देवता उन्हें पहचानकर दूरसे ही त्याग देते हैं । सत्पुरुष रहित और सब कुछ खा जानेवाले पापकर्मी देवताओंको संतुष्ट नहीं कर सकते; देवता तो सत्यपरायण कृतज्ञ और धर्ममें रत पुरुषोंके साथ ही प्रेम करते हैं ।

बोधमाला

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्कसे आगे]

(८१) भाई ! तुमने मायाको पकड़ा है या मायाने तुमको पकड़ रक्खा है ? तुम कहते हो कि मायाने तुमको पकड़ा है, यह झूठी बात है । मायाके पास तुम जाते हो । दरिद्र बनकर मायाको तुम माँगते हो । जगत्‌के कौन-से पदार्थ आकर तुमसे चिपके हैं ? जो-जो प्राणी या पदार्थ तुमको दुःखदायी लगते हैं, उनका क्यों नहीं त्याग कर देते ? तुमको उनमें ममत्व है, तुम उनसे सुख चाहते हो । तुम यह आशा करते हो कि यह सब जैसा है वैसा बना रहे और तुम्हें मुक्ति मिल जाय; परंतु मूर्ख ! भोग और मुक्ति दोनों साथ नहीं रहते । प्रकाश और अन्धकार कभी साथ रह सकते हैं ? मुक्ति तो भोगमात्रके अभावको कहते हैं । चित्तकी आत्यन्तिक शानतिरूपी मुक्ति तुम्हें चाहिये, दुःखमात्रकी निवृत्ति तुम्हें चाहिये, अखण्ड शान्ति और अखण्ड आनन्द तुम्हें चाहिये, तो जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंसे सुखी होनेकी इच्छा-मात्रको छोड़कर अपने स्व-स्वरूपमें रमण करो और भोग-मात्रका त्याग करो ।

(८२) जिस धर्ममें दूसरेको दुःख पहुँचानेकी, दूसरेकी हिंसा करनेकी बात कही हो, वह धर्म नहीं है, वह मोक्ष-धर्म नहीं है । दूसरेको सुख और शान्ति प्रदान

करनेसे ही अपनेको सुख और शान्ति मिल सकती है दूसरेको दुःख देनेसे जरूर ही अपनेको दुःख मिलेगा । तुम अमुक पंथ या मतके हो, इस बातको भूल जाओ मत-मतान्तरके घेरेसे बाहर निकलो और परमात्माके अनन्य-शरण हो जाओ, उनके नामका खूब जप करो उसकी साकार मूर्तिका ध्यान करो, भोगमात्रके त्याग करनेका अभ्यास करो, मनको निर्विचार स्थितिमें लाने का अभ्यास करो और हर एक हालत और संस्थितिमें मन निर्विकार रह सके, इसका अभ्यास करो । सुखके लिये जगत्‌के किसी प्राणी-पदार्थकी इच्छा न करो । सुख किसी प्राणी या पदार्थमें नहीं है, वह तुम्हारे आत्मामें है । तुम स्वयं सुख-स्वरूप हो तुम्हारे साथ दूसरे सुखी जान पड़ते हैं । तुम के हो, नित्य हो, तुम सत्-चित् और आनन्दस्वरूप हो ।

(८३) सभी देवताओंको नमस्कार करो—चाहे किसी भी पंथ या सम्प्रदायके हों । वृद्धमात्रको आदर करो । देवताकी मूर्तिके भीतर चेतन आत्मा निवास करती है उसे देखो । उसको जो नमस्कार करते हो, वह परमात्माको होता है, ऐसा समझो । तुम्हारा देवता करनेवाला देवता-स्वरूप है । उपकार करनेवालोंको

संख्या ६]

न भूलें। उपकारीकी निन्दा कभी न करो। उपकारीकी बुराई करनेवाला कृतघ्न कहलाता है। सभी पापियोंके लिये प्रायश्चित्त है; परंतु कृतघ्नीको पावन करनेवाला कोई नहीं है।

(८४) पंडमें, पशुमें, पक्षीमें, कीड़ोंमें, पत्थरमें, वृक्षोंमें, दानवोंमें, मानवोंमें—सबमें व्यापक परमात्मा विराजमान है। जैसे तुम्हारे शरीरमें चेतन आत्मा है, उसी प्रकार उनके शरीरमें भी चेतन आत्मा है। इसलिये तुम्हारा और उनका आत्मा एक स्वरूप है। सबके साथ आत्माका नाता रखो और इस प्रकार सबमें तुमको आत्मस्वरूपका दर्शन होगा।

(८५) तुम गरीब हो, तुम साधनहीन हो, तुम कुटुम्बहीन हो, तुम शक्तिहीन हो, तुम जगत्के पदार्थ बिनाके हो, तो इसके लिये शोक न करो। यदि तुममें परमात्माके प्रति प्रेम होगा, जगत्के भोगोंके प्रति वैराग्य होगा तो तुम सबका अपेक्षा अधिक सुखी हो। जगत्के प्राणी-पदार्थ तुम्हारे चित्तको परमात्माकी ओरसे खींचकर चौरासी लाख योनिमें भरमानेवाले हैं। इसलिये पादे ये न होंगे तो तुम्हारा भगवत्प्राप्तिका मार्ग जल्दी रुक जायगा।

(८६) तुम बड़े भारी महलमें रहते होओगे; परंतु तुम शरीरके लिये जितनी जगहकी जरूरत है, उतनी ही जगहको भोक्ता हो। तुम्हारे यहाँ हजारों मन अनाज होगा, परंतु तुम जितना खाते हो उतनेके मालिक हो। तुम्हारे शरीरके लिये जितना जरूरी है, उससे अधिक तो दूसरोंके लिये है। तुम अधर्मसे धन पेंदा करके इकट्ठा करते हो, वह धन दूसरेको मिलेगा और तुम्हारे भाग्यमें पाप भोगना रह जायगा। इसलिये भाई! धनके लिये पाप न करो, पापसे पेट न भरो। तुम धीरज रखोगे तो विश्वम्भर भगवान् तुम्हारा पेट भरेंगे। धर्मका आधार धीरज है।

(८७) धीरज धर्मको टिकाता है, धीरजसे धन सञ्चय होता है। धीरज दुःखको सहन कराता है। धीरज आपत्तिसे बाहर निकालता है। प्राणीमात्रका मित्र उसका धीरज है। जिसमें धीरज अधिक है, वह सबसे बड़ा है। धीरजके दो आधार हैं—एक आधार है साधन और दूसरा है समझ। बुद्धिमानी आत्मज्ञानका आधार है। यह धीरज चिरकालतक टिकता है और यही प्राणीका कल्याण करता है।

(८८) खाना, पीना, पहनना और भोग भोगना तथा कुटुम्बका भरण-पोषण करना—क्या यही जीवनका हेतु है? भोग तो कीड़ा भी भोगता है, कुत्ते-गधे भी भोगते हैं। इन्द्रके शय्यामें लोटनेमें और गधेके धूलमें लोटनेमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। दोनोंको समान सुख है। राजा अपनी रानीसे विषय-भोग करता है और कुत्ता कुतियासे विषय-भोग करता है, इन दोनोंके सुखमें समानता है। भाई! भोग तो तुमने अनेकों जन्मोंमें भोगे हैं। इस मनुष्य-जन्ममें समझ लो कि भोगमें सुख नहीं है। पहले जन्मोंमें अखण्ड और अमृत सुख न देखकर तुमने यह जन्म लिया है, इसलिये यहाँ उस सुखको खोजो जो सुख कभी नष्ट होता ही नहीं। जो सुख दूसरेसे मिलता है, वह उसमें विकार आनेपर या उसके नष्ट हो जानेपर नष्ट हो जाता है। आत्मसुख ऐसा सुख है जो सदा अपने पास रहता है, कभी अलग नहीं होता और इसीसे वह अखण्ड है। प्राणी-पदार्थके सुखको छोड़े बिना तुम्हें आत्मसुख कभी नहीं मिलेगा।

(८९) ईश्वरके नामका खूब जप करो। जीभसे जपो, मनसे जपो, जैसे हो सके वैसे ही जपो। इतना जप करो कि मन परवश होकर, सोते या जागते, जब अवकाश पावे तभी वही जप करने लगे। ऐसा करनेपर मनकी दौड़-धूप बंद हो जायगी। मनको परमात्माके सिवा दूसरी वस्तुमें चैन न मिलेगा। तुमसे तप न हो, त्याग न हो, यज्ञ न हो, दान न हो—ऐसी

स्थितिमें संसारमें अच्छा रास्ता यह है कि अपनेको भगवान्‌का जो नाम प्रिय लगे उस नामके जपका निश्चय कर ले और उसका खूब रटन करे तथा परमात्माका आश्रय ले ले। प्रत्येक दुःखको दूर करनेके लिये, मनके प्रत्येक दोषको हटानेके लिये, किसी भी वस्तुकी इच्छाकी पूर्तिके लिये अन्तर्यामी प्रभुसे प्रार्थना करे। प्रभुके साथ ही वाद-विवाद करे, उसीसे झगड़े और उसीके साथ आन्तरिक प्रीति रखे। उसे अपना सर्वस्व समझे। पक्की श्रद्धा रखे कि प्रभु ही जीवनमें सुख देनेवाला है और हमारा उद्धार करनेवाला है।

(९०) दूसरेकी आशा छोड़ दो, अभिमानको छोड़ दो, मैं अमुक हूँ इसे भूल जाओ और जो कुछ कर्तव्य प्राप्त हो, उसे मान-अभिमान छोड़कर शरीरसे करते जाओ। तब देखना कि कितना आनन्द प्राप्त होता है। अभिमान और दूसरेकी आशा—ये दोनों आनन्दको खा जाते हैं। निष्कलङ्क और निर्दोष बालकके समान जीवन प्रतिक्षण आनन्दका अनुभव कराता है। सरलता, निष्पाप जीवन, निरभिमानता, सेवा, भाव, प्रेम, उमङ्ग और विनय—ये जिनमें हों, उनको सारा जगत् सुखमय लगता है।

(९१) पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार शरीरका पोषण होगा। कुटुम्बके लोगोंका पोषण भी उनका प्रारब्ध करता है और करेगा। इसलिये चिन्ता छोड़कर प्राप्त कर्मोंको करो और ईश्वरको भजो। तप, दान, ईश्वर-भजन, पुण्य आदिसे पूर्वजन्मके मन्द और मध्यम दर्जेके पापोंके फलरूपी दुःखोंका निवारण होता है; इसी प्रकार उनसे कुछ अंशमें इच्छित सुखकी प्राप्ति भी होती है। परन्तु तुमने यदि जीवनके दिनोंको दुःख-निवारण और सुखकी प्राप्तिमें ही बिता डाला तो तुम्हारा जो जन्म-मरणका सदाका दुःख है, उसको दूर करनेका प्रयत्न कब करोगे? और मौत कब आकर खड़ी हो जायगी, इसे कौन कह सकता है? इसलिये प्रारब्धके

अनुसार सुख-दुःखको भोगते रहो और जन्म-मरण दूर करनेका उपाय जो हरिभजन है, उसके साथ जुट जाओ। शरीर और कुटुम्बको प्रारब्धके ऊपर छोड़ देनेपर भी उद्यम तो छोड़ना ही नहीं है। वही त्याग शोभा देता है, जिसमें त्यागनेका भान नहीं रहता। इसलिये यथाशक्ति प्राप्त उद्यम करना और ईश्वर-भजन खूब तल्लीन होनेका प्रयत्न करना चाहिये।

(९२) ईश्वरका भजन कभी न छोड़ो। 'मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ, मैं परमात्मस्वरूप हूँ'—इस प्रकार बौक्कन सुनने या जाननेसे ही ब्रह्मस्वरूप या परमात्मस्वरूप नहीं हुआ जा सकता। वस्तु जो है, वही रहती है। जबतक इच्छा है, जबतक भोगमें रुचि है, जबतक आशा है, जबतक यह वस्तु जीवरूपमें ही रहती है और जब इच्छामात्रका नाश हो जाता है और आत्मस्वरूपमें रमण करनेका अभ्यास करते-करते आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाती है, तब वही वस्तु ब्रह्मस्वरूप या परमात्मस्वरूप हो जाती है। भक्तिका फल ही ज्ञान है, भक्तिको छोड़नेसे ज्ञान नहीं फलता। इसलिये खूब भक्ति करो। भक्ति ज्ञानके रूपमें परिणत हो जाती है। जैसे फल घटता जाता है, वैसे फल बढ़ता जाता है; परन्तु फलका तोड़ डालो तो फलका बढ़ना रुक जायगा। उसी प्रकार भक्तिके बंद करनेपर ज्ञान अपने-आप ही बंद हो जाता है। इसलिये जबतक तुमको जगत्‌का भान होता है, जबतक जगत्‌के सुख-दुःखका अनुभव हो रहा है, तब तक हरिस्मरण करते ही रहो।

(९३) जगत्‌में धनवान् या श्रीमन्त जान पड़नेवाले लोगोंमें अधिकांश, लगभग सभी मिखारी होते हैं, उनके मनमें जो-जो इच्छाएँ होती हैं, वे सारी पूर्ण होती नहीं, और अपूर्ण इच्छाको पूरी करनेके लिये, जिससे पूरी हो सकती हैं, उससे भीख माँगते रहते हैं। द्वारपर आया हुआ मिखारी, उसके पास जो वस्तु नहीं है, उसे ही माँगता है, और अपूर्ण इच्छावाला श्रीमन्त

अपनी अपूर्ण इच्छाको पूरी करनेके लिये पूरी करनेवालेके पास भीख माँग रहा है। दोनों भिखारियोंमें कोई श्रेष्ठ नहीं है। जो कभी भी इच्छा नहीं करता, वही श्रमन्त है। जिसको प्राप्तमें संतोष है और अप्राप्तकी इच्छा ही नहीं है, उसके सुख और आनन्दको वेचारा नाम भिखारी क्या जाने ? देवता, दानव, मनुष्य और दूसरे भी अप्राप्तके भिखारी हैं, संतोषी सदा सुखी है। जिसमें इच्छा नहीं है, वह सबसे श्रेष्ठ और सम्पूर्ण सुखका भोक्ता है। इसलिये इच्छा-त्यागका अभ्यास करो।

(९४) इच्छा क्यों करनी चाहिये ? प्रारब्ध शरीरको पोसता है, अतः शरीर और कुटुम्बके लिये इच्छा नहीं करनी चाहिये। आत्मा नित्य और मुक्त है। सुख, आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, 'वह आत्म-स्वरूप मैं हूँ।' जिसे ऐसा ज्ञान हो गया वह किस वस्तुकी इच्छा करेगा ? भोगकी भी इच्छा नहीं रही और नित्यमुक्तके लिये मुक्तिकी भी इच्छा नहीं रही।

(९५) मुमुक्षुके लिये मुक्ति प्राप्त करनेके दो मार्ग हैं—एक ज्ञानमार्ग और दूसरा भक्तिमार्ग। जगत्के भोगोंके प्रति अत्यन्त वैराग्य हो और स्वात्माका परीक्षा ज्ञान हो गया हो, वह मैं आत्मा ही परमात्म-स्वरूप हूँ और जगत् मिथ्या तथा विनाशी है, इसका अभ्यास करके वासनाक्षय और मनोनाशके साधन करके मुक्तिका अनुभव करे। जिसमें वैराग्य नहीं है वह अनन्य भावसे परमात्माकी उपासना करे। जैसे-जैसे परमात्मामें प्रीति बढ़ेगी, वैसे-वैसे जगत्के भोगोंमें प्रीति घटेगी और धीरे-धीरे हृदयमें शान्ति आयेगी। उपासककी भगवान् पूरी सहायता करते हैं। ज्ञानी ज्ञानके बलसे परमात्मस्वरूप होता है और भक्त भक्तिके बलसे परमात्मामें मिलकर परमात्मस्वरूप हो जाता है। दोनोंका अन्तिम लक्ष्यस्थान परमात्मा है। दोनोंके साधनमें जगत्के भोगोंकी ओर तो अत्यन्त अरुचि होनी चाहिये।

इसके लिये भोगेच्छाका आत्यन्तिक अभाव दोनोंमें होना जरूरी है।

(९६) कुछ किये बिना शरीर नहीं रह सकता है। इसलिये तुम दान, पुण्य, जप, तप, तीर्थसेवन, यज्ञ तथा जो कुछ भी बन सके सत्कर्म करो, देवताओंकी आराधना करो; परंतु ये सारी क्रियाएँ करो परमपदकी प्राप्तिके लिये। देवताकी आराधना करते समय यह प्रार्थना करो कि 'हे प्रभु ! मुझे परमपदकी प्राप्ति हो।' जीवनमें जो कुछ शुभ कर्म करो वह आवागमनको दूर करने, अखण्ड आनन्दरूप मुक्तिको प्राप्त करनेके लिये करो, जो तुम्हारा नित्यस्वरूप है।

(९७) अनेक शास्त्रोंके अनेक प्रकारसे कहे हुए ज्ञानको संक्षेपमें समझ लो और उसको आचरणमें लाओ, तुम जरूर सुखी होओगे।

१. बीती हुई बातका कभी शोक न करो।

२. जो आ पड़े उसे खूब शान्ति और धीरजसे विकाररहित होकर सहन करो।

३. अप्राप्तकी कभी इच्छा न करो।

ये तीन जिसमें हैं, वह सदा सुखी है।

(९८) त्याग बिना सुख नहीं, त्याग बिना शान्ति नहीं। सिर मुँड़ाने और कपड़ा रँग लेनेसे त्याग नहीं होता। जिसको इस संसार और परलोकके भोगोंकी अत्यन्त दुःखदायी दीखनेके कारण कभी इच्छा नहीं होती और जो प्राप्त भोगोंको—पुण्योंको समाप्त करनेकी दवाकी भाँति उनको भोगकर छुटकारा पा लेता है तथा जिसका वैराग्य अत्यन्त उत्कट है, वही त्यागी है।

(९९) दूसरेसे मिलनेवाला सुख अल्प है, क्षणिक है, पराधीन है और परिणाममें दुःखप्रद है। संसारके सुख इसी प्रकारके हैं। आत्मसुख महान् है, वह नित्य है, स्वाधीन है और सदा सुखरूप है।

इसलिये जगत्के सुखका स्वाद छोड़कर आत्मसुखके भोगी बनो। इसके स्वादका अनुभव करते ही जगत्के बड़े माने जानेवाले सुख भी दुःखरूप और तुच्छ लगेंगे।

(१००) जगत्में अनेक प्रकारके दान हैं। साधनवाले उन-उन दानोंको करते हैं। उस दानसे जीवको कुछ समयके लिये सुख प्राप्त होता है। जीवको जो असली दुःख है, वह भवसागर यानी संसारमें जन्म-मरणका दुःख है। उस दुःखको दूर करनेके लिये जो सदुपदेश देता है, वह जीवके लिये सच्चे-से-सच्चा दान है। जो परमार्थके मार्गमें स्थित हैं, उन्हें चाहिये कि जीवके ऊपर दया करके उसे संसारसे हटाकर ईश्वरके मार्गमें लगावें, यह जीवपर बड़े-से-बड़ा उपकार है।

(१०१) इच्छाका त्याग करो, यह कहना सहज है, करना मुश्किल है। राज छोड़कर, घर-द्वार और परिवार छोड़कर वनमें जानेपर भी किसी-न-किसी रूपमें इच्छा सताती है। कश्चन-कामिनीको छोड़ने-वालोंको भी मान, ईर्ष्या और बड़ाई सताती है। इसलिये इच्छाको मनसे खोज-खोजकर तजो और आत्माराम बनो। जैसे-जैसे आत्मस्वरूपकी पहचान होगी, वैसे-वैसे इच्छाओंका त्याग होता जायगा। और जैसे-जैसे इच्छाओंका त्याग होगा, वैसे-वैसे स्वस्वरूपका ज्ञान होगा। इच्छा-त्यागका अच्छे-से-अच्छा साधन यह है कि शरीर कर्मानुसार जिस संयोग या स्थितिमें पड़े, उसीमें परम प्रेम और आनन्दपूर्वक रहे। हर हालतमें आनन्दमें रहे, यह इच्छा-त्यागकी निशानी है।

(१०२) भाई ! मनसे पूछो कि तुम्हें कितनी इच्छाएँ हैं ? उसको जो इच्छा सामने रखनी हो, रखो। पर इस एक शर्तपर कि उसके पूरी होनेके बाद तुम दूसरी कोई इच्छा नहीं करोगा। इस बातको वह नहीं मानेगा, उसको तो इच्छित वस्तु प्राप्त हुई कि वह

दूसरी इच्छाएँ करेगा ही। राजा हो या रंक, किसी चाहे जितनी सामग्री प्राप्त हो, परंतु उसका मन किये बिना नहीं रहता। अप्राप्त वस्तुकी इच्छा उसका स्वभाव है। उसका विचित्र स्वभाव है। इच्छित वस्तु मिल गयी हो तो उसका सुख नहीं भोगता और जो नहीं मिली है तो उसकी इच्छा करता और उसके दुःखका अनुभव करता है। मनुष्य, पक्षी, देव, दानव—सबके मनका यह स्वभाव है। मनके स्वभावके वश होकर कोई कैसे सुखी हो सकता है ? इसको प्रसन्न करनेके लिये अनेक जन्म लिये अव तो इसको यह सिखाओ कि जो प्राप्त हो उसका सुख भोगो और न प्राप्त हो उसकी इच्छा न करो, तभी अखण्ड सुखकी प्राप्ति होती है।

(१०३) जगत्में अमुक विशेष काम करना अथवा अमुक बनना है; इसकी इच्छा न करो। शान्त प्रारब्धको शान्त-चित्तसे भोगो और नयी इच्छा न करो। जगत्का भला करने, जगत्को सुधारने देवलोकमें जाने अथवा सिद्धियोंकी प्राप्ति या प्रकाशकी कोई इच्छा करोगे तो जन्म-मरण बने रहेंगे और दुःखकी पोट सिरपर उठानी पड़ेगी। इस शान्ति प्राप्त कर्मोंको आनन्दपूर्वक करो। ईश्वरको भजो, इच्छारहित बनो, शान्ति धारण करो और खूब आनन्द रहो। मान-बड़ाईकी इच्छा न करो। नेतागिरी न करो। बड़प्पन और नेतागिरीमें दूसरेका भार खींच पड़ेगा। इसलिये अपनी शक्तिका विचार करके मन को बोल न पड़े, ऐसा काम करो। जैसे बने वैसे मन स्वस्थ और शान्त रखो। मन ईश्वरको न भूलें, निर्दोष जीवन प्रेम और आनन्दसे बितानेका करो। हो सके उसे कर डालो, जो न होने दो, उसको भूल जाओ।

(१०४) जगत्में परमात्माकी माया दो है। एकसे ललचाता है और दूसरीसे मोह होता है।

[भाग ६]

मनमें हर्ष हो, वह माया है। जो आवे और जाय, वह माया है। जो हो और मिट जाय, वह माया है। मायाके पदार्थोंसे निर्लेप सम्बन्ध रखो, आ जाय तो रहने दो; जाय तो जाने दो; आवे तो हर्ष न करो; जाय तो शोक न करो। और जरूरतसे अधिक प्राप्त करनेके लिये मेहनत न करो। दान-पुण्य करनेके लिये भी जो अधर्मसे धन प्राप्त करता है, उसकी अपेक्षा तो ऐसे अधर्मवाले धनका न प्राप्त करना अच्छा है। धर्मसे प्राप्त धन धर्ममें लगे तभी उसकी सार्थकता है। इसलिये जगत्के मायिक पदार्थोंकी परमात्माकी प्राप्ति करने और जीवनको चलाने मात्रके लिये ही इच्छा करो, और वे प्रारब्धके अनुसार धर्मसे प्राप्त हो जायेंगे। जगत्के लिये अधर्म न करो और ईश्वरकी शरण कभी न छोड़ो। माया ईश्वरकी शक्ति है, परमात्माकी भक्तिसे मायाका मोह तुम्हें होगा ही नहीं। जिसको परमात्मामें प्रीति होती है उसमें मायाकी प्रीति घट जाती है और जिसको मायामें प्रीति होती है उसकी परमात्माकी ओर प्रीति कम होती है। परमात्माकी शरण संसारसे तारती है और निश्चय समझो कि वह तुम्हें तारेगी।

(१०५) तुम जो जप करो, दान-पुण्य करो, तप-तीर्थसेवन करो, जो कुछ भी सुकृत्य करो, उसके फल-रूपमें मुक्तिकी ही इच्छा करो। देवताको नमस्कार करो तो भी मुक्तिकी प्रार्थना करो। संत, साधु या ईश्वरोंको प्रणाम करो तो भी मुक्तिकी इच्छा करो। जिस प्रकारसे मनमें शान्ति हो, जिस प्रकारसे मन आत्म-विचार करे, जिस प्रकारसे आत्माका अनुभव हो और जिस प्रकारसे मन परमात्मामें लीन रहे, अपने प्रत्येक सुकृतके फल, स्वरूप वैसी मानसिक अवस्थाकी कल्पना करो। फलकी इच्छा छोड़कर कर्म करो यानी भोगकी इच्छा छोड़कर कर्म करो। इस प्रकार भोगकी इच्छाका त्याग करनेके किये हुए कर्मका फल चित्तकी शान्ति, ज्ञान और मुक्ति ही होता है। प्रत्येक उपायसे

इस दुःखरूपी संसारसे तरनेकी इच्छा करो। यह जगत् तो नाटक या सिनेमाके समान है, वास्तविक नहीं। देखनेमें चाहे जैसे वेश आवें, उसको सच्चा मानकर यदि उसमें घटाना-बढ़ाना या फेरफार करना चाहोगे तो पार्ट लेना पड़ेगा यानी जन्म-मरण लागू हो जायेंगे। देखा करो, हँसा करो; भला-बुरा कहनेकी बुद्धिमान्नी बघारोगे तो फँसा ही समझो। परमात्माका खेल देखो, परमात्माको नमस्कार करो, परमात्माकी शरणमें जाओ और उसमें तल्लीन हो जाओ।

(१०६) जिस प्रकार लगाम हाथमें न रखनेसे मस्त घोड़ेपर सवार मनुष्य घोड़ेसहित दुःखमें जा पड़ता है, उसी प्रकार जिसके घरमें स्त्री, पुत्र और कुटुम्बी आदि सब बड़ोंके अङ्कुशमें नहीं रहते। वह सारा कुटुम्ब दुःखमें जा पड़ता है। सबको भयके बुरे रास्तेसे हटाकर अच्छे रास्तेपर चढ़ाओ। शरीरका, इन्द्रियोंका और मनका स्वभाव ही भोग, आलस्य, अधर्म और हरिविमुखतापर है। उनको ब्रह्मपूर्वक वहाँसे हटाकर परमात्मामें लगाओ। पति स्त्रीको, पिता पुत्र-पुत्रीको, गुरु शिष्यको, राजा प्रजाको, बड़ा अपने कुटुम्बी जनकोंको, समझदार नासमझको ब्रह्मपूर्वक भी अधर्मसे हटाकर धर्मके मार्गपर ले चले, यह पुण्यका काम है और सबका कर्तव्य है।

(१०७) मन जो करता है, वही किया हुआ समझा जाता है। इसलिये हम जब जो कुछ करें, तब मन उस काममें लगा रहे, दूसरे विचार न करें, उसे इस प्रकारकी शिक्षा दो। कुछ भी काम किया जाय, उसमें मन लगा रहेगा तो जल्दी सफलता मिलेगी। हम माला फेरते हैं तो मुँहसे जप होता है और हाथ-से मनका फिरते हैं। उस समय मन बेकार रहता है, उसपर ध्यान रखो, वह विचार करने लगे तो उसको रोको, माला बंद करके भी उसको रोको और उसे जपके सुननेका काम सौंप दो या उसीको जप करनेके

लिये कहो। संसारी काममें, विद्याभ्यासमें भी मन उसी काममें लगा रहे, इसका अभ्यास रखनेपर सब सरल हो जायगा। मनको निर्विचार अवस्थामें रखनेका अभ्यास करो। एक मिनट करके धीरे-धीरे अधिक समयतक मनको निर्विचार अवस्थामें रखनेसे अच्छी-से अच्छी शान्तिका अनुभव होता है। मनको इस प्रकार शिक्षित करो कि जो तुम कहो वह करे, और तुम जो मना करो, वह न करे। यही सच्ची शिक्षा है और इस प्रकार वशमें किये हुए मनसे श्रेष्ठ सुखका अनुभव होता है। यह अभ्यास धीरे-धीरे करो, परंतु हमेशा करो। अवकाश मिलते ही यह अभ्यास करो; समयकी कमी नहीं है। अभ्यास होनेपर परिणाममें तुम्हें महान् सुख और शान्ति प्राप्त होगी। मनको वशमें करनेका आग्रह रखो और मन कहा न करे तो उसे दण्ड दो। जैसे तुमने ब्रह्मचर्यका नियम लिया हो और वह टूट जाय तो एक अखण्ड उपवास करो। नियम विचार कर लो, परंतु लेनेपर टूटे तो जरूर दण्ड दो। यह रीति बहुत अच्छी है। फिर जैसे हम व्रत लेते हैं कि अमुक दोष यानी झूठ बोलना नहीं छूटेगा तबतक मैं अमुक वस्तु न खाऊँगा, ऐसा कोई-न-कोई व्रत

लेना चाहिये। इस प्रकार मनको वशमें करनेकी रीतियाँ हैं। जैसे भी हो मनको जगत्से परमात्मामें लगाना चाहिये।

(१०८) भाई या बहिन ! तुम चाहे जो पर सादा भोजन, सादा कपड़ा, सरलता, सदाचार, शान्ति, संतोष, सद् उद्यम, धीरज, दया, दान और दीनताका सेवन करो। सत्सङ्गका सेवन मोहका कोई काम न करो, खर्च कम करो, विचार बोलो, विचारकर चलो, देखकर पैर रखो, मिलकर रहो, परमात्माको भक्ति करो, दम्भ मत करो, अभिमान न करो। व्यसन, सट्टे और जुएकी कमी न करो। 'अहं ब्रह्मास्मि'की झूठी धुनमें भाग्यकी भक्तिको न भूलो। भगवान्का आश्रय, नामजप अन्ततक न छोड़ो। इस दुस्तर संसारमें भगवान्की दयाके बिना अपनी होशियारी, अपने और अपने बलसे पार पाना सम्भव नहीं है। लिये खूब भक्ति करो, सद्गुणी बनो, अच्छी सङ्गत अच्छी पुस्तकें पढ़ो। माता-पिता, गुरुजन और सेवा करो। उनको संतोष दो, उनको प्रणाम उनका आशीर्वाद लो तो परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।

कुसंगसे हानि

असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः ॥
बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥

(महाभारत वनपर्व १ । २८-२९)

दुष्ट मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ वार्तालाप करनेसे तथा एक आसनपर बैठनेसे धार्मिक आचरण नष्ट हो जाते हैं; और मनुष्य किसी कार्यमें सफल नहीं हो पाते। नीच पुरुषोंका साथ करनेसे बुद्धि नष्ट होती है। मध्यम श्रेणीके लोगोंका संग करनेसे वह मध्यम स्थितिमें रहती है और श्रेष्ठ पुरुषोंके संगसे वह श्रेष्ठ बन जाती है।

धर्मात्मा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

[१]

बड़ी भारी कोठी है। ऊँची चहारदीवारीसे घिरी हुई कोठीके चारों ओर सुन्दर वाटिका है। छोटा-सा राजभवन कहें तो भी कोई हानि नहीं। कोठीसे सटकर चहारदीवारीके बाहर एक फूसकी पुरानी झोंपड़ी है। फूसकी टट्टियोंसे घिरी अनेक स्थानोंसे टूटी झोंपड़ी। कोठी जितनी खच्छ, जितनी विशाल, जितनी सजी हुई एवं वैभवसम्पन्न है, झोंपड़ी उतनी ही जीर्ण-शीर्ण, उतनी ही अपनेमें सिमटी-सिकुड़ी और उतनी ही कंगाल है। कोठी और झोंपड़ी—दोनों एक दूसरीसे सटी। इनका क्या मेल ? क्या सामञ्जस्य इनमें ? लेकिन सामञ्जस्य जो संसारमें है, यही है। हम हृदयमें और बाहर झोंपड़ीसे सटी हुई ही कोठी खड़ी करते हैं।

नानुपहत्य भूतानि भोगाः सम्भवन्ति हि ।

झोंपड़ियोंको गिराकर ही कोठी बनी—जाने गीजिये इस बातको। यह तो होता ही है। ऐसा न करना हो तो कोठी बने ही नहीं। लेकिन यह कोठी कैसे और कब बनी, मैं यह नहीं कहने चला हूँ। मुझे तो इनकी कहानी कहनी है—इनमें रहनेवालोंकी कहानी। कोठी है और उससे सटी झोंपड़ी है। कोठी-से सटी झोंपड़ी होगी ही, उसके दम्भपर परिहास करता-सी; किंतु ये कोठी और झोंपड़ी कुछ भिन्न हैं। इनमें धर्मात्मा रहते हैं, दोनोंमें ही धर्मात्मा रहते हैं।

कोठी है सेठजीकी। सेठजी, बाबूजी, महाराजजी, खालाजी, नेताजी, मिनिष्टरजी, मेम्बरजीको छोड़कर कोठी हो भी किसकी सकती है। अब उन सेठजीका नाम-धाम, पता-ठिकाना जानकर आप क्या करेंगे ? वे

बड़े सज्जन हैं, बड़े उदार हैं, बड़े दानी हैं, बड़े भक्त हैं, बड़े धनी हैं, बड़े व्यापारी हैं, अर्थात् बड़े हैं ! बड़े हैं !! बड़े हैं !!!

झोंपड़ी है भोलाका। सम्मानसे कहना हो तो भोला-राम कह लीजिये। आप उसका विवरण जाननेकी इच्छा सहज ही नहीं करेंगे। वह कंगाल है, श्रमजीवी है, दुबला है, ठिगना है, धीरे-धीरे बोलता है, धीरे-धीरे चलता है। थोड़ेमें कहें तो वह छोटा है, छोटा है, छोटा है। अन्ततः उसकी झोंपड़ी भी तो छोटी ही है। उसके पास क्या मोटर है कि इधर-से-उधर सर्र-सर्र दौड़े उसपर चढ़कर ! उसके पास तो एक बुढ़िया घोड़ी भी नहीं ! सेठजी बोलते हैं तो कोठी गूँज उठती है; किंतु भोलाका शब्द तो उसकी झोंपड़ीमें भी पूरा सुनायी नहीं पड़ता। भोला यदि सेठजीकी भाँति एक बार भी जोरसे बोले तो कोई उसका सिर न फोड़ देगा तो झिड़क देगा जरूर।

सेठजीके बनवाये तीर्थोंमें अनेकों मन्दिर हैं, धर्म-शालाएँ हैं। स्कूल-पाठशालाएँ कई उनके व्ययपर चलती हैं और कई तीर्थोंमें अन्न-सत्र चलते हैं उनकी ओरसे। गरमीके दिनोंमें कितने प्याऊ सेठजी चलाते हैं; यह संख्या सैकड़ोंमें है और जाड़ोंमें जिन साधु-ब्राह्मण एवं कंगालोंको वे वस्त्र तथा कम्बल दिलवाते हैं, उनकी संख्या तो कई सहस्र होगी। कोठीसे थोड़ी ही दूरपर सेठजीने अपने अराध्यका मन्दिर बनवाया है। कई लाखकी लागत लगी होगी। इतना सुन्दर, इतना विशाल, इतना सुसज्जित मन्दिर आसपास देखनेमें ही नहीं आता। दूर-दूरके यात्री मन्दिरमें दर्शन करते हैं। खयं सेठजी नित्य दो-तीन घंटे पूजा-पाठ करते हैं। कई

विद्वान् ब्राह्मण उनकी ओरसे जप या पाठ करते रहते हैं। नियमित रूपसे सेठजी कथा सुनते हैं। उनका दातव्य औषधालय चलता है और पर्वोंपर प्रायः वे किसी-न-किसी तीर्थकी यात्रा कर आते हैं। तीर्थमें दान-दक्षिणा तथा पूजनमें हजारों खर्च कर आते हैं सेठजी ! ऐसा धर्मात्मा इस युगमें बहुत कम देखनेमें आता है।

भोला जब रोटी बना लेता है, प्रायः पड़ोसीकी गाय हुम्मा-हुम्मा करती आ जाती है उसकी झोंपड़ीमें। एक टुकड़ा रोटी भोला उसे देता है। गैयाने यह नियमित दक्षिणा बाँध ली है। एक कुतियाने कहीं पास ही बच्चे दिये हैं। दो-तीन पिल्लोंके साथ वह भी पूँछ हिलाती आ जाती है। बेचारी हड्डी-हड्डी हो गयी है भूखके मारे और उसपर ये पिल्ले। भोला भोजन करनेके पश्चात् एक टुकड़ा रोटी किसी प्रकार उसके लिये भी बचा रखता है। पासकी सड़कपर वहाँ आमके नीचे जो कोढ़ी बैठता है, रोटी तो सेठजीके क्षेत्रसे उसे कुछ डॉट-डपट सुननेके पश्चात् मिल ही जाती है; किंतु पानीका नल कहीं पासमें है नहीं। भोला उसके घड़ेमें सबेरे और शामको नियमसे एक घड़ा पानी डाल आता है। वह जो पीपलके नीचे नालेके प्रवाहमें पड़कर गोल-मटोल बना पत्थर रक्खा है, वही भोलाके शङ्करजी हैं। स्नानके बाद एक लोटा जल वह उनको चढ़ा देता है, यही उसकी पूजा है। वह तीर्थ करने जाय तो पेटको फीस कहाँसे मिले ? यही क्या कम है कि शिवरात्रिको, वर्षमें एक बार वह चला जाता है गङ्गा-स्नान करने।

ये दो धर्मात्मा हैं। कोठीमें रहते हैं सेठजी और झोंपड़ीमें रहता है भोला। भोलामें साहस नहीं कि कोठीमें सेठजीके पास जाय और उनसे परिचय करे और सेठजीको कहाँ इतना अवकाश है कि अपनी इस विशाल कोठीके बाहर कोनेमें जो फूसकी ढेरी है, उसपर ध्यान दें और सोचें कि उसमें भी कोई दो पैरका

जन्तु रहता है। ये दोनों पड़ोसी हैं, पर हैं सेठजी अपरिचित। आप सम्भवतः मुझे कोसेने कि मैं सेठजी भोलाकी व्यर्थ चर्चा करता हूँ। वह धर्मात्मा है—उसका धर्म यदि उसीके समान अपरिचित है हमारे आपकी दृष्टिमें तो उसका क्या दोष ?

× × ×
[२]

अपने दोषोंका जरा भी न देखना और किसी गुणमें भी दोष निकाल लेना संसारके प्राणियोंका खभाव हो गया है। वे सज्जन कहते हैं—सेठजी दान-दक्षिणाका दम्भ तो बहुत करते हैं; किंतु उनके व्यापारमें धर्मदिकी जो रकम निकलती है, वह रोकड़-बहीमें जमा ही रहती है। यह मन्दिर कैसे काये क्षेत्र कैसे चलते हैं, इनका कहीं कुछ हिसाब नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि ब्लैक (काला बाजारी) की जो नित्यकी आमदनी है, उसका एक अंश इस धर्मकर्ममें इसलिये लगाया जाता है कि वह आमदनी पच सके।

ये दूसरे बाबाजी अपनेको बड़ा विचारक और आलोचक मानते हैं। ये कहते हैं—“सेठजीके मन्दिरको देखकर वही लोग प्रशंसा कर सकते हैं, जिन्होंने सेठजीकी कोठी भीतरसे नहीं देखी। सेठजीने बाबाजी लिये जैसा मकान बनवाया है, मन्दिर उसकी तुलना कुछ भी नहीं है। भगवान्‌के लिये जो वह आभरण हैं, उससे अच्छे तो अपने लड़केके सेठजीने नौकर-नौकरानियोंको उपहारमें दे दिये। मन्दिरमें दो-तीन सामान्य सेवक हैं और इन सेवकोंके वेतन मिलकर भी सेठजीके एक निजी सेवकके वेतन बराबर नहीं। भगवान्‌के भोगकी बात तो छोड़ दो। रोटियाँ सेठजीके यहाँ झाड़ू देनेवाले भी नहीं छुट्टी।

ये नेताजी हैं। ये सेठजीके ही किसी किसी पदपर काम करते हैं। इनकी बात और

संख्या ६]

विलक्षण है। ये मजदूरोंको उपदेश दिया करते हैं कि काम कम-से-कम करना और पैसा ज्यादा-से-ज्यादा लेना ही बुद्धिमानी है। इन सेठोंसे जितना और जैसे भी वसूल किया जाय, सब जायज है। सामने अफसर आ जाय तो काम करना, नहीं तो आराम करना। और कहने-रोकनेपर उसीका दोष निकालकर लड़नेको तैयार हो जाना, उसे पूँजीपति या गरीबोंका शत्रु बताकर चिल्लाने लगना—ये ही तरीके हैं इन लोगोंपर विजय प्राप्त करनेके। ये व्याख्यानोंमें कहते हैं—‘सेठजी मजदूरोंके पक्के शोषक हैं। दयाका नाम भी इनमें नहीं है। तनिक-सी भूलपर नौकरको निकाल देना यहाँ रोज-रोजकी घटना है। कितना कम वेतन दिया जाय और कितना कसके काम लिया जाय, यही सेठजीकी दृष्टिमें रहता है। काम करनेवाला भूखा है, थक गया है, दुखी है आदि बातोंकी ओर उनका खयाल तो ध्यान जानेसे रहा, कोई इनकी चर्चा भी कर दे तो लाल हो उठते हैं।’

ये पण्डितजी भी सेठजीसे संतुष्ट नहीं जान पड़ते। खय चाहे अनुष्ठानके समय ऊँघते ही रहें पर इनका अभियोग है—‘सेठजी लंबे अनुष्ठान भी पहलेसे बहुत थोड़ी दक्षिणा तै करके कराते हैं। पाठशालाओंमें अध्यापकोंको बहुत कम वेतन दिया जाता है। मन्दिरों और क्षेत्रोंमें सदा काट-कसर करते रहते हैं। धर्ममें भी मोल-भाव करते हैं और यदि किसीने बिना तै किये पूजा-पाठ कर दिया, तब तो उसे इतनी कम दक्षिणा मिलती है कि वह कहीं मिट्टी खोदता तो उससे अधिक पाता।’

संसारमें दोष देखनेवालोंकी, असूया-गुणमें भी दोषकी कल्पना करनेवालोंकी कमी नहीं है। कोई सेठजीको कंजूस कहता है, कोई अनुदार बतलाते हैं; कोई निष्ठुर कहता है और कोई अश्रद्धालु। खयं रश्चित होनेवाले सरकारी कर्मचारी उन्हें चोरबाजारी आदिका

दोष देते हैं तो दूसरे दलोंके नेता उन्हें शोषक कहते हैं।

जहाँ दूसरोंको सेठजीके बहुत-से दोष दीखते हैं; वहीं सेठजीको भी दूसरोंसे संतोष नहीं है। सबसे अधिक तो वे इस झोंपड़ीसे असंतुष्ट हैं, जो उनकी विशाल कोठीसे सटी खड़ी है। इस कूड़ेके ढेरने उनकी कोठीकी शोभा ही बिगाड़ रखी है। उन्होंने अनेक बार अपने मुनीम-मैनेजरसे कहा, अनेक बार प्रयत्न कराये झोंपड़ीकी भूमि खरीदनेके लिये। उनके सेवकोंने बताया है कि इस झोंपड़ीमें एक बहुत बुरा आदमी रहता है। बुराई उसमें सबसे बड़ी यही है कि वह किसी दामपर भी अपनी झोंपड़ी बेचता ही नहीं। सेठजीने कभी नहीं देखा झोंपड़ीमें रहनेवाले उस गंदे जीवको। वे उसे देखना चाहते भी नहीं। वह घमंडी है, उजड़ू है, मूर्ख है—और जाने क्या-क्या है सेठजीके मनसे। वे उससे घृणा करते हैं। वह भला आदमी कैसे हो सकता है, जब कि एक औषधालय या पाठशाला बनानेके लिये अपनी सड़ी झोंपड़ी बेच नहीं देता।

भोलाकी बात छोड़ दीजिये। वह तो पूरा भोला है। कुछ मजदूर नेताओंने उसे भड़कानेका प्रयत्न किया; कुछ दूसरे लोगोंने भी कारण-विशेषसे उसके कान भरे, उसे अनेक लोगोंने सेठजीके विरुद्ध बहुत कुछ बताया; किंतु ऐसे सब लोगोंका अनुभव है कि भोला पल्ले सिरका मूर्ख और एकदम कायर है। उसमें साहस ही नहीं सेठके विरुद्ध मुख खोलनेका। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उसे सेठसे अवश्य गुप-चुप अच्छी रकम मिलती है। भोला क्या कहता है, इसे कोई सुनना नहीं चाहता। वह कहता है—‘सेठजी बड़े धर्मात्मा हैं। कमानेको तो सभी उल्टे-सीधे कमाते हैं; परंतु अपनी कमाईमेंसे इस प्रकार और इतना दान-पुण्य भला कौन करता है। ऐसे धर्मात्माके पड़ोसमें मैं रहता हूँ, यही मेरे बड़े भाग्य हैं। सेठजी मेरी झोंपड़ी अच्छे

कामके लिये ही लेना चाहते हैं। इसमें उनका तो कोई स्वार्थ है नहीं। इतने बड़े आदमीका भला बित्ता-भर जमीनसे क्या बनता-बिगड़ता है। लेकिन मैं क्या करूँ? मेरे बाप-दादेकी यही तो झोंपड़ी है, मैं इसे कैसे बेच दूँ।

भोला धर्मात्मा है—कुछ सीधे-सादे गरीब लोग कहते हैं। वह सड़कपर आमके नीचे पड़ा रहनेवाला कोढ़ी तो भोलाकी प्रशंसा करता थकता ही नहीं। सेठजी धर्मात्मा हैं, इसे कैसे कोई अस्वीकार कर देगा। यह बात तो सहस्रों व्यक्ति कहते हैं।

× × × ×

[३]

कभी-कभी बहुत उल्टी बात होती देखी जाती है। विशेषतः ये लँगोटीधारी फक्कड़ लोग ऐसी अटपटी बातें करते हैं कि साधारण व्यक्ति कुछ समझ ही नहीं पाता, उस दिन ऐसे ही एक फक्कड़ आ गये थे कहींसे घूमते हुए। खूब मोटे-ताजे बाबाजी थे। हो तो गये थे बूढ़े, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी थीं और बाल सब-के-सब चाँदी-जैसे हो गये थे; किंतु जब चलते थे, अच्छे-अच्छे साथ चलनेमें दौड़नेको विवश होते थे। पासमें एक हँडिया थी और कमरमें एक लँगोटी। इतना ही बाबाजीका घर-परिवार, माल-असबाब सब था। उन जाड़ोंके दिनोंमें भी वे नंग-धड़ंग मस्त घूमते थे। यहाँ आकर सेठजीकी कोठीके पास वह जो पीपल है, उसके नीचे आसन लगाया उन्होंने। सेठजीको पता लगा होगा, वे एक महात्माको इस प्रकार सदाँ सहते देखकर बहुत बढ़िया कम्बल लेकर आये थे। बाबाजीने कम्बल उठाकर फेंक दिया और बिगड़े—‘मैं पापकी कमाई नहीं खाया करता।’ अब यह अटपटी बात नहीं तो क्या है? बेचारे सेठजी हाथ जोड़े खड़े रह गये। कोई दूसरा होता तो……लेकिन फक्कड़का कोई कर क्या लेगा?

बात यहीं रह जाती तो भी कुछ आश्चर्य न हो। सबको आश्चर्य तो तब हुआ, जब वहाँ भोला ला दौड़ता हुआ आया। वह भी साधु-संतोंका बड़ा है। दो मटमैले-से कई दिनके तोड़े हुए नन्हें-नन्हें अमरुद बाबाजीके पैरोंके पास रखकर वह भूमिमें ही लेट गया। बाबाजीने झटपट अमरुद उठा लिये। इस प्रकार उनका भोग लगाने लगे, जैसे कई दिनों कुछ खाया ही न हो।

‘भगत! बड़े मीठे हैं तेरे अमरुद!’ वे मस्त रहे थे और इस प्रकार भोलासे बातें करने लगे। जैसे वहाँ और कोई हो ही नहीं। ‘तू बड़ा धर्मात्मा है। आज मैं रातको यहीं रहना चाहता हूँ, मेरे थोड़ा-सा पुआल ला दे तू।’

‘महाराज! मेरे पास ताजा पुआल……… भोला बहुत संकुचित हो गया था, उस बेचारेके पास ताजा पुआल कहाँसे आवे। वह कोई किसान तो नहीं। कहींसे कुछ पुआल ले भी आया होगा। झोंपड़ीमें बिछाकर उसीपर सोता होगा।

‘सेठजी! आप कष्ट न करें।’ महात्माजीने सेठजीको रोक दिया; क्योंकि वे एक सेवकको कोठेमें पुआल ले आनेका आदेश दे रहे थे। सेठजीको रोक करके वे भोलासे बोले—‘तू जो पुआल बिछाता है उसमेंसे ही दो मुट्ठी ले आ। देख, सब-का-सब मत लाना।’

‘यह कौन है?’ सेठजीने अपने मुनीमसे, जो पल खड़ा था, पूछा।

‘इसीकी झोंपड़ी है वह!’ जैसे सेठजी आकर भूमिपर गिरे। ‘यह धर्मात्मा है?’ वे मस्तक झुकाकर बहुत देर सोचते रहे।

‘तुम क्या सोचते हो?’ संतने अब कृपा की उनपर जो धर्मका सच्चा जिज्ञासु है, वह भूलें चाहे किन्तु भी करे, अन्धकार कबतक अटकाये रख सकता

संख्या ६]

उसे। संत कह रहे थे—‘वह धर्मात्मा है या नहीं, इस बातको अभी छोड़ दो! तुम धर्मात्मा हो या नहीं—यही बात सोचो।’

‘मुझसे जो वन पड़ता है, करनेका प्रयत्न करता हूँ।’ सेठजीका अन्तर स्वच्छ था और वे वही कह रहे थे, जो उनकी सच्ची धारणा थी।

‘यदि भोला तुम्हारे दस हजार रुपये चुरा ले……।’ सेठजी चौंके और भोलाकी ओर देखने लगे। महात्माजीने कहा—‘डरो मत! तुम्हारे रुपये सड़कपर भी पड़े हों तो वह छुएगा नहीं। मैं तो समझनेकी बात कह रहा हूँ कि यदि वह तुम्हारे दस हजार चुरा ले और उनमेंसे सौ रुपये दान कर दे तो वह दानी हो जायगा या नहीं?’

‘चोरीके धनको दान करनेसे दानी कैसे होगा? वह तो चोर ही रहेगा।’ सेठजीने भोलाकी ओर देखते हुए उत्तर दिया।

‘वह सौ रुपयेका दान क्या कुछ फल नहीं देगा? क्या पकड़े जानेपर सरकार उसे दान करनेके कारण छोड़ेगी नहीं?’ संतने बहुत भोलेपनसे पूछा।

‘दान तो उसने किया ही कहाँ। दान तो मेरे रुपयेका हुआ, सो दानका कुछ पुण्य हो तो जिसका रुपया है, उसको होना चाहिये। सरकार भला क्यों छोड़ने लगी उसे।’

‘अब सोचो—तुम जो धन दान करते हो, वह सब तुम्हारी ईमानदारीकी कमाईका है या झूठ, छल, कपट, धोखा देकर उसे प्राप्त किया गया है?’

‘तो मेरा सब दान-धर्म……!’ सेठजी सहसा नहीं बोल पाये। वे कई क्षण चुप रहे और जब बोले—‘रुकते-रुकते वाक्य पूरा करते अटक गये। उनकी बाँखोंसे टप-टप बूँदें गिरने लगी थीं।’

‘ऐसा नहीं!’ महात्माकी वाणीमें बड़ा स्नेह और आश्वासन था—‘चोरने जो रुपये चुराये हैं, उनपर अनुचित रीतिसे ही सही, पर उसका अधिकार तो हो ही गया है। वह उन रुपयोंको बुरे कर्मोंमें भी लगा सकता है और दान भी कर सकता है। इसलिये जब वह उनमेंसे कुछ दान करता है, तब दावका पुण्य तो उसे होता ही है; किंतु चोरीके पापसे दान करके वह छूट नहीं जाता। चोरीका दण्ड तो उसे भोगना ही पड़ेगा। अवश्य वह दूसरे दान न करनेवाले चोरोंसे श्रेष्ठ है। उसे दानका पुण्यफल भी अवश्य मिलेगा।’

‘यह नन्ही-सी सेवा……।’ सेठजी बहुत देर सिर झुकाये चुपचाप कुछ सोचते रहे। बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर अन्तमें अपने कम्बलको स्वीकार करनेकी पुनः प्रार्थना की उन्होंने।

‘तुम्हारी’ वस्तु होती तो मैं अवश्य ले लेता।’ महात्मा कुछ हँसते हुए-से बोले—‘तुम्हारा हृदय पवित्र है भैया! भगवान् बड़े दयालु हैं। वे शरणागतके अपराध देखना ही नहीं जानते। वे क्षमा करेंगे और शक्ति देंगे। मैं यहाँ फिर आऊँगा और उस समय तुम मुझे अपनी वस्तु दे सकोगे।’

साधुओंकी इन उल्टी-सीधी बातोंको समझना कठिन ही है। सेठजीने क्या समझा, कुछ पता नहीं; किंतु उस कम्बलको लेकर वे महात्माके चरणोंमें प्रणाम करके कोठीमें लौट गये।

× × × ×

[४]

व्यापारी कहते हैं—‘यह सेठ पक्का धूर्त है। इसने हमलोगोंका रुपया हड़प जानेके लिये दिवाला निकाला है। बहुत बड़ी रकम दबा ली है इसने।’

भिखारी कहते हैं—‘यह महान् कृपण है। इसने चलते हुए क्षेत्र बंद करा दिये। भिखारियोंकी रोटी बंद करके धन बटोरनेमें लगा है।’

पंडे-पुजारी कहते हैं—‘अब यह नास्तिक हो गया है। पर्वोंपर भी न तो कोई भेंट चढ़ाता और न कथा-वार्ता ही कराता है।’

सब लोग निन्दा करते हैं, सब असंतुष्ट हैं। सेठजीका दिवाला निकल गया है। वे अब एक छोटे-से भाड़ेके मकानमें पत्नीके साथ रहते हैं। दलाली करके किसी प्रकार पेट भर लेते हैं। न मोटरें हैं, न कोठी है। न सेवक हैं, न स्तुति करनेवाले हैं। मन्दिरोंमें जो धन पहले लगा दिया था, उसीसे वहाँ पूजाकी व्यवस्था चलती है। सेठजी अब यदा-कदा ही अपने मन्दिरोंमें जाते हैं। वे तो आजकल एक कम्बलकी पूजा करते हैं।

यह सब तो हुआ; पर सेठजी हैं बड़े ही प्रसन्न। इतना कष्ट-क्लेश, इतना अपमान-तिरस्कार, इतना उलट-फेर—जैसे कुछ हुआ ही नहीं। वे कहते हैं—‘अब मुझे पता लगा कि सुख क्या होता है और कहाँ

मिलता है ? अबतक तो मैं अशान्त और दुखी ही था। आज फिर वे महात्माजी आये हैं। उसी पीपलकी नीचे आसन लगाया है उन्होंने। आज भोलो सेठजी एक साथ आये। कहना यह चाहिये कि सेठजी भोलोको देखकर आये। एक बहुत घटिया कम्बल सेठजी महात्माजीके चरणोंके पास धर दिया और भूमिपर मल रक्खा।

‘अब इस वर्ष जाड़ेभर मैं कम्बल ओढ़ूँगा।’ महात्माजीने चटपट कम्बल उठाकर ओढ़ लिया।

‘ये कृपा न करते तो मुझ-जैसेका उद्धार न होता। इनके पड़ोसके कारण ही मैं गिरकर सम्बल सका। सेठजी भोलोके चरण छूने जा रहे थे।

‘आप यह क्या कर रहे हैं ? महात्मा हैं आप तो।’ हक्का-बक्का-सा भोलो पीछे हट गया।

वे संत दोनोंपर अनुग्रहकी वर्षा करते हुए मन्द मुसकरा रहे थे।

पश्चिमीय विचारधारामें ईश्वरका आकर्षण

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा, एम० एल्० ए०)

काफी ठोकरें खानेके बाद संसारको, विशेषकर अति सम्य तथा धनी राज्योंको फिरसे ईश्वर याद आ रहे हैं। केवल धनसे ही सुख तथा शान्ति नहीं मिलती। चित्तकी निर्मलता विचारोंकी निर्मलतापर निर्भर करती है। बिना विवेकके चित्त निर्मल नहीं रह सकता। विवेकका जनक है धर्म और ईश्वरका ज्ञान ही धर्म है।

विगत महायुद्धकी यातनाओंके बाद धनमदसे चूर पश्चिमीय समाज पुनः ईश्वरकी ओर मुड़ रहा है। आध्यात्मिकताका नशा-सा आ रहा है। आध्यात्मिकताकी प्रतिक्रिया भी होती है। संयुक्त राज्य अमेरिकामें कई लोग ‘पैगम्बर’ तथा ‘ईश्वरके पुत्र’ बनकर बैठ गये हैं और करोड़ों रुपये उनपर चढ़ाये जा रहे हैं। इस

लेखमें हमको उस प्रकारके लोगोंका वर्णन नहीं करना है। हम यहाँ घोर बुद्धिवादियोंकी विचारधारापरिवर्तन दिखलाना चाहते हैं।

कनाडामें बैकूवर (Vancouver) नामक स्थानमें अहिंसा-प्रचारके लिये एक संस्थाका निर्माण हुआ है। इस संस्थाने अपने चार मौलिक सिद्धान्त बनाये हैं जिनमें पहला सिद्धान्त है अहिंसाको परम धर्म मानना तथा दूसरा सिद्धान्त है विश्वशान्तिके लिये प्रयत्न करना। इस संस्थाके चार मौलिक सिद्धान्त मन्तव्य इस प्रकार हैं—

१. हमारे कार्यका प्रदर्शक-आधार होगा अहिंसा।
२. हम चारों ओर पूर्ण शान्ति तथा सुलह चाहते हैं।

संख्या ६]

३. हम चाहते हैं कि यह स्वीकार किया जाय कि वर्तमान आर्थिक प्रणाली निकम्मी साबित हो गयी है।

४. हम चाहते हैं कि ऐसी सरकार बने जो वर्तमान विधानसे ऊपर उठकर समाजकी सेवा तथा जनताकी स्वाधीनताकी रक्षाका कार्य करे।

संस्थाका कथन है कि आज संसारमें संकट इस कारण है कि हम मुनाफाखोरोंका मुनाफा गलत ढंगसे बाँटते हैं या बँटने देते हैं। जिनको पीसकर मुनाफा होता है, उन्हें कुछ नहीं मिलता; वर्तमान समयमें द्रव्यकी मर्यादा गलत है—भ्रमपूर्ण है। जबतक धनका महत्व कम न होगा, विश्वसंकट बना रहेगा। विज्ञानको भी अपने योग्य स्थान ग्रहण करना होगा। वर्तमान विज्ञान हमें जानकारी हासिल करा सकता है। पर विवेककी प्राप्ति केवल दार्शनिकतासे ही होगी। हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि हम सबके ऊपर भावान् हैं।

आध्यात्मिक चिकित्सा

लोगोंकी समझमें यह बात आ गयी है कि सब बुराइयोंकी जड़ अपने भीतरकी आत्माको न पहचानना है। उसीका ज्ञान करा देनेसे अन्य सब विकार दूर हो जाते हैं। इसीके लिये आध्यात्मिक चिकित्साकी आवश्यकता होती है। ग्रेटब्रिटेनमें आध्यात्मिक चिकित्साके लिये कई केन्द्र खुल गये हैं। एक केन्द्रका नाम है ऐवलन हीलिंग सेन्टर (Healing centre) पैडिंग्टन, लन्दनमें इसका कार्यालय है। श्रीपीटर लॉइट फुट यहाँपर चिकित्साका काम करते हैं। दूसरा केन्द्र लॉरेस हीलिंग सेन्टर विम्बलदन, लन्दनमें है। लन्दनस्थित श्रीरामकृष्ण-वेदान्त-केन्द्र भी यही काम कर रहा है। पश्चिमी आस्ट्रेलियामें पर्यनामक स्थानमें कालविन अनविन यही कार्य कर रहे हैं। इन

आध्यात्मिक केन्द्रोंका उद्देश्य है सत्यको कार्यरूपमें परिणत करना। सत्य क्या है? इसका विश्लेषण अभी हालमें श्रीडब्ल्यू० बी० कारलॉकने किया है। आप लिखते हैं कि 'यदि जीवनको सार्थक करना चाहते हो तो ईश्वरके अनुशासनका पालन करो। संसारसे सैनिक शक्ति समाप्त कर दो। विनाशक हथियारोंको नष्ट कर दो, लोगोंको कामभर जमीन दो, काम दो, पेट भरनेके लिये पशुवध बंद करो। महत्त्वाकाङ्क्षी तथा पदलोलुपोंके हाथमें शासन नहीं रहना चाहिये। केवल सेवाकी भावनासे काम करनेवालोंके हाथमें शासन-अधिकार होना चाहिये।'।

शिकागोके लुई लालवाकेक लिखते हैं कि 'यह नर-तन केवल उस परम पिताकी प्रेरणाका परिणाम है। उसकी इच्छाओंकी अभिव्यक्तिके लिये है। सभी धर्म स्वीकार करते हैं कि परमात्मा सर्वव्यापक है। परम-पिता अपना सब काम हमारे-तुम्हारे-जैसे निमित्तोंके द्वारा करता है।' इन लोगोंका यह भी कहना है कि ईश्वर नहीं चाहता कि पशुवध हो तथा लोग पेटके लिये पशुहत्या किया करें। इसीलिये पशुवध-निरोधक यानी निरामिष भोजियोंकी संस्थाएँ कायम होती जा रही हैं। ग्रेटब्रिटेनमें सरे नामक नगरमें निरामिषोंकी नवस्थापित संस्थाका नाम 'वेगन' सोसायटी है। लन्दनमें बर्किंगहम स्ट्रीटपर पशुरक्षा-समितिका प्रधान कार्यालय है। इसकी शाखाएँ देशभरमें खुल रही हैं। गत फरवरीमें डेवन नगरमें दक्षिणी-पश्चिमी शाखाका जन्म हुआ था। एक अन्ताराष्ट्रिय निरामिष-भोजी-संघ है, जिसके सभापति प्रो० डब्ल्यू० ए० शिब्लो हैं। इसकी अमेरिकन शाखाके अध्यक्ष हैं डा० जेस समर्सर गेहमान। इसी संस्थाकी ओरसे संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडामें प्रचार-कार्य करनेके लिये हैनवर्थ वाकर मईसे जुलाई महीनेतक इस वर्ष पर्यटन करेंगे तथा

संख्या ६]

थूकनेका प्रयास कर रहे हैं अन्यथा ईश्वरका पुनर्जन्म हमारे विचारोंमें हो चुका है । कैलिफोर्नियाके डब्ल्यू० बी० कार्लक लिखते हैं—

‘जनसमूहको अधिकार-लोलुप, महत्त्वाकाङ्क्षी, धूर्त तथा वेईमान लोगोंने शासन अपने हाथमें करके मूर्ख बना रक्खा है—धोखा दे रक्खा है । ऐसी सरकारी वेईमानीको कायम रखनेके लिये मजबूत सेना रक्खी जाती है । यह सेना अपनी हिंसाद्वारा मानवकी स्वाधीनताका अपहरण कर लेती है । मानवको उस परम दयालु शक्तिसे विमुख करा देती है, जिसने हमें पैदा किया, जिसने मानवको इसलिये बनाया कि वह जीवनका पूरा सुख भोग सके तथा अपनी शक्तियोंका सदुपयोग कर सके ।’

पर आजका शासनवर्ग सेवाके लिये नहीं, पद तथा अधिकारके लिये शासक बना है । पार्टियोंकी बढ़ पद-लोलुपोंकी बढ़ है, जीवनका आध्यात्मिक सुख छीन लेनेसे इसका प्रयास अधिक नहीं चल सकता । एक-न-एक दिन धर्म, सदाचार, कर्तव्य, परमात्माकी याद हमको स्वार्थी शासक-समूहसे छुटकारा पानेके लिये विवश करेगी । जीवनका सबसे बड़ा सुख है परमात्माका चिन्तन ।

भारतका सदासे यही उपदेश रहा है और है । पश्चिम अपने धनकी चकाचौंधमें इसे भूल गया था, अब वह फिर रास्तेपर आ रहा है । कम्यूनिस्ट ज्यादा दिनतक नहीं टिक सकेंगे । अन्तमें परमात्माका सच्चा पुजारी ही विजयी होगा ।

कुछ नहीं

(लेखक—श्रीआनन्दीप्रसादजी मिश्र ‘निर्द्वन्द्व’)

कमरेमें झाड़ और फानूस थे, आराम-कुर्सियाँ थीं, सजावटका सब सामान था, भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ थीं, जो ठीक ढंगसे सजी हुई थीं । आराम देनेवाले पलंग थे, जिनपर लेटते ही नींद आने लगती थी ।

बाहर धूप थी, तेज चमकनेवाले सूर्यकी सीधी परंतु तेज किरणोंकी बहुत तेज रोशनी थी, जिसमें सुई-तक पड़ी हुई दूरसे दिखायी देती थी । इस तेज रोशनीमें सभी कार्य सुसम्पन्न हो रहे थे ।

इस रोशनीमें एक मनुष्य दौड़ता हुआ कार्य कर रहा था । परंतु कार्य ऐसे थे कि समाप्त होनेमें न आते थे । केलेके पत्तेकी भाँति नये-से-नया काम आगे आ जाता था, जो उसको अवश्य करना ही पड़ता था । एक कामको पूर्ण करता हुआ सोचता कि अब इनकी समाप्ति होगी, परंतु एक पत्तेके उतरते ही दूसरा सामने मौजूद था ।

वह सोचता था कि ‘काम करते-करते—कड़ा परिश्रम करते-करते, थक गया हूँ—कोई आरामकी—चैनकी जगह मिले, तो तनिक नींद ले लूँ, जिससे कुछ आराम मिले और ग्लान मुख प्रफुल्लित हो जाय, थकावट दूर हो जाय ।’

काम करनेवालेने कहा और चारों ओर देखा, परंतु इस प्रकाशमें भी उसे कोई चैनका स्थान न मिल सका ।

पास बैठे हुए वृद्धने कहा—बेटा ! कमरेके भीतर चले जाओ, वहाँ आरामकी सब वस्तुएँ हैं, सब आनन्दसे लेटो, आराम करो, सो लो ।

काम करनेवाला काम करता-करता झट उठा और दौड़ता हुआ कमरेके भीतर पहुँचा । एक सेकेंड कमरेके भीतर ठहरा, वहाँ उसे घुष अँधेरेके सिवा

कुछ भी दिखायी न दिया। वह तुरंत दौड़ता हुआ बाहर आया और कहने लगा—

‘बाबा यह क्या ? हँसी मुझसे ही करनी थी ? वहाँ तो अँधेरेके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।’

वृद्ध बोला—‘बेटा ! वहाँ तो सब कुछ है।’

युवक—‘नहीं बाबा ! वहाँ अँधेरेके सिवा और कोई वस्तु दिखायी नहीं दी।’

वृद्ध—‘कितनी देर ठहरे ?’

युवक—‘खासी देर ठहरा हूँ, देखते ही बाहर चला आया।’

वृद्ध—‘अच्छा, अब जाओ, वहाँ दस-पंद्रह मिनट ठहरो और फिर बतलाओ।’

काम करनेवाला फिर कमरेके भीतर पहुँचा। उसकी आँखोंमें चक्काचौंध छापी हुई थी, कुछ दिखायी न दिया, परंतु दिल कड़ा करके थोड़ी देर ठहरा रहा। आँखोंको मला, उन्हें बंद किया और फिर मलते हुए खोला। अब कमरेके भीतरकी सब वस्तुएँ दिखायी देने लगीं। झाड़ भी, फानूस भी, आराम-कुर्सियाँ भी और पलंग भी। इन चीजोंको देखकर वह आरामसे पलंगपर लेट गया। सोकर उठा, तो उसने मुझे यह कहानी सुनायी। मैंने उससे कहा—

‘तुम तो अपने जीवनमें प्रथम बार ही मूर्ख बने हो, परंतु क्या जानते नहीं कि हमलोग प्रतिदिन मूर्ख बनते हैं।’

उसने पूछा—कैसे ?

मैंने कहा—‘लोग दुनियाके धंधोंमें पड़े हुए कई बार ईश्वर-भक्ति करना चाहते हैं, उन्हें पता जाता है कि सन्ध्या करो, पूजन करो। वे दुनिया कार्य करते-करते झट-पट सन्ध्या-पूजन करने बैठ जाते हैं। परंतु उठकर कहते हैं कि ‘वहाँ कुछ दिखायी न दिया, मन ठहरा ही नहीं, अँधेरा-ही-अँधेरा है।’ अजी घुप्प अँधेरा है।’ ऐसी शिकायत करनेवाले सचमुच तुम्हारी तरहके ही लोग हैं, जो संसारके काम-धंधों और चमक-दमक, दिखावटी बातोंसे भरो होते हैं। मनको सन्ध्या-पूजनके कमरेमें ले जाते और एक मिनट ठहरकर फिर लौट आते हैं। आवश्यक है कि वे भी दिल कड़ा करके ईश्वर-भक्तिमें लगे रहें और फिर देखें कि उनको कुछ दिखायी पड़ता है या नहीं ?

उसने कहा—ठीक है।

x

x

x

साढ़े पाँचपर अलार्म लगा हुआ था, घड़ी की उठी। आँख खुल गयी। ऐं ! आज यह क्या दिखा देखा।

‘स्वाब था जो कुछ कि देखा,
जो सुना, अफसाना था।’

ऐसी रहनी रहिये

सबसों न्यारे सबके प्यारे ऐसी रहनी रहिये।

स्तुति अरु निंदा छोड़ पराई, जुगल जीभ जस गहिये ॥

दुख-सुख हानि-लाभ सम बर्तन आनि परै सो सहिये।

भगवत चरन सरन गहि गोविंद मन बांछित सुख लहिये ॥

—भगवतरसिकर्जी

मानसकी खप्पन-कथाएँ

(लेखक—श्रीकुन्दनलालजी नन्हौरया)

श्रीरामचरितमानसमें तीन स्थलोंपर खप्पन-कथाओंका वर्णन आया है। उनपर विचार करनेके पूर्व यह लिखना आवश्यक प्रतीत होता है कि जिस प्रकार गर्द जमे हुए धुंधले दर्पणमें किसी वस्तुका प्रतिविम्ब स्पष्ट दिखायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार दुर्वासनायुक्त विकारी मनपर खप्पन भी स्पष्टरूपमें अङ्कित नहीं होते। सच्चे, सरल और पवित्र भगवद्भक्तका मन शुद्ध और निर्मल होता है, इसलिये उसके मनपर सच्ची घटनाएँ प्रति-विम्बित होती हैं।

पहली कथा भरतजीके खप्पनकी है। भगवान् श्रीरामजीके साथ श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी अयोध्या छोड़कर वनवासको चले जाते हैं। उनके वियोगमें परिजन और पुरजन दीन, मलीन और व्याकुल हैं। दशरथ महाराज इस वियोगकी असहनीय पीड़ासे अपने प्राण त्याग करते हैं और तब समस्त अयोध्यापुरी भयानकतासे भरपूर हो जाती है। शत-शत कोसकी दूरीपर अपने ननिहालमें भरतजीके निर्मल मनपर अयोध्यामें हो रहे इस हाहाकारकी खप्पिल छाया पड़े बिना नहीं रहती, जिसका वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजी इस प्रकार करते हैं—

अनरधु अवध अरंभेउ जब तैं। कुसगुन होहिं भरत कहूँ तब तैं ॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना ॥
बिप्रजेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना ॥
मार्गहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई ॥

एहि बिधि सोचत भरत मन धावन पहुँचे आइ।

गुर अनुसासन श्रवन सुनि चले गनेसु मनाइ ॥

दूसरी कथा श्रीसीताजीके उस समयके खप्पनकी है जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंका दर्शन करनेके निमित्त समाजसहित भरतजी अयोध्यासे

पैदल चलकर चित्रकूटके पास पहुँचते हैं और तब श्रीसीताजी-सदृश आदर्श सती-साध्वीके शुद्ध सरल मनपर समस्त सत्य बातें खप्पनस्वरूप होकर प्रतिविम्बित होती हैं। अपने प्राणनाथ भगवान् श्रीरामजीको वे अपना खप्पन ज्यों-का-त्यों सुना देती हैं; उनसे छिपाव कैसा? यथा—

उहाँ रासु रजनी अवसेषा। जागे सीयँ सपन अस देखा ॥
सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तन ताए ॥
सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखीं सासु आन अनुहारी ॥
सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भए सोचबस सोच बिमोचन ॥
लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई ॥
अस कहि बंधु समेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने ॥

तीसरी कथामें त्रिजटा राक्षसीके खप्पनका वर्णन आता है। प्रसङ्ग ऐसा है—

श्रीसीताजीकी खोजमें हनुमान्जी लङ्का जाते हैं और विभीषणकी बतायी युक्तिके अनुसार अशोक-वाटिका-में पहुँचकर—

निज पद नयन दिउँ मन राम पद कमल लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन ॥

तब उसी अशोक वृक्षके पत्तोंमें छिपकर बैठ जाते हैं, जिसके नीचे श्रीसीता माता बैठी हैं। उसी समय रावण भी आता है और ऐड़ी-टेढ़ी बातें कहता है, जिनका मुँहतोड़ उत्तर श्रीसीताजीसे पाकर वह क्रोधोन्मत्त हो उठता है। यथा—

सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनयाँ कहि नीति बुझावा ॥
कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई। सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई ॥
मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारबि काढ़ि कृपाना ॥

भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनि बृंद।

सीतहि त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद ॥

और तब त्रिजटा अपना स्वप्न इस प्रकार सुनाती है—

त्रिजटा नाम राच्छसी एका । रामचरन रति निपुनबिवेका ॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना । सीतहि सेइ करहु हित अपना ॥
सपनें बानर लंका जारी । जातुधान सेना सब मारी ॥
खर आरुढ़ नगन दससीसा । मुंडित सिर खंडित भुजबीसा ॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई । लंका मनहुं बिभीषन पाई ॥
नगर फिरि रघुवीर दोहाई । तब प्रभु सीता बोलि पठाई ॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी । होइहि सत्य गएँ दिन चारी ॥
तासु बचन सुनि ते सब डरीं । जनकसुता के चरनन्हि परीं ॥

जिस प्रकार लङ्कामें विभीषण, प्रहस्त, माल्यवंत आदि राक्षस भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंमें प्रेम करनेवाले मिलते हैं, उसी प्रकार वहाँ त्रिजटा राक्षसीका 'रामचरन रति' होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं ।

पहले भरतजी और सीताजीके स्वप्नोंपर विचार करना है । भरतजीके स्वप्न भयानक हैं, इसलिये जो कोटि भौतिकी कल्पना वे करते हैं, सो स्वाभाविक ही है और सीताजीका स्वप्न अति स्पष्ट है; परंतु 'नीक' नहीं; साथ-साथ कठिन और अनचाहा—सुननेमें अप्रिय भी है । सीताजीके स्वप्नमें भरतजीकी ओरसे चिन्तित होनेकी कोई बात भी नहीं आयी है । हाँ, आगे चलकर—

एक आइ अस कहा बहोरी । सेन संग चतुरंग न थोरी ॥

और इसका तुरंत ही—

समाधान तब भा यह जाने । भरतु कहे महुं साधु सयाने ॥

सीताजीके स्वप्नमें तो 'देखीं सासु आन अनुहारी' सुनकर सोच-विमोचन प्रभु सोच-वश होते हैं; क्योंकि इसमें माताओंके अमङ्गलके अन्तर्गत पिताके अमङ्गलकी आशङ्का उठती है । अयोध्या छोड़ते समयसे श्रीराम-जीको सब माताओंके और पिताके सुखका ध्यान सदैव बना रहा है । यथा—

गुरु वसिष्ठजीके द्वारपर वन-गमनके समय—

बारहिं बार जोरि जुग पानी । कहत रासु सब सन मृदु बानी ॥

सोइ सब भौंति मोर हितकारी । जेहि तेहि तेहि भुजक सुखारी ॥

मातु सकल मोरे बिरहँ जेहि न होहि दुख दीन ।
सोइ उपाउ तुम्ह करेहु सब पुरजन परम प्रवीन ॥

फिर गङ्गातटपर सुमन्त्रजीसे कहते हैं—

पितु पद गहि कहि कोटि नति बिनय करब कर जोरि ।
चिंता कवनिहु बात कै तात करिअ जनि मोरि ॥
तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरें । बिनती करउँ तात काजें ॥
सब बिधि सोइ करतव्य तुम्हारें । दुखन पावपितु सोचइ कहें ॥

अयोध्या लौटनेपर सुमन्त्रजीने इस सँदेशको वेदों, मार्मिक भावमें दशरथजीको सुनाया है । अस्तु, माता-पिताके अमङ्गलसूचक स्वप्नको सुनकर श्रीरामजीको सोचवश होना स्वाभाविक ही है ।

पृथ्वीपर सम्पूर्ण धर्मोंकी धुरीको धारण करनेवाले भरतजी और धर्म-मर्यादाकी रक्षा करनेवाले श्रीरामजी इन स्वप्नोंके परिहारके लिये देवाधिदेव श्रीशंकरजीकी पूजा करते हैं । अन्तर केवल इतना है कि ननिहाके कैकयनरेशके यहाँ समस्त सामग्री और सुविधाएँ प्राप्त होनेके कारण भरतजी 'विप्र जेवाँइ देहि दिन दान' अर्थात् दिन-प्रतिदिन ब्राह्मणोंको भोजन कराते तथा दान देते हैं और 'सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना' अर्थात् प्रकारसे शिवजीका अभिषेक करते हैं । परंतु सीताजी स्वप्न देखती हैं, चित्रकूट पर्वतपर उस रात्रिमें उनके आश्रमसे बहुत ही थोड़ी दूरीपर समाजसहित भरतजी डेरा डाले पड़े हैं । अतएव श्रीरामजी—

अस कहि बंधु समेत नहाने । पूजि पुरारि साधु सनमाने ॥

प्रातःस्नानके पश्चात् ही 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो दे भक्त्या प्रयच्छति' के अनुसार श्रीशंकरजीकी पूजा और साधुओंका सम्मान करते हैं । केवल इतना ही कह पाते हैं कि—

सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत भय ।
नभ धूरि खग मृग भूरि भागे बिकल प्रभु आश्रम गय ॥

तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित रहे ।
जब समाचार किजत कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे ॥

संख्या ६]

वस, भरत-आगमनके सब समाचार कोल-किरात आकर कहते हैं। आदि, आदि।

इन दोनों स्वप्न-कथाओंसे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि जब कभी भयावने अथवा माता-पिता, गुरु, भाई, बन्धुओंसे सम्बन्धित बुरे स्वप्न दिखायी पड़ें, तब साधारणतया सबको और विशेषकर धर्मानुरागी सज्जनोंको यथाशक्ति तथा समयानुसार शिव-अभिषेक, शंकर-पूजन, ब्राह्मण-भोजन, दान, भगवत्कथाओंका गान-श्रवण आदि उत्तम धार्मिक कार्योंको करके सबके कल्याणके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। जो हो गया सो अमिट है; परंतु लेखकका दृढ़ विश्वास है कि पूर्ण श्रद्धा और सरल भाव तथा भक्तिसे ये परम पवित्र धार्मिक कार्य किये जानेपर आनेवाले अमङ्गलका यदि पूर्णरूपसे परिहार न भी होगा तो कुछ अंशोंमें अवश्य ही कम हो जायगा, इसमें लेशमात्र संशय नहीं है। ऋषिवर नारदजीका वचन है कि—

इच्छित फल बिनु सिव अवराधेँ। लहिअ न कोटि जोग जप साधेँ॥

वैसे श्रीशंकरजीकी नित्य पूजा करना मङ्गलदायक है।

त्रिजटाका स्वप्न—भगवान् श्रीरामचरणानुरागी होनेके नाते त्रिजटा अपने स्वप्नको मङ्गलमय मानती है। श्रीसीताजीकी सेवा करके वह अपना भला तो करती ही है, साथ ही अन्य राक्षसियोंके हितकी बात भी कहती है, जिसे वे सब—भले ही डरसे हों, पर—मानती हैं और सीताजीके चरणोंमें गिर पड़ती हैं। जगज्जननी माता जानकीजीकी ऐसे समयमें सेवा करना एक सर्वोत्तम पूजा करना ही है, इसलिये अन्य प्रकारके पूजा-पाठका यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता।

त्रिजटाके स्वप्नमें एक बात विशेष उल्लेखनीय है। श्रीसीताजीकी खोज करनेके लिये चलते समय हनुमान्-जीसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी इतना ही कहते हैं—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥

और अपने निज नाथकी आज्ञाका अक्षरशः पालन

करनेका परिचय कराते हुए माता सीतासे हनुमान्जी कहते भी हैं—

अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई ॥

तब—

उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मझारी ॥

इत्यादि उत्पात लंकामें हनुमान्जीने क्यों मचाये? ऐसी जो शंका उठायी जाती है, उसका सहजमें ही इस प्रकार समाधान हो जाता है—

त्रिजटा अपना स्वप्न सुना रही है और अशोक-वृक्षके पत्तोंकी आड़में छिपे हनुमान्जी सुन रहे हैं। सबसे पहले वह कहती है—

सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना॥

थोड़ा ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वप्नका व्यौरा सुनानेके पूर्व वह इसपर जोर देती है कि सीताजीकी सेवा करके अपना हित करो। वस, इतना सुनते ही हनुमान्जीको यह समझनेमें देर नहीं लगती कि यह त्रिजटा राक्षसी मनसा, वाचा, कर्मणा श्रीरामचरणानुरागिणी है और इसका मन स्वच्छ, पवित्र और निर्मल है। अतएव इसका स्वप्न भी सत्य होना चाहिये। इसके पश्चात् वह कहती है—

‘सपनैं बानर लंका जारी’ आदि, आदि।

यह सब प्रभुकी प्रेरणासे इसके मनपर प्रतिबिम्बित हुआ है और तब हनुमान्जी ठीक ही निर्णय कर लेते हैं कि त्रिजटाके स्वप्नद्वारा प्रभुजी लंका जलानेकी आज्ञा उन्हें दे रहे हैं।

त्रिजटाके स्वप्नान्तर्गत लंका जलानेकी प्रभु-आज्ञाके साथ एक और कारण उपस्थित हो जाता है। जगज्जननी माता सीताकी विरह-व्यथा देख-सुनकर हनुमान्जी व्याकुल हो जाते हैं। यथा—

निज पद नयन दिँएँ मन राम पद कमल लीन।

परम दुखी भा पवन सुत देखि जानकी दीन ॥

x

x

x

देखि परम बिरहाकुल सीता । सो छन कपिहि कल्प सम बीता ॥

और—

देखि परम बिरहाकुल सीता । बोला कपि मृदु बचन बिनीता ॥

श्रीसीताजीके हृदय-विदारक विलापको सुनकर हनुमानजीको सबसे बड़ी चिन्ता इस बातकी होती है कि उन्हें धीरज किस प्रकार बँधायें । इसी कारण वे बार-बार कहते हैं—

रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर ।

अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर ॥

× × ×

कह कपि हृदयँ धीर धरु माता । सुमिरु राम सेवक सुखदाता ॥

× × ×

निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु ।

जननी हृदयँ धीर धरु जरे निसाचर जानु ॥

× × ×

कछुक दिवस जननी धरु धीरा । कपिन्ह सहित अइहहि रघुवीरा ॥

हनुमानजी अच्छी तरहसे जानते हैं कि वैसे तो भगवान् श्रीरामजी अपनी सेनासहित पलक मारते ही समुद्रके इस पार लंकामें आ सकते हैं; परंतु वे हैं मर्यादापुरुषोत्तम, इसलिये लौकिक मर्यादाका पालन अवश्य करेंगे और तब सम्भवतः कुछ विलम्ब हो जाय । अतएव माता सीताजीको धैर्य देनेके निमित्त त्रिजटाके स्वप्नके पहले अंशको तत्काल सत्य कर दिखाना वे अपना कर्तव्य मान लेते हैं और लंका जलानेकी युक्ति भी तुरंत निकाल लेते हैं—

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा । लागि देखि सुंदर फल रूखा ॥

और फिर लंका जलाकर चलते समय भी सीताजीको धीरज ही देते हैं । यथा—

जनक सुतहि समुझाइ करि बहु बिधि धीरजु दीन्ह ।

चरन कमल सिरु नाइ कपि गवनु राम पहि कीन्ह ॥

भरतजी और सीताजीके स्वप्नोंमें भूतकालकी घटनाएँ दृष्टिगत होती हैं और त्रिजटाका स्वप्न भविष्यका

द्योतक है । भारतवर्षकी इस पुण्य-भूमिमें ऐसे महात्मा होते आये हैं, जिन्होंने भूतकालकी गुप्त-सेना घटनाओंका रहस्योद्घाटन किया है और भविष्यके किंसाक्षात् देखा है । उनमेंसे एक हमारे गोस्वामी तुलसीदासजी भी हैं, जिन्होंने श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्ड इस कलियुगके धर्मका कुछ वर्णन किया है । वह आजसे लगभग पौने चार सौ वर्ष पूर्व, जब श्रीरामचरितमानस लिखा गया था, तब कलियुग ही था, तब जिन्होंने गत पचास-साठ वर्षके पहलेका जमाना देखा है, वे निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि उस समय कलियुग धर्म उतना उग्र नहीं था, जितना आज दिखनेमें आ रहा है । वर्तमान लक्षणोंसे इसके प्रचुर रूप धारण करनेकी आशंका की जाती है । गोस्वामी तुलसीदासजीने पाप और अवगुणोंके घर इस कलियुग गुण भी बताया है । यथा—

सुनु व्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार ।

गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार ॥

और उससे उद्धार पानेके लिये सारांशमें जो भी बताया है—

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अह जोग ।

जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहि लोग ॥

कलिजुग सम जुग आन नहि जौं नर कर बिस्वास ।

गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहि प्रयास ॥

× × ×

एहि कलिकाल न साधन दूजा । जोग जग्य जप तप ब्रत धूजा ।
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि । संतत सुनिअ राम गुन प्रयास ॥

अतएव दृढ़ निष्ठा और अडिग विश्वासके साथ ही कलिकालमें भगवान् श्रीरामजीके गुणोंका निरन्तर गान करते रहनेसे मनुष्यमात्र निःसन्देह स्वप्नके दुष्परिणामों से मुक्त होकर अपना कल्याण करेगा और दूसरोंका कल्याण करनेमें सहायक भी होगा ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

महोदय ! आपका पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । सर्वत्र और सब वस्तुओंमें भगवान् श्रीरामका स्मरण होना तो बड़े ही सौभाग्यकी बात है । इसमें पागलपनकी कोई बात नहीं है । ऐसी परिस्थितिमें भगवान्की परम दया समझकर साधकको अपने मनमें कृतज्ञताका भाव भरना चाहिये और भगवान्के प्रेममें निमग्न हो जाना चाहिये ।

(२) भगवान्से किसी प्रकारकी भी सांसारिक वस्तुका माँगना सकाम ही है । वह चाहे किसीके लिये भी क्यों न हो; क्योंकि भगवान् अन्तर्यामी हैं । वे जो कुछ करते हैं, उसीमें साधकका परम हित भरा हुआ है । यह पूर्ण विश्वास रखनेवाला साधक किसी प्रकारकी माँग भगवान्के सामने कैसे उपस्थित कर सकता है । भगवान्पर निर्भर रहनेवाले भक्तका सब प्रकारका ऋण समाप्त हो जाता है । उसके पितर तो कृतार्थ हो जाते हैं, फिर उनको वंशपरम्पराकी क्या जरूरत है ।

रही स्त्रीके आग्रहकी बात सो वह यदि मूर्खता या मोहवश आग्रह करती हो तो उसका कोई महत्त्व नहीं है । अतः भगवान्के गुण-प्रभावको जाननेवाले निष्कामी भक्तके द्वारा माँगना नहीं बनता; अर्थार्थी भक्त यदि माँगे तो कोई दोषकी बात नहीं है । दूसरोंसे माँगनेकी अपेक्षा भगवान्से विश्वासपूर्वक माँगना अच्छा है ।

(२)

महोदय ! प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका काड मिला, समाचार मालूम हुए । 'सोऽहम्' मन्त्रके विषयमें पूछा सो यह मन्त्र वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माकी उपासनाके लिये अधिक उपयोगी है । इसका भाव यह है कि 'मैं वही हूँ' अर्थात् परब्रह्म परमात्मामें और जीवात्मामें जो भेद प्रतीत होता है, यह मायाकृत है, वास्तवमें नहीं ।

आपकी इच्छा यदि सगुण, साकार परमेश्वरका दर्शन करनेकी हो, तब तो जिस रूपका आप दर्शन करना चाहते हों, उसीके नामका जप करना आपके लिये अधिक लाभप्रद होगा ।

आपने जो श्लोक लिखा, उसका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—'जो चराचरमें व्याप्त है तथा चलना आदि क्रियासे रहित है, अज्ञानरूप अन्वकारका नाश करनेवाला तथा ज्ञानस्वरूप प्रकाशमय है, उस समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमात्मारूप हंसको मैं नमस्कार करता हूँ ।'

(३)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला, समाचार मालूम हुए । आपने अपना परिचय देते हुए यह लिखा कि मैं हिंदी अच्छी तरह नहीं जानता सो कोई बात नहीं । आप जैसी हिंदी लिखते हैं, उसीसे हम समझ लेंगे । हमें इसमें कोई तकलीफ नहीं है ।

आप 'कल्याण' के ग्राहक हैं—सो बड़ी अच्छी बात है । इसमें हमारी कृपाकी कोई बात नहीं है । इसमें तो आपके ही प्रेमकी बहुलता है ।

आपने लिखा कि 'मेरा मन वशमें नहीं है तथा एक-दो घंटे जब रामनाम लेता हूँ, तब मन निर्मल रहता है ।' रामनामकी महिमा अपार है । उसके महत्त्वको समझानेके लिये जो कुछ भी कहा जाय, वह थोड़ा ही है । हरेक प्रकारकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये रामनाम सर्वोपरि साधन है । अतः आपको निरन्तर रामनाम याद रखनेका अभ्यास करना चाहिये । यह अभ्यास भगवान्की कृपासे शीघ्र ही हो सकता है ।

आपकी यह चाह कि 'मेरा मन हरदम रामनाममें रमा रहे, मेरे अंदर रामभक्ति और रामप्रेमकी ज्वाला जलती रहे, वह इतनी बड़े कि उसमें मैं अपनेको खो बैदूँ' बहुत ही उत्तम है । इसके लिये मेरी या और

किसी दूसरेकी सहायता आवश्यक नहीं है; इस चाहमें ही अतुलित बल है। अतः आप इस चाहको प्रबल कीजिये और दृढ़ विश्वास कीजिये कि 'भगवान् मेरे हैं और मैं उनका हूँ, अतः मेरी इस चाहको वे अवश्य पूरी करेंगे।' जबतक यह पूरी न हो, तबतक हर वक्त प्रतीक्षा करनी चाहिये।

आपने मेरे विषयमें लिखा, सो यह आपकी भावना है। मैं तो अपनेको एक साधारण मनुष्य समझता हूँ। रामसे अधिक तो क्या, मैं तो किञ्चिन्मात्र भी उनकी बराबरी नहीं कर सकता। जिन रामभक्तोंको तुलसीदासजीने रामसे अधिक बतलाया है, ऐसे रामभक्तोंको मेरा बार-बार प्रणाम है।

राम-मिलनकी राहमें भटकनेवालेको भगवान् श्रीराम स्वयं हरेक प्रकारसे मदद करनेके लिये हर समय तैयार रहते हैं। वे स्वयं उसे किसी-न-किसी बहानेसे रास्ता बताते रहते हैं। अतः इसके लिये निश्चिन्त होकर आप उनके भजन-ध्यानमें लगे रहिये।

(४)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) शास्त्रोंमें मुक्तिके कई प्रकार माने गये हैं। जीव ब्रह्मलोकमें जाता है, वह तो कल्पके आदिमें पुनः जन्म लेता है; परंतु सायुज्य-मुक्ति और ब्रह्मलीन मुक्तिको प्राप्त हुआ पुरुष वापस नहीं आता, उसका पुनरावर्तन नहीं होता।

आपने जो सब जीवोंकी मुक्ति होनेसे सृष्टिका अभाव होनेकी शङ्काके विषयमें पूछा, सो जीव परिमित नहीं हैं। ईश्वर सर्वज्ञ हैं और सम्पूर्ण जगत् उन्हींके अन्तर्गत है तथापि जीव उनके संकल्पमें अनन्त, असंख्य और अनादि हैं। अतः उनकी समाप्ति कभी नहीं होती। इतनेपर भी यह रहस्य किसीकी समझमें न आवे और वह यह माने कि कभी-न-कभी सब जीवोंकी समाप्ति होना सम्भव है तो भी कोई हानि

नहीं है। सब जीव इस संकटसे सदाके लिये जायें तो अच्छा ही है। कोई बुरी बात नहीं है। पुनरावर्तन मान लेनेसे तो मुक्ति भी स्वर्गकी अनित्य और अल्प ही हुई, उसका कोई महत्त्व नहीं रहा।

(२) सांख्यसिद्धान्तके अनुसार परिणामशील अवश्य है; परंतु वह सर्वथा निरवयव है। वह साम्यावस्थामें अवयवरहित और परिणत अवयवसहित भी है। अतः सांख्यशास्त्रमें उसके दो ही रूप माने गये हैं।

प्रकृतिमें परिणाम दो प्रकारसे होता है। एक कारणका कार्यरूपमें परिणत होना और दूसरा कारणरूपमें परिणत होना। ये दोनों प्रकारके परिणाम प्रकृतिमें निरन्तर चलते रहते हैं। देश-काल प्रकृतिसे भिन्न नहीं हैं, प्रकृतिके ही अंश हैं। अतः वह देश और कालमें भी व्याप्त है। अतः उसकी सूक्ष्मता और व्यापकता देश-कालकी अपेक्षासे अधिक नहीं होती।

(३) तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है—इसका मतलब यह है कि जिस समय तीनों गुण मूल प्रकृतिमें विलीन रहते हैं, इनकी अभिव्यक्ति होती, वह गुणोंकी साम्यावस्था है। और जब भावान्तर संकल्पसे प्रकृतिमें क्षोभ होकर तीनों गुण अभिव्यक्त होते हैं, वह उनकी विषम अवस्था है। गुणोंकी साम्यावस्थासे विषम अवस्थाको प्राप्त होना और विषम अवस्थासे साम्यावस्थाको प्राप्त होना—इन दोनों प्रकारके परिवर्तनोंका ही नाम परिणाम है और उनका स्वभाव है एवं दोनोंमेंसे एक परिणाम होता रहता है।

(४) अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्तमें भी अनेक भेद हैं। कोई अजातवाद मानते हैं, कोई विम्बवाद मानते हैं, कोई परिणामवाद मानते हैं—इत्यादि। यह विषय बहुत लम्बा है, पत्रद्वारा लिखकर समझाना सम्भव नहीं; इस विषय

संख्या ६]

शास्त्रोंमें अध्ययन करनेपर कुछ समझमें आ सकता है ।

इस प्रकारके मत-मतान्तरोंकी शङ्काओंका समाधान तर्कसे होना कठिन है । किसी एक मतपर विश्वास करके जब मनुष्य उसके अनुसार साधनपरायण हो जाता है, तब वह वहाँ पहुँच सकता है, जहाँ जाकर सब मत एक हो जाते हैं और सब शङ्काओंका समूल नाश हो जाता है; क्योंकि सभी मतवादियोंका उद्देश्य जीवको ऊँची-से-ऊँची स्थिति प्राप्त करा देना है ।

(५)

मान्यवर महोदय ! सादर हरिस्मरण । आपका पत्र यथासमय मिल गया था, अवकाश कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ ।

आपने भगवान्की भक्ति और उनके प्रेमकी महिमा लिखी और ज्ञान तथा कर्मको उसका साधन बतलाया, सो ठीक है; परंतु जिस पराभक्ति और अनन्य भक्तिके द्वारा भगवान्को मनुष्य तत्त्वसे जानता है और जानकर उनमें प्रविष्ट होता है, वह ज्ञान तो उस पराभक्तिका भी फल है (गीता १८। ५४-५५) । इस ज्ञानकी ही बड़ाई भगवान्ने गीतामें चौथे अध्यायके ३८ वें श्लोकमें की है तथा वहाँपर कर्मयोगको उसका स्वतन्त्र साधन बताया है एवं उसके पहले ज्ञानयोगको भी उसका साधन बताया है । आप अपनी मान्यताके अनुसार जैसा मानते हैं, वैसा ही आपके लिये ठीक है; परंतु गीतासे सभी प्रकारकी मान्यताओंको बल मिल सकता है । अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग मुक्तिके स्वतन्त्र साधन नहीं हैं—ऐसा मैं नहीं मानता ।

तेरहवें अध्यायके २४ वें श्लोकमें कहीं भी 'उपासते' शब्द नहीं आया है । २५ वें श्लोकमें आया है, सो सर्वथा उचित है; क्योंकि श्रवणके अनुसार साधनकी आवश्यकता है तथा 'उपासते' शब्दका अर्थ भक्ति या प्रेम नहीं है । जिसके साथ उसका प्रयोग होगा, उसी साधनके अन्यासका नाम वहाँ 'उपासते' होगा ।

आप यदि भगवत्प्राप्ति या मुक्तिको ही भक्ति मानते

हों तो वह तो सब साधनोंका फल है ही; फिर उसके विषयमें अधिक समालोचनाकी आवश्यकता नहीं है ।

श्रीतुलसीदासजी भक्त थे; वे तो मुक्तिका भी निरादर करके भक्तिको प्रधानता देनेवाले थे । अतः वे भक्तिकी जितनी भी प्रशंसा करें, वह थोड़ी ही है; परंतु जहाँ उन्होंने मुक्तिके साधनोंका वर्णन किया है, वहाँ ज्ञानको भी भक्तिके समान ही मुक्तिका स्वतन्त्र साधन माना है, यह सुनिश्चित बात है । 'ज्ञानहि भक्तिहि नहीं कछु भेदा । उभय हरहि भव संभव खेदा ॥'—इससे यह बात स्पष्ट है । जहाँ उन्होंने यह लिखा है कि 'बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेक्ष'—वहाँ उनकी मान्यताके अनुसार ज्ञानयोगका आत्मस्वरूप-चिन्तनरूप निदिध्यासन भी भजन ही है—ऐसा समझना चाहिये ।

(२) गीताके बारहवें अध्यायके १२ वें श्लोकका अर्थ मैं जैसा समझता हूँ, उसका विस्तार मैंने तत्त्वविवेचनी टीकामें किया है; वहाँ देखना चाहिये । मेरी यह मान्यता नहीं है कि कर्मयोगीमें भक्ति नहीं रहती । मैंने यह तो पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि किसी कर्मयोगीके साधनमें भक्तिकी प्रधानता रहती है और किसीके साधनमें भक्ति गौणरूपसे रहती है । जिसमें भक्ति और प्रेमकी प्रधानता है, वह भक्तियोग है; जिसमें निष्काम-भावकी प्रधानता है, वह कर्मयोग है । दोनों ही मुक्तिके साधन हैं । गीतामें दूसरे अध्यायके ३९ वें श्लोकसे अध्यायकी समाप्तितक कर्मयोगका वर्णन है । वहाँ आप ध्यानपूर्वक देखिये, भक्तिको प्रधानता नहीं दी गयी है ।

आपने भगवद्भक्तके विषयमें लिखा कि वह मुक्तिको भी लात मार देता है, अतः उसके समान त्यागी दूसरा कौन होगा सो बिल्कुल ठीक है । इससे तो यही सिद्ध हुआ कि भक्तिके साधनमें भी निष्कामभावका महत्त्व है, सकाम भक्तिकी अपेक्षा निष्काम भक्तिका दर्जा ब्रह्म उँचा है । यही बात गीता जगह-जगह सिखाती है । मैं तो कर्मयोगमें निष्कामभावको ही महत्त्व देता

हूँ, न कि क्रियाको । वैसे तो भगवान्‌का भजन भी तो कर्म ही है; क्योंकि बिना क्रियाके तो कोई भी साधन नहीं होता, इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि सभी यज्ञोंको तुम कर्मजन्य समझो (गीता ४ । ३२) । अतः भक्ति भी कर्मयोगसे अलग नहीं है ।

मैंने कहीं भी कर्मोंको मुक्तिका साधन नहीं बताया है, कर्मयोगको मुक्तिका साधन बताया है । जिस ज्ञानको कर्मयोगका फल बताया है, वह ज्ञानयोग नहीं है, वह तो ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—इन तीनोंका फल है, जिसके प्राप्त होनेपर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है,—कुछ भी करना शेष नहीं रहता ।

आपके मतानुसार यदि भक्तिका अर्थ 'सेवा' और ज्ञानका अर्थ 'ज्ञानना' ही मान लिया जाय तो फिर भगवान्‌ने जो यह कहा है कि 'भक्त्या मामभिजानाति'—यहाँ पहले जानकर पीछे भक्ति करनेकी बात न कहकर भक्तिसे भगवद्‌ज्ञान होनेकी बात कैसे कही गयी—यह विचारणीय है ।

मैं यह नहीं मानता कि मनुष्य-जन्मके बाद दूसरा जन्म नहीं होता । अज्ञानी मनुष्योंने न जाने कितनी बार पहले मनुष्य-शरीर पाया होगा । जब योगभ्रष्टका भी पुनर्जन्म होता है, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है । मेरा कहना तो यह है कि ज्ञानीका कर्मवश पुनर्जन्म नहीं होता है, यदि होता है तो वह ज्ञानी नहीं है ।

(६)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपके कार्ड यथासमय मिल गये थे । समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ । आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीता-अमृतको सञ्जयने श्रीवेदव्यासजीकी कृपासे पायी हुई दिव्य दृष्टिके द्वारा देखा और सुना था तथा उसीके अनुसार उन्होंने धृतराष्ट्रको सुनाया था, यह बात गीतासे ही स्पष्ट हो जाती है । सञ्जय जिस समय जहाँ रहता था,

वहींसे सब बातें सुनने-समझनेकी और सब घटनाएँ देख सकनेकी सामर्थ्य उसे मिल चुकी थी ।

(२) महाभारत और गीताकी श्लोकवद्ध युद्धकालमें नहीं हुई थी, उसके बादमें हुई थी, महाभारतमें ही स्पष्ट लिखा हुआ है । भगवान्‌ने दिव्य उपदेश अर्जुनको सब-का-सब श्लोकवद्ध ही कहा था या सञ्जयने भी धृतराष्ट्रको श्लोकवद्ध सुनाया था—ऐसी बात नहीं है । उस समय तो बातचीतके वक़्त ही सारी बातें हुई थीं, उसीमें कहीं-कहीं ज्यों-के-त्यों श्लोक भी बोले गये होंगे । इस समय हमें जिस आकाश गीता प्राप्त है, यह तो निस्सन्देह श्रीवेदव्यासजीकी रचना है ।

(३) भगवान्‌ने अर्जुनको जो विश्वरूप दिखाया, वह अपने शरीरके अंदर ही दिखाया था । जो हमें अपने इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष हो रहा है, भगवान्‌ने अपना रूप बताया हो, ऐसी बात नहीं है । यह बात एकादश अध्यायमें स्वयं भगवान्‌के ही कर्म स्पष्ट हो जाती है । वह रूप साढ़े तीन हाथके भगवान्‌की इच्छासे दिखलायी दे, इसमें कोई अड़भड़ नहीं है । जब छोटी-सी दूरबीनके अंदर बड़े-बड़े साधारण लोग दिखला सकते हैं, तब फिर भागवत लिये तो कोई भी बात असम्भव है ही नहीं । भागवत उस विश्वरूपके दर्शन अर्जुन और सञ्जयके अतिरिक्त अन्य किसीको नहीं हुए, यह भी गीताके ही कर्म स्पष्ट हो जाता है । अर्जुनको दिव्य दृष्टि भगवान्‌की कृपासे मिली थी, अर्जुन इसी जगत्‌में भगवान्‌ के पास रथमें बैठा था । उसने औरोंकी भाँति खरूप भी भगवान्‌के शरीरमें देखा या नहीं, वर्णन गीतामें नहीं आता । भागवतमें जहाँ यशोदाको विश्वरूप दिखानेकी बात आयी है, वहाँ यशोदाने अपना रूप भी भगवान्‌के मुखमें देखा, ऐसी बात आयी है ।

श्रीहरि:

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

- १-श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी-'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'में प्रकाशित गीताकी हिन्दी-टीकाका संशोधित संस्करण, टीकाकार-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य ४)
- २-श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य-[हिन्दी-अनुवादसहित] इसमें मूल, श्लोक, भाष्य, हिन्दीमें भावार्थ, टिप्पणी तथा शब्दानुक्रमणिका भी दी गयी है। पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य २।।।)
- ३-श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य-[हिन्दी-अनुवादसहित] डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ६०८, तिरंगे चित्र ३, सजिल्द, मूल्य २।।)
- ४-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं 'व्यागसे भगवत्प्राप्ति' नामक लेखसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७२, रंगीन चित्र ४, मूल्य १।)
- ५-श्रीमद्भगवद्गीता-[मञ्जली] प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० ४ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरे-पर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य अ० ॥=), सजि० १।)
- ६-श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥), सजि० ॥।=)
- ७-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य अजिल्द १-), सजिल्द ॥-)
- ८-श्रीमद्भगवद्गीता-केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य १।)
- ९-श्रीपञ्चरत्न-गीता-सचित्र, इसमें श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीभीष्मस्तवराज, श्रीअनुस्मृति, श्रीगजेन्द्रमोक्षके मूल पाठ हैं। गुटका साइज, पृष्ठ १८४, मूल्य =)
- १०-श्रीमद्भगवद्गीता-साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य अजिल्द =)॥ सजि० १।॥
- ११-श्रीमद्भगवद्गीता-विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य -)॥
- १२-ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य =)
- १३-केनोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४२, मूल्य ॥)
- १४-कठोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य ॥-)
- १५-प्रश्नोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२८, मूल्य ॥=)
- १६-मुण्डकोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मूल्य ॥=)
- १७-पेतेरयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ १०४, मूल्य १-)
- १८-वेदान्त-दर्शन-हिन्दी-व्याख्यासहित, आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ४१६, भगवान् वेदव्यासका सुन्दर तिरंगा चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य २।)
- १९-लघुसिद्धान्तकौमुदी-सटिप्पण-संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये विशेष उपयोगी, मूल्य ॥।)
- २०-श्रीमद्भगवत्समाध्याय- (दो खण्डोंमें), सरल हिन्दी-व्याख्यासहित, पृष्ठ २०३२, चित्र तिरंगे २५, १५)
- सुनहरा १, मोटा कागज, हाथ करघेके कपड़ेकी जिल्द, मूल्य
- २१-श्रीभागवत-सुधा-सागर-[नयी पुस्तक] सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, पृष्ठ १०१६, चित्र तिरंगे २५, ८।।)
- सुनहरा १, सजिल्द, मूल्य ६)
- २२-श्रीमद्भागवतमहापुराण-[नयी पुस्तक] मूल, मोटा टाइप, पृष्ठ ६९२, चित्र १, सजिल्द, मूल्य
- २३-श्रीप्रेम-सुधा-सागर-[नयी पुस्तक] श्रीमद्भागवतके केवल दशम स्कन्धका भाषानुवाद, पृष्ठ ३१६, चित्र तिरंगे १४, सुनहरा १, सजिल्द, मूल्य ३।।)
- २४-श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल-गुटका, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र, मूल्य ३।)
- २५-अध्यात्मरामायण-हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ ७००, सजिल्द, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ३।)

- *२६-श्रीरामचरितमानस-मोटा टाइप, भाषाटीकासहित, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द, मूल्य
- २७- " -बड़े अक्षरोंमें केवल मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, मूल्य
- २८- " -मूल, मोटा टाइप, पाठभेदवाली, सचित्र, पृष्ठ ७९६, मूल्य
- २९- " -सटीक-[मञ्जला साइज] महीन टाइप, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १००८, सजिल्द, मूल्य
- ३०- " -मूल, मञ्जला साइज, सचित्र, पृष्ठ ६०८, मूल्य
- ३१- " -मूल, गुटका, पृष्ठ ६८०, रंगीन चित्र १ और ७ लाइन ब्लक, सजिल्द, मूल्य
- ३२- " -बालकाण्ड-मूल, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य
- ३३- " " -सटीक, पृष्ठ ३१२, सचित्र, मूल्य
- ३४- " -अयोध्याकाण्ड-मूल, पृष्ठ १६०, सचित्र, मूल्य
- ३५- " " -सटीक, पृष्ठ २६४, सचित्र, मूल्य
- ३६- " -अरण्यकाण्ड-मूल, पृष्ठ ४०, मूल्य
- ३७- " " -सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य
- ३८- " -किष्किन्धाकाण्ड-मूल, पृष्ठ २४, मूल्य
- ३९- " " -सटीक, पृष्ठ ३६, मूल्य
- ४०- " -सुन्दरकाण्ड-मूल, पृष्ठ ३८, मूल्य
- ४१- " " -सटीक, पृष्ठ ६०, मूल्य
- ४२- " -लङ्काकाण्ड-मूल, पृष्ठ ८२, मूल्य
- ४३- " " -सटीक, पृष्ठ १३२, मूल्य
- ४४- " -उत्तरकाण्ड-मूल, पृष्ठ ८८, मूल्य
- ४५- " " -सटीक, पृष्ठ १४४, मूल्य
- ४६-मानस-रहस्य-चित्र रंगीन १, पृष्ठ-संख्या ५१२, मूल्य १।), सजिल्द
- ४७-मानस-शंका-समाधान-चित्र रंगीन १, पृष्ठ १९४, मूल्य
- ४८-विनय-पत्रिका-गो० श्रीतुलसीदासकृत, सरल हिन्दी-भावार्थसहित, अनुवादक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ४७२, सुनहरी चित्र १, मूल्य अजिल्द १), सजिल्द
- ४९-गीतावली-गो० श्रीतुलसीदासकृत, सरल हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४४४, मूल्य अजिल्द १), सजिल्द
- ५०-कवितावली-गोस्वामी श्रीतुलसीदासकृत, सटीक, चित्र १, पृष्ठ २२४, मूल्य
- ५१-दोहावली-सानुवाद, अनुवादक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, १ रंगीन चित्र, पृष्ठ १९६, मूल्य
- ५२-प्रेम-योग-लेखक-श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ३४४, सचित्र, मूल्य
- ५३-तत्त्व-चिन्तामणि-(भाग १)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५२, मूल्य ॥=), सजिल्द
- ५४- " (भाग २)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५९२, मूल्य ॥=), सजिल्द
- ५५- " (भाग ३)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४२४, मूल्य ॥=), सजिल्द
- ५६- " (भाग ४)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५२८, मूल्य ॥=), सजिल्द
- ५७- " (भाग ५)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४९६, मूल्य ॥=), सजिल्द
- ५८- " (भाग ६)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४५६, मूल्य १), सजिल्द
- ५९- " (भाग ७)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५३०, मूल्य १=), सजिल्द
- ६०- " (भाग ४)-(छोटे आकारका गुटका संस्करण) सचित्र, पृष्ठ ६८४, मूल्य १=), सजिल्द
- ६१-ढाई हजार अनमोल बोल (संत-वाणी)-सं०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ३२४, सचित्र, ॥=) सं०
- ६२-सूक्ति-सुधाकर-सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६, मूल्य

- १३-सोमरत्नावली-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥)
- १४-पातञ्जलयोगदर्शन-सटीक, याख्याकार-श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, पृष्ठ १७६, दो चित्र, मूल्य ॥) सजिल्द १)
- ६५-सत्सङ्गके विखरे मोती-पृष्ठ २४४, ग्यारह मालाएँ, मूल्य ॥)
- ६६-सुखी जीवन-लेखिका-श्रीमैत्रीदेवी, पृष्ठ २०८, मूल्य ॥)
- ६७-भगवच्चर्चा भाग १ (तुलसीदल)-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य अजिल्द ॥) सजिल्द ॥=)
- ६८- " भाग २ (नैवेद्य)-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके २८ लेख और ६ कविताओंका संग्रह, सचित्र, पृष्ठ २६४, मूल्य ॥), सजिल्द ॥=)
- ६९-रामायणके कुछ आदर्श पात्र-पृष्ठ १६८, मूल्य ॥=)
- ७०-उपनिषदोंके चौदह रत्न-पृष्ठ ९०, मूल्य ॥=)
- ७१-लोक-परलोकका सुधार [कामके पत्र] (प्रथम भाग)-पृष्ठ-संख्या २२०, मूल्य ॥=)
- ७२- " ["] (द्वितीय भाग)-पृष्ठ-संख्या २४४, मूल्य ॥=)
- ७३- " ["] (तृतीय भाग)-पृष्ठ-संख्या २९२, मूल्य ॥)
- ७४- " ["] (चतुर्थ भाग)-पृष्ठ-संख्या २८८, मूल्य ॥)
- ७५- " ["] (पञ्चम भाग)-पृष्ठ-संख्या २८०, मूल्य ॥)
- ७६-रामायण-प्रथमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक-पृष्ठ १५६, मूल्य ॥=)
- ७७-भक्त नरसिंह मेहता-सचित्र, पृष्ठ १६०, मूल्य ॥=)
- ७८-प्रेम-दर्शन-नारदरचित भक्तिसूत्रोंकी विस्तृत टीका, टीकाकार-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ १८८, मूल्य ॥=)
- ७९-भवरोगकी रामबाण दवा-लेखक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ १७२, मूल्य ॥=)
- ८०-विवेक-चूडामणि-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८४, मूल्य अजिल्द ॥=)
- ८१-भक्त बालक-गोविन्द, मोहन आदि बालक भक्तोंकी ५ कथाएँ हैं, पृष्ठ ७२, सचित्र, मूल्य ॥=)
- ८२-भक्त नारी-शबरी आदिकी कथाएँ हैं, पृष्ठ ६८, १ रंगीन, ५ सादे चित्र, मूल्य ॥=)
- ८३-भक्त-पञ्चरत्न-रघुनाथ, दामोदर आदि पाँच भक्तोंकी कथाओंकी पुस्तक, पृष्ठ ८८, दो चित्र, मूल्य ॥=)
- ८४-आदर्श भक्त-शिवि, रन्तिदेव आदिकी ७ कथाएँ, पृष्ठ ९६, १ रंगीन, ११ लाइन-चित्र, मूल्य ॥=)
- ८५-भक्त-सप्तरत्न-दामा, रघु आदिकी गाथाएँ, पृष्ठ ८६, चित्र १, मूल्य ॥=)
- ८६-भक्त-चन्द्रिका-सखू, विठ्ठल आदि ६ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, चित्र १, मूल्य ॥=)
- ८७-भक्त-कुसुम-जगन्नाथ, हिम्मतदास आदिकी ६ कथाएँ, पृष्ठ ८४, चित्र १, मूल्य ॥=)
- ८८-प्रेमी भक्त-विल्वमंगल, जयदेव आदिकी ५ कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ॥=)
- ८९-प्राचीन भक्त-मार्कण्डेय, कण्डु, उत्तङ्क आदिकी १५ कथाएँ, पृष्ठ १५२, चित्र बहुरंगे ४, मूल्य ॥)
- ९०-भक्त-सरोज-गङ्गाधरदास, श्रीधर आदिकी १० कथाएँ, पृष्ठ १०४, सचित्र, मूल्य ॥=)
- ९१-भक्त-सुमन-नामदेव, राँका-बाँका आदिकी १० कथाएँ, पृष्ठ ११२, चित्र बहुरंगे २, सादे २, मूल्य ॥=)
- ९२-भक्त-सौरभ-व्यासदासजी, प्रयागदासजी आदिकी ५ कथाएँ, पृष्ठ ११०, चित्र १, मूल्य ॥=)
- ९३-भक्त-सुधाकर-भक्त रामचन्द्र, भक्त लाखाजी आदिकी १२ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र १२, मूल्य ॥)
- ९४-भक्त-महिलारत्न-रानी रत्नावती, भक्तिमती हरदेवी आदिकी ९ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ७, मूल्य ॥=)
- ९५-भक्त-दिवाकर-भक्त सुव्रत, भक्त वैश्वानर आदिकी ८ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य ॥=)
- ९६-भक्त-रत्नाकर-भक्त माधवदास, भक्त विमलतीर्थ आदिकी १४ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य ॥=)
- ९७-भक्तराज हनुमान्-सचित्र, पृष्ठ ७२, चित्र १ रंगीन, ४ सादे, मूल्य ॥=)
- ९८-सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र-पृष्ठ ५२, चित्र रंगीन ४, मूल्य ॥=)
- ९९-प्रेमी भक्त उद्धव-पृष्ठ-संख्या ६४, रंगीन चित्र १, मूल्य ॥=)
- १००-महात्मा विदुर-पृष्ठ-संख्या ६०, रंगीन चित्र १, मूल्य ॥=)

- १०१-भक्ताराज भुव-पृष्ठ-संख्या ४४, १ रंगीन चित्र, मूल्य
- १०२-परमार्थ-पत्रावली (भाग १)-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १२४, सचित्र, मूल्य
- १०३-,, (भाग २)-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ८० पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १७२, सचित्र, मूल्य
- १०४-,, (भाग ३)-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ७२ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य
- १०५-,, (भाग ४)-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ९१ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ २०४, सचित्र, मूल्य
- १०६-कल्याणकुञ्ज (भाग १)-मननीय तरंगोंका संग्रह, सचित्र, पृष्ठ १३६, मूल्य
- १०७-,, (भाग २)-नयी पुस्तक, सुन्दर तिरंगा चित्र, पृष्ठ १६०, मूल्य
- १०८-,, (भाग ३)-नयी पुस्तक, सुन्दर तिरंगा चित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य
- १०९-महाभारतके कुछ आदर्श पात्र-पृष्ठ १२६, मूल्य
- ११०-भगवान्पर विश्वास-पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य
- १११-प्रार्थना-सचित्र, पृष्ठ ५६, इक्कीस प्रार्थनाओंका संग्रह, मूल्य
- ११२-आदर्श नारी सुशीला-सचित्र, पृष्ठ ५६, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य
- ११३-आदर्श भ्रातृ-प्रेम-लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ १०४, मूल्य
- ११४-मानव-धर्म-लेखक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ९८, मूल्य
- ११५-गीता-निबन्धावली-गीताकी अनेक बातें समझनेके लिये बहुत उपयोगी है, पृष्ठ ८०, मूल्य
- ११६-साधन-पथ-लेखक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ ६८, मूल्य
- ११७-अपरोक्षानुभूति-शंकरस्वामिकृत, सानुवाद, पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य
- ११८-मनन-माला-यह भावुक भक्तोंके बड़े कामकी चीज है, पृष्ठ ५४, सचित्र, मूल्य
- ११९-नवधा भक्ति-लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६०, सचित्र, मूल्य
- १२०-बाल-शिक्षा-लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य
- १२१-श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति-लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, सचित्र, पृष्ठ ४८, मूल्य
- १२२-रामायण-शिशु-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक-पृष्ठ ४०, मूल्य
- १२३-गजन-संग्रह (प्रथम भाग)-पृष्ठ १८०, मूल्य =)
- १२४-,, (द्वितीय भाग)-पृष्ठ १६८, मूल्य =)
- १२५-,, (तृतीय भाग)-पृष्ठ २२८, मूल्य =)
- १२६-,, (चतुर्थ भाग)-पृष्ठ १६०, मूल्य =)
- १२७-,, (पञ्चम भाग)-पृष्ठ १४०, मूल्य =)
- १२८-स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी-पृष्ठ ५६, मूल्य -)॥
- १२९-नारीधर्म-पृष्ठ ४८, मूल्य -)॥
- १३०-गोपी-प्रेम-पृष्ठ ५२, मूल्य -)॥
- १३१-मनुस्मृति-द्वितीय अध्याय सार्थ, पृष्ठ ५२, मूल्य -)॥
- १३२-ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप-पृष्ठ ३६, मू० -)॥
- १३३-श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्-सटीक, पृष्ठ १६, मूल्य
- १३४-हनुमानवाहुक-सचित्र, सार्थ, पृष्ठ ४०, मूल्य
- १३५-श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा-पृष्ठ ४०, मूल्य
- १३६-मनको वश करनेके कुछ उपाय-पृष्ठ २४, मूल्य
- १३७-ईश्वर-पृष्ठ ३२, मूल्य
- १३८-मूल-रामायण-पृष्ठ २४, मूल्य
- १३९-रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक-मूल्य
- १४०-हरेरामभजन १४ माला-मूल्य
- १४१-हरेरामभजन ६४ माला-मूल्य
- १४२-शारीरकमीमांसादर्शन-मूल्य
- १४३-बलिवैश्वदेवविधि-मूल्य

Our English Publications

- 144-Gopis' Love for Sri Krishna—(By Hanumanprasad Poddar)
- 145-The Divine Name and Its Practice—(By Hanumanprasad Poddar)
- 146-Wavelets of Bliss—(By Hanumanprasad Poddar)
- 147-The Immanence of God—(By Madan Mohan Malviya)
- 148-What is God?—(By Jayadayaal Goyandka)
- 149-The Divine Message—(By Hanumanprasad Poddar)
- 150 What is Dharma?—(By Jayadayaal Goyandka)

नयी सूचना

छोटी-छोटी ५२ पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें पैकेट बनाये गये हैं। इन पैकेटोंपर पुस्तकोंके अलग-अलग नाम तथा मूल्य छाप दिया गया है। पैकेटोंमें हेर-फेर नहीं किया जाता है। किसी भी पुस्तककी अधिक संख्यामें अलग माँग दी जा सकती है।
पैकेटोंका विवरण इस प्रकार है—

पैकेट नं० १, पुस्तक-संख्या १३, मूल्य ॥॥)

१-सामयिक चेतावनी-पृष्ठ २४, मूल्य	-)	८-श्रीभगवन्नाम-पृष्ठ ७२, मूल्य	-)
२-आनन्दकी लहरें-पृष्ठ २४, मूल्य	-)	९-श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन-पृष्ठ ६४	-)
३-नोविन्द-दामोदर-स्तोत्र-सार्थ, पृष्ठ ३२ मूल्य	-)	१०-भगवत्तत्त्व-पृष्ठ ६४, मूल्य	-)
४-श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश-पृष्ठ १६, मूल्य	-)	११-सन्ध्योपासनविधि अर्थसहित-पृष्ठ २४, मूल्य	-)
५-ब्रह्मचर्य-पृष्ठ ३२, मूल्य	-)	१२-हरेरामभजन दो माला-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥॥
६-हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप-पृष्ठ २४, मूल्य	-)	१३-पातञ्जलयोगदर्शन मूल-पृष्ठ २०, मूल्य)॥
७-सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय-पृष्ठ ३२	-)		॥॥)

पैकेट नं० २, पुस्तक-संख्या ५, मूल्य ॥)

१-संत-महिमा-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥॥	४-वैराग्य-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥॥
२-श्रीरामगीता-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥॥	५-रामायण सुन्दरकाण्ड-पृष्ठ ६४, मूल्य	-)
३-विष्णुसहस्रनाम मूल-पृष्ठ ४८, मूल्य)॥॥		॥॥)

पैकेट नं० ३, पुस्तक-संख्या १६, मूल्य ॥)

१-विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद-(सार्थ) पृष्ठ १६, मूल्य)॥	१०-भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
२-सीतारामभजन-पृष्ठ ६४, मूल्य)॥	११-व्यापारसुधारकी आवश्यकता और	
३-भगवान् क्या हैं ?-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥	व्यापारसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
४-भगवान्की दया-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥	१२-स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग-पृष्ठ २०)॥
५-गीताके सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग पृष्ठ, ४८,))॥	१३-परलोक और पुनर्जन्म-पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
६-सेवाके मन्त्र-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥	१४-ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन-पृष्ठ ३२)॥
७-प्रश्नोत्तरी-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥	१५-अवतारका सिद्धान्त-पृष्ठ २८, मूल्य)॥
८-सन्ध्या विधिसहित-पृष्ठ १६, मूल्य)॥	१६-गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची-पृष्ठ ४८)॥
९-सत्यकी शरणसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥		॥॥)

पैकेट नं० ४, पुस्तक-संख्या १८, मूल्य ॥)

१-धर्म क्या है ?-पृष्ठ १६, मूल्य)॥	१०-शोक-नाशके उपाय-पृष्ठ २४, मूल्य)॥
२-श्रीहरिसंकीर्तन-धुन-पृष्ठ ८, मूल्य)॥	११-ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप	
३-दिव्य सन्देश-पृष्ठ १६, मूल्य)॥	सर्वोपरि साधन है-पृष्ठ २४, मूल्य)॥
४-नारद-भक्ति-सूत्र-पृष्ठ २४, मूल्य)॥	१२-चेतावनी-पृष्ठ २४, मूल्य)॥
५-महात्मा किसे कहते हैं ?-पृष्ठ २४, मूल्य)॥	१३-त्यागसे भगवत्प्राप्ति-पृष्ठ २४, मूल्य)॥
६-ईश्वर दयालु और न्यायकारी है-पृष्ठ २४, मूल्य)॥	१४-श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव-पृष्ठ २०, मूल्य)॥
७-प्रेमका सच्चा स्वरूप-पृष्ठ २४, मूल्य)॥	१५-लोभमें पाप-पृष्ठ ८, मूल्य	आधा पैसा
८-हमारा कर्तव्य-पृष्ठ २४, मूल्य)॥	१६-सप्तश्लोकी गीता-पृष्ठ ८, मूल्य	आधा पैसा
९-कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ-पृष्ठ ३२, मूल्य)॥	१७-१८-गजल गीता-पृष्ठ ८, २ प्रति, मूल्य)॥

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने शहरके विक्रेतासे माँगिये

इससे आपको शायद पैसे और समयकी बचत हो सकती है—

गीताप्रेसकी पुस्तकें बहुत-से पुस्तक-विक्रेता भी छपे मूल्यपर ही बेचते हैं और यही उचित भी है; किन्तु निम्नलिखित स्थानोंपर तो हमारी पुस्तक-सूचीमें छपे हुए दामोंपर ही बेची जाती हैं। ग्राहकोंको अधिक नही देने पड़ते। यदि किसी ग्राहकसे अधिक दाम माँगे जायँ तो कृपया हमें सूचित करें।

अमरावती—कन्हैयालालश्रीराम, मारवाड़ी स्टोर जवाहर रोड।
अलीगढ़—श्रीअच्युत स्टोर, महावीरगंज।

„ —श्रीशालिग्राम एण्ड सन्स, मदारगेट, चौकी पुलिसके सामने।

„ —श्रीहरीरामजी गुप्ता बुकसेलर, अचल रोड।

अलवर—सरस्वती पुस्तकालय मुंशीबाजार।

अजमेर—श्रीलक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुरानी मण्डी।

अहमदाबाद नं० ४—पण्डित राममनोहरजी मिश्र, शेठ आर. एल. वैकरका बंगला, शाहीबाग।

„ नं० २—श्रीएस. एस. बागडिया एण्ड सन्स, हरीदास अचरतलाल मार्केट, कपासिया बाजार।

अमृतसर—श्रीमिलखीराम रामरेखा धूपवाले, दुर्ग्याणा तीर्थ।

„ —श्रीलक्ष्मीनारायण सुगन्ध-भण्डार, दुर्ग्याणामन्दिर।

„ —श्रीलक्ष्मीनारायण-पुस्तकालय, दुर्ग्याणातीर्थ।

अम्बाला शहर—पूर्वी पाञ्चाल ज्योतिषकार्यालय, लभूवाला तालाब।

„ —(छावनी) चानणा विश्वबन्धु स्टोर्स, ३४२२, कच्चाबाजार।

अयोध्या—श्रीशिवदुलारेलालजी बुकसेलर।

„ —श्रीनारायण कार्यालय, शीशमहल।

„ —जनरल बुकडिपो।

अवोहर (फिरोजपुर)—साहित्यसदन।

अनूपशहर—गौरीशंकर एण्ड सन्स, बुकसेलर।

अलमोड़ा—कुमायू पुस्तक-भण्डार, जवाहर चौक।

„ —गोपालदत्त जोशी, लाला बाजार।

आकोला—मंत्री, धर्मसंघ-कार्यालय, किराना बाजार।

आगरा—श्रीकृष्णपुस्तकालय, दौलत मार्केट।

„ —श्रीगयाप्रसाद एण्ड सन्स, हास्पिटल रोड।

„ —लक्ष्मीबुकडिपो कसेरट बाजार।

आरा—चौधरी एण्ड को० बुकसेलर्स एण्ड स्टेशनरी महादेव रोड।

इलाहाबाद—श्रीवनारस बुकडिपो, ६३, जानसंगम।

„ —श्रीदुर्गा पुस्तक-भण्डार १०२, जानसंगम।

इटावा—श्रीहीरालाल अग्रवाल बुकसेलर।

इन्दौर—साहित्य-साधना-कुटीर, संयोगितागंज।

„ —दी नेशनल बुकडिपो, २१ राजावाड़ा चौक।

„ —तुलसी-साहित्य-सदन, बुकसेलर, ३ नासिया रोड।

„ —रामप्रसाद ओंकारलाल चौरसिया नं० ३ महात्मा गांधीरोड।

उदयपुर—पं० धनलालजी शर्मा भारतीय पुस्तकभण्डार

उज्जैन—अनन्त उपयोगी वस्तुभण्डार, सतीगेट।

„ —श्रीकृष्ण भक्ति भण्डार, जनरल मर्चेंट, चौक।

„ —आनन्दीलाल चतुरविहारीलाल, चौक।

ऋषिकेश (देहरादून)—श्रीगीताभवन, स्वर्गश्रम।

कटनी (सी० पी०)—बद्री स्टेशनरी मार्ट।

कमालगंज (फरुखाबाद)—भीमशंकर विद्यार्थी औदित्य पुस्तकभण्डार, औदित्य

कलकत्ता—श्रीगोविन्द-भवन-कार्यालय, ३०, बाँसतला गली।

करनाल—अमर बुकडिपो, प्रो० रूपचन्द मंगतराम जैन।

करवी—अग्रवाल स्टोर्स, पुरानाबाजार डाकखानाके पास।

कन्नौज—गजेन्द्र बन्धु बुकसेलर्स, बड़ा बाजार।

कानपुर—श्रीप्रकाश धी स्टोर, काहूकोठी।

„ —सरस्वती सेवासदन, १०८। ८८ पी० रोड।

सीसामऊ।

कानपुर—गीता-पुस्तक-भण्डार जनरल पोस्ट आफिसके सामने ।

—भारती पुस्तक-भण्डार, ३३।१८ चौकबाजार ।

कौच (जालौन)—श्रीअयोध्याप्रसाद दयाराम ।

—श्रीरामचन्द्र जनरल स्टोर्स, मानिक चौक बाजार ।

कोटा—मोहन न्यूज एजेंसी रामपुराबाजार ।

लखनवा—धीसीलाल गनपतसा, रामगंज ।

खरगोन—भाई पंढरीनाथ जगन्नाथ सराफ ।

खामगाँव—श्रीरामचन्द्रानन्द ब्रह्मचारी वीर हनुमान मंदिर ।

खुराई (सागर)—कुन्दनलाल लखपती ।

खुसरूपुर (पटना)—धार्मिक-पुस्तकालय ।

गया—भारतीय पुस्तक-भण्डार चौक ।

—माहुरी पुस्तक-भण्डार, कृष्णप्रकाश रोड ।

गालियर—लायल बुकडिपो, सरस्वतीसदन, लक्ष्मी ।

—भारतीय पुस्तकालय ।

गाजियाबाद—श्रीरघुनाथ साहित्यकेन्द्र, १०० नया दरवाजा

गुजरी (धार)—रामगोपाल हजारीलाल बांसल ।

गोला गोकर्ननाथ (खीरी)—नारायणप्रसाद, सीताराम पुस्तकालय, न्यूज एजेंट, बड़ा बाजार ।

—बद्रीप्रसाद मुरलीधर गुप्ता ।

चन्दौसी—भोलनाथ गुप्त बड़ा बाजार ।

चिरगाँव (झाँसी)—श्रीजानकीप्रसाद जुगलकिशोर ।

चित्रकूट—रामकिशन अग्रवाल बुकसेलर गंगातीर बाजार ।

छपरा—पुस्तकाश्रम सलेमपुर ।

जनकपुर रोड—लोकबन्धपुस्तकालय ।

जबलपुर—ज्ञान ग्रन्थागार, पता—भारत पेपर मार्ट, जवाहरगंज ।

—सुभाष-साहित्य-मन्दिर १९२, १९५ जवाहरगंज ।

जयपुर—श्रीनारायण गुप्ता फोटोग्राफर, त्रिपोलियाबाजार ।

जलगाई गुड़ी—महावीरप्रसादजी अग्रवाल ।

जालना (दक्षिण)—हिन्दी-साहित्य-भण्डार, नेहरू रोड ।

जालन्धर—निहालचन्द दियालचन्द बुकसेलर, भैरोबाजार ।

जोधपुर—किताब घर, आउट-साइड सोजतीगेट ।

झाँसी—टण्डन बुकडिपो, सीपरीबाजार ।

दतिया—किशोरीशरण दूबे, मुड़िआनका कुआँ ।

दरभंगा—मोखलाल रामप्रसाद बड़ा बाजार ।

—सस्ता-पुस्तक-भण्डार, टावर चौक ।

दिल्ली—श्रीरामनरसिंह हरलालका, अस्पतालके ऊपर, संतनगर करोलबाग ।

—श्रीकुन्दनलाल कौशिक बुकडिपो, दूकान नं० ४४५५, नई सड़क ।

—दी जनरल बुक सप्लाय कं० ओरिजिनल रोड करोलबाग ।

—देहाती पुस्तक भण्डार, चाकड़ी बाजार ।

—नवयुग ट्रेडर्स ओरिजिनल रोड, देवनगर, करोलबाग ।

—नयी दुकान, नयी सड़क ।

—पंजाबी पुस्तक-भण्डार, दरीवाकलौ ।

—नारायणदास जयदयालमल दरीवाकलौ ।

दिल्ली कैन्ट—सुरजनमल लायकराम बुकसेलर सदरबाजार ।

दुग—अग्रवाल बुकडिपो ।

—श्रवणलाल बुकसेलर फ्रेममेकर शनिचरी बाजार ।

दुमका—कृष्ण बुकस्टोर ।

देहरादून (यू० पी०)—ब्रनवारीलाल आत्मारामजी, कांवलीरोड चौराहा ।

—जुगलकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बुकसेलर्स एण्ड स्टेशनर्स ।

धामपुर (बिजनोर)—रामकुमार महावीरप्रसाद बुकसेलर्स एण्ड स्टेशनर्स ।

धौलपुर—भवानीशंकर गर्ग एण्ड सन्स निहालगंज ।

—किशनलालजी बुकसेलर, निहालगंज ।

नवद्वीप—नवद्वीप-भजनाश्रम ।

नर्मदापुर—मोतीलाल नेमीचन्द ।

नडियाद (गुजरात)—अम्बालाल डाह्याभाई पटेल,
लखावाड ।

नवादा (गया)—आर्य-पुस्तक-भण्डार ।

नागपुर—श्रीविहारीलाल झुंझनूवाला, श्यामभवन,
सुभाष रोड ।

„ —राजाराम सुगनचन्द मोहता हंसापुरी ।

नौगछिया—भीखराम बैजनाथ ।

पटना—श्रीलक्ष्मीनारायण शास्त्री, विड़ला-मन्दिर,
सन्जीवाग ।

पीलीभीत—रामभरोसेलाल छोटेलाल बुकसेलर,
चौकबाजार ।

पूना—नेल्लेकर बुकसेलर, बुधवारचौक ।

प्रतापगढ़—किसान-पुस्तकालय, बुकसेलर ।

„ —अग्रवाल बुकडिपो ।

फरीदपुर (बरेली)—रामानन्द ओमप्रकाश ।

फतेहपुर—हरदयाल गनेशप्रसाद बुकसेलर, कचहरी रोड ।

„ —प्रतापनारायण खन्ना चौक ।

„ —शिवभूषण गुप्ता हरीहरगंज ।

फतेहगढ़—कृष्ण स्टेशनरी स्टोर बुकसेलर ।

फर्रुखाबाद—माहेश्वरी बुकडिपो ।

„ —शैदा बुकडिपो ।

फिरोजाबाद (आगरा)—देवदत्त ब्रदर्स ।

„ —भारत खादी भण्डार ।

फिरोजपुर छावनी—विद्यापुस्तक भण्डार बाजार नं० ४ ।

बनारस—श्रीगीताप्रेस कागज एजेन्सी नीचीबाग ।

बदायूँ—बांसल बन्धु आलमगिरगंज ।

„ —सस्ता भण्डार बुकसेलर ।

„ —प्यारेलाल मुंशीलाल ।

बलिया—छात्र-हितकारी भण्डार, स्टेशन रोड ।

बड़ोदा—शाहबुकडिपो, सूरसागर सामने ।

„ —पुस्तकालय सहायक सहकारी मण्डल लि०
बुकसेलर रामपुरा पो० बाक्स नं० १० ।

बरेली—रामचरणलाल गोयल एण्ड, सन्स बुकसेलर,
दर्जी चौक ।

बक्सर—रामनाथ मिश्रा बुकसेलर, रामरेखाघाट ।

बाराबंकी—जयजयराम शिवनरायन बुकसेलर ।

„ —गोकुल बुकडिपो ।

बिजनोर—रामचरणदास गुप्ता, बुकसेलर, स्कूलो

„ —पर्वत बुकस्टाल ।

बिलासपुर—रामानुज तिवारी पुस्तकालय, गोलब

„ —महावीरप्रसाद मिश्रा, मिश्रापुस्तक
महावीरगंज ।

बीकानेर—श्रीईश्वरदास डागा, बी० के० विद्या
निकट ।

बुलन्दशहर—भगवत बुकडिपो डिप्टीगंज ।

„ —हरिगोपाल धनपाल बुकसेलर, ब
चौक ।

बूँदी—रामस्वरूप राधावल्लभ, श्रीलालविहारीना
धानमण्डी ।

बृन्दावन—श्रीभगवान् भजनाश्रम, अष्टखम्भा ।

बेतिया—सुन्दरमल हरीराम ।

बंगलौर—इ. म. इ. सेन्टर मन्दिर, हास्पिटल
ईस्ट ।

बंबई—श्रीसत्सङ्ग-भवन, दादीसेठ अग्यारी लेन, सि
बाड़ी, गणेशबाग । नं० १७९ । १८१ ।

ब्यावर—रामस्वरूप शर्मा, कृष्णा बुक हाउस ।

भरतपुर—स्टूडेण्ट्स ब्रादर्स एण्ड कं० बुकसेलर्स
स्टेशनर्स ।

„ —बंसल बुकडिपो ।

भागलपुर—शिवचन्द महाराज अर्जुनलाल, सूरजगं
भीवानी—मंगतराय अलाहभूत । ठि० गोकु

युगलकिशोर हाटबाजार ।

„ —जगन्नाथ जानकीदास सराफ हाटबाजार
गजबाट ।

मथुरा—श्रीगीता-आश्रमका पुस्तकभण्डार, गजबाट ।

मधुवनी—मामूरधुबरसिंह बुकसेलर ।

- मान्धाता ओंकारजी-वृन्दावन नारायणप्रसाद शाहजहाँपुर-वद्रीप्रसाद मुरलीधर, गुप्ता बुकडिपो
पाराशर । बहादुरगंज ।
- मिर्जापुर-कैलाशनाथ महरोत्रा, बुकसेलर, चौराहा " -अग्रवाल ब्रादर्स बुकसेलर एण्ड स्टेशनर्स चौक ।
बेलसलीगंज । शिकोहाबाद-शर्मा बुकडिपो ।
- मुरादाबाद-लालमनदास अँप्रकाश वर्तनवाले, मण्डी चौक । शिमला-सुन्दरदास एण्ड सन्स, लोअरबाजार ।
" -अग्रवाल बुकडिपो, अमरोहागेट । शेगाँव-श्रीहनुमानदास हरलालका ।
- मुरेना-गुप्ता स्टोर्स । शोलापुर-रामरख मोतीराम चाण्डक, चौदीगली ।
मुजफ्फरपुर-सूरज महाराज बुकसेलर, कम्पनीबाग । श्रीहूँगरगढ़ (बीकानेर)-विरधीचन्द्र वृजमोहन
मुजफ्फरनगर-रघुवरदयाल एण्ड को० गोपालरोड, न्यूमंडी । मून्दड़ा ।
- मुंगेर-श्रीमन्त्री हिंदूसभा कार्यालय । सहारनपुर-श्रीचन्द्रभ्राता-पुस्तक-भण्डार, शिवाजी बाजार ।
मेरठ-श्रीशंकरदास दुर्गाप्रसाद आदती, सदरबाजार । सागर-गजाधरप्रसाद बुकसेलर, कटराबाजार ।
- " -श्रीरावे हाउस, निकट-तहसील । सिवान-श्रीगीताप्रेस कागज एजेंसी ।
" -भीखाराम सनेहीराम, सदरबाजार । सिकन्दराबाद (दक्षिण)-वासुदेव पाण्डे, मूलचन्द
मैनपुरी-श्रीरमेशचन्द्र ब्रजेशचन्द्र, कटरा । एण्ड सन्स, केमिस्ट एण्ड
मोतिहारी-के० पी० गुप्ता एण्ड सन्स । ड्रिगिस्ट, स्टेशन रोड ।
- मौल (बाँदा)-मोतीलालजी गुप्ता, जनरल मर्चेन्ट्स, सीतापुर-श्रीगीतामन्दिर गीतानगर ।
मौदहा । सीकर-हिन्दी-विद्याभवन बुकडिपो ।
- मसड़ा-भारत-विद्या-पुस्तकभण्डार । सुनाम-मैनेजर, श्रीहरिसंकीर्तन-मण्डल ।
- रायपुर-गज्जूलाल चुनकाईलाल बुकडिपो, गोलबाजार । सुलतानगंज-मोहनलाल बुकसेलर, जनताभण्डार ।
- " -राष्ट्रीय विद्यालय बुकडिपो, गोलबाजार । सूरत-श्रीनगीनदासजी चुन्नीलाल जरीवाल बालाजी रोड ।
- रायगढ़-महीपतलाल गंगाप्रसाद बुकडिपो, सदरबाजार । हरदोई-श्रीमन्नालाल गुप्ता बुकसेलर, कचहरी ।
- राँची-ज्वालादत्त गोविन्दराम, ऊपरबाजार । " -जयहिंद स्कूल, बुकडिपो सदरबाजार ।
- रोहतक मण्डी-श्रीबनवारीलाल बुकसेलर भजनाश्रम । हलद्वानी-संतोष बुकडिपो, सदरबाजार ।
- रखनऊ-श्रीमोतीलाल श्यामसुन्दर, श्रीरामरोड । हाथरस-राष्ट्रभाषा पुस्तकभण्डार ।
- रखीमपुर (खीरी)-वल्लभदास कन्हैयालाल, जनरल " -दीपक ज्योति-कार्यालय ।
मर्चेन्ट्स । " -ध्यारेलालजी बुकसेलर, ऐज्यूकेशनल बुकडिपो,
लहरियासराय-वैद्यनाथ पुस्तक-मन्दिर, कचहरी रोड । सासनी गेट ।
- लखनऊ-प्रधान मंत्री, श्रीसनातनधर्म-मण्डल, धर्ममन्दिर होशियारपुर-वैदिक साहित्य सदन बाजार वकीलान ।
रोड । होशंगाबाद-ब्रह्मज्ञान पुस्तकालय ।
- लुधियाना-मोहन-पुस्तकालय, चौड़ाबाजार ।

प्रेमी ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

(१) जिन ग्राहकोंके रुपये मनीआर्डरसे आ गये थे, उनको रजिस्टर्ड-पोस्टसे जनवरीका 'भक्तचरिताङ्क' तथा मईतकके चार साधारण अङ्क प्रायः भेजे जा चुके हैं। जिनको अबतक न मिले हों, वे तुरंत पत्र लिखें। पत्रमें रुपये भेजनेवालेका नाम-पता वही लिखें, जो मनीआर्डरमें लिखा था। रुपये भेजनेकी तारीख भी अवश्य लिखें। रुपयोंकी रसीद अथवा उसकी नकल भेज सकें तो शीघ्र पता लग जायगा। रसीद न मिली हो तो डाकखानेमें जरूर शिकायत कर दें।

(२) जिनके रुपये नहीं आये थे, उनको 'भक्तचरिताङ्क' फरवरीके अङ्कसहित बी० पी० द्वारा भेजे गये थे और उनमें जिनके बी० पी० के रुपये हमें मिल गये, उनको मईतकके तीनों अङ्क भेजे जा चुके हैं। अबतक न मिले हों तो अपने डाकखानेमें पता लगावें तथा हमें भी कृपया तुरंत सूचना दें।

(३) पुराने ग्राहकोंको भेजी हुई जो बी० पी० वापस लौटी हैं, उनमेंसे कुछ तो ऐसी हैं, जिनकी सूचनातक ग्राहकोंको डाकखानेसे नहीं मिली थी कि उनके नाम कोई बी० पी० आयी है। कुछ ऐसी हैं कि ग्राहक महोदय संयोगवश डाकखाने एक दो दिन देरसे पहुँचे और तबतक बी० पी० वापस लौट गयी। ऐसे ग्राहक प्रायः कल्याण पढ़ना चाहते हैं, इसलिये उनसे निवेदन है कि वे ७॥ रुपये निःसङ्को मनीआर्डरसे भेजकर 'भक्तचरिताङ्क' से ग्राहक बन जायें या हमें बी० पी० से भेजनेका आदेश दें।

(४) कुछ सज्जन थोड़े-थोड़े दिनोंके लिये पता बदलवाते हैं, इससे बार-बारकी काट-छाँटसे ग्राहक-रजिस्टरका पृष्ठ भद्दा हो जाता है; पहलेसे छपे हुए पतेकी सिलपकी अङ्क भेजते समय सुधार पड़ता है, जरा भी भूल रह जाती है तो ग्राहकको अङ्क नहीं मिलता। अङ्क गुम हो जानेसे ग्राहक असंतोष होता है तथा शिकायत मिलनेपर हमें दुबारा अङ्क भेजना पड़ता है। इसलिये स्थायी रूपसे बहुत लंबे समयके लिये स्थान परिवर्तन करनेपर ही पता बदलवाना चाहिये। पता बदलनेकी सूचना देते समय ग्राहक-नंबर, पुराना और नया पता पूर्णरूपसे साफ अक्षरोंमें कम-से-कम १५ दिन पूर्व अवश्य लिखना चाहिये। थोड़े समयके लिये पता बदलवाना हो तो अपने डाकखानेको लिख देना चाहिये। या पता न बदलवाकर अपने स्थानीय सुहृद्-बन्धुसे कहकर व्यवस्था करा लेनी चाहिये।

(५) ग्राहक-नंबर न लिखनेसे उसे खोज निकालनेमें शक्ति तथा समयका बहुत व्यय करना पड़ता है। मनीआर्डरपर ग्राहक-नंबर न रहनेसे कभी-कभी नये नंबरपर नये ग्राहकके रूपमें रुपये जमा हो जाते हैं और पुराने नंबरसे बी० पी० चली जाती है। कभी-कभी एक ही नामके कई ग्राहक होनेसे भी गलत नामपर रुपये जमा हो जाते हैं। और भी बहुत-सी अड़चनें आती हैं, इसलिये रुपये भेजते तथा पत्रव्यवहार करते समय कृपापूर्वक ग्राहक-नंबर अवश्य-अवश्य लिखने चाहिये।

(६) कुछ पत्र ऐसे आते हैं, जिनमें पता बिल्कुल नहीं रहता। किसीमें स्थानका नाम होता है पर अपना नाम नहीं होता। इसमें दो कारण हैं—कुछ ग्राहक तो ऐसा समझते हैं कि हम तो कल्याणके सुपरिचित हैं ही, पता क्या लिखें; कुछ लिखना भूल जाते हैं। ऐसी अवस्थामें उन पत्रोंका उत्तर हम दे नहीं पाते, उधर ग्राहकोंका असंतोष बढ़ता जाता है। नमूनेके तौरपर यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—(१) ता० १०।४।५२ का एक पत्र है जिसमें 'हाल मुकाम बड़ोदा' लिखा है—नाम-पता कुछ नहीं है, (२) 'सौ० यमुनाबाई धर्मे' अपने नाममें भूल सुधारनेको लिखती हैं, पर पता नहीं है, (३) श्रीवद्रीनाथजी ७३ चंदा भेज चुके हैं, लिखते हैं 'कल्याण' नहीं मिला, परंतु पता नहीं है, (४) '१७ बी श्रीमोहन लेन, कालीघाट कलकत्ता' यह पता लिखा है, पर नाम नहीं है। इसी प्रकारके बहुतसे पत्र आते हैं, उनमेंसे खोज करनेपर जिनका पता लग जाता है, उनकी शिकायत तो दूर कर दी जाती है, शेष पत्र पड़े रह जाते हैं। अतएव प्रार्थना है कि पत्र लिखते समय सावधानीसे अपना नाम तथा पूरा पता अवश्य लिखें।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

१७८

भक्त
वे लुप्त
भजन
जायगा
रा भक्त
जा चुके
जिन
ऐसी है
स लोट
सङ्कोच
।
-छांटने
सुधार
ग्राहक
एसे
सूचक
दिन
ख दे
ये ।
कर
हप
ग्राह
ये हप
है प
रिचित
उध
५२ क
थने
बुके
कता
रनेप
ते हैं
वपुर



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन जय
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २००९, जुलाई १९०९

विषय

१-रंगभूमिमें श्याम-गौर-किशोर [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) ...	११०
२-कल्याण ('शिव') ...	१११
३-गोपियोंका विशुद्ध प्रेम अथवा रासलीलाका रहस्य (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	११२
४-श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन ...	११३
५-अभिलाषा [संकलित] ...	११४
६-भविष्य जीवनकी झाँकी (प्रो० श्रीजयनारायण मल्लिक, एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार) ...	११५
७-अघमर्षण (प्रो० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ...	११६
८-अमर मरण (श्रीगोपीनाथ कृष्ण कुण्डे) ...	११७
९-वे दिन कब आवेंगे [कविता] (श्रीभारतेन्दुजी) ...	११८
१०-जाकी रही भावना जैसी (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०) ...	११९
११-मैत्री-भावनाका अम्यास (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) ...	१२०
१२-कर्णाटकके संत कवि कनकदास (श्रीमि० कृ० राजगोपाल, बी० ए०, 'साहित्यविशारद') ...	१२१
१३-जब वैष्णव यमलोक पधारे [कहानी] (श्री 'चक्र') ...	१२२
१४-कामके पत्र ...	१२३
१५-साधक-नियमावली (साधक-संघ-गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) ...	१२४
१६-सती द्रौपदी (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती) ...	१२५
१७-मैं स्वरूप पहचान न पाया [कविता] (श्रीमोहनलाल गुप्त 'मधुप' एम्० ए०) ...	१२६

चित्र-सूची

तिरंगा

१-रंगभूमिमें श्याम-गौर-किशोर ...	१२७
----------------------------------	-----

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिल्लिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनंद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०)

कृष्ण
सिखा
सीताराम
गारा ॥

लाई ११

११

११

११

११

११

११

११

११

११

११

११

११

११

११

११

११

११

११

साधारण

भारत

विदेश

(११)

कल्याण



रंगभूमिमें श्याम-गौर-किशोर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद् वर्ष्म तद्वच्छुभं नेत्रे चेतपसोजिते सुरुचिरे याभ्यां हरिर्दृश्यते ।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

वर्ष २६ }

गोरखपुर, सौर श्रावण २००९, जुलाई १९५२

{ संख्या ७
पूर्ण संख्या ३०८

रंगभूमिमें श्याम-गौर-किशोर

रंगभूमि आये दसरथके किसोर हैं ।

पेखनो सो पेखन चले हैं पुरनर-नारि, वारे बूढ़े अंध पंगु करत निहोर हैं ॥
नील पीत नीरज कनक मरकत घन-दामिनि वरन तनु, रूपके निचोर हैं ॥
सहज सलोने, रामलखन ललित नाम, जैसे सुने तैसेई कुँवर सिरमौर हैं ॥
चरन सरोज, चारु जंघा जानु ऊरु कटि, कंधर बिसाल, बाहु बड़े बरजोर हैं ॥
नीके कै निषंग कसे, कर-कमलनि लसे वान-विसिषासन मनोहर कठोर हैं ॥
काननि कनकफूल, उपवीत अनुकूल, पियरे दुकूल बिलसत आछे छोर हैं ॥
राजिव नयन, बिधु बदन, टिपारे सिर, नखसिख अंगनि ठगौरी ठौर-ठौर हैं ॥

—श्रीतुलसीदासजी

कल्याण

याद रखो—जिसके हृदयमें सदा सत्य, न्याय, प्रेम, क्षमा, धैर्य, ईमानदारी, संतोष, शान्ति, त्याग और आनन्दके शुभ विचार खेला करते हैं, उसका जीवन भी वैसा ही बन जाता है। इसलिये निरन्तर इस प्रकारके शुभ विचारोंका ही चिन्तन करो।

याद रखो—जबतक अशुभ विचार—मिथ्या, अन्याय, द्वेष, क्रोध, असहिष्णुता, बेईमानी, लोभ, अशान्ति, भोगलालसा, विषाद आदि हृदयमें वर्तमान हैं, तबतक मनुष्य कभी सुखी और पवित्र-जीवन नहीं हो सकता। अतः इनको हृदयसे निकाल दो। परंतु 'इन बुरे विचारोंको हृदयसे निकालना है' इस प्रकारसे भी इनका यदि बार-बार चिन्तन होगा तो ये हृदयसे निकलेंगे नहीं, और भी प्रगाढ़ हो जायेंगे। 'चौथका चाँद नहीं देखना है' बार-बार इसका स्मरण करनेसे वह अवश्य देखा जाता है। 'नहीं देखना है' यह बात यदि याद ही नहीं आती तो कोई भी चाँद नहीं देखता। इस मकानमें रातको भूत आता है, ऐसी बात बार-बार याद रहनेपर बिना डूए भी भूतका डर लगने लगता है। जिसको भूतकी कल्पना नहीं है, उसे भूतका डर नहीं लगता। इसी प्रकार अशुभ विचारोंके निकालनेकी दृष्टिसे भी उनका बार-बार चिन्तन होगा तो वे नहीं निकलेंगे।

याद रखो—अशुभ विचारोंको निकालकर शुभ विचारोंको लाना है तो अशुभके निकालनेकी बात न सोचकर शुभका चिन्तन आरम्भ कर दो। जगत्के प्रपञ्चोंके और संसारके पापों एवं बुराइयोंके बदले भगवान्की मङ्गलमयता, उनकी कल्याण-स्वरूपता, उनकी दयालुता, प्रेम, भक्तवत्सलता, महत्ता, सत्यस्वरूपता, न्यायस्वरूपता, शान्तिमयता, आनन्दमयता, निष्कामता, परिपूर्णता, सर्वहितैषिता, समता आदि

महान् दिव्य गुणोंका स्मरण करने लगे। भगवान्के तत्त्व-रहस्यका मनन तथा विचार आरम्भ कर दो। उनकी मधुर मनोहर लीला-कथाओंका श्रवण, गायन, चिन्तन करने लगे। उनके अतुलनीय माधुरीसे परिपूर्ण पाप सुन्दर सुधावर्षी मुनिमनमोहक स्वरूपके ध्यानका अभ्यास आरम्भ कर दो, फिर अशुभ विचार अपने-आप ही नष्ट हो जायेंगे।

याद रखो—शुभको लानेके लिये भी अशुभका स्मरण मत करो। अशुभका स्मरण ही अशुभको जीवित और प्रतिष्ठित रखता है।

याद रखो—कल्याणमय भगवान् महान् अमृत दिव्य गुणोंके भण्डार हैं। उनका एक-एक गुण इतना पवित्र, इतना विशाल, इतना मङ्गलमय और इतना प्रभावशाली है कि उसका स्मरण तथा अनुशीलन आरम्भ हो जानेपर अपने-आप ही सद्विचार तथा सद्गुणोंके समूह आने लगेंगे।

याद रखो—सारा जगत् भगवान्से निकला है और इसमें सर्वत्र केवल भगवान् ही भरे हैं। भगवान् सर्वथा कल्याणमय—सद्गुणसमुद्र हैं। अतः जगत्में भी सर्वत्र सर्वथा कल्याणमय गुणसमूह ही भरे हैं। तुम्हारी आभ्यन्तरिक आँखें तमोमयी तथा अशुभदर्शनशील हैं, इसलिये तुम्हारा मन निरन्तर अशुभका क्रीडा-प्राङ्गण बन रहा है। रात-दिन अशुभके समूह ही उसमें धमाचौकड़ी मचाते रहते हैं। इनको यों ही रहने दो। इनको निकालनेकी बात मत सोचो। बस, लानके साथ मङ्गलमय भगवान्की मङ्गलमयता तथा उनकी सद्गुणवलीको देखना शुरू कर दो। जब उनकी मङ्गलमय सद्गुणावलीको हृदयमें स्थान मिल जायगा, तब अशुभ विचार वैसे ही तुरन्त विलीन और नष्ट हो जायेंगे जैसे सूर्योदय होनेपर अंधकार विलीन और नष्ट हो जाता है।

‘शिव’

गोपियोंका विशुद्ध प्रेम अथवा रासलीलाका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायी (स्क० १० अ० २९ से ३३) की रासलीला-अध्यायके विषयमें कुछ विचार किया जाता है। साधारणतया लोग रासपञ्चाध्यायीका जो अभिप्राय व्यक्त किया करते हैं, वास्तविक रासपञ्चाध्यायी उससे भिन्न है। वस्तुतः रासपञ्चाध्यायीमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका विशुद्ध माधुर्यका भाव है। उस विशुद्ध प्रेमके कारण ही आज संसारमें गोपियोंकी इतनी प्रशंसा की जाती है। गोपियोंमें श्रीराधिकाजीका स्थान सबसे ऊँचा है, ये भगवान्की आह्लादिनी शक्ति हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके नायक भगवान् श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना, उनको प्रसन्न एवं आनन्दित करना, यह उनका ही काम था। इनकी सखी गोपियोंका भी यही काम था। श्रीकृष्णलीला-सम्बन्धी जितने भी ग्रन्थ हैं, उन सबमें हम श्रीमद्भागवतको प्रधान समझते हैं, किंतु भागवतमें यत्किञ्चित् कहीं जो जारभाव-सा दिखता है, उसे हमारा मन स्वीकार नहीं करता। यह चीज हमारे कामकी नहीं, हमें तो विशुद्ध प्रेमभाव ही देखना चाहिये। पति-पत्नीका प्रेम तो कामभावको लेकर हो सकता है, किंतु भगवान्का गोपियोंके साथ कामभावको लेकर प्रेम था, यह हम स्वप्नमें भी स्वीकार नहीं कर सकते। भगवान् श्रीकृष्णका श्रीरुक्मिणीजीके साथ जो प्रेम है, जिससे कि संतानोत्पत्ति होती है, यह उनका ऐश्वर्य-युक्त प्रेम है। जिस प्रेममें कामभाव हो, वह प्रेम नहीं। भगवान् प्रेम और आनन्दके पुञ्ज हैं। उनका प्रेम पूर्ण विशुद्ध था। भगवान्की जितनी भी क्रियाएँ होती थीं, केवल गोपियोंको आह्लादित करनेके लिये ही होती थीं। रासलीलामें जो उनका नृत्य, गान, वंशीवादन आदि होता था, सब गोपियोंको सुख पहुँचानेके लिये,

उनका प्रेम बढ़ानेके लिये ही होता था। इसी प्रकार गोपियोंकी जितनी क्रियाएँ होती थीं, केवल भगवान्को आह्लादित करनेके लिये ही थीं।

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमात्मा थे, प्रेम-प्रचारके लिये ही इन्होंने मनुष्यरूपमें अवतार धारण किया था, न कि कामोपभोगके लिये। और वास्तवमें इन्होंने विशुद्ध प्रेमका प्रचार किया भी। मेरी एक लोकोक्ति सुनी हुई है, वह इस प्रकार है। एक समय नारदजीकी कामसे भेंट हुई, तब नारदजीने कहा—‘अरे मदन! तुमने तो मेरे मनमें भी काम-विकार पैदा कर दिया।’ तब कामने नारदजीसे बड़े अहङ्कारपूर्ण वचन कहे। उसने कहा कि ‘तुम तो चीज ही क्या हो, मैं ब्रह्मा, विष्णु एवं महेशको भी काममोहित करके नचा सकता हूँ, मेरे सम्मुख कोई भी खड़ा नहीं रह सकता।’ तब नारदजी भगवान् विष्णुके पास गये एवं कामदेवके वचन उन्होंने ज्यों-के-त्यों उन्हें कह सुनाये। नारदजीने भगवान्से कहा, ‘उसको इतना घमंड हो गया है कि वह आपको भी कुछ नहीं समझता, यदि आप उसका अभिमान नष्ट न करेंगे तो वह और उदण्ड हो जायगा। इसलिये आपको उसका अभिमान नष्ट करना चाहिये।’ तब भगवान् विष्णुने नारदजीसे कहा, ‘जाओ—कामसे कह दो कि मैं द्वापरमें मनुष्यरूपमें अवतार ग्रहण करूँगा। उस समय मुझे तुम किलेकी लड़ाई करना चाहोगे या मैदानकी।’ तब नारदजीने कामके पास आकर उससे यह बात पूछी। काम बोला—‘मुझे किलेकी लड़ाईमें* भी कोई नहीं जीत

* किलेकी लड़ाईका अर्थ यह है कि गिरि-गुहा आदि एकान्त स्थानोंमें जहाँ कि काम-क्रोधादिका प्रायः

सकता, फिर मैदानकी लड़ाईमें* तो जीत ही कौन सकता है ?

फिर नारदजीने भगवान्‌के पास जाकर सारी बातें कह दीं। तब भगवान्‌ने नारदके द्वारा कामको सूचित कर दिया कि 'तुम्हारे साथ मैदानकी लड़ाई करनेके लिये मैं श्रीकृष्णरूपमें अवतार लूँगा।' भगवान्‌की तो बात ही क्या, भगवान्‌के साथ रासलीला करनेवाली गोपियोंने ही मदनके मदको चूर कर दिया। मधुवनकी अद्भुत शोभा एवं शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त पवन जिसमें कि स्वाभाविक ही कामकी उत्पत्ति हो सकती है और ऋषि-मुनियोंका भी कामसे मोहित होना सम्भव है, वहाँ वे सुन्दरी, युवा, कुमारी तथा विवाहिता गोपियाँ इतनी जितेन्द्रिया रही कि उनपर कामदेव अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सका। वे सुन्दरी गोपियाँ कामको जीतकर उसके मस्तकपर नाच-नाचकर उसके मदको चूर करती थीं। सुन्दरताके साथ पूर्ण युवावस्था होनेपर भी उन्होंने विशुद्ध प्रेमभाव ही रखा। इस प्रकार जब गोपियोंने ही कामको जीत लिया, तब नित्यमुक्त भगवान्‌की तो बात ही क्या ?

रासमें तो विशुद्ध प्रेमसे नृत्य, गीत, वंशीवाद्य आदि काटका प्रकार होता है, न कि भोग-विलासका। भगवान्‌ श्रीकृष्ण गोपियोंमें विशुद्ध प्रेमकी वृद्धि करते थे, रासमें भगवान्‌ गोपियोंके साथ नृत्य करते थे, इससे गोपियोंको बड़ी प्रसन्नता होती थी एवं विशुद्ध प्रेमका संचार होता था। उस समय उनको एक-दूसरेके सिवा कुछ भी सुधि नहीं रहती थी। कामकी सामर्थ्य नहीं कि उनकी ओर ताक भी सके। देखिये, गोपियोंमें कैसा विशुद्ध प्रेम था। भगवान्‌ने गोपियोंको बुलानेके लिये बड़े ही अवसर ही नहीं आता, वहाँ ब्रह्मचर्यसे रहकर कामको जीतना।

* मैदानकी लड़ाईका अर्थ यह है कि गृहस्थमें स्त्रियोंके समूहमें रहकर कामको जीतना।

मधुर स्वरसे वंशी बजायी थी। वंशीकी तान सुनते ही गोपियाँ सब काम छोड़कर श्रीकृष्णके पास चली आयीं। उस समय भगवान्‌ने उनसे कहा—'गोपियो ! रासक समय बड़ा भयावना होता है और इस वनमें बड़े-बड़े भयावने जीव-जन्तु रहते हैं; अतः तुम सब तुरंत व्रजमें लौट जाओ। रासके समय घोर जंगलमें बियोगी नहीं रुकना चाहिये। तुम्हें न देखकर तुम्हारे माता-पति-पुत्र और भाई-बन्धु ढूँढ़ रहे होंगे, उन्हें सब में न डालो। तुमलोगोंने रंग-विरंगे पुष्पोंसे लदे इस वनकी शोभाको देखा। पूर्ण चन्द्रमाकी कोर रश्मियोंसे यह रंग हुआ है, मानो उन्होंने अपने हाथों चित्रकारी की हो और यमुनाजीके जलका स्पर्श करे वहनेवाली शीतल वायुकी मन्द-मन्द गतिसे हिलते हैं। ये वृक्षोंके पत्ते तो इस वनकी शोभाको और भी बढ़ा रहे हैं; परंतु अब तो तुमलोगोंने यह सब कुछ देख लिया। अब देर न करो, शीघ्र-से-शीघ्र व्रजमें लौट जाओ। तुमलोग कुलीन स्त्री हो और स्वयं न सती हो, जाओ, अपने पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा करो। यदि मेरे प्रेमसे परवश होकर तुमलोग यहाँ आयी हो तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं हुई, अब तो तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि जगत्‌के पशु-पक्षी तो तुमसे प्रेम करते हैं, तुझे देखकर प्रसन्न होते हैं। कल्याणी गोपियो ! स्त्रियोंका परमधर्म यही है कि वे पति और उसके भाई-बन्धुओंकी निष्ठापटभावसे सेवा करें और संतानका पालन-पोषण करें। गोपियो ! मेरी लला और गुणोंके श्रवणसे, रूपके दर्शनसे, उन सबके कीर्ति और ध्यानसे मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेमकी प्राप्ति होती है, वैसे प्रेमकी प्राप्ति प्राप्त रहनेसे नहीं होती। इतक तुमलोग अभी अपने-अपने घर लौट जाओ।'।

इसपर गोपियाँ बोलीं—'हमारे श्रीकृष्ण ! तुम कष्ट-स्थापी हो। हमारे हृदयकी बात जानते हो। तुम्हें इस प्रकार निश्चुरताभरे बचन नहीं कहने चाहिये।

हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणोंमें ही प्रेम करती हैं। प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम सब धर्मोंका रहस्य जानते हो। तुम्हारा यह कहना कि 'अपने पति, पुत्र, भाई-बन्धुओंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है'—
अक्षरशः ठीक है, परंतु इस उपदेशके अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये; क्योंकि तुम्हीं सब उपदेशोंके पद (चरम लक्ष्य) हो, साक्षात् भगवान् हो। तुम्हीं समस्त शरीरधारियोंके सुहृद् हो, आत्मा हो और परम प्रियतम हो।'

तदनन्तर भगवान् ने बड़े ही प्रेमसे सबके साथ रासलीला आरम्भ की। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण दो-दो गोपियोंके बीचमें प्रकट हो गये। इस प्रकार एक गोपी और एक श्रीकृष्ण, इस क्रमसे मण्डल बनाकर भगवान् रासलीला करने लगे। सभी गोपियाँ ऐसा अनुभव करती थीं कि हमारे प्यारे श्रीकृष्ण तो हमारे ही पास हैं। उस समय रासोत्सवको देखनेके लिये सभी देवता अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आये, स्वर्गकी दिव्य दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं। स्वर्गीय पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। गन्धर्वगण अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ भगवान् के निर्मल यशका गान करने लगे। रासमण्डलमें सभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके साथ नृत्य करने लगीं। उनकी कलाइयोंके कांगन, पैरोंके पायजेब और करधनीके घुँघरू एक साथ बज उठे। जिससे वह मधुर ध्वनि बड़े ही जोरकी हो रही थी। यमुनाजीकी रमणीय बालकापर ब्रज-सुन्दरियोंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही अनोखी शोभा हुई। ऐसा जान पड़ता था, मानो अनेक सुवर्ण-मणियोंके बीचमें महामरकतमणि चमक रही हो। नृत्यके समय गोपियाँ तरह-तरहसे पाद-न्यास करने लगीं। कभी अपने पैर आगे बढ़ातीं और कभी पीछे हटा लेतीं। कभी धीरे-धीरे पैर रखतीं तो कभी बड़े वेगसे और कभी चाकती तरह घूम जातीं।

कभी अपने हाथ उठा-उठाकर भाव बतातीं, कभी मुसकराने लगतीं और कभी भौंहें मटकातीं। उनके कानोंके कुण्डल हिल-हिलकर कपोलोंपर आ जाते थे। नाचनेके परिश्रमसे उनके मुँहपर पसीनेकी बूँदें झलकने लगीं। इस प्रकार गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके साथ गा-गाकर नाच रही थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत-से श्रीकृष्ण तो साँवले-साँवले मेघमण्डल हैं और उनके बीच-बीचमें चमकती हुई गौरवर्णा गोपियाँ बिजली हैं।

उदारशिरोमणि सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार गोपियोंका सम्मान किया, तब गोपियोंके मनमें ऐसा भाव आया कि संसारकी समस्त स्त्रियोंमें हमीं सर्वश्रेष्ठ हैं, हमारे समान और कोई नहीं है। जब भगवान् ने देखा कि इन्हें कुछ गर्व हो गया है, तब वे उनका गर्व दूर करनेके लिये अपनी प्रधान सखी (राधिकाजी) को लेकर अन्तर्धान हो गये। भगवान् के अन्तर्धान होते ही सब गोपियोंमें खलबली मच गयी, वे भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें अत्यन्त व्याकुल हो गयीं और वनमें श्रीकृष्णको खोजने लगीं। जब बहुत खोजनेपर भी भगवान् नहीं मिले, तब वे परस्परमें ही भगवान् की लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। कोई श्रीकृष्ण बन गयी और कोई गोपी; इस प्रकार रासलीला करने लगीं।

इधर, जब भगवान् राधाजीको साथ लेकर वनमें जा रहे थे, तब राधाजीके मनमें यह अभिमान आया कि मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, इसीलिये भगवान् सब गोपियोंको छोड़कर मुझे साथ ले आये। इसके बाद चलते-चलते राधाजीने भगवान् से कहा कि 'मैं थक गयी हूँ, मुझसे अब चला नहीं जाता। इसलिये आप मुझे अपने कंधे-पर बिठाकर ले चलिये।' भगवान् बोले—'ठीक है।' ऐसा कह भगवान् बैठ गये और जब राधिकाजी भगवान् के कंधेपर बैठने लगीं, तब राधिकाजीके अभिमान-

को दूर करनेके लिये भगवान् झट अन्तर्धान हो गये । भगवान्को अन्तर्धान हुए देखकर राधिकाजी भी विलाप करने लगीं । वे हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! कहती हुई कृष्णको खोजने लगीं । अब उन्हें मालूम हुआ कि 'अहो, मेरे मनमें अभिमान आ गया था, इसीलिये भगवान् मुझे भी छोड़कर चले गये हैं ।' फिर राधिकाजी भी उनकी खोजमें लग गयीं ।

उधर गोपियाँ भी भगवान् श्रीकृष्ण और राधिकाजीको खोजनेके लिये वनमें घूमने लगीं । घूमते-घूमते उन्हें श्रीकृष्ण और राधिकाजीके पदचिह्न मिले । उन चिह्नोंको देखती हुई गोपियाँ आगे बढ़ गयीं । आगे जानेपर उनको श्रीकृष्णके बैठनेका चिह्न मिला; किंतु उससे और आगे बढ़नेपर केवल राधिकाजीके ही पदचिह्न मिले, श्रीकृष्णके नहीं । फिर वे सखियाँ राधिकाजीके पदचिह्नोंके पीछे-पीछे आगे बढ़ीं और कुछ दूर जानेपर उनको विलाप करती हुई राधिकाजी मिल गयीं । गोपियोंने राधिकाजीसे पूछा—'श्रीकृष्ण कहाँ हैं ?' तब राधिकाजीने कहा—'भगवान् मेरे साथमें यहाँतक आये थे, किंतु यहाँ मुझे भी छोड़कर चले गये । हमलोगोंमें अभिमान आ गया था, इसलिये भगवान् हमारे अभिमानको नष्ट करनेके लिये ही अन्तर्धान हो गये हैं । अब हम सबको उनसे आनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये ।'

तब विरहमें व्याकुल हुई सभी गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णको आर्त्तभावसे पुकारने लगीं । तब उनको अत्यन्त व्याकुल देखकर सबके बीचमें भगवान् सहसा प्रकट हो गये ।

उस समय गोपियोंने भगवान्से पूछा—'नटनागर ! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं । और कोई-कोई दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते । इन तीनोंमें तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है ।'

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मेरी प्यारी सखियाँ !

जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, उनका तो सारा जीवन स्वार्थको लेकर है । न तो उनमें सौहार्द है और न धर्म ही । उनका प्रेम केवल स्वार्थके लिये ही है । इसके सिवा उनका और कोई प्रयोजन नहीं । गोपियों जो लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं वे स्वभावसे ही करुणाशील सज्जन और माता-पिता—उनका हृदय सौहार्दसे, हितैषितासे भरा रहता है और उनके व्यवहारमें निश्चल धर्म भी है । कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते । ऐसे लोग चार प्रकारके होते हैं । एक तो वे, जो अपने स्वरूपमें ही मस्त रहते हैं । दूसरे वे, जो आसकाम यानी कृतकृत्य हो चुके हैं । तीसरे वे, जो अकृतज्ञ यानी कृतघ्नी हैं और चौथे वे, जो जल बूझकर अपना हित करनेवाले परोपकारी गुण लोकोसे भी द्रोह करते हैं । गोपियो ! मैं तो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेमका वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये । जैसे निर्धन मनुष्यको कमी बहुत-सा धन प्राप्त हो जाय और फिर खो जाय तो उसका कि खोये हुए धनकी चिन्तासे भर जाता है, अन्यत्र नहीं जाता, वैसे ही मैं भी उनकी चित्त-वृत्ति और भी मुक्त करती हूँ । तुम्हारी चित्तवृत्ति अन्यत्र कहीं न जाना मुझमें ही लगी रहे, इसीलिये तुमलोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मैं तुम्हारे अभिमानको नष्ट करने एवं प्रेम वृद्धि करनेके लिये छिप गया था । अतः तुमलोगोंसे प्रेममें दोष मत निकालो । तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ । मुझसे तुम्हारा यह मिलन निरमल और निर्दोष है । यदि मैं अमर शरीरसे अमर कालतक तुम्हारे प्रेमका बदला चुकाना चाहूँ तो नहीं चुका सकता । मैं तो तुम्हारा ऋणी हूँ ।' प्रेम कहकर वे गोपियोंके साथ पुनः रासलीला करने लगे ।

गोपियोंमें कामकी गन्ध भी नहीं थी। भगवान् श्रीकृष्णमें तो काम था ही नहीं, बल्कि उनके प्रभावसे गोपियोंमें भी कामभाव सर्वथा नष्ट हो गया था। भगवान् श्रीकृष्णके सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ थीं, उन रानियोंसे लाखों ही संतानें हुईं। इसमें भी उनमें कामकी गन्ध भी नहीं थी; उन्होंने तो अपनी पत्नियोंके साथ केवल शास्त्रानुकूल व्यवहार किया था और वह भी कामभावसे बिल्कुल रहित होकर।

इसपर भी यदि कोई भगवान्में गोपियोंके साथ व्यभिचारके दोषकी कल्पना करता है तो मैं तो यही कहता हूँ कि उसे नरकमें भी स्थान नहीं मिलेगा। कामकी सामर्थ्य नहीं कि वह भगवान् और गोपियोंमें प्रवेश कर सके, उनके तो प्रभावसे ही काम दूर हो जाता है। गोपियोंकी चर्चासे ही काम दूर भाग जाता है। यदि कोई गोपियोंमें यह भाव करे कि उन्होंने व्यभिचार किया तो उसको कौन-सी गति मिलेगी, यह भी मेरी बुद्धिमें नहीं आता। भगवान्ने स्वयं गोपियोंकी प्रशंसा की है। गोपियाँ प्रथम तो अबला थीं; स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा आठगुना अधिक कामभाव बताया जाता है। फिर साथमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही श्यामसुन्दर श्रीकृष्णरूपमें थे। उनके-जैसा सुन्दर भी कोई नहीं। सारे संसारका सौन्दर्य एकत्र होकर भी भगवान्के सौन्दर्यके एक अंशकी भी समानता नहीं कर सकता। ऐसे परम सुन्दरके साथ रहकर भी गोपियाँ कामभावसे सर्वथा रहित थीं, अतः उनकी जितनी बड़ाई की जाय, सब थोड़ी ही है। गोपियोंमें ऐसी शक्ति है कि उनके दर्शनसे दर्शकका कामभाव नष्ट हो जाता है, फिर भगवान्पर तो कामका कोई प्रभाव पड़ ही कैसे सकता है! भगवान्के तो ध्यानसे ही काम नष्ट हो जाता है। उन परब्रह्म परमात्माने तो श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर कामदेवका मद चूर्ण किया और सबको आदर्श शिक्षा दी। उनके तो आचरण अनुकरणीय थे। उन्होंने गोतामें स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

(३। २२-२४)

‘हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही वर्तता हूँ; क्योंकि हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्ममें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।’

ध्यान देकर सोचना चाहिये कि यदि भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ व्यभिचार करते तो व्यभिचारी कहलाते; किंतु जिस समय परीक्षित मृतक-अवस्थामें उत्तराके गर्भसे निकला तो उसको जीवित करनेके लिये भगवान्ने यह प्रतिज्ञा की कि ‘यदि मैंने जीवनभर सत्यका पालन किया है, यदि मैंने जन्मसे लेकर अबतक ब्रह्मचर्यका पालन किया है, तो उत्तराका यह सुपुत्र जीवित हो उठे।’ यह कहते ही बालक जी उठा। इससे यह समझना चाहिये कि यदि उनमें कुछ भी दोष होता तो क्या वे ऐसा कहते; कदापि नहीं। इसके सिवा, शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णका कट्टर शत्रु था, उसने भगवान्को अनेक गालियाँ दीं, यह बात महाभारत-सभापर्वमें विस्तार रूपसे है। तथा दुर्योधनने भी मरते समय बहुत-सी गालियाँ दीं, यह बात महाभारतके गदापर्वमें आती है। यदि उनमें इस विषयका कुछ भी दोष होता तो शिशुपाल तथा दुर्योधन अन्य गालियोंके साथ यह भी कहते कि तुमने गोपियोंके साथ व्यभिचार किया है;

किंतु उन्होंने ऐसा नहीं कहा। इससे भी यह सिद्ध होता है कि उस समय भी यही प्रसिद्धि थी कि भगवान् श्रीकृष्ण इस दोषसे सर्वथा मुक्त हैं। इसी कारण शिशुपाल और दुर्योधन उनपर यह दोष नहीं लगा सके। उन्हें यदि थोड़ी-सी भी गुंजाइश मिलती तो वे अवश्य यह दोष लगाते। इसके सिवा, रास-लीलाके समय भगवान् श्रीकृष्णकी दस वर्षकी आयु थी—दस वर्षके बालकमें स्त्री-सहवासका दोष घटना सम्भव नहीं, अतएव भगवान् श्रीकृष्णमें व्यभिचार-दोषके गन्धकी भी कल्पना नहीं की जा सकती; किंतु दम्भी और व्यभिचारी लोग भगवान्पर झूठा दोष-आरोप करके अपनी कामवासना सिद्ध करनेके लिये ऐसा कहते हैं कि देखो, श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ कामोपभोग किया, इसीसे गोपियोंकी मुक्ति हो गयी। इस प्रकार कहकर वे भोली-भाली स्त्रियोंको अपने पंजेमें फँसाकर खुद तो श्रीकृष्ण बनते हैं और उन स्त्रियोंको गोपी बनाते हैं एवं फिर उनके साथ पापकर्म करते हैं; भगवान् उनको कौन-सी घोर गति देंगे, यह तो वे भगवान् ही जानें।

भगवान् श्रीकृष्णका तो गोपियोंके साथ विशुद्ध प्रेम था, वहाँ कामका नाम-निशान भी नहीं था। उनका प्रेम जारभावको लेकर कदापि नहीं था। मैं यह नहीं कहता कि भागवतमें जो प्रेमका विषय है, वह और ग्रन्थोंकी अपेक्षा कम है। भागवतमें प्रेमका वर्णन विस्तृत है; किंतु वह विशुद्ध एवं अत्यन्त स्वच्छ है, उसमें जारभावका नाम-निशान भी नहीं है। अवश्य ही भागवतके कुछ श्लोकोंमें अश्लीलता और जारभावका उल्लेख मिलता है, उसे हम प्रक्षिप्त कहें तो भी ठीक नहीं और यदि उसे छिष्ट कल्पना करके वेदान्तके सिद्धान्तमें घटावें तो भी ठीक नहीं। वहाँ आये हुए रमण आदि अश्लील शब्दोंका जैसा स्पष्ट अर्थ व्याकरणसे समझमें आता है, वैसा नहीं मानना चाहिये; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण दोषोंसे

सर्वथा रहित और विशुद्ध सच्चिदानन्दधन वस्तु हैं। अतः उनमें अश्लीलताका दोष हमारी आत्मा स्वीकार नहीं करती और न ऐसी मान्यतामें कोई लाभ होता है क्योंकि यह शास्त्र-मर्यादा और युक्ति-संगत भी नहीं है। सिद्धान्तमें कोई गड़बड़ी नहीं है, उनका प्रेम विशुद्ध है, उसमें काम था ही नहीं; फिर भी गोपियोंके साथ उनके सम्बन्धमें जो ऐसी अश्लील बातें कहीं आती हैं, वे हमारी समझमें नहीं आती इसलिए उन्हें नहीं मानना चाहिये। हमें भागवतपर दोष न लगाकर यही मानना चाहिये कि यह प्रकरण हमारे बुद्धिकी समझमें नहीं आता। इस प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धिकी कमजोरी स्वीकार करनी चाहिये; कि भगवान्, भागवत तथा गोपियोंपर कभी दोषारोप नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार बलदेवजी-जैसे महापुरुषोंमें मदिरापान, परस्त्रीसेवन आदिका दोष लगावे तो कैसे हो सकता है? जहाँ कहीं झूठ, कपट, व्यभिचार, मदिरापान आदिका विषय आता है, जिससे कि हर जगह निन्दा की गयी है, वह ईश्वर और महात्मा हो, यह असम्भव है। उनमें इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। ध्यान दीजिये, यदि मेरे-जैसा कोई मनुष्य चोरी, बेईमानी, व्यभिचार आदि करे तो आप कभी यह समझ सकते हैं कि यह जो कुछ करते हैं ठीक है, इनके लिये सब माफ है? किंतु यह कदापि सम्भव नहीं है। ऐसा करना तो दुनियाको धोखा देना है एवं यह घृणित आचरण है। जो व्यक्ति यह प्रचार करता है कि 'मैं महात्मा हूँ, समर्थ हूँ, ईश्वर और महात्मा जो कुछ करते हैं, सब ठीक करते हैं, इसलिये तुम मेरे साथ कामोपभोग करो' विश्वास रखें कि ऐसे विचारवाला व्यक्ति कदापि महात्मा नहीं, वह तो महान् दम्भी, व्यभिचारी, बड़ाईका किकर एवं लोगोंकी आँखोंमें धूल झाँकेनेवाला है। ऐसे दम्भी-पाखण्डी लोगोंकी बातोंमें कभी

संख्या ७]

आना चाहिये । श्रीकृष्णलीला और उनकी रासपञ्चा-
ध्यायी बिल्कुल विशुद्ध है । इस रासपञ्चाध्यायीपर
विशुद्ध प्रेमभाव हो तो भगवान्‌से शीघ्र प्रेम हो जाता
है एवं कामभाव यदि कहीं छिपा हुआ हो तो वह
भी भगवान्‌ श्रीकृष्णके प्रभावसे नष्ट हो जाता है ।

अबतक मैंने आपको रासलीलाके विषयमें थोड़ी-सी
बातें बतलायी हैं । रासपञ्चाध्यायीके कुछ श्लोकोंको,
जिनमें खुला शृंगार या अश्लीलतायुक्त बातें हैं,
छोड़कर शेष सभी बातें प्रेमकी वृद्धि करनेवाली
हैं । उन सबका आदर करना चाहिये, और विशुद्ध
प्रेम और विशुद्ध भाव रखना चाहिये । यदि वास्तव-
में विशुद्ध एवं सच्चा प्रेम हो तो वाणी गद्गद हो
जाती है, शरीरमें कँपकँपी और रोमाञ्च होने लगता
है । प्रेमकी अधिकतासे वाणी और कण्ठ दोनों रुक
जाते हैं एवं अश्रुपात होने लगते हैं । भगवान्‌ श्याम-
सुन्दरकी मोहिनी छविके आगे नेत्रोंकी पलक गिरती
नहीं, बल्कि आँखें उनके स्वरूपका पान करती ही
रहती हैं । भावकी बात है । विशुद्ध और उच्चकोटिकी
श्रद्धा तथा प्रेम हो तो उपर्युक्त बातें घट सकती हैं ।
भगवान्‌ श्रीकृष्ण आनन्दके समुद्र हैं, गोपियाँ उनके
संकेतपर नाचती थीं, भगवान्‌ जो भी आज्ञा देते या
संकेत करते, वे उसका पालन करती थीं ।

यदि कहें कि संकेतपर चलनेवाली गोपियोंको जब
भगवान्‌ने वापस अपने घर जानेके लिये कहा, तब
उनकी आज्ञा मानकर वे घर क्यों नहीं लौट गयीं, तो
इसका उत्तर यह है कि उस समय भगवान्‌के प्रेमसे
वे इस प्रकार स्तम्भित हो गयीं कि उनके पैर चलनेमें
असमर्थ हो गये । स्वयं गोपियोंने कहा है—

चित्तं सुखेन भवतापहतं गृहेषु
यन्निर्विशल्युत करावपि गृह्यते ।

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्

यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥

(श्रीमद्भा० १० । २९ । ३४)

‘हमारा जो चित्त घरमें आसक्त था तथा हमारे
हाथ भी जो घरके कामोंमें लगे थे, उनको आपने
सुखपूर्वक—अनायास ही चुरा लिया । एवं हमारे
पैर भी आपके चरणप्रान्तसे एक पग भी इधर-उधर
नहीं चलते । अब हम किस प्रकार घर जायँ और
वहाँ जाकर करें भी क्या ?’

जैसे, पद्मपुराणमें आता है कि लोकापवादको
सुनकर भगवान्‌ श्रीरामने सीताको वाल्मीकि मुनिके
आश्रमके पास वनमें छोड़ आनेके लिये शत्रुघ्न और
भरतको आज्ञा दी, किंतु ऐसी बात सुनकर वे स्तम्भित
और मूर्छित हो गये । उन्होंने जान-बूझकर भगवान्‌की
आज्ञाका उलंघन नहीं किया, वरं वे वैसा करनेमें ही
असमर्थ हो गये थे । इसी प्रकार गोपियोंके विषयमें
समझना चाहिये ।

असल बात यह है कि भगवान्‌ सबके परम पति
हैं, उनके पास गोपियोंका जाना न्याययुक्त ही था ।
स्मृतियाँ जो आज्ञा देती हैं, उससे भी अधिक भगवान्‌की
आज्ञाका महत्त्व है; क्योंकि वे परमपति हैं, उनकी
आज्ञाके सामने पतिकी आज्ञा भी गौण है । गोपियाँ
भगवान्‌के प्रेममें इतनी विवश थीं कि किसीके रोकनेपर
भी वे रुक नहीं सकती थीं । जब गोपियोंने भगवान्‌की
वंशीध्वनि सुनी, तब वे इतनी प्रेमविवश हो गयीं कि
घरका सब काम-काज ज्यों-का-त्यों छोड़कर वे भगवान्‌के
पास चली आयीं ।

ऊपर जो कामदेवका अभिमान नष्ट करनेके लिये
नारदके प्रति भगवान्‌ने मनुष्यरूपमें अवतार लेनेकी
बात कही है, यह लोकोक्ति चली आती है । आप लोगोंने
भी सम्भव है यह बात सुनी हो । मेरा हृदय इसे मानता
है और आपका श्वास भी कहीं यह कथा मिल सकती

है। मुसलमानोंके शासनकालमें हमारे बहुत-से धार्मिक ग्रन्थ नष्ट कर दिये गये, इस कारण शास्त्रमें यह प्रसङ्ग न भी मिले तो भी इसे सत्य ही मानना चाहिये; क्योंकि यह बात अलौकिक, रहस्यमयी तथा युक्तियुक्त एवं विशुद्ध प्रेमकी है।

भगवान् श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका प्रेम अत्यन्त विशुद्ध और अलौकिक था, वहाँ अश्लीलता और कामकी तो गन्ध ही नहीं थी। गोपियोंके प्रेमके सामने भगवान् मुग्ध हो जाते थे और इसी प्रकार गोपियाँ भी भगवान्के प्रेममें मुग्ध हो जाया करती थीं। एक-दूसरेको देखकर वे द्रवीभावको प्राप्त हो जाते थे। जिस प्रकार पूर्णिमाके चन्द्रमाकी किरणें जब चन्द्रकान्तमणिपर पड़ती हैं, तब वह जड़ होनेपर भी उससे अमृत बहने लग जाता है। चन्द्रकान्तमणि, सुना है बड़ी कठोर होती है; किंतु चन्द्रमाकी किरणोंके पड़ते ही वह भी द्रवीभूत हो जाती है। हमने चन्द्रकान्तमणिकी यह बात देखी तो नहीं, किंतु सुनी है; शायद शास्त्रोंमें मिल भी सकती है। यदि न भी मिले तो भी माननी चाहिये, क्योंकि सिद्धान्तकी बात है। जब जड़ वस्तु भी चन्द्रमाके प्रभावसे द्रवीभूत हो जाती है, तब भगवान्के प्रभावसे भक्तोंमें द्रवीभाव आना स्वाभाविक ही है। भगवान् चन्द्रमाकी तरह हैं, उनके प्रेमका प्रभाव रश्मिकी तरह है और भक्त चन्द्रकान्तमणिकी ज्यों हैं। भगवान्का प्रभाव जिसपर पड़ता है, वह जड़ होनेपर भी बह जाता है। फिर भक्तोंके द्रवीभूत होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है।

भगवान्का प्रेम, प्रेमास्पद एवं प्रेमी—तीनों एक ही हैं। वे चेतन, दिव्य और अलौकिक हैं। अतः उन भगवान्से प्रेम करनेपर प्रेमी उनके परम दिव्य चिन्मय धामको चला जाता है। वे भगवान् स्वयं तो दिव्य चिन्मय हैं ही, उनका धाम भी दिव्य और चेतन है। वह परमात्मा चेतन ही नहीं, बल्कि सत्य चित्त एवं

आनन्दघन भी है। वह प्रेमी भक्त भी सच्चिदानन्दमय ही होकर जाता है। इस शरीरको छोड़कर जब भक्त जाता है, तब वह भगवान्-जैसा ही स्वरा प्राप्त कर लेता है।

बहुत-से लोग कहते हैं कि श्रुतियाँ ही गोपियोंके रूपमें होकर आयी थीं, कई कहते हैं कि वाल्मिक आदि ऋषिगण ही गोपियोंके रूपमें होकर आये थे, कई लोग यह भी कहते हैं कि जो भक्त भगवान्के परम धाममें उनकी सामीप्य-मुक्तिको प्राप्त हो गये थे, वे ही गोपियोंके रूपमें भगवान्के परिकर होकर आये थे। अतः समझना चाहिये कि गोपियाँ कितनी अद्भुत और उच्च कोटिकी थीं। वे भगवान्से कहती हैं—आप केवल गोपीनन्दन ही नहीं हैं, आप तो परब्रह्म परमात्मा अखिल ब्रह्माण्डके परमपति हैं। अतः आप परमपतिके पास आना और आपकी सेवा करना हमारा परम धर्म है।

यह गोपियोंका आदर्श प्रेम है। जिन गोपियोंके स्मरण करनेमात्रसे भी स्मरण करनेवालेका कामवासना नष्ट हो जाता है, उनमें काम-वासनाकी कल्पना करना महान् मूर्खता है; किंतु उनके दर्शनसे कामवासना नष्ट हो जाती है, इसपर श्रद्धा एवं विश्वास होना चाहिये। गोपियोंका भगवान्के प्रति बड़ा ही उच्च कोटिका प्रेम था। ऋषि-पुनियोंकी पत्नियाँ भी ऐसी ही थीं। एक समय वे भगवान् श्रीकृष्णके लिये थालियोंमें मिठाई भरकर लायी थीं, किंतु उनका भाव भी अश्लील नहीं था। एकदम विशुद्ध था। उनके घरवाले भी उनको भगवान्के पास जानेसे रोकते नहीं थे। यदि कोई रोकने पर तो वे इच्छासे नहीं रुकतीं और जबरन रोकनेपर उनकी आत्मा वहाँ पहले पहुँच जाती। मुनि-पत्नियोंका प्रेम विशुद्ध था, वे श्रीकृष्णको भगवान् समझकर उनके

फिर, श्रीराधिकाजीके प्रेमका तो कहना ही क्या है, वह तो विलकुल विशुद्ध था ही, कामकी तो उनमें गन्ध ही नहीं थी। वे तो भगवान्की प्रेममयी शक्ति थीं। वे भगवान्को आह्लादित करनेके लिये ही प्रकट हुई थीं। उनका परस्पर आमोद-प्रमोद एवं प्रेमका व्यवहार लीलामय था। दोनों एक ही थे। दोनों परस्पर एक-दूसरेको आह्लादित करते रहते थे।

वात्सल्य, माधुर्य, दास्य, सख्य और शान्त आदि जितने भी भाव हैं, उन सबसे बढ़कर विशुद्ध प्रेम-भाव है, यह परम आदर करनेके योग्य है। विशुद्ध प्रेमका जो भाव है, वह सबसे ऊँचा है। भक्तिसे भी यह भाव ऊँचा है, यह भक्तिका ही फल है। इसको चाहे माधुर्यभाव कहो, चाहे प्रेम-भाव—चीज एक ही है। केवल नाम भिन्न-भिन्न है। यहाँ प्रेम और प्रेमास्पदमें इतनी एकता है कि उसके लिये कोई उदाहरण ही नहीं है। जैसे दोनों हाथ जोड़नेपर एकही-से हो जाते हैं, वैसे ही उनकी एकता बतलायी जा सकती है; किंतु यह तुलना भी समीचीन नहीं; क्योंकि यहाँ तो विलक्षण नित्य संयोग है। गङ्गा सागरमें गिरती है, वहाँ एक हो जाती है। तब उसे केवल सागर ही कहा जाता है, वहाँ गङ्गाका नाम-रूप नहीं रहता। प्रयागमें गङ्गा और यमुना—दोनों धाराएँ जाकर मिल जाती हैं; किंतु उसको गङ्गा ही कहते हैं, वहाँ यमुनाका नाम-रूप अलग नहीं रहता। जैसे समुद्रमें जाकर सब नदियाँ समाप्त हो जाती हैं, नदियोंके नाम-रूप समुद्रसे अलग नहीं रहते, वहाँ केवल समुद्र ही रहता है, इसी प्रकार सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त भक्तगणोंके नाम-रूप भगवान्से अलग नहीं रहते, यानी तद्रूप हो जाते हैं, वहाँ केवल एक भगवान् ही रह जाते हैं; किंतु इस परम प्रेममें उपर्युक्त उदाहरणोंकी-ज्यों एकता नहीं है। यहाँ तो जातिसे वास्तवमें एक होते हुए भी प्रेमास्पद और प्रेमी स्वरूपसे अलग-अलग रहते हैं।

श्रीभगवान् एवं श्रीराधाजी दोनों प्रेमकी मूर्ति हैं। भगवान्की सारी चेष्टाएँ राधाजीको आह्लादित करनेके लिये ही होती हैं। इसी प्रकार श्रीराधाजीकी सारी चेष्टाएँ भगवान्को आह्लादित करनेके लिये ही होती हैं। वह प्रेम अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस प्रेमको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णका अवतार हुआ।

उपर्युक्त श्रीकृष्ण और राधाजीके-जैसे परम प्रेमको प्राप्त होनेपर फिर वहाँ प्रेमी और प्रेमास्पदमें कोई छोट-बड़ा नहीं रहता। दास्यभावमें भगवान् सेव्य और भक्त सेवक होता है; किंतु इस परम प्रेममें यह बात नहीं है; यहाँ तो दोनों एक हैं। इस परम प्रेममें सब भावोंसे उठकर प्रेमी एकीभावको प्राप्त हो जाता है। भगवान्के प्रति जो दास्यभाव होता है, उसमें दोनों समान नहीं हैं, स्वामी-सेवक भाव है। श्रीहनुमान्-जी भगवान्के दास हैं, वे भगवान्की गद्दीपर कभी नहीं आ सकते। भगवान् बुलावें तब भी हनुमान्जी यह कहें कि यह क्या कर रहे हैं, मैं सेवक हूँ एवं आप स्वामी। क्या स्वामीकी जगह सेवक आ सकता है। हाँ, भगवान् अपनी सेवाके लिये कहें तो हनुमान्जी तैयार हैं। किंतु उक्त प्रेमभावमें इस प्रकारसे छोट-बड़ा नहीं है। यह तन्मयता-प्रधान अवस्था है। इसमें दोनों एक-दूसरेको आह्लादित करते हैं। जैसे हमारे दोनों हाथ हमें एक समान लगते हैं। हमने इनमें भेद-दृष्टि कर ली है। दायेंको ऊँचा एवं बायेंको नीचा मान लिया है, वास्तवमें आत्मदृष्टि-से देखा जाय तो दोनों एक ही हैं। यदि बायें हाथमें फोड़ा होगा तो हम उसको हटानेकी उतनी ही कोशिश करेंगे, जितनी कि दायें हाथके फोड़ेको हटानेकी करते हैं। उस समय यह नहीं सोचेंगे कि यह नीचा हाथ है, इसे छोड़ दो।

इसी प्रकार स्त्री कान्ता है, स्वामीके प्रतिकूल कार्य

न हो, इसका वह पूरा ध्यान रखती है। उसमें पतिकी आज्ञाके पालनका भाव है तथा पतिके साथ उसका सत्कार, मान और आदरका व्यवहार होता है; किंतु जब सब भावोंसे ऊपर उठकर परम प्रेम हो जाता है, वहाँ न तो आज्ञापालनका भाव है और न एक-दूसरेके साथ सत्कार, मान और आदरका भाव रहता है; क्योंकि दोनोंका वहाँ समानभाव है। यह प्रेमावस्था तीनों गुणोंसे अतीत है। वहाँ सात्त्विक गुण और प्रभावको लेकर प्रेम नहीं है, स्वाभाविक प्रेम है; क्योंकि यह गुण और प्रभावसे ऊपर उठी हुई केवल चिन्मय स्थिति है।

उक्त स्थिति वात्सल्य-भावसे भी ऊँची है। वात्सल्य-भावमें जैसे यशोदा मैया श्रीकृष्णको लathi दिखाकर डराती हैं और वे भी डरते हैं; किंतु प्रेमकी इस निर्भय अवस्थामें उस प्रकार एक-दूसरेसे भयका व्यवहारमें भी अत्यन्त अभाव है। जब दोनों एक हो जाते हैं, तब फिर कौन किसका भय करे।

सख्यभावमें भी कहीं भय और आदरका भाव देखा जाता है। भगवान् ने अर्जुनको अपना विराट् स्वरूप दिखलाया, वह उस रूपको देखकर डर गया और स्तुति-प्रार्थना करने लगा। सख्यभावमें ऐसा बर्ताव देखा जाता है। इसके लिये भगवान् ने अर्जुनसे कहा भी है—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो

दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्गमेदम् ।

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं

तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥

‘मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढभाव भी नहीं होना चाहिये। तू भयरहित और प्रीतियुक्त मन-वाला होकर उसी मेरे इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख ।’

इस प्रकार भगवान् डरे हुए अर्जुनको आश्वासन देते हैं कि ‘अरे ! हम दोनों तो एक ही हैं, फिर तू डरता क्यों है ?’

किंतु जो सख्यभावसे ऊपर उठ जाता है और परम प्रेमको प्राप्त कर लेता है, उसमें आदर, सत्कार, मान, भय, लज्जा आदि कुछ भी किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहते। वहाँ दोनों प्रेमस्वरूप ही हो जाते हैं। वहाँ भेदभावकी कल्पना करना मूर्खता है। वास्तवमें भक्त एवं भगवान् दोनों प्रेमके एक ही रूप हैं। केवल देखनेमें पृथक्की-ज्यों दिखलायी पड़ते हैं।

इस श्रेणीमें पहुँचे हुए भक्तके श्रद्धापूर्वक दर्शन, स्पर्श एवं भाषणसे कल्याण हो सकता है। इस श्रेणीमें पहुँचे हुए प्रेमियोंमें सबसे ऊँचा स्थान राधिकाजीका है। ये भगवान् की उच्चकोटिकी प्रेमिका हैं। ये भगवान् की आह्लादिनी शक्ति हैं। भगवान् को हरस प्रसन्न रखना ही इनका काम है। रुक्मिणीजी भगवान् की ऐश्वर्यमयी शक्ति हैं। जब भक्त सुदामा द्वारका आये, तब भगवान् श्रीकृष्ण अपने पुराने मित्रको ऐसे हालतमें देखकर गद्गद हो गये। सुदामाजी भगवान् के भेंट देनेके लिये एक पोटलीमें चिउरे बाँधकर लाये थे किंतु यहाँ राजसी ठाट-बाट देखकर बेचारे विस्मित हो गये थे। भगवान् ने देखा कि सुदामा मुझे चिउरे देनेके हिचकिचा रहे हैं, तब उन्होंने उनके संकोचको मिटानेके लिये बगलमें दबायी हुई पोटली खींच ली। कई वर्षोंका जर्जरित वस्त्र, थोड़ा-सा हाथका धक्का पड़े ही छिन्न-भिन्न हो गया एवं उसमेंसे चिउरे गिर गये। तब भगवान् उन गिरे हुए चिउरोंको उठाकर बड़े प्रेमसे खाने लगे। उन्होंने दो मुट्ठी भरकर तो चिउरे खा लिये, जब तीसरी मुट्ठी भरकर लगे, तब उनकी ऐश्वर्यमयी शक्ति रुक्मिणीजीने भगवान् का हाथ पकड़ लिया और कहा—‘क्या आप सुदामा को सर्वस्व ही दे देंगे।’ इस प्रकार रुक्मिणीजीकी शक्ति

ऐश्वर्यका ध्यान आ गया; क्योंकि ये भगवान्की ऐश्वर्यमयी शक्ति थीं। यदि श्रीराधाजी यहाँ होतीं तो वे ऐश्वर्यके लिये भगवान्को नहीं रोकतीं। ये भगवान्के लिये अपने-आपका बलिदान भी कर सकती हैं। रुक्मिणी-जीमें भी कोई कमी नहीं थी; किंतु दोनोंकी तुलनामें तो राधिकाजीका स्थान ही ऊँचा रहेगा। त्रिलोकीका समस्त ऐश्वर्य गुणातीतके आगे तुच्छ है। भगवान् एवं राधिकाजी दोनों गुणोंसे ऊपर उठे हुए हैं। गुणोंके द्वारा राधाजी प्रभावित नहीं हो सकतीं। यह विशुद्ध प्रेम आनन्दमय सच्चिदानन्दधन ब्रह्मका साक्षात् स्वरूप है। ऐश्वर्यमें प्रतीत होनेवाला आनन्द तो सच्चिदानन्द भगवान्का प्रतिबिम्ब है, वास्तविक स्वरूप नहीं।

कितने ही लोगोंकी इस विषयमें दूसरी प्रकारकी मान्यता है। उनका कहना है कि प्रेम ही दो भावोंमें विभक्त है—एक शक्तिमान् एवं दूसरा शक्ति। राधिका-जी शक्ति एवं भगवान् शक्तिमान् हैं, किंतु उपर्युक्त परम प्रेम तो इससे भी ऊँचा है। सब भावोंको लँघकर जो एक परम प्रेम-भाव है, वहाँ दोनोंमें अभेद है; क्योंकि वहाँ फिर शक्ति और शक्तिमान्का भेद नहीं रहता, एक ही चीज रहती है। केवल देखनेमें दो रूपसे प्रतीत होते हैं। वस्तुतः श्रीराधिकाजी तथा श्रीकृष्ण एक ही हैं। गोपियोंका भी भगवान्में इसी प्रकारका प्रेम था। इस प्रेममें यदि कोई विलासिताकी कल्पना करे तो यह उसके लिये कलङ्क है। इस प्रेममें लज्जा, संकोच, भय, कामका नाम-निशान भी नहीं है।

इसके सिवा, भगवान्के साथ तो किसी भी तरहका सम्बन्ध होनेपर उसकी मुक्ति हो जाती है। यदि कंस-

मारीच आदिकी भाँति द्वेष और भयके सम्बन्धसे भी भगवान्का चिन्तन हो तो उससे भी कल्याण हो सकता है। यदि कोई भगवान्से व्यभिचारका नाता जोड़कर मुक्त होता हो तो हमारी कोई आपत्ति नहीं होता, किंतु यह भाव आदरणीय कदापि नहीं है; पर ऐसा नाता गोपियोंका नहीं था, उनका तो परम और विशुद्ध प्रेम था। यद्यपि विष पिलानेवाली पूतनाकी मुक्ति भगवान्की परम दयासे हो गयी, इसमें सन्देह नहीं, परंतु पूतनाका आचरण अनुकरणीय नहीं है। रावणने वैरभावसे भगवान्के साथ युद्ध किया और मुक्ति पायी, किंतु यह भी अनुकरणीय नहीं है। अतः यदि जारभावसे तथा वैर और द्वेषभावसे मुक्ति मिले तो वह हमलोगोंके लिये त्याज्य है; क्योंकि श्रद्धा, प्रेम और भक्तिसंयुक्त दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और माधुर्य आदि भावोंके मौजूद रहते हुए जार, वैर आदि भावोंका अनुसरण करना महान् मूर्खता है। भगवान्से तो विशुद्ध प्रेमका नाता ही करना चाहिये, इसीमें हमारा कल्याण शीघ्रातिशीघ्र हो सकता है।

गोपियोंका उपर्युक्त परम विशुद्ध प्रेमभाव था, जिनके प्रेमको देखकर उद्धव भी गोपियोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं। यदि उन गोपियोंका भगवान् श्रीकृष्णमें विशुद्ध प्रेम न होता तो उद्धवजी गोपियोंकी इतनी प्रशंसा नहीं करते; किंतु गोपियोंका पवित्र एवं विशुद्ध भाव था, जिसको देखकर उद्धवजी भी चकित एवं विस्मित हो गये।

अतएव हमलोगोंको भगवान्में उपर्युक्त विशुद्ध और दिव्य प्रेम करनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

राधाकरावचितपल्लववल्लरीके राधापदांकविलसन्मधुरस्थलीके ।

राधायशोमुखरमत्तखगावलीके राधाविहारविपिने रमतां मनो मे ॥ —श्रीहितहरिवंशजी

जहाँके पल्लव एवं मंजरी श्रीराधिकाजीके हाथोंसे चुने गये हैं, जहाँकी मनोहरभूमि श्रीराधिकाजीके चरण-चिह्नोंसे सुशोभित हो रही है, जहाँके पक्षीगण श्रीराधिकाजीके यशोगानमें ही मस्त हैं, ऐसे श्रीराधिकाजीके क्रीडावन (वृन्दावन) में मेरा मन विचरण करे।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५६)

पितामहका दैन्यभाव गभीर, गभीरतर हो चला । वे अनुभव करने लगते हैं—‘ब्रजेन्द्रनन्दनसे क्षमायाचना करनेका भी अधिकार मुझे नहीं है, इतना तुच्छ, नगण्य हूँ मैं ।’ और इसी आवेशमें वे अपनी क्षुद्रताका चित्रण कर रहे हैं—‘सर्वैश्वर्यनिकेतन ! स्वामिन् ! कहाँ तुम हो, और कहाँ मैं हूँ ! एक ओर तो मेरा क्षुद्र-स्वरूप यह है—प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कारतत्त्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी—इन आवरणोंसे वेष्टित ब्रह्माण्ड-रूप घटमें अपने नापमानसे साढ़े तीन हाथ परिमित शरीरधारी हूँ मैं; और तुम्हारा ही एक रूप वह है, ऐसा है जहाँ तुम्हारे प्रत्येक रोमकूपके छिद्रमें जैसे गवाक्ष-रन्ध्र (खिड़कीकी जाली) से सूर्यकी किरणोंमें त्रसरेणु उड़ते दीखते हैं, उस प्रकार—ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डोंका आवागमन होता रहता है ! तुम्हारे नासापुटोंसे श्वास बहिर्गत होते समय रोमकूपोंसे ऐसी असंख्य ब्रह्माण्डराशि प्रकाशित हो उठती है और पुनः प्रश्वासके अन्तःप्रवेशके साथ यह अनन्त अण्डश्रेणी तुम्हारे रोमछिद्रोंमें ही प्रविष्ट हो जाती है ! यह है तुम्हारी महिमा ! कहाँ मेरी यह क्षुद्रता और कहाँ तुम्हारी यह अनन्त महत्ता ! मेरे-जैसे नगण्यतमके द्वारा किये अपराधकी ओर तुम सुमहत्तमकी दृष्टि जानेकी भी सम्भावना है या नहीं, यह कौन बतावे नाथ ! और यदि कहीं तुमने अपराध माना है तो मुझ तुच्छातितुच्छका अस्तित्व इस योग्य भी नहीं कि क्षमाकी याचनाके लिये तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो सकूँ स्वामिन् ! तुम स्वयं अयाचित अनुकम्पा मुझपर कर दो, तभी कृतार्थ हो सकूँगा देव !’

काहं तमोमहदहंखचराग्रिवाभू-

संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।

केदृग्विधाविगणिताण्डपराणचर्या-

वाताध्वरोमविहृत्य न मे महित्वम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ११)

कित हों कित महिमा नाथ की, कहत हौ चींटी हथी साथ की प्रकृति, सहदहंकार, अकाश, वायु, बारि, वसुमती, हुतात्म, सप्तावरन जु यह इक भौन, तुम ही कहाँ तहाँ हों कौन, सप्त वितस्ति काइ कौन कर्यौ, रहत बहुत कहाँ धौ पर्यौ, ऐसौ कोटि कोटि ब्रह्मंड, तुमरी एक रोम के लंड, उपजत भ्रमत फिरत नहिं चैन, जैसे जालरंघ्र त्रिसरै । निपटहि तुच्छ, न काहू लाइक, कृपा करौ, न लरौ ब्रजनाइक ।

×

×

×

पूरन ब्रह्म नाथ तुम एका । तुम तें यह जग भएउ अनेक । तव इच्छा ते अग जग रचना । होत सकल इमि श्रुतिके बचना । प्रथम महत सायाकृत भएऊ । अहंकार गुन कृत त्रय एऊ ।

वायु अग्नि जल भू सहित, यह प्रभु अंडकटाह ।

अपने सप्त वितस्ति करि, सब काहू कर आह ॥

पुनि रचना तेहि माहिं अनेका । जीव बुद्धि मन कर्म न एका । इंद्रीगन बिषया पुनि पाँचू । तहाँ देवगन हैं पुनि सँचू । मरुत पंच बिधि रचित सरीरा । धातु सप्त पुनि पंच समीरा । अरु नारायन नाम तुम्हारा । नर सब अयन बेद निरधारा । एक अंड को मैं अधिकारी । महा दीन पुनि अहमिति भारी । ऐसे कोटि कोटि ब्रह्मंडा । रोम रोम तव भ्रमत अखंडा । सोउ त्रिसरेनु सरिस तहँ सोहत । ऐसे ईस नाथ मन मोहत । मैं तव दास तुच्छ मतिमंदा । कृपा करहु हे करुनाकंदा ।

ब्रजेन्द्रनन्दनके इस असमोद्धर्ष ऐश्वर्य एवं अपने नगण्यतम स्वरूपकी स्मृति स्रष्टाके मनमें सहसा एक आत्म-मयी, कोमल, प्रेमिल भावनाका सृजन कर देती है । मानो दैन्यके अनुषङ्गी आशाबन्ध अनुभावकी छाया-पड़ जाती है उनके मनपर और वे सोचने लगते हैं—‘नहीं-नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड-भाण्डोदर प्रभु मेरी इस बेध-को अपराधकी श्रेणीमें ग्रहण करेंगे ही नहीं ।’ तब उल्लासमें भरकर वे कह उठते हैं—‘अयोक्षज ! इन्द्रिय-की सामर्थ्य नहीं कि वे तुम्हें जान सकें, उनके नियामक तो तुम हो प्रभो ! मेरी प्रत्येक स्फुरणकी नियन्त्रण तुमसे ही होता है नाथ ! तुम्हीं निर्मा-

करो, स्वामिन् ! मेरी यह स्फुरणा—जिसे मैं निवेदन कर रहा हूँ—सत्य है या नहीं । हे महामहेश्वर ! सोचो तो सही—जननी अपने गर्भगत शिशुके पादप्रहारसे रुष्ट भी होती है क्या ? वह अबोध शिशु गर्भमें अवस्थित रहकर अपने पैर उछाल देता है, उसे माता अपराधके रूपमें कदापि ग्रहण करती है क्या ? गर्भस्थ शिशुके द्वारा यह चरण-सञ्चालन क्या अपराधकी श्रेणीमें परिगणित होता है प्रभो ! अपितु जिस समय यह पैरोंकी हलनचलनकी गति परिलक्षित नहीं होती, उस समय स्नेहमयी जननी अनिष्टकी आशङ्कासे चञ्चल होने लगती है । इसी प्रकार नाथ ! अनन्त जीवसमुदायको लिये हुए असंख्य ब्रह्माण्ड भी तो तुम्हारे ही विशाल गर्भमें अवस्थित हैं । तुम्हीं बताओ, हे सर्वाधार ! 'है' और 'नहीं है'—इन भाव एवं अभाववाचक शब्दोंसे, अथवा स्थूल-सूक्ष्म-कार्य-कारण-द्योतक शब्दोंसे अभिहित कोई भी वस्तु ऐसी है क्या जो तुम्हारी कुक्षि—कोखके बाहर अवस्थित हो ? सब कुछ ही तो तुम्हारे उदरमें, तुम्हारे रोमकूप-विवरमें स्थित है स्वामिन् ! कोई कितना भी अपराध कर ले, पर वह अपराधी आखिर है तुम्हारी कोखका ही शिशु । स्नेहमयी जननीकी भाँति तुम भी उसके अनन्त अपराधोंको नहीं ही ग्रहण करोगे नाथ ! मेरे द्वारा—तुम्हारे ही उदरमें रहनेवाले अबोध शिशुके द्वारा घटित अपराधोंकी ओर भी वात्सल्यमयी माताके समान तुम्हारी दृष्टि नहीं जायगी दयामय ! हे सर्वाधिष्ठान ! तुम मेरा भी सब कुछ सहन करोगे ही ।'—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः

किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे

किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं

तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । १२)

हो प्रभु जैसे जननी-गर्भ, रहत है निपट अबुध है अर्भ ।
कुक्षि विषै कर-चरनन तानै, तौ कहा मात बुरौ है मानै ।
तैसे हों तव कुक्षिके माहीं, करत कलोल कल्ल सुधि नाहीं ।

×

मातु गर्भ बालक जब रहई । बहु अपराध तहाँ सोइ करई ॥
जननी कछु अपराध न मानू । त्यों सब जग तव उदर सुजानू ॥
बाहर किमपि न वस्तु लखाई । सब तव हृदिगत हे जदुराई ॥
तौ मम अव छमिये जग त्राता । जननी इव तुम सब जग माता ॥

‘और विशेषतः यह तो प्रसिद्ध ही है, प्रभो ! कि मैं तुम्हारा पुत्र हूँ ।’—पद्मयोनि उसी प्रवाहमें कहते चले गये—‘यह समस्त विश्वप्रपञ्च तो परम्परासे ही तुमसे उत्पन्न हुआ है नाथ ! किंतु मेरा जन्म तो साक्षात् तुम्हींसे हुआ है देव ! उस समयकी बात है—प्रपञ्चका प्रलय हो चुका था; ऊर्ध्व, मध्य, अधः—तीनों लोक, आवरणके सहित ब्रह्माण्डलीन हो चुका था समुद्रोंके उस महाप्लावनमें, प्रलयकालीन अम्बुराशिमें । तथा उस एकार्णवमें अपने शेषकी शय्यापर श्रीनारायणदेव शयन कर रहे थे । उन नारायणके उदरस्थ नाभिकमलसे ही ब्रह्मा विनिर्गत हुए—यह वेदादि शास्त्रवाक्य निश्चित-रूपसे मिथ्या नहीं हो सकते नाथ ! नारायणसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं ‘नारायणाद् ब्रह्मा जायते’—यह श्रुति एवं—

स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम् ।

नाभेर्विनिःसृतं तस्य तत्रोत्पन्नः पितामहः ॥

‘सोते हुए श्रीनारायणदेवकी नाभिसे सूर्यके समान प्रभाशाली एक पद्म विनिःसृत हुआ और वहाँ उस पद्म-पर ही पितामह उत्पन्न हुए ।’

—मार्कण्डेयकी यह उक्ति तथा ऐसे ही अनेक उपाख्यान असत्य नहीं हैं स्वामिन् ! अच्छा तुम्हीं बताओ, हे सर्वेश्वर ! क्या मैंने तुम्हारे नाभिकमलसे जन्म ग्रहण नहीं किया है ?

जगत्त्रयान्तोदधिसंलवोदे

नारायणस्योदरनाभिनालात् ।

विनिर्गतोऽजस्तिवति वाङ् न वै मृषा

किं त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । १३)

अब कहतु कि हैं तुम मेरे प्रभु । तुम तैं प्रगट जनम यह मेरो ।

जब सब लोग चराचर जितौ, प्रलय उदधि मधि मज्जत तितौ ।
तबहौ तुम्हरी नाभि कमल तैं, निकस्यौ नहिँ इहि उदर अमल तैं
'कमलज कमलज' मेरौ नाम, मृषा आहि जानै सब प्राम ।

X

X

X

प्रलय समै सब सिंधु मिलि, होत बारि अति घोर ।

ताहि उदक महुँ श्रीरमन, करत सयन इक डोर ॥

तब तेहि नाभि सुभग तैं कंजा । प्रगट भयो अति छवि को पुंजा ॥
तहँ तैं मैं प्रगटयो जदुनाथा । यह श्रुति सत्य गिरा जो गाथा ॥
हे ईश्वर मैं सुत तव जानू । तुम पितु मम नाता यह मानू ॥
कृपादृष्टि प्रभु मोहि निहारी । कीजिय प्रनतपाल सुखकारी ॥

पद्मयोनिको प्रतीत हुआ कि कहीं लीलामय ब्रजराज-कुमार यह न कह दें—'ब्रह्मन् ! ठीक है, नारायणपुत्र हो तुम । पर इससे मेरा क्या सम्बन्ध ?' इसी आशङ्का-का निवारण करते हुए कहते हैं वे—'वताओ अधीश्वर ! हे सबके मूलस्वरूप ! क्या तुम्हीं नारायण नहीं हो ? तुम्हीं हो नाथ ! सभी प्रकारसे 'नारायण' शब्द तुम्हारे लिये ही सार्थक है स्वामिन् ! तुम समस्त जीवोंके आत्मा हो । इसलिये तुम नारायण (नार-जीवसमूह; अयन-आश्रय) हो । अथवा समस्त जीवोंके दर्शन, श्रवण, वचन, गमनादि कार्योंकी प्रवृत्ति तुमसे ही होती है । इसलिये भी तुम नारायण (नार-जीव-समूह; अयन-प्रवृत्ति) हो । अतएव सर्वभूतस्थ तृतीय पुरुषावतारके रूपमें अवस्थित नारायण भी तुम्हीं हो । तुम अखिल लोकके साक्षी हो । इसलिये भी तुम नारायण (नार-जीवसमूह; अयन-ज्ञान) हो; ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी द्वितीय पुरुषावतारके रूपमें अवस्थित नारायण भी तुम्हीं हो देव ! नर (भगवान्) से उत्पन्न जलमें अवस्थान करने-के कारण जो नारायण (नार-जल; अयन-निवासस्थान) नामसे प्रसिद्ध हैं, वे कारणार्णवशायी, प्रकृतिके अन्तर्यामी प्रथम पुरुषावताररूपमें अवस्थित नारायण भी तुम्हारी ही मूर्ति हैं प्रभो ! इस रूपमें तुम्हारा कारणार्णव जलमें अधिष्ठान सुनकर तुम्हारी परिच्छिन्नताका भ्रम हो सकता है स्वामिन् ! किंतु तुम तो नित्य अपरिच्छिन्न हो ।

सीमावद् वस्तुकी भाँति जलमें तुम्हारा यह शयन होना भी तुम नित्य असीम ही हो । तुममें परिच्छिन्नताकी प्रतीति सत्य नहीं है भगवन् ! यह तो तुम्हारी ही अचिन्त्य मायाशक्तिका प्रभाव है, जो तुम असीम रहते हुए सीमावद्की भाँति, नित्य अपरिच्छिन्न रहते हुए परिच्छिन्नके समान अवस्थित रहते हो ।'

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना-

मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।

नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना-

त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । १४)

जो कहहु कि वे तौ हम नाहीं, सो वह नारायन जल माहीं ।
हमरौ ब्रज वृंदावन धाम, तहीं जाहु ह्यौ नहिँ कहु काम
क्यों आयौ हमरे ब्रज इहाँ, कहत है बिधि तव बातहि नहिँ
तुम नहिँ नहिँ नाराइन स्वामी, अखिल लोक के अन्तर्जामी
नार कहावत जीव जितेक, बहुरि नार ये नीर तितेक
तिन मैं नहिँन अयन रावरो, हो प्रभु मोहि करत बावरो
नीरहि मैं नाराइन जोई, हो प्रभु तुम्हरी मूरति सोई

X

X

X

जो कदाचि इमि कहिय गोसाँई । रमारवन सुत तैं श्रुति गाई
मोहि कहाँ तैं सुत है जासू । कृपा करिहि तो कहँ सो आसू ।
तहाँ सुनिय तुम हे ब्रजनाथा । तुम नारायन यह श्रुति गाबा ।
नार अयन तव कृपानिधाना । नारायन तुम श्रीभगवान् ।
नार सब्द सब जीव कहावै । तहाँ बास तव पुनि श्रुति गावै ।
जो अधीस ऐसी पुनि कहहू । नार प्रवर्त्तक सो प्रभु कहहू ।
सूत्रधार तुम सबहि नचावत । नाथ सकल श्रुति ऐसैंहि गावत ।

जो कदाचि ऐसी कहौ, जन जानै सो नार ।

तौ अग जग जहँ लौं अहै, तुम द्रष्टा निरधार ॥

नहिँ याकी बितपत्ति सुजाना । नार सब्द जो तुम किय गाबा ।
तहाँ कहत ऐसैं अब जानिय । कहै वेद मुनि जन सब गानिय ।
चौबिस तत्व अजा कृति आही । ता करि अग जग सकल सुसजिय ।
केवल नार अयन जिन कीन्हा । रमारवन सब कों सुख दीन्हा ।
सो तुम्हरी हौ कृपानिधाना । अपर न कोउ इमि श्रुति कर गान ।
अपरिच्छिन्न नहिँ मोर सरीरा । अति प्रकासमय अद्भुत नीरा ।
चर अह अचर जहाँ लगी जेते । ओत प्रोत जग श्रुतिहु कहें ते ।
सो जल आश्रय घटे न कबहू । कहै बचन जैसे तुम सबहू ।

तहाँ कहत सुनिये मम वचना । तब माया की सब यह रचना ॥
वटे सकल अवष्टित सब बाता । तुम अखिलेस सकल जगत्राता ॥

‘सत्य तो यह है, स्वामिन् ! तुम्हारा श्रीविग्रह अपरिच्छिन्न है अथवा परिच्छिन्न है—इन शब्दोंसे वर्णनके योग्य ही नहीं, तुम्हारे स्वरूपतत्त्वको, श्रीविग्रह-रहस्यको कोई वास्तवमें समझ ले, यह सामर्थ्य किसमें है नाथ ! बताओ तो सही, जगदाश्रयभूत तुम्हारा वह श्रीनारायणविग्रह यदि परिच्छिन्न वस्तुकी भाँति जलमें ही अवस्थित है तो उस दिन मुझे उसके दर्शन क्यों नहीं हुए ?’—स्रष्टाको स्मृति हो आयी अपने जन्मकालकी अद्भुत रहस्यमयी घटनाओंकी । वे एक अम्भोरुहकी कर्णिकापर अवस्थित थे । किसी भी लोकका दर्शन उन्हें नहीं हुआ । दर्शन हुए केवल प्रलयकालीन पवनके झोंकोंसे जलकी उछलती हुई तरङ्गमालाओंके एवं अपने आसनभूत उस पद्मके । वे आदिदेव इसका कुछ भी रहस्य न जान सके थे । सोचने लगे थे—‘इस कमल-कर्णिकापर आसीन मैं कौन हूँ ? और यह कमल भी बिना किसी अन्य आधारके इस जलराशिमें कहाँसे उत्पन्न हो गया ? इसके निम्नदेशमें अवश्य ही कुछ ऐसी वस्तु है जिसपर अवस्थित रहकर यह व्यक्त हुआ है ।’ तथा यह सोचकर वे कमलनालके सूक्ष्म छिद्रोंके पथसे जलमें प्रवेश कर गये थे; कमलनालका मूल ढूँढ़ने चले थे । बहुत अधिक काल शतसंवत्सर परिमित समय व्यतीत हो गया उस अपार अन्धकारमें उत्पत्ति-स्थानको खोजते-खोजते । पर निराशामात्र हाथ लगी थी; विफलमनोरथ हुए वे लौटे थे । उस मृणालका मूल वे नहीं ही पा सके । पुनः चले आये अपने आधारभूत उस पद्मासनपर ही । और तब प्राणवायुको जीतकर चित्तको संकल्पशून्य कर लिया उन्होंने; तथा समाधियोगमें स्थित हो गये । दिव्य सौ वर्ष व्यतीत हो जानेपर उन्हें ज्ञानका आलोक प्राप्त हुआ था और फिर तो अपने-आप अन्तर्हृदयमें ही उस अधिष्ठानका प्रकाश हो गया । ओह ! कितना अद्भुत

दर्शन था वह ! उस प्रलय-पयोधिमें मृणालगौर, अत्यन्त विशाल श्रीशेषकी शय्यापर श्रीनारायणदेव शयन कर रहे थे । श्रीशेषके सहस्रों फण तो छत्रके समान फैल रहे थे । शेष-मस्तकपर विराजित मणियोंकी प्रभासे सर्वत्र अन्धकारका अस्तित्व विलीन हो चुका था । श्रीनारायणदेवके श्रीअङ्गोंकी शोभाका तो कहना ही क्या था । शरीरकी श्यामल आभा मरकत शिलामय पर्वतकी शोभाका तिरस्कार कर रही थी । पीताम्बरका परिधान नील-महीधरके प्रान्तदेशमें छाये हुए सन्ध्याकालीन-पीताम्भ मेघकी कान्तिको लज्जित कर रहा था । किरीट अपनी प्रभासे स्वर्णिम श्रृंगोंको मलिन कर दे रहा था । रत्नमाला पर्वतके हृद्देशपर विखरी रत्नराशिकी, मुक्तामाला शैलके वक्षःस्थलपर प्रवाहित जलधाराकी, तुलसीमाला ओषधि-पङ्क्तियोंकी एवं वनमाला सुमन-समूहोंकी शोभाको प्रतिहत कर रही थी । भुजदण्ड वेणुदण्डोंके एवं चरण वृक्षोंके सौन्दर्यको हेय बना दे रहे थे । श्रीनारायणदेवका वह श्रीविग्रह त्रिलोकीका संग्रह किये हुए था, दीर्घ था, विशाल था; अपने अनुरूप परिमाणका ही था । अपने सौन्दर्यसे विचित्र, दिव्य वस्त्र एवं आभूषणोंको भी शोभाशाली बना देनेवाला था—इतना सुन्दर, निरुपम था वह फिर भी—स्वतः परम रमणीय होनेपर भी—अलङ्कार धारण किये गये थे उसमें, पीताम्बर एवं विविध आभरणसे भूषित था वह ! अभिलाषाकी पूर्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्गोंसे अर्चना करनेवाले भक्तजनोंको कृपापूर्वक समस्त मनोरथ दान करनेवाले अपने पादपङ्कजोंका दर्शन करा दे रहे थे वे प्रभु ! स्पष्ट दर्शन हो रहे थे चरण-सरोरुहके ! उनकी नख-चन्द्रिकासे उद्भासित हो रही थी कमल-दलसदृश अङ्गुलियाँ ! अद्भुत थी वह नख-चन्द्रिका और अद्भुत थे वे अङ्गुलिदल ! सुघड़ नासा, सुन्दर भौंहें, झलमल-झलमल करते हुए कर्णकुण्डल, विम्बविडम्ब अरुणिम अधरोंकी कान्ति, लोकव्यथाहारी

स्मित—इनसे मण्डित हुए अपने मुखारविन्दके द्वारा भक्तजनोंका अभिनन्दन कर रहे थे वे श्रीनारायण-देव । उनका नितम्बदेश कदम्बकिञ्जल्कके समान सुन्दर पीतवस्त्रसे एवं मेखलासे अलङ्कृत था । वक्षःस्थल श्रीवत्ससे, बहुमूल्य हारसे परिशोभित था । चन्दनवृक्षके समान शोभा थी उन अव्यक्त-मूल प्रभुकी । अमूल्य केयूर, अङ्गद—इनमें उत्तमोत्तम मणिराजि—इनसे परिशोभित उनका विशाल भुजदण्ड ही मानो चन्दन-तरुकी सहस्रों शाखाएँ थीं । शेषफणोंसे संवेष्टित स्कन्ध-देशकी शोभा भी ऐसी थी, मानो चन्दनवृक्षमें सर्पसमूह लिपटे हों ! नागराज शेषके बन्धु वे श्रीनारायणदेव ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो जलसे आवृत एक पर्वत हो । गिरिराज जैसे विविध जीवसमुदायको आश्रय दान करता है, वैसे ही वे सम्पूर्ण चराचरके आश्रय थे । शेषफणोंको विभूषित करनेवाले सहस्रों किरीट ही मानो स्वर्णिम शैल-शिखर थे एवं कौस्तुभ उस गिरीन्द्रके गर्भसे निःसृत रत्न था । श्रीनारायणके ऐसे विचित्र महिमामय परम शोभाशाली रूपके दर्शन हुए थे स्रष्टाको । मृणालका मूल मिल गया था उन्हें उनके नाभिसरोवरमें और उन्होंने स्तवन किया था उनका । तथा फिर देखते-ही-देखते स्रष्टाको आश्वासन देकर, कुछ आदेश देकर—वे नारायणदेव अन्तर्हित हो गये थे । (श्रीमद्भा० ३ । ८) प्रलय काल को सलिल अपारा । तहाँ कंज प्रगल्भोबिस्तारा ॥ तहाँ बिधि तासु करनिका माँहीं । बैठो है तेहि सुधि कछु नाहीं ॥

अखिल लोक को तत्व वह, कमल कोस नहिं जानु ।

आपुन को जानै नहीं, भुल्यो भागवत ज्ञानु ॥

प्रलय काल को पौन, ता करि कंषित कंज वह ।

जल तरंग तर गौन, बिसमित मन तहाँ बैठि रह ॥

अबिदुष तासु बितर्क अनूपा । कहीं बिदुर तैं सुनु सुखरूपा ॥

कमल मध्य बैठो सो आपू । करै तर्क मन बहु संतापू ॥

एकाकी मैं कित ते आयो । पुनि मन गुनै कमल ते जायो ॥

कमल कहाँ ते भा यह आही । एहि अध अधिष्ठान कछु चाही ॥

सत पदार्थ कछु है तेहि ठामा । जहँ ते कंज प्रगट सुखधामा ॥

अस बिचारि बिधि आपु तुरंता । कमलनाल पैछ्यो बुधिवंता ॥

तासु छिद्र गत सो चलि गएऊ । अधिष्ठान खोजत सो भएऊ ॥
बल अनुमान गयो चलि दूरी । भयो महाश्रम अतिसै भूरी ॥
हरि ते बिमुख जीव जे कोई । उद्यम तासु विफल सब होई ॥
सत संबतसर खोजत फिरेऊ । अधिष्ठान कतहूँ नहिं लहेऊ ॥
निज उपजन को कारण जोऊ । मिलेउ न फिरि आवेउ तब सोऊ ॥
पंकज कोस करनिका माहीं । बैठो है निवृत्त सुख नाहीं ॥

बैठि तहाँ बिधि जतन करि, जित स्वासा जित बैन ।

कीन्यो चित्त समाधि दढ, बैठि ताहि सुख ऐन ॥

सत संबतसर जोग, कियो बिधाता जतन करि ।

भयो बोध संजोग, तब तेहि उपज्यो सुख महा ॥

पूरब जेहि खोज्यो बहु काला । नहिं पायो फिरि आउ बिहाला ॥

सोइ प्रभु अंतर हिय तिन देखा । भयउ तासु हिय हरष विसेपा ॥

जो देखा उन बरनों तोही । दिव्य गुनादि सहित हिय जोही ॥

गौर मृनालअहीस सरूपा । सोइ बर सज्या सुभग अनूपा ॥

तहाँ एक पुरुष सयन सुख करई । रमा रवन तहाँ अपर न रहई ॥

सो सहस्र फन सुभग सुहावन । आतपत्र सोइ छबि मनभावन ॥

फनि महाँ मनि सोइ परम अनूपा । सोइ किरीट छबि सुखद सरूपा ॥

तासु तेज अति परम प्रकासू । प्रलय नीर को तम किय नासू ॥

तहाँ वह पुरुष सोह छबि कैसो । मरकत मनि दुति गिरिबर जैसो ॥

पीत बसन सोहत अति नीको । संध्या काल अत्र छबि फीको ॥

बहु कंचन के सिखर अनूपा । सोइ किरीट छबि अद्भुत रूपा ॥

रतनसमूह सुमन बर सोई । बनमाला छबि अतिसै जोई ॥

अति बिस्तर बपु सोभन रूपा । तीनि लोक हिय धरे अनूपा ॥

स्वतह देह अति रम्य सोहावन । अलंकार अंगीकृत पावन ॥

ऐसो रूप लख्यो बिधि जवहीं । अति प्रसन्न मन महाँ भा तवहीं ॥

अभिमत फल चाहै जुकोउ, प्रभु पद पंकज सेउ ।

बेद बिहित पूजै निपुन, ताहि सकल फल देउ ॥

ताहि हेतु पद कंज, कछु एक उन्नत से किये ।

निरखि होइ सुख पुज, नख दुति कोटिक इंदु सम ॥

बदन अमित छबि को कहि सकई । मुसुकनि मंद मंद जत लखई ॥

अखिल लोक आरति को हरता । कुंडल मंडित जन सुख करता ॥

अरुन अधर बिबा दुति हारी । सोभन नासा जग हितकारी ॥

सोभन भृकुटी आनंद कंदा । पूजक जन कहँ दानि अनंदा ॥

जिमि कदंब किंजल्क सुहावनि । पीत बास मुनि जन मन भावनि ॥

धरे नितंब मेखला रूरी । तासु प्रभा अतिसै गुन भूरी ॥

उर श्रीरेख महाछबि छाजै । हार अमोलिक कंठ बिराजै ॥

चंदन तरु सम भगवत रूपा । बरनत पुनि तेहि सुभग अनूपा ॥

पीन प्रलंब भुजा बर चारू । मनि अमोल जत अंगद सारू ॥

भुज सोइ लखहु अमित भइ साखा। चंदन वृच्छ सरिस तेहि भाखा
फल पुष्पादि सहित अति सोभा। अंगदादि सोइ लखि मन लोभा
भुवन आतमक वृच्छ अनूपा। है अव्यक्त मूल सुख रूपा ॥

सो अनंत के फननि करि, बेष्टित हैं सब डार।

चंदन तरु के माहिं बहु, सरप करत संचार ॥

पुनि प्रभु सुभग सरूप, गिरि की समता करि कहत।

सोभा लखी अनूप, रमारवन को बपुष बर ॥

सोइ अग जग कौ ओक अनूपा। अहै अहींद्र बंधु सुखरूपा ॥

जल आवृत चहुँ ओर अपारा। जिमि मैनाक आदि सुखसारा ॥

सहसकिरीट सुभग अति भारी। सोइ गिरि रंग सरिस सुखकारी

मेरु आदि जे गिरि सुखकरे। तासु गरभ मनि होत सुखारे ॥

तिमि प्रभु गरभ कउस्तुभ राजै। बिधना लखि मन कौतुक भ्राजै

ऐसी श्री जुत प्रभु कहुँ देखी। बिस्मय जुत हिय भण्ड बिसेषी ॥

भगवत नाभी सरसि अनूपा। तहुँ उपज्यो बनरुह सुखरूपा ॥

लोक सर्ग के हेतु, बिधि मन चिंता प्रसित अति।

देख्यो रमानिकेतु, तासु लग्यो अस्तुति करन ॥

x x x

जथासक्ति अस्तुति उन करेऊ। मनहु श्रांत इव चुप द्वै रहेऊ ॥

x x x

बोले प्रभु अगाध बर बानी। तासु मोह नासक हिय मानी ॥

x x x

बिधि कल्याण होउ सब तोरा। मानेहु अग्या सिर धरि मोरा ॥

x x x

हे बिधि तुम कृतकृत्य सुजाना। मम हित करहु सृष्टि यह नाना ॥

सर्व वेदमय तनु तव आही। रचहु त्रिलोकी निज चित चाही ॥

x x x

एहि बिधि बिधना कह सकल, करि उपदेस बनाइ।

अन्तरहित तेहि छन भण, रमानाथ सुख पाइ ॥

—पितामहके मानसनेत्रोंके सामने नाच उठता है

अतीतका वह सम्पूर्ण दृश्य और वे वजराजकुमारसे निवेदन करने लगते हैं—‘प्रभो ! तुम्हीं निर्णय दे दो, यदि तुम्हारा वह श्रीविग्रह परिच्छिन्न—सीमावद्ध होता, जलमें अवस्थित होता तो उस पद्मतन्तुके मार्गसे भीतर प्रवेश करनेपर मुझे क्यों नहीं दीख गया ? और फिर किस हेतुसे मेरे श्रान्त हो जानेपर, अपने प्रयाससे उपरत होकर समाधियोगके द्वारा तुम्हारे चिन्तनमें निमग्न हो जानेपर अपने हृदयमें ही उसकी स्मृति हो गयी ? मैं स्वयं ब्रह्मा भी उसका अनुसन्धान न पा सका, इसलिये उसे अपरिच्छिन्न मान दूँ तो फिर मेरे हृद्देशमें ही उसके दर्शन कैसे हो गये ? पुनः तत्क्षण ही वह मूर्ति किस कारणसे अदृश्य हो गयी ? इन सबका सामञ्जस्य कैसे होगा स्वामिन् ! तुम्हारी अचिन्त्य महाशक्तिसे ही ये सब संघटित होते हैं। अनिर्वचनीय है—अचिन्त्य है तुम्हारे श्रीविग्रहका रहस्य, तुम्हारा स्वरूप—वस, इतना ही कहना सम्भव है भगवन् !’

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्रपुः

किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव।

किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव

किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १५)

जब हौं कमल-नाल द्वै गयौ, मन के वेग बरष सत भयौ।
जौ तुम जल करि आवृत होते, रहते दुरे कितक लौं मो ते।
पुनि जब तुमहिं दया करि कह्यौ, तप, तप, सो मैं दृढ़ करि गह्यौ।
तब रंचक तुम हिय मैं आइ, बहुरयौ गए चटपटी लाइ।
ये तुम्हरी माया की गुरझै, सब जन अरझे, नाहिंन सुरझै।

अभिलाषा

पुञ्जीभूतं प्रेमगोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् ।

एकीभूतं गुप्तचित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥

—संकलित

जो गोपियोंका एकत्रित प्रेम है, यादवोंका मूर्तिमान् सौभाग्य है, श्रुतियोंका धनीभूत गुप्त धन है, वह सामल परब्रह्म श्रीकृष्ण मेरे समीप ही रहे।

भविष्य जीवनकी झाँकी

(लेखक—प्रो० श्रीजयनारायण मलिक, एम्० ए०, डि० एड०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

जीवनका भविष्य क्या है ? यह एक जटिल प्रश्न है । प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें यह जिज्ञासा रहती है कि मरनेके बाद उसकी क्या गति होगी । मरनेवाले संसारसे—इस स्थूल-जगत्से चले तो जाते हैं, पर वहाँकी अवस्थाकी सूचना देनेके लिये लौटकर हमारे पास नहीं आते । स्थूल शरीर जल जाता है और सूक्ष्म शरीर पाप तथा पुण्यकी गठरी लिये इस स्थूल जगत्से प्रस्थान कर जाता है । शास्त्र-पुराणोंने इस सम्बन्धमें काफी छान-बीन की है । पर पुराणोंके वर्णनमें मतभेद रहनेके कारण लोगोंका विश्वास कुछ शिथिल-सा हो जाता है । चार्वाक तथा अन्य भौतिक भोगवादियोंने तो स्थूल शरीरके अतिरिक्त आत्मा और परलोकका अस्तित्व ही नहीं माना है । उनका कथन है कि शरीर नष्ट होनेके साथ-ही-साथ आत्माका भी नाश हो जाता है । भौतिक विज्ञान और रसायन-शास्त्र इस सम्बन्धमें मौन हैं; क्योंकि उन्हें तो केवल दूर-बीक्षण एवं सूक्ष्म-बीक्षण यन्त्रद्वारा दिखायी पड़नेवाले भौतिक पदार्थोंका ही अन्वेषण और विश्लेषण करना है । केवल दर्शनशास्त्रने आत्म-तत्त्वकी छान-बीन की है । आजका संसार किसी भी सत्यको तर्ककी कसौटीपर जाँच करनेके बाद ही माननेके लिये तैयार होता है । सांख्यमें निरीश्वर-वादकी झलक है । उसने केवल प्रकृति और पुरुषको यथार्थ माना है । पुरुषका ही दूसरा नाम जीवात्मा है । पुरुष अणु हैं; असंख्य हैं तथा अविद्यासे ढके हुए हैं । कर्म-संस्कार अविद्याका जन्म देता है । अनादिकालसे कर्म करता हुआ अविद्यासे ढका हुआ जीवात्मा प्रकृतिमें लटपटाया रहता है । पुरुषके सान्निध्यसे प्रकृतिके सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंकी साम्यावस्था टूट जाती है और तब प्राकृतिक तत्त्वोंमें विकार उत्पन्न होता है । परिणामवादके अनुसार प्रकृति सदैव बदलती रहती है । पुरुषके जीवनका प्रधान लक्ष्य यही है कि प्रकृतिके विकारोंसे अपने-आपको मुक्त करना । जबतक वह प्राकृतिक विकारोंसे मुक्त नहीं होता, तबतक जन्म-मरणके चंगुलसे वह छूट नहीं सकता । जबतक आत्मामें कर्म-संस्कार चिपका हुआ रहेगा, तबतक वह अविद्यासे तथा प्रकृतिसे छुटकारा नहीं पा सकता । कर्म-संस्कारसे हीन आत्माको प्रकृति-मण्डलमें रहनेपर भी प्राकृतिक विकार पकड़ नहीं सकता, जिस प्रकार भूना हुआ बीज मिट्टीमें रहनेपर भी पनप नहीं सकता ।

योगशास्त्रने सांख्य-सिद्धान्त माननेपर भी ईश्वरका अस्तित्व जगन्नियन्ताके रूपमें स्वीकार किया है । 'योगश्चित्तिनिरोधः ।' अन्तःकरणको एकाग्र करनेसे तथा वासनापर विवेककी विजय प्राप्त करनेसे कर्म-संस्कार अपने आप नष्ट हो जाता है । न्याय-शास्त्रकी दृष्टिमें अपवर्गकी प्राप्ति ही जीवका परमपुरुषार्थ है । जैनोंने कर्म-संस्कारका सर्वथा नाश और केवल ज्ञानकी प्राप्ति नाम मोक्ष माना है । बौद्धोंकी दृष्टिमें जबतक कर्म-संस्कार रहेगा, तबतक आत्माका अस्तित्व रहेगा और जन्म-मरणका चक्र घूमता रहेगा । कर्म-संस्कारके नष्ट होते ही आत्माका निर्वाण होगा—वह शून्यमें मिल जायगा । पूर्वमीमांसाके अनुसार जीव पाप या पुण्यका भोग करनेके लिये स्वर्ग या नरक चला जाता है और स्वर्ग अथवा नरकके भोगके बाद अगर्भ प्रवृत्ति, वासना और प्रारब्ध कर्मके अनुसार अनुकूल योनि चुन लेता है । जीवात्माका स्थूल शरीर पञ्चमहाभूतोंसे—पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश (Ether) एवं सूक्ष्म शरीर अहं, मन तथा बुद्धिसे बना रहता है । इनके पूर्वतत्त्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर तत्त्व सूक्ष्म होते गये हैं । स्थूल शरीरमें पृथ्वीकी अपेक्षा जल, जलकी अपेक्षा तेज, तेजकी अपेक्षा वायु, वायुकी अपेक्षा आकाश सूक्ष्म तत्त्व हैं । स्थूल शरीरमें आकाश सूक्ष्मतम तत्त्व है । इसीलिये पाश्चात्य दर्शन और भौतिक विज्ञानवादियोंने केवल चार ही तत्त्वोंका अस्तित्व माना है; क्योंकि आकाश-तत्त्वके परमाणु दूरबीन (Telescope) और सूक्ष्म-बीक्षण (Microscope) यन्त्रोंके द्वारा नहीं देखे जाते । किंतु पाश्चात्य संसार इस बातको भूल जाता है कि 'कार्यभावात् कारणभावः' यदि कार्य (Effects) वर्तमान है तो कारण (Cause) भी अवश्य रहा होगा । प्रकाश आकाशतत्त्व (Ether) की एक तरंगमात्र है । प्रकाशकी उपस्थिति आकाश-तत्त्वका अस्तित्व सिद्ध कर देती है । सूक्ष्म शरीरके तीनों तत्त्व तो इतने सूक्ष्म हैं कि केवल मनोवैज्ञानिक विश्लेषणके द्वारा ही इनके अस्तित्वका पता लगता है ।

अहङ्कारमें तमकी प्रधानता है, मनमें रजकी और बुद्धिमें सत्त्वकी । अहङ्कारका परिणाम शिथिलता और जडता है, मनका प्रवृत्ति और बुद्धिका विवेक । ब्रह्मयोगमें पशु-योनिमें प्रवृत्तिकी और मनुष्य-

संख्या ७]

यौनिमें विवेककी । यदि हमारे कर्म केवल प्रवृत्ति (Instinct) की प्रेरणासे किये जाते हैं, तो हम पशुताकी ओर झुक जाते हैं; यदि हमारे कर्म विवेक और कर्तव्यकी प्रेरणासे किये जाते हैं तो हममें मानवताकी प्रधानता रहती है । मानवताकी सबसे बड़ी देन है प्रवृत्तिके ऊपर विवेककी विजय । मानवता जब अपना कर्तव्य-ज्ञान भूलकर भोग-वासनाकी ओर झुक जाती है, तब उसका नाम हो जाता है 'पशुता', पर मानवता जब उलट जाती है, तब उसका नाम हो जाता है 'दानवता' । पशुता मानवताको भोग-वासनामें घसीटकर उसे कलङ्कित कर डालती है, पर दानवता तो मानवताका संहार ही कर लेती है । पशुता मानवताकी कमजोरी है और दानवता मानवताकी मौत । पूर्वमीमांसा-शास्त्रके अध्ययनसे हम अच्छे और बुरे कर्मोंको पहचान लेते हैं, पर कर्म-संस्कारसे सर्वथा मुक्त नहीं हो पाते । वेदान्त-शास्त्रकी हमें यहीं आवश्यकता पड़ती है । पूर्व-मीमांसाके अध्ययनसे जब हम कर्मफलकी अस्थिरता और स्वर्गादिकी क्षणभङ्गुरता देख लेते हैं, तब अमरत्वका अन्वेषण हमें 'ब्रह्म-जिज्ञासा' की ओर ले आता है । हिंदू-धर्म सदासे ही मीमांसा-शास्त्रपर अवलम्बित रहा है । पूर्व-मीमांसामें कर्मकाण्डका वर्णन है, उत्तर-मीमांसामें ज्ञानकाण्ड-का । पूर्वमीमांसा पूर्व-वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थोंका सार है तो उत्तर-मीमांसा उपनिषद् और आरण्यकका । पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा वस्तुतः एक ही शास्त्रके दो भाग हैं । हम किसी भी भागकी अवहेलना नहीं कर सकते । कर्म शरीरतत्त्वका विश्लेषण है, ज्ञान आत्म-तत्त्वका अन्वेषण । 'देवी-भागवत'में हम कर्ममीमांसाकी व्याख्या देखते हैं, 'श्रीमद्भागवत'में ब्रह्म-मीमांसाकी । इस प्रश्नको उठाना कि 'भगवती बड़ी हैं या भगवान् बड़े हैं' उतना ही निरर्थक है, जितना यह प्रश्न कि 'शक्ति बड़ी है या शक्तिमान् बड़ा है' अथवा 'माता बड़ी है या पिता बड़ा है ।' हम तो श्रीमन्नारायण भगवान्की उपासना करते हैं । 'नारायण' की आराधनामें हम 'श्री'का त्याग नहीं कर सकते ।

'गिरा अरय जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।'

मृत्युके बाद जीवकी क्या गति होती है—इस सम्बन्धमें वेदान्त-शास्त्रके दो बड़े भाष्यकार शंकर और रामानुजमें अधिक मतभेद नहीं है । मृत्युके बाद जीवकी चार गतियाँ होती हैं ।

१-कैवल्यकी अवस्था । योग-शास्त्रका यही चरम

लक्ष्य है और इसीको शंकरने 'सद्योमुक्ति' के नामसे पुकारा है । इसका साधन ज्ञान-मार्ग है । तुलसीदासने कहा है—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद । वेद पुरान निगम आगम बंद ॥
गीतामें कहा है—

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।'

वस्तुतः कैवल्यका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है और यदि प्राप्त भी हो जाय तो भी उतना आकर्षक और आनन्दप्रद नहीं है । कैवल्य भी एक प्रकारका मोक्ष है; क्योंकि कैवल्य प्राप्त होनेपर जीवका मायासे सम्बन्ध कट जाता है, पर कैवल्यकी अवस्थामें दुःखकी निवृत्ति तो हो जाती है, लेकिन आनन्दकी अनुभूति नहीं होती । कैवल्यमें चिन्मात्र तो रह जाता है, पर जीवकी पृथक् सत्ता नहीं रह जाती । इस विशाल अन्तरिक्षमें न जाने आत्मा कहाँ विलीन हो जाता है अथवा इस निःसीम विराट् चैतन्य-सिन्धुमें वह अन्तर्हित हो जाता है । बौद्धोंके निर्वाणमें और शाङ्कर-वेदान्तके इस कैवल्यमें अधिक भेद नहीं है । दीप बुझ जानेपर उसका प्रकाश कहाँ चला जाता है, कोई नहीं बता सकता, उसी प्रकार कैवल्यमें जीवका अपना अस्तित्व नहीं रहता । कबीरने कहा है—

'बूँद समानी समुंदमें, सो कित हेरथा जाय ।'

एक तो कैवल्यका साधन-पथ दुर्गम है; क्योंकि इसमें प्रवृत्तिका कुचलना, इच्छाओंका सर्वथा दमन और वासनाका हनन आवश्यक हो जाता है ।

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक ।

होइ धुनाच्छर न्याय जौ पुनि प्रयूह अनेक ॥

जिस प्रकार पतिसे परित्यक्ता नारी अपने ही आपमें रमण करती हुई पति-सुखसे वञ्चित रहती है, उसी प्रकार कैवल्य-प्राप्त आत्मा भगवदनुभव-सुखसे वञ्चित अपने-ही-आपमें लीन रहता है । यह कहना कि 'वासनाका हनन करो, इच्छाओंका दमन करो, प्रवृत्तिको कुचलो—'सहज बात नहीं है । वासनाका हनन केवल वाक्य-ज्ञानसे, लम्बी-लम्बी वक्तृता देनेसे या शास्त्रार्थ करनेसे नहीं होता । असंख्य जन्मोंके कर्म-संस्कारका रस पीकर वासना-सर्पिणी अन्तःकरणमें फुफकार मारती रहती है । उसका हनन वाक्य-ज्ञानसे नहीं होता ।

वाक्य-ज्ञान अत्यन्त चतुर, भव पार न पावै कोई ।

जिमि गृह-मध्य दीपकी बातन, तम निवृत्त नहिं होई ॥

इच्छा तो स्थूल-शरीर और अन्नमय कोशकी माँग है, उसका सर्वथा दमन न तो सहज सम्भव है और न उदाहरणीय । प्रवृत्ति तो प्रकृतिका सूक्ष्मरूप है । उसको कुचलनेकी चेष्टा प्रकृतिके साथ एक भीषण संग्राम है । मोक्ष-पथपर प्रकृतिके साथ एक भीषण संग्राम सहायक नहीं, बाधक है; क्योंकि प्रकृतिके साथ एक भीषण संग्राम करनेमें हमारी जो शक्ति क्षीण हो जाती है, उसके सदुपयोगसे हम बहुत आगे बढ़ सकते हैं ।

तब फिर वासनाके ऊपर हम विजय कैसे प्राप्त करें ? यह केवल ब्रह्म-साक्षात्कारसे और भगवत्कृपासे सम्भव है, अन्यथा नहीं । कर्म-योगसे केवल क्रियमाण कर्म क्षीण हो सकता है, प्रारब्ध और सञ्चित कर्मोंके ऊपर कर्मका कुछ भी विशेष प्रभाव नहीं पड़ता । फिर भी कर्म-योगके लिये अनासक्त और निर्लिप्त होना आवश्यक है । स्थूल शरीरसे कर्म करनेपर अन्तःकरणमें एक तरङ्ग उठती है, मनमें एक विकार उत्पन्न होता है । यही तरङ्ग—यही विकार सूक्ष्म-शरीरका पोषक और वासनाका विकास करनेवाला है । वासना कर्मोंका रस पीकर जीवित रहती है । वासना सञ्चित कर्मोंकी पुत्री और क्रियमाण कर्मोंकी जननी है । हमारे व्यतीत जीवनके कर्मोंके अनुसार वासना तथा प्रवृत्तिकी रूप-रेखा निर्मित होती है, और यही वासना—यही प्रवृत्ति हमारे भविष्य जीवनका पथ-प्रदर्शन करती है । कामिनी और काञ्चनका सहयोग हम अनादि कालसे और असंख्य योनियोंमें करते आये हैं और इसका परिणाम यह होता है कि कामिनी और काञ्चनके सान्निध्यसे हमारे हृदयमें एक हलचल होने लगती है, वासना अँगड़ाई लेती है और अन्तरात्मामें एक कम्पन—मधुर सिहरनका अनुभव होने लगता है ।

वासनाके हननमें ज्ञान-योग भी बहुत अधिक सहायता नहीं करता । ज्ञान-योगकी सफलताके लिये स्थितप्रज्ञ होना आवश्यक है और जबतक अन्तःकरणमें वासना जीवित है, तबतक बुद्धि सर्वथा स्थिर नहीं हो सकती । संसार-चक्रकी परिधिमें कर्मोंके पीछे वासना और वासनाके पीछे कर्म चलते रहते हैं । जिस प्रकार फलसे ही गाछ और गाछसे ही फल होता है, उसी प्रकार वासना कर्म-संस्कारकी जननी है और पुत्री भी । बाह्य-इन्द्रियोंके दमन मात्रसे वासना नहीं मरती ।

‘माधव मोह पास क्यों टूटै ।

बाहर कोटि उपाय करिय, अभ्यन्तर ग्रन्थि न छूटै ।’

विषयकी गन्ध लगते ही वासना उत्तेजित हो उठती है—

इंद्री द्वार झरोखा नाना । तहँ तहँ सुर बटे करि थाना ॥
आवत देखहिं विषय वयारी । ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥

जब वासना इतनी प्रबल है, तब उसको मारकर केवल प्राप्त करनेकी चेष्टा अति दुष्कर है । कर्मयोग या ज्ञान-योग बिना भक्ति-योगकी सहायतासे—बिना परमात्माकी दयासे वासनाके दमनमें सहज ही सफल नहीं हो सकता ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य पर इष्टा निवर्तते ॥

सचमुच परब्रह्मकी झलक मिलते ही वासना अपने आप मिट जाती है । यदि आसक्ति नहीं मिटती तो वरजों बाह्य इन्द्रियोंके दमनसे अधिक लाभ नहीं । पर यह आसक्ति बिना परमात्माकी दयासे मिटेगी कैसे ? हम उपदेशक बनकर लंघी-लंघी वक्तृता देते हैं, लेखक बनकर बड़े-बड़े लेख लिखते हैं, शास्त्रार्थ करते हैं, ब्रह्मज्ञानकी मीमांसा करते हैं, पर अन्तःकरणकी मलिनता तो नष्ट नहीं होती । लज्जा कारण और समाजके डरसे हम कामिनी और काञ्चनको ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, पर मौकेपर हस्त उनके लिये मचल उठता है । अन्तरात्मासे उनकी तरफ़ नहीं मिटती—

ब्रह्म ग्यान विनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात ।

कौड़ी लागि लोभवस करहिं विप्र गुर घात ॥

केवल शास्त्रार्थके लिये ब्रह्मज्ञानकी चर्चा वाक्य-ज्ञान है और केवल वाक्य-ज्ञानसे आध्यात्मिक स्तर उँचा नहीं होता ।

जिस विद्यासे केवल विवादकी क्षमता आती है, यथा ज्ञान नहीं होता, वह तो दुष्टोंकी विद्या है । विद्याका सदुपयोग ज्ञान, धनका दान और शक्तिका सदुपयोग दूसरोंकी रक्षा है । विद्याका दुरुपयोग विवाद, धनका अभिमान और शक्तिका दुरुपयोग पर-पीडन है । इस वाक्य-ज्ञानसे कैवल्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती । यदि किसी प्रकार गुणाकार न्यायसे हमारा आत्म-ज्ञान सफल भी हो जाय और हम अपने अस्तित्वको विशाल आत्म-सिन्धुमें विलीन भी कर दें तो कैवल्यकी प्राप्ति तो हो सकती है, पर कैवल्यका रूप ही उतना आकर्षक नहीं है, जितना मोक्षका । कैवल्यमें दुःखकी निवृत्ति तो हो जाती है, आवागमन तो छूट जाता है, पर आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती ।

शङ्कर और रामानुजके सिद्धान्तमें मोक्षके स्वरूप तत्त्वतः तो कोई मौलिक भेद नहीं है, पर शब्दोंमें कुछ अन्तर अवश्य है । जिसको शङ्करने ‘सद्योमुक्ति’ कहा है, उसीको रामानुजने ‘कैवल्य’ कहा है । वस्तुतः रूप दोनोंका एक ही है । जिसको रामानुजने ‘मोक्ष’ कहा है, उसीको

शङ्करने 'कम-मुक्ति' या 'ब्रह्म-लोक-प्राप्ति' कहा है। इस अवस्थामें केवल दुःखकी निवृत्ति ही नहीं होती, किंतु आनन्दकी प्राप्ति भी होती है। रामानुजने तो इसे चरम मोक्ष माना ही है, शङ्करने भी इसे मोक्ष कहा है। ब्रह्मसूत्रमें कहा है—'अनावृत्तिः शब्दात्, अनावृत्तिः शब्दात्।' अर्थात् ब्रह्मलोक अथवा परमपदसे फिर लौटकर आना नहीं होता।

शङ्करका कथन है कि भोक्तृत्व जीवका स्वाभाविक गुण नहीं है, अतः मोक्षकी अवस्थामें भोक्तृत्व नहीं रहता, इसलिये कैवल्यमें दुःखकी निवृत्ति तो हो जाती है, पर आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। रामानुजका कथन है कि भोक्तृत्व जीवका स्वाभाविक गुण है, अतः मोक्षकी अवस्थामें भी यह रहता ही है। इसलिये मोक्षकी अवस्थामें दुःखकी निवृत्ति ही नहीं होती, आनन्दकी प्राप्ति भी होती है। चैतन्यका ही परिणाम तो भोक्तृत्व है। चैतन्य यदि रहेगा तो सुख-दुःखका अनुभव भी होगा ही। प्रतिकूल परिस्थितिमें दुःख और अनुकूल परिस्थितिमें सुख होता है। रज और तमसे वासनाका जन्म होता है एवं वासना दुःखकी जननी है। रज और तमके विकारका ही नाम दुःख है। ब्रह्मलोक या वैकुण्ठमें रज और तम नहीं रहते, शुद्ध सत्त्वमात्र रह जाता है। रज और तमके कारण प्रकृति बदलती रहती है। यही कारण है कि त्रिगुणात्मिका (सत्त्व-रजः-तमोमयी) प्रकृतिसे बना हुआ मानव-शरीर परिवर्तनशील है। शरीरमें परिवर्तन होनेके कारण ही शैशव, यौवन, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु इत्यादि विकार होते रहते हैं। माया-मण्डलसे पार जानेपर प्रकृतिके विकार (रज और तम) नहीं रहते। मायाका रज (गंदगी) तो विरजामें ही नष्ट हो जाता है। इसीसे वैकुण्ठमें शुद्ध सत्त्वसे बना हुआ दिव्य शरीर कभी नहीं बदलता और परिवर्तन नहीं होनेके कारण कभी नष्ट भी नहीं होता। इसीलिये परमपदमें शाश्वत यौवनकी प्राप्ति हो जाती है। प्रारब्ध कर्मोंके कारण ही जीवनमें कुरूपता आती है। वासनासे प्रेरित होकर कर्म करनेसे व्यथा और वेदनाकी सृष्टि आती है। वैकुण्ठमें न तो प्रारब्ध कर्म रहता है, न वासना ही रहती है, इसलिये वहाँ अक्षय सौन्दर्य, चिरन्तन भाव्य और दुःख तथा वेदनाका सर्वथा अभाव रहता है। भूख, प्यास, मल-मूत्र इत्यादि तो स्थूल शरीर और अन्नमय कोशके विकार हैं। वैकुण्ठमें स्थूल शरीर और अन्नमय कोश नहीं रहता, अतः वहाँ भूख, प्यास इत्यादि शारीरिक विकार भी नहीं होते। राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि सूक्ष्म शरीर तथा प्राणमय कोश एवं मनोमय कोशके विकार हैं। ब्रह्मलोकमें सूक्ष्म शरीर

तथा प्राणमय एवं मनोमय कोश नहीं रहते। अतः वहाँ काम-क्रोधादि मानसिक विकार भी नहीं होते। सत्त्व स्वच्छ पारदर्शी तथा अविकृत पदार्थ है। अतः शुद्धसत्त्वका बना हुआ शरीर चैतन्यके प्रकाशका बाधक नहीं होता। रज मटमैला और धूसर पदार्थ है। उसका रंग मिट्टीके रंगके समान है। रज चैतन्यके प्रकाशको सर्वथा नष्ट तो नहीं करता, पर उसको धुंधला और गंदा बना देता है। तमका रंग काला है और वह तिमिरमयी रजनीके समान प्रकाशको सर्वथा लोप कर देता है। माया-मण्डलमें रज और तमके कारण ही आत्माका ज्ञान परिमित और संकुचित हो जाता है, किंतु वैकुण्ठ-धाममें शुद्ध-सत्त्वका शरीर रहनेके कारण आत्माका ज्ञान वार्धित और सीमित नहीं रहता, पर अपरिमित और निःसीम हो जाता है। लालटेनमें आप रंगीन शीशा लगा दीजिये तो स्वच्छ प्रकाश भी रंगीन शीशेके प्रभावसे रंगीन दिखायी पड़ता है। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरमें माया-मण्डलके अन्तर्गत आत्माके चारों ओर वासनाका रंगीन नर्तन होता रहता है। वासना जिस रंगके परिधानमें नाचती है, चैतन्यका स्वच्छ प्रकाश भी उसी रंगका हो जाता है।

जिस प्रकार आँख खुली रहनेपर हम कुछ-न-कुछ देखेंगे ही, उसी प्रकार चैतन्यका अस्तित्व रहनेसे हम कुछ-न-कुछ अनुभव करेंगे ही। जड़ पदार्थ सुख या दुःखका अनुभव नहीं करता; क्योंकि उसमें चैतन्यका अभाव है। पर चैतन्यमें तो अपना ही प्रकाश है और प्रकाशका ही दूसरा नाम अनुभूति है। अतः मोक्षकी अवस्थामें जब जीवात्माका शुद्ध वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है, तब उसमें केवल दुःखकी निवृत्ति ही नहीं होती, पर आनन्दकी अनुभूति भी होती है। यदि हम स्थूल दृष्टिसे भी देखें तो वह कैवल्य, जिसमें केवल दुःखकी निवृत्ति होती है, पर आनन्दकी अनुभूति नहीं होती, उतना वाञ्छनीय नहीं मालूम पड़ता। जड़ पदार्थमें भी तो दुःखकी निवृत्ति रहती है। एक पत्थर दुःखका अनुभव नहीं करता। क्या मोक्षकी अवस्था जड़वत् होनेकी अवस्था है? दुःखकी निवृत्ति उतना मूल्य नहीं रखती, जितना कि शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति।

अतः कैवल्यकी अपेक्षा मोक्ष श्रेयस्कर है, क्योंकि कैवल्यका साधन-पथ भी कठिन है और स्वरूप भी उतना आकर्षक नहीं, जितना मोक्षका। यह (श्रीरामानुजसम्प्रदायानुसार) मोक्षका वर्णन है। मरनेके बाद जो जीवकी और तीन गतियाँ होती हैं, उसका वर्णन फिर कभी किया जा सकता है।

अधमर्षण

(लेखक—प्रो० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, पी० एच्० डी०)

ऋग्वेदके अधमर्षण सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिकारणन है। सृष्टि शब्दका अर्थ सृजी गयी, रची गयी या बनायी गयी वस्तु है। नासदीय सूक्तमें सृष्टि शब्द 'वि' उपसर्गके साथ आता है। 'वि' उपसर्ग विविधता या नानात्वका द्योतक है। सृष्टि विविधरूपा है, यह भी एक स्पष्ट तथ्य है; परंतु दार्शनिक और वैज्ञानिक अभीतक इस विषयमें एकमत नहीं हो सके हैं कि यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली अनेकरूपा सृष्टि किसी विशेष समयमें रची गयी थी अथवा नहीं।

क्षणवादी बौद्ध तथा वर्तमान भौतिक विज्ञानके आचार्योंका मत है कि सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण अपना रूप परिवर्तित करती है। कुछ परमाणु इसके अंदरसे बाहर निकल जाते हैं और कुछ बाहरसे आकर इसके अंदर प्रविष्ट हो जाते हैं। यह परिवर्तन प्रतिपल होता रहता है। कभी एक वस्तुको संघटित करनेवाले परमाणु तिरोहित होकर किसी दूसरी वस्तुको भी जन्म देते हैं। इस प्रकारका परिवर्तन अनादि कालसे चला आता है और भविष्यमें भी इसी प्रकार चलता जायगा। इस रूपमें समग्र सृष्टि प्रवाहसे अनादि है। जैसे दिन-रातका चक्र अनादिकालसे चल रहा है और चलता रहेगा, वैसे ही सृष्टि भी चलती आयी है और चलती जायगी। किसी भी वस्तुका यहाँ पूर्णतया विनाश नहीं होता, केवल रूपमें परिवर्तन होता है। जिस सामग्रीसे वस्तुका निर्माण हुआ है, वह सामग्री ज्यों-की-त्यों यहींपर विद्यमान रहती है। कभी वह सागका रूप धारण करती है, कभी फलका, कभी रक्तका और कभी हड्डी या चर्मका।

आस्तिक आर्योंकी विश्वासी बुद्धिके अनुसार सृष्टि प्रवाहसे तो अनादि है; परंतु स्वरूपतः एक विशिष्ट समयमें एक विशिष्ट आकार धारण करती है और एक विशिष्ट समयमें अदृश्य परमाणुओंके रूपमें प्रलयको प्राप्त होकर अदृश्य प्रभुके अंदर एक निश्चित अवधितक समायी रहती है। निश्चित अवधिकी समाप्तिपर यह पुनः अपना पूर्व जैसा रूप धारण करती है। यहाँ हम इसी दूसरे मतके सम्बन्धमें वेदके आधारपर कुछ विचार प्रकट करेंगे।

सृष्टिकी उत्पत्तिका प्रारम्भ 'अभीद्ध तप'से होता है, ऐसा वेद कहता है। उपनिषद्दोंके ऋषियोंने भी अनेक बार इसी तथ्यकी घोषणा की है। वैदिक आर्योंकी बुद्धि प्रत्येक रचना-

के मूलमें तपकी क्रियाका अनुभव करती रही है। व्यावहारिक जगत्में भी हमें तपका मूल्य दिखायी देता है। एक साधारण मकानके बनानेमें कितना परिश्रम करना पड़ता है, इसे हम गृहनिर्माता जानते हैं। धन-लाभ अथवा विद्योपाजनका काम भी सहज नहीं है। व्यवसायी अथवा विद्यार्थीको धन अर्जन करना पड़ता है, तब कहीं जाकर कुछ थोड़ा-सा धन अर्जित होकर विद्या हाथ आती है। अतः सृष्टि-जैसी रचना अनायास ही हो गयी होगी, इसे कोई भी अनुभवी विद्वान् स्वीकार नहीं कर सकता। वेदके शब्दोंमें सृष्टिके मूलमें साधारण तप कहेंगे, अभीद्ध—प्रज्वलित तप है। परात्पर सत्ता अभीद्ध तप कहेंगे, तब सृष्टिका निर्माण होता है। ऋषियोंने 'यस्य शान्त तपः' कहकर तपको ज्ञानके साथ संयुक्त कर दिया है। अणुबमके निर्माणमें आजकलके वैज्ञानिकोंको कितना श्रम तप करना पड़ा है, बुद्धिका कितना व्यवसाय उसके लिए छिपा है, यह भी किसीके लिये छिपा हुआ नहीं है। सृष्टि-जैसी अनुपम रचनाके मूलमें अभीद्ध शान्त तप ही है, इसे स्वीकार करनेमें किसीको आपत्ति नहीं हो सकती है।

अभीद्ध तपसे रचनाका जो प्रथम रूप आविर्भूत होता है वह ऋत और सत्य कहा गया है। ऋत और सत्य रचनाके द्विविध स्वरूपका उद्घाटन करते हैं; परंतु वे दो तत्त्व हैं, जिनका कोई आकार नहीं है। वे नाम-रूपका जगत्की प्रारम्भिक मूल अवस्थाके सूचक हैं। इन्द्रियोंके विषयोंके अन्तर्गत वे नहीं आते।

ऋत और सत्य क्या हैं? ऋत शब्द ऋतु धातुसे निष्पन्न होता है। अतः इसे हम गतिक (Dynamic) तत्त्व कह सकते हैं। 'सत्य' सत् धातुसे सत्ताका द्योतक है। इसे हम स्थिति या सत्ता (Static) का तत्त्व कह सकते हैं। ऋत और सत्य दोनों तत्त्वों का और स्थितिको प्रकट करते हैं। बनी हुई इन्द्रियोंके सृष्टिमें हमें यही दो तत्त्व कार्य करते हुए दिखायी देते हैं। इन्हें आप पुरुष और स्त्रीका रूप समझिये। पुरुष प्रगतिशील है तो स्त्रीतत्त्व परम्पराका पोषक। एक बढ़ना चाहता है, परिवर्तनप्रिय, अनुरागी है तो दूसरा पुरातनके रहना चाहता है, स्थितिमें परिवर्तन करना उसे पसंद

है। जितना है, उतना सुरक्षित रहे, यही उसकी कामना रहती है। एक योग है तो दूसरा क्षेम। उपनिषद्के शब्दोंमें एक प्राण है तो दूसरा रयि। ऋत और सत्यका यह युग्म या मिथुन जड़ और चेतन दो तत्त्वोंकी ओर स्पष्टरूपसे संकेत करता है। परब्रह्मके अभीष्ट तपसे ये दो तत्त्व सर्वप्रथम प्रकट होते हैं; परंतु हमारी विषयात्मक दृष्टिसे अगोचर, अनाम और अरूप। इन्हें नाम-रूपात्मक चोला धारण करनेके लिये गर्भमें जाना पड़ता है।

गर्भस्थ बालकका पिण्ड मूलमें रज और वीर्यका संघात है। रज स्त्री-तत्त्व अर्थात् सत्य है तथा वीर्य पुरुष-तत्त्व अर्थात् ऋत। लगभग पाँच सेरका एक चेतन मांसपिण्ड जब माके गर्भसे बाहर आता है, तब उसका एक विशिष्ट आकार होता है। इस आकारको नामकरण संस्कारके दिन एक विशिष्ट नाम दिया जाता है। परंतु इस नाम-रूपात्मक व्यक्तिको इस आकारमें आनेसे पहले गर्भमें रहना पड़ता है, इसी प्रकार नामरूपात्मक जगत्को भी गर्भ-जैसी एक विशेष दशामेंसे निकलना पड़ता है। गर्भमें वस्तु छिपी हुई अज्ञात और अदृष्ट रहती है। अतः वेदने इसे 'रात्रि' नाम दिया है। रा=दान, प्रकाश अथवा आविर्भूत नाम-रूपात्मक जगत् जहाँ अपने मूलरूपमें त्रा=सुरक्षित रहता है। जैसे गर्भ अन्धकार या अव्यक्त अवस्थाका सूचक है, वैसे ही रात्रि भी दिनके विपरीत अन्धकार या अव्यक्त दशा-को प्रकट करती है। इसी 'रात्रि'को अथर्ववेदने ज्येष्ठ ब्रह्म तथा भागवतने हिरण्यगर्भका नाम दिया है। वेदमें भी हिरण्यगर्भ शब्द आता है, जिसे हम सबको अपने अंदर बसानेवाले परात्पर ब्रह्म तथा प्रकृतिकी मूल अव्यक्त अवस्था-के अर्थमें ग्रहण कर सकते हैं; क्योंकि दोनों ही नामरूपात्मक जगत्के 'अग्रे' अर्थात् पूर्व विद्यमान रहते हैं।

ऋतको हमने पुरुष तत्त्व कहा है, चेतन और गतिशील। ऋतवेदमें भी—

'अहमिद्धि पितुस्तरि मेधाऋतस्य जग्रभ।'

शब्दोंद्वारा ऋतको पिता कहा गया है। 'सूनुं सत्यस्य सत्यमि'में सत्यको माताका स्थान भी प्राप्त है। पिता और माताके संयोगसे मानवसृष्टिका तन्तु आगे विस्तृत होता है। इसी प्रकार ऋत और सत्यके युग्मसे यह संसार विस्तार पाता है, नाना नाम-रूपोंमें प्रकट होता है।

रात्रि, हिरण्यगर्भ, ज्येष्ठ ब्रह्म अथवा अव्यक्तके पश्चात् जो अभिव्यक्ति सर्वप्रथम होती है, उसे वेदने 'समुद्रो अर्णवः' कहा है।

कहा है। अर्णवका अर्थ है अर्णवान्, ध्वनिमान्, शब्दमय। समुद्रका अर्थ यास्कके मतानुसार सम+उत+द्रु अर्थात् जिसकी ओर सब दौड़ लगावें अथवा जहाँसे सब निकलकर दौड़ लगावें। दोनों शब्दोंपर ध्यान देनेसे समुद्रका अर्थ आकाश प्रतीत होता है। आकाशमें ही सब भूत जाकर लीन हो जाते हैं और वहींसे सब दौड़ लगाकर बाहर आते हैं। समुद्रका अर्थ जल-राशिवाला सागर भी है; क्योंकि सागरमें ही नद-नदी आदिका जल दौड़ लगाता हुआ समा जाता है और वहींसे वाष्प बनकर पुनः नद-नदी आदिका रूप धारण करता है। परंतु यहाँ समुद्रका विशेषण अर्णव है। अर्णव=ध्वनिवालेको कहते हैं। ध्वनि अथवा शब्द आकाशका ही गुण है। अतः 'समुद्रो अर्णवः'का अर्थ नाना ध्वनियों, शब्दों, वाणियोंसे संयुक्त आकाश ही है।

जैसे वाणीके परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—चार रूप हैं, वैसे ही इस रचनाके भी। ऋत और सत्य इसका पर रूप है, बुद्धिसे भी परे, अगम्य, अगोचर। ऋतवेदने इसे प्स अर्थात् परलाप्य कहा है (परा पथिभिः चरन्तम्)। रात्रि इसका पश्यन्ती रूप है जो कुछ-कुछ समझमें आता है, बुद्धिगम्य बन जाता है। 'समुद्रो अर्णव' इसका मध्यमा-जैसा रूप है। वाणीका मध्यमा रूप मनमें स्पष्ट होने लगता है। आकाश भी मनस्तत्त्व है; जिसमें ऋक्, यजु, साम आदिकी समस्त ध्वनियाँ ओतप्रोत हैं। सूर्य, चन्द्र आदिके रूपमें रचनारूपी वाणीका वैखरीरूप प्रकट हो जाता है।

हिरण्यगर्भसे आकाशरूपी वच्चा बाहर आ गया। रचना-का नामरूपात्मक अंश प्रकाश पाने लगा; परंतु अभी वैखरी अर्थात् ठोस, पिण्डात्मक अवस्था प्राप्त नहीं हो सकी। रचनाका प्रारम्भिक स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि रचनाका प्रारम्भ ही कालका भी प्रारम्भ है। वेद भी कहता है 'समुद्रो अर्णव'के साथ ही संवत्सर अर्थात् काल उत्पन्न हुआ। काल क्या है? काल एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें घटनाएँ घटित होती हैं। संवत्सरका अर्थ है जिसमें सब बसें, व्यापार करें, क्रियाशील हों। कालके साथ ही देशका भी नाम आता है। देश वस्तुओंको स्थान देनेवाला है। आकाश यदि देश है तो संवत्सर काल है। कालके अंश दिन और रात्रि हैं। वेद कहता है, संसारको स्वभावसे ही वशमें रखनेवाले प्रभुने कालके शापक दिन और रात्रिको प्रकट किया। दिन और रात्रिके कारण सूर्य और चन्द्र हैं।

आता है। अन्तमें वेद देश और काल दोनोंके ही अभिव्यक्ति के, अन्तरिक्ष, पृथ्वी तथा सूर्य, चन्द्रकी उत्पत्ति बतलाता है और कहता है कि यह समग्र रचना पूर्वकल्पके ही अनुसार है।

वैसे लेकर पृथ्वीपर्यन्त देशका भाग है। सभी वस्तुएँ इसी देशमें स्थान पाती हैं। कीड़ीसे लेकर कुञ्जरतक और वनस्पतियोंसे लेकर सचेतन मानव तथा देवोंतक, सबका आश्रय इसी देशके नाना विभागोंमें है। जब हम देशकी लंबाई-चौड़ाईपर विचार करते हैं, तब अन्तमें काल हाथ रह जाता है और जब हम कालपर विचार करते हैं, तब अन्तमें ज्ञान रह जाता है। इस प्रकार देश और काल दोनोंका पर्यवसान ज्ञानमें होता है। यही ज्ञान मूल वस्तु है। परब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, इसे सभी आस्तिक स्वीकार करते हैं।

देशमें सबसे स्थूल पृथ्वी है। पृथ्वीका गुण गन्ध है। जब वायु गन्धको निकाल ले जाता है, तब पृथ्वी जलमें लीन हो जाती है। मिट्टीका ढेला जलमें पड़कर जलमें आत्मसात् हो जाता है। जलका गुण रस है। अग्नि इस रसको वाष्पमें परिवर्तित कर देता है। जल वाष्परूपमें आग्नेय बन जाता है। अग्नि वायुमें और वायु अन्तमें आकाशमें लीन हो जाती है। यह महाभूतोंका क्रम है और यही सूक्ष्म भूतोंका भी क्रम है। महाभूत सूक्ष्म भूतोंके पञ्चीकरणसे निर्मित है, अतः दोनोंके स्वभावमें अन्तर नहीं है। यह क्रम स्थूल देशका सूक्ष्म देशमें विलीनीकरण प्रकट करता है। इसके विपरीत आविर्भावका क्रम है।

यदि देश सत्य है तो काल ऋत है। एक सत्ताका हेतु है तो दूसरा क्रियाका। मूल तत्त्वोंकी दृष्टिसे प्रकृति सत्य है तो पुरुष ऋत है। रचनाके अन्तर्गत द्यौः पिता है, ऋत है; तो पृथ्वी माता है, सत्य है। परंतु जैसे अन्तमें देश और काल ज्ञानमें लीन हो जाते हैं, वैसे ही ऋत और सत्य ज्ञानमय तपमें और प्रकृति तथा पुरुष चेतनताके, चित्ति अथवा ज्ञानके अनन्त सिन्धु परब्रह्ममें। वेदने इसी हेतु 'न त्वदन्यः' जितनी उत्पन्न हुई वस्तुएँ हैं और उनके चारों ओर कोपरूप जो अन्य द्रव्य अथवा पदार्थ है, वह सब परब्रह्मसे अन्य अर्थात् पृथक् नहीं है—ऐसा कहा है। अन्तिम तत्त्व महाचित्ति अथवा अनन्त ज्ञानपूर्ण परमात्मा ही है। उसीसे सबका प्रभव और उसीमें सबका विलय होता है। शिव और शक्तिका सुन्दर सङ्गम वही है, वही पवमान सोम है। जो उमाके साथ रहता है, वह सोम है। उमा शक्ति है। सोम शक्तिमान् शिव है।

ऊपर हमने वेदके आधारपर रचना क्रमका वर्णन किया है। इस रचना-क्रमसे चार तथ्योंपर प्रकाश पड़ता है, जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है।

श्रुति भगवतीके शब्दोंमें यह रचना यथापूर्व है। जिन प्रकारकी रचना प्रथम कल्पमें थी अथवा उसके पूर्ववर्ती अन्य कल्पोंमें थी, वैसी ही इस कल्पमें है और वैसी अन्य परवर्ती कल्पोंमें भी होगी। इसका अत्यन्त प्रमुख और प्रसिद्ध कारण यही है कि प्रभु एकरस है। अतः उसकी रचना भी विविध रूपा होते हुए एकरस ही है। अत्यन्त अद्भुत तथ्य इस रचनाके अन्तर्गत यह है कि हम इस रचनाके बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे पदार्थमें एक ही नियमको कार्य करते हुए देखते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि परमाणुओं वनावट सौर जगत्की वनावटके सदृश है। एक परमाणुका अध्ययन विश्वके अध्ययनकी कुञ्जी है। यदि एकको समझ लिया तो मानो समग्र जगत् समझमें आ गया। जीव प्रभुका सनातन अंश, सखा या सयुजा होते हुए भी प्रकृतिके पाशोंमें आवद्ध होकर एकरस नहीं रह पाता। अतएव उसकी रचना भी एकरस नहीं हो पाती। जीव जिन योनियों जाता है, वे योनियाँ वस्तुतः उसकी रचना ही हैं। हमारे ही कर्मोंका विपाक हमें नाना योनियोंके चक्रमें घुमाता है। कभी हम अंधे बनते हैं तो कभी बहरे और गूँगे; कभी लंगे बनते हैं तो कभी काने और कुबड़े। सौभाग्यशाली हैं वे जिन्हें भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, ज्ञान उपलब्ध होता है अथवा जो निष्काम कर्म-परायण बनते हैं। अत्यन्त विरल हैं वे जीव जो साधनासे सम्पन्न हो देवकोटिको प्राप्त करते हैं। इतने मर्त्यलोकमें ऐसे भी साधक, मुनि और ऋषि देखे जाते हैं। जिनके भालपर प्रकाशकी श्री शोभा देती है, जिनका ललाटे चन्द्रमाकी चाँदनीके समान चमकता है और जिनके सिक्के चारों ओर ज्योतिका जाल वृत्ताकार रूपमें जगमगाता है। ये सब कृतियाँ जीवात्माकी ही हैं। कभी उसकी प्रवृत्ति निम्नगा होती है तो कभी ऊर्ध्वगामिनी। निम्नगा प्रवृत्ति दूषित स्वरूपोंको जन्म देती है और ऊर्ध्वगा प्रवृत्ति मनोरूप रूप खड़े करती है। जो जीव जितना ही अधिक प्रकृतिके पाशोंसे मुक्त होता हुआ प्रभुकी ओर बढ़ता है, उसमें उतना ही अधिक एकरसता अथवा दिव्यता आती जाती है। प्रभु के निकट पहुँचना मानो उसीके समान गुणोंको धारण करना है, उसी-जैसा बनना है। ऋग्वेदमें—

यदग्रे स्यामहं त्वं, त्वं वा वा स्या अहम्। सुखे सत्यं

—कहा गया है। प्रभुका जीवोंको दिया आशीर्वाद तभी सत्य और सफल होता है जब जीव प्रभुके समान ही बन जाय।

दूसरा तथ्य अधमर्षण मन्त्रोंसे यही निकलता है कि यह सृष्टि बनी हुई है। जो वस्तु एक समयमें बनी है, वह कालान्तरमें नष्ट होगी ही। निर्माण और ध्वंस, सृष्टि और प्रलय, उदय और अस्त, आविर्भाव और तिरोभाव सापेक्ष शब्द हैं। एकको दूसरेकी शाश्वत अवस्था है। जहाँ एक है, वहाँ दूसरा अनिवार्य रूपसे रहेगा। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र निर्मित हुए हैं, अतः एक दिन नष्ट भी होंगे। जैसे दिनेके पश्चात् रात्रि आती है, वैसे ही सृष्टिके पश्चात् प्रलयका होना अवश्यम्भावी है। सृष्टिके अंगरूप पदार्थ बनते-बिगड़ते देखे ही जाते हैं। श्मशान-घाटपर प्रलयका क्षणिक रूप हमारी आँखोंके आगे प्रस्तुत हो ही जाता है। जब अङ्गोंकी यह दशा है, तब अङ्गी संसारका दूसरा रूप हो ही कैसे सकता है? यह समस्त दृश्य जगत् नाशवान् है—इस तथ्यको आस्तिक एवं नास्तिक सभी दार्शनिकोंने स्वीकार किया है। जो बना है, वह बिगड़ेगा; जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु होगी (जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च) और जिसकी मृत्यु हुई है, वह जन्म भी लेगा—यह एक अकाट्य सिद्धान्त है। जैन धर्मके आचार्योंने भी पुद्गलोंकी समष्टि और व्यष्टिरूपा निर्मितिका निषेध नहीं किया। दिन और रात्रिके समान प्रवाह रूपसे जगत्को अनादि माननेवाले भी दृश्यात्मक संसारके आविर्भाव और तिरोभावको स्वीकार करते ही रहे हैं।

तीसरी बात इस रचनासे यह प्रकट होती है कि संसार आकस्मिक रूपसे बनकर हमारे सामने खड़ा नहीं हो गया। इस रचनाके मूलमें एक रचयिता है और उसने एक व्यवस्थित रूपमें इस रचनाका निर्माण किया है। 'महा अभिज्ञ आयमत्'—वह रचयिता महान् वैज्ञानिक है। उसके समान न कोई शानी है न विज्ञानी। उसीने इस सृष्टिको एक व्यवस्था प्रदान की है। विश्वका एक-एक अङ्ग इस व्यवस्थामें बँधा हुआ है। रचयिताका अटल नियम-चक्र इस जगत्को नियमित रूपसे चला रहा है। अनन्त लोक-लोकान्तरोंको धुरेके समान घुमाता हुआ वह निर्माता इस जगत्को एक निश्चित उद्देश्यकी ओर ले जा रहा है। संसारमें जिन नियमोंकी खोज वैज्ञानिकोंने की है, वे भी अपने नियामककी ओर संकेत कर रहे हैं। यह-छा या आकस्मिकरूपता इस संसारमें कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती। यहाँ

अविचल नियम हैं, जिनका उल्लङ्घन करनेकी सामर्थ्य किसी-में भी नहीं है। नियमवद्धता ही विश्वके सप्रयोजन निर्माणको भी सिद्ध करती है। यहाँ कोई भी वस्तु निरर्थक नहीं है। मानवकी अल्प बुद्धि यदि किसी समय किसी वस्तुको व्यर्थ समझ भी ले तो कालान्तरमें वही वस्तु अपनी सार्थकता सिद्ध कर देती है।

चौथी बात पापोंके मर्षणकी है। यदि मैं विश्वकी नश्वरताको ध्यानमें रखता हूँ तो नाशवान् पदार्थके प्रति मेरा आकर्षण और अनुराग नहीं होना चाहिये। जिस अविनश्वर सत्ताने इसका निर्माण किया है, उसीके चरणोंमें मेरा अनुराग सतत जाग्रत् रहना चाहिये। मैं अपनी रचनाको क्यों विकृत करता हूँ और ऐसा करके क्यों दुःखका भागी बनता हूँ? मुझे उस एकरस, सत्य, सनातन विभुको पहचानना चाहिये, जो आनन्दका भाण्डार है। उसीकी सङ्गति मुझे क्लेशोंसे मुक्त कर सकती है। पापके मूलमें वह आवरण है, जिसने मुझे आच्छादित कर रखा है। यदि मैं अपने ऊपर पड़े हुए इस आवरणको हटा दूँ तो पाप मेरा स्पर्श भी नहीं कर सकता। यह आवरण अहङ्कारसे प्रारम्भ होता है और अन्नमय कोषपर जाकर समाप्त होता है। यह सूक्ष्मसे स्थूलकी ओर गमन है। मैं जितना ही स्थूल, बहुप्रजा और आसक्तिकी ओर चलता हूँ, उतना ही निर्मूर्तिमें, घोर कष्टमयी अवस्थामें पड़ता हूँ। अतएव मुझे यदि पाप और पापके परिणामरूप क्लेशसे छूटना है तो अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना होगा—विशुद्ध चेतनताकी ओर प्रयाण करना होगा। वेद कहता है—“अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति”—जीव निकट रहती हुई प्रकृतिको छोड़ नहीं पाता और निकट ही वर्तमान चेतनताकी राशिको देख नहीं पाता, इसीलिये तो कष्ट पाता है। रचना हमें चेतनताके अपार सागर, ज्ञानस्वरूप प्रभुकी ओर ले जानेका स्तुत्य प्रयत्न करती है। वह स्पष्ट संकेत करती है कि हमें पापसे छूटना है तो पवित्रताके आधार परम चेतन प्रभुका संसर्ग करना होगा। जो स्वयं पवित्र है, वही अपावनको पावन करनेकी शक्ति रखता है। परम प्रभु परम पवित्र हैं, पापसे पृथक् और क्लेश—कष्टको नष्ट करनेवाले हैं। मेरे पाप उन्हींके प्रसादसे दूर होंगे। अतः मुझे सदैव उन्हींके संदर्शनमें रहना चाहिये।

इते दृग्दृश्या ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्।

ज्योक्ते ते संदृशि जीव्यासम् ॥

यह संक्षेपमें अधमर्षण सूक्तके सम्बन्धमें लिखा गया है।

अमर मरण

(लेखक—श्रीगोपीनाथ कृष्ण कुण्डे)

निवेदन

कथानक ही नहीं, सब कुछ श्रीरामचरितमानससे ले लिया है। हाँ, मेरी भी एक चीज है... दोष !!

छपाईकी सुविधाके लिये नाटकमें स्थलोंके वर्णनका समावेश नहीं किया गया। वैभव और सजावटकी सामान्य कल्पनाके लिये केवल राजसभाका वर्णन दिया है। और दृश्योंमें नाटक खेलनेवाले इसके आधारपर समयानुकूल अपनी-अपनी कल्पनाका उपयोग कर सकते हैं।

पात्र

दशरथ

राम

सुमन्त्र

वशिष्ठ

पंच

नगरनिवासी

कैकेयी

कौसल्या

मन्थरा

पहला दृश्य

स्थल—राजसभा।

समय—सूर्योदयके पश्चात्।

(भूमि और भित्तियाँ संगमरमरमें सुवर्ण-रस ढालकर बनायी गयी हैं। किवाड़ हीरेके बने हैं, उनपर मणिजटित सोनेकी जरीके पर्दे हैं। पूर्वा भित्तिसे सटकर बीचोबीच सिंहासन है, उसकी मणियोंसे बनी हुई सीढ़ियाँ विचित्र ढंगकी हैं, उनमें नीलमणिको कुरेदकर अत्यन्त सुन्दर पत्ते लगाये हैं। पद्मराग मणियोंके फूल हैं और तरह-तरहके मणियोंके संयोगसे वे इन्द्रधनुषका आभास उत्पन्न करती हैं।

सिंहासनकी दायीं-बायीं ओर कञ्चन-मञ्च हैं और आगे मचानोंका मण्डलाकार घेरा।

पिछवाड़ेकी भित्तिपर ध्वज, पताका, परदे और चँवरके चित्र अङ्कित हैं। सामनेकी भित्तिपर सारथी अरुणसहित रथस्थित सूर्यकी मूर्ति बनायी हुई है। शेष दोनोंपर रघु, सगर, भरत, हरिश्चन्द्र, शिवि आदि श्रेष्ठ राजाओंके चित्र खुदे हैं, जो माणिक्य, मरकत, हारे और पिरोजसे बने हैं।

भूमिपर हीरोंके स्वस्तिक हैं। बीच-बीचमें नाना रंगके मणियोंके चौक पूरे हुए हैं और जगह-जगहपर हर तरहकी आकृतियाँ गदी हुई हैं।

छतमें मोतियोंकी मनोहर झालरें, हेमकी हंडियाँ और नाना रंगके मणियोंके झाड़फानूस लटक रहे हैं।

चारों ओर चतुस्समकी सुगन्ध महक रही है। महाराज दशरथ सिंहासनपर अधिष्ठित हैं। दायें मञ्चपर मुनिगणसहित वशिष्ठ, बायेंपर सुमन्त्रके साथ सभी मन्त्री और आगे अवगुहरे पंच तथा प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित हैं।)

वशिष्ठ—मन्त्रिवर ! नीतिज्ञ पंच और प्रमुख अवगुहरे निवासी ! राजा दशरथ आपके सामने किसी शुभ-मङ्गलका प्रस्ताव रखनेवाले हैं। वे आपकी अनुमतिके अभिलाषी हैं। किंतु जो कुछ कहना हो सो सोच-विचारकर कहना चाहिये। विशेष रूपसे जब मनचाहा मौका हाथ आता है, तब क्षणिक उत्साह और उत्तेजनसे दूर रहना चाहिये। राज विष्णुका अंश है, पूज्य है, पवित्र है। फिर भी मानवी प्रभावोंसे युक्त है। हर्ष-विषादका अनुगामी है। वासनाओंका शिकार है। आसक्ति, स्वार्थ और अभिमानसे लिप्यासक्त है। राजाकी शक्ति जनता-जनार्दनके हाथमें रहती है। राजाज्ञाके माने यह नहीं कि उनका रुख देखकर हाँ-मैं-हाँ मिलाना। राजा अपनी राय जरूर बतायेंगे, किंतु आपका निर्णय ही राजाज्ञाके रूपमें प्रकट होगा। आप दत्तचित्त होकर सुनिये।

दशरथ—प्रिय पुरजनों ! शिवजीने सब कुछ निवाहा। गुरुका प्रसाद और प्रजाका अनुग्रह क्या नहीं कर सकता। मेरी सारी इच्छाएँ पूर्ण कर दी गयी हैं। केवल एक लालन मनमें रह गयी है। सवेरे दर्पण उठाकर मुँह देखा तो कानोंके पास श्वेत केश दिखायी दिये। उनकी ओटमें बुढ़ापा आँक रहा और कह रहा था 'राजन् ! युवराज नियुक्त करनेका यही अवसर है।' मैंने समय पाकर मनकी गुरुजीसे कही कि कृपा करके श्रीरामचन्द्रको युवराज कीजिये। आप सबको अच्छा लगे तो तैयारी की जाय। मैं चाहता हूँ कि मेरे जीतजी यह आनन्द-उत्सव हो जाय। फिर शरीर रहे या चला जाय।

सुमन्त्र—जगत्पते ! आप करोड़ों वर्ष जियें। आपके मङ्गल-मोदके मूल मधुर वचन सुनकर यह समाज बहुत प्रेमके

सागर हैं। हे राजन् ! अब विलम्ब न कीजिये । आपने जगत्भरका मङ्गल करनेवाला बहुत भला काम सोचा है ।

पंच-हे नरेश ! यह परम मङ्गल समाचार सुनकर हम इतने हर्षित हो उठे हैं और हमारे हृदयमें ऐसी आनन्दकी तरङ्गें उठ रही हैं कि जैसी बढ़ते चन्द्रमाको देखकर सागरमें लहरियाँ उछल-कूद मचाती हैं । हमारे तन और मन दोनों पुलकित हो गये हैं । कुछ बोलते नहीं बनता । भगवान्से हमारी यही प्रार्थना है कि हम अपने कर्मवश जहाँ-जहाँ जन्में, वहाँ-वहाँ श्रीरामचन्द्रजी हमारे स्वामी हों और यह नाता अन्ततक निभ जाय ।

पूजा करो । भूदेवको सब प्रकारसे संतुष्ट रखो और ध्वजा, पताका, तोरण, कलश, घोड़े, रथ और हाथी सजा दो ।

नगरनिवासी-युवराज श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो ।

(अंतरालमें जय-जयकी ध्वनि गूँज उठती है ।)

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

स्थल-शयन-कक्ष ।

समय-अंधेरा छा जानेपर ।

(कैकेयी लेटी-लेटी अँगड़ाई लेती है ।)

कैकेयी-मन्थरा ! उदास क्यों है ? आँसू भी ढरकाने लगी । तू बहुत बढ़-बढ़कर बोला करती है । लक्ष्मणने कुछ सीख दी होगी । अरी ! कहती क्यों नहीं ? श्रीरामचन्द्र, महीपाल, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न कुशलसे तो हैं ?

मन्थरा-माई ! मुझे कोई क्यों सीख देगा ? मैं किसका बल पाकर बढ़-बढ़कर बात करूँगी ? रामचन्द्रकी कुशल पूछती हो ? उन्हें तो राजा युवराजपद दे रहे हैं और कौसल्याको इस गर्वसे इठलाती देखकर मैं आपसे बाहर हो गयी । यदि तुम भी कुछ देख आती.....क्या इसका तुम्हें कुछ भी सोच नहीं ? समझती हो कि स्वामी अपने वशमें हैं । तुम राजाकी चतुराई क्या जानो !

कैकेयी-वस, अब चुप रह । घरफोड़ी कहींकी । यदि फिर कभी ऐसा कहा तो जीभ निकलवा लूँगी । लँगड़े, काने, कुबरे कुटिल और कुचाली होते हैं, फिर तू तो दासी जो है । मेरे लिये रामचन्द्र और भरत दोनों एकसे हैं । इस कुलकी रीति है, बड़ा स्वामी और छोटा सेवक । सखी ! सचमुच श्रीरामका तिलक है तो कोई भी मनको अच्छी लगे, ऐसी वस्तु माँग ले । अरी ! तुझे भरतकी सौगन्ध है, छल-कपट छोड़कर सच-सच कह । हर्षके समय तू विषादमें क्यों डूबी है ?

मन्थरा-माई ! समयका फेर और क्या कहूँ । मुँहदेखी बातें ही तुम्हें अच्छी लगती हैं । मेरा अभाग कपाल तो फोड़ने ही योग्य है । विधाताने ही तो मुझे कुरूप बनाकर परवश कर दिया । किसीका क्या दोष ? जो बोया सो पाया । कोई भी राजा हो, दासी छोड़कर मैं तो अब रानी होऊँगी नहीं ; अपना-अपना स्वभाव । इसीलिये बात चलायी थी कि कहीं

नगरनिवासी-हे राजाओंके मुकुटमणि ! नगरमें सबकी यही अभिलाषा है । श्रीरामचन्द्र शत्रु, मित्र और उदासीनोंको भी प्रिय हैं । जगत्में आप-जैसा धन्य और कोई नहीं है । श्रीरामचन्द्र विश्व-विभूषण हैं । वे पुरुषसिंह हैं, तीनों लोकोंके उजियारे हैं । सीताजीके स्वयंवरमें अनेकों एक-से-एक बढ़कर भूप इकट्ठे हुए थे, परंतु शिवजीके धनुषको कोई हटा नहीं सका । सारे मानी भट हार गये । सुमेरु पर्वतको उठानेवाला वाणासुर और कैलाससे होड़ लेनेवाला रावण—ये भी उस सभामें पराजित हो गये । धनुर्भंगकी बात सुनते ही उछलकर आये हुए भृगुनायकको भी अन्तमें विनय प्रकट करके लौट जाना पड़ा । श्रीरामचन्द्रजीको कौन आँखें दिखा सकता है ? श्रीरामचन्द्र जैसे अतुल-बल हैं, वैसे ही नख-सिख सुन्दर हैं । उन्हें देखकर तारे भी नहीं चलते । अहल्या तो उनके पदकमलोंकी धूलि पाकर ही तर गयी । उनके राजतिलकसे अवधपुरीका उद्धार होगा । महाराज ! अब देर न कीजिये ।

वशिष्ठ-राजन् ! अब शीघ्र सब सामान सजाइये । जिस समय श्रीरामचन्द्रजीका राज्याभिषेक होगा, वही सबसे बढ़ा सुसुहूर्त है ।

दशरथ-मन्त्रिवर ! गुरुजीकी ओरसे जो-जो आज्ञा हो, आपलोग वही सब तुरंत करें ।

वशिष्ठ-कुशल कर्मचारियों ! सकल श्रेष्ठ तीर्थोंका जल, औषध, मूल, फूल, फल आदि मङ्गल वस्तुएँ चँवर, मृगचर्म, नाना प्रकारके वस्त्र—रेशमी और उनी—ले आओ । नगरमें विविध मण्डप सजाओ । सफल आम, सुपारी और केलेके दूध गली-गलीमें रोप दो । मणियोंके मनोहर चौक पुरवाओ । बाजारको सँवारो । श्रीगणपति, गुरु और

अवध

महाराज

निगमपति

अवधपुरी

अवध

मङ्गल

लायी है

चाहिये

है, तब

ये । राज

की मानवी

मनाओंका

प्रणयमान

हती है ।

हॉ-मैं-हॉ

तु आपका

दत्तचित्त

नेवाहा ।

सकता ।

न लाला

कानोंके

पा झाँक

कोका यही

कही कि

य सबको

जीतेजी

ज जाय ।

आपके

ज बहुत

प्रेमके

कैकेयी—मन्थरा ! तूने मेरे हृदयमें खलवली मचा दी है। अब तो सुनकर ही रहूँगी।

मन्थरा—तुम पूछती हो, किंतु मैं कहते डरती हूँ। घरफोड़ी जो ठहरी। भावीको कौन टाल सकता है ? हे रानी ! जानती हूँ कि राम तुम्हें प्रिय हैं और रामको भी तुम प्रिय हो, किंतु समय फिर जानेपर मित्र भी शत्रु हो जाया करते हैं। यह सुविश्रुत है कि कमल-कुलका रक्षक सूर्य ही जलका अभाव होनेपर भक्षक बन बैठता है। सौत कौसल्या तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है। सारी उसकी करतूत है। कोई उपाय खोजकर विद्रोहको रूँध दो। तुम्हें अपने सोहागके झूठे बलपर कुछ भी सोच नहीं है। राजाको अपने वशमें जानती हो; किंतु राजा मनके मैले और मुँहके मीठे हैं। और तुम तो बिलकुल भोली हो। कौसल्या चतुर है; उसकी थाह लेना भी कठिन है। उसने भरतको ननिहाल भिजवा दिया और समय पाकर अपनी बात बना ली। राजाका तुमपर जो विशेष प्रेम है, उसे सौतके स्वभावसे कौसल्या देख नहीं सकती। जाल रचकर रामका राजतिलक तो निश्चय करा लिया। अवसर वीतनेपर पछतानेसे क्या ? पासा पलटकर कहीं कौसल्या मात न दे।

कैकेयी—मन्थरा ! तू तो टेढ़ी-तिरछी बातें करती है। इन उल्लाहनोंसे मैं क्या समझूँ ? मैं शपथ करती हूँ। कोई कष्ट न होगा। जो कहना है तो साफ-साफ कह। पहेली मत बुझा।

मन्थरा—पूछती क्या हो ? अरे ! तुमने अब भी नहीं समझा ? अपने भले-बुरेको तो पशु भी पहचान लेते हैं। तुम तो सेज और साजमें ही अटकी हो। तुम्हारा दिया खाती हूँ, इसलिये सच कहनेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। अबसे तुम तो दूधकी मक्खी हो गयी ! सामान सजते पखवारा बीत गया और तुम्हें इस बातका परिचय तक नहीं कराया गया। क्या कलके राजतिलककी बात आज और अब भी वह मुझसे सुननी पड़ेगी ? जब समुत कौसल्याकी सेवा-चाकरी बजाओगी, तब होस ठिकाने आ जायेंगे। जो दुःख कद्रूने विनताको दिया था वही कौसल्या तुम्हें देगी। भरतको बंदीघरकी हवा और नायबके रूपमें लक्ष्मणके हाथोंमें शासन। समझी ?

कैकेयी—बात सत्य है। मेरी दाहिनी आँख निल्य फड़का करती है। मैं रोज रातको कुत्सन देखती हूँ।

होनहारवश कुछ नहीं कहा। सखी ! क्या करूँ ? मेरा तो सीधा स्वभाव है। मैं दायाँ-बायाँ कुछ भी नहीं जानती। अपनी चलते आज तक किसीका मैंने बुरा नहीं किया। जाने किस पापसे दैव मुझे दुःख-दुःख दे रहा है। मैं भरे नैहर जाकर जीवन बिता दूँगी, पर जीते जी सौतकी सेवा नहीं करूँगी। सौतके वशमें होकर जीनेकी ओछा मरना अच्छा है।

मन्थरा—स्वामिनी ! क्या कह रही हो ? धीरज रखो। तुम्हारा सुख-सुहाग दिन दूना होगा। जिसने बुराई नहीं है वही फल पायेगा। रोगपर ओषधिकी क्या कमी ? मेरी ज्योतिषियोंसे पूछा है। रेखाएँ खींचकर उन्होंने कहा भरत राजा होंगे। हे भामिनी ! तुम करो तो उपाय बताओ। राजा तुम्हारी सेवाके वशमें हैं ही।

कैकेयी—जब तुझे मेरा ही सोच है तब भय मैं क्यों नहीं करूँगी ? तेरे कहनेसे मैं कुएँमें भी गिर सकती हूँ। तू ही मेरी आँखोंकी पुतली है।

(पश्ये)

तीसरा दृश्य

स्थल—कोप-भवन।

समय—रातको लगभग दस बजे।

(मलिन वस्त्र पहने कैकेयी जमीनपर पड़ी है, बाल बिखरे हैं और आभूषणोंको उतारकर फेंक दिया है।)

दशरथ—प्राणप्रिये ! किसलिये रुठी हो ? हे सुपुत्री ! सुलोचनी ! कोकिलबनी ! गजगामिनी ! मुझे अपने क्रोधके कारण तो कशे। प्रिये ! किसने तुम्हारा अनिष्ट किया ? किसके दो सिर हैं ? यमराज किसे चाहते हैं ? किस रंकको राजा कर दूँ ? किस राजाका मुकुट उतार दूँ ? शत्रु अमर भी हो तो मुझसे नहीं बचेगा। बेनारे बड़े मकोड़ेकी तो चीज ही क्या है ? सुन्दरी ! तुम तो मेरे स्वभावसे परिचित हो। मैं सदा तुम्हारे सुखरूपी चरित्रको चकोर हूँ। प्रिये ! मेरा सर्वस्व यहाँ तक कि मेरे प्राण भी तुम्हारे वशमें हैं। यदि मैं कुछ कष्ट करके कहता हूँ तो हे भामिनी ! मुझे सौ बार रामकी सौमित्रता है। तुम हँसकर मनकी कह दो और अपने मनोहर अङ्गोंको आभूषणोंमें सजाओ। प्रिये ! जल्दी इस बुरे बेपकी त्याग दो हे भामिनी ! तुम्हारा मनचीता हो गया। नगरमें बरस आनेवाले बरस बरस रहे हैं। कल ही तुम्हारे जन्मदिन

रामचन्द्रको युवराज पद दे रहा हूँ। सुनयनी ! तुम मङ्गल-साज सजो।

कैकेयी-प्रियतम ! आप माँग-माँग तो कहा करते हैं, पर देते-लेते कभी कुछ नहीं। आपने जो दो वरदान देनेको कहा था, उनके भी मिलनेमें सन्देह है।

दशरथ-अब मैं तुम्हारा मतलब समझा। मान करना तुम्हें परम प्रिय है। वर तो मेरे पास थातीके रूपमें बने रहे। मुझे भी याद नहीं रही और तुमने भी कभी माँगा नहीं। झूठ-मूठ दोष मत दो, चाहे दोके बदले चार माँग लो। खुकुलमें सदासे यह रीति चली आयी है कि प्राण भले ही चले जायँ, पर वचन नहीं जाता। सत्य ही तो समस्त सुकृतों-की जड़ है।

कैकेयी-प्राणप्रिय ! आपकी आज्ञा सिर-आँखोंपर। सुनिये, भरतको राजतिलक और रामको चौदह वर्षतक वनवास। वस, कृपा करके ये ही दो वर मुझे दे दीजिये। (दशरथ आश्चर्यचकित होकर अवाक् रह जाते हैं।) क्या भरत आपके पुत्र नहीं है ? क्या मुझे आप दाम देकर खरीद लये हैं ? सोच-समझकर कहिये। मालूम होता है कि मेरा वचन आपको वाण-सा लगा। उत्तर दीजिये, हाँ या नहीं। शायद आनाकानी करना भी रघुवंशकी रीति होगी। आपने ही देनेको कहा था, अब भले ही न दीजिये। समझा था कि वह चबेना ही माँग लेगी। चाहे जो चुनिये, सत्य या अपयश। राजा शिवि, दर्शीच और बलिने जो कुछ कहा, उसे तन-धन त्यागकर भी निवाहा।

दशरथ-प्रिये ! मन मैला क्यों करती हो ? भय विश्वास लो देता है। मैं शङ्करजीकी सौगंध खाकर कहता हूँ, मेरे तो भरत और रामचन्द्र दो आँखें हैं। सबेरे ही दूत भेजूँगा। सुनते ही दोनों भाई आ जायँगे। डंका बजाकर भरतको राज्य दे दूँगा। रामको राज्यका लोभ नहीं है, ऊपर भी उन दोनोंका बन्धु-प्रेम प्रसिद्ध है। मैं ही बड़े-छोटेका विचार करके रामको राज्य देने जा रहा था। सौ बार रामकी सौगंध खाकर कहता हूँ, कौसल्याने मुझसे कुछ नहीं कहा। खेद है कि मैंने तुमसे बिना पूछे ही किया। मेरा मनोरथ खाली गया। अब क्रोध छोड़ दो और मङ्गल साज सजो। चंद दिनोंमें ही भरत युवराज हो जायँगे। दुःख तो दूसरी बातका ही है। रामका अपराध तो बताओ। मेरा हृदय जल रहा है।

सो दिल्लगी ही सही। सब कोई तो कहते हैं कि राम बड़े ही साधु हैं। तुम स्वयं उनकी सराहना और स्नेह भी किया करती थी। कहीं वह दिखावा तो नहीं था। प्रिये ! हँसी और अनवन छोड़ दो और विवेक विचारकर वर माँगो। मछली चाहे बिना पानीके जीती रहे, परंतु मैं छल-कपटरहित होकर कहता हूँ, रामसे अलग होकर मैं कभी नहीं जीऊँगा। कोई ऐसा उपाय करो कि मैं नेत्रभर भरतका राज्याभिषेक देख सकूँ।

कैकेयी-यहाँ चालवाजी नहीं चलेगी, आप करोड़ों उपाय क्यों न करें। मैंने जो माँगा है वही दीजिये या तो 'नहीं' करके अपयश लीजिये। क्या बात कहेकी लाज ? कौसल्याने जो किया, सो वह पायेगी। सबेरा होते ही मुनिवेषमें राम वन न जायँ तो समझ लीजिये, मेरा मरना होगा और आपका अपयश।

दशरथ-तू मेरा मस्तक माँग ले, मैं अभी दे दूँ। पर रामके विरहमें मुझे मत मार ! जिस किसी प्रकारसे हो तू रामको रख ले, नहीं तो जन्मभर तेरी छाती जलेगी। हा राम ! हा राम !! हा रघुनाथ !!!

कैकेयी-ऐसा ही करना था, तो आपने 'माँग'-'माँग' किस बलपर कहा था ? भूपाल ! ठहाका मारकर हँसना और गाल फुलाना, क्या कभी दोनों एक साथ हो सकते हैं ? दानी भी कहाना और कंजूसी भी करना। राजपूतीमें क्षेम-कुशल कहाँ ? प्रतिज्ञा तोड़ दीजिये या धैर्य धारण कीजिये। सत्यव्रतीके लिये तन, तनय, धाम, धन और धरणी सब तिनकेके बराबर कहे गये हैं।

दशरथ-क्यों किसीको दोष दूँ ? मेरा काल ही मानो पिशाच बनकर तुझपर सवार हुआ है। भरत तो भूल-कर भी राजपाट नहीं चाहते। विधिवश तेरे ही जीमें कुमति आ बसी है। मेरे पापोंसे विधाता ही विपरीत हो गया है। समय आनेपर श्रीरामकी प्रभुता होगी, सब भाई उनकी सेवा करेंगे और तीनों लोकोंमें श्रीरामकी बड़ाई होगी। केवल तेरा कलङ्क और मेरा पछतावा मरनेपर भी नहीं मिटेगा। अब जो अच्छा लगे, वही कर। हट, मेरी आँखोंकी ओट जा बैठ। मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ। जबतक मैं जीता हूँ, तबतक कुछ न कहना। अरी अभागिनी ! तू अन्तमें पछतायेगी। तू नहारूके लिये गायको मार रही है ! राम ! राम !

चौथा दृश्य

स्थल—कोप-भवन ।

समय—प्रातःकाल ।

(व्याकुल और व्यथित दशरथ जमीनपर पड़े हैं । चेहरेका रंग उड़ गया है ।)

राम—माता ! बात क्या है ? पिताजी क्यों दुखी हैं ?

कैकेयी—राम ! बहुत स्नेह ही बहुत शोकका कारण है । इन्होंने मुझे दो वरदान देनेको कहा था । जो अच्छा लगा, सो मैंने माँगा । तुम्हारे संकोचके कारण राजके हृदयमें सोच हो गया । इधर पुत्र-स्नेह और उधर वचन । भूप इसी धर्मसंकटमें पड़ गये हैं । हो सके तो तुम पितृ-आज्ञाका पालन करो और उनके कठिन क्लेशको मिटाओ ।

राम—माता ! वही पुत्र बड़भागी है जो माता-पिताके वचनोंका अनुरागी है । माता-पिताको संतुष्ट करनेवाला सुत संसारमें दुर्लभ है । अब देर न करो । समझो कि दोनों-के-दोनों मिल गये ।

कैकेयी—भरतको राज्य..... ।

राम—भला इसमें कौन-सी बड़ी बात है ?

कैकेयी—सुनो तो, और तुम्हें चौदह वरसतक वनवास ।

राम—माता ! इसमें तो मेरा सभी प्रकारसे कल्याण है । वनमें महात्माओंका सत्सङ्ग प्राप्त होगा । उसमें भी पिताजीकी आज्ञा और तुम्हारी सम्मति । सोनेमें सुगन्ध । आज विधाता सब प्रकारसे मेरे अनुकूल है । ऐसे कामके लिये भी मैं वन न जाऊँ तो मूर्खोंके समाजमें सबसे पहले मेरी गिनती होगी । दुःख केवल इस बातका है कि पिताजीकी ग्लानि नहीं मिटती । महाराज तो बड़े धीर और गुणोंके सागर हैं । अवश्य ही मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है, जिसके कारण पिताजी मुझसे कुछ नहीं कहते । तुम्हें मेरी सौगंध है । माता ! सब सच-सच कहो ।

कैकेयी—तुम्हारी शपथ, दुःखका दूसरा कारण मुझे कुछ भी विदित है ही नहीं । कहीं बुढ़ापेमें इनका अपयश न हो ।

दशरथ—(अर्धमूर्च्छित अवस्थामें) राम ! राम !

(दशरथ कुछ सँभलते हैं और रामचन्द्रको चरणोंमें पड़ते देख हृदयसे लगाते हैं । वे रामको देखते ही रह गये । आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली ।)

राम—तात ! मैं कुछ कहता हूँ । यह ढिठाई है । इस अनौचित्यको लड़कपन समझकर क्षमा कीजियेगा । क्यों इस

अत्यन्त तुच्छ बातके लिये आपने इतना दुःख पाया ! पिताजी ! इससे बढ़कर मङ्गल और क्या होगा ? प्रसन्न होकर आशीर्वाद और आज्ञा दीजिये । हर्षके मन्त्र आप शोक क्यों कर रहे हैं तात ! प्रियके प्रेमवश प्रसन्न करनेसे जगत्में यश जाता रहेगा और निन्दा होगी ।

दशरथ—राम ! जो कर्म करता है वही फल पाता है । सब कोई कहते हैं कि यही वेदकी नीति है । भगवान् यह कौन-सी विचित्र लीला है कि अपराध तो कोई और ही करे और उसके फलका भोग कोई और ही पावे ?

(कैकेयी मुनियोंके वस्त्र, आभूषण, वर्तन आदि लेकर श्रीरामचन्द्रके आगे रख देती है ।)

कैकेयी—रघुवीर ! स्नेहवश राजा स्नेह नहीं छोड़ेंगे । चाहे पुण्य और परलोक नष्ट हो जाय । तुम्हें जो अच्छे लगे वही करो । वे तुम्हें वन जानेको कभी नहीं करेंगे ।

दशरथ—अब भी अभागे प्राण क्यों नहीं निकलते !

(दशरथ मूर्च्छित हो जाते हैं ।)

(पड़ते हैं ।)

पाँचवाँ दृश्य

स्थल—राजमहल ।

समय—सूर्यास्तके बाद

(आसन, शय्या और आभूषणोंसे रहित दशरथ पृथ्वीपर पड़े हैं । बिल्कुल उदास हैं । सोचमें डूबे हुए हैं ।)

दशरथ—राम ! राम ! हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा जानकी !

(सुमन्त्रका आगमन और 'जयजीव' कहकर दण्डवत्-प्रणाम ।)

सुमन्त्र ! कहो । श्रीरामकी कुशल कहो । मेरे सवा । बताओ । राम-लक्ष्मण और वैदेही कहाँ हैं ? उन्हें लौटा लो हो या चले गये ?

(सुमन्त्रके नेत्रोंमें जल भर आता है ।)

हा राम ! सुमन्त्र बोलते क्यों नहीं ? क्या उन्होंने कोई संदेशा भी नहीं भेजा ? मैंने कही राजपाटकी और दिव्य वनवास । फिर भी रामके मनमें हर्ष-विषाद नहीं हुआ । मेरे समान कुटिल, खल, पापी कौन होगा ? हे सवा ! राम-सीता और लक्ष्मण जहाँ हैं, वहीं मुझे भी पहुँचा दो । नहीं तो मैं सत्यभावसे कहता हूँ, मेरे प्राण अब चल्ना ही

सुमन्त्र-महाराज ! आप पण्डित और ज्ञानी हैं, वीर तथा धैर्यवानोंमें धुरन्धर हैं । जन्म-मरण, सुख-दुःख, हानि-लभ, मिलन-वियोग—ये सब काल और कर्मके अधीन हैं और दिन-रातकी तरह बरबस होते रहते हैं । पर धैर्य-शाली दोनोंको समान समझते हैं । मूर्खलोग सुखमें हर्षित होते हैं और दुःखमें रोते हैं । स्वामी ! आप विवेक विचारकर धीरज धरिये और शोकका परित्याग कीजिये । श्रीरामजीका पहला निवास तमसाके तटपर हुआ, दूसरा गङ्गातीरपर । सीताजीसहित दोनों भाई उस दिन स्नान करके जल पीकर ही रहे । निषादराजने बहुत सेवा की । वह रात सिंगरौरमें ही बितायी । सवेरा होते ही बड़का दूध मँगवाया और उससे श्रीराम-लक्ष्मणने अपने सिरोंपर जटाओंके सुकुट बनाये । उसके पश्चात् निषादराजने नाव मँगवायी । पहले सीताजीको चढ़ाकर फिर श्रीरघुनाथजी चढ़े । लक्ष्मणजीने धनुष-बाण सजाकर रखे थे, बड़े भाईकी आज्ञा पाकर स्वयं वे भी चढ़े । मुझे व्याकुल देखकर श्रीरामचन्द्रजी बोले—‘पिताजीसे मेरा प्रणाम कहना और मेरी ओरसे बार-बार उनके चरणकमल पकड़ना । विनती करना कि ‘पिताजी ! आप मेरी चिन्ता न कीजिये । आपकी कृपा, अनुग्रह और पुण्यसे वनमें और मार्गमें हमारा मङ्गल होगा । आपके अनुग्रहसे जहाँ कहीं भी मैं सब सुख पाऊँगा । आज्ञाका भलीभाँति पालन करके चरण पकड़नेके लिये फिर लौट आऊँगा ।’ तुम सब माताओंका मन रखते हुए वही प्रयत्न करना, जिसमें कोसलपति कुशल रहें । पैरों पड़-पड़कर गुरु वशिष्ठजीसे मेरा सौदेसा कहना कि ‘वे वही उपदेश दें जिससे अवधपति मेरा सोच न करें ।’ सब पुरवासियों और कुडम्बियोंसे अनुरोध करके मेरी विनती सुनाना कि वही

मनुष्य मेरा सब प्रकारसे हितकारी है जिसकी चेष्टासे महाराज सुखी रहें । भरतसे कहना कि ‘पिताजीको उसी प्रकारसे रखना जिससे वे कभी मेरा सोच न करें ।’ उसी समय श्रीरामचन्द्रजीका रुख पाकर केवटने पार जानेके लिये नाव चला दी । इस प्रकार रघुवंशतिष्ठक श्रीरामचन्द्रजी चल दिये और मैं छातीपर वज्र रखकर खड़ा-खड़ा देखता रहा ।

(राजा दशरथ धरणीपर गिर पड़ते हैं । सब रानियाँ विलाप करके रो रही हैं ।)

कौसल्या-नाथ ! आप मनमें समझकर विचार कीजिये । श्रीरामचन्द्रका वियोग अपार समुद्र है, अवध जहाज है और आप कर्णधार । सब प्रियजन ही यात्रियोंका समाज है, जो इस जहाजपर चढ़ा है । आप धीरज धरियेगा तो सब पार पहुँच जायेंगे । नहीं तो, सारा परिवार डूब जायगा । हे प्रिय स्वामी ! हृदय कड़ा कीजिये । राम-सीता और लक्ष्मण फिर आ मिलेंगे ।

दशरथ-सुमन्त्र ! कहो, कृपालु राम कहाँ है ? श्रीरामके बिना जीनेकी आशाको धिक्कार है । मैं उस तनको रखकर क्या करूँगा जिसने मेरे प्रेमका प्रण नहीं निवाहा । हा प्राणप्यारे राम ! तुम्हारे बिना जीते बहुत दिन बीत गये । हा जानकी ! हा लक्ष्मण ! हा रघुवर ! हा पिताके चित्तरूपी चातकके हित करनेवाले जलधर ! राम-राम-राम-राम-राम-राम..... ।

(दशरथ विरह-व्याकुल होकर स्वर्ग सिधारते हैं । मातम छा जाता है ।)

(पद्याक्षेप)

वे दिन कब आवेंगे

अहो हरि ! वेह दिन कब पेहैं ।
जा दिनमें हम और बास तजि नित ब्रजबास बसैहैं ॥
संग करत नित हरिभक्तनको हम नेकहु न अघैहैं ।
सुनत श्रवन हरिकथा सुधारस महामत्त है जैहैं ॥
कब इन दोउ नैननसों निसिदिन नीर निरंतर बहिहैं ।
हरीचंद श्रीराधे राधे कृष्ण कृष्ण कब कहिहैं ॥

जाकी रही भावना जैसी

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

एक बार एक अदालतमें एक स्त्रीने एक युवकपर मुकदमा दायर किया था और कारण यह बताया था कि 'अमुक व्यक्ति उसको बड़े अजीब ढंगसे निहारता है। वह हत्या कर सकता है तथा अन्य प्रकारसे भी हानि पहुँचा सकता है।' युवकके चरित्रकी पुलिसने छानबीन की तो ज्ञात हुआ कि वह साधारण मानसिक शक्तिवाला निर्मलचरित्र व्यक्ति था, जिससे किसी प्रकारके अपराधकी आशंका नहीं की जा सकती थी। मुकदमा खारिज कर दिया गया था।

जब उस युवतीका मनोविश्लेषण किया गया, तब ज्ञात हुआ कि वह स्वयं ही संदेह वृत्तिसे ग्रसित थी। वह स्वयं दूसरोंमें हत्या, भय, सतानेकी वृत्ति, चोरी, डकैती, खूरेजी, अपवित्रता, व्यभिचार, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिहिंसा इत्यादिकी घृणित भावनाएँ आरोपित किया करती थी। चूँकि उपर्युक्त दुर्गुण स्वयं उसकी कमजोरियाँ थीं, वह दूसरोंमें इन्हींकी प्रतिच्छाया देखा करती थी। उसे सभी खराबियोंसे परिपूर्ण दुर्बल चरित्रवाले दिखायी देते थे।

दूसरोंमें हम प्रायः उन्हीं गुणोंकी परछाहीं देखते हैं, जो वास्तवमें स्वयं हमारे अन्तःकरणमें गुप्तरूपसे मानसिक ग्रन्थियोंके रूपमें निवास करते हैं। यदि हम सावधानीसे अपने मनःक्षेत्रके गहन गहरकी परीक्षा करें तो हमें विदित हो सकता है कि हमारे गुप्त मनमें किस प्रकारके विचारोंकी भावना-ग्रन्थियाँ विनिर्मित हो चुकी हैं।

मालूम कीजिये कि दूसरों—अपने आस-पासके व्यक्तियों, जान-पहचानवालों, नये व्यक्तियों, भाई-बहनों, परिचितों, विद्यार्थियों, ग्राहकोंके विषयमें आपके मनमें कैसे विचार आते हैं। क्या आप उनके प्रति नैकी

और भलाईकी बात सोचते हैं या ईर्ष्या, द्वेष, फलेकी परछाहीं आपके मनमें आती है। यदि वे संकष्टमें हों तो क्या आप उनकी सेवा और सहायताको प्रस्तुत होंगे, या हाथ झाड़कर दूर खड़े हो जायेंगे? यदि वे अकेलेमें मिल जायँ तो क्या आप उनपर प्रहार करेंगे या प्रेमके दो शब्दोंमें हँसकर स्वागत करेंगे? यदि उन्हें किसी प्रकारकी सहायताकी आवश्यकता हो तो क्या आप उनकी सहायताको प्रस्तुत रहेंगे? इन प्रश्नों निष्पक्षतासे विचार करनेपर आपको आरोपकी वृत्ति ज्ञान हो जायगा। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अनेक व्यक्तियोंको हम यों ही बिना पर्याप्त कारणोंके घृणा करते हैं। हम अपने दुर्गुण उनमें आरोपित (Project) कर उन्हें अपनी रुचिके अनुसार भरा-बुरा बनाया करते हैं। दूसरोंके चरित्रके विषयमें हमारे निर्णय सदैव हमारी गुप्त मनमें बसी हुई मान्यताओंसे संचालित होते रहते हैं।

महात्मा गाँधीजीपर दो बार घातक प्रहार हुआ था जिस व्यक्तिने प्रथम बार उनकी हत्याका प्रयत्न किया था, उसे गाँधीजीने माफ कर दिया। वे यह समझ ही नहीं सकते थे कि कोई व्यक्ति उनके प्रति दुर्भाव रख सकता है। चूँकि वे स्वयं सज्जन पुरुष थे, सदा-सर्वदा दूसरोंकी नेकी और भलेका ही ध्यान रखते थे।

आरोपकी प्रवृत्ति मनुष्यकी एक निर्बलता है, जो सही विचार एवं तर्कमें बाधास्वरूप खड़ी हो जाती है। अनेक व्यक्तियोंमें यह कुछके प्रति बड़े अत्याचारके कारण बन जाती है। भारतमें भंगी, चमार, कोली, और इत्यादि निम्न जातियोंके प्रति जो घृणा और उच्छेदकी भावनाएँ हैं, उनका कारण एक प्रकारसे आरोप ही है। पशुओंमें सूअरके प्रति बड़ा अत्याचार देखनेमें आता है।

है । मुहल्ले भरकी गंदगी, सड़ी-गली चीजें खाकर सूर बेचारे सफाईमें योग पहुँचाते हैं, उनकी ओर कोई दृष्टिपात नहीं करता । मनुष्यके संचित आरोप उनकी इस घृणाके कारण हैं ।

अधिक विकसित होकर आरोपकी प्रवृत्ति क्रोध, ईर्ष्या, प्रतिशोध, घृणा और लोभजनित भयंकर मानसिक जटिल मानस रोगोंमें प्रस्फुटित होती है । मनुष्यको अपने ईर्द-गिर्द सभी अपने शत्रु, दुष्ट, पापी, खूनी, हत्यारे, चोर-डाकू प्रतीत होते हैं । उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे सभी उसका बुरा चाहते हों; उससे प्रतिशोध लेनेको समुत्सुक हों, सदा उसीकी टीका-टिप्पणी करते हों और हाथ धोकर उसीके पीछे पड़ गये हों । वह स्वयं असंख्य शंकाओं, दुश्चिन्ताओं, कल्पित भय, कायरता, अन्तर्द्वन्द्व और आवेशसे उद्विग्न हो उठता है । घरमें, उद्यानमें, सभा-सोसाइटीमें, बाजारमें कहीं भी उसे मानसिक संतुलन प्राप्त नहीं होता । उसका जीवन एक विडम्बना है ।

तुलसीदासजीने भक्तोंके द्वारा भगवान् रामके दर्शनका वर्णन करते हुए एक स्थानपर निर्देश किया है—
जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

प्रभु एक थे, किंतु भिन्न-भिन्न रुचि, प्रकृति स्वभाववाले भक्तोंको प्रभुकी भिन्न-भिन्न आकृति और रूप दृष्टिगोचर हुए । विद्वानोंको विद्वान्, भक्तोंको भगवान् और शक्तिवालोंको वे शक्तिके अवतार दिखायी दिये । मूल अभिप्राय भावनाकी विभिन्नता ही है । जैसी जिसकी भावना, वैसा उसका दर्शन । यही बात संसारके विषयमें भी लागू होती है । इस त्रिगुणात्मक जगत्के अनन्त भण्डारमें सत्व, रज, तम आदिके कारण अनेक प्रकारके गुण-अवगुण भरे हैं; किंतु मनुष्य अपनी भावनाके अनुसार उनकी प्रतीति करता है ।

हम जैसे अंदरसे स्वयं हैं, हमारा बाह्य संसार भी

वैसा ही है । जिसकी भावनाएँ अंदरसे भलाई, सचाई, प्रेम, सहानुभूति, करुणा, शील, सौहार्द, वात्सल्य, सद्भावकी ओर झुकी हुई हैं, उसे उसके संसारमें इन्हीं दैवी गुणोंका बाहुल्य प्रतीत होता है । वह सर्वत्र उत्तम पवित्र वस्तुओंके ही दर्शन करता है । दूसरोंकी भलाईकी ओर ही देखता है । उसके संसारमें ये ही सत्त्वगुण पुष्पित-फलित होते हैं । दुर्भावकी विषयवेलि नहीं उगती । वह सर्वत्र प्रेम वितरण करता है, परिवर्तनमें वही भाव दुगुना-चौगुना प्राप्त करता है ।

महात्मा ईसाको सूलीपर ले जाया गया । रूढ़िवाद तथा अज्ञानके अन्धकारमें फँसी हुई जनता उनके दिव्य संदेशको समझ नहीं सकी थी । मृत्युसे पूर्व उनके मुखसे ये शब्द निकले, 'मेरे प्रभु ! इन लोगोंको क्षमा करना, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं ।' ईसाके इन वचनोंमें कितना रहस्य भरा हुआ है । उनकी ममता, प्रेम, सहानुभूतिकी अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है । जनता मूर्ख है । वह धर्मका मर्म नहीं समझती । वह ईसाको धर्मका शत्रु मान बैठी है, क्योंकि उनके गुप्त मनमें हिंसा, विद्वेष, क्रोध, प्रतिशोध-के भयङ्कर कीटाणु बैठे हुए हैं । लेकिन उदारहृदय ईसा अपनी सद्भावना फिर भी बिखेर रहा है । ईसा ! तुम धन्य हो !

परछिद्रान्वेषण आजका एक प्रमुख दुर्गुण है । 'अमुक व्यक्ति ऐसा है, वैसा है । झूठ बोलता है, चोरी करता है; ईर्ष्या, द्वेष, वैरमें फँसा हुआ है । समाजका शत्रु है । उससे इतनी हानि हो रही है ।' इत्यादि बातें कोई भी व्यक्ति दूसरोंके विषयमें कह देते हैं । ऐसी टीका-टिप्पणी करनेवाला व्यक्ति ये बातें उच्चारण करते हुए केवल दूसरोंकी ओर ही दृष्टिपात करता है, जब कि ये समस्त दुर्गुण स्वयं उसीके गुप्त संस्कारोंमें

जटिलतासे बैठे रहते हैं । वह यह नहीं सोचता कि

दूसरोंकी आलोचना करनेवाला वह स्वयं कितने दुर्गुणों, पापमय संकल्पों, दुरभिसन्धियों और दुर्भावनाओंका शिकार है। दीपकके नीचे स्वयं कितना अन्धकार एकत्रित है ?

एक पाश्चात्य विचारकका कथन है कि 'यदि सज्जन कहलानेवाले व्यक्तिके समस्त दोष प्रकट हो सकें, (जो कि उसके गुप्त मन, अन्तःकरणमें छिपे रहते हैं) तो हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति इतने अंशोंमें दोषी है कि उसे फाँसीकी सजा मिल सकती है। अंदरसे हम सब नाना प्रकारके पापमय संकल्पों एवं गुप्त अनुभवोंसे भरे रहते हैं। चूँकि वे पाप ढके रहते हैं, जनता हमें सज्जन समझती है। प्रकट होनेपर इन्हीं पापमय संकल्पोंके कारण हम भयङ्कर-से-भयङ्कर सजाके अधिकारी हो सकते हैं।'

इस कथनमें गहरी सत्यता है। हममेंसे सबके पास एक बड़ा जरूरी कार्य करनेके लिये मौजूद है— 'स्वसंस्कार' अर्थात् हमें सर्वप्रथम अपनी भावनाओंकी सफाई करनी चाहिये। यह बड़ा कठिन कार्य है। इसके सम्पादनके केवल दो ही उपाय हैं—(१) आत्म-नियन्त्रण, (२) दीर्घकालीन अभ्यास। प्रथम तो यह कि जब किसीके प्रति मनमें कुसंस्कार उदित हों, तब ठीक उनके विपरीत मैत्री-भावनाके द्वारा दुर्भावका निराकरण किया जाय। प्रत्येकके लिये सद्भावका दीर्घकालीन अभ्यास किया जाय। अभ्यास ही वह साधन है, जिसके द्वारा आत्मशुद्धिका उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य हो सकता है। दुर्भावोंसे युद्ध करना, उनके

स्थानपर दया, प्रेम, सहानुभूतिका पालन करना हमारा साधनाका प्रधान अङ्ग होना चाहिये। जिसने इस ओर पग उठाया है, उसने जीवनमें एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सबके प्रति सद्भाव, मित्रभाव, प्रेम, सहानुभूति, सेवा-सहायताकी मनोवृत्ति आन्तरिक शान्ति प्रदान करनेवाली अवस्था है। मैत्री-भावनाके अभ्याससे मानव दिन-रात अमित सुखका अनुभव करता है, रात्रिमें मीठी नींद सोता है, बुरे स्वप्न नहीं देखता, सबका प्रिय हो जाता है; अमानव दुष्टोंका भी प्रिय होता है, देवता उसकी रक्षा करते हैं; अग्नि, विष्णु व हथियारतकसे उसे हानि नहीं पहुँचती, शीघ्र ही उसे समाधि लग जाती है, उसका आकार सदा प्रसर रहता है, बिना किसी अन्तर्द्वन्द्वके वह मृत्युको प्राप्त होता है। यदि वह ब्रह्म-पदतक नहीं पहुँच पाता तो अवश्य ही वह उच्चलोकमें स्थान पाता है।

सबके मित्र, सबका कल्याण, सबकी भलाई—इस प्रेरणा भावनासे जब मानवका अन्तःकरण परिष्कृत हो उठता है, तब उसके शुभ भावोंकी विद्युत्-तरङ्गें समीपके वातावरणको भी विशुद्धता, पवित्रतासे भर देती हैं। जब हम दूसरोंका भला चाहते हैं, तब हम सबको प्रेममय मित्र सखाके रूपमें देखने लगते हैं। किसीके प्रति दुर्भाव, ईर्ष्या-द्वेषका होना ही अशान्त, ईर्ष्यामय अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण जीवन बिताना है। सद्भावना न केवल कर्ताको सुख-शान्ति प्रदान करती है, वरं समीपके व्यक्तियोंमें भी उसी भावको विस्तृत कर स्वार्थ, दुष्कृत एवं संकुचिततासे मुक्त करती है।

तुलसी मीठे वचन ते सुख उपजत चहुँ ओर ।
बसीकरन यह मंत्र है परिहरु बचन कठोर ॥
सोइ ग्यानी सोइ गुनीजन सोई दाता ध्यानि ।
तुलसी जाके चित भई रागद्वेषकी हानि ॥

मैत्री-भावनाका अभ्यास

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०)

मैत्री-भावनाका अभ्यास मनुष्यकी द्वेषात्मक मनो-वृत्तिके संस्कारोंका विनाशक है। इसके द्वारा मनुष्यको मानसिक और शारीरिक—दोनों प्रकारका स्वास्थ्य-लाभ होता है। मैत्री-भावनाके अभ्यासके ग्यारह लाभ बौद्ध-ग्रन्थोंमें बताये गये हैं। उनमेंसे मुख्य लाभ सुखकी नींद सोना और प्रसन्नचित्त रहना तथा सभीका प्रिय होना है। हम जैसे विचार दूसरे लोगोंके पास भेजते हैं, दूसरे लोग भी वैसे ही विचार हमारे पास अनायास भेजते हैं। मैत्री-भावनासे प्रेरित होकर जो विचार दूसरे व्यक्तिके पास भेजे जाते हैं, वे उसका अवश्य लाभ करते हैं। ऐसे विचार हमारा लाभ भी करते हैं। यदि हम दूसरे लोगोंको हृदयसे प्यार करते हैं तो दूसरे लोग भी हमें हृदयसे प्यार करने लगते हैं। मनुष्यके मनके आन्तरिक भाव किसी-न-किसी प्रकार प्रकाशित हो जाते हैं। अप्रकाशित होनेकी अवस्थामें भी वे हमारे अनुकूल अथवा प्रतिकूल सृष्टिका निर्माण करते हैं।

मैत्री-भावनाके अभ्यासके कई प्रकार हैं। जब किसी व्यक्तिके विषयमें चर्चा की जाय, तब उसके विषयमें उदार विचार ही प्रकट किये जायँ। किसी व्यक्तिके विषयमें हमारे आन्तरिक विचार उसके विचारों और आचरणको प्रभावित करते हैं। अतएव किसी व्यक्तिकी अनुपस्थितिमें प्रकाशित किये गये विचारोंको व्यर्थ न समझना चाहिये। ऐसे विचार भी उसके आचरणको प्रभावित करते हैं—चाहे वे प्रकाशितरूपसे उसको पहुँचें अथवा नहीं। हम दूसरे व्यक्तियोंके विषयमें जैसी चर्चा करते हैं, दूसरे लोग भी उसी प्रकारकी हमारे विषयमें चर्चा करने लगते हैं। दूसरेकी निन्दा करना अमैत्री-भावनाका अभ्यास है। यह एक प्रकारकी हिंसा है। अतएव निन्दाको पाप माना गया

है। जितना नुकसान किसी मनुष्यका उसका धन चुराकर किया जा सकता है, उससे कहीं अधिक नुकसान उसकी निन्दासे होता है। कितने रोज-गारियोंका रोजगार उनके नामपर ही चलता है। उनकी किसी प्रकार निन्दा करना उन्हें आर्थिक हानि पहुँचाना है। इसी प्रकार समाजके कार्यकर्ताओंकी काममें सफलता उनकी ख्यातिपर निर्भर करती है। अतएव किसी व्यक्तिकी निन्दा सुनने अथवा करनेमें भाग न लेना और उसके विषयमें कुछ भली ही चर्चा करना मैत्री-भावनाके अभ्यासका एक रूप है।

मैत्री-भावनाके अभ्यासका सामान्य रूप सबके प्रति शुभ कामना करना है। जिस व्यक्तिके प्रति हमारे मनमें द्वेष-भावना है, उसके प्रति विशेषरूपसे शुभ कामना करना उचित है। अपने मित्रके प्रति सभी लोग शुभ कामना करते हैं, पर अपने शत्रुके प्रति विरला ही व्यक्ति शुभ कामना करता है। मनुष्यकी दूसरे लोगोंसे शत्रुता अथवा मित्रता उसकी स्वार्थ-सिद्धिपर निर्भर करती है। जो हमारे स्वार्थमें साधक होते हैं, उन्हें हम मित्रके रूपमें देखते हैं और जिन लोगोंसे हमारे स्वार्थमें बाधा प्रतीत होती है, उन्हें हम शत्रु-रूपमें देखते हैं। यदि हम अपने स्वार्थको अलग करके किसी व्यक्तिकी ओर देखें तो हम उसे न शत्रु पायेंगे और न मित्र। ऐसे व्यक्तिके प्रति भी हमें मैत्री-भावनाका अभ्यास करना चाहिये।

मैत्री-भावनाका अभ्यास सोते समय करना सर्वोत्तम है। सोते समयके विचार मनुष्यके आन्तरिक मनको प्रभावित करते हैं। उनसे उसके स्वभावका परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकारके अभ्याससे उन गुणोंका चरित्रमें आविर्भाव होता है, जिनका अन्यथा आना

असम्भव दिखायी देता है। सोते समयके मैत्री-भावनाके विचारोंसे ही मनुष्यके स्वास्थ्यमें सुधार होता है। अभद्र कल्पनाओंका विनाश भी इसी प्रकार होता है।

मैत्री-भावनाके अभ्यासका एक रूप अपनी सहायता-की आशा रखनेवाले व्यक्तिकी सहायता करना है। संसारमें ऐसे लोगोंकी कमी नहीं, जिन्हें हमारी सहायता अथवा सेवाकी आवश्यकता है। इनकी सहायता और सेवा करना हमारा धर्म है। जो व्यक्ति संसारके कल्याणकी भावना मनमें लाते हैं, पर अपनी थैलीसे एक भी पैसा गरीब, दीन-दुखियोंकी सहायताके लिये नहीं निकालते, वे अपने प्रति सच्चे नहीं हैं। ऐसे व्यक्तियोंके सद्भाव निकम्मे होते हैं। त्याग ही हमारे भावोंकी सचाईकी कसौटी है। यदि हम मैत्री-भावनाको सच्चा मानते हैं तो उसके अनुसार हमें अपना आचरण भी बनाना होगा। मनुष्यका जैसा आचरण होता है, उसके आन्तरिक विचार भी वैसे ही होते हैं। जिस प्रकार विचारोंका प्रभाव आचरणपर पड़ता है, इसी तरह आचरणका प्रभाव भी विचारोंपर पड़ता है। आचरण और विचार एक-दूसरेके सापेक्ष हैं।

मनुष्य दूसरे लोगोंकी सहायता धनसे अथवा शारीरिक सेवासे कर सकता है। बीमारकी सेवा करना मैत्री-भावनाके अभ्यासका एक रूप है। बुद्ध भगवान् ने कहा है कि जो बीमारकी सेवा करता है, वह मेरी ही सेवा करता है। रोगी व्यक्तिकी सेवासे एक ओर रोगी व्यक्तिका मानसिक लाभ होता है और दूसरी ओर सेवा करनेवालेका भी मानसिक लाभ होता है। जिस व्यक्तिको किसी प्रकारकी बीमारी है, वह उसी प्रकारकी बीमारीसे पीड़ित जब किसी दूसरे व्यक्तिकी सेवा करने लगता है, तब अपनी बीमारीसे मुक्त होने लगता है।

कितने ही लोग सदा अपने-आपके विषयमें चिन्तित रहते हैं। वे जितना ही अधिक अपनी स्थितिको सुधारने-

की चेष्टा करते हैं, उनकी स्थिति उतनी ही और बिगड़ती जाती है। ऐसे व्यक्ति यदि अपने विषयमें चिन्ता करना छोड़कर किसी दूसरे व्यक्तिकी दशाको सुधारनेमें लग जायँ तो वे अपनी अवस्थासे भी मुक्त हो सकते हैं। विचार करनेसे ही हमारे दुःख बढ़ते हैं। उनपर विचार न करनेसे बहुत-से दुःख अपने-आप ही शान्त हो जाते हैं। जिस व्यक्तिके दूसरोंके दुःखोंके विषयमें सोचनेसे फुरसत नहीं मिलती, उसे अपने दुःख दुःखरूप ही नहीं दिखायी देते। वे जीवनकी प्रयोगशालाके एक अङ्ग बन जाते हैं। वह इन दुःखोंसे आनन्दकी ही प्राप्ति करता है।

मैत्री-भावनाके अभ्यासका एक परिष्कृत रूप सद्विचारोंका निर्माण है। संसारमें सद्विचारोंके अभावसे कितने ही लोग दुःखी हैं। यदि उनके विचारोंपर परिवर्तन हो जाय तो उनके दुःखोंका अन्त हो जाय। हमारे सद्विचार उन्हीं लोगोंका सबसे अधिक लाभ करते हैं, जो हमें जानते हैं और जो सदा हमारे सम्पर्कमें आते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी मानसिक उलझनमें पड़ जाता है, तब उसे सहायता देना हमारा धर्म होता है। इस प्रकारकी सहायतासे उसमें उत्साहकी वृद्धि होती जाती है और उसके हृदयमें आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है। सच्चे मनसे जो व्यक्ति दूसरोंकी सहायता करना चाहता है, उसे सहायता करनेका मार्ग भी मिल जाता है। निराशायुक्त लोगोंको सद्विचारद्वारा सहायता देना और उनके मनमें नयी आशाका सञ्चार करना समाजकी सबसे बड़ी सेवा है। आशावादी मनुष्य ही संसारका कोई कल्याण कर सकता है। कितने ही लोगोंको पत्र लिखकर, कितनोंको बातचीतके द्वारा और कितनोंको लेखों और पुस्तकोंके द्वारा अपने विचारोंसे लाभ पहुँचाया जा सकता है। ये मैत्री-भावनाके अभ्यासके कुछ प्रकार हैं।

कर्णाटकके संत कवि कनकदास

(लेखक—श्रीमि० कृ० राजगोपाल, बी०ए० 'साहित्यविशारद')

कर्णाटकके संत कवियोंमें कनकदासजीका नाम बड़े आदरसे लिया जाता है। विरला ही कोई कनड़ी हो जिसने कनकदासजीका नाम न सुना हो। फिर भी उनका काल-निर्णय करना सुलभ कार्य नहीं रहा है। कनकदासजीके सम्बन्धमें तान्त्रपत्रों या शिलालेखोंपर हमें कुछ भी उपलब्ध नहीं होता है। कनकदासजीने भी अपने ग्रन्थोंमें अपने कालके बारेमें निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा है, किंतु कनकदासजीके ही ग्रन्थोंसे पता चलता है कि उनके दीक्षागुरु श्रीव्यासरायजी थे। और यह भी कहा जाता है कि सन् १५२५-२६ में जब व्यासरायजी व्याससमुद्र बनवा रहे थे, तब कनकदासजीको उनके प्रथम दर्शन हुए और उन्होंने उनसे मन्त्रोपदेश प्राप्त किया। दूसरी कथासे पता चलता है कि कनकदासजी बहुत बूढ़े होकर अपनी ९८ वर्षकी उम्रमें स्वर्ग सिंघारे थे। यदि उपर्युक्त दोनों घटनाएँ सत्य हों और यह अनुमान किया जाय कि कनकदासजीको जब श्रीव्यासरायजीके प्रथम संदर्शन हुए थे, तब उनकी आयु १८-१९ सालकी थी तो कनकदासजीका काल सन् १५०८-१६०६ माना जा सकता है।

कनकदासजीके समयमें सारे भारतवर्षमें भागवत-धर्मकी सर्वत्र गूँज सुनायी दे रही थी। सोलहवीं सदीमें चित्तौड़की रानी मीराबाईने भक्तिपथमें प्रवेश किया था। मीराबाई भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ता थीं और उन्होंने श्रीकृष्ण-भक्तियुक्त अनेक गीत रचे थे। उत्तर-भारतके सुप्रसिद्ध संत कवि तुलसीदास भी उसी समय-के थे। तुलसीदासजीके रामचरितमानसमें श्रीराम-भक्तिके गीत गाये गये हैं। उसीके लगभग काशीके सुप्रसिद्ध संत कबीरदासजीने भी अपनी वाणियोंमें रामनामकी

महत्ता गायी थी। महान् आचार्य श्रीवल्लभाचार्यजी भी कनकदासजीके ही समसामयिक थे। उन्होंने एक नया सम्प्रदाय निर्माण किया था, जो श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय या 'पुष्टिमार्ग' के नामसे प्रसिद्ध है। महाराष्ट्रके भानुदास नामक महान् संतने हर कहीं विठ्ठल-भक्तिका प्रचार किया था। दासश्रेष्ठ पुरन्दरदासजी भी कनकदासजीके ही कुछ समय पूर्वके थे (सन् १४८४-१५६४)।

कनकदासजीके कालका कर्णाटक अत्युन्नत स्थितिमें था। उस समय विजयनगरके सिंहासनपर कृष्णदेवरायजी विराजमान थे। वे विद्यापक्षपाती थे और स्वयं कवि भी थे। उन्हें 'भोज' के नामसे भी लोग पुकारते थे। वे पण्डित एवं कवियोंको आश्रय देते थे। उनके आस्थानमें श्रीव्यासरायजी, श्रीताताचार्यजी आदि महान् पण्डित अलङ्कृत थे। कृष्णदेवरायजीके अनन्तर अच्युतरायजी, सदाशिवरायजी, तिरुमलरायजी, श्रीरंगरायजी तथा वेंकटपतिरायजी उस सिंहासनपर विराजमान हुए थे, जो बराबर पण्डितों एवं कवियोंको प्रोत्साहन देते रहते थे।

कनकदासजीके जन्म और जीवनके सम्बन्धमें कथा यों चलती है—

कनकदासजी बंकापुरके समीपके बाड़ग्रामके थे। उनके पिताजीका नाम बीरेगौड़ था और माताका बचम्मा। वे 'हँडेकुरुव' (गँडरियोंकी एक जाति) जातिके थे। माता-पिताके ये एक ही पुत्र थे। कनकदासजीका नाम पहले तिम्मा था। तिम्माके माता-पिता उसके बचपनमें ही मृत्युके अधीन हो गये। गाँववालोंने तिम्माका पालन-पोषण किया। जब तिम्मा युवावस्थाको पहुँचा, तब एक दिन उसे गाड़ा धन दिखायी दिया।

इससे तिम्माका नाम 'कनक' पड़ा। धीरे-धीरे कनककी कीर्ति बढ़ने लगी और कनक विजयनगरराज्यके बंकापुर प्रान्तका सेनाधिपति बना दिया गया। एक बार युद्धमें जब कनक बुरी तरह घायल और बेहोश होकर तड़प रहा था कि भगवान् ने आकर उससे कहा कि 'यदि तुम मेरे दास बनोगे तो ठीक हो जाओगे।' कनकने मान लिया। तदनन्तर विराग धारणकर कनकनायक 'कनकदास' बने। कनकदासजीने आगे चलकर व्याससमुद्र वनवाते समय श्रीव्यासरायजीके दर्शनकर उनसे दीक्षामन्त्रकी प्रार्थना की। तब व्यासरायजीने कहा, 'गौड़ियेको कौन-सा मन्त्र? मैंसेका मन्त्र?' कहा जाता है कि कनकने मैंसेका मन्त्र जप-जपकर यम धर्मरायके मैंसेको साक्षात्कार किया और उसके सामर्थ्यसे उसने एक बड़ी चट्टानको सरका दिया। व्यास-समुद्रमें अभी 'कोणन-द्वु' प्रसिद्ध है। कुछ लोग विश्वास करते हैं कि कनकदासजी धर्मराजके अवतार थे। 'काग्निनेल्लि' ग्राममें आदिकेशवकी मूर्तिकी स्थापनाकर उन्होंने वहाँ एक मन्दिर बनवाया और आदिकेशवके नामपर अनेकों पद रचे। पहलेसे ही कनकदासजी तिरुपतिकी यात्रा कर रहे थे और उन्होंने श्रीवैष्णव गुरुओंसे नाममुद्रा भी पायी थी। वे सोदेके वादिराजके शिष्य थे। अन्तमें कहा जाता है कि कनकदासजी काग्निनेल्लिके श्रीनरसिंहके उदरमें समा गये।

कनकदासजीने वैसे तो अनेकों पद रचे हैं। काव्य-संसारमें भी वे अपनी कीर्ति छोड़ गये हैं। उनके काव्योंमें मोहन-तरंगिणि, नरसिंहस्तव, रामभ्यान-चरित्रे, नळ-चरित्रे एवं भक्तिसार मुख्य हैं।

'मोहन-तरंगिणि' उनका प्रथम काव्य है। वह सम्पूर्णतया सांगत्यमें है और उसकी भाषा जनपद भाषा है। 'मोहन-तरंगिणि' माने—मनमोह मोहमेधाल सेत

है। 'मोहन-तरंगिणि' में श्रीकृष्णकी कथा भी ली है। कथा रुक्मिणी और श्रीकृष्णके विवाहके शृंगारसे लेकर द्वाकामें उषाको घर छोड़ देनेपर समा होती है। कनकदासजीने इसकी कथावस्तु महाभारत, भागवत, स्कन्दपुराण, विष्णुपुराण, हरिवंशपुराण आदि लिखी है। 'मोहन-तरंगिणि' एक वर्णक-काव्य है। 'मोहन-तरंगिणि' को १६ वीं शताब्दिके जनजीकन एक स्पष्ट मनोहर चित्र ही कह सकते हैं। इसमें ११ संवियाँ हैं और २६५९ पद्य हैं। कनकदासजीने मोहन-तरंगिणिको ऐसा लिखा है मानो अपनी पत्नीने आते प्रार्थना की हो और आपने उसे यह कहा हो। कनक जगत्में मोहन-तरंगिणिको महाकाव्यकी श्रेणीमें ले सकते हैं।

कनकदासजीका द्वितीय काव्य 'रामभ्यान-चरित्रे' है। यह 'भामिनी पट्टपदि' में है; १५६ पद्य हैं। इसमें कविने रामभ्यानके माहात्म्यका निरूपण अत्यन्त चमत्कारपूर्ण किया है।

कनकदासजीका तृतीय काव्य 'नळ-चरित्रे' है। यह भी भामिनी पट्टपदिमें है। यह मोहन-तरंगिणिसे भी बहुत छोटा है। इसमें नौ संवियाँ हैं; ४८१ पद्य हैं। 'नळ-चरित्रे' में महाभारतके वनपर्वके नलोपाख्यान की कथा है। 'नळ-चरित्रे' कनकदासजीका एक अद्भुत काव्य है।

कनकदासजीका 'भक्तिसार' भी 'भामिनी पट्टपदि' में है। इसमें ११० पद्य हैं। प्रत्येक पद्य में 'नम्भननवरत' (सदा हमारी रक्षा करो) से समा होता है। 'भक्तिसार' में कनकदासजी भक्ति, नीति एवं वैराग्यकी पराकाष्ठातक पहुँच गये हैं, ऐसा कहा जा सकता है। यह काव्य 'भर्तृहरि' के 'नीति-वैराग्यस्तव' की श्रेणीका है। इसे कविने अत्यन्त सरल

संख्या ७]

ताकि आध्यात्मिक विषय सहृदय पाठकोंकी समझमें आ जाय । एक उदाहरण लीजिये—

केलुबुदु कडुकष्ट कष्टद
वाळुवेय वदुकेनु सुडसुड
गाळिगोड्डि सोडरु यी संसारदेळिगेयु ।
वाळवेकेंवुवगे नेरे नि
मूळिगव मिगे माडि भक्तियो
ळाळि वदुकुबुदुचित रक्षिसु नमननवरत ॥

तात्पर्य यह कि यह जीवन क्षणभङ्गुर है; अतः भक्तिमें जीवन बिताना ही अच्छा है ।

कनकदासजीके सम्प्रदायके सम्बन्धमें टीकाकारोंका मतभेद है । कुछ लोगोंका कहना है कि कनकदासजी बादिराजस्वामिके शिष्य होनेके कारण माध्व-सम्प्रदायके थे; किंतु उन्होंने अपनी 'मोहन-तरंगिणि' में रामानुज-के गुरु ताताचार्यजीके प्रशंसागीत गाये हैं । अतः कहा जा सकता है कि वे श्रीवैष्णव सम्प्रदायके थे । वे किसी भी सम्प्रदायके रहे हों, पर वे थे सच्चे समन्वयाचार्य । उस समय शिव और विष्णुके सम्बन्धमें बड़े भारी वाद-विवाद चल रहे थे और इस बातको लेकर भक्त-मण्डलियोंमें लड़ाई-झगड़े भी हो जाते थे; किंतु कनकदासजीने इस काँटेको जड़से उखाड़कर समन्वयवादका प्रचार किया था । यही कनकदासजीकी महान् सामाजिक सेवा है और यही उनका नव-संदेश है ।

कनकदासजीकी रसोत्पादन-शक्ति बड़े अनूठे ढंगसे उनके काव्योंमें चित्रित हुई है । उनके काव्योंमें शृंगार-रस, करुण-रस, अद्भुत-रस, शान्त, रौद्र, बीभत्स एवं भयानक-रस बड़ी मात्रामें पाये जाते हैं । कनकदासजीकी निरीक्षण शक्ति भी अद्भुत है । हास्यके लिये भी उनके काव्योंमें गुंजाइश है ।

कनकदासजी बड़े प्रतिभाशाली थे; असाधारण कवि

थे । उनके काव्योंसे पता चलता है कि उनपर कालिदास, कुमारव्यास, लक्ष्मीश तथा आंडव्या आदि अनेक प्रसिद्ध कवियोंका प्रभाव पड़ा था ।

अन्तमें कनकदासजीके एकाध पद लीजिये—

(१) पूर्वजन्मदलि ना माडिद कर्मदिं
उर्वियोलु जनिसिदेनो कृष्ण ।
कारुण्यनिधि येन्न कायवेक्य्या हरि
वारिजनाभने मुडु कृष्ण ॥

तात्पर्य—हे कृष्ण ! पूर्वजन्ममें मैंने जो कर्म किया था, उसीके फलस्वरूप मैंने इस पृथ्वीपर जन्म लिया । हे मेरे प्यारे कृष्ण ! तुम करुणानिधि हो, मेरी रक्षा करो ।

(२) कलियुगद महिमेयनु कंडडु पेळुवेनु ।
कमलनाभन कृपेय पडेदवर केळि ॥
सत्यधर्मगळेळु येत्तपोदवो काणे ।
उत्तमर जीवनके दारियिळळ ॥
नित्यदलि कळवु व्यभिचारवुळळवरेळळ
अर्थसम्पन्नराग्यनुभविसुतिहर ॥

तात्पर्य—कलियुगकी महिमाके सम्बन्धमें मैंने जो कुछ देखा है, वह बताता हूँ । जिसपर कमलनाभकी कृपा पड़ी हो, वह सुने । मुझे पता नहीं सत्य और धर्म कहाँ गये । उत्तम लोगोंके जीवनके लिये रास्ता नहीं है । नित्य चोरी और व्यभिचार करनेवाले अर्थसम्पन्न होकर भोग रहे हैं ।

(३) धरेय भोगवन्नु नोडि
हरिय मरेदु केडलिबेड ।
धरेय भोग कनसिनंते केळु मानव ॥

तात्पर्य—इस पृथ्वीका भोग देखकर ईश्वरको भूलकर नष्ट न होओ । हे मानव ! सुनो, इस पृथ्वीका भोग स्वप्नके समान है । अस्तु ।

संत कवि कनकदासजी केवल कर्णाटकके ही नहीं;

किंतु समस्त भारतके संत कवि हैं ।

जब वैष्णव यमलोक पधारे

[कहानी]

(लेखक-श्री 'चक्र')

उस दिन भगवान्‌के दिव्य पार्षद नन्द और सुनन्द बड़ी उलझनमें पड़ गये थे। उन्हें उनके आराध्यने भेजा था अपने एक परमप्रियजनको अपने धाममें ले आनेके लिये। वे विमान लेकर भारतवर्षकी पवित्र धरापर आये थे। श्रीहरिके उन परमप्रिय महाभागवतका इस मर्त्य-लोकमें रहनेका समय समाप्त हो चुका था। नश्वर शरीर छोड़कर उन्हें चिन्मय विप्रहसे भगवद्भाम पधारना चाहिये। लेकिन धरापर आकर जो बात हुई, उसकी कभी कल्पनातक नहीं की थी उन पार्षदोंने। उन महाभाग वैष्णवने भगवान्‌के नित्यधाममें जाना ही अस्वीकार कर दिया।

‘आपलोगोंको प्रभुने किसी दूसरेको लाने भेजा होगा।’ वे पहले तो विश्वास ही नहीं कर सके कि विमान उनको ही लेने आया है और ऐसा करनेमें पार्षदोंने कोई भूल नहीं की है।

‘प्रभु अपार करुणापारावार हैं। वे दम्भसे भी अपना नाम लेनेवालेके पापों—अपराधोंको नहीं देखते।’ बड़ी कठिनाईसे जब सुनन्दने विश्वास दिला दिया कि सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ भगवान्‌ने उन्हींके पास पार्षदोंको भेजा है, तब उनके नेत्रोंसे अजस्र अश्रुधारा चलने लगी और हिचकियाँ बँध गयीं। वे कह रहे थे—‘मैं तो अत्यन्त नीच हूँ। मेरे-जैसा पापी नरकमें भी डूँढ़नेसे नहीं मिलेगा। मैं अपने अपवित्र स्पर्शसे अपने स्वामीके धामको मलिन नहीं करूँगा। रात-दिन मैंने अपराध-ही-अपराध किये हैं; किंतु यह महान् अपराध मुझसे सहा नहीं जायगा।’

नन्दने एक समाधान निकाला—‘यदि आप अभी और इस लोकमें रहना चाहते हैं तो…………’।

‘ना, ना, मैं अब यहाँ एक पल भी नहीं रहना चाहता।’ बीचमें ही हड़बड़ाकर वे बोल उठे—‘मो, प्रारब्ध पूरा हो गया तो फिर क्या करना है मुझे यहाँ रहकर।’ नन्दका समाधान निराधार था। उसे भगवद्भक्तको शरीरका मोह या जीवनकी लालसा आकर्षित कर सकेगी, ऐसी आशा ही दुराशा है।

‘तब आप पधारें।’ दोनों पार्षदोंने एक साथ प्रार्थना की। वे प्रार्थना ही कर सकते हैं। जो त्रिभुक्तके स्वामीको अपना बना चुका, उसके साथ बलप्रयोग करना तो उन लीलामयके लिये भी अशक्य ही नहीं है। वह तो अपने आराध्यकी ही भाँति सर्वतन्त्रसत्त्व होता है। किसमें साहस है, किसमें शक्ति है कि उसकी इच्छाके विपरीत कुछ कर सके।

‘आपलोग मुझे क्षमा करें!’ दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने भगवत्पार्षदोंको मस्तक झुकाया। ‘मैं तो पान प्राणी हूँ। नरकका कीड़ा हूँ। कहाँ हैं यमराजकी दूत। मैं तो नरक जाऊँगा। आपलोग पधारें!’

‘आज धर्मराजको भी पता लगेगा कि उनके निर्णय का मापदण्ड कितना छोटा है। नन्दने सुनन्दकी ओर देखा। वे बड़े असमञ्जसमें पड़ गये थे। प्रभुकी आज्ञा है इन महाभागको वैकुण्ठ ले आनेकी और ये हैं कि चलनेके नामसे थर-थर काँपते हैं। प्रारब्ध समाप्त होने का अन्तिम क्षण आ गया; किंतु उसे बढ़ाने की शक्ति देते। किसका सिर फिरा है कि इनकी इच्छामें बंध जायेंगे।

‘आपके इस शरीरका प्रारब्ध समाप्त हो चुका है। आपलोग साहस करे। अन्तमें वे दोनों अपने

भयहारी आराध्यका ध्यान करने लगे। उन श्रीहरिके श्रीचरणोंका चिन्तन ही तो जीवके लिये सदासे अन्धकार-में शाश्वत प्रकाशका दाता रहा है।

‘आपलोग पवारें।’ इस बार यह स्वर वीणाकी झंकारके साथ आया था। पार्षदोंने सामने कुछ मुसकराते हुए देवर्षि नारदको देखा। उन्होंने अञ्जलि बाँधकर देवर्षिको प्रणाम किया। अब उन्हें कुछ नहीं करना था। उनके स्वामी बड़े लीलामय हैं। अपने निजजनोसे वे पता नहीं कैसे-कैसे विनोद करते रहते हैं। देवर्षिने आज्ञा दे दी यहाँसे चले जानेकी। बस, वे दोनों वहाँसे झटपट अन्तर्हित हो गये, उनको इससे क्या कि प्रारब्ध समाप्त हुए प्राणीको धरापर नहीं रहना चाहिये। इसकी चिन्ता करें संयमनीपति धर्मराज या लोकप्रजापति ब्रह्माजी। देवर्षि क्या करेंगे, यह भी सोचना किसी कामका नहीं था। उनका काम तो हो गया था। श्रीवैकुण्ठनाथसे वे कह सकेंगे—‘देवर्षिने हमें लौट जानेकी आज्ञा दे दी।’

× × × ×

[२]

‘आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ मार्गमें ? मेरे दूतोंने कोई अशिष्टता तो नहीं की ?’ धर्मराजने आज संयमनीके सिंहासनपर बैठकर एक परमभागवतका पूजन किया था। यमपुरीके द्वारतक आकर वे इन संतको ले गये थे। कभी-कभी महर्लोक, तपोलोक, जनलोक या सत्यलोकके ऋषिगण तो धर्मराजके यहाँ पधारते हैं, देवता भी आते-जाते ही रहते हैं; किंतु आज तो जीवोंके दण्डदाताको कर्मभूमिसे कृपा करके यमपुरी पवारे एक भागद्वक्तके सत्कारका सौभाग्य मिला था। ‘आप मुझे अतिथि-पूजनरूप धर्मसे वञ्चित न करें।’ इस प्रकार आप्रह करनेपर किसी प्रकार उन संतने अर्घ्य, पुष्प आदि स्वीकार कर लिया था। चरण तो नहीं ही धोने

दिये। जब पूजन किसी प्रकार हो चुका, तब हाथ जोड़कर सदा दण्डपाणि रहनेवाले उन धर्माधिष्ठाताने नम्रतापूर्वक पूछी मार्गके कष्टकी बात।

‘आप मुझे हाथ क्यों जोड़ते हैं ? मैं तो बड़ा ही नीच हूँ।’ संत हड़बड़ाकर उठ खड़े हुए और धर्मराजका हाथ पकड़ लिया उन्होंने—‘आप विराजें।’

‘यमदूत बड़े भयङ्कर होते हैं। यमलोकका मार्ग बहुत ही क्लेशदायक है। विकराल वेशधारी यमदूत जीवको मार्गमें नाना प्रकारके कष्ट देते हैं। यमपुरीकी भीषणता बुद्धिसे परे है। स्वयं यमराज इतने भीषण रूपवाले हैं कि उनको देखते ही जीव थर-थर काँपने लगता है।’ पता नहीं ऐसी कितनी बातें उन्होंने सुनी थीं। लेकिन उन्हें पहले ही आश्चर्य हुआ, जब बड़े ही विनम्र, बड़े सुन्दर स्वरूपवाले दो दूतोंने हाथ जोड़कर उनसे धर्मपुरी पधारनेकी प्रार्थना की और अपनेको धर्मराजका किङ्कर बताया। देवर्षि नारदजीकी प्रेरणासे वे आये थे। क्या हुआ जो उनके शरीरका वर्ण काला था, थे वे सुन्दर और विनयी। संतने सोचा—‘धर्मराज प्रधान वैष्णवाचार्य हैं। उनके सेवक भला उद्धत और कटुभाषी हो कैसे सकते हैं। उनमें तो नम्रता, दया, क्षमा, कृपा आदि गुण स्वभावसे ही रहेंगे।’

‘कहाँ है मार्गकी भयङ्करता ? तप्तशाल्मली और वज्रकण्टक वन किंवर पड़ते हैं ? इस मार्गमें न तो हिंसक पशु दीखते हैं, न मरुस्थल ही आया।’ पथ पुष्पो-के मृदुल दलोंसे पूर्ण हो रहा था। वायुकी मन्द गतिमें निर्झरोकी शीतलता आ बसी थी और वह पराग बिखेरता अपना उल्लास प्रकट कर रहा था। कोकिलकी कूक, भ्रमरोंकी गुंजार और मयूरोंके नृत्यने पूरे मार्गको एक स्वागत-समारोहका रूप दे दिया था।

‘इसीको लोग यमपुरी कहते हैं ?’ वैतरणीकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। सर्वेश्वरके सेवकोंकी दृष्टि जहाँ जाती है, वहाँ वैतरणीकी भी मन्दाकिनी बनकर दर्शन

देना पड़ता है। यमपुरीका जो वर्णन मर्त्यलोकमें सुने या पढ़े जाते हैं, उनकी कोई गन्ध ही नहीं थी वहाँ। वह तो कोई ऐसी पुरी थी, जिसका वर्णन धरापर किया ही नहीं जा सकता। स्वर्गका सौन्दर्य एवं वैभव उसके सम्मुख बहुत ही तुच्छ है। उसमें इतनी विशेषता और दिखलायी पड़ी कि वहाँके लोग भोगरत नहीं थे, वे नम्रता एवं सेवाकी मूर्ति जान पड़ते थे।

‘पता नहीं क्यों मर्त्यलोकके लोग धर्मराजसे रुष्ट हैं!’ उन महापुरुषको कोई आश्चर्य नहीं हुआ। उन्हें खेद ही था कि एक ऐसे विनम्र, उदार, सेवापरायणको धरापर पता नहीं क्या-क्या बताकर दोष दिया जाता है। अन्यथा धर्मराज-जैसे वैष्णवाचार्यके लिये तो यह सौम्यता, यह नम्रता, यह उदारता सहज-स्वाभाविक है।

‘देवर्षि दयामय हैं। आज उनकी अपार कृपाके कारण आपके श्रीचरणोंका मुझे दर्शन हुआ। मेरा संयमनीमें रहना आज सफल हो गया।’ धर्मराजका कण्ठ गद्गद हो रहा था। उनके पूरे शरीरके रोम खड़े थे।

जहाँ दो भगवद्भक्त एकत्र हो जायँ, वहाँ अपने हृदयसर्वस्वकी चर्चाके अतिरिक्त फिर क्या कोई दूसरी बात हो सकती है? श्रीहरिके गुणानुवादको छोड़कर सुनने और कहनेकी और क्या वस्तु है त्रिलोकीमें कि कोई उसके लिये आधा क्षण भी नष्ट करे।

× × × ×

[३]

‘आओ भाई! इतने डरे हुए क्यों हो? इस प्रकार सेते और काँपते क्यों हो? आओ! भगवान्का गुणानुवाद सुनो।’ यमपुरी तो अब सत्सङ्ग-भवन हो गया है। यमदूत पृथ्वीसे जीवोंको उनके कर्मोंके अनुसार घसीटते, पीटते ले आते हैं; किंतु ठिकाने पहुँचकर उनकी भी समझमें नहीं आता कि अपने के कर्मोंके अनुसार पृथ्वीसे वे

जो बाबाजी आ गये हैं, वे यमराजजीके कुछ बोले-से पहले ही सब पापी-पुण्यात्माओंका समानस्वार्थ स्वागत करने लगे हैं।

‘मुझे छोड़ दीजिये। मुझे क्षमा कीजिये।’ पृथ्वीके जीव भी विचित्र हैं। जो मनुष्य-शरीर पाया भगवान्के भजन, स्मरण, कीर्तन एवं उन उत्तमश्रेणीके मङ्गल-चरित-श्रवणमें नहीं लग सका, वह शरीर जाननेपर क्या भगवान्का गुणानुवाद सुनेगा। इन अज्ञ जीवोंकी तो इधर रुचि ही नहीं होती। ये तो केवल रोना-कम्पना और मिथ्या प्रतिज्ञाएँ करना जानते हैं। इनकी प्रतिज्ञा—छिः। कितनी बार गर्भमें रहते उस प्रतिज्ञा की इन्होंने? जीवनमें एक बार भी उस प्रतिज्ञा स्मरण किया होता.....।

‘ये महाभाग वैकुण्ठ जानेवाले हैं या ब्रह्मलोक?’ उदार संत सोचते हैं कि जब धर्मराज मुझ-जैसे पापी इतने सत्कारसे भगवत्कथा सुना रहे हैं, तब दूसरे जीवोंके कम-से-कम ब्रह्मलोक तो भेजेंगे ही।

‘वैकुण्ठनाथके जो प्रियजन हैं, वे स्वयं ही हम करें तो मैं उनका दर्शन कर पाता हूँ।’ बड़ी नम्रतासे धर्मराजने अपनी स्थिति बतायी—‘ब्रह्मलोकका भी मेरे लोकसे नहीं जाता। देवयानपथकी तो चर्चा ही क्या, पितृयानसे जो लोग पितामहके लोकमें पहुँचते हैं, मैं उनका भी दूरसे ही दर्शन कर सकता हूँ।’

‘तब आप इन्हें स्वर्ग ही भेज दें।’ महात्मक हृदय इतनेसे संतुष्ट तो नहीं होता; किंतु जब धर्मराज इतनेसे अधिक कुल कर ही नहीं सकते, तब विवश होकर पड़ता है।

‘मैं तो केवल कर्मोंका निर्णय कर सकता हूँ।’ यमराज मस्तक झुकाकर, हाथ जोड़कर कहते हैं—‘किंतु आपका आज्ञाका पालन होगा। आपकी इच्छा ही किसी जीवके जीवनके लिये पर्याप्त है।’

अब जैसे यमपुरी मर्त्यलोक एवं स्वर्गके मध्यका एक पड़ाव हो गयी है। जीव पहुँचते हैं और स्वर्ग भेज दिये जाते हैं। धर्मराजने पूछना-ताछना छोड़ दिया है। अमरावतीमें अवाञ्छनीय भीड़ बढ़ती है तो कोई क्या करे ? यमराज कर भी क्या सकते हैं और क्या कर सकते हैं स्वयं देवराज भी। एक भगवद्भक्तके संकल्पसे जो जीव स्वर्ग पहुँचे हैं, उन्हें स्वर्गपे निकाळ देनेका साहस कहाँ है महेन्द्रमें। वे न तो ययाति हैं और न नहुष हैं। उनको जिसने भेजा है, उसके अपमानकी बात मनमें आनेपर कदाचित् महेन्द्रको ही मर्त्यलोकमें गिर जाना पड़े।

—आप आज्ञा करें तो मैं भगवान् ब्रह्माजीके समीप जाऊँ।' चित्रगुप्तजीने धर्मराजसे प्रार्थना की। उनको काम करनेका व्यसन है। उत्पन्न होते ही लोकत्रयासे उन्होंने अपने लिये काम पूछा था। लेकिन अब यहाँ यमपुरीमें उनका काम ही समाप्त हो गया था। ब्रह्माजीने उन्हें जीवोंके कर्मोंका विवरण रखने और जब जीव धर्मराजके सम्मुख पहुँचे, तब उसके कर्मका विवरण दण्डदाताके सम्मुख उपस्थित करनेके कामपर नियुक्त किया था। अब उनकी लेखनी, जिसे वे लिये हुए ही उत्पन्न हुए थे, व्यर्थ हो रही थी। जब सभीको एक ही गति देनी है, तब कर्म-विवरण रखनेसे लाभ ? वे जब चुके थे। उन्होंने कुछ झुंझलाहटके स्वरमें कहा—'अपने लिये दूसरे कार्यकी प्रार्थना करूँ उनसे।'

'स्वामी ! हमलोगोंको भी अब आज्ञा हो।' एक पूरा समाज हाथ जोड़े खड़ा था। जब किसी प्राणीको नरकमें जाना ही नहीं है, तब नरकके व्यवस्थापक वहाँ रहकर क्या करें।

'आपलोग विराजें ! यहाँ श्रीहरिके परमपावन चरित्रोंका श्रवण करें।' संतने समझा कि धर्मराजने अपने इन सेवकोंको डाँटा होगा, इसीसे वे आज हो रहे

हैं। अतः वे आश्वासन देते हुए बोले—'आपके स्वामी अत्यन्त उदार हैं। परम कृपालु हैं, ये भक्ताग्रगण्य। मुझ-जैसे अधमपर भी जब इतनी कृपा करते हैं, तब आप सब तो इनके स्वजन हैं। आपको ये अवश्य क्षमा कर देंगे। आप भगवान्‌के गुणानुवाद सुनें।'।

'आपकी कृपा है हमपर और हमारे नायक भी हमपर सदा संतुष्ट ही रहते हैं।' चित्रगुप्तजीके स्वरमें संतोष नहीं था। वे इस सारे समाजको प्रेरित करके इसलिये साथ नहीं लाये थे कि सब लोग बैठकर सत्सङ्ग करें। सत्सङ्ग बड़ा उत्तम है, भगवच्चरित्र एवं भगवद्-गुणानुवाद-श्रवण सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है; किंतु सब कामोंका स्थान होता है। यह कर्तव्यलोक तो है नहीं। कोई संयमनीपुरीको ही सत्सङ्ग-भवन मान बैठे—क्या किया जाय उसका ? चित्रगुप्तजीके पास कोई समाधान होता तो इतनी भीड़ एकत्र करके वे यहाँ आते ही क्यों। उन्होंने उसी स्वरमें कहा—'हम काम किये बिना रह नहीं सकते। भगवान् ब्रह्माने हमारा स्वभाव ही ऐसा बना दिया है कि हमसे बिना काम किये बैठा ही नहीं जाता।'।

'इसमें दुःखी होनेकी क्या बात है ? काम करना तो भगवान्‌की सेवा करना है। आप सब अपना-अपना काम करें।' महापुरुषने धर्मराजकी ओर इस प्रकार देखा जैसे अनुरोध कर रहे हों कि इन लोगोंको निकालिये मत। इन्हें इनके कामपर लग जाने दीजिये।

'मैं कर्मोंका विवरण रखता हूँ। ये प्राणियोंको दण्ड देनेवाले लोग हैं। जब सभी जीवोंको स्वर्ग ही जाना है, तब हमलोग यहाँ क्या करें ? नरक तो अब कुछ कालमें खँडहर हो जानेवाले हैं।' चित्रगुप्तजीने नीचे सिर करके बात स्पष्ट कर दी।

'नरक—कहाँ हैं आपके नरक ?' वे वैष्णव चौककर रुक खड़े हुए। 'पै तो संसारका सबसे बड़ा पापी,

सबसे अधम जीव हूँ। मुझे आप सबसे निकृष्ट नरकमें पटक दीजिये। मैं यहाँ आकर भूल ही गया था—चलिये। ले चलिये मुझे नरकमें।' जिसे जीवनमें कुटिया या मठियासे मोह नहीं रहा, जो धरतीपर ही किसी यात्राके लिये लँगोटी-कमण्डलु सम्हालनेकी प्रतीक्षा नहीं करता था, उसे शरीर छूट जानेपर यात्राके लिये तैयारी ही क्या करनी थी। वे ऐसे उद्यत खड़े थे, जैसे नरक भी कोई दर्शनीय स्थान हो।

‘आप……आप……नरक……।’ चित्रगुप्तजीके मुखसे पूरे शब्द भी नहीं निकल पा रहे थे। उनको सूझता ही नहीं था कि अब क्या कहें या क्या करें। धर्मराजको उलाहना देनेमें इतनी बड़ी विपत्ति आयेगी, यह बात तो कल्पनामें भी नहीं आ सकती थी। ये महाभागवत—ये कहीं नरककी ओर चल पड़े तो हो चुकी संयमनीकी व्यवस्था। नरकोंका क्या प्रलयकाल आज ही आ गया है।

‘आप सोचते क्या हैं? आप क्यों चिन्ता करते हैं? आपका तो कोई दोष नहीं। पापी तो मैं हूँ। अपने पापसे ही मुझे नरकजाना चाहिये। किधर हैं नरक?’ अब कौन कहे इन महापुरुषसे कि ‘देवता दया करो। यमपुरीको मिटा देनेसे क्या लाभ होगा तुम्हें?’

चित्रगुप्तजीने देख लिया है कि धर्मराज इस समय उनकी कोई सहायता नहीं कर सकते। उनकी तो दृष्टिमें उलाहना ही है। एक भगवद्भक्तकी इच्छाके विपरीत कुछ करना या सोचना इसी प्रकार विपरीत फल देता है। देवर्षि नारदपर मन-ही-मन खीझ रहे थे वे। क्यों देवर्षिने संयमनीके साथ यह परिहास किया?

‘आप एक सत्सङ्गमें चलना पसंद करेंगे? भगवान्की कथा वहाँ सदा ही चलती रहती है। आप चलें तो मार्गमें मुझे एक साथ मिल जाय।’ देवर्षि नारद ठहरे सर्वात्माके मन, चित्रगुप्तजीने उन्हें स्मरण किया और वे आ पहुँचे। आते ही उन्होंने उन संतसे यह प्रस्ताव कर दिया।

‘कहाँ सत्सङ्ग हो रहा है?’ संतके लिये इससे शुभ और क्या संवाद होगा। जैसे भूखसे मरणासन्न व्यक्ति भोजनके लिये दौड़ जाना चाहता है, जैसे प्यासे व्याकुल हाथी वनमें सीधे पानीकी गन्ध सूँघता दौड़ता जाता है, जैसे कंगाल छटका धन लेने झपटता है, वैसे ही वे उतावले हो उठे उस सत्सङ्ग होनेवाले स्थानतक पहुँचनेके लिये।

× × ×

[४]

‘मधुसूदन मुरारे सच्चिदानन्द ।
कृष्ण माधव मुकुन्द हरि गोविन्द ॥’

परावाणीमें गूँजती वीणाकी त्रिभुवन-पावन झङ्कति, स्निग्ध ज्योतिका एक मञ्जुल पुष्प और जबतक धर्मराज अपने अनुचरोंके साथ अभ्युत्थानके लिये उठें, उठें कि देवर्षि उनके सम्मुख उतर आये। साष्टाङ्ग प्रणिपात किया धर्मराजने और देवर्षिने देख लिया कि चित्रगुप्तजी आज जितनी श्रद्धा प्रणिपातके समय व्यक्त हुई, उतनी कदाचित् ही कभी व्यक्त हुई हो।

‘वे महाभाग किस लोकको पवित्र कर रहे हैं? धर्मराजकी पूजा स्वीकार करके जब देवर्षि उनके सिंहासनपर बैठ गये, तब चित्रगुप्तजीने पूछा।

‘आपकी उनमें बहुत श्रद्धा हो गयी दीखती है। आप उनके दर्शन करना चाहते हैं?’ देवर्षिके अवरोधपर मन्दस्मित आ गया।

‘मेरे ऐसे भाग्य कहाँ कि भगवद्भक्तोंके श्रीचरणोंमें मेरी श्रद्धा हो।’ चित्रगुप्तजी अञ्जलि बाँधे सम्मुख खड़े कह रहे थे—‘आपके पावन पदोंके दर्शनसे ही मैं तो कृतार्थ हूँ। मुझ-जैसे अनधिकारीपर भी अहैतुकी कृपा करते हैं। इससे अधिकका लाभ मुझे नहीं है।’

‘आप डरें नहीं, वे अब पुनः आपको दर्शन नहीं देंगे। वे अब श्रीहरिके समीप उठेंगे।’

सेवामें स्वीकृत हो चुके हैं।' नारदजीने हँसते हुए बताया।

‘वे तो वैकुण्ठ जाना ही नहीं चाहते थे?’ चित्रगुप्तजीको यही तो कुतूहल है।

‘वे जाना नहीं चाहते थे और जाते भी नहीं; किंतु श्यामसुन्दर ही कहाँ उन्हें छोड़नेवाले थे।' देवर्षिका स्वर भावपूर्ण हो गया—‘मैं उन्हें यहाँसे लेकर कैलाश जा रहा था। मार्गमें ही भगवान् आशुतोष मिल गये। उन वृषभध्वजको तो हरिगुण-गानके अतिरिक्त दूसरा

कोई व्यसन ही नहीं है। उन्होंने चलते-चलते ही भगवान्‌के अवतार-चरित सुनाने प्रारम्भ किये और फिर कब वैकुण्ठ पहुँचना हो गया, यह कैसे पता लगता। आप तो जानते ही हैं कि वे अनन्तशायी अपने भक्तोंसे मिलनेके लिये कितने उत्कण्ठित रहते हैं। उनसे मिलकर क्या कोई फिर लौट सकता है?’

यमराजने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया—‘पता नहीं करुणावरुणालय प्रभुके प्रति या उनके उन परम-प्रिय भक्तके प्रति; किंतु चित्रगुप्तजीने उन भक्तश्रेष्ठके प्रति ही प्रणाम किया उस समय। यह निश्चित है।

कामके पत्र

(१)

भगवान्‌के आश्रयसे दोषोंका नाश

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके चित्तमें नाना प्रकारकी चिन्ताएँ हैं, विषाद है, सन्देह है, भूतकालके लिये पश्चात्ताप है, भविष्यके लिये व्याकुलता है और नाना प्रकारके भय हैं। इन सबके होनेमें चाहे कितने ही, कैसे भी कारण क्यों न हों, इन सबका नाश मनसे भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करते ही हो जायगा, यह निश्चित है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(१८।५८)

‘मुझमें निरन्तर चित्तवाला हुआ तू मेरी कृपासे सब संकोचोंसे अनायास ही तर जायगा।' प्रातःकाल उठते ही सबसे पहले भगवान्‌का स्मरण करके अपनेको उनके चरणोंमें डाल देना चाहिये। विभिन्न आवश्यकताओं, कियेओं और कर्तव्योंके विचार मनमें आनेसे पहले ही उन सबको भगवान्‌के आश्रयपर छोड़ देना चाहिये। ऐसा कौन-सा कठिन-से-कठिन कार्य है, जो भगवान्‌की

कृपासे नहीं हो सकता। अपने पुरुषार्थ, अपनी कल्पना, अपनी बुद्धि आदिको परे रखकर भगवत्कृपाको, भगवान्‌की दिव्य चेतनाको सीधे काम करने देना चाहिये। कुछ ही दिन ऐसा करनेपर आप देखेंगे कि आपका मन भगवान्‌के विशुद्ध प्रकाशसे भर जायगा और फिर उसमें भय, विषाद, सन्देह, निराशा आदिकी बाढ़ नहीं आवेगी।

अभी आपने भागवत प्रकाशके लिये अपने हृदयके द्वार बंद कर रखे हैं और आप जो कुछ करना या पाना चाहते हैं, सब बाहरी प्रयत्नों, पदार्थों या प्राणियोंके द्वारा ही; तथा इसमें भी शुद्धि नहीं है, सात्त्विकता नहीं है। एक तो भरोसा ही शक्तिहीन, प्राणहीन-सत्त्वहीन वस्तुओंका है। दूसरे उस भरोसेकी सफलता चाहते हैं—झूठ, कपट, छल, द्वेष, हिंसा, मत्सरता, क्रोध, ईर्ष्या आदि दुर्भावों एवं दुष्प्रवृत्तियोंके द्वारा। ऐसी हालतमें चिन्ता, विषाद, शोक, निराशाके अतिरिक्त और क्या मिलेगा?

इस स्थितिसे निकलना चाहते हैं तो आप अपने हृदयके द्वार खोल दीजिये और भगवान्‌की कृपा-

शक्तिको अपने दिव्य, समर्थ और कभी असफल न होनेवाले भावोंके सहयोगसे निर्वाच काम करने दीजिये। अपनी कोई बात बीचमें न लाइये। फिर, कुछ ही समयमें आपको अपनी स्थितिमें प्रत्यक्ष परिवर्तन दिखायी देगा।

पर भगवान्‌का यह आश्रय करना पड़ेगा स्वयं आपको ही। दूसरा कोई जबरदस्ती आपसे यह नहीं करवा देगा। दूसरा आपको सम्मति दे सकता है, साहस और उत्साह दिला सकता है, पर आपके बदलेमें वह भगवान्‌का आश्रय नहीं ले सकता; अपने लिये यह अधिकार तो वस, आपको ही है। आप अपनी अन्तर्दृष्टिको भगवान्‌की ओर फिराइये। उनके दयापूर्ण चरणकमल-रजके आश्रयमें अपनेको डाल दीजिये; फिर उनकी कृपासे आपकी सारी कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी। आपके हृदयमें जब भगवान्‌की कृपाशक्ति आ जायगी, तब उसीके साथ-साथ निर्भयता, निश्चिन्तता, आनन्द, सुख, आशा, समाधान और परम विश्वास अपने आप ही आ जायँगे। तब आप परम सुखी हो सकेंगे। शेष भगवत्कृपा।

(२)

ईश्वरको माननेमें लाभ

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हस्तिस्मरण। आपका लंबा पत्र मिला। सब प्रश्नोंका विस्तारके साथ उत्तर लिखना तो मेरे लिये अभी बहुत कठिन है। संक्षेपसे ही लिख रहा हूँ। कृपया क्षमा कीजियेगा।

(१) ईश्वरवादीमात्र यही मानते हैं कि संसारकी रचना ईश्वरने ही की है, वल्कि अधिकांश अनुभवी महात्माओंने तो संसारके उपादान और निमित्त—दोनों कारण ही ईश्वरको माना है। जो लोग ईश्वरको नहीं मानते, उनसे किसीका कोई आग्रह नहीं है कि वे ईश्वरको मानें ही। यद्यपि माननेमें लाभ है; परंतु सर्वथा पराधीन और स्वल्प सामर्थ्यवाला मनुष्य-प्राणी, जो अपनी शक्तिसे

एक मच्छर या चींटीतकको नहीं बना सकता,—तो कि 'ईश्वरको हमने बनाया है' तो इससे बढ़कर अमूल्य दम्भ और मिथ्या अभिमान और क्या हो सकता है? ईश्वरका अर्थ ही है सबका स्वामी, सबका शासक, सब कुछ करने-न-करनेमें पूर्ण समर्थ। कोई भी मानव-प्राणी क्या कभी ऐसी सर्वसमर्थ प्रभु-सत्ताका निर्माण कर सकता है ?

आप बड़े गर्वसे लिखते हैं, 'मैं ईश्वरको नहीं मानता' न मानें। पर आपने कभी सोचा भी है कि ईश्वरको न माननेसे क्या हानि होती है ? मान लीजिये—ईश्वर नहीं है और आपने उसको माना तो आपको कुछ नुकसान नहीं होगा। ईश्वरको माननेवाला ईश्वरके कर्म पापकर्मसे दूर रहता है, ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए सत्कर्म करता है। बुरे कर्मको बुरा और सबके लिए अच्छा आप मानते ही हैं। यह आपका लाभ हुआ क्योंकि जगत्‌में तो आपकी कीर्ति होगी ही। ईश्वरको उपासनाके लिये आपने कुछ समय दिया—यदि लीजिये, वह व्यर्थ गया। पर क्या आपके पास समयका सदुपयोग ही होता है ? क्या वह अपने समाजके अहितकर और व्यर्थ कार्योंमें नहीं लगाता ? यदि लगता है तो फिर यदि थोड़ा-सा समय ईश्वरकी उपासनामें लग गया तो क्या हानि है ? आपने ईश्वरको खोज तो की ही नहीं है कि जिसके कलरूप में यह कह सकें कि 'निश्चय ही ईश्वर नहीं है', हमने इस प्रकार खोज करके इसका भलीभाँति पता लगा लिया है।' मान लीजिये—यदि ईश्वर हुए और उनको नहीं माना और उपासना नहीं की, तो आपका जीवन स्वेच्छाचारी तथा उच्छृङ्खल तो होगा। परमात्माकी प्राप्तिसे आप वञ्चित रह जायँगे। ईश्वरको मानकर उपासना करनेवाला ईश्वरको प्राप्त कर लेगा। अतएव ईश्वरको माननेमें ही लाभ है। कुछ बिगड़ता तो है ही नहीं। ईश्वरको हृदयसे

यदि आप अपना कुछ समय—जो व्यर्थके हँसी-मजाक, सैर-सपाटे या सोये रहनेमें बिता देते हैं, ईश्वरकी उपासनामें लगा देंगे तो आपको दुःखोंमें आश्वासन, हृदयमें शान्ति और जीवनमें सत्य तथा सदाचार आदिकी पवित्र प्रेरणा मिलेगी। ईश्वरको न माननेवालेपर भी दुःख तो आते ही हैं, पर उसे उसमें आश्वासन और धैर्य कहींसे भी नहीं मिलता।

ईश्वरके अस्तित्वके प्रमाण पद-पदपर मिलते हैं। जगत्की सृष्टि, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादिका नियमित कार्य आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। फिर एक बड़ा प्रबल प्रमाण यह है कि ईश्वरको प्राप्त करनेके जो उपाय शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, उनका ईमानदारीसे सेवन करके ऐसा एक भी मनुष्य आजतक संसारमें नहीं हुआ, जो यह कहता हो कि मुझे ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुई। अवश्य ही ईश्वर तर्कसे सिद्ध होनेवाला तत्त्व नहीं है। जो समष्टि बुद्धिका भी कारण है, उसे नगण्य व्यष्टि बुद्धिसे सिद्ध करनेका प्रयत्न करना तो हास्यास्पद ही है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणके बिना ईश्वरको स्वीकार न करना भी वैसी ही वातुलता है, जैसी प्रत्यक्ष प्रमाणके अभावमें माताके कहनेपर भी पिताको अस्वीकार करना ! पिताके होनेमें जैसे माताके वचन प्रमाण हैं, वैसे ही ईश्वरके होनेमें शास्त्र तथा भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके वचन—आप्तवाक्य ही प्रमाण हैं।

(२) धर्मकी शिथिलता होनेपर भी संसारका कार्य चलता है सो तो ठीक ही है। पर संसारका जिस किसी तरह कार्य चलना ही यथार्थ चलना नहीं है, सुव्यवस्थित रूपसे—सबके लिये कल्याणकारी तथा सुखकारी होकर चलना ही यथार्थ चलना है। जिन सरकारी विभागोंमें घूसखोरी, छल, कपट तथा बेईमानी-को भरमार है, वे विभाग भी तो चल ही रहे हैं। किसी कार्यका केवल चलना एक बात है और आदर्श

तथा मङ्गलमय रूपमें चलना दूसरी। हमारी वर्णाश्रम-व्यवस्थामें जबतक दोष नहीं आये थे, तबतक हमारा समाज जिस आदर्शरूपमें चलता था, अवतकके विश्वके इतिहासने वैसी आदर्श व्यवस्थासे पूर्ण सुसम्पन्न समाज कहीं दिया ही नहीं है। कर्मोंका सम्यक् विभाजन, वंशपरम्परासे चली आती हुई रक्तमजागत विशेष्यताका पूर्ण उपयोग, सबका पारस्परिक सहयोग और अपने-अपने कर्मद्वारा एक दूसरेका जीवन सुगम बनानेकी स्वाभाविक चेष्टा तथा आदर्श स्वार्थ-त्यागका ऐसा भव्य एवं सुन्दर सामञ्जस्य अन्यत्र कहीं मिलता ही नहीं। वर्णव्यवस्थाके सुदृढ़ दुर्गने ही अनेकों भीषण-भीषण आक्रमणोंसे आर्यजातिकी संस्कृतिको सुरक्षित रखा, जब कि अन्यान्य अनेकों सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ विजेताके प्रभावमें आकर नष्ट हो गयीं। कर्म छोटा-बड़ा नहीं, यह तो आप मानते ही हैं। वंशपरम्परासे जिस कुलमें जो कर्म स्वाभाविक चले आ रहे हों, वे ही उस कुलके बालकके लिये सुसाध्य होते हैं—यह एक अनुभूत सत्य है। अब ब्राह्मणके जो स्वभाव, त्याग आदि गुण कहे गये हैं, जरा सोचकर बताइये—वे सब श्लाघ्य और आदरणीय हैं या नहीं ? धर्मके क्षेत्रमें जहाँ ब्राह्मणको जन्मजात पूज्य माना जाता है, वहाँ परलोक और पुनर्जन्मकी सत्ता मानकर ही ऐसा व्यवहार होता है। यदि आप धर्म और पुनर्जन्म तथा परलोकको मानते हैं तब तो पुण्यके प्रारब्धसे प्राप्त ब्राह्मणयोनिमें जन्म लेने-वाला जन्मतः पवित्र है ही और धर्मके क्षेत्रमें उसकी पवित्रताका माना जाना उचित ही है। हाँ, यदि आप पुनर्जन्म, परलोक और धर्मको नहीं मानते हैं तब तो अवश्य ही आपकी समझमें आर्य-संस्कृतिकी यह जन्मगत पवित्रताकी मान्यता नहीं आ सकती।

(३) चोरी, हिंसा तथा परस्त्रीगमन आदि पापोंमें

गिरा कर देनेवालेका ही है। इसके

लिये समाज, शासनप्रणाली या शासनतन्त्रको दोष देना अनुचित है। कोई भी अच्छा समाज या शासन-प्रणाली इन कामोंके लिये कभी प्रोत्साहित नहीं करती, वह तो इनको दण्डनीय ही मानती है। पाप होते हैं—वस्तुतः हमारी विषयकामनासे—इन्द्रियसुखकी लालसासे। आप पूर्ति चाहते हैं अपनी कामनाकी, तृप्ति चाहते हैं अपनी इन्द्रियोंकी और इसके लिये दोषी ठहराना चाहते हैं किसी दूसरेको। यह तो स्पष्ट ही अपने ही मनका अपने-आपको थोखा देना है। जो कर्म करता है, वही उसका उत्तरदायी भी होता है।

(४) यह सत्य है कि आर्थिक दृष्टिसे भी गोवध बंद होना चाहिये; परंतु धार्मिक कारण बतलाना अन्धविश्वास है, यह बात कदापि नहीं है। वरं इसका कोई धार्मिक पक्ष नहीं है, यह दुराग्रह स्वयं ही एक अन्धविश्वास है। आपने ऐसे कितने और कौन-कौनसे प्रयोग किये हैं और कौन-कौनसे कितने प्रमाण प्राप्त किये हैं, जिनके बलपर पुनर्जन्म, परलोक और धर्म आदिको असिद्ध बतलाते हैं। सुनी-सुनायी अप्रामाणिक बातोंको मान लेना ही अन्धविश्वास है। वैज्ञानिकोंसे भी भूल सम्भव है; क्योंकि वैज्ञानिक अभी अन्वेषणके मार्गमें हैं। वे अभी सिद्ध गन्तव्य स्थलतक नहीं पहुँच पाये हैं। इस अवस्थामें इन अधूरी खोजोंपर और मनकी कल्पनाओं-पर दुराग्रह करना अन्धविश्वास है या शास्त्रोंपर—जो महान् तपस्वी त्रिकालज्ञ ऋषियोंके अनुभूतिपूर्ण वचन हैं तथा जिनमें भ्रम-त्रुटि एवं सन्देहको स्थान ही नहीं है—आस्था रखनेवालोंका उनपर अपनी मान्यता स्थिर करना अन्धविश्वास है ?

हमारा धर्म बलात्कारसे किसीके स्वत्वको छीनना नहीं चाहता; किंतु अव्यावहारिक मनःकल्पित कुतर्कोंको भी वह स्वीकार नहीं करता। गोप्राप्त करने के लिये

जीवननिर्वाहार्थ पर्याप्त दूध देकर, उसके पालन-पोषण-रक्षण-संवर्धनकी पूरी व्यवस्था करके गौका दूध लेना भी स्वत्वहरण है—ऐसा जो लोग कहते हैं, वे केवल कुतर्क ही करते हैं। फिर तो, तमाम पेड़ोंके फलोंपर पक्षियोंका स्वत्व एवं खेतोंकी सारी उपजपर या अनाज-मात्रपर पशुओंका ही स्वत्व मानना चाहिये। ऐसे कुतर्क इसीलिये उठाये जाते हैं कि शास्त्रीय परम्पराके सामने सिर झुकाते आजके लोगोंके गर्वपर ठेस लगी है। और बिना आधारका तर्क तो मनुष्यके भ्रममें ही डालता है। मनुष्य भलीभाँति गोपाल करके जो दूध लेता है, खेतों और वृक्षोंसे जो धान तथा फल लेता है, वह उसका स्वत्व ही है; क्योंकि वह उसके श्रम और सेवाका पुरस्कार है।

(५) आप पहले कृपया यह समझनेका प्रयत्न करें कि मुक्ति क्या है, इसके पश्चात् यह जाननेकी चेष्टा करें कि वह कैसे मिलती है। जबतक पुनर्जन्म, परलोक और कर्मबन्धन ही समझमें नहीं आता, तबतक मुक्तिके प्रश्न व्यर्थ है। जो परलोक-पुनर्जन्मको मानता है गङ्गास्नान, तीर्थसेवन, श्राद्ध और ब्राह्मणभोजनके फलकी बात भी वही समझ सकता है।

(६) यह किसने कहा कि 'राम-राम' जपनेवालोंके प्रकृतिके प्रतिकूल कार्य करनेकी छूट है। प्रकृति अनुकूल चलनेपर अनुकूल और प्रतिकूल चलनेपर प्रतिकूल प्रभाव शरीरपर पड़ेगा ही। 'राम-राम' जपका तो सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है—मनपर। आप एक मनसे प्रतिदिन नियमपूर्वक बीस मिनट 'राम-राम' जप अभ्यास दो महीनेतक लगातार कर लें तो आपको स्व-इसके प्रभावका पता लग जायगा।

(७) किसी भी संस्थाको भला-बुरा बतलानेसे पहले उसके लक्ष्य, नियम तथा कार्यप्रणालीको

देखना-समझना आवश्यक है। देख-समझकर ही आलोचना करनी चाहिये। व्यक्ति तो सभी जगह अच्छे-बुरे हो सकते हैं। पाँचों अँगुलियाँ समान नहीं होतीं।

उपर्युक्त उत्तर बहुत संक्षेपमें लिखनेपर भी पत्र बड़ा हो गया है। आपका इससे कुछ समाधान हुआ तो आनन्दकी बात है, न हुआ तो भी आनन्द ही है। अपने विचारमात्र व्यक्त किये गये हैं। शेष भगवत्कृपा।

(३)

प्रणवके संयोगसे लाभ

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद। आपके पूज्य गुरुजीका यह कथन कि 'रां रामाय नमः' इस षडक्षर मन्त्रमें ॐ लगानेकी आवश्यकता नहीं है, 'रां' ही उसमें प्रणवका कार्य करता है, बिल्कुल ठीक है। मन्त्रका स्वरूप तो उतना ही है। फिर भी यदि कोई ॐ लगावे तो दोष नहीं है। 'ॐ' भगवान्का पवित्र नाम है, उसे मन्त्रके आरम्भमें जोड़कर जप करनेसे मन्त्रकी शक्ति बढ़ती ही है। यही बात 'नवार्ण मन्त्र' के सम्बन्धमें समझनी चाहिये। 'नवार्ण' में 'ऐं, ह्रीं, क्लीं', तीन ही बीज हैं। नवार्ण या नवाक्षर मन्त्र—'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' बिना 'ॐ' के ही है, तथापि ॐ लगाकर जपनेका शिष्टाचार सर्वत्र देखा जाता है और उसमें सादृगुण्यका ही आधान होता है। आप अपने गुरुजीके आज्ञानुसार बिना 'ॐ' के ही दोनों मन्त्रोंका जप कर सकते हैं। पर जो लोग 'ॐ' लगाकर जप करते हैं, वे भी ठीक ही करते हैं, ऐसा मानना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(४)

भगवान् विष्णु और श्रीकृष्ण एक ही हैं

प्रिय बहिन ! सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप श्रीकृष्णकी उपासना करती हैं और

द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करती हैं सो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। भगवान् श्रीविष्णु और भगवान् श्रीकृष्ण एक ही हैं। अतः आप इसी मन्त्रका जप करती रहें, छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

लेख पढ़कर प्राणायाम आपको नहीं करना चाहिये। प्राणायामकी क्रिया ठीक न होनेपर तरह-तरहके रोग हो जाते हैं, जिनका मिटना बहुत कठिन होता है। अनुभवी योगीकी सन्निधिमें रहकर ही योगाभ्यास करना उचित होता है। ऐसे अनुभवी योगी प्रथम तो मिलने कठिन हैं, और यदि कोई ऐसे माने भी जायँ तो स्त्रीका किसी भी परपुरुषकी सन्निधिमें रहना सर्वथा अधर्म है तथा महान् हानिकारक होनेसे वर्जित है।

इस युगमें सर्वोत्तम साधन है—भगवान्के नामका जप। मैं तो आपसे अनुरोध करता हूँ, आप भगवन्नाम-जपका अभ्यास करें। यह सर्वथा निरापद है और ऊँचे-से-ऊँचा फल देनेवाला है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

प्रणवका जप शुद्ध होकर करना चाहिये

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, धन्यवाद ! आपने सब समय ॐ (प्रणव) के जप तथा सन्ध्याके सम्बन्धमें जो कुछ पूछा है, उसके उत्तरमें निवेदन है कि 'प्रणव' का जप शुद्ध स्थितिमें ही करना चाहिये। हर समय हर अवस्थामें नहीं। कई जगह ऐसी भी मान्यता है कि अकेले प्रणवका जाप गृहस्थको नहीं करना चाहिये। किसी भगवन्नामके साथ जोड़कर—जैसे 'हरि ॐ', 'ॐ नमो नारायणाय'—इस प्रकार करना चाहिये। जो कुछ भी हो, अशुद्ध अवस्थामें तो निषिद्ध है ही। एकाग्र मनसे छः महीनेतक प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रणवका नित्य

तत्त्वसाक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है, ऐसा कहा गया है। जपकी संख्यासे जहाँ फलका विधान होता है, वहाँ श्रद्धा-सत्कार और एकाग्र मनसे किये जानेवाले जपकी बात ही समझनी चाहिये।

भजन-स्मरणको सन्ध्या नहीं माना जा सकता; द्विजको प्राणायाम, सूर्योपस्थान तथा गायत्री-जापसहित सन्ध्या अवश्य करनी चाहिये। त्रिकाल नहीं तो, प्रातः, सन्ध्या—दो समय तो अवश्य करें। गायत्रीकी एक-एक माला दोनों समय जप करें, नहीं तो, कम-से-कम २१ मन्त्रका जप तो अवश्य कर लें। शेष भगवत्कृपा।

(६)

जीवन्मुक्तके द्वारा वस्तुतः कर्म नहीं होते

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला, धन्यवाद। आपने पूछा कि 'जीवन्मुक्त पुरुषके द्वारा कर्म होते हैं या नहीं, यदि होते हैं तो किस प्रकार होते हैं ?' और इसके उत्तरमें विस्तारपूर्वक लिखनेका अनुरोध किया, सो आपकी कृपा है। परंतु पत्रमें बहुत विस्तार करनेके लिये पर्याप्त समय चाहिये, अतः प्रश्नका उत्तर ठीक-ठीक समझमें आ जाय, इस दृष्टिको सामने रखते हुए मैं संक्षेपमें लिखनेका प्रयत्न करता हूँ।

जीवन्मुक्त पुरुषके द्वारा वास्तवमें कर्म नहीं होते; क्योंकि ज्ञानाग्निके द्वारा उसके समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है। श्रीभगवान् ने गीतामें कहा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

(४।३७)

‘अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनको भस्मसात् कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्मसात् कर देता है।’ उपनिषदोंमें भी आता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(मुण्डक० २।२।८)

‘उस परावर परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जड़ चेतनकी एकात्मतारूप हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है। जड़ देहादिमें होनेवाले आत्माभिमान तथा समस्त संशयोंका नाश हो जाता है और सम्पूर्ण कर्म (बीजसहित) नष्ट हो जाते हैं।’

वस्तुतः ‘कर्म’ संज्ञा वहीं सिद्ध होती है, जहाँ कोई ‘कर्ता’ होता है। जीवन्मुक्तमें कर्तापनका अहङ्कार रहता नहीं, इसलिये उसके द्वारा कर्म नहीं होते।

यह होनेपर भी अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य कर्म होते रहते हैं और राग-द्वेष, काम-वासना तथा ममता-अहङ्कारसे रहित होनेके कारण वे कर्म सहज ही परम उज्ज्वल, आदर्शरूप तथा सत्के लिये हितकारी भी होते हैं। जीवन्मुक्त पुरुषका न तो उन कर्मोंसे कोई सम्बन्ध होता है, क्योंकि उसका अन्तःकरणसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, और न उन कर्मोंके होनेमें कोई बाधा आती है; क्योंकि समष्टि चेतनकी सत्तासे बिना कर्तृत्वाभिमानके पूर्वाभ्यास तथा प्रारब्धानुसार वे होते रहते हैं।

हाँ, जीवन्मुक्त—भगवत्प्राप्त पुरुषके अन्तःकरणमें काम-क्रोधादि विकार या दोष नहीं रहते; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिसे पूर्व ही अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और उस अहङ्काररहित शुद्ध अन्तःकरणमें काम-क्रोधादि विकारोंके उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं रह जाता। आपने कुछ लोगोंके उदाहरण देकर जो काम-क्रोधादिका होना बतलाया है—सो पता नहीं, वे कर्म जीवन्मुक्त थे या नहीं; मान्यता तो सिद्धान्तकी चाहिये, न कि किसी पुरुषविशेषके आचरणकी।

शेष भगवत्कृपा।

साधक-नियमावली

कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे विनीत प्रार्थना

इस समय चारों ओरसे हमारा नैतिक पतन हो रहा है और हम उत्तरोत्तर दुर्गुण, दृष्ट विचार, दुष्कर्म और दुराचारके शिकार होते जा रहे हैं। जीवनमें दम्भ बढ़ रहा है, सचाई घट रही है तथा मानसिक, वाचिक और शारीरिक पवित्रताका नाश हो रहा है। ऐसी स्थितिमें—जीवनमें सचाई आवे और आचरणोंमें पवित्रता बढ़े तथा मानव-जीवनके चरम लक्ष्य प्रभुकी ओर जीवनकी सहज गति हो, इस उद्देश्यसे कुछ नियम बनाये गये हैं। इन नियमोंके दृढ़तापूर्वक पालनसे जीवनमें शुभ परिवर्तन होना अनिवार्य है। इनमें सोलह नियमोंमें त्यागकी बात है और बारहमें ग्रहणकी है। नियम निम्नलिखित हैं—

त्यागके नियम

स्पष्टीकरण

- (१) पराये अहितका त्याग—जान-बूझकर किसीका अहित न करना।
- (२) असत्यका त्याग—जान-बूझकर असत्य नहीं बोलना।
- (३) परस्वापहरणका त्याग—जान-बूझकर किसी दूसरेका हक न लेना।
- (४) परस्त्रीका—परपुरुषका स्पर्शत्याग—जान-बूझकर पुरुषके लिये पर-स्त्रीका स्पर्श न करना और स्त्रीके लिये पर-पुरुषका स्पर्श न करना। माता, दादी, नानी आदि बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ और पिता, बड़े भाई, पुत्र आदि पुरुषोंका स्पर्श इस नियममें बाधक नहीं है। बीमारीकी दशामें वैद्य, डाक्टर या परिचारकका स्पर्श किया जा सकता है।
- (५) क्रोधका त्याग—मनमें भी क्रोध न आवे तो सर्वोत्तम है, पर मनमें आ भी जाय, तो उसकी क्रिया बाहर न हो; जैसे क्रोध आनेपर बोल न जाय या ऐसी अन्य चेष्टा न की जाय।
- (६) परापवादका त्याग—जान-बूझकर किसीकी चुगली या निन्दा न करना।
- (७) मिथ्या साक्ष्यका त्याग—झूठी गवाही नहीं देना।
- (८) अश्लील विनोदका त्याग—गंदो हँसी-मजाक न करना।
- (९) चर्मसेवनका त्याग—चमड़ेका व्यवहार बिल्कुल न करना (मोटर, रेल, रिकशा आदिके लिये यह नियम लागू नहीं है)।
- (१०) मादक वस्तुका त्याग—तम्बाकू, बीड़ी, भाँग, गाँजा, चरस आदिका सेवन न करना (बीमारीके लिये मनाही नहीं है)।
- (११) समय नष्ट करनेकी प्रवृत्तिका त्याग—तास, चौपड़ आदि न खेलना, जहाँतक हो व्यर्थकी बातें न करना।
- (१२) वेश्यानृत्य-त्याग—वेश्याका नाच न देखना।
- (१३) सदाचारनाशक चित्रपटोंका त्याग—सिनेमा बिल्कुल ही न देखना।
- (१४) द्यूत-त्याग—किसी भी हालतमें जूआ न खेलना।
- (१५) अभक्ष्यभक्षण-पानका त्याग—(क) मांस-मद्यका सेवन कर्तई न करना।
(ख) लहसुन-प्याजका सेवन न करना। दवाके रूपमें करना पड़े तो

(१६) हिंसायुक्त जूतोंका त्याग—मारे हुए पशुके चमड़ेके जूतोंका व्यवहार न करना ।

ग्रहणके नियम

स्पष्टीकरण

- (१) सवमें भगवद्बुद्धि—जहाँतक बने, जिस किसीसे व्यवहार करना पड़े, उसमें भगवद्बुद्धि करना ।
- (२) भगवत्स्मरण—प्रत्येक पंद्रह मिनटपर भगवान्का (नाम, रूप, लीला, गुण आदिका) स्मरण करना और स्मरण आनेपर न भूलनेका प्रयत्न करना ।
- (३) सूर्योदयसे पूर्व जागरण—सूर्य उदय होनेसे पहले ही उठ जाना ।
- (४) प्रातःस्मरण और प्रणाम—प्रातःकाल उठते ही भगवान्का स्मरण करना और पृथ्वीमाताको प्रणाम करना ।
- (५) गुरुजन-अभिवादन—घरमें माता, पिता, गुरु, दादा-दादी, ताऊ-ताई, पति, सास-ससुर, जेठ-जेठानी आदि गुरुजन वृद्धोंको प्रतिदिन प्रणाम करना । पदमें बड़ी हों परंतु कम उमर हों, उन स्त्रियोंके चरणोंको पुरुष स्पर्श न करे और स्त्री अपने पतिको तथा पिता आदिको छोड़कर अन्य सभी पुरुषोंको दूरसे प्रणाम करे ।
- (६) सन्ध्या-गायत्री-सेवन—यज्ञोपवीतधारी द्विज प्रातः-सायं दोनों समय सन्ध्या करे और दोनों समय गायत्री एक-एक माला (१०८ मन्त्रों) का जाप करे । अथवा अपने-अपने धर्मके अनुसार दोनों समय उपासना करे ।
- (७) गीताध्ययन—प्रतिदिन श्रीमद्भगवद्गीताके एक अध्यायका पाठ करना (हो सके तो अर्थसहित) ।
- (८) सत्सङ्ग-स्वाध्याय—प्रतिदिन कम-से-कम आधा घंटा सत्सङ्ग करना, सत्सङ्गके अभावमें (गीता, रामायण भागवत, भक्तचरित, संतवाणी अथवा अपने-अपने धर्मग्रन्थ आदि सद्ग्रन्थोंका) स्वाध्याय करना ।
- (९) भगवन्नाम-जप—प्रतिदिन भगवान्के जिस नाममें अपनी रुचि हो, उसी नामका कम-से-कम एक हजार जप करना ।
- (१०) कर्तव्यपालन—घरमें—बाहरमें अपने जिम्मे जो काम हो, स्वस्थ शरीर होनेपर उससे जरा भी देर न चुराना । सदा उत्साह और प्रेमसे कार्य करना ।
- (११) पवित्र वस्त्र-धारण—यथासाध्य देशी हाथके बुने कपड़े पहनना ।
- (१२) नियमपालन-निरीक्षण—प्रतिदिन कम-से-कम १५ मिनट—इस बातकी जाँच करनेमें लगाना कि लिये हुए नियमोंमें आज किन-किनका पूरा पालन हुआ, किनका नहीं हुआ या कम हुआ । कितनी भूलें हुई और क्यों हुई तथा भूलोंके लिये प्रायश्चित्तरूप दण्ड विधान करना एवं कल भूल न हो—इस बातका दृढ़ निश्चय करना ।

[प्रत्येक भूलके लिये एक समयका उपवास अथवा भगवान्के किसी भी नामका एक हजार जप—अथवा 'हरे राम' आदि सोलह नामोंके मालाका जप—प्रायश्चित्तरूप करना चाहिये ।]

उपर्युक्त २८ (१६+१२) नियम हैं। दूसरेका अहित न करनेके नियम-पालनसे क्रोध, लोभ, द्वेष, वैर, ईर्ष्या और अभिमान आदिसे होनेवाले बहुत-से दोषोंका अपने-आप नाश होता है। असत्यके त्यागसे सत्यका सेवन होता है। सत्य ही परमधर्म है; सत्य परमात्माका स्वरूप है; सत्यकी सदा विजय होती है। इससे जीवन परम पवित्र तथा विघ्नरहित हो जाता है। दूसरेका हक न लेनेसे चोरी, भ्रष्टाचार, ठगी, घूसखोरी आदि दोष अपने-आप मिट जाते हैं। पर-स्त्री और पर-पुरुषका स्पर्श न होनेसे व्यभिचार बंद हो जाता है। स्पर्शसे मनमें विकार होता है और मानस-विकारसे ही पतन होता है। क्रोधके त्यागसे बड़ी-बड़ी हानियोंसे बचाव होता है; द्वेष-वैरकी नींव नहीं पड़ती। चुगली-निन्दाके त्यागसे वाणीका बड़ा दोष दूर होता है; लोगोंका जी नहीं दुखता और नयी बुराईकी नींव पड़नेका एक बड़ा कारण नष्ट हो जाता है। झूठी गवाहीके त्यागसे नरक-गमनसे रक्षा हो जाती है। गंदे हँसी-मजाकके त्यागसे वाणी पवित्र रहती है और मनमें परस्पर विकार नहीं होता। चित्तशुद्धिमें सहायता मिलती है। चमड़ेके त्यागसे पवित्रता आती है तथा गोहत्यामें बाधा होती है, जो परम पुण्य है। नशैली वस्तुओंके त्यागसे चित्त शुद्ध होता है। कई प्रकारके रोगोंसे छुटकारा मिलता है; धन तथा समयका व्यर्थ नाश नहीं होता। तास-चोपड़ादि न खेलनेसे समयकी बचत होती है; विकार कम होते हैं। वेश्यावृत्त्य न देखनेसे मनमें पवित्रता रहती है और पतनका एक कारण नहीं रहता। सिनेमा न देखनेसे चित्त महान् विकारसे बचता है। धन और समयकी बचत होती है। मानस तथा शारीरिक स्वास्थ्य उन्नत होता है। कलाके नामपर फैलते हुए महान् विपत्तसे रक्षा होती है; मनुष्य एक बहुत बड़े पतनके कारणसे तथा महापापसे बचता है। जुएके त्यागसे पापमय बुरा व्यसन छूटता है। अमक्ष्य-भक्षणके त्यागसे हिंसा मिटती है; नरकोंसे रक्षा होती है; शरीर स्वस्थ तथा मन पवित्र रहता है; तामसिक भावोंका उदय नहीं होता। मारे हुए पशुके चमड़ेका जूता न पहननेसे गो-रक्षामें बड़ी सहायता होती है।

सर्वत्र भगवद्वुद्धि होनेसे सबसे सद् व्यवहार होता है; मानव-जीवनके महान् उद्देश्य भगवत्प्राप्तिके मार्गमें सहायता मिलती है; साधन सिद्ध होनेपर सुदुर्लभ महात्मापदकी तथा भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। भगवत्स्मरणसे भगवान्की कृपाका अनुभव होता है और भगवत्कृपासे समस्त विघ्नोंका नाश होकर भगवान्के द्वारा योगक्षेमका वहन; सहज ही संसार-सागरसे उद्धार और भगवत्प्राप्ति हो जाती है। (ये दो नियम बड़े ही महत्त्वके हैं) सूर्योदयसे पूर्व उठनेसे स्वास्थ्यकी उन्नति तथा देवताओंका आशीर्वाद प्राप्त होता है। प्रातःस्मरण और पृथ्वी-प्रणामसे मानसशुद्धि तथा सात्विक शक्ति प्राप्त होती है। गुरुजनोंको प्रणाम करनेसे नम्रता आती है; पापोंका नाश होकर आयु, विद्या; यश और बलकी प्राप्ति होती है एवं गुरुजनोंके आशीर्वादसे महान् कल्याण होता है। सन्ध्या-गायत्रीके सेवनसे पापोंका नाश होकर मानस-शुद्धि होती है और सब प्रकारसे कल्याण होता है। गीताके अध्ययनसे सर्वाङ्गीण कल्याण तथा भगवान्की कृपा प्राप्त होती है। सत्सङ्ग-स्वाध्यायसे अज्ञानका पर्दा हटकर ज्ञानके नेत्र खुल जाते हैं। भगवन्नाम-जपसे समस्त पापमलोंका नाश होकर समस्त कल्याणोंकी तथा भगवान्की प्राप्ति होती है। कर्तव्यपालनसे चित्त-शुद्धि होती है। पवित्र वस्त्र धारणसे हिंसादिसे बचाव तथा पवित्रताकी रक्षा होती है और नियम-पालन-निरीक्षणसे नियमपालनमें तत्परता और दृढ़ता आती है। यह बहुत संक्षेपमें नियमोंसे होनेवाले लाभ बतलाये गये हैं। कल्याणके सभी पाठक-पाठिकाओंसे विनीत प्रार्थना है कि वे नियमोंके उपर्युक्त महत्त्वको समझें और इनके पालन करनेका व्रत लेकर अपना स्वीकृतिपत्र नीचे लिखे पतेपर भेज दें। यदि पूरे अष्टाईस नियमोंका पालन न हो सके तो त्याग तथा ग्रहण करनेके जिन-जिन नियमोंका पालन करना हो; उन-उनकी संख्या लिख दें। अपना पूरा नाम-पता लिख दें—जिससे उन्हें नियमोंका पालन तारीखवार नोट करनेकी छपी डायरी भेजी जा सके।

नियम बहुत सरल हैं और मन करनेपर प्रत्येक नर-नारी इनका आसानीसे पालन कर सकते हैं। आरम्भमें कुछ कठिनता महसूस हो सकती है। मेरी प्रार्थना है कि स्वयं सबको इन सब नियमोंका पालन करना चाहिये और अपने इष्ट-मित्र; बन्धु-बान्धव; सगे-सम्बन्धी तथा सखी-सहेलियोंसे विनयपूर्वक प्रार्थना करके उन्हें नियमपालनमें लगाना चाहिये। पत्र लिखनेका पता—

साधक-संघ—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सती द्रौपदी

(लेखक—स्वामीजी श्रीबलरामानन्दजी सरस्वती)

(१)

सृष्टिके समय स्वयं भगवान् ही अपनेको दो रूपोंमें विभक्त कर देते हैं, एक पुरुषरूप और दूसरा स्त्रीरूप । जगत्की जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब इन्हीं दो रूपोंमें स्थित हैं । भगवान्‌के लिये दोनों ही अपने हैं, उनकी दृष्टिमें स्त्री और पुरुषमें कोई भेदभाव नहीं है । स्थितिके समय जगत्की रक्षा-दीक्षा, धर्म-संस्थापन और अधर्मनाशके लिये जैसे भगवान्‌के अवतार होते हैं, वैसे ही महापुरुषोंके भी होते हैं । जैसे युधिष्ठिर, अर्जुन आदि अनेकों महापुरुष भगवान्‌की इच्छा पूर्ण करनेके लिये अवतीर्ण होते हैं, वैसे ही अनेकों देवियाँ भी अवतीर्ण हुआ करती हैं । आर्य-जातिमें समय-समयपर ऐसी देवियाँ हुई हैं, जिन्होंने किसी भी दृष्टिसे जगत्का हित पुरुषोंकी अपेक्षा कम नहीं किया है । उनके कारण भारतभूमिका गौरव बढ़ा है और वे प्रातःस्मरणीया हो गयी हैं । आज भी उनके चरणोंकी धूलि सिरपर लगाकर जगत्के सभी स्त्री-पुरुष अपनेको धन्य बना सकते हैं । आर्य-जातिकी ऐसी रमणियोंमें द्रौपदीका स्थान बहुत ही ऊँचा है । द्रौपदी मूर्तिमान् शक्ति हैं, उनमें ओज और विनयका अद्भुत सम्मिश्रण है, आत्म-सम्मान और सेवाका दुर्लभ संयोग है । प्रेम और व्यवहार-कुशलता उनमें एक साथ निवास करती हैं । वे सबको प्रसन्न रखना जानती हैं, सबके हृदयमें उत्साह और स्फूर्ति भरना जानती हैं, विरोधियोंकी एक-एक चाल पहचानती हैं । स्वयं अनेकों प्रकारके संकट सहकर दूसरोंको सुख देती हैं । वे अपने पतियोंपर अनन्य श्रद्धा, अनन्य प्रेम और अनन्य भाव रखती हैं, साथ ही भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अविचल श्रद्धा, परम प्रेम और पराभक्तिके जो भाव उनके हृदयमें हैं, वे किसी भी ऊँचे-से-ऊँचे भक्तके लिये आदर्श हैं । यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है । यहाँ हमें उन्हींका पुण्य दर्शन करना है ।

द्वापरयुगके अन्तमें पंजाबकी राजधानी काम्पिल्य या छत्रवतीनगरी थी । काम्पिल्य नगर आजकल संयुक्तप्रान्तके फर्रुखाबाद जिलेमें फतेहगढ़से अष्टाईस मील पूर्वोत्तर कोणपर है । उन दिनों इस राज्यके स्वामी महाराज पृथक्के पुत्र

द्रुपद थे । वे वेद, शान्त्र, इतिहास, पुराण और धनुर्वेद अच्छे विद्वान् थे । वे युवक थे, शक्तिशाली थे और उनके मनमें बड़ा आत्मसम्मान था । एक क्षत्रियमें स्वभावतः जितने गुण होते हैं, वे सब द्रुपदमें विद्यमान थे । एक दिन सभा लगी हुई थी, महाराजके सामन्त और दरबारी सब मौजूद थे । उसी समय द्रोणाचार्य परशुरामसे सब बातें अस्त्र प्राप्त करके वहाँ पहुँचे । उन्होंने महाराज दुपदके साथ ही विद्याध्ययन किया था, विद्यार्थी-जीवनमें दोनोंकी बड़ी मित्रता थी । द्रोणाचार्यके आनेपर राजा द्रुपदने उनको कोई विशेष सत्कार नहीं किया । द्रोणाचार्यने सोचा, शायद द्रुपदने मुझे पहचाना न हो । उन्होंने कहा—‘राजन् ! क्या आपने मुझे पहचाना नहीं ! मैं आपका सखा द्रोण हूँ ।’ द्रुपदने कुछ उपेक्षाके स्वरमें कहा—‘ब्राह्मण ! तू श्रोत्रिय नहीं वह श्रोत्रियका, जो रथी नहीं वह रथी और जो राजा नहीं वह राजाका सखा नहीं हो सकता । अब पहलेकी बात याद करना व्यर्थ है ।’ द्रोणाचार्यने इस अपमानसे बड़ा दुःख हुआ, वे उलटे पाँव लौट गये ।

द्रोणाचार्यने हस्तिनापुरमें जाकर भीष्मके आश्रय पाण्डव और कौरवोंको धनुर्वेदका अभ्यास कराया । जब उनके शिष्य अस्त्रविद्यामें पूर्ण निपुण हो गये, तब उन्होंने पाण्डवोंसे यह गुरुदक्षिणा माँगी कि पृथक्के पुत्र द्रुपदको जीतकर और उनका राज्य छीनकर शीघ्र उनके मेरे पास ले आओ । पाण्डवोंने जाकर उन्हें जीत लिया और मन्त्रीके साथ उन्हें बाँधकर ले आये । इस युद्धके विशेष भाग भीम और अर्जुनने लिया था । जब बंधे हुए द्रुपद द्रोणाचार्यके सामने लाये गये, तब द्रोणने कहा—‘राजन् ! मैं फिर तुमसे मित्रताकी प्रार्थना करता हूँ । पहले तुमने राजा न होनेके कारण मुझे मित्रताके अन्याय समझा था, अब गङ्गाके दक्षिणका राज्य तुम करो और उत्तरका राज्य मैं करूँ ।’ द्रुपदने स्वीकार कर लिया । एक प्रकारसे बाहर-बाहर दोनोंकी मित्रता स्थापित हो गयी । परंतु द्रुपद इस अपमानको नहीं भूल सके । वे दिन-दिन चिन्तामें दिनोंदिन सूखने लगे ।

वे चाहते थे कि एक ऐसा पुत्र हो, जो द्रोणको पराजित कर सके । उन्होंने यह भी समझ लिया कि केवल क्षत्रिय

बलसे द्रोणाचार्यके प्रभाव, विनय, शिक्षा और चरित्रका प्रभाव नहीं किया जा सकता। अब वे ब्राह्मणोंकी सहायतासे मन्त्रद्वारा एक ऐसे पुत्रको प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगे, जो द्रोणको मार सके। एक दिन वे गङ्गातटपर घूमते-घूमते कल्माषपाद राजाके नगरके पास एक आश्रममें गये। वहाँके सभी ब्राह्मण विद्वान् और ब्रह्मचारी थे। वहाँ सबसे श्रेष्ठ दो ब्राह्मण थे, एकका नाम था याज और दूसरेका उपयाज। उन दोनोंमें भी उपयाज अधिक तेजस्वी थे। राजा द्रुपद उन्हींकी सेवा करने लगे।

एक दिन द्रुपदने उपयाजसे प्रार्थना की कि आप कोई ऐसा उपाय करें जिससे मुझे द्रोणको मारनेवाला पुत्र प्राप्त हो। यदि आप मेरा यह काम कर देंगे तो मैं आपको दस करोड़ गौएँ दूँगा। अथवा आप जो चाहेंगे वही दूँगा। उपयाजने कहा—‘मैं नहीं कर सकता।’ द्रुपद फिर एक वर्षतक उनकी सेवा करते रहे। उपयाजने कहा—‘राजन् ! तुम्हारा यह काम मैं नहीं कर सकता। तुम मेरे बड़े भाई याजके पास जाओ, वे शायद तुम्हारा काम कर दें। इसका एक कारण है, एक दिन वे वनमें घूम रहे थे। जमीनपर एक फल पड़ा हुआ था, उन्होंने उसे उठा लिया। उन्हें यह मालूम नहीं था कि वहाँकी भूमि पवित्र थी या अपवित्र। मैं उनके पीछे-पीछे जा रहा था। मैंने उनका यह अनुचित काम अपनी आँखों देखा, इसीसे मैं समझता हूँ कि वे दोषयुक्त वस्तुके ग्रहणमें भी नहीं हिचकेंगे। जिसने एक जगह पवित्रताका विचार नहीं किया, वह दूसरी जगह भी उसे भूल सकता है। उनके मनमें लोभ है, वे लोभवश तुम्हारा काम कर देंगे।’ द्रुपद याजके पास गये। यद्यपि याजपर उनकी श्रद्धा नहीं थी, फिर भी उन्हें अपना मतलब तो गाँठना ही था।

याजने द्रुपदकी बात मान ली, यज्ञ हुआ। हवन समाप्त होनेपर याजने रानीको बुलाया और कहा कि ‘तुम शीघ्र ही यह अभिमन्त्रित हविष्य ग्रहण करो, एक कन्या और एक पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा।’ रानीने कहा—‘ब्राह्मणदेव ! इस समय मेरे मुँहमें दिव्य सुगन्धकी वस्तुएँ लगी हुई हैं, अज्ञानोंके अङ्गरागसे अनुरजित किया गया है; इसलिये मैं ज्ञान किये बिना मैं यज्ञका हविष्य कैसे ग्रहण कर सकती हूँ ? आप थोड़ी देर ठहर जाइये।’ याजने कहा—‘तुम आजो या न आओ, कुछ हानि नहीं। मैं अभिमन्त्रित हविष्य अग्निमें छोड़ता हूँ, यजमान

पूर्ण होगी।’ आहुति छोड़ दी गयी। उसी समय देवताओंके समान सुन्दर, अग्निके समान तेजस्वी, किरिट-मुकुटधारी, उत्तम कवच, खड्ग और धनुष-बाण धारण किये बारंबार गर्जना करता हुआ एक कुमार यज्ञकुण्डकी अग्निसे प्रकट हुआ। वह उसी समय रथपर चढ़कर इधर-उधर विचरने लगा। पंजाब देशके लोग बहुत ही प्रसन्न हुए, चारों ओर हर्षकी ध्वनि होने लगी। उस समय आकाशवाणी हुई कि यह कुमार पाञ्चाल राजवंशका यश बढ़ावेगा और इसीके हाथोंसे द्रोणाचार्यकी मृत्यु होगी। इसी कुमारका नाम धृष्टद्युम्न पड़ा।

इसके बाद एक सर्वाङ्गसुन्दरी कुमारी भी प्रकट हुई। उसके सभी अङ्ग बड़े सुन्दर थे। कमलदलके समान सुन्दर नेत्र थे, लंबे-लंबे घुँघराले बाल थे। लाल-लाल नख कुछ उभरे हुए थे, भौंहें बहुत ही मनोहर थीं, उसे देखकर ही उसके सौभाग्यका अनुमान हो जाता था। ऋषियोंने जान लिया कि यह परम सौभाग्यवती स्वर्गकी लक्ष्मी ही शरीर धारण करके प्रकट हुई है। उस कुमारीके शरीरसे नीले कमलकी मनोहर सुगन्ध निकलती रहती थी और आसपास कोसभर तक फैली रहती थी। उसके शरीरका रंग साँवला था, परंतु वैसी सुन्दर स्त्री पृथिवीमें कहीं देखी नहीं गयी। सभी उसके सौन्दर्यका वखान करते थे। उसके प्रकट होनेपर आकाशवाणी हुई कि यह स्त्रीरत्न कृष्णा क्षत्रियवंशके नाशका कारण होगी, इसीलिये इसकी सृष्टि हुई है। समय आनेपर इसके द्वारा देवताओंका कार्य सिद्ध होगा। देवताओंके लिये हितकर और दैत्योंके लिये यह भयानक होगी। कौरवोंके लिये यह बड़ी भय देनेवाली होगी। आकाशवाणी सुनकर चारों ओर जय-जयकार होने लगा। वहाँके लोग हर्षके मारे इतना अधिक उछलने-कूदने लगे कि मालूम हुआ पृथिवी हिल जायगी।

जब रानीने देखा कि मेरे बिना ही यज्ञकुण्डसे कुमार और कुमारी उत्पन्न हो गये, तब वह याजकी शरणमें आयी। उसने प्रार्थना की—‘भगवन् ! मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि ये दोनों बच्चे मुझे ही अपनी माता समझें।’ याजने राजाकी प्रसन्नताके लिये कह दिया—‘अच्छा, ऐसा ही होगा।’ हुआ भी वैसा ही। उस कुमारीका नाम साँवला रंग होनेके कारण कृष्णा पड़ा, द्रुपदकी पुत्री होनेके कारण द्रौपदी हुआ। यज्ञकी वेदीसे उत्पन्न होनेके कारण द्रुपदका ही एक नाम

यज्ञसेन था, इसलिये भी द्रौपदीको याज्ञसेनी कहते हैं।

द्रौपदीमें जन्मसे ही अनेकों दिव्य गुण थे। उसमें स्वाभाविक ही देवी सम्पत्तियाँ निवास करती थीं। वह माता-पिताकी सेवा करती, गुरुजनोंका सम्मान करती, विना अवसरके व्यर्थ न बोलती, जो बोलती खूब समझकर बोलती, समयको पहचानती, नीतिका ज्ञान रखती और अनेक दास-दासियोंके रहनेपर भी अपना सब काम स्वयं ही कर लेती थी। द्रौपदीसे सभी प्रसन्न रहते थे। उससे सभी प्रेम करते थे, वह सभीकी लाडली थी।

द्रौपदीका श्यामसुन्दर शरीर देखकर द्रुपदको अर्जुनकी याद आ जाया करती थी। द्रुपदने अर्जुनको युद्धमें देखा था, द्रोणकी प्रेरणासे अर्जुनने द्रुपदपर विजय प्राप्त की थी। परंतु द्रुपदके मनमें अर्जुनके प्रति कोई द्वेष नहीं था। वे उनके गुणसे, युद्ध-कौशलसे, पराक्रमसे, शरीरके सुन्दर गठनसे प्रभावित थे। वे अर्जुनके कृष्णरूपपर भी मुग्ध थे। उनके मनमें कई बार यह बात आती कि यदि कृष्णा—द्रौपदीका विवाह अर्जुनसे होता तो कितना अच्छा होता। परंतु वे इस बातसे निराश थे। इसका कारण यह था कि उन दिनों यह बात चारों ओर फैल गयी थी कि पाँचों पाण्डव वारणावतके लाक्षाग्रहमें जलकर मर गये। कोई-कोई यह बात भी कह जाते थे कि पाण्डव अभी मरे नहीं हैं, वे कहीं-न-कहीं हैं। यह सुनकर उनकी आशा-लता फिर हरी हो जाती। इसी द्विविधामें वे कुछ दिनोंतक पड़े रहे। आखिर उन्होंने एक युक्ति ढूँढ़ निकाली। उन्होंने सोचा कि अपनी कन्याका स्वयंवर इस प्रकार करें कि स्वयं अर्जुन अथवा अर्जुन-जैसे वीर ही मेरी कन्याको प्राप्त कर सकें। बहुत सम्भव है कि अर्जुन ही आ जायँ, तब तो मेरी अभिलाषा ही पूरी हो जायगी। परंतु द्रुपदने यह बात और किसीसे कही नहीं।

द्रुपदने एक बड़ा ही ठोस धनुष बनवाया, जिसे सब कोई न झुका सकें। एक कृत्रिम यन्त्र बनवाया और उसे ऊपर टँगवा दिया। वह चक्राकार था और निरन्तर घूमता रहता था। उस यन्त्रके ऊपर एक मछली रखवा दी और यह घोषणा करवा दी कि जो वीर इस धनुषपर प्रत्यक्षा चढ़ायेगा और बाणके द्वारा चक्रके छिद्रके भीतरसे उस मछलीको वेध देगा, वही द्रौपदीको प्राप्त कर सकेगा। साथ ही यह शर्त भी रख दी कि निशाना लगाते समय मछलीकी ओर नहीं देखना होगा, नीचे पानीके कुण्डमें मछलीकी परछाई देखकर ही बाण चलायेंगे। स्वयंवरका दिन

निश्चित हो गया, चारों ओरसे राजा और राजकुमार आये लगे और द्रुपद अर्जुनकी प्रतीक्षा करने लगे।

× × ×
(२)

भगवान्की लीलाका रहस्य स्वयं भगवान् ही समझते हैं। दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें जो हित प्रतीत होता है, वह अहित हो जाता है और जो अहित प्रतीत होता है, वह हित हो जाता है। मनुष्य करना चाहता है कुछ और हो जाता है कुछ। इसीसे जो लोग सब कुछ भगवान्को छोड़कर निश्चिन्त हो जाते हैं और हित-अहित दोनों प्रकारकी परिस्थितियोंमें भगवान्का खेल देख-देखकर मुग्ध होते रहते हैं, वे ही संत हैं। धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म, हित-अहित जो कुछ भगवान् करें-करावें, वही देखते हैं उसीमें प्रसन्न होते रहें। वास्तवमें ये सब बातें भगवान्की ही मालूम हैं, उन्हींके सामने सब हो रही हैं। उनके सामने अन्याय और अनर्थ होनेकी तो सम्भावना नहीं है। होता है वही जो होनेवाला है, लेकिन जो कुछ होनेके पहले ही अपनी इच्छाके अनुसार कराना चाहते हैं—करना चाहते हैं, उसका कर्तृत्व अपने सिरपर लेते हैं, इसीसे दुःखके—पापके भागी होते हैं। सबी बातें यह है कि जो कुछ प्रभुके सामने हो रहा है उसमें दोष निकालना प्रभुका तिरस्कार करना है। वे अहित प्रतीत होनेवाली घटनाओंमें भी किस प्रकार हितका अन्तर्हित रखते हैं, यह बात हम पाण्डवोंके जीवनमें देख सकते हैं।

न्यायदृष्टिसे हस्तिनापुरके राज्यके उत्तराधिकारी पाण्डव ही थे। समय-समयपर श्रीकृष्ण, व्यास, भीष्म, द्रोण, विदुर आदिने इसका समर्थन किया है, फिर भी हस्तिनापुरसे वारणावत भेज दिये गये और वहाँ लाक्षाग्रहमें रखकर उन्हें जलानेकी चेष्टा की गयी। मनुष्यों बुद्धिने सोचा कि 'इससे हमारा राज्य निष्कण्टक हो जायगा।' पर पाण्डव जले नहीं और जलानेकी इच्छा वाला जलानेका दोषभागी हो गया। पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ वहाँसे निकल गये और भगवान् सलाहसे एकचक्रा नगरीमें आकर रहने लगे। जिन्हें एक विचार राज्यका शासन करना चाहिये था, वे भिखारी हो गये। भिक्षा माँगकर ले आते, माकी आज्ञासे उसे लाने और देखें तो पाण्डवोंका अहित

संख्या ७]

परंतु भगवान्की यह लीला पाण्डवोंके हितके लिये ही थी। हाँ, यह बात अवश्य थी कि जिन्होंने उन्हें इस परिस्थितिमें डालनेकी चेष्टा की, वे तो अपने कर्मफलके भागी हुए ही। एकचक्रा नगरीमें पाण्डवोंने किस प्रकार निर्वाह किया? इस यात्रामें उन्होंने कितने कुटुम्बोंकी रक्षा की? अपना कुटुम्ब कितना अधिक बढ़ाया? यह चर्चा प्रासङ्गिक नहीं है। हमें तो केवल द्रौपदीके जीवनसे सम्बद्ध घटनाओंको ही लेना है। एकचक्रा नगरीमें ही एक ब्राह्मणने आकर ब्राह्मणवेषधारी पाण्डवोंसे द्रुपदके यहाँ स्वयंवर होनेवाला है, उनकी कन्या अद्भुत रीतिसे पैदा हुई है, वह कौरवोंके लिये भयानक है इत्यादि बातें बतायीं। पाण्डवोंने अपनी माता कुन्तीकी आज्ञा लेकर द्रुपदकी राजधानीके लिये यात्रा कर दी।

जब पाण्डव ब्राह्मण-वेषमें छिपकर एकचक्रा नगरीमें उस ब्राह्मणके घर रहते थे, तब एक दिन व्यासदेव पधारे। स्वागत-सत्कार और कुशल-प्रश्नके पश्चात् उन्होंने कहा—‘पुराने जमानेमें एक तपोवनमें बड़े तपस्वी ऋषि रहते थे। उनकी एक कन्या थी, वह बड़ी सुन्दरी तथा गुणवती थी। परंतु पूर्वजन्मके कर्मोंके कारण उसका प्रारब्ध अच्छा नहीं था। उस अनुपम सुन्दरीको उसके योग्य कोई पति नहीं मिला। वह अत्यन्त दुःखित होकर पति प्राप्त करनेके लिये भगवान् शङ्करकी आराधना करने लगी। भगवान् शङ्कर प्रसन्न होकर उसके सामने आये और बोले—‘देवि! तुम्हारी जो इच्छा हो माँग लो।’ उस समय वह तपस्विनी कन्या आनन्दके कारण इतनी आत्मविस्मृत हो गयी कि वह पाँच बार कह गयी मुझे पति दो, मुझे पति दो। भगवान् शङ्करने कहा—‘तुमने पाँच बार पति दो, पति दो कहा, इसलिये तुम्हें पाँच पति प्राप्त होंगे। तुम्हारी प्रार्थना निष्फल नहीं हो सकती। तुम्हारी इच्छाके अनुसार तुम्हें सब गुणोंसे भूषित पाँच पति प्राप्त होंगे।’ इतना कहकर भगवान् शङ्कर अन्तर्धान हो गये। वही कन्या द्रुपदके यहाँ यज्ञवेदीसे पैदा हुई है, वही सर्वाङ्ग-सुन्दरी कृष्णा तुमलोगोंकी पत्नी होगी। यह बात पहलेसे ही निश्चित है, इसलिये तुमलोग पाञ्चालराजके नगरमें जाओ और द्रौपदीको प्राप्त करो। तुम द्रौपदीके द्वारा सुखी हो सकोगे।’ व्यासदेव चले गये।

व्यासदेवने जिस तपस्विनी कन्याका वर्णन किया है, वह कौन थी और उसका क्या नाम था, वह बात

महाभारतमें नहीं लिखी है। यद्यपि यह कथा महाभारतमें एक बारसे अधिक कही गयी है। ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्ण-जन्म-खण्डमें यह कथा इस प्रकार आती है। रावणने दिग्विजय करनेके समय वेदवती नामकी एक कन्याका अपमान किया था। वह कन्या बृहस्पतिकी पौत्री और कुशध्वजकी लड़की थी। रावणके अपमानसे उसे बड़ा दुःख हुआ और उसने रावणको शाप दे दिया कि मेरे ही कारण तुम्हारा सत्यानाश होगा। त्रेतायुगमें जब भगवान् श्रीरामका अवतार हुआ और वे वनमें गये, तब उन्होंने रावण-वधके लिये सीताको अग्निदेवके सुपुर्द कर दिया। भगवान्ने सीताकी छाया स्थापित कर ली, वह वेदवती ही छायाके रूपमें प्रकट हुई थी। रावणने उसी छायाका हरण किया था। जब लङ्का-विजय करनेके पश्चात् छायासीताकी अग्नि-परीक्षा हुई, तब अग्निने सच्ची सीताको प्रकट कर दिया। वह छाया नारायण-सरोवरमें सौ वर्ष-तक तपस्या करती रही। उसीके सामने महादेवजी प्रकट हुए और उससे कहा कि भगवान्के अंशस्वरूप पाँच इन्द्र प्रकट होंगे और वे ही तुम्हारे पति होंगे; क्योंकि तुमने पाँच बार पति प्राप्त करनेके लिये वरदान माँगा है। वही द्रौपदीके नामसे पैदा हुई। वह वेदवती स्वर्गकी लक्ष्मी थी, उसकी कथा आगे आयगी। यहाँ केवल इतना ही स्पष्ट कर देना था कि स्वर्गकी लक्ष्मी ही वेदवती और छाया बनी तथा शङ्कर-जीके वरप्रभावसे उसीने द्रौपदीके रूपमें जन्म लिया। यह भगवान्की ही एक विशेष शक्ति है, जो स्वर्गको सुन्दर बनाती है, धर्मकी स्थापना और अधर्मके विनाशमें सहायक होती है। उसीकी प्राप्तिके लिये पाण्डव यात्रा कर रहे हैं।

पाण्डव स्वयंवरके समयसे पहले ही पाञ्चाल नगरमें पहुँच गये। द्रुपदके नगर और उसकी चहारदिवारी देखकर पाण्डवोंने नगरके छोरपर ही एक कुम्हारके घर रहना निश्चय किया, वे वहाँ रहने लगे। वे उस समय ब्राह्मण-वेषमें थे। भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करते थे। उनकी प्रकृति बड़ी कोमल थी, स्वभाव बड़ा मधुर था। बहुत कम बोलते थे। जो कुछ कहते सच्चे हृदयसे कहते और बड़ी प्रिय मधुर भाषामें कहते। वे प्रतिदिन नियमसे स्वाध्याय करते थे। उनके आचरणको देखकर कोई पहचान नहीं सकता था कि ये क्षत्रिय हैं।

स्वयंवरकी घोषणा तो पहले ही हो चुकी थी। देश-विदेश से लोग आने लगे। बहुत-से ऋषि,

महात्मा और ब्राह्मण भी स्वयंवर देखनेके लिये आये । स्वयंवरका दिन आया, सब लोग यथास्थान बैठ गये । स्वयंवरमें उपस्थित राजाओंकी सूची बड़ी लंबी है, यहाँ केवल कुछ नाम दे दिये जाते हैं । श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, साम्ब, अनिरुद्ध, अक्रूर, सात्यकि, उद्धव, शिशुपाल, जरासन्ध, शल्य, भगदत्त, रुक्मि, दुर्योधन, कर्ण, अश्वत्थामा, भीष्म, शकुनि आदि-आदि । महाराज द्रुपदने सबकी आवभगत की । नगरवासी प्रजा और दर्शक भी आकर यथास्थान बैठ गये । उस भीड़का कोलाहल उमड़े हुए समुद्रकी भाँति चारों ओर सुनायी पड़ रहा था ।

वहाँ सभामण्डप नगरके सामने ही पूर्वोत्तर कोणपर समतल विशुद्ध भूमिमें बनाया गया था । उसके चारों ओर सुन्दर-सुन्दर भवन थे । दीवार, खाई, फाटक, बन्दनवार और तंबुओंसे उसकी शोभा अद्भुत हो गयी थी । अगुरु-धूपकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी, तुरही, नगारे बज रहे थे, चन्दनका छिड़काव किया गया था, फूलकी मालाएँ टँगी हुई थीं, वस्त्रोंके सुन्दर-सुन्दर महल और मञ्च आकाशसे बातें कर रहे थे । सुनहले परदे लगे हुए थे, मणिमण्डित बैठकें थीं, बहुमूल्य आसन थे । उनमें जाने-आनेकी रोक-टोक बिल्कुल नहीं थी । सबमें उत्तम पलंग और खाने-पीनेकी सामग्रियाँ रक्खी हुई थीं । सभी राजा मानो आपसमें होड़ लगाकर एक-से-एक सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित थे । पाण्डव भी एक ओर ब्राह्मणोंकी श्रेणीमें बैठकर द्रुपदके ऐश्वर्य और अनुपम समृद्धिको देख रहे थे ।

द्रौपदी नवीन और सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे अलङ्कृत होकर सुवर्णमयी जयमाला हाथमें लिये रङ्गभूमिमें आयी । कुल-गुरुने मन्त्र पढ़कर अग्निमें आहुति डाली, ब्राह्मणोंने स्वस्त्ययन पाठ किया, सब बाजे बंद हो गये, सारी सभामें सन्नाटा छा गया । धृष्टद्युम्नने मेघगम्भीर ध्वनिसे घोषणा की—‘उपस्थित नरपतियो और राजकुमारो ! यह निशाना है, ये पाँच बाण हैं और यह धनुष है । मैं सत्य कहता हूँ कि जो सत्कुल, रूप और बलसे युक्त पुरुष इन पाँच बाणोंके द्वारा इस यन्त्रके भीतरसे निशानेको काटकर गिरा देगा, वही पुरुष मेरी बहिनको प्राप्त कर सकेगा ।’ धृष्टद्युम्नने उपस्थित नरपतियोंका परिचय दिया और अपनी बहिन द्रौपदीको सम्बोधन करके कहा—‘बहिन ! इस लक्ष्यको जो वेध देगा उसीको हम पवित्रपसे वरण करना ।’

द्रौपदीको प्राप्त करनेके लिये सभी राजा व्याकुल हो गये । सब एक दूसरेकी ओर देखकर ऐसी भावमय प्रकट कर रहे थे कि द्रौपदी मेरी ही होगी । मित्र और सम्बन्धी राजा भी एक दूसरेको डाहसे देखने लगे और वे सब द्रौपदीको प्राप्त करनेके उद्योगमें लग गये, बड़े देवता और गन्धर्व भी उस समाजमें आये । केवल भगवान् श्रीकृष्ण और उनके साथ आये हुए लोग चुपचाप बैठे रहे । श्रीकृष्णने ब्राह्मणोंके बीचमें बैठे हुए पाण्डवोंको पहचान लिया और बलरामको दिखा दिया । बलरामने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की । वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके लिये ही यहाँ आये हुए थे । दूसरे राजाओंकी दृष्टि द्रौपदीकी ओर थी, इसीसे किसीकी दृष्टि पाण्डवोंपर नहीं पड़ी । दुर्योधन, शल्य, अश्वत्थामा और तो धनुषपर प्रत्यञ्चा ही नहीं चढ़ा सके । वे धनुष झटकसे पृथिवीपर गिर पड़े । उनके मुकुट और शरीरसे गिर पड़े, वे लंबी साँस लेकर अपने स्थान पर बैठ गये ।

कर्ण रङ्गभूमिमें आया, उसने पलक मारते-मारते धनुष डोरी चढ़ा ली, बाण भी चढ़ा लिया । अग्नि, चन्द्र और सूर्य समान तेजस्वी कर्णको धनुषपर बाण चढ़ाते देखकर पाण्डवोंने सोचा अब लक्ष्य कटकर पृथिवीपर गिरने ही वाला है । इसी बीचमें ऊँचे स्वरसे द्रौपदी बोल उठी—‘मैं सतपुत्रको कदापि वरण न करूँगी ।’ द्रौपदीकी बात सुनकर कर्ण बड़े अपमानका बोध हुआ, वह क्रोधसूचक हँसी हँसकर धनुष वहीं रखकर अपने स्थानपर लौट आया । बहुत राजाओंके असफल होनेपर चेदिदेशके राजकुमार शिशुपाल उठे । उन्होंने धनुषपर डोरी चढ़ानेकी चेष्टा की, परंतु वे सफल न हुए । दोनों घुटनोंके बल जमीनपर जा रहे । उन्हींकी भाँति जरासन्ध और शल्य भी हँसीके पात्र बने । जब क्षत्रियोंमेंसे और कोई नहीं उठा, तब ब्राह्मणोंके मण्डलीमेंसे अर्जुन उठ खड़े हुए । उस समय अर्जुनके पुष्ट शरीरको देखकर ब्राह्मणलोग अपनी मृगछाल उछालकर हर्षध्वनि करने लगे । कुछ लोग यह सोचकर उदास हो गये कि जब धनुर्वेदके जानकार शिशुपाल और दुर्योधन ही सफल नहीं हुए, तब इस ब्राह्मणकी सफलता कैसे सम्भव है ? कुछ ब्राह्मणोंने ब्राह्मणकी तपस्या, शक्ति, उत्साह आदिका वर्णन करके कहा कि सब लोग मिलकर इस ब्राह्मणको आशीर्वाद दें कि यह

कार्यमें सफल हो सके। ब्राह्मणोंने आशीर्वाद दिया—“इसे सफलता प्राप्त हो।”

अर्जुन धनुषके पास पहुँच गये। उन्होंने भक्तिमग्न हृदयसे उसकी प्रदक्षिणा की, भगवान् शङ्करको नमस्कार किया, श्रीकृष्णका स्मरण किया और धनुषको उठा लिया। बड़े-बड़े वीर जिसपर डोरी चढ़ानेमें असमर्थ थे, अर्जुनने जब उसपर डोरी चढ़ा ली, तब लोगोंने देखा। पाँच बाण उठाये और कुर्तक के साथ उस निशानेको उड़ा दिया। वह कृत्रिम मछली चक्रयन्त्रके भीतरसे जमीनपर गिर पड़ी। आकाश और समामण्डप आनन्द और कोलाहलकी ध्वनिसे भर गया। देवताओंने अर्जुनपर स्वर्गीय पुष्पोंकी वर्षा की। आकाशसे इतने फूल बरसे कि पृथिवी पुष्पमयी हो गयी। वाजे वजने लगे, सूत-मागध मधुर स्वरसे स्तुति-गायन करने लगे, ब्राह्मणोंने अपने-अपने वस्त्रोंके छोर हिलाकर हर्ष प्रकट किया। राजाओंने गड़बड़ी करनी चाही, परंतु द्रुपदने उन्हें रोक दिया, वे अपनी सेनाके साथ अर्जुनकी रक्षा करनेको तैयार हो गये। कोलाहल मचनेपर धर्मराज युधिष्ठिर नकुल और सहदेवको लेकर डेरेपर चले गये। द्रौपदीने वरमाला अर्जुनको पहना दी। द्रौपदी अर्जुनके पीछे खड़ी हो गयी। वे द्रौपदीके साथ रङ्गभूमिके बाहर आये।

राजाओंने आपसमें सलाह की कि इतने राजाओंके होते हुए भी द्रुपद एक भिखारी ब्राह्मणको अपनी कन्या दे रहे हैं, यह हमलोगोंका अपमान है। आओ, हम द्रुपदको मार डालें, उनकी कन्या यदि दूसरेसे विवाह नहीं करना चाहती तो उसे आगमें जला डालें। ब्राह्मणको तो हम मार नहीं सकते, द्रुपदको अवश्य दण्ड देना चाहिये। यही न्यायसङ्गत है, क्योंकि आगे फिर हमारा अपमान न हो, क्षत्रियधर्मकी रक्षा हो और अन्य स्वयंवरोकी भी ऐसी दशा न हो। सब लोग द्रुपदपर टूट पड़े, उस समय धनुषको धारण करके भीमसेन और अर्जुन उनके सामने खड़े हो गये। भीमसेनने एक वृक्ष उखाड़ लिया और वे अर्जुनके पास खड़े होकर विपक्षियोंके आक्रमणकी बाट देखने लगे। श्रीकृष्णने भीमके असाधारण कर्मको देखकर बलरामसे कहा—“भैया संकर्षण! यह जो सिंहके समान अपना अपना पराक्रम प्रकट कर रहे हैं, जिनके हाथमें पाँच हाथसे कुछ ही छोटा धनुष है, वे अर्जुन हैं, जो बलपूर्वक वृक्ष उखाड़कर उनके पास खड़े हैं, वे भीमसेन हैं। युधिष्ठिर, नकुल और सहदेवको जाते समय तुमने भी देखा ही है। मैं ठीक ठीक पहचान रहा हूँ।

बड़ा अच्छा हुआ कि ये लोग लाक्षाभवनसे सकुशल बच आये हैं।” बलरामने उनकी बातोंका समर्थन किया।

दुर्योधन और कर्ण आये। कर्ण और अर्जुनका युद्ध होने लगा। कर्ण उनके सामने युद्धमें ठहर नहीं सके। वे ब्रह्मतेजको जीतना असम्भव है, यह कहकर युद्धभूमिसे हट गये। शल्यको घूँसे मारकर भीमसेनने जमीनपर गिरा दिया, ब्राह्मणलोग हँसने लगे। शल्य, कर्ण और दुर्योधनको परास्त होते देखकर सभी राजा चकित एवं स्तम्भित हो गये। श्रीकृष्णने सबको यह कहकर समझा दिया कि “इन्होंने धर्मानुसार ही द्रौपदीको प्राप्त किया है।” सब अपने-अपने देशको गये। द्रौपदीको लेकर अर्जुन और भीमसेनने अपने डेरेकी यात्रा की।

आज बहुत रात बीत गयी थी। रोज भिक्षा लेकर आनेका समय बीत गया था। पुत्र-स्नेहके कारण कुन्ती घबरा रही थीं, वे सोच रही थीं कि कहीं कौरवोंने मेरे पुत्रोंको पहचानकर उनकी हत्या तो नहीं कर डाली या बैरको कभी न भूलनेवाले मायावी राक्षसोंने मेरे पुत्रोंका कुछ अनिष्ट तो नहीं किया। सम्भव है और किसी प्रकार उनका अनिष्ट हो गया हो, परंतु क्या व्यासकी बात भी व्यर्थ हो सकती है? कुन्ती इसीप्रकार सोच-विचार कर रही थीं कि भीमसेनने पुकारकर कहा—“माता! हम भिक्षा लेकर आ गये।” कुन्ती घरके भीतर थीं, उन्होंने बिना देखे ही कह दिया—“बेटा! सब लोग मिलकर उसका उपयोग करो।” जब वे कुटीके बाहर आयीं और उन्होंने देखा कि यह तो द्रौपदी है, तब वे कहने लगीं कि “बिना समझे-बूझे मैंने क्या कह दिया! मेरे मुँहसे कैसी बात निकल गयी।” कुन्ती असत्यके भयसे चिन्तित हो गयीं।

वे द्रौपदीका हाथ पकड़कर युधिष्ठिरके पास गयीं और कहने लगीं कि “बेटा! आज तो मुझसे एक प्रमाद हो गया। मेरे मुँहसे बिना समझे-बूझे एक बात निकल गयी। अर्जुन और भीमने द्रौपदीको लाकर मुझसे कहा कि यह भिक्षा है। मैंने रहस्यको जाने बिना भिक्षा समझकर उचित आशा दे दी कि तुम सब मिलकर उसका उपयोग करो। सो युधिष्ठिर! अब कोई ऐसा उपाय करो कि मेरी बात झूठी न हो। अपने जीवनमें आजतक कभी अनजानमें भी मैंने झूठ नहीं कहा है। साथ ही द्रौपदीके धर्मकी भी चिन्ता है। किसी भी प्रकार अधर्म उसका स्पर्श न करे। अब यह बात तुम्हारे हाथ में अधीन है।” युधिष्ठिर विचार करने लगे।

उत्तम पलंग, आसन और बहुमूल्य वस्त्र भी रखे गये। वह सब रखनेमें यह दृष्टि भी थी कि उनकी रुचि देखकर उनकी जातिका पता लग सकेगा।

कुन्ती और द्रौपदी द्रुपदके रनिवासमें गयीं। वहाँ उन लोगोंका स्वागत हुआ। पाण्डव सिंहकी भौति मस्त चालसे द्रुपदके महलमें पहुँचे। राजा, मन्त्री, इष्टमित्र और नौकर-चाकरोंने उनका स्वागत किया। पाँचों वीर अशङ्कित और अविस्मित भावसे ऊँचे आसनोंपर क्रमशः जाकर बैठ गये। दास-दासीगण सोनेके वर्तनोंमें उत्तम-उत्तम भोजन-सामग्री ले आये। पाण्डवोंने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार उसे ग्रहण किया। उपहारकी सामग्रियोंमें उन्होंने केवल युद्धकी ही सामग्री ग्रहण की। उनकी भावभङ्गी, सम्यता, मर्यादा, शस्त्रप्रियता और सब वस्तुओंसे परिचय देखकर बुद्धिमानोंने अनुमान कर लिया कि ये पाण्डव ही हैं।

द्रुपदने कहा—‘हम कैसे जानें कि आपलोग किस वर्णके हैं? आप चारों वर्णोंमेंसे कोई हैं या मनुष्य-शरीर धारण करके कृष्णाको ग्रहण करनेके लिये कोई देवता ही

पधारे हैं? मेरा विश्वास है कि आप मुझसे सत्य कहेंगे और मेरा सन्देह दूर करेंगे।’ युधिष्ठिरने कहा—‘राजन्! हम सब दूसरे नहीं हैं, आपके ही हैं और आपके इच्छा पूर्ण हुई है। हम पाँचों भाई महात्मा पाण्डुके पुत्र हैं। मैं सबसे बड़ा युधिष्ठिर हूँ, राजाओंको हारकर कन्याको ले जानेवाले भीम और अर्जुन हैं। दोनों के भाई नकुल और सहदेव हैं। मेरी माता कुन्ती कृष्णाके साथ रनिवासमें हैं, आप चिन्ता दूर कीजिये। आप हमारे पूज्य और सहायक हैं। आपसे मैंने सबी बात बतला दी।’ युधिष्ठिरकी बात सुनकर द्रुपदकी आँखें आनन्दके आँसू आ गये। उन्होंने कुछ कहना चाहा परंतु उनका गला भर गया, वे कुछ बोल न सके। अपने सँभालकर उन्होंने युधिष्ठिरका अभिनन्दन किया और वारणावत नगरसे चलनेके बादका सब हाल पूछा। द्रुपद युधिष्ठिरको विश्वास दिलाया कि मैं आपका राज्य दिख दूँगा। पाण्डवोंके लिये एक सुन्दर महलकी व्यवस्था कर दी गयी, वे उसीमें सुखपूर्वक रहने लगे। (क्रमशः)

मैं स्वरूप पहचान न पाया

(रचयिता—श्रीमोहनलाल गुप्त ‘मधुप’ एम्. ए.)

कंकड़-पत्थर समझ जिन्हें त्यागते सदा आए ज्ञानी जन।
रजत-स्वर्ण-खंडों-रत्नोंको, भ्रमवश समझ लिया अक्षय धन ॥
निशिदिन कामिनियोंका चिंतन, मधु-मादक द्रव्योंका सेवन।
चपल इंद्रियोंकी उपासनाको ही जाना जीवन-साधन ॥
भौतिकताके स्वर्णिम बंधनसे विमुक्तिका ज्ञान न पाया।
‘सोऽहं’ और ‘तत्त्वमसि’ पढ़कर, मैं स्वरूप पहचान न पाया ॥१॥
दिव्य-पुरुष बाहर, मैं सुंदर, पर अतीव काला अंतस्तल।
चिर अतृप्ति-ज्वालामें जलता रहा, न हो पाया मैं शीतल ॥
झंझा-प्रवाह-सा था बहता, भय देता, भीत रहा प्रतिपल।
हूँ अनंत की ओर जा रहा, छोड़ सभी वैभव निःसंबल ॥
रहा खोजता सुख जीवनभर, पर सुख क्या है, जान न पाया।
‘सोऽहं’ और ‘तत्त्वमसि’ पढ़कर, मैं स्वरूप पहचान न पाया ॥२॥
दी न किसी भूखे को रोटी, दिया न प्यासे को ही पानी।
लेता ही मैं रहा विश्वसे, नहीं दानकी महिमा जानी ॥
रही संकुचित सीमा ‘स्व’ की, बना अंधभोगी अभिमानी।
त्याग रागकी पराकाष्ठा, नहीं त्यागकी गरिमा जानी ॥
‘ईशावास्यमिदं सर्वं’ का, इस मानसमें ध्यान न आया।
‘सोऽहं’ और ‘तत्त्वमसि’ पढ़कर, मैं स्वरूप पहचान न पाया ॥३॥

॥ श्रीहरिः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव, श्रीविष्णु, भगवती श्रीलक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन !

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ (चित्र अलगसे नहीं मिलते)

साइज १५×२० नं० १, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च ।।।)

इसमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्ट पेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—
सुनहरी—१-युगल छवि, २-आनन्दकंद पालनेमें।

बहुरंगे—१-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, २-श्रीवज्रराज, ३-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, ४-श्रीराम-दरवार, ५-भुवनमोहन राम, ६-भगवान् शंकर, ७-भगवान् नारायण, ८-श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी।

साइज १५×२० नं० २, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च ।।।)

सुनहरी—१-भगवान् श्रीराम, २-आनन्दकंदका आँगनमें खेल।

बहुरंगे—१-विश्वविमोहन श्रीकृष्ण, २-श्रीराधेश्याम, ३-श्याममयी संसार, ४-श्रीरामचतुष्टय, ५-महावीर, ६-भगवान् विश्वनाथ, ७-भगवान् विष्णु, ८-भगवान् शक्तिरूपमें।

साइज १५×२० नं० ३, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च ।।।)

सुनहरी—१-रामदरवारकी झाँकी, २-कौसल्याका आनन्द।

बहुरंगे—१-मुरलीमनोहर, २-श्रीनन्दनन्दन, ३-महासंकीर्तन, ४-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ५-दूल्हा राम, ६-ध्रुवनारायण, ७-ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति, ८-श्रीलक्ष्मी-नारायण।

उपर्युक्त १५×२० साइजकी—एक चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ३।।), दो चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ६।।), तीन चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य १०) लगता है।

साइज १०×७।। नं० १, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।-)

इसमें १०×७।। साइजके बढ़िया आर्ट पेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छवि, २-साकार-निराकार ब्रह्म।

बहुरंगे—१-श्रीगणपति, २-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ३-ध्यानमग्ना सीता, ४-दीपावलि-दर्शन, ५-श्रीरघुनाथजी, ६-प्यारका बन्दी, ७-दधि-माखनके भूखे, ८-भक्त-मन-चोर, ९-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, १०-श्रीविक्रमविहारी, ११-श्रीराधाकृष्ण, १२-द्रौपदीको आश्वासन, १३-श्रीगौरी-शंकर, १४-भगवान् श्रीशंकर, १५-भगवान् श्रीविष्णु, १६-श्रीलक्ष्मीजी, १७-महावीरका महान् कीर्तन, १८-भारतमाता।

साइज १०×७।। नं० २, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।-)

सुनहरी—१-श्रीभगवान्, २-भगवान् श्रीराम।

बहुरंगे—१-वनवासी राम, २-तपोवनके दिव्य पथिक, ३-पुष्पक विमानपर, ४-भगवान् श्रीराम-लक्ष्मण, ५-श्रीरामदरवार, ६-मथुरासे गोकुल, ७-श्रीकृष्ण-यशोदा, ८-वज्र-सर्वस्व, ९-मुरलीका असर, १०-श्याममयी संसार, ११-वज्रराज, १२-विहारीलाल, १३-श्रीराधेश्याम, १४-योगीश्वर श्रीशिव, १५-शिव-परिवार, १६-पर्वताकार हनुमान्जी, १७-लक्ष्मी-नारायण, १८-श्रीदुर्गा।

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २००९, अगस्त १९५२

विषय

१-खीझे माखन-खवैया [कविता] (श्रीसूरदासजी)
२-कल्याण ('शिव')
३-कुछ सार विषयोंपर विचार (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)
४-ईश्वर और धर्म मानवकी माँग है (एक महात्माका प्रसाद)
५-अमृत और मृत्यु (संकलित—महाभारत-शान्तिपर्व)
६-श्रीकृष्ण-लीलाका चिन्तन
७-मनका मोह [कविता] (श्रीआरसीप्रसादसिंहजी)
८-ब्रह्म, ब्रह्मकी प्राप्ति और प्रातः पुरुषका स्वरूप (हनुमानप्रसाद पोद्दार)
९-परीक्षा (संकलित-शिवपुराण ज्ञानसं०)
१०-वेदान्त-दर्शन—एक दिग्भ्रमदृष्टि (साहित्यमहोपाध्याय पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पङ्कज' शास्त्री, वी० ए० काव्यतीर्थ, साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य, न्यायाचार्य, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)
११-चैराग्यकी महिमा (साधुवेपमें एक पथिक)
१२-प्राचीन ग्रन्थोंमें राजधर्म (व्योहार श्रीराजेन्द्रसिंहजी)
१३-चिन्तन (श्रीगणपतिजी पारीक)
१४-जीवन-धन (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)
१५-न त्यागनेके छः गुण और त्यागनेके छः दोष (संकलित—महाभारत-उद्योगपर्व)
१६-नेता कौन है ? (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा, एम्० एल्० ए०)
१७-आचार और विचार [कहानी] (श्री 'चक्र')
१८-प्रश्नका दान (श्री 'रावी')
१९-विधिका विधान [कविता] (श्रीगौरीशङ्करजी गुप्त)
२०-सार वचन (महात्मा जय गौरीशंकर सीताराम)
२१-भजन करो [कविता] (श्रीनारायण स्वामी)
२२-गोवंशका भीषण हास क्यों ? (श्रीश्रीरामजी शर्मा, सम्पादक—'विशाल 'त'))
२३-राम-नाम-महिमा [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी)
२४-सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन
२५-कामके पत्र
२६-एक खल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर [कविता] (श्रीबालकृष्ण बलदुवा वी० ए०, एल्० एल्० वी०)
२७-सती द्रौपदी (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)
२८-हरिनाम [कविता] (श्रीकवीरदासजी)

चित्र-सूची

तिरंगा

१-खीझे माखन-खवैया
-------------------	-----	-----	-----

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७।।)
विदेशमें १०)
(१५ शिल्लिंग)

जय पावकरवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनन्द भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ७।।)
विदेशमें १०)
(१० पैस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—धनदयाप्रसाद जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद् वर्ष्म तद्वच्छुभं नेत्रे चेतपसोजिते सुरुचिरे गाम्भ्यां हरिर्दृश्यते ।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्वा स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

वर्ष २६ }

गोरखपुर, सौर भाद्रपद २००९, अगस्त १९५२

{ संख्या ८
पूर्ण संख्या ३०९

खीझे माखन-खवैया

खीझित जात माखन खात ।

अरुन लोचन, भौंह टेढ़ी, बार-बार जँभात ॥

कबहुँ रुनझुन चलत घुटुरनि, धूरि धूसर गात ।

कबहुँ झुकिकै अलक खँचत, नैन जल भरि जात ॥

कबहुँ तोतरे बोल बोलत, कबहुँ बोलत तात ।

सूर हरिकी निरखि सोभा, निमिष तजत न मात ॥

—सूरदासजी

कल्याण

याद रखो—साधनके तीन स्वरूप होते हैं—‘अभ्यास’, ‘रुचि’ और ‘रति’। मनमें उत्साह, उल्लास, लगन, तत्परता आदि न होनेपर भी; साधन करते समय चित्तके ऊबने, घबराने या कभी-कभी साधन छोड़नेका मन होनेपर भी लाभकी आशासे जो हठपूर्वक साधन किया जाता है, वह अभ्यासका प्राथमिक रूप है। साधन करते-करते जब अभ्यास बढ़ जाता है, तब उकताहट, घबराहट नहीं होती, साधन अच्छी तरह होने लगता है परंतु उसमें आनन्दोल्लास नहीं होता—वह अभ्यासका मध्यम रूप है और जब वही अभ्यास सुदृढ़ होकर आनन्द देने लगता है, जब उसके लिये मनकी कुछ टान हो जाती है और छोड़नेमें बुरा-सा लगता है, तब उसे उत्तम अभ्यास कहते हैं। इस उत्तम अभ्याससे ही साधनमें ‘रुचि’ उत्पन्न होती है।

याद रखो—‘रुचि’ उत्पन्न होनेपर साधनमें स्वाद आता है, रसकी अनुभूति होती है, मन चाहता है, बराबर साधन चलता रहे और उससे सुन्दर रस मिलता रहे। जैसे भोजनमें रुचि होनेपर भोज्यपदार्थ स्वादिष्ट लगते हैं, उनके खानेको मन चलता है, वैसे ही इसमें साधनपर मन चलता है। पर जैसे पेट भर जानेपर कुछ समयके लिये रुचि मिट जाती है, वैसे ही इस क्षेत्रमें भी साधन करनेमें रसानुभूति होनेपर भी कभी-कभी मन अघाय हुआ-सा दीखता है, और साधनका प्रवाह रुक-सा जाता है। पर इस प्रकार रुचिका साधन करते-करते अन्तमें साधनमें अनुराग पैदा हो जाता है। यह अनुराग ही ‘रति’का रूप धारण करता है।

याद रखो—जब साधनमें ‘रति’ हो जाती है, तब फिर कभी उसके रुकनेका प्रश्न ही नहीं रह जाता। फिर तो जैसे गङ्गाकी धारा सदा-सर्वदा अविच्छिन्न रूपसे समुद्रकी ओर बहती रहती है, वैसे ही साधनकी

धारा अविराम गतिसे चलती है। इसमें विशेषता होती है कि इस रतिके साधनमें नित्य-नवीन आनन्द अनुभूति होती है। कभी किसी भी स्थितिमें निःसंशयता ही नहीं; वरं जितना ही यह साधन बढ़ता उतनी ही साधनकी नयी-नयी लालसा जाग्रत होती है। कोई भी क्षण ऐसा नहीं जाता, जिसमें साधनका तूटता हो। प्रतिक्षण नया-नया रस प्राप्त होनेसे उल्लास और उल्लास बढ़ते रहते हैं। अन्तमें मनपर पूरी तरह साध्यका एकाधिपत्य हो जाता है, या यों कहिये कि समस्त मन साध्यके प्रति सम्पूर्णतया समर्पित होकर उल्लासित बन जाता है। तदनन्तर साध्यकी प्राप्ति हो जाती है।

याद रखो—योगकी भाषामें ‘अभ्यास’ चित्तके ‘विक्षिप्त’ स्थिति है, ‘रुचि’ ‘एकाग्र’ स्थिति है और ‘रति’ ‘निरुद्ध’ स्थिति है। या अभ्यास ‘धारणा’ है, रुचि ‘ध्यान’ है और रति ‘समाधि’ है। ज्ञानकी भाषामें अभ्यास ‘पहली भूमिका’ है, रुचि ‘दूसरी’ और रति ‘तिसरी भूमिका’ है, जिसके अन्तमें वस्तुतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। भक्तिकी भाषामें अभ्यास ‘वैधी भक्ति’ है, रुचि ‘साधनभक्ति’ है और रति ‘प्रेमाभक्ति’ है। भगवान्‌को प्रेमास्पदरूपसे प्राप्त करा देती है।

याद रखो—साधकका जिस मार्गमें विश्वास हो, जिस मार्गमें उसे सुविधा प्रतीत होती हो, निर्देशक जो मार्ग बतलाया हो, उसको उसीपर श्रद्धाके साथ धैर्य धारण करके चलना चाहिये। अभ्यास करते-करते वह अपने-आप ही अभ्यासकी परिपक्वता होनेपर रुचि और ‘रति’के स्तरपर पहुँच जायगा और तब वह अपनेको साध्यके समीप जानकर परम प्रसन्न होगा। परंतु जो साधक क्षण-क्षणमें मार्ग-परिवर्तन को, उसका तो अभ्यास ही सिद्ध होना कठिन हो जायगा। ‘रुचि’ और ‘रति’ की बात तो अलग रही।

‘शिव’

कुछ सार विषयोंपर विचार

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आज 'कल्याण' के पाठकोंकी सेवामें कुछ सार विषयोंपर निवेदन किया जाता है। इनमें पहला विषय है—सत्य। सत्य साक्षात् परमात्माका स्वरूप है। परमात्मा है—इस बातका निश्चय हो जानेपर परमात्माकी प्राप्ति सहज है; क्योंकि परमात्मा हैं, वास्तवमें हैं। परमात्माकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है। भगवान् सत् तथा असत्-का निर्णय करते हुए श्रीगीता (२ । १६) में कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

जो सत् वस्तु होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता है और जो असत् (मिथ्या) होती है, उसका कभी भाव नहीं होता है। ऐसी जो सत् वस्तु है, वह परमात्मा है। परमात्माकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है। इसलिये हमको सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये। सत्यके सेवनमें सत्यभाषण भी है। उस सत्यभाषणसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि परमात्माका स्वरूप सत् है। किंतु सत्य बोलने-वालेको इन बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

प्रथम तो यह समझना चाहिये कि सत्यभाषण किसे कहते हैं। जो बात जैसी सुनी गयी, देखी गयी तथा समझी गयी हो, उससे न अधिक बताना, न कम कहना—जैसी सुनी-समझी हो, वैसे ही समझानेकी नीयतसे कहना—'सत्य' है। दूसरी बात यह है कि सत्यमें चतुरता नहीं होनी चाहिये, कपट नहीं होना चाहिये। सरलताके साथ समझा हुआ भाव ज्यों-का-त्यों समझा देना चाहिये। सत्य होकर जो प्रिय हो वही वास्तवमें सत्य है। * जिस सत्यके उच्चारणसे किसीकी

हिंसा होती हो, वह सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है। सत्य बोलनेवाले पुरुषको थोड़ा बोलना चाहिये। सत्य बोलनेवाले पुरुषको कभी भी भविष्यकी वाणी नहीं बोलनी चाहिये। असलमें तो भविष्यका ऐसा संकल्प भी नहीं करना चाहिये कि 'मुझे यह करना है, वह करना है।' वाणी भी सत्य होनी चाहिये, संकल्प भी सत्य होना चाहिये, क्रिया भी सत्य होनी चाहिये और उसका भाव भी सच्चा होना चाहिये। तभी सत्यकी वास्तविक प्रतिष्ठा होती है।

जो मनुष्य केवल यह समझता है कि 'भगवान् सत्य हैं और वे सब जगह हैं' उसे भगवान् कैसे हैं, यह ज्ञान नहीं है, वह केवल इतना ही जानता है कि भगवान् हैं। परंतु इतना निश्चय होनेपर भी उसके द्वारा कोई भी पाप-क्रिया नहीं हो सकती; क्योंकि वह समझता है कि 'भगवान् हैं और वे सत् हैं तथा सब जगह हैं, मैं जो कुछ भी बोलता हूँ भगवान् सब सुनते हैं; जो कुछ मैं चेष्टा करता हूँ, भगवान् सब देखते हैं।' ऐसी अवस्थामें वह भगवान्‌के विरुद्ध कैसे बोलगा, कैसे कोई काम करेगा। जो भगवान्‌के विरुद्ध चलता है या बोलता है, वह तो वास्तवमें भगवान्‌को मानता ही नहीं। वह झूठ ही कहता है कि मैं भगवान्‌को मानता हूँ। वास्तवमें वह नास्तिक है। जिसको यह विश्वास हो जाता है कि भगवान् नित्य सत्य सर्वव्यापी हैं, उसमें निर्भयता आ जाती है। जब भगवान् सब जगह हैं, तब भय किस बातका ? इस निश्चयसे ही उसमें धीरता, वीरता और गम्भीरता स्वतः ही आ जाती है। इसी निश्चयके कारण आगे चलकर उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। 'भगवान् हैं'—यह निश्चय होनेके बाद 'भगवान् कैसे हैं'

* सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयाच्च ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मो विधीयते ॥

इस बातको स्वयं भगवान् उसे बता देते हैं। इस प्रकार सत्यकी उपासनासे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; किंतु सत्यस्वरूप परमात्माकी उपासना करनेवालेको कभी असत्य नहीं बोलना चाहिये। उसका व्यवहार भी सत्य होना चाहिये तथा उसके हृदयका भाव भी सत्य होना चाहिये। व्यवहार सत्य उसे कहते हैं जिसकी क्रियामें तथा जिसके वर्तावमें छल, कपट, दगा, बेईमानी, ठगी आदि कोई भी दुर्भाव न हो, वर्तावमें और आचरणमें शुद्ध नीयत हो और दूसरेकी स्त्रीको, दूसरेके धनको जो धूलके समान त्याज्य समझता हो। जो ऐसा है, उसीका भाव शुद्ध है। हृदयके ऐसे शुद्धभावको ही सद्भाव कहते हैं। इसीको सद्गुण भी कहते हैं—

श्रीमद्भगवद्गीतामें इसीको प्रकारान्तरसे मानसिक तप बताया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

(१७ । १६)

‘मनःप्रसादः’ यानी मनकी प्रसन्नता, ‘सौम्यत्वम्’ यानी मनका सौम्यभाव—जैसे चन्द्रमाका स्वरूप सौम्य है, ऐसे ही हृदयका सौम्यस्वरूप हो, उसे सौम्यभाव कहते हैं। ‘मौनम्’—मनके द्वारा नित्य भगवान्के स्वरूपका मनन, ‘आत्मविनिग्रहः’—यानी मनका निग्रह, मनको अपने नियन्त्रणमें रखना और ‘भावसंशुद्धिः’—यानी भावोंकी शुद्धता, अन्तःकरणके भावोंकी पवित्रता—भलीभाँति पवित्रता—इसे ‘मानसिक तप’ कहते हैं। ये सब सद्भाव हैं। इस प्रकार मनका भाव भी सत् ही होना चाहिये और क्रिया भी सत् ही होनी चाहिये। उत्तम आचरणोंको सदाचार कहते हैं अथवा सत् पुरुषोंके आचरणोंको सदाचार कहते हैं। कोई मनुष्य बुरा आचरण करता है तो हम कहते हैं उसके कर्म ‘असत्’ हैं। अतएव मनुष्यके आचरणोंमें, हृदयके भावोंमें

और वाणीमें भी सत्यता होनी चाहिये। इस तरह सत् वचन कर्मके पवित्र होनेपर उसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है। यह सत्का संक्षेपमें वर्णन हुआ।

अब श्रद्धाके विषयमें विचार करें। ईश्वर, महात्मा और श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रोंके वचनोंमें जो प्रत्यक्ष भी बढ़कर विश्वास है, उसका नाम ‘परम श्रद्धा’ है। जो कुछ हमारी जानकारीमें आता है, उसे तो हम मान ही हैं; परंतु जो हमारे ज्ञानमें नहीं है, उसके सम्बन्धमें उपर्युक्त प्रकारके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर जो श्रद्धा है, उसको ‘परम श्रद्धा’ कहते हैं। जैसे भगवान् साधारणके देखनेमें नहीं आते, पर शास्त्रोंपर महात्माओंपर विश्वास करके जो ऐसा दृढरूपसे स्मरण लेना ‘निश्चय ही परमात्मा है’—यह परम श्रद्धा एक स्वरूप है। सत्यवादी महात्मा पुरुष किसी मकानको सोनेका कह दें और श्रद्धालु पुरुषको उस क्षण वह मकान सोनेका ही दीखने लगे—यह परम श्रद्धा है। श्रद्धाका यह भाव बड़ा अद्भुत है; क्योंकि वह मकान उसीकी जानकारी तथा देख-रेखमें चूना, मिट्टी, पत्थर और ईंटोंसे बना हुआ है; पर जब संतों मुखसे निकल गया कि ‘यह सोनेका है’, तब तत्काल वह सोनेका ही दीखने लग गया। यह सर्वोत्तम श्रद्धा है।

इससे निम्न श्रेणीकी श्रद्धामें मकान तो चूनेका ही दीखता है; किंतु उसके विश्वासमें वह सोनेका होता है। अर्थात् वह समझता है कि ऊपरसे वह चूनेका ही दीखता है; परंतु भीतरसे सोनेका अवश्य हो गया। इस प्रकार चूनेका मकान दीखते हुए भी उसे चूनेका ही समझता है। इससे और नीचे दर्जेकी श्रद्धामें वह कहता है कि ‘यदि महात्मा कह देते कि मकान सोनेका बन जायगा तो वह सोनेका बन जाता, किंतु इनके मुखसे जिस वक्त यह बात निकली उस वक्त यह मकान चूनेका ही था। अतः अब मैं चूनेका ही है। हाँ! विश्वास अवश्य है कि यदि

महात्मा कह दें कि यह सोनेका बन जायगा तो सोनेका बन सकता है। यह तृतीय श्रेणीकी श्रद्धा है। इससे भी नीची चौथे दर्जेकी श्रद्धा वह है जिसमें वह समझता है कि जो बात सम्भव है, वह तो महात्माके कहनेसे असंभव हो सकती है, पर यदि वे असम्भव बात कह दें तो वह नहीं हो सकती; जैसे महात्मा कहें कि सूर्य ठंडा हो जायगा तो उनके कहनेसे वह ठंडा नहीं हो सकता। किंतु जो बात होनेवाली है वह हो सकती है। जैसे किसीको लड़का या लड़की होनेवाली है, महात्मा कह दें कि यह होगा—तो वह बात हो सकती है; परंतु वे कह दें कि उसके पत्थर पैदा होगा तो यह असंभव है। ऐसा नहीं हो सकता।

परंतु श्रद्धालु पुरुषके लिये सब सम्भव है। जैसे यादव बालकोंने साम्बको गर्भवती स्त्री सजाया और उसे मुनियोंके पास उनकी परीक्षाके लिये ले जाकर पूछा कि 'इसके क्या होगा?' मुनियोंने कह दिया कि 'इसके मूसल होगा।' तो वह मूसल ही निकल। मुनियोंने यादव बालकोंका कपट जान लिया। जानकर उन्होंने 'असम्भव'—सी बात कह दी, पर वह सत्य हो गयी। साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि 'इस मूसलसे तुम्हारे कुलका नाश होगा' तो उससे उनका नाश ही हो गया।

अतएव जो पुरुष वास्तवमें परम श्रद्धालु है और जिसे संत-महात्माकी बातपर अचल विश्वास है, उसका तो यह निश्चय है कि महात्मा यदि असंभव बात भी कह दें तो वह सम्भव हो सकती है और उनके कहनेसे सम्भव भी असंभव हो सकती है। इसी प्रकार लक्ष्मणके पुरुषोंका संकल्प भी ऐसा ही होता है। लक्ष्मणके पुरुष न तो भविष्यकी बात ही निश्चितरूपसे कहते हैं और न निश्चितरूपसे भविष्यका संकल्प ही करते हैं। जो कुछ हो रहा है, वे उसीमें मस्त हैं। एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, क्या होगा, इसकी वे न तो

जाननेकी इच्छा ही करते हैं, न जाननेकी आवश्यकता ही समझते हैं और न इस बातको अच्छा ही समझते हैं। ऐसे पुरुष ही सत्य-संकल्प होते हैं। जो लोग वृथा संकल्प करते रहते हैं, उनके संकल्प सत् नहीं होते। संकल्पके विषयमें एक रहस्यकी बात यह है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहते हैं, उनको भविष्यका कोई भी संकल्प नहीं करना चाहिये। भावी संकल्प भावी जन्मका कारण होता है। आपके मनमें यह संकल्प हुआ कि मैं कल कलकत्ते जाऊँगा और किसी कारणसे आज आपकी मृत्यु हो गयी तो फिर आपको उस संकल्पके कारण दूसरा जन्म लेकर कलकत्ते जाना पड़ेगा। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको यही समझना चाहिये कि मुझको कुछ भी नहीं करना है। और जो कुछ हो रहा है उसे देखते रहना चाहिये। एक क्षणके बाद मुझे यह काम करना है, यह संकल्प भी नहीं करना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'ऐसा संकल्प न करनेसे कार्य कैसे होगा? भोजन करना है, नीचेसे ऊपर जाना है, ऊपरसे नीचे उतरना है, इसके लिये तो पहले मनमें संकल्प होगा, तभी उसके अनुसार क्रिया होगी।' यह कहना ठीक है। पर इस विषयमें विकल्प-सहित ही संकल्प करना चाहिये। विकल्पसहितका अभिप्राय यह है कि जैसे ऊपर जानेकी आवश्यकता है, यह ठीक है पर ऊपर जाना बन जाय तो बन जाय, न बने तो न बने। भोजन करनेका समय हो गया तो भोजनके लिये वहाँसे चल दिये। भोजन मिल गया तो खा लिया, नहीं तो नहीं। कोई संकल्प नहीं। एक लक्ष्यको रखकर चल रहा है, साथमें उस संकल्पके साथ यह विकल्प है—हो जाय तो अच्छी बात है, न हो तो अच्छी बात है। अमुक काम करनेका विचार है। कोई निश्चय नहीं। जो कुछ बन जाय, वही सत्य है। किसीने पूछा कि 'अब आपको क्या करना है?' तो भीतरसे

यह आवाज आनी चाहिये कि 'कुछ भी करना नहीं है।' जैसे महात्मा—कृतकृत्य पुरुषको तो कुछ करना शेष रहता ही नहीं, वैसे ही साधक पुरुषको भी अपने हृदयमें यह भाव रखना चाहिये कि मुझे कुछ करना नहीं है। वर्तमानमें जो भजन-ध्यान हो रहा है, वह वर्तमान क्रिया ही हो रही है। भविष्यके लिये नहीं। वर्तमान क्रियामें जो साधन चल रहा है, उसके विषयमें उसकी यही समझ है कि ऐसी अवस्थामें प्राण चले जायँ तो कोई हर्ज नहीं है। भविष्यमें तो मेरे लिये कुछ करना शेष नहीं है। जो कुछ हो रहा है परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। जो भी हो रहा है सब ठीक हो रहा है। मेरे द्वारा जो कुछ हो रहा है वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। परेच्छा, अनिच्छासे जो कुछ हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। मुझको तो कुछ करना है ही नहीं। मेरे द्वारा जो कुछ भी परमात्मा करवा रहे हैं, वह मेरे लिये मङ्गलकी बात है। उनकी जैसी इच्छा हो, करवावें। मुझे तो कुछ भी करना है नहीं। मनमें ऐसा निश्चय रखे कि जो कुछ हो रहा है, सब स्वाभाविक ही हो रहा है। परमात्मा करवा रहे हैं। उनकी मुझपर दया है। इस प्रकारसे निश्चिन्त होकर रहे। जैसे कोई मनुष्य टिकट खरीदकर गठरी-मोटरी लिये तैयार है और ट्रेनकी वाट देख रहा है, इसी प्रकारसे मनुष्यको समस्त कार्योंसे निपटकर मृत्युकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। यह बहुत ही उत्तम भाव है। महात्मा पुरुषका जो स्वाभाविक भाव है, साधकके लिये वही साधन है। इस प्रकार परमात्माको आत्म-समर्पण करके यह निश्चय रखे कि परमात्मा मेरे द्वारा जो करवा रहे हैं सो ठीक करवा रहे हैं, जो कुछ अनिच्छा-परेच्छासे हो रहा है, ठीक हो रहा है। ऐसा भाव रखे कि भगवान्‌का जो विधान है, वह वास्तवमें न्याय है और मेरे लिये मङ्गलकारक है। साधकका यह भाव उच्चकोटिका है।

अनिच्छासे जैसे किसीका लड़का मर गया, शरीरमें रोग हो गया, घरमें आग लग गयी तो आनन्दकी बात है। इसके विपरीत लड़का पैदा गया, घरमें लाख रुपये आ गये या शरीर आरोग्य हो गया—तब भी वही बात है। चाहे कोई मान करे अपमान करे। निन्दा करे या स्तुति करे—तब भी तनिक भी अन्तर नहीं। जैसी निन्दा वैसी ही स्तुति, जैसा मान, वैसा ही अपमान; जैसा मित्र, वैसा ही शत्रु और जैसा सुख वैसा ही दुःख। इस प्रकार जिनका सर्वत्र समभाव है, वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं। ऐसे महात्माके जो लक्षण शास्त्रोंमें बताये गये हैं, उनको लक्ष्य बनाकर जो अभ्यास करता है, वह शीघ्र महात्मा बन जाता है। बड़ी मूल्यवान् वस्तु है। महात्मामें तो यह स्वाभाविक है। साधकके लिये आदर्श साधन है। जो साधन मानकर इस प्रकार अभ्यास करता है, वह आगे चलकर शीघ्र ही महात्मा बन जाता है। किन्तु आदर्शाने गांली दी तो आनन्द, प्रशंसा की तो आनन्द, उनमें किञ्चित् भी भेद न समझे। यों समझे कि निन्दा-स्तुति दोनों ही वाणीका विषय है—आकाशकी गुण है, शब्दमात्र है। इसमें भला और बुरा क्या है? निन्दा और स्तुति होती है नामकी। मैं नामसे रहित हूँ। मान-अपमान होता है रूपका—देहका, मैं इस रूप या देहसे सर्वथा पृथक्—रहित हूँ। न मेरा मान है, न मेरा अपमान है; न मेरी निन्दा, न मेरी स्तुति, इनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारका ज्ञान आत्माका कल्याण करनेवाला है।

अब प्रेमके सम्बन्धमें विचार करें। प्रेम—किन्तु भी साथ क्यों न हो, उस प्रेमका वास्तवमें उद्धार होना चाहिये—'भगवान्‌की प्रसन्नता'। प्रेम किन्तु होना चाहिये। उसमें कोई कामना नहीं होनी चाहिये। निष्काम प्रेम आत्माका उद्धार करनेवाला है।

संख्या ८]

प्रेम किसीके भी प्रति हो और सकाम प्रेम भगवान्‌के प्रति हो तो इनमें निष्काम प्रेमकी महत्ता अधिक है। यह निष्काम प्रेम भगवान्‌के साथ हो, तब तो कहना ही क्या है? भाव यही रखना चाहिये कि मैं भगवान्‌की प्राप्तिके लिये—भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही प्रेम करता हूँ। यह भाव भी निष्कामके ही समान है। कोई यदि भगवान्‌की प्राप्तिके लिये या भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये प्रेम नहीं करता, केवल अपना कर्तव्य समझकर ही सबसे निष्काम-भावसे प्रेम करता है, तो उसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है। अतः हमें निष्काम-भावसे प्रेम करना चाहिये। यह बहुत ही मूल्यवान्‌ वस्तु है। किसीसे भी परस्परमें जहाँ उच्चकोटिका प्रेम होता है, वहाँ लज्जा, मान, भय, आदर आदि नहीं रहते। यदि प्रेमीके साथ व्यवहारमें लज्जा, मान, भय या आदर है तो समझना चाहिये कि वह प्रेम उच्चकोटिका नहीं है। वैसा उच्चकोटिका प्रेम भगवान्‌के प्रति हो तो फिर बात ही क्या है? भगवान्‌की प्राप्ति केवल प्रेमसे हो सकती है, केवल श्रद्धासे हो सकती है, केवल विशुद्ध भावसे हो सकती है, केवल सत्यके आचरणसे हो सकती है और केवल परोपकारसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है; किंतु वह परोपकार होना चाहिये निष्कामभावसे। एक पुरुष रुपयोंकी परवा न करके या उन रुपयोंसे सिद्ध होनेवाले स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका उपकार करता है, दूसरोंकी सेवा करता है। उसमें रुपयोंका त्याग है, शरीरके आरामका भी त्याग है; किंतु उसमें सकाम-भावका त्याग नहीं है। इसलिये केवल आराम तथा रुपयोंका त्याग ही उच्चकोटिका नहीं है।

शरीरका आराम नहीं चाहा, पर मनमें यह उद्देश्य रहा कि इससे मेरी प्रतिष्ठा हो, मान हो, बड़ाई हो, सम्मान हो तो उसका भी वह परोपकार सकाम ही है। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा नहीं है; परंतु स्वार्थकी

कामना है तो वह कर्म भी सकाम ही है। हाँ, यदि मुक्तिकी इच्छा है तो इतनी आपत्ति नहीं; क्योंकि उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर मुक्तिकी प्राप्ति होती है। यह कामना निष्कामके तुल्य ही है, पर यह भी पूर्ण निष्काम नहीं है; क्योंकि मुक्तिकी जो कामना रहती है, वह भी कभी-कभी बाधा पहुँचा देती है। उदाहरणके लिये मान लीजिये कि कोई भाई मुझसे मुक्तिके लिये प्रेम करते हैं, आगे चलकर उन्हें यदि मादृम हो जाय कि मेरी सेवासे उनकी मुक्ति नहीं हो सकती तो वे मेरी सेवा करना छोड़ देंगे। इससे सिद्ध है, मुक्तिकी इच्छा बाधक हुई। मुक्तिकी भी इच्छा न होती तो मेरा उनका परस्परका प्रेम कभी कम न होता। इसीसे महात्मा लोग किसी भाईसे प्रेम करते हैं तो निष्काम-भावसे करते हैं। इसीलिये उनकी ओरसे प्रेम कभी कम नहीं होता। वह भाई ही जब उनमें प्रेम कम कर देता है, तब उसका प्रेम कम हो जाता है। महात्मा लोग निष्कामभावसे लोगोंका उपकार करते हैं। इसी प्रकारसे हमें भी निष्कामभावसे ही दूसरोंका उपकार करना चाहिये, लोगोंकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये। भगवान्‌ निष्कामभावसे ही सेवा करते हैं, उनके मनमें कोई कामना थोड़े ही है? संसारका उद्धार करना उनका स्वभाव ही है। इसी प्रकार महात्मा लोगोंका स्वभाव ही है कि वे लोगोंका अहैतुक हित करते रहते हैं। उनमें अपना कोई स्वार्थ नहीं है।

न तो ऐसे पुरुषोंको कुछ करनेसे प्रयोजन है और न कुछ न करनेसे। समस्त भूत-प्राणियोंमें उनका अपना किसीमें किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं है। उनके द्वारा समस्त कर्म सहज लोकहितार्थ ही होते हैं। यह बात भगवान्‌ने गीता अध्याय ३ श्लोक १८ में* बतलायी है। ये महात्माओंके लक्षण हैं। इसीको लक्ष्यमें रखकर उनका अनुकरण करना चाहिये। इस

* नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।

न लस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

प्रकार जानकर जो साधक साधन करता है, उसका अन्तःकरण बहुत शीघ्र पवित्र हो जाता है।

जो निष्काम-भावसे सेवा करता है और यह समझता है कि मैं अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ, भगवान् तो सब जानते ही हैं, इसका परिणाम हमारे लिये शुभ ही होगा। इसमें भी सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर कामना ही सिद्ध होती है। अतः ऐसी

कामना भी नहीं रखनी चाहिये। फलकी ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिये। यह समझना चाहिये कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' मुझे कर्म करनेका ही अधिकार है, फलका कभी नहीं। जो अनधिकार चेष्टा करना है, वह भी भूल ही है। उपर्युक्त विवेचनके अनुसार साधन करनेसे ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

ईश्वर और धर्म मानवकी माँग है

(एक महात्माका प्रसाद)

जिसने साधन और साध्यको स्वीकार किया एवं जिसने अधिकार और कर्तव्यको मान लिया, उसने धर्म और ईश्वरको मान ही लिया; कारण कि प्रत्येक प्राणी अनेक प्रकारके अभावोंसे आकुल है। जिससे अभावोंका अभाव होता है, वही ईश्वर है। ऐसा कोई मानव नहीं, जिसे अपना अधिकार और दूसरोंका कर्तव्य प्रिय न हो। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिससे अपना अधिकार सुरक्षित रहे, वह विधान सभीको मान्य है। राष्ट्र प्रजासे, प्रजा राष्ट्रसे, समासद् संस्थासे और संस्था समासद्से, मजदूर महाजनसे, महाजन मजदूरसे, व्यक्ति समाजसे और समाज व्यक्तिसे, विद्यार्थी विद्वान्से और विद्वान् विद्यार्थीसे एवं प्रत्येक सम्बन्धी परस्परमें एक दूसरेसे अपने-अपने अधिकारोंकी रक्षा तथा पूर्तिकी आशा करता है। यह सभीका अनुभव है।

'स्व' अनुभवका आदर न करना अपना अनादर है जो किसीको भी प्रिय नहीं। जिसे अपनी स्वाभाविक अभिलाषाका ज्ञान है, उसे भगवान्के स्वरूपका ज्ञान है; कारण कि स्वाभाविक अभिलाषा उसीकी होती है जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता हो और मानी हुई भिन्नता हो। जिससे जातीय एकता है, उससे देश-कालकी दूरी नहीं है। जिससे देश-कालकी दूरी

नहीं है उसे वर्तमानमें ही प्राप्त कर सकते हैं। जिसे वर्तमानमें प्राप्त कर सकते हैं, वही भगवान् तथा तत्त्ववेत्ताओंका निज-स्वरूप है। उसे मानना एवं उसका अनुभव न करना प्रमाद तथा असावधानीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जिस प्रकार विज्ञान विज्ञानवेत्ताकी खोज उपज नहीं, उसी प्रकार धर्म धर्माचार्यकी खोज उपज नहीं। अन्वेषण उसीका हो सकता है, विद्यमान है। अतएव धर्म विद्यमान विधान किसीकी कल्पना नहीं। उस अपौरुषेय प्राकृतिक विधान के अनुरूप जीवन बना लेनेपर प्राणी किसीका ऋणी रहता और उसकी प्रसन्नता किसी अन्यपर निर्भर रहती। उसकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें दूसरोंका हित प्रसन्नता निहित है। उसकी उन सभी प्रवृत्तियों अन्त हो जाता है जिससे किसीका अहित हो। अतएव कहो कि उसके द्वारा किसीके अधिकारका अपहरण होता अर्थात् उसका जीवन सर्वप्रिय बन जाता है। धर्म जीवन है और जीवन धर्म है। धर्म अस्वाभाविक जीवनका विभाजन करना भूल है। धर्म अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति एवं स्वाभाविक अभिलाषाकी पूर्ति समर्थ है, जो मानवका मुख्य उद्देश्य है। कारण कि

अस्वाभाविक इच्छाओंकी उत्पत्ति एकमात्र देहाभिमानसे होती है, जो परतन्त्रताका मूल है। प्रत्येक प्राणी स्वाभाविक ही परतन्त्रतासे मुक्त होनेके लिये इच्छुक है। अतः अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति करना अनिवार्य हो जाता है। जिस प्रकार काष्ठका भाग समाप्त होते ही प्रज्वलित अग्नि अपने-आप शान्त हो जाती है, उसी प्रकार अस्वाभाविक इच्छाओंके निवृत्त होते ही स्वाभाविक अभिलाषाकी पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर किसी प्रकारकी परतन्त्रता शेष नहीं रहती।

वास्तविक जीवन शरीर और वस्तुओंसे परे है। यह प्रकाश हमें आस्तिकवादसे ही मिलता है। अतः देहाभिमानका अन्त करनेके लिये ईश्वरवाद एवं अध्यात्मवादको अपना लेना अनिवार्य है। इस दृष्टिसे धर्म साधन हुआ और ईश्वर साध्य। अथवा यों कहो कि धर्म कर्तव्य हुआ और ईश्वर लक्ष्य। जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशका आश्रय लेकर ही सूर्यका बोध होता है, उसी प्रकार अपौरुषेय प्राकृतिक विधान अर्थात् धर्माचरणसे ही भगवत्-प्राप्ति होती है।

धर्म और ईश्वरके न माननेसे धर्म और ईश्वरकी कोई शक्ति नहीं होती; कारण कि 'है' का अभाव नहीं हो सकता। प्रत्युत जो प्राणी धर्म और ईश्वरको नहीं मानते, उन्हींका विनाश होता है। कर्तव्य तथा लक्ष्य-युक्त जीवन ही मानवजीवन है। अतः मानवको मानव होनेके लिये धर्म और ईश्वरकी परम आवश्यकता है। धर्माचरणमें परतन्त्रता नहीं है; क्योंकि धर्म हमें अधिकार-रहित होकर प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगके लिये प्रेरित करता है। यह नियम है कि मिले हुए वस्तुका सदुपयोग करनेपर आवश्यक शक्तिकी उपलब्धि हो जाती है। सभी निर्वलताओंका जन्म प्राप्त वस्तुके दुरुपयोगसे ही होता है। इस कारण धर्मने हमें यही सिखाया है कि वस्तुका दुरुपयोग न करें। यह

भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि धर्माचरणके बिना न तो किसीको वस्तुकी प्राप्ति ही होती है और न वस्तुके सदुपयोगकी योग्यता।

यद्यपि वल सभीको प्रिय है किंतु उसका सदुपयोग कोई बिले ही कर पाते हैं। वस्तुके सदुपयोगमें वे ही समर्थ होते हैं, जो कर्तव्य (धर्म) को साधन और भगवत्-प्राप्तिको साध्य मानते हैं। धर्माचरणकी आवश्यकता तो नास्तिकोंको भी होती है, क्योंकि उसके बिना उत्कृष्ट भोगोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अन्तर केवल इतना है कि नास्तिकके विकासकी जहाँ पराकाष्ठा है, वहाँसे आस्तिकको साधनाका आरम्भ है। आस्तिक शरीर आदि किसी भी वस्तुको अपना नहीं मानता। उसकी दृष्टिमें सृष्टि नहीं रहती। उसे तो सर्वत्र अपने प्रेमास्पदकी लीला ही भासती है। उसकी प्रत्येक चेष्टा स्वभावतः प्रेमपात्रके प्रसन्नतार्थ ही होती है; कारण कि प्रेमपात्रका प्रेम ही आस्तिकका जीवन है। प्रेममें देना होता है, लेना नहीं। अतः आस्तिक अपना सब कुछ देकर ही अपने प्रीतमको पाता है। किंतु नास्तिक बेचारा सब कुछ नहीं दे पाता। उसका 'अहम्' और 'मम' किसी-न-किसी रूपमें बना ही रहता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह अधिक देकर थोड़ा लेता है। यह भी उस नास्तिककी बात है, जो कर्तव्यनिष्ठ हो अर्थात् धर्मपरायण हो। नास्तिककी प्रत्येक चेष्टा शरीर तथा विश्वके नाते होती है और आस्तिककी प्रत्येक चेष्टा भगवत्के नाते होती है। नास्तिक अनित्य संसारको ही जीवन मानता है, किंतु आस्तिक वर्तमान परिवर्तन-शील जीवनको नित्य-जीवनका केवल साधन मानता है, जीवन नहीं। नास्तिकका जो सर्वस्व है, आस्तिककी वह साधन-सामग्री है। यह नियम है कि जिसमें जीवन-बुद्धि हो जाती है, उससे आसक्ति होना स्वाभाविक है। अतः नास्तिक बेचारा शरीर आदि वस्तुओंकी आसक्तिमें आवद्ध हो जाता है, जो दुःखका मूल है।

भौतिक-विज्ञान बल है और धर्म-विज्ञान विवेक है । बलके सदुपयोगके लिये विवेकका प्रकाश अनिवार्य है; कारण कि विवेकके बिना बलका सदुपयोग सम्भव नहीं है । गहराईसे देखिये—जिस बेचारे विज्ञानवेत्ताने अणुबम बनाया, वह उसका सदुपयोग न कर सका । इतना ही नहीं, उसे अपनेको पूँजीवादियोंके हाथ बेचना पड़ा और उसके विज्ञान-बलसे लाखों निर्बलोंकी हत्या हुई, जो किसी भी विवेकी तथा हृदयशीलकी दृष्टिमें वाञ्छनीय तथा आदरणीय नहीं है । अविवेक अर्थात् धर्म-विज्ञान तथा आस्तिकवादको न जानने तथा न माननेके कारण विभिन्न प्रकारके वैज्ञानिक आविष्कारों, कलाओं तथा दूषित साहित्यके द्वारा जिस समारोहके साथ चरित्रहीनता तथा बेईमानी एवं उच्छृङ्खलता बढ़ रही है, वह किसीसे छिपी नहीं है । सिक्केके महत्त्वनें तो हमें पागल ही बना दिया है । उसके लिये तो हम शिक्षित होते हुए भी, सब कुछ जानते हुए भी, निज ज्ञानका अनादर करते हुए ऐसा अवाञ्छनीय कार्य करने लगते हैं, जिससे लोक-परलोक बिगड़ जाते हैं अर्थात् अपना तथा समाजका अहित ही होता है ।

जिस प्रकार समझके दूषित हो जानेसे मन अशुद्ध हो जाता है और मनके अशुद्ध होनेसे इन्द्रियाँ उच्छृङ्खल हो जाती हैं, उसी प्रकार शिक्षित व्यक्तियोंके बिगड़ जानेसे राष्ट्र बिगड़ जाता है और राष्ट्रके बिगड़ जानेसे प्रजा बिगड़ जाती है । जबतक समझ शुद्ध नहीं होती अर्थात् विवेकयुक्त नहीं होती, तबतक मन पवित्र नहीं

होता और मनकी पवित्रताके बिना जितेन्द्रियता संयम-सदाचारकी प्राप्ति नहीं होती । उसी प्रकार जबतक शिक्षित व्यक्ति वीतराग नहीं होते, तबतक राष्ट्रका सुधार नहीं हो सकता और राष्ट्रके सुधारके बिना प्रजामें सदाचारकी वृद्धि नहीं होती ।

जिस देश, जाति तथा समाजमें वीतराग पुरुष होते, उसका विकास नहीं होता । वीतराग होनेके लिये शरीर तथा वस्तुओंसे अतीतके जीवनपर तथा अनुभव करना अनिवार्य है, जो प्राप्त करनेके प्रकाशमें अपने बनाये हुए दोषोंका अन्त करनेके सुगमतापूर्वक हो सकता है । अपने बनाये हुए दोषोंका अन्त वही कर सकता है जिसका शरीर श्रमी तथा संयमी हो और जिसका मन वैरागी तथा हृदय अशुद्ध हो और जिसकी समझ विवेकवती तथा अभिमानरहित हो । श्रमसे दरिद्रता, संयमसे निर्बलता जाती है । वैराग्यसे योग और अनुरागसे भगवत्-प्राप्ति होती है । एवं अभिमानरहित होते ही तत्त्वज्ञान हो जाता है । अपने बनाये हुए दोषोंका अन्त करते ही वर्तमानमें मुक्ति तथा भक्ति प्राप्त होती है, जो मानव-जीवनकी पूर्णता है । प्राणी प्राप्त परिस्थितिके परिवर्तनमें भले परतन्त्र हो; किंतु उसके सदुपयोगमें सर्वदा स्वतन्त्र धर्म-विज्ञान तथा आस्तिकवादने हमें यही सिखाया है कि वर्तमानका सुधार ही उन्नतिका मूल है । तभी हो सकता है जब हम सेवा करनेके लिये अपना अपना मानें और अपने लिये केवल परम प्रभुको ही अपना मानें, जो आस्तिकका जीवन है ।

अमृत और मृत्यु

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् । मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥

(महा० शान्ति० २७६ । २१)

अमृत और मृत्यु दोनों ही देहमें प्रतिष्ठित हैं । मोहसे मृत्यु और सत्यसे अमृतकी प्राप्ति होती है ।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५७)

लीलामयकी इच्छा ! ब्रजराजकुमारका अयाचित कृपादान ! अकस्मात् स्रष्टाका मन श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें ब्रजरानीके विश्वदर्शनकी घटनासे जा जुड़ता है । वे करामलकवत् देखने लगते हैं इसे । तथा फिर इस भावनासे भावित होकर अपने स्तनमें इसका भी उद्घरण दे बैठते हैं—‘हे मायाधमन ! अपने प्रपन्नजनोंके मायाबन्धनको हर लेनेवाले प्रभो ! इस अवतारमें ही, अपने ब्रजराजनन्दन-स्वरूपकी लीला विस्तार करते हुए तुमने जिस अचिन्त्य मायावैभवका प्रकाश किया है, वह कितना रहस्यमय है ! ब्रजराजमहिषी तुम्हारे मुखविवरका निरीक्षण कर रही थीं । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डभाण्डोदर होकर भी तुमने बाल्यलीलाके आवेशमें मिट्टी जो खा ली थी । गोपशिशुओंका वह आरोप सत्य है या मिथ्या—इसका तथ्य पा लेनेके लिये वात्सल्यमयी जननीने तुम्हारे मुखके अन्तर्भागकी ओर देखा था और फिर उन्हें जो कुछ दीखा था, वह कितना अद्भुत है नाथ ! सबके लिये प्रत्यक्ष सिद्ध, इस परिदृश्यमान सम्पूर्ण जगत्को ही तुमने अपने उदरमें अवस्थित दर्शन कराया था जननीको । उस समय तुम्हारा मायावैभव कितने विशद रूपमें व्यक्त हुआ था नाथ ! ओह ! देखो सही, तुम्हारे उदरके भीतर भी यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है, इतना ही नहीं, तुम भी वहाँ विराजित हो रहे हो; और फिर यहाँ—उदरके बाहर भी—वैसे-के-वैसे समस्त प्रपञ्च स्फुरित हो रहा है; तुम भी अवस्थित हो रहे हो ! ब्रजराजमहिषीने स्पष्ट देखा—तुम्हारे उदरके अन्तरालमें चर-अचर सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है, कालिन्दी प्रवाहित हो रही है, ब्रजपुर है, ब्रज-गो-गोप-गोपिकाएँ हैं, ब्रजेन्द्रप्रासाद है, उद्यान है, उनके नीलसुन्दर तुम हो, वे तुम्हारा मुखविवर देख रही हैं ! ओह, अनन्त

ब्रह्माण्ड हैं, एक-से अनन्त ब्रजपुर हैं, एक-से अनन्त उद्यान हैं, एक-से अनन्त उनके नीलसुन्दर तुम हो, एक-सी अनन्त यशोदाएँ अपने नीलसुन्दरका मुखविवर देख रही हैं, मुखमें मृत्तिकाकण ढूँढ़ रही हैं ! तथा ठीक भीतरकी भाँति ही तुम्हारे उदरके बाहर भी वैसा ही जगत् प्रकाशित है, उसमें भी तुम हो ही, जननी यशोदा भी वैसे ही मिट्टीका चिह्न तुम्हारे मुखमें खोज ही रही हैं—भला, यह रहस्यमयी घटना तुम्हारी अचिन्त्य महाशक्तिके वैभवके अतिरिक्त और है ही क्या स्वामिन् !’—

अत्रैव

मायाधमनावतारे

ह्यस्य प्रपञ्चस्य वहिः स्फुटस्य ।

कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या

मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥

यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्तमं भाति यथा तथा ।

तत्त्वव्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । १६-१७)

अह अब हीं याही अवतार । हो ईश्वर ब्रजराजकुमार ॥ जननी कौ माया दिखलाई । चकित भई अति बिस्मय पाई ॥ बिस्व चराचर है यह जितौ । बाहिर प्रगट देखियै तितौ ॥ सो तुम जठर मध्य दिखरायौ । तहँ इक कौतुक और बतायौ ॥ तामैं तुम देखे इहि भाइ । साँट लिये डाँटति जसु माइ ॥ बिब मध्य प्रतिबिब तौ होइ । जाकौं कहैं-चहैं सब कोइ ॥ प्रतिबिब में बिब दिखरावै । माया बिन यह क्यों बनि आवै ॥

‘और आज अभी-अभी मुझे भी जो तुमने अपनी अपरिसीम महाशक्तिके वैभवका दर्शन कराया है, वह कितना आश्चर्यमय है स्वामिन् !’—पितामहके स्मृति-पथमें ब्रजरानीके विश्वदर्शनकी चर्चाने सजातीय स्फुरणाएँ जाग्रत् कर दीं और वे उन्हें भी व्यक्त किये बिना रह नहीं सके—‘इस अद्भुत दर्शनके द्वारा प्रभो ! तुमने यह भी दिखला दिया कि यहाँ तुम्हारे अतिरिक्त प्रपञ्च-

की भिन्नतया जो प्रतीति है, वह मायाकी क्रीड़ा है । नाथ ! जिस समय गोपशिशु एवं गोवत्सोंको मायामुग्ध करके, उन्हें स्थानान्तरित कर मैंने तुम्हारी ओर क्षण-भरके लिये दृष्टि डाली तो देखा कि तुम एकाकी ब्रजराजनन्दनके रूपमें, मुग्धशिशुकी भाँति उस अरण्यमें विराजित हो; अन्य कोई नहीं है तुम्हारे पास । इसके अनन्तर ब्रह्मलोक जाकर अनुतापभरे चित्तसे लौट आनेपर देखता हूँ कि मेरे द्वारा स्थानान्तरित किये हुए उन समस्त गोपशिशु एवं गोशावकोंके रूपमें—और तो क्या, उनके वेणु, विषाण आदिके रूपमें भी तुम्हीं अपने आपको प्रकट कर क्रीड़ा कर रहे हो । और तब फिर दृश्य बदला, देखते-देखते ही गोपशिशु, गोवत्स आदि सब-के-सब चतुर्भुज ब्रह्माण्डाधिपतिके रूपमें परिणत हो गये, और उस समय आब्रह्मस्तम्भ पर्यन्त अखिल चराचर जीवसमूह अपने अधिष्ठात्री देवताके रूपमें मूर्तिमान् होकर उन चतुर्भुज प्रभुओंकी उपासनामें संलग्न था । तथा जितनी चतुर्भुज मूर्तियोंके दर्शन हो रहे थे, उतने-के-उतने—असंख्य ब्रह्माण्ड भी दीख रहे थे । तुमने ही अपने-आपको उन-उन रूपोंमें प्रकाशित किया था । और इसके पश्चात् अब तुम्हीं अद्वय, अपरिच्छिन्न नराकृति परब्रह्मरूपसे शेष रह गये हो । इस प्रकार अपने इस चिद्विलासका दर्शन कराकर तुमने स्पष्ट कर दिया कि यहाँ तुमसे भिन्न जगत्की कोई सत्ता नहीं है; सब कुछ तुम-ही-तुम हो नाथ !

अद्यैव त्वद्वदेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो ब्रजसुहृद् वत्साः समस्ता अपि ।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।१८)

प्रथमहि मैं तुम देखे एक । बहुरथौ बालक-बच्छ जितेक ॥
बेनु, विषान, वेत्र दल जिते । है रहे चारु चतुर्भुज तिते ॥
पुनि इक इक ब्रह्मांडके नाइक । सेवत मो समेत सब लाइक ॥
पुनि अति एक एक छवि बाढ़े । देखे मैं मनमोहन ठाढ़े ॥
तब महिमा कौतुक जो आहि । को समरथ जानै जो ताहि ॥

‘किंतु जो लोग तुम्हारी ऐसी अनन्त अपरिच्छिन्न महिमासे अनभिज्ञ हैं, उन्हें तुम कुछ और ही प्रतीत होते हो नाथ !’—पितामहके हृदयकी ज्ञानज्योति मने दीप बनकर अब ब्रजराजनन्दनके चरण-नख-चन्द्रा निर्मञ्छन करने बाहर आती है और उसके आलोकसे वस्तुतत्त्वका विस्लेषण होने लगता है—‘अज्ञान छाय रहता है उन लोगोंपर और इसीलिये प्रभो ! वे तुम्हारे स्वरूपको नहीं जान पाते । उन्हें तुम जड़-देहमें अवस्थित जीवके रूपसे ही प्रतीत होते हो । नाथ ! तुम्हीं मायाका आवरण डालकर सृजनके समय मेरे (ब्रह्मा) रूपसे, पालनके समय अपने (विष्णु) रूपसे एवं संहारके समय रुद्रके रूपसे प्रतीत होते हो । हे अचिन्त्येश्वर ! शालिन् ! परमस्वतन्त्र ! नानावतारविधायक ! वास्तविक जगद्विधाता ! जगत्पते ! तुम नित्य अजन्मा हो, प्राण जीवकी भाँति तुम्हारा कदापि जन्म नहीं होता नाथ । फिर भी असाधु पुरुषोंका गर्व चूर्ण-विचूर्ण कर देखे लिये एवं साधु पुरुषोंको अपनी कृपाकी धारामें निमज्ज कर देनेके लिये तुम देव, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी, जलचर आदि रूपोंमें यहाँ अवतरित होते हो । वामन, परशुराम, राम, वाराह, मत्स्य, कूर्म प्रभृति रूपोंमें तुम्हारा आविर्भाव होता है । धरापर लीलामन्दाकिनी प्रवाहित होती है । उसके प्रबल प्रवाहमें दुर्मर्दोंका गर्वपर्वत छिन्न-भिन्न होकर बह जाता है और सत्पुरुषगण सिक्त होते हैं उसकी त्रितापहारी ऊर्मियोंसे । हे भूमन् ! भगवन् ! सर्वान्तर्यामिन् ! योगेश्वर ! कौन बतावे कि सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी अचिन्त्यमहाशक्तिनिकेतन होकर भी तुम ऐसे साधारण देव-ऋषि-पशु-प्रभृति रूपोंमें जन्म ग्रहण क्यों करते हो ? कहाँ, किस हेतुसे, किस समय, कितनी बार तुम अपनी योगमाया—अचिन्त्य महाशक्तिमें विस्तार कर लीला करते हो, की है—यह त्रिलोकमें किसे ज्ञात है नाथ ! यह जान लेनेमें कौन समर्थ है स्वामिन् ! कोई भी तो ऐसा नहीं कि इसका विचार करे ।

संख्या ८]

कता दे। इसीलिये—तुम्हारे अचिन्त्य योगमायावैभवके कारण ही हे प्रभो ! यह बात है कि यह परिदृश्यमान, अस्वरूप, स्वप्नाम, बुद्धिव्यामोहक, अशेषदुःखप्रद सम्पूर्ण जगत् तुम सच्चिदानन्दस्वरूप, अपरिच्छिन्न अधिष्ठानमें मायासे उत्पन्न एवं विनष्ट होते रहनेपर भी—तुम्हारी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होता है। वास्तवमें सत्य तो एकमात्र तुम हो नाथ ! तुम परमात्मा हो, पूर्णपुरुष हो, स्वयंज्योति हो, अनन्त एवं अनादि हो, नित्य हो, अक्षर हो, पूर्णानन्दमय हो, निरञ्जन एवं निरोक्ष हो, अद्वय हो, निरुपाधि हो, अमृतस्वरूप हो। तो तुम्हारे इस उपर्युक्त स्वरूपका साक्षात्कार कर लेते हैं, श्रीगुरुदेवस्वरूप सूर्यसे तत्त्वज्ञानरूपी दिव्यदृष्टि पाकर सब जीवोंके अपने ही आत्मस्वरूप तुमको, परमप्रेमास्पद अपने स्वरूपके रूपमें अनुभव कर लेते हैं—जिनके लिये 'अहम्' के स्थानमें तुम-ही-तुम बच रहते हो, वे विष्णुभूत संसारसागरको गोक्षसपदकी भाँति अनायास पार कर जाते हैं परमात्मन् ! अपने आत्मस्वरूपको स्वरूपसे न जाननेवालोंके लिये ही तो इस अज्ञानके कारण देह आदिमें अहंता-ममतात्मक यह निखिल प्रपञ्च बना गया है; उन्हें इसकी प्रतीति हो रही है भगवन् ! किंतु जहाँ ज्ञान हुआ कि यह प्रतीति भी सदाके लिये समाप्त हुई। जैसे भ्रान्तिवश रज्जुमें सर्पबुद्धि हो जानेपर सर्पके फण आदि सभी दीख पड़ते हैं, पर भ्रम निवृत्त हुआ, यथार्थ वस्तु रस्सी दीखी कि सर्प एवं उसके फण आदि कुछ भी नहीं रह जाते प्रभो ! यह अहंता-ममतात्मक संसार कल्पित वस्तु ही तो है नाथ ! संसार-बन्धन एवं संसारसे मोक्ष—ये दोनों नाम अज्ञानके ही दो रूपान्तरमात्र हैं, अज्ञानसे ही तो इनकी कल्पना हुई है देव ! सत्य एवं ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वसे भिन्न सत्ता ही जो इनकी नहीं है स्वामिन् ! तत्त्वतः मिथ्या हैं ये। सूर्यके स्वरूपमें जैसे न तो दिन है और न रात्रि; वैसे ही विचार करनेपर नित्यज्ञानस्वरूप शुद्ध प्रपञ्चातीत आत्म-

तत्त्वमें भी न तो संसारबन्धन है और न मुक्ति। यहाँ व्यवहारमें सूर्यके अप्रकाशसे रात्रि है एवं प्रकाशसे दिन है; वैसे ही आत्मस्वरूपके अप्रकाशसे अहंता-ममतात्मक बन्धन है, एवं उसके प्रकाशसे मोक्ष है। अतः इस मिथ्या संसारको तर जानेकी बात भी केवल कथनमात्रके लिये ही है भगवन् ! फिर भी जबतक आत्मस्वरूपके अज्ञानका अँधेरा है, जबतक यह संसार-बन्धन भी है ही, ज्ञानके प्रकाशसे उसकी निवृत्ति भी अपेक्षित है ही। किंतु आश्चर्य है ! ओह ! अज्ञ जीवोंकी आश्चर्यजनक भ्रान्ति है ! देख लो नाथ ! तुम जो अपने परम प्रेमास्पद आत्मा हो, उसे तो वे पराया मान लेते हैं एवं जो देह आदि सर्वथा अपनेसे पराये हैं, उन्हें आत्मा जानते रहते हैं और इसके अनन्तर वे आत्मानुसन्धान करने चलते हैं बाहरकी ओर ! कैसे पा सकेंगे वे तुम्हें प्रभो ! कहाँ मिलेगा उन्हें आत्मप्रकाश। उनके अज्ञानकी निवृत्ति क्योंकर होगी ? इसीलिये हे अनन्त ! जगत्के जो विवेकवान् (ज्ञानमार्गी) साधक संत हैं, उनका पथ और ही होता है। वे सर्वात्मस्वरूप तुमको अपने भीतर ही अभिन्न भावसे ढूँढ़ते रहते हैं। उनके ढूँढ़नेकी पद्धति यह होती है—तुम्हारे अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी प्रतीत होता है, उन सबको वे अतथ्य, असार समझकर छोड़ते चले जाते हैं। क्या करेंगे उन्हें लेकर वे जिनसे तुम्हारा दर्शन न हो ? उनकी यह प्रणाली उचित ही है नाथ ! ऐसा करके ही वे तुम्हें जान सकेंगे; क्योंकि यह स्पष्ट है—रज्जुमें यद्यपि सर्प विद्यमान नहीं है, पर जिन्हें वहाँ सर्पदर्शनकी भ्रान्ति हो चुकी है, वे व्यक्ति विवेकी होनेपर भी उस सर्प-प्रतीतिका अपवाद किये बिना, उसे छोड़े बिना समीपमें ही पड़े हुए उस वास्तविक रज्जुको कैसे जान सकते हैं ?—

अजानतां त्वत्पदवीमनात्म-
 न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम् ।
 सृष्टाविवाहं जगतो विधान
 इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥
 सुरेष्णुषिष्वीश तथैव नृष्वपि
 तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य ।
 जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
 प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥
 को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
 योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
 क्व वा कथं वा कति वा कदेति
 विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥
 तस्मादिदं जगदशेषमस्तत्स्वरूपं
 स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
 त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
 मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति ॥
 एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
 सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
 नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
 पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥
 एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि
 स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।
 गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा
 ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥
 आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
 तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
 ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते
 रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥
 अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
 द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।
 अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
 विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥
 त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च ।
 आत्मा पुनर्बहिर्मुग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता ॥
 अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव
 ह्यतरयजन्तो मृगयन्ति सन्तः ।
 असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण
 सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । १९-२८)

अज्ञानी जे जड मति कोई । तुम्हहि न जानत ईश्वर को
 ते इमि गावत जगत कहँ, संभव पालन नास ।
 अज गिरीस मिलि जग रचै, कहहि न जिनहि प्रकास ।
 सुर रिषि तिजग रूप, मत्स्य आदि तुमहि धरौ ।
 दुर्मद विकट अनूप, तासु मान मर्दन कारन ॥
 साधु अनुग्रह हित सुख कंदा । माया गहन करत यदुगं
 धर्म सेतु पालन के हेतु । कृपा करहु तुम कृपाहि
 प्रभु लीला को लखै बनाई । गाइ सकै को गुन समुद्र
 निज जन त्राण हेतु बहु बारा । धरहु स्वरूप अनेक प्रकाश
 नहि त्रिलोक महँ अस कोउ प्राणी । तव गुन लीला कहँ बनावौ
 कैसेँ कब केतिक केहिँ ठामा । रचना रचत नाथ अभिराम ॥
 यह जग असत असेष विधि, सपन सरिस कह वेद ।
 या महँ सुख रंचक नहिँ, अति दुख संतत खेद ॥
 तुम तैं संभव होइ, लय पावे प्रभु तुम बिषे ।
 लगत सत्य इव सोइ, सत्य नहीं दुख रासि प्रभु ॥
 नित्य सरिस इव नित्य न आही । सुख इव लगै दुखद सब
 चेतन इव नहिँ चेतन रूपा । है विकल्प बहु चित्र अना
 तुम हरि सत्य रच्यौ बहु भाँती । लगत सत्य सो सबहि सुख
 सत्य एक तुम नंदकुमारा । आतम रूप सकल आभा
 आदिपुरुष तुम पूरनकामा । सब जग भिन्न सदा अभिराम
 नित्य सनातन सुखमय रासी । अक्षर अमृत अघट अविनाश
 अंजन रहित प्रकास सरूपा । दूरि उपाधि सरूप अनूप
 एहि विधि लखत सुधर नर कोई । जिनके कछु तुममें मति होई
 नंद सुअन तुम कौ सब ठामा । लखत चराचर मैं अभिराम
 हरि गुर रूप तरनि सम पाना । वेद उक्त चख लहि सुख आन ॥
 ताहि नयन करि लखत जब, आतम एक प्रवीन ।
 तब तिन कहँ संसार सब, होइ जात जनु लीन ॥
 तब तिन कहँ यह जगत न साचा । पहिले रह्यो जहाँ मन राचा
 निरखि दाम अहि अति भयकारी । रजु जान्यो तब भयो सुख
 बंध मोक्ष भव मरन बिचारी । अति भयभीत सो भयो दुख
 जब समुझै तब है दुख दूरी । ना तरु सोक दोष रह पीरी
 सुद्ध सचेतन रूप अनूपा । आतम सदा एकरस रूप
 बंध मोक्ष नहिँ ता कहँ कबहूँ । भयो न है है नहिँ तहँ
 रज्जु सर्प जिमि सत्य न होई । तिमि आतप सुख दुख नहिँ कोई
 तरनि एक रस संतत आही । उद्य अस्त कहियत है तहँ
 बंध मोक्ष निसि दिन समतूला । सब कहँ लखु अग्यान समुद्र
 मानहिँ तन कहँ आतम मूढ़ा । जे नर ममता मद आहू
 बाहर खोजत आतमा, अहो अज्ञ जन मूढ़ ॥
 सब घट व्यापी नहिँ छलत, सदा मोह आहू ॥

संख्या ८]

बलु हेरानी गेह, खोजत गहन मझार सठ ।
मिलै कहौ किमि तेह, करि प्रयास पचि पचि मरौ ॥

कोउ एक विदुष सरीर मझारा । खोजत जडता करि निरधारा ॥
करै सर्प अपवाद विनासू । रज्जु ज्ञान तब उपजै आसू ॥
ऐसैं मुक्ति हेतु एक ज्ञाना । अपर उपाइ न अहै सुजाना ॥

इस प्रकार अपने ज्ञानदीपकी ज्योति जगाकर
पितामहने मानो ब्रजराजकुमारकी आरती उतारी । इतनेमें
पुनः दृष्टि चली गयी नन्दनन्दनके चरणनख-चन्द्रकी
ओर । फिर तो एक विचित्र-सी ज्योत्स्ना आँखोंमें
भर गयी । अन्तस्तल पुनः प्लावित हो उठा भक्तिकी

मिलल धारासे ही । स्रष्टाकी ज्ञानगरिमाका उपर्युक्त
प्रवचन इव गया इस धारामें, ज्ञानकी वह लौ समा
गयी इसकी स्निग्धतामें—यह व्यक्त कर देनेके लिये
कि देखो भक्तिकी स्निग्धता ही मेरी जननी है और

वही सान्द्र, सान्द्रतर होती हुई मुझे पुनः आत्मसात्
कर लेती है; भक्तोंको अपने भावानुरूप श्रीकृष्णचरण-
संयोगकी निर्बाध सेवाका अवसर दान करनेके लिये
वह मुझे अपने अञ्चलमें छिया लेती है । जिन्हें मेरी
वह हो—मेरे प्रकाशमें भगवान्की महिमाका तत्त्व
जाननेमात्रकी अभिलाषा हो—उनके लिये भी भक्तिके
स्निग्ध प्रवाहमें निमग्न हो जाना अनिवार्य है, अन्यथा
वे मुझे पानेसे रहे ।' तथा बाहर पितामहकी वाणी

भी इसी तथ्यका कुछ अंश प्रकट कर देती है । वे
कहने लगते हैं—'हे देव ! हे भगवन् ! यह ठीक
है कि अज्ञानजन्य संसार ज्ञान होते ही तत्क्षण विनष्ट
हो जाता है, तथापि जो व्यक्ति तुम्हारे युग्म पादपद्मोंके
अनुग्रहविन्दुसे सिक्त हो चुका है, कृपाप्रसादकी
काशिकामात्र जिसने पा ली है, वही तुम्हारी अनन्त
अपेक्षीय महिमाका यत्किञ्चित् तत्त्व जान सकता है ।
किंतु जिसने तुम्हारी कृपा नहीं प्राप्त की, वह ज्ञानके
साधनोंका आचरण करके, वैराग्यकी भूमिमें प्रतिष्ठित
हो करके, योगका अनुष्ठान करके—इन-इन साधनोंके

द्वारा इनकी परमोत्कर्ष दशाको प्राप्त हुए व्यक्तियोंमें
परिगणित होकर भी चिरजीवन अपने प्रयत्नसे अनुसंधान
करते रहनेपर भी—तुम्हारी महिमाके यथार्थ ज्ञानकी
उपलब्धि नहीं कर पाता । तुम्हारी कृपाके बिना
कोई भी तुम्हारी महिमाके तत्त्वको नहीं जान सकता
नाथ !'

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-

प्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।

जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो

न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । २९)

हो प्रभु तव-पद-कमल सुदेस । ताके रस प्रसाद कौ लेस ॥
कबहूँ काहू पै दुरि आवै । तब भल महिमा तत्वहि पावै ॥

X X X

जद्यपि ज्ञानवन्त भयहारी । तद्यपि एहि विधि होइ सुखारी ॥
तव पद पंकज लेस पसाऊ । जिन काहू यह जग महुँ पाऊ ॥
तासु अनुग्रह जा पर होई । तत्त्वज्ञान जानै नर सोई ॥
बिनु पदकंज अनुग्रह पाए । करत जतन बहु अति मन लाए ॥
तत्त्वज्ञान उपजै नहि कबहूँ । कैसेउ निपुन होइ किन जबहूँ ॥

भक्तिकी इस महिमाका गान करते हुए स्रष्टा अब
स्वयं लालायित हो उठते हैं अपनेमें उसकी अचल
प्रतिष्ठा हो जानेके लिये—इसके द्वारा ब्रजराजकुमारकी
महिमाका तत्त्व जाननेके उद्देश्यसे नहीं, अपितु उनके
पदपल्लवका सेवाधिकार प्राप्त कर लेनेके लिये । किंतु
यह वशकी बात जो नहीं । यदि कृपापरवश हुए
नीलसुन्दर ही 'एवमस्तु' कर दें, तभी सम्भव है ।
तथा उनसे प्रार्थना करनेके अतिरिक्त इसके लिये और
मार्ग ही क्या है—

पुनि प्रार्थत सब सुरन कौ रानौ । भक्ति बिभौ जु देखिल लचानौ ॥

अतः आतुर कण्ठसे पितामह अपनी अभिलाषा
निवेदन कर दे रहे हैं—'हे नाथ ! इसीलिये वह
सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हो जाय, इस ब्रह्मशरीरसे हो
अथवा इसे छोड़कर पशु-पक्षी-कीट-भृङ्ग आदि किसी
भी योनिमें हो, किंतु उस महासौभाग्यका दान हे

देव ! मुझे भी मिल जाय अवश्य कि जिससे मैं तुम्हारे दासवर्गमेंसे कोई एक दास हो जाऊँ और फिर सदा दास ही बना रहकर तुम्हारे चरणपल्लवकी सेवामें ही संलग्न रहूँ । ओह ! वह भ्रमर—कीट मेरी अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ है स्वामिन् ! जो तुम्हारे चरणसरोरुहमें न्यौछावर हो रहा है । पशु ही है वह गोशावक पर तुम्हारे श्रीअङ्गलेहन (चाटने) का सौभाग्य उसे प्राप्त है । मैं अभाग्य भला उस पशुकी तुलनामें भी नहीं हूँ नाथ ! वे बड़भागी शुक-पिक आदि विहङ्गम मधुर कण्ठसे गीत सुनाकर तुम्हारा आनन्द-वर्धन करते हैं । इन पक्षिसमूहोंके सामने मेरा ब्रह्मपद कितना हेय, तुच्छ, सारहीन है स्वामिन् ! और यह नवोद्भिन्न सुकोमल तृणाङ्कुर-राशि तुम्हारे चरणतलको अपना मृदुल स्पर्श दान कर रही है । धन्य है यह तृण-पङ्क्ति । क्या मूल्य है मेरा इन उद्भिज्ज प्राणियोंके समक्ष भगवन् ! इसीलिये हे करुणामय ! इतनी-सी कृपा कर दो, मेरी विनय सुन ले, इस जन्ममें हो या इसे परित्यागकर किसी ऐसे ही पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, भृङ्ग, तरु, गुल्म, लताकी योनिमें हो—जहाँ जिस योनिसे सम्भव हो, वहीं मुझे अपने चरणपल्लवके

सेवनका सौभाग्य दे दो दयानिधे !

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चात् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३०)

अहो नाथ ! मो कहूँ यों करौ । जौ तरुना करुना रस को ।
इहि जनम मैं, और जनम मैं । नर जनम मैं, तृजग जनम मैं ।
तुमरे भक्तन मैं कछु हूँ कै । सोऊ चरन-सरोजन हूँ कै ।

X X X

अपर जन्म तिरजग कोउ जोनी। धरउँ जहाँ जसि निज गति हों ।
तुमरे जनन माँझ तन धारी । होउँ दास कर दास विचारौ ।

सच्चे भक्तोंकी भावना—ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण पर ही अपना सर्वस्व न्यौछावर कर चुकनेवाले प्रेमीजनके चिरजीवनकी लालसा पितामहके भक्तिपूरित अन्तर्लोक सरितामें हिलोरें ले रही है । सचमुच जिनके जीवने श्रीकृष्णसेवाधिकार प्राप्त होनेका उपक्रम होता है, उन्हें एकमात्र इतनी-सी चाह ही बच रहती है—

किए मानुस पशु पखि भए जनमिए अथवा कीट पतङ्ग
करम बिपाक गतागत पुनु पुनु मति रह तुअ परसंग ।

मनका मोह

(लेखक—श्रीआरसीप्रसादसिंहजी)

मेरे मनका मोह न जाता !

बन्धनमें ही यह सुख पाता !

देख रहा, जग है क्षणभंगुर !

उगकर मिटता आशा-अंकुर !

प्रतिक्षण सर्वनाशके स्वरमें

बजता महामृत्युका नूपुर !

फिर भी चेत नहीं जीवनको !

विषयोंमें आनन्द मनाता !

मेरे मनका मोह न जाता !

करसे दीपशिखाको छूकर

दाह-दुःखका अनुभव करता !

फिर भी ज्योति-शलभ-सा

बारम्बार उसीपर जल-जल मरता !

प्रभुपद-अमृत-सरोवर

मृगतृष्णासे व्यास

मेरे मनका मोह न जाता !

ब्रह्म, ब्रह्मकी प्राप्ति और प्राप्त पुरुषका स्वरूप

परस्पर ब्रह्मका स्वरूप जब मन-बुद्धिसे परे है, तब वाणीका विषय तो वह हो ही कैसे सकता है। महापुरुषोंकी एवं शास्त्रकी वाणीमें ब्रह्मके जिस स्वरूपका वर्णन है, वह तो उनकी उस बुद्धिके अनुभवका उल्लेख है, जो परमात्माके द्वारतक पहुँचकर लौट आती है। वह मार्गका वर्णन है, यथार्थ स्वरूपका नहीं। वह वस्तुतः शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति ब्रह्म-दर्शनका प्रकेत है। और ब्रह्मसे ब्रह्म-प्राप्तिका साधन भी अभिन्न है, इस दृष्टिसे उसे ब्रह्मका स्वरूपवर्णन कहना भी अनुचित नहीं है। पर इस साधनरूप ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान भी साधनसापेक्ष ही है। यहाँ तो शास्त्र तथा संतोंकी अनुभवमयी वाणीके आधारपर ब्रह्मके स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ लिखनेकी चेष्टा की जाती है।

जो नित्य सच्चिदानन्दधनस्वरूप है, जो सर्वथा अनाद्य और अद्वितीय है; जिसमें सजातीय, विजातीय या सगत भेदकी कल्पना नहीं है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालोंमें एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—चारों अवस्थाओंमें सम, नित्य और एक रूप है; जो सबका एकमात्र प्रकाशक, ज्ञाता, द्रष्टा, आश्रय और आधार है; जिसकी शक्तिसे ही सब शक्तिमान् और कार्यक्षम हो रहे हैं—वह नित्य सत् चेतन आनन्दमय तत्त्व ब्रह्म है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्योंके द्वारा श्रुतियोंने उसी तत्त्वका प्रकेत किया है और उसीकी प्राप्ति जीवनका अन्तिम साध्य है।

यह ब्रह्मतत्त्व ही एकमात्र सत्य है। जगत् जिस रूपमें प्रतीत होता है, वह मायाका विलास है। निर्विशेष, निर्विकार, निर्विकल्प सत्तास्वरूप चैतन्यधन ब्रह्म ही मायाके प्रभावसे विकारी और विभिन्न स्वरूप-वाले जगत्के रूपमें दिखायी पड़ रहा है। मायाके

प्रभावसे ही ब्रह्ममें जगत्की प्रतीति हो रही है। जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने ही संकल्पसे स्वप्न-जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय देखता है, वस्तुतः वह समस्त दृश्य उस स्वप्नद्रष्टा पुरुषमें उसीसे और उसीको दीखता है। वही सबका 'अभिन्ननिमित्तोपादान कारण' है, इसी प्रकार यह जगत् उस जगद्द्रष्टा ब्रह्ममें दीख रहा है। वस्तुतः उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है—'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय' भगवान्ने कहा—'अर्जुन! मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।' निद्राके प्रभावसे जैसे स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने एकमें ही अनेककी कल्पना करता है, वैसे ही अज्ञानके कारण ब्रह्ममें जीवरूपसे अपने एकमात्र स्वरूपमें अनेककी कल्पना होती है।

अथवा यों समझना चाहिये कि जैसे रस्सीमें सर्पकी कल्पना होती है, भ्रमके कारण रस्सी ही सर्पकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका आधार है, ठीक वैसे ही ब्रह्म-सम्बन्धी अज्ञानके कारण एकमात्र ब्रह्मरूप आधारमें ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है। इस असत् प्रतीतिको ही 'विवर्त' कहते हैं। 'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः।' वस्तुके स्वरूपमें किसी प्रकारका परिवर्तन न होकर उसकी दूसरे रूपमें प्रतीति हो, इसे 'विवर्त' कहते हैं। ब्रह्म जगत्-रूपमें परिवर्तित नहीं होता, मायाके प्रभावसे ही ब्रह्ममें जगत्की भ्रान्त प्रतीति होती है। यह रज्जु-सर्पका दृष्टान्त भी वस्तुतः ब्रह्मके लिये समीचीन नहीं है; क्योंकि इसमें रज्जुमें इस समय सर्पकी भ्रान्ति होनेपर सर्पका अस्तित्व तो कहीं होता ही है। बात यह है कि अज्ञान अनादि है, जैसे अज्ञानमें रज्जु है, वैसे ही सर्प भी है—नाना विभिन्न पदार्थ अज्ञानमें ही हैं और दृष्टान्त है अज्ञानी-को समझानेके लिये। इसलिये सर्पकी बात कही जाती

है। अज्ञाननाशके बाद ब्रह्मकी एकरूपताका ज्ञान होनेपर तो नानात्व रहता नहीं और तब वहाँ इस दृष्टान्तकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। जहाँ आवश्यकता है, वहाँ नानात्व है ही। इसलिये इस दृष्टान्तमें कोई दोष नहीं आता और दृष्टान्त तो एक-देशीय हुआ ही करते हैं, अस्तु ! अभिप्राय यह कि अद्वितीय ब्रह्ममें ही जगत्की प्रतीति होती है। तत्त्वतः ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। अज्ञान या मायाके कारण ही जीवको जगत्की सत्-प्रतीति होती है और इसीसे वह बन्धनमें है और यही माया है। यह अज्ञान या माया और यह बन्धन अनादि है। कबसे है पता नहीं, परंतु ज्ञानके द्वारा इसका अन्त निश्चय हो जाता है। इसीको आकाशके दृष्टान्तसे समझिये—

हम जिसमें अवकाश पा रहे हैं, जो पोल है, वह आकाश है। वह अत्यन्त विस्तृत है, सर्वत्र फैला है। जगत्के सारे नगर उसीमें बसे हैं, उन नगरोंका प्रत्येक मकान उसीमें है और प्रत्येक मकानका प्रत्येक कमरा, प्रत्येक कोठरी भी उसीमें है। और प्रत्येक नगर, प्रत्येक मकान तथा प्रत्येक कमरे और कोठरीके अंदर भी वही है। आकाश न रहे तो अवकाश कहाँसे मिले। यह जो सर्वत्र बाहर-भीतर व्याप्त एक महान् अवकाश है—इसीका नाम 'महाकाश' है। यह एक है और अनन्त है। अब इसमें जो नगर, मकान और कमरे आदि बने हैं, उनके भिन्न-भिन्न नाम हैं, भिन्न-भिन्न छोटे-बड़े आकार हैं और उनका विभिन्न प्रकारसे उपयोग होता है। मान लीजिये—एक बड़ा मकान है, उसमें बहुत-से छोटे-बड़े कमरे हैं। उनमें किसीकी दीवालपर चाँदी-सोनेके पत्र जड़े हैं, किसीकी दीवाल संगमरमरकी है एवं किसीकी दीवाल गोबर-मिट्टीसे पुती है। उनमें किसीका नाम राजमन्दिर है, किसीका पूजा-मन्दिर, किसीका आरामगृह, किसीका शयनगृह, किसीका भोजनालय, किसीका स्नानागार, किसीका

बैठकखाना और किसीका पाखाना है। राजमन्दिर राजाका निवास है, पूजामन्दिरमें भगवान् और देवताओं की पूजा होती है, आरामगृहमें आराम किया जाता है, भोजनालयमें भोजन होता है, स्नानागारमें स्नान करते हैं, बैठकखानेमें बैठते हैं और पाखानेमें मल-मूत्र त्याग करते हैं। पर विचारकर देखें तो ये सब एक ही महाकाशमें बने हैं तथा सबके भीतर वह एक ही महाकाश व्याप्त है। बाहर-भीतर एक ही आकाश है। दीवालका घेरा, घेरेकी भिन्न-भिन्न लम्बाई-चौड़ाई, घेरेमें आये हुए अवकाशके भिन्न-भिन्न नाम और उनके अलग-अलग उपयोगोंके कारण वे सब भिन्न-भिन्न दीखते और कहे जाते हैं। जहाँ दीवाल बनी है, वहाँ भी महाकाश ही है, क्योंकि आकाश न होता तो दीवाल बनती कहाँ और दीवाल जिन भौतिक पदार्थोंसे बनी है, वे भी आकाशसे ही उद्भूत हैं।* अतः वह दीवाल भी वस्तुतः आकाश ही है। इस प्रकार सर्वत्र एकमात्र आकाश-ही-आकाश है; परंतु आकाशको जितना-जितना अंश जिस-जिस दीवालसे घिरा हुआ है और इससे उसके जो नाम-रूप हो गये—वही उसका स्वरूप हो गया। मान लीजिये, आकाशके उस अंशमें उसीको अपना स्वरूप मान लिया, उसीके हानि-लाभ वह अपना हानि-लाभ समझने लगा और उस दीवालके घेरेमें अहंता-ममता होनेसे उसमें यह वासना पैदा होगी कि मैं (यह दीवालके घेरेमें घिरा हुआ स्वरूप आकाश) सदा बना रहूँ। आकाश तो रहनेवाला है, परंतु आकाशमें बनी दीवाल तो समयपर टूटेगी ही, पर उसकी वासनाके द्वारा नयी-नयी दीवाल अप्रकट रूपमें बनती गयी और एक दीवालके टूटते ही दूसरी सामने आ गयी। दीवाल चाहे पहले मिट्टीकी थी, उसके

* आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। दीवालकी प्रकृति सामग्री इन्हीं तत्त्वोंसे निर्मित है।

संख्या ८]

बदलेमें सोनेकी हो गयी; या पहले सोनेकी थी उसके बदले पत्थरकी बन गयी पर घेरा ज्यों-का-त्यों बना रहा। यों एक ही महाकाश अनन्त विभिन्न घेरोंमें घिरकर अनन्त रूपमें दीखने लगा। यह दृष्टान्त है। अब इसीसे ब्रह्मके स्वरूपको समझना है। सर्वत्र व्याप्त एक ही तत्त्व ब्रह्म है। जैसे आकाशको लेकर सर्वत्रकी कल्पना है, वैसे ही ब्रह्मके कारण ही सर्वत्रकी प्रतीति है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'वासुदेवः सर्वमिति' आदि श्रुति-स्मृतियोंके वचनोंसे इसी सिद्धान्तकी घोषणा की गयी है। इसी एक महान् ब्रह्ममें मायाके कारण विभिन्न शरीरोंकी कल्पना हुई। ये शरीर ही आकाशमें आकाशके छोटे-बड़े अंशको घेरनेवाले घेरे हैं, उपाधि हैं। आकाशके घिरे हुए अंशोंके जैसे विभिन्न आकार, नाम और उपयोग हैं, वैसे ही इन शरीरोंके देवता, ऋषि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, श्रपच आदि विभिन्न रूप, नाम और उपयोग हैं। जैसे दीवालसे घिरे हुए आकाशके अंशने मान लिया कि मैं इस नाम-रूपवाला इतना हूँ और मेरा यह उपयोग है। वैसे ही शरीरके घेरेमें आये हुए ब्रह्मके अंशने देहाभिमान करके मान लिया कि मैं इतना बड़ा, अमुक हूँ और मेरा अमुक कार्य है। इस देहाभिमानीका नाम—इस माया—प्रकृतिमें स्थित ब्रह्मके कल्पित अंशका नाम ही 'जीव' है। और मैं सदा बना रहूँ—इस वासनाके कारण कनेवाले विभिन्न शुभाशुभ (सात्त्विक, राजस, तामस) कर्मोंके द्वारा निर्मित शरीरकी प्राप्ति ही उसका 'पुनर्जन्म' है। जबतक 'जीव' यह समझता रहेगा, मैं इस नाम-रूपवाला, स्वतन्त्र व्यक्ति हूँ, मेरे ये कर्म हैं, मैं सदा बना रहूँ, तबतक उसका जीवत्व नहीं मिटेगा और वह सुख-दुःखादिके भोगसे, जन्म-मृत्युके चक्रसे और अच्छी-बुरी योनियोंमें जाने-आनेसे मुक्त नहीं होगा। भगवान् ने गीतामें कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(१३ । २१)

‘प्रकृति—मायामें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है।’*

इस प्रकार ब्रह्म ही जगत् तथा जीवके रूपमें प्रतीत होता है; परंतु जबतक अज्ञान है, तबतक केवल कहने-मात्रसे जगत्का मिथ्यात्व अनुभवमें नहीं आता और न जगत्के बन्धनसे छुटकारा ही मिलता है।

आकाशके दृष्टान्तको यों समझकर ऐसा विचार करना चाहिये कि जैसे एक ही महाकाश सर्वत्र व्याप्त है और जैसे सभी मकान घर, कमरे और उनके नाम-रूप उसके अंदर कल्पित हैं, वैसे ही एक ही ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है और दीखनेवाला समस्त जगत्-प्रपञ्च उसीमें कल्पित है। यों विचार करते-करते जब यथार्थ स्वरूपकी अनुभूति होती है, तब मायाका बन्धन कटता है। इसीका नाम 'मुक्ति' या 'ब्रह्मकी प्राप्ति' है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि जीवको जो अनादिकालसे ब्रह्मसे पृथक्त्व और वद्धताका भ्रम हो रहा है—सद्गुरु, शास्त्र, तत्त्वविचार और भगवत्कृपासे वह भ्रम मिट जाता है और इस भ्रमका मिट जाना और तत्त्वको पहचान लेना ही मुक्ति या ब्रह्म-प्राप्ति है। जीवको ब्रह्मकी प्राप्ति होती नहीं, उसे तो ब्रह्म नित्य प्राप्त ही है। जैसे कमरेके आकाशका स्वरूप ही महाकाश है, वैसे ही ब्रह्म उसका स्वरूप ही है। पर इस नित्य प्राप्तिमें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है, उसीका नाश करना है। इस भ्रमका नाश ही ब्रह्मकी प्राप्ति है। 'ज्ञानी' या

* सत्त्वगुणके सङ्गसे देवयोनियों, रजोगुणके सङ्गसे मनुष्ययोनियों और तमोगुणके सङ्गसे पशु, पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म होता है।

‘मुक्त’ संज्ञा अज्ञानीके लिये है और अज्ञान-जगत्में ही है। वस्तुतः ‘ज्ञानी’ कोई होता नहीं; क्योंकि शरीर और मन-बुद्धि आदि जड़ हैं, उन्हें ज्ञान होनेकी कल्पना नहीं की जा सकती। पुरुषको पहले अज्ञान था और अब ज्ञान हो गया—यह कहना उस समय अज्ञानके अस्तित्वको मानना है और जीव ज्ञानी हो गया ऐसा कहना भी नहीं बनता; क्योंकि ज्ञान होनेपर ‘जीव’ संज्ञा रहती नहीं। यह तो अज्ञान-नाश होनेपर स्व-स्वरूपका प्रकाश होना है और इसीका नाम मुक्ति है। कोई पूछे कि इस मायासे यह जगत् क्यों बना तो ज्ञानोत्तर कालमें तो यह प्रश्न रहता नहीं और जहाँ यह प्रश्न है, वहाँ यह सीधा उत्तर है कि माया-शक्ति परमात्माका स्वभाव है। ‘परमात्मामेंसे जगत् उत्पन्न क्यों हुआ?’ यह प्रश्न ही नहीं बनता। स्वभावमें दूसरे प्रयोजनकी कल्पना नहीं होती। इसी प्रकार माया-शक्ति परमात्माका स्वभाव होनेसे जगत्का प्रकाश होता है। इसीसे भगवान् व्यासदेवने ‘लोकवत्तु लीला-कैवल्यम्’ कहकर जगत्के निर्माणकी मीमांसा की है।

ऊपर जो आकाशका दृष्टान्त दिया गया है, वह ब्रह्मके लिये वस्तुतः ठीक नहीं बैठता। ब्रह्मकी अनन्तता, निराकारता आदि समझनेमात्रके लिये आकाशका दृष्टान्त दिया जाता है; क्योंकि मनुष्यके लिये आकाशसे अधिक अनन्त और निराकार अन्य पदार्थ नहीं है। ब्रह्म तो सबसे अत्यन्त विलक्षण है। आकाश जहाँ जड़ है, दृश्य है, विकारी है, सीमित है और अनित्य है; वहाँ ब्रह्म चेतन, द्रष्टा, निर्विकार, असीम और नित्य है। आकाश शून्य है, उसमें सब कुछ समाता है; ब्रह्म घन है, उसमें दूसरेका समाना असम्भव है। आकाश प्रकृतिसे प्रसूत अहंकारके एक अंशमें है और ब्रह्म अव्याकृत प्रकृति या मायाका भी आधार है।

अतः इस ब्रह्मकी प्राप्तिका अर्थ है—भ्रमका

समाप्ति। भ्रमका नाश हो जानेपर पुरुष सच्चिदानन्द घन ब्रह्मके साथ एकात्मताका अनुभव करता है। इस स्वरूपस्थितिमें उसे प्रियको (जिसको लोग प्रिय समझते हैं) प्राप्त होकर हर्ष नहीं होता, अप्रिय (जिसको लोग अप्रिय समझते हैं) को प्राप्त होकर उद्वेग नहीं होता। यह स्थिर-बुद्धि, संशय-रहित, निर्वेत्ता पुरुष नित्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी भावसे स्थित रहता है—

न ग्रहण्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

(गीता ५।२३)

जैसे आग लगनेपर समस्त संगृहीत पदार्थ जलकर भस्म हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञानाग्निके द्वारा उसमें सम्पूर्ण कर्मराशि जलकर भस्म हो जाती है। ‘ज्ञानाग्निं सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।’ (४।३७) उसके समस्त कर्मोंका कर्मबीजसहित नाश हो जाता है। पूर्वकृत संगृहीत कर्मराशि (सञ्चित) गोदाममें आकर लगनेपर उसमें संगृहीत समस्त वस्तुओंकी भाँति जल जाती है। नवीन कर्म (क्रियमाण कर्म) भुने हुए बीजोंकी भाँति कर्मसंस्कार उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं और प्रारब्ध कर्म भी शरीरमें अहंता तथा मोहमें भोक्तापनकी सत्ता न रहनेसे उस पुरुषको सुख-दुःखदि प्रदान नहीं कर सकते। इस प्रकार तीनों प्रकारके कर्मोंसे वह मुक्त हो जाता है। ऐसा पुरुष ही ‘जीवन्मुक्त’ कहलाता है। प्रारब्ध कर्म शेष रहनेका देहपात नहीं होता, इसीसे वह ‘जीवन्मुक्त’ है और प्रारब्धका क्षय होनेपर देहपात होते ही वह ब्रह्मस्वरूपमें लीन हो जाता है। अज्ञानजनित कर्मबीज निःशेष हो जानेके कारण उसका सूक्ष्म और कारणदेह नष्ट हो जाता है और उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते वहाँ अपने मूलतत्त्वमें विलीन हो जाते हैं—इसीका नाम जीवन्मुक्ति है। स्वरूपतः ‘जीवन्मुक्ति’ और विदेह-

संख्या ८]

मुक्तिमें कोई भेद नहीं है। जैसे तरङ्गमालाओंमें बहता हुआ चञ्चल जल भी जल है और तरङ्गरहित स्थिर जल भी जल है, वैसे ही संसारमें विविध कर्म करते हुए दीख पड़नेवाला 'जीवन्मुक्त' पुरुष भी मुक्त है और देहपात होनेपर संसारसे सर्वथा विरहित 'विदेह-मुक्त' भी मुक्त है। जीवन्मुक्त पुरुष संसारमें वैसे ही संसारके कर्मोंसे निर्लिप्त रहता है, जैसे जलमें कमल।

उस 'जीवन्मुक्त' पुरुषके जगत्में व्यवहार कैसे होते हैं? इसका उत्तर यह है, उसकी न कहीं आसक्ति होती है, न कर्मफल-कामना और न कर्तृत्वाभिमान ही। इसलिये उसके कर्म या व्यवहार किसी लौकिक प्रेरणाके वश न होकर स्वाभाविक होते हैं। राग-द्वेष, कामना-वासना और अभिमान-अहंकारके अभावसे उसके व्यवहारमें कोई दोष नहीं आता। उसका व्यवहार सहज ही शास्त्रानुकूल होता है। जीवन्मुक्त पुरुष श्वको घर, जंगलको जंगल, पिताको पिता, माताको माता, गुरुको गुरु, पत्नीको पत्नी और पुत्रको पुत्र नजर नाटकके सुदक्ष अभिनेताकी भाँति सर्वत्र युक्ति-पूर्ण व्यवहार करता है। वह बंद किंवाड़को खुला रखता मानकर उससे टकरा नहीं जाता और जहरको अशुभ मानकर पी नहीं जाता। जहाँ जैसा जो व्यवहार करना आवश्यक है, जिस पदके व्यक्तिसे सम्बन्धानुसार वैसे व्यवहार करना उचित है, वह सहज ही वैसा ही करता है। उसपर किसी कर्मका बन्धन या दायित्व

नहीं है, तथापि उसके व्यवहारमें शास्त्रका सहज अविरोध रहता है। उसके व्यवहारसे किसी प्राणीका अहित नहीं होता। व्यवहारकी बात तो अलग रही, प्रारब्धवश लोकदृष्टिमें जो उसका जगत्में रहना होता है, उस रहनेमात्रसे ही जगत्का महान् कल्याण होता है। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषके शरीरके दर्शन, स्पर्श तथा भाषणसे साधकोंके कठोर कर्म-बन्धन जहज ही कट जा सकते हैं। अवश्य ही उसका व्यवहार उसके स्वभावके अनुरूप ही होता है। प्रवृत्ति-परक और निवृत्ति-परक स्वभावके अनुसार व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहता है। जनक और शुकदेव दोनों ही जीवन्मुक्त महापुरुष हैं और दोनोंके ही व्यवहार बड़ी सजगतासे होते हैं। पर जनकके व्यवहारका दूसरा रूप है और शुकदेवके व्यवहारका दूसरा। अप्रमत्त व्यवहारका अभाव तो तब होता है, जब ज्ञानकी उच्च भूमिकापर पहुँच जानेसे बाह्य ज्ञान नष्ट हो जाता है। परंतु यह कभी नहीं समझना चाहिये कि बाह्यज्ञान नष्ट होकर प्रमत्त व्यवहार करना ही 'जीवन्मुक्त'का स्वरूप है। यह तो बाह्य दशा है। बल्कि जगत्को तो व्यवहारमें सावधान महापुरुषोंके द्वारा ही अधिक लाभ होता है। भगवान् श्रीकृष्ण, जनक, भगवान् व्यासदेव, नारद और श्रीशङ्कराचार्य आदि इसके उदाहरण हैं।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

परीक्षा

दातुश्चैव परीक्षा वै दुर्भिक्षे जायते नृभिः। शूरस्यैव तु संग्रामे मित्रस्य च तथापि।

अशक्तौ च तथा स्त्रीणां विपत्तौ सुकुलस्य च। स्नेहस्य च परोक्षेण सत्यस्य संकटे गते॥

(शिवपुराण ज्ञानसं० १०। २९)

दाताकी परीक्षा दुर्भिक्षमें, वीरकी युद्धमें, मित्रकी आपद्कालमें स्त्रीकी पालनकर्ताकी अशक्त-स्थितिमें, अच्छे कुलकी विपत्तिमें, प्रेमकी परोक्षमें और सत्यकी परीक्षा सङ्कटके समय होती है।

वेदान्त-दर्शन—एक विहङ्गम दृष्टि

(लेखक—साहित्यमहोपाध्याय पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पद्मज' शास्त्री, बी० ए०, वाच्यतीर्थ, साहित्याचार्य, व्याकरणशास्त्र, न्यायाचार्य, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)

धर्मप्राण इस भारतवर्षमें ज्ञानपिपासु ऋषि-महर्षियोंकी दार्शनिक चिन्तनधारा निरन्तर बहती आ रही है। ऋषियोंके अनवरत अध्यवसाय, स्वाध्याय और मनन-चिन्तनने तीन राजपथ प्रस्तुत किये हैं—(क) कर्मकाण्ड, (ख) ज्ञानकाण्ड तथा (ग) उपासना या भक्तिकाण्ड। भारतीयोंका परलोकमें दृढ़ प्रत्यय, ईश्वरमें प्रगाढ़ भक्ति एवं उन दोनोंके मूल स्रोत—वेदवाक्योंमें अभ्रान्त ज्ञानकी दृढ़ धारणा तथा गुरुचरण-रजमें अखण्ड श्रद्धा ही इसका प्रबल प्रमाण है कि वे भौतिकवादसे जितने ही अलिप्त रहते आये हैं उतने ही अध्यात्मपरायण भी। अथ च आध्यात्मिकता ही उनके जीवनका प्रमुख आधार रहा है और रहेगा।

वैदिक ऋषियोंके तिरोभावके ठीक पश्चात् परांशर-पुत्र महर्षि कृष्णद्वैपायनका प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने नष्टप्राय वेद-विज्ञानके पुनरुद्धारकी भरपूर चेष्टा की और इस तरहके प्रयत्न भी किये जिनसे अभिमत वेदांश ग्रहण किया जा सके। इसीलिये तो—

ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य नर्गशः ।

चतस्रः संहिताश्चक्रे सूत्रे मणिगणा इव ॥

कहना नहीं होगा कि इन्हीं संकलनों और विभागोंके कारण महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास कहलाये। उन्होंने इस कार्यके प्रचार-प्रसारार्थ अपनी एक शिष्य-परम्परा भी चलायी। तदनुसार पैल नामक शिष्यको ऋग्वेद, वैशम्पायनको यजुर्वेद, जैमिनिको सामवेद और सुमन्तको अथर्ववेदकी शिक्षा दी। तत्पश्चात् उन्होंने अपने शिष्य जैमिनिको वेदके पूर्वभाग कर्मकाण्डके आधारपर मीमांसाशास्त्र-निर्माणके लिये नियुक्त किया और स्वयं उत्तरभाग (ज्ञानकाण्ड) के मीमांसा-प्रणयनमें दत्तचित्त हुए—

चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा ।

ब्रह्मसूत्र-रचनाका कालनिरूपण, असम्भव तो नहीं, पर कठिन अवश्य है। बहुत सम्भव है इसका समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करनेमें दीर्घकाल लग जाय। उन्होंने वेदका सारांश लेकर ब्रह्म-निरूपणात्मक जिन सूत्रोंकी रचना की, वे ही 'ब्रह्मसूत्र' कहलाते हैं। उन

ब्रह्मसूत्रोंका ही नाम वेदान्त-दर्शन है। इसमें कि शास्त्रमें सूत्र-रचनाके जो लक्षण आये हैं, उनसे सम्पूर्णतया रक्षा हो पायी है। इसमें सन्देहका स्थान नहीं है। महाभारत और पद्मपुराणादिके पूर्व ही ब्रह्मसूत्र उल्लेख हुआ है। लिखा है—

ब्रह्मसूत्रपदैश्वर्य हेतुमन्निर्विनिश्चितः ।

इसके अतिरिक्त भी—

वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।

यहाँ वेद और वेदान्तके पृथक् उल्लेखसे यह सिद्ध वेदान्त—उपनिषदोंके कर्तृत्व-निर्देशसे भी वेदान्त दर्शनका ही बोधक है। महाभारतके अतिरिक्त भी वेदान्त तथा अपरोक्षरूपसे वेदान्तका उल्लेख पाया जावे। पद्मपुराणमें षड्दर्शनोंके गुण-दोष-निर्देश-स्थलमें वेदान्त-दर्शनकी भी चर्चा की है—

जैमिनीये च वैयासे विरुद्धोऽशौ न कश्चन ।

श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपारं गतौ हि तौ ॥

यह श्लोक जैमिनिकी पूर्वमीमांसा और वेदवेत्ता उत्तरमीमांसामें उल्लिखित हुआ है। विष्णुपुराणमें ब्रह्मसूत्र उल्लेख तो सर्वग्राह्य ही है।

सम्पूर्ण वेदान्तदर्शन चार अध्यायोंमें विभक्त है (१) समन्वय, (२) अविरोध, (३) साधन (४) फलाध्याय। प्रत्येक अध्यायमें चार-चार पाद विभक्त हैं। साथ ही प्रत्येक पादमें विभिन्न विचार आधारपर अनेक अधिकरण भी हैं। उनमें प्रथम और द्वितीय पादमें स्पष्ट जीवल्लङ्घ्य श्रुतिका व्याख्या केवल संदिग्ध पदोंका विचार है। द्वितीय अध्यायके प्रथम पादमें सांख्यादि तथा न्याय-प्रभृति तर्कशास्त्रोंसे उत्पत्ति-निरूपण और चतुर्थ पादमें इन्द्रियादिकोंकी उत्पत्ति-निरूपण है। तृतीय अध्यायके प्रथम पादमें

संख्या ८]

अवस्था-विशिष्ट जीवके गुण-बोधादिके विचार, द्वितीय पादमें भगवान् के नित्यनिर्दोषत्व तथा अखिल कल्याणमय गुणकारत्वका निरूपण हुआ है। तृतीय पादमें श्रुत्युक्त उपनाङ्गोंका संग्रहप्रणालीनिरूपण अथवा उपसंहार है, और चतुर्थ पादमें उपासनाके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधनोंके निरूपण हुए हैं। चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादमें उपासकोंके—उपासनाके प्रभावसे पूर्वतन पाप-पुण्योंका विनाश तथा पर-पुण्य-पापमें असम्पूर्ण विचारका वर्णन हुआ है। द्वितीय पादमें समुप-जीवकी उत्क्रमण-प्रणाली तथा तृतीय पादमें उपासकोंकी मृत्युके पश्चात् उत्तरायणादि पथकी गतियोंका निरूपण किया गया है। चतुर्थ पाद—अन्तिम अध्यायमें तत्त्व-पुराणोंकी ब्रह्मप्राप्तिके सम्बन्धमें विचार सन्निवेशित हैं। आलोच्य वेदान्त-दर्शनकी सार्वभौमिकताके सम्बन्धमें जो कुछ कहना भी सूरजको चिराग लेकर ढूँढ़ना होगा। एक-एक विज्ञ-प्राज्ञ-बहुज्ञ आचार्योंने इसपर भाष्य रचकर अपनी-अपनी शक्तिसम्पन्नता और अगाध विद्या-बुद्धिकी शक्तिताका परिचय दिया है। किं बहुना, शैव, शाक्त, वैष्णव तथा परस्पर विरोधी अन्यान्य साम्प्रदायिकोंने भी इसकी प्रशंसा-प्रतिष्ठा की है। प्रचलित व्याख्याग्रन्थोंके अनुसार इतना तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि अत्यन्त नवीन कालमें भगवान् बोधायन, द्रमिड़, भर्तृहरिश्च तथा शङ्करादि प्राचीन आचार्योंने इस वेदान्तदर्शनके ऊपर के प्रकारकी भाष्य-व्याख्याएँ की हैं। वर्तमान कालमें आचार्य शङ्कर, आचार्य रामानुज, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीविज्ञानभिक्षु प्रभृति विद्वानोंके लिखे कई भाष्य-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञानभिक्षु सांख्यमतानुयायी थे। और यही कारण है कि उन्होंने शङ्करके स्वरमें वेदान्तकी व्याख्या करनेकी प्रवृत्ति की है। आचार्य रामानुजके गुरु श्रीयादवप्रकाशने भी वेदान्त-दर्शनपर एक व्याख्याग्रन्थ लिखा था, जिसका उल्लेख श्रीभाष्यके लेखक श्रीसुदर्शनाचार्यने जगह-जगह किया है। किंतु यह है कि इस समय मूल ग्रन्थका पता नहीं लगता। आचार्य रामानुजके प्रतिभास्फुरणके सम्बन्धमें तो एक दन्त-कथा भी प्रचलित है। कहते हैं कि—यादवप्रकाशसे पढ़ते हुए आचार्य शङ्करकृत—‘कप्यासम्’ श्रुतिकी व्याख्या सुन-कर रामानुज नेतरह चौंक उठे थे। इसी व्याख्याने उनके वेदान्त-ज्ञानको आमूल परिवर्तित कर दिया। रामानुजका आरोप था कि परमाराध्य परम पवित्र परमेश्वरकी तुलना

एक नीच बंदरकी तुलनाके निचले हिस्सेसे की जाय, इससे बढ़कर और आश्चर्य ही क्या हो सकता है। सच तो यह है कि छान्दोग्योपनिषद्में एक श्रुति है—‘यथा कप्यासं पुण्डरीकम्, एवमस्याक्षिणी।’ आचार्य शङ्करने इसका अर्थ किया है—कपिः वानरः आस्यते उपविश्यते अनेन इति आसम्, कपेः आसम्—पुच्छाधोभागः—कप्यासम्। बंदरकी पूँछका निचला भाग प्रायः लाल रहता है। इसलिये उसके साथ पुण्डरीक (कमल) की तुलना हो सकती है; किंतु रामानुजाचार्यको शङ्करका अर्थ स्वीकार नहीं था। उन्होंने ‘कप्यासम्’का निम्नलिखित अर्थ लगाया—कं (जलं) पिबति इति कपिः (सूर्यः) तेन आस्यते विकसितं क्रियते इति कप्यासम्—सूर्यकिरणप्रस्फुटितम्। अथवा कपिः नालम्, तत्र आस्यते (स्थीयते) येन, तत्कप्यासम्—जलस्थं पुण्डरीकम् इत्यर्थः।

आचार्य रामानुजने श्रीयामुनाचार्यके देहान्तके बाद वेदान्तदर्शनपर श्रीभाष्यकी रचना की। तत्पश्चात् वे विशिष्टाद्वैतवादके प्रचारार्थ निकल पड़े। भाष्यका लक्षण यह है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

रामानुज-प्रतिपादित सिद्धान्तका नाम विशिष्टाद्वैतवाद है। इसका यौगिकार्थ इस प्रकार होगा—

द्विधा इतम्=द्वैतम्, तस्य भावः=द्वैतम्। ‘द्विधेतं द्वैतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते।’ न द्वैतम्—अद्वैतम्—द्वैताभावः। विशिष्टस्य—चेतनाचेतनसमन्वितस्य अद्वैतम्=विशिष्टाद्वैतम् अथवा द्वयोर्भावः=द्वैता, द्वितैव द्वैतम् (स्वार्थे णः) भेदः, न द्वैतम्=अद्वैतम्=भेदाभावः ऐक्यम् इत्यर्थः। विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे—स्थूलचिदचिद्विशिष्टम्, सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टम् च ब्रह्मणो, तयोः विशिष्टयोः ब्रह्मणोः अद्वैतम्=वस्तुतोऽभेदः=विशिष्टाद्वैतम्, तन्निर्णायको वादः सिद्धान्तः=विशिष्टाद्वैतवादः। विशिष्टाद्वैतवादः—

अर्थात् चेतनाचेतन-विभागविशिष्ट ब्रह्मका अभेद अथवा एकत्व-प्रतिपादक सिद्धान्तका नाम ही विशिष्टाद्वैतवाद है। ब्रह्म द्विविध है—(१) स्थूलचेतनाचेतनविशिष्ट, (२) सूक्ष्मचेतनाचेतनविशिष्ट। उभयविध ब्रह्मके अद्वैत अथवा एकत्व-प्रतिपादक सिद्धान्तका नाम विशिष्टाद्वैतवाद है।

आचार्य शङ्करने जिस समय भारतमें अद्वैतवादका प्रचार किया उस समय यहाँ बौद्धधर्मका प्राबल्य था। लोग—क्या शिक्षित क्या अशिक्षित—बौद्धधर्ममें आकण्ठ निमग्न थे। और शङ्कराचार्यको प्रबल प्रतिपक्षी बौद्धोंसे ही पहले लोहा लेना पड़ा। किंतु रामानुजके सामने एक भी विकट प्रतिभट ऐसा नहीं था, जिससे उनकी कोई जवर्दस्त मिड़ंत होती। किसी-किसीके मतसे शङ्करभाष्यकी अपेक्षा रामानुजका श्रीभाष्य विशेष सूत्रानुसारी और समीचीन ठहरता है। कारण, शङ्करने अनेक सूत्रोंकी व्याख्या करते समय क्लिष्ट कल्पनाका सहारा लिया है, लेकिन रामानुजको ऐसा नहीं करना पड़ा है शङ्कर और रामानुजके मतोंकी तुलनात्मक समीक्षाएँ—

(१) शङ्करका कहना है—‘एकमेवाद्वितीयम्’ प्रभृतियुक्तियोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म एक है, अखण्ड और अद्वितीय है—सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदशून्य है। तद्विन्न और किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं है।

रामानुजका कहना है—ब्रह्म एक और अद्वितीय है, यह बात सत्य है; किंतु वह निरंश (अंशरहित) नहीं है। अथ च उसका सजातीय और विजातीय भेद नहीं होनेपर भी स्वगतभेद निश्चय है। जीव और जगत् ही उसका स्वगतभेद है।

(२) शङ्करने कहा है—‘सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म’, ‘साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च’—इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है कि ब्रह्म सत्य ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, साथ ही वह साक्षिवत् उदासीन, निर्गुण और निर्विशेष शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है।

रामानुजने कहा है—ब्रह्म निर्गुण नहीं, सगुण है। वह ज्ञान, आनन्द और दयादि सद्गुणोंका आकर है। वह निर्विशेष भी नहीं—सविशेष है। ज्ञान और आनन्दादि उसके विशेष धर्म हैं और चेतनाचेतनविशिष्ट जगत् उसका विशेषणभूत शरीर है। साथ ही निर्गुणत्वादि बोधक श्रुतियाँ भी उसके हेय प्राकृतिक गुण-सम्बन्धको ही प्रत्याखात करती हैं। सुतरां श्रुतियोंसे भी ब्रह्मका निर्गुणत्व प्रमाणित नहीं हो सकता।

(३) शङ्करका कथन है—यह दृश्यमान जगत्प्रपञ्च मिथ्या मायामय है, वह माया ईश्वरकी शक्ति होनेपर भी अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ है।

रामानुजका कथन है—यह जगत् मायामय होनेपर भी

मिथ्या—रज्जु-सर्पवत् असत्य नहीं है। यह ब्रह्मसे उत्पन्न ब्रह्मका ही शरीरस्थानीय है; अथ च त्रिकालमें भी मिथ्या नहीं। साथ ही, ब्रह्मशक्ति माया जब कि ब्रह्ममें ही आश्रित तो वह भी कभी मिथ्या और अनिर्वचनीय नहीं हो सकती।

(४) शङ्करने कहा है—जीव ब्रह्मका आभास प्रतिविम्ब है, अथच ब्रह्मका तुल्यस्वभाव, सप्रकाश, और नित्यमुक्त है।

रामानुजने कहा है—जीव कभी भी ब्रह्मका अथवा प्रतिविम्ब नहीं है। साथ ही तुल्यस्वभाव, स्वप्रकाश महान् और नित्यमुक्त नहीं है। किंतु जीव अग्नि-स्फुल्लिङ्गकी भाँति ब्रह्मसे निर्गत और ब्रह्मका ही अंश है; अतः समस्वभाव नहीं है। जीव—अणु अथवा क्षुद्र है ब्रह्म विभु अथवा विराट् है। जीव—अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और जगत्का कर्ता है। जीव अतिरिक्त—‘शाश्वौ द्वावजावीशानीशौ’ इत्यादि श्रुतियोंसे ‘भेदव्यपदेशाच्चान्यः।’ ‘अंशो नानाव्यपदेशात्’ इत्यादि ब्रह्मसूत्रोंसे भी जीव-ब्रह्मका प्रभेद ही प्रमाणित होता है।

(५) शङ्करका कहना है—घट (घड़ा) के पदार्थ जानेपर घटाकाश जिस प्रकार महाकाशमें मिल जाता है उसकी और कोई पृथक् सत्ता नहीं रह जाती, उसी प्रकार बुद्धिरूप उपाधिके अपगत होते ही जीव भी परब्रह्म मिलकर एक हो जाता है। और तब उसका अलग अस्तित्व ही नहीं रह जाता और न कुछ भोग्य ही रह जाता है।

रामानुजका कहना है—जीव अग्नि-स्फुल्लिङ्गकी भाँति ब्रह्मका ही अंश है, क्षुद्र और क्षुद्रशक्ति-सम्पन्न है। तो उसके लिये ब्रह्मके साथ एकीभाव-प्राप्ति कभी सम्भव नहीं हो सकती। जीव इस समय भी जिस प्रकार पृथक् है, चिरकालमें भी उसी भाँति पृथक् रहेगा। नित्य दशामें केवल ब्रह्मानन्द अनुभव करना ही उसका निरालाभ है।

(६) शङ्करने कहा है—‘तत्त्वमसि’ आदि वेदवाक्यके श्रवण होनेपर जो विशुद्ध ज्ञान समुत्पन्न होता है वही जीवके अनादि अज्ञान और अज्ञानोत्पन्न संस्कारोंके विनष्ट कर डालता है। जीव उस समय अपना ब्रह्मभाव अनुभव करता है—‘अहं ब्रह्माऽस्मि’ वही उसकी मुक्तिकी अवस्था है।

रामानुजने कहा है—ध्रुवानुस्मृतिरूपा भक्ति ही जीवके एकमात्र मुक्ति-साधन है। भक्ति-सेवित भाग्यवत्त्व

जीव मुक्ति-लाभ कर सकता है। किंतु क्षुद्र जीव कभी भी जीव नहीं हो सकता। जीव क्षुद्र है, ब्रह्म महान् है। जीव अधीन, दास है, और ब्रह्म सेव्य तथा प्रभु है। जीव होकर अपनेको प्रभु मान लेना महापराधका कारण है। जो जीव भ्रमवश अपनेको ब्रह्म समझ बैठता है, राजद्रोही की भाँति उसे दीर्घकालतक दण्ड भोगना पड़ता है। मुक्ति तो दूरकी बात है। 'तत्त्वमसि' वाक्यका अर्थ—तुम उनके हो—दास या सेवक हो और 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य केवल साधकका उत्साहवर्द्धक स्तुतिवादमात्र है, वस्तुतः तत्त्वोपदेशक नहीं।

(७) शङ्करने कहा है—माया, अविद्या और अज्ञान—एक ही पदार्थ है, केवल नाममात्रका भेद है। माया ब्रह्मका आश्रय लेकर उसमें विविध विवर्तकार्य उत्पन्न करती रहती है।

रामानुजने कहा है—माया और अज्ञान एक पदार्थ नहीं। माया भगवत्-शक्ति है और भगवान्‌में ही आश्रित है और अज्ञान—ज्ञानका अभाव है, वह जीवाश्रित है, जो उसे ही विमोहित रखता है, अनन्त ज्ञानाधार ब्रह्मको देख भी नहीं सकता। यह अज्ञान ही जीवको संसारमें बन्ध करके रखता है; अथ च भक्तिप्रसाद मिलते ही स्वयं निर्मोहित हो जाता है।

(८) शङ्करका कहना है—'तत्त्वमसि' प्रभृति श्रुति-व्यवर्जित ज्ञान ही मुक्ति-लाभका एकमात्र साधन है। उसे अतिरिक्त मोक्षलाभका कोई दूसरा उपाय नहीं।

रामानुजका कहना है—ज्ञान मुक्ति-लाभमें सहायक तो है; किंतु भक्ति ही मुक्ति-लाभका प्रधान उपाय है। केवल भगवत्प्रसादसे ही जीव ब्रह्म-सायुज्यादिरूप मुक्ति-लाभ करते हैं।

(९) शङ्करने कहा है—जीव इसी शरीरमें ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो जाता है। शरीरपातके पश्चात् संसारिक सुख-दुःखोंसे अतीत होकर सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप हो जाता है।

रामानुजने कहा है—जीवका जीवन्मुक्तिवाद एक सारवाक्य-मात्र है। सच तो यह है कि शरीरके होते हुए कभी भी किसीको मोक्ष नहीं मिल सकता। अथ च शरीर-प्राप्तिवाद भी जीव जीव ही रह जाता है—ब्रह्म नहीं हो सकता है। उस समय निरवच्छिन्न ब्रह्मानन्द-भोगके योग्य होकर वह सभी तरहसे भय-विनिर्मुक्त हो जाता

है। श्रुति भी—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विमेति कुतश्चन' के द्वारा इसी कथनकी पुष्टि करती है।

शङ्कराचार्यका कथन है कि वेदान्त-दर्शनमें आये हुए प्रथम सूत्र—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'में 'अथ' शब्दका अर्थ आनन्तर्य अर्थात् नित्यानित्य-वस्तु-विवेक है। साथ ही ऐहिक तथा पारलौकिक विषयभोगमें वैराग्य, शम-दमादि साधन-लाभ, सुमुखत्व—मोक्षकी अभिलाषाका भी यह बोधक है। कहनेका भाव यह है कि पहले नित्यानित्य-वस्तु-विवेक होता है और पीछे ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार होता है।

रामानुजका कहना है—निःसन्देह 'अथ' शब्दका अर्थ आनन्तर्य है, किंतु उसका अर्थ नित्यानित्यवस्तुविवेक कदापि नहीं। उससे कर्मज्ञानका आनन्तर्य ही समझना होगा। कहनेका मतलब यही कि पहले कर्म और कर्मफलमें अनित्यताका ज्ञान होगा और तत्पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासामें अधिकार होगा।

शङ्करने भी कहा है कि जैमिनिरचित द्वादशाध्यायवाली पूर्व-मीमांसा और वेदव्यासरचित चार अध्यायवाली उत्तर-मीमांसा—दोनों परस्पर निरपेक्ष और पृथक् शास्त्र हैं। अथ च एकका दूसरेसे कोई लगाव नहीं।

रामानुजका उत्तर है कि ये दोनों कदापि निरपेक्ष या पृथक् ग्रन्थ नहीं हैं; बल्कि दोनों ही मिलकर एक शास्त्र हैं। अथ च पूर्व-मीमांसा-शास्त्रके बारह अध्याय और उत्तर-मीमांसाके चार अध्याय लेकर—एक ही शास्त्र सोलह अध्यायोंमें सम्पूर्ण हुआ है। यह नाम-भेद केवल विषय-विभागानुसार ही हुआ है।

शङ्कर तथा रामानुजीय भाष्योंके तुलनात्मक अध्ययनसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि दोनोंमें मौलिक भेद है। कहीं-कहीं तो शङ्करकी व्याख्या रामानुजसे एकदम नहीं मिलती। व्याख्यापर ही नहीं—कहीं-कहीं दोनोंमें सूत्रपर भी मतभेद है। शङ्करने जिसे एक सूत्र माना है, रामानुजने उसे अपनी आवश्यकतानुसार दो सूत्र माने हैं। इतना ही नहीं, अधिकरण-रचनाको लेकर भी दोनोंमें मतभिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है। शङ्करने एक अधिकरणमें जितने सूत्रोंको पिरोया है, रामानुजने वहाँ भी न्यूनाधिक्यसे काम लिया है।

अस्तु, अभी भी उभय भाष्योंकी तुलनात्मक समीक्षा सम्पूर्णरूपसे प्रस्तुत नहीं हो पायी है। आशा है, विद्वानोंका ध्यान इस ओर आकृष्ट होगा।

वैराग्यकी महिमा

(लेखक—साधुवेष्टमें एक पथिक)

किसी भी वस्तु तथा व्यक्तिके प्रति अपनत्वके भावसे मनका आकृष्ट होना ही राग है। जिनको हमने नहीं बनाया, जिन्हें हम अपने साथ सदा नहीं रख सकते, उन सम्बन्धियों तथा सुखद वस्तुओंके होते हुए अपना न मानना, उनमें आसक्त न रहना, उनका मनन न करना ही वैराग्य है। राग ही समस्त बन्धनों-का कारण है। त्यागसे मुक्ति मिलती है। सांसारिक वस्तु तथा व्यक्तिके प्रति रागसे ही रुकावट होती है, त्यागसे ही सद्गति होती है। वैराग्य होनेपर ही शान्तिदायी त्याग साधकमें दीख पड़ता है। '...सांसारिक वस्तु तथा व्यक्तिका जो रागी है, वह अदूरदर्शी होता है, असद्वर्ती होता है। सांसारिक राग पापों और अनर्थोंका मूल है।

रागी व्यक्ति अपनी मानी हुई सीमाका पक्षपाती होता है, उसे रागकी सीमाके बाहर जो कुछ सत्य है, वह नहीं दीख पड़ता है। रागी व्यक्तिकी बुद्धि अपनी मानी हुई वस्तुओं, माने हुए सम्बन्धियों, माने हुए धनमें—पदाधिकारमें खूँटेसे बँधे पशुके समान चेष्टा करती है।

रागी व्यक्ति अपने प्रति सत्यान्वेषक नहीं हो सकता। राग रहते सत्य और शाश्वत शान्तिकी ओर बढ़ नहीं सकता, न स्वस्थ हो सकता है; इसलिये विवेकपूर्वक उसे वैराग्य धारण करना है। जिस प्रकार विवेक होनेपर अहंकार असत् वस्तुओं तथा सुखोंके अभिमानसे शून्य होकर शुद्ध होता है, उसी प्रकार वैराग्यसे बुद्धि मोहमुक्त होकर शुद्ध और स्थिर होती है। अविवेकवश ही अहं तथा रागवश ही बुद्धि अशुद्ध है।

विवेकसे सङ्गाभिमान दूर होता है, वैराग्यसे सम्बन्धासक्ति दूर होती है। साधकको विवेकद्वारा प्रत्येक वस्तुकी असारतापर उसके नश्वर जीवनको देखते रहना होता है, ऐसा होनेपर ही वैराग्य सम्भव है। रागासक्ति-

वश वस्तुओंका संग्रह करना विश्वका ऋणी होने उन्हें दूसरोंकी सेवामें लगा देना ही उन्मृग होनेपर ही संसारसे उन्मृग होनेपर ही भगवत्सम्बन्ध होने सच्चा विरागी ही उन्मृग हो सकता है, उसमें शक्ति होती है।

देहसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त सुख-अनित्य पदार्थोंके प्रति जो घृणा-बुद्धि है, उसे ही पुरुष वैराग्य कहते हैं। वैराग्य होनेपर ही अपमान, हानि, प्रियजनोंके सम्बन्ध-विच्छेद या शरीरकी मृत्युसे न तो भयातुर होता है, न दुःखी विरागीके साथ संरक्षण, आश्वासन, संतोष, तृप्ति, गम्भीरता, धीरता, जागृति और प्रकाश सम्पत्ति रहती है। '...नाशशील पदार्थों या कि क्षेत्रके विनाशी—परिवर्तनशील सुखोंमें अन्य ही पतनका कारण है। '...यदि साधक किसी सुन्दर मानकर मुग्ध होता है, दर्शनका सुन्दरतामें आसक्त होता है तो यह भी बन्धन वैराग्यसे ही टूट सकता है। वैराग्य तभी होता है रूपके कारण तत्त्वोंका ज्ञान होता है। ऐसा प्रत्येक सुन्दरताके पीछे छिपे रहनेवाले अशुद्ध वृणित द्रव्योंका दर्शन होता है। जो सांसारिक तथा व्यक्तिके वास्तविक रूपको देख लेता है, वह विरागी होता है। वैराग्य यथार्थदर्शिताका परिचय देता है।

यदि इन्द्रियोंके सङ्गसे मनमें अभ्यास दृढ़ हो गया है तो वह तभी मिट सकता जब निरन्तर परमात्माके चिन्तनका ही अभ्यास हो जाय। स्मरण रखना चाहिये कि शुद्ध दिव्य सृष्टिमें एक भी कुसंस्कारके भूतके प्रवेशसे पवित्र रचना छिन्न-भिन्न हो जाती है।

प्राचीन ग्रन्थोंमें राजधर्म

(लेखक—व्योहार श्रीराजेन्द्रसिंहजी)

हमारे ग्रन्थोंमें केवल मोक्ष या धर्मका ही वर्णन नहीं है, वरं राजनीति—अर्थशास्त्र आदि लौकिक विषयोंका भी पर्याप्त वर्णन मिलता है। इससे जान पड़ता है कि हमारी प्राचीन संस्कृति भौतिक और आध्यात्मिक सभी विषयोंमें उन्नत और परिपूर्ण थी। इन विषयोंपर संस्कृत-कौटिलीय अर्थशास्त्र और शुक्रनीति आदि प्रामाणिक ग्रन्थ मौजूद हैं। महाभारतमें इनकी विशेष चर्चा है। उसमें महाभारत हमारी संस्कृतिका विश्वकोष ही है, जिसमें सभी विषयोंका समावेश है। इसीसे कहा है—

अर्थं धर्मं च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सभी शास्त्रीय विषयोंमें जो यहाँ है, वही अन्यत्र है; जो इसमें नहीं है, वह वही नहीं है। इसीलिये यह सच है कि महाभारत यदि धर्मशास्त्र है तो वह मोक्षशास्त्र भी है। यदि काम-शास्त्र है तो अर्थशास्त्र भी है।

अर्थशास्त्रमिदं पुण्यं कामशास्त्रं तथैव च ।

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यं मोक्षशास्त्रं च भारत ॥

समाजकी रक्षाके लिये चारोंके संतुलनकी आवश्यकता है। महाभारतमें चारोंका विवेचन किया गया है। जबतक समाजकी आर्थिक व्यवस्था ठीक नहीं होती, उसका सामाजिक धर्म भी ठीक नहीं रह सकता। जबतक मनोविकारोंके लिये उचित व्यवस्था और आवश्यक नियन्त्रण नहीं किया जाता, पारिवारिक सुख-शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। इसीलिये कामशास्त्रकी रचना की गयी। उन सबके ऊपर आध्यात्मिक एकता-के आधारपर लौकिक और पारलौकिक आत्यन्तिक सुखके लिये मोक्षधर्मकी व्यवस्था की गयी।

इन चारों वर्गों—अर्थ, धर्म, काम, मोक्षके उचित

संतुलनके लिये चतुर्वर्गों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्गोंकी व्यवस्था की गयी। जिसमें श्रम, धन, शक्ति और आत्मचिन्तनका आपसमें सम्पर्क और नियन्त्रण रहे। 'ब्रह्मघोष' से मानवका आत्यन्तिक कल्याण अवश्य है; किंतु उसकी रक्षाके लिये 'ज्याघोष' रक्षाशक्तिकी भी आवश्यकता है। इसीलिये—

ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम् ।

संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ॥

ब्राह्मणकी आध्यात्मिक दृष्टि और क्षत्रियके अनुपम बलका जब संतुलन और सहयोग होगा, तभी लोकका असली कल्याण हो सकता है।

ब्रह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षत्रमप्रतिमं बलम् ।

तौ यदाऽऽचरतः सार्धं तदा लोकः प्रसीदति ॥

किंतु केवल इन्हींके सहयोगसे काम न चलेगा। देशकी धनशक्ति (वैश्य) और जनशक्ति (शूद्र) के सहयोगके बिना वे दोनों अपङ्ग हैं। इसी कारण राजसूय यज्ञके समय युधिष्ठिरने चारों शक्तियोंका आवाहन किया।

आमन्त्रयत राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानपि ।

विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥

बीच-बीचमें विश्वामित्र और वसिष्ठके उपाख्यानमें ब्राह्मण और क्षत्रियोंका संघर्ष भी बतलाया है और कहा है—

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।

और यह भी स्वीकार किया गया कि बिना ब्रह्मतेजके क्षत्रिय-बल क्षीण हो जाता है।

ब्राह्मणैर्विप्रहीणस्य क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥

किंतु यह भी मानना पड़ा कि बिना शस्त्र-रक्षाके शास्त्रचिन्तन भी सम्भव नहीं होता।

शास्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते ।

इसलिये चतुर्वर्णकी रक्षाके लिये क्षात्रतेज और राज-धर्म दोनोंकी आवश्यकता स्वीकार की गयी । महाभारतमें इसका विशद विवेचन किया गया है । वैसे तो शान्तिपर्वमें बहुत विस्तारके साथ पितामह भीष्मने इस राजधर्मका विस्तृत विवेचन किया है; किंतु वनपर्वमें नारद और युधिष्ठिरके संवादमें भी इसका संक्षिप्त किंतु बड़ा सुन्दर विवेचन देखा जाता है । उसीकी यहाँ कुछ चर्चा करनी है ।

राजाका पहला कर्तव्य है कि समयका उचित विभाग करके त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म, काम) का सेवन करे । तीनोंमें संतुलन रखे । वह अर्थका सेवन अवश्य करे, किंतु धर्ममें उसका चित्त लगा रहे; वह सुखका अनुभव अवश्य करे, किंतु मन उससे निर्लिप्त रहे । राजाको चाहिये कि वह अपने मित्र, शत्रु और उदासीनोंके मनके भावोंका पता लगाता रहे । उसके मन्त्री बुद्धिमान् और शास्त्रकोविद होने चाहिये । उनकी सलाह सदा गुप्त रहनी चाहिये । मन्त्रभेद (Official secret) के प्रकट हो जानेसे बड़े अनर्थ हो जाते हैं ।

राजाको चाहिये कि वह मूर्खोंका त्याग कर विद्वानोंका संग्रह करे । शत्रुके आक्रमणका सामना करनेके लिये दुर्गोंका निर्माण और उन्हें युद्ध-सामग्रीसे सुसम्पन्न रखना भी जरूरी है ।

उसे इतना उग्र दण्ड भी न देना चाहिये कि प्रजा उत्तेजित हो जाय और इतना नरम भी न रहे कि अराजकता फैल जाय । कर भी इतना अधिक न हो कि उसे प्रजा देनेमें असमर्थ हो जाय और न इतना कम रहे कि राजकोष ही खाली हो जाय ।

राजाका सेनापति भी बड़ा शूर-वीर, बुद्धिमान् और दक्ष होना चाहिये । सैनिकोंको ठीक समयपर उचित वेतन मिलना चाहिये । युद्धमें काम आनेपर उनके

परिवारकी रक्षा करना भी राजाका काम है । राजा देशोंको जीतनेका प्रयास करता है; पर स्वयं व्यमोह इन्द्रियोंके बश हो जाता है । व्यासजीका आदेश है पहले अपने-आपको जीतो, फिर दूसरोंको जीतने प्रयत्न करो ।

आय-व्ययका ठीक विभाग करना भी राजाका काम है । अपनी आयका केवल चौथाई, तिहाई या अधिक-से-अधिक आधा खर्च करनेका आदेश है । शेष कोषमें संग्रहित रहे । आय-व्ययके लेखनका कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण है, उसपर उत्तम 'गणक लेखक' नियुक्त किये जाने आवश्यक है । नित्य प्रातःकाल आय-व्ययपर विचार होना चाहिये । लोभियों, चोरों और वैरियोंको कामोंपर नियुक्ति नहीं करनी चाहिये ।

प्रजाके मुख्य आधार किसानोंकी रक्षा करना संतुष्ट रखना भी राजाका काम है । वे ही राष्ट्रका पोषण करते हैं ।

ये वहन्ति धुरं राज्ञां ये भरन्तीतराणी ।
कृषिकी रक्षाके लिये खेतीकी सिंचाई तथा बाँधोंका उचित व्यवस्था होना आवश्यक है । दैवी वर्षापर निर्भर नहीं रहना चाहिये ।

नारदने पूछा—
कच्चिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमात्मिका ।
जनपदकी शासन-व्यवस्थाके लिये ऐसे शूर और विद्वान् पंचोंकी नियुक्ति भी आवश्यक है जो मिलकर जनपदकी भलाई करें—

शूराश्च कृतप्रज्ञाश्च पञ्च पञ्च स्तुष्टिमा ।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजन् जनपदे तव ।
प्रजाको नित्य दर्शन भी आवश्यक है; किंतु राजा रक्षाको भी नहीं भुलाना चाहिये, जिससे दुष्ट आक्रमण न कर दें ।

राजाका यह भी कर्तव्य है कि प्रजाके ओंकार

संख्या ८]

उपचारकी भी पूरी व्यवस्था करे। यह भी आवश्यक है कि राजाके विद्या, धन, बल, ज्ञान सब सफल हों। केवल निष्क्रिय बनकर न रह जायँ।

राज्य-शासनके लिये अनेक शास्त्रोंका जानना आवश्यक है। हस्ति, अश्व, अस्त्र, यन्त्र आदि सभीके शास्त्र तथा सूत्र उस समय प्रचलित थे, जैसे हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र आदि।

राजाका मुख्य धर्म है प्रजाका पालन—खासकर अपङ्ग, असमर्थोंका पिताके समान पालन करना सबसे आवश्यक है। राजाको उन व्यसनोंसे बचना चाहिये

जो धन और सत्तासे उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे कि मदिरापान, द्यूत तथा स्त्रीसेवन। इसीके साथ-साथ लः अनर्थोंसे खासकर बचनेकी आवश्यकता है। वे हैं—निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कमजोरी और दीर्घ-सूत्रता।

इस प्रकार जो राजा आचरण करता है, वह चातुर्वर्ण्यकी रक्षाकर स्वयं सुखी होता है।

एवं यो वर्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे।

स विद्वत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम्॥

(महा० वनपर्व)

चिन्तन

(लेखक—श्रीगणपतिजी पारीक)

मेरे हृदयेश्वर ! मेरे हृदयके नेपथ्यमें तुम सर्वाधिकारसे आरुढ़ हो। वहाँ मैं और मेरापन केवल तुम्हारे संकल्पपर आश्रित हूँ। मैं तुम्हारा एक वाहनरूप हूँ। मेरी चेष्टाएँ केवल तुम्हारी भृकुटिके संकेतसे ही प्रस्तुति हो रही हैं।

मेरे आत्मेश्वर ! मैं तुममय बननेकी अभिलाषाको लेकर तुम्हारी ओर बढ़ रहा हूँ। मेरा मेरापन तुम्हारे मार्गमें ही बिखरता जा रहा है और इसके लिये मुझे कोई चेष्टा भी तो नहीं करनी पड़ रही है। तुम्हारी सन्निधिमें पहुँचकर जब तुम्हारे संकल्पोंमें विभोर हो मैंने, मेरे बिखरे मेरेपनको देखा तो क्या देखता हूँ कि जैसे वास्तवमें मेरा मेरापन तुम्हारेपनके सिवा कुछ और न था। आगे और पीछे, दायें और बायें, ऊपर और नीचे तथा इन सबके मध्यमें चारों दिशाओंमें जहाँतक क्षितिजमें पलकों फैलाकर देखनेकी चेष्टा करता हूँ तो इन सबमें केवल तुम्हारा ही पर्याय भासता है।

मेरे प्राणेश्वर ! यहाँ आकर मैंने देखा कि मेरी गति तुम्हारी अगतिमें विलीन होकर स्तब्ध हो रही है।

तुम मुझसे, मैं और मेरापन छीननेको उतावले हो चले, तुमने मुझे आत्मसात् करना चाहा। अब मैं खिसक चला। मैं तुम्हें निरन्तर अतृप्त दृगोंसे देखते रहनेके लोभको संवरण न कर सका। ठुकरा दिया तुम्हारे नीरस प्रस्तावको। प्रेमकी सरिता बह निकली, स्नेह-स्रोत उमड़ पड़ा, उस स्रावमें मैं मेरेपनको लिये तनिक नीचे बह पाया। तुम वहीं खड़े रहे ! मेरी प्रसन्नतामें ही तुमने अपनी प्रसन्नता समझी। मैं भी तुम्हें आह्लादित देखकर फूला न समाया। मैंने मेरापन कायम रक्खा और तुमने तुम्हारापन।

मेरे चिर-सान्निध्य ! क्या तुम सदा यहीं रहते हो ? यहाँ तुम्हारा नाम 'तुम' और मेरा नाम 'मैं'। बस इतना ही। यह भी अवाञ्छनीय-सा ही प्रतीत हो रहा है। केवल अपने सान्निध्यकी भावनामात्रसे ही उर-अन्तर आप्लावित रहते हैं, पगे रहते हैं, मृदुतामें सने रहते हैं। 'रव' जो था वह अब 'रस'में परिणत हो चला !

मेरे देव ! तुम मुझसे मिले, पेसा किन शब्दोंसे

कहूँ ? मिलना तो वह जहाँ अपरिचय और पार्थक्यकी गन्ध हो । यहाँ तो तुम चिर-परिचय और चिर-मिलन-का अमर सुहाग साथ ही लाये । मैं तुम्हें भूला था, तुमने मेरी विस्मृतिके महाघोर तिमिराङ्गणमें चिरस्मृतिका प्रचण्ड मार्तण्ड अवलोकित करा दिया ।

मेरे स्वामी ! मैं किस मुँहसे कहूँ कि तुम मेरे हो ।

क्योंकि मेरे कहे जानेवाले यावन्मात्र स्थावर-जङ्गम जगत्में तुम निराले ही नहीं अपितु कुछ और भी हो, कर्ण-तीत हो, असीम हो । किंतु तुमने अपनी अहंताके कृपाके दर्शन कराये और मेरे अति सीमित ममत्व-पाशसे चिर-बन्धन स्वीकार किया । अपनी मर्यादा सुलभ ससीम बन गये ।

जीवन-धन

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

मनुष्यकी प्राणशक्ति जीवनका सर्वोपरि धन है । मेरे पास अमुक धनराशि है, मेरे पास अमुक संख्यामें मकान हैं, मुझे अमुक-अमुकसे रुपया लेना है, मेरे पास ऐश्वर्यके सब साधन हैं । फिर मुझसे बढ़कर धनी कौन ? मैं सबसे शक्तिशाली हूँ ? यह तर्क ठीक नहीं है । उपर्युक्त सब वस्तुएँ धन नहीं हैं । मोह और अविवेकके पदोंके कारण रुपया-पैसा, जायदाद, मकान, जमीन इत्यादि हमें धन-जैसी मालूम होती हैं । वास्तविक धन वह प्राणशक्ति है, जो हममें विद्यमान है । धन वे श्वास हैं, जिन्हें हमें लेना है; धन वह जीवन है, जिसका आनन्द हमें उठाना है । वास्तविक धन वह स्वास्थ्य है, जिसके द्वारा हमें संसारकी समग्र वस्तुओंको भोगना है ।

वास्तविक धन जीवन-धन है । जीवन-धन संसारके सब धनोंसे उत्कृष्ट है । बैंकोंमें जमा की हुई आपकी असंख्य धनराशि जीवन-धनके एक कणसे छोटी है । जमीन-जायदाद उसका मुकाबला नहीं कर सकती । मकानमें वह ताकत नहीं कि जीवन-धनसे समता कर सके । सांसारिक सम्पदा आपके लिये कोई अर्थ नहीं रखती, यदि जीवन-धनकी बूँदें समाप्त हो चुकी हैं ।

एक भिखारी है, शरीरसे हड्डा-कड्डा, खाता है मोटी रोटी, पहिनाता है फटा वस्त्र, सोता है सड़कके पास वृक्षकी छायामें । यह प्रसन्न है, यद्यपि इसके पास न रुपया है, न मकान, न जमीन-जायदाद । इसके पास जीवन-धन है, जो सब धनोंका सिरमौर है ।

संसार सापेक्ष (Relative) है । जीवन और संसारमें घनिष्ठता है । जीवन संसारसे बड़ा है; क्योंकि संसारका अस्तित्व जीवन (आपके जीवन-धन) पर है । यदि आपके

पास जीवनरूपी यह श्रेष्ठ धन है, तो संसारका सुख-आनन्द मकान-जमीन, रुपया-पैसा कुछ अर्थ रखता है, अन्यथा न व्यर्थ । जहाँ जीवन है वहाँ संसारका सुख है । शरीरके साथ संसार नहीं जाता । अकेला शरीर चला जाता है । पि जगत्का मेरापन कहाँ रहा । जीवन-धनके साथ जगत्के स पदार्थोंका अस्तित्व है । हमारा जीवन ही संसार है । वह सुख है । यही वास्तविक है, अन्य सब इसीके ऊपर आँव हैं । अतः हमें चाहिये कि जीवन-धनकी रक्षा करते रहें ।

जीवन-धनको व्यय करनेमें साधारण धन व्यय करनेके अपेक्षा अधिक सतर्कता, मितव्ययता, दूरदर्शिता और सावधानीकी आवश्यकता है । आपके पास एक रुपया है, तो उसे व्यय करनेमें आप घंटों सोचते हैं । इस रुपयके खर्च करनेका सबसे अच्छा उपाय क्या है ? किस तरह इससे अधिकतम आनन्द प्राप्त किया जाय ? कहीं ऐसा न हो कि कोई चोर इसे चुराकर ले उड़े ? किसीको उधार न दें, कहीं वह न लौटाये तब ?

जीवन-धन व्यय करते समय उपर्युक्त तर्कोंके अतिरिक्त भी असंख्य तर्कोंको लगाना पड़ता है । हमें अपना जीवन किस कार्यमें व्यय करना है ? किस-किस वस्तुको एकत्रित करना है ? किस-किसमें अपना मोह डालना है ? किस-किसमें अपने हाथ-पाँव बचाने हैं ?

जीवन-धनकी रक्षाके उपाय

जीवन-धनका हास मानसिक विकारोंके उद्देग तथा उत्तेजनाओंसे होता है । मानसिक जगत्में जो नाना प्रकारके संघर्ष, उद्देग, चिन्ताएँ चलती रहती हैं, जिनमें हमारा धन खपकर निरस्त हो जाता है । यदि आपके

संख्या ८]

चिन्ताएँ, अतृप्ति, ममत्वका बन्धन हमारी प्राणशक्तिको कम करता है। एक उदाहरण लीजिये—

‘यह मकान मेरा है, चूनेके एक कण कणमें मेरापन भरा हुआ है। उसे बेच दिया, हुण्डी हाथ आ गयी। इसके बाद मकानमें आग लग गयी। मैं कहने लगा—‘बड़ा अच्छा हुआ, रुपये मिल गये।’ मेरापन छूटते ही मकान जलनेका दुःख मिट गया। अब हुण्डी—कागजमें मेरापन है। बड़े भारी मकानसे निकलकर सारा मेरापन जरासे कागजके टुकड़ेमें छा गया। अब हुण्डीकी तरफ कोई नहीं ताक सकता। हुण्डी बेच दी, रुपयोंकी थैली हाथमें आ गयी। इसके बाद हुण्डीका कागज भले ही फट जाय, जल जाय, कोई चिन्ता नहीं। सारी ममता थैलीमें आ गयी। अब उसीकी सम्हाल होती है। इसके बाद रुपये किसी महाजनको दे दिये। अब चाहे उसके यहाँसे वे रुपये चोरी चले जायँ, कोई परवा नहीं। उसके खातेमें अपने रुपये जमा होने चाहिये और उस महाजनका फर्म बना रहना चाहिये। चिन्ता है तो इस बातकी कि कहीं फर्म दिवालिया न हो जाय। इस प्रकार जिसमें ममता होती है, उसकी चिन्ता रहती है। यह ममता ही दुःखकी जड़ है।’

एक दूसरा उदाहरण लीजिये—

‘मेरे कोई पुत्र नहीं है। पुत्र होता तो अच्छा था। पितृ-ऋणसे भी उद्धार हो जाता। पुत्र हो जाता है। अब चिन्ता है कि यह स्वस्थ रहे, बीमार न हो। वह बड़ा होता है, चिन्ता है कहीं दुष्ट न निकल जाय। इसकी शिक्षा-दीक्षा ठीक हो। चिन्ता करते-करते शिक्षा पूर्ण होती है। अब फिर है कि किसी प्रकार इसे नौकरी मिले, जीविकाका प्रश्न हल हो जाय। किसी प्रकार यह भी हो जाता है, तो फिर उसके विवाहकी चिन्ता है। राम-राम कर अच्छी जगह विवाह होता है, अब चिन्ता है बहू ठीक रहे; लड़े-झगड़े नहीं। उसके शिशु इत्यादि जन्म लें। वह तथा पौत्र बीमार न हों। एकके पश्चात् एक कड़ी ममता-मोहसे बँधी है।

इस ममत्व, इन नाना प्रकारकी ममत्वसे उत्पन्न चिन्ताओंमें फँसकर हम अपने सुख, शान्ति, आनन्दकी ओर नहीं देखते। व्यर्थके बोझ अपने ऊपर बढ़ाकर उन्हें दूर करनेके उपाय सोचा करते हैं।

पहले नाना प्रकारकी समस्याओंमें अनावश्यक रूपसे फँस

जाना, फिर पागलोंकी तरह उन्हें दूर करनेमें अपना जीवन-धन नष्ट करना कहाँका विवेक है ?

जीवन-धनके क्षयका दूसरा कारण वासना-तृप्ति है। वासनाएँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी हैं—कामवासना, प्रशंसा, महत्ता, ऐश्वर्य, प्रसिद्धि इत्यादि। इनके माया-जालमें बहुत-सा जीवन-धन नष्ट हो जाता है।

कामवासना महान् अनर्थकारी है। यह जीवमात्रकी सबसे बड़ी शत्रु है। एक इस वासनाको वशमें करनेसे मनुष्य सैकड़ों उत्तरदायित्वों, घृणित रोगों, ऋण, बच्चोंके भार, उनके विवाह-शादियोंके कमर तोड़नेवाले व्ययोंसे बच जाता है। एक विवाहसे ही इतना बोझ बढ़ता कि उसे सम्हालते-सम्हालते हलका करते-करते जीवन-धन आधेसे अधिक व्यय हो जाता है। उस व्यक्तिके कष्ट, मानसिक चिन्ता तथा आर्थिक दुरवस्थाकी कल्पना कीजिये, जिसके एकसे अधिक पत्नियाँ या दस-बारह संतानें हैं। उस अनजानका जीवन-धन इन्हींके उत्तरदायित्वको समाप्त करनेमें नष्ट हो जायगा।

जीवन-धनकी रक्षाके लिये वासनासे युद्ध कीजिये। उसके फंदेमें मत फँसिये। दूसरे शब्दोंमें विलास, कामलोलुपता, व्यभिचार, तामसी आहारसे दूर रहिये। कामवासनाकी तृप्ति असम्भव है। जीवन-पर्यन्त साथ लगा रहनेवाला यह विकार है। अतः थोड़ेसे ही तृप्तिकी भावना दृढ़ करनी चाहिये।

सावधान रहिये—वृणा, द्वेष, हिंसा, वैर, मान, अहङ्कार, कामना इत्यादि दुष्ट मनोविकार जीवन-धनको न चुरा लें। काम, क्रोध, दम्भभरे कूड़े-करकटको बाहर फेंककर मनको निर्मल रखिये। अनावश्यक तृष्णासे अपनेको बचाये रखिये, अन्यथा उनमें व्यर्थ ही जीवन-धन व्यय हो जायगा। हाथ कुछ न आयेगा।

अनावश्यक वस्तुओं—जमीन, जायदाद, धन-सम्पदा, वस्त्र, रुपये या अन्य वस्तुओंके संग्रहकी भावनाका परित्याग कर दीजिये। इनकी देख-रेख तथा व्यवस्थामें जो शक्ति नष्ट होती है, उसे बचाकर रखिये।

आवश्यकताओंको कम कीजिये। एक शौकीनीसे दूसरी; दूसरीसे तीसरी-चौथी उत्पन्न होती हैं। आवश्यकता-पूर्त्तिका ताँता टूटने ही नहीं पाता। जो शक्ति है, जीवन है, वह आनन्द-प्राप्तिमें लगाना चाहिये।

व्यसन छोड़ दीजिये। इनकी उत्तेजनाओंमें मनुष्यका जीवन-धन बिना आगा-पीछा देखे व्यय होता है। तम्बाकू, मद्य, अफीमके नशेमें मनुष्य प्राणशक्तिका क्षय निरन्तर करता चलता है। इस विनाशका ज्ञान उसे तब होता है, जब उसके अवयव जवाब दे डालते हैं। इसी प्रकारका कुटिल आकर्षण व्यभिचारमें है, जो अनेक घृणित रोगोंके अभिशाप देकर मनुष्यकी प्राणशक्तिका बुरी तरह क्षय करता है।

भोगोंमें वैराग्यभावना करनेसे ही उधरसे वृत्ति रुक सकती है। धन और स्त्रीका भोग छोड़ना प्रथम सोपान है। तदनन्तर कीर्तिकी चाह छोड़कर अनासक्तभावसे जगत्में निवास कीजिये।

अपनी आयमें ही समस्त आवश्यकताओंकी पूर्ति हो जाय, व्यर्थकी झूठ, कपट, दूसरोंका माल हड़पकर काला बाजार, घूसखोरी, बेईमानी न करनी पड़े, इन्द्रिय-लोलुपताकी वृद्धि न हो—यह ध्यान रखिये। अधिक आवश्यकताएँ, फैशन, विलासप्रियता अनावश्यक मानसिक तनाव उत्पन्न करती हैं। इनसे बचे रहिये। धन ऐसा अथाह समुद्र है जिसमें सम्मान, आत्मा और सत्य सभी डुबाये जा सकते हैं।

‘कठिनाइयाँ हैं, कठिन समय है, हमारा भाग्य ही खराब है।’—ऐसी बेमतलबकी भ्रान्तियाँ मनोमन्दिरमें न आने दीजिये। आत्मविश्वासकी कमी ही हमारी बहुत-सी असफलताओंका कारण है। शक्तिके विश्वासमें ही शक्ति है। वे सबसे कमजोर हैं (चाहे वे कितने ही शक्तिशाली क्यों

न हों) जिन्हें अपने-आपमें तथा अपनी शक्तिमें विश्वास नहीं। अनेक आपत्तियाँ और कठिनाइयाँ बहुधा आशीर्वाद लिख देती हैं। फालतू अनर्थकारी चिन्तनमें जीवन-धनका व्यय मत कीजिये।

सर्वोच्च आनन्दकी प्राप्ति परमेश्वरके सान्निध्यमें है। इस चिन्तनमें जो क्षण व्यतीत होते हैं, इन्द्रियसंयममें जो समय लगता है, समाजसेवा, परोपकारमें जो समय व्यय होता है वही आनन्ददायक है।

मन्दिर-मठ बनानेसे कोई लाभ नहीं, जयतक आपका भावना परोपकारकी न हो। ईश्वर रिश्वत नहीं चाहता। उससे श्रेष्ठ यही है कि पुराने मन्दिरमें रहकर ही मानवका ईश्वरकी सेवा की जाय।

ईश्वरीय तत्त्वोंका निरन्तर अपने चरित्रमें विकास करते रहो। वीर्यवान्, नीरोग, शक्तिसम्पन्न और पवित्र बनो। दूसरोंके प्रति तुम्हारा व्यवहार प्रेमपूर्ण हो।

मृत्युका भय त्याग दो। जन्म और मृत्युका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। जब वहाँसे बुलावा आयेगा, चले जाना होगा। उसमें भयकी क्या बात। जगत्के प्रति जितनी तुम्हारी आसक्ति—मोह होगा, मृत्युमें उतना ही कष्ट होगा। आसक्ति कम करते जाइये और सुखी रहिये।

जगत्के मायाजालसे दूर रहकर हमें उच्चतम आनन्द प्राप्त करना है, इन्द्रियोंके क्रीतदास नहीं बनना है; दयानिधाय प्रभुकी असीम अनुकम्पापर हमें विश्वास रखना है—न भावना रखनेसे जीवन-धनकी रक्षा होती है।

न त्यागनेके छः गुण और त्यागनेके छः दोष

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन । सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥
षड्दोषाः पुरुषेण ह हातव्या भूतिमिच्छता । निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधमालस्यं दीर्घसूत्रता ॥

(महाभारत उद्योगपर्व ३३ । ८५-८६)

छः गुण मनुष्यके लिये कभी त्याग करने योग्य नहीं हैं—सत्य, दान, आलस्यशून्यता, अनसूया (दूसरेसे दोषदर्शनका अभाव), क्षमा और धृति।

छः दोष इस जगत्में उन्नति चाहनेवाले मनुष्यके लिये त्याग करने योग्य हैं—निद्रा (बहुत सोना), तन्द्रा (जगत् अवस्थामें मूढ़भाव), भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता।

नेता कौन है ?

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा, एम्० एल्० ए०)

बिना नेताके समाज नहीं होता और नेताके लिये समाजका होना आवश्यक है। जयसे सभ्यता पनपी, मानव-समाजसे लेकर पशु तथा कीट-पतंग-समाजमें भी नेताकी रचना हुई; जनसमूहको या पशु-पक्षीसमूहको पेट तथा ग्रहस्थीकी झंझटमें इतना अवकाश नहीं रहता कि वह अपना ठीकसे नियन्त्रण कर सके तथा अपने सामाजिक जीवनका संचालन कर सके—यह कार्य समूचे समाजकी ओरसे उसका एक अग्रणी या नेता करता है। नेता अपने सभावसिद्ध गुणोंसे तथा अपनेमें उपयोगिताके कारण पूजनीय होता है। वास्तवमें वह 'गणपति' होता है; पर गणपति बननेके लिये, 'गणानां त्वा गणपतिः' होनेके लिये उसमें कई गुणोंका समुच्चय होना चाहिये। गणपति वही हो सकता है, जो हाथीके ऐसे बड़े-बड़े कान रखता हो; जिससे संसारका सब कुछ उसके कानोंको सुनायी दे जाय। उसके नेत्र इतने छोटे हों कि संसारका ऐव बहुत कम देखे। पेट इतना बड़ा हो कि सब कुछ सुन-समझकर पेटमें रख ले। चूहेकी चाल चले यानी बहुत सावधानीसे चारों तरफकी थाह लेकर तब बड़ी शीघ्रतासे चले, फिर रुक जाय, इतनी सावधानीसे जीवन बितानेवालेके ही दोनों शायें लड्डू होता है। सूँडसे फूँक-फूँक कर वह कदम रखता है—यह है गणपतिका गुण। सब कार्योंका आरम्भ करनेमें ऐसे गणपतिका पूजन करनेसे सभी विघ्नोंका नाश होता है और उस गणपतिकी कृपासे सब काम सिद्ध होते हैं। उसका आदर्श मानकर चलनेसे ही हरेक मनुष्यका कल्याण होता है।

इसी प्राचीन गणपतिको हमारे शास्त्रोंने 'नेता' कहा है। नेता बड़ा पुराना शब्द है; आजका नहीं है। किंतु जिस समय यह शब्द बना था, उस समय प्रायः राजा तथा पुरोहित ही नेता होता था। आज तो जिस गली-कूचेमें, जिस कंकड़-पत्थरको उठा लीजिये, वही नेता होगा। वर्षा में नदीकी बाढ़ आती है, प्रजातन्त्रमें नेताकी बाढ़ आ गयी है। हमारे देशमें स्वराज्य हो गया, पर हम स्वराज्यका सुख नहीं भोग पाते हैं। इसका कारण है कि हमारा नेता हमको चैनसे बैठने नहीं देता। जहाँ समस्या नहीं है, वहाँ पर वह कोई-न-कोई समस्या उत्पन्न कर देगा। यदि हम

लेशमात्र भी सुखकी साँस लेना चाहेंगे तो वह नयी-नयी उलझनें पैदा कर देगा।

एक बात और भी है—देशका तथा समाजका उत्थान नेतापर निर्भर करता है। नेता यदि पथभ्रष्ट हुआ तो देश भी पतनकी ओर अग्रसर हो जाता है। इसलिये, और किसी विचारसे नहीं तो अपनी रक्षाके विचारसे ही, हमको बहुत छानबीन कर अपना नेता चुनना होगा। आजकी हमारी बहुत-सी परेशानियोंकी जड़ हमारा गलत नेता भी हो सकता है।

सुखका हेतु

पर, साधारण जनसमूहके पास न तो अवकाश है और न इतनी बुद्धि है कि वह भले-बुरेकी पहचान कर सके। मामूली कहावत है—

गुरु कीजै जानकर । पानी पीजै छानकर ।

पर नेता कैसे किया या बनाया जाता है ? इस प्रश्नका उत्तर देना कठिन है। पश्चिमकी विचारधारामें इसकी अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं; पर वे प्रायः सभी बहुत ही भौतिक तथा सांसारिक हैं। नेताओंकी भौतिकता तथा सांसारिकता ही विश्वके वर्तमान संकटका एक प्रधान कारण है। यदि मानव कुछ अधिक आध्यात्मिक तथा असांसारिक हो सकता तो वह संसारके ऊहापोहके मायाजालमें गल्ला फँसाकर सिसक-सिसक कर मरता नहीं। नश्वर चीजें मनुष्यके दिलको खा जाती हैं और अन्तरात्माको अन्धा कर देती हैं। जीवनका सुख चिन्ताओंमें समझा जाता है। दिल या हृदयकी आवश्यकता पार्थिव कसक या विनाशकारी प्रेमतक सीमित है—

गम गया, रौनके हयात गयी ।

दिल गया, सारी कायनात गयी ॥

पर, जीवन इसके ऊपर उठकर है। जीवन उसका है जो यह समझता है कि—

तुम जिसे दिल खयाल करते हो ।

वह शविस्ता-सा एक खिलौना था ॥

मनुष्यके सांसारिक जीवनका उद्देश्य है सुख। सुखकी प्राप्ति सम्पत्तिसे होती है। सम्पत्तिको हेतु क्या है ? कारण क्या है ?

प्रभावः शुचिता मैत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता ।

श्रुतिः शीलं दमश्चेति गुणाः सम्पत्तिहेतवः ॥

अर्थात् प्रभाव, पवित्रता, मित्रता, त्याग, सत्य, दूसरेका उपकार मानकर उसको स्मरण रखना, शास्त्र तथा शील-सम्पन्न होना और बाहर-भीतरकी इन्द्रियोंको जीत लेना—ये गुण सम्पत्तिके कारण हैं—हेतु हैं ।

इसलिये नेता वही है, जो हमें इन गुणोंको सिखलावे, जो हमारे मन-वचनमें ऐसी भावना भर दे कि हम इन गुणोंका प्रतिपादन—सम्पादन करें । पर, ऐसी शिक्षा देना भी साधारण बात नहीं है । कौन ऐसी शिक्षा दे सकता है ? नेता । प्रश्न फिर आता है कि 'नेता कौन है या किसे मानना चाहिये ?'

नेताका अर्थ

इस प्रश्नका उत्तर प्राप्त करनेके लिये हमको आजसे दो हजार साल पीछे लौट चलना होगा । उस समयकी भारतीय संस्कृतिने बहुत सेच-समझकर नेताकी व्याख्या की थी । नेताका अर्थ निश्चित किया था या नेता शब्दका निर्माण किया था । जो व्यक्ति नीतिका पालन करे तथा चलावे, वही नेता होगा । नयन करनेवाली चीजका नाम नीति है यानी सम्यक् रूपसे सुमार्गमें चलानेवाली वस्तुका नाम नीति है "कामन्दकीय नीतिसारः" के दूसरे सर्गके सोलहवें श्लोकमें लिखा है—

‘नयनाज्ञीतिरुच्यते’

नीतिको जाननेवाला नेता होता है । नेता दण्ड भी देता है और जो लोग पथभ्रष्ट होते हैं, उनको सजा देना भी उसका कर्तव्य है । नीतिका पालन करानेके लिये कठोर अनुशासनकी आवश्यकता होती है । जिस राजनीतिक दलमेंसे अनुशासन उठ गया है तथा अवज्ञा करनेवालोंके लिये दण्डका विधान बहुत साधारण है, उस राजनीतिक दलका भविष्य उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता । जो अपनी नीतिको अनुशासनपूर्वक नहीं मनवा सकता, वह नेता नहीं हो सकता । इसीलिये कौटिल्यके अर्थशास्त्रके बाद लिखा हुआ ग्रन्थ 'कामन्दकीय नीतिसारः' जो कि कौटिल्यके अर्थशास्त्रका सार है, नेताका गुण बतलाता है—

दण्डनीतिर्यदा सम्यङ् नेतारमधितिष्ठति ।

तथा विद्याविदः शेषा विद्याः सम्यगुपासते ॥

अर्थात् जब दण्डनीति भली प्रकारसे नेतामें स्थिर रहती है, तब वह विद्याको जाननेवाला सम्पूर्ण शेष विद्याओंके प्राप्ति होता है ।

हिटलर हो या मुसोलिनी, स्टालिन हो या दूसरे हमारे देशके नेतावर्ग भी, जिसमें अनुशासन करनेकी क्षमता नहीं, वह और किसी गुणसे सम्पन्न न होगा । अगर वह नेता नहीं बन सकता । शासनकी विभक्तिका ही नाम अनुशासन है । कौटिल्य अर्थशास्त्रके अठारहवें प्रकरणके दसवें अध्यायमें लिखा है—

‘शासने शासनमित्याचक्षते ।’

यानी किसी भी तरहकी राजाकी लिखित आज्ञा या प्रतिज्ञा शासन कहलाता है । अतएव नेताका आदेश आज्ञा हुआ । जो इस आदेशको नहीं मान सकता या मना करता वह न तो नेता हो सकता है और न अनुयायी ।

नेता कौन है ?

नीतिको चलानेवाला तथा अनुशासन करनेवाला । नेता कौन हो सकता है ? इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या कामन्दकीय नीतिसारमें ही देखिये—

वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमानुदयो बलवान् वशी ।

नेता दण्डस्य निपुणः कृतशिल्पः सुविग्रहः ॥

(सर्ग ४, श्लोक ११)

यानी उदार, शास्त्रसम्मत बोलनेवाला, वाग्मी स्मृतिमान्, बड़ा बलवान्, जितेन्द्रिय, शिक्षक, दण्ड करनेवाला, चतुर, शिल्पविद्यामें निपुण तथा अच्छे शरीरका नेता होता है

इन्हीं गुणोंका राजा होना चाहिये । इन्हीं गुणोंके नेता होना चाहिये । पर आज यदि हम आँख उठाकर देखें तो हमको बिरले ही ऐसा राजा, शासक या नेता मिलेगा । ऐसे गुणवालेका हमारी दृष्टिसे ओझल हो जायेगा । ही हमारे अकल्याणका कारण है ।

ईसासे ४७९ वर्ष पूर्व, प्रसिद्ध चीनी राजनीतिज्ञ कनफ्यूसियसकी ७३ वें वर्षकी उम्रमें मृत्यु हुई थी । उसने सचेत जीवनका प्रत्येक क्षण इस महापुरुषने सबको सन्माता, सुपुत्र, सुपुत्री तथा सन्मित्र बनानेकी शिक्षा देने में बिताया था । ऐसा महापुरुष समाजके नेताका बिल्कुल मूल्य होता था । अतएव उन्होंने अपनी पुस्तक 'लुन' में लिखते हैं—

संख्या ८]

‘जो दूरदर्शी नहीं है, वह निकटकी पहेलियोंमें भी कष्ट उठायेगा। वही आदर्श पुरुष है, जो कामकी कठिनाइयोंको दूर करनेका पहले ख्याल करता है, उसकी सफलताकी बात पीछे सोचता है। प्राचीनकालमें आदमी आत्मोन्नतिके लिये शिक्षा प्राप्त करते थे। आजके लोग दूसरोंसे प्रशंसा प्राप्त करनेके लिये शिक्षा प्राप्त करते हैं। जो आदमी सच्चा है, ठोस है, सीधे रास्ते चलता है तथा दूसरोंकी बातें सुनकर मनमें उसकी समीक्षा करता है, वही व्यक्ति देशमें, समाजमें तथा परिवारमें उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है तथा अगुआ बन सकता है।’

कनफ्यूसियसने आजके २३०० वर्ष पहले जो बात

कही थी, उसे कोई कैसे काट सकता है? कौन कह सकता है कि मानवके लिये ऊपर लिखी व्याख्याके अतिरिक्त किसी अन्य प्रकारका नेता चाहिये। कठिनाई यही है कि हम शास्त्रद्वारा प्रमाणित नेताको खोजते नहीं—तलाश नहीं करते या यदि हमें मिलता भी है तो उसकी कद्र नहीं करते। जैसा समाज होता है, वैसा ही नेता भी पैदा होता है। जिसे सच्चे नेताकी आवश्यकता हो उसे अपना स्तर भी ऊँचा करना होगा। अपना दूषण भी दूर करना होगा। तभी हमको असली सुख तथा शान्ति देने-दिलानेवाला नेता प्राप्त होगा या यदि प्राप्त है तो उससे सुख प्राप्त होगा।

आचार और विचार

[कहानी]

(लेखक—श्री ‘चक्र’)

‘जो जलमें दीखता है, जो धृतमें दीखता है, जो दर्पणमें दीखता है, वही आत्मा है।’ सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने अपने पास तत्त्वज्ञानकी इच्छासे आये इन्द्र और विरोचनको यह उपदेश दिया था।

‘शरीरका ही प्रतिविम्ब जलमें दीखता है, शरीर ही धृतमें दीखता है और शरीर ही दर्पणमें भी दीखता है, अतः शरीर ही आत्मा है।’ दोनों संतुष्ट होकर लौट पड़े।

श्रुति कहती है कि ‘आत्मा एकरस और नित्य है। शरीरपर आभूषण हों तो जलमें आभूषण दीखेंगे, न हों तो नहीं दीखेंगे। शरीर आहत हो तो धृतमें भी आहत ही दीखेगा वह। यदि मुख विकृत बना लें तो दर्पणमें भी मुलाकृति विकृत दीखेगी। यह बदलनेवाला, आहत होनेवाला, विकृत होनेवाला शरीर आत्मा कैसे हो सकता है?’ इन्द्रके मनमें संदेह हो गया। वे ब्रह्माजीके पास लौट आये।

‘इन्द्र मूर्ख तो है ही, अश्रद्धालु भी है।’ विरोचनने एक बार मुख बनाया और वे सीधे रसातल चले आये अपने असुर, दानव, दैत्यादिकोंको शरीरात्मवादके तत्त्वज्ञानका उपदेश करने।

‘मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ, मन नहीं हूँ। शरीर, इन्द्रिय एवं मनके धर्म मुझे स्पर्श नहीं करते। ये रोग-शोक तो शरीर एवं मनके धर्म हैं।’

बहुत रुग्ण थे। उनके शरीरमें बहुत पीड़ा थी। उन दिनों एक संतरे या मौसम्बीका रस भी उन्हें कठिनतासे पचता था। शरीरमें केवल हड्डियोंका ढाँचा रह गया था। आसनसे उठकर खड़े होनेके लिये उन्हें सहारेकी आवश्यकता होती थी। इतने कष्टमें भी उनका नित्य प्रफुल्ल मुख वैसा ही खिला हुआ था। उनकी प्रसन्नता मलिन नहीं हुई थी। उनके लिये शरीरका रोग ऐसा था जैसे पास पड़ी लकड़ीमें दीमक लग गयी हो।

‘मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ। शरीर, इन्द्रिय, मन सब मिथ्या हैं। इनके व्यवहार मेरी दृष्टिमें नहीं हैं। जो दीखता है, वह तो देखनेवालेको दीखता है। भेदबुद्धिसे जो मुझमें व्यवहार देखते हैं, उनकी कल्पना मुझमें नहीं आ सकती।’ वे भी महात्मा हैं। अच्छा स्थूल शरीर है। सेवकोंकी एक भीड़ घेरे रहती है उन्हें। पूजा करनेवाले उनकी आरती-पूजा करते रहते हैं। सुकोमल रेशमी वस्त्र पहिनाते हैं। उत्तम-से-उत्तम नैवेद्य भक्तजन भोग लगाते हैं। सेवकोंसे कोई थोड़ी त्रुटि हो जाय तो उन्हें कसकर फटकार मिलती है। दूसरी भी बहुत-सी बातें हैं; किंतु उनके वर्णनसे लाभ क्या?

उमेशने इन्द्र और विरोचनकी कथा पढ़ी है। उसने दर्शनशास्त्र लेकर एम० ए० किया है और उसके पश्चात् यह स्वरूप अध्ययनमें लगा रहा है। उसमें विरोचनकी

भाँति श्रद्धा नहीं है। वह आचार तथा विचारके इस असामञ्जस्यको समझ नहीं पाता है।

उमेश एक महात्माको और जानता है। उनका शरीर भी स्थूल है। उनके भी सेवक हैं। उनकी भी यदा-कदा पूजा होती है। उनके श्रद्धालु भी उन्हें उत्तम वस्त्र एवं नैवेद्य अर्पित करते हैं। वे भी सुसज्जित भवनमें आधुनिक परिच्छदोंका उपयोग करते हैं और वे हैं भी वेदान्तमें निष्ठा रखनेवाले। लेकिन उनमें पदार्थोंसे, व्यक्तियोंसे जो निरपेक्षता है, जो असंगतता है उनके जीवनमें, वह उमेश समझ सकता है। वहाँ उसे कोई उलझन नहीं होती। उसे उलझन तो हुई है तब, जब वह सर्वथा साधारण आचार एवं संसक्त मनके साथ निरपेक्षताके लंबे-चौड़े सिद्धान्तकी बात सुनता है।

‘शरीर ही आत्मा है’ यह विरोचनकी बात थी। उस पुरानी बातको दुहरानेका साहस तो चार्वाकको भी नहीं हुआ। देहको सर्वस्व मानना, जड़का विकार मानना पड़ा चेतनाको उन्हें। उमेश तो दार्शनिक है। उसने अध्ययनके साथ मनन किया है। मरनेके बाद जो शरीर पड़ा रह जाता है, उसे भला वह आत्मा कैसे मान ले। इन्द्रियाँ शरीरसे कितनी भिन्न हैं और कितनी अभिन्न हैं, वह दो दिनके उपवासमें पता लग जाता है। मन जो कि अन्नके ही सूक्ष्मांशसे बना है, शरीर ही तो है एक प्रकारका। अन्न और अन्नका सत्—स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरका भेद ऐसा न सही; पर कुछ-कुछ ऐसा तो है ही। आत्मा शरीर नहीं है, मन नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, यह बात उमेश क्या समझता नहीं है।

‘आत्मा तो कहीं भी शरीर, मन या इन्द्रिय नहीं है।’ उमेशकी उलझन बढ़ती जाती है। ‘आत्मज्ञानसे मुक्तिका अर्थ क्या है? यदि मन विषयोंमें आसक्त है, इन्द्रियाँ भोग-लोलुप हैं, शरीरके सुख-दुःख, मान-अपमानका ही चिन्तन, उद्विग्न बनाये रहता है तो?’

‘रस्सीमें सर्प जान पड़े तो क्या और न जान पड़े तो क्या? वह सर्प किसीको काट तो सकता नहीं। मृगतृष्णाके जलको जल मान भी लिया तो क्या उससे कपड़े भीग जायेंगे?’ उमेश ऐसे तर्क बहुत सुन चुका है। पता नहीं क्यों ये तर्क उसके गलेमें नीचे नहीं उतरते।

‘रस्सीमें सर्प नहीं है, यह जाननेवाला क्या मूर्ख है?’

कौपेगा? मृगतृष्णामें जल नहीं है, यह जान लेनेपर नितान्त व्याकुल होनेपर भी क्या वह उधर जलके छिंदे दो पद भी चलना चाहेगा? आप उमेशके तर्कोंको कैसे अस्वीकार कर सकते हैं।

‘शास्त्रोंमें जो विधि-निषेध, पाप-पुण्य, जन्म-मृत्युका वर्णन है।’ उमेशका हृदय कहता है कि शास्त्रको अस्वीकार कर देनेपर तो ब्रह्मज्ञान भी अस्वीकृत हो जायगा। शास्त्र ही तो अद्वैत तत्त्वका भी प्रतिपादन करते हैं।

‘घड़ेमें धूल भरी है या चन्दन, इससे घटाकाशका क्या विगड़ता है?’ उमेशको यह वेदान्त शान्तिके बदले उत्तेजना देता है। ‘घटाकाश-तो महाकाश ही है। उसका तो कहीं भी कुछ नहीं विगड़ता।’ इसका अर्थ उसे अनास्था प्रतीत होता है। उसे लगता है कि यह तर्क चार्वाकके देहात्मवादका दूसरा संस्करण है और बहुत भयानक संस्करण है; क्योंकि इसमें समस्त उच्छृङ्खलताओं एवं अनाचारका समर्थन है।

‘ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः’ उमेश कैसे मुलझावे इस पहेलीको!

× × ×

‘तुम्हारे दर्शनके प्रोफेसर मुक्त पुरुष हैं?’ महात्माजीने उमेशकी शङ्का सुनी और खुलकर हँस पड़े। बात-बातमें खिलखिला पड़ना उनका सहज स्वभाव है।

‘मैं यह तो जानता हूँ कि बौद्धिक ज्ञानसे कोई मुक्त नहीं होता। यदि बौद्धिक ज्ञानसे कोई मुक्त हो सकता तो प्रोफेसर तो क्या, विश्वके सारे दर्शनशास्त्रके ज्ञान मुक्त हो गये होते।’ उमेश आज हँस नहीं पा रहा है। वह बहुत गम्भीर है।

‘तब कोई कैसे मुक्त होता है?’

‘अपरोक्ष साक्षात्कारसे।’

‘अपरोक्षका क्या तात्पर्य?’

‘अपरोक्ष.....’ अब यहाँ उमेशकी गाड़ी अटक गयी। मन एवं इन्द्रियोंकी अपेक्षासे ही परोक्ष-अपरोक्षकी बात होती है। जहाँ मन-इन्द्रियोंकी गति नहीं, वहाँ अपरोक्ष कौन करेगा?

‘यह जो सब दीख रहा है, यह क्या है?’

‘है तो यह भी सब ब्रह्म ही; किंतु.....’ उमेश फिर रुक गया।

‘तुम आत्मा, ब्रह्म, अपरोक्ष, परोक्ष, ब्रह्म, मुक्त आदि

‘तुम आत्मा, ब्रह्म, अपरोक्ष, परोक्ष, ब्रह्म, मुक्त आदि

[८]

मस्त कुछ नहीं, अपने मनमें और बाहर दूसरोंसे भी अपने स्वनपर पर्यायवाची शब्द दे देना ही ज्ञान मानते हैं। शब्दोंके जालसे निकटकर अर्थकी बात सोचो।

शब्दोंको छोड़कर कोई कैसे सोचेगा ? उमेशने पूछा।

अपने शब्दोंमें, अपने ढंगसे सोचो। आत्मामें आत्माकी भ्रान्ति अज्ञान है और इसी अज्ञानसे बन्धन है, तुमने बहुत सुना-सोचा है। तुम अपने ढंगसे सोचो कि क्या है ? तुम कहाँ कैसे बँधे हो ? महात्माजीकी अंग गम्भीर हो चुकी थी।

बन्धन तो आसक्तिका ही है। आसक्तिके कारण ही राग या पदार्थोंसे अन्तःकरण बँधा है। उमेश यह बात बहुत पहले सोच चुका है।

केवल राग ही बन्धन नहीं है, द्वेष भी बन्धन है। महात्माजीने संशोधन किया—‘तुम या तो रागसे किसीका क्लेश करते हो या द्वेषसे। अच्छा, अब सोचो कि मुक्ति क्या है ?’

बन्धन न रहे तो मुक्ति ही है। भला इसमें क्या बँधनेकी बात है—संसारमें राग-द्वेष न रहे, चित्त इन दोनोंसे मुक्त हो जाय, वस यही मुक्ति है। लेकिन क्या यह संभव है कि किसीमें राग-द्वेष भी हो अर्थात् उसका चित्त बँधा भी हो और वह मुक्त भी हो ? उमेश अपने तत्त्विक प्रश्नपर आ गया।

‘उकताओ मत !’ महात्मा फिर हँस पड़े। ‘एक क्रमसे शरीर तथा संसारके पदार्थोंमें यह राग क्यों है ?’ रागकी बात जान-बूझकर छोड़ दी गयी; क्योंकि वह तो संसारकी अपेक्षासे ही होता है।

‘दृष्टालिये कि हम शरीरको अपना मानते हैं और शरीरकी-प्राप्तिमें सुख अनुभव करते हैं।’ सच्ची बात यही है कि उमेश कुछ उकता रहा है। ये बातें तो वह अनेक बार सोच चुका है।

‘हमें सुख चाहिये—दुःखरहित स्थिर सुख। हमारे समस्त प्रयत्नोंका यही मूल है। सभी धर्म एवं अध्यात्ममार्ग इसी उद्देश्यसे प्रवृत्त हुए हैं। अब इस मूल उद्देश्यको ध्यान मत; क्योंकि जो इसे भूल जाते हैं, वही तर्कके जाल में फँस जाते हैं। बड़ी शान्तिसे महात्माजी ने कहा—‘अब यह देखो कि ये सुख-दुःख किसे

होते हैं ? किसे सुख चाहिये ? कौन आसक्तिके बन्धनमें बँधा है ? ब्रह्म या आत्मा तो बँधा है नहीं और न उसे सुखकी अपेक्षा है। वह तो आनन्दस्वरूप है। उसके लिये तो साधन-शास्त्रकी प्रवृत्ति है ही नहीं।’

‘सुख-दुःख चित्तको होते हैं। चित्त ही राग-द्वेषका मूल है।’ उमेशको प्रकाशकी एक हल्की आभा प्रतीत होने लगी है।

‘चित्तका ही पुनर्जन्म है और उसीकी मुक्ति भी होगी ?’ महात्माजीने विचित्र भावसे देखा उसकी ओर। ‘हिचको मत ! सत्यको स्वीकार करनेमें भयका कोई कारण नहीं होना चाहिये। मुक्ति आकाशकी नहीं होती, घटकी होती है। घड़ेका फूट जाना ही मुक्ति है उसकी। दीपकके बुझ जानेका नाम ही निर्वाण है।’

‘चित्तका लय—समाधि होनी चाहिये तब।’ उमेश बहुत अधिक गम्भीर हो उठा।

‘यह तो साधनभेदकी बात है।’ महात्माजीने आश्वासन दिया—‘चित्तका लय या समाधि भी हो सकती है और चित्तसे ऊपर भी उठ जाया जा सकता है।’

‘चित्तसे ऊपर उठ जाया जा सकता है ?’ उमेश इसे ही तो ठीक समझना चाहता है।

‘मैं चित्त नहीं हूँ, यह बात दूसरोंसे कह भर देना तो कुछ अर्थ नहीं रखता।’ महात्माजी फिर हँस पड़े—‘इसकी धारणा होनी चाहिये। जैसे लाठी मुझसे भिन्न है, वैसे ही मुझसे भिन्न हैं शरीर और चित्त, तथा दोनों लाठीके समान जड़ हैं।’

‘अर्थात् आरम्भमें मैं चित्त नहीं हूँ, यह धारणा भी आराधना या भावना ही है ?’ उमेशके नेत्र स्थिर हो गये।

‘काँटेसे ही काँटा निकलता है।’ महात्माजीके स्वरमें स्नेह उमड़ पड़ा—‘यह समस्त संसार भावमय है। अनन्तकालसे जन्म-मृत्युका जो चक्र चल रहा है, वह भी भावरूप ही है। भाव ही इसे निवृत्त कर सकता है।’

‘तब ज्ञानसे ही मुक्तिका क्या अर्थ ?’ उमेशका संकेत उपासनाकी ओर है, यह समझना कुछ कठिन नहीं था।

‘तुम यह दुराग्रह क्यों करते हो कि केवल एक मार्गने ही मुक्ति या जीवके परम कल्याणका ठेका ले लिया है।’ महात्माजी इतने उदार होंगे, यह उमेशने कभी सोचा

नहीं था। 'सभी मार्ग हैं—केवल मार्ग। कोई अपनेको ही लक्ष्य कहे तो झूठा है वह और वह भी झूठा है जो मार्गोंको भ्रान्त कहे। जितने सिद्धान्त हैं, सब एक ही सत्यका प्रतिपादन करना चाहते हैं।'।

‘इतना भेद, इतना विवाद और.....।’

‘इसलिये कि लोग तर्कसे ही सब कुछ समझ लेना चाहते हैं।’ महात्माजीने बीचमें ही उमेशको रोका—‘कौन क्या मानता है, इसका कोई विवाद नहीं, यदि वह इस स्थूल नश्वरको ही सब कुछ नहीं मानने लगा है। कौन क्या करता है—अपनी आस्थाको शास्त्रीय साधनपर रखकर वह कितना चळता है, बस, यही मुख्य बात है। सभी मानते हैं कि चित्तशुद्धिके बिना तत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता। ऐसी दशामें केवल तर्कसे उसे समझ लेनेका दुराग्रह एवं विवाद क्या अर्थ रखता है?’

उमेश जिज्ञासु है। उसके भीतर अभीप्सा जाग पड़ी है। उसका समाधान तर्कसे नहीं हो सकता तो जैसे होगा, वैसे ही करेगा वह। महात्माजीके भिक्षाटनका समय हो गया है। उसे चळना चाहिये इस समय यहाँसे।

× × ×

‘जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिरिह ध्रुवम्।’

उमेशको चित्तशुद्धि करनी है। सगुण-साकारमें उसकी आस्था नहीं है। निर्गुण निराकारका ध्यान तो होता नहीं, निरालम्ब चित्तको रखना पड़ता है और ऐसा हो नहीं पाता। अष्टाङ्गयोगका तो अधिकारी ही वह है, जो पूर्ण ब्रह्मचारी हो। प्राणायामका दबाव स्नायुओंको विकृत करके साधकको रोगी बना देगा यदि उसके स्नायु वीर्यस्खलनसे दुर्बल हो चुके हैं। लययोगके अनेक मार्ग हैं—शब्दमार्ग, स्पर्शयोग, रसानुभव या अमृतपान, गन्धानुभूति। किंतु सबमें मनकी एकाग्रता आवश्यक है। उमेशको न ज्योति देखनी है, न गन्ध या रसमें उसे आकर्षण है। उसे चमत्कार नहीं, एकाग्रता चाहिये। वह कहता है—‘सूर्य एवं चन्द्र-जैसी ज्योति तो बाहर ही हैं। नेत्र बंद करके दीपक-जैसा प्रकाश दिखा तो क्या और न दिखा तो क्या। स्पर्शके नामपर वह गुलाबका पुष्प दिखा देता है और गन्धके नामपर कोई इत्र। जिसे तख्तेपर शयन करना रुचता है, उसे स्पर्शका क्या आकर्षण। उसे जो चाहिये, वह क्या चमत्कार उसे दे सकते हैं?’

‘राम, राम, राम’ वह गोस्वामी नवजलधर सुन्दर श्रीरामका ध्यान नहीं करता। महात्मा कबीरका ‘राम’ पसंद है। इस ‘राम’ नामकी शक्ति जान पड़ती है। इसमें उसकी रुचि है। उसे लगा दी है—‘राम, राम, राम।’

‘यह क्या हो गया? पहले तो जपमें मन अच्छी लगता था; किंतु अब क्या हो गया है? अब तो जप होता है और मन अपनी उधेड़-बुनमें रहता है उमेश.....’ कुछ खिन्न हो गया है। उसे लगता है किसी दूसरे नाम या मन्त्रका जप करना चाहिये। बहुत अधिक माहात्म्य है। संतोंने ‘सोऽहम्’ के अज्ञान अत्यधिक प्रभावशाली बतलाया है। मनमें अनेक उठते हैं।

‘जब गंदे भवनकी सफाई की जाती है, एक बार उड़ती ही है। वायुमण्डल पहलेसे अधिक धुँस जाता है। क्या इस भयसे तुम घरको स्वच्छ करना कर दोगे?’ महात्माजीने उसे आश्वासन दिया। भगवन्नामोंमें समान शक्ति है। जो बार-बार मार्ग रखेगा, वह यात्रामें प्रगति नहीं कर सकता। प्रगति निश्चाकी दृढ़ता अत्यन्त आवश्यक है।’

‘यह सब कबतक करना होगा?’ जब मन उन्नत कुतर्क एवं वहाने सूझने लगते हैं। उमेश सोचता है महात्माजी भी तो जप करते-से लगते हैं। तब सदा ही इसी प्रकार जपकी खटपट करनी होगी?

‘झाड़ू तबतक देनी पड़ती है, जबतक गृह स्वच्छ न जाय।’ महात्माजी हँसे—‘अबतक ऐसा कोई घर बना, जिसके विषयमें यह कहा जा सके कि उसे बार-बार स्वच्छ कर देनेपर वह फिर गंदा न हो। स्वच्छता तो सदा करनेकी आवश्यकता रहती है। स्वच्छताका प्रयास बंद करनेसे गंदगी एकत्र होती है। जबतक प्रकृतिके क्षेत्रमें हैं—स्वच्छताका प्रयत्न रहना चाहिये।’

‘अर्थात् जीवनभर साधन करना पड़ेगा मुझे?’ उसे ने निराशासे पूछा।

‘तुम्हें जीवनभर भोजन करते रहने और श्वास लेने आदिकी आवश्यकता रहती है, इसमें आश्रय लेने और स्वयं अत्यधिक स्नेह और

[संख्या ८]

आया—‘तुम तबतक इसे करणीय समझकर करो, जबतक मनमें रस न आने लगे। जब मन लगने लगे, तब चाहो तो छोड़ सकते हो।’

‘राम, राम, राम’ उमेशने निश्चय कर लिया है और अपने निश्चयमें वह कभी असफल नहीं हुआ। वह जुट गया है। मन लगे या न लगे, उसे जप करना है—जप करते ही रहना है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम करते, आराम करते उसकी जीभको विश्राम नहीं।

मन क्या करे ? मनका सर्वथा संयोग न हो तो शरीरका एक रोमतक हिल नहीं सकता। पूरा न सही, पर जब हम एक क्रिया करनेपर उतारू ही हो जाते हैं, मनको अपने एकांशका योग वहाँ करना ही पड़ता है और फिर वही क्रिया मटमैले मनको रगड़ना प्रारम्भ कर देती है। उमेशकी जिह्वा अखण्डरूपसे रगड़नेमें लगी है—‘राम, राम, राम।’

× × ×

‘आज पाँच महीनेसे ऊपर हो गये जप करते!’ उमेशके नेत्रोंसे अश्रु झर रहे हैं।

‘जब कुछ नहीं होता तो छोड़ दो।’ संतके नेत्रोंमें बहुत कौतुक आया—‘तुम्हारे लिये मेरी आज्ञा है कि अब ऐसे क्षणसे जप एकदम बंद कर दो।’

‘मुझे रहा नहीं जाता।’ केवल आध घंटे पीछे उमेश लौट आया था।

‘नहीं! अब तुम जप नहीं करोगे!’ मुख और वाणीको गम्भीर बनाकर संतने आज्ञा दी।

‘देव! मुझे मर जानेकी आज्ञा दें।’ और एक घंटे अतीत करके उमेश लौटा। वह फूट-फूटकर हिचकियाँ लेते हुए रो रहा था। ‘मैं जप किये बिना रह नहीं सकता। मेरा हृदय जैसे बाहर निकल पड़ता है। इससे तो मृत्यु सरल है मेरे लिये।’

‘बच्चे! तू तो कहता था कि जपसे कुछ हुआ ही नहीं।’ संतने स्नेहपूर्वक मस्तकपर हाथ फेरा। ‘श्वासकी कितनी आवश्यकता है और वह हमारे शरीरमें कितना काम करती है, यह तबतक हम जान नहीं पाते, जबतक श्वासकी गतिमें कोई बाधा न पड़े। भगवन्नाम जीवनका एक अनिच्छित अङ्ग बन गया, यही तो साधनकी सफलता है।’

‘लेकिन चित्तकी शुद्धि?’ उमेशने मुख उठाया।

‘अच्छा!’ महात्माजी देरतक वच्चोंकी भाँति हँसते रहे। ‘तू अब भी चित्तकी चिन्ता करता है? कठ आना मेरे पास। आज जाकर अपने प्रश्नपर स्वयं मनन कर।’

‘चित्तकी शुद्धि? चित्त भी तो शरीर ही है, क्या हुआ जो वह सूक्ष्म शरीर है।’ उमेश घर पहुँचकर विचारमग्न हो गया है। ‘शरीरका शौच—भला शरीरका क्या शुचि होगा? शौचका तात्पर्य तो है शरीरसे उपरति। ‘शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा’ जैसे शरीरके रोगोंसे निरपेक्ष होना है, वैसे ही चित्तके रोगोंसे क्या निरपेक्ष नहीं होना है?’ उमेशके मनमें श्रीमद्भागवतमें भगवान् हंसका उपदेश स्फुरित हुआ—

गुणेष्वविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।

जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।

गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२५-२६)

अनेक बार उमेशने इन श्लोकोंको पढ़ा है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धसे उसे विशेष अनुराग है। अनेक टीकाएँ पढ़ी हैं उसने। इन श्लोकोंकी व्याख्यापर उसका पहले भी पर्याप्त ध्यान गया है; किंतु आज पता नहीं कहाँसे अन्तस्तलमें प्रकाश उमड़ पड़ा है। आज जो भावराशि स्वयं जाग्रत् हो गयी है, शब्दोंमें वह कभी नहीं आ सकेगी। नेत्रोंसे आनन्दकी धारा उमड़ने लगी है। शरीरका रोम-रोम खड़ा हो गया है। उमेश किसी और ही लोकमें पहुँच गया है।

जैसे मेरे हुए मकड़ेका बड़ा-सा शरीर, देखनेमें कुछ डरावना, कुछ बीभत्स; किंतु अन्तःसारशून्य, वायुकी नन्ही लहरियोंपर इधर-से-उधर रूईसे भी हल्का होकर उड़ता हो—समस्त दृश्य जगत् जैसे वैसा ही हल्का, वैसा ही थोथा हो गया है। जैसे दूधका फेन देखनेमें बहुत-सा; किंतु धूपमें डाल दें तो तनिक देरमें एक धब्बा बनकर रह जाता है—यह सम्पूर्ण विराट् वैसा ही फूला-फूला फेन और वैसे ही एक धब्बा-सा बन गया हो जैसे। धुएँकी उड़ती कुण्डलियोंमें जैसे मनुष्यके सिर, सर्पकी कुण्डली आदि आकृतियाँ बनती और फिर अनन्तमें लीन हो जाती हैं—पूरा विश्व जैसे, वैसे ही धुएँ-जैसे तत्त्वकी आकृतिमात्र हो और लीन हो गया हो वह अनन्त शून्यमें।

उमेशकी अनुभूति शब्दोंमें व्यक्त नहीं हो पाती । अनुभूति कोई भी हो, किसीकी भी हो, वह अनुभूति ही रहती है । शब्द बनना अनुभूतिको नहीं आता है ।

‘मैं मन नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ और शरीर भी नहीं हूँ । इनके धर्म मेरा स्पर्शतक नहीं कर सकते !’ जब दूसरे दिन उमेश महात्माजीके चरणोंमें प्रणाम कर चुका, तब संतने हँसते हुए अपने पुराने वाक्य दुहरा दिये ।

‘मैं केवल दर्शन करने आया हूँ ।’ उमेशके नेत्र भर आये । कण्ठ गद्गद हो गया । अब उसके पास कोई शङ्का है कहाँ, जिसका समाधान चाहेगा वह ।

‘शराबी शराबके नशेमें अपनेको सम्राट् घोषित करता है । विषयी पुरुष तर्कके उन्मादमें अपनेको शरीर और मनसे परे बतलाता है । शरीरकी आसक्ति, इन्द्रियोंकी विषयलिप्सा रखते हुए इनसे ऊपर होनेकी बात करना दम्भ है या फिर शराबीकी बहक है ।’ संतने आज समाधान किया—‘लेकिन सम्राट्की सत्ता तो है ही । शरीर, इन्द्रिय एवं मनसे परे अवस्थिति है और वह प्राप्त होती है ।’

प्रश्नका दान

(लेखक—श्री ‘रावी’)

एक राजाने अपनी सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों और निर्धनोंको दान करके आत्मचिन्तनके लिये वनमें जानेका निश्चय किया । निश्चित दिन जब वह अपना सारा कोष बाँट चुका, तब एक निर्धन बनिया उसके दरबारमें पहुँच गया । राजा क्षणभरके लिये सोचमें पड़ गया और दूसरे ही क्षण उसे पास बुलाकर बोला—

‘‘मेरे पास अपने कोषमेंसे देनेके लिये अब ताँबेकी भी एक मुद्रा शेष नहीं रह गयी है । लेकिन मैं तुम्हें खाली हाथ नहीं लौटाऊँगा । मैं तुम्हें एक विचार दूँगा, जिससे तुम सदैव मालामाल रहोगे । वह विचार यह है कि ‘लक्ष्मी चञ्चला, है ।’’’

राजा अपने दान-मण्डपसे उठनेहीवाला था कि एक गरीब ब्राह्मण और वहाँ आ पहुँचा । राजाके हाथ रीते देखकर उसे बड़ी निराशा हुई; लेकिन राजाने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—

‘‘विप्रवर ! मैं अपनी सारी सम्पत्ति और सम्पत्ति-

‘अर्थात् आचार प्रथम आवश्यक है और उस पश्चात् स्वाभाविक ।’ उमेशने पूछा ।

‘अब पूछनेकी क्या बात रही है । तुम अब क्यों करते हो, यह भी क्या पूछनेकी बात रह गयी है संत हँस पड़े—‘ये हरि हैं ही धर्मके स्वामी । जो लगता है, वह धर्मसे दूर रह नहीं सकता ।’

किसी समय शौनकजीने भी पूछा था—‘ये आत्म आतकाम महापुरुष क्यों श्रीकृष्णके चक्रमें पड़ते हैं ? भजनसे क्या लेना देना रहता है ?’

सूतजीने धीरेसे कहा था—

‘इत्थम्भूतगुणो हरिः’

‘ये श्यामसुन्दर हैं ही ऐसे । वचनसे नवनीत दही चुरानेका स्वभाव हो गया है इनका । जहाँ कोई स्वच्छ हुआ—वस, उज्ज्वलतापर इनके बड़े-बड़े नेत्र ही पड़ते हैं और—और फिर तो श्रुतियाँ भी हाथ कहती हैं—

‘तत्स्कराणां पतये नमः’

सम्बन्धी अपना सबसे बड़ा विचार भी दान कर चुका लेकिन फिर भी मैं तुम्हें खाली हाथ नहीं लौटाऊँगा मैं तुम्हें एक प्रश्न दूँगा, जिससे तुम परम समृद्धि को करोगे । वह प्रश्न है—‘क्या यह राजा मूर्ख है ?’

इसके पश्चात् राजाने सभी उपस्थित जनोंको सम्बोधित करके कहा—

‘मैंने इस निर्धन बनियेको यह विचार दिया है कि लक्ष्मी चञ्चला है और इस दरिद्र ब्राह्मणको प्रश्न दिया है कि क्या यह राजा मूर्ख है ?’ ‘तुम लोगोंमेंसे कोई इस विचार और इस प्रश्नके बदले अपनी पायी हुई भेंट इन्हें देकर स्व विचार या प्रश्नको लेना चाहे तो ले सकता है ।’

कोई भी दान-पात्र इस विचार या प्रश्नसे अपना कर्तव्य न भूला हुआ दान बदलनेके लिये तैयार नहीं हुआ । उन्होंने कहा—

‘महाराज ! आपका विचार बहुमूल्य है और इतने पहलेसे ही जानते हैं । शास्त्रोंमें भी बताया है कि लक्ष्मी चञ्चला है; तभी तो देखिये, राजाकी अर्जित की हुई सम्पत्ति

आज हम निर्धनोंके पास आ रही है। और आपके प्रश्नका उत्तर तो निर्विवाद है ही। आपने इतनी योग्यता और बुद्धिमत्तासे राज्य किया और अब अपना सारा निजी कोष दान करके और अपने पुत्रको राज्यके पालनका भार सौंपकर तपस्याके लिये वनको जा रहे हैं। आपको भला कोई भी समझदार व्यक्ति मूर्ख कैसे कह सकता है ?

अगले दिन राजा वनको चला गया और प्रजाजन अपने-अपने काममें लग गये। लेकिन यह वनिया जो अपना सारा धन सट्टे और जुएके व्यापारोंमें गँवाकर निर्धन हो गया था, राजाके दिये हुए उस विचारको अपने मनमें स्थावर फेरता रहा। सोचते-सोचते उसने निश्चय किया कि कभी चञ्चल है तो वह अधिक समय एक जगह टिक नहीं सकती और इसलिये उसका अधिक संग्रह व्यर्थ और सूखतापूर्ण है। उसने अपने किसी स्वजनसे एक स्वर्णमुद्रा उधार लेकर छोटा-सा व्यापार प्रारम्भ किया और अपनी गणितबुद्धिसे शीघ्र ही उसे बढ़ा लिया। इसी व्यापारको बढ़ाते-बढ़ाते उसने बहुत धन कमाया और जब उसके पास अधिक धन एकत्र हो गया, उसने खुले हाथों उसे अपने और लोकहितके कामोंमें खर्च किया। देशमें उसकी ख्याती कीर्ति हुई, व्यापारियोंमें उसकी साख बहुत बढ़ गयी और वह देशका सबसे बड़ा सेठ बन गया।

उधर वह दरिद्र ब्राह्मण राजाके प्रश्नका अर्थ और उसका उत्तर अपने मनमें खोजने लगा। खोजते-खोजते उसे सूझा कि राजाने अपनी सारी सम्पत्ति लुटा दी और

उन भिक्षुओंने लूट ली। निःसंदेह इन दोनोंमें एक बुद्धिमान और दूसरा मूर्ख होना चाहिये। प्रश्नको गहराईतक खोदनेपर वह इस निश्चयपर पहुँचा कि मनुष्य समुचित विचारकर, निश्चित भावनाके साथ किसी वस्तुका त्याग तभी करता है जब उसे उससे ऊँची कोई वस्तु प्राप्त हो जाती है; और जहाँ यह त्याग एककालीन न होकर धीरे-धीरे होता है, वहाँ ज्यों-ज्यों वह पहली वस्तुका त्याग करता है त्यों-त्यों उसे दूसरी श्रेष्ठतर वस्तु प्राप्त होती जाती है।

इस चिन्तनके क्रममें पढ़कर यह ब्राह्मण आत्म-चिन्तन-की गहराइयोंमें उतरता गया और भ्रष्टत्वको प्राप्त होकर देशके एक महान् शिक्षक और पथ-प्रदर्शकके रूपमें उसने बहुत बड़ा आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण किया।

X X X

मेरे कथा-गुरुका कहना है कि दान सभी श्रेष्ठ हैं, लेकिन विचारका दान श्रेष्ठतर और प्रश्नका दान ही श्रेष्ठतम दान है। कथागुरुका यह भी संकेत है कि विचारका कहना और सुनना एक बात है और इसका दान सर्वथा भिन्न बात है। इसी प्रकार प्रश्नका पूछना और बताना एक बात है और प्रश्नका दान उससे सर्वथा भिन्न है, और इन दानोंके लिये विशेष दान-सामर्थ्य और विशेषतर दान-कलाकी आवश्यकता है। उनका यह भी संकेत है कि इस सामर्थ्य और कलामें दीक्षित—विशेषकर प्रश्न-दानके सामर्थ्य और कलामें दीक्षित—कुछ व्यक्तियोंका प्रादुर्भाव नये युगके निर्माणके लिये अनिवार्य है।

विधिका विधान

कभी हँसाता कभी रुलाता विधिका यही विधान ।

दिवस, मास, वत्सर होते हैं होता पुनः विधान ॥

विधिका यही विधान !

शैशव था, आयी तरुणाई मस्ती मोद-निधान ।

वृद्धावस्था बता रही है—दिवस न एक समान ॥ विधि० ॥

कालचक्र गति अस्थिर, पर क्या हम रहते गतिमान ?

समय चूककर पछताता है—क्या वह है मतिमान ? विधि० ॥

—गौरीशङ्कर गुप्त

सार वचन

१—इस असार संसारमें पुत्र, कलत्र, धन, जन, शत्रु, मित्र, अच्छा, बुरा, संयोग, वियोग—ये सभी माया और मोहके जाल हैं। इन सबको हृदयसे त्यागकर भगवान्‌का भजन करो।

२—जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें बहते हुए तिनके कहाँ-कहाँसे आ-आकर एकत्र हो जाते हैं और फिर प्रवाहके वेगसे पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य पूर्वकर्मोंके संस्कारवश संसारमें आकर विभिन्न लोगोंसे सम्बन्ध जोड़ता है या यात्री बनकर संसाररूपी धर्मशालामें अनेकों यात्रियोंके साथ ठहरा होता है। यहाँका यह सारा सम्बन्ध प्रवाहपतित तिनकोंकी भाँति या एक सरायमें मिले हुए यात्रियोंकी भाँति है। जैसे तिनके बिखर जाते हैं और यात्री अपने-अपने स्थानको चले जाते हैं। ऐसे ही यहाँके सब सम्बन्धी कर्मसंस्कारवश बिछुड़ जाते हैं। यही यहाँका संयोग-वियोग है।

३—प्रत्येक जीव इस संसारमें अपने कर्मोंके अनुसार बाध्य होकर दुःख-सुख भोग रहा है। कर्मका बन्धन छूटना बहुत ही कठिन है। भगवान्‌का भजन करनेसे कर्म-बन्धन अवश्य कट जायगा, इस बातपर विश्वास करो।

४—सांसारिक मनुष्य शुभ कर्म करना नहीं चाहते, लेकिन शुभ फल बहुत जल्द चाहते हैं। कर्म

करना मनुष्यका अधिकार है, फलकी इच्छा मूर्खता है।

५—संसारमें दुःख कोई नहीं चाहता, लेकिन दुःख, रोग, व्याधि, वियोग, हानि, चिन्ता, अपमान, मृत्यु आदि बिना बुलाये, बिना चाहे सिरपर आकर पड़ जाते हैं, हजारों प्रयत्न करनेपर भी नहीं छोड़ते।

६—जैसे कर्मवश दुःख बिना बुलाये आता है, वैसे ही यदि हमारे प्रारब्धमें सुख, मान, बड़ाई, यश इत्यादि हैं तो उनको भी कोई रोक नहीं सकता वे अवश्य मिलेंगे। किसीके लाख प्रयत्न करनेपर भी नहीं रुक सकते। हाँ परार्थ उनका त्याग किया जा सकता है और उनका त्याग करनेवाला ही संत है।

७—संसारमें जो अपनेपनकी या ममत्वकी भ्रम में है, वह सब भ्रमजाल है। एक जीव दूसरे जीव से सर्वथा स्वतन्त्र है।

८—संसारमें कोई किसीका न शत्रु है, न मित्र है अपना मन ही शत्रु और मन ही मित्र है। रामनम जपकर मनको और भावनाको ठीक रखो।

९—संयोग-वियोग, सुख-दुःख, शत्रु-मित्रके द्वन्द्वोंको यदि हम भ्रम समझ लें और इनसे तटस्थ जायँ तो आगेकी बातको समझना बहुत सरल है।

—महात्मा जय गौरीशंकर सीताराम

भजन करो

चार दिननकी चाँदनी, यह संपति संसार ।
नारायण हरिभजन कर, जासों होय उबार ॥
रे मन क्यों भटकत फिरत, भज श्रीनंदकुमार ।
नारायण अजहूँ समुझ, भयौ न कछु बिगार ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

—नारायण स्वामी

गोवंशका भीषण हास क्यों ?

(लेखक—श्रीश्रीरामजी शर्मा, सम्पादक—'विशाल भारत')

आखिर भैंसके प्रति लोगोंकी इतनी श्रद्धा क्यों है ? गायकी अपेक्षा उसे लोग क्यों अधिक पसंद करते हैं ? स्वास्थ्यके लिये यह बहुत जरूरी है कि चाहे घी मिले या न मिले, चुपड़ी रोटियाँ मिलें या रूखी, पर दूध तो पीना ही चाहिये; क्योंकि दूधमें जो क्षार पदार्थ होते हैं, उसे स्वास्थ्यपर बहुत असर पड़ता है । दूध पीनेका कारण, केवल दूधमें मिला मक्खन, चर्बी ही नहीं है, बल्कि उसके क्षार पदार्थ हैं । आवश्यकता तो इस बातकी है कि अगर किसीको मक्खन निकला दूध मिलता है तो उसे भी पीना चाहिये; क्योंकि मक्खन-घी तो अलग-अलग मिल जाते हैं, पर क्षार पदार्थ नहीं मिलते । उनके श्लेष्मजो रासायनिक क्रिया होती है, वह मक्खनसे नहीं होती । फलस्वरूप दूधके अभावमें एक बड़ी भारी कमी रह जाती है जो बिना दूधके पूरी नहीं हो सकती । गायका दूध पीना चाहिये । अगर किसीको भैंस-बुद्धि बनना है या उसे दिमागका बनना है तो दूसरी बात है ।

शहरवालोंने घीकी माँग इतनी कर रखी है कि पैसोंकी खातिर देहाती घी बेचते हैं । बिक्रीसे कुछ पैसा उठानेके लिये लोगोंको इसकी क्या चिन्ता कि पैसे कैसे मिलते हैं । यहाँ चोरी-चपाटी और मिलावट सब व्यापारोंमें होती है यहाँ गाँववाले पैसोंकी खातिर यह सब काम करने लगे हैं । और अब तो भैंसका भी शुद्ध घी नहीं मिलता । वनस्पति केवल लोग शहरसे खरीद ले जाते हैं और दूधमें उसे मिला देते हैं । जब दही बिलोया जाता है तब घीके साथ वह भी चला आता है । कैरोटीनकी खातिर, जो गायके ही दूधमें कई गुना है, लोगोंको गायका घी खाना चाहिये । शहरवालोंको तो यह कोशिश करनी चाहिये कि गायके दूधका अधिक प्रयोग करें । जबतक घीकी अपेक्षा दूधकी जरूरत अधिक न की जायगी, तबतक घीकी माँग बनी रहेगी । यों तो एक इलाज यह भी है कि शुद्ध कड़वा तेल, बड़िया गायके घीके अभावमें, इस्तेमाल किया जाय । पर दूध तो गायका ही प्रयोग करना चाहिये ।

देहाती जीवनमें भैंसके अधिक पसंद करनेका एक कारण है—देहातकी बढ़ती गरीबी और आर्थिक-अवस्था । यदि जीवनमें सचाई, ईमानदारी और सौजन्य लाना है

तो लोगोंको भैंसके स्थानपर गाय पालनी चाहिये । दूध देनेवाले पशुओंका सम्बन्ध देहातमें स्त्रियोंके हाथमें है । गरीबी बहुत ज्यादा है । अपनी जरूरतके लिये स्त्रियाँ करती यह हैं कि एक-आध रुपया उन्हें अपने पास रखना पड़ता है । इसलिये अपनी जरूरत पूरी करनेके लिये घृतके खातिर स्त्रियाँ भैंस रखना ही अधिक पसंद करती हैं । भैंसके दूधमें गायके दूधकी अपेक्षा घी अधिक निकलता है ।

बढ़िया नस्लकी अधिक दूध देनेवाली गायें पाली नहीं जातीं, गायकी नस्ल खराब कर दी गयी है और आवश्यकता इस बातकी है कि लोग अधिक दूध देनेवाली गाय पालें, जिनसे अपेक्षाकृत घी भी अधिक हो और जबतक घीकी इतनी माँग हो, तबतक उसकी माँगकी पूर्ति की जाय । पर हमारा दावा तो यह है कि चाहे कुछ भी हो, हमें गायका ही घी इस्तेमाल करना चाहिये; क्योंकि गायके घीमें कैरोटीन अधिक होता है, इसलिये गायके दूधका घी भैंसके दूधसे कई गुना अच्छा है । दूसरे शब्दोंमें चार-पाँच छटाँक भैंसके दूधका घी एक छटाँक गायके घृतके बराबर है । पूरा हिसाब लगानेसे गायके दूधका घी इससे अधिक लाभप्रद होगा ।

भैंसकी अपेक्षा गाय कुछ घूमना और चलना-फिरना अधिक पसंद करती है, इसलिये स्त्रियाँ सुविधाके खयालसे तथा गोचरभूमिके कम होनेसे भैंसको अधिक पालने लगी हैं; क्योंकि एक जगह बँधे रहनेपर उनका स्वास्थ्य अधिक खराब नहीं होता । एक दूसरा कारण भैंसको महत्त्व देनेका यह भी है कि १८५७ के बाद तथा उससे कुछ पहले तोपखानोंमें बढ़िया बैलोंका प्रयोग उठ गया । यदि गाय और भैंसकी सभ्यताको एक दूसरी दृष्टिसे देखें यानी इस दृष्टिसे कि भैंसका प्राधान्य कबसे हुआ तो मालूम होगा कि १८७४ की पंजाबकी रिपोर्टमें जहाँपर पशुओंकी संख्याका जिक्र है वहाँपर गाय-बैल, घोड़े, गधे और ऊँटोंकी ही संख्या दी गयी है । भैंसका कहीं नाम भी नहीं है । रोजाना इस्तेमालमें आनेवाली चीजोंके जहाँपर जिलेवार भाव दिये गये हैं, वहाँ प्रत्येक जिलेके विवरणमें गायके घीका ही भाव है, भैंसके घीकी वहाँ कोई चर्चा नहीं । हमारी रोजमर्राकी आवश्यक

वस्तुओंमें भैंसके घी और दूधकी कोई पूछ न थी। गायके दूध और घीकी ही चर्चा रहती थी। जब बढ़िया बैलोंकी जरूरत तोपखानोंमें न रही, तब सरकारकी ओरसे विशेषकर विदेशी सरकारकी ओरसे उनकी ओर कोई ध्यान न दिया गया।

हैदरअली अपने तोपखानोंके लिये, बढ़िया बैलोंके लिये तथा दूध और घीके लिये अपनी सरकारी गोशालामें एक लाख गाय रखते थे। उत्तरी भारतमें आगरेका प्रसिद्ध मेला बटेश्वरका मेला लगभग ४०० वर्ष पूर्व गायों और बैलोंके खातिर ही लगाया गया था। जब शासन और लोगोंने जीवनकी वास्तविक समस्याओंकी ओरसे ध्यान हटाया और मिलावटकी चीजों, विलास-सामग्री और अन्य दिखावटी बातोंमें खर्च बढ़ने लगे, तबसे गायकी नस्लका हास हुआ। लोगोंके दिमागमें भैंस घुसने लगी और हम अपने आपको भूलने लगे। चारों ओरसे प्रचार होने लगा कि दुधार गायके बैल अच्छे नहीं होते।

गो-वंशके हासका एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि हमारे ही देशमें नहीं वरं अन्य देशोंमें भी चमड़ेकी माँग बहुत बढ़ गयी है। यूरोपमें तो खेती अथवा यातायातके लिये घोड़ोंसे काम लिया जाता है अथवा मशीनोंसे। पर हमारे यहाँ तो बिना बैलके खेती हो ही नहीं सकती। यहाँपर इस विवादमें नहीं पड़ना है कि आगे चलकर खेती ट्रैक्टरसे होगी। जो इन बातोंका स्वप्न देख रहे हैं, वे न तो अपने देशको समझते हैं और न खेतीकी मूल समस्याओंको। विदेशोंमें ट्रैक्टर उतना सफल नहीं है जितना कि कुछ लोग समझते हैं। बहसकी खातिर हम यह मान लें कि हमें अपने देशमें ट्रैक्टरसे खेती करनी है तो ट्रैक्टरकी उपयोगिताके लिये यह आवश्यक है कि पहले हम चक्रबंदी कर लें और चक्रबंदी भी ऐसी कि जिससे कम-से-कम पाँच-पाँच सौ बीघेके खेत बन जायें।

जबतक बड़े-बड़े चक्र नहीं बनेंगे, तबतक ट्रैक्टरोंका प्रयोग आर्थिक और व्यावहारिक दृष्टिसे मूर्खतापूर्ण होगा। यदि हम यह मान भी लें कि हम ट्रैक्टरकी खातिर, दूसरे देशोंकी नकलकी खातिर चक्रबंदीसे इतने बड़े-बड़े चक्र बना लेते हैं, तब सवाल यह आ जायगा कि हम छन करोड़ों व्यक्तियोंकी जीविकाका क्या प्रबन्ध करेंगे जिनकी गुजर-बसर दस-दस बीघे और पचास-पचास बीघेके काश्तसे होती है।

इस तरह एक प्रकारसे हमें अपने सामाजिक और आर्थिक जीवनको ध्वंस करके एक प्रकारकी अराजकता

उत्पन्न करनी पड़ेगी। यदि लोकहितके लिये अराजकता भी आवश्यकता हो तो उसमें भी कोई हानि नहीं। ट्रैक्टरोंकी खातिर इस प्रकारकी अराजकताके मानो मौत, और मौत भी साधारण मौत न होगी। किराया बिलखकर, पागल होकर और बेवस होकर करोड़ोंको मौत घाट उतरना होगा। इसके अतिरिक्त एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि हमें अपनी जमीनकी रासायनिक क्रिया भी समझना है। हमारी खेतीकी जमीनमें न केवल नाइट्रोजनकी कमी है वरं फोस्फेटकी भी कमी है। वैज्ञानिक तत्त्वको समझने और उसकी पूर्तिके लिये भी हमें बैल रखने हैं। इसलिये ट्रैक्टरोंकी बात तो हमारे खेतीमें पैदा नहीं होती। हाँ, ऐसे इलाकोंमें जहाँ खेती तोड़ करनी है और तराईमें जहाँ हजारों बीघा जमीन बंजर लानी है, वहाँपर ट्रैक्टरोंका प्रयोग कीजिये। इससे इतना तो नहीं, पर यह कहना कि खेतीमें बैलोंका स्थान ट्रैक्टर ले लेंगे, कहनेवालोंकी नासमझी और थोड़ी-सी मूर्खता है। हम तो चाहते हैं कि नयी जमीन तोड़नेके लिये कुछ ट्रैक्टरोंका उपयोग किया जाय, पर सूखोंकी अधिकांश खेतीकी बचत ही अवलम्बित रहनी है, इसलिये अच्छी गायोंकी जरूरत पड़ेगी ही।

लोगोंको यह बात नहीं मालूम कि चमड़ेका व्यवहार हमारे जीवनमें इतना बढ़ गया है कि चमड़ेकी खातिर ही गायें अधिक मारी जाती हैं। चमड़ेकी खपत इतनी अधिक है कि खासकर मौतसे मरे हुए पशुओंकी खालसे उसकी पूर्ति होती। चमड़ेकी माँग हर देशमें बढ़ रही है और हमारी इतनी बेवसी है कि हमारे देशसे ही चमड़ा बाहर जाया करता है। सन् ४३ की खाल-रिपोर्ट अनुसार खालोंका हिसाब इस प्रकार है—

पशु	गाय	भैंस	कुल जोड़
अपनी मौतसे	१४७४००००	४३८००००	१९१२००००
वधसे	५१७००००	१३३००००	६५०००००
कुल योग	१९९१००००	५७१००००	२५६२००००
देशमें खालोंकी पैदावार		२५६२००००	
विदेशोंको खालें गयीं		१०३४४०००	
बाकी		१५२७६०००	
विदेशोंसे आयी		२१६००००	
योग		१७४३६०००	

[भाग : सख्या ८]

स्पष्ट है कि अपने देशमें अपनी जरूरतके लिये पशु-वधकी जरूरत नहीं है। हमारे यहाँ पशुओंका वध, पैसोंकी खातिर दूसरे देशोंमें खाल भेजनेके लिये होता है। आफत तो यह है कि जब चमड़ेकी माँग बढ़ी, तब जीवित गायकी अपेक्षा कतल की गयी गायकी कीमत विशेषकर साधारण गायकी कीमतसे अधिक होने लगी। अगर दूध देनेवाली गौकी कीमत ५० है तो हिसाबसे यह आता है कि उसको मारकर बेचनेमें काफी लाभ रहता है। कम-से-कम ८-१० रुपयेका मुनाफा तो रहता ही है; क्योंकि उसका मांस तो विकता ही है। अवशिष्ट मांस आमाशय, जिगर-गुर्दे और जीभ सभीके तो पैसे उठते हैं। माँगों, हड्डियों, चर्बी और खालोंकी कीमत मिलती है। गर्भस्थ भ्रूणकी खाल तो बहुत मँहगी विकती है। जो लोग कीमती जूते पहनते हैं या कतल किये हुए बैलों या गायोंके जूते पहनते हैं या जो कतल किये गये गाय-बैलोंके चमड़ेका व्यवहार अधिक करते हैं, वे सब गाय-बैलोंके वधके जिम्मेदार हैं। एक तरहसे गायकी खालोंका बेचनेवाला सबसे बड़ा देश हमारा ही है। यहाँपर एक बात इस सिलसिलेमें बतानी है कि वैज्ञानिक प्रयोगोंसे यह साबित हो चुका है कि स्वाभाविक मौतसे मरनेवाली गायोंकी खालें टिकाऊपन और अन्य बातोंमें कम नहीं होतीं। नालवाड़ी (वर्धा) का चर्मालय, जो महात्मा गांधीकी

प्रेरणासे खोला गया, एक ऐसा चर्मालय है जिसका मुकाबला मध्यप्रदेशका कोई दूसरा चर्मालय तो करता ही नहीं। वहाँपर अपनी मौतसे मरे जानवरोंकी खालें ही पकायी जाती हैं और जो चीजें बनती हैं वे बहुत बढ़िया होती हैं।

इसलिये अगर गायको बचाना है और उसकी नस्ल अच्छी करनी है तो प्रत्येकको यह प्रण करना होगा कि वह कतल किये हुए जानवरके चमड़ेका उपयोग न करे। यदि ऐसा हो जाय तो दूषित आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था भी ठीक हो जाय और हम मुनाफाखोरीके लालचसे बच जायँ। इसलिये हमें चमड़े और चमड़ेकी वस्तुओंका प्रयोग कम करना चाहिये। * इसके अतिरिक्त यदि देशकी आजादीको हमें कायम रखना है और अंग्रेजोंकी साम्राज्यवादी प्रकृतिकी नकल नहीं करना है तो प्रत्येक किसानको गाय रखनी चाहिये और प्रत्येक हिंदुस्थानीको गायका ही दूध पीना चाहिये। गायका ही घी इस्तेमाल करना चाहिये और गायके दूधसे बनी मिठाइयाँ ही खानी चाहिये, ताकि हमारा देश सुखी और समृद्ध हो सके और इस देशकी गरीबी दूर हो सके। आवश्यकता इस बातकी है कि हम स्थानीय नस्लको अधिक दुधारू बनायें और सहयोग-समितियोंद्वारा उसकी देखभाल करें। सा० 'सन्मार्ग'

राम-नाम-महिमा

नामु अजामिल-से खल तारन, तारन बारन बारबधूको ।
नाम हरे प्रहलाद-विषाद, पिता-भय-साँसति-सागर सूको ॥
नामसों प्रीति-प्रतीति-विहीन गिल्यो कलिकाल कराल न चूको ।
राखिहैं रामु सो जासु हिणँ तुलसी हुलसै बल आखर दूको ॥

राम-नाम अजामिल-जैसे दुष्टोंको तारनेवाला है, गज और वेश्याका निस्तार करनेवाला है। नामने प्रह्लादके विषाद-को हर लिया और उनके पितासे होनेवाले भय और साँसतरूपी समुद्रको सुखा दिया। राम-नाममें जिसका प्रेम और विश्वास नहीं है, उसको कराल कलिकाल निगल जानेमें कभी नहीं चूका। तुलसीदासजी कहते हैं कि जिसके हृदयमें 'रा' 'म' इन दो अक्षरोंका बल उमड़ रहा है, उसकी रक्षा श्रीरामजी करेंगे।

* यह पता लगाना बहुत कठिन है कि कौन-सा चमड़ा मारी हुई गायका है और कौन-सा अपनी मौतसे मरी हुईका। अतएव चमड़ेका व्यवहार सर्वथा त्याग देनेमें ही सुविधा है। हम अपने पाठकोंसे अपील करते हैं, कि वे चमड़ेका व्यवहार किसी रूपमें भी न करें।

—सम्पादक

सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन

इधर हमारे पास सिनेमासे होनेवाले भीषण परिणामोंके सम्बन्धमें कई पत्र आये हैं। दिल्लीके एक सज्जन लिखते हैं—‘मैं साधारण मनुष्य हूँ, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किया हुआ तपस्वी-योगी नहीं। तथापि जहाँतक बनता है, बुराईसे अपनेको बचाना चाहता हूँ। पर क्या करूँ—दिल्लीकी गली-गलीमें सिनेमा-अभिनेत्रियोंके भाँति-भाँतिके नाट्य करते हुए चित्र दीवारोंपर-चिपके हैं, उनमें उनके रूपकी हाट-सी लगी है, कई-कई तो अश्लील भी हैं। उन्हें देख-देखकर मेरे मनमें बहुत बुरी-बुरी वासनाएँ पैदा होती हैं—वैसे ही सपने आते हैं × × × मैं क्या करूँ बड़ा ही परेशान हूँ—मेरे-जैसे हजारों-लाखों होंगे। क्या सरकार इसके लिये कुछ नहीं कर सकती? क्या कलाके नामपर इसी तरह प्रजाजनॉका मानस-पतन सरकारको इष्ट है? क्या उन सिनेमा-अभिनेत्रियोंके माता-पिता या अभिभावक इस बातको जरा भी घृणित नहीं मानते कि उनकी पुत्रियोंके शृङ्गारभरे चित्रोंका यों गली-गली प्रचार हो और वे लाखों मनुष्योंकी पापदृष्टि और पापभावनाकी शिकार बनें। यह मनोरञ्जनकी सामग्री है, या मानसिक पतनकी? × × × आप उपाय बताइये, मैं क्या करूँ × × × ×’

ऐसे कई पत्र और मिले हैं। पिछले दिनों एक पत्र एक कालेजके विद्यार्थीका मिला था। बड़े साइजके लगभग १३॥ पृष्ठका पत्र है। उसमें सिनेमाके परिणामस्वरूप उस युवकका कैसा, कितना और किस प्रकार पतन हुआ, इसका मर्मभेदी उल्लेख है। पत्रमें लिखी घटनाएँ ऐसी बीभत्स और भयानक हैं कि उनका प्रकाशित करना—कम-से-कम ‘कल्याण’ सरीखे पत्रमें सम्भव नहीं। घटनाओंकी बातें छोड़कर उस पत्रके यत्र-तत्रके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

“× × × मैं कालेजका एक नवयुवक विद्यार्थी हूँ। × × मेरे पिताजी गरीब हैं। लेकिन मैं इकलौता लड़का हूँ। इसलिये वे मुझे कालेजमें पढ़ाते हैं। पिताजीका मुझपर यह एतबार है कि ‘मेरा पुत्र होनहार है’ लेकिन × × × मैं सिनेमाका एक जबरदस्त शौकीन हूँ × × दारूके व्यसनके समान यह व्यसन है। × × जब पैसा नहीं होता, तब किताबें बेचकर क्षणिक सुख (सिनेमा-दर्शन) प्राप्त करता हूँ × × × माता-पिताकी भुलाकर फिरसे

किताबें खरीदता हूँ। बेचारे पिता समझते हैं—‘कालेजकी पढ़ाई बड़ी ऊँची होती है’ अतः किताबें जमा लगती होंगी’ × × × मेरे पिताजी कौड़ी-कौड़ी जमा करके मुझे पढ़ा रहे हैं। मेरे बावत उन्हें बड़ी उमारी है, पर ये सारी उम्मीदें डूब जायँगी। × × × माता पिताजी शोक करेंगे! हमेशा सुरैया, × × × × × × × राजकपूर, उषा किरन, दुर्गा खोटे, केशव शकुन्तला, शकुन्तला, आगा, उल्लास, जयश्री, दिलीप कुमार (सब मिलाकर ३२ नाम लिखे हैं) × × × ऐसे कितने ही नट-नटियोंके नाम मेरे मुखमें खते हैं। आजतक करीब ३०० सिनेमा मैंने देखे हैं × × × सिनेमा विज्ञानकी एक देन है। लेकिन हमारे निर्माता, प्रोड्यूसर आदि उसका दुरुपयोग कर रहे हैं। × × × मेरे शरीर और मनका घोर पतन हो चुका है! मैं पड़ोसी बहिनको बहिन—माताकी बहिनको मौसी कहने लायक नहीं हूँ। (इसके बाद शारीरिक और मानसिक घोर पतनके बहुत अत्यन्त बीभत्स और भीषण उदाहरण दिये हैं) × × × मेरी पढ़ाई खत्म हो गयी है। मैं सिनेमाकी बलि होता जा रहा हूँ। × × × (इसके बाद चित्रोंके नाम दे-देकर उनमें नटियोंके द्वारा दिखाये जानेवाले अङ्गसञ्चालनके तथा कामोत्तेजक दृश्योंके बीभत्स उदाहरण दिये हैं) × × ×

“हमारे आधुनिक हिंदी सिनेमामें सिर्फ नटियोंके नग्नावस्थामें दिखलाना ही शेष रह गया है। अंग्रेजी सिनेमामें तो वह भी दिखाया जाता है। × × ×

आगे चलकर वह नवयुवक लिखता है—“यह सब लिखनेका मतलब यह है कि हमारी सरकार इन बातोंपर ध्यान क्यों नहीं देती? क्या उसका यह कर्तव्य नहीं होता? सेंसर-बोर्ड क्यों इजाजत देता है, समझमें नहीं आता। × × × हम नवयुवक बहुत ही बुरी स्थितिमें हैं। हमारे चारों ओर प्रलोभन है, मन-इन्द्रियाँ काबूमें नहीं, कोई हमें बचानेवाला नहीं। यह हालत मेरे-जैसे बहुतोंकी है। × × × यों अपनेको सिनेमाकी बुराईयोंका बुरी तरह शिकार होने विस्तारसे बतलाकर अन्तमें नवयुवक भाई लिखता है—

“इसी क्षमा करें लिखते हैं × × × वर्णन है वि “हमारे परिस्थिति नहीं पा सब मुझे इससे बता सकें सकेगे? सकेगे?” “क्या नहीं कहते होते हैं पर “हमारे सामने ले संतति न XXX पाप नवयुवक समय प्रोपे युवतियों को न सिनेमा इसके निराशा मेरे किसी यह कहा क्या व्यवस किये विन ठीक है हो गया संकोच उ करना है नवीन है, ठहरा! अ सचमुच प्रभाव है

संख्या ८]

“इसी तरह मैं और थोड़ा लिखना चाहता हूँ, क्षमा करें। हमारे लेखकगण भी कामोत्तेजक पुस्तकें लिखते हैं। (एक लेखकका नाम दिया है) उनकी ××× पुस्तक इसका प्रमाण है। उसमें ऐसा वर्णन है कि पढ़नेसे जरूर शुकनाश हो जाता है।”

“हमारे युवकोंके आस-पास ऐसी विचित्र परिस्थिति आ पड़ी है कि उससे हम हरगिज छुटकारा नहीं पा सकते। अतः मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि तुझे इससे कैसे छुटकारा मिलेगा? क्या आप कुछ बता सकेंगे? क्या आप तसल्लीबख्श जवाब दे सकेंगे? क्या आप हमलोगोंको सुपथपर ला सकेंगे?”

“क्या बताऊँ, कालेजके अध्यापकगण भी कुछ नहीं कहते। ××× कुछ प्रोफेसर अच्छे भी होते हैं पर बहुत कम ×××”

“हमारे एक प्रोफेसरने समस्त विद्यार्थियोंके सामने लेक्चरमें कहा था कि ‘अपने पतिके ×××से संतति न हो तो (औरतोंको) किसीसे भी ××× ××× पाप नहीं है।’ क्या हम-जैसे नवयुवक तथा नवयुवतियोंके सामने ऐसे कहना उचित है? (जिस समय प्रोफेसरने ऐसा कहा) उस समय सब विद्यार्थी युवतियोंकी तरफ देखने लगे। उनके देखनेका कौन-सा मतलब हो सकता है? ××× ×××”

इसके आगे कई पंक्तियाँ और लिखकर विद्यार्थी बड़े निराशा भरे शब्दोंमें अपने पत्रको पूरा करता है।

किसी उच्च अधिकारीके सामने इस प्रश्नके लाये जानेपर यह कहा गया कि ‘बात ठीक है पर ‘मनोरञ्जन’ के लिये क्या व्यवस्था की जाय। मनोरञ्जनकी कोई-न-कोई व्यवस्था किये बिना सिनेमाका त्याग सम्भव नहीं।’ बात बहुत ठीक है। ‘मनोरञ्जन’का प्रश्न इस समय बहुत महत्त्वका हो गया है। घर-द्वार फूँककर, धर्म-कर्म खोकर, शील-संकोच और लज्जा-मर्यादाका नाश करके भी ‘मनोरञ्जन’ करना है। ‘मनोरञ्जन’ का इस प्रकारका यह महारोग बहुत नवीन है, पर यह बहुत ही व्यापक हो गया है। राजरोग न बहरा! अतः उन अधिकारी महोदयका कथन सर्वथा सत्य है। सचमुच सिनेमाका हमारे युवक-युवतियोंपर इतना गहरा प्रभाव है कि सरकार कहीं सिनेमा बंद करनेकी सोचे तो

इतना घोर प्रतिवाद हो कि सरकारको लेनेके देने पड़ जायँ। यह सब सच होते हुए भी क्या यह वाञ्छनीय है कि मनोरञ्जनके नामपर सिनेमाके इस पापको योंही उत्तरोत्तर बढ़ने दिया जाय और हमारा तरुणसमाज उसका बुरी तरह शिकार होकर अपने जीवनसे हाथ धो बैठे और हमारे राष्ट्रका भविष्य अन्धकारमय हो जाय?” इस प्रश्नपर बड़ी ही गम्भीरतासे विचार करना होगा।

कुछ वर्षों पहले किसी तामिल पत्रके सम्पादकको किसी ‘सिनेमा-स्टार’ के वावत अश्लील बातें प्रकाशित करनेके अपराधमें मद्रासके चीफ प्रेसिडेंसी मैजिस्ट्रेटने जुर्मानाका दण्ड देते हुए कहा था—

“अश्लीलताके प्रचारमें जब सिनेमा-संस्थाके साथ अपराधीकी तुलना की जाती है, तब उसका अपराध उसकी अपेक्षा साधारण-सा प्रतीत होता है। सिनेमा वर्तमान युगका एक अभिशाप है। उसने माननीय कुलोंकी हजारों कुमारियोंको नाचनेवाली वेश्या और लड़कोंको भाँड़ बना दिया है और उन्हें लाज-शर्म तथा सम्मानके गुणोंसे रहित कर दिया है। सिनेमाका शिक्षा तथा नीति-सम्बन्धी जो कुछ भी मूल्य बतलाया जाता है, वह असलमें इसकी बीभत्सताको ढकनेके लिये है। सिनेमा चलानेवालोंको सामाजिक या नैतिक सुधारकी चिन्ता नहीं है, उनका लक्ष्य तो केवल रुपये कमाना है।”

मैजिस्ट्रेट महोदयका एक-एक अक्षर मनन करनेयोग्य है और यह प्रेरणा देनेवाला है कि इस सम्बन्धमें यदि उदासीनता रही तो समाजकी बड़ी दुर्दशा हो जायगी।

चित्रोंमें कुछ अवश्य अच्छे भी होंगे और यदि इस संस्थाका समाजके लाभकी दृष्टिसे सुसञ्चालन और सदुपयोग हो तो इससे किसी अंशमें समाजका लाभ भी हो सकता है। सिनेमामें यदि अभिनेत्री (ऐक्ट्रेस) न रहें और पुरुषोंके द्वारा ही नारीका भी अभिनय कराया जाय तथा फिल्ममें किसी प्रकार भी एक भी नैतिक पतन करनेवाला दृश्य, गायन और वार्तालाप न हो तो फिर हानिकी कोई बात नहीं रहेगी। पर यह होना इस समय तो असम्भव-सा ही है। लोग कहेंगे, फिर तो ‘कोई आकर्षण ही नहीं रह जायगा।’ बात ठीक है। इस पतनके गर्तमें गिरानेवाले आकर्षणको ही तो मिटाना है, तभी इसका समाज-हितकारी रूप होगा और तभी सदुपयोग भी होगा। परंतु रूप और

स्पयेपर विमोहित लोग—सञ्चालक, निर्माणकर्ता, दर्शक और सेंसर कोई भी इसे क्यों मानेंगे। वे तो इसे मनोरञ्जन ही बतायेंगे और जनताको हर तरहसे इसका लाभ समझाकर अपना स्वार्थ साधना चाहेंगे !!

सिनेमासे लोगोंने चोरीकी नयी-नयी कलाएँ सीखीं, डाके डालने सीखे, शराब पीना सीखा, निर्लज्जता सीखी और भीषण व्यभिचार सीखा। सिनेमाके कारण हमारे युवक-युवतियोंमें किस प्रकार यथेच्छाचार बढ़ रहा है, इसके कई सच्चे उदाहरण तो हमारे सामने हैं। पता नहीं, लाखों-करोड़ों कितने तरुण-तरुणियोंपर इसका जहरीला असर हुआ है। फिर भी हम इसे 'मनोरञ्जन' ही मानते हैं ! उस दिन नागपुरके 'युगधर्म' में श्रीगोविन्दजी श्रीवास्तवका एक लेख प्रकाशित हुआ है, उसका कुछ अंश यह है—

“जो लोग यह समझते हैं कि सिनेमा केवल मनोरञ्जनकी एक वस्तु एवं तरोताजगीका एक साधनमात्र है, वे मेरी दृष्टिमें कुछ हदतक भूल करते हैं। जिसका प्रभाव हमारे देशके बालकों एवं तरुणोंपर पूर्णरूपेण पड़ रहा हो, उसे मनोरञ्जनकी वस्तु, दिल-बहलावका साधन तथा रिक्रेशमेंट कहना बुद्धिमान्तीका लक्षण नहीं है। जब कोई क्रिया जीवनपर यथेष्ट प्रभाव डालनेवाली हो जाती है, तब मनोरञ्जन न होकर संस्कार बन जाती है। मनोरञ्जन कुछ ही समयके लिये होता है और बादमें भुला दिया जाता है, उसके प्रभावमें स्थायित्वका अभाव रहता है। प्रतिदिन दाल-रोटी खाते-खाते हमें केवल रुचि-परिवर्तनके लिये कभी मिठाई खानी पड़ती है। एक समय था, जब सिनेमा मनोरञ्जनके साधनोंमें गिना जाता होगा, परन्तु आज उसका असर यत्र-तत्र सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। आज सिनेमा जीवनपर संस्कार करनेका एक स्थायी एवं आकर्षक साधन है। अनुभव तो यह कहता है कि जो शिक्षा तथा संस्कार माता-पिता अपने पुत्रपर और शिक्षक अपने शिष्यपर नहीं डाल सकते, वे ही और उनसे कहीं बढ़कर यह छायादार, रंगविरंगी कुछ ही घंटोंकी दुनिया उनपर डाल देती है। वे भी वैसी ही दुनियामें विचरण करना प्रारम्भ कर देते हैं। आखिर ऐसा क्यों ? इसके सैद्धान्तिक कारणकी हमें खोज करनी चाहिये।

“आज दुनियामें केवल तीन बातोंका संघर्ष हो रहा है—रूप, रुपया और प्रभुत्व। मानो ये तीन ही समस्याएँ दुनियामें सब राष्ट्रोंके समक्ष हैं। कहना

न होगा कि इस दौड़में भारत अभी पीछे है, न माने किनेके पुण्यकार्योंके कारण। परन्तु उसका हिस्सा भी दौड़में अवश्य है। भारत प्रारम्भसे ही अध्यात्मवादी देश था उसने रोटी और सेक्सकी समस्याको बादमें और तथा संस्कृतिको पहले स्वीकार किया है। भारतवासियों अथवा मायाकी शक्तिके भी ऊपर जो एक अखण्ड शक्ति है, उसमें विश्वास करनेवाले प्राणी हैं। भारतमें भी उसी मायाका प्रभाव सब स्थानोंमें परिलक्षित है।

“तात्पर्य यह है कि यदि सारी दुनियामें व्यापक सिद्धान्तोंकी आपसमें होड़-सी लगी है तो भारतमें आदर्शवाद और यथार्थवादका संघर्ष मचा है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो केवल सिने-कलामें ही क्या, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रोंतकमें आदर्श और यथार्थमें अव्यक्त संघर्ष हो रहा है। भारतके समस्त वामपंथी दल यथार्थवादी हैं, जो धर्म, संस्कृति, आचरण और आदर्श नगण्य समझते हैं और दक्षिणपंथी दलोंमें आदर्शवाद है, जिन्हें सभ्यता, संस्कृति और धर्मरक्षार्थी है। कांग्रेसका किधर रुख है, कहा नहीं जा सकता। गाँधीवादी कांग्रेस अध्यात्मवादी थी। आजकी आदर्श और यथार्थके बीचमें है और इसी कारण न तो आजके राजनीतिक रंगमंचपर उसका दक्षिणपंथी सहयोग हो सकता और न वामपंथी दलोंसे।

“सिने-कलाका यही हाल है। प्राचीनकालसे ही आयी हुई आदर्श-परम्पराओंको रूढ़िवादी आडम्बरयुक्त कहकर अनेक चित्रोंमें उनका जमकर प्रहार किया जाता है। और यह सब होता है, कलाके नामपर। प्रत्येक चित्रपटमें भौतिक शारीरिक सौन्दर्यका चतुर्मुखी स्पर्शीकरण जाता है। शायद, आजका कलाकार इसीके दिग्दर्शक है। परन्तु यह सेक्स-समस्याका सही मानेमें हल है। आजकी अनेक प्रसिद्ध तारिकाएँ अविवाहित हैं। क्या विवाह शारीरिक सौन्दर्यवृद्धिमें बाधक है और शारीरिक सौन्दर्य भी स्थायी है ? कदाचित् इन कलाकारों और तारिकाओंके मतमें स्वच्छन्द रहना और सामाजिक बन्धनोंको तोड़ना सुखी जीवनका प्रमाण है।

“प्रत्येक चित्रमें ऐन्द्रियिक तत्त्वोंको गुदगुदाते हुए उद्दाम वासनाको प्रदीप्त करनेवाली सामग्री भरती रहती है, जिसका स्पष्ट परिणाम दर्शकोंके मन पर पड़ता है। वे इसे 'मनोरञ्जन' समझकर

संख्या ८]

“इसे मनोरञ्जन कहना स्वतःको धोका देना है। यह असंयमित वासना ही समस्त दुःखों और क्रोधके मूलमें काम करती है। इसका परिणाम यह होता है कि सिने-कलाकारका अत्यन्त परिश्रमसे तैयार किया हुआ चित्र अधिकांश दर्शकोंके लिये वासनामय सिद्ध हो जाता है। जनता इतनी तो समझदार और सूक्ष्मदर्शी नहीं होती कि वह चित्रका सार भाग ग्रहण करे और निरर्थक छोड़ दे। उसे तो जहाँ भड़कीले और उत्तेजनापूर्ण चित्र दिखे, वह उनपर लट्टू हो जाती है। अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोगोंका भी हाल है। कलाकारका सारा परिश्रम, सारी शक्तिका परिणाम दर्शकोंकी वासना उद्दीप्त करनेका एक खिलवाड़ बन जाता है।”

सिनेमाका असर हमारे दैनिक जीवनपर भी बुरी तरह पड़ रहा है। हमारे कपड़े-लत्ते और हमारी घरकी पोशाकमें हमारे नवयुवक तथा नवयुवतियाँ सिनेमाके नट-नटियोंको आदर्श मानने लगी हैं। उस दिन ‘सन्मार्ग’में छपा था कि—

‘पत्रिका’ के कार्यालयके प्रतिनिधिका कहना है कि सिनेमा-उद्योगने हमारे देशके युवकों एवं युवतियोंके हृदयमें कितना स्थान बना लिया है और उनकी रुचियोंको किस प्रकार प्रभावित कर दिया है, इसका पता आजकल बाजारोंमें कपड़े की दूकानोंका निरीक्षण करनेपर ही लगता है। आँखों और कानोंको इस बदलती स्थितिपर सहसा विश्वास नहीं होता !

सिने-संसारके सितारे, युवकों और युवतियोंकी रुचियोंका निर्देशन एक अरसेसे करते आ रहे हैं। सिने-संसारकी तारिकाओंकी साड़ियों और ब्लाउजोंका फैशन सभ्यसमाजकी महिलाएँ अपनाने लगी हैं। सिनेमाके प्रेमियोंमें कुछ लोग ऐसे हैं जो केवल अभिनेता और अभिनेत्रियोंके पहनावे, शृङ्गार आदिको ही देखने सिनेमाघर जाते और उन्हींका अनुकरण भी करते हैं ! कुछ युवक ऐसे भी मिलते हैं जो राजकपूर, दिलीपकुमार और देवानन्दको ही अपना मार्ग-प्रदर्शक मानते हैं। अब अनेक युवक दिलीपकुमारके खेतुके बालों और राजकपूरके बरसाती पाजामा तकका अनुकरण करने लगे हैं !

जिन कपड़ोंका सुरुचिपूर्ण महिलाएँ भी आज पहनते लज्जाका अनुभव करती हैं, उन्हें धारणकर हमारे युवक गर्वसे सीना तानकर निकलते हैं, यह सिनेमाकी ही देन है। आजकल लिहाफ और परदेके कपड़ोंके बुश-शर्ट तेजीसे चल पड़े हैं। यही नहीं, यह रुचि इतनी आगे बढ़ चुकी है कि ‘आवारा’ और ‘बरसात’ बुश-शर्ट भी निकल पड़े हैं। इन कपड़ोंपर ‘आवारा’ और ‘बरसात’ के

होते हैं। इस प्रकार सिनेमाके पोस्टरों-सा अपने कपड़ोंपर विशापन लेकर चलनेवाले युवकोंको देख समाजके भविष्यका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है ! युवतियाँ भी अपने प्रिय सितारोंद्वारा प्रयोगमें लायी जानेवाली साड़ियाँ और ब्लाउज पसंद करने लगी हैं। XXXXXबाजारोंमें किसी भी फैन्सी कपड़ेकी दूकानपर पूछनेपर ज्ञात होगा कि सिने-सितारोंके नामपर वस्त्रोंका निर्माण होने लगा है। कुछ नये प्रकारके कपड़े निकल पड़े हैं। ‘मधुवाला’ ढाई-तीन रुपये, ‘नरगिस’ तीन रुपये, ‘सुरैया’ ढाई रुपये और डेढ़ रुपये प्रतिगज तक मिलती है। ‘मधुवाला’ साड़ी सितारे-टकी बंगलोरकी साड़ीका नाम है ! ‘नरगिस’ साड़ी सादी मैसूरकी बनी होती है जिसके किनारेपर सुनहली कढ़ाईका काम होता है। ‘सुरैया’ साड़ी काली लिननकी जिसपर लम्बी, लाल-पीली-हरी धारियाँ होती हैं।

एक पंजाबी वस्त्रविक्रेताने बताया कि सिने-सितारोंके नामपर कपड़े बहुत जल्दी विकते हैं। ‘आवारा’ और ‘बरसात’के नामसे भी कपड़े विक रहे हैं। इस प्रकार फिल्मी सितारे आजकल फिल्म ही नहीं, कपड़ा भी बेचने लगे हैं। अनजाने ही ये सितारे हमारे सामाजिक जीवनके भाग्यका भी क्रय-विक्रय कर रहे हैं !

फिल्म-उद्योग, जिसे हमारे राष्ट्रनायक देशके सांस्कृतिक जीवनका शृङ्गार बनाना चाहते हैं, हमारी रुचियोंमें किस प्रकारकी अराजकता उत्पन्न कर रहा है—इसका कुछ आभास उपर्युक्त वर्णनसे मिल सकता है। यदि यही स्थिति बनी रही तो भविष्यकी उच्छृङ्खलता और समाजविरोधी अराजकताका भी पूर्ण आभास हमें मिल जायगा। आखिर यह कुरुचिपूर्ण फैशनपरस्ती हमारे तरुण-तरुणियोंको अब किधर ले जायगी ?

इससे सिनेमाके प्रभावकी गहराईका पता लगता है। और यह भी पता लगता है कि हमारी मनोवृत्ति किस प्रकारसे बिगड़ती जा रही है। मनुष्यकी मनोवृत्ति बदल जानेपर जब उसकी बुद्धि बुरेको भला मान लेती है, तब बुराईके छूटनेमें बड़ी ही कठिनाता होती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। कुछ ही समय पहले हमारे सम्भ्रान्त कुलकी कन्या अपना स्वरूप, सौन्दर्य दिखलाना महापाप मानती थी। उसके सौन्दर्यका प्रकाशन उसके शीलका अपमान था और वह उसके लिये असह्य था ! पर आज उन्हीं आर्यकन्याओंके हृदयोंमें अपने सौन्दर्यका सचित्र विशापन करनेकी कुत्सित लालसा जाग उठी है। (अब तो दुर्भाग्यवश भारतवर्षमें

सौन्दर्य-प्रतियोगिता भी प्रारम्भ हो गयी है और हमारी कुल-ललनाएँ परपुरुषोंके द्वारा सौन्दर्यकी परीक्षा कराकर उसमें नम्बर प्राप्त करती हैं !) और आज वे ही सिनेमा-स्टूडियो आदिमें पर-पुरुषोंके (जिनमें शायद ही कोई इन्द्रियविजयी शुकदेव हों) साथ मिलने-जुलने तथा तरह-तरहकी भाव-भंगियाँ दिखलाकर अपने शीलका उपहास करनेमें गौरव मानने लगी हैं ! उन माता-पिताओंको गहराईसे सोचना चाहिये कि जो स्वार्थ, लोभ या नासमझीके कारण अपनी कुल-कन्याओंको सिनेमा-अभिनेत्री बनने भेजकर कितना बड़ा पाप कर रहे हैं ! और उन माता-पिताओंकी नासमझीपर भी तरस आता है, जो छोटे-छोटे कोमलमति निर्दोष बालक-बालिकाओंको सिनेमा दिखलाने ले जाते हैं और उनमें सिनेमाकी विषमरी शौक पैदा करके उनके जीवनको बिगाड़नेमें कारण बनते हैं । अपने प्यारे बच्चोंको हँसते-हँसते इस दारुण विनाशके गंदे अमिकुण्डलमें झोंकनेवाले इन माता-पिताओंको क्या कहा जाय ?

कुछ लोगोंका तर्क है कि 'धार्मिक सिनेमा देखनेमें क्या आपत्ति है।' आपत्ति वही है कि 'बूढ़ेके मरनेमें तो कोई बात नहीं पर मौत घर जो देख गयी।' जहाँ देखनेका चसका लगा कि फिर धार्मिक-अधार्मिककी कौन छान-बीन करेगा ? और जहाँ एक बार विषयोत्तेजक अभिनय देखा कि फिर तो वैसे ही अभिनय देखनेकी प्रवृत्ति इच्छा होगी । कारण प्रत्यक्ष हैं—बुराईका जितना शीघ्र ग्रहण होता है, उतना भलाईका नहीं होता । फिर जबतक सिनेमाओंमें इन कथित कुमारियोंका अभिनय है, तबतक वे धार्मिक होते हुए भी मनमें सहज ही विकार पैदा करनेवाले होनेके कारण सर्वथा अधार्मिक ही हैं ! एक बुराई और है—जिस प्रकार हमारे तरुण भाई अभिनेत्रियोंपर पाप-बुद्धि करते हैं, उसी प्रकार हमारी कुलशीलवती निर्दोष बहनोंके मनोंपर भी पुरुष अभिनेताओंका विविध प्रकारसे प्रभाव पड़ता है और कम-से-कम वे अपने पतियोंको उन्हींके रंगरूपमें देखना चाहती हैं । यह जान-बूझकर जहर मिले लड्डू खाने या स्वर्ग-समझकर भीषण नरककुण्डमें गिरनेके समान ही मोहका कृत्य हमारी यह शौक वस्तुतः महान् शोकका कारण होगी ।

अन्तमें हमारी अपने पाठक-पाठिकाओंसे यह विनीत प्रार्थना है कि वे 'मनोरञ्जन' के प्रलोभनमें पड़कर सिनेमा न देखें, कैसा भी फिल्म क्यों न हो, सभीमें दोष उत्पन्न होनेका डर है । बहुत सोच-विचार करनेके बाद ही यह प्रार्थना की गयी है कि लोक-परलोकमें कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको

सिनेमा बिल्कुल नहीं देखना चाहिये, न अपने बच्चोंको सिनेमा चाहिये और न उनमें देखनेकी शौक पैदा करना चाहिये कम-से-कम परमार्थके मार्गमें तो यह बहुत बड़ा विघ्न है ।

अभी गत अप्रैल सन् १९५२ में 'बालकोंके लिये रेडियो और सिनेमा' पर विचार करनेके लिये यूनेस्कोका सम्मेलन मिलानमें हुआ था, जिसमें वैज्ञानिक, पाण्डित्य, सदस्य और धाराशास्त्री शामिल थे । इसमें ब्रिटेन, स्वीडन, जर्मनी, हॉलैंड, फ्रांस, स्विजरलैंड, स्पेन और आदि चौबीस देशोंके प्रतिनिधि उपस्थित थे । इसमें यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि 'सिनेमाके चित्रोंके विषयमें एक अन्तराष्ट्रीय समितिकी योजना की जाय, जिसकी शाखाएँ यूनेस्को में शामिल सारे देशोंमें हों । यह समिति सिनेमाकी तस्वीरोंको जाँच करे और सिफारिश करे कि उसमेंसे बच्चोंके किशोरोंको कौन-सी दिखायी जाय और कौन-सी न हो ।

इससे यह तो पता चलता है कि सिनेमासे बच्चे किशोर बुरी बातें सीखते हैं । पर यदि कोई बुरी बात है वह सबके लिये ही होनी चाहिये । फिर यहाँ तो बच्चे मा-बाप साथ ही सब देखते हैं । अतएव जिससे बुरा पड़ता हो, जिसे पिता अपने पुत्री-पुत्रके सामने, माता अपने बच्चोंके सामने, भाई अपनी बहिनके सामने निकाले न पड़ सके, न रख सके ऐसी कोई भी बात न तो किसी नरक-अभिनयमें होनी चाहिये और न सिनेमाके प्रदर्शनमें हो । पर यह तभी हो सकता है, जब मिथ्या रूप और लोभवासना कम हो । अस्तु,

यह ठीक है कि हमारे इतने लिखनेसे न तो सिनेमा संसारपर कोई खास असर होगा, न सरकारके ही कान जू रेंगेगी तथा न इससे 'मनोरञ्जन' माननेवाले शौकीन नारी ही अपना मत पलटेंगे । तथापि कल्याणके पाठक-पाठिकाओंको 'कल्याण-परिवार'के सदस्य मानकर हम उनसे बार-बार इतनी प्रार्थना तो अवश्य करें कि वे जहाँतक बने 'सिनेमा देखना बिल्कुल छोड़ दें।' और हमें आशा है कि बहुत-से पाठक-पाठिका हमारी प्रार्थनापर ध्यान भी देंगे ।

साथ ही हमारी सेंसर-बोर्डसे प्रार्थना है कि जहाँतक बने, उन फिल्मोंको तो वह कदापि खिलान न करें, जिनमें नैतिक पतन करानेवाले दृश्य, नाच और वार्तालाप हों, जिनमें नटियोंके द्वारा किये गये अङ्गसञ्चालनके गंदे दृश्य हों और जिनमें किसी भी धार्मिक भावनापर आघात करनेवाली चीजें हों ।

कामके पत्र

(१)

पाप करनेवाले सुखी नहीं होते

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । धन्यवाद । परम कन्यागमय परम सुहृद् परमात्मासे दूर रहनेवाले तथा शास्त्रविपरीत पापाचरण करनेवाले मनुष्य सुखी दीखते हैं, लोगोंकी यह धारणा अवश्य है, पर असलमें यह बात नहीं है । प्रथम तो हमें ऐसे सब लोगोंका पता ही कहाँ है जो परमात्मासे विमुख पापाचारी होकर भी सुखी हैं । दूसरे, यदि कुछ लोग ऐसे हैं तो उनके सुखका कारण उनके वर्तमान समयके कर्म नहीं हैं । पूर्वजन्मके शुभ कर्मोंके फलस्वरूप वे इस समय सुखका उपभोग कर रहे हैं । जब इन फलदानोन्मुख कर्मोंकी समाप्ति हो जायगी और वर्तमान अशुभ कर्म प्रारब्ध बनकर फल देने लगेंगे, तब उन्हें इनके फलस्वरूप कष्ट और दुःखोंकी प्राप्ति होगी । यह फलभोग कभी-कभी इस जन्ममें भी हो जाता है; नहीं तो, आगेके जन्मोंमें होता है; परंतु इतना निश्चय समझना चाहिये कि अशुभ कर्मका फल सुख कभी नहीं हो सकता । भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति रखनेवाले, उनके प्रीत्यर्थ सतत प्रयत्नशील रहनेवाले पुरुष कभी दुःख और अशान्तिको प्राप्त नहीं हो सकते । भगवान्‌ सुख-शान्तिके केन्द्र हैं । जो उनके चरणकमलोंमें अपने चित्तको लगा पाते हैं, उनकी कृपापर विश्वास करके उनका भजन करते हैं, उनकी सारी चिन्ता, समस्त विषाद मिट जाते हैं । भगवान्‌पर निर्भर रहकर जीवन-यापन करनेवालोंका योग्य भगवान्‌ स्वयं वहन करते हैं । अतएव वे सहज ही अत्यन्त वेगसे भगवान्‌की ओर अग्रसर होते रहते हैं । वे पापपथसे सर्वथा पृथक् परमानन्दमय कन्यागमयपर बढ़ते चले जाते हैं । आप उन परम

सुहृद् प्रभुके श्रीचरणोंमें अपना जीवन समर्पण करके उन्हींके वन जाइये । प्रेम तथा विश्वासके साथ उनका भजन करते रहिये । उनके श्रीचरणोंमें अनुराग बढ़ाते रहिये । फिर शाश्वती शान्ति और सर्वश्रेष्ठ सुख आपके पास पहुँचनेको आतुर हो उठेंगे । भगवान्‌के पवित्र नामका जाप, श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण और समस्त कर्मोंका उनके चरणोंमें समर्पण ही भगवान्‌का भजन है । शेष भगवत्कृपा ।

(२)

पृथ्वी चलती है या सूर्य ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला था । आपका लिखना सत्य है—प्राकृतिक भूगोल पृथ्वीको चलनेवाली और सूर्यको अपने स्थानपर अचल स्थिर मानता है; परंतु हमारे पुराणोंने पृथ्वीको अचल और सूर्यको गतिशील बतलाया है । हमें ठीक पता नहीं, कौन-सी बात ठीक है । सुना था, कुछ आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी अब पृथ्वीको चलनेवाली माननेके सिद्धान्तमें सन्देह करने लगे हैं । परंतु पृथ्वी और सूर्य इनमेंसे किसी एकको अचल और दूसरेको चल माननेसे ग्रहसम्बन्धी गणितके हिसाबमें कोई बाधा नहीं आती । ग्रहलाघव आदिमें सूर्यकी गतिशीलताका स्पष्ट निर्देश है और उसके अनुसार बनायी हुई जन्म-कुण्डलियोंके फल यथार्थ होते देखे गये हैं । भृगुसंहितामें सूर्य आदि ग्रहोंकी परिवर्तित स्थितिके अनुसार फलका यथार्थ वर्णन पाया जाता है । वेद-मन्त्रोंमें भी सूर्यकी गतिका वर्णन विद्वान् लोग बतलाते हैं । अतः मेरी समझसे सूर्यको ही गतिशील मानना उचित है ।

ग्रहणके सम्बन्धमें आपका लिखना ठीक है । पर विचारकर देखनेपर प्राचीन और आधुनिक मतमें कोई

अन्तर नहीं दिखायी देता । दृष्टिकोण या वर्णनका प्रकार-भेद है । आधुनिक मत चन्द्रमामें भी पृथ्वीकी छाया पड़नेपर चन्द्रग्रहण मानता है । प्राचीन मत उसी छायाके अधिष्ठाता चेतनको 'राहु' के नामसे निर्देश करता है । छाया अथवा तमका अभिमानी असुर 'राहु' माना गया है । वह प्रकाशपुञ्जके अधिष्ठाता सूर्य और चन्द्रका विरोधी है । तम और प्रकाशमें विरोध प्रत्यक्ष ही है । आधिभौतिक दृष्टिसे पृथ्वीकी छायावाली बात ठीक है और आधिदैविक दृष्टिसे 'राहु'वाला वर्णन सत्य है । दोनों ही ठीक हैं ।

'भूकम्प'के बारेमें भी कोई मतभेद नहीं है । आधुनिक मत जिन कारणोंसे भूकम्पका होना मानता है, वह ठीक है । उन कारणोंका निर्माण होता है—जीव-जगत्के शुभाशुभ प्रारब्धके अनुसार । वे आकर्षण-शक्तिके प्रवाहमें बाधा डालते हैं, जिससे पृथ्वी काँपती है । इस आकर्षण-शक्तिके आधारको ही 'सङ्कर्षण' या 'शेषनाग' कहते हैं । वाराह और कच्छप भी उसी आधारशक्तिके आश्रय हैं । अतः वस्तुतः कोई विरोध नहीं है । धर्मशास्त्रका कथन भी सत्य है और आधुनिक मत भी ठीक है । इसमें आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टिका ही भेद है । शेष भगवत्कृपा ।

(३)

घरमें रहकर ही भगवान्का भजन कीजिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला था । पता ठीक न होनेसे उत्तरमें देर हुई । पता साफ तथा पूरा लिखना चाहिये । आप पंद्रह सालकी उम्रसे ही श्रीशङ्करभगवान्की प्रतिदिन पूजा करते हैं और श्रीरामायण तथा भगवान् श्रीराममें आपका प्रेम है, यह बड़े ही आनन्दकी बात है । आपका ऐसा अनुमान है कि 'भगवान् श्रीसीतारामचन्द्रजीके चरणोंमें मेरा प्रेम तो है, पर अधिक नहीं है' और उस प्रेमकी

अधिकताके लिये आप चिन्तित हैं, सो बड़ी अच्छी बात है । प्रेमकी कमीका बोध प्रेमकी वृद्धिमें सहज हुआ करता है । भगवान् श्रीसीतारामके चरणोंमें प्रेम होनेका यही साधन है कि उनको आप अपना पार प्रेमास्पद समझें और उनकी याद क्षणभरके लिये मन भूले, ऐसा प्रयत्न करें । श्रीरामायणका प्रेमपूर्वक, किसी प्रकारकी कामना न रखकर, पाठ करें । पण्डितजीके बतलानेपर भी नवरात्रमें आपने धन-प्राति आदिके लिये कोई प्रयोग न करके—

यह बर मँगाऊँ कृपा निकेता । बसहु हृदय सिय अनुज समेता ।

—इस सम्पुटके साथ केवल भक्ति तथा प्रेमकी प्राप्ति लिये ही पारायण किया—यह बहुत अच्छी बात है । आप भगवान् श्रीसीतारामके प्रेमकी प्राप्तिके लिए एकान्तमें बैठकर रोते हुए भगवान्से कातर प्रार्थना करें । उनसे अपनी ही भाषामें अपने मनके बात बतलायें । उनसे कहें—'प्रभो ! मैं साधनहीन हूँ, आपके प्रति मेरे हृदयमें जरा भी प्रेम नहीं है, आप ही इस तुच्छ दीनपर दया करके इसे अपना पार दुर्लभ प्रेम प्रदान कीजिये ।' आर विश्वास कीजिये—भगवान् श्रीराम अकारण कृपालु हैं, मृदुल स्वभाव हैं, जनवत्सल हैं, पतितपावन हैं और करुणाके आगार सिन्धु हैं । उनके सम्मुख जाते ही जीव कोटिकोटी जन्मोंके पापोंसे छूट जाता है । उनके अपने वचन हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं ।

कोटि जनम अब नासहिं तबहीं ॥

उनके परम पावन तारक मन्त्र रामनामने असंख्य जीवोंको संसारसागरसे तार दिया है । असंख्योंके भगवान्का प्रेम प्राप्त करवाया है । आप उस रामनामका आश्रय लीजिये । उसका स्मरण कीजिये । विश्वासको उत्तरोत्तर बढ़ाइये । उन्हींकी कृपासे सब

संख्या ८]

आप कटेंगे, उन्हींकी कृपासे हृदयके सारे काम-क्रोधादि शत्रुओंका नाश होगा, उन्हींकी कृपासे भक्ति-प्रेमकी प्राप्ति तथा उनके दर्शन होंगे। प्रत्येक स्थितिमें उन्हें आप अपना सहायक मानकर उनपर निर्भर कीजिये। उनमें चित्त लगाइये। उनकी कृपा आपको सहज ही तारी कठिनाइयोंसे परे पहुँचा देगी।

आपने वनमें जानेकी बात लिखी सो ऐसा विचार कभी नहीं करना चाहिये। जंगलमें जाते ही भगवान् मिल जायेंगे, ऐसा सोचना मूर्खता है। विवाहिता भूमी, माता-पिता, छोटे भाई आदिके पालन-पोषणकी जिम्मेवारी आपपर है, उसे भगवान्की पूजा समझकर निभाइये। आपका प्रत्येक कर्म भगवान्की पूजा बन जायगा। आप अपने पिताजीकी भाँति कमरेमें भगवान् श्रीसीताराम-जीका चित्र रखकर पूजा करना चाहते हैं सो बड़ी अच्छी बात है, अवश्य कीजिये। छोटे साइजकी भगवान् श्रीसीतारामजीकी सुन्दर तस्वीर मँदवाकर रखिये और प्रति-दिन चन्दन, फूल, माला, धूप, दीप, नैवेद्य आदिके द्वारा उसका पूजन कीजिये। बाहर जाना पड़े और सुविधा हो तो भगवान्के चित्रको साथ लेते जाना चाहिये और चन्दन, पुष्प आदि जो भी सामग्री जुट जाय, उसीसे भगवान्के चित्रपटकी पूजा कर लेनी चाहिये। श्रीशङ्करजीकी पूजा तो आप चाहे जहाँ कर ही सकते हैं। शिवपूजाके स्थान प्रायः सभी जगह मिल जाते हैं। कभी सुविधा न हो तो पीछेसे दैनिक पूजाका पूरा प्रबन्ध करके जाना चाहिये। चित्रपट समझकर पूजा नहीं करनी है, पूजा करनी है भगवान् समझकर। इसलिये जहाँतक बने, अपने हाथोंसे ही पूजा करनी चाहिये। नहीं तो, पूरी व्यवस्था करके बाहर जाना चाहिये।

दुकानदारी करनी पड़ती है सो ठीक है, उसको भी प्रभुकी सेवाका कार्य समझकर करें। प्रत्येक

प्राहकमें तथा जिनसे भी काम पड़े, उन सबमें भगवान् विराजमान हैं, ऐसा समझकर उनके साथ वर्तव करें। भगवान् माननेपर क्रोध आप ही नहीं आयेगा। हाँ, कभी न्यायसंगत अवसर आनेपर भीतरसे क्रोधशून्य रहते हुए ही क्रोधका व्यवहार करना पड़े, या कोर्टमें नालिश करनी पड़े तो आपत्ति नहीं है, पर उसमें भी द्वेष, क्रोध तथा अहितकी भावना न रखकर प्रेम तथा हितकी ही भावना रखें।

स्त्रीके साथ प्रेम करें, उसके साथ सदा सद्ब्यवहार करें, परंतु उसमें आसक्त न हों। उसमें भी भगवान्को देखनेकी चेष्टा करें। राम देखनेपर काम आप ही भाग जायगा। 'जहाँ राम तहाँ काम नहीं।'।

नाम-जप आप कोई-सा भी करें, परंतु साथमें अपना नाम जोड़नेकी जरूरत नहीं। 'श्रीराम जय राम जय जय राम', 'श्रीसीताराम सीताराम' 'रघुपति राघव राजाराम, पतितपावन सीताराम'—सभी एक हैं। जिसमें आपकी विशेष रुचि हो और जो सहज जान पड़े, उसीका सदैव जप और कीर्तन कर सकते हैं।

असलमें भगवान्की कृपापर विश्वास रखकर उनका भजन करनेसे बहुत शीघ्र लाभ होता है। शेष भगवत्कृपा।

(४)

भगवान्में विश्वास तथा प्रेम कैसे हो?

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद, आपके प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) सत्सङ्ग, भगवान्में विश्वास बढ़ानेवाले भक्त-चरित्रोंका अध्ययन, विश्वासी भक्तोंका सङ्ग और बार-बार अपनेमें विश्वासकी दृढ़ता करनेसे विश्वास होता है, बढ़ता है और सदा रहता है।

(२) भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला आदिका बार-बार श्रवण, कीर्तन और मनन करना, भगवान्‌के नामका जप करना, प्राणिमात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबको सुख पहुँचाने तथा सबका हित करनेकी चेष्टा करना, कुसंगतिका सर्वथा त्याग करना, विषयचिन्तनके बदले भगवच्चिन्तन हो, इसके लिये सावधानी रखना, व्रत-नियमादिका पालन करना, सद्गुणोंका स्वाध्याय करना, नियमित सन्ध्या-वन्दना आदि करना, दीनोंपर दया करना—इन साधनोंसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। इन सबमें भगवान्‌का स्मरण और सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखना—ये दो प्रधान साधन हैं। इनके सम्पादनसे अन्तःकरणकी शुद्धि ही नहीं, भगवान्‌की प्राप्ति भी हो सकती है।

(३) भगवान्‌के तत्त्वको तथा प्रेम-रहस्यको जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके सङ्गसे, भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, भक्तवत्सलता आदि स्वभावका परिचय प्राप्त करनेपर तथा भगवान्‌की प्रेम-मयी लीला-कथाओंके श्रवणसे भगवान्‌में प्रेम होता है। और सच्चा प्रेम सदा बढ़नेवाला तो होता ही है।

(४) जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वह उसीका स्वरूप मानी जाती है। सम्पूर्ण जगत्‌के निमित्त और उपादान कारण श्रीभगवान्‌ हैं, यह उन्हींसे उत्पन्न हुआ है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें विलीन होगा। अतः यह वस्तुतः भगवद्रूप ही है। भगवत्-स्वरूप सदा सुखमय है; इस प्रकार बार-बार विचार और मनन करनेपर सब कुछ आनन्दमय भगवत्-स्वरूप दिखायी देने लगता है। इस भावकी दृढ़ता सत्सङ्गसे हुआ करती है। जो लोग जगत्‌को भगवत्-स्वरूप नहीं मानते, उनके लिये यह अनित्य तथा सदा दुःखमय ही रहता है।

(५) एकान्तमें सरलता, श्रद्धा, विश्वास, सदाय

सचाई तथा उत्कण्ठाके साथ कातर भावसे भगवान्‌के पुकारिये और बार-बार अपनेको भगवान्‌के समर्पण करते हुए अपनी भाषामें प्रार्थना कीजिये—‘प्रभो ! मैं आपका हूँ, आपकी शरणमें हूँ, मैं और मेरा तथा मेरा सर्वस्व सब आपके श्रीचरणोंमें समर्पित है आप स्वीकार कीजिये ।’ यों अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें सौंपकर मनके नेत्रोंसे देखिये—भगवान्‌के मुसकराते हुए आपको स्वीकार कर लिया। फिर अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय और विश्वास कीजिये कि मुझे भगवान्‌ने स्वीकार कर लिया है, अब मैं और मेरा सब भगवान्‌का हो गया। फिर कहीं भी अहंकार न ममताको न आने देकर सबको भगवान्‌का समझिये और सारे काम भगवान्‌के समझकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार करते रहिये। यह समझिये कि मैं यन्त्र हूँ, वे यन्त्री हैं, वे जब मैंसे जो कुछ कराते हैं, मुझसे वही होता है। न मेरा कुछ है, न मैं कुछ हूँ। मैं तो उनके हाथकी कठपुतली हूँ। वे जैसे नचाते हैं, वैसे ही नाचता हूँ। मुझे न भय है, न चिन्ता है। वास्तवमें शरणागत हो जानेपर निर्भयता और निश्चिन्तता तो अपने-आप ही आ जाती है। ये तो शरणागतिके स्वरूप ही हैं।

(६) हृदयमें रहनेवाले काम, क्रोध, अभिमान, द्वेष, विषयासक्ति, मोह, विषमता आदि दोषोंके हटानेके लिये वैराग्य, क्षमा, संतोष, प्रेम, समता आदि दैवी गुणोंको तथा समस्त दैवी गुणोंके प्राण तथा परमाधार भगवान्‌ श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीनारायण—किसी भी स्वरूपको हृदयमें बसा लेना चाहिये। भगवान्‌के आते ही दोष वैसे ही नष्ट हो जायँगे, जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

पतिदेवका सद्भाव बढ़ाइये

प्रिय बहिन ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका

संख्या ८]

मिला। आपकी सारी बातें पढ़ीं। आप अपनी नम्रता, विनय और सेवासे अपने पतिदेवको सदा अपने अनुकूल बनाये रखिये। फिर घरकी सारी प्रति-कृता आपके अनुकूल हो जायगी। आप धवराइये नहीं। पतिदेव आपके बहुत साधुस्वभावके सच्चरित्र हैं और आपके प्रति उनके मनमें सद्भाव भी है, फिर और क्या चाहिये। उनका यह सद्भाव सदा बढ़ता रहे, यही प्रयत्न कीजिये। इसका उपाय है—सरलता, सेवा, स्वार्थका त्याग, कुछ भी माँग न करना, आज्ञाका

पालन करना, प्रतिकूल आचरणका त्याग करना, किसीका दोष या चुगली उनके सामने न करना, उनके माता-पिता (अपने सास-ससुर) को सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना और सदा मधुर, नम्र तथा निष्कपट वर्ताव करना। आपका भजनमें प्रेम है तथा भगवान्‌में विश्वास है—यह बड़ी अच्छी बात है। भगवान्‌का भजन मन-ही-मन करती रहें और भगवान्‌से प्रार्थना करें, जिसमें जीवनके सारे कार्य भगवत्कार्य और समस्त जीवन भजनमय बन जाय। शेष भगवत्कृपा।

एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर

एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर ॥

ये अमल्य गिरि-वर, उनपरके अगणित तरुवर,
उनसे ऊपर लक्ष-लक्ष उत्तुंग हिम-शिखर;
उनसे हिलमिल धवल मेघ अनवरत यत्न कर,
तू भर लेने अति ऊँचा, विस्तृत नीलाम्बर ॥

एक खेल भर तेरा मालिक ! एक खेल भर ॥

ये गिरि, तरु, हिम, मेघ और वह अगम्य अम्बर,

एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर ॥

कहीं हहर कर, कहीं उछल कर और कहीं कल-कल कर,
गगन-विचुम्बी हिम-गिरि-शृंगोंसे बह आए निर्झर ॥

और उन्हें भुज-वल्लरियोंमें कसे कृशांगी लिदर,
सुथ, स्निग्ध यौवना, हरितवसना, किन्नरी-सी सुंदर ॥

एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर ॥

ये नव निर्झर चपल और वह रति-सी लिदर,

एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर ॥

प्रस्तर शिला-वक्षपर लहरा, मस्त झूम कर,
दुस्तर ढोकों की टक्कर पर खूब उछल कर;
यौवन-मदमें पूर बढ़े जा रहे निरन्तर;
नद अनेक प्लावित करते दुम-दल पुलिनों पर ॥

एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर ॥

ये दुर्दम नद, रम्य शशि-कला अन्तरमें भर,

एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर ॥

भाल हिमानी पर टीके-सी ऐला-पत्थर,
उपत्यका-कटिमें किंकणि-सी भूषित वूलर;
ललित, भव्य कमलांकित साड़ीमें मानसबल,
स्वमिल डल, अलसित सिवारकी सिहरन भर कर ॥

एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर ॥

ये सब झील-सरोवर निर्मल तरलाई भर,

एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर ॥

इन गिरि, तरु, हिम, मेघ, झील, नद, निर्झर ऊपर,
धूम रहा, उड़ रहा मनुज मन-मस्तक लेकर;
खोज चिरन्तनमें सुखकी अन्तर विस्मृत कर,
बिन्धु-सिन्धु-वत पुरुष-प्रकृतिमें हिल-मिल घुल कर ॥

एक खेल भर वह भी, मालिक ! एक खेल भर ॥

मानव लघु ब्रह्माण्ड नापता वामन बन कर,

एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर ॥

—बालकृष्ण बलदुवा

सती द्रौपदी

(लेखक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

एक दिन द्रुपदने पुत्रोंसे सलाह करके युधिष्ठिरसे कहा—‘पाण्डुनन्दन ! अब पाणिग्रहणका शुभ मुहूर्त निश्चित हो जाना चाहिये । देवपूजा, उत्सव अभीसे शुरू हो जायें और ब्राह्मणोंके आज्ञानुसार अर्जुन द्रौपदीका पाणिग्रहण करें ।’ युधिष्ठिरने कहा—‘राजन् ! मुझे भी विवाह करना होगा ।’ द्रुपद बोले तो फिर आप ही मेरी कन्याका पाणिग्रहण कीजिये अथवा भाइयोंमेंसे जिसको कहें, उसीके साथ द्रौपदीका विवाह कर दिया जाय । युधिष्ठिरने कहा—‘राजन् ! द्रौपदी हम सब भाइयोंकी धर्मपत्नी होगी । मेरी माता ऐसी आज्ञा दे चुकी हैं । उनकी बात अबतक कभी झूठी नहीं हुई है, हमने कभी उनकी आज्ञाका उलङ्घन नहीं किया है । यह हमारे लिये सर्वोत्तम धर्म है । अर्जुनने अपने बाहुबलसे यह कन्यारत्न प्राप्त किया है । अभी मेरा और भीमसेनका विवाह नहीं हुआ है । इसलिये अर्जुन इस कन्यासे विवाह नहीं कर सकता । सनातनधर्म यही बतलाता है कि बड़े भाईका विवाह होनेके पूर्व छोटा भाई विवाह कर ले तो वह पापका भागी होता है । हम पाँचोंका नियम है कि जो कुछ मिलता है, उसे हम बाँटकर अपने काममें लाते हैं । हम उस नियमको तोड़ना नहीं चाहते । इससे हम पाँचोंके साथ कृष्णाका विवाह होगा ।’

यह सुनकर द्रुपदको बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने कहा—‘युधिष्ठिर ! आप क्या कह रहे हैं ? आपके धार्मिक और पवित्र हृदयमें यह बात कैसे आयी ? मैंने लोक और वेदका बहुत अनुभव किया है, श्रवण किया है और देखा है । भला कहीं एक स्त्रीके अनेक पति हो सकते हैं ? एक पुरुषका विवाह अनेक स्त्रियोंके साथ हो सकता है, परन्तु एक स्त्रीका विवाह अनेक पुरुषोंके साथ हो, यह तो कभी सुना नहीं गया । आपकी बुद्धि ऐसी कैसे हुई ?’ युधिष्ठिरने कहा—‘महाराज ! धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है । मनुष्य जो कुछ करता है, उसमें केवल एक जन्मकी ही दृष्टि नहीं रहती, उसके कर्म और भोगके साथ अनेक जन्म-जन्मान्तरोंका सम्बन्ध होता है । एक काम एकके लिये धर्म होता है और दूसरेके लिये अधर्म । सब लोग उसकी जटिल समस्याको नहीं समझ सकते । मैंने कभी स्वप्नमें भी

असत्य वाणी नहीं कही, स्वप्नमें भी मुझसे अधर्मात्मक नहीं हुआ । कुछ बातें ऐसी हैं जो सबसे नहीं कही जा सकती । मेरी माताके मुँहसे यह बात निकल गयी है । मेरी भी दृढ़ सम्मति है कि द्रौपदी हम पाँचोंकी धर्मपत्नी हो । यही हमारे ऊपर अटल कर्तव्यका भार आ पड़ा है । आप सोच-विचार मत कीजिये, शङ्का मत कीजिये । आप बात टाली नहीं जा सकती ।’ द्रुपदने कहा—‘आत कुन्ती और मेरे पुत्र धृष्टद्युम्नके साथ सलाह करके निश्चय कीजिये, जो होगा, सो होगा ।’ सब निश्चय इस विषयपर विचार करने लगे । उसी समय अचानक भगवान् व्यासदेव वहाँ पधार गये ।

व्यासदेवकी विधिपूर्वक पूजा हुई । सब अपने-अपने आसनोपर बैठ गये । द्रुपदने व्यासदेवसे कहा—‘भगवन् ! एक स्त्री अनेक पुरुषोंकी धर्मपत्नी होनेके सिवा धर्मपत्नी कैसे हो सकती है ? आप इस विषयमें हमें ठीक-ठीक सम्मति दीजिये ।’ व्यासजीने कहा—‘पाण्डव ! पहले मैं यह सुनना चाहता हूँ कि इसके विषयमें तुम लोगोंमेंसे किसकी क्या राय है ?’ द्रुपद बोले—‘मेरे विचारोंमें यह काम वेद, शास्त्र और लोकाचारके विरुद्ध है । एक स्त्री अनेक पुरुषोंकी धर्मपत्नी न कभी हुई है और न हो सकती है । हमारे किसी भी पूर्वपुरुषने ऐसा नहीं किया है । इतने ही यह अधर्म है । मेरा जी नहीं चाहता कि यह काम हो ।’ धृष्टद्युम्नने कहा—‘छोटे भाईके लिये बड़े भाईकी स्त्री पति समान है और बड़े भाईके लिये छोटे भाईकी स्त्री पति समान है । धर्मकी गति सूक्ष्म है, इतने ही हम उसको जान नहीं सकते । परन्तु अधर्मको धर्म भी मान सकते; इसलिये मैं कदापि इस बातका अनुमोदन नहीं कर सकता कि मेरी बहिन पाँच पुरुषोंकी धर्मपत्नी हो ।’ युधिष्ठिरने कहा—‘भगवन् ! मैंने कभी असत्य नहीं कहा, अधर्ममें मेरी प्रवृत्ति कभी हो ही नहीं सकती; किन्तु इस काममें मेरी प्रवृत्ति हो रही है । इसलिये यह अधर्म नहीं है । औरोंके विचारोंसे मैं नहीं प्रभावित होऊँगा ।’ कुन्तीने कहा—‘युधिष्ठिरका कहना ठीक है ।’

संख्या ८]

मेरे मुँहसे बात निकल चुकी है, मैं मिथ्या वचनसे बहुत ही डरती हूँ, मेरे वचनको असत्य न होने देनेका इसके अतिरिक्त और क्या उपाय है।' व्यासजीने कहा—'कल्याणी ! तुम्हें असत्य बोलनेके पापसे लिप्त नहीं होना पड़ेगा। जो बात तुम्हारे मुँहसे निकल गयी है, वह धर्मके विपरीत नहीं है। जिसका हृदय शुद्ध है, वह भूलसे भी कोई बात कह दे तो सत्य हो जाती है। जो सर्वदा सत्य बोलते हैं, उनके मुँहसे अनजानमें असत्य निकल जाय तो भी वह सत्य हो जाता है। युधिष्ठिर धर्मराज हैं, इनकी प्रवृत्ति अधर्ममें नहीं हो सकती। वे धर्मका रहस्य जानते हैं, परंतु कई कारणोंसे वे अपने मुँहसे उसका वर्णन नहीं कर सकते। यह निःसंदेह धर्म है।'।

व्यासजीने द्रुपदसे कहा—'मैं सबके सामने तुमसे वह बात नहीं कह सकता। एकान्तमें चलो, मैं तुम्हें समझा दूँगा। चिन्ता न करो। युधिष्ठिर कौन हैं? द्रौपदी कौन है? पाँचों पाण्डव कौन हैं? यह बात मैं तुम्हें समझाऊँगा और दिखाऊँगा। युधिष्ठिरका कहना कभी अन्यथा नहीं हो सकता।' इतना कहकर व्यासजी उठ खड़े हुए और द्रुपदका हाथ पकड़कर उन्हें भवनके भीतर एकान्त स्थानमें ले गये। पीछेसे पाण्डव, कुन्ती और धृष्टद्युम्न भी वहाँ पहुँच गये। वहाँ जाकर सब सावधान होकर यथास्थान बैठ गये और व्यासजी सुनाने लगे कि द्रौपदीका पाँच पतियोंके साथ विवाह होना क्यों धर्मसंगत है? वे बोले—

“पुराने जमानेकी बात है। नैमिषारण्यक्षेत्रमें देवताओंका एक महान् यज्ञ चल रहा था। यमराजने यज्ञमें दीक्षा ले ली थी, इसलिये वे यज्ञिय पशुओंके अतिरिक्त और किसीका वध नहीं करते थे। इससे मर्त्यलोकके प्राणियोंकी मृत्युका समय बीतने लगा और वे अमर-सरीखे हो गये। पृथिवीपर प्रजाकी संख्या बहुत बढ़ गयी। इससे देवताओंको बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे कि पृथिवी इतना भार कैसे सह सकेगी? पृथिवी भी तो देवी ही है। देवीके भारसे देवताओंको चिन्ता होनी ही चाहिये। उनके मनमें यह बात भी आयी कि पृथिवीके प्राणियोंसे हम इसी अर्थमें अच्छे हैं कि वे मर जाते हैं और हम नहीं मरते। यदि वे भी नहीं मरेंगे तो हममें और उनमें अन्तर ही क्या रहेगा। इसका कुछ-न-कुछ उपाय निकालना चाहिये।

इन्द्र, वरुण, कुवेर, चन्द्रमा, साध्य, रुद्र, वसु, अश्विनीकुमार आदि सब मिलकर श्रीब्रह्माजीके पास गये। उन्होंने लोकपितामह ब्रह्माके चरणोंमें प्रणाम करके

निवेदन किया—'दादाजी ! इस समय हम सब बड़े भयभीत हैं, इसका कारण यह है कि आजकल मनुष्योंकी संख्या बहुत बढ़ रही है और उसके घटनेका कोई उपाय नहीं हो रहा है। हमारी व्याकुलता बढ़ रही है। इस दुःखसे स्वर्गमें रहनेपर भी हमें सुखके दर्शन नहीं हो रहे हैं, सुख-शान्ति पानेके लिये हम आपकी शरणमें आये हैं।' ब्रह्माने कहा—'देवताओ ! यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि तुम-लोग स्वर्गमें रहते हो, तुम्हारे पास भोगकी सब सामग्री है। बुढ़ापा और मृत्युका तुम्हें डर नहीं है, तुम्हें कमाना है नहीं, फिर मर्त्यलोकमें रहनेवाले बेचारे मनुष्योंसे तुम क्यों भयभीत होते हो? तुम्हें मनुष्योंसे डरनेका कोई कारण नहीं है।' देवताओंने अञ्जलि बाँधकर प्रार्थना की—'प्रभो ! आजकल किसीकी मृत्यु नहीं हो रही है, इससे मर्त्यलोकके मनुष्य भी अमर हो गये हैं। मर्त्यलोकके मनुष्य हमारी बराबरी करें, यह हमसे नहीं देखा जाता, हमें इस बातका बड़ा दुःख है। अब आप कोई ऐसी व्यवस्था कीजिये कि हममें और उनमें अन्तर मालूम पड़े, इसीलिये हम सब आपके पास आये हैं।'।

ब्रह्माजीने कहा—'इस समय सूर्यपुत्र यमराज महायज्ञमें लगे हुए हैं, इसीसे पृथिवीके प्राणियोंकी मृत्यु नहीं हो रही है। जब वे अपना सब काम पूरा कर लेंगे, तब लोगोंकी मृत्यु होगी। तुमलोगोंकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर यमराज मर्त्यलोकके प्राणियोंका संहार करेंगे। तब मनुष्य तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकेंगे।' लोकपितामह ब्रह्माकी यह बात सुनकर देवतालोग उसी स्थानपर गये, जहाँ यज्ञ हो रहा था।

एक दिन सब लोग नदीके तटपर बैठे हुए थे। उन्होंने देखा कि धारामें एक बड़ा ही सुन्दर सोनेका कमल बहा जा रहा है। उसे देखकर उन लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। देवताओंमें सबसे श्रेष्ठ देवराज इन्द्र वहाँ उपस्थित थे। उनके मनमें उस पुष्पका ठीक-ठीक समाचार जाननेकी उत्सुकता हुई। वे चल पड़े, आगे जानेपर उन्होंने देखा कि जहाँसे नदी निकली हुई है वहाँ एक बड़ी ही तेजस्विनी स्त्री नदीके भीतर खड़ी होकर जल भर रही है। उसकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। आँसूकी जो बूँद नदीमें गिरती, वही सोनेका कमल हो जाता। इन्द्र उसके पास गये। उन्होंने पूछा—'कल्याणी ! तुम कौन हो? किसलिये रो रही हो? अपनी सब बात मुझसे कहो।' उस स्त्रीने इन्द्रकी

ओर देखकर कहा—‘देवराज ! तुम तनिक मेरे साथ आगे चले आओ, तुम्हें मालूम हो जायगा कि मैं कौन हूँ और क्यों रो रही हूँ ।’ इन्द्र उसके पीछे-पीछे चलने लगे ।

इन्द्रने आगे जाकर देखा कि हिमाचलके शिखरपर एक परम सुन्दर युवा पुरुष सिद्धासन लगाये बैठा है और उसके पास ही एक सुन्दरी युवती बैठी है । वे दोनों आपसमें चौसर खेल रहे थे । इन्द्रके पहुँचनेपर भी उन लोगोंने कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया । इन्द्रको ऐसा मालूम हुआ कि ये तो मेरा अपमान कर रहे हैं, उनके कलेजेमें कुछ थोड़ी-थोड़ी जलन होने लगी । उन्होंने क्रोधपूर्ण दृष्टिसे उन युवककी ओर देखकर कहा—‘हे युवक ! क्या तुम नहीं जानते कि मैं इस लोकका स्वामी हूँ ? यह लोक मेरे ही अधीन है । अब भी तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मैं ईश्वर हूँ ।’ वह पुरुष अपने खेलमें तन्मय हो रहा था । इन्द्रके इस प्रकार कहनेपर उसने एक बार धीरेसे सिर उठाया और हँस दिया । एक बार उसकी दृष्टि इन्द्रपर पड़ गयी । दृष्टि पड़ते ही इन्द्र ठूँठके समान हो गये—न वे हिल सकते थे, न डोल सकते थे । वह स्त्री रोने लगी । खेल समाप्त होनेपर उस युवा पुरुषने रोती हुई स्त्रीसे कहा—‘इन्द्रको मेरे पास ले आओ, मैं इन्द्रका अनिष्ट नहीं कर रहा हूँ । मैं ऐसा उपाय कर रहा हूँ जिससे फिर इन्द्रको अपने ईश्वरपनेका कभी गर्व न हो ।’ स्त्रीने आकर ज्यों ही इन्द्रके शरीरका स्पर्श किया त्यों ही इन्द्र पृथिवीपर गिर पड़े । तेजस्वी युवक रूपधारी भगवान् शङ्करने कहा—‘इन्द्र ! अब कभी इस प्रकारका अभिमान मत करना कि मैं ईश्वर हूँ । तुम्हारे शरीरमें जो शक्ति है, वह तुम्हारी नहीं, दूसरेकी है । अच्छा, माना कि तुम्हारे अंदर बड़ी शक्ति है, इसलिये तुम इस बड़ी-सी पर्वतशिलाको हटाकर नीचेकी गुफामें जाओ, वहाँ तुम्हारे समान और भी बहुत-से तेजस्वी इन्द्र हैं ।’ इन्द्रने वैसा ही किया । उस शिलाके हटानेपर इन्द्रने देखा कि उनके ही समान और भी चार इन्द्र वहाँ हैं । उन्हें देखकर इन्द्र बहुत ही दुखी हुए । वे सोचने लगे क्या मेरी दशा भी इन्हींके समान होगी ?

भगवान् शङ्करने अपने दयाभरे चेहरेको तनिक कठोर बनाया और भयङ्कर भाव प्रकट करते हुए कहा—‘इन्द्र ! मूर्खताके कारण तुमने मेरा अनादर किया है । जाओ, तुम भी इसी गुफामें रहो ।’ शङ्करकी बात सुनकर इन्द्र मारे डरके थर-थर काँपने लगे । उन्होंने अञ्जलि बाँधकर सिर नवाकर भगवान् शङ्करसे प्रार्थना की—‘प्रभो ! आपने मुझपर विजय

पायी । आप स्वयं तीनों लोकोंके स्वामी हैं ।’ भगवान् शङ्कर बड़ी उग्रताके साथ हँसने लगे । उन्होंने कहा—‘अब अभिमानीयोंको कभी क्षमा नहीं करनी चाहिये । वे जो पुरुष भी जिन्हें तुम गुफामें देख रहे हो, ऐसा ही काम कर चुके हैं । उसीके फलस्वरूप उन्हें यह दशा प्राप्त हुई है । अब तुम भी इन्हींकी भाँति इसी गुफामें पड़े रहो । इसके बाद तुम सबको और इस स्त्रीको मनुष्य-योनिमें जन्म लेना पड़ेगा । यह स्त्री तुम्हारी धर्मपत्नी होगी । वहाँ तुमके अद्भुत कार्य और असंख्य प्राणियोंका नाश करके फिर अपने कर्मके फलस्वरूप पूर्वोपार्जित इन्द्रलोकमें आ जाओगे । इसके अतिरिक्त मनुष्यलोकमें तुम्हें और भी काम करने पड़ेगा । मेरी बात सर्वथा सत्य होगी ।’

पहलेके इन्द्रोंने कहा—‘प्रभो ! हम आपकी आज्ञा पालन करेंगे । मर्त्यलोकमें जन्म लेकर तो मोक्ष भी प्राप्त किया जा सकता है, परंतु वह बहुत कठिन है । हमारी प्रार्थना यह है कि हम किसी मनुष्यके द्वारा उत्पन्न न हों, बल्कि धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारोंसे ही हमारी उत्पत्ति हो । दिव्य अस्त्रोंके द्वारा हम मनुष्योंसे युद्ध करें और अन्तमें अपने लोकमें लौट आयें ।’ नये आये हुए इन्द्रने कहा—‘मैं देवकार्यके लिये पाँचवाँ पुरुष उत्पन्न कर दूँगा ।’ भगवान् शङ्करने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उस स्त्रीको आज्ञा दी जो कि उस समय भी रो रही थी । उन्होंने कहा—‘कल्याणी ! तुम स्वर्गकी लक्ष्मी हो, तुम आदिशक्ति भगवती लक्ष्मीकी ही अंश हो । तुम भी इन लोगोंके साथ मर्त्यलोकमें जाओ और इन पाँचोंकी धर्मपत्नी बनो ।’ उस स्त्रीने भगवान् शङ्करकी आज्ञा शिरोधार्य की । उन पाँचों इन्द्रोंके नाम ये हैं—विश्वभुक्, भूतधामा, शिवि, शान्ति और तेजस्वी । वह स्त्री स्वर्गकी लक्ष्मी थी ।

उनके स्वीकार कर लेनेके पश्चात् भगवान् शङ्कर उन पाँचों इन्द्रों और उस स्त्रीको लेकर पुराणपुरुष ‘अवन्ता’ भगवान् नारायणके पास गये । नारायणने भगवान् शङ्करके कार्यका अनुमोदन किया । उन्होंने कहा—‘शङ्कर ! तुम तो मेरी आत्मा ही हो, तुम्हारे द्वारा जो कार्य होगा वह सर्वथा मेरी इच्छाके अनुरूप ही होगा । आजकल पृथिवीका भार बहुत बढ़ गया है, लोगोंकी संख्या बहुत हो गयी । धर्म कर्ममें रुचि कम होती जा रही है । लोग अपनेको अमर मान रहे हैं, मनुष्योंके रूपमें बहुत-से दैत्य प्रकट हो गये हैं । इन देवताओंके मनमें भी यही इच्छा थी कि अब उनका

संख्या ८]

संहार हो, सो तुमने इनकी वासना पूर्ण की। अब यही लोग चलकर संहारकार्य सम्पन्न करें। मैं भी यदुवंशियोंमें अवतीर्ण होनेवाला हूँ, मैं उनके कार्यमें सहायता करूँगा। धर्मराज्यकी स्थापना और अधर्मराज्यका विनाश तो मुझे करना ही है। यह बड़ा अच्छा हुआ, मैं तुम्हारे इस कार्यका समर्थन करता हूँ।' भगवान् शङ्कर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन इन्द्रोंको भी बड़ा आनन्द हुआ। वह स्त्री तो फूली नहीं समाती थी। हमारे कार्यसे भगवान्की सहानुभूति है और वे हमारे साथ रहेंगे—यह सोचकर वे सब गद्गद हो रहे थे।

वे नारायण ही श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण हुए। पहलेके चारों इन्द्र युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव हुए, पाँचवें पुरन्दरके अंशसे सव्यसाची अर्जुन हुए। वह स्वर्गकी लक्ष्मी ही द्रौपदी हुई हैं।

[इस प्रसङ्गसे यह बात अवगत हो जाती है कि द्रौपदी पहले क्या थी और वह मनुष्य कैसे हुई? इस कथामें हमारे लेखनेके लिये बहुत-सी बातें हैं। इसपर भी थोड़ा विचार कर लें। भगवान्की बनायी हुई सृष्टिमें एक भी बात निरर्थक नहीं है, यहाँतक कि मृत्युकी भी बड़ी आवश्यकता है। मृत्यु न होनेसे पृथिवीका भार बढ़ जाता है, लोग अपनेको शजर-अमर मानकर धर्म-कर्मसे विमुख हो जाते हैं। मनुष्य-जीवनका जो सबसे बड़ा लाभ है भगवान्का भजन, उससे भी वञ्चित हो जाते हैं। मनुष्यकी प्रवृत्ति स्वभावसे ही विषयोंकी ओर है, वह इन विषयोंको छोड़कर दूसरी ओर केवल दो ही कारणोंसे चलता है, या तो उसे इन पाये जानेवाले विषयोंसे उच्चम सुख मिलनेका लोभ हो अथवा रोग, शोक, मृत्यु आदिका भय हो। इसलिये भगवान्की सृष्टिमें मृत्यु भी उतनी ही आवश्यक, उतनी ही उपयोगी और उतनी ही सुन्दर है जितनी कि सुन्दर कही जानेवाली और वस्तुएँ।

भगवान् कल्पवृक्षस्वरूप हैं और हम सब उनकी ही छत्रछायामें उनके ही करकमलोंके नीचे अथवा उनकी ही गोदमें हैं। हमलोग अपने जीवनमें जैसी-जैसी अभिलाषा करते हैं, वह हमारे जीवनके साथ जोड़ दी जाती हैं और हमारे जीवनमें जब उसका उपयोग ठीक प्रतीत होता है, तब भगवान् उसे पूर्ण कर दिया करते हैं। इसलिये हमें सावधान रहना चाहिये कि जैसी इच्छा करनेका निषेध है, हमारे जीवनमें कहीं वैसी इच्छा न आ जाय। लोग स्वर्गको बहुत महत्त्व देते हैं, परन्तु भगवद्भजनके सामने अथवा समत्व-

की तुलनामें उसका कोई महत्त्व नहीं है। जब स्वर्गके देवता और इन्द्रके मनमें भी मनुष्योंकी अमरतासे ईर्ष्या और जलन होने लगती है, तब एक बार बलात् हमारे मनमें स्वर्गकी तुच्छता आ जाती है। कैसी विडम्बना है कि स्वर्गीय देवताओंके मनमें भी मनुष्योंके संहारकी इच्छा जाग्रत हो जाती है। इसलिये हमारे मनमें स्वर्गकी इच्छा नहीं होनी चाहिये।

भगवान्की दयालुता भी अवर्णनीय ही है। जब वे देखते हैं कि जैसी इच्छा जीवमें नहीं होनी चाहिये, वैसी इच्छा जीव कर रहा है, तब वे उसे ऐसे स्थानपर बैठा देते हैं कि उसकी इच्छा भी पूरी हो जाय और लोकहितमें उसका सदुपयोग भी हो जाय। देवताओंके मनमें बढ़ते हुए मनुष्योंके संहारकी वासना थी। भगवान्ने उन्हें पाण्डवोंके रूपमें पैदा करके उनकी इच्छा भी पूर्ण कर दी और उनके द्वारा धर्मराज्यकी स्थापना और अधर्मराज्यका संहार कराकर जगत्का हित भी सम्पन्न कर लिया। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है—इन्द्रको यह अभिमान था कि 'मैं ईश्वर हूँ, जगत्की व्यवस्था करनेका मुझे अधिकार है।' शिवरूपमें दर्शन देकर भगवान्ने उनका घमंड तोड़ा और उन्हें दिखला दिया कि तुम्हारे-जैसे कितने ही इन्द्र यहाँ गुफामें कैद हैं। स्वर्गकी लक्ष्मीके और जगत्के निर्माण तथा संहारके तुम्हीं अधिकारी नहीं हो और भी बहुत-से इन्द्र हैं। जो इन्द्र अपनेको ईश्वर बतलाते थे, वे स्वतन्त्रतासे हिल-डोल भी नहीं सकते। वे तो भगवान्की दृष्टिके अधीन हैं। जब इन्द्र घमंडसे फूले होते हैं अथवा अपनी अशक्तिका अनुभव करके निश्चेष्ट होते हैं, दोनों ही स्थितियोंमें भगवान् शिव अपनी शक्ति पार्वतीके साथ क्रीड़ामें लगे रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सांसारिक व्यक्ति जिन परिस्थितियोंमें सुख-दुःख मानता है, वे भगवान् शिवके लिये क्रीडामात्र हैं। उनके हृदयमें इनसे कभी कोई शोभ नहीं होता।

भगवान् शिव 'संहार'के देवता हैं। वे इन्द्रादिके द्वारा संहारकी व्यवस्था कर देते हैं; परन्तु इस संहारका अनुमोदन 'स्थिति'के देवता भगवान् नारायणके द्वारा भी होना चाहिये। इसलिये वे सबको लेकर उनके पास जाते हैं। भगवान् नारायण सबकी इच्छाका ध्यान रखकर उनके साथ हो जाते हैं, जिससे शङ्कर, इन्द्र, स्वर्गकी लक्ष्मी सभी आनन्दित होते हैं। यह भगवान्की कितनी दयालुता है कि वे अपने भक्तकी

प्रत्येक इच्छाके साथ रहते हैं और उसे लोकोपयोगी बना देते हैं।

स्वर्गकी लक्ष्मी आदिशक्ति लक्ष्मीकी ही अंशविशेष हैं, इसलिये वे लक्ष्मीकी ही भाँति सती, साध्वी और पति-परायणा हैं। जो पहलेके इन्द्र गुफामें बंद थे, उनके लिये वे रोया करती थीं। उनके उद्धारका यही उपाय था कि वे पाँचवें इन्द्रको भी वहीं ले जायँ। इसीसे वे इन्द्रको वहाँ ले गयीं। भगवान् शङ्करने पाँचों इन्द्रोंके साथ उन्हें भी मर्त्यलोकमें भेज दिया और वे पहलेकी ही भाँति अपने पति इन्द्रके पाँचों रूपोंकी सेवा करती रहीं। द्रौपदीके जीवनमें हम यह बात देखेंगे कि पाँचों पतियोंके साथ उसका समान प्रेम है। वह पाँचोंको शक्ति देती है, शान्ति देती है और समय-समयपर कर्तव्यकर्ममें प्रवृत्त होनेके लिये उत्तेजना देती है। उनका जीवन ऐसा ही है, मानो वह किसी एक आदर्श पुरुषकी आदर्श पत्नी हो और वास्तवमें वह एककी ही पत्नी है। व्यासजीकी कही हुई कथासे यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। अब आगे व्यासजीकी बात सुनिये।]

द्रौपदीको पूर्वजन्ममें ही पाँचों पाण्डवोंकी स्त्री होनेके लिये भगवान् शङ्करकी आज्ञा मिल चुकी है, यह बात मैंने तुमसे कह दी। तुम्हीं विचार करो, यदि देवकार्य न होता तो यह तुम्हारे यज्ञके अन्तमें वेदीसे कैसे उत्पन्न होती? क्या लौकिक स्त्रियाँ ऐसे उत्पन्न होती हैं और इतनी सुन्दरी हो सकती हैं? इसके शरीरकी सुगन्ध जो कि नीले कमलके समान है, चारों ओर एक कोसतक फैली रहती है, क्या यह इसकी दिव्यताका प्रमाण नहीं है? फिर भी मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ, तुम उस दृष्टिसे पाण्डवोंके पूर्वरूपको देखो।” भगवान् व्यासने इतना कहकर अपने तपोबलके प्रभावसे द्रुपदको दिव्य दृष्टि दी और द्रुपदने देखा कि पाँचों पाण्डव सचमुच इन्द्र हैं। उनके माथेपर सोनेके दिव्य मुकुट और गलेमें दिव्य मालाएँ हैं। अङ्गोंमें अनेकों दिव्य आभूषण हैं, शरीर सुन्दर और अवस्था नौजवान है। उनकी ऊँचाई पाँच-पाँच हाथ है और वक्षःस्थल विशाल है। द्रुपद अपनी आँखोंसे यह सब देखकर चकित हो गये। वे पहलेके चारों इन्द्रों और इन्द्रके समान, इन्द्रके अंश अर्जुन और द्रौपदीको दिव्यरूपमें देखकर बहुत विस्मित और संतुष्ट हुए, उन्होंने स्वीकार कर लिया कि द्रौपदी इन पाँचों भाइयोंकी पत्नी होने योग्य है। व्यासजीने पुनः अपनी दिव्य दृष्टि लौटाकर वह कथा भी सुनायी, जो द्रौपदीके पूर्वजन्मके प्रसङ्गमें आयी है। व्यासजीकी बात मान ली गयी और विवाहके मङ्गलाचार होने लगे।

(४)

दिनके साथ रात और रातके साथ दिन लगा ही रहता है। यह कभी नहीं हो सकता कि केवल दिन ही दिन हो या केवल रात ही-रात हो। चलते हुए रथका पहिर नीचेसे ऊपर और ऊपरसे नीचे जाता ही है। ठीक इसी प्रकार मनुष्यका भाग्यचक्र बदलता रहता है। कभी अच्छे दिन आते हैं कभी बुरे दिन आते हैं, साधारण लोग अच्छे दिनोंमें आसक्त हो जाते हैं, बुरे दिनोंसे घबरा जाते हैं। वे अच्छे दिनोंमें प्रमाद करने लगते हैं और बुरे दिनोंमें पागल हो जाते हैं, परंतु महापुरुष दोनों ही परिस्थितियोंमें एक-से रहते हैं, बुरे दिनोंको शुभ दिनोंके आगमनकी सूचना समझते हैं और शुभ दिनोंको बुरे दिनोंका पूर्वरूप। वे दोनोंको ही एक ही वस्तुके दो रूप समझते हैं और इसीसे समत्वमें स्थित रहते हैं।

यदि पाण्डव कौरवोंके उत्पातसे, लाक्षाग्रहके दाहके भिक्षाटनसे ऊब गये होते, दुःखी होते तो सम्भव है उन्हें यह दिन देखनेको नहीं मिलता; परंतु वे उन दिनों भी प्रसन्नतासे भगवान्का स्मरण करते रहे और इन दिनों भी वैसे ही रहे। अब भिक्षाटनका समय बीत गया। स्वर्गकी लक्ष्मी द्रौपदी उन्हें प्राप्त होने जा रही है—प्राप्त हो चुकी है। केवल स्वर्गकी लक्ष्मी द्रौपदी ही नहीं, उन्हें पृथिवीकी साधारण लक्ष्मी भी प्राप्त होगी, परंतु बात वही है, दिन सर्वदा एक-से बीतते नहीं। दिन किस प्रकार बदलते रहते हैं और परिस्थितियोंमें किस प्रकार परिवर्तन होता रहता है, इस बातकी झाँकी पाण्डवोंके जीवनपर दृष्टिपात करते ही मिल जाती है।

द्रुपदने भगवान् व्यासकी बात स्वीकार कर ली। वे दोनों लगे कि सारी दुनिया भगवान्के चलाये चल रही है। उनके मूलमें अनेकों जन्मोंके कर्म और संस्कार विद्यमान हैं, उन्हें कोई अन्यथा नहीं कर सकता, मनुष्यकी बुद्धि भला क्या कर सकती है? मैंने एक पति प्राप्त होनेके लिये लक्ष्यके चरम योजना की थी, वही अनेक पतियोंके प्राप्त होनेका कारण हो गयी। पूर्वजन्ममें द्रौपदीने भी ऐसा ही वर माँगा था। स्वयं भगवान् शङ्करने ऐसी व्यवस्था कर दी। अब हमारा क्या दोष है? अब उसमें हमलोगोंका कोई दोष नहीं है। उन्होंने भगवान् व्यासके आज्ञानुसार विवाहकी व्यवस्था कर दी।

संख्या ८]

यहाँ द्रौपदीके सम्बन्धमें कुछ कहे बिना नहीं रहा जाता। द्रौपदी देवी थी, उसे भगवान्‌पर पूरा विश्वास था। वह पाँचों पाण्डवोंको एक ही रूपमें देखती थी। भगवान्‌ केद्वाराकी सम्मति, पिताकी आज्ञा, पतियोंकी इच्छापर उसकी अविचल श्रद्धा थी। वह जानती थी कि जो कुछ उसकी अविचल श्रद्धा थी। वह जानती थी कि जो कुछ हो रहा है, मेरे हितके लिये हो रहा है। वह किसी भय, लोभ या दवावमें पड़कर बोलनेसे रुकी हो, सो बात नहीं। जहाँ उसकी इच्छाके विरुद्ध कोई बात हुई, वह बोल उठती थी। भरी समामें जब देश-विदेशके नरपतिगण एकत्र थे, उसने बड़ी निर्भीकताके साथ ऊँचे स्वरसे कह दिया मैं कर्णको नहीं वरण कर सकती, यदि उसके मनमें पाण्डवोंको वरण करनेकी इच्छा न होती, किसी एकको ही वरण करनेकी इच्छा होती तो वह स्पष्ट कह सकती थी; परंतु उसके न बोलनेका यही अर्थ है कि जो कुछ हो रहा था, उसकी इच्छाके अनुसार ही हो रहा था। पूर्वतन कर्मके कारण इन पाँचों पतियोंसे मेरा सम्बन्ध हो रहा है, यह बात उसे मालूम थी। एक बात और है, अपने माता-पिता और अभिभावकोंपर उसका पूरा विश्वास था। वह जानती थी कि मेरी बुद्धि अभी कच्ची है, मुझे संसारका अनुभव ही क्या हुआ है? किसके साथ विवाह करनेसे जीवन सुखी हो सकता है। इस बातको अनुभवही लोग ही जान सकते हैं। द्रौपदी यह बात समझती थी।

इस प्रसङ्गमें एक बात और कह देनेको जी चाहता है। आजकल विवाहके सम्बन्धमें लड़के-लड़कियोंको, जिन्हें संसारके सम्बन्धमें अभी कुछ भी अनुभव नहीं है, स्वच्छन्द कर देनेको कहा जाता है, यह आर्य-संस्कृतिके लिये बड़ी ही भयावह बात है। इससे वासनाओंको पोषण मिलेगा। शोष्यताकी परीक्षा नहीं हो सकेगी, विवाह-विच्छेदका बोलबाला होगा और कौटुम्बिक जीवन कलहमय और अस्थिर हो जायगा। आर्य-संस्कृति विवाहको केवल वैषयिक सुखका साधन-मात्र नहीं बतलाती, यह तो वैषयिक सुखोंके संकोचके लिये और अर्थ, धर्म तथा काम (पारलौकिक सुख) की साधनाके लिये बतलाती है। यदि संसारके व्यवहारसे अनभिज्ञ केवल स्कूल-कालेजकी शिक्षा प्राप्त या अप्राप्त नन्ही-नन्ही वच्चियोंके सिरपर ही उनके जीवन-कष्टके जुननेका भार छोड़ दिया जाता है तो वे शारीरिक सुन्दरता, मीठी बातें, कृत्रिम हावभाव और कुछ रुपये-पैसोंके प्रयोजनमें ही जीवनको ऐसे व्यक्तिके अधीन कर सकती हैं,

जिसके साथ न लोककी साधना हो सके और न परलोककी। इसीसे आर्यजातिने पुरातन कालसे यह नियम बना रखा है कि कन्याके पतिका चुनाव उसके माता-पिता, गुरुजन या अभिभावक ही करें। द्रौपदी इस तत्त्वको समझती थी और अपने मा-बापपर निर्भर थी। द्रौपदीमें कितना धैर्य, कितनी सहिष्णुता, कितनी बुद्धि और कितनी मर्यादा थी? वह बात हम पहले ही दिन जब वह अर्जुन और भीमके साथ कुन्तीके पास गयी, देख चुके हैं। उसने पहले ही दिन गृहस्थीका भार सम्हाल लिया, राजकुमारी होनेपर भी जमीनपर सोयी, सो भी पैरोंकी तरफ। क्या आजकलकी नवशिक्षिता वहिनोंसे ऐसी आशा की जा सकती है?

क्रमशः युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवके साथ द्रौपदीका पाणिग्रहण हुआ। इस स्थानपर देवर्षि नारदने कहा है कि द्रौपदीमें कुछ ऐसी अद्भुत बात थी कि वह प्रत्येक पाण्डवके साथ विवाह करनेके समय कन्या-भावको प्राप्त हो जाया करती थी। * विवाह होनेके साथ ही द्रुपदने इतना दहेज दिया कि पाण्डवोंको किसी वस्तुकी कमी नहीं रह गयी। सैकड़ों रथ, घोड़े, हाथी, दास, दासी, हीरे, जवाहरात, रत्न, वस्त्र और आभूषणोंसे पाण्डवोंको अपने समान राजा ही बना दिया। भगवान्‌ श्रीकृष्णने बड़े प्रेम और प्रसन्नतासे पाण्डवोंके विवाहमें सहयोग दिया। वे उनके प्रत्येक कृत्यमें उपस्थित रहे और सलाह देते रहे। उन्होंने भेंटके तौरपर वैदूर्यमणिसे जटित बहुमूल्य आभूषण, कीमती कपड़े, देश-विदेशके चित्र-विचित्र कम्बल और दुशाले, सैकड़ों दासियाँ, शान्त और नम्र अनेकों हाथी, गहनोंसे सजे हुए उत्तम घोड़े, सुवर्णमण्डित सैकड़ों रथ, करोड़ों मोहरें और छकड़ों सोना उपहारमें दिया। धर्मराज युधिष्ठिरने आवश्यकता और इच्छा न होनेपर भी श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये सब स्वीकार कर लिया।

पाण्डवोंसे सम्बन्ध हो जानेके कारण द्रुपदका बल और भी बढ़ गया, वे निर्भय हो गये। द्रौपदी अपनी सास कुन्तीके पास ही रहती, रानियाँ कुन्तीके पास आतीं और अपना नाम बतलाकर प्रणाम करतीं। द्रौपदी अनेक दासियोंके रहनेपर भी अपनी सासकी सेवा अपने हाथों करती। द्रौपदीकी सुशीलता, सदाचार, मर्यादा और

* इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं जगाद देवर्षिरतीवमानुषम्।

महानुभावा किल सा सुमध्यमा बभूव कथैव गते गतेऽहनि॥

(म० भा० आ० प० १९७।१४)

सम्यक्तापर कुन्ती मुग्ध थीं । वे आर्द्र-हृदयसे द्रौपदीको आशीर्वाद देतीं । वे कहतीं—'बेटी ! तुम सब गुणोंसे भरी-पूरी हो, तुम्हें कोई क्या शिक्षा देगा ? फिर भी वात्सल्य-स्नेह कुछ-न-कुछ कहला ही देता है । इन्द्राणी इन्द्रसे, स्वाहा अग्निसे, रोहिणी चन्द्रसे, दमयन्ती नलसे, भद्रा कुबेरसे, अरुन्धती वसिष्ठसे और लक्ष्मी नारायणसे जैसा व्यवहार करती हैं, वैसा ही तुम भी अपने पतियोंसे करो । कल्याणी ! मैं हृदयसे आशीर्वाद देती हूँ कि तुम चिरजीविनी, वीर-प्रसविनी, बहुत बन्धु-बान्धवोंवाली, सौभाग्यवती और पतिव्रता होकर सब प्रकारके सुख भोगो । अतिथि, अभ्यागत, साधु, बूढ़े और बालकोंकी आव-भगत और पालन-पोषण करनेमें ही तुम्हारा समय बीते । तुम्हारे स्वामी राजा हों और रानीके पदपर तुम्हारा अभिषेक हो । तुम्हारे पति अपने बाहुबलसे सारी पृथिवीको जीत लें और तुम वह पृथिवी अश्वमेध महायज्ञकी दक्षिणामें दान करो । पृथिवीके सब श्रेष्ठ पदार्थ सौ वर्षतक तुम्हें प्राप्त होते रहें और तुम उनका उपभोग करती रहो । आज मैं जिस प्रकार तुम्हारा अभिनन्दन करती हूँ, वैसे ही पुत्र प्राप्त होनेपर भी करूँ ।' द्रौपदी बड़े प्रेमसे उनके चरणोंका स्पर्श करती और आशीर्वाद ग्रहण करती । द्रौपदीके दिन बड़े सुखसे बीतने लगे, वह सब प्रकारसे सुखी थी । हाँ, उसके मनमें यह बात कभी-कभी आ जाया करती थी कि यदि मैं अपने पतियोंके राज्यमें होती तो कितना अच्छा होता ।

द्रौपदी स्वाभिमानिनी थी । उसे पिताके राज्यमें कोई कष्ट नहीं था, बड़ा सम्मान था, बड़ा आदर था । पाण्डवोंकी मन्त्रणासे ही सब काम होते थे । एक प्रकारसे पाण्डवोंका ही शासन था तथापि द्रौपदीके मनमें यही अभिलाषा थी कि मेरे पति ही सम्राट् हों । ऐसा होना स्वाभाविक ही था, वह उन्हीं दिनोंकी प्रतीक्षा करती थी । पाण्डवोंके मनमें भी इसके लिये चिन्ता थी, परंतु वे बाहरसे प्रकट नहीं करते थे । वे द्रुपदके किये हुए उत्सवोंमें भाग लेते और बड़े आनन्दसे अपना जीवन बिताते । वहाँ उत्सव-ही-उत्सव चल रहा था ।

इधर तो द्रुपदकी राजधानीमें इस प्रकार खुशी मनायी जा रही थी, उधर कौरवोंके दलमें खलबली मची हुई थी । जिस दिन जासूसोंने हस्तिनापुरमें यह खबर पहुँचायी कि पाण्डव जीते-जागते बच गये हैं । लक्ष्यवेध करके द्रौपदी-

को प्राप्त करनेवाले अर्जुन हैं । उनके सहायक भीष्म, जिन्होंने शल्यको पटक दिया था और अब द्रौपदीका साथ विवाह हो गया है । तभीसे वहाँ एक नया ही वायु पैदा हो गया और सब भिन्न-भिन्न प्रकारकी बातें लगे । कोई कहता कि भीष्म और धृतराष्ट्र दुर्योधन का पक्षपात करते होंगे, नहीं तो पाण्डवोंको इतना कष्ट होता ? कोई कहता—उनका दोष नहीं है, शकुनिके और कर्णकी मित्रताके कारण ही ऐसा हो रहा है । दुर्योधनपर सब जिम्मेवारी लाद देता, कोई पुरोचनके दुष्ट बताता; परंतु दुर्योधन आदि तो पुरोचनकी ही पाला कर रहे थे, सो भी इसलिये नहीं कि उसने पाण्डवों जलानेकी चेष्टा की, बल्कि इसलिये कि उसने सावधानी नहीं की, नहीं तो, पाण्डव जीवित नहीं बच सकते । (पहले पुरोचन ही पाण्डवोंको लाक्षाग्रहमें जलानेके नियुक्त किया गया था) उन्हें बड़ा भय हुआ कि द्रुपदसे सम्बन्ध हो जानेके कारण द्रुपद और दुर्योधन नातेदारोंसे पाण्डवोंको बड़ी सहायता मिलेगी, उनका बहुत बढ़ जायगा ।

विदुरने यह समाचार धृतराष्ट्रको सुनाया । उन्होंने कहा—'राजन् ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि कुसकुल गौरवान् हुआ है ।' अन्धे धृतराष्ट्रने समझा कि द्रौपदी दुर्योधनकी मिली है, वे बोल उठे 'बड़ी बात, बड़ी बात ।' उनके तरह-तरहके गहने भेजनेकी आज्ञा दी और कहा कि पाण्डवों साथ दुर्योधनको मेरे पास लाओ ।' विदुरने कहा—'महाराज ! पहले पूरी बात तो सुन लीजिये, इससे भय कर प्रसन्नताकी बात हुई है । पाण्डव सकुशल जीवित हैं । द्रौपदीने उन्हींको वरण किया है, वे अनेक आसीनियों मिलकर द्रुपदकी राजधानीमें ही निवास कर रहे हैं । धृतराष्ट्रने कहा—'वे तो मेरे पुत्रोंसे भी प्यारे हैं, वे बचकर सम्बन्धीको पाकर और भी बलिष्ठ हो गये हैं । द्रुपद आश्रयसे वे शीघ्र ही उन्नति कर सकेंगे ।' विदुरने कहा—'मैं भगवान्‌के श्रीचरणोंमें प्रार्थना करता हूँ कि आपकी बुद्धि सर्वदा ऐसी ही बनी रहे ।' वे चले गये ।

दुर्योधन और कर्ण आये । उन्होंने कहा—'पिताजी ! विदुरके सामने हम अपनी अन्तरङ्ग बात नहीं कहते । उनके सामने पाण्डवोंकी उन्नतिपर हर्ष प्रकट किया है, ठीक नहीं है । हम तो उनका बच नष्ट करना चाहते हैं । धृतराष्ट्रने कहा—'बेटा ! तुम दोनों जो चाहते हो, वही

[भाग संख्या ८]

मैं भी चाहता हूँ। विदुरसे मैं अपने मनका भाव छिपाये रखता हूँ। वे मेरी किसी भी चेष्टासे कुछ समझ न लें। इसलिये उनके आगे पाण्डवोंका बखान किया करता हूँ।' इसलिये उनके आगे पाण्डवोंका बखान किया करता हूँ।' इस समय भेदनीतिसे काम लेना ठीक दुर्योधनने कहा—'इस समय भेदनीतिसे काम लेना ठीक होगा। द्रुपद, उनके पुत्र और मन्त्रियोंको प्रलोभन देकर अपने पक्षमें कर लिया जाय। अथवा विद्वान् ब्राह्मणोंको खरकर पाण्डवोंको ऐसी सलाह दिलायी जाय कि वे यहाँ आकर भीमसेनको मरवा डाला जाय। कुछ बातें ही नहीं। पाँचों भाइयोंमें अनबन करा दी जाय। और सबसे बराबर प्रेम नहीं करती, तुमसे कम करती है।' कहेकर पाण्डवोंके मनमें मनमुटावका बीज बो दिया। बोला देकर भीमसेनको मरवा डाला जाय। कुछ बातें छियाँ भेजी जायँ जो जाकर पाण्डवोंको मोहित कर दें और द्रौपदी उनसे चिढ़ जाय। यह भी हो सकता है कि कर्णको भेजकर उन्हें यहाँ बुलवा लिया जाय और फिर किसी-न-किसी उपायसे उन्हें मरवा डाला जाय। आप जो कि समझें, बतावें। जल्दी कीजिये, जबतक पाण्डव द्रुपदके विरासपात्र नहीं हो जाते तभीतक यह काम हो जाना चाहिये। क्यों कर्ण! तुम क्या समझते हो?'

कर्णने दुर्योधनकी सलाहका विरोध किया। उसने कहा—'कुटिल उपायोंसे पाण्डवोंका निग्रह असम्भव है, इससे आजतक तुम उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। अब वे सयाने हो गये हैं, द्रुपदसे उनका सम्बन्ध घनिष्ठ हो गया है। अब द्रुपद और द्रुपदके सम्बन्धी प्रलोभनोंमें नहीं आ सकते। पाण्डव जितेन्द्रिय हैं और अपना पैतृक राज्य रक्षने उनकी प्रबल लालसा है। न द्रौपदी उनसे खीझ सकती और न तो वे द्रौपदीके लिये आपसमें लड़ ही सकते हैं। इसलिये इस समय भेदनीतिसे काम न लेकर बल दण्डनीतिसे काम लेना चाहिये। अभी द्रुपदका पक्ष फैल है, उन्होंने तैयारी भी नहीं की है, यादवोंकी सेना लेकर श्रीकृष्ण भी उनकी सहायतार्थ नहीं आये हैं, अभी उनपर आक्रमण कर दिया जाय। राजन्! हमें द्रुपदकी सहायतासे कोई डर नहीं है, सबसे बड़ा डर है श्रीकृष्णका, वे पाण्डवोंके लिये धन, सम्पत्ति, भोग और राज्यका त्याग कर सकते हैं। उनकी सहायताके पहले ही पाण्डवोंपर चढ़ाई कर दी जाय, यह क्षत्रियधर्मके अनुकूल भी है।'

धृतराष्ट्रने कर्णकी प्रशंसा की और कहा कि 'तुम्हारा विचार ठीक होनेपर भी भीष्म, द्रोण और विदुरके साथ

सलाह कर लेना अच्छा है; क्योंकि उनकी सहाय्यभूतिके बिना हमारा कोई काम ठीक उतर सकेगा या नहीं इसमें सन्देह है।' भीष्म, द्रोण और विदुर बुलाये गये। भीष्मने धृतराष्ट्रके पूछनेपर कहा—'मुझे युद्ध करना पसंद नहीं, मैं दोनोंको ही समदृष्टिसे देखता हूँ, दोनों ही मेरे प्यारे हैं। मेरी सम्मति यही है कि प्रेम, प्रसन्नता और आदरके साथ पाण्डवोंको उनका हिस्सा (आधा राज्य) दे दिया जाय। इसीसे हम सबका, दोनों कुलका और सारे जगत्का कल्याण है।' पितामह भीष्मने दुर्योधनको भी बहुत कुछ समझाया। द्रोणाचार्यने भी भीष्मपितामहकी बातोंका समर्थन किया और कहा कि 'पाण्डवोंको लानेके लिये यहाँसे कोई प्रियवादी पुरुष भेजा जाय, उनके पास बहुतसे हीरे-रत्न आदि भेजे जायँ। जो पुरुष यहाँसे जाय, वह द्रुपदसे कहे कि हे महाराज! आपके साथ सम्बन्ध होनेसे कौरवोंको बड़ी खुशी हुई है। द्रौपदीके लिये अनेकों प्रकारके आभूषण भेजे जायँ। द्रुपदके सामने पाण्डवोंको यहाँ लानेका प्रस्ताव रखकर स्वीकृतिके लिये उनसे प्रार्थना की जाय। पाण्डवोंको बुलाकर उनका पैतृक राज्य दे दिया जाय और किसी प्रकार उनका विरोध न किया जाय। इसीमें सबकी भलाई है।'

इस प्रसङ्गमें कर्ण और द्रोणाचार्यका वाद-विवाद हो गया। हमें उन बातोंसे कोई प्रयोजन नहीं है। विदुरने कर्ण और द्रोणाचार्यके बीचमें पड़कर उनका विवाद शान्त किया और कहा कि 'राजन्! आप पाण्डवोंपर कृपा मत कीजिये, अपने आपपर कृपा कीजिये। पाण्डवोंके साथ दुर्व्यवहार करनेके कारण आपके सिरपर कलङ्कका टीका लग गया है, उसे धो डालिये, उन्हें कोई धोखा देकर या सामने लड़कर मार नहीं सकता। उनमें धैर्य, दया, क्षमा, सत्य, पराक्रम आदि गुण वर्तमान हैं। श्रीकृष्ण और सात्यकि उनके सहायक हैं। द्रुपद, धृष्टद्युम्न उनके सम्बन्धी हैं। उनसे हमारी अनबन भी रह चुकी है, इसलिये इस बैरको आगे न बढ़ाकर द्रौपदीके सम्बन्धसे लाभ उठाया जाय और सबसे मित्रता कर ली जाय। पाण्डवोंसे मेल कर लेनेपर श्रीकृष्ण और यादवोंकी अपार सेना हमारे पक्षमें हो जाती है। मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि विजय उसी पक्षकी होगी, जिसमें श्रीकृष्ण होंगे। एक बात और भी मैं आपको बताये देता हूँ, जबसे प्रजाको मालूम हुआ है कि पुरोचनके द्वारा पाण्डवोंको जलानेकी चेष्टा की गयी थी, तबसे वह

क्षुब्ध हो गयी है और उनके जीवित रहनेका समाचार सुनकर उनको देखनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित है। यदि प्रजाकी यह इच्छा पूर्ण नहीं की जायगी तो बड़े अनर्थकी सम्भावना है। दुर्योधन, कर्ण और शकुनि कच्ची बुद्धिके नासमझ बालक हैं, उनकी रुचि अधर्ममें है, आप उनकी बात मत सुनिये। भीष्म और द्रोण आपके सच्चे हितैषी हैं, वे ज्ञानवृद्ध हैं, अनुभवी हैं। उनकी बात माननेमें ही आपका वास्तविक हित है। मैं फिर कहे देता हूँ कि दुर्योधनके मोहसे सब पुत्रोंका, वंशका, क्षत्रियोंका, प्रजाका और जगत्का विनाश मत कीजिये।'

धृतराष्ट्रने विदुरकी सम्मतिका सम्मान किया। उन्होंने कहा—'मुझे भीष्मपितामह, आचार्य द्रोण और तुम्हारी सम्मति पसंद है। मैं भी तो यही कहता हूँ। धर्मानुसार पाण्डव भी मेरे ही पुत्र हैं, मेरे ही पुत्रोंकी भाँति वे भी राज्यके अधिकारी हैं। तुम जाओ और आदरके साथ कुन्ती, द्रौपदी और पाण्डवोंको ले आओ। पाण्डवोंके जीवनसे, द्रौपदीकी प्राप्तिसे मैं बहुत ही आनन्दित हुआ हूँ, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। मैं उनसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित हूँ।' विदुरने यात्रा कर दी। वे अनेकों प्रकारके उपहार लेकर द्रुपदकी राजधानीमें पहुँचे, द्रुपदसे मिलनेके पश्चात् वे श्रीकृष्णके पास गये। पाण्डवोंसे मिलकर उन्होंने सब उपहार यथायोग्य दिये, वहाँका स्वागत-सत्कार समाप्त होनेपर विदुरने बड़ी नम्रतासे महाराज द्रुपदके सामने निवेदन किया। उन्होंने कहा—'महाराज धृतराष्ट्रने आपलोगोंका कुशल-मङ्गल पूछा है। वे यह सम्बन्ध हो जानेसे बहुत प्रसन्न हैं। कौरवोंके पूजनीय वृद्ध भीष्मपितामहने और आपके मित्र महात्मा द्रोणाचार्यने आपका अभिनन्दन किया है एवं सप्रेम आलिङ्गन कहा है। वहाँके लोगोंने इस

सम्बन्धसे राज्य-लाभकी अपेक्षा भी अधिक आनन्दित हो आपकी सेवामें मुझे भेजा है, वे पाण्डवोंको देखनेके लिये अत्यधिक उत्कण्ठित हैं। कुरुकुलकी स्त्रियाँ माता कुन्ती और नववधू द्रौपदीको देखनेके लिये बहुत ही उत्सुक हैं। आप इनको वहाँ जानेकी अनुमति दीजिये। आपकी स्वीकृति मिलते ही मैं वहाँ सन्देश भेज दूँगा कि हम द्रौपदी और पाण्डवोंके साथ रवाना हो रहे हैं।'

राजा द्रुपदने कहा—'विदुरजी! इस सम्बन्धसे भी बड़ी प्रसन्नता हुई है। पाण्डवोंके लिये यह घर भी अच्छा ही है और वह तो है ही, मैं कैसे कह सकता हूँ कि वे जाँच जायँ, परंतु यदि श्रीकृष्ण, पाण्डव, कुन्ती वहाँ आवश्यक समझते हों तो ये लोग जा सकते हैं। श्रीकृष्ण और बलराम इनके सच्चे हितचिन्तक हैं, उनकी सम्मति अनुसार ही इन्हें काम करना चाहिये।' भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुर जानेकी ही सम्मति दी। द्रुपदने बड़े सम्मान के साथ अनेकों प्रकारके उपहार देकर विदा किया। पाण्डव कुन्ती, द्रौपदी, विदुर, श्रीकृष्ण अनेकों दाम्पत्य और सामग्रीके साथ सब लोग हस्तिनापुर आये। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विकर्ण, चित्रसेन और असंख्य नगरनिवासी आगे जाकर उनका स्वागत किया। कौरवोंके भी सबकी आन्तरिक इच्छा यही थी कि पाण्डव सर्वदा वहाँ निवास करें।

कुछ दिनोंके बाद भीष्म और धृतराष्ट्रकी सम्मति युधिष्ठिरने खाण्डवप्रस्थमें जाकर एक नया नगर उसका नाम इन्द्रप्रस्थ रक्खा गया। थोड़े ही दिनोंमें नगरी सर्वाङ्गपूर्ण हो गयी, ऐसी कोई भी वस्तु नहीं थी जो उस नगरमें न मिलती हो। सभी प्रकारके लोग अनेक संख्यामें उसमें बस गये। पाण्डव आधा राज्य लेकर निवास करने लगे। (क्रमशः)

हरिनाम

चिंता तो हरि-नामकी, और न चितवै दास ।
जो कुछ चितवै नाम विनु, सोइ कालकी फाँस ॥
कबिरा हरिके नाममें बात चलावै और ।
तिस अपराधी जीवको तीन लोक नहिँ ठौर ॥

—कबीर

प्रकाशित हो गयीं !!

सत्सङ्ग-माला

लेखक—श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास

आकार डबल क्राउन सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या १००, सुन्दर टाइल, मूल्य १) मात्र ।

जबसे यह माला क्रमशः 'कल्याण' में प्रकाशित हुई थी, तभीसे प्रेमी पाठक इसे पुस्तकरूपसे अलग प्रकाशित करनेके लिये बार-बार अनुरोध करते रहते थे । भगवत्कृपासे अब यह तैयार हो गयी है । इसके विचार बहुत ही सुन्दर, उपादेय और लाभकारक हैं । आशा है कि पाठकगण इस पुस्तकसे लाभ उठावेंगे ।

सत्सङ्ग-सुधा

लेखक—एक साधु

आकार डबल क्राउन सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या २२४, पुष्ट टाइल, मूल्य ॥) मात्र ।

समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित एक संतके २० लेखोंका यह सुन्दर संग्रह है । लेखोंमें 'भगवान्-के विश्वास' की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बातें हैं । लेखोंके नाम ये हैं—प्रार्थना, प्रभुके साथ सम्पर्क, इच्छा-शक्ति या प्रभु-रूपापर विश्वास, चाहनेयोग्य सत्य वस्तु, प्रभुका आदेश, विचारोंका संयम, मनकी सँभाल, हमारा जगत्, श्रद्धाके बीज बोयें, समयका सदुपयोग, दुःखके कारण, काम या प्रेम, दुःख-नाशके अमोघ उपाय, भगवान्की ज्योति जगा लें, प्रभुका आश्रय, भगवान्का सम्बन्ध ही सच्चा सम्बन्ध है, भगवान्की पूजा-आरती, मानसिक विष और उसके त्यागके उपाय, भयकी निवृत्ति और शक्तिकी खोज ।

गीता-भवन-दोहा-संग्रह

ऋषिकेश-स्वर्गाश्रमके समीप भगवती गङ्गाके पवित्र तटपर 'श्रीगीताभवन' अवस्थित है । वहाँ बहुत-से सुन्दर-सुन्दर चुने हुए दोहे जहाँ-तहाँ लिखे गये हैं । हजारों यात्री उन दोहोंको बड़ी उत्सुकतासे पढ़ते हैं । इनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदान्वार, धर्म आदि विविध विषयोंपर महात्माओं, संतों और भक्तोंके चुने हुए अनुभवपूर्ण उपदेश हैं । पृष्ठ-संख्या ४८, मूल्य =) मात्र ।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकोंके नये संस्करण

तैत्तिरीयोपनिषद्

(सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित)

आकार डिमाई आठ पेजी, पृष्ठ २५०, वरुण और भृगुका सुन्दर बहुरंगा चित्र, मूल्य ॥-१) मात्र ।

इसमें मन्त्र, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और उसका हिंदी-अनुवाद मूलके सामने-सामने दिया गया है । अन्तमें मन्त्रोंकी वर्णानुक्रम-सूची भी लगा दी गयी है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

(सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित)

आकार डिमाई आठ पेजी, पृष्ठ-संख्या २६८, जगत्कारणमीमांसाका सुन्दर चित्र, मूल्य ॥ (=) मात्र ।

बहुत दिनोंसे पाठक इन उपनिषद्-ग्रन्थोंके पुनर्मुद्रणकी बात जोह रहे थे। अब ईश, केन, कठ, प्रश्न, ऐतरेय, तैत्तिरीय, मुण्डक और माण्डूक्य इन आठोंके सहित यह श्वेताश्वतर भी शाङ्करभाष्यके हिन्दी-अनुवादसहित छपकर तैयार हो गया है ।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

(प्रथम खण्ड)—छप गया है । मूल्य ॥ (=) सजिल्द १।)

लगभग पंद्रह वर्षोंके बाद इसके पुनर्मुद्रणका अवसर मिला है। पूरी पुस्तक पाँच खण्डोंमें समाप्त हुई है। अभी केवल प्रथम खण्ड तैयार हुआ है। आगेके खण्ड छप रहे हैं ।

लघुसिद्धान्तकौमुदी

संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये उपयोगी इस पुस्तकका आठवाँ संस्करण तीन महीने पूर्व प्रकाशित हो चुका है। पृष्ठ ३६८, सुन्दर टाइल, मूल्य ॥ (=) मात्र ।
सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग । व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

चालू वर्षका 'भक्त-चरिताङ्क' अभी मिल सकता है

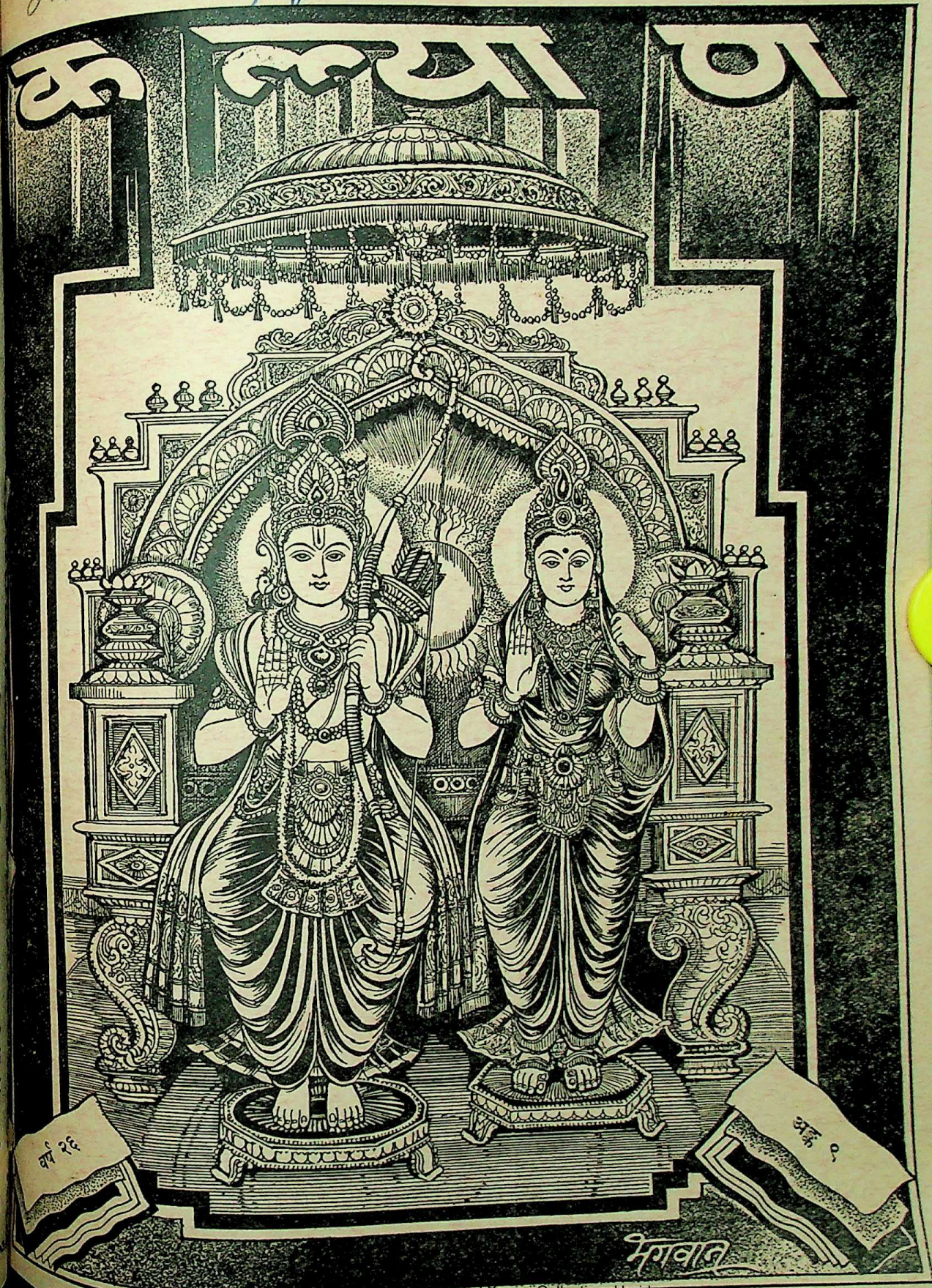
अभीतक 'भक्त-चरिताङ्क' से ग्राहक बनाये जा रहे हैं। जिन्हें बनना हो वे ७॥ मनीआर्डरसे भेज दें या वी० पी०के लिये आज्ञा देनेकी कृपा करें ।

जनवरी १९५० का विशेषांक 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'

—अभीतक मिलता है। पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४४, मूल्य ६॥) साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य, ५ प्रतियाँ एक साथ लेनेसे १५) प्रतिशत कमीशन ।
इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदू-धर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं ।

थोड़ी-सी प्रतियाँ बची हैं, जिनको आवश्यकता हो, तुरंत ६॥) भेजकर मँगा लें, या वी० पी० से भेजनेका आदेश करें ।

पता—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)



भगवान्

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
 जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
 रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
 जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २००९, सितम्बर १९५२

१-अष्टभुज भगवान् [कविता] (श्रीमद्भागवत ४ । ७ । ९ से ११ के आधारपर)	...	१२५७
२-कल्याण ('शिव')	...	१२५८
३-सत्सङ्गकी महिमा और उसका सदुपयोग (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज)	...	१२५९
४-प्रकृति-पुरुष-विचार (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	...	१२६२
५-श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन	...	१२६८
६-समता क्या है ? (श्रीस्वामीजी महाराज)	...	१२७४
७-धर्म और भगवान्की नित्यता (एक महात्माका प्रसाद)	...	१२७७
८-चिन्तनके कुछ क्षण (श्रीरुक्मिणी गुप्ता, एम० ए०)	...	१२८४
९-मानव-जीवनमें विश्वासकी महत्ता (श्री 'सौरभ')	...	१२८५
१०-पापमें आकर्षण है, सावधान ! (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)	...	१२८६
११-प्रपत्तिकी विशेषता (प्रो० जयनारायण मल्लिक, एम० ए०, डिप० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)	...	१२८८
१२-कर्म-हीन (श्रीरावी)	...	१२९३
१३-ईश्वर-पूजन (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)	...	१२९४
१४-स्वस्थ मनुष्य [कहानी] (श्री 'चक्र')	...	१३०१
१५-हिमालयके एक भक्त-योगीका पुराना वृत्तान्त [श्रीकाले बाबा] (श्री 'माधेश' भारद्वाज)	...	१३०६
१६-तीन संस्कारी प्राणी (श्रीसुदर्शनसिंहजी)	...	१३०८
१७-सती द्रौपदी (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)	...	१३१०
१८-कल्याणका आगामी विशेषाङ्क 'बालक-अङ्क'	...	१३१९

चित्र-सूची

तिरंगा

१-अष्टभुज भगवान्	...	१२५७
------------------	-----	------

वार्षिक मूल्य
 भारतमें ७।।)
 विदेशमें १०)
 (१५ शिल्लिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनन्द भूमा जय जय ॥
 जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
 जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
 भारतमें ७।।)
 विदेशमें १०)
 (१० पैस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हे ॥
॥

५२
२५७
२५८
२५९
२६२
२६८
२७४
२७७
२८४
२८५
२८६
२८८
२९३
२९४
३०१
३०६
३०८
३०
३९

गण प्रवि
तमें (५)
तमें (५)
०. वल)

कल्याण



अष्टभुज भगवान्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



पशुष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद्वर्ष्म तद्वच्छुभं नेत्रे चेतपसोजिते सुरुचिरे याम्यां हरिर्दृश्यते ।
गुद्विर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

सं २६ }

गोरखपुर, सौर आश्विन २००९, सितम्बर १९५२

{ संख्या ९
पूर्ण संख्या ३१०

अष्टभुज भगवान्

सुंदर स्याम सरूप सोहावन । कटि किंकिनि सबके मनभावन ॥
सुभग किरीट अर्क-दुति-हारी । पीतवसन कटितट सुभकारी ॥
नील अलक मुखपर अति सोहन । मानहुँ भ्रमरकंज मुख जोहन ॥
चक्र चाप सर असि कर धारे । जलज संख गद ढाल सुधारे ॥
भुज प्रलंब भूषण जुत राजत । कंकन-केयुरकी छवि छाजत ॥

सुंदर उर राजत रमा वनमाला सुभ रीति ।

हास्य सहित अवलोकिबो बिख सुखद अति प्रीति ॥

(श्रीमद्भागवत ४ । ७ । ९ से ११ के आधारपर)

कल्याण

याद रखो—सारे पापोंकी उत्पत्ति का कारण है—विषयकामना । आत्मा यदि जाग्रत रहे, आत्मशक्तिकी विस्मृति न हो तो कामनाकी शक्ति नहीं कि वह आत्माको किसी प्रकारसे पराजित कर सके और पापोंकी उत्पत्ति सम्भव हो ।

याद रखो—जब आत्मशक्तिको भूलकर मनुष्य रजोगुणरूपा आसक्तिसे उत्पन्न इस कामरूपी वैरीको मनमें स्थान दे देता है, तब वही पापके लिये प्रबल प्रेरणा करके पाप करवाता रहता है । मनुष्य जो पापको बुरा समझकर भी, इच्छा न रहनेपर भी पापका आचरण करता है, इसमें यह कामना ही कारण है । यही क्रोध बनता है, यही लोभ बनता है और यही मनुष्यको मोहित करके उसे कुपथगामी बना देता है ।

याद रखो—यह कामना महान् पापमयी है, यह मनुष्यकी सबसे बड़ी शत्रु है । इस कामके मनमें स्थान पानेपर मनुष्यका ज्ञान वैसे ही ढक जाता है, जैसे धूँँसे आग, मलसे दर्पण या जेरसे गर्भ ढका रहता है ।

याद रखो—इस कामनाका पेट कभी भरता ही नहीं, जितना ही इसे अधिक खानेको मिलेगा, उतना ही इसका पेट अधिक खाली होगा । जैसे घी-ईंधनसे आग धधकती है और अधिक फैलती है, वैसे ही विषयोंकी प्राप्तिसे कामनाकी आग अधिकाधिक बढ़ती है एवं उसका विपुल विस्तार होता है ।

याद रखो—इस कामकी कभी तृप्ति होती ही नहीं । यह विवेकी पुरुषोंका तथा सन्मार्गपर चलना चाहनेवालोंका सदाका वैरी है । इसने बुद्धिपर, मनपर और इन्द्रियोंपर अपना प्रभुत्व जमा रखा है, उनको अपने इशारेपर चलाता है और उन सबके अंदर नित्य डेरा डाले पड़ा रहता है ।

याद रखो—यह काम ज्ञान-विज्ञानका करनेवाला है । यह इन्द्रियोंमें, मनमें और बुद्धिमें फैला है और उन्हींके द्वारा जीवको मोहजालमें फँसाये रहता है । इसलिये पहले इन्द्रियोंको तथा मनको वशमें कर पड़ेगा । इन्द्रिय तथा मन यदि कामके प्रभावसे मुक्त हो जायँगे, वे यदि इसे अपने अंदरसे निकाल दें तो फिर इसको कहीं भी रहनेको ठौर नहीं मिलेगा ।

याद रखो—इन्द्रियोंको तथा मनको वशमें करने तुम्हारे लिये कुछ भी बड़ी बात नहीं है । तुमने अपने को दुर्बल और इन्द्रिय-मनको प्रबल मान रखा है । तुम्हारी यह कल्पित कमजोरी ही तुम्हें संशंकित रहता है । तुम यदि अपने आत्मस्वरूपका स्मरण कोने में देखोगे कि तुम्हारी अजेय शक्ति है । तुम्हारी शक्ति सामने इन सभीकी शक्ति तुच्छ और नगण्य है । इतना ही नहीं, इनमें जो शक्ति दीखती है, वह तुम्हारी ही शक्तिके स्रोतसे आती है ।

याद रखो—जहाँ इन्द्रियोंपर और मनपर तुम्हारा प्रभुत्व हुआ—(प्रभुत्व तो अब भी है पर अभी तुम अपने स्वरूपको भूलकर अपनेपर उनका प्रभुत्व मान रहे हो—) वहीं इनमें रहनेवाले ये काम-क्रोध अपने असहाय पाकर भागने लगेंगे ।

याद रखो—तुम सर्वशक्तिमान् आत्मा हो, तुम्हें बड़ा बल है । संसारकी किसी भी पाप-तापकी, किसी भी काम-क्रोधकी शक्ति नहीं जो तुम्हारे शुद्धस्वरूपका स्पर्श भी कर सके या जो तुम्हारे सामने ठहर सके । तुम निश्चय करो कि मैं अपने आत्मस्वरूपको पहचान गया हूँ, उसमें स्थित हो गया हूँ, मैं सर्वथा निष्पाप शुद्ध और शक्तिमान् हूँ, अबसे काम-क्रोध मेरे सामने कभी नहीं आ सकेंगे, पास आते ही वे भस्म हो

संख्या ९]

जायँगे ।' और जब काम-क्रोध ही जल जायँगे, तब नहीं, इन्द्रिय नहीं । मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध निर्विकार
पाप-ताप तो रहेंगे ही कहाँसे; क्योंकि पाप-तापके आत्मा हूँ । मैं अजेय हूँ, शाश्वत हूँ, अमृत हूँ, एकरस
कारण तो काम-क्रोध आदि ही हैं । हूँ, कूटस्थ हूँ, ध्रुव हूँ, अचल हूँ और हूँ नित्य सत्य

निश्चय करो—मैं शरीर नहीं, बुद्धि नहीं, मन परम आनन्दमय !

‘शिव’

सत्सङ्गकी महिमा और उसका सदुपयोग

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज)

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

संसारमें सभी कुछ सुख है, किंतु सत्सङ्ग बड़ा ही दुर्लभ है । भाग्यशालियोंको ही सत्सङ्ग प्राप्त होता है । संसारमें सभीका मूल्य है, किंतु सत्सङ्गका कोई मूल्य नहीं, वह अमूल्य है । इस सम्बन्धमें एक पौराणिक कथा है ।

एक बार विश्वामित्रजीने वसिष्ठजीसे कहा—
संसारमें तप ही श्रेष्ठ है । तपके प्रभावसे ही त्रिदेव सृष्टि, स्थिति, प्रलय करते हैं । तपके प्रभावसे ही मैं क्षत्रियसे ब्राह्मण हो गया ।’

वसिष्ठजीने कहा—‘तप तो श्रेष्ठ है ही, किंतु तप सर्वश्रेष्ठ नहीं । तप तो असुर भी कर लेते हैं और बड़े-से-बड़े वर प्राप्त कर लेते हैं । मेरी बुद्धिमें तो सत्सङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ है ।’

दोनोंमें वाद-विवाद बहुत देरतक होता रहा । अन्तमें निश्चय यह हुआ कि ‘शेषजी सर्वज्ञ हैं, वे तप, ज्ञान, सत्सङ्ग—सभीके मर्मज्ञ हैं, उन्हें मध्यस्थ बनाया जाय । वे जो निर्णय कर दें, वही माना जाय ।’

दोनों शेषजीके समीप पहुँचे । दोनोंने अपनी-अपनी बातें सुनाकर अन्तमें कहा—‘आप निर्णय कर दें कि तप श्रेष्ठ है या सत्सङ्ग ?’

शेषजीने कहा—‘मुझे तो इतना अवकाश नहीं । मैं सम्पूर्ण भूमण्डलके वोजको धारण किये हुए हूँ । आप-

मेसे कोई इस भूमण्डलको तनिक देरके लिये धारण कर लें तो मैं आपके प्रश्नका उत्तर दूँ ।’

विश्वामित्रजीने कहा—‘मैंने चारों दिशाओंमें लाखों वर्ष तप किया है, उसीके प्रभावसे मैं इस समस्त भूमण्डलको धारण किये लेता हूँ ।’ यह कहकर उन्होंने भूमण्डलको ज्यों ही उठाना चाहा कि पिचने लगे । वे बोले—‘शेषजी ! आप इसे छोड़ें नहीं, मैं धारण करनेमें असमर्थ हूँ ।’

तब शेषजीने वसिष्ठजीसे कहा—‘आप धारण कर सकते हैं ?’

वसिष्ठजीने सरलतासे कहा—‘देखिये प्रयत्न करता हूँ, मैंने स्वप्नमें आधी घड़ी सत्सङ्ग किया था, उसका यदि कुछ फल हो तो मैं इस भूमण्डलको धारण कर सकूँ ।’

देखते-ही-देखते भूमण्डल हल्का हो गया और उन्होंने बड़ी सरलतासे भूमण्डलको धारण कर लिया

जब वसिष्ठजी भूमण्डलको लेकर खड़े हो गये, तब विश्वामित्रजीने कहा—‘अब आप हमारे प्रश्नका उत्तर दें ।’

शेषजीने कहा—‘अब भी उत्तर देना शेष रह गया क्या ? जब स्वप्नके आधी घड़ी सत्सङ्गका इतना प्रभाव है, तब जाग्रतमें जो सदा-सर्वदा सत्सङ्ग करते हैं, उनका कहना ही क्या ?’

यह है सत्सङ्गकी महिमा । परंतु बड़े खेदकी बात

है कि आज—संसारमें सत्सङ्गके नामसे दुस्सङ्ग होने लगा है। सत्सङ्ग जहाँ 'वृत्ति' बन जाती है, लोग उसके द्वारा संसारी स्वार्थोंका साधन करने लगते हैं, तब वे परमार्थसे वञ्चित हो जाते हैं, लौकिक स्वार्थोंकी सिद्धि होने लगती है।

सत्सङ्ग तथा कथा-कीर्तन मुक्तिका मार्ग है। इसके फल-स्वरूप संसारी समस्त भोग तुच्छ हो जाते हैं, ब्रह्मपद भी उसे बुरा लगता है। ऐसे सत्सङ्ग तथा कथा-कीर्तनसे जो तुच्छ भोग चाहते हैं, वे इनका दुरुपयोग ही करते हैं।

मुझसे एक व्यक्तिने कहा कि 'अमुक महात्माके पास लाखों रुपयोंका वैभव है, उनके पास सुवर्णके छत्र-चैवर, सिंहासन हैं।' एक सेठजीने कहा—'इससे तो वे पूजनीय नहीं हो सकते। हम तो सड़ते दस-तीस लाख रुपये एक दिनमें कमा लेते हैं।' हमलोग यदि सत्सङ्ग तथा कथा-कीर्तनको वृत्ति बनाकर संसारी स्वार्थ साधन करें तो यह हमारा दुर्भाग्य है। यह तो सुवर्णकी ईंटसे भूसी तौलनेके समान है। इस विषयमें एक छोटा-सा दृष्टान्त है—

एक राजा थे, वे एक दिन अपने कुछ साथियोंको लेकर जंगलमें आखेटके लिये गये। उन्हें एक जंगली सूअर दिखायी दिया। उसके पीछे उन्होंने अपना घोड़ा दौड़ा दिया। सूअर एक जंगलमें जाकर छिप गया। अब राजाको बड़ी ही जोरकी भूख-प्यास लगी। वे पानीकी खोजमें दूरतक गये। आगे चलकर उनको एक जंगली भीलकी कुठिया दिखायी दी। राजा उसमें गये।

वहाँ एक भील था, एक भीलनी थी और एक उनका बच्चा था। राजाने कहा—'भैया ! हमें बड़ी भूख लगी है, प्यास भी ! तुम्हारे पास कुछ खानेको हो तो दो और थोड़ा जल भी।'।

भीलने कहा—'हमारे पास तो कुछ नहीं है।'।

भीलनीने कहा—'बच्चेके लिये आधी रोटी रक्खी है, इसे दे दो कोई बेचारा दुखी है।'।

यह सुनकर भीलने छींकेपर रक्खी आधी रोटी को राजाने आजतक ऐसी रोटी कभी देखी नहीं। उन्होंने समझा भूलसे भीलने गोबरका कंडा दे दिया है। उन्होंने पूछा—'भैया ! यह तुमने क्या दे दिया।'। भीलने कड़ककर कहा—'अरे, बेझरकी नमकीन रोटी है रोटी। खा ले।'।

एक कहावत है, भूखमें किवाड़ भी पापड़की भाँति लगते हैं। राजाने उस रोटीको खाया। बड़े जोरसे भूख लग रही थी। आज उन्हें जो उस बेझरकी नमकीन रोटीमें स्वाद आया, वह जीवनभरमें भी कभी छपन भोगोंमें भी नहीं आया था। राजाने आज अनुभव किया कि स्वाद पदार्थोंमें नहीं है किन्तु भूखमें ही है।

राजा आधी रोटी खा गया। भीलने सुराहीमें ठंडा जल पिलाया। उस ठंडे जलमें राजाको अत्यन्त आनन्द आया। जल पीकर राजा सो गये। इतनेमें ही घोड़ोंके पैरोंके चिह्नोंको देखते-देखते उनके साथी भी आ गये। अपनी झोंपड़ीपर मौज देखकर भील घबरा गया, सिपाहियोंने उसे डाँट-फटकार सुनायी। भेड़ डर गया। उसने भीलनीसे कहा—'सुनती हो जिसने हमने रोटी दी, वह तो इस देशका राजा है। बड़ा बुद्धिमान हुआ राजाको हमने ऐसी रोटी दी। वह हमें शूलसार चढ़ा देगा।'।

राजा जगे और घोड़ेपर सवार होकर चले गये। अपनी राजधानीमें पहुँचकर उन्होंने चार सिपाही भेजे कि अमुक भीलको बुला लाओ।

सिपाही सुनते ही पहुँचे और कहा—'ओ भील ! चल, तुझे राजाजीने बुलाया है।' यह सुनते ही वह रोने लगा। उसने रोते-रोते अपनी स्त्रीसे कहा—'मैं तो पहले ही कह रहा था, राजा फाँसीपर चढ़ा देगा। तू यहाँ रहना, जैसे हो बच्चेका पालन करना।'।

स्त्रीने रोते-रोते कहा—'मैं यहाँ जंगलमें अकेली क्या करूँगी। मैं कुछ करना जानती नहीं। यहाँ भी भूखों मरना है। इससे अच्छा है राजा हम तीनों

संख्या ९]

को ही एक-सा दण्ड दे ।' ऐसा निश्चय करके वे तीनों ही चले गये । राजाने उसे बुलाया और उससे पूछा—
'तुम्हारा नाम क्या है ?'

उसने कहा—'महाराज ! मेरा नाम खिचू है ।'

राजाने कहा—'खिचू ! तुमने हमारी बड़ी सेवा की !'

उसने डरते-डरते कहा—'सरकार ! मुझे पता

नहीं था कि आप राजा हैं, सरकार ! मेरा अपराध क्षमा किया जाय ।'

राजाने आश्चर्यसे कहा—'अरे भाई ! तुमने क्या

अपराध किया ? तुमने तो हमारे साथ बड़ा उपकार

किया है, तुमने तो हमें रोटी दी ।' उसने रोते-रोते

बोला—'सरकार ! मुझे पता होता कि आप

राजा हैं तो मैं कभी रोटी न देता ।'

राजाने कहा—'अरे भाई ! हम तो तुमपर प्रसन्न

हैं, तुम जो चाहो सो माँग लो ।'

उसने कहा—'सरकार ! यही मेरे ऊपर दया

कर दो कि मुझे छोड़ दो । मेरा वच्चा अग्रोध है ।'

राजाने कहा—'अरे भाई ! तुम गाँव माँगो, धन

मौज, जो माँगो मैं वही दूँगा ।'

उसने कहा—'मुझे प्राणदान ही दें ।'

राजाने कहा—'तुम्हारे प्राण कौन लेता है, हम

ने तुम्हें इनाम देना चाहते हैं ।'

उसने कहा—'मुझे छोड़ दो वस, यही बड़ा इनाम है ।'

राजा समझ गये—यह मूर्ख है । उनका एक बड़ा

चन्दनका बागीचा था, वह उस भीलको दे दिया ।

मन्त्रियोंने वह चन्दनका बाग उसके नाम कर दिया ।

उसमें एक कोठी थी, वह भी उसे दे दी । वह उसीमें

रहने लगा । राजा राजकाजमें दो-चार वर्षोंमें इस

बागको मूल गये ।

कुछ वर्षोंके पश्चात् राजा उस बागको देखने गये

कि उस भीलने उसमें कितनी उन्नति की है ।

राजा अपने मन्त्रियोंके साथ गये, देखकर उन्हें

बड़ा आश्चर्य हुआ, वहाँ चन्दनका बाग तो है नहीं
कोयलोंका ढेर पड़ा है ।

राजाने उस भीलको बुलाकर पूछा—'कहो खिचू !
कैसे हो ?'

उसने कहा—'महाराज ! मैं बड़ा प्रसन्न हूँ,
इतना प्रसन्न हूँ, जितना आप भी प्रसन्न न होंगे ।'

राजाने पूछा—'तुम इतने प्रसन्न क्यों हो ?'

उसने कहा—'महाराज ! वहाँ जंगलमें बड़ी दूरसे लकड़ी
लाता था, तब उसके कोयले बनाता था, वे चार आने-
में विकते थे । अब तो मुझे दूर भी जाना नहीं पड़ता ।
यहींसे लकड़ी काट लेता हूँ । मेरे कोयले अब एक
रुपयेमें विक जाते हैं । इससे मैं बड़ा प्रसन्न हूँ ।'

राजाने उसे एक चन्दनकी लकड़ी देकर कहा—
'इसे बेच आओ ।' वह छोटी-सी लकड़ी पाँच रुपयेमें
विकी । तब तो उस भीलकी आँख खुली । उसने कहा—
'हाय ! इतनी बहुमूल्य चन्दनकी लकड़ियोंके मैं
कोयले बनाकर व्यर्थ ही तनिक-से पैसोंपर बेचता रहा !'

आज उसी भीलका अनुकरण हमलोग कर रहे हैं ।
भगवान्‌के नामसे खयं भगवान् मिल जाते हैं । भगवान्
खयं अपनी कथा सुनकर पिघल जाते हैं । उस कथा-
कीर्तनको हम संसारी विषयोंके लिये उपयोगमें ला रहे
हैं, हमसे अधिक अभाग और कौन होगा ।

वे महात्मा धन्य हैं जो एकमात्र प्रभु-प्रेमके लिये
ही भगवान्‌का कथा-कीर्तन करते हैं, भगवान्‌की प्रीति-
के लिये ही भगवत्-कथा श्रवण करते हैं । ये बातें
कहनेमें बड़ी सरल हैं, किन्तु इनका उपयोग बड़ा कठिन
है । जहाँ मान-प्रतिष्ठाकी तथा विषय-भोगकी वासना
उठती है, वहाँ हम कथा-कीर्तनका दुरुपयोग करते हैं ।
सर्वान्तर्यामी प्रभुके पादपद्मोंमें हमारी यही प्रार्थना
है कि हम कथा-कीर्तनको कथा-कीर्तनके लिये ही
करें, एकमात्र प्रभु-प्रीति ही हमारे समस्त साधनों-
का उद्देश्य हो । यह स्वभावसे, अपने पुरुषार्थसे न होकर
प्रभुकी कृपासे ही होगा । प्रभु हम सबपर कृपा करें ।

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।

प्रकृति-पुरुष-विचार

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

किसी भाईका प्रश्न है कि 'सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुणमय पदार्थ प्रकृतिसे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और प्रकृतिको कर्ता तथा पुरुषको भोक्ता किस कारणसे बताया गया है ? इसके उत्तरमें निम्नलिखित निवेदन है । भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वद्यनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

(१३।१९)

‘हे अर्जुन ! प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ, इन दोनोंको ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए जान ।’ इसमें विकारों और गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न बतलाया है । अतः पहले यह जानना चाहिये कि ‘विकार’ कितने हैं । विकारोंके सम्बन्धमें इसी तरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान् ने कहा है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

‘इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूल देहका पिण्ड एवं चेतनता और धृति—इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित संक्षेपसे कहा गया ।’ इसके पूर्वके श्लोक (१३।५) में शरीरके कितने तत्त्व हैं, वे बतलाये गये हैं । यहाँ ‘क्षेत्र’ शरीरका नाम है । अतः ये सब शरीरके विकार हैं । इनमें इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धृति और चेतना—ये हृदयके विकार हैं । संघात स्थूलदेहका विकार है । धृति और चेतना सात्त्विक होनेसे अच्छे विकार हैं । ‘इच्छा’ रागका कार्य होनेसे एक प्रकारसे राग ही है । ये राग-द्वेष ही सब विकारोंकी जड़ हैं । अनुकूलतामें होनेवाली वृत्तिका नाम ‘राग’ है

तथा प्रतिकूलतामें होनेवाली वृत्तिका नाम ‘द्वेष’ है जो कुछ प्रतिकूल होता है, उसमें द्वेष तथा दुःख होते हैं, भय तथा ईर्ष्या होती है, प्रतिद्वन्द्विता तथा क्रोध होती है; इसके अतिरिक्त भी द्वेषके कारणसे अनेकों विकार होते हैं । इसी प्रकार रागके कारणसे हर्ष, काम आदि अनेकों विकार पैदा हो जाते हैं । इसी भी अनेकों विकार पैदा होते हैं ।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।

(गीता २।६२-६४)

ये सब राग और इच्छाके ही विकार हैं । आत्मा इच्छा होती है, इच्छासे क्रोध होता है, फिर स्मृतिविभ्रम उससे बुद्धिका नाश एवं बुद्धिके नाशसे सर्वथा पतन जाता है । ये सारे विकार इन्हींसे हुए । इसीलिये भगवान् ने कहा कि मैंने तुम्हें संक्षेपसे ही ‘विकार’ बतलाये हैं । अब दूसरे विषयपर विचार करना चाहिये । भगवान् कहते हैं—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।

‘विकारों और गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न जान ।’ सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण प्रकृतिसे ही कार्य-करणरूप तीनों गुणोंका विस्तार होते हैं । महासर्गके आदिमें केवल प्रकृति और पुरुष ही रहते हैं । पुरुष यानी परमात्मा और प्रकृति परमात्माकी शक्ति; अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् । यह सारा संसार उत्पन्न हुआ । गीताके १४ वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें यह बात बतलायी है कि प्रकृति है और मैं बीजको देनेवाला पिता हूँ । प्रकृति सबकी मा है और मैं उसमें बीजको छोड़ता हूँ । इस

संख्या ९]

विता है, जिससे कि समस्त संसारकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार त्रिगुणमय सम्पूर्ण पदार्थ प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं।

महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्ति होती है और महाप्रलयके समय सारे प्राणी प्रकृतिमें विलीन हो जाते हैं। उन सब प्राणियोंके स्थूल शरीर प्रलयके समय विनष्ट हो जाते हैं। सूक्ष्म शरीरके अमिमी जीव रहते हैं, पर उनके सूक्ष्म शरीर भी अपने 'कारण' में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार महाप्रलयमें सबका विलय हो जाता है। फिर महासर्गके प्रारम्भ इसी प्रकारसे सबकी उत्पत्ति होती है। संसारकी उत्पत्ति और प्रलयके वर्णनमें शास्त्रोंमें कुछ-कुछ भिन्नता देखी जाती है। महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगशास्त्र एवं भगवान् कपिलदेवद्वारा रचित सांख्यशास्त्रमें जितने पदार्थ बतलाये गये हैं, उतने ही गीतामें भी बताये गये हैं। सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है—प्रकृतिसे सूक्ष्मत्वकी उत्पत्ति हुई, महत्तत्त्वसे समष्टि अहङ्कारकी, अहङ्कारसे मन और पञ्च-तन्मात्राओंकी एवं पञ्च-तन्मात्राओंसे श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, नासिका, वाक्, ग्राहि, पाद, उपस्थ और गुदा—इन दस इन्द्रियोंकी और आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पञ्च स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई। इसी विषयको गीता अ० १३। ५ में इस प्रकार बतलाया है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

अर्थात् पाँच महाभूत, छठा अहङ्कार, सातवीं बुद्धि, आठवीं अव्यक्त माया यानी प्रकृति, दस इन्द्रियाँ और एक मन—इस प्रकार आठ और ग्यारह कुल उन्नीस पदार्थ हैं। ये ही चौबीस पदार्थ 'सांख्य' में और 'योग' में बताये गये हैं। इनकी उत्पत्तिके क्रममें थोड़ा अन्तर है। इसका कारण यह है कि सृष्टिकी उत्पत्ति सदा

एक ही क्रमसे नहीं हुआ करती। उसमें थोड़ी-बहुत विभिन्नता रहती है। इसीलिये वेदोंमें, श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें, मनुस्मृतिके प्रथमाध्यायमें एवं उपनिषदादिमें जो सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम बतलाया है, उसमें सर्वत्र ही कुछ-न-कुछ विभिन्नता है। पर मूल सिद्धान्त यही है कि प्रकृतिसे ही सब जड़ पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है। अब यह जानना है कि गीताके सिद्धान्तके अनुसार पदार्थोंकी उत्पत्ति किस प्रकारसे होती है। इसके लिये 'अव्यक्त'से उल्टा चक्र चलता है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

अव्यक्त सबसे परे है। इस अव्यक्तसे ही सबकी उत्पत्ति होती है। अव्यक्तका अर्थ है 'अव्याकृत माया,' प्रकृति या ईश्वरकी शक्ति। इस ईश्वरकी शक्तिरूप 'अव्यक्त'को यहाँसे उल्टा चलाइये तो इस प्रकृतिसे बुद्धिकी उत्पत्ति हुई। इस गीतोक्त बुद्धिको ही 'समष्टि बुद्धि' या 'महत्तत्त्व' कहते हैं। 'वेदान्त' 'समष्टि बुद्धि' कहता है तथा 'सांख्य' एवं 'योग' इसे 'महत्तत्त्व' कहते हैं। इस बुद्धिसे अहङ्कारकी उत्पत्ति हुई और अहङ्कारसे पञ्चमहाभूतादिकी। ये पञ्चमहाभूत पञ्चसूक्ष्ममहाभूत हैं, प्रकृतिस्वरूप हैं; क्योंकि ये आठ आगे कहे जानेवाले विकारोंकी प्रकृति हैं। सांख्यमें भी यही बतलाया गया है कि एक मूल प्रकृति, सात प्रकृति-विकृति और षोडश विकार, यों सब मिलकर चौबीस होते हैं। गीतामें यह प्रसङ्ग इस तरह आया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

(७।४)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच सूक्ष्म महाभूत और मन, बुद्धि तथा अहङ्कार—यों आठ होते हैं। यहाँ मूलप्रकृतिका उल्लेख न करके मनका उल्लेख किया है; किंतु मन किसीकी प्रकृति नहीं है, इसीलिये स्वामी श्रीराङ्गराचार्यजीने मनका अर्थ वहाँ मन

न कर 'अहङ्कार' किया है और बुद्धिका अर्थ 'महत्तत्त्व' तथा अहङ्कारका अर्थ 'अव्यक्त माया' किया है। हमें यहाँ आठोंको प्रकृति समझ लेना चाहिये, क्योंकि भगवान् ने इनको 'प्रकृति' कहा है। अतः हमें इस प्रकारसे चलना चाहिये। उलटे चक्रके हिसाबसे अव्यक्त मायासे बुद्धिकी उत्पत्ति हुई, बुद्धिसे अहङ्कारकी, अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्रारूप सूक्ष्मभूतोंकी और एक मनकी। इन पञ्च-सूक्ष्मभूतोंसे दस इन्द्रियोंकी और उसके बाद पाँच विषयोंकी उत्पत्ति हुई। पाँच विषय और दस इन्द्रियोंकी पञ्चसूक्ष्मभूतोंसे उत्पत्ति हुई; इसमें तो मतभेद नहीं है। कोई मनको पाँच भूतोंसे उत्पन्न मानता है, कोई अहङ्कारसे उत्पन्न मानता है। वेदोंमें, भागवतमें इन पाँच भूतोंकी उत्पत्तिमें अलग-अलग क्रम बतलाया है—आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथ्वी—इस प्रकार भी क्रम है। इस समस्त क्रमको मानकर विचार करनेपर यही बात सिद्ध होती है कि जब प्रलय होता है, तब पृथ्वी जलमें डूब जाती है, जलको अग्नि सुखा देती है, अग्नि वायु शान्त कर देता है और वायु आकाशमें स्वतः शान्त हो जाता है; रह जाता है आकाश। जब महाप्रलय होता है, तब आकाश तथा पञ्चभूतोंके और भी जितने विकार हैं, वे सब अहङ्कारमें विलीन हो जाते हैं। और मन भी अहङ्कारमें, अहङ्कार बुद्धि (महत्तत्त्व) में, बुद्धि अव्यक्त मायामें लय हो जाती है। अव्यक्त माया 'ईश्वरकी शक्ति' है। वह महाप्रलयमें भी विद्यमान रहती है। इसी क्रमसे जब सृष्टि उत्पन्न होती है, तब प्रकृतिसे प्रथम महत्तत्त्वकी यानी समष्टि बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। बुद्धिसे समष्टि अहङ्कारकी, अहङ्कारसे मनकी तथा अहङ्कारसे ही पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। पञ्चतन्मात्राको ही 'सूक्ष्मभूत' कहते हैं। जब 'सूक्ष्मभूत' कहते हैं, तब फिर उनसे विषयोंकी उत्पत्ति मान लेनी उचित है। यदि उन पाँच सूक्ष्म विषयोंको

पञ्चतन्मात्रा मानें तो पञ्चभूतोंकी इन तन्मात्रारूप विषयोंसे उत्पत्ति माननी चाहिये। 'योगशास्त्र' और 'सांख्यशास्त्र' ऐसा मानते हैं। इस प्रकार सबकी उत्पत्ति मानी गयी है। महासृष्टिके आदिमें प्रकृति ही थी। प्रलयके समय समस्त जीवोंके शरीर 'समष्टि सूक्ष्मप्रकृति' में विलीन हो जाते हैं। 'सूक्ष्मप्रकृति' मूलप्रकृतिमें विलीन हो जाती है। मूलप्रकृति सबका आयतन है। यही 'समष्टि-कारण शरीर' है। जैसे एक बादल है और उस बादलमें एक-एक परमाणु है। जैसे वह बादल और बादलके प्रत्येक परमाणु एक ही चीज हैं, वैसे ही प्रकृति है। वस्तुतः प्रकृतिके परमाणु नहीं होते, केवल समझानेके लिये ऐसा कहा जाता है। मूलप्रकृतिमें ऐसा अवच्छेद नहीं मिलता कि जिससे परमाणु माने जायँ। आकाशके भी कोई तो परमाणु मानते हैं और कोई नहीं मानते। पर आकाशका विभाग तो इस रूपमें किया जा सकता है कि जैसे आकाशमें सैकड़ों पक्षी उड़ रहे हैं, तो उनमेंसे प्रत्येकने अपने-अपने आकाशस्थानमें उतने-उतने आकाशका अंश रोक रखा है। समझानेके लिये इसी प्रकार मूलप्रकृतिके लिये भी माना जा सकता है कि जीव मूलप्रकृतिके जिस अंशमें स्थित है, उतना अंश उसका आयतन है, स्थान है। यों कहिये कि उसका कारण-शरीर है। इस प्रकारसे कारण-शरीरसहित 'जीव' प्रकृतिमें रहता है। यदि वह 'कारणशरीर' से रहित हो जाता तो उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती। परमात्माकी प्राप्ति या मुक्ति इसीप्रकार नहीं होती कि जीव कारण-शरीरमें स्थित रहता है। 'कारणशरीर' के अंदर ही 'सूक्ष्मशरीर' है और सूक्ष्म शरीरके अंदर समस्त पाप-पुण्य कर्मोंके संस्कार हैं। पाप-पुण्यके जो संस्कार भोगनेसे शेष रह जाते हैं, उन्हें फल-भोगके लिये ही प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है। जितने कालतक सृष्टि रहती है, उतने ही कालतक महाप्रलय

हता है। यह नियम है। महाप्रलयके समाप्त होनेके बाद और महासर्गके आदिमें प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षोभसे हलचल मचती है। हलचल मचनेसे दस कार्य और तेरह कारणकी उत्पत्ति होती है। भगवान् कहते हैं—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १३ । २०)

‘कार्य और कारणके उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष यानी जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है।’ कार्य-कारणके बीचमें प्रकृति हेतु कैसे ? इस विषयपर तो विवेचन हो चुका। ‘कार्य’ हैं दस—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । कारण यानी द्वार हैं तेरह—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार । इस प्रकार तेरह और दस मिलाकर तेईस होते हैं । एक ‘प्रकृति’ को छेक चौबीस तत्त्व हो जाते हैं । कुछ सज्जन अन्तः-करणके मन, बुद्धि, चित्त एवं अहङ्कार—ये चार भेद मानते हैं, किंतु गीतामें इसके तीन ही भेद बताये गये हैं । योगशास्त्र तथा सांख्यशास्त्रमें भी तीन भेद बतलाये हैं । चित्त और मनको एक ही माना गया है । ये जो तेईस पदार्थ हैं, इन सबका उपादानकारण प्रकृति ही है । इसीलिये यह कहा गया है कि इसका ‘हेतु’—‘कारण’ प्रकृति है । यह तेईस तत्त्वोंका समूह उसका ‘कार्य’ है । अब सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु ‘पुरुष’ है, इसपर विचार करना है ।

प्रकृतिमें स्थित जो ‘पुरुष’ है, वही सुख-दुःखोंका भोक्ता है । वस्तुतः केवल शुद्ध आत्मामें भी भोक्तापन नहीं है और प्रकृतिमें भी भोक्तापन नहीं है । प्रकृति तो ‘जड़’ है इसलिये वह भोक्ता नहीं है और केवल आत्मा ‘शुद्ध’ होनेके कारण उसमें भोक्तापन नहीं है ।

भोक्ता है—‘जीव’ । ‘जीव’ कहते हैं प्रकृति और पुरुषकी एकताको । अतः सुख-दुःखोंका भोक्ता है—प्रकृतिके साथ एकात्मताको प्राप्त पुरुष—‘पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्’ (१३ । २१) यहाँ जीवको ही ‘पुरुष’ कहा है । जो प्रकृतिमें स्थित ‘जीव’ है, वही सुख-दुःखोंका भोक्ता है; केवल शुद्ध आत्मा नहीं ।

पातञ्जल-योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने कहा है—‘हेयं दुःखमनागतम्’ (यो० २ । १६) ‘आनेवाले दुःख हेय (त्याज्य) हैं।’ ‘अनागत’ उन्हें कहते हैं जो अभी आये नहीं हैं । जो दुःख आ चुके हैं यानी भूतकालके हैं, उनके त्यागके लिये यहाँ नहीं कहा है, क्योंकि वे तो गत हो गये—व्रीत चुके । वर्तमान क्षणमें जो दुःख है, वह भी एक क्षणमें ही भूत हो जायगा । उसके लिये भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । पर जो आनेवाले दुःख हैं, उनका त्याग करना चाहिये । अब यह शङ्का होती है कि ‘अनागत’ दुःखोंका हेतु कौन है ? तो कहते हैं—‘द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।’ (यो० २ । १७) ‘द्रष्टा और दृश्य यानी चेतन पुरुष और जड़ प्रकृतिका जो संयोग है—एकात्मता है, वही हेयका हेतु है, उसीसे दुःख होते हैं ।’ अतः प्रकृतिस्थ पुरुषको ही सुख-दुःख आकर प्राप्त होते हैं । अब यह जाननेकी इच्छा हुई कि ‘संयोगका हेतु क्या है’ ? उसका भी तो कोई कारण होना चाहिये ? इसके उत्तरमें बतलाया—‘तस्य हेतुरविद्या’ (यो० २ । २४) ‘उसका हेतु अज्ञान है ।’ उस अज्ञानका नाश होता है—ज्ञानसे । ज्ञानके उत्पन्न होनेपर अज्ञानका नाश हो जाता है, अज्ञानका नाश होते ही प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और इस प्रकार जब वे अलग हो जाते हैं, तब सुख-दुःखका भोक्ता कोई नहीं रहता; क्योंकि पुरुष ‘कृतकृत्य’ हो जाता है । यहाँ यह प्रश्न होता है—‘जब पुरुष

कृतकृत्य हो जाता है, तब उसके लिये संसार रहता है या नहीं ?' इसपर कहते हैं—'कृतार्थं प्रति नष्ट-मप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।' (यो० २ । २२) 'कृतकृत्य' पुरुषकी दृष्टिमें प्रकृति नहीं रहती, अब वह सृष्टि अन्य सर्वसाधारणके लिये होनेसे, जो मुक्त नहीं हैं, उनके लिये रहती है । जो कृतार्थ हो गया, उसके लिये यह संसार नहीं है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृतिस्थ पुरुष ही सुख-दुःखोंका भोक्ता है । 'भोक्ता कैसे है ?' 'अज्ञानसे ।' इसमें अज्ञान क्या है ? यह मान लेना कि 'यह देह मैं हूँ तथा यह देह मेरा है ।' स्वप्नावस्थामें स्वप्नद्रष्टा मनुष्य जैसे यह मानता है कि 'शरीर मैं हूँ', 'देह मेरा है' आदि; किन्तु जागनेपर उसका यह संसार सब समाप्त हो जाता है । तब वह समझता है कि स्वप्नका संसार केवल संकल्पमात्र था, यथार्थमें कोई वस्तु नहीं थी । इतना होनेपर भी स्वप्नावस्थामें तो स्वप्नकी वस्तुएँ सत्य ही प्रतीत होती थीं । इसी प्रकार अज्ञाननिद्रामें जगत् सत् दीखता है । अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार वास्तवमें देखा जाय तो शरीर भी कल्पित है और संसार भी कल्पित है । यह समस्त प्रपञ्च सर्वथा 'कल्पित' है । 'योग' और 'सांख्य'के सिद्धान्तानुसार 'परिणामी' है । अन्तःकरणमें जो अज्ञान है, उसीके कारण सुख-दुःखका भोग होता है । 'योग' और 'सांख्य'का कथन है कि वास्तवमें यह शरीर और अन्तःकरण ऐसी चीज नहीं है जो कल्पित हो । ये हैं, पर हैं परिवर्तनशील—सदा बदलते रहते हैं, इनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर आत्मा मुक्त हो जाता है । 'अद्वैतसिद्धान्त' कहता है कि सम्बन्ध-विच्छेद-जैसी कोई वस्तु नहीं है, यह सर्वथा स्वप्नवत् है, वास्तवमें है ही नहीं । अब यह जाननेकी इच्छा हुई कि सुख-दुःखका कौन पुरुष भोक्ता है ? भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदस्योनिजन्मसु ॥
(गीता १३ । २१)

'प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष यानी जीवात्मा प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके सत्-असत् यानी अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है ।' 'सङ्गका अभिप्राय है—आसक्ति और संयोग । सत्, रस, तम—ये तीन गुण हैं । जीवात्माकी इन तीनों गुणोंमें जो प्रीति है और इनके साथ जो सम्बन्ध है, उसीके अनुसार मरनेपर उसे अच्छी-बुरी योनि मिलती है । जिसकी सत्त्वगुणमें प्रीति होती है, वह ऊपरके लोकोंमें जाता है; जिसकी रजोगुणमें प्रीति है, वह मनुष्यादि योनिको प्राप्त होता है, एवं तमोगुणमें पुरुष नीचेके लोकोंमें—नरकोंमें अथवा कीट-पतंगदि तिर्यक् योनियोंमें जन्म लेता है । 'सत्' ऊपरकी योनियोंको कहते हैं और 'असत्' नीचेकी योनियोंको । मनुष्य योनिसे जितनी भी नीचेकी योनियाँ हैं, वे सब 'असत्' हैं, तथा मनुष्यसे ऊपरकी जितनी योनियाँ हैं, वे सब 'सत्' हैं । इसलिये जो मनुष्य केवल शुद्ध सत्त्वगुणमें रहता है, वह अर्चि-मार्गसे ऊपरको जाकर सत्त्वलोक परमात्माको प्राप्त हो जाता है; किन्तु जिसमें रजोगुणका मिश्रण रहता है, वह धूममार्गसे देवलोकमें जाकर देवताओंके भोगोंको भोगकर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होता है । अर्थात् ऊपर जानेवाला यदि 'सत्त्वामी' होता है तो वह पुनः इस लोकमें आता है; परंतु निष्कामीका पुनरागमन नहीं होता ।

यहाँतक यह निर्णय हुआ कि शुद्ध आत्मा भोक्ता नहीं है, प्रकृतिस्थ पुरुष (जीवात्मा) ही भोक्ता है ।

अब यह जाननेकी इच्छा हुई कि पुण्य-पापका कर्मोंका कर्त्ता कौन है । यदि कहें कि कर्त्ता प्रकृति है तो फिर भोक्ता भी प्रकृति ही होनी चाहिये; और यदि

संख्या ९]

कहें कि पुरुष कर्ता है तो कौन पुरुष कर्ता है और उसका वर्णन गीतामें कहाँ किया गया है। इसका उत्तर यह है कि कर्मोंके होनेमें गीता पाँच हेतु बतलाती है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्ध्ये सर्वकर्मणाम्॥
(१८।१३)

हे महाबाहो ! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके सिद्ध होनेमें यह पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतानेवाले 'सांख्यशास्त्र' में बहे गये हैं। उनको तू मुझसे भली प्रकारसे जान।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
(१८।१४)

हे अर्जुन ! इस विषयमें अधिष्ठान (आधार) और कर्ता तथा न्यारे-न्यारे करण और नाना प्रकारकी न्यारी-न्यारी चेष्टा एवं वैसे ही पाँचवाँ हेतु 'दैव' कहा जाता है।

यहाँ अधिष्ठान (आधार) तो शरीर है। कर्ता यह जीवात्मा है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इस प्रकार ये तेरह भिन्न-भिन्न द्वार (करण) हैं। नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ एवं पाँचवाँ हेतु 'दैव' है। पूर्वकृत सञ्चित शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारका नाम 'दैव' है। कोई दैवका अर्थ 'भगवान्' करते हैं तो कोई 'प्राण्य'। किंतु यह ठीक नहीं है। इस प्रकार सभी कर्मोंमें ये पाँच हेतु माने गये हैं। इन पाँच हेतुओंसे होनेवाले उपर्युक्त कर्मोंके दो भेद होते हैं—पुण्य और पाप। इसके सम्बन्धमें भगवान्ने कहा है—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
(१८।१५)

'मनुष्य' मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल या शास्त्रविपरीत जो कुछ कर्म प्रारम्भ करता है, उसमें ये पाँचों ही कारण हैं। इस प्रकार जो भी कर्म होते हैं, उनमें इन पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो कर्मोंके करनेमें 'शुद्ध आत्मा' को हेतु मान लेता है, यही उसका 'अज्ञान' है। यही मूर्खता है। आत्मा तो वास्तवमें अकर्ता है; भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वाच्च स पश्यति दुर्मतिः॥
(१८।१६)

इस प्रकार होनेपर भी जो पुरुष अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थमें नहीं समझता है।

वह वास्तवमें मूर्ख है, उसका समझना यथार्थ नहीं है, क्योंकि वास्तवमें शुद्ध आत्मा तो 'कर्ता' है ही नहीं; बुरे या अच्छे सभी कर्म उपर्युक्त पाँच हेतुओंसे ही बनते हैं। मतलब यह कि जितने भी कर्म बनते हैं, उनमें ये पाँच ही हेतु हैं। इन्हींसे सारी क्रियाएँ होती हैं।

इस प्रकार प्रकृति-पुरुषका स्वरूप समझ लेनेपर भगवान्की कृपासे अज्ञानका नाश हो जाता है और शुद्ध आत्मामें अकर्तृत्व और अमोक्षत्वका निश्चय होनेसे वह समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।



श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५८)

‘अहो ! अतिशय धन्य हैं ये ब्रजकी गायें और ये ब्रजपुरवासिनी गोप-सुन्दरियाँ !’—पितामह अब गोकुलवासियोंके भाग्यका अभिनन्दन करने लगते हैं, वह व्यक्त हुई लालसा—भक्त बनकर जन्म पा लेनेकी उनकी अभिलाषा केन्द्रित हो जाती है ब्रजराजकुमारके अत्यन्त प्रिय पात्रोंकी ओर ही—‘ये सौभाग्यशालिनी गौएँ, गोपाङ्गनाएँ परम कृतार्थ हो चुकीं प्रभो ! देखो, क्या ही आश्चर्य है नाथ ! अनादिकालसे अबतक बड़े विधि-विधानसे सम्पादित हुए समस्त यज्ञसमूह तुम्हें तृप्त कर देनेमें समर्थ न हो सके; स्वर्गके देवगण अमृतका नैवेद्य समाप्तकर, वेद-मर्मज्ञ, कुशल कर्मकाण्डी द्विजवृन्द सम्पूर्ण विविध विधियोंसे यज्ञका उपहार निवेदित कर तुम्हें तृप्ति प्रदान न कर सके; तुम सर्वथा परिपूर्णको, नित्य तृप्तको उन-उन अर्पित द्रव्योंसे तृप्त होते न देख सके। परंतु आज वही तुमने, नित्य पूर्णस्वरूप होनेपर भी, गोवत्स एवं गोपबालक-रूपसे इन गायोंका, गोपिकाओंका स्तन-पान किया है, अतिशय हर्ष एवं उमंगमें भरकर—इनके स्तनक्षरित दुग्ध-मृतका स्वयं अपने श्रीमुखसे चूस-चूसकर स्वाद लिया है, वात्सल्य-प्रेमपरिपाकरूप इस अप्राकृत-सुधासे अपनी उदरपूर्ति की है। सबके देखते हुए ही यह आश्चर्य घटित हुआ है। गायोंका, गोप-रमणियोंका स्तन-दुग्ध—स्थूल दृष्टिसे देखनेपर अन्न-पान आदिसे उद्धूत देह-विकारमात्र वस्तु, स्वयं निर्विकार नित्यतृप्तको पीते, ग्रहण करते सबने प्रत्यक्ष देखा है ! उन गौओं एवं ब्रजरमणियोंके जीवनधारणकी सफलता—कृतार्थताकी पराकाष्ठा ही तो यह है भगवन् !’—

अहोऽतिधन्या ब्रजगोरमण्यः

स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।

यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना

यत्तप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः ॥

(श्रीमदा. १०. ३४)

हो प्रभु धन्य धन्य ये गोपी, धनि ये धेनु परम रस ओषो बालक हैं, बछ हैं प्रभु जिनके, पीवत भये पयोधर तिनके। बहुरथौ तनक स्तन-पय पाइ, बार बार तुम रहत अषाढ़ कब के जग्य-भाग हो खात, तहँ तुम तनकौ नहिंन अषाढ़

‘केवल गायोंका एवं गोपरमणियोंका ही नहीं नन्दब्रजके अधिवासीमात्रका भाग्य अनिर्वचनीय है नाथ !’—पद्मयोनि उसी भावनामें झूबकर कहते चले जा रहे हैं—‘गोपराज नन्दके ब्रजमें स्थान पाये हुए जीवमात्रों तुमने अपने जिस कृपाप्रसादका दान किया है, उसकी अन्यत्र कहीं भी तुलना सम्भव नहीं है स्वामिन् ! इससे पूर्व ऐसा निरुपाधि प्रेमदान कहाँ किसे प्राप्त हुआ है प्रभो ! अवाङ्मनसगोचर परमानन्दस्वरूप, सनातन परिपूर्ण ब्रह्म तुम स्वयं इनके—ओह ! ब्रजके पशु-पक्षी, गुल्म-लता-वृक्षरियोंतकके परम सुहृद्स्वरूपमें प्रत्यक्ष अवस्थित रहकर इन्हें अपने साथ लेकर अनन्त पारावार-विहीन प्रेमसिन्धुमें संतरण कर रहे हो—यह अप्रति सौभाग्य इससे पूर्व कहाँ, किनका हुआ है देव ! सच्चिदानन्द परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेके लिये अनेकोंको दौड़ते हुए देख लेना सम्भव है; पर उस परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको ही गोपशिशुओंके, गोवत्सोंके पीछे, उन्हें ढूँढ़नेके लिये दौड़ते हुए दर्शन कर लेना यहाँ इस नन्दब्रजके अतिरिक्त और कहीं भी सम्भव नहीं है स्वामिन् ! कितना अनुराग है तुम्हारा इन गोपबालकोंके प्रति, गोवत्सोंके प्रति भगवन् ! अभी-अभी तुम परमानन्द-स्वरूप होकर भी कितनी आतुरतासे इन्हें वनप्रान्तमें दौड़-दौड़कर ढूँढ़ रहे थे नाथ ! और तुम्हारी वह दैनन्दिनी दिनचर्या—जब अल्पवयस्क गोवत्स हुतगति-से चलनेमें श्रान्त-से दीखने लगते हैं, उस समय दौड़कर उन्हें अपनी नन्ही-सी गोदमें धारण कर लेनेका तुम्हारा उद्देश्य क्या है ? प्रभो ! तुम्हारा ऐसा दान यहाँ

संख्या ९
अतिरिक्त
ब्रजल गोप
पुष्पवृक्षको
जोते हो !
देना हर ले
नी स्नेहदान
और कहाँ
हजार न
सौभाग्य है
वृद्ध-भृङ्ग-
सनातन, प
अहो भ
रमित्रं
ब्रजजन
तम्रुके अ
ओ तुम निर
X
अहो भाग्य
ब्रह्म स
मित्रस्व
यह क
सौभाग्यका
होने लाते
अन्तःसालमें
ज्ञानके आल
कि ब्रजरा
उन्हींकी भ
ने, नासि
प्राणियोंके
उनके वे
सच्चिदानन्द
मग्न हैं ।

(श्रीमदा. १०. ३४)

संख्या ९]

अतिरिक्त कहाँ उपलब्ध है देव ! इसे भी जाने दो, ब्रह्म गोपशिशुओंके द्वारा पुष्पचयनके समय किसी पुष्पवृक्षको खण्डित हुए देखकर तुम कितने व्यथित हो जाते हो ! उस समय अपने कोमल-करस्पर्शसे वृक्षकी रूखा हलनेकी तुम्हारी चेष्टा, वृक्ष-गुल्म-लताओंके प्रति स्नेहदानका यह अद्भुत निदर्शन इस व्रजके सिवा और कहाँ सम्भव है विभो ! वस, धन्य हैं व्रजराज हाराज नन्द ! धन्य हैं गोप ! धन्य हैं व्रजके अधिवासी ! अहोभाग्य है व्रजवासी मात्रका—यहाँके पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग-भृङ्ग-तरु-लता-गुल्म प्रभृति तत्त्वका, जिनके पूर्णब्रह्म, सनातन, परमानन्दस्वरूप तुम स्वयं मित्र हो ।’—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यस्मिन् परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३२)

व्रजजनकी भाग बढ़ाई । हो प्रभु, मो पै नहिं कहि जाई ॥
व प्रभुके आनन्द कौ लेस । वर्तत अज, सिव, सेस, महेस ॥
ओ तुम निरवधि परमानन्द । जिनके मित्र परम सुख-कंद ॥

X X X X

अहो भाग्य सुनंद गोपन दान कह पूरव दियो ॥
ब्रह्म सनातन कृष्ण प्रभु, पूरन परमानन्द ।
मित्ररूप भए जासु के, अहो भाग्य सुख-कंद ॥

यह कहते-कहते, व्रजपुरवासियोंके इस असमोर्ध्व सौभाग्यका कीर्तन करते-करते चतुर्मुख उन्हींमें तन्मय-से होने लगते हैं । प्रेमकी एक विचित्र लहर उठती है अनासलमें, और वह छा लेती है उनके निर्भ्रान्त वेद-ज्ञानके आलोकको । वेदगर्म भूल जाते हैं इस सिद्धान्तको कि व्रजराजकुमारके लीलापार्षद ये व्रजवासीजन भी उन्हींकी भाँति सच्चिदानन्द-विग्रह हैं । इनके शरीर, नेत्र, नासिका आदि इन्द्रियाँ, मन-प्राण प्राकृत जगत्के प्राणियोंके जैसे नहीं, पृथक्-पृथक् वस्तु नहीं, अपितु उनके वे सब कुल—इन्द्रिय आदि समस्त पदार्थ सच्चिदानन्दमय उनके स्वरूपके ही पृथक्-पृथक् सन्निवेश-मय हैं । प्राकृत इन्द्रियोंसे तो केवल जड़ वस्तुकी ही

ग्रहण सम्भव है, सच्चिदानन्दमय वस्तुका ज्ञान सम्भव नहीं । किंतु यहाँ ये व्रजवासी तो सदा-सर्वदा अपनी समस्त इन्द्रियोंके द्वारा सर्वान्तरात्मा, सच्चिदानन्दधन परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान्को ही ग्रहण कर रहे हैं । इनकी सच्चिदानन्दमयी इन्द्रियोंका नियन्त्रण—प्राकृत इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवतागण कर सकें, यह तो सर्वथा असम्भव है । इन चिदानन्दमय पार्षदोंकी इन्द्रियोंको आवश्यकता नहीं है इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवोंकी शक्तिकी, ये तो स्वशक्तिसे ही भगवद्रूप-रस आदिको ग्रहण करती हैं । किंतु पितामहको प्रेमके आवेशमें इस सत्यकी विस्मृति-सी हो जाती है । वे अनुभव-से करने लगते हैं कि ‘हम इस प्राकृत जगत्के देवगण—एकादश इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता भी कृतार्थ हो रहे हैं इन व्रजवासीजनोंकी इन्द्रियोंकी ओटसे ।’ और यह भी सम्भव है, उपर्युक्त सत्यकी छाया स्मृतिपथमें वर्तमान रहनेपर भी प्रेमपरवश हुए पितामहके आकुल प्राण अभिलाषाकी लहरोंपर—व्रजपुरवासियोंसे सम्बद्ध हो जानेकी लालसाके प्रबल प्रवाहपर बहते जा रहे हैं । उन प्राणोंमें स्पन्दन हो रहा है—‘इस चिन्मय व्रजपुरसमाजसे हम प्राकृत इन्द्रियके अधिष्ठात्री देवताओंका साक्षात् सम्बन्ध तो होनेसे रहा । किंतु इनके भी इन्द्रियवर्ग देखनेमें तो यहाँ-जैसे ही हैं; आकृति, बाह्यसंस्थान, संचरणप्रक्रियामें तो साम्य है ही; नयन, नासा आदि नामोंकी समता तो है ही । वस, वस, इतना ही हमारे लिये पर्याप्त है; किसी भी प्रकारसे सादृश्य-लेशगन्धकी भावना करके गौरवान्वित होनेका आधार तो प्राप्त हो गया ।’ इस प्रकार पितामह इस आवेशमें ही कहने लग जाते हैं—‘हे अच्युत ! इन व्रजपुरवासियोंके अनिर्वचनीय परम सौभाग्यकी बात तो अलग रही—मन, बुद्धि, अहंकार, कर्ण, त्वक्, चक्षु, रसना, नासिका, वाक्, हस्त, पद—इन एकादश इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवतास्वरूप महादेव*, मैं (ब्रह्मा),

चन्द्र, दिक्, वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनी, वहि, इन्द्र, उपेन्द्र—हम एकादश व्यक्ति भी धन्य हैं; अतिशय भाग्यशाली हैं हम सब भी नाथ ! देखो, इन ब्रजपुर-वासियोंकी इन्द्रियोंको हम सबने पानपात्र (प्याला) बनाया है । इन पात्रोंमें तुम्हारे चरणसरोजका मधुर मकरन्दरस नित्य पूरित होता रहता है । यह रस-सुधासे भी अतिशय सुमधुर एवं आसवसे भी अत्यधिक मादक है—इसे पी लेनेके अनन्तर अन्यत्र कहीं रसानुभूति नहीं होती, अन्य सब कुछकी सर्वथा विस्मृति हो जाती है । ऐसा मधुमय एवं उन्मादी रस है यह ! और उसे ही हम सब पान करते रहते हैं प्रभो ! इन ब्रज-वासियोंका मन तुम्हारे साथ अपने यथायोग्य सम्बन्धका मनन करता है । इनकी बुद्धि तुम्हारी सेवाके लिये तुम्हारे साथ विविध क्रीड़ा कर तुम्हें सुख पहुँचानेके लिये अध्यवसाय करती है । इनका अहङ्कार तुम्हारे रुचिकर कार्योंके संकल्पमें ही संलग्न रहता है । इनके कर्णपुटोंमें तुम्हारी मधुस्यन्दिनी वाणी एवं वंशीरव ही पूरित रहता है । इनकी त्वचामें यथायोग्य भाव एवं अधिकारके अनुरूप तुम्हारे श्रीअङ्गोंका स्पर्श ही समाया रहता है । इनके दृग तुम्हारे अनिन्द्य सुन्दर रूपमें ही उलझे रहते हैं । इनकी रसना तुम्हारे अधरामृतसे सिक्त प्रसादका ही रस लेती है । इनके नासारन्ध्रोंमें तुम्हारे श्रीअङ्गोंका सौरभ ही परिग्राह्य रहता है । इनकी वागिन्द्रिय व्यस्त रहती है तुमसे प्रेमालाप करनेमें ही, तुम्हारे अनन्त गुणोंका मधुर गान करनेमें ही ।

चन्द्रमा मनके । इन तीनोंके अतिरिक्त शेषको उपर्युक्त क्रमसे समझना चाहिये । महादेवजीका नाम पितामहने सर्वप्रथम इसलिये लिया है कि अभी भी उनके मनमें अपने किये हुए अपराधका पर्याप्त संकोच वर्तमान है । साथ ही 'भक्तचूडामणि महादेवका नाम ब्रजराजकुमारको उल्लसित कर देगा, द्रवित हो उठेंगे प्रभु और मुक्त अपराधीके नामका प्रथम उल्लेख शोभाजनक भी नहीं'—यह भावना भी काम कर रही है ।

इनके हस्त आहरण करते हैं एकमात्र तुम्हारे सेवोपयोगी वस्तुओंका ही । इनके पदयुगलोंमें रहती है केवल तुम्हारी ओर जानेके लिये अथवा उस दिशामें दौड़ते रहनेके लिये, जहाँ जितर तुम्हारी सेवा सम्भव हो सके ।—इस प्रकार ब्रजजननोंकी ये एकादश इन्द्रियाँ तुमसे जुड़ी रहनेके लिये सतत पूर्ण रहती हैं तुम्हारे असमोर्ध्व माधुर्यके आश्रय ही । और इसीलिये नाथ ! इन इन्द्रियोंके अतिरिक्त देवगण हम सब भी—साक्षात् सम्बन्धसे न रहकर सम्बन्ध-गन्धलेशाभासकी भावना करके ही—इस चित्र सुधारसका बार-बार पान कर रहे हैं । अहा ! जब तक एक इन्द्रियसे पान करके हम देवगण धन्य-मन्य रहे हैं, तब समस्त इन्द्रियोंसे ही इस अप्राकृत पान-रसका सतत सेवन करनेवाले ब्रजवासियोंकी स्थिति चित्रण कौन कर सकेगा स्वामिन् !—

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-

मेकादशैव हि वयं वत भूरिभागाः ।

एतद्धृषीकचपकैरसकृत् पिवामः

शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ।

(श्रीमद्भा० १० । १४ । १५)

इनकी भाग महिम तौ रहौ । हमरे भूरि भाग तन कहौ । जद्यपि इनकी इंद्री जित्ती । हम करि नाहिंन कीनीति । तदपि तनक अभिमान के साथ । हम सब कृत्य कृत्य भये नाथ । नेत्रादिक इन्द्रियगन जिते । हमरे पान पात्र प्रभु तिते । तुम्हरे सुंदर सुंदर अंग । छिन छिन उठते जु अमृत तरंग । तिन करि पुनि पुनि पियत जथारथा सूर्जादिक सब भये इतारथा । बहुरथो इक इक इन्द्रिय केरे । धन्य भये हम-से बहुतरे । जिनकी सब इन्द्रिय रस पगी । सब ही बिधि ते तुम ही लगी । तिन के भागकी महिमा जौन । हो प्रभु ताहि कहि सकै कहौ ।

×

×

×

तासु भाग्यकी बात, को बरनै केहि बुद्धि अलि । धन्य भाग्य सुर तात, जे इंद्री पति जगत के ॥

मन अरु बुद्धि चित्तसङ्कारा । चच्छु आदि ते रह निरागा । सोइ भाजन करि कहिं जु पाना । तव पद कंज अमृत रस जगा । छक रहत तीह आसव सोऊ । अहो भाग्य कहि सकै न कहौ ।

संख्या ९]

एक एक के अधिपति मानी । सौरभादि सेवहि हिय आनी ॥
वदपि कृतार्थ हम भए सबही । एक देस चख आदिक तबही ॥
मकल इंदियन करि निज सेवा । तासु भाग्य किमि बरनों देवा ॥
अहो भाग्य यातें ब्रजवासी । जिनके गृह विचरत अबिनासी ॥

अतएव हे भगवन् ! मेरे प्राण अत्यन्त आकुल
हैं इस वृन्दाकाननमें, गोकुलमें—गोगोपगोपीजनकी,
इनके सेवकवर्गकी निवासस्थलीमें कहीं स्थान पा लेनेके
लिये ।—चतुर्मुखकी आन्तरिक लालसा और भी
मिदर, निर्मल, निर्मलतर रूपमें, भक्तोचित आदर्श
देवके सौरभसे सुरभित होकर व्यक्त होने लगती
है—ओह ! अब मैं समझ पा रहा हूँ प्रभो ! मेरी
इह पूर्वकी प्रार्थना मेरी धृष्टतामात्र थी । तुम्हारे साक्षात्
चरणसेवनका अधिकार पा लेनेयोग्य मैं नहीं हूँ नाथ !
परि भी प्राणोंकी अभिलाषा मिटती जो नहीं स्वामिन् !
अभिप्रातृत्वकी भावनासे अपनेको धन्य-धन्य अनुभव
करनेपर भी वे प्राण पुनः मचल उठे हैं तुम्हारे इन
कृपादर्पके आवाससे ही सन्नद्ध हो जानेके लिये ।
तुम्हारीसे यह सम्भव नहीं, साथ ही तुम्हारी साक्षात्
आपके अनुरूप पार्षदशरीर पा लेनेकी योग्यता नहीं ।
परि भी तुम तो करुणावरुणालय हो देव ! वस, इतनी-
सी कृपा कर दो दयामय ! सेवकका अधिकार न सही,
तुम्हारे इन ब्रजवासीजनोंमेंसे जिस किसीकी भी चरण-
धूलिकापासे अपने आपको अभिषिक्त हुए देख लेनेका
ही परम सौभाग्य मेरा हो जाय । ब्रह्मजन्मकी अपेक्षा
कोटि-कोटि गुणित अधिक सौभाग्यसम्पदा यह है
मित्रो ! वस, इस गोपावासमें जहाँ कहीं भी इसी
सौभाग्यसे भूषित होनेयोग्य स्थान मुझे मिल जाय—
कोटि, पतङ्ग, तृण, गुल्म आदि कुछ भी बनकर यहाँ
मेरा जन्म हो जाय और मुझपर ब्रजपुरवासियोंकी चरण-
रज पड़ती रहे, मेरे समस्त अङ्ग सदा सिक्त होते
रहें उनकी पावन पद-धूलिसे ही । अहा ! अनादिकालसे
अनंतक श्रुतियाँ भी जिनकी पदरजका अन्वेषण ही कर

रही हैं, वे स्वयं भगवान् मुकुन्द श्रीनन्दनन्दन तुम
जिन ब्रजवासियोंके जीवनस्वरूप सारसर्वस्व हों, उन
ब्रजजनकी चरणरजको प्राप्त कर लेनेपर मुझे तुम्हारे
चरणसरोरुहकी रज तो मिल ही चुकी भगवन् !

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां

यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।

यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-

स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३४)

तातैं यह माँगत प्रभु पहियाँ । कै ब्रज कै वृन्दावन महियाँ ॥
औषधि, बीरुध, तृण, द्रुम, वेली । जहँ इन ब्रजवासिन की केली ॥
तहँ कौ मोहिं कछु अस करौ । इन की पद-रज मो पै परौ ॥
जा प्रभु की पद-पंकज धूरि । हँदत निगम सु अजहँ दूरि ॥
सो तुम जिन के जीवननाथ । जैसैं दीन मीन के पाथ ॥
इन के भक्ति लहलहत ऐसी । देखी सुनी न कितहँ तैसी ॥

X X X

भूरि भाग्य में तब जगदीसा । मागौं यह तव पद धरि सीसा ॥
पावौं जन्म अवनि मँहँ जाई । वृन्दावन गोकुल सुखदाई ॥
जहाँ जीव सब रहहि सुतंतर । तहँ तव पद रज लहौं निरंतर ॥

तव पद चरन सरोज रज, जुग जुग श्रुति जेहि खोज ।
सो वृन्दावन भूमि सब, अंकित चरन सरोज ॥
यातैं ब्रज मँहँ नाथ, जन्म लहौं तृण द्रुम लता ।
लहि रज होउँ सनाथ, मिटे फेरि संभव मरन ॥
ब्रज मँहँ जीव जहाँ लगि कोई । चर अरु अचर मंद भल जोई ॥
तासु चरन-रज नित सिर धरऊँ । जन्म अनेक दोष परिहरऊँ ॥
जासु निखिल जीवित घनस्यामू । ताहि बिना नहि तेहि विश्रामू ॥
एहि तैं धन्य धन्य तर जानूँ । बाल भाव ईश्वर मँहँ मानूँ ॥

X X X

करहु मोहिं ब्रज-नेरु देहु वृन्दावन वासा ।
माँगौं यहै प्रसाद और मेरैं नहि आसा ॥
जोइ भावै सोइ करहु तुम, लता सिला द्रुम गेहु ।
गाल गाइ कौ भृत करौ, मानि सत्य, व्रत एहु ॥
जो दरसन नर नाग अमर सुरपतिहुं न पायौ ।
खोजत जुग गए बीति अंत मोहूँ न लखायौ ॥
इहि ब्रज यह रस नित्य है मैं अब समुझ्यौ आइ ।
वृन्दावन रज है रहौं ब्रह्मलोक न सुहाइ ॥

‘देव ! पता नहीं मेरा यह सौभाग्य होगा या नहीं, ब्रजपुरवासियोंकी चरणरजसे अभिषिक्त होनेका सुदुर्लभ दान तुम मुझ अनधिकारी, अपराधीको दे सकोगे या नहीं’—पितामहकी दीनताभरी दृष्टि स्थिर हो जाती है ब्रजराजकुमारके मुखचन्द्रपर एक प्रश्नका उत्तर पा लेनेके लिये, नहीं-नहीं, ब्रजपुरवासियोंके अपरिसीम सौभाग्यका एक अभिनव चित्रपट सामने रखकर अपने आराध्यको परम उल्लाससे पूरित कर देनेके लिये । वे कहने लगते हैं—‘किंतु प्रभो ! यह तो बता दो कि अपने इन ब्रजजनोंको इनकी सेवाके प्रतिदानमें तुम दोगे क्या ? मेरी बुद्धि कुण्ठित हो रही है, मोहित हुई जा रही है इसका निर्णय कर लेनेमें नाथ ! तुम सर्वभवन-समर्थ हो, सब कुछ करनेकी, देनेकी तुम्हारी सामर्थ्य है, यह नितान्त सत्य है । पर साथ ही तुम्हीं तो सम्पूर्ण फलोंके फलस्वरूप हो, तुमसे उत्कृष्ट कोई फल है जो नहीं भगवन् ! फिर तुम इन्हें—अपने ब्रजवासी सेवकोंको इनकी सेवाका क्या फल दोगे ? तुम्हारी अनन्त शक्तिमत्ताको स्वीकार करनेपर भी बुद्धि निश्चय नहीं कर पा रही है कि इन्हें, इनकी सेवाके अनुरूप कौन-सी वस्तु तुम प्रदान करोगे । सब कुछके उत्कृष्टतम फलस्वरूप अपने आपको ही देकर भी तुम इनसे उच्छ्रय जो नहीं हो सकते स्वामिन् ! इन्हें तो, तुमसे भी उत्कृष्ट कदाचित् कोई वस्तु होती, वह दी जाती, तब न्याय होता; इनकी सेवाका, इनके प्रेमका सच्चा—समुचित प्रतिदान होता; तुम उच्छ्रय हो पाते । क्योंकि यह स्पष्ट है कृपालो ! तुम्हारे स्वरूपको—तुम्हें तो उस बालघातिनी यातुधानी पूतनाने भी केवल वात्सल्य-प्रेममयी ब्रजपुरन्ध्रियोंके वेशका अनुकरणमात्र करके पा लिया, तुम्हारी धात्रीके अनुरूप गति पाकर कृतार्थ हो गयी वह; इतना ही नहीं, अपने समस्त कुलके लिये वह तरणतारण बन गयी ! फिर जिन्होंने अपने गृह, धन, सुहृद्, समस्त प्रीत्यास्पद वस्तु, शरीर,

पुत्र, प्राण, अन्तःकरण—अपने सर्वस्व तुम्हारे लिये तुमपर ही न्योछावर कर रखे हैं, सम्पूर्ण समर्पण करके तुम्हारे लिये ही तुम्हारी ऐकान्तिक आराधनामें हो गये संलग्न हैं, उन अपने ब्रजजनोंको भी वही फल—उत्कृष्ट पुरस्कार जो पूतनाको दिया, वह—देकर कैसे उच्छ्रय हो सकोगे स्वामिन् ? मेरा चित्त विमोहित होता जा रहा है इसका समाधान पा लेनेके प्रयासमें । योगी, योगी, न्यासी, ध्यानी, ज्ञानी, कर्मी, तपस्वी भक्तजनोंके प्राप्त होनेवाले फलोंपर—भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि आदि फलोंसे आरम्भ कर तुम्हारे चरणसेवनका अधिकार-प्राप्त सबपर विचार कर लेनेपर भी निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ नाथ ! तुम्हीं बता दो—अपने इन ब्रजके भक्त-पुजारियोंको इनके प्रेमके अनुरूप प्रतिदानमें तुम क्या दोगे देव !’—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रतेति न श्रेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्यन्यमुच्यते । सद्देवादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता यद्भामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्वत्कृते ।

(श्रीमद्भा० १० । १४ । १५)

मोहि तौ सोच परचौ है महा । हो प्रभु इन कौं दैहौ कहा । बड़ी बड़ाई मुक्ति तुम्हारे । जाकों चारचौ वेद पुकारे । इनके बेष मात्र पूतना । महा पापिनी जगत धूतना । बहुरचौ प्रभुकों मारन कारन । आई थन लगाइ गर दारन । सो वह बकी सकल कुल लै कै । बैठी जाइ तनक विष दै कै । जिनके देह गेह धन धाम । लागे सकल राखे बराम । दैहौ कहा महा अरझैरौ । मोहौ जात इहाँ मन मोहौ । हौं जानौं नित रिनी रहौंगे । टक टक इनके बदन चहौंगे ।

×

×

घोष निवासी जन हैं जेते । पुन्य पुंज जानिय सब तेते । ऋणीवान इव जा घर बसहू । ताहि देत सुख सब बिधि सबहू ।

अहो सकल फल रूपमें, मोतें अधिक न कोइ । देउं कहा इनकों जु मैं, यह बिचार चित जोइ ॥

करि बिचार मन माँहि, तुम ते अधिक न जब लहौ । एहि तें दीनी नाँहि, मोह पाइ मन जुप रहे ॥

एहि तें दीनी नाँहि, मोह पाइ मन जुप रहे ॥ पूतना आदि ।

जननी इव सुभ बेष बनाई । कपटी कूर पूतना आदि ।

[संख्या ९]

जननी-गति दीन्ही प्रभु बाही । उरिनी कैसे तुम इन पाँही ॥
सकुल बकादि दियो निज धामा । अति उदार है पूरन कामा ॥
बोप निवासी जे जटुनंदा । तिनके बहु गुन आनंदकंदा ॥
जिनके सुहृद तनय प्रिय प्राना । तन-धन-धाम तुमहि एक जाना ॥
तुम तें अपर अर्थ नहिं जिनहीं । एहि तें ऋणीवान इव तिनहीं ॥

इसी समय स्रष्टाको यह प्रतीत होता है, मानो
ब्रजराजकुमार संकेत-सा कर रहे हों—'ब्रह्मन् ! भूल तो
नहीं रहे हो ? अरे, ये ब्रजपुरवासी रागी हैं, गृहका निर्माण
कर जीवनयापन करनेवाले हैं, मोह भरा है इनके मनोमें ।
भल, इनकी ऐसी—इतनी महिमाका गान कर रहे
हो !' किंतु अब पितामह भ्रान्तिकी सीमासे पार जा
पहुँचे हैं, वहाँ उस स्तरमें अवस्थित हैं, जहाँ ब्रजराज-
कुमारके चरणनखचन्द्रसे झरते हुए पीयूषसे सनकर राग
अनन्त दैवी सम्पदाओंका निर्झर बन जाता है; जहाँ
गृहका निर्माण ही होता है उसके प्राङ्गणको श्रीकृष्ण-
चरणनूपुरसे सतत झङ्कृत देखनेके लिये; जहाँ मोह
इतना सान्द्र (गाढ़ा) हुआ रहता है कि उसमें लिपटे
हुए मन-प्राण श्रीकृष्णपादपद्मोंसे ही अनन्तकालतक
सेते रहते हैं । इस परमानन्दमयी अनिर्वचनीय स्थिति-
को पितामह प्रत्यक्ष देख रहे हैं । वे भूल सकें, यह
सम्भव जो नहीं रहा है । इसीलिये वे कह उठते हैं—
'मुझमें क्षमता नहीं है नाथ ! कि मैं प्रेमपरिणतिके
अगाध महासिन्धुमें अवगाहन कर सकूँ; अवगाहन दूर,
ब्रजमें उमड़े हुए इस रस-सिन्धुके एक कणका भी स्पर्श
पा ले सकूँ; यह योग्यता, यह अधिकार भी नहीं ।
इन ब्रजपुरवासियोंके रागका, इनके घर बसानेका,
मोहका—इनकी प्रेमविकृति एवं तज्जन्य प्रवृत्तिका
विलक्षण कर सकूँ, नहीं-नहीं हृदयङ्गम करके कृतार्थ
हो सकूँ, यह सौभाग्य मेरा नहीं है स्वामिन् ! मैं तो
इतना ही निवेदन कर सकता हूँ कि इस प्रपञ्च-जगत्-
में भी ये राग आदि तभीतक रहते हैं प्रभो ! ये
वटमार तभीतक प्राणियोंके स्वरूपभूत आनन्दका,

ज्ञानका अपहरण करते रहते हैं, जबतक वे प्राणी
तुम्हारा आश्रय ग्रहण नहीं कर लेते, तुम्हारे ही नहीं
बन जाते । गृह तभीतक बन्धनागार बना रहता है,
मोह पादबन्धनके लिये शृङ्खला (वेड़ी) रूप हुआ
होता है, जबतक ये जीव तुमपर न्यौछावर नहीं हो
जाते, तुम्हें ही अपना सर्वस्व नहीं बना लेते । तुम्हारा
आश्रय ले लेनेके अनन्तर जीवके इस रागकी, उसकी
विषयप्रीतिकी दिशा ही बदल जाती है भगवन् ! इसका
प्रवाह जगत्से मुड़कर तुम्हारे पादपद्मोंकी ओर हो जाता
है । फिर हर्ष-शोक-विषाद आदिके स्रोत भी वह चलते
हैं तुम्हारी ओर ही । उस बड़भागी प्राणीके गृहका—
विषयमात्रका रूप ही सर्वथा परिवर्तित हो जाता है ।
पद-पदपर अनुतापसे भर देनेवाले वे विषय—जिनके
सम्पर्कमें आकर मन-प्राण झुलस उठते थे—अब प्रतिक्षण
आनन्द-मन्दाकिनीका सृजन करते रहते हैं, विषयोंका वह
कारागार आनन्दभवनमें परिणत हो जाता है । उसका
मोह—अवित्रेक भी विचित्र रूपान्तरित हो जाता है,
उसे—उस प्राणीको तुम्हारे चरणसरोरुहके चिरबन्धन-
में बाँधकर, इन पादपद्मोंके अतिरिक्त कोई सत्ता है, हो
सकती है—इस मिथ्या सारहीन स्मृतिका द्वार ही वह
सदाके लिये आवृत कर देता है । और इस प्रकार वह
जीव अनादि संसृतिसे त्राण पा लेता है तुम्हें पाकर
प्रभो ! इतना ही नहीं, तुम्हारे चिन्मय, आनन्दमय,
अनन्त पारावारविहीन लीलारससिन्धुमें वह सदाके लिये
समा जाता है स्वामिन् ! श्रीकृष्णचन्द्र !

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।

तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३६)

हे सुंदर वर नंदकिसोर । रागादिक तबई लगी चोर ॥
तबई लगी बंधन आगार । देह, गेह अरु नेह बिथार ॥
तबई लगी दिङ्ग जंजर जेरी । मोह-लोह की पाइनि बेरी ॥

तब लौं मननि बासना छये । जब लगि तुम्हरे नाहिंन भये ॥

X X X

सुनहु नाथ मम बचन बिनीता । तब लगि नर कहँ सब बिपरीता ॥

जब लगि तब पद चित नहिं जोरा । रागादेक लटहि बहु जोरा ।

तब लगि गृह कारागृह जानू । मोह-निगड़ तब लगि पद मानू ।

जब तैं तब पद भक्ति न होई । तब तैं जगदुख मिटै न कोई ।

समता क्या है ?

(लेखक—श्रीस्वामीजी महाराज)

इस विषयमें श्रीभगवान् श्रीमुखसे ऐसा कहते हैं—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

(गीता १३ । २७)

‘जो पुरुष नाशवान् सम्पूर्ण भूतोंमें अविनाशी परमेश्वरको समान भावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखनेवाला है । अर्थात् ऐसा जानना चाहिये कि जो पुरुष उत्पत्ति-नाशरूप नाना तरङ्गोंमें अविनाशी जलको ही देखता है, जिसकी तरङ्गमें भिन्न दृष्टि लोप हो गयी है और जो अपनी तत्त्व-दृष्टिकी परिपक्वता करके तरङ्गोंको सदा जलरूपसे ही ग्रहण करता है, वही सच्चा देखनेवाला है ।’

इस समताका फल क्या होगा ? इस विषयमें भी श्रीभगवान् ऐसा कहते हैं—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परं गतिम् ॥

(गीता १३ । २८)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणिते स्थिताः ॥

(गीता ५ । १९)

‘जो पुरुष तरङ्गोंमें जलके समान सर्वत्र भरपूर ईश्वरको समरूपसे देखता हुआ अपने आत्माके द्वारा आत्माका हनन नहीं करता, इससे वह परम गतिको प्राप्त हो जाता है ।’ इस प्रसंगमें आत्माके द्वारा आत्माका हनन क्या है ? अजर-अमररूप अपने आत्माको देहादिके रूपमें (जलको तरङ्गरूपमें) ग्रहण करना कि ‘मैं देह-इन्द्रियरूप हूँ’……और

जन्म-मरणादि देहादिके विकारोंको अपने आत्मामें ग्रहण करना कि ‘मैं जन्मता और मरता हूँ’……इस अज्ञान-दृष्टिसे ही आत्माके द्वारा आत्माका हनन होता है, और एकमात्र इस सच्ची ज्ञान-दृष्टिसे ही ‘मैं और सम्पूर्ण संसार आत्मारूप ही हैं, आत्मामें कुछ भी विकार नहीं लगता है’……इस आत्महत्यासे छुटकारा सम्भव है, दूसरा कोई भी उपाय बन नहीं सकता ।

‘जिन पुरुषोंका मन सच्ची समतामें स्थित हो गया है, उनके द्वारा यहीं संसार जीत लिया गया है; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, उस ब्रह्ममें उन्होंने स्थिति प्राप्त कर ली है ।’

उपर्युक्त भगवद्बचनोंसे यह बात भलीभाँति समझ जा सकती है कि खरी समता ज्ञानगम्य ही है यह कर्मगम्य और व्यवहारगम्य हो नहीं सकती; क्योंकि समता ‘ब्रह्म’का स्वरूप है; और व्यवहार प्रकृति-राज्यका पदार्थ है, इसलिये ब्रह्म और प्रकृतिकी एकता कैसे बनायी जा सकती है ?

व्यवहारकी सिद्धि भेदमें ही हो सकती है, अर्थात् तो व्यवहारकी सिद्धि असम्भव ही है, इसलिये व्यवहार तो भेदको ही चाहता है । हाँ, यदि हम धर्मकी मर्यादाके अनुकूल भेदको अङ्गीकार करके व्यवहारमें बरतें तो वह भेद हमको सोपान-क्रमसे सच्ची समता तक पहुँचानेमें ठीक समर्थ हो सकता है । दृष्टान्त-स्थलपर जाना जा सकता है कि नदीके प्रवाहको यदि दोनों तटोंकी मर्यादामें रक्खा जाय तो वह प्रवाह समुद्रतक पहुँचकर और समुद्रमें मिलकर मर्यादाहीन

[संख्या ९]

हो सकता है, परंतु इसके विपरीत समुद्रतक पहुँचने से पहले ही नदीके तटोंको तोड़ दिया जाय तो वह प्रवाह समुद्रतक पहुँच ही नहीं पायेगा और बीचमें ही फैलकर सूख जायगा। इसी प्रकार जीव-नदीके प्रवाहको यदि धर्मके विधि-निषेधरूप दो तटोंकी मर्यादामें चाला जाय तो वह ब्रह्मरूपी समुद्रमें मिलकर सच्ची समताको प्राप्त हो सकता है और फिर स्वतः ही वह सम्पूर्ण मर्यादाओंसे भी मुक्त हो सकता है।

ईश्वरीय प्रकृतिके अनुकूल समताका सच्चा सिद्धान्त तो उपर्युक्त कथनके अनुसार ही है। इसके विपरीत जो हम प्रकृति-राज्यमें ही बँधे हुए रहकर प्राकृतिक नियमविरुद्ध और धार्मिक मर्यादा-विरुद्ध व्यवहारकी ही समता बनानेमें अपने पुरुषार्थका दुरुपयोग करने लगें तो हमको सच्ची सफलता प्राप्त होगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इतना ही नहीं, बल्कि इस प्रकारका आचरण प्राकृतिक नियमोंके विरुद्ध होनेसे हम विशेष विपत्तियोंके शिकार हो सकते हैं; क्योंकि प्रकृति अपने राज्यमें व्यवहारकी समताको सहन नहीं कर सकती। प्रकृति-राज्यमें तो लक्ष्यकी समता और व्यवहारकी विपत्ति रक्खनेपर ही वह प्राकृतिक नियमके अनुकूल होनेसे हमको सफलता मिल सकती है। दृष्टान्तके तौरपर समझ सकते हैं कि हमारे शरीरमें आँख, नाक, कान, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने भिन्न-भिन्न कार्योंमें ही लग रही हैं, जो सच्चा विपत्ति हैं; परंतु सभी इन्द्रियोंका लक्ष्य एकमात्र शारीरिक सुख और शरीर-संचालन होनेसे व्यवहारकी विपत्ति समतामें ही पहुँचती है। इसके विपरीत यदि सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विपत्तिरूप व्यवहारका त्याग करके आँखोंके साथ समता करने लग पड़ें तो यह समता भयङ्कर विपत्तिताको ही उत्पन्न करेगी, और शरीर-संचालनरूप लक्ष्यकी समता नष्ट हो जायगी।

व्यवहारकी समता तो हम अपने शरीरमें भी बना

नहीं सकते। प्रत्येक मनुष्यके मुँह और पैर तथा गुदाके व्यवहारकी तो विपत्ति रहनी निश्चित ही है। जब हम अपने शरीरमें ही व्यवहारकी समता नहीं बना सके, तब मनुष्यमात्रमें व्यवहारकी समता कैसे बनायी जा सकती है। इसलिये व्यवहारकी समताको ही जीवनका लक्ष्य बनाकर जीवनकी सफलता साध लेनेकी इच्छा तो प्रमाद ही है।

हमारे मतके अनुसार व्यवहारकी समता कभी यथार्थ समता नहीं मानी जा सकती। सच्ची बात तो यह है कि व्यवहारमें समता सम्भव ही नहीं है। फिर भी यदि समताके अभिमानी समताको व्यवहारके साथ ही सम्बद्ध मानते हों तो उपर्युक्त भगवद्‌वचनोंके अनुसार हमको तो मनुष्यके साथ ही नहीं परंतु 'समं सर्वेषु भूतेषु' अर्थात् जड-चेतनरूप सम्पूर्ण भूतोंके साथ समता धारण करनी चाहिये। इसलिये बतलाना चाहिये कि व्यवहारकी समता कुत्तों, गदहों, सिंहों, सर्पों, पृथिवी और पर्वतों आदिके साथ कैसे साधी जा सकेगी? यदि हम इन सबके साथ व्यवहारकी समता वर्तवमें नहीं ला सकेंगे तो हमारा सम्पूर्ण पुरुषार्थ निष्फल ही सिद्ध होगा। फिर तो भगवद्‌वचनोंके अनुसार नाशवान् सम्पूर्ण भूतोंमें न हम अविनाशी परमात्माको ही देखनेवाले हो सकेंगे, न आत्माके द्वारा आत्माके हननसे ही छूट सकेंगे और न यहाँ सच्ची समतामें मनकी स्थिति करके संसारके विजेता बन सकेंगे। परंतु कहना चाहिये कि जल्की सत्यता तरङ्गोंमें आरोप करके और ब्रह्मकी सत्यता भूतोंमें आरोप करके हम तो आत्माके द्वारा आत्माके हन्ता ही बने रहेंगे; क्योंकि भूतोंको सत्यस्वरूप मानकर ही हमने तो उनके साथ व्यवहारकी समता बनानेके लिये उनके पीछे दौड़-धूप लगायी थी। इस हत्यासे छुटकारा तो तभी सम्भव होगा जब कि हमारी दृष्टिसे तरङ्गोंके समान भूत-दृष्टि निकल गयी होती और जल्के समान सच्ची ब्रह्म-दृष्टि ही समा गयी होती।

इस बातके माननेमें तो कोई भी आपत्ति हो नहीं सकती कि यथार्थ समतामें पहुँचना ही गीताका एकमात्र लक्ष्य है और इसीलिये गीता अवतीर्ण हुई है। इसलिये यदि व्यवहारकी समताको ही यथार्थ समता माना जाय तो फिर गीताकार श्रीभगवान्‌के ये वचन भ्रममूलक ही होने चाहिये—

चातुर्वर्ण्यं भया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्वद्यकर्तारमव्ययम् ॥

(गीता ४ । १३)

‘ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों वर्ण गुण और कर्मके विभागसे मेरे द्वारा ही रचे गये हैं। मैं जो वस्तुतः अविनाशी और अकर्ता हूँ, उस मुझको ही उनका कर्ता भी जान ।’

जब कि प्रकृति स्वभावसे ही सत्त्व, रज और तम त्रिगुणमयी है और गुणोंके भेदसे कर्मोंका भेद भी निश्चित ही है, तब गुणों और कर्मोंके भेदसे चतुर्वर्णोंकी सृष्टि भी अनादि है ही। और जब गुण-कर्मोंके भेदसे चतुर्वर्णोंके भेद अनादि माननेके सिवा छुटकारा है ही नहीं, तब चतुर्वर्णोंके रखते हुए व्यवहारकी समता कैसे साधी जा सकती है ? प्रकृति-राज्यमें गुणोंका भेद, कर्मोंका भेद, वर्णोंका भेद और उनके साथ व्यवहारकी समता—यह सब एकत्रित हो नहीं सकते, किंतु ऐसा करना रात-दिनको इकट्ठा करने जानेके समान प्रमादपूर्ण ही कहा जायगा। इतना ही नहीं, गीताके उपसंहार अध्याय १८ श्लोक ४१—४४ में श्रीभगवान्‌ने प्रकृतिजन्य त्रिगुणोंके भेदसे ‘ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप’ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णोंका स्पष्टरूपसे विभाग करके उनके पृथक्-पृथक् कर्मोंका विभाग किया है और श्लोक ४५ में स्पष्टरूपसे बतलाया है कि

‘स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः’ अर्थात् ‘अपने-अपने वर्णानुसार कर्मोंमें जुड़ा हुआ मनुष्य संसिद्धिको प्राप्त होता है।’ इसके बाद श्लोक ४६—५४ तक जिस प्रकार वर्णानुसार कर्मोंमें जुड़ा हुआ मनुष्य भगवान्‌के पराभक्ति अर्थात् जीव-ब्रह्मकी एकतारूप ज्ञानको प्राप्त होता है, वह स्पष्टरूपसे कथन किया गया है। इसलिये मानना चाहिये कि जैसा ऊपर कहा गया है, जीव-नदीके प्रवाहको विधि-निषेधरूप धर्मके दो तटोंकी मर्यादा चलाते हुए ब्रह्मरूपी समुद्रमें अभेद करना, अर्थात् लक्ष्यकी समता और व्यवहारकी विषमता गीताका एकमात्र यही सच्चा सिद्धान्त है और यही यथार्थ समता गीताको मान्य है।

सारांश—ज्यों-ज्यों हम व्यवहारकी बनावटी और खोटी समताको अपने जीवनका लक्ष्य बनायेंगे, त्यों त्यों हम सच्ची समतासे दूर पड़ते चले जायेंगे। समताका पात्र होनेके बजाय हम विषमताके ही शिकार बनने लगेंगे और राग-द्वेषके ही पात्र सिद्ध होंगे। समताका फल राग-द्वेष नहीं हो सकता, बल्कि राग-द्वेषसे पल्ला छुड़ाना ही सच्चा फल है और वह तभी सिद्ध हो सकता है जब कि व्यावहारिक समतासे पल्ला छुड़ाया जाय। इस प्रकार न तो हम अपना कल्याण कर सकेंगे और न दूसरोंका ही। बल्कि धर्मविरुद्ध और अविकारविरुद्ध दूसरोंमें समताका खोटा अभिमान भरके हमारे लिये तो प्रकृतिराज्यमें दूसरोंको पथभ्रष्ट करनेका अपराधी बननेके सिवा छुटकारा ही नहीं है, क्योंकि प्रकृतिराज्यमें क्रियाकी प्रतिक्रिया निश्चित है।

अर्वाचीन भद्रपुरुष पक्षपातरहित दृष्टि धारण करने गम्भीरतापूर्वक इन पंक्तियोंको लक्ष्यमें रख सकें तो उनका धन्यवाद किया जायगा।

धर्म और भगवान्की नित्यता

(एक महात्माका प्रसाद)

धर्म वह प्राकृतिक विधान है, जिससे परस्पर एक-दूसरेके अधिकारोंकी रक्षा होती है। अपना अधिकार सभीको प्रिय है। इसमें किसीका भी मतभेद नहीं है। अतः प्रत्येक प्राणीको अपने लिये धर्मात्माकी ही आवश्यकता है। वह स्वयं भले धर्मका पालन न करे, किंतु अपने प्रति तो यही आशा प्रतीत है कि दूसरे लोग अपना धर्म समझकर मेरी रक्षा करें। कारण कि धर्मने हमें यही पाठ पढ़ाया है कि हम अपने कर्तव्यसे दूसरोंके अधिकारोंको सुरक्षित रखें। जितने धर्म हैं, उनका मूल कारण एकमात्र अपने अधिकारकी रक्षा है। अतः धर्माचरणद्वारा सभी प्रकारके संघर्षोंका अन्त हो सकता है और मानव-जीवनमें चिर-शान्ति स्थायी प्रसन्नताकी स्थापना सुगमतापूर्वक हो सकती है। हमें धर्म 'जीवन' है और जीवन 'धर्म' है। कोई धर्म न, सम्प्रदाय तथा दलको जन्म नहीं देता, प्रत्युत सभी धर्मों तथा मतोंकी रक्षा करते हुए अनेकतामें एकताका स्वरूप कराता है। इतना ही नहीं, हमारी स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्तिमें धर्म ही हेतु है।

हमारी आवश्यकता क्या है, इसपर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यही ज्ञात होता है कि हम मृत्युसे अमरत्व अर्थात् नित्य-जीवन, जिज्ञासासे तत्त्वज्ञान, दुःखसे आनन्द, जड़तासे चेतना और परतन्त्रतासे स्वतन्त्रताकी ओर अग्रसर होना चाहते हैं। अतः नित्य-जीवन, नित्य-ज्ञान, नित्य-रस एवं स्वतन्त्रता हमारी स्वाभाविक आवश्यकता है। आवश्यकताकी पूर्ति अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्तिसे ही सम्भव है। अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति तभी हो सकती जब हम किसीके ऋणी न रहें और हमारी प्रसन्नता किसी अन्यपर निर्भर न हो। हम किसीके ऋणी तभी नहीं रहें जब प्राप्त सुख-सामग्रीको दुखियोंकी सेवामें समर्पण न करें। जब प्राणी प्राप्तसुखका इस प्रकार सद्व्यय कर देता है, तब उसकी प्रसन्नता किसी औरपर निर्भर नहीं रहती, जो वास्तवमें धर्माचरणका फल है। धर्मात्मा दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करते हुए अपने अधिकारको भूल जाता है, किंतु अनिच्छा तथा परेच्छासे उसके अधिकार स्वतः सुरक्षित रहते हैं, पर उनकी उसे लेशमात्र भी लालसा नहीं

रहती। अधिकारकी दासता तभीतक जीवित है, जबतक प्राणीने धर्मके मर्मको नहीं जाना। 'अधिकार-लालसा' ही वास्तवमें दीनता है और 'कर्तव्यपरायणता' ही वास्तवमें 'महानता' है। धर्म प्राणीको दीनसे महान् बनाता है। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि धर्म ही जीवन है और जीवन ही धर्म है और इन दोनोंमें विभाजन करना भूल है।

अपनी स्थायी प्रसन्नता 'स्व'पर ही निर्भर है, किसी अन्यपर नहीं। 'स्व'का अर्थ है—जिसका त्याग न हो सके। जो सर्वदा सर्वत्र है, उसका त्याग नहीं हो सकता। जो सर्वदेशमें है, सर्वकालमें है, वह वर्तमानमें भी है। जो वर्तमानमें है, उससे निराश होना तथा अभिन्न होनेमें अपनेको परतन्त्र मानना और उसके लिये साधन करनेमें अपनेको असमर्थ मानना प्रमादके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। धर्म हमें इसी सच्चाईकी ओर ले जाता है, जिसके बिना हम किसी प्रकार नहीं रह सकते। प्रत्येक प्राणी अनुकूलताके बिना दुःखपूर्वक रहता है और प्रतिकूलताके बिना सुखपूर्वक रहता है, किंतु जिससे हमारी जातीय एकता है, उसके बिना हम किसी प्रकार भी नहीं रह सकते। तभी तो प्रत्येक प्राणी प्रत्येक परिस्थिति, वस्तु एवं अवस्थासे अतीतकी ओर स्वतः गतिशील होता है। जिसके बिना हम रह सकते हैं, वह हमारा नित्य साथी नहीं हो सकता। हम अपने नित्य साथीको प्राप्त करनेके लिये जिस साधनका आश्रय लेते हैं, वही धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक दल, प्रत्येक संस्था किसी-न-किसी कर्तव्यको स्वीकार करते ही हैं और कर्तव्य किसी-न-किसी लक्ष्यके लिये ही होता है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि कर्तव्य तथा लक्ष्यरहित न कोई व्यक्ति है, न दल; कर्तव्यको स्वीकार करना ही धर्मको स्वीकार करना है और ध्येयको स्वीकार करना ही एक अनन्त नित्य सत्यको स्वीकार करना है जो भक्तोंका 'भगवान्' एवं तत्त्ववेत्ताओंका 'तत्त्व' और भौतिकवादियोंका 'साम्य सुख' तथा 'चिर शान्ति' है, एवं प्रेमियोंका 'अगाध प्रेम' है।

धर्म और कर्तव्यमें अन्तर केवल इतना है कि कर्तव्यमें एकदेशीयताका वर्णन होता है और धर्ममें सर्वदेशीयताका अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्तव्यका वर्णन होता है जैसे कि

शरीरके किसी एक अङ्गकी क्रियाको कर्तव्य और सम्पूर्ण अङ्गकी क्रियाओंको धर्म कह सकते हैं। कर्तव्य और धर्ममें उसी प्रकार अभिन्नता है जिस प्रकार लहर और समुद्रमें। विचारशील लहर और समुद्रमें जातीय-एकता ही जानते हैं। अतः जो कर्तव्यको मानता है, वह धर्मको मानता है और जिसका कोई ध्येय है, वह संसारसे अतीत किसी अनन्त सत्यको मानता है; कारण कि संसार साधन-सामग्री है और कुछ नहीं। साधन साध्यसे अभिन्न ही है—पर इस रहस्यको वे ही जानते हैं, जिन्होंने शरीर और वस्तुओंसे अतीतके जीवनका अनुभव किया है।

कर्तव्यका निर्णय उन वीतराग, आसक्तकाम पुरुषोंके द्वारा ही हो सकता है, जिन्होंने सर्व वासनाओंका अन्त कर, अपनेमें ही अपने प्रीतमका अनुभव कर लिया है और जिन्हें अपने लिये किसीसे कुछ भी नहीं लेना है और जो सभीके सुहृद् हैं एवं जिनकी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरोंके हित तथा प्रसन्नताके लिये स्वतः होती है तथा जिनमें कर्तापन तथा स्वार्थका लेश भी नहीं है, उन्हीं आस्तिक महापुरुषोंकी वाणी ही वास्तविक विधान है। श्रुति भगवती भी इसकी समर्थक है। यदि आप संतों तथा भक्तों एवं भगवान्की वाणी तथा शास्त्रोंको न अपनायेंगे तो क्या सुधारवादियोंके उन राग-द्वेषयुक्त आधुनिक ग्रन्थोंको एवं उपन्यासोंको अपनायेंगे, जिनमें अपने अधिकार और दूसरोंके कर्तव्यकी चर्चा है? जिनमें स्वार्थ तथा द्वेषके आधारपर बड़े-बड़े संगठन तथा दलोंकी उत्पत्ति होती है। जिनका विकास किसीके विनाशपर निर्भर है एवं जिनके सुखका जन्म किसीके दुःखपर निर्भर है। ऐसे ही अनर्गल साहित्यसे तो आपने अपने अपौरुषेय ज्ञान तथा संतों और भक्तोंकी वाणीका अनादर ही किया है। यद्यपि धर्मको किसी भाषा-विशेषमें आवद्ध नहीं किया जा सकता; परंतु जो प्रकाश हमें स्वानुभवसे या प्राप्त-विवेकसे मिला है, जिसका समर्थन हमसे पूर्व वीतराग-आसक्तकाम पुरुष करते हैं एवं जो श्रुति-प्रतिपाद्य है, उसका आदर न करना अपना अनादर ही करना है और कुछ नहीं। स्वानुभव तथा सद्ग्रन्थोंका अनादर करके किसीको सत्यका अनुभव नहीं हो सकता। जो आपसे पहलेके वीतराग आसक्तकाम पुरुष हैं, उनके ग्रन्थों और वचनोंके प्रकाशमें देखिये। सम्मति उनकी लीजिये, जो आसक्तकाम, आत्माराम और वीतराग हैं। यह स्वतन्त्रताका अपहरण नहीं है; प्रत्युत सत्यका समुदाय है।

भगवान् कल्पतरुके समान हैं। जो प्राणी कामनाको लेकर उनसे सम्बन्ध जोड़ता है तथा उनमें लोभ होता है, वे उसको उसी प्रकारकी शक्ति देकर उसकी कल्प पूर्ति कर देते हैं। जितने आविष्कार होते हैं, उनमें आधार मानवका मस्तिष्क ही है; पर मस्तिष्कको प्राणी जिनसे मिलता है, वे सर्वसमर्थ परम उदार प्रभु ही हैं। मस्तिष्कसे अनेक यन्त्रालयोंका निर्माण हुआ, जिनसे विभिन्न प्रकारकी वस्तुएँ बनायी जाती हैं। किंतु ऐसा यन्त्रालय नहीं, जिसमें मस्तिष्क ढाला जाता हो। अतः जो सर्वाधार हैं, जिनसे सभीको सब कुछ मिलता है, उनसे विमुख नहीं होना चाहिये। प्रत्युत उनकी वस्तु-विभूतियोंका आदरपूर्वक सदुपयोग करते हुए उनके गुण-गान तथा उनसे अभिन्न होनेके लिये अथक प्रयत्न रहना चाहिये। उनकी दी हुई विभूतियोंकी दलाली आवद्ध होकर उनको नहीं भूल जाना चाहिये। बल्कि उनको बिना अपनाये अभावोंका अभाव कदापि हो सकता।

निर्धनताके कारण ही धनका आदर है। निर्धनताके कारण ही बलकी महिमा है अर्थात् धनियोंकी प्रशंसा निर्धनोंपर और बलवानोंकी महत्ता निर्बलोंपर ही निर्भर है इतना ही नहीं, धनकी उत्पत्ति भी बेचारे निर्धनोंके प्राणियोंके द्वारा होती है। गहराईसे देखिये, जो प्राकृतिकरूपमें खानोंसे तथा खेतोंसे निकलती है वह किन्हीं तथा मजदूरोंसे कम-से-कम मूल्यपर ली जाती है और जो वह वस्तु यन्त्रालयमें जाकर वहाँसे वापिस आती है, वह सबसे अधिक मूल्यपर उन्हीं किसानों, मजदूरों तथा निर्धनोंके मिलती है। अतः जिन्होंने श्रमद्वारा अपनी निकाली वस्तु कम मूल्यमें देकर बहुत अधिक मूल्यमें वापिस ली उसीसे सभीको धन मिला। हमें धर्मने यह सिखाया कि जिससे जो वस्तु उत्पन्न हुई है, वह उसीकी सेवामें लाना चाहिये। अतः धनका सदुपयोग निर्धनोंकी सेवामें होना चाहिये, मिथ्याभिमान बढ़ानेमें नहीं। जबतक कोई व्यक्ति अपने प्रसन्नताके लिये दूसरोंपर आश्रित है, तबतक वह स्वतन्त्र नहीं है।

यदि धनके वास्तविक स्वरूपपर विचार किया जाय तो कहना होगा कि सच्चा धन नहीं है। वस्तु ही वास्तविक धन है, जिसकी उत्पत्ति श्रम तथा प्रकृतिसे होती है। धर्मने हमें यही सिखाया है कि जो प्राणीको भोजन पृथ्वीसे

प्राणी ही मिलता है। पृथ्वी जलसे, जल अग्निसे, अग्नि वायुसे, वायु आकाशसे और आकाश मूल प्रकृतिसे उत्पन्न होता है। जिसे हम अपना शरीर कहते हैं, वह तब-तबसे और रज-वीर्य भोजनसे बनता है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि शरीर आदि प्रत्येक वस्तु हमें प्रकृति ही मिली है।

प्रकृति किसी विज्ञानवेत्ताका आविष्कार नहीं है, प्रत्युत प्रकृति लीला है, जो उसे अपनी सत्तासे आप प्रकाशित कर रहा है। विज्ञानवेत्ता तो विज्ञानकी खोज अर्थात् खोजके गुणोंका उपयोग करता है। विज्ञानवेत्ता विद्यमान वस्तुओंका उद्घाटनमात्र करता है। जिस अनन्त नित्य सत्तासे आपको प्रकृतिके द्वारा अनेक प्रकारकी वस्तुएँ प्रदान की गई हैं और उनके उपयोगकी स्वतन्त्रता दे दी; उसको स्वीकार करना कहाँतक न्यायसंगत है, स्वयं विचारें।

सृष्टिके रचनाक्रमपर विचार कीजिये। आपके समक्ष पूर्व भी संसार था। किसी भी उत्पत्तिके मूलमें आधारस्वरूप ऐसा नित्य-तत्त्व होता है जो उत्पत्ति-विनाश-रहित हो। विनाशी 'कार्य' हो सकता है, 'कारण' नहीं। जो इन सभी वस्तुओंका आश्रय या आधार होगा, वह अविनाशी तत्त्व होगा। उसे ही ईश्वरवादियोंका 'ईश्वर' कहते हैं और भक्तोंका 'भगवान्' तथा तत्त्ववेत्ताओंका 'निजस्वरूप'। सत् उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके विधानका नाम 'धर्म' है। धर्म किसी आचार्यकी उपज नहीं है, प्रत्युत खोज है। प्रत्येक धर्माचार्य धर्मकी खोज करता है, कल्पना नहीं करता। ईदनेसे उसीकी उपलब्धि होती है जो—'है'।

धर्म किसी ग्रन्थ तथा भाषाविशेषमें ही आवद्ध नहीं है; किंतु यों कहिये कि सभीमें उसका प्रकाश है। धर्म प्राकृतिक और अपौरुषेय विधान है जिसकी खोज अचार्योंने की है। आप उनकी बात न मानकर रागद्वेषयुक्त प्राणियोंकी बात मानना चाहते हैं, शास्त्रोंकी नहीं, और उसे 'स्वतन्त्र विचार'के नामसे कथन करते हैं, जो वास्तवमें रागद्वेषयुक्त व्यक्तिओंकी भावनाओंका अनुसरण है। मुझे बड़ा हर्ष होता है कि कोई ईश्वर तथा धर्मको न माननेवाले अपने मानुषका आदर करते, किसी रागद्वेषयुक्त सुधारवादीके नाम न होते और अपने विवेक तथा चरित्रबलसे अपना कर्तव्य निर्णय करते।

हमारा नेता तथा आचार्य वही हो सकता है, जो हमारी

इच्छाओंकी निवृत्ति और आवश्यकताकी पूर्तिमें एवं कर्तव्यके निर्णय तथा लक्ष्यकी प्राप्ति करानेमें समर्थ है। जो प्राणी अपनी साधारण इच्छाओंकी पूर्तिके लिये एवं पदलोलुपता आदिके लिये जनसमाजकी शरण लेते हैं, वे वास्तवमें नेता नहीं हो सकते। हमारा नेता वही होगा, जो हमारी पूर्तिमें समर्थ हो और अपनी पूर्तिके लिये हमारी आशा न करता हो। हमारी वर्तमान दशा यही है कि जिस प्रकार अबोध बालक अपने साथ खेलनेवाले बालकोंकी बात मानता हो और छोटे-छोटे खिलौनोंपर परस्परमें झगड़ा करता हो; किंतु अपने हितचिन्तक वीतराग पूर्वजोंके आदेश तथा संदेशकी अवहेलना करनेमें स्वतन्त्रताकी डींग हाँकता हो। हमें कर्तव्यपालन करते हुए यह सदैव ध्यानमें रखना चाहिये कि निर्बलताओं तथा दुःखोंकी निवृत्ति हो और सुख तथा शान्तिकी वृद्धि हो। अतः निर्बल प्राणी सबल होनेके लिये धर्माचरण करे और बलवान् बलका सदुपयोग तथा बलके अभिमानसे मुक्त होनेके लिये धर्माचरण करे। यह भलीभाँति समझ लीजिये कि बलके दुरुपयोगसे अपना तथा समाजका हास ही होता है, विकास नहीं। निर्बलतासे उतनी क्षति नहीं होती, जितनी बलके दुरुपयोगसे होती है। कारण कि निर्बलमें तो ईश्वर-निर्भरता तथा धर्मप्रियता बड़ी ही सुगमतापूर्वक उत्पन्न हो जाती है; किंतु बलके दुरुपयोगसे तो चरित्रहीनता, हिंसा आदि दोषोंकी ही उत्पत्ति होती है, जिससे सभीका अहित होता है। इसी कारण धर्म बलवानोंको बलके सदुपयोगकी और निर्बलोंको ईश्वरनिर्भरताकी प्रेरणा देता है, जो उन्नतिका मूल है।

यद्यपि बल बड़े ही महत्त्वकी वस्तु है; किंतु उसका सदुपयोग करनेके लिये विवेक परम अनिवार्य है। जो प्राणी विवेकसे बलको अधिक महत्त्व देते हैं, वे बलयुक्त होकर भी अपना तथा दूसरोंका हास ही करते हैं, विकास नहीं। विवेकरूपी प्रकाश नित्य अनन्त ज्ञानसे ही मिलता है, किसी बलसे नहीं। वह नित्य-ज्ञान किसी मस्तिष्ककी उपज नहीं, प्रत्युत खोज है। उसकी खोजके लिये हमें इन्द्रियोंको मनमें, मनको बुद्धिमें और बुद्धिको जो बुद्धिसे परे है, उसमें सम करना होगा। तभी हमें वह प्रकाश मिलेगा जिससे हम प्राप्त बलका सदुपयोग कर सकेंगे। बलके सदुपयोगसे निर्बलोंका विकास होता है और बलका अभिमान गल जाता है। सीमित बलका अभिमान गलते ही, जिसमें अनन्त बल है, उससे अभिन्नता हो जाती है।

विज्ञान एक प्रकारका बल है, विवेक नहीं। अतः विज्ञानवेत्ताओंको तत्त्ववेत्ताओंके प्रकाशमें रहकर विज्ञानका सदुपयोग करना चाहिये। जिस प्रकार मन समझके प्रकाशमें रहकर अपनेको शुद्ध बनाता है और मनके शुद्ध होते ही इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती हैं और इन्द्रियोंके पवित्र होते ही व्यवहारमें शुद्धता आ जाती है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनोंका ही हित होता है। उसी प्रकार तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंसे प्रकाश पाकर विज्ञानवेत्ता अपने विज्ञानका सदुपयोग कर अपना तथा समाजका हित कर सकते हैं। यह तभी हो सकता है जब बलसे विवेकका अधिक महत्त्व हो। इसकी प्रेरणा हमें आस्तिकवादसे मिलती है। कारण कि आस्तिकवाद हमें सभी वस्तुओंसे अतीतके जीवनका अनुभव कराता है। बलसे तो केवल भौतिक वस्तुओंकी ही उपलब्धि हो सकती है। वस्तुओंका सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर तथा प्राणोंतक ही सीमित है। मन और समझके विकासके लिये तो हमें विवेककी ही आवश्यकता है। विवेकशून्य मन तथा प्राण पशु, पक्षी तथा वृक्षोंमें भी है। मानवमें मानवता एकमात्र 'विवेकयुक्त' होनेसे ही है। अतः मानवका मानव होनेके लिये विवेकी होना अनिवार्य है। विवेककी उपलब्धिके लिये आस्तिकवाद और आस्तिक होनेके लिये धर्माचरण अनिवार्य है। अतः धर्म और ईश्वरके बिना कोई भी मानव मानव नहीं हो सकता।

आधुनिक विज्ञानवाद शीघ्रतासे विनाशकी ओर गतिशील है। अणुवमको निर्माण करनेवाले विज्ञानवेत्ताने धर्मको न जानने तथा न माननेके कारण अर्थलोलुपतासे अपनेको पूँजीवादियोंके हाथों बेंच निर्दोष जनताका संहार करा दिया। यह भूल धर्मको न माननेसे हुई। यदि वह ईश्वर तथा धर्मको मानता तो अपने विज्ञानका दुरुपयोग नहीं होने देता। शिक्षित व्यक्तियोंके सहयोगके बिना कोई भी राष्ट्र तथा व्यक्ति एक दल समाजका अनिष्ट तथा इष्ट नहीं कर सकते; क्योंकि शिक्षित व्यक्तियोंके सहयोगसे ही समाजकी उन्नति तथा अवनति होती है। अध्यात्मवादका अनादर करनेवाला भौतिकवादी अर्थलोलुपताके कारण स्वार्थपरायण पूँजीवादियोंके हाथ अपनेको बेंच उनका यन्त्र बनकर जो नहीं करना चाहिये, उसे करता है, जिससे समाजका विनाश ही होता है और कुछ नहीं। यदि आधुनिक विद्वानों तथा विज्ञानवेत्ताओंके जीवनमें अध्यात्मवादका आदर हो और उसकी महिमाको भलीभाँति अनुभव कर अपनेको

विषयासक्ति तथा वस्तुओंकी दासतासे मुक्त कर लें तो वे भी अर्थसम्पन्न समाज उनके द्वारा निर्धनों एवं निरक्षरोंके अधिकार हनन नहीं कर सकता। किंतु खेद तो यह है कि इन्द्रियलोलुपताके कारण शिक्षित व्यक्ति अशिक्षितोंके अधिकार हो जाता है, जिससे अनर्थ ही होता है और कुछ नहीं। जबतक शिक्षित व्यक्तियोंका सम्पर्क वीतराग पुरुषोंसे न हो, अथवा यों कहिये कि जबतक वे स्वयं वीतराग न हों, जबतक शिक्षाका सदुपयोग वे कदापि नहीं कर सकते, शिक्षाके सदुपयोगके बिना कभी सुन्दर समाजका निर्माण नहीं हो सकता। शिक्षाका सदुपयोग तभी होगा, जब शिक्षित व्यक्ति दीक्षित हों अर्थात् उनके जीवनका लक्ष्य निर्दिष्ट हो, जिसकी उपलब्धि आस्तिकवाद तथा अध्यात्मवादसे सम्भव है। कारण कि आस्तिकवाद अनित्य-जीवनसे निरन्तर जीवनकी ओर प्रेरित करता है जो मानवका लक्ष्य है। धर्मको न जानना और कर्तव्य (धर्म) को न मानना प्राणी के चेतनतासे जड़ताकी ओर ले जाता है, जो वास्तविक नास्तिकता है। चेतनासे जड़ताकी ओर गतिशील होनेसे विवेकका अनादर होने लगता है, जिससे प्राणी के कर्तव्य और दूसरोंके अधिकारको भूल जाता है और धर्मभूलसे समाजका हास ही होता है, धर्मप्रियता मोहभंग हो बदल जाती है और सेवाकी सद्भावना स्वाभाविक नहीं बन जाती है, जिससे नास्तिकवादकी वृद्धि होती है। अतः कारण प्राणी जो 'है' उससे विमुख और जो 'नहीं' है उससे पीछे दौड़ने लगता है, और जो वास्तवमें प्रमाद है। जो 'है' का अभाव नहीं होता, प्रत्युत उसका अभाव होता है जो 'है' को स्वीकार नहीं करता। धर्मसे सम्बन्ध विच्छेद करनेपर धर्मका विनाश नहीं होता, कारण कि तो 'नित्य-तत्त्व' है, किंतु धर्मसे सम्बन्ध विच्छेद करनेके लिये ही विनाश होता है। ईश्वरके न माननेसे न माननेके ऐश्वर्य ही नष्ट होता है, ईश्वरका कुछ नहीं बिगड़ता। प्राणीकी स्वाभाविक लालसा ईश्वरसे ही अभिन्न होनेके लिये क्योंकि अनन्त नित्य सौन्दर्य एवं माधुर्य तथा ऐश्वर्य ईश्वरकी स्वभावतया प्रिय है। अतः बेचारा अनीश्वरवादी ईश्वरको मानकर अपना ही अस्तित्व मिटाता है। गहराईसे प्रतीत हो रहा है जो कुछ इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे प्रतीत हो रहा है उसे 'वह' और जो बुद्धि आदिसे परे है उसे 'वह' कहा जायेगा 'मैं' जैसी कोई वस्तु नहीं जान पड़ती। 'वह' से 'मैं' और गतिशील होना ही नास्तिकवादसे आस्तिकवादकी ओर

मिथ्या होना है। 'वह' और 'यह' के मिलनेसे जिस 'अहम्' की उत्पत्ति होती है, उसका अन्त करना ही वास्तविक पुरुषार्थ है अथवा यों कहिये कि 'धर्म' है। सीमित 'अहम्' से ही ममता उत्पन्न होती है, जो दुःखका मूल है। सीमित 'अहम्' का अन्त होते ही वासनाओंका अन्त हो जाता है। निर्वासना आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुक्ति आदि दिव्य गुण स्वतः उत्पन्न होते हैं और फिर 'वह', 'वह' तथा 'मैं' इन तीनोंकी अभिव्यक्ति हो जाती है, जो मानवका मुख्य उद्देश्य है। यही वास्तविक साम्य है। इसके बिना ही प्राणी दुखी है। यदि समस्त दुःखोंका अन्त करना चाहते हो तो आस्तिकताको स्वीकारकर धर्माचरणसे अपना निर्माण करना अनिवार्य है।

जो कुछ मिला है उसमें आवद्ध हो जाना ही अवनतिका एकमात्र मूल कारण है। प्राणीका जब जन्म होता है, तब सबसे प्रथम वह खूराक तथा सेवा-शुश्रूषाके द्वारा शरीरकी पृष्टि करता है और फिर शिक्षित होकर अपनेको इतना दूर बना लेता है कि समाज उसकी आवश्यकताका अनुभव करने लगता है, पर यह भूल जाता है कि मुझे जो कुछ मिला है वह किसीकी उदारता है। वह उस प्राप्त शक्ति तथा सौन्दर्यको अपना मान लेता है, समाज तथा प्रभुकी देन नहीं मानता। इसका परिणाम यह होता है कि वह मोह-जालमें फँसकर अपनेको संकीर्ण तथा स्वार्थपरायण बनाकर मिथ्या अभिमानमें फँस जाता है। यदि प्राणी उस मिली हुई शक्तिको सर्वोत्तम सेवामें कर्तव्य-बुद्धिसे तथा भगवान् के नाते वापिस कर दे तो उसे समाजके ऋणसे भी मुक्ति मिल जाय और ईश्वरके अनुग्रहका भी वह पात्र बन जाय तथा अपनेमें ही अपने परम प्रेमास्पदका अनुभवकर कृतकृत्य हो जाय, जो वास्तवमें आस्तिक जीवन है।

उपार्जनको त्यागकर उपभोगमें आसक्त होना ही श्रेष्ठताका आवाहन करना है। जो लोग बुद्धिसे परेकी ओर अपनेको नहीं ले जाना चाहते, वे मनकी दासतामें आवद्ध हो जाते हैं। जब समझ मनके अधीन हो जाती है, तब मन इन्द्रियोंके अधीन हो जाता है और इन्द्रियाँ विषयोंके अधीन होकर दुराचारमें आवद्ध हो जाती हैं, जो अपने तथा समाजके पतनका ही मूल है। इस भूलसे प्राप्त शक्तिका दुर्व्यय ही होता है, जिससे नवीन शक्तिका प्रादुर्भाव नहीं हो पाता एवं जिसके बिना प्राणी वस्तु-अथवा, परिस्थिति आदिमें बँध जाता है।

प्रत्येक प्राणी यदि अपनी स्वाभाविक अभिलाषापर विचार करे तो उसे यह भलीभाँति अनुभव होगा कि किसीको भी अपना अभाव प्रिय नहीं अर्थात् अपने अस्तित्वको सभी सुरक्षित रखना चाहते हैं। जिस प्रकार निर्बलता बलकी अभिलाषासे भिन्न और कुछ नहीं, उसी प्रकार मृत्यु अमरत्वकी, 'नहीं' 'है' की, अपूर्णता पूर्णताकी, तुच्छता महानताकी, सीमित असीमकी, जड़ता चेतनाकी, दुःख आनन्दकी, हानि विकासकी और अवनति उन्नतिकी अभिलाषासे भिन्न और कुछ नहीं। अभिलाषाकी सत्ता तभीतक रहती है, जबतक उसकी पूर्ति नहीं होती। पूर्ति होते ही वह अपने अभिलाषित-से अभिन्न हो जाती है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अस्तित्व अमरत्वका है मृत्युका नहीं, पूर्णताका है अपूर्णताका नहीं, आनन्दका है दुःखका नहीं। अतः जिसका अस्तित्व है उसीको 'है', और जो अभिलाषा एवं इच्छाके रूपमें है उसीको 'नहीं' से सम्बोधन करते हैं। जो प्राणी अस्तित्वको अस्वीकार करते हैं, वे अपना ही विनाश करते हैं और कुछ नहीं। भोग-इच्छाओंमें प्रवृत्ति तो होती है किंतु प्राप्ति कुछ नहीं होती। प्रत्येक भोगी भोगके अन्तमें अपनेको केवल शक्तिहीन ही पाता है; किंतु भोगका अभाव होते ही नवीन शक्ति अपने आप आ जाती है। वह शक्ति जिसकी देन है वही भक्तोंका 'भगवान्' है। अतः भगवान् के अस्तित्वको स्वीकार न करना वास्तवमें कृतघ्नता है। भगवान् के अस्तित्वको स्वीकार न करनेपर भी आवश्यक शक्ति अपने-आप मिलती है। यह भगवान् की उदारता है, किसीके कर्मका फल नहीं है। कारण कि कर्म करनेके साधन तो प्रभुकी दी हुई शक्तिसे ही प्राप्त होते हैं। कर्मकी मूल सामग्री कर्मसे नहीं मिलती पर स्वतः मिलती है। उस मिली हुई सामग्रीके सदुपयोग तथा दुरुपयोगसे प्राणी सुख-दुःखके जालमें फँस जाता है और फिर अनेक ऊँच-नीच योनियोंको पाता है। यदि प्रभुके दिये हुए विवेक तथा शक्तिको प्रभुकी प्राप्ति के लिये ही उपयोगमें लाया जाय तो प्राणी सुगमतापूर्वक सुख-दुःख तथा राग-द्वेषसे मुक्त होकर अनन्त नित्य आनन्दको प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाता है। पर यह तभी सम्भव है, जब प्राणी सरल विश्वासपूर्वक प्रभुको अपना मान ले अथवा विवेकपूर्वक असत्यको त्याग सत्यकी खोजकर प्रभुसे अभिन्न हो जाय। कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि चाहे तो मानकर जाने अथवा अनुभव कर माने। आस्तिक और नास्तिकमें यही भेद है कि आस्तिक, जो सर्वकालमें है,

उसीको मानता तथा जानता है और नास्तिक जो वास्तवमें नहीं है, केवल प्रतीतिमात्र है, उसीकी ओर दौड़ता है, पर शक्तिहीनता, जड़ता एवं परतन्त्रता आदिके अतिरिक्त और कुछ नहीं पाता। बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदिसे जो कुछ प्रतीत होता है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यदि उसे 'यह' कहा जाय तो जो बुद्धिसे परे है उसे 'वह' कह सकते हैं। 'यह' और 'वह' के बीचमें जो 'मैं' है, जिसमें 'यह' की वासनाएँ और 'वह' की अभिलाषा विद्यमान है और जिसने 'यह' और 'वह' का विभाजन-सा कर दिया है, यदि उस 'मैं' से 'यह' की वासनाओंका अन्त कर दिया जाय तो 'वह' की अभिलाषाकी स्वतः पूर्ति हो जाती है और फिर 'मैं'—जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती। 'मैं' के मिटते ही 'यह', 'वह' और 'मैं' का भेद शेष नहीं रहता। केवल जो है सो है। उसका वर्णन नहीं हो सकता, वह स्वानुभवसिद्ध है।

धर्माचरण ही धर्मका वास्तविक प्रचार है। धर्माचरणके द्वारा ही प्राणी मिली हुई शक्ति तथा विवेकको एवं वस्तुओंको सर्वहितकारी भावनासे सद्व्ययकर अपना निर्माण कर समाजको सुन्दर बनाता है। जिस प्रकार सुन्दर-सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंसे वाटिका शोभा पाती है, उसी प्रकार धर्मात्माओंके द्वारा संसार सुशोभित होता है। धर्म सभीके विकासको अपना विकास और सभीके हासको अपना हास मानता है। अतः धर्मने हमें यही सिखाया कि दूसरोंके प्रति की हुई भलाई ही अपने साथ भलाई है। धर्मने कभी किसीके साथ किसी भी प्रकारकी बुराई करनेकी आज्ञा नहीं दी; क्योंकि धर्मका मूल मन्त्र यही है कि दी हुई वस्तु कई गुनी अधिक होकर मिलती है। अतः धर्मने सर्वहितकारी चेष्टा करनेकी प्रेरणा दी। सच तो यह है कि यदि जीवनमें धर्माचरण आ जाय तो फिर राजनीतिक, सामाजिक तथा प्राकृतिक दण्ड-विधान उसपर शासन नहीं कर सकते, कारण कि सभी विधान उसी-पर शासन करते हैं, जिसके जीवनमें धर्म नहीं है। जिसके जीवनमें धर्म नहीं है, वही बलका दुरुपयोग करता है। बलका दुरुपयोग रोकनेके लिये ही राजनीतिक तथा सामाजिक शासनकी उत्पत्ति होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि राजनीतिकी आवश्यकता तभी होती है, जब धर्म-जीवन नहीं रहता। अतः वास्तविक राजनीति धर्मकी समर्थक है, विरोधी नहीं।

निर्धनता बढ़नेका मूल कारण है प्राप्त धनका दुर्व्यय, और बेसमझी फैलनेका मूल कारण है प्राप्त विवेकका अनादर

और बलके दुरुपयोगसे ही सभी निर्बलताओंका जन्म होता है। अतः धर्मने हमें यही सिखाया कि निर्धनताको धन करनेके लिये धनका सद्व्यय और बेसमझीका अन्त करने लिये विवेकयुक्त व्यवहार एवं निर्बलताओंको मिटाने के लिये बलका सदुपयोग अनिवार्य है।

धर्म केवल पुस्तकोंमें आवद्ध रखनेकी ही वस्तु नहीं है और न केवल मस्तिष्कका संग्रह ही है एवं न केवल कल्पित चिन्तन तथा व्याख्यानकी ही वस्तु है। धर्म तो जीवन द्वारा विवेकपूर्वक चरितार्थ करनेकी वस्तु है। धर्मकी निम्न धर्मपर विश्वास न करनेवालोंके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत धर्मको मानते तो हैं पर जीवनसे दूर रखकर, अर्थात् धर्म को जीवनमें भेद रखते हैं—ऐसे बनावटी धर्मात्माओंसे धर्मकी निम्न और अधर्मका प्रचार होता है। बेचारा नास्तिक आस्तिक पर विजय नहीं पाता, न वह नास्तिकताका प्रचार ही कर सकता है। नास्तिकताका प्रचार होता है बनावटी आस्तिकोंके जो भगवान्को मानते तो हैं पर अपना नहीं मानते और उनपर विश्वास करते हैं और न उनसे सम्बन्ध रखते हैं। यह नियम है कि जिसपर सरल विश्वास नहीं होता, उसे सद्भावपूर्वक अपनत्व नहीं होता। जिससे अपनत्व नहीं होता, उसका सहजभावसे व्याकुलतापूर्वक स्मरण, चिन्तन, ध्यान नहीं होता। जिसका स्मरण, चिन्तन, ध्यान नहीं होता, उसका उपलब्धि नहीं होती। जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसके प्रचार नहीं होता। अस्तु, यह सिद्ध हुआ कि जो ईश्वरको मानते तो हैं पर जानते नहीं तथा उनके जीवनसे भगवत् विश्वास प्रकट नहीं होता, उन्हींके द्वारा अनीश्वरवाद फैला है।

कुशिक्षा तथा कुसङ्गके कारण मन मलिन तथा बुद्धि के अशुद्ध हो जानेसे यदि किसीको धर्म और भगवान्में सरल विश्वास नहीं होता तो उसे धर्म और भगवान्की खोज प्राप्त विवेकसे करनी चाहिये; उसे अस्वीकार नहीं करना चाहिये। कारण कि प्राणी जिसको अस्वीकार कर लेता है, उसके जाननेके लिये प्रयत्नशील नहीं रहता, जिससे वह वास्तविकता से वञ्चित रह जाता है। खोज उसीकी की जाती है, जिसकी आवश्यकता हो, आवश्यकता उसीकी होती है, जिसका अस्तित्व हो, प्रवृत्ति उसीकी होती है, जिसकी इच्छा हो और इच्छा उसीकी होती है, जिसमें राग हो। आवश्यकता स्वाभाविक है; कारण कि उसकी उत्पत्ति रागसे नहीं होती और इच्छाएँ अस्वाभाविक हैं; क्योंकि उनका जन्म रागसे होता है। इसी कारण इच्छाओं

निवृत्ति और आवश्यकताकी पूर्ति करनेके लिये ही प्राणी प्रवृत्त रहता है। यत्नशीलता ही मानव-जीवन है। अतः मानवको सत्यकी खोज तथा असत्यका त्याग करनेके लिये बर्बाद उद्यत रहना चाहिये। जिन प्राणियोंको अपनी स्वाभाविक आवश्यकताका यथेष्ट बोध हो जाता है, वे सत्यकी खोज तथा भगवत्-प्राप्तिमें लग जाते हैं। प्राणी अनीश्वरवादी तथा भौतिकवादी तभीतक रहता है, जबतक अस्वाभाविक इच्छाओंसे आवद्ध होकर स्वाभाविक आवश्यकताको भूल जाता है। भूल उसीका कहते हैं जो मिटाया जा सके, क्योंकि भूल (है) की होती है—अभावकी नहीं। जिसे भूल जाते हैं उसीकी अभिलाषा होती है। अभिलाषाको इच्छाओंने ढक दिया है, मिटाया नहीं। इसी कारण प्राणी अनेक बार इच्छाओंमें डूब होनेपर भी किसी-न-किसी अभावसे आकुल ही रहता है। वह आकुलता हमें उसकी ओर प्रेरित करती है, जिसकी प्राप्ति अस्वाभाविक इच्छाओंकी प्रवृत्तिसे नहीं होती। इच्छाओंकी प्रवृत्ति तो हमें आसक्ति, शक्ति-हीनता, परतन्त्रता, जड़ता, अज्ञान, चिन्ता आदि निर्बलताओंमें ही आवद्ध करती है, जो किसी भी प्राणीको प्रिय नहीं है। उनसे तो छुटकारा देनेकी ही लालसा रहती है। वह लालसा जिसकी है, उसको प्राप्त करनेके लिये अस्वाभाविक इच्छाओंको त्यागकर गमरहित होना अनिवार्य है। इन्द्रियजन्य ज्ञानमें सद्भाव तो ज्ञानसे ही (राग)की उत्पत्ति होती है और देहाभिमानके कारण ही इन्द्रियजन्य ज्ञानमें सद्भाव होता है। देहाभिमान अविचारसे और अविचार प्राप्त-विवेकके अनादरसे ही उत्पन्न होता है। अतः अविचारका अन्त करनेके लिये निज-ज्ञानका आदर करो। निज-ज्ञानका आदर करनेके लिये मस्तिष्कको खाली कर लो अर्थात् सुना हुआ, जिसे जानते नहीं, पर मान लिया है, निकाल दो। उसको निकालते ही जो इन्द्रियोंके द्वारा प्रतीत होता है, जिसका राग अङ्कित हो गया है, जिसके कारण सत्यका अनुभव नहीं होता, वह मिट जायगा। उसके मिटते ही स्वतः विना ही प्रयत्न तुम अपनेमें ही अपने प्रीतमको पाओगे, जिसकी स्वाभाविक अभिलाषा है। प्रीतमने तुम्हारा त्याग नहीं किया, तुम उनसे देश-कालकी दूरीपर नहीं हो, केवल विमुक्त हो गये हो। विमुखता अपना बनाया हुआ दोष है, उसके मिटानेका दायित्व अपनेपर ही है। यदि प्रीतमने किसीका त्याग किया होता तो प्राणीमात्रको उनकी स्वाभाविक अभिलाषा न होती। इच्छाओंके प्रवृत्तिकालमें

भी शक्तिहीनता, परतन्त्रता आदि दोषोंके कारण इच्छाओंकी प्रवृत्तिमें सभीको अरुचि होती, पर स्वाभाविक अभिलाषा जिस प्रेमास्पदकी है, उसकी पूर्तिमें प्रेमास्पदसे अभिन्नता और अपूर्तिमें अभिलाषा सतत बनी रहती है। इतना ही नहीं, जिनका केवल प्रेमास्पदका प्रेम ही जीवन है, उनके लिये तो प्रेमास्पद स्वयं प्रेमी बन जाते हैं—पर इस रहस्यको कोई विरले ही जानते हैं, कारण कि भोग तथा मोक्षके जालमें फँसा हुआ प्राणी प्रेमके अनुपम महान् अनन्त रसको नहीं जान पाता। उस अद्भुत रसका अनुभव करनेके लिये हमें सरल विश्वासपूर्वक प्रेमास्पदकी अहैतुकी कृपाका आश्रय लेना होगा। उनकी कृपाका आश्रय वे ही प्राणी ले पाते हैं, जिन्होंने सेवा करने मात्रके लिये ही प्राणीमात्रको अपना मान लिया है; किंतु अपने लिये तो केवल परम प्रेमास्पदके प्रेमको ही अपनाया है अथवा यों कहिये कि प्रीतमकी लालसा ही जिनका प्राण है।

संसार सेवा करनेकी वस्तु है, चिन्तन करनेकी नहीं। चिन्तन उन्हींका करना चाहिये, जिन्हें प्राप्त करना हो एवं जिनका प्रेम अपना जीवन हो। जिससे छुटकारा पाना हो, उसकी सेवा करनी चाहिये। अतः हमें धर्म तथा आस्तिकवादने यही पाठ पढ़ाया है कि शरीर तथा वस्तुओंके द्वारा प्रभुके नाते संसारकी सेवा करना और अपने लिये एकमात्र प्रेमास्पदके पवित्र प्रेमको ही अपनाना। प्रेमास्पदके प्रेममें कितना रस है, जिसका वर्णन तो सम्भव नहीं, केवल इतना ही कह सकते हैं कि उस रसके लिये प्रेमीकी तो कौन कहे, स्वयं प्रीतम भी तरसते हैं। वे नित्यमुक्त, आप्तकाम, पूर्णकाम एवं आत्माराम तथा अनन्त होते हुए भी उस रसके लिये अपनेमें कामना उत्पन्न करते हैं और प्रेमीको प्रेमास्पद बनाकर स्वयं प्रेमी बन जाते हैं।

देहाभिमानसे उत्पन्न होनेवाले प्रिय-से-प्रिय संयोगसे वियोगकी रुचि स्वाभाविक है। यह प्राणीमात्रका अनुभव है, क्योंकि गहरी निद्राके लिये प्रिय-से-प्रिय सम्बन्धी एवं मित्र तथा वस्तुओंसे अलग होना ही पड़ता है। परंतु देहाभिमानियोंकी भाँति प्रेमी और प्रेमास्पदकी नित्य-लीलामें न तो अरुचि ही होती है और न अभाव ही होता है। वे तो नित-नवर-रसका आस्वादन करते हुए दोनों ही छके रहते हैं, अथवा यों कहिये कि प्रीति और प्रीतमकी लीलामें अनन्त अखण्ड रस है। कारण कि वह

रस उत्पत्ति-विनाशरहित दिव्य चिन्मय एवं निर्विकार है; क्योंकि उसका प्रादुर्भाव जड़ता एवं परिच्छिन्नता तथा देहाभिमानसे रहित होनेपर ही होता है।

जबतक स्थूल शरीरका अभिमान है, तबतक क्रिया-जन्य सुखकी आसक्ति और जबतक सूक्ष्म शरीरका अभिमान है, तबतक चिन्तनजन्य सुखकी आसक्ति एवं जबतक कारण शरीरका अभिमान है, तबतक स्थिरतासे उत्पन्न होनेवाले सुखकी आसक्ति शेष रहती है और तबतक वास्तविक आस्तिकता नहीं आती, कारण कि वासनाओंका अन्त नहीं होता। देहाभिमान मिटते ही 'निर्वासना' आ जाती है और फिर प्रेमीका प्रेमास्पदकी नित्य-लीलामें प्रवेश हो जाता है। प्रीति उसीसे होती है जो 'है'। आस्तिकवाद 'है' का समर्थन करता है। 'है' की उपलब्धि एकमात्र प्रीतिसे ही सम्भव है। प्रीतिका उदय तभी होगा, जब शरीर विश्वकी सेवामें समर्पण कर दिया जायगा और 'अहम्' प्रेमास्पदको भेंट कर दिया जायगा। फिर वे उसे स्वयं अपने अनुकूल बना लेंगे अर्थात् अहं गलकर उनकी प्रीति बन जायगा जो प्रीतमकी माँग है। आस्तिकके जीवनमें एकमात्र प्रीतिके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। मन,

इन्द्रिय आदि सभीमें प्रीति-ही-प्रीति भर जाती है और फिर सर्वत्र प्रीतम-ही-प्रीतम रह जाते हैं। फिर किसी प्रकारका व्यवधान शेष नहीं रहता।

इस अलौकिक दिव्य जीवनको प्राप्त करनेके लिए आस्तिकता तथा धर्मको स्वीकार करना परम अनिवार्य है। धर्माचरण हमें कर्तव्यपरायणताका पाठ पढ़ाता है, जिससे समाजमें सुन्दरता आती है और प्राणी समाजके कल्याण उन्मृग हो जाता है और फिर उसे अपने लिये नित्य जीवन, नित्य रस, नित्य प्यारकी आवश्यकता उत्पन्न होती है जिसकी पूर्ति आस्तिकवाद एवं आध्यात्मिक जीवनेसे ही होती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव जीवनकी पूर्णताके लिये धर्म तथा भगवान्की नित्यतापर अस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव हमें प्रव्रत ले लेना चाहिये कि सेवा करनेके लिये प्राणीमात्र अपने हैं किंतु अपनी प्रसन्नताके लिये केवल सर्व-समर्थ प्रभु ही अपने हैं। यही धर्मात्मा तथा आस्तिक प्राणीका अन्तिम है। अस्तु, मोहरहित धर्मानुसार भगवत्-नाते प्राप्त-परिस्ति का सदुपयोग कर वर्तमानमें ही परम-प्रेमास्पदके निरुद्ध प्रेमको प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाना चाहिये।

चिन्तनके कुछ क्षण

(१)

घोरतम रात्रिने कलानिधिके आनेकी सूचना दी है। काल कोठरीके बन्धनसे युक्त मेरी आत्मा उन्मुक्त जीवनकी प्रेरणा देती है। सुसज्जित नक्षत्र प्रकृतिके बन्धनमें आनन्दका प्रदर्शन कर रहे हैं। मेरी छिटकी भावनाएँ आत्मानुभवके स्पष्ट होनेकी व्याकुलतामें आनन्दकी लहरें वटोरनेमें संलग्न हैं।

सरिताओंके मिलनसे उत्पन्न समुद्रकी अशान्त प्रतिध्वनिसे मेरे इन्द्रियोंके बन्धनको सीख मिलती है। प्रत्येक इन्द्रिय कर्मकी प्रेरणासे अनुभूतिको निश्चित रूप देनेका प्रयत्न करती है। एक भावना एक सरिता होगी। एक विचार एक लहर होगा। सब स्वच्छन्द हो मेरे जीवनकी समस्याओंको सुलझा सकेंगे। सुख-दुःखके बन्धनको मुक्त कर सकेंगे।

(२)

मेरा अज्ञात हृदय अज्ञानके बन्धनको तोड़कर प्रकाश पानेका प्रयत्न करता है। कल्पनाके उस छोरका मुझे ज्ञान नहीं। कभी सशङ्कित, कभी उत्साहित उस पथकी खोजमें भटकती हूँ। कुछ विश्राम ले, दैनिक घटनाओंके पाथेयको वटोर, पुनः अशान्त हो तुम्हारे प्रकाशको ढूँढ़ती हूँ।

अज्ञात, अशान्त, अज्ञानके बन्धनको तोड़कर अपना अन्तःकरण आसमानके प्रकाशको परखनेकी कल्पना तड़पनकी ज्वालाका अन्त करना चाहता है।

सांसारिक बन्धनकी कलाको मेरा हृदय त्यागकर कल्पनाके प्रकाशके आविष्कारमें पंख लगाकर तुम्हारी सूर्यकिरण दर्शन करना चाहता है।

भावनाकी इस वृत्तिमें मेरा हृदय शरीरके बन्धनको तोड़कर प्रकाश पानेकी याचना करता है। —हकिमी गुप्ता, पृष्ठ १००

मानव-जीवनमें विश्वासकी महत्ता

(लेखक — श्री 'सौरभ')

मनुष्य यदि समझ पाता कि जीवनके लिये ईर्ष्या, ईह, डाह तथा लक्ष्यहीन गति नहीं चाहिये, चाहिये जीवनको सार्थक बनानेके लिये विश्वास—जिससे श्रद्धा, प्रेम, स्नेहका प्रादुर्भाव होता है, तो मनुष्य आज सचमुच मनुष्य बन जाता ।

सर्वप्रथम जब पृथ्वीपर मानव आया, तब उसने पृथ्वी देखी, आकाश देखा, दृष्टि फैलाकर क्रमशः समस्त संसार देखा, देखा उसने मनुष्यको भी जीवन-भर और वह मनुष्यके ही साथ रहा । उसीके बीच-बीच में वह मनुष्यके लिये अनुभव भी किये, उसीके साथ प्रसन्न हो मुसकरा दिया, आँसू भी उसीके साथ बहाये और इस सम्पूर्ण संघर्षमें वह एक ही निष्कर्ष पर पहुँचा कि मनुष्यके साथ यदि कोई वस्तु है तो वह छोटा-सा मन, एक छोटा-सा हृदय, हृदयके सम्पर्कमें होती है केवल एक वस्तु और वह है विश्वास, जिसमें श्रद्धा और प्रेमका स्रोत है ।

मनुष्यकी दृष्टिके प्रथम पलक खुलनेपर उसे प्रकाश दिखायी दिया । प्रकाशमें उसने प्रकृतिकी अपूर्व छटा देखी, इसपर उसे अनुभव हुआ किसीका आकर्षण । उसने देखा फल, पौधे, हरी-भरी लताएँ, झरने और झरने तथा हुंकारते हुए छोटे-बड़े समुद्र, पुष्प और पुष्पोंके साथ काँटोंका गुम्फन भी । वह उसीमें उलझ गया, उसीमें खिल गया । इस प्रकार मानव-समाजमें जब उसने अपने चारों ओर स्वजनोंको पाया, तब वह आकर्षित हो गया, क्योंकि उसने समझा—यही तो जीवनका सार है; इसीमें चेतना है और है गति । पर क्या आकर्षण भी कभी बन्धन हो सकता है ? हाँ अवश्य ! पर यदि निर्माणमें निर्माताको निहार ले तो आकर्षण और बन्धन आनन्द-सरितामें परिणत हो जाते

हैं । इसी आकर्षणमें विश्वास, विश्वाससे प्रेम, प्रेमसे संतोष और संतोषसे आनन्दका उदय होता है ।

स्मरण रहे, प्रेमी प्रियतमपर विश्वास ही नहीं करता, वरं उसपर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है । उपासक उपास्यदेवको 'निर्वनका धन' समझता है और इस प्रकार अपना समस्त विश्वास केन्द्रीभूत कर उसके प्रति सर्वस्व अर्पण कर देता है, और इससे उसे असीम आन्तरिक आनन्दका अनुभव होता है । आइये, अपने ही घरका उदाहरण ले लीजिये, जिस घरमें एक दूसरेपर विश्वास होता है वहाँ स्नेह और आनन्दकी सरिता बहती है, लक्ष्मीका निवास होता है और परिवारका प्रत्येक सदस्य संतोषकी श्वास लेता है । घरमें यदि प्रत्येक सदस्य एक-दूसरेपर विश्वास करना छोड़ दे तो फिर उस घरका तो ईश्वर ही मालिक है । यही बात सम्पूर्ण समाजपर लागू की जा सकती है । ईर्ष्या, द्वेष आदि विषयमें भी यही बात है, हम फूटी आँखोंमें दूसरोंकी उन्नति नहीं देख सकते । कारण भी प्रत्यक्ष है । जहाँ विश्वासका अभाव हुआ, वस वहाँ स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष सभी राहु-केतु घेर लेते हैं, जीवन नरकतुल्य बन जाता है । अतः विश्वास ही मनुष्यके जीवनका तत्त्व है ।

विश्वास क्या नहीं कर सकता—विश्वास हमें अथाह सागरके बीचसे होकर ले चलता है और समयपर गगनचुम्बी पहाड़ोंको लँगनेमें भी सरलता अनुभव कराता है । विश्वास, मनुष्यको मनुष्य ही केवल नहीं बनाता वरं ईश्वरतक पहुँचानेमें पूर्णतया सफल होता है ।

किंतु मानवका स्वार्थ विश्वासको धक्का देता है, अपने चारों ओर आँखें बंदकर कानोंपर हाथ रख लेता है और इस प्रकार जब वह संकीर्ण-द्वारमें प्रवेश कात्त है, तब सोचता है कि जीवन काँटोंसे व्याप्त है । वह नहीं

समझ पाता कि सुन्दर पुष्प काँटोंमें बिछे हैं या कोमल पुष्पोंमें काँटे। वह काँटोंसे पुष्प चुनना चाहता है, जो कभी सम्भव नहीं। मानव विश्वास तो करता है, पर कभी-कभी संकीर्ण-द्वारसे प्रवेश करनेपर सारे संसारको अपनी निजी सम्पत्ति समझने लगता है। अतः निर्माणमें निर्माताको तो क्या, निर्मित वस्तुको भी नहीं देख पाता। यदि विश्वास रहे तो काँटोंके आवरणमें ही जीवनकी रक्षा है। यदि यह विश्वास कर ले तो पुष्पोंकी ओर झपटनेका प्रश्न ही न उठे और सारा मानव

जगत् प्रेमसूत्रमें बँध जाय। यदि मनुष्य मनुष्य प्रति विश्वास करने लगे तो सब कुछ स्वतः ही प्राप्त हो जाय। जिसने विश्वास पा लिया, उसने सब कुछ पा लिया। यदि भाई भाईका विश्वास पा ले सारा विश्व अपना ही हो जाय और राम-राज्य ही प्राप्त हो जाय।

तब क्या मानव-समाजके कल्याणार्थ किमी मनुष्यको इस प्रकार एक-दूसरेपर विश्वास, श्रद्धा, प्रेम प्रयत्न करना उचित नहीं ?

पापमें आकर्षण है, सावधान !

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)

पापमें आकर्षण है। मनुष्य उस क्षणिक आकर्षणके वशीभूत होकर विवेक-बुद्धिको खो बैठता है। अपने आध्यात्मिक स्वरूपको विस्मृत कर बैठता है और पाप-पङ्कमें फँस जाता है। शैतानका मायाजाल कुछ ऐसा मादक-मोहक है कि अनुभवशून्य व्यक्ति उसे गहरी अन्तर्दृष्टिसे नहीं देख पाता। यदि पापमें आकर्षण न हो, तो कोई पाप करे ही क्यों ?

विश्वामित्र गहन तपश्चर्यामें लीन थे। दिन-रात चित्त एकाग्रकर अपने योगबलसे इन्द्रका सिंहासन जीत लेना चाहते थे। इतनेमें ही निर्जन वनमें एक मधुर कण्ठसे निकला हुआ गीत आकर उनके हृदयकी तन्त्रीसे लगा। कहाँ निर्जन वन और कहाँ नारीका मधुर गीत। वे छिपकर देखने लगे कि स्वर कहाँसे आ रहा है। उन्होंने देखा मेनकाका लावण्य, सौन्दर्यकी मूर्ति, विश्वको विचलित करनेवाली माया। वे उसके आकर्षणमें फँस गये। तपस्वीका चित्त चलायमान हो गया। उन्होंने उसका पाणिग्रहण किया। कुछ मास पश्चात् मेनका उनका तप भङ्ग कर भाग खड़ी हुई। महर्षिको भयङ्कर पश्चात्ताप एवं आत्मग्लानि हुई। हजारों बिच्छुओंके काटनेसे हुई असहनीय पीड़ासे कातर होकर वे बोले—

‘यह मेनका थी स्वर्गकी अप्सरा ! धोखा, माया ! हाय ! नारीके रूपमें कितना जादू है। विश्वामित्र, अब तुम योगभ्रष्ट तपस्वी हो। यदि पाप आकर्षण न हो, तो कोई पाप करे क्यों ? मेरे जीवनका यह दूसरी हार है। मेनकाके रूपने मेरी बुद्धि पर डाल दिया था। मेनके ! मैं तुमसे घृणा करता हूँ। तुमसे ही नहीं, तुम्हारे ध्यानतकसे घृणा करता हूँ। पापिनि ! मैं अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ा जा रहा हूँ। तुम मेरे मार्गमें बाधा होकर आ गयी। मेरे जीवनका तपस्या मिट्टीमें मिल गयी !’

यह है, पापके क्षणिक आकर्षणमें फँसकर लक्ष्य भ्रष्ट होनेवाले साधककी करुण पुकार— पश्चात्तापमें आँसू, कर्तव्य-च्युत तपस्वीकी आत्माका हाहाकार। इस पश्चात्तापमयी स्थितिमें हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति तनिक सा असावधान होकर पड़ सकता है।

भर्तृहरिने कहा है, ‘नीतिज्ञ जन निन्दा करें वस्तुति, लक्ष्मी आये या जाये, आज ही मरण हो अथवा युगान्तरमें हो, परंतु न्याय-मार्गसे विवेकी जन एक इंच भी नहीं हटते।’ चित्तकी वृत्तियोंको नियंत्रित करना ही ‘योग’ कहलाता है।

संख्या ९]

आकर्षण एक मायाजाल है, जिसमें कम बुद्धि और हल्की चित्त-वृत्तिके व्यक्ति सहज ही फँसते हैं। जो वस्तु बाहरसे जितनी अधिक आकर्षक है, वह वास्तवमें अंदरसे उतनी ही खोखली, अपूर्ण और झिल्ली हुआ करती है।

दूरीमें आकर्षण है। जबतक वस्तुएँ दूरीपर हैं, तबतक बड़ी आकर्षक प्रतीत होती हैं, किंतु ज्यों-ज्यों वे समीप आती हैं, उनका आकर्षण क्रमशः क्षीण होता जाता है। अत्यधिक वनाव-शृङ्गार कर अपना वस्तु रूप आकर्षक बनानेवाले व्यक्ति अपनी आन्तरिक कुरूपताको ढकनेमें यह उद्योग किया करते हैं। ईशानकी पोशाक और अधिक वनाव आभूषण आदि अंदर-की कुरूपताको छिपानेके ही उपाय हैं।

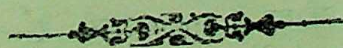
कहते हैं प्रारम्भिक युगमें, जब आदम-हव्वा स्वर्गके एक मनोरम उद्यानमें रहते थे, शैतानने एक आकर्षक वनारका रूप धारणकर उन्हें वर्जित वृक्षके फल चढ़के लिये उत्सुक किया था। आदम मनीषी थे। जब आकर्षणका कुछ प्रभाव न पड़ा, किंतु उनकी लालच हवापर आकर्षणका मायाजाल चल गया। वह अपने आपको न रोक सकी और उसने वर्जित वृक्षका फल खा ही लिया, जिसके दण्डस्वरूप उन्हें स्वर्ग छोड़ देना पड़ा।

जब सीताजीने मायावी मारीचका हरिनवाला आकर्षक स्वरूप देखा, तब उसका मृगचर्म प्राप्त करनेकी भावना उनके मनमें उदित हुई। उन्होंने पतिदेवसे उसे प्राप्त करनेका अनुरोध किया तथा अप्रत्याशित कठिनाइयोंकी शिकार बनीं। यदि आकर्षणसे उद्भूत उस मोहजालसे वे अपनेको संयमित कर पातीं, तो वे अनेकों कठिनाइयोंसे बच सकती थीं। (यह दूसरी बात है कि भक्तोंकी दृष्टिमें यह सब उनकी लीला थी।)

आकर्षणका प्रभाव पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंपर विशेष रूपसे होता है, क्योंकि वे स्वभावतः कलाप्रिय और भावुक हैं। उन्हें अपनी मनोवृत्तियोंपर आसानीसे काबू नहीं होता। सामाजिक जीवनमें आकर्षक रूप धारणकर झूठी बातें बना अनेक दुष्ट उन्हें पथ-भ्रष्ट कर देते हैं। अतः उन्हें आकर्षणके मोहजालसे विशेष सावधान रहनेकी आवश्यकता है। 'सब चमकनेवाला सोना नहीं होता'—इस उक्तिका तथ्य एवं अनुभव तभी प्रकट होता है, जब हम प्रत्येक आकर्षक व्यक्तिमें सज्जनताका आरोप करते हैं।

बाहरसे आकर्षक लगनेवाले व्यक्ति आन्तरिक विकासकी दृष्टिसे ही शून्य नहीं होते, वरं प्रायः अनैतिक भी होते हैं। इसी प्रकार आकर्षक विज्ञापनों-द्वारा सनसनी पैदा करनेवाले माल, दैनिक व्यवहारकी वस्तुएँ, खूबसूरत रैपरोंमें लिपटी हुई साबुनें, हेयर आयल, इत्र, अगरबत्तियाँ, रंग-विरंगे कागड़े, पुस्तकें छलपूर्ण होती हैं। साबुन लपेटनेवाले कागजमें खुशबू लगाकर क्षणिक आकर्षण उत्पन्न कर दिया जाता है, जब कि उसमें खुशबू अत्यल्प होती है। बच्चोंको लुभानेवाले विस्कुट, चाकलेट, मिठाईकी गोलियाँ अपने स्थायी लाभके कारण नहीं, वरं बाहरी आकर्षणके कारण ही बिकती हैं।

आकर्षणके थोथे-उथले मायाजालसे सावधान रहें। दूरसे आकर्षित करनेवाली वस्तुको समीपसे ध्यानपूर्वक देखनेसे उनकी वास्तविकताका रहस्य आपपर प्रकट हो जायगा और आप अनेकों पाप, अपकीर्ति तथा हानियों-से बच जायँगे। उस क्षणिक सुख, आकर्षक वस्तु, या मोहवश किये हुए कार्यसे क्या लाभ, जो आपको जीवनपर्यन्त दुःखके समुद्रमें ढकेल दे !



प्रपत्तिकी विशेषता

(लेखक—प्रो० जयनारायण मलिक, एम्० ए०, डिप० एड्, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

‘प्रपत्ति’ भगवान्से मिलनेका सर्वोत्तम साधन है। प्रपत्तिका अर्थ है—भगवान्के प्रति अनन्य और अकिंचन-भावसे शरणागत हो जाना तथा भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको समर्पित कर देना। ‘भक्त’* समझता है कि ‘ममैवात्सौ’, अर्थात् भगवान् मेरे हैं तथा भक्ति, साधना एवं सेवाके द्वारा मैंने भगवान्को अपना लिया है। ‘प्रपन्न’ समझता है कि ‘तस्यैवाहम्’ अर्थात् मैं भगवान्का हूँ, मैंने भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको सौंप दिया है, अब मेरा तन, मन, धन, सब कुछ भगवान्का है। प्रपन्न आर्त, दीन और अकिंचन हो जाता है, वह किसी दूसरेका भरोसा नहीं करता; वह अपना पिता, माता, बन्धु-वान्धव सब कुछ भगवान्को ही समझता है—

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरपि गतिश्चासि जगताम् ।

‘तुम्हीं पिता हो, तुम्हीं माता हो, तुम्हीं स्त्री-पुत्र हो, तुम्हीं प्रिय सुहृद् हो, तुम्हीं मित्र हो, तुम्हीं इस जगत्में गुरु हो और तुम्हीं गति हो ।’

प्रपन्न अपनेको भगवान्की ही वस्तु और उन्हींका किङ्कर समझता है—‘त्वदीयस्त्वद्भृत्य’ भगवान्के अनुकूल कैङ्कर्य करना ही प्रपन्नका धर्म है।

भक्त और प्रपन्नमें वही अन्तर है जो ‘सेवक’ और ‘पत्नी’ में पाया जाता है। सेवक भी अपने स्वामीके आज्ञानुसार सभी कैङ्कर्य करता रहता है, पर पत्नीका तो पति सर्वस्व ही है। मालिकके छोड़ देनेपर भी नौकर अपना निर्वाह कर लेता है, पर पतिके परित्याग कर देनेपर पत्नी कहाँ जाय ? क्या करे ? पत्नीको तो पतिके अतिरिक्त और कोई शरण ही नहीं है। पत्नीने तो अपने-आपको पतिके चरणोंमें सौंप दिया है, पति उसे जिस अवस्थामें भी रखे, वह रहनेको तैयार है। पति ही उसका उपाय है, पति ही उसका अवलम्ब है। पतिके अतिरिक्त वह अन्य किसीको नहीं जानती। उसके अपनी कोई निजी इच्छा नहीं रहती, पतिकी प्रसन्नता ही पत्नीका आधार है। इसी

प्रकार प्रपन्नका भी आधार, अवलम्ब और उपाय एकमात्र भगवान् ही हैं। भगवान् उसे जिस अवस्थामें रखें, वह उसीमें संतुष्ट रहता है। चाहे सुखमें हो या दुःखमें, वह भगवान्को नहीं भूलता। विपत्ति पड़ने पर भी वह भगवान्को नहीं कोसता।

पत्नी चाहे कितनी ही साध्वी क्यों न हो, वह सर्वदा अपने दोषोंको ही देखती रहती है, अपने अपराधिनी ही समझती है और पतिके पद-रजकी ही कायल करती है। इसी प्रकार प्रपन्न भी अपने भगवान्से कहता है—

अपराधसहस्रभाजनं पतित भीमभवारणवोद्रे ।

अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु ॥

प्रपन्नके लिये नीचानुसन्धान आवश्यक है। जब हम अपनेको अनन्त अपराधी, निराधार और आर्त हो समझेंगे, तबतक प्रपत्तिकी भावना हमारे अन्तःकरणमें नहीं आ सकती। पत्नी कभी यह नहीं सोचती कि मेरा गुजारा कैसे होगा ? पतिने जब हाथ पकड़ ही लिया है तब फिर सोच क्यों ? और पत्नीकी प्रतिष्ठाकी रक्षा करना पतिका धर्म है, जो वह स्वयं जानता है। प्रपन्न भी अपने रक्षाका भार भगवान्को देकर स्वयं निश्चिन्त हो जाता है। ‘रक्षिष्यतीति विश्वासः ।’ पत्नीको विश्वास है कि स्वयं बिना कहे भी रक्षा करेंगे ही, उसी प्रकार प्रपन्न भी समझता है कि भगवान् बिना कहे भी बन्धनसे मुक्त करेंगे ही। पत्नी अपनी रक्षाके निमित्त पतिको छोड़कर अन्य किसी उपायका अवलम्बन नहीं करती, उसी प्रकार प्रपन्न भी अपने मोक्षके लिये भगवान्को छोड़कर अन्य किसी उपायका ग्रहण नहीं करता। प्रपन्न यदि भगवान्को छोड़कर अपनी रक्षाके लिये यन्त्र, मन्त्र, ओझा, डाह, भूत-प्रेत तथा देवतान्तरकी शरण ग्रहण करता है तो उसकी प्रपत्तिकी भावना ही नष्ट हो जाती है। भगवान्की प्रति भगवान् ही उपाय हैं। अपने बलपर भगवान्की प्रति नहीं हो सकती। मनुष्य सदैव भूल करता रहता है। वह तो कमजोरीका पुतला है। उसके हृदयमें वासना-वर्षा तो फुफुकार करती रहती है। उसके अन्तःकरणमें दुष्टता

हाहाकार है—भोग-वासनाका विषभरा मधुर नर्तन है। वह क्या करे ? वह भी सोचता है कि इन्द्रियोंको जीत

* प्रपत्ति भक्तिके व्यापक स्वरूपका ही एक अङ्ग है।

यहाँ ‘भक्त’से वैधी भक्ति करनेवाले प्रारम्भिक भक्तका कथन है।

संख्या ९]

चाहिये, पापसे मनको हटाना चाहिये, पर उसका संकल्प बहुत क्षीण और दुर्बल रहता है। उसकी प्रवृत्ति व्यतीत कर्मों का रस पीकर बलवती हो गयी है, वह बरजोरी इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर ले जाती है। दुर्बल मानव क्या करे? भोग-वासना अपने संकेतपर मनुष्यको नचाती रहती है।

इन्ने द्वार श्रोत्रा नाना । तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥
अन्त देखहि विषय बयारी । ते हठि देहि कषाट उवारी ॥

वह किस प्रकार अपने बलपर भगवान्‌को पानेकी आशा करे? तिमिरमयी रजनीमें संकीर्ण पिच्छल पथपर वह प्रकाशकी ओर जानेकी चेष्टा करता है, दोनों ओर सड़ियाँ हैं और पैर फिसलनेका डर है। ऐसी परिस्थितिमें भगवान्‌ ही रक्षक हैं और वही पार लगा सकते हैं। शक्तिहीन मानव पाप करता है, दुःख भोगता है, लुल्लाता है और फिर पाप नहीं करनेकी प्रतिज्ञा भी करता है, पर प्रलोभनके भवैरमें पड़कर वह कभी प्रतिज्ञा भूल जाता है और फिर उसी पाप-वृत्तिमें डूब जाता है। वह जीवनकी शोलीमें फूल झुने आया है, पर केवल कंकड़-कंटक चुनकर लेता है। शीक ही सोचता है—

पेसा निन्दित कर्म नहीं है,

जिसे न शतशः कर आया हूँ ।

जीवनकी शोलीमें प्रभुवर !

कंकड़-कंटक भर लाया हूँ ॥

लिये धूलकण काम-क्रोधके

यौवनकी आँधी चलती है ।

जीवन-रस, मादक-मधु पीकर

जहरीली नागिन पलती है ॥

तिमिरमयी नीरव-रजनीमें

भ्रान्त पथिक-सा भटक रहा हूँ ।

कानन-शिलापर कर्मों-

की गठरी में पटक रहा हूँ ॥

पथ पिच्छल है, अन्धकारमें

साईंमें गिरनेका भय है ।

अन्तस्तलमें छिपी वासनाका

अमिनय मादक मधुमय है ॥

और कामिनीकी

क्रीड़ासे थका व्यथित जीवन है ।

दुर्बल शक्ति-हीन हूँ फिर भी

प्रबल कामनाका नर्तन है ॥

सदा वासना मेरे अन्तस्तल-

में प्रभु क्रीड़ा करती है ।

माया शुभ्र वसन धारण कर

मेरा मन मथन करती है ॥

यदि हम इस भरोसे बैठे रहें कि जिस दिन हमारे सारे कर्म पवित्र हो जायेंगे, जिस दिन हमारा जीवन अनासक्त और निर्लिप्त हो जायगा, उस दिन अपने-आप मोक्ष मिल जायगा, तो यह हमारी भूल होगी। अपने-आप न तो कभी वासनाका हनन होगा और न कभी मोक्ष ही मिलेगा। वासना तो प्रारब्ध और क्रियमाण, दोनों कर्मोंको बाँधनेवाली कड़ी है। न्यायके बलपर मोक्षकी आशा करना दुर्लभ है। वासनाके विराट् अन्धकारमें विवेकका टिमटिमाता हुआ प्रकाश क्षणिक और चञ्चल है। प्रलोभनोंके निकट भोग-सामग्रियोंके बीचमें हमारा संकल्प स्थिर नहीं रह पाता। विषयोंके प्रबल झंझावातमें शानकी कमजोर दीप-शिखा काँपने लगती है और कभी-कभी बुझ भी जाती है। हमारा बाह्य रूप तो सुन्दर, पवित्र और आकर्षक रहता है, पर हमारे अन्तर्जगत्‌में तृष्णा, स्वार्थ और भोग-लिप्साका ताण्डव नृत्य जारी रहता है, हम हंसके रूपमें कौएका हृदय लिये हुए संसारकी आँख बचाकर दुष्कर्म भी कर लेते हैं और अपने यश तथा प्रतिष्ठापर जरा भी आँच नहीं आने देते। संसार हमें महात्मा तथा साधु समझ ले, पर भगवान्‌ तो अन्तर्यामी हैं, वह हमारे सभी छिपे अपराधोंको देख लेते हैं। इसीलिये श्रीस्वामी यामुनाचार्यने कहा है—

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके

सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।

सोऽहं विपाकावसरे सुकुन्द

क्रन्दासि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥

प्रपत्तिका आधार भगवत्कृपा है। न्यायके अधिकारसे नहीं, भगवत्कृपाके बलपर हम मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं। अपने बलपर निष्काम कर्मके द्वारा हमारा मोक्ष प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है; क्योंकि हमारे कर्मोंका सर्वथा निष्काम होना आसान नहीं है। इसलिये जबतक हम अनन्य अकिंचन होकर दीन अपराधीकी तरह काँपते हुए भगवान्‌के चरणोंमें आत्म-समर्पण नहीं कर देंगे और

शरणागतिके द्वारा भगवान्की प्राप्तिमें भगवान्को ही उपाय नहीं समझ लेंगे, तबतक उद्धार होना असम्भव-सा है।

प्रपत्तिमें अर्थपञ्चकका ज्ञान तथा अनन्यशेषत्व, अनन्यशरणत्व और अनन्यभोग्यत्व होना आवश्यक है।

अर्थपञ्चकतत्त्वज्ञाः पञ्चसंस्कारसंस्कृताः ।

अकारत्रयसम्पन्ना महाभागवताः स्मृताः ॥

अर्थपञ्चकके अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच वस्तुओंका ज्ञान होना आवश्यक है—

१. जीवात्माका स्वरूप ।
२. परमात्माका स्वरूप ।
३. पुरुषार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) ।
४. जीवको परमात्मासे मिलनेके उपाय (कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, प्रपत्तियोग आदि) ।
५. जीवके मोक्ष-मार्गके विरोधी ।

‘अनन्यशेषत्व’ का तात्पर्य है भगवान्को छोड़कर अन्य किसीका दासत्व स्वीकार नहीं करना। ‘अनन्य-शरणत्व’ का लक्ष्य है—भगवान्को छोड़कर अन्य किसीकी शरणमें नहीं जाना। ‘अनन्यभोग्यत्व’ का अर्थ है—भगवान्को छोड़कर अपनेको अन्य किसीका भोग्य नहीं समझना। पर अनन्यताका यह अर्थ नहीं है कि परमात्माके अतिरिक्त हम किसी अन्य देवताकी आराधना तो नहीं करते, पर कामिनी और काञ्चनके हाथ अपनेको बेच डालते हैं। अनन्यताका तात्पर्य है कि परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीको भी हृदयमें स्थान नहीं दें, चाहे वह कोई देवता हो या मनुष्य, चाहे कोई रूपवती युवती हो या काञ्चनका भंडार। हमारे हृदय-मन्दिरमें जब एकमात्र प्रभुका ही आधिपत्य रहता है, तब अनन्यता सार्थक होती है।

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसैं । लोमी हृदयैं बसइ धनु जैसैं ॥

शरीरसे हम जो भी कर्म करते रहें, पर मनको भगवान्में लगाये रखें। बिना प्रेमके भगवान् नहीं मिलते। तनसे कर्म करहु विधि नाना। मन राखहु जहँ कृपानिवाना ॥
मन से सकल वासना भागी। केवल राम चरन लय लागी ॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किऐं जोग जप नेम विरागा ॥

जिस प्रकार पत्नी पतिकी सेवा सेवामें लगती है, भाव

समझकर नहीं, उसी प्रकार प्रपन्न भी भगवान्के प्रेमसे और प्रसन्नतासे करता है, भार समझकर नहीं, प्रपन्न भगवान्से कहता है—

कोटिन मुख कहि जात न प्रभुके एक एक उतरा ।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं दीजै परम उतरा ।
विषय-वारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ परम उतरा ।
ताते सहिय विपति अति दारुन जनमत जोनि अतरा ।
कृपा-डोरि बंसी पद-अंकुस परम प्रेम मृदु चोरा ।
यहि विधि बेगि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहोरा ।

प्रपत्ति भगवान्को प्रसन्न करनेका सबसे सुलभ साधन है। लंकामें विभीषण जब भगवान्की शरणमें आ रहे और सोचते आते थे—

देखिहउँ जाइ चरन जलजाता । अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ।
जे पद परसि तरी रिषिनारी । दंडक कानन पावनकारी ।
जे पद जनकसुतौ उर लाए । कपट कुरंग संग घर बाए ।
हर उर सर सरोज पद जेई । अहोभाग्य मैं देखिहउँ जेई ।

जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लख ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन नयनन्हि अब जाइ ॥

इस प्रकार मनोरथ करते हुए विभीषण आगे वानरोंने भगवान्को सूचना दी, भगवान्ने सेनापति युधामन्यु राय पूछी। उसी समय सुग्रीवने भगवान्से कहा—

जानि न जाइ निसाचर माया । कामरूप केहि कारन आज ।
भेद हमार लेन सठ आवा । राखिअ बाँधि मोहि अस भावा ।

किंतु भगवान् तो शरणागतवत्सल हैं। उन्होंने उसको दिया—

सखा ! नीति तुम्ह नीकि विचारी । मम पन सरनामत भयहारी ।

भगवान्की प्रतिज्ञा है कि—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आँ सरन तजउँ नहिं तहू ।
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ।

भगवान्का संकल्प है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवासीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्गतं मम ॥

अर्थात् “एक बार भी जो मेरे शरणागत हो जाते हैं और कह उठता है कि ‘नाथ ! मैं आपका ही हूँ’ उनके मैं सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यही मेरा व्रत है।”

मैं सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यही मेरा व्रत है। मैं सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यही मेरा व्रत है।

संख्या ९]

योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—कई मार्गोंको देखकर कुछ उलझनमें भी पड़ जाता है। वह नहीं सोच पाता कि भगवान्‌के पास पहुँचनेका सबसे सुगम राजपथ कौन-सा है।

भुक्ति पुरान बहु कहेउ उपाई। सुकृष्ण न अधिक अधिक अरुझाई ॥

ऐसी ही किंकर्तव्यविमूढ़ स्थितिमें भगवान्‌ कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

‘सब धर्मोंके आश्रयको छोड़कर तुम एक मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम चिन्ता मत करो।’

प्रपत्ति ही भगवत्प्राप्तिका सबसे सुलभ साधन है। प्रपत्तिमें जीव अपना भार भगवान्‌को दे देता है और स्वयं निश्चिन्त होकर उनका कैङ्कर्य करता है।

कर्मयोगमें निष्काम कर्म करना आवश्यक है। जिस प्रकार कमल जलमें रहकर भी जलसे भिन्न ही रहता है, उसी प्रकार कर्मयोगका आदेश है—संसारमें रहते हुए संसारके विकारोंसे निर्लिप्त रहना, इन्द्रियोंसे कर्म करते हुए उन कर्मोंमें और उनके फलमें अनासक्त रहना। पर प्रश्न तो यह है कि यह होगा कैसे? उपदेशक उपदेश देकर चले जाते हैं कि कामनाका हनन करो, प्रवृत्तिको रोकें, कामिनी और काञ्चनकी ओर आकृष्ट मत होओ। पर कोरे उपदेशसे इस समस्याका समाधान नहीं होता।

वहाँ आचार-शास्त्र (Ethics) और मनोविज्ञान (Psychology) से मेल जो नहीं खाता। मानव-जमाजमें बहुत ऐसी समस्याएँ हैं, जिनका समाधान तब तक नहीं हो सकता, जबतक आचार-शास्त्र और मनोविज्ञान एक ही स्थलपर और एक ही उपसंहारपर नहीं आ जायँ। केवल पुस्तक पढ़नेसे और उपदेश सुननेसे आचरण प्रभाव डाल सकता है, पर हमारे अन्तःकरणपर मनोविज्ञानका ही आधिपत्य है। चाहे संसारको दिखानेके लिये अथवा इसे या लज्जासे हम इन्द्रियोंको बरजोरी विषय-भोगोंसे रोक लें, पर विषयका रस तो अन्तःप्रदेशसे नहीं सूखता (रसवर्च्य)। आचार-शास्त्रके सिद्धान्तोंपर निर्मित अनेक धर्म-शास्त्रोंको पढ़कर हम शास्त्रज्ञ भले ही हो जायँ, लंबी-लंबी वक्तृता एवं अवच्छेदकतापूर्ण वाग्जालसे शास्त्रार्थमें अपने प्रतिद्वन्दीको भले ही हरा दें, पर इससे आचरणकी

समस्या हल नहीं होती। वाक्यज्ञानसे आचरण पवित्र नहीं होता—

वाक्य ज्ञान अत्यंत चतुर, भवपार न पाव कोई।

जिमि गृह-मध्य दीपकी वातन्हि तम निवृत्त नहिं होई ॥

आजकी जनता अधिकांशतः धर्मशास्त्रसे अपरिचित और उदासीन है। इसका कारण क्या है; विना कारण जाने किसी रोगकी समुचित चिकित्सा नहीं हो सकती। ‘कलियुग’ और ‘अंग्रेजी शिक्षाका प्रभाव’ कहकर टाल देनेसे कोई लाभ नहीं। जड़ और अजड़के संघर्षमें हमें अजड़ (आत्मा) को जड़के प्रभावसे सर्वथा मुक्त करना है। इस कार्यमें कोरा कर्मकाण्ड अधिक सहायता नहीं करता। कर्मकाण्डी स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं, पर केवल कर्मकाण्डके भरोसे मोक्ष मिलना दुर्लभ है। हमें कर्मकाण्डी नहीं बनना चाहिये, कर्मयोगी बनना चाहिये। कर्मकाण्ड सकाम है, कर्मयोग निष्काम। पर कर्मयोगकी सफलताके लिये भक्तियोग या प्रपत्तियोगकी अत्यन्त आवश्यकता है। कर्म तो हम स्थूल शरीरसे करते हैं, पर कर्म करनेके समय जो अन्तःकरणमें आनन्द या विषादकी एक तरङ्ग उठती है, वही तरङ्ग वासनाका भोजन है और वही प्रवृत्तिकी जननी है। इन्हीं तरङ्गोंसे मन, बुद्धि, अहंकारसे बना हुआ सूक्ष्म शरीर सुरक्षित रहता है।

कर्मयोगका आदेश है कि हम आसक्ति और फलामिलापा छोड़कर तथा निर्लिप्त होकर कर्म करें, कर्म करनेपर भी हमारे मनमें कोई विकार, कोई लहर उत्पन्न न हो। यह कार्य तभी सफल हो सकता है जब हम अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप दें। जब हमने भगवान्‌के चरणोंपर आत्म-समर्पण कर दिया, तब तो फिर अपने लिये—भोग-वासनाकी वृत्तिके लिये कोई कर्म ही नहीं करना है, जो कुछ करना है, सब केवल भगवन्निमित्त ही करना है। प्रपन्नके कर्मोंका ध्येय भगवान्‌की प्रसन्नता है। फिर हमारा अपना क्या रहा? शरीर, मन, आत्मा सभी कुछ तो भगवान्‌को ही दे दिया; फिर हमें जो कुछ करना है, सब कुछ भगवान्‌की प्रीति और प्रसन्नताके लिये ही करना है और सब कुछ उन्हींके आज्ञानुसार करना है, इस प्रकार वासना अपने-आप मर जाती है, प्रपन्नका सारा जीवन ही भगवत्कैङ्कर्य हो जाता है। शरीर-रक्षाके निमित्त, परिवारके भरण-पोषण, समाज-रक्षा एवं लोक-

कल्याणके लिये कर्म करना सभी भगवत्कैङ्कर्य है। जब हम भोग-बुद्धिसे प्रवृत्ति और वासनासे प्रेरित होकर केवल स्वार्थ-सिद्धिके लिये कर्म करते हैं, तब वही कर्मबन्धन है और जब हम कर्त्तव्यसे प्रेरित होकर कैङ्कर्य-बुद्धिसे भगवान्की प्रसन्नताके लिये कर्म करते हैं, तब वह कर्म अपने-आप निष्काम और निर्लिप्त हो जाता है और बन्धनका कारण नहीं बनता।

प्रपन्नके लिये सबसे बड़ा आदेश है—

‘आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।’

१. भगवान्के अनुकूल कर्म करना। जिस कार्यसे भगवान्की प्रसन्नता हो, उसी कार्यको करनेकी चेष्टा—जिस प्रकार पत्नी अपने पतिके इच्छानुसार अपना जीवन बना डालती है, उसी प्रकार प्रपन्न भगवान्के अनुकूल अपना जीवन बना डालता है।

२. भगवान्के प्रतिकूल सभी कर्मोंका सर्वथा त्याग—जो कर्म दूषित तथा अपवित्र हैं, जो कर्त्तव्य और शिक्षाचारके विरुद्ध केवल प्रवृत्ति और भोगवासनासे प्रेरित होते हैं, जिन्से अपना या पराया समाजका और विश्वका कल्याण नहीं होता, वे कर्म भगवान्की इच्छाके प्रतिकूल हैं और उनका बहिष्कार होना चाहिये।

प्रपत्तिका मुख्य अङ्ग है—आत्मसमर्पण अर्थात् अपने-आपको भगवान्के चरणोंमें सौंप देना। फिर प्रपन्नको यह अधिकार नहीं रह जाता कि वह अपने समय, धन तथा शक्तिका अपव्यय या दुरुपयोग करे। वह एक क्षण भी भगवत्कैङ्कर्यसे विमुख नहीं रह सकता। श्रीयामुनाचार्य स्वामीने कहा है—

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात् ।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम् ॥

सचमुच वह शरीर, वह प्राण, वह सुख, वह आत्मा,

वह चाहे जो कुछ भी हो, यदि ये सभी पदार्थ भगवत्कैङ्कर्यसे बाहर हों, तो प्रपन्न उन्हें एक क्षणके लिये भी नहीं छू सकता।

समय, शक्ति और धनका दुरुपयोग प्रपन्नके लिये महान् अपचार है। अपने समयको, अपनी शक्तिको और अपने धनको ऐसे कार्योंमें लगाना, जिन्से न तो अपना और न किसी अन्यका अपकार होता हो। इतना अपव्यय है, जैसे ताश खेलकर या व्यर्थके गपशपमें न तो अन्य व्यसनोंमें समय लगाना समयका अपव्यय है। समयका अपव्यय न तो लाभप्रद है और न अधिक हानिकार, किंतु ऐसे कार्योंमें समय, शक्ति और धनको लगाना, जिन्से अपना या समाजका अनिष्ट होता हो—जैसे निन्दा, हिंसा, द्वेष, कपट, चोरी, व्यभिचार इत्यादि—इनका सर्वथा दुरुपयोग है। प्रपन्नके लिये समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय एवं दुरुपयोग दोनों ही वर्जित हैं। प्रपन्न जो समय है, प्रपन्नकी जो शक्ति है, प्रपन्नका जो धन है, वह तो अपना नहीं है, वह तो भगवान्को समर्पित है। फिर उसको कोई अधिकार नहीं रह जाता कि वह अपने एक क्षणका भी, शक्तिके एक कणका भी, धनके एक अणुका भी दुरुपयोग कर सके। धनका वह न्याय तथा धर्मसंगत उपार्जन करता है भगवान्के निमित्त—भगवत्कैङ्कर्यके लिये नारीका वह शास्त्रोक्त सेवन करता है भोग-वासनाके तृप्तिके लिये नहीं, किंतु संतानोत्पत्तिके लिये। पत्नी के वस्तुतः जीवनसंगिनी तथा कर्त्तव्य-पथकी सहायिका है। बच्चोंका प्यार, परिवारका भरण-पोषण, समाजकी सेवा सभी तो भगवत्कैङ्कर्य हैं।

प्रपत्ति वस्तुतः भगवत्प्राप्तिका सबसे सुलभ साधन है। इसी प्रपत्तिके आधारपर गीतामें कहा है—

‘स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।’

प्रपत्तिका कितना सुन्दर रूप श्रुतियोंमें वर्णित है।—
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तच्छि देवमात्मबुद्धिप्रसादं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

शास्त्रवाणी

पूजितो वैष्णवो येन विश्वं च तेन पूजितम् ।

जो वैष्णवकी पूजा करता है, उसके द्वारा विश्वकी पूजा हो जाती है।

कर्म-हीन

(लेखक—श्रीरावी)

हिमालयकी किसी कन्दरामें एक सिद्ध महात्मा रहते थे। एक बार एक साहसी तरुण साधु उनके पास पहुँच गया और उसने उनकी बड़ी सेवा की। महात्माजीने उसे अपना शिष्य बना लिया और कुछ ही दिनोंके अभ्याससे उसने अनेक सिद्धियाँ, शक्तियाँ प्राप्त कर लीं।

एक दिन महात्माजीने उससे कहा—

‘वत्स ! तुमने सभी लौकिक सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त कर ली हैं। लेकिन यह संसार कर्म-भूमि है, जवतक तुम संसारमें जाकर कर्म नहीं करोगे, तुम्हारा पूरा कल्याण नहीं होगा। इसलिये जाओ और संसारमें कुछ उपयोगी कर्म करो।’

गुरुकी आज्ञा सिर-माथेपर लेकर वह साधु बस्तियोंकी ओर चल दिया। राहमें उसे एक दुर्बल-काय मनुष्य मिला, जो अपने सिरपर एक बड़ी-सी गठरी लिये जा रहा था। देखके कारण उसका दम फूल रहा था और पैर नहीं उठ रहे थे। साधुको उसपर दया आयी और उसने अपने सिद्ध शक्तिको आवाहन कर उसे आज्ञा दी कि उस आदमीकी गठरी उठाकर उसके साथ-साथ जाय और उसे उसके अभीष्ट स्थानपर पहुँचा आये। संयोगवश उस आदमीको भी उधर जाना था जिस ओर यह साधु जा रहा था। अस्तु, यह साधु भी उसके साथ ही चला।

एक गाँवके समीप तालाब-किनारेकी एक घनी झाड़ीमें पहुँचकर उस आदमीने अपनी गठरी रखवा ली। यहाँपर रहते ही उसकी स्त्री छिपी हुई उपस्थित थी। साधुको यह पता चलते देर न लगी कि यह दुर्बल आदमी एक चोर है और दूसरे गाँवके किसी घरसे यह सामान चुरा कर लाया है। साधुको उस चोरपर बड़ा क्रोध आया और पश्चात्ताप भी हुआ कि किस कुपात्र दुष्टकी उसने सहायता की। उसने वह गठरी उसी समय चोरके सिरपर लदवाकर उसे आज्ञा दी कि तुरंत उसे उसके मालिकके पास ले जाकर लौटाये और अपने कुकृत्यकी क्षमा माँगे। उसने अदृश्य रूपमें अपने बैतालको चोरके साथ कर दिया जिससे यह चोर इस आदेशके पालनमें कोई गड़बड़ी न कर सके।

आदेशका पालन कराकर बैतालने साधुको इस बातकी सूचना दी और बताया कि उस गठरीका मालिक एक बड़ा

ही भगवद्-भक्त किंतु निर्धन गृहस्थ है। अपनी पुत्रीका विवाह करनेके लिये उसने जो सामान पेट काट-काटकर इकट्ठा किया था, उसे ही वह चोर चुरा लाया था। चोरके मुखसे सारी कथा सुनकर उसने उसे, आपको और भगवान्-को बहुत-बहुत धन्यवाद दिये।

साधुने सोचा कि ऐसे दीन भगवद्-भक्तकी उसे कुछ सहायता करनी चाहिये। उसने संकल्प किया कि वह स्वयं उसके घर जाकर उसे सौ स्वर्ण-मुद्राएँ भेंट करेगा।

साधु लौट पड़ा और उस गृहस्थ भक्तके गाँवके बाहर ही उसे कुछ लोग आपसमें बातें करते हुए मिले। ये उस गृहस्थकी ही चर्चा कर रहे थे। उनमेंसे एक व्यक्ति कह रहा था कि उस भक्त गृहस्थने उससे पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ उधार ली थीं और देनेके नामपर सदैव टाठमटोल करता है और कभी-कभी कुवचन बोलकर उसका तिरस्कार भी करता है। इस साधुने देखा कि वह व्यक्ति सचमुच उस समय बड़ी गरीबीकी दशामें था। साधुने उसी समय ‘प्राति’ सिद्धि-द्वारा पाँच स्वर्ण-मुद्राओंका आवाहन किया और उस व्यक्ति-को अलग बुलाकर ये मुद्राएँ उस गृहस्थकी ओरसे दे दीं।

गृहस्थके सम्बन्धमें इस जानकारीसे साधुको कुछ शोभ भी हुआ और उसने सोचा कि ऐसे भक्त-गृहस्थको किसी गरीबका पैसा नहीं रोकना चाहिये था और अपने ऋणदातासे दुर्वचनोंका व्यवहार तो कदापि नहीं करना चाहिये था। उसने निश्चय किया कि ये पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ उसे उन संकल्प की हुई सौ मुद्राओंमेंसे अवश्य काट लेनी चाहिये।

भक्त गृहस्थके घर पहुँचनेपर उसने साधुका एक अभ्यागत अतिथिके रूपमें बड़े आदर-भावसे स्वागत किया। साधुने गृहस्थको यह नहीं शत होने दिया कि चोरवाले प्रकरणमें उसीका हाथ रहा है। बात-चीतमें उस साधुको शत हुआ कि वह व्यक्ति, जिसे उसने पाँच मुद्राएँ दी थीं, वास्तवमें उस गृहस्थ भक्तके पिताका बीस स्वर्ण-मुद्राओंका ऋणी है, और उसने एक बार पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ उस ऋणकी अदायगीमें ही दी थीं और अब उन्हें अपनी स्वतन्त्र देन बताकर उनका तकाज़ेपर तकाज़ा करने लगा था।

साधुने अणिमा सिद्धिद्वारा बहुत छोटा रूप धरकर

उसी समय उस व्यक्तिके घरमें प्रवेश करके वे पाँचों स्वर्ण-मुद्राएँ वापस ले लीं।

साधु रातभर उस गृहस्थका अतिथि रहा और रातमें ही उसने 'प्राप्ति' सिद्धिद्वारा पंचानवे और स्वर्णमुद्राओंका आवाहनकर पिछली पाँच समेत सौ स्वर्णमुद्राएँ अपने पास अगली सुबह भेंट करनेके विचारसे रख लीं।

उस गृहस्थका एक पुत्र बड़ा दुर्बलसनी और नीच प्रकृतिका निकल गया था। उसने इस अतिथिके पास स्वर्ण-मुद्राओंकी मनक पाकर रातों-रात पचास मुद्राएँ चुरा लीं। सुबह जब साधुने अपनी थैलीको आधी रीती पाया तो उसे बड़ा क्षोभ हुआ। अपनी सिद्धयोगिनीका आवाहन करके उसने इस चोरीका पूरा भेद जान लिया और गृहस्थसे उसके पुत्रकी शिकायत की।

गृहस्थने कुछ उत्तेजित स्वरमें कहा—

‘महाराज ! यह ठीक है कि मेरा पुत्र दुष्ट है, पर आपका यह लाञ्छन तो सर्वथा झूठा ही प्रतीत होता है। आप साधु हैं, आपके पास पचास स्वर्ण-मुद्राएँ भला कहाँसे आयीं ? आप भले अतिथि बनकर एक गरीब गृहस्थपर पचास स्वर्ण-मुद्राओंका बोझ और लादना चाहते हैं ! आप

इस तरह ठगी करके क्यों अपने साधुवेशको कलङ्कित कर लीं ?

यह सुनते ही साधुको बड़ा क्रोध आया। उसने गृहस्थको भस्म करनेके लिये ज्यों ही अपने सिद्ध आवाहन किया त्यों ही उसके गुरुजीने प्रकट होकर उसके हाथ रोक लिया और कहा—

‘वत्स ! संसारमें कर्म करना बड़ी-बड़ी सिद्धियोंको प्राप्त करनेसे भी अधिक कठिन है और दुनियाके लोग प्राप्ति और प्रतिक्रियाओंके वेगमें बहकर कर्म करनेमें असमर्थ होते हैं। उस प्रतिक्रियाके वेगमें बहकर तुम भी अपने संकल्प किये हुए कर्मोंपर स्थिर नहीं रह सके। यदि तुम अपने बैतालद्वारा ही उस चोरकी गठरी उसके मालिकके पास देते, उस व्यक्तिसे पाँच मुद्राएँ वापस न ले आते और गरीब गृहस्थको सौ नहीं तो कम-से-कम उसके नामकी पचास मुद्राएँ भी दे देते तो अपने निश्चित कर्मोंपर स्थिर माने जा सकते। तुम्हारे ही हितमें, मैं अपनी दी हुई सिद्धियाँ तुमसे वापस लेता हूँ और तुम्हें परामर्श देता हूँ कि गृहस्थाश्रममें पुनः लौटकर अपने नये किये हुए कर्मोंपर अपकर्मोंके फल-भोगके साथ-साथ विद्या, सत्य और चिन्तनद्वारा उचित लोक-व्यवहारकी प्राप्ति करो।

ईश्वर-पूजन

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

ईश्वरकी पूजा करनेका सामान्य अर्थ अपने इष्टकी प्रतिमाका पूजन करना है। यदि प्रतिमा कागजके चित्रके रूपमें हो तो उसे केवल फूल चढ़ाकर धूप, दीप और नैवेद्य रखकर संतोष करना पड़ता है। और यदि प्रतिमा धातु, पत्थर या लकड़ीकी हो तो उसकी षोडशोपचार पूजा होती है और धूप, दीप तथा नैवेद्य रखकर भक्त अपनेको कृतकृत्य मानता है।

पूजन हो जानेके बाद भक्त अपने इष्टदेवताके सान्निध्यमें बैठकर यथाशक्ति इष्ट-मन्त्रका जप करता है और उसके बाद स्वाध्यायके निमित्त अपनी साधनाके अनुकूल किसी स्तोत्र या सहस्रनाम आदिका पाठ किया करता है। इस प्रकारसे ईश्वर-पूजन समाप्त करके साधक अपने दूसरे दैनिक व्यवहारके कामोंमें लग जाता है।

इतना ईश्वर-पूजन इस प्रकारसे प्रत्येक मनुष्यको

प्रतिदिन करना ही चाहिये। इतना किये बिना उसे देव ऋणसे छुटकारा नहीं मिल सकता। दूसरे कारणोंसे इसका करना जरूरी है, क्योंकि इससे अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसके फलस्वरूप इष्टदेवताके दर्शन होते हैं।

यह सब ठीक होनेपर भी, घंटे-दो-घंटे यदि ईश्वरका पूजन किया जाय और शेष समयमें, जीवन-व्यवहारके ईश्वरकी स्मृति-सी भी न रहे तो ऐसा घंटे-दो-घंटेका पूजन स्वल्प फल प्रदान करता है, यानी उसका फल नहीं जैसा होता है।

उदाहरणार्थ, एक मनुष्य अपने रोगकी निवृत्तिके लिये किसी सद्बैद्यका आश्रय लेता है। वैद्यराज उसका निदान करके दिनमें तीन बार खानेके लिये पुड़िया देते हैं और साथ ही उसके अनुकूल पथ्य-परहेज रखनेके लिये कहे

[भाग ९]

हैं। अब वह भाई यदि तीन पुड़ियाकी जगह एक ही पुड़िया लाय और पथ्य-पालनके बदले आठों पहर कुपथ्य ही सेवन करता रहे तो उसका रोग नहीं मिटेगा। और इसके लिये वैद्यराजको उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकेगा।

इसी प्रकार यदि कोई आदमी घंटे-दो-घंटे ईश्वर-पूजन करता है और बाकी समयमें निषिद्ध आचरण किया करता है तो फिर पूजनका प्रभाव कैसे दीख पड़ेगा? दिन-भर झूठ बोले, चोरी करे, दूसरोंको पीड़ा पहुँचावे, किसी-का हक छीन ले और दिन-दहाड़े लूट मचावे, डाका डाले और फिर रातको दो घड़ी माला फेर ले या प्रातःकाल ईश्वर-पूजन कर ले तो ऐसे पूजनसे कोई लाभ नहीं होता। पूजनसे इन्द्रकी तिलभर जगह साफ होती है, वहाँ दिनभरके कुटिल व्यवहारसे काजलकी परत-की-परत अन्तःकरणपर चढ़ जाती है, जिसको साफ करनेके लिये कई जन्म चाहिये। अतएव यह बहुत ही जरूरी है कि साधकका अपना सारा जीवन सदाचारयुक्त होना चाहिये और यदि पापाचरण नहीं होगा तो अन्तःकरणके ऊपर मैलकी परत नहीं चढ़ेगी।

यहाँ, जिसने इस विषयमें कुछ विचार न किया होगा, उसे यह शङ्का हो सकती है कि ईश्वरका पूजन घंटे-दो-घंटे करना ठीक है; परंतु समस्त जीवनको इस प्रकार शुष्क और गोरस कर डालनेकी क्या जरूरत है; अधिक-से-अधिक भोग-सामग्री इकट्ठी करें और सभी वैभवोंका भोग करें तो इसमें क्या हानि है? ईश्वरको भी न भूलें और वैभवका भी रस लें कि जिससे जीवन धन्य हो जाय।

इसके उत्तरमें निवेदन है कि ऐसे विचार उन्हींके दिममें उठते हैं, जो मनुष्य-शरीरकी कीमत नहीं समझते। मनुष्य-शरीर बहुत दुर्लभ है और उसकी सार्थकता ईश्वरकी प्राप्ति कर लेनेमें है, न कि भोग भोगनेमें। यदि मनुष्यके जीवनका ध्येय भोग ही होता तो उसे देवदुर्लभ नहीं कहा जाता; क्योंकि भोग तो सभी शरीरोंमें बिना भेदनके मिलते हैं और भोग स्वयं क्षणिक होता है। अतः भोगकालमें सुखका भान कराकर परिणाममें दुःख ही देता है। फिर भोगसामग्री चाहे जितने विपुल परिमाणमें क्यों न प्राप्त हो, उससे किसीकी तृप्ति हुई हो ऐसा सुननेमें नहीं आया। ज्यों-ज्यों भोग बढ़ते जाते हैं, त्यों-ही-त्यों भोगकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है। बल्कि मनुष्य-शरीरकी शक्ति भी परिमित है; अतएव प्राप्त भोग भी यथेच्छ परिमाणमें उसे भोगे नहीं जा सकते और परिणाममें अतृप्ति का

ही बोध होता है। अतृप्ति दुःखका ही एक दूसरा नाम है। इस प्रसङ्गमें राजा ययातिका दृष्टान्त जगत्-प्रसिद्ध है। उन्होंने अपना सारा ही जीवन भोग भोगनेमें ही बिताया। पृथ्वी-परकेतमाम भोग प्राप्त होनेपर भी उन्हें तृप्ति न मिली; अतएव उन्होंने एक हजार वर्षकी अपने पुत्रकी जवानी ले ली; परंतु हजार वर्ष भोग भोगनेके बाद भी तृप्ति न हुई। इतना ही नहीं; उनकी अशान्ति भी बेहद बढ़ गयी। अन्तमें उन्होंने कहा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मव भूय एवाभिवर्धते ॥

(श्रीमद्भाग. ९।१९।१४)

अर्थात् भोग भोगनेसे कभी तृप्ति नहीं होती। बल्कि आगमें घी डालनेसे जैसे आग अधिक प्रबल हो उठती है; उसी प्रकार भोग भोगनेसे भी भोगतृष्णा अधिक-से-अधिक प्रबल बनती जाती है। और तृष्णा ही जीवनमें सबसे बड़ा संताप है।

शरीरका नाम ही भोगायतन है; यानी पूर्वकृत कर्मोंके सुख-दुःखादि फलके भोगनेका स्थान। पातञ्जल-योगदर्शन कहता है—

‘सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।’

अर्थात् ‘जवतक कर्मरूपी मूल है; तवतक उसके परिणामस्वरूप यह पहलेसे ही निश्चित किया रहता है कि इसका किस योनिमें जन्म होगा; कितनी आयु मिलेगी और कौन-कौन-से भोग प्राप्त होंगे।’ इसलिये अब स्पष्ट समझमें आ जायगा कि जिस वस्तुका निर्णय जन्म होनेके पहले ही हो गया है, उसकी प्राप्तिके लिये जीवनको बरबाद कर देना; इस अमूल्य समयका अपव्यय नहीं तो और क्या है? क्योंकि जो भोग निश्चित है वह तो मिलेगा ही और प्रारब्धकी अपेक्षा अधिक हजार बार सिर पीटनेपर भी नहीं मिलेगा।

देवयोनि भी भोगयोनि ही है। निष्कृष्ट योनि और देवयोनिमें अन्तर इतना ही है कि देवयोनिमें शरीरके दिव्य होनेके साथ ही वहाँके भोग भी दिव्य होते हैं और निष्कृष्ट योनिमें शरीरके अनुसार ही भोग भी तुच्छ होते हैं। इसके सिवा दूसरा कोई अन्तर नहीं है। देवयोनिमें भी दूसरी योनियोंकी भाँति भोग समाप्त हो जानेके बाद शरीर छूट जाता है और जीव दूसरा शरीर धारण करता है। इसलिये सारे शरीरधारियोंमें मनुष्य-शरीर ही श्रेष्ठ है और इस शरीरके द्वारा ही मनुष्य अपने सिरजनहारके साथ तादात्म्य प्राप्त कर सकता है। कबीर साहब कहते हैं—‘जो उत्तम

करनी करे तो नर नारायण होय ।' दूसरी किसी योनिमें नारायण नहीं हुआ जा सकता । परंतु एक मनुष्य-योनि ही ऐसी अमूल्य योनि है कि जिस शरीरसे नर नारायण हो सकता है ।

अब यह निश्चय हो गया कि मनुष्यजीवनका ध्येय विषयभोग नहीं, बल्कि ईश्वर-प्राप्ति ही होना चाहिये और है भी । इस बातके समर्थनमें यहाँ श्रीभगवान्का एक ही वचन उद्धृत करना पर्याप्त होगा । श्रीमद्भागवत (११ । २९ । २२) में भगवान् श्रीकृष्णकी उद्धवके प्रति उक्ति है—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।

यत्सत्यममृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम् ॥

बुद्धिमान् और चतुर मनुष्योंकी बुद्धि और चतुराई इतनी ही है कि इस लोकमें आकर यानी संसारमें जन्म लेकर इस क्षणभङ्गुर और विनाशशील मनुष्य-शरीरके द्वारा उसका सदुपयोग करके सत्य, अमृत और मुक्तिको प्राप्त कर ले । यानी मैं जो अजर, अमर और अविनाशी हूँ, उसे प्राप्त कर ले । सारांश यह कि भगवान् इतना ही समझाते हैं कि ऐसे विनाशशील मनुष्य-शरीरसे मेरे अविनाशी स्वरूपकी प्राप्ति कर लेनेमें ही मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है ।

इस ध्येयतक पहुँचनेके लिये हमें अपने समस्त जीवनको ईश्वर-पूजन-स्वरूप बनाना है और वह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है, यही यहाँ विचारणीय है ।

सर्वसाधारणके लिये शास्त्रोंने बहुत ही सादा और सरल होनेपर भी अमोघ मार्ग बतलाया है । इस मार्गके अवलम्बन करनेपर बाल-वृद्ध, गरीब-अमीर, विद्वान्-मूर्ख, बलवान् और निर्बल स्त्री-पुरुष सभी उसका आचरण कर सकते हैं । यह है वह निष्कण्टक मार्ग—

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः ।

संतोषं जनयेत्प्राज्ञः तदेवेश्वरपूजनम् ॥

यानी किसी भी साधनसे किसी भी देहधारीको सुख पहुँचाना—इसीका नाम 'ईश्वर-पूजन' है । इसका कारण यह है कि सब देहोंमें जीवरूपसे एक ही ईश्वर विराजमान हो रहे हैं । सभी देह अलग-अलग हैं, उनके आकार और कद भी भिन्न-भिन्न हैं, तथापि एक ही ईश्वर सब शरीरोंमें जीवरूपसे विराजमान हैं । इस कारण किसी भी देहधारी जीवको सुख पहुँचाना ही—ईश्वरको ही सुख पहुँचाना कहा

जाता है, और ईश्वर प्रसन्न हों, ऐसी प्रत्येक क्रियाका जो ईश्वर-पूजन है । इसलिये इस प्रकार चींटियोंको दाना पिला भी ईश्वर-पूजन हुआ; क्योंकि उससे असंख्य जीवोंकी तृप्ति होती है और इससे वह ईश्वर-पूजन कहलाता है । हम रास्तेसे जा रहे हैं सामने आता हुआ एक आदमी पूछे कि 'भाई ! असलत कहाँ है ?' तो उस आदमीको अस्पतालका रास्ता बताना वह बिलकुल अनजान हो तो उसे अस्पतालतक पहुँचा आना और वहाँ यदि अपनी पहुँच हो तो उसका उपचार करके उस आदमीको अस्पतालमें सुविधा करा देना—इसका नाम भी ईश्वर-पूजन है; क्योंकि इसमें भी एक देहधारीका जीव संतुष्ट होता है । इसी प्रकार भूखके भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना, नंगेको वस्त्र देना भी ईश्वर-पूजन ही है । मानसिक चिन्तावालेको मधुर वस्तु आश्वासन देना, जो नौकरी खोजता हो उसे यथाशक्ति सहायता पहुँचाना भी ईश्वर-पूजन है । रेलगाड़ीमें हम बैठे हों और कोई मुसाफिर चढ़ने आवे तो विचारपूर्वक उसके अंदर ले लेना और अपने खड़े रहकर भी उसको बैठने के लिये जगह देना, यह भी ईश्वर-पूजन ही है । हम पढ़े लिखे हों तो अपढ़को विद्या दें या सच्ची सलाह दें, हम शिक्षक हों तो विद्यार्थियोंको पुत्रवत् देखते हुए प्रेमे पढ़ावें, हम वकील हों तो अपने मुक्किलको सबी सज्ज देकर सच्चे रास्तेपर चलावें, हम डाक्टर हों तो भ्रमर अधिक लोभ न करके रोगीको मीठे वचनोंसे धीरे-धीरे और ऐसी ओषधि देनेकी योजना करें जिससे उसे दुर्गंध आराम हो जाय । यह सब ईश्वर-पूजन ही कहलाता है और ऐसे पूजनका ईश्वरके घर बहुत ही आदर है । सारांश यह है कि हमें अपने नित्यके व्यवहारमें किसी भी देहधारी किसी भी रीतिसे सहायक बनना और उसको संतोष देकर प्रसन्न करना—यही ईश्वर-पूजन है ।

ईश्वर-पूजनका यह मार्ग इतना सरल और सहज है कि किसी भी स्थितिका मनुष्य इसे कर सकता है । केवल दृष्टि इस प्रकारकी बनानी चाहिये । एक बार यदि दृष्टि खुल जाय तो फिर सारा जीवन ही पूजनरूप बन जायगा । इस प्रकार सामान्यतः प्रत्येक मनुष्य अपना-अपना व्यवहार करते हुए किस प्रकार ईश्वर-पूजन कर सकता है और सारा जीवन कैसे ईश्वर-पूजनरूप बना सकता है—यह हमने देखा ।

इसकी अपेक्षा एक अधिक उच्च कोटिका ईश्वर-पूजन

शास्त्रोंमें बताया गया है। यह पूजन सर्वजन-मुलभ नहीं है, परंतु जो दृढ़निश्चयी और सूक्ष्म बुद्धिवाले हैं, उन्हींके द्वारा यह पूजन हो सकता है। इस पूजनका प्रकार यह है—

रागाद्यदुष्टं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिना ।
हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनत्रयम् ॥

इस तरह त्रिविध ईश्वर-पूजन बतलाया है। इनमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार चाहे किसी एक प्रकारका पूजन करनेसे दूसरे दो प्रकारके पूजन उसके साथ ही हो जाते हैं। जिस तरह खाटका एक पाया खींचनेसे दूसरे तीनों पाये अपने-आप खिंच जाते हैं और उसके लिये अलग श्रम करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। इसी तरह एक प्रकारका पूजन करनेसे त्रिविध पूजन हो जाता है।

(१) पहला साधन है 'रागाद्यदुष्टं हृदयम्' यानी हृदयको; अन्तःकरणको रागादि पाँच क्लेशोंसे कलुषित न होने देना। रागादि पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये पाँचों क्लेश जब अन्तःकरणमें जमकर बैठते हैं, तब वह तमोगुणसे आवृत हो जाता है और फलस्वरूप ईश्वरके सम्मुख नहीं हो सकता। इसलिये ईश्वरका पूजन करना और उसके द्वारा ईश्वरकी प्राप्ति करना हो तो अन्तःकरणको निर्मल बनाना होगा। ये पाँच क्लेश जबतक अन्तःकरणसे नहीं हटेंगे, तबतक वह निर्मल नहीं होगा। अतः रागादिसे अन्तःकरणको मुक्त करनेके लिये साधन करना चाहिये। यह साधन श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने इस प्रकार बतलाया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥

भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार मानसिक तप करनेसे अन्तःकरण पाँचों क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है। वे साधन इस प्रकार हैं—'मनःप्रसादः' यानी चित्तको सदा प्रसन्न (निर्मल) रखना; ऐसा कोई कार्य न करना जिससे चित्तकी प्रसन्नता (निर्मलता) नष्ट हो; क्योंकि प्रसन्नचित्त ही सत्त्वगुणप्रधान हो सकता है। 'सौम्यत्वं'—साधकको अपना मुख सदा हँसता रखना चाहिये, प्रसन्नवदन रहना; चित्तमें प्रसन्नता होनेपर मुँह स्वभावतः ही हँसता रहेगा। * 'मौनम्' यानी

* 'मानस-तप'का प्रसंग होनेसे यहाँ 'सौम्यत्वम्'का अर्थ 'मनकी सौम्यता'—मनमें निर्दयता और क्रूरताका सर्वथा अभाव' माना ठीक मालूम होता है।

काष्ठ मौन नहीं है; सर्वथा गूँगा बननेकी आवश्यकता नहीं। पर जितनी जरूरत हो उतना ही बोलना। व्यर्थ बढ़बढ़ाते नहीं रहना। अधिक और अनावश्यक बोलनेसे वाणी व्यर्थ जाती है और उसमें परनिन्दा और परचर्चा हो जाती है। इसलिये जितनी जरूरत हो उतना ही बोले। * 'आत्म-विनिग्रह' यानी मन और मनसे संचालित इन्द्रियोंका पूर्ण निग्रह करना। और पश्चात् भावसंशुद्धि होती है अर्थात् मनके भाव सर्वथा पवित्र हो जाते हैं। तब मानसिक तप पूरा होता है। केवल विशुद्धभाव आत्मभाव है। इसलिये भावसंशुद्धिका अर्थ है—'सर्वात्मभाव ग्रहण करना।' यह सर्वात्मभाव क्या है, इसे भी भगवान्ने गीतामें इस प्रकार समझाया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

यानी 'जिसने समत्वयोग सिद्ध किया है, ऐसा योगी सर्वत्र अपने आत्माको ही देखता है और उससे उसको यह निश्चय होता है कि ये सब भूतादि आत्मरूप हैं और इससे चराचर भूतमात्रको अपनेमें आत्मरूपसे और अपनेको समस्त भूतोंमें आत्मरूपसे देखता है।'।

यह बात बहुत ही उच्च कोटिकी हुई। साधन करते-करते सिद्धि प्राप्त होनेके बाद इस कोटिमें साधक पहुँचता है। पर है यह अवश्य ही कठिन। इसलिये भावसंशुद्धिका कुछ हल्का अर्थ भी किया जा सकता है। कवि दलपत रायके शब्दोंमें कहें तो—

परमेश्वरनी छे प्रजा, सखलो आ संसार ।

एक कुटुम्बी आपणे एक पिता परिवार ॥

यानी यह चराचर भूतमात्र ईश्वरकी प्रजा है और इस प्रकार ईश्वर परमपिता और भूतमात्र उसके बालक हैं, दोनों परस्पर भाई-बन्धु हैं। इस भावको अंग्रेजीमें 'युनिवर्सल ब्रदरहुड' थियोसोफिस्ट कहते हैं। दूसरे लोग विश्वप्रेम या विश्वबन्धुत्व कहते हैं। यदि यह भाव सिद्ध हो जाय तो

* इस श्लोकमें 'मानस-तप'का विवेचन है, इसलिये यहाँ 'मौन'का अर्थ वाणीका मौन (परिमित और आवश्यकतानुसार बोलना) न करके मनका मौन यानी मनके द्वारा व्यर्थ वस्तुओंका मनन नहीं करना—मनमें व्यर्थ चिन्तनका सर्वथा अभाव हो जाना और उसके बदलेमें मनका मननशील यानी भगवच्चिन्तनपरायण हो जाना—यह अर्थ ठीक मालूम होता है।

भी मानसिक तपको तो पूरा हुआ समझना चाहिये; क्योंकि तत्त्वदृष्टिसे भूतमात्रमें एक ही ईश्वर जीवरूपसे विराजमान है, उसे सम्बोधन करते हुए 'भाई' शब्द व्यवहार करें या आत्मस्वरूप शब्द; दोनों एक ही है।

(२) दूसरा साधन है 'वागदुष्टानृतादिना।' यानी वाणीको असत्यभाषण आदि दोषोंसे दूषित—अपवित्र न होने देना। भावात्मक शब्द प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि वाणीको सत्यके द्वारा पवित्र बनाये रखें। यानी 'सत्यपूतां वदेद् वाक्यं' का मन्त्र ध्यानमें रखकर सत्य बोलनेका व्रत ले ले। सत्यका आचरण किस प्रकार करना चाहिये, इसको बतानेवाला यह श्लोक प्रमाणरूप है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।

प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः ॥

यानी सत्य अवश्य बोले, पर मधुरवाणीसे बोले, क्रोधावेशमें या कठोर शब्दोंमें न बोले; क्योंकि क्रोधयुक्त कड़े शब्दोंसे सुननेवालेका दिल दुखी होता है और इससे सत्य बोलनेका तप नष्ट हो जाता है। इसीलिये श्लोकके दूसरे चरणमें कठोर वचन प्रयोग करनेका स्पष्ट निषेध किया है। फिर तीसरे चरणमें कहा है कि प्रिय तो लगे, पर हो असत्य, तो उसे नहीं ही बोलना चाहिये। प्रिय और असत्य वाणीको खुशामद कहते हैं। किसीकी खुशामद करनेका अर्थ है सुननेवाले आदमीको प्रसन्न करनेके लिये झूठ बोलना। मनुष्यमें साधारणतः इस प्रकारकी कमजोरी देखनेमें आती है, इसीलिये ऐसा असत्य नहीं ही बोलना चाहिये, इसको खास तौरपर तीसरे चरणमें कहा गया है और अन्तमें कहा कि सत्य बोलनेके विषयमें यह सनातन धर्म बहुत ही पहलेसे चला आ रहा है, इसका अनुसरण करना चाहिये। इस साधनकी सिद्धिके लिये भगवान् ने गीतामें 'वाणीका तप' इस प्रकार बतलाया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यासनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

यानी 'वाणी ऐसी बोलनी चाहिये कि जो सत्य हो, प्रिय लगे और साथ ही हितकर हो। जिससे सुननेवालेका दिल न दुखे। इस प्रकार नित्यके व्यवहारमें बोलने-चालनेमें ध्यान रखें कि मैं असत्य तो नहीं बोल रहा हूँ न? और कहीं ऐसी बात मुँहसे न निकलती हो जिससे सुननेवालेको संताप होता हो। इस प्रकार

साधन आगे बढ़े—इस प्रकारका स्वाध्याय भी सदा निरन्तर रूपसे करते रहना चाहिये।

(३) तीसरा साधन है—'हिंसादिरहितः कर्मा' यानी शरीरको हिंसा आदिसे मुक्त रखना। हिंसादिरहित है—त्रिविध हिंसासे बचना—(१) कायिक यानी शरीर या शरीरसे पकड़े हुए किसी अस्त्र-शस्त्रसे सामनेके मनुष्य शरीरपर आघात करना। मृत्यु होनेपर ही हिंसा होनी है सो नहीं; मारनेके इरादेसे किया हुआ आघात भी हिंसा है। (२) वाचिक यानी कठोर वाणीके प्रयोगसे सामनेके मनुष्यके हृदयपर मरणतुल्य आघात पहुँचाना। मनुष्यका तिरस्कार करना, मृत्युकी धमकी देना अथवा दूसरे किसी प्रकारसे मनुष्यको असह्य आघात पहुँचाना यह सब वाचिक हिंसा कहलाती है। (३) मानसिक हिंसा यानी मनसे किसीका बुरा चाहना; सामनेके मनुष्यका अशुभ हो, ऐसा संकल्प करना अथवा किसी भी मनुष्यके अशुभ विचार रखना—मानसिक हिंसा है। इन तीनों प्रकारकी हिंसाओंसे बचे रहनेका नाम है शरीरको हिंसासे मुक्त रखना। इसके लिये भगवान् ने इस प्रकारका साधन तप बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं

शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

अर्थात् देव यानी अपने इष्टदेवका पूजन करना। यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—जिनको यज्ञोपवीत अधिकार है, उनमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, अतएव ब्राह्मण पूजन करना। अपने-अपने गुरुकी पूजा करना। उन गुरु पास रहना हो तो शरीरसे गुरुकी सेवा करना और दूर तो परम्परासे ईश्वर-पूजन बनते हैं, पर गुरुकी पूजा प्रत्यक्ष ईश्वर-पूजन है। गुरुमें जिसको ईश्वरबुद्धि उसकी विद्या नहीं फलती। गुरुमें मनुष्यबुद्धि रखना माना गया है। सेवासे गुरु प्रसन्न होते ही हैं; पर प्रसन्न तो वे उनके बताये हुए साधनको तत्परतासे करनेसे ही होते हैं। अपना शिष्य ठीक साधन कर रहा है और साधनमें उसकी प्रगति हो रही है, यह देखकर गुरु को जो आनन्द और संतोष होता है, वह दूसरी किस्म का वस्तुसे नहीं होता। इसलिये इन सारी रीतियोंके पूजन परम आवश्यक है। प्राज्ञ यानी विद्वान्, पुरुषोंका पूजन

संख्या ९]

दूर, शौचका पालन करना, बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रता रखना अर्थात् शरीर और मनको पवित्र रखना। तीसरा है आर्जव यानी सरलता। जीवनके व्यवहारमें सरलता रखना यानी सीधे मार्गसे चलते जाना और निर्दोष जीवन बिताना। इस विषयमें श्रीव्यासजीने बहुत ही अच्छा नियम बताया है। उनका कहना है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

यानी समस्त धर्मोंका सार—रहस्य मैं तुमसे कह रहा हूँ। उसे सावधान होकर सुनो। उसे एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे निकाल न देना, बल्कि हृदयमें धारण करना और उसका निरन्तर मनन करके अपने जीवनमें उतारना। केवल सुननेसे या सुने हुएको मुखस्थ कर लेनेसे या धोखे लेने-ने कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। बल्कि सुनी हुई बातको हृदयमें उतारकर उसे जीवनमें उतारनेसे ही लाभ होता है। इसलिये तदनुसार करना।

‘आत्मनः प्रतिकूलानि’ यानी जो व्यवहार तुमको प्रतिकूल लगता हो, अर्थात् जो व्यवहार दूसरे तुम्हारे प्रति और तुम्हें दुःख हो वैसा व्यवहार ‘परेषां न समाचरेत्’ तुम्हें दुःखद मालूम होता हो, वह दूसरोंके प्रति न करो। उदाहरणार्थ, कोई तुम्हारा तिरस्कार करे और तुमको वह अच्छा न लगे तो तुम भी किसीका तिरस्कार न करो। तुमसे श्रेष्ठ छठ बोले और उससे तुम्हें दुःख हो तो तुम्हें किसीके प्रति छठ नहीं बोलना चाहिये। कोई तुमको ठगता है और तुम्हें अच्छा नहीं लगता है तो तुम भी किसीको न ठगो। श्रेष्ठ तुम्हारी निन्दा करता है, वह तुमको अच्छा नहीं लगता, तो तुम्हें भी किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। ये सारी बातें नकारात्मक कही गयीं। इसके विरुद्ध हकारात्मक कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं। कोई तुम्हारे साथ मधुर और सत्य बोले और उससे तुम्हें प्रसन्नता होती हो, तो तुम्हें सबके सामने मधुर और सत्य बोलना चाहिये। यदि तुम ईमानदारीके बर्तावसे प्रसन्न होते हो तो सबके साथ ईमानदारीका बर्ताव करो। यदि कोई तुम्हारा आदर-सम्मान करे और वह तुम्हें अच्छा लगे तो तुम्हें सबका आदर-सम्मान करना चाहिये।

यही बात गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने विधि और निषेध—दोनों प्रकारसे कही है। वे कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

यानी ‘जो योगी सर्वप्राणियोंमें अपने समान ही सुख और दुःखको समान रूपसे देखता है, उस योगीको मैं श्रेष्ठ मानता हूँ।’ अधिक स्पष्टतासे कहें तो कह सकते हैं कि जो योगी यों समझता है कि जिस भाव या व्यवहारसे मुझे दुःख होता है उसी प्रकार उससे तमाम प्राणियोंको भी दुःख होता है, तथा जिस भाव या व्यवहारसे मुझे सुख होता है उसी प्रकार उससे प्राणिमात्रको सुख होता है। ऐसा योगी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि जिस व्यवहारसे उसे अपनेको दुःखकी प्रतीति होती है, वैसा व्यवहार वह दूसरोंके प्रति नहीं करता। इतना ही नहीं, जिस व्यवहारसे अपनेको सुख मिलता है, वैसा ही व्यवहार वह दूसरे प्राणियोंके प्रति करता है। और भगवान् कहते हैं कि ऐसा योगी श्रेष्ठ है।

चौथा ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्यका पालन करना चारों वर्णों और आश्रमोंके लिये बहुत ही उपयोगी है। गृहस्थ शास्त्रीय मर्यादामें रहकर गृहस्थाश्रमका भोग करे तो वही उसका ब्रह्मचर्य-पालन कहलायेगा। अन्य तीन आश्रमोंमें तो उसका कठोर पालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्यके पालनसे जीवन सुखरूप बनता है, क्योंकि उससे शरीर तथा मन और बुद्धि-की शक्ति अन्ततः कायम रहती है।

पाँचवा अहिंसा है। इस विषयमें पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है, इसलिये यहाँ फिर कुछ कहना नहीं रह जाता।

ईश्वर-पूजनके जो त्रिविध साधन, (१) रागादिसे दूर रहकर मनको पवित्र रखना, (२) असत्य आदिसे दूर रहकर वाणीको पवित्र रखना और (३) हिंसा आदिसे दूर रहकर शरीरको पवित्र रखना प्रभृति हैं, ये भी एक प्रकारसे ईश्वर-पूजन ही हैं, यह बात अब ठीक समझमें आ गयी होगी।

इससे भी उत्कृष्ट ईश्वर-पूजन वह है, जो अमुक कालतक साधन करनेके बाद अपने-आप ही हुआ करता है। यह किया नहीं जाता—होता है। वह है—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।

सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

अति उच्चकोटिका भक्त शङ्कर भगवान्की स्तुति करते हुए कहता है कि, 'हे शम्भो ! हे भोलानाथ ! मेरे शरीररूपी मन्दिरमें तुम्हीं आत्मरूपसे विराजमान हो रहे हो, और मेरी जो बुद्धि है, वह तुम्हारी अर्द्धाङ्गना पार्वतीजीके रूपमें विराज रही है। मेरे प्राण तुम्हारे सहचर यानी सखा हैं। इस शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ जो विषयोंका भोग करती हैं, उससे तुम्हारी पूजा होती रहती है। मेरी निद्रा समाधि-स्थिति है और वाणीसे जो शब्दोच्चारण होता है, उससे तुम्हारी स्तुति ही होती है। सारांश यह है कि हे प्रभो ! जो कुछ कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया हो रही है, वह सब तुम्हारा पूजन हो रहा है।'

जब देहाध्यास बिल्कुल छूट जाता है और सर्वात्म-भावका पूर्ण परिपाक हो जाता है, तब ऐसी स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकारकी स्थितिको ही शानियोंकी सहज-समाधि दशा कहते हैं। यह स्थिति कब होती है, इसको बतलाते हुए श्रुति कहती है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परात्परम् ॥

यानी देहाभिमान अर्थात् मैं यह शरीर हूँ—इस प्रकारका जो आत्माको अभिनिवेश हो गया है, जिससे विशुद्ध परमात्मस्वरूप आत्माका जीवभाव दृढ़ हो गया है, यह तत्त्वज्ञानके साधनद्वारा पूर्णतः निर्मूल हो जाता है। तथा परमात्मा स्वयं ही चराचर भूतमात्रमें आत्मरूपसे विराजमान हैं, ऐसी दृढ़ता हो जाती है; और जो कुछ भूत भौतिक प्रपञ्चरूपसे दीख पड़ता है, वह आत्माका ही विलास है, ऐसा यथार्थ बोध जब हो जाता है, तब सारी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ ईश्वर-पूजनरूप हो जाती हैं।

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम् ।

प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥

यानी ब्राह्मणादिके देव अग्नि हैं, योगियोंके देव उनके हृदयमें स्थित अन्तरात्मारूप हैं, साधनहीन मनुष्योंके देव मूर्तियाँ हैं और तत्त्वज्ञानीके देव सर्वत्र व्याप्त हैं, अतएव विभिन्न प्रकारसे देवपूजनका विधान है।

ऐसी सहज समाधिकी दशाका वर्णन करते हुए कबीर साहब कहते हैं—

साधो सहज समाधि भली ।

जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा खाउँ पिऊँ सो पूजा ।
जब सोवौं तब करौं दंडवत भाव मिटावौं दूजा ॥
आँख न मूँदौं कान न रूँधौं तनिक कष्ट नहिं धारौं ।
खुले नेन पहिचानूँ प्रीतम सुंदर रूप निहारौं ॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनी सो परगट करि गार्ह ।
दुख-सुखसे कोई परे परम पद तेहि पद रहा समार्ह ॥

इस लघु निबन्धमें हमने देखा कि एक-दो घंटे ईश्वर-पूजन करना ईश्वरकी प्राप्तिके लिये पूरा साधन नहीं है। उसके लिये तो समस्त जीवनको पूजन या भजनरूप बनाना चाहिये। यह कैसे होगा और इसके लिये क्या-क्या साधन करने चाहिये, यह भी हमने देखा और हमने यह भी देखा कि मनुष्य-जीवनका ध्येय भोग-सामग्री इकट्ठा करना नहीं है, बल्कि ईश्वरकी प्राप्ति है; क्योंकि केवल मनुष्य-शरीरसे ही नर 'नारायण' हो सकता है। भोग-सामग्री प्रत्येक योनिमें प्रत्येक देहधारीको प्रारब्धके अनुसार अपने आप मिला करती है।

भगवान् हमें बल दें जिससे हम विषयसे विमुख होकर ईश्वर-प्राप्तिके साधनमें प्राण-पणसे लग जायँ और अष्टावक्र मुनिकी निम्न उक्तिको ध्रुवतारा समझकर अपने ध्येयकी प्राप्तिके मार्गमें चलने लगें—

मुक्तिमिच्छसि चेत् तात
विषयान् विषवत् त्यज ।

शास्त्रवाणी

कृष्णभक्तिविहीनेभ्यो द्विजेभ्यः श्वपचो महान् ।

शूकरो म्लेच्छनिवहः स्वधर्माचरणेन च ॥

कृष्णभक्तिहीन द्विजकी अपेक्षा चाण्डाल शूकर और म्लेच्छ भी अपने धर्माचरणसे महान् होते हैं।

स्वस्थ मनुष्य

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

मनुष्यका—विशेषतः प्रतिभाशाली मनुष्यका मन कब जग जायगा, कोई कह नहीं सकता। जब एक बार किसीकी सुप्त चेतना जाग्रत हो जाती है। विश्वके लिये वह विश्वस्रष्टाका भ्रमर उपहार होती है। लेकिन कैसे जगे वह? हम, आप मिल चूल्हेपर चढ़े वर्तनमें उठती भापसे उसके ढक्कनको हिला देखते हैं, लेकिन वाष्पकी शक्तिसे चलनेवाले आजके बड़े-बड़े यन्त्रोंका आविष्कार तो वह कर सका जिसकी चेतनाको उस हिलते ढक्कनने झकझोर दिया। पेड़से टूटा फल पृथ्वीपर ही गिरता है और मनुष्य इसे युगोंसे देखता आ रहा है, किंतु न्यूटनकी चेतनाको एक दिन एक साधारण फलने वृक्षसे भूमिपर गिरकर प्रबुद्ध कर दिया था। आज भी एक सामान्य घटनाने डा० जान्सके चित्तको क्षुब्ध कर दिया है। घटना तो सदा ही क्षुद्र एवं सामान्य होती है; पर मानवकी अन्तर्चेतनामें जो अनन्त ज्ञान है, वह कभी-कभी अपनेको व्यक्त करनेका उसे मार्ग बना लेता है।

डा० डब्ल्यू० सी० जान्स चिकित्साशास्त्री हैं, चिकित्सक नहीं। चिकित्साशास्त्र उनके मनन-चिन्तन एवं अनुशीलनका विषय है। वे जब चिकित्सक बनते हैं—बहुधा बनते हैं, पर बनते हैं केवल अनुशीलनके लिये। उन्होंने बाकरी (एलोपैथी) का तो उच्च अध्ययन किया ही है, यूनानी चिकित्सा-पद्धति (हकीमी), होम्योपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति, मानसिक चिकित्सा-पद्धति तथा आयुर्वेदका भी भरपूर अनुशीलन किया है। वे यूरोप एवं अमेरिकाके विभिन्न स्थानोंमें रहे हैं, अफ्रिकाके जंगलोंमें भटके हैं तथा चीन और तिब्बतके दुर्गम स्थानोंमें भी अनेकों वर्ष व्यतीत कर चुके हैं। आयुर्वेदके अध्ययन तथा मानसिक चिकित्सा-से सम्बन्ध रखनेवाले योगके ज्ञानको पूर्ण करनेके विचारसे वे भारत आये हैं। यहाँ अनेक सुप्रसिद्ध चिकित्सकोंसे उन्होंने परिचय कर लिया है। धुनके पक्के, चाहे जितना श्रम करने एवं कष्ट सहनेको उद्यत, सदा हँसमुख, विनम्र इन सत्तर वर्षके वृद्ध पुरुषका उत्साह किसी युवकको लजित कर सकता है। इनकी मधुर वाणी एवं विपुल ज्ञान मित्रता प्राप्त करनेमें असफल होना जानता ही नहीं। ऐसे सुशील व्यक्तिने यदि

अनेक एकान्तप्रिय विरक्त साधुओंकी कृपा प्राप्त कर ली है, तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है।

आज डा० जान्स पहली बार अपने कमरेमें इधर-से-उधर उद्भिन्न-से घूम रहे हैं। उनका झवरा 'पीटर' भी आज हैरान है। उसके स्वामी कठिन-से-कठिन समयमें स्वस्थ एवं स्थिर रहनेवाले हैं; आज क्या हो गया है उन्हें? वह कूँ कूँ करता पास गया, सामने भूमिपर लेटा, गोदमें पहुँचनेके लिये उछला—बेचारा मूक प्राणी और क्या कर सकता है। आज उसे पुचकारा नहीं गया, स्नेहभरी थपकी नहीं मिली। उसके स्वामी मस्तक झुकाये इधर-से-उधर चक्कर काट रहे हैं। कभी-कभी मस्तकपर गर्दनके पास दाहिना हाथ रगड़ लेते हैं। उनके उजले घुँघराले बाल तनिक हिल जाते हैं और बस! सामने लेटनेपर भी पीटरकी ओर उन्होंने नहीं देखा। वे उसे बचाकर आगे बढ़ गये। बेचारे कुत्तेने बहुत प्रयत्न किया उन्हें प्रसन्न करनेका और अन्तमें हारकर वह एक ओर भूमिमें ही बैठकर सूनी दृष्टिसे देखने लगा अपने स्वामीको। अब उसमें भी उछलकर कोचपर बैठनेका उत्साह नहीं रह गया था।

बात कुछ नहीं है। आज प्रातःकाल एक नवयुवक डाक्टर मित्र डा० जान्ससे मिलने आये थे। उन्होंने बताया 'कल कुछ भारतीय लोगोंके साथ एक अंग्रेज सज्जन दोपहरमें मोटरसे कहीं घूमने गये थे। रास्तेमें सबको प्यास लगी। आसपास पानी पीनेका कोई व्यवस्थित प्रबन्ध न देखकर लोगोंने मोटर रोकी और सड़कके किनारे एक पानकी छोटी दूकानसे सोडाकी बोतलें लेकर गलेको गीला किया। उन अंग्रेज सज्जनने भी दूसरा उपाय न देखकर एक बोतल सोडा पी लिया। ये पानवाले वैसे भी गंदे रहते हैं और नगरके बाहर सड़कके किनारेकी दूकानोंका तो पूछना ही क्या। वे कुछ प्रामाणिक कम्पनियोंका सोडा तो रखते नहीं। बेचारेको रास्तेमें ही हैजा हो गया। घर लौटनेपर चिकित्साका बहुत प्रयत्न हुआ; किन्तु वे चल बसे। अच्छे सबल स्वस्थ युवक थे वे।' सुनानेवालेके लिये और हम आपके लिये भी यह एक सामान्य घटना है। ऐसा तो प्रायः होता है। इसमें

सोचनेकी कुछ बात ही नहीं है। लेकिन डा० जान्सकी प्रसुप्त चेतना आज इस नन्हेसे समाचारसे जाग उठी है। डाक्टर उद्विग्न हो गये हैं।

‘एक ही दूकानसे एक ही सोडा सबने पिया था, केवल अंग्रेज क्यों मरा? यूरोपियन लोग स्वास्थ्य एवं स्वच्छताके नियमोंका बहुत सावधानीसे पालन करते हैं और वे ही अधिक शीघ्र अस्वस्थ होते हैं।’ डाक्टरका मन अनेक बातें सोच रहा है—‘ये भारतीय मजदूर जहाँ चाहे वहाँ लेटते हैं, चाहे जिस दूकानसे खाते हैं, चाहे जहाँ पानी पीते हैं। अफ्रिकाके जंगली लोगोंकी बात और ये कलकत्तेके गंदे मुहल्लोंको साफ करनेवाले भंगी—ये भंगी गंदगी साफ करते हैं, सभी प्रकारके लोगोंका जूँटा खा लेते हैं और स्वस्थ रहते हैं। इनका शरीर बलवान् रहता है।’

डाक्टर जान्स जानते हैं कि शरीरमें रोगाणुओंके प्रवेश करनेपर उन्हें नष्ट करनेवाला प्रतिविष स्वतः बनता है। जो गंदगीमें ही रहते हैं, उनके शरीरमें उसे सहनेकी शक्ति आ जाती है। उनका शरीर विषोंको पचा लेता है। लेकिन आज डाक्टरका इससे संतोष नहीं। ‘स्वास्थ्य क्या है? उज्ज्वल वस्त्रपर एक छोटा-सा धब्बा भी दूरसे दिखता है। निर्मल शरीर थोड़ा-सा विकार भी सह नहीं पाता; किंतु शरीर तो वस्त्र नहीं है। तब किसी थोड़े भी विजातीय द्रव्यको न सह पानेवाला छुईमुई-सा स्वास्थ्य और प्रतिविषोंसे भरा चाहे जैसी गंदगी और रोगाणुओंको पचा जानेवाला स्वास्थ्य? डाक्टरको कोई तर्क संतोष नहीं दे पाता है। वे घूम रहे हैं इधर-से-उधर और बार-बार उनके मुखसे बहुत धीरेसे अपने-आपसे पूछता-सा शब्द निकलता है—‘स्वास्थ्य क्या है?’

× × ×

‘शरीरमें किसी रोगके कीटाणु न हों, कोई विजातीय द्रव्य न हो; रक्ताभिसरण ठीक हो, श्वासप्रणाली, स्नायु एवं ग्रन्थिमण्डल आदि शरीरके विभिन्न अवयव ठीक काम करें, यह स्वास्थ्यका पूरा लक्षण है।’ यूरोपीय विज्ञानके इस मतमें किसीको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। लेकिन डाक्टर जान्सने वह बड़ी-सी सुन्दर लाल जिल्दकी पुस्तक छुँझलाकर बंद कर दी।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

आयुर्वेदके ग्रन्थको उलटते हुए डाक्टर रुक गये ।

‘कफ, पित्त, वात—ये तीनों दोष समान रहें, पाचन क्रिया ठीक हो, रक्त-मेद-मांसादि धातुओंमें कोई विकार न हो, उनका ठीक परिपाक होता रहे और मलाभिसरण उपयुक्त रूपमें हो—यह तो एलोपैथीकी परिभाषा ही है जो बहुत पहले कुछ भिन्न शब्दोंमें भिन्न ढंगसे कही गयी थी।’ डाक्टरकी चिन्ताधारा आगे अटकी—‘चित्त, इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न रहें—निर्मल रहें?’ उन्होंने ग्रन्थ बंद करके रक्त दिया और मेजपर बायें हाथकी कुहनी टेककर हथेलीपर लिखकर नेत्र बंद कर लिये।

‘चित्त निर्मल, इन्द्रियाँ निर्मल, मन निर्मल?’ डाक्टर जानते हैं कि संस्कृतके इस ‘प्रसन्न’का अर्थ ‘खुश’ नहीं—‘निर्मल’ होता है। अब चिकित्साशास्त्र मनोविज्ञानके क्षेत्रमें यहाँ प्रवेश कर चुका था। विचारोंका प्रभाव शरीरपर पड़ता है, यह बात प्रत्येक चिकित्सक जानता है, किंतु चित्त एवं मनकी निर्मलताका जो अर्थ है, उस भारतीय अर्थको जानने हुए डाक्टर जान्स यह कैसे मान लें कि यहाँ आयुर्वेद केवल मनोविज्ञानकी बात करता है और ‘प्रसन्न’का अर्थ चित्तमें कोई चिन्ता, मनमें उद्विग्नता तथा इन्द्रियोंमें कोई हेतुशून्य न होना ही है। उन्हें स्पष्ट लगता है कि आयुर्वेद का अर्थात्माशास्त्र बन गया है और वह चित्तको कामादि विकारोंसे रहित, इन्द्रियोंको अपने भोगोंकी लोलुपतासे निरपेक्ष और मनको स्थिर पाना चाहता है। ‘स्वास्थ्यके लिये अर्थात्माशास्त्र यह आवश्यकता?’ यूरोपीय विज्ञानने तो कभी यह आवश्यकता अनुभव की नहीं। ‘स्वास्थ्यका उद्देश्य ही है—‘भोगक्षमता’ और यहाँ स्वास्थ्यके लिये भोगवासनाका अभाव ही अपेक्षित माना गया है।’ डाक्टरकी समस्या तुल्यज्ञानके बदले उलझती जा रही है।

‘कोई भारतीय साधु कदाचित् इसे ठीक समझा सके। डाक्टरने अपने वैद्य मित्रोंसे समझनेका प्रयत्न कर लिया है। उन्हें लगता है कि अधिकांश लोगोंने कुछ शब्द रट लिये हैं। एक शब्दके बदले दूसरा शब्द, एक पहेलीके बदले दूसरी पहेली, ‘मधवा’के स्थानपर ‘विडौजा’ किंतु उन शब्दोंका अर्थ जैसे स्वयं उनकी बुद्धिमें नहीं है। जो स्वयं ही नहीं समझता, वह दूसरेको कैसे समझा सकता है। लेकिन भारतीय साधुओंकी बात दूसरी है। कोई समय था जब डाक्टर जान्स भारतके ऋषियोंकी सर्वज्ञताका भरपूर उपहास करते थे। ‘भला कहीं कोई एक व्यक्ति सब कुछ जाननेवाला हो सकता है?’ अब बात बदल गयी है। अब

वे प्रायः कहते हैं—'भारत सचमुच जादूगरोंका देश है और यहाँका जादू न केवल बाहरी पदार्थोंमें उलट-फेर करता है, बौद्धिक एवं मानसिक ज्ञानमें भी कल्पनातीत चमत्कार रखता है।' इन कुछ महीनोंमें डाक्टर जिन संतोंके परिचयमें आये हैं, उनकी प्रतिभाने इन्हें चमत्कृत कर दिया है।

‘एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।’

श्रुतिका तात्पर्य भले डाक्टरने न समझा हो; पर वे अब यह समझ गये हैं कि इस अद्भुत भूमिपर जो निरपेक्ष साधु व्रत-तन्त्र मिलते हैं, उनके लिये कोई प्रश्न असाध्य नहीं है।

जब हम कहीं अपनी धारणासे सर्वथा विपरीत कुछ पाते हैं, हमारा अनुमान वहाँ अस्त-व्यस्त हो उठता है। डाक्टरने कभी नहीं सोचा था कि मनुष्य इतना सहनशील तथा इतना निरपेक्ष हो सकता है समाज एवं समाजके भोगों-से। ‘व्यक्ति अपने-आपमें पूर्ण है’—यह बात उनका वैज्ञानिक मस्तिष्क किसी प्रकार सुलझा नहीं पाता। सौभाग्यसे उनका परिचय गङ्गाकिनारे पड़े रहनेवाले एक कौपीनधारीसे हो गया है और अब डाक्टर कहते हैं ‘ये भारतीय साधु बुद्धिके क्षेत्रमें जादूगर हैं। सभी अटपटे प्रश्नोंका उत्तर प्रश्न करनेसे पूर्व ही उनके पास तैयार रहता है।’ आप इसे डाक्टरकी श्रद्धा कहें या अतिशयोक्ति, किंतु सत्य यही है कि जो मस्तिष्क उस एक चिन्मय आलोकमें आलोकित हो उठता है, उसके लिये ग्रन्थि या उलझन कहीं होती ही नहीं।

‘जिसका चित्त, जिसकी इन्द्रियाँ और जिसका मन निर्मल हो, वही बता सकता है कि इनकी निर्मलताका साध्यसे क्या सम्बन्ध है।’ डाक्टर जान्सने अन्तमें पुस्तकोंको समेटकर यथास्थान लगा दिया। अव्यवस्था उन्हें पसंद नहीं है। वे स्वच्छ एवं व्यवस्थित व्यक्ति हैं। अपने घरमें और मस्तिष्कमें भी वे ऐसा ही रहना पसंद करते हैं। अपने बंगाली मित्रको फोन किया उन्होंने। यद्यपि मित्रको आश्चर्य हुआ कि आज दोपहरीमें डाक्टर क्यों गङ्गाकिनारे संत-दर्शनको उत्सुक हो गये हैं, परंतु वे साथ देनेको प्रस्तुत हो गये।

डाक्टर जान्सने कई भारतीय भाषाओंका अच्छा अभ्यास कर लिया है। वे हिंदी बहुत स्पष्ट बोलते हैं। लेकिन अनेक बार साधु-संतोंके कुछ शब्दोंको समझनेमें उन्हें सहायककी आवश्यकता होती है। जब डाक्टरके मित्र हरीन्द्रचन्द्रजी

उनके यहाँ पहुँचे, डाक्टर चलनेको प्रस्तुत उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

X

X

X

‘तूने मुझे क्या समझ रक्खा है? मैं तेरी सारी हड्डी-पसली तोड़ दूँगा।’ आज नाथूराम बहुत अधिक क्रोधमें है। वह एक मैले कपड़े पहने बूढ़े व्यक्तिपर लाल-पीला हो रहा है। नाथूराम खूब तगड़ा पहलवान है। आज अपने अखाड़ेके समीप खड़ा वह इस प्रकार अपने-आपसे बाहर हुआ जा रहा है। कुशल है कि उससे कुश्ती लड़नेका अभ्यास करनेवाले उसके शिष्य जा चुके हैं। यदि उन लड़कोंमेंसे कोई भी यहाँ होता तो बात बहुत बढ़ गयी होती।

‘बेचारा बूढ़ा!’ डाक्टर जान्सको दया आ गयी। उन्होंने अपने साथीसे कहा—‘यदि एक भी थप्पड़ इस मोटे आदमीने इसे मारी तो गिर ही पड़ेगा यह। हम क्या इसे बचा नहीं सकते?’ मोटर अब आगे नहीं जा सकती थी। उसे कुछ गज पीछे छोड़कर डाक्टर महात्माजीके पास जानेके लिये उतर पड़े थे और पैदल चल रहे थे। एक बलवान् व्यक्ति एक दुर्बलको कष्ट देनेको उद्यत हो तो कोई भी सहृदय तटस्थ निरीक्षक कैसे रह सकता है?

‘मैं इसे जानता हूँ।’ इतना कहकर हरीन्द्रचन्द्रजी आगे बढ़े और स्वरको कोमल तथा सौहार्दपूर्ण बनाकर उन्होंने कहा—‘नाथू भाई! आज तुम यहाँ अकेले कैसे हो?’

‘मेरा जाँघिया छूट गया था यहाँ। घर जानेपर बहुत पीछे याद आयी। सब लड़के अपने-अपने घर चले गये थे। यहाँ आकर देखता हूँ...’ बूढ़ेकी ओर घूरते हुए उसने देखा।

‘जाने भी दो!’ हरीन्द्रचन्द्रने देख लिया कि घटनाका पता लगानेकी उत्सुकता ऐसे अवसरोंपर अनर्थकारी होती है। विवरणमें जानेसे उत्तेजनाको प्रोत्साहन मिलता है। उन्होंने तनिक हँसते हुए कहा—‘सिंह गीदड़ोंसे झगड़ा नहीं किया करते। ये डाक्टर साहब उन अवधूत स्वामीके पास जाना चाहते हैं। तुम उस टीलेतक चलकर उनका स्थान दिखा दोगे हमें?’

स्तुति किसे प्रसन्न नहीं करती। पहलवानको ‘सिंह’ कहा गया था। उसके गर्वने उसके क्रोधको शिथिल कर दिया। एक पड़े-लिखे बाबू और एक गोरू साहब उससे सहायता माँग रहे थे, अब भला वह एक दुर्बल बूढ़ेसे

झगड़ता कैसे रह सकता था। झटपट वह समीप चला आया और मार्ग दिखानेको आगे बढ़ गया। अवश्य वह महात्माजीके समीपतक ले जाता दोनोंको; किंतु साहबने उसे आग्रहपूर्वक लौटा दिया। वे अकेले ही महात्माजीके पास जाना चाहते थे।

‘ओह, तो आप मनोवैज्ञानिक भी हैं।’ डाक्टर जान्सने पहलवानके चले जानेपर अपने साथीकी ओर मुसकराते हुए देखा। ‘मैं जानता हूँ कि हमें किसी मार्गदर्शककी आवश्यकता नहीं थी।’

‘यदि उस बूढ़ेको यह मारता, आप इसे दण्ड देनेका समर्थन करते या नहीं?’ हरीन्द्रचन्द्रजीने दूसरा ही प्रश्न किया। डाक्टर जान्ससे अपराध-विज्ञानपर उनकी अनेक बार बातें हुई हैं। डाक्टरका मत है कि ‘अपराधका दण्ड देना एक नृशंस प्रथा है। अपराध एक प्रकारके मानसिक रोगका परिणाम है और इसलिये अपराधीकी चिकित्सा होनी चाहिये।’ इसी मतको लक्ष्य करके यह प्रश्न किया गया था।

‘आपने देखा ही कि क्रोधके समय उसके नेत्र और मुख कैसे विकृत एवं लाल हो गये थे।’ डाक्टरने कहा—‘आप यह भी जानते हैं कि यदि क्रोध पर्याप्त अधिक हो तो ज्वर आ सकता है। इसका अर्थ है कि क्रोधका थोड़ा आना भी विकृति ही है।’

‘लेकिन उसका आना रोका कैसे जाय?’

‘कम-से-कम दण्ड देनेसे तो वह रुकता नहीं।’ डाक्टरने कहनेको तो बात कह दी; किंतु उनके मनने एक दूसरी ही चिन्तन-परम्परा प्रारम्भ कर दी। वे अचानक फिर गम्भीर हो गये। अब बात-चीत करना उनके लिये शक्य नहीं रहा।

‘क्रोधसे ज्वर आ सकता है, भयसे आ सकता है, कामसे आ सकता है।’ डाक्टरका चित्त अंधड़से उछलते हुए सरोवरकी भाँति हो रहा था। वे सोच रहे थे, यह कहना ठीक नहीं; उनके भीतर स्मृतियों, घटनाओं और विचारोंका तूफान चल रहा था।

‘मनके सभी विकार शरीरमें रोग पैदा कर सकते हैं। स्वस्थ मनके बिना स्वस्थ शरीर पाया नहीं जा सकता। ‘स्वस्थ मन?’ शरीरके स्वास्थ्यके समान ही यह भी एक उलझा प्रश्न ही है।’ मन वासना-रहित, विकार-रहित, संकल्प-

रहित भी हो सकता है—यह बात एक व्यावहारिक बुद्धिमें सरलतासे आती है?

‘आपकी मानसिक चिकित्सा कैसी होगी?’ हरीन्द्रचन्द्रजीने पूछा। उनका तात्पर्य स्पष्ट था—यदि मनुष्य किसी ऑपरेशन, इंजेक्शन या किसी भी उपायसे कोरा बना दिया जाय कि वह कभी क्रोध न करे, कभी उसके कामका उदय न हो, लोभ तथा मोह उसके मनसे विद्रुह हो जायँ, कैसा होगा वह मनुष्य? वह क्या सामाजिक प्राणी हो सकेगा? ‘प्रकृतिने जो वासनाएँ दी हैं, वे क्या निरर्थक ही हैं? उनको निर्मूल कर देनेपर जो कुछ बच रहेगा, वह क्या होगा? क्या ऐसा कर देना शक्य भी है?’

‘हम तो अभी अन्वेषक हैं और वह भी अन्वेषक भरे जंगलमें बिना लक्ष्यके भटकनेवाले।’ डाक्टरके स्वभाव व्यंग या उत्साह नहीं, थकान थी। ‘हमसे बहुत अन्वेषक प्रकार आप इसे जानते हैं। भारत—केवल भारत ही इसका उत्तर दे सकता है।’

एक दिन भारतने विश्वको इसका उत्तर दिया था। आज भी उसी उत्तरके लिये ये सभ्यताके पुत्र भगवत भागीरथीके उज्ज्वल पुलिनपर बबूलकी पतली छायामें केवल कौपीन लगाये पड़े रहनेवाले दो मुट्ठी हड्डीके एक बीतराफे समीप उसी शाश्वत उत्तरकी आशासे जा रहे थे। कोई तर्क या कोई भौतिक अन्वेषण उसे पा जो नहीं सकता।

× × ×

‘डाक्टर! स्वास्थ्य किसे कहते हैं?’ डाक्टर जान्सने मस्तक झुका लिया। जो प्रश्न पूछने वे संतके पास आये थे, संतने वही प्रश्न उनसे पूछा था और एक डाक्टरके ऐसा प्रश्न न पूछा जाय तो पूछा किससे जाय।

दोनों प्रणाम करके रेतमें ही बैठ गये थे। जहाँ आडम्बर नहीं होता, दूसरेको भी उसकी वहाँ आवश्यकता नहीं होती। अवधूत स्वामी तो अवधूत ठहरे, उनके पास आज पहली बार एक जलसे भरी हँडिया दिखायी पड़ रही थी और उनका शरीर भी कुछ कृश लगता था।

‘तीन दिनोंसे आँव पड़ रहा है और कुछ ज्वर भी है।’ पूछनेपर उन्होंने बताया। डाक्टर शरीर-परीक्षण करते उठने लगे तो उन्होंने रोक दिया—‘तुम व्यग्र मत बनो। मुझे कुछ हुआ नहीं है। शरीरको अपना भोग भोग ले दो।’ जब यह आशा ही नहीं कि ओषधि दी जा सकेगी।

संख्या ९]

तब केवल निदानके लिये परीक्षणके आग्रहसे लाभ भी क्या।
‘तुम क्या सोचते हो कि मैं अस्वस्थ हूँ?’ संतने

पूछा—‘स्वास्थ्य तुम किसको कहते हो?’

‘मैं स्वयं आपके चरणोंमें यही पूछने आज आया।’
डाक्टरने थोड़ेमें अपनी समस्या उपस्थित कर दी।

‘तुम चिकित्सा-शास्त्रके विद्वान् हो, भला ये बातें मैं
क्या जानूँ।’ संत हँस पड़े। ‘मैं तो यह जानता हूँ कि शरीर
या शरीरके किसी अङ्ग तथा उसकी आवश्यकताका स्मरण
न आवे तो शरीरको स्वस्थ समझना चाहिये।’

‘और मनकी आवश्यकताका स्मरण न हो तो मनको
स्वस्थ कहना होगा?’ डाक्टरने पूछा। उनके मुखकी
भ्रामिमासे लगता था कि उन्हें कुछ प्रकाश मिला है।

‘वात तो ऐसी ही है, पर उसे और सीधे ढंगसे कहा
जाय तो अच्छा।’ संतने परिभाषाके शब्दोंमें परिवर्तन
किया—‘मन भूतकालकी उधेड़-बुन एवं भविष्यकी चिन्ता
करके वर्तमानमें शान्त स्थिर रहे, यह मनका स्वास्थ्य है।’

‘लेकिन अनेक बार शरीरके भीतर ऐसे रोग बढ़ते
रहे हैं, जिनका रोगीको कुछ भी पता नहीं होता।’
डाक्टरने शंका की।

‘तुम शरीरकी बात छोड़ दो।’ संतके उत्तरने दोनोंको
जैकाया। वे यदि शरीरकी बात छोड़ दें तो फिर स्वास्थ्य-
कैसी क्या वस्तु रह जायगी। अवधूतने उनके भावपर
ध्यान नहीं दिया। वे कहते गये—‘भेरा शरीर इस समय
अस्वस्थ है, यह तुम देख रहे हो। शरीरमें जो विकार हैं,
उन्से पीड़ा भी है। लेकिन मैं मनको वहाँसे हटा सकता हूँ
और तब इस रोग और पीड़ाका कुछ अर्थ नहीं रह जाता।’

‘पीड़ाकी उपेक्षा करके मनको अन्यत्र लगा देना, यह
एक चिकित्सा-पद्धति तो है।’ डाक्टरने जान-बूझकर नहीं कहा
कि यह पद्धति सर्वसाधारणके लिये बहुत व्यावहारिक नहीं है।

‘जो स्वास्थ्यके सभी नियमोंका पालन करते हैं, वे बहुत
थोड़ेसे विपरीत कारणके आनेपर बीमार हो जाते हैं। जो
स्वास्थ्यके विपरीत स्थितिमें रहते हैं, उनके शरीरको सब
खतनेका अभ्यास तो होता है; किंतु जब वे बीमार होते हैं,
तब उनकी चिकित्सा दुःसाध्य हो जाती है। एकके मनमें
रोगका भय लगा रहता है और उसके शरीरको अक्षम
करता है। दूसरेका मन निश्चिन्त होता है; किंतु शरीर

अनजानमें ही विकृतियाँ एकत्र करता रहता है। दोनोंकी
स्थितिका समन्वय किये बिना तुम्हें स्वास्थ्य कैसे मिलेगा?’
संतने इस बार पूरी व्याख्या कर दी।

‘दोनोंका समन्वय?’ डाक्टरके लिये बात अभी पूरी
स्पष्ट नहीं थी।

‘वही जो आयुर्वेद कहता है। शरीर एवं मन दोनोंका
स्वास्थ्य।’ संतने गम्भीरतासे देखा—‘तुम स्वयं भी तो
मानते हो कि मनोविकारोंके रहते मनुष्य पूरा स्वस्थ नहीं
हो सकता।’

‘लेकिन ऐसा क्या सम्भव है?’

‘स्वस्थ सम्भव है, यदि मनुष्य भूत एवं भविष्यकी
उलझनमें अपनेको व्यस्त रखनेका मूर्खतापूर्ण आग्रह छोड़
सके।’ संतने समझाया—‘सम्मुख उपस्थित कर्तव्यका पालन
करने एवं उसीमें पूर्ण मनोयोग करनेसे मनुष्यकी वैयक्तिक
एवं सामाजिक कोई हानि नहीं होती। उसके कार्य उत्तम
ढंगसे सम्पन्न होते हैं। उसका मन स्वस्थ रहता है। क्योंकि
मन अस्वस्थ होता है कामनासे और कामनाका उद्भव
भूतकालकी स्मृति तथा भविष्यके चिन्तनसे होता है। मनके
अस्वस्थ होनेपर इन्द्रियाँ चञ्चल होती हैं और तब शरीरकी
चिन्ता प्रधान बन जाती है।’

‘मन स्वस्थ रहे तो क्या शरीर स्वस्थ ही रहेगा?’
डाक्टरने पूछा।

‘मैं ऐसा कहाँ कहता हूँ।’ संत स्नेहभरे स्वरमें कह
रहे थे—‘तुम क्या पानीको विकृत होनेसे रोक सकते हो?
शरीर तो पानीकी भाँति पार्थिव है। वह प्रारब्धका बुलबुला
है। उसे अपने भोग भोगने होंगे और भोगने चाहिये।
शरीरकी बहुत चिन्ता ही अस्वास्थ्य है। मन स्वस्थ हो तो
क्लेश नहीं होगा और इससे अधिक मनुष्य और क्या चाह
सकता है?’

‘हमारे ये चिकित्सा-शास्त्रके प्रयत्न?’ डाक्टरका स्वर
कहता था कि उनका समाधान हो चुका है। उन्हें अब
इस प्रश्नके उत्तरकी बहुत अपेक्षा नहीं।

‘ये भी अन्य कर्तव्योंके समान एक कर्तव्य हैं। इनका
लक्ष्य भी वही पूर्णता है—शरीरसे निरपेक्षता! मनुष्य पूर्ण
होनेके लिये आया है और वही उसका स्वास्थ्य है।’ दोनोंने
संतके सामने मस्तक झुका दिया। डाक्टर जान्तेने जो समझा,
मनुष्य उसे कब समझेगा। कौन कह सकता है।

हिमालयके एक भक्त-योगीका पुराना वृत्तान्त

[श्रीकाले बाबा]

(लेखक—श्री 'मायेश' भारद्वाज)

यात्रीलोग श्रीवदरीनारायण तथा केदारनाथके दर्शन कर जाते हैं। कोई कैलाश पर्वतको भी देख आते हैं। सैर-सपाटेवाले साहब लोग हरिनोंका शिकार करते हैं, हवा खाते हैं, फोटो खींचते हैं और मौज-मजा करते हैं। अपने राम हिमालयमें रहते हैं, किंतु वहाँके अद्भुत चमत्कारी दिव्य दृश्योंको देखनेकी धुनमें ही व्यस्त रहते हैं। नर-नारायण पर्वत, महामृत्युञ्जय पर्वत, द्रोणागिरि पर्वत, नन्दा पर्वत, कुमारी पर्वत, धौलागिरि पर्वत, गन्धमादन पर्वत, क्रौञ्च पर्वत, इन्द्रकील पर्वत, खेंटा, छाँती आदि उत्तराखण्डमें विशेष दिव्य पर्वत हैं। इनमें विशेष भ्रमण करनेसे समय-समयपर अप्सराएँ, यक्ष तथा गन्धर्व मिल ही जाते हैं। पहाड़ी भाषामें यक्षिणीको 'एडी' अप्सराको 'ओछरी' यक्षोंको 'जँठिया' गन्धर्वोंको 'चनोणिया' बोलते हैं। बहुधा पहाड़ियोंको ये मिलते रहते हैं जो उन पर्वतोंमें जाते हैं। इनके गायन, वाद्य और नृत्यका भी अद्भुत आनन्द होता है। आजका विषय है—हिमालयके एक भक्तयोगी श्रीकाले बाबा !

ये महात्मा बहुधा महामृत्युञ्जय पर्वतपर मिलते थे। ग्रामोंमें पहले कभी आ जाते थे, कोई याशिक ब्राह्मण भोजन करा दे तो पा लेते थे; किंतु अब करीब चालीस-पचास वर्षोंसे ग्रामोंमें नहीं आये हैं। इनकी आयु करीब चार सौ वर्षकी है, यह इनके साथके वार्तालापसे मालूम हुआ था। ये अपने शरीरको भी बदल लेते हैं; कभी बाघ, कभी अजगर, कभी मृग, कभी गरुड़ पक्षी, कभी रीछके रूपमें रहते हैं। पचास वर्ष पहले तो इनको लोग जानते थे तथा इनकी चर्चा करते थे, किंतु अब इनको भूल-जैसे गये हैं। ये मानवसमाजसे सम्पर्क नहीं रखते हैं। करीब पंद्रह वर्षोंसे इधर किसीको उनका मिलन या प्रकट अनुभव नहीं हुआ है।

इनके दर्शन लेखकको सन् १९२८ ई० के ज्येष्ठ मासमें हुए थे। उनके साथ जो वार्तालाप हुआ था, उसे उसी समय अपने स्थानपर आकर इटावाके 'ब्राह्मणसर्वस्व' में प्रकाशित करवाया गया था।

उस समय लेखककी आयु तीस वर्षकी थी। देशोदात्त वर्तमान साहित्य पढ़कर तथा कई नास्तिक दार्शनिकोंके स्वाध्यायके कारण भगवान्के प्रति यह भाव हो गया था कि 'यह भी एक कल्पनामात्र है'। संस्कृत साहित्यका स्वाभाव बहुत होते हुए भी, न मालूम किस दुर्दैवके कारण भावना प्रबल हो गयी थी।

मेरे वार्तालापमें नास्तिकताकी गन्ध देखकर मेरे पिताजीने मुझे महामृत्युञ्जय पर्वतमें शिवपूजा करने आज्ञा दी, साथ ही यह भी कहा कि 'वहाँ काले बाबा दर्शन हो जाया करते हैं। वे मिलें तो अहोभाग्य !'

महामृत्युञ्जय पर्वतमें स्वयम्भू शिवलिङ्ग हैं। उन्हें काले केदार भी कहते हैं। कर्णप्रयागसे नारायणगढ़ तक तीन मील पर्वतके ऊपर चढ़कर यह स्थान है। धारवा भी अनुपम है। इसके आस-पास ग्रामोंमें क्षत्रिय व ब्राह्मण रहते हैं।

अनीश्वरवादी होनेपर भी लेखकके आत्म-कार्यकलापोंमें कोई अन्तर नहीं था, विधिपूर्वक शिवपूजा सम्पन्न हुआ। पूजाके अनन्तर चार बजे सायंकाल साथियोंको गाँवकी ओर भेज दिया। हम दो जने पर्वत-मनोरम भूमिमें भ्रमण करते हुए वन्यफल (बाकल) खाते हुए वहाँ विचरण करने लगे।

अकस्मात् एक सुन्दर चट्टानपर खड़ा एक कुत्ता हरिन हमने देखा, उसकी आकृति बड़ी मोहक थी। उत्तम प्रत्येक अङ्ग स्वस्थ तथा मनोहर था। हमें देखकर वह भागा नहीं बल्कि विश्वस्तभावसे हमारी ओर आया। श्रीमती बोली—'यहाँ बाघ होना चाहिये, तभी मनुष्यके समीप आता है।' हम सावधान हो गये और सतर्क दृष्टिसे चारों ओर देखने लगे।

पंद्रह कदम दूर वृक्षकी छायामें एक मनुष्यका दृष्टिगोचर हुई। हरिरूप अन्तर्धान हो गया। मुझे ध्यान आया कि हो-न-हो ये ही वे काले बाबा हैं। वह नहीं था, ये ही थे, हमपर अनुग्रह करके दर्शन दिये हैं।

संख्या ९]

‘डरो नहीं इधर आओ’ आवाज सुनते ही बाबा के समीप जाकर हमने दण्डवत् प्रणाम किया।

बाबा का शरीर श्याम सुन्दर था। सिर तथा दाढ़ी-भूँछे वालों से वे नृसिंह-जैसे लगते थे। सुखासन से बैठे थे, कौपीन तक न थी, किंतु शरीर इतना कोमल तथा सुन्दर था कि नेत्रों की वृत्ति फिर इधर-उधर नहीं जाती थी।

‘कहो, कहाँ रहते हो?’

× × ×

‘यहाँ कुछ दूर.....ग्राममें।’

‘विप्र हो? विद्वान् भी अवश्य होओगे।’

‘हाँ, विप्रकुलमें जन्म हुआ है, पुस्तकें भी बहुत पढ़ी हैं।’

‘ठीक, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्’ तुम्हारे पिताजी का क्या नाम है?’

मैंने पिताजी का नाम बतलाया, स्वामीजीने पितामह का नाम पूछा, मैंने वह भी बतलाया, उनके भी पिता-पितामह का नाम प्रपितामह का नाम पूछा। अन्तमें छठी पीढ़ी के व्यक्ति का नाम शास्त्री का नाम सुनते ही वे बोले—‘ठीक, गणपति शास्त्री बहुत बड़े दार्शनिक विद्वान् थे। उनसे वेदान्त का सत्सङ्ग करने मैं भी तरुण-अवस्थामें जाया करता था।’

अब मुझे उनकी आयु का अनुमान लगाने का अवसर मिला कि वे कितने वृद्ध हैं।

महात्मा बोले, ‘विद्याध्ययन घरपर ही किया कि कहीं बाहर भी गये?’

‘कोष, काव्य, ज्योतिष, यजुर्वेद घरपर पिताजी तथा काकाजी से ही पढ़े। विशेष सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़ने काशीजी गया। निरुक्त लाहौरमें पढ़ा। आजकल गवर्नमेंण्ट की परीक्षा-प्रणाली से पढ़ाई होती है, उसकी भी उपाधियाँ प्राप्त की हैं।’

‘तो बहुत कुछ पढ़े।’

‘पढ़ा तो बहुत कुछ, किंतु इतना अज्ञ हूँ कि ईश्वर पर ही विश्वास नहीं होता।’

‘हाँ, ऐसा है?’ कहकर महात्माने एक करुणापूर्ण तीव्र दृष्टि से इस दास को देखा। वह क्षण-भूलता नहीं। उन आँखों की किरणोंमें अपूर्व ज्योति थी, मेरा चित्त सिद्धांत-अपूर्व भक्त है तथा अद्भुत ज्ञानी है और योगी तो हैं ही।

जल गया। हृदय विनय से काँप उठा, मैं समझता हूँ कि सभी जन्मों के दोष दग्ध हो गये होंगे! मैं अति भीत तथा संकुचित हो उठा। मुझसे स्वामीजी बोले—

‘कोई चिन्ता नहीं, एक बार ऐसा भी भाव जीवनमें आता ही है, जब नर समझता है कि मुझे नारायण दीखते नहीं या उनका कोई प्रकट चमत्कार नहीं दिखाता। इसलिये उनके सम्बन्धमें ‘सब झूठी कल्पना है’ यह बात कुसङ्ग से और भी दृढ़ हो जाती है। परंतु यह सत्य नहीं। आजकल तुम्हारे देशमें राजा कौन है?’

‘राजा तो अंग्रेज जातिके इंग्लैंडमें पञ्चम जार्ज नामवाले हैं।’

‘तुमने कभी उनको देखा भी है?’

‘नहीं।’

‘तुम उनपर कैसे विश्वास करते हो?’

‘उनकी राज्य-व्यवस्था तथा न्याय-व्यवस्था से।’

‘तो क्या इस विश्वमें भी कोई न्याय-व्यवस्था तथा दण्ड-व्यवस्था अथवा नियमित कार्यों को तुम देखते हो?’

‘हाँ।’

‘वही सर्वोपरि नियन्ता शासक तथा व्यवस्थापक परमात्मा है। फिर भी समझो—दूधमें घृत होता है, पानीमें विद्युत् है, लकड़ीमें आग है, पर प्रकट नहीं दीखती। पर जब अमुक विधिसे मन्थन होता है, घी भी देखनेमें आता है, विद्युत् भी प्रकट होता है और अग्नि भी दीखने लगती है। ऐसे ही भक्ति तथा योग की रगड़ से सर्वगत सर्वान्तर्यामी भगवान् भी प्रकट होकर दर्शन देते हैं। देखो—ध्रुव, प्रह्लाद, द्रौपदी आदि भक्तों के चरितोंमें यही तो बात है। एक बार के तपसे ही अदिति और कश्यप ने उस परमात्मा को अपना तीन बार पुत्र बना लिया था। वे ही तो त्रिविक्रम, श्रीराम और श्रीकृष्ण हुए। उन्होंने अपने प्राकट्य के समय अपना अद्भुत दर्शन तथा चमत्कार अपने माता-पिता को दिखलाया था। उन्होंने चरितों को वाल्मीकि, व्यास आदिने लिखकर अपने को तथा जगत् को पावन किया है।’

महात्मा लगभग बीस मिनट इस विषय पर बोले। मैंने वे सब शब्द घरपर आकर लिख लिये थे।

काले बाबा के वर्णन कालमें मैं देखता था कि वे कितने अपूर्व भक्त हैं तथा अद्भुत ज्ञानी हैं और योगी तो हैं ही।

ईश्वर-सम्बन्धी प्रसङ्गके पूर्ण होते ही मैंने उनसे एक प्रश्न और किया—

‘इस कालमें सनातनधर्मकी रक्षा कैसे होगी ?’
मुसकराते हुए बाबा बोले—‘भोले पण्डित ! धर्म जिसकी वस्तु है, वही उसकी रक्षा करता है। तुम तो अपना कर्तव्य पालन करो। तुम्हारे लिये तुम जितना धर्म समझते हो, उसका आचरण करो।’

‘वास्तवमें धर्म घटता-बढ़ता नहीं, वह सदा एक ही सनातन स्वरूपमें रहता है। उसके पालन करनेवाले मनुष्योंकी संख्या कभी घटती है, कभी बढ़ती है। जब धर्मपालक लोग अधिक रहते हैं, तब देशमें तथा समाजमें सुख, शान्ति तथा सुव्यवस्था रहती है। जब धर्मपालक कम हो जाते हैं, धर्महीन जन बढ़ जाते हैं, तब देशमें, समाजमें और व्यक्तियोंमें दुःख, अशान्ति और दुर्व्यवस्था

हो जाती है। दुर्मिक्ष और क्रान्तिके द्वारा सारा जगत् पीड़ित हो जाता है। इसलिये याद रखना—तुम्हारे पालन पालनेके कारण धर्मका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। तुम्हारा ही लाभ और विनाश उसमें है। किसी गाँवमें चोर सब मनुष्य झूठे या चोर ही बसते हों तो इससे ‘सत्य’ नामक धर्मके अङ्गोंको कोई हानि नहीं। तो उन प्रमादी लोगोंकी होगी जो उसे नहीं पालते हैं।

‘सर्वश्रम भगवान्का न्यायालय साधारण नहीं। कितनी ही चतुराई तथा चालाकी करो किंतु जीवको अपने उस अदालतमें जाना ही है और वहाँ किये-कराये ठीक-ठीक निग्रहानुग्रह होना ही है। तथा यहाँ भी शुभाशुभ फल भोगने ही हैं।’

भगवान् शङ्करकी पूजाका यह महान् फल था। इन शिवरूप संतके दर्शन हुए।

तीन संस्कारी प्राणी

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

अनेक बार किसी छोटे-से कारणसे योगभ्रष्ट महापुरुष पशु-पक्षी आदि शरीरोंमें जन्म ग्रहण करते हैं। जडभरतजीको मृग बनना पड़ा था। एक ऐसी भी कथा सुनी है कि महादानी बलि कुछ दिन गधा बनकर रहे थे। जब भी कोई महापुरुष किसी तिर्यक् योनिमें आते हैं, तब उन्हें पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रहती है। भोगयोनिमें होनेपर भी उनका संयम-साधन उस योनिके अन्य जीवोंसे पृथक् दीखता है। गजेन्द्रको पूर्वजन्मके साधनसे ही ग्राहके द्वारा ग्रस्त होनेपर भगवान्का स्मरण हुआ। भगवान्की स्मृति तो कहीं भी हो, निष्फल जाती नहीं। हम यहाँ तीन ऐसे ही दिव्य संस्कारसम्पन्न प्राणियोंकी संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

(१)

अयोध्यामें श्रीकनक-भवन-विहारीजीकी सेवामें अयोध्याकी रानी साहिबाकी ओरसे एक घोड़ी रहती थी। यात्रा-उत्सवादिकमें उसका उपयोग होता था। कनकभवनमें रहते-रहते ही वह बुढ़िया हो गयी। एक बार रानी साहिबा दर्शन करने आयीं मन्दिरमें श्रीकनकभवनविहारीजीके। उन्होंने घोड़ीको देखकर साथके अपने मुख्य सेवकको आदेश दिया—‘यह घोड़ी बुढ़िया हो गयी। इसे अब जमींदारीपर भेज दो और यहाँ प्रभुकी सेवामें कोई अच्छा घोड़ा पहुँचा दो।’

राजमहलसे दूसरा घोड़ा मन्दिरमें आया। घोड़ीको

रेलद्वारा जमींदारीपर भेजनेके लिये कई स्टेशन भेजना था। जो घोड़ी कभी अड़ती नहीं देखी गयी थी, वह जब योग स्टेशन ले जाने आये तो भूमिमें लेट गयी। किसी प्रकार उठाये उठती ही नहीं थी। अश्वशालाके सेवकोंने बल-‘जबसे इसके बाहर भेजनेकी चर्चा हुई है, तबसे इसने दाना घास तो क्या जलतक नहीं पिया है। इसकी आँखोंसे बरस आँसू बह रहे हैं।’

बेचारे मूक प्राणीकी वेदना कौन समझता ? रस्सियों बँधकर, ठेलपर लादकर घोड़ीको स्टेशन पहुँचाया गया। उसे मालगाड़ीके पशु ढोनेवाले डिव्बेमें बंद कर दिया गया। रस्सियाँ खोल दी गयीं। दाना-घास और जल रख दिया गया। स्टेशन-मास्टरने किराया लेकर उसको भेजनेकी बिल्टी काट दी।

मन्दिरके महन्तजीको बड़ी दया आयी घोड़ीपर। उन्होंने रानी साहिबाके पास कहलवाया—‘घोड़ी उपास कर रही है। वह बाहर जाकर मर जायगी। इतने दिन श्रीकनकभवन-विहारीजीकी सेवामें रही। अब बूढ़ी होनेपर उसे अयोध्याकी दिव्य भूमिसे निकाला न जाय।’

बात रानी साहिबाके ध्यानमें भी आ गयी। उन्होंने कहा—‘घोड़ी चली न गयी हो तो उसे रोक लिया जाय।’

महन्तजी स्वयं स्टेशन गये। पहले वे वहाँ गये। महन्तजी स्वयं स्टेशन गये। पहले वे वहाँ गये। महन्तजी स्वयं स्टेशन गये। पहले वे वहाँ गये।

संख्या ९]

आँखों की धारा वेगसे चलने लगी। तब महन्तजीने उसे पुचकारा; आश्वासन दिया और वे स्टेशनमास्टरके पास आये। स्टेशनमास्टरने कहा—'घोड़ीकी दशा देखकर मुझे भी बहुत दुःख हुआ; किंतु मैं कर ही क्या सकता था? मालगाड़ी तो चली गयी है। घोड़ी जिस डिब्बेमें थी, वह डिब्बा कायदेके अनुसार उसी ट्रेनमें जाना चाहिये था। मैं उस गाड़ीके गार्डको विल्टी-नम्बर आदि दे दिये हूँ। घोड़ी तो चली गयी।'।

जब महन्तजीने बताया कि घोड़ी गयी नहीं तो स्टेशनमास्टरको बड़ा आश्चर्य हुआ। मालगाड़ीके गार्डकी भूलसे ट्रेनमें वह डिब्बा जोड़ा ही नहीं गया था। उस मूक प्राणी-पुकार और कोई सुने या न सुने, पर कनकभवनमें जो उसके स्वामी आराध्यपीठपर विराजमान हैं, उन्होंने सुन ली थी। आवश्यक लिखा-पढ़ीके काम पूरे हो गये। मालके डिब्बेसे उतारनेपर घोड़ी दौड़ती-भागती सीधे कनकभवनमें अपने स्थानपर आकर खड़ी हुई।

उस भाग्यशाली पशुने जीवनभर कनकभवनकी पशु-शाला में निवास किया और श्रीअवधधाममें जब उसने देह-ताग किया, तब उसका शरीर सरयूजीमें प्रवाहित किया गया।

(२)

गङ्गातटपर राजघाटमें जब श्रीअच्युतमुनिजी महाराज रहते थे, तब उनकी कुटियाके पास एक कुत्ता रहता था। लोग कहते थे—'यह बहुत ही निकम्मा कुत्ता है। किसीको भूँकता ही नहीं।' कुत्तोंसे भी झगड़ते उसे किसी दिन नहीं देखा गया। वहाँ संतों तथा सेवकोंके जूँटे टुकड़े, जो मिल जाते, वही खाकर चुपचाप पड़ा रहता था।

श्रीअच्युतमुनिजीसे जब कोई पूछता—'महाराज! एकादशी आज है या कल?' तो वे सेवकोंसे पूछते कि 'कुत्तेने आज भोजन किया या नहीं?' बात यह थी कि कुत्ता एकादशीको कुछ भी नहीं खाता था। अनेकों बार उसे परीक्षाके लिये एकादशीको दूध-मिठाइयाँ आदि दी गयीं; पर उसने उन्हें सूँघा तक नहीं। किस दिन एकादशी है, इसका उसे किसी अलक्ष्य संस्कारसे ही शान हो जाता था।

मरनेके दिन वह कुत्ता आकर श्रीअच्युतमुनिजी महाराजके चरणोंमें लोटने लगा। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ; क्योंकि कभी वह ऐसा नहीं करता था। महाराजने उसे

पुचकारा। कुछ क्षण बाद वह उठा और श्रीगङ्गाजीमें जाकर स्नान करने लगा। स्नान करते-करते वह गङ्गाजीमें ही किनारे थोड़े जलमें लोट गया। वहीं उसने शरीर छोड़ दिया।

(३)

करह (ग्वालियर) के श्रीवावाजीके यहाँ पहले एक कटी पूँछका कुत्ता रहता था। महाराजजी उसे बंडा भगत कहा करते थे। भगवान्का भोग लगनेपर उसके लिये पत्तल लगाकर रक्खी जाती थी। वह नित्य प्रातःसायं दूसरे साधुओंके समान महाराजजीके चरणोंमें दण्डवत् करता-सा लेट जाता था।

उन दिनों एक सज्जन महाराजजीके लिये गाँवसे दूध और रोटी लाते थे। उनके कई गाय-भैंसें थीं। महाराजजी उनका दूध तो बंडाको पिला देते और रोटी स्वयं खाते। एक दिन उन्होंने कहा—'मैं इस कुत्तेके लिये दूध नहीं लाता। आप नहीं पीते तो दूसरे संतोंको क्यों नहीं दे देते?'

महाराजजीने कहा—'इस प्रकार मत बोलो। बंडा भी संत ही है।'।

दूसरे दिन उनका दूध बंडाके सामने रक्खा गया तो वह उठकर अन्यत्र जा बैठा। उन सज्जनको बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत पुचकारनेपर भी बंडाने उनका दूध स्वीकार नहीं किया।

दो-चार दिन इस घटनाको बीते और बिना किसी कारणके उनकी एक भैंस मर गयी। तीन-चार दिनका अन्तर पड़ा और दूसरी मरी। अब वे बहुत घबराये। महाराजजीके पास आकर रोने लगे। महाराजजीने कहा—'अपराध तो तुमने बंडा भगतका किया है; उससे क्षमा माँगो।' बंडाके सामने दूध रखकर हाथ जोड़कर वे रो पड़े। अब बंडाने उठकर चुपचाप दूध पी लिया। फिर उनका कोई पशु मरा नहीं।

एक दिन बंडा असमयमें आकर महाराजजीके पैरोंके पास लोटने और कूँ-कूँ करने लगा। महाराजने कहा—'तू क्या चाहता है? कहाँ जाना चाहता है? अच्छा जा।'।

बंडाको अनुमति मिल गयी। आश्रमके बाहर जाकर वह भूमिमें लेट गया। सूर्यनारायणकी ओर देखते हुए उसने शरीर छोड़ दिया। महाराजने बंडाकी देहको समाधि दी और उसका भंडारा कराया।

सती द्रौपदी

(लेखक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

(५)

लोग चाहते तो यही हैं कि हमारे जीवनमें किसी प्रकारका बन्धन न रहे, हम सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त रहें; परंतु ऐसी स्थिति प्राप्त करनेका साधन लोगोंकी समझमें सुगमतासे नहीं आता। सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्तिका कारण एकके साथ बाँध जाना है, जीवनको सब बन्धनोंसे छुड़ा लेनेका साधन उसे किसी नियममें बाँध देना है। जीवनको नियमके अधीन कर देना, आलस्यपर विजय पाना है। जीवनको नियमके अधीन कर देना प्रमादको सदाके लिये विदा कर देना है। नियमित हो जाना प्रपञ्चके अनेकों झंझटोंसे छूट जाना है। नियम जीवनकी सब बुराइयोंको पीसकर-गलाकर ऐसे साँचेमें ढाल देता है कि वे आमूल परिवर्तित होकर भलाईयोंके रूपमें बन जायँ। जिसके जीवनमें नियम नहीं, उसका जीवन शृङ्खलाहीन है। वह कोई भी बड़ा काम नहीं कर सकता। वह घबरा जाता है, चिन्तित रहता है। अपने कर्मकी सफलतामें सन्दिग्ध रहता है। जीवनको, परिवारको, जातिको, समाजको और राष्ट्रको नियन्त्रित, नियमित रखनेसे ही सच्चे सुख और शान्तिके दर्शन होते हैं।

पाण्डवोंने इन्द्रप्रस्थ बसा लिया था। उसकी तैयारी पूरी हो चुकी थी। युधिष्ठिर थे राजा और सब भाई थे उनके ही हाथ, उनके ही सहकारी। मानो पाँचों भाई मिलकर एक पूरे राजा हों। रानी तो एक थी ही, द्रौपदी। बड़े आनन्दसे समय बीत रहा था। एक दिनकी बात है सभा लगी हुई थी, सब लोग अपने-अपने आसनोपर बैठे हुए थे, राज्यसम्बन्धी ही चर्चा चल रही थी, इतनेमें देवर्षि नारद वीणा बजाते, हरि-गुण गाते हुए वहाँ पहुँच गये। प्रणाम-आशीर्वाद, स्वागत-सत्कार होनेके बाद युधिष्ठिरने अपने राज्यका सब समाचार नारदजीको सुनाया। समाचार मिलते ही द्रौपदी आयी, उसने नारदजीके पैर छूकर उन्हें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर सिर ढके हुए उनके सामने खड़ी हो गयी। धर्मात्मा भगवत्प्रिय देवर्षि नारदने द्रौपदीको आशीर्वाद देकर रनिवासमें जानेकी आज्ञा दी। द्रौपदीने आज्ञा-पालन किया।

देवर्षि नारदने कहा—“पाण्डव ! यशस्विनी द्रौपदी

तुम सबकी एकमात्र धर्मपत्नी है। मेरी सम्मति है कि तुम लोग उसके सम्बन्धमें एक नियम बना लो। मैं जानता हूँ कि तुम लोगोंमें परस्पर बड़ा प्रेम है तथापि इस प्रेमको सुरक्षित रखनेके लिये नियम बनाना आवश्यक है। कभी कारण कई बार बड़े-बड़े प्रेमियोंमें भी झगड़ा हो जाता है। इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुनाता हूँ। पुराने जमानेकी बात है, दैत्यराज हिरण्यकशिपुके वंशमें निकुम्भ नामक दैत्यके पुत्र सुन्द और उपसुन्द बड़े ही बलवान् थे। उनका अभिप्राय, उद्देश्य, सुख-दुःख और काम एक ही था। एकके बिना दूसरा न कहीं जाता था और न तो कुछ खाता-पीता था, दोनों आपसमें बड़ी मधुर चर्चा किया करते थे। वे एक प्राण दो देह जान पड़ते थे। एक बार उनके मनमें इच्छा हुई कि त्रिलोकीपर विजय प्राप्त किया जाय। वे दोनों तपस्या करने लगे। भूख-प्यास सहन करते जटा-बल्कल धारण किये हुए केवल हवा पीकर ही रहते थे। अँगूठोंके बल खड़े रहते, सूर्यकी ओर एकटक देखते रहते और अपने शरीरसे मांस काट-काटकर हवन करते। उनकी तपस्याके प्रभावसे विन्ध्याचल तपने लगा; उनके धुआँ निकलने लगा। देवताओंको भय हुआ, उन्होंने विघ्न डालनेके अनेकों उपाय किये। रत्नोंका प्रलोभन दिया गया, सुन्दर स्त्रियोंको भेजकर उन्हें लुभानेकी चेष्टा की गयी, माता, बहिन, स्त्री और अन्यान्य बन्धु-बान्धवोंका वेश धारण करके उनके सामने आर्तनाद किया गया—मुझे बचाओ, मुझे बचाओ। परंतु उनकी तपस्या अडिग थी, वे तनिक भी विचलित नहीं हुए।

वरदान देनेके लिये स्वयं ब्रह्मा उनके पाँच आने। उन दोनोंने हाथ जोड़कर एक स्वरसे कहा कि हम दोनों मायावी अस्त्रोंके जानकार, इच्छानुकूल रूप धारण करनेवाले बलवान् और अमर हो जायँ। ब्रह्माने कहा—“कल आखिरी बात अमर होना छोड़कर और सब तुम्हें प्राप्त हुआ। अमर होना देवताओंकी विशेषता है। इसके अतिरिक्त तुम्हारी तपस्याका उद्देश्य त्रिलोकीपर विजय प्राप्त करना था, अमर होना नहीं, इसलिये यह वरदान तुम्हें नहीं मिल सकता।” दोनों दैत्योंने कहा—“अच्छा, तुम्हें नहीं मिल सकता।” दोनों दैत्योंने कहा—“अच्छा, तुम्हें नहीं मिल सकता।” दोनों दैत्योंने कहा—“अच्छा, तुम्हें नहीं मिल सकता।”

संख्या ९]

किसी प्राणीसे ही नहीं, बल्कि किसी पदार्थसे भी न मरें और यदि कभी मरना ही हो तो हम दोनों परस्पर एक दूसरेके हाथसे मरें।' ब्रह्माजीने कहा—'एवमस्तु, ऐसा ही हो।'

वे प्रसन्न होकर घर लौट आये। खुशी मनायी जाने लगी। अब उनके सामने कौन टिकता, बात-की-बातमें शिथिल हो गया। देवता लोग अपने लोक छोड़कर आगये। ब्राह्मण और तपस्वियोंकी बारी आयी। सब आश्रम नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये, यज्ञशालाएँ जला दी गयीं। वे गुफाओंमें जा-जाकर, दुर्गम स्थानोंमें ढूँढ़-ढूँढ़कर, जानवरोंका रूप धारणकर एकान्तवासी तपस्वियोंका संहार करने लगे। ऐसा मालूम हुआ कि अब प्रलय होनेवाला है। देवर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि, परमर्षि और राजर्षि सब देवताओंके साथ ब्रह्माके पास गये। सबने प्रार्थना की—'प्रभो! क्या अभी प्रलय हो जायगा?' ब्रह्मा चिन्तामें पड़ गये। उन्होंने विश्वकर्माको याद किया, उनसे कहा कि एक ऐसी सुन्दरी स्त्री बनाओ जिसके शरीरमें तिलभर भी ऐसा स्थान न हो जिसमें देखनेवालेकी आँखें गड़ न जायँ।' स्त्री बनी और उसका नाम रखवा गया—तिलोत्तमा। ब्रह्मा ने कहा—'तुम जाओ उन दैत्योंके पास, उनमें फूट पड़ जाय इसकी चेष्टा करो।' उसने देवताओं, ऋषियोंकी परिक्रमा करके यात्रा की।

उस समय दोनों भाई मदिरा पिये हुए थे, उनकी आँखें लाल-लाल हो रही थीं। तिलोत्तमाको देखते ही दोनों कामवश हो गये। सुन्दने उसका दाहिना हाथ पकड़ा और उपसुन्दने बायाँ। तिलोत्तमाके एक इशारेपर दोनों लड़ पड़े, और अन्तमें दोनों परस्परकी गदाकी चोटसे निर्जीव होकर जमीनपर गिर पड़े। उन दोनों वीरोंका—जो एक हृदय थे, एक प्राण थे, एक स्त्रीके कारण इस प्रकार विनाश हो गया। युधिष्ठिर! मैं बड़े प्रेम, अनुराग और ममताके कारण कहता हूँ कि तुमलोग ऐसा नियम बना लो, जिससे तुमलोगोंके सामने ऐसा अवसर ही न आवे। पाण्डवोंने देवर्षि नारदकी सम्मतिसे नियम बना लिया। वे नियमितरूपसे रहने लगे। नारद चले गये। सती द्रौपदी सभीको प्रसन्न रखती थी। उसके सद्भावसे पाण्डवोंमें पारस्परिक प्रेमकी और भी अभिवृद्धि हुई।

एक दिनकी बात है कुछ चोर एक ब्राह्मणकी गौएँ चुराकर लिये जा रहे थे। यह बात ब्राह्मणको मालूम हो गयी, वह आर्तस्वरसे विलाप करता हुआ पाण्डवोंके पास

पहुँचा। उसने कहा—'पापी चोर मेरी गौएँ चुराये लिये जा रहे हैं, तुमलोग मेरी गौओंको बचाओ, तुम हमारे राजा हो, राजाका यही धर्म है। जो राजा प्रजाकी आयका छठा भाग कर-स्वरूप ले लेता है, परंतु रक्षा नहीं करता, वह पापका भागी होता है।' अर्जुनने ब्राह्मणकी बात सुनी, उन्होंने कहा—'डरो मत, मैं अभी छुड़ा देता हूँ।' अर्जुनने कह तो दिया, परंतु उनके अस्त्र-शस्त्र सब उसी घरमें थे जिसमें युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ बैठे हुए थे। नियमानुसार अर्जुन उस घरमें नहीं जा सकते थे। एक ओर नियम और एक ओर दीन-ब्राह्मणका आर्तस्वर। अर्जुन बड़े असमंजसमें पड़ गये। वे सोचने लगे, चोर इस ब्राह्मणका गोधन लिये जा रहे हैं, इसके आँसू पोंछना उचित है। इसकी उपेक्षासे राजाको भी अधर्म होगा, लोग मुझे क्षत्रिय-धर्मसे च्युत कहेंगे। यदि मैं राजाकी अवज्ञा करके घरमें जाऊँ तो नियम-भंगका पाप लगता है। एक बात है, उस पापका प्रायश्चित्त किया जा सकता है, यही नियम बना है न कि जो दूसरेके समयमें अंदर चला जाय वह बारह वर्ष-तक राज्यसे बाहर रहेगा, तो क्या हानि है? मैं वनवास ही कर लूँगा। चाहे अधर्म हो, चाहे प्राण जायँ, मैं शस्त्र लेनेके लिये इस घरमें जाऊँगा और दीन ब्राह्मणकी रक्षा करूँगा। अर्जुनने वैसा ही किया। युधिष्ठिरके महलमें जाकर वे अपने शस्त्र ले आये और उस ब्राह्मणकी गौएँ बचा लीं। चारों ओर अर्जुनका अभिनन्दन होने लगा, सब उनका यश गाने लगे।

दूसरे दिन प्रातःकाल अर्जुनने युधिष्ठिरसे कहा—'भैया! मैंने प्रतिज्ञा भंग की है। अब मुझे बारह वर्षके लिये वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये।' यकायक अर्जुनके मुँहसे ऐसी बात सुनकर युधिष्ठिर शोकाकुल हो गये। वे गद्गद स्वरसे पूछने लगे—'क्यों क्या हुआ? तुम वनमें क्यों जाओगे?' फिर व्याकुलताके साथ उन्होंने अर्जुनसे कहा—'भाई! तुमसे कोई अपराध नहीं हुआ है, तुम मेरी बात मान लो। बड़ा भाई यदि एकान्तमें हो तो छोटे भाईके वहाँ जानेमें कोई आपत्ति नहीं है। हाँ, छोटा भाई एकान्तमें हो तो बड़े भाईको नहीं जाना चाहिये। तुम यह विचार दूर कर दो, मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। तुम्हें मेरी बात माननी चाहिये। यदि घरके भीतर आनेसे तुम ऐसा मानते हो कि मैंने बड़े भाईका अप्रिय किया है, तो मैं तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये क्षमा करता हूँ। मेरे अन्तः-

करणमें तनिक भी क्रोध नहीं है, तुम कहीं मत जाओ, मेरे पास ही रहो ।’

अर्जुनने कहा—भैया ! आपका मुझपर बड़ा प्रेम है, प्रेमके कारण ही आप ऐसी बात कह रहे हैं । चाहे जो हो, नियम नियम ही है । उसका उल्लङ्घन हो ही गया । चाहे बड़ा भाई करे या छोटा । अब किसी प्रकारका बहाना बनाकर यदि नियमका भंग कर दिया जायगा तो वह नियम बार-बार टूटता रहेगा । नियममें कभी शिथिलता नहीं होनी चाहिये । एक बार नियम टूट जाता है तो उसकी पूरी नींव हिल जाती है । मुझे दृढ़ताके साथ उसका प्रायश्चित्त करने दीजिये ।’ युधिष्ठिरने अनुमति दे दी, अर्जुनने वन-यात्राकी दीक्षा ली ।

अर्जुनकी इस वन-यात्रासे भी पाण्डवोंका बड़ा हित हुआ । अनेक परिवारोंके साथ उनका सम्बन्ध स्थापित हो गया । बारह वर्ष पूरे होनेपर अर्जुन पुनः इन्द्रप्रस्थ लौट आये । खाण्डव-वनका दाह हुआ, इन्द्रने अर्जुनको अनेकों प्रकारके शस्त्र देनेका वचन दिया । श्रीकृष्णने इन्द्रसे यह वरदान प्राप्त किया कि ‘अर्जुनके साथ सर्वदा मेरी मित्रता बनी रहे ।’ सब लोग प्रेम और आनन्दसे रहने लगे । द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्णको परमात्माके रूपमें पहचानती थी । उनके प्रति उसके हृदयमें अविचल श्रद्धा थी, प्रगाढ़ प्रेम था और वह सच्चे हृदयसे उनकी सेवामें संलग्न रहती थी ।

इस अध्यायमें नियमकी आवश्यकता, नियमकी महिमा, नियमपर दृढ़ता और नियम भंग होनेपर प्रायश्चित्तकी कर्तव्यताका कुछ वर्णन हुआ है । यद्यपि पाण्डव एक ही थे, फिर भी हम स्थूल दृष्टिसे यह कह सकते हैं कि नियमके कारण पाण्डवोंके जीवनमें बड़ा सुख रहा, बड़ी शान्ति रही । द्रौपदीके जीवनमें इस बातकी कभी प्रतीति ही नहीं होती कि वह अनेक पुरुषोंकी धर्मपत्नी है । इस नियमने इतना नियमित कर दिया उसके जीवनको कि वह सर्वदा एकके ही साथ रहती है और एकके साथ रहकर भी सबको प्रसन्न रखती है । यहाँ यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि द्रौपदी पञ्च-कन्याओंमेंसे एक है । वह प्रातःस्मरणीया है, नित्य कुमारी है । वह जबतक जिस पतिके साथ रहती है, तबतक उसकी पत्नी है, दूसरे पतिके पास जाते ही पहलेके साथ उसका वैसा सम्बन्ध ही नहीं रह जाता । यह बात स्वयं देवर्षि नारदने और भगवान् व्यासने कही है । यह केवल द्रौपदीकी ही विशेषता थी । और इस विशेषताका दर्शन हम उसके जीवनमें सर्वत्र पाते हैं ।

(६)

अब एक ऐसे प्रसंगकी चर्चा करनी है जिसकी कल्पना मात्रसे हृदयमें उथल-पुथल मच जाती है । द्रौपदी जीवनकी यह सबसे कष्टपूर्ण घटना है । इस प्रकारकी अवस्थामें द्रौपदी और कहीं नहीं देखी गयी । ऐसी कल्पना जिसने द्वारकासे भगवान् श्रीकृष्णको खींच लिया, उसे कष्टपूर्ण, जिसे देखनेसे अस्वीकार कर दिया भीष्म, द्रौपदी और विदुरकी आँखोंने । ऐसी कष्टपूर्ण घटना संसारके इतिहासमें भरी सभामें इस प्रकार कभी नहीं घटी । ऐसी ही घटना घट गयी और लोगोंने देखा, उनके सम्मिलित होकर भाग लिया, मानो अपने अपने हृदयके निष्ठुरता व्यक्त करके जगत्के सामने रख दी हो । घटनाके वर्णन करनेमें केवल एक ही बात ऐसी है जो प्रोत्साहित करती है । वह यह कि आश्रयहीन द्रौपदी आश्रयहीन नहीं है । जगत्का आश्रय छूटते ही उसे स्वाश्रय का आश्रय मिल जाता है । हम देखते हैं और जानते हैं कि भगवान् निराश्रयके आश्रय हैं, अशरणके शरण हैं, दुखियोंके त्राता हैं, दीनजनोंके अपने हैं । वे सच्चे हृदयसे पुकारनेपर दौड़े आते हैं और अवश्य आते हैं । वरन् यही बात नहीं होती, द्रौपदीने सच्चे हृदयसे श्रीकृष्णको पुकारा होता और श्रीकृष्ण आये न होते, उसकी लज्जा रक्षा न हुई होती, तो इस प्रसंगकी चर्चा इतनी कठिन हो जाती कि उसका वर्णन करना कठिन हो जाता । हमें केवल कौरवोंके अत्याचार, पाण्डवोंकी सरलता और द्रौपदी के अपमानका वर्णन होता, जिसे न पढ़ना ही हृदयके प्रति शान्तिकर होता । परन्तु इसमें तो द्रौपदीकी श्रद्धा, उसका विश्वास और भगवान् श्रीकृष्णका वस्त्ररूपमें प्रकट हो जाना—जीवनके लिये इतना आशाप्रद हो जाता है कि इसके वर्णन करनेमें भी एक प्रकारका रस आने लगता है । यही कारण है कि हम अपने हृदयको दबाकर इस ओर बढनेकी चेष्टा करते हैं ।

द्रौपदी और पाण्डवोंका इन्द्रप्रस्थका जीवन बड़ा ही सुखमय रहा । मयदानवने स्वर्गसे भी सुन्दर सभा बना दी । पाण्डवोंने दिग्विजय कर लिया । श्रीकृष्णकी सहायतासे राजसूय-यज्ञ सम्पन्न हो गया और उनके दिन सुखसे बीतने लगे । द्रौपदीके पाँच लड़के भी हो गये थे । उनके नाम थे—प्रतिविन्ध्य, श्रुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन । ये क्रमशः पाँचों पाण्डवोंके पुत्र थे । पाँचों

वीर पति, पाँच पुत्र, सारी पृथिवीका साम्राज्य, सब लोग आभकारी, श्रीकृष्ण-जैसे सहायक—द्रौपदीको और क्या चाहिये ? वह सुखी थी और सब तरह सब प्रकारसे सुखी थी ।

पाण्डवोंकी सम्पत्ति, सुख और कीर्ति देखकर दुर्योधनका हृदय जलने लगा । उसने छल करके पाण्डवोंको बुलवाया और जुएके लिये वाध्य किया । उस समयकी ऐसी प्रथा ही थी या यही भावी थी । जुआ हुआ और जुएमें युधिष्ठिर सब कुछ हारकर अन्तमें नकुल, सहदेव, अर्जुन, भीम और अपनेको भी हार गये । युधिष्ठिर अपनेको हार गये, परंतु उनके मनमें यह कल्पना भी नहीं हुई कि स्त्री भी जुएपर लगायी जा सकती है । खास करके द्रौपदीके सम्बन्धमें तो सम्प्रमं भी ऐसी बात उनके मनमें नहीं आ सकती थी, नहीं आयी । शकुनिने कहा—‘राजन् ! आप सब कुछ तो हार गये, परंतु अभी आपकी एक सम्पत्ति शेष है । अभी आप उसे नहीं हारे हैं । आप अबकी बार पाञ्चाली द्रौपदीको दाँवपर लगा दीजिये । यदि इस बार आपकी जीत हो गयी तो आप दासत्वसे छुटकारा पा जायेंगे ।’ युधिष्ठिर जुएके तावमें थे । उन्होंने कहा—‘द्रौपदी, त्रिभुवन-सुन्दरी है । वह न बहुत नाटी है, न बहुत लंबी । न मोटी है न दुबली । उसके काले-काले घुँघराले बाल बड़े ही सुन्दर हैं । उसके नेत्र शरत्कालीन कमलके समान हैं । उसके शरीरसे नील कमलकी सुगंध-धारा प्रवाहित हुआ करती है । वह सीधी-सादी, सुन्दरी, सुशीला, अनुकूल, प्रियभाषिणी और सद्गुणवती है । एक आदर्श पति अपनी पत्नीमें जितने गुण देखना चाहता है, वे सब उसमें विद्यमान हैं । वह सबसे पहले जग जाती है और सबके बाद सोती है । वह गौ और भेड़ोंके चरवाहोंतककी खबर रखती है । उसका शरीर बड़ा ही सुन्दर, सुकुमार और दिव्य पुष्पके समान है । ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी स्त्री-शिरोमणि पञ्चालराजकी प्रिय पुत्री द्रौपदीको जुएके दाँवपर नहीं लगाना चाहिये । यह जानता हुआ भी मैं उसे दाँवपर लगा रहा हूँ ।’

युधिष्ठिरके मुँहसे ये शब्द निकलते ही बुद्धिमानोंने बड़े खेदसे कहा—‘युधिष्ठिरकी बुद्धि मारी गयी । धिक्कार है इस बुद्धिको । किसीने कहा—‘कपटियोंने सीधे युधिष्ठिरको ठग लिया ।’ तहलका मच गया । भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यके सिरसे पसीना बहने लगा । विदुरने हाथसे सिर पकड़ लिया और उनका शरीर निश्चेष्ट हो गया । बूढ़े

धृतराष्ट्र उस समय अपने भावको नहीं छिपा सके । वे प्रसन्न होकर पूछने लगे—‘क्या जीत गये ?’ दुःशासन और कर्ण बड़े आनन्दित हुए । लोगोंकी आँखोंसे आँसू टपकने लगे । शकुनिने कपटका पाँसा फेंकते हुए कहा—‘मैं ही जीता ।’ और वह अपने कपटकी चालसे फिर जीत गया । अन्तमें युधिष्ठिर द्रौपदीको भी हार गये !

दुर्योधनने विदुरको बुलाया और कहा—‘तुम अभी जाकर पाण्डवोंकी प्यारी द्रुपद-दुलारी कृष्णाको सभामें ले आओ । वह पुण्य न करनेके कारण ही पाण्डवोंकी स्त्री हुई है । अब आकर मेरे घरमें झाड़ू दे और दासियोंके साथ उन्हींकी तरह रहे ।’ विदुरने कहा—‘दुर्योधन ! तू मूढ हो गया है । कोई भी मनुष्य ऐसी बात अपने मुँहसे नहीं निकाल सकता । तेरी मौत तेरे सिरपर नाच रही है, मर्यादा मत तोड़ । इन शेरोंको मत छेड़, इन विषैले साँपोंको ठोकर मत मार । सौ जन्ममें भी द्रौपदी तेरी दासी नहीं हो सकती । मैं धर्मकी ओरसे परमात्माकी शपथ लेकर भरी सभामें तुझसे कहता हूँ कि युधिष्ठिर द्रौपदीको हारनेके पहले अपनेको हार गये थे, इसलिये उनका कोई अधिकार ही नहीं था कि वे द्रौपदीको दाँवपर लगावें ।’ विदुरने सभाकी ओर देखकर कहा—‘दुर्योधन पाण्डवोंके साथ अन्याय नहीं कर रहा है, वह अपने ही साथ अन्याय कर रहा है, अपनी ही आत्माकी हत्या कर रहा है । उसे पता नहीं है कि यह जुएका खेल खेल नहीं है, यह महासंहारका आवाहन है । किसीको हीन नहीं समझना चाहिये । दुर्योधन अपने नाशपर उतारू हो गया है । दुर्योधन अपने हितकी बात नहीं सुन रहा है । मैं स्पष्ट कहे देता हूँ कि अब कुरुवंशका संहार बहुत ही निकट है । उसके साथ ही पृथिवीतलके क्षत्रिय भी नहीं बचेंगे । यह जानकर आपलोग दुर्योधनको इस अनुचित कृत्यसे रोकें ।’ परंतु दुर्योधनको रोकता कौन ? वह उन्हें डाँटने लगा ।

दुर्योधनने अपने सारथी प्रातिकामीको बुलाकर कहा—‘तुम जाकर अभी द्रौपदीको ले आओ, अब पाण्डवोंसे मत डरो । ये बेचारे तो हारे हुए हैं । विदुर इनके डरसे ही मुझे खरी-खोटी सुनाते हैं । विदुर हमारी बढ़ती नहीं चाहते, इसीसे विरोध किया करते हैं ।’ प्रातिकामी द्रौपदीके पास गया । उसने द्रौपदीसे कहा—‘राजकुमारी ! धर्मराज युधिष्ठिरने जुएके तावमें आकर आपको दाँवपर लगा दिया और दुर्योधनने आपको जीत लिया । अब आपपर दुर्योधनका

स्वत्व हो गया है। उनकी आज्ञासे दासीका काम करनेके लिये मैं आपको बुलाने आया हूँ।' द्रौपदीको सहसा विश्वास नहीं हुआ। मेरे धार्मिक पति मुझे जुएके दाँवपर लगा देंगे यह बात वह कैसे सोचती? उसने पूछा—'क्या उनके पास और कुछ नहीं था? इतनी सम्पत्ति रहते उन्होंने मुझे दाँवपर क्यों लगाया?' प्रातिकामीने कहा—'सचमुच उनके पास जबतक दाँवपर लगानेके लिये और कुछ था, तबतक उन्होंने आपको नहीं लगाया। जब सर्वस्व हारकर, भाइयोंको हारकर वे अपनेको भी हार गये, तब उन्होंने आपको लगाया।' द्रौपदीने कहा—'तुम सभामें जाकर पूछ आओ कि उन्होंने पहले किसको हारा है, अपनेको या मुझको।' प्रातिकामीने आकर सभामें द्रौपदीका प्रश्न किया। युधिष्ठिर तो अचेत हो रहे थे, उन्होंने कुछ भला-बुरा कहा नहीं। दुर्योधनने प्रातिकामीसे कहा—'द्रौपदीको जो कुछ पूछना हो, यहाँ आकर पूछ ले।' प्रातिकामी डरकर पुनः द्रौपदीके पास गया।

इस बार प्रातिकामीको द्रौपदीके पास जानेमें बड़ा कष्ट हुआ। वह दुर्योधनके अधीन होनेके कारण ही द्रौपदीके पास गया। उसने जाकर हाथ जोड़कर करुण स्वरसे कहा—'देवी! सभ्य कहलानेवाले लोग आपको सभामें ही बुला रहे हैं। मेरी अन्तरात्मा कहती है कि अब कुरुकुलका सर्वनाश समीप है। आपको सभामें बुलानेसे ही यह निश्चय हो गया कि दुरात्मा दुर्योधनका ऐश्वर्य अब मिट्टीमें मिल जायगा और उसे अपने जीवनसे भी हाथ धोना पड़ेगा।' द्रौपदीने कहा—'सूतपुत्र! भगवान्की इच्छा ऐसी ही है, विधाताके विधानको कोई टाल नहीं सकता। सब लोग अपने भाग्यचक्रके अनुसार सुख या दुःख पाते हैं। जगत्में धर्म ही सबसे बढ़कर है। धर्मकी रक्षा करनेसे धर्म हमारी रक्षा करता है। मेरी आन्तरिक इच्छा है कि कौरव धर्मसे पराङ्मुख न हों। उनके हितके लिये ही मैं सभासदोंसे यह जानना चाहती हूँ कि इस समय धर्मके अनुसार मेरा क्या कर्तव्य है? वे गुरुजन हैं, जो कहेंगे ठीक ही कहेंगे।' प्रातिकामी पुनः सभामें लौट आया।

प्रातिकामीके कई बार प्रश्न करनेपर भी किसीने कुछ उत्तर नहीं दिया। सब लोग दुर्योधनका हठ जानते थे। युधिष्ठिरने एक अपने दूतसे सन्देश भिजवा दिया कि 'द्रौपदी तुम रजस्वला होनेके कारण एक कपड़ा पहने हुए हो तो भी अपने ससुर धृतराष्ट्रके सामने चली आओ। तुम्हें इस दशामें देखकर सभासदोंकी सहानुभूति दुर्योधनके प्रति

नहीं रह जायगी।' इतना कहकर वे जमीनकी ओर देख लगे, दूत चला गया। पाण्डवोंको उदास देखकर दुर्योधन प्रसन्न हो रहा था। उसने प्रातिकामीसे फिर कहा कि 'द्रौपदीको यहीं ले आओ।' वह डर गया। उसने जी कटते करके फिर सभासदोंसे पूछा कि 'आखिर आप क्या कहते हैं? मैं द्रौपदीसे क्या कहूँ?' दुर्योधनने अपने नर दुःशासनसे कहा—'यह प्रातिकामी मूर्ख और ढीठ है। भीमसेनसे डरता है, अब इसके लिये द्रौपदी नहीं आयेगा। तुम जाओ और उसे बलपूर्वक पकड़कर ले आओ।' दुःशासन दुर्योधनकी आज्ञा पाकर निःशंकभावसे पाण्डवोंके महलमें घुस गया और जाकर कहने लगा—'पाण्डवों! आओ-आओ, हमलोगोंने तुम्हें जीत लिया है। अब लज छोड़कर सभामें चलो और दुर्योधनकी सेवा करो।'।

द्रौपदीने देखा दुःशासनकी आँखें लाल-लाल हो रही हैं। वह जान गयी कि यह मुझे बलात् ले जाना चाहता है। उसे बड़ा दुःख हुआ, उसका चेहरा उदास हो गया। वह अपने हाथोंसे आँसू पोंछती हुई आर्तभावसे रनिवासकी ओर भागी। गान्धारी और कौरवोंकी स्त्रियाँ उधर ही थीं। दुःशासनने दौड़कर द्रौपदीके लंबे काले और लहरदार बालोंके पकड़ लिया। मदमत्त दुःशासनको क्या पता था कि ये वही बाल हैं जो रणाङ्गणमें एक दिन भीमसेनके द्वारा तुम्हारे ही रक्तसे धोये जायेंगे! बाल पकड़ लेनेपर सभा द्रौपदी भी अनाथ-सी हो गयी। केलेके समान कानों लगी, दुःशासन द्रौपदीको बलपूर्वक खींचकर सभामें पास ले आया। द्रौपदीने कहा—'दुःशासन! इस समय मैं रजस्वला हूँ, एक ही साड़ी पहने हुए हूँ, गुरुजनोंके आगे सभामें मत ले चलो।' दुःशासनने और जोरसे बाल खींचते हुए कहा—'तुम रजस्वला हो, या तुम्हारे शरीरपर एक ही साड़ी है, तुम नंगी ही क्यों न हो, इससे हमारा क्या मतलब है। हमने तुमको जुएमें जीत लिया है, तुम हमारी दासी हो गयी हो। दासियोंको लज्जा कैसी?' द्रौपदीके बाल खुले हुए थे। शरीरपरसे आधी साड़ी भी हट गयी थी। लज्जा और शर्म के मारे उसका हृदय जल रहा था। इसी दशामें वह सभामें लायी गयी। द्रौपदीने धीरे-धीरे कहा—'इन्हीं गुरुजनोंके सामने मैं इस वेशमें कैसे रहूँ? दुःशासन! तुम अनार्य पुरुषोंकी भाँति आचरण मत करो। मुझे नंगी मत करो। पाण्डव कभी धर्मसे च्युत नहीं हो सकते। मेरे चित्तमें उनका दोष कभी नहीं आ सकता। तुम अधर्म कर रहे हो।'।

इस प्रकार मेरा अपमान करना बड़ा ही अनुचित है, तुम्हें कोई मना नहीं करता । धिक्कार है, सौ बार धिक्कार है । यहाँ भीष्मपितामह, आचार्य द्रोण और महात्मा विदुर बैठे हैं । क्या तुम्हें वे रोक नहीं सकते ?' द्रौपदी पाण्डवोंकी ओर देखने लगी, मानो वह अपने कुटिल कटाक्षोंसे उनके क्रोधकी आगको धधका रही हो ! पाण्डवोंकी दशा और भी बुरी होती जा रही थी । उन्हें धन, सम्पत्ति और साम्राज्यके लालसे इतना कष्ट नहीं हुआ था । दुःशासन, कर्ण, शकुनि द्रौपदीको 'दासी' कहकर ठहाका मारकर हँसने लगे । सभामें द्रौपदीकी यह दुर्गति देखकर पाण्डवोंके हृदयकी क्या दशा हुई होगी ? इसका अनुमान नहीं किया जा सकता ।

द्रौपदीका प्रश्न पहलेसे ही था । भीष्मने उसके उत्तरमें कहा—'कल्याणी ! धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है, इसीसे तुम्हारे प्रश्नका मैं ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे रहा हूँ । जो स्वयं हार गया है वह स्वामी न होनेके कारण किसी वस्तुको दाँवपर नहीं लगा सकता और स्त्री सर्वदा अपने पतिके अधीन ही होती है । इन दोनों बातोंके कारण तुम्हारे प्रश्नकी ठीक-ठीक माँगा नहीं हो पाती । युधिष्ठिर पृथिवीके साम्राज्यको हर्ज भावसे छोड़ सकते हैं; परंतु धर्म नहीं छोड़ सकते । मेरा विश्वास है । उन्होंने अपने मुँहसे तुम्हें हार जाना सुनकर किया है और तुम्हारा प्रश्न है कि उन्हें हारनेका अधिकार है या नहीं । इसीसे मैं तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देनेमें असमर्थ हूँ ।' द्रौपदीने कहा—'दुष्ट, कपटी और किमाराज लोगोंने जुएसे अनभिज्ञ धर्मराजको धोखा दिया है । मेरे धार्मिक पति न जुआ खेलते, न खेलना जानते और न तो उन्होंने इसके लिये कोई उद्योग ही किया है । धर्मराजके सरल हृदयमें यह बात आयी ही नहीं कि हमसे कपट किया जा रहा है । वे भोले-भाले और सत्यवादी हैं, दूसरोंको भी ऐसा ही समझते हैं । वे दुष्टोंके जालमें फँस गये, ऐसी स्थितिमें उनका हारना हारना नहीं कहा जा सकता । मैं कुरुकुलके बड़े-बूढ़ोंसे प्रार्थना करती हूँ कि वे मेरे प्रश्नपर विचार करें और उत्तर दें ।' द्रौपदी अपने दीन भावको प्राप्त पतियोंकी ओर देखकर रोने लगी । कौरव उसकी हँसी उड़ाने लगे । दुःशासन बार-बार उसे खींचने लगा । भीमसेनके लिये यह सब असह्य था । वे क्रोधमें आकर युधिष्ठिरको कुछ भला-बुरा कहने लगे । अर्जुनने समझाया—'भाई ! आप धर्मको मत मूँलिये, बड़े भाईका अपमान मत कीजिये । शत्रुओंका मनोरथ होनेमें सहायक मत बनिये, भगवान् जो कुछ करेंगे

ठीक करेंगे । सम्भव है, नहीं-नहीं निश्चित है कि यह अपमान ही हमारे अम्युदयका कारण होगा ।' भीम शान्त हो गये ।

दुर्योधनका छोटा भाई था विकर्ण । उसे ये सब बातें, कौरवोंकी यह करतूत बहुत बुरी लग रही थी । उसने खड़े होकर ऊँचे स्वरसे कहा—'सभासदो ! आप द्रौपदीके प्रश्नका उचित उत्तर क्यों नहीं देते ? सभामें उपस्थित होकर जो ठीक-ठीक नहीं बोलता, वह पापका भागी होता है । आप लोग पक्षपात, काम, क्रोध, लोभ छोड़कर स्पष्ट उत्तर दीजिये ।' विकर्णके बारंबार कहनेपर भी किसीने उत्तर नहीं दिया । विकर्ण क्रोधके मारे लंबी साँस लेने लगा । उसने हाथ मलते हुए कहा—'सभासदो ! तुम उत्तर दो या मत दो, मैं अपनी बुद्धिके अनुसार जो न्यायसंगत समझता हूँ, वह तुमसे कहता हूँ । शास्त्रोंमें द्यूत अर्थात् जुएकी राजाओंका दुर्व्यसन माना है । जुएमें आसक्त मनुष्य धर्मसे च्युत हो जाता है, इससे उसका किया हुआ काम प्रामाणिक नहीं माना जाता । युधिष्ठिरने जुआरियोंके बुलानेपर यहाँ आकर दुःसङ्गके कारण जुएके दुर्व्यसनमें फँसकर द्रौपदीकी बाजी लगायी है । द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी है । युधिष्ठिरने अपनेको हारकर द्रौपदीको दाँवपर लगाया है । इसके अतिरिक्त युधिष्ठिरने स्वेच्छासे नहीं, शकुनिके उभाड़नेसे द्रौपदीकी बाजी लगायी है । इन सब कारणोंसे मैं कहता हूँ कि द्रौपदीके साथ अन्याय किया जा रहा है, धर्मके अनुसार वह जीती नहीं गयी है ।' विकर्णके धर्मानुमोदित, न्यायसंगत वचन सुनकर सभामें बड़ा कोलहल हुआ । कर्णने जाकर विकर्णको बहुत डाँटा और दुःशासनसे कहा—'पाण्डवोंके और द्रौपदीके कपड़े उतारवा लो ।' पाण्डवोंने अपने कपड़े उतारकर रख दिये । पापी दुःशासन भरी सभामें द्रौपदीका कपड़ा अपने हाथोंसे उतारने लगा ।

द्रौपदीको अवतक अपने पतियों और गुरुजनोंका भरोसा था, वह समझती थी कि उनके सामने कौरव ऐसा क्रूर कार्य नहीं कर पायेंगे, परंतु उसने बड़े-बूढ़ोंको मौनी देखा । पतियोंको नतमस्तक देखा, आगे-पीछे किसीकी सहायक नहीं देखा । उसकी आशा टूट गयी । जगत्के लोगोंसे वह निराश हो गयी । उसने अशरण-शरण अपने प्रिय सखा भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया, छोड़ दिया उसने अपने वस्त्रको, हाथ जोड़ लिये, आँखें बंद कर लीं । वह पुकारने लगी—'हे गोविन्द ! हे द्वारिकावासी श्रीकृष्ण ! हे गोपीजनवल्लभ ! क्या तुम्हें मालूम नहीं कि कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं ।

हे केशव ! हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे ब्रजनाथ ! हे आर्ति-
नाशन ! कौरवोंके भयङ्कर समुद्रमें मैं डूब रही हूँ ।
जनार्दन ! मेरी रक्षा करो, मुझे बचा लो । हे श्रीकृष्ण !
हे श्यामसुन्दर ! हे महायोगी ! हे विश्वात्मा ! हे विश्व-
भावन ! मैं कौरवोंके बीचमें असहाय होकर रो रही हूँ ।
गोविन्द ! मैं तुम्हारी शरणमें हूँ, तुम मेरी रक्षा करो ।'
इस प्रकार त्रिभुवनेश्वर हरि श्रीकृष्णका स्मरण करके अपना
मुँह ढककर द्रौपदी रोने लगी । ॥

श्रीकृष्ण अन्तर्यामी हैं, वे एकत्र रहनेपर भी सर्वत्र हैं ।
द्रौपदीकी प्रार्थना उनके कानोंतक पहुँची, यों कहें कि
प्रार्थना करनेके पहले ही वे वहाँ पहुँचकर प्रार्थनाकी प्रतीक्षा
कर रहे थे । यही मान लें कि प्रार्थना पहुँची । महाभारत-
कारने तो यहाँतक कह दिया कि द्रौपदीकी पुकार सुनते ही
श्रीकृष्ण शय्या, आसन सब कुछ छोड़कर पैदल ही दौड़
आये । श्रीकृष्ण आये, वस्त्र-रूपमें आये । दुःशासन खींचने
लगा । द्रौपदीके वस्त्र बढ़ने लगे । जैसी साड़ी द्रौपदी
पहने हुए थी वैसी ही अनेकों साड़ियाँ और दूसरे रंग एवं
प्रकारकी अनेकों साड़ियाँ निकलने लगीं । सारा सभाभवन
साड़ियोंसे भर गया । दुःशासनके वलिष्ठ हाथ खींचते-खींचते
थक गये, परंतु उन कपड़ोंका अन्त नहीं मिला । चारों
ओर भयङ्कर कोलाहल होने लगा, लोग दुःशासनको गाली
देने लगे । द्रौपदीकी धर्मशीलताकी प्रशंसा होने लगी ।

धर्मकी महिमाका यह अपूर्व दृश्य था । भगवान्की
शरणागत-रक्षाका अनुपम दृष्टान्त था । युधिष्ठिरकी सहन-
शीलताकी अभूतपूर्व पराकाष्ठा थी । भीमसेनसे नहीं रहा
गया । वे हाथ मलते हुए उठ खड़े हुए । उनके होंठ

* आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः ।
गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ।
हे नाथ हे रमानाथ ब्रजनाथार्तिनाशन ॥
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ॥
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ।
इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम् ॥
आरुद दुःखिता राजन् मुखमाच्छाद्य भामिनी ।

(म० भा० स० प० ६७)

† त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात् ।

कोधसे फड़क रहे थे, उन्होंने जोरसे कहा—‘सभासदो !
क्षत्रियो और सारी पृथ्वीके लोगो ! सुन लो मेरी प्रतिज्ञा
ऐसी प्रतिज्ञा न कभी किसीने की है और न कोई करेगा
यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करूँ तो मुझे पूर्वजोंकी शपथ
न मिले । इस भरतकुलके कलंक, नीच दुर्बुद्धि और पाप
दुःशासनकी छाती बलपूर्वक तोड़कर मैं इसका सिर
पिऊँगा ।’ भीमके भयङ्कर वचन सुनकर लोग दुःशासनकी
कदर्थना करने लगे और भीमकी इस प्रतिज्ञाको स्वाभाविक
कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे । उधर वस्त्र खींचते-खींचते
थककर, पार न पानेके कारण लजित होकर, सिर नीचा
करके दुःशासन बैठ गया । सभामें केवल वस्त्रोंकी आवाज
ही दीखने लगी । सभासदोंने एक स्वरसे उसे धिक्कारा । सभे
सबके मुँहपर यही बात थी कि ये बड़े-बूढ़े लोग द्रौपदीके
प्रश्नका उत्तर क्यों नहीं देते ? वे उन्हें अन्यायी कहने लगे ।

विदुरजीने सबका प्रतिनिधित्व किया । उन्होंने कहा—
‘सभासदो ! आप जानते ही हैं कि धर्मशास्त्रोंमें सभेमें
लिये क्या नियम लिखे हैं । वहाँ उठनेवाले प्रत्येक प्रश्नके
सम्बन्धमें उन्हें अपनी सम्मति देना अनिवार्य है, यदि न
बोलें तो उन्हें पाप लगता है और धर्मका अनादर होता
है । धर्मके पक्षमें सम्मति देते समय कामना, भय, अपमान
लोभसे प्रभावित नहीं होना चाहिये । द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर
देकर आपलोग अपने धर्मकी रक्षा करें, इसके सम्बन्धमें
एक प्राचीन इतिहास है ।

‘प्राचीन समयमें अङ्गिरा ऋषिके पुत्र सुधन्वा और
प्रह्लादके पुत्र विरोचन दोनोंमें एक सुन्दरी स्त्रीके लिये बड़ा
विवाद चल पड़ा कि कौन श्रेष्ठ है ? दोनों ही अपने-अपने
श्रेष्ठ बतला रहे थे । प्राणोंकी बाजी लग गयी जो श्रेष्ठ है
वह जीते, जो हार जाय वह प्राण त्याग करे । इस विवादके
निर्णयके लिये वे प्रह्लादके पास गये । दोनोंकी बात सुनकर
प्रह्लाद बड़ी चिन्तामें पड़ गये, वे न तो अधर्म चाहते थे
और न तो दोनोंमेंसे किसीकी मृत्यु । उन्हें असमंजस
पड़े देखकर सुधन्वाने कहा—‘दैत्यराज ! यदि तुम पुत्र
स्नेहके कारण झूठ बोलोगे या कुछ उत्तर न दोगे तो इस
वज्रके प्रहारसे तुम्हारे सिरके सौ टुकड़े कर दूँगे ।’ प्रह्लाद
महात्मा कश्यपके पास गये । उन्होंने महात्मा कश्यपके पास
किया कि ‘आप कृपा करके बताइये जो कोई प्रश्नका ठीक
ठीक उत्तर नहीं देता या जान-बूझकर झूठ बोलता है, उसे
मरनेपर कौनसे लोक प्राप्त होते हैं ?’ कश्यपने कहा—

- २६-बालकोंको शिष्टाचारकी शिक्षा ।
 २७-बाल-मनोविज्ञान ।
 २८-बालकोंकी कुटेवोंके कारण और उससे रक्षा तथा कुटेव-नाशके साधन ।
 २९-बाल्यजीवनमें ही धर्मप्रतिष्ठाका प्रारम्भ होना आवश्यक ।
 ३०-शिशु-पालन और शिशु-संरक्षण ।
 ३१-पाश्चात्य देशोंमें शिशु-पालन-विधियाँ ।
 ३२-बालकोंको धूप तथा खुली हवाकी आवश्यकता ।
 ३३-बालकोंको तेल मलनेसे लाभ ।
 ३४-बालकोंका स्वच्छन्द धूलमें खेलना हितकर ।
 ३५-बालकोंको नौकरों-नौकरानियोंकी गोदमें रखनेसे हानि, उनसे बालकोंको कुटेव मिलती है ।
 ३६-बालककी अनुकरणप्रियता ।
 ३७-बालकका हठ और उसके कारण तथा बालकके अनुचित हठको पूरा करनेसे हानि ।
 ३८-बालकको डराना और मारना उसके विकासमें बाधक है ।
 ३९-बालकके सामने सुन्दर-से-सुन्दर आदर्श रखें और उसे स्वयं सीखने दें ।
 ४०-बालकके प्रश्नोंकी अवहेलना मत कीजिये ।
 ४१-बालककी तोड़-फोड़-प्रवृत्ति ।
 ४२-बालकके आहार-विकासका क्रम ।
 ४३-बालकको मिठाई, चाट, चूख, कुल्फी, बाजारू तथा होटलोंकी चीजें, अंडे-मिले बिस्कुट आदि खिलानेसे बड़ी हानि ।
 ४४-बालकोंकी खेलमें प्रवृत्ति और उसका उचित उपयोग ।
 ४५-बालकोंके देशी-विदेशी व्यायाम ।
 ४६-बालकोंके व्यायाममें सर्वोत्तम सूर्यनमस्कार तथा योगके आसन आदि ।
 ४७-बालकोंके देशी-विदेशी खेल ।
 ४८-चूड़ाकरण-संस्कार, कर्णवेध-संस्कार तथा द्विजाति बालकोंका उपनयन-संस्कार ।
 ४९-वेदारम्भ या विद्यारम्भ ।
 ५०-सन्ध्या-गायत्री-जपसे परम लाभ ।
 ५१-ब्रह्मचर्याश्रमके नियम और उनसे लाभ ।

- ५२-बालकके स्वास्थ्य-नाशके कारण और स्वास्थ्य-साधन ।
 ५३-बालकका निर्दोष विनोद ।
 ५४-बालककी प्रथम गुरु माता होती है ।
 ५५-बालकके घरेलू योग्य शिक्षा-क्रम ।
 ५६-प्रारम्भिक शिक्षा ।
 ५७-कन्या और पुत्रकी शिक्षामें आरम्भसे ही अन्तर आवश्यक ।
 ५८-शिक्षाका आदर्श एवं उद्देश्य ।
 ५९-सदाचारप्रधान शिक्षा तथा शिक्षामें धर्म के संस्कृतिकी आवश्यकता ।
 ६०-शिक्षामें ईश्वरका स्थान प्रधान ।
 ६१-शिक्षाका लक्ष्य त्याग हो, न कि भोग ।
 ६२-शिक्षामें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्म-सम्बन्धी शिक्षाका समन्वय आवश्यक ।
 ६३-उच्च शिक्षाका स्वरूप ।
 ६४-शिक्षणीय विषय, धार्मिक एवं सांस्कृतिक उक्तों दृष्टिसे बालकोपयोगी आदर्श पाठ्यक्रम ।
 ६५-बालकोंके चरित्र-निर्माणके लिये पाठ्यक्रममें रामचरितमानस (आरम्भसे ही) तथा श्रीमद्भगवद्गीता (उच्च श्रेणियोंमें) की उपयोगिता ।
 ६६-वर्तमान शिक्षाके दोष ।
 ६७-शिक्षालय कैसा हो ?
 ६८-प्राचीन गुरुकुलोंका स्वरूप और वर्तमान स्वरूप उनका प्रयोग कैसे हो ।
 ६९-प्राचीन अध्यात्म-शिक्षा तथा त्याग-प्रधान संस्कार अनुकूल, साथ ही आर्थिक दृष्टिसे भी उपयोगी शिक्षा स्वरूप ।
 ७०-प्राचीन शिक्षाके प्रधान केन्द्र, उनका परिवर्तन महत्त्व एवं उनकी बहुमुखी शिक्षा ।
 ७१-सहशिक्षाके दोष तथा शिशुओंमें भी सहशिक्षा वाञ्छनीय नहीं ।
 ७२-पाठ्यक्रममें खुले शृङ्गार तथा साम्प्रदायिक द्वेष केवल वाली बातोंका न रहना आवश्यक ।
 ७३-कन्याओंकी उच्च शिक्षाका आदर्श स्वरूप तथा कन्याओंमें युवती-शिक्षासे दोषोंकी उत्पत्ति ।

- १४-परीक्षाकी वर्तमान पद्धति क्या लाभदायक है ?
- १५-वर्तमान स्कूल-कालेजोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति ।
- १६-पाश्चात्य देशोंमें बाल-शिक्षा-प्रणाली ।
- १७-वर्तमान बोर्डिंग हाउस—छात्रावासोंमें विद्यार्थियोंका पतन ।
- १८-बालकोंके चरित्र-निर्माणमें अध्यापकोंका दायित्व ।
- १९-गुरु और अध्यापकका स्वरूप ।
- २०-पाश्चात्य देशोंमें बाल-शिक्षाके लिये सरकारें कितना प्रयत्न करती हैं ।
- २१-बालकोंमें बढ़ती हुई विलासिता, उच्छृङ्खलता, अकर्मण्यता, उद्वण्डता, हाथसे काम करनेमें लज्जा, आलस्य, प्रमाद आदि दूषित प्रवृत्तियाँ ।
- २२-सौन्दर्य और सजावटकी भावनासे चरित्र-नाश ।
- २३-बालकोंमें विनय, संयम, शिक्षा और गुरुजनोंकी अनुवृत्ति अवश्य होनी चाहिये ।
- २४-बालकोंमें सेवापरायणताकी आवश्यकता ।
- २५-बालकोंका राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रमें प्रवेश उनके लिये हानिकर है ।
- २६-चलचित्रों (सिनेमा) से बालकोंके स्वास्थ्य, सदाचार और जीवनपर बहुत ही बुरा प्रभाव ।
- २७-बालकोंमें बढ़ती हुई अनुशासनहीनता ।
- २८-निम्नांकित चार मिथ्या सिद्धान्तोंका भारतीय छात्रोंपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है—
१. आर्य भारतमें बाहरसे आये हुए हैं ।
२. तीन-चार हजार वर्षोंसे पूर्वका इतिहास नहीं मिलता ।
३. विकासवाद—जगत् उत्तरोत्तर उन्नत हो रहा है ।
४. धर्म अवनतिका हेतु है ।
- २९-बालक स्वावलम्बी बनें ।
- ३०-बालकोंकी स्वावलम्बी संस्थाएँ (भारतीय और विदेशी) ।
- ३१-आजके आदर्श विद्यार्थीकी दिनचर्या ।
- ३२-प्राचीन कालके आदर्श विद्यार्थीकी दिनचर्या ।
- ३३-बालकोंको माता-पिता-गुरुजनोंको नित्य प्रणाम करनेसे होनेवाले लाभ ।
- ३४-स्वाध्यायका महत्त्व और स्वाध्यायके योग्य साहित्य ।
- ३५-गंदे साहित्यसे बालकोंके जीवनपर कुप्रभाव ।

- १६-सिनेमासम्बन्धी साहित्य और सिनेमाकी अभिनेत्रियोंके चित्रोंके प्रचारसे बालकोंका पतन ।
- १७-चाय, सिगरेट और शराबके बढ़ते हुए प्रचारसे भयङ्कर हानि ।
- १८-सेंट, पाउडर, क्रीम आदि विलासिताकी सामग्रियोंके प्रचारसे युवक-युवतियोंमें धन तथा चरित्रका नाश ।
- १९-बालकोंमें अभक्ष्य-भक्षणकी बढ़ती हुई प्रवृत्तिको रोकना आवश्यक ।
- १००-सात्त्विक आहार, सात्त्विक वेष-भूषा और सात्त्विक जीवनका स्वरूप और उससे लाभ ।
- १०१-बालकोंमें बढ़ती हुई शास्त्र-अवश्याके रोक-थामकी आवश्यकता । श्राद्ध, मूर्तिपूजा, सतीत्व, मातृ-पितृ-भक्ति, वर्णाश्रम-धर्म आदिमें श्रद्धा बढ़ानेवाले ग्रन्थोंका परिचय और उनके प्रचारकी योजना ।
- १०२-भगवान्में, शास्त्रोंमें और ऋषि-महर्षियोंमें समीकी श्रद्धा आवश्यक ।
- १०३-बालकोंमें असहिष्णुताके कारण बढ़ती हुई घरे भगनेकी मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति ।
- १०४-बालकोंका श्मशान-वैराग्य और उससे हानि ।
- १०५-बालकोंके स्वभाव, रुचि, प्रवृत्ति आदिको समझकर अभिभावकोंको व्यवहार करना चाहिये तथा बालकोंको भी गुरुजनोंकी परिस्थिति समझकर सहनशील बनना चाहिये ।
- १०६-बालकोंको उत्तरदायित्व समझकर काम करना चाहिये ।
- १०७-बालकोंके संरक्षकोंमें आदर्श गुणोंकी आवश्यकता ।
- १०८-बालकोंके लिये उपयोगी सीख ।
- १०९-बालिकाओंके लिये उपयोगी सीख ।
- ११०-युवकोंके लिये उपयोगी सीख ।
- १११-युवतियोंके लिये उपयोगी सीख ।
- ११२-बालक राष्ट्रकी विभूति है ।
- ११३-बालकका सुधार ही राष्ट्रका सुधार है ।
- ११४-आदर्श बालक—वीर बालक, ईश्वर-भक्त बालक, मातृ-पितृ-भक्त बालक, परोपकारी बालक, देशभक्त बालक, सत्यप्रेमी बालक, सेवाव्रती बालक, त्यागी बालक, विश्वासी बालक ।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकोंके नये संस्करण

श्रीप्रमुदत्तजी ब्रह्मचारीद्वारा लिखित

श्रीश्रीचैतन्यचरितावली

(खण्ड २)

पृष्ठ-सं० ३६८, चित्र बहुरंगे ४, इकरंगे ४, मूल्य १=, १ जिल्द १॥)

(खण्ड ३)

पृष्ठ-सं० ३८४, चित्र ७ बहुरंगे, मूल्य १), सजिल्द १।=)

खण्ड ४ तथा खण्ड ५ छप रहे हैं ।

प्रथम खण्डके तैयार हो जानेकी सूचना गत मासके 'कल्याण'में दी जा चुकी है । पूरी पुस्तक खण्डोंमें है । लगभग पंद्रह सालके बाद इस भाव-भक्ति-पूर्ण ग्रन्थका पुनर्मुद्रण हो रहा है ।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ

(चित्र अलगसे नहीं मिलते)

साइज १५×२० नं० १ मूल्य २॥॥) पैकिंग तथा डाकखर्च ॥॥)

" " नं० २ " २॥॥) " " ॥॥)

" " नं० ३ " २॥॥) " " ॥॥)

प्रत्येक चित्रावलिमें बढ़िया आर्ट पेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं ।

साइज १०×७॥ नं० १ मूल्य १।-) पैकिंग तथा डाकखर्च ॥-)

" " नं० २ " १।-) " " ॥-)

" " नं० ३ " १।-) " " ॥-)

प्रत्येक चित्रावलिमें २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं ।

श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (भाग १)

साइज ५×७॥ पृष्ठ ६४, मूल्य १=) पैकिंग डाकखर्च १=)

उपर्युक्त सातों चित्रावलियाँ एक साथ लेनेपर मूल्य १२॥॥-) पैकिंग डाकखर्च २-) कुल १४॥=) लाता है ।
चित्रावलियोंका पूरा विवरण गत जुलाईके 'कल्याण'के टाइटल पृष्ठ ३ और ४ पर पढ़नेकी कृपा करें ।
व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

चालू वर्षका 'भक्त-चरिताङ्क' अभी मिल सकता है

अभीतक 'भक्त-चरिताङ्क'से ग्राहक बनाये जा रहे हैं । जिन्हें बनना हो वे ७॥) मनीआर्डरसे भेज दें, या बी० पी० के लिये आज्ञा देनेकी कृपा करें ।

जनवरी १९५० का विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'

—अभीतक मिलता है । पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य, ५ प्रतियाँ एक साथ लेनेसे १५) प्रतिशत कमीशन ।

थोड़ी-सी प्रतियाँ बची हैं, जिनको आवश्यकता हो, तुरंत ६॥) भेजकर मंगा लें, या बी० पी० भेजनेका आदेश करें ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)



वर्ष २६

अङ्क १०

भगवान्

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
 नयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
 रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
 जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगरा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २००९, अक्टूबर १९५२

विषय	पृष्ठसंख्या
१-वन-भोजनकी झाँकी [कविता] (श्रीमद्भागवत १० । १३ । ११ के अनुसार)	... १३२१
२-कल्याण ('शिव')	... १३२२
३-आस्तिकवाद और नास्तिकवाद (एक महात्माका प्रसाद)	... १३२३
४-गीतामें उपासना (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	... १३२४
५-शास्त्र-वाणी	... १३२५
६-मुक्ति-विवेचन (स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)	... १३२६
७-षट्सम्पत्ति और उनकी उपयोगिता (साधुवेपमें एक पथिक)	... १३२७
८-साधु-स्वभाव (स्कन्दपुराण वै० मा०)	... १३२८
९-श्रीराम-नाम अमृत है (आचार्य श्रीस्वामी गोपालदत्तजी शास्त्री, काव्य-पुराण-वेदान्त-तीर्थ)	... १३२९
१०-गुरु-दक्षिणा (श्रीशुकदेव राय, विशारद, बी० ए०)	... १३३०
११-स्वप्नमें ईश्वर-दर्शन (श्रीमथुरा पाण्डेय)	... १३३१
१२-संस्कृत संस्कृतिका वैज्ञानिक क्षेत्र (पं० श्रीविद्याधरजी शास्त्री, एम्० ए०)	... १३३२
१३-प्राप्तका आदर करना सीखिये (प्रो० श्रीरामचरण महेन्द्र, एम्० ए०)	... १३३३
१४-प्रभु-भक्ति शाश्वत सुखका अचूक साधन है (पं० श्रीरुलियारामजी कालिया)	... १३३४
१५-संत-कृपा (श्रीनिरञ्जनदासजी धीर)	... १३३५
१६-वर्णव्यवस्थाको हटाकर क्या चाहते हैं ? (श्रीरामनिरिक्षणसिंहजी, एम्० ए०, काव्यतीर्थ)	... १३३६
१७-अनैतिकताका निराकरण (श्रीसंतकुमार अवस्थी, एम्० ए०)	... १३३७
१८-भगवान्की कृपा [कहानी] (श्री'चक्र')	... १३३८
१९-गायत्री-गान [कविता] (श्रीनिशिकान्त आयुर्वेदाचार्य)	... १३३९
२०-भक्त-गाथा [विश्वासी भक्त श्रीमानसिंहजी] (कु० श्रीविजयसिंहजी झाला, बी० ए०, साहित्यरत्न)	... १३४०
२१-गोरक्षाके उपाय (लाला हरदेवसहायजी)	... १३४१
२२-श्रीकृष्णकी मधुर बाल-लीला ('श्रीकृष्णायन' से)	... १३४२
२३-सती द्रौपदी (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)	... १३४३
२४-नैया पार लगा दे [कविता] (बहिन शान्ता स्नातिका)	... १३४४

चित्र-सूची

तिरंगा

१-वन-भोजनकी झाँकी

वार्षिक मूल्य
 भारतमें ७॥)
 विदेशमें १०)
 (१५ शिल्लिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनंद भूमा जय जय ॥
 जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
 जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
 भारतमें ७॥)
 विदेशमें १०)
 (१० पैसे)

संपादक-हनुमानप्रसाद पोद्दार, निम्मानलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
 मुद्रक-प्रकाशक-धनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण का

सत्ताईसवें वर्षका विशेषाङ्क
समयोपयोगी, सुन्दर तथा शिक्षाप्रद

बालक-अङ्क

बालकपर ही देशका, जातिका, धर्मका तथा संस्कृतिका भविष्य निर्भर है । बालक सद्गुणी, सद्बिचार-सम्पन्न, सदाचारी, सत्-कर्मपरायण, आदर्श भक्त, वीर, धीर, अनुशासनप्रिय, सेवा-परायण, साहसी और संयमी होगा तो समाज तथा देश भी वैसा ही बन जायगा । बालक विगड़ेगा तो देश विगड़ जायगा । वर्तमान कालमें भारतमें कुछ ऐसे कारण बन रहे हैं जो हमारे बालक-बालिकाओं और तरुण-तरुणियोंको विपथगामी बनाकर, उन्हें धर्म, नीति, सदाचार, कुलाचार, भक्ति, स्वसंस्कृति, देशभक्ति तथा संयमित जीवनसे पराङ्मुख कर, कर्तव्यशून्यता, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, विलासिता और असदाचारिता आदि दुर्गुणोंकी ओर प्रवृत्त करा रहे हैं । इसमें माता-पिताकी अवहेलना, दूषित शिक्षापद्धति, भीषण दलबंदी तथा सिनेमा आदिके कारण विगड़ा हुआ वातावरण और जगत्में बढ़ती हुई अनैतिकता आदि अनेकों कारण हैं । ऐसे सभी कारणोंको दूर करना आवश्यक है । इसके किये बिना हमारा सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उत्थान नहीं हो सकता । इसी विचारसे 'बालक-अङ्क' प्रकाशित करनेका विचार किया गया है और यथाशक्ति ऐसा प्रयास किया जा रहा है कि इसमें बालकोंको और बालकोंके अभिभावकोंको सत्प्रेरणा देनेवाले ऐसे लेख और चरित्र रहें, जिससे बालकोंके मनोरञ्जनके साथ-साथ बालक, उनके माता-पितादि अभिभावक तथा समाज और देशके मुखिया—सभीको अपने-अपने कर्तव्यका पता लगे, कर्तव्यपालनका पथ स्पष्टरूपमें दीखने लगे और कर्तव्यपरायण होनेका उत्साह तथा बल प्राप्त हो । सफलता तो सर्वशक्तिमान् भगवान्के हाथ है ।

इस अङ्कमें भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णके मधुर मनोहर सचित्र बाल-चरित्रोंके साथ ही देश-विदेशके ज्ञानी, भक्त, वीर, धर्मशील, सत्यपरायण, देश-भक्त, त्यागी, मातृ-पितृ-भक्त, संयमी, सेवाव्रती, बलिदानी, कर्तव्यपरायण तथा आदर्श गुणवान् बालक-बालिकाओंके चित्र-चरित्र रहेंगे । साथ ही बालकोंसे सम्बन्धित सैकड़ों विषयोंपर पूजनीय संतों, धर्माचार्यों, प्रमुख माननीय राज्यपालों, विद्वानों, प्रसिद्ध राजमन्त्रियों, शिक्षासचिवों, शिक्षाचार्यों, कुलपतियों, नेताओं, प्रख्यात तथा अज्ञात अध्ययनशील साहित्यिकों, बाल-मनोवैज्ञानिकों और कवियोंके विविध विचित्र उपदेशप्रद लेख तथा कविता रहेंगी । साथ ही रंगीन तथा सादे बहुसंख्यक चित्र रहेंगे । लगभग ८०० पृष्ठकी ठोस सामग्री होगी, जिसमें बालकोपयोगी चरित्र अपेक्षाकृत मोटे अक्षरोंमें छपेंगे । यहाँ स्थानाभावसे प्रमुख लेखकोंमेंसे बहुत थोड़ेसे नाम नीचे लिखे जाते हैं—

ज्योतिर्मठ, पुरी तथा द्वारिकाके अनन्तश्रीशङ्कराचार्य, स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज, श्रीकृष्ण-बोधभ्रमजी, श्रीशिवानन्दजी, श्रीचिदानन्दजी; राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी, उपराष्ट्रपति श्रीराधाकृष्णन्; राज्यपाल श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, श्रीपट्टाभि सीतारामैया, श्रीश्रीप्रकाशजी, श्रीरंगनाथ

रामचन्द्र दिवाकर; संत विनोबाजी भावे, श्रीदादा धर्माधिकारीजी, उत्तरप्रदेशके गृह मन्त्री बाबू सम्पूर्णानन्दजी, हिन्दू-विश्वविद्यालयके कुलपति आचार्य श्रीनरेन्द्रदेवजी, पं० श्रीरामनारायणजी मिश्र, पं० श्रीवलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, डा० श्रीवासुदेवशरणजी एम्० ए०, महा० पं० श्रीउमेशजी मिश्र एम्० ए०, बाबा श्रीराघवदासजी, दीवानबहादुर के० एस० रामसागर, अजमेरके मुख्यमन्त्री पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय, पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी, पं० श्रीजानकीनाथजी, पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी, कर्नल श्रीशुकदेवजी पाण्डेय वी० एस० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर, डा० महम्मद सैयद हाफिज एम्० ए०, श्रीजैनेन्द्रजी, श्रीभगवानदासजी केला, श्रीजयेन्द्रराव भगवानदास दूरकाल, श्रीमहेन्द्रजी, श्रीविद्यादेवीजी, श्रीशान्तदेवीजी वैद्या आदि-आदि। अगले अङ्कमें विशेष-विशेष लेखकोंके और बहुत-से नाम दिये जायेंगे।

यह अङ्क बहुत ही आकर्षक तथा उपादेय होगा, अतएव जो सज्जन पहलेसे

७॥) रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजकर ग्राहक नहीं बन जायेंगे, उनको सम्भवतः निराश होना पड़े। इसलिये जिन नये-पुराने सज्जनोंको जनवरी सन् १९५३ से ग्राहक बनना हो, वे मनीआर्डरसे ७॥) तुरंत भेजनेकी कृपा करें, जिससे उनका विशेषाङ्क सुरक्षित हो जाय। मनीआर्डर-फार्म इसके साथ भेजा जा रहा है।

ग्राहकोंको पत्रव्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय तथा मनीआर्डरके कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्टआफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये। मनीआर्डर-कूपनमें ग्राहक-नम्बर जरूर लिखना चाहिये। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है। इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलग रुपये तथा आर्डर भेजने चाहिये। सज्जन विशेषाङ्क चाहनेवालोंको १।) जिल्द-स्वर्च अधिक भेजना चाहिये अर्थात् ८॥॥) भेजने चाहिये तथा कूपनमें लिख देना चाहिये कि १।) जिल्दके लिये भेजा गया है।

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजने चाहें, वे डाकखानेमें पूरी बीमा बेचकर या मनीआर्डरसे भेजें। सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्ड पत्रसे रुपये कभी न भेजें। ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं। कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ नहीं पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेदारी 'कल्याण' या 'गीताप्रेस'की नहीं होगी।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरि:

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें ग्राहकोंकी सेवामें एक निवेदन

‘कल्याण’के छठे अङ्क (जून १९५२) में उस समयतककी प्रकाशित सभी पुस्तकोंका सूची-पत्र दिया जा चुका है। उसके बादके चार महीनोंमें अबतक निम्नलिखित चौदह पुस्तकें और तैयार हुई हैं।

१-माण्डूक्योपनिषद्-सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, ॐका सुन्दर तिरंगा चित्र, पृष्ठ २८४, (इसमें गौडपादीय-कारिका भी हिंदी-अनुवादसहित दी गयी है।) मूल्य ... १)

२-तैत्तिरीयोपनिषद्-सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, वरुण और भृगुका सुन्दर तिरंगा चित्र, पृष्ठ २५०, मूल्य ... ॥१-)

३-श्वेताश्वतरोपनिषद्-सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, जगत्कारणमीमांसाका सुन्दर तिरंगा चित्र, पृष्ठ २६८, मूल्य ... ॥२=)

[इस प्रकार अब ईश, केन, कठ, प्रश्न, ऐतरेय, तैत्तिरीय, मुण्डक, माण्डूक्य और श्वेताश्वतर—ये नौ उपनिषद् शाङ्करभाष्य तथा हिंदी-अनुवादसहित मिलने लगे हैं।]

४-सत्सङ्ग-माला-लेखक—श्रीमगनलाल हरिमाई व्यास, पृष्ठ १००, मूल्य ... १)

५-सत्सङ्ग-सुधा-लेखक—एक साधु, पृष्ठ २२४, मूल्य ... ॥२)

६-गीताभवन-दोहासंग्रह—महात्माओंके अनुभवपूर्ण उपदेश, पृष्ठ ४८, मूल्य ... =)

७-श्रीश्रीचैतन्यचरितावली-(खण्ड १) लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, लगभग पंद्रह वर्षोंके बाद पुनः छपी है। पृष्ठ २८८, चित्र ५, मूल्य ॥३=) सजिल्द ... १।)

८- ” ” (खण्ड २) पृष्ठ ३६८, चित्र ८, मूल्य १=) सजिल्द ... १॥)

९- ” ” (खण्ड ३) पृष्ठ ३८४, चित्र ७, मूल्य १=) सजिल्द ... १।=)

१०- ” ” (खण्ड ४) पृष्ठ २२४, चित्र १४, मूल्य ॥=) सजिल्द ... १)

११- ” ” (खण्ड ५) पृष्ठ २८०, चित्र ९, मूल्य ॥३=) सजिल्द ... १=)

१२-गीताडायरी-(१९५३ की) तैयार हो गयी है। मूल्य ॥=), सजिल्द ... ॥३)

१३-विनय-पत्रिकाके बीस पद-सानुवाद, पृष्ठ २४, मूल्य ... -)

१४-BHAGAVADGITA [with Sanskrit text and English translation] 0-4-0 Bound 0-6-0

जूनके अङ्कमें गये हुए सूचीपत्रकी पुस्तकें तथा उपर्युक्त पुस्तकें भी आपके गाँवके या उसके आसपासके गीताप्रेसकी पुस्तकें बेचनेवाले पुस्तक-विक्रेताके यहाँसे मिल सकती हैं। उनके यहाँसे पुस्तकें आपको यथासम्भव छपे मूल्यपर ही मिल सकेंगी और इससे आपका समय और भारी डाक-सर्व वच सकेगा।

आपकी सुविधाके लिये हमारे खास-खास पुस्तक-विक्रेताओंकी सूची नीचे दी जा रही है—

अमरावती श्रीकन्हैयालालश्रीराम, मारवाड़ी-स्टोर जवाहर रोड। अलीगढ़—मास्टर निहालचन्द एण्ड सन्स, बड़ाबाजार।
अलीगढ़—श्रीशालिग्राम एण्ड सन्स, मदारगेट, चौकी अलवर—सरस्वती-पुस्तकालय, मुंशीबाजार, समीप जैन
पुलिसके सामने। औषधालय।

” —श्रीहरिरामजी गुप्ता बुकसेलर, अचल रोड। अजमेर—श्रीलक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुरानी मंडी।

अहमदाबाद नं० ४—पण्डित राममनोहरजी मिश्र, शेठ
आर. एल. वैकरका बंगला,
शाहीबाग ।

„ नं० २—श्रीएस. एस. बागडिया एण्ड सन्स,
हरीदास अचरतलाल मार्केट,
कपासिया बाजार ।

अमृतसर—श्रीमिलखीराम रामरक्खा धूपवाले, दुर्ग्याणा तीर्थ ।

„ —श्रीलक्ष्मीनारायण सुगन्ध-भण्डार, दुर्ग्याणामन्दिर ।

„ —श्रीलक्ष्मीनारायण पुस्तकालय, दुर्ग्याणातीर्थ ।

अम्बालाशहर—पूर्वी पाञ्चाल ज्योतिषकार्यालय,
लम्बूवाला तालाब ।

अयोध्या—श्रीशिवदुलारेलालजी बुकसेलर ।

अबोहर (फिरोजपुर)—साहित्यसदन ।

अलीगंज (एटा)—श्रीप्रयागदत्त ओमप्रकाश, श्रीकृष्ण-
पुस्तकालय ।

अकबरपुर—श्रीगेंदनराम बुकसेलर ।

अकलतरा—श्रीझूराराम सिखराम ।

आकोला—मंत्री, धर्मसंघ-कार्यालय, किराना बाजार ।

आगरा—श्रीकृष्णपुस्तकालय, दौलत मार्केट ।

„ —श्रीगयाप्रसाद एण्ड सन्स, हास्पिटल रोड ।

„ —लक्ष्मीबुकडिपो, कसेरट बाजार ।

„ —श्रीआर० वी० गर्ग एण्ड को० थोक पुस्तकालय
जौहरी बाजार ।

आजमगढ़—नेशनल बुकस्टोर ।

आरा—श्रीचौधरी एण्ड को० बुकसेलर्स एण्ड स्टेशनर्स,
महादेवां रोड ।

औरैया—श्रीचतुर्भुज सीताराम अग्रवाल ।

इलाहाबाद—बनारस बुकडिपो, ६३, जानसनगंज ।

„ —श्रीदुर्गा पुस्तक-भण्डार १०२, जानसनगंज ।

„ —नालन्दा बुक पैलेस, नं० ६३, जानसनगंज ।

„ —ओमप्रकाश पुस्तकालय बुकसेलर, ५१
जानसनगंज ।

इटावा—श्रीहीरालाल अग्रवाल बुकसेलर ।

इन्दौर—श्री नेशनल बुकडिपो, २१ राजावाड़ा चौक ।

„ —श्रीरामप्रसाद ओंकारलाल चौरसिया, नं० ३३
महात्मा गांधीरोड ।

„ —श्रीचुनीलाल ओंकारमल, बड़ा सराफा ।

इटारसी—स्टूडेन्ट्स स्टोर्स, बुकसेलर ।

उदयपुर—पं० धनलालजी शर्मा भारतीय पुस्तकभण्डार ।

उज्जैन—अनन्त उपयोगी वस्तुभण्डार, सतीरोट ।

„ —श्रीकृष्ण भक्तिभण्डार, गोपालमन्दिर, चौक ।

उन्नाव—श्रीरामकृष्ण लक्ष्मीनारायण बुकसेलर, सदरबाजार ।

ऋषिकेश (देहरादून)—श्रीगीताभवन, स्वर्गाश्रम ।

एटा—श्रीमोहन अरंगा, मेनगंज ।

कटनी (सी० पी०)—बद्री स्टेशनरी मार्ट ।

कमालगंज (फरूखाबाद)—श्रीभीमशंकर औदित्य,
विद्यार्थी, औदित्य पुस्तकभण्डार ।

कलकत्ता—श्रीगोविन्द-भवन-कार्यालय, ३०, बाँसल
गली ।

करनाल—अमर बुकडिपो, प्रो० रूपचन्द मंगतराम जैन ।

करीमुद्दीनपुर—श्रीरामनाथ बलदेवप्रसाद ।

कन्नौज—गजेन्द्र बन्धु बुकसेलर्स, बड़ा बाजार ।

कानपुर—श्रीप्रकाश घी-स्टोर, काहूकोठी ।

„ —गीता-पुस्तक-भण्डार, जनरल पोस्ट आफिस
सामने ।

„ —भारतीय पुस्तक-भण्डार, ३३।१८ चौकबाजार ।

„ —बम्बई पुस्तकभण्डार, चौक ।

„ —सरस्वती सेवासदन, १०।८।८८ वी० रोड,
सीसामऊ ।

„ —गौड़पुस्तकालय, चौक ।

„ —सरस्वतीपुस्तकालय, चौक ।

कासगंज (एटा)—बाँसल जनरल स्टोर्स एण्ड
बुकसेलर्स ।

किशनगढ़—पं० बंशीधर शर्मा बुकसेलर ।

कुसुंदा—श्रीधनरंगलाल बुकसेलर, करकेन बाजार ।

बौच (जालौन)—श्रीअयोध्याप्रसाद दयाराम, अग्रवाल,
 ३१८ जवाहरनगर तथा रामगंज ।
 कोटा—मोहन न्यूज एजेन्सी, रामपुरा बाजार ।
 तगड़िया—श्रीकृष्णबिहारी पोदार बुकसेलर ।
 " —श्रीअर्जुनप्रसाद एण्ड सन्स ।
 " —श्रीवीसीलाल गनपतसा, रामगंज ।
 तरगोन—भाई पंढरीनाथ जगन्नाथ सराफ ।
 तामगाँव—श्रीरामचन्द्रानन्द ब्रह्मचारी, वीर हनुमान मंदिर ।
 तुरई (सागर)—श्रीकामताप्रसाद कुन्दनलाल ।
 तुसरूपुर (पटना)—धार्मिक-पुस्तकालय ।
 तुर्जा सिटी—श्रीपन्नालाल शर्मा एण्ड सन्स बुकसेलर ।
 " —प्रकाश बुकडिपो ।
 गंवसोदा—गोस्वामी ब्रदर्श, जनरलमरचेन्ट ।
 गया—श्रीजानकीराम बुकसेलर, गौतमबुद्धमार्ग ।
 " —श्रीमाधोप्रसाद बुकसेलर, पंचमहल ।
 घालियर—धार्मिकपुस्तकालय घंटाघर, विक्टोरिया मार्केट,
 जयाजी चौक लस्कर ।
 गजियाबाद—श्रीरघुनाथ साहित्यकेन्द्र, १०० नया
 दरवाजा ।
 गजीपुर—श्रीपाण्डेय एण्ड सन्स, लालदरवाजा ।
 गुजरी (धार)—श्रीरामगोपाल हजारीलाल बांसल ।
 गुना—श्रीगोरोधनदास हीरालाल बुकसेलर, हनुमानगली ।
 गोला गोकर्ननाथ (खीरी)—श्रीनारायणप्रसाद सीताराम
 पुस्तकालय, न्यूज एजेन्ट, बड़ा बाजार ।
 गौरा—आदर्श बुकडिपो, गौरबाजार ।
 चन्दौसी—श्रीमोलानाथ गुप्त, बड़ा बाजार ।
 विरगाँव (झाँसी)—श्रीजानकीप्रसाद जुगलकिशोर ।
 चित्रकूट—श्रीरामकिशन अग्रवाल बुकसेलर, गङ्गातीर
 बाजार ।
 छपरा—पुस्तकाश्रम, सलेमपुर ।
 जमालपुर—छात्रहितैषी पुस्तकमण्डार ।
 " —श्रीरामचन्द्रप्रसाद बुकसेलर ।

जनकपुर रोड—लोकबन्धु पुस्तकालय ।
 जबलपुर—ज्ञान ग्रंथागार, मालवीय-पथ ।
 " —सुषमा-साहित्य मन्दिर, १०२, १०५
 जवाहरगंज ।
 जहाँगीराबाद—श्रीदेवीसहाय गुप्ता एण्ड सन्स बुकसेलर ।
 जहानाबाद—श्रीप्रभुदयाल एण्ड सन्स ।
 जयपुर—श्रीवद्रीनारायण गुप्ता फोटोग्राफर, त्रिपोलियाबाजार ।
 जालना (दक्षिण)—हिन्दी-साहित्य-मण्डार, नेहरू रोड ।
 जामनगर—काशी-विश्वनाथ गीता-रामायण-पुस्तकालय,
 काशी विश्वनाथका मंदिर ।
 जालन्धर—श्रीनिहालचन्द दियालचन्द बुकसेलर, मैरोबाजार ।
 " —भारतीय संस्कृत भवन, भाई हीरालाल गेट ।
 जोधपुर—किताबघर, सोजती दरवाजेके बाहर ।
 झरिया—रामपुस्तक-मन्दिर, बुकसेलर, मनिहारी पट्टी ।
 " —श्रीज्ञानीराम दूलीचन्द ।
 झाँसी—टण्डन बुकडिपो, सीपरीबाजार ।
 टीमरनी—श्रीजुगलकिशोर घासीराम ।
 दतिया—श्रीकिशोरीशरण दूबे, मुड़िआनका कुआँ ।
 दिल्ली—श्रीरामनरसिंह हरलालका, अस्पतालके ऊपर,
 संतनगर करोल बाग ।
 " —श्रीकुन्दनलाल, पब्लिक बुकडिपो, दूकान नं०
 ४४५५, नयी सड़क ।
 " —दी जनरल बुक सप्लाय कं०, ओरिजिनल रोड,
 करोल बाग ।
 " —देहाती पुस्तक-मण्डार, चावड़ी बाजार ।
 " —पंजाबी पुस्तक-मण्डार, दरीबाकलौं ।
 " —श्रीनारायणदास जयदयालमल, दरीबाकलौं ।
 दिल्ली कैन्ट—श्रीसुरजनमल लायकराम बुकसेलर, सदर-
 बाजार ।
 दुग—श्रीश्रवणलाल बुकसेलर फ्रेममेकर, सनीचरी बाजार ।
 दुमका—कृष्ण बुकस्टोर ।
 देहरादून—श्रीवन्धारीलाल आमारामजी, कांषलीरोड चौराहा ।

देहरादून—श्रीजुगलकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बुकसेल्स एण्ड स्टेशनर्स ।

„ —श्रीकृष्ण एण्ड को०, पलटनबाजार, पो० बा० नं० १३ ।

धामपुर (विजनोर)—श्रीरामकुमार महावीरप्रसाद बुकसेल्स एण्ड स्टेशनर्स ।

धौलपुर—श्रीभवानीशंकर गर्ग एण्ड सन्स, निहालगंज ।

„ —श्रीकिशनलालजी बुकसेल्स, निहालगंज ।

नवद्वीप—नवद्वीप-भजनाश्रम ।

नरसिंहपुर—श्रीमोतीलाल नेमीचन्द ।

नडियाद (गुजरात)—श्रीअम्बालाल डाढ्याभाई पटेल लखावाड़ ।

नवादा (गया)—आर्य-पुस्तक-भण्डार ।

नागपुर—श्रीबिहारीलाल झुंझनूवाला, श्यामभवन, सुभाष रोड ।

„ —श्रीराजाराम सुगनचन्द मोहता, हंसापुरी ।

नारनौल—श्रीरामभवन ।

नागौर (मारवाड़)—श्रीबदरीनारायण मूथा, सदर बाजार ।

नौगछिया—श्रीभीखाराम बैजनाथ ।

नैनीताल—कंसल बुकडिपो, बड़ाबाजार ।

नैनपुर—श्रीमूलचन्द किशनलाल खण्डेलवाल, क्लायमर्चेन्ट ।

पटना—श्रीलक्ष्मीनारायण शास्त्री, बिड़लामन्दिर, सब्जीबाग पानीपत—गोलडेन किताबघर ।

पिपरिया—श्रीचुन्नीलाल रामप्रसाद बुकसेल्स ।

पीलीभीत—श्रीरामभरोसेलाल छोटेलाल बुकसेल्स, चौकबाजार ।

पुखरायाँ—श्रीजमनादास सचान, जनरलमर्चेन्ट ।

„ शुक्लजी एण्ड सन्स ।

पूना—नेलेंकर बुकसेल्स, बुधवारचौक ।

प्रतापगढ़—किसान-पुस्तकालय, बुकसेल्स ।

„ —अग्रवाल बुकडिपो ।

फरीदपुर (बरेली)—श्रीरामानन्द ओमप्रकाश ।

फतेहपुर (यू० पी०)—श्रीखुबरदयाल गनेशप्रसाद बुकसेल्स, कचहरी रोड ।

फतेहपुर (यू० पी०)—श्रीप्रतापनारायण खन्ना, चौक ।

„ —श्रीशिवभूषण गुप्ता, हरीहराग ।

फतेहगढ़—कृष्ण स्टेशनरी स्टोर, बुकसेल्स ।

„ —भारतीय पुस्तकभण्डार, कचहरी रोड ।

फर्रुखाबाद—माहेश्वरी बुकडिपो ।

„ —शैदा बुकडिपो ।

„ —ला० चिन्तामणि शिवचरणलाल, प्रकाश तथा पुस्तक-विक्रेता ।

फिरोजाबाद (आगरा)—श्रीदेवदत्त ब्रदर्स ।

„ —भारत-खादी-भण्डार ।

फिरोजपुर छावनी—विद्यापुस्तक भण्डार, बाजार नं० ५ ।

फैजाबाद—गणेश स्कूल बुकडिपो, चौक ।

बनारस—श्रीगीताप्रेस कागज एजेन्सी, नीचीबाग ।

बदायूँ—सस्ता भण्डार, बुकसेल्स ।

„ —श्रीप्यारेलाल मुंशीलाल ।

बलिया—छात्र-हितकारी भण्डार, स्टेशन रोड ।

बड़ोदा—शाहबुकडिपो, जुबली गार्डनके सामने ।

„ —पुस्तकालय सहायक सहकारी मण्डल लि ।

बुकसेल्स रावपुरा, पो० बाक्स नं० १० ।

बरेली—श्रीरामचरनलाल गोयल एण्ड सन्स, बुकसेल्स दर्जी चौक ।

बटाला—प्रार्थना पुस्तक-गृह ।

बक्सर—श्रीरामनाथ मिश्रा बुकसेल्स, रामरेखाघाट ।

बहराइच—मैनेजर निगमनीतिप्रचारालय, वशीरांज ।

बाँदा—श्रीबल्लूराम लक्ष्मीनारायण बुकसेल्स चौक ।

बाराबंकी—श्रीजयजयराम शिवनारायण बुकसेल्स ।

बाँदीकुई—श्रीशंकरलाल मूलचन्द ।

बेगूसराय—दास पेपरस्टोर ।

बेतिया—श्रीसुन्दरमल हरिराम ।

बैद्यनाथधाम—नवयुग साहित्यमंदिर ।

„ —श्रीभोलानाथ कन्हैयालाल बुकसेल्स

जगन्नाथ मंदिरके नजदीक ।

बैतुल—श्रीएल० एन० सोहाने ।

विजनोर—श्रीरामचरनदास गुप्ता, बुकसेलर, स्कूलरोड ।
 " —श्रीवासुदेवप्रसाद अग्रवाल, पर्वत बुकस्टाल ।
 बिहार शरीफ—बिहार जनरल बुकडिपो ।
 बिधुना (इटावा)—आनन्द-वस्तु-भण्डार ।
 बिलासपुर—श्रीरामानुज तिवारी पुस्तकालय, गोलवाजार ।
 " श्रीमहावीरप्रसाद मिश्रा, मिश्रापुस्तकालय,
 " महावीरगंज ।
 बीकानेर—श्रीईश्वरदास डागा, वी० के० विद्यालयके
 निकट ।
 बुलन्दशहर—भगवत बुकडिपो, डिण्डीगंज ।
 " —शर्मा पुस्तकालय, डिण्डीगंज ।
 बृदावन—श्रीभगवान् भजनाश्रम, अष्टखम्भा ।
 बलौतरा—श्रीमगनीराम जमनादास लोया ।
 बंगलौर—इ० एम० इ० सेन्टर मन्दिर, हास्पिटल टाउन
 ईस्ट ।
 बरेली—श्रीसत्सङ्ग-भवन, दादीसेठ अग्यारी लेन, सिंहानिया
 बाड़ी, गणेशवाग । नं० १७९ । १८१ ।
 बाबर—गुप्ता पुस्तकविक्रेता ।
 बरतपुर—स्टूडेन्ट्स ब्रादर्स एण्ड कं०, बुकसेलर्स एण्ड
 स्टेशनर्स ।
 " —बंसल बुकडिपो ।
 " —आर्यन ब्रादर्स, बुकसेलर ।
 भागलपुर—संसंग-कार्यालय पता—आनन्दप्रस ।
 " —भारत बुकडिपो सुजागंज ।
 भिवानी—श्रीमंगतराय अग्रहभूत । ठि० श्रीगणेशदास
 युगलकिशोर, हाटवाजार ।
 " —श्रीजगन्नाथ जानकीदास सराफ, हाटवाजार ।
 भुवना—श्रीगीता-आश्रमका पुस्तकभण्डार, गऊघाट ।
 " —आदर्श पुस्तकालय, छत्तावाजार ।
 " —अग्रवाल बुकडिपो, छत्ता वाजार ।
 " —श्रीमनोहरलाल भगवानदास, असकुंडा वाजार ।
 भुवनी—श्रीधुवरसिंह बुकसेलर ।
 भान्वाता ओंकारजी—श्रीवृन्दावन नारायणप्रसाद पाराशर ।

मुरादाबाद—श्रीलालमनदास अ०प्रकाश वर्तनवाले,
 मण्डीचौक ।

" —अग्रवाल बुकडिपो, अमरोहागेट ।

मुरेना—गुप्ता स्टोर्स ।

मुजफ्फरपुर—श्रीसूरज महाराज बुकसेलर, कम्पनीबाग ।

मुजफ्फरनगर—श्रीधुवरदयाल एण्ड सन्स, चौड़ीगली,
 न्यूमंडी ।

मुंगेर—गीतापुस्तक-भण्डार, चौकवाजार ।

मेरठ—श्रीशंकरदास दुर्गाप्रसाद आढ़ती, सदर बाजार ।

" —राधे हाउस, निकट-तहसील ।

" —श्रीभीखाराम सनेहीराम, सदर बाजार ।

मैनपुरी—श्रीरमेशचन्द्र ब्रजेशचन्द्र, कठरा ।

मोतिहारी—श्रीके० पी० गुप्ता एण्ड सन्स ।

रक्सौल—हरीयोग पुस्तकभण्डार ।

रगौल (बाँदा)—श्रीमोतीलालजी गुप्त, जनरल मर्चेन्ट्स,
 मौदहा ।

रतनगढ़—श्रीगजानन्द चिमनलाल पसारी ।

रतलाम—दी भारत बुकडिपो, मानकचौक ।

रायपुर—श्रीगजलाल चुनकाईलाल बुकडिपो, गोलवाजार ।

रायगढ़—श्रीगंगासेवक शारदाप्रसाद बुकसेलर ।

राँची—श्रीज्वालादत्त गोविन्दराम, ऊपरवाजार ।

रोहतक मंडी—श्रीवनवारीलाल बुकसेलर भजनाश्रम ।

लखनऊ—श्रीमोतीलाल श्यामसुन्दर, श्रीरामरोड ।

लखीमपुर (खीरी)—श्रीवल्लभदास काहैयालाल, जनरल
 मर्चेन्ट्स ।

" —श्रीचन्द्रलाल बुकसेलर, द्वारा—श्री-
 सुकुटबिहारीलालजी, लेहेकी
 दुकान ।

लहरियासराय—वैष्णव पुस्तक-मन्दिर, कचहरीचौक ।

लश्कर—प्रधान मन्त्री श्रीमनातनधर्म-मण्डल, धर्ममन्दिर रोड ।

लुधियाना—मोहन-पुस्तकालय, मलहोत्रा मार्केट,
 चौड़ावाजार ।

लुधियाना—श्रीकुंजविहारीलाल गुप्ता, तुलसी बाटिका,
सिंहानियारोड सिविल लाइन ।

शाहजहाँपुर—श्रीबद्रीप्रसाद मुरलीधर गुप्ता, बुकडिपो
बहादुरगंज ।

„ —अरोड़ा ब्रदर्स, २६८ बहादुरगंज ।

शिकोहाबाद—शर्मा बुकडिपो ।

शिमला—श्रीसुन्दरदास एण्ड सन्स, लोअरबाजार ।

शिकारपुर—प्रकाश बुकडिपो ।

शेगाँव—श्रीहनुमानदास हरलालका ।

शोलापुर—श्रीरामरख मोतीराम चाण्डक, चाटीगली ।

सरदार शहर—गोविन्दभवन ।

सहारनपुर—श्रीचन्द्रभ्राता पुस्तक-भण्डार, शिवाजी बाजार
(मोरगंज)

सागर—श्रीगजाधरप्रसाद बुकसेलर, कटराबाजार ।

सिवान—श्रीगीताप्रेस कागज एजेन्सी ।

सीतापुर—श्रीगीतामन्दिर, गीतानगर ।

„ —नवीन पुस्तकभण्डार, मोतीलालबाग ।

सीकर—हिन्दी-विद्याभवन बुकडिपो ।

सुनाम—मैनेजर, श्रीहरिसंकीर्तन-मण्डल ।

सुलतानगंज—श्रीमोहनलाल बुकसेलर, जनतामण्डल

सुरत—शा० नगीनदास चुन्नीलाल जरीवाल, बालचौकी

हरिद्वार—श्रीकर्मसिंह अमरसिंह ।

„ —श्रीहरनामसिंह सोहनसिंह ।

„ —श्रीरामसरनदास बुकसेलर ।

हरदोई—श्रीमन्नालाल गुप्ता बुकसेलर, कचहरी ।

„ —जयहिंद स्कूल बुकडिपो, सदर बाजार ।

„ —जनरल किताबघर, सदरबाजार ।

हलद्वानी—संतोष बुकडिपो, सदरबाजार ।

हाथरस—राष्ट्रभाषा पुस्तकभण्डार ।

„ —दीपक ज्योति कार्यालय ।

„ —श्रीप्यारेलालजी बुकसेलर, एण्ड्यूकेशनल
बुकडिपो, सासनीगेट ।

„ —श्रीनारायणदास बुकसेलर, नयागंज ।

होशियारपुर—वैदिक साहित्य सदन, बाजार क्लीन ।

होशंगाबाद—ब्रह्मज्ञान पुस्तकालय ।

गीता-दैनन्दिनी (गीता-डायरी) सन् १९५३ ई०

आकार २२×२९ वक्तीसपेजी, मूल्य अजिल्द ॥=), कपड़ेकी जिल्द ॥।) मात्र ।

इसमें अठारहों अध्याय सम्पूर्ण गीता, हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और गुजराती तिथियाँ, सूर्यास्तका समय तथा मुख्य-मुख्य त्यौहारोंका संकेत किया गया है ।

प्रारम्भमें तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रसूचक तिथिपत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कलेंडर, त्यागके सोलह तथा ग्रहणके बारह नियमोंकी साधक-नियमावली, नित्य प्रार्थना और जीवन-सुधारके लिए संत-महात्मा और शास्त्रोंके अनेक मनन करनेयोग्य उपदेश, दैनिक वेतन और मकान-भाड़ेका तक्का, भारतीय रेलोंके छः विभागोंमें किये गये नये विभाजनका विवरण, रेलयात्रा, डाक, तार, इनकमटैक्स आदिके विषयमें खास-खास जाननेयोग्य बातें, माप-तौलकी सूची, अनुभूत घरेलू प्रयोग, स्वास्थ्यरक्षके सप्त सूत्र एवं अन्तमें जरूरी बातें नोट करनेके लिये स्मरण-पत्रके कुछ सादे पृष्ठ भी दिये गये हैं । गीताप्रेस की संक्षिप्त पुस्तक-सूची भी दी गयी है ।

एक अजिल्द प्रतिके लिये डाकखर्चसहित १-), दोके लिये १॥।), तीनके लिये २॥।), छःके लिये ४॥=) और बारहके लिये ८॥।=) तथा एक सजिल्दके लिये डाकखर्च सहित १=), दोके लिये २), तीनके लिये २॥।=), छःके लिये ५॥।) और बारहके लिये १०॥।) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये । यहाँ आर्डर देनेके पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये । इससे आपके समय और पैसे बच सकते हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

ननतामहा
; बालजनी

महरी ।
बाजार ।

केशनल

गंज ।
र वकीलन ।

याँ, सूर्योदय

क कलेक्टर
पुधार के लि
डेका नकशा
इनकमटैक्स
स्वास्थ्यसाके
हैं । गीताप्रेस

, छा के लि
पे २), तीनों
आर्डर देने

गोरखपुर

कल्याण



वन-भोजनकी झाँकी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



पशुकृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद्वर्ष्म तद्वच्छुभं नेत्रे चेतपसोजिते सुरुचिरे याभ्यां हरिर्दृश्यते ।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या साधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

पृ २६ }

गोरखपुर, सौर कार्तिक २००९, अक्टूबर १९५२

{ संख्या १०
पूर्ण संख्या ३११

वन-भोजनकी झाँकी

उदर पीत पट सुवमारासी । ताहि मध्य धरि बेनु विलासी ॥
सुभ भुज-मूल संग धरि बेतू । जँवत जेवन कृपानिकेतू ॥
वामपानि दधि औदन लीन्हे । बेल आदि फल अंगुरिन दीन्हे ॥
(श्रीमद्भागवत १० । १३ । ११ के अनुसार)

कल्याण

याद रखो—‘स्व’ तथा ‘स्वार्थ’ जितना ही संकीर्ण और संकुचित होगा, उतना ही वह दुःख, कष्ट, संताप, शोक, विषाद तथा भय उत्पन्न करेगा। जो लोग संकुचित ‘स्व’ में रहते हैं और सीमित क्षुद्र ‘स्वार्थ’ के द्वारा पराजित हैं, वे स्वयं तथा उनकी योग्यता केवल ‘मैं’, तथा ‘मेरे’ ‘शरीर के नाम’ तथा ‘शरीर’ तक ही केन्द्रित हो जाती है।

याद रखो—जब शरीर के नाम तथा शरीर तक ही ‘स्व’ रह जाता है, तब ‘स्व’ वैसे ही गंदा होता है, जैसे छोटेसे गड्ढे में इकट्ठा हुआ पानी। फिर उस मनुष्य का ‘स्वार्थ’ गंदा हो जाता है और वह दूसरों को दुःख देकर सुखी होना चाहता है, क्रोध के द्वारा सद्भाव प्राप्त करना चाहता है, कलहपूर्ण साधनों के द्वारा शान्ति पाना चाहता है और घृणा के द्वारा प्रेम-लाभ करना चाहता है। पर उसका यह सारा प्रयत्न बालू में से तेल निकालने की तरह निष्फल तो होता ही है, उल्टा बुद्धि को बिगाड़कर पाप पैदा करनेवाला होता है।

याद रखो—‘शरीर के नाम’ तथा ‘शरीर’ तक जिसका ‘स्व’ सीमित हो जाता है, वह यदि कभी कोई अच्छा काम भी करता है तो ‘नाम की जय-जयकार’ सुनने के लिये और मांसपिण्ड ‘शरीर की पूजा’ करवाने के लिये करता है। सुन्दर शुभ कर्म यदि समस्त जगत् के प्राणियों में ‘स्व’ का विस्तार करके उन सबके हित को स्वार्थ समझकर हो, सबको सुख पहुँचाने की पवित्र भावना से हो तो उससे भगवान् की बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती है। उसमें एक विलक्षण रस, एक पवित्र माधुर्य तथा आत्मसंतोष एवं शान्ति रहती है, पर वहाँ न तो ‘नाम की जय-जयकार’ होती है और न ‘शरीर की पूजा’ ही होती है।

याद रखो—‘क्षुद्र स्वार्थ’ के कारण ही मनुष्य केवल अपने ‘शारीरिक सुख’ और ‘नाम के यश’ के लिये चिन्तित रहता है और दिन-रात उसीकी प्राप्ति के प्रयत्न में लगा रहता है, उसे विश्वात्मा की भावना एवं भगवान् के लिये भगवत्स्मरण करने का अवकाश ही नहीं मिलता। पूजा की बात तो दूर रही, क्षुद्र स्वार्थ के लिये भी उससे भगवत्स्मरण नहीं हो पाता। वह दिन-रात भोगचिन्तन में ही लगा रहता है और उसके फलस्वरूप मनुष्य-जीवन का सर्वनाश कर बैठता है।

याद रखो—समस्त जगत् के समस्त प्राणी भगवान् से निकले हैं, सभी प्राणियों में एकमात्र भगवान् व्याप्त हैं। भगवान् ही आत्मरूप से सर्वभूतों के आश्रय स्थित हैं, अतएव भगवत्स्वरूप के नाते सभी पूज्य और सेव्य हैं तथा आत्मा की दृष्टि से सभी अपने स्वयं ही हैं, यह समझकर अपने ‘स्व’ का विस्तार करो, अपने सदा-सर्वदा सम्पूर्ण रूप में अपने ही आत्मस्वरूप का विस्तार करो। फिर सबका स्वार्थ (स्व-अर्थ) ही तुम्हारा स्वार्थ बन जायगा। वह फिर बहते हुए पवित्र सरिता-जल की भाँति स्वच्छ, निर्मल और सर्वभूतहितकर हो जायगा।

याद रखो—भगवान् ही आत्मरूप से प्रकाशित हैं अतएव यदि अपने को अलग भी समझो तो, इस लक्ष्य के लिये कि, ‘मैं सेवक हूँ तथा चराचर जगत्-स्वरूप भगवान् मेरे सेव्य हैं’—ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाने पर तुम्हारे द्वारा जो कुछ भी होगा, सब भगवान् का पूजन ही होगा और समस्त क्रिया तथा चेष्टा भगवत्पूजन-रूप होने से परम पवित्र तथा परम श्रेयस्कर हो जायगी।

‘शिव’

आस्तिकवाद और नास्तिकवाद

(एक महात्माका प्रसाद)

आस्तिकता प्राणीको मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जाती है। बहुत-से लोगोंका ऐसा मत है कि यह प्राणीको केवल सच्चरित्र बनाती है। परंतु बात ऐसी नहीं है। सच्चरित्र तो कोई-कोई नास्तिक भी होते हैं, परंतु उनकी ईमानदारी शरीर, वस्तु तथा अपने विशेष वर्तक ही सीमित होती है। आस्तिकवादका लक्ष्य तो दूसरा ही होता है। वह हमें मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जाता है; क्योंकि उसका प्रधान उद्देश्य शरीर और वस्तुओंसे अतीतके जीवनपर विश्वास करना एवं उसका साक्षात् अनुभव करना है। आस्तिकवादका आश्रय लेनेपर दुखी-से-दुखी प्राणी भी जीवनकी वास्तविकताका अनुभव कर आनन्दकी उपलब्धि कर सकता है, पर नास्तिक पुरुष ऐसा करनेमें किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि उसकी प्रसन्नता तो किसी-न-किसी वस्तु, अवस्था अथवा परिस्थितिपर ही अवलम्बित है।

नास्तिकवाद केवल वस्तुओंके विभाजनसे ही समाजमें शान्ति-स्थापनाकी बात करता है जब कि आस्तिकवाद वस्तु-विभाजनके साथ-साथ जीवनके विभाजनकी भी प्रेरणा देता है—अर्थात् प्रत्येक आस्तिक व्यक्तिका जीवन चार भागोंमें विभाजित होना चाहिये। १. गुणों-का विकास, २. मर्यादित उपभोग, ३. सेवा और ४. त्याग। इसके सिवा नास्तिकवादकी ईमानदारी स्थायी भी नहीं रह सकती; क्योंकि मनोऽनुकूल स्थिति न रहनेपर उसमें क्रोध उत्पन्न हो जाता है। वस्तुओंका सम्बन्ध तो केवल प्राणोंतक है और विवेकशून्य प्राण तो पशु एवं वृक्षोंमें भी रहता है। यह प्राणोंकी आसक्ति विवेकका आधार नहीं करने देती और विवेकका निरादर होनेपर बड़े-से-बड़े सुधारवादी एवं ईमानदार नास्तिकमें भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इसीसे लेनिन-जैसे

साम्यवादी महापुरुष भी जारके अवोध और निरपराध बालकोंको क्षमा नहीं कर सके! उन्होंने यही कहा कि 'पूँजीवादीके घरमें उत्पन्न हुआ बालक ईमानदार नहीं हो सकता।' यह कितनी बेसमझीकी बात है। बेईमानी तो किसी भी पुरुषमें जन्मसिद्ध नहीं होती। इसे तो पीछेसे जानकारीका निरादर करके सीखा जाता है। पर ऐसा विवेक लेनिन महोदय नहीं कर सके; क्योंकि उनके मनमें पूँजीवादियोंसे घृणा थी। इस प्रकार नास्तिकवाद स्वार्थ और द्वेषके आधारपर संगठन बनाता है तथा आस्तिकवादका संगठन सेवा और त्यागके आधारपर होता है। नास्तिकवाद अपने अधिकारको सुरक्षित रखकर कर्तव्य पालनकी बात कहता है और आस्तिकवाद अधिकारशून्य कर्तव्यका प्रतिपादन करता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें कर्तव्य ही अधिकार है और कुछ नहीं।

नास्तिकवाद स्वाधीनतासे परतन्त्रताकी ओर एवं आस्तिकवाद परतन्त्रतासे स्वतन्त्रताकी ओर ले जाता है; क्योंकि नास्तिकवाद प्राणीको वस्तु, अवस्था और परिस्थितिमें आबद्ध करता है जब कि आस्तिकवाद उसे उन सभीसे अतीत तत्त्वमें प्रतिष्ठित करता है। आस्तिकवादकी दृष्टिसे मानव-जीवनकी पूर्णताका वास्तविक अर्थ यह है कि शरीर विश्वके काम आ जाय, हृदयमें केवल प्रीतिकी गङ्गा लहराये और अहंता अभिमानशून्य हो जाय। ऐसा होनेपर निर्वासना अपने आप ही आ जाती है और निर्वासना आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता एवं मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं, जो स्वभावसे ही सबको प्रिय हैं तथा जिनके आनेपर व्यक्ति और समाज दोनोंका यथोचित निर्माण हो जाता है। किंतु नास्तिकवादकी

दृष्टिसे सर्वाशमें निर्वासना होना सम्भव नहीं है; क्योंकि भौतिकवादी होनेसे वह शरीर और वस्तुओंसे अतीतके जीवनका अनुभव नहीं कर सकता। इसीसे उसके हृदयमें दीनता एवं अभिमानकी अग्नि प्रज्वलित रहती है जो अशान्तिका मूल है।

नास्तिकवादकी दृष्टिमें तो शरीर ही सब कुछ है। वह शरीरके लिये ही समाजको सुन्दर बनानेका प्रयत्न करता है। इस विवेकशून्यताके कारण नास्तिकवाद प्राणीको अमरत्वसे मृत्युकी ओर, असीमसे ससीमकी ओर, नित्यसे अनित्यकी ओर, अभिन्नतासे भिन्नताकी ओर तथा शान्तिसे संघर्षकी ओर प्रेरित करता है। इसी कारण बड़े-बड़े युद्ध प्रस्तुत होते हैं। उन्हें मिटानेके लिये आस्तिकवादके द्वारा नास्तिकवादपर विजय प्राप्त करना परम अनिवार्य है; क्योंकि निर्वासनाके बिना निर्वैरता नहीं आती और निर्वैरताके बिना युद्ध समाप्त नहीं होते जो कि समाजके विनाशके प्रधान हेतु हैं।

परंतु नाममात्रकी आस्तिकता कुछ भी अर्थ नहीं रखती। सच तो यह है कि अविवेकी आस्तिकसे तो ईमानदार नास्तिक ही अच्छा है। आस्तिकवादके गीत गाते हुए लोगोंने परस्परमें भेद-भावकी दृढ़ स्थापना की जिसके कारण लाखों भाई-बहिनोके जीवन बर्बाद हो गये! इतना ही नहीं, मानव इतना पतित हो गया है कि इसने वह कर डाला जो नहीं करना चाहिये था। ऐसे बनावटी आस्तिकवादसे मानवका बड़ा पतन होता है। शरीर और वस्तुओंसे परेके जीवनका विश्वास तो एकताका पाठ पढ़ाता है, पर बनावटी आस्तिकवाद उस परम सत्यपर ध्यान नहीं देता। जो व्यक्ति बाह्य चिह्न, भाषा या पुस्तकोंमें आबद्ध होकर अन्य भाषा एवं पुस्तकोंका निरादर करता है, ऐसा आस्तिकवाद नास्तिकवादकी अपेक्षा भी कहीं अधिक भयङ्कर और आपत्तिपूर्ण है। सच्चा आस्तिकवाद तो प्राणीको केवल

यही बात सिखाता है कि वह किसीका ऋणी न रहे और उसकी प्रसन्नता अपने प्रभुके अतिरिक्त किसी और पर निर्भर न रहे। किसीके ऋणी न रहनेका वास्तविक अर्थ यह है कि पशु तथा वृक्षोंसे भोजन तथा दूसरे मनुष्योंके शारीरिक श्रमद्वारा पोषण (nursing) प्राप्त करता है और शिक्षकोंद्वारा शिक्षा पाकर ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओंसे सम्पन्न होता है। इस मौखिक सत्यके आधारपर ही आस्तिकवाद जीवनके विमानकी बात कहता है।

समाजके ऋणसे मुक्त होनेके लिये शरीर तथा प्रभु की हुई शिक्षाके द्वारा सेवा करना परम अनिवार्य है। यहाँतक कि प्राणरक्षाकी ओर भी ध्यान न देकर उसे समाजकी मर्जीपर छोड़ देना चाहिये। तात्पर्य यह है कि सच्चा सेवक वही हो सकता है जिसने संग्रहको त्याग अपना निर्वाह भिक्षा-वृत्तिपर ही निर्भर कर दिया हो। भिक्षुक केवल देनेवालेकी प्रसन्नताके लिये ही आत्मिक अन्न-वस्त्रादि स्वीकार करता है। उनमें अपना कोई अधिकार नहीं समझता; क्योंकि उसमें प्राणोंकी आसक्ति शेष नहीं रहती। यदि इसी बातको थोड़े शब्दोंमें कहा जाय तो कहना होगा कि आस्तिकवाद प्राणोंकी अपेक्षा विवेकको अधिक महत्त्व देता है। मानवको प्राणोंकी आसक्तिने ही विवेकसे विमुख किया है और इसी संग्रहकी भावनाको बल प्रदान किया है जो वास्तविक नास्तिकता ही है। सच्ची आस्तिकता तो प्राणियोंके सब प्रकारके स्वार्थ और संग्रहसे मुक्तकर उसे अपने ही अपने प्रियतमका अनुभव कराती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सच्चा आस्तिक किसीका भी ऋणी नहीं रहता और उसकी प्रसन्नता किसी अन्यपर निर्भर नहीं होती। यही सच्ची स्वाधीनता है जिसकी उपलब्धि आस्तिकवादसे ही सम्भव है।

आस्तिकवाद धर्मविज्ञान अर्थात् अपने कर्तव्यके अनुसार अधिकारोंको सुरक्षित रखनेकी बात, योग-विज्ञान

संख्या १०]

अर्थात् भोगवासनाओंकी निवृत्ति करके छिपी हुई शक्तियोंके विकासकी कला, और अध्यात्म-विज्ञान अर्थात् देहाभिमानको गलाकर परम तत्त्वमें प्रतिष्ठित होनेकी कला सिखाता है। इस प्रकार जितने कर्तव्य हैं वे धर्म-विज्ञानमें, जितनी उपासनाएँ हैं वे योगविज्ञानमें और जितने दर्शन हैं वे अध्यात्म-विज्ञानमें आ जाते हैं। किंतु योग्यता-भेदके कारण साधन-भेद होनेपर भी आस्तिकवाद प्रीति-भेद एवं लक्ष्य-भेद नहीं होने देता। अतः सच्चे आस्तिकवादमें पारस्परिक संघर्षके लिये कोई स्थान नहीं है। आस्तिकवादके रूपमें नास्तिक होनेपर ही संघर्ष उत्पन्न होते हैं। आजकालके विद्वान् तो आस्तिकवादके वास्तविक स्वरूपको न जानकर वाक्यी आस्तिकवादियोंके व्यक्तिगत दोषोंको देखकर ही धर्म और ईश्वरकी ओरसे उपेक्षा करने लगे हैं। किंतु उनकी यह मान्यता विवेकापूर्ण नहीं है। इतना ही नहीं, आज वे बड़े गौरवसे सम्प्रदायशून्य-राज्य (Secular State) की बात कहते हैं। परंतु इस भावनाका हम तो पाश्चात्य देशोंमें ऐसी परिस्थितिमें हुआ था कि वहाँके वनाक्यी आस्तिकवादियोंने अविवेकवश भौतिक-विज्ञानकी सच्चाईका तिरस्कार कर दिया था। उस तिरस्कारका परिणाम यह निकला कि आज भौतिक विज्ञानी आस्तिकवादके नामसे भयभीत हो जाते हैं। किंतु भौतिक-विज्ञानका सम्बन्ध तो जीवनके एक ही अङ्गसे है। जब आस्तिकवादके तिरस्कार करनेसे मानव-समाजके सामने ऐसी भयङ्कर परिस्थिति आ गयी है, तब गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि आस्तिकवादका, जो समाज एवं व्यक्तिके सर्वाङ्गका पोषण करता है, निरादर करनेसे उसकी क्या दुर्दशा होगी? अतः सच्चाईका तिरस्कार करना सर्वदा अनर्थका ही मूल है।

विवेकशून्य सुधारवादियोंने भोली-भाली जनताको लालच और दोषकी बातें बताकर बड़े-बड़े संगठन उत्पन्न

किये और उनके द्वारा शक्तिका भी संचय किया। किंतु उस शक्तिका उपयोग दूसरे दलोंके विध्वंसमें ही हुआ है। उससे जनताका वास्तवमें कोई हित नहीं देखा गया, प्रत्युत एक स्थायी वैरभावकी ही पुष्टि हुई है जिसके कारण एक दलने दूसरे दलके साथ ऐसे अत्याचार किये हैं जो मानवकी तो कौन कहे पशु-पक्षी भी नहीं कर सकते। इसपर भी वे दल संसारमें शान्ति-स्थापनाका दम भरते हैं! यद्यपि प्रत्येक दल अपने साथियोंके प्रति तो आंशिक रूपमें न्याय और प्रेम ही दर्शित करता है किंतु ऐसा न्याय और प्रेम तो चोर-डाकुओंमें भी होता है। वे भी परस्पर एक दूसरेके प्रति बड़े विश्वास और सहानुभूतिका परिचय देते हैं तथापि इससे मानव-समाजमें शान्ति-स्थापन न होकर उल्टा विद्रोह ही फैलता है। ऐसी ही दशा आजके सुधारवादियोंके संगठनोंकी है। वास्तवमें समाजका हित तो उन्हीं संगठनोंसे हो सकता है जिनका निर्माण सेवा और त्यागके आधारपर हुआ हो। सेवा और त्यागके आधारपर बना हुआ संगठन परस्परमें विश्वास तथा कर्तव्यपरायणता एवं स्नेहका पाठ पढ़ाता है, संघर्ष तथा अविश्वास उत्पन्न नहीं होने देता; कारण कि आस्तिकवाद प्राणियोंको अधिकार-त्यागसे मुक्त कर देता है; क्योंकि आस्तिकवाद हमें सब प्रकारकी परिस्थितियोंसे अतीतके जीवनमें प्रतिष्ठित करता है।

मनुष्यको जबतक अपनेसे भिन्न वस्तुओंकी आशा रहती है, तबतक उसमें न तो आस्तिकता ही आती है और न वह प्रभुका स्मरण-चिन्तन ही कर सकता है। किसी संग्रहके रहते हुए क्या कोई भगवान्‌का ध्यान कर सकता है? कदापि नहीं। अतः आस्तिकताकी उपलब्धि त्यागसे ही सम्भव है। त्यागका अर्थ है किसी भी वस्तुको अपनी न समझना और उसका यथोचित विभाजन कर देना। यही वास्तवमें ईमानदारी है जिसकी प्राप्ति केवल धर्म-विज्ञानसे ही सम्भव है। जब इस

धनकी उत्पत्तिके विषयमें विचार करते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसके आधार परिश्रम, विज्ञान और प्राकृतिक वस्तुएँ ही हैं। जो वस्तु मजदूर और किसानोंके द्वारा प्रकृतिके गर्भसे निकलती है, वह सबसे सस्ती होती है। फिर वही जब कल-कारखानोंमें होकर वापिस आती है, तब उन गरीबोंको ही सबसे महँगी मिलती है। अतः जहाँ कहीं भी अर्थ-संग्रह हुआ, उसका श्रेय तो उन्हींको है जिन्होंने उसे सबसे सस्ती देकर फिर सबसे महँगी लिया है। इस संगृहीत धन-को आस्तिकवाद समाजके बच्चों, रोगियों और सेवकों (विरक्तों) का मानता है; क्योंकि ये तीनों ही धनोपार्जन नहीं कर पाते। रोगी और बालक असमर्थताके कारण तथा सेवक या विरक्त समयभावके कारण धनोपार्जनमें असमर्थ हैं। समाजमें सेवक और विरक्तोंका मूल्य किसीसे कम नहीं है; क्योंकि शरीर एवं समझके द्वारा समाजकी सबसे अच्छी सेवा वही कर सकते हैं। वे ही जितेन्द्रियतापूर्वक सत्यकी खोज कर सकते हैं और उन्हींके द्वारा समाजके बच्चोंका शिक्षण एवं मानवताका निर्माण हो सकता है।

आजका भौतिकवादी थोड़ा लेकर अधिक देनेको ही मानवताकी पराकाष्ठा मानता है, पर अध्यात्मवादकी दृष्टिमें तो सब कुछ दे डालना ही मानवता है। सब कुछ देनेकी शक्ति तभी आती है, जब विरक्त होकर चरित्रबल तथा विवेकद्वारा रचनात्मक रूपसे समाजकी सेवा की जाय और उसके बदलेमें किसी प्रकारका अधिकार या पद स्वीकार न किया जाय। ऐसे सेवक ही समाजके सच्चे प्रतिनिधि हैं। उनके द्वारा निर्वाचित सरकार ही प्रजातन्त्र सरकार हो सकती है, किंतु सेवक

सरकारको बनाता ही है स्वयं सरकार नहीं बनाता। इन सेवकोंमेंसे जो वीतराग और ज्ञान-विज्ञानपूर्ण हैं वे ही विधान बनानेमें समर्थ हो सकते हैं; क्योंकि सच्चा विधान किसी व्यक्तिकी उपज नहीं है, प्रयत्न खोज है। इसी कारण आस्तिकवादने वस्तु-विचारके साथ-साथ जीवन-विभाजनकी बात कही है। वीरों पुरुषोंद्वारा बनाया हुआ विधान और सेवकोंद्वारा निर्मित सरकार ही समाजमें न्याय, प्रेम और शान्तिकी स्थापना करनेमें समर्थ हैं। बहुमतके आधारपर निर्वाचित सरकार कदापि पक्षपातशून्य नहीं हो सकती; क्योंकि इस सिद्धान्तके अनुसार तो सौ दुराचारी निरन्तर सदाचारियोंको हरा सकते हैं। बहुमत सत्यकी कसौटी है, ऐसा सिद्धान्त तो पाश्चात्य देशोंकी देन है, जिसका आधार वस्तुवाद, जडवाद अथवा नास्तिकवाद है।

इस प्रकार नास्तिकवाद मानवको केवल वस्तुओंके उत्पत्ति और उपयोगमें प्रवृत्त करता है। इस प्रकार परिणाम शक्तिहीनता तथा स्वार्थ और द्वेष ही होते हैं, जिनके कारण मानव मानव नहीं हो पाता। विपरीत आस्तिकवाद वस्तुओंकी उत्पत्ति करते हुए वस्तुओंके अतीतके जीवनकी ओर ही प्रेरित करता है और वस्तुओंसे अतीत होनेपर किसी भी प्रकारके निर्वलता, निर्धनता अथवा राग-द्वेष शेष नहीं रहते। उसका सब कुछ सबका हो जाता है अर्थात् सत्य विश्वके काम आ जाता है। हृदयमें प्रीतिकी लहराने लगती है और अहंता अभिमानशून्य होकर निराला जीवनसे आभन्न हो जाती है जो मानव-जीवनका मुख्य उद्देश्य है। अतः आस्तिकवादके द्वारा नास्तिकवादपर विजय प्राप्त करके मानवको मानव हो जाना चाहिये।

संसारके पदार्थोंपर जिनका सुख निर्भर करता है, वे कभी सुखी नहीं हो सकते। सारी पृथ्वीका अधिकार प्राप्त करनेपर भी उनका हृदय सदा संतप्त रहता है।

गीतामें उपासना

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

गीतामें दो प्रकारकी उपासनाका उल्लेख है—एक भेदोपासना और दूसरी अभेदोपासना। भेदोपासना योगके अन्तर्गत है और अभेदोपासना सांख्यके अन्तर्गत है। भेदोपासनाको भक्तियोग तथा अभेदोपासनाको ज्ञानयोगके नामसे भी कहा गया है, इसीको ज्ञानकी परानिष्ठा भी कहते हैं। भेदोपासनासे अभिप्रेत है—ईश्वरकी भक्ति। वह भक्ति गीतामें सगुण-साकारकी उपासनाके रूपमें (१।२६; ३४; ११।५४) और कहीं सगुण-निराकारकी उपासनाके रूपमें आती है (८।९; १०; ९।४; ५; १८।६२)। बहुत-से ऐसे श्लोक हैं, जिनमें साकार और निराकारका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है (२।६१; ६।१४; ७।१४; ८।५)। भक्तकी इच्छापर निर्भर है, वह अपनी इच्छाके अनुसार सगुण-साकार या सगुण-निराकारकी अथवा निराकार-रहित साकारकी भेदरूपसे उपासना कर सकता है। भेदोपासनासे अभिप्राय है—सच्चिदानन्दधन निर्गुण-साकार ब्रह्मका अभेदरूपसे यथार्थ ज्ञान। अर्थात् एक के अतिरिक्त और सबका अभाव, तथा जो कुछ है सो वह ही है—इस प्रकारका अनुभव।

भेदोपासना

गीतामें भेदोपासनाके बहुत-से श्लोक मिलते हैं। ऐसा कोई भी अध्याय नहीं कि जिसमें भेदभक्तिका भाव प्रकट न होता हो। पहले अध्यायमें स्पष्टरूपसे भेदोपासनाका कोई श्लोक नहीं है, फिर भी अर्जुनके वचनोंमें कुछ भक्तिका भाव व्यक्त है। अर्जुनने भगवान् हृषीकेशसे कहा कि 'हे अच्युत! मेरे स्थको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये (गीता १।२१)।' इस अध्यायमें हृषीकेश, माधव, अच्युत आदि शब्द भगवान्के वाचक हैं। अर्जुनके द्वारा भक्तिभावसे किये गये इन सम्बोधनोंसे अर्जुनके हृदयका भक्ति-भाव झलकता है।

दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें तो स्वयं ही भगवान्ने स्पष्ट ही कहा है—'युक्त आसीत मत्परः।' भाव यह है कि सम्प्राप्तिार्थिचित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे।

इसी प्रकार तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।

‘ध्याननिष्ठ चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको सुद्ध परमात्मामें समर्पण कर।’ इस प्रकार स्थित होकर श्रत्रियधर्मके अनुसार निष्कामभावसे युद्ध करनेकी भगवान्ने आज्ञा दी है। इन वचनोंसे हमको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि निरन्तरध्याननिष्ठ रहते हुए ही भगवदर्पण-बुद्धिसे अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्म करें।

चौथे अध्यायके छठे श्लोकसे नवें श्लोकतक अवतारवाद-का वर्णन किया गया है, जो भेदोपासनाका मूलतत्त्व है। उसके अनन्तर दसवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान्की शरणसे भगवद्भावको प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

‘पहले भी, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं।’

भगवान्ने ग्यारहवें श्लोकमें यह भी कहा है कि ‘जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ।’ इससे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भगवान्के सिवा एक क्षण भी किसी अन्यको न भजें। चलते-उठते, खाते-पीते, सोते-जागते—सब समय गोपियोंकी भाँति * मनमोहन भगवान्को अपने साथ समझते हुए ही नित्य-निरन्तर उनको भजते रहें।

* श्रीमद्भागवत १०।४४।१५ में बतलाया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-

प्रेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो

धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

‘जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे

पाँचवें अध्यायमें भी २९वें श्लोकमें भक्तिभाव यानी भेदोपासनाका महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। वहाँ भगवान्‌के गुण-प्रभावको तत्त्वसे जाननेके रूपमें उपासना बतायी गयी है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

‘मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वास्थ्यरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।’

इससे यह सिद्ध होता है कि जो पुरुष भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सब लोकोंका महान् ईश्वर और सब भूतोंका सुहृद् तत्त्वसे जान लेता है, वह परम शान्तिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जब मनुष्य सर्वगुणसम्पन्न भगवान्‌को तत्त्वतः जान जाता है, तब भगवान्‌के सुहृदादि गुण उस भक्तमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं। गीताके बारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक, जहाँ भक्तोंके लक्षण बतलाये हैं, वहाँ स्पष्ट ही ‘अद्वेषा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च’ आदि शब्दोंसे सुहृदादि गुणोंका कथन किया है। अतः भगवान्‌को तत्त्वतः जाननेके लिये भगवद्भक्तोंको पूर्णरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

छठे अध्यायके १०वेंसे १४वें श्लोकतक एकान्त और पवित्र देशमें आसन लगाकर भगवान्‌की भेदभावसे विधिपूर्वक उपासना करनेका विषय बतलाया गया है। वहाँ एकान्त देशमें बैठकर किस प्रकारसे उपासना करनी चाहिये, यह चौदहवें श्लोकमें बतलाया है—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिभ्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

‘ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्त-वाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।’

व्यवहार करते समय सर्वव्यापी सगुण भगवान्‌की भक्ति सदा-सर्वदा किस प्रकार करनी चाहिये, यह बात गीताके छठे अध्यायके ३०वें और ३१वें श्लोकोंमें बतायी गयी है।

आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रज-वासिनी गोपियाँ धन्य हैं !’

इस प्रकार सगुण-निराकारकी भक्ति करनेवाले भक्त प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने इसी अध्यायके अन्तिम श्लोकमें उसे अन्य सब साधकोंसे उत्तम बतलाया है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्भुतेनान्तरात्मा ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

‘सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी परम श्रेष्ठ मान्य है।’

इससे पाठकोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जब भी साधकोंको भगवान्‌ने सर्वोपरि बतलाया है, तब इस श्लोकमें वर्णित साधनके अनुसार ही हम प्राणपर्यन्त प्रयत्न करें।

सातवें अध्यायसे लेकर बारहवें अध्यायतक—इस छठे अध्यायोंको तो विद्वज्जन उपासनाकाण्ड मानते हैं और ऐसा मानना उचित भी है; क्योंकि इन अध्यायोंमें अधिकांश सगुण-साकार और सगुण-निराकार भगवान्‌की उपासना ही ओतप्रोत है। इन छः अध्यायोंके अधिकांश श्लोकोंमें भक्तिभावको प्रदर्शित करनेवाले भगवद्वाचक शब्द आये हैं। जैसे अर्जुनके वचनोंमें त्वम्, त्वाम्, तव आदि तथा भगवान्‌के वचनोंमें अहम्, माम्, मयि, मम आदि। इसलिये इनका विस्तार कहाँतक करें; भेद-उपासनाके कुछ श्लोकोंका ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने अपने समग्रस्वरूप उपासनाका विषय समझनेके लिये अर्जुनसे कहकर जगह जगह समग्ररूपका विवेचन भी किया है। फिर अध्यायके अन्तमें २९वें और ३०वें श्लोकोंमें साकार-निराकार सगुण-निर्गुण स्वरूपकी भेदरूपसे उपासना करनेवालोंकी महिमा बतलायी है।

इसके सिवा, सातवें अध्यायके १४वें श्लोकमें इस त्रिगुणमयी दुस्तर मायासे तरनेका एकमात्र उपाय—अर्जुनकी शरणागतिरूप उपासनाका वर्णन किया तथा १६वें और १७वें श्लोकोंमें उपासकोंके चार भेद बतलाकर शान्ति निष्काम प्रेमी भक्तकी विशेष प्रशंसा की है। इससे हमको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि हम संसार-सागरसे पार होनेके लिये उन समग्रस्वरूप सगुण भगवान्‌की शरण होकर निष्काम और प्रेमभावसे उन्हींकी भक्ति करें।

आठवें अध्यायके ५वें श्लोकमें अन्तकालमें भगवत्कृपा एवं सातवें और चौदहवें श्लोकोंमें निरन्तर स्मरणका प्रभाव

संख्या १०]

बतलाया गया है। तथा ८वें, ९वें, १०वें और २२वें श्लोकोंमें भगवान्‌के निराकार सर्वव्यापी परम दिव्य सगुण स्वरूपकी उपासनाका प्रकार बतलाया है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह परमात्माके साकार या निराकार किसी भी स्वरूपका अथवा समग्र स्वरूपका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा नित्य करते हुए उसकी स्वामी-सेवकभावसे उपासना करे।

नवें अध्यायके चौथे, ५वें और ६ठे श्लोकोंमें निराकार-स्वरूपका तत्त्व और रहस्य समझाया गया है। ३०वें और ३१वें श्लोकोंमें अतिशय दुराचारीका भी अनन्य भक्तिके प्रभावसे शीघ्र उद्धार होनेका कथन किया गया है। श्रीभगवान्‌ कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

‘यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।’

‘वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।’

इसके अनन्तर ३२वें श्लोकमें भगवान्‌की शरणसे स्त्री, वैश्य, शूद्र एवं पापयोनिवाले चाण्डाल आदिको भी परम-गतिकी बात कहकर अन्तिम ३४वें श्लोकमें सगुण साकारकी शरणागतिका स्वरूप और उससे अपनी प्राप्ति बतायी गयी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः ॥

‘मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने-वाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।’

इससे यह जिज्ञासा होती है कि ‘भगवान्‌की शरणागतिके जो चार प्रकार बतलाये हैं, उन चारोंके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति होती है या इनमेंसे एक या दोके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है?’ इसका उत्तर यह है कि ‘एक या दोसे भी हो सकती है, फिर चारोंकी तो बात ही क्या है?’

इसी अध्यायके २२वें श्लोकमें भगवान्‌ने नित्य-निरन्तर अनन्यचिन्तन करनेवाले भक्तके लिये कहा है कि ‘उसका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।’ इस कथनसे ‘मन्मना भव’ मात्रको ही उद्धारका उपाय समझना चाहिये।

इसी अध्यायके ३०वें, ३१वें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तिके अतिशय दुराचारीका शीघ्र उद्धार बतलाया है और ‘मेरे भक्तका पतन नहीं होता’ यह कहा है। इससे ‘मद्भक्तो भव’—अर्थात् केवल भगवान्‌की भक्तिसे ही उद्धार हो जाता है, यह बात समझनी चाहिये।

इसी अध्यायके २६वें श्लोकमें भगवान्‌ने ‘प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करनेवालेका दिया हुआ पत्र-पुष्पादि मैं स्वयं प्रकट होकर खाता हूँ।’ यह कहा। अतः ‘मद्याजी भव’ के अनुसार केवल प्रेमपूर्वक भगवान्‌की पूजासे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—यह समझना चाहिये।

इसी अध्यायके १४वें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि ‘मेरे भक्त नित्य मुझमें युक्त होकर भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं।’ अतः भक्तिपूर्वक किये हुए ‘मां नमस्कुरु’ रूप नमस्कार-साधनसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

यदि कहें कि ‘जब एक ही प्रकारके साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, तब फिर चार प्रकारके साधन क्यों बतलाये?’ तो इसका उत्तर यह है कि चारों प्रकारके साधनसे साधन-कालमें भी विशेष प्रसन्नता और शान्ति होती है तथा भगवान्‌की प्राप्ति सुगम और शीघ्र हो जाती है।

अतः हमलोगोंको नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकके अनुसार चारों प्रकारके ही साधनोंको काममें लानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

इस नवें अध्यायमें भक्तिके और भी बहुत-से श्लोक हैं, किंतु लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इस संकोचसे विस्तार नहीं किया गया।

दसवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने अपने स्वरूप और प्रभावको तत्त्वसे जाननेवालेकी महिमा बतलायी है तथा ९वें और १०वें श्लोकोंमें उपासनाका स्वरूप बतलाकर उससे अपनी प्राप्ति बतलायी है। भगवान्‌ कहते हैं—

मच्चित्ता मद्भक्तप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
इदमि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

‘निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणों-को अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभाव-सहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ।’

‘उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेम-पूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।’

इस अध्यायमें भगवान् ने और भी अपनी विभूति और प्रभावका वर्णन किया है, जिसका तत्त्व-रहस्य समझनेसे भगवान् की उपासनामें श्रद्धा-प्रेम बढ़कर साधन तेज हो सकता है ।

ग्यारहवें अध्यायमें भगवान् के प्रभावसहित स्तुति और प्रार्थनाका विस्तृत वर्णन है, उसका तत्त्व-रहस्य समझनेसे भगवान् में परम श्रद्धा और अनन्य भक्ति होकर भगवत्प्राप्ति हो सकती है । इसी अध्यायके ५४वें श्लोकमें भगवान् ने अपनी अनन्य भक्तिका प्रभाव बतलाकर ५५वें श्लोकमें अनन्य भक्तिका स्वरूप बतलाया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

‘परंतु हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।’

‘हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।’

अतः हमलोगोंको दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें वर्णित साधनके अनुसार विशेष प्रयत्न करना चाहिये । इन दोनों अध्यायोंमें वर्णित विभूति और योग तथा प्रभावसहित स्तुति-प्रार्थनाके तत्त्व-रहस्यको भी समझना चाहिये, जिससे कि हमारा परमात्मामें श्रद्धा-प्रेम बढ़े तथा साधन तेज होकर परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सके ।

बारहवें अध्यायकी तो बात ही क्या है, यह तो साधारण अध्याय ही भक्तिसे ओतप्रोत है; इसमें भगवान् की भक्ति-वर्णन करके भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण बतलाये गये हैं । अर्जुनके प्रश्न करनेपर इस बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान् अपने सगुणस्वरूपकी उपासनाको सर्वोत्तम बतलाते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

‘मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भक्त-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझके योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ।’

छठे और सातवें श्लोकोंमें सगुण-उपासनाका प्रश्न बतलाकर मैं उस उपासकका संसार-सागरसे शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ—‘भगवान् ने यह घोषणा की है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

‘परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरके ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझमें ही अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंमें मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।’

इसके बाद आठवें श्लोकमें अर्जुनको स्पष्ट आशा दी है कि ‘मुझमें मन-बुद्धि लगानेसे मुझको ही प्राप्त होता है—इसमें कोई शङ्का नहीं ।’ अतः हमलोगोंसे और कुछ भी न बने तो अपने मन-बुद्धि भगवान् में निरन्तर लगे—इसके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये ।

तेरहवें अध्यायसे अठारहवें अध्यायतक ज्ञानयोगका जितना वर्णन हुआ है, उतना अन्य अध्यायोंमें नहीं है । इसलिये इस षट्कको ज्ञानयोगप्रधान भी कह सकते हैं । फिर भी ज्ञानके साधनके रूपमें भेदोपासनाका विषय आया है । तेरहवें अध्यायके १०वें श्लोकमें कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेविव्वमरतिर्जनसंसदि ॥

संख्या १०]

‘भुक्त परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ।’

उपर्युक्त अनन्य भक्तिके साधनसे ज्ञानकी प्राप्ति होकर सच्चिदानन्द परमात्माकी प्राप्ति सहजमें ही हो सकती है ।

चौदहवें अध्यायके २६वें श्लोकमें गुणातीत होनेका उपाय बतलाते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

‘जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भुक्तको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति जानकर सच्चिदानन्दधन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है ।’

इससे स्पष्ट हो गया कि उपर्युक्त भक्तियोगके साधनसे मनुष्य तीनों गुणोंसे अतीत होकर परमात्माकी प्राप्ति के लिये समर्थ हो जाता है । अतएव ज्ञानयोगके अध्यायोंमें भी इसको साधनके रूपमें अनन्य भक्तियोग यानी भेदोपासनाका उल्लेख मिलता है । अर्जुनके पूछनेपर गुणातीतके उपायमें भक्तिका साधन भगवान्ने बतलाया, अतः ज्ञानयोगके श्रवणोंको भी ज्ञानयोगकी सिद्धि होनेके लिये भगवान्की अनन्य भक्ति करनी चाहिये । अनन्य भक्तिसे केवल ज्ञानयोगकी ही सिद्धि नहीं होती, मनुष्य गुणातीत होकर भेदरूपसे सच्चिदानन्दधन ब्रह्मको भी प्राप्त कर सकता है ।

पंद्रहवें अध्यायमें तो परम पदकी प्राप्ति के लिये भगवान्की भक्तिको मुख्य बतलाया है । इस अध्यायके चौथे श्लोकमें—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये

यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

‘जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विचारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ ।’

—इस प्रकार साधकको उपासना करनेके लिये कहा गया है एवं आगे उन समग्ररूप पुरुषोत्तम भगवान्का और भी विशद प्रभाव बतलाकर नित्य-निरन्तर सब प्रकारसे उनकी उपासना करनेके लिये कहा गया है । भगवान्ने कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

‘हे भारत ! जो ज्ञानी पुरुष भुक्तको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर भुक्त वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।’

इससे यह सिद्ध हुआ कि जो भगवान्को पुरुषोत्तम समझता है, उसकी यह कसौटी है कि वह फिर सब प्रकारसे भगवान्को ही भजता है । अतएव हमलोगोंको ‘भगवान्से बढ़कर कोई नहीं है’—यह बात तत्त्वसे समझनी चाहिये ।

सोलहवें अध्यायमें प्रधानतासे भक्तिका वर्णन नहीं है, फिर भी गीताके नवें अध्यायके १३वें श्लोकमें जो यह बताया गया था कि दैवीसम्पदावाले महात्माजन भगवान्को अनन्यमनसे भजते हैं, तदनुसार सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें तीन श्लोकोंमें दैवीसम्पदाका वर्णन किया है । इतना ही नहीं, पहले श्लोकमें आये हुए ‘ज्ञानयोगव्यवस्थिति’ शब्दका ‘परमात्माके ध्यानमें निरन्तर दृढ़ स्थिति’ यह अर्थ लिया जा सकता है तथा ‘स्वाध्याय’ शब्द भी भगवत्-प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका और नामके कीर्तनका द्योतक है । इसलिये इन श्लोकोंसे भगवान्की भक्तिका भाव लिया जा सकता है ।

सत्रहवें अध्यायमें २३वें से २७वें श्लोकतक भगवान्के ॐ, तत्, सत्—इन तीन नामोंका कथन किया गया है; और इनका प्रयोग किन-किन विषयोंमें किया जाता है, इसका उल्लेख करते हुए भगवान्के नामका उच्चारण करके ही सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भकी तथा भगवान्के लिये ही कर्मोंके करनेकी बात कहकर भगवान्की भेदोपासनाका ही वर्णन किया है ।

अठारहवें अध्यायमें तो कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञान-योग आदि सभी साधनोंका वर्णन है । ४६वें श्लोकमें अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्को पूजनेसे परम सिद्धिकी प्राप्ति बतायी गयी है तथा ५६वेंमें भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि ‘मेरी शरण होकर जो कर्म करता है, वह मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त होता है ।’ इस प्रकार कहकर स्वयं भगवान् अर्जुनको अपने परायण होनेके लिये आज्ञा देते हैं—

चेतसा सर्वकर्मणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

‘सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धि-रूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ।’

इतना ही नहीं, नवें अध्यायके ३४वें श्लोककी भाँति इस अध्यायके ६५वें श्लोकमें शरणका प्रकार बतलाकर ६६वें श्लोकमें अर्जुनको ‘तू एकमात्र मेरी शरण हो जा’—यह बात स्पष्ट शब्दोंमें भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

‘सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर (समर्पणकर) तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा । मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।’

यह भगवान्का अर्जुनके लिये सर्वोपरि अन्तिम उपदेश है । अतः हमलोगोंको गीताके अठारहवें अध्यायके ६५वें और ६६वें श्लोकोंके अनुसार सब प्रकारसे भगवान्की शरण होना चाहिये । यही सगुण भगवान्की भेद-उपासना है । इसीका नाम भक्तियोग है । अर्जुनके प्रति भगवान्ने गीतामें स्थान-स्थानपर इस अनन्य भक्तिरूप उपासनाका साधन करनेके लिये कहा है ।

अभेदोपासना

ऊपर गीतामें भेदोपासनाका वर्णन बताया गया; अब अभेद-उपासनाका दिग्दर्शन कराया जाता है । यह अभेदोपासना भी बहुत उच्च कोटिकी वस्तु है । भेदोपासना और अभेदोपासना—यह दो प्रकारकी निष्ठा अधिकारी-भेदके अनुसार भगवान्ने गीतामें अलग-अलग बतलायी है । कोई-कोई आचार्य अभेदोपासनाका सभी अध्यायोंमें दिग्दर्शन कराते हैं, किंतु हमारी धारणामें सभी अध्यायोंमें इसका स्पष्ट वर्णन नहीं प्रतीत होता । इस अभेदोपासनाका गीतामें ‘सांख्ययोग’, ‘संन्यास’ और ‘ज्ञानयोग’ के नामसे भी वर्णन किया गया है ।

दूसरे अध्यायके ११वें श्लोकसे ३०वें तक सांख्ययोग-के नामसे इस अद्वैतवादका वर्णन किया गया है । भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

‘असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुष द्वारा देखा गया है ।’

इस श्लोकसे दो पदार्थ माने गये—एक सत्, दूसरा असत् । इस प्रकरणमें देहीको आत्मा तथा नित्य, सकल, अक्रिय, निर्विकार कहा गया है तथा देहको नाशवान् और अन्तवत् । इस प्रकार आत्मा नित्य, अनन्त, निर्विकार होनेसे ‘सत्’ है और देह विनाश-शील, धातुक, अनित्य होनेसे ‘असत्’ है—यही निर्णय किया गया है । यहाँ आत्मा और परमात्माका अलग वर्णन न होनेसे अपर प्रतीत होता है । ज्ञानके सिद्धान्तमें आत्मा और परमात्मा दो पदार्थ नहीं हैं । गीताके अठारहवें अध्यायके २०वें श्लोकमें सात्त्विक ज्ञानका लक्षण बतलाते हुए भगवान्ने यही भाव दिखलाया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

‘जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्ति देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक ज्ञान ।’

तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने बतलाया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया नव ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

‘हे निष्ठाप ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है । उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है ।’

यहाँ जो यह कहा कि ‘सांख्यसिद्धान्तको माननेवालेके लिये ज्ञानयोगके द्वारा इस निष्ठाका पहले वर्णन कर दिया गया’—इस कथनसे दूसरे अध्यायके ११वें से ३०वें तकके श्लोकोंका ही लक्ष्य है । तथा इस अध्यायके १७वें श्लोकमें अभेदरूपसे सच्चिदानन्दधन परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतुल्यश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

‘परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ।’

भाग १०]

एवं २८वें श्लोकमें कहा है—

तत्त्ववितु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

परंतु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत दे है, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ।

यहाँ तत्त्ववेत्ताको अकर्ता बतलाकर ज्ञानयोगका ही ज्ञान किया गया है ।

चौथे अध्यायके २४वें श्लोकमें 'जो भी कुछ है, सब ब्रह्म ही है'—इस भावसे ब्रह्मको उपलक्ष्य करके सबमें बुद्धि करनेके लिये कहा गया है । भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् खुवा आदि भी ब्रह्म है और जल किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है— इस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जाने वाला फल भी ब्रह्म ही है ।

तथा २५वें श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहा गया है—

ब्रह्माप्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मरूप अग्निमें अभेद-रूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं ।'

यहाँ आत्माको परमात्मामें हवन करनेकी बात कहकर यह बात दिखलायी गयी है कि कितने ही सच्चिदानन्दधन परमात्मा-में अपनी आत्माको विलीन करते हैं अर्थात् अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं ।

इस प्रकार यहाँ जीवात्मा और परमात्माकी एकताका ज्ञान किया गया है ।

चौथे अध्यायके ३४वें और ३५वें श्लोकोंमें अभेद-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवान् ज्ञानी महात्माके पास जानेकी प्रेरणा करते हैं—

तद्विद्धि प्रणिधातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

यच्चात्मा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ ।

उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दधन परमात्मामें देखेगा ।'

अतः जो ज्ञानयोगके अधिकारी हैं, जिनकी ज्ञानयोगमें श्रद्धा और रचि है, उन पुरुषोंको ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर ज्ञानयोगका तत्त्व-रहस्य समझकर उसके अनुसार साधन करना चाहिये ।

पाँचवें अध्यायके ८वें, ९वें और १३वें श्लोकोंमें व्यवहारकालमें सांख्ययोगका साधन किस प्रकार करना चाहिये, यह बात बतलानेके लिये तत्त्ववेत्ता सांख्ययोगीके लक्षण बताये गये हैं । तथा १७वें श्लोकमें एकान्त देशमें स्थित होकर ज्ञानयोगी ध्यानावस्थामें किस प्रकारसे उपासना करता है, यह बात बतलायी गयी है । वहाँ मन, बुद्धि और आत्माको सच्चिदानन्दधन ब्रह्ममें तद्रूप करनेके लिये कहकर अपुनरावृत्तिरूप सच्चिदानन्दधनकी प्राप्ति बतायी गयी है—

तद्वृद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दधन परमात्मामें ही जिनको निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं ।'

२४वें श्लोकमें ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित आत्माराम तथा आत्मामें आनन्द और ज्ञानरूप ज्योतिके अनुभव करने-वाले सांख्ययोगीको निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति बतायी गयी है ।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

'जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दधन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी ज्ञान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है ।'

२५ वें और २६ वें श्लोकोंमें भी सच्चिदानन्दधन निर्गुण-

निराकारके साधनसे निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है। पाँचवें अध्यायमें और भी कई जगह निराकारकी उपासनासे परब्रह्मकी प्राप्ति का वर्णन है।

छठे अध्यायके १८वेंसे २६वें श्लोकतक व्यवहारकालमें तथा एकान्तकालमें निर्गुण-निराकारकी अभेद-उपासनाका प्रकरण है। तथा २७-२८वें श्लोकोंमें सच्चिदानन्दधन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित ज्ञानयोगी पुरुषको अनायास ही अनन्त आनन्दरूप परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति का उल्लेख है। इसका साधन बताते हुए २९वेंमें उस समदर्शी योग-युक्तात्मा पुरुषके लिये सारे भूतोंको अपने आत्माके अंदर संकल्पके आधार तथा सारे भूतोंमें अपने आत्माको बर्णनमें जलके सदृश व्यापक देखनेको कहा गया है।

सातवें अध्यायसे बारहवेंतक तो भेदोपासनाकी प्रधानता है। इन अध्यायोंमें अभेदोपासनाविषयक श्लोक बहुत ही कम हैं, फिर भी जैसे सातवें अध्यायके १९वें श्लोकमें 'जो कुछ है सो परमात्माका ही स्वरूप है'—इस रूपमें अभेदोपासनाका साधन लिया जा सकता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

आठवें अध्यायमें सबका अभाव होनेपर भी सच्चिदानन्द परब्रह्मका अभाव नहीं होता, इस रूपमें अभेदका वर्णन है।

परस्तस्मात् भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

'उस अव्यक्तसे भी- अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।'

नवें अध्यायके १५वें श्लोकमें ज्ञानयज्ञके नामसे एकीभावसे अभेद-उपासनाका भी वर्णन किया गया है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

'दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना

करते हैं, और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ निर-स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते हैं।'

दसवें अध्यायमें विभूतिका प्रकरण समाप्त करते हुए ३९वें श्लोकमें भगवान्ने बतलाया है कि 'मुझ परमात्माके लिए अन्य चर-अचर कोई भी पदार्थ नहीं है यानी सब कुछ मे ही स्वरूप है'—इस रूपमें अभेदकी झलक है।

इसी प्रकार ग्यारहवें अध्यायमें स्तुति करते हुए अर्जुन ३७वें श्लोकमें कहते हैं कि 'सत्, असत् और इमे परे जो कुछ है सो आप ही हैं' तथा ४०वेंमें भी 'हे स्वर्ग परमात्मन्! आप सारे संसारको व्याप्त किये हुए हैं, सब कुछ आप ही हैं।' अर्जुनकी इस स्तुतिमें 'सब कुछ आप ही हैं' इस प्रकारके भावसे भी अभेदकी झलक है किंतु स्पष्टरूपसे अभेदोपासनाका वर्णन नहीं है।

बारहवें अध्यायके तीसरे, चौथे श्लोकोंमें निर्गुण-निष्कल सच्चिदानन्दधन ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करके उसकी अनेक उपासनासे परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है। तथा पान्चदेहाभिमानियोंके लिये अभेद-उपासनाके द्वारा उस निर्गुण निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति को कठिन बतलाया गया है।

तेरहवें अध्यायमें सांख्ययोग यानी ज्ञानयोगका वर्णन विशेषरूपसे आया है; ११वें श्लोकमें 'अध्यात्मज्ञाननिराकार' अर्थात् 'अध्यात्म-ज्ञानमें नित्य स्थिति'से अभेद-उपासना साधन बतलाकर १२वेंमें—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

अर्थात् 'वह अनादिवाला परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही,' इससे उस अकथनीयस्वरूप निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका कथन किया गया है। १५वेंमें कहा गया है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

'वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाह्य-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी वही है।'

इस प्रकार यहाँ सर्वरूपसे अभेद-उपासनाका वर्णन है। १६वेंमें—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

'वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त सा स्थित प्रतीत होता है।'

—इस कथनसे घटाकाश और महाकाशी की

जीवात्मा तथा परमात्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है।

[भाग १०]

तथा २७वें श्लोकमें 'सारे भूतोंके नाश होनेपर भी उस परमात्माका नाश नहीं होता' इस कथनसे यह भाव व्यक्त किया गया है कि 'सबके अभाव होनेपर भी एक सच्चिदानन्दधन परब्रह्म परमात्मा रह जाता है' इस प्रकार यहाँ अभेद-उपासनाका दिग्दर्शन कराया गया है। भगवान् कहते हैं—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नष्टरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है ।'

२८वेंमें समभावसे देखनेका फल, २९वेंमें आत्माको अकर्ता देखनेवालेकी महिमा, ३०वेंमें परमात्मा ही इस सम्पूर्ण जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं यानी जो कुछ है सो ब्रह्म ही है—यह बतलाकर इस प्रकारके साधनका फल ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका स्वरूप जान लेता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दधन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।'

इसी प्रकार इस अध्यायके अन्य श्लोकोंमें भी निर्गुण-विशेषकार ब्रह्मकी अभेदोपासनाका वर्णन है। अन्तिम ३१वें श्लोकमें उपर्युक्त साधनका वर्णन करते हुए उसका फल अभेदरूपसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है।

चौदहवें अध्यायके प्रारम्भमें ही प्रथम श्लोकमें ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके उसके जाननेका फल परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धि बतलाया गया है। तथा १९वें श्लोकमें आत्माको द्रष्टा-साक्षी कहकर गुणोंसे रहित उस परमात्माको तत्त्वसे जाननेका फल परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति बताया गया है। यह उपासना सच्चिदानन्दधन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर व्यवहारकालमें की जाती है। एवं २०वें श्लोकमें इसीका फल 'अमृत'के नामसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति बताया गया है।

पंद्रहवें अध्यायके १०वें श्लोकमें जो बताया गया कि 'ज्ञानीजन ज्ञानचक्षुसे इस आत्माका साक्षात्कार करते हैं' इससे यहाँ अभेदभावसे आत्माके साक्षात्कारका लक्ष्य है।

सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' का अर्थ भक्तिकी दृष्टिसे 'परमात्माके ध्यानमें दृढ़ स्थिति' ऐसा लिया है, किंतु वहाँ 'ज्ञानयोग' शब्द होनेके कारण अभेदकी दृष्टिसे 'ज्ञानयोग' यानी सांख्ययोगमें दृढ़ स्थिति' ऐसा अर्थ भी ले सकते हैं। वास्तवमें सोलहवें अध्यायका प्रकरण प्रधानतया भेद या अभेद किसी उपासनाके लक्ष्यसे नहीं है। वहाँ तीन श्लोकोंमें धारण करनेके लिये दैवी सम्पदाका विस्तारसे वर्णन है तथा चौथेमें आसुरी सम्पदा त्याग करनेके उद्देश्यसे संक्षेपमें कही गयी है। इस विषयमें ५वें श्लोकमें भगवान्ने कहा है—

दैवी संपद्धिमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥

'दैवीसम्पदा' मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है ।'

इसके बाद छठे श्लोकसे २१वेंतक आसुरी सम्पदाका विस्तारसे वर्णन किया है।

सतरहवें अध्यायमें प्रधानतया श्रद्धाका ही प्रकरण है, इसलिये वहाँ अभेद-उपासनाका वर्णन प्रतीत नहीं होता। अठारहवें अध्यायमें अभेदोपासनाका विस्तारसे वर्णन है। इसमें १३वेंसे लेकर ४०वें श्लोकतक सांख्ययोगकी दृष्टिसे कर्मोंके हेतुओंका और आत्माके अकर्तापनका तथा ज्ञान, कर्म, कर्ता आदिके सात्त्विक, राजस, तामस भेदोंका प्रतिपादन किया गया है। जिसमें १६वेंमें शुद्ध आत्माको कर्ता माननेवालेकी निन्दा करके १७वेंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषको निर्दोष बतलाया गया है और २०वें श्लोकमें आत्मा और परमात्माकी एकताका वर्णन है। २३वें और २६वेंमें सात्त्विक कर्म और सात्त्विक कर्ताका लक्षण करते हुए ज्ञानयोगके साधकमें कर्तापनके अभिमानका अभाव दिखलाया गया है।

इसी अध्यायके ४९वें श्लोकमें 'संन्यास'के नामसे सांख्ययोगके साधनद्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धिरूप परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन किया गया है। तथा ५०वेंमें किस प्रकार अभेदरूपसे उपासना करनेसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होती है, इसका 'ज्ञानकी परानिष्ठा' के नामसे वर्णन करके ५१वेंसे ५५वें तक उस ज्ञानकी परानिष्ठाका संक्षेपमें

किंतु स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है। यहाँ सांख्ययोगकी दृष्टिसे सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभेदोपासनाका वर्णन है। भगवान् कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लब्धाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दुर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मङ्गक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है। फिर वह सच्चिदानन्दधन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें संभाववाला योगी मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है। उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ,—ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है, तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

ऊपर गीतोक्त भेद और अभेद उपासनाका जो वर्णन किया है, उससे पाठकोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि

ये दोनों प्रकारकी निश्चाँ अधिकारी-भेदसे बतलाये गये हैं (गीता ३।३)। ये दोनों ही श्रेष्ठ हैं; अन्तःकरण फल दोनोंका एक ही है (गीता ५।४-५ तथा १३।२४) और वह फल अनिर्वचनीय है। उसे इयत्ता को किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। जो उसे प्राप्त होता है, वह भी वाणीके द्वारा उसे नहीं बता सकता; क्योंकि वह अनुभवरूप है। जिसकी श्रद्धा-भक्तिभावमें है, वह भेद-उपासनाका अधिकारी है तथा जिसकी श्रद्धा-रुचि ज्ञानमार्गमें है, वह अभेद-उपासनाका अधिकारी है।

जिस उपासनामें साधककालमें भेद और फलमें भेद है, वह वास्तवमें अभेद-उपासना ही है, (जैसे गीता १४।२६)। जो साधनमें अभेद है और फलमें भी अभेद है, तो सांख्ययोगका साधन है ही (जैसे गीता ४।३५)। परंतु जो साधनमें भेद है और फलमें भी भेद है, वह भेदोपासना है (जैसे गीता १८।६५-६६)। कहीं कालमें भेद-उपासना है किंतु उसका फल भेद और अन्तःकरण दोनों बतलाया गया है; जैसे ग्यारहवें अध्यायके ५४वें श्लोकके अनन्य भक्तिका फल भगवान्के दर्शन, ज्ञान और अन्तःकरण रूपसे परमात्माकी प्राप्ति भी बतलाया गया है। अतः दूसरी विचार करनेपर उपासनाका विषय गीतामें सभी प्रकार मिलता है—कहीं ज्ञानप्रधान भक्ति (१३।१०) और कहीं भक्तिप्रधान ज्ञान (६।३१) तथा कहीं भक्ति (१२।६-७) एवं कहीं केवल ज्ञान (६।२८, २९)।

इसलिये जिस साधककी जिस उपासनामें श्रद्धा हो, उसे लिये वही सर्वोत्तम है। उसीको तत्परताके साथ करना चाहिये। कोई भी साधन हो, सभीमें परमात्माके ज्ञान जप और स्वरूपका ध्यान अवश्य रहना चाहिये। वह श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर होना चाहिये। इस प्रकार होनेसे परमात्माकी प्राप्ति सुगम और हो सकती है।

शास्त्र-वाणी

अभक्तस्पर्शमात्रेण तीर्थानि कम्पितानि च ।

अभक्तभारदुःखेन कम्पिता सा वसुन्धरा ॥

‘अभक्तके स्पर्शमात्रसे तीर्थ काँप जाते हैं, पृथ्वी भी अभक्तके भार-दुःखसे काँपती रहती है।’

मुक्ति-विवेचन

(लेखक—स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

मुक्तिका विवेचन करनेके समय पहले मुक्तिके

श्रुति भी कहती है—

यथोदके शुद्धे शुद्धमासिकं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥

यानी जिस प्रकार स्वच्छ जलमें डालनेपर स्वच्छ जल उसमें एक रूप हो जाता है, उसी प्रकार जितने आत्मसाक्षात्कार किया है, ऐसा मुनि परमात्मरूप हो जाता है ।

अब यह तद्रूपता कैसे होती है, इसे दृष्टान्तोंके द्वारा समझना चाहिये । श्रीशङ्कराचार्यने जलमें जल मिल जानेका दृष्टान्त दिया है और श्रुतिने भी वही दृष्टान्त दिया है, इसलिये देखना है कि यह कैसे होता है ।

इस सम्बन्धमें अधिक विचार करनेके पहले 'परमात्माका स्वरूप क्या है ?' यह जानना जरूरी है । भगवान्ने गीताके तेरहवें अध्यायमें समझाते हुए कहा है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

भाव यह है कि इस जगत्के प्राणी-पदार्थ सब पृथक्-पृथक् हैं, इनको लेकर इनमें व्याप्त परमात्मा भी मानो (विभक्तमिव) पृथक्-पृथक्-सा जान पड़ता है । यानी जितने प्राणी हैं, उतने ही परमात्माके अंश करके प्रत्येकमें एक-एक अंश दिया हुआ भास्ति होता है । पर ऐसी बात नहीं है । यह भगवान् कहते हैं और विशेषरूपसे बतलाते हैं कि परमात्माका स्वरूप तो अविभक्त है, वह अखण्ड ही रहता है, उसका विभाग नहीं हो सकता । शास्त्रीय भाषणमें कहें तो परमात्माका स्वरूप सावयव नहीं है, यानी उसके भाग किये जा सकें ऐसा नहीं है, वह निरवयव यानी अविभाज्य है ।

साधनका विचार करना चाहिये । सभी साधनोंका उद्देश्य होता है—अन्तःकरणको शुद्ध करना । चाहे जो साधन हो, उसकी चरितार्थता तो अन्तःकरणकी शुद्धिमें ही है । मलिन अन्तःकरणमें यानी वासनाओंसे घिरे हुए अन्तःकरणमें न तो भक्तको भगवान्का दर्शन होता है और न ज्ञानीको आत्मदर्शन ही । इसलिये मुक्तिकी प्राप्ति के लिये मुख्य साधन अन्तःकरणकी शुद्धि है । अन्तःकरणकी शुद्धिका साधन है—विवेकपूर्वक वैराग्य । इसलिये जिसको जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना है, उसे किसी भी तरहसे विवेकके द्वारा वैराग्य प्राप्तकर अन्तःकरणको शुद्ध कर लेना चाहिये ।

अब मुक्तिके स्वरूपपर विचार कीजिये । मुक्ति ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसे एक सिद्ध पुरुष को अनुयायीको प्रदान कर सके, अथवा एक गुरु को प्रीतिपात्र शिष्यको दे सके । मुक्ति तो एक स्थिति है और उसे साधकको अपने प्रयत्नके द्वारा प्राप्त करना पड़ता है । गुरु मार्ग दिखलाता है, पर उस मार्गपर चलना तो होगा साधकको ही ।

मुक्ति कैसे होती है, यह बतलाते हुए श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

गणधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेषं विशेषमुनिः ।

जले जलं वियद् व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा ॥

यानी शरीररूपी उपाधिका नाश होनेसे मुनि विष्णुमें मिल जाता है । दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार जलमें जल मिल जाता है, विसर्प आकाशमें लीन हो जाती है और जिस प्रकार तेज तेजमें मिल जाता है, उसी प्रकार आत्मा परमात्मामें लीन हो जाता है ।

परमात्माका स्वरूप अविभक्त है, फिर भी वह विभक्त-सा क्यों दीख पड़ता है, इसे समझनेके लिये एक दृष्टान्त देखिये। एक बड़ा भगौना (टोपिया) लो, उसमें चार-पाँच छोटे-छोटे कटोरे सीधे रख दो और भगौनेको पानीसे भर दो। अब तुम जानते हो कि भगौनेमें एक ही पानी है, फिर भी प्रत्येक कटोरेमें वह पृथक्-पृथक् है। व्यवहारमें बोलते समय बड़े कटोरेका पानी और छोटे कटोरेका पानी कह सकते हो। इस दृष्टान्तमें जिस प्रकार पानीके टुकड़े या विभाग न होनेपर भी वह अलग-अलग कटोरेमें अलग-अलग भरा हुआ-सा दिखायी देता है; पर वह रहता है अखण्ड ही। इसी प्रकार परमात्मा पृथक्-पृथक् भूतोंमें पृथक्-पृथक्-सा दीख पड़ता है, पर है एक, अखण्ड तथा अविभाज्य ही।

अब जल तो सावयव पदार्थ है, उसके भाग हो सकते हैं। भगौनेमेंसे पानीसे भरे सब कटोरोंको बाहर निकाल लिया जाय तो उनका पानी अलग-अलग हो जायगा। जबतक कटोरे भगौनेमें थे, तबतक पानी अखण्डरूपमें रहते हुए ही कटोरोंमें भी भरा था; लेकिन पानीसे भरे कटोरे बाहर निकालनेपर पानीका विभाग हो गया। अब भगौनेको खाली करके एक कटोरेका पानी उसमें डालो, और फिर दूसरेका डालो, इस प्रकार करनेपर दोनों पानी एक हो जायगा, यह प्रस्तुत दृष्टान्तमें कहा गया।

परंतु आत्मा-परमात्माके विषयमें ऐसा नहीं बनता। परमात्मा तो अखण्ड है और शरीरमें वह आत्मा नामसे पुकारा जाता है। आत्मा और परमात्मा शब्द दो हैं, परंतु वे दोनों एक ही चेतनके उपाधि-भेदसे दो अलग-अलग नाम हैं। यानी जिस प्रकार पानी पानीमें मिल जाता है, वैसे आत्मा कभी परमात्मामें मिलता नहीं। पानी तो सावयव पदार्थ होनेके कारण अलग-अलग पात्रोंमें तथा अलग-अलग स्थलोंमें रह

सकता है, परंतु परमात्मा सर्वव्यापक और अखण्ड होनेके कारण विभक्त ही नहीं हो सकता, निमिलनेकी तो बात कहाँसे होती।

अब दूसरा दृष्टान्त देखिये। उसमें कहा है कि 'बिजली जिस प्रकार आकाशमें लीन हो जाती है उसी प्रकार.....' बिजली कैसे पैदा होती है यह हम जानते हैं। पानीसे भरे हुए दो बादल जब जोरसे टकराते हैं, तब उनके संघर्षणसे बिजली उत्पन्न होती है। आकाश कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें बिजली लीन हो सके। आकाश तो केवल खाली जगहको कहते हैं, दूसरे चारों भूतोंको अवकाश देता है। इसीसे ऊपर पञ्चमहाभूतोंमें गणना होती है। बिजली तो एक तेज है, जिसके बारेमें कहा जा सकता है कि 'किं तेजस्वरूपमें' प्रकट होकर अपने सामान्य स्वरूपमें लीन हो जाती है।

इसी प्रकार तेजमें तेज मिलनेकी बात कही जा सकती है। तेजमें तेज मिलता है तो बहुधा दोनों तेज अलग दिखलायी देते हैं। एक बिजलीका लैम्प जलता हो और वहाँ एक घीका दीप जलायें तो दोनों तेज अलग-अलग दिखलायी देंगे और दोनोंकी अलग-अलग परछाई भी पड़ेगी। अथवा यह भी कह सकते हैं कि तेज मानो विशेषरूपमें दिखलायी देकर अपने सामान्यस्वरूपमें लीन हो जाता है।

साधारण रीतिसे समझने-समझानेके लिये दृष्टान्त बहुत ही अच्छा और पूरा तथा बहुत उपयोगी भी है।

अब यह देखना रह गया कि आत्मा और परमात्मा का मिलन कैसे होता है। जिस प्रकार परमात्मा स्वरूप अखण्ड और अविभाज्य है, उसी प्रकार आकाशका भी स्वरूप है। और इस कारण आकाशमें बिजली मिलती है। परंतु हमें समझनेके लिये सूक्ष्मबुद्धि चाहिये।

संख्या १०]

एक ही आकाश घटकी उपाधि लेकर घटाकाश, मूठकी उपाधि लेकर मूठाकाश, गाँवकी उपाधि लेकर ग्रामाकाश तथा उपाधिरहित होकर महाकाशकी संज्ञाको प्राप्त होता है। अब समझनेकी बात यह है कि जहाँ घट है, वहाँ भी 'घटाकाश' महाकाशरूप ही है, क्योंकि घटको एक जगहसे दूसरी जगह ले जानेमें आकाश नहीं फिरता, घट ही फिरता है। केवल उपाधिके कारण 'घटाकाश' एक अलग नाम पड़ जाता है। घटके फूट जानेपर घटाकाश महाकाशमें मिल नहीं जाता, वह तो महाकाशरूप ही था। उपाधिके नाश होनेसे केवल उस घटाकाश-संज्ञाका नाश हो गया। घटाकाश तो महाकाशरूप था ही, वह उपाधि दूर होनेसे महाकाशरूप हो गया, यह केवल कथन-मात्र है।

इसी तरह जबतक शरीर है, तबतक 'आत्मा' संज्ञा बनी रहती है। ज्ञान होनेके बाद आत्मा जब अपने यथार्थ स्वरूपको जान लेता है, तब अपने परमात्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है, ऐसा केवल कहा जाता है। आत्मा शरीरकी उपाधि थी, उस समय भी वह परमात्मा ही था, परंतु उपाधिके कारण उसकी 'आत्मा' संज्ञा थी। ज्ञान होनेके बाद जब उपाधिका आवरण दूर हो गया, तब उस संज्ञाका नाश हो गया और आत्मा अपने परमात्म-स्वरूपको प्राप्त हो गया। यह भी केवल कहनेभरके लिये है। यथार्थमें परमात्मा ही परमात्मरूपमें दिखलायी देता है।

एक दिन इस बातको समझानेका प्रसंग चल रहा था। एक साधकने शङ्का की कि 'घटके फूट जानेके बाद जैसे घटाकाश महाकाशरूपमें ही रह जाता है, वैसे ही मनुष्यकी भी शरीरकी उपाधि नष्ट हो जानेके बाद वह परमात्मरूपमें क्यों नहीं रहता ?' इसका उत्तर यह है कि घटाकाशको केवल एक घटकी उपाधि

ही रहती है, पर आत्माको एक ही साथ तीन-तीन उपाधि लगी रहती है—स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर। मनुष्य जब मरता है, तब स्थूलशरीरकी उपाधि जरूर नष्ट हो जाती है, परंतु सूक्ष्म और कारण शरीरकी उपाधि नष्ट नहीं होती। इसीलिये केवल स्थूलशरीरके नष्ट होनेपर जीवकी मुक्ति नहीं होती।

इस सिद्धान्तके समर्थनमें श्रुति कहती है—'विमुक्तश्च विमुच्यते।' परमात्मस्वरूप यानी मुक्त आत्माको बन्धनका भ्रम हो गया था। ज्ञानके द्वारा उस भ्रमकी निवृत्ति होते ही परमात्मस्वरूप आत्मा फिर परमात्मस्वरूप बनता है। भ्रमकालमें आत्मा किसी पृथक् स्वरूपको प्राप्त हो गया था, ऐसी बात नहीं है। बल्कि वह केवल भ्रमसे अपनेको बद्ध मानता था। बन्धन कोई सच्चा नहीं था, अज्ञानके कारण कल्पित बन्धन था। ज्ञान होते ही वह अज्ञान नष्ट हो गया। इसलिये बन्धनका भ्रम दूर होते ही वह अपने मूल परमात्मस्वरूपको प्राप्त हो गया, ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः किसी नवीन स्वरूपकी प्राप्ति हुई नहीं।

कुछ विद्वान् 'विमुक्तश्च विमुच्यते' का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'विशेष मुक्त हुआ विशेष मुक्त होता है, यानी जीवनावस्थामें ही कामादिके दृढ़ बन्धनसे विशेष मुक्त हुआ पुरुष देहपातके अनन्तर भावी बन्धनसे विशेष मुक्त हो जाता है।' यह अर्थ आत्माके स्वरूपका विचार करनेसे ठीक नहीं बैठता। कामादिका दृढ़ बन्धन तो मन और बुद्धिको होता है। आत्माको उनका बन्धन नहीं होता। और देहपातके बाद ही भावी बन्धनसे मुक्त हुआ जाता है, ऐसा भी कोई नियम देखनेमें नहीं आता। देहपातके बाद ही भावी बन्धनसे मुक्त हुआ जाता तो शास्त्रोंमें जीवमुक्त-दशाका जो वर्णन मिलता है, वह नहीं होना चाहिये

था । आत्मज्ञानी पुरुष तो 'ज्ञानसमकालमुक्त' होता है, यानी ज्ञान होनेके साथ ही मुक्त हो जाता है, वर्तमान शरीरके बन्धनसे तथा भावी शरीरके बन्धनसे एक ही साथ मुक्त हो जाता है ।

जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति एक ही मुक्ति है नाम हैं और यह बतलानेके लिये हैं कि मुक्तपुरुष शरीर अब प्रारब्धवश जीता है या नहीं । दूसरा भेद नहीं है ।

षट्सम्पत्ति और उनकी उपयोगिता

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

विवेक और वैराग्यके साथ ही छः दैवी सम्पत्ति भी दुःख-निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिमें सहायक हैं । इनसे चित्त शुद्ध होता है । पहली सम्पत्ति 'शम' है । वैराग्य दृढ़ होनेपर चित्तकी चञ्चलता दूर होती है, अचञ्चल चित्तके सत्य-लक्ष्यमें स्थिर होनेपर शमका उदय होता है । सुखके लोभवश ही अनेक पदार्थोंमें चित्तका सम्बन्ध रहता है । चित्त उन्हींका चिन्तन करता रहता है । चित्तकी चञ्चलतासे बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती है । चित्तके शम, शान्त हुए बिना साधक अपना सत्य-लक्ष्य नहीं देख सकता । भोगी व्यक्ति संसारमें सदा अनेकका चिन्तन करता है, पर सत्यात्मा योगी सदा एकका चिन्तन करता है । अनेकके चिन्तनसे अशान्ति और एकके चिन्तनसे शान्ति मिलती है । विवेकी और वैराग्यवान् ही अनेकके परे एकको जानता है, उसीके चिन्तनमें व्यस्त रहता है । एकमें चित्तका स्थिर रहना शम है, अनेकमें चित्तका चञ्चल रहना विषमता है । निरन्तर आनन्दकारी विचारोंमें ही व्यस्त रहनेसे, पवित्रका ही चिन्तन करनेसे शमकी सिद्धि होती है । शमकी पूर्णतामें संकल्प शान्त हो जाते हैं, संकल्पहीनतासे समस्त सिद्धि मिलती है । साधकको सिद्धिका भोग न करनेपर परमात्माका योगानुभव होता है ।

दूसरी दिव्य सम्पत्ति 'दम' है । इन्द्रियोंको विषय-

पथमें न जाने देकर रोक रखना दम कहलाता है । शमकी दृढ़ता दमसे होती है । दमसे मानसिक प्रवृत्तिका नाश होता है । दमके बिना मन फीक रहता है; विषाद, उदासी और दुर्बलता बढ़ती है । भोगासक्तिका दुष्परिणाम है । मनपर स्वाधिपत्य होनेसे साधक अपने-आपमें आशातीत शक्तिका अनुभव करता है । संकल्पसे कामनाका सम्बन्ध हो जानेपर उसे मनको छुड़ाना अत्यन्त कठिन हो जाता है, इन्द्रियोंको नियन्त्रण भी उस समय सुगम नहीं रह जाता है और इन्द्रियोंको स्ववश किये बिना योगाभ्यास सिद्ध नहीं हो सकता । पदार्थों और विषयोंकी आसक्तिके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये अन्तःकरणपर अधिकार पाना अत्यन्त आवश्यक है, दृढ़ संयम ही इस दिशामें सहायक होता है । मनोवृत्तियोंके पीछे संयमकी लगाम ढीली काट दी जाती है । किसी भी स्थितिमें उपादेय नहीं है । समय और शक्ति पर कड़ी दृष्टिसे हिसाब रखना चाहिये । सदगुरु परमात्मा सद्भावनाओं और सद्व्यवहारोंसे दृढ़ पुरुषको निर्माण होता है । दुराचरणमें प्रयुक्त शक्तिका सदुपयोग करना ही सदाचारी बनना है । एक क्षेत्रपर केन्द्रित शक्ति ही सामर्थ्य है, उसको सदाचारमें चरितार्थ करना बुद्धिमत्ता है । इसी नियमसे दुष्ट व्यक्ति सज्जन बन जाता है । दमके बलसे मानव अपनी प्रवृत्तिमें दुराचारोंको सदाचारमें बदल देता है । जिस शक्ति

संख्या १०]

दुरुपयोग विवेकहीन मनुष्य सांसारिक भोग-सुखमें करता है, उसीके सदुपयोगसे विवेकी पुरुष सत्य-परमात्माका योग प्राप्त करता है। दमके द्वारा ही साधकको कल्पनातीत दैवी प्रकाश प्राप्त होता है। बुद्धि स्थिर हो जाती है। भोगासक्तिके त्याग बिना हजारों-लाखों उपाय करनेपर भी शान्ति नहीं मिलती।

तीसरी सम्पत्ति तितिक्षा है। प्रारब्धवश या प्रकृति-नियमसे आनेवाले सभी प्रकारके दुर्द्वोंको धैर्यपूर्वक सहना तितिक्षा है। जिस व्यक्तिमें सहिष्णुता नहीं है, वह दुर्बल है, सत्य-योगके पथपर नहीं चल सकता। दुर्द्व-सहिष्णुतासे शक्तिसम्पन्नता आती है। अनुकूल तथा प्रतिकूलकी प्राप्तिमें होनेवाले शोकादि विकारोंसे शक्तिका बहुत अधिक अपव्यय होता है, इसलिये प्रत्येक दुर्द्व-को विवेक-वैराग्यके बलपर धैर्यपूर्वक तपकी भावना लेकर सहना चाहिये। यही तितिक्षा है।

सर्द-गरमी और वर्षाके वेगोंको शरीरद्वारा सहना शारीरिक तितिक्षा है, इससे शरीरमें श्रम करनेकी शक्ति बढ़ती है, बाह्य वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं रहती, थोड़ेमें ही जीवन निबह जाता है। काम, क्रोध, मोह और लोभके वेगोंमें समस्थिर रहना मानसिक तितिक्षा है। इससे उच्च संकल्पोंकी पूर्ति करानेवाली मानसिक शक्ति बढ़ती है। जहाँ भोगेच्छाओंकी पूर्तिसे शक्तिका हास होता है, दुर्बलता बढ़ती है, वहीं तितिक्षासे शक्ति-विकास होता है। सबलता आती है। शक्तिसे सबल होनेपर ही साधक परमार्थकी सिद्धि देख सकता है। तितिक्षासे देहासक्ति—भोगासक्ति मिटती है। इस तरहकी आसक्ति ही आत्मसाक्षात्कारमें बाधक है। तितिक्षासे मानव स्वतन्त्र और निश्चिन्त होता है।

चौथी सम्पत्ति उपरति है। इन्द्रिय-दमन होनेपर मनकी वृत्तिका बाह्य विषयाकार न बनना ही उपरति है। उपरति दृढ़ होनेपर मनोवृत्ति अन्तर्मुखी होती है।

बहिर्मुखी वृत्ति योगसिद्धिमें अत्यन्त बाधक है। इसीलिये विषय-वृत्तिसे उपरत होना अत्यन्त आवश्यक है। उपरतिकी दृढ़ताके लिये उन जागतिक दृश्योंमें दोष-दर्शन करना होता है, जिनसे मनकी वृत्तियाँ सम्बद्ध रहती हैं। इसके साथ-ही-साथ तत्क्षण अपने अन्तरमें कोई-न-कोई आदर्श आधार निश्चित करना पड़ता है, जिसके सहारे बहिर्मुखी वृत्ति अन्तर्मुखी रखी जा सके। अपने भीतर जब साधकको साधनाभ्यास-का रस मिलता है, तब उपरति दृढ़ होती है। धारणा तथा ध्यानमें स्थिर होनेके लिये उपरति परम सहायक होती है। उपरति परिपक्व होनेपर ही मन दृश्यके प्रभावसे मुक्त होता है। उपरतिका दूसरा अर्थ है जीवनाधार, आत्माके प्रति मनकी रति। अनित्य सुखोंकी अपेक्षा नित्य-शान्त तत्त्वके प्रति प्रीतिकी दृढ़ता ही उपरति है। विषयकी अपेक्षा आत्मयोगमें रति होना उपरतिकी सार्थकता है।

पाँचवीं सम्पत्ति श्रद्धा है। शास्त्र और गुरुवाक्यमें अटल विश्वास तथा उनके प्रति सद्बुद्धि रखना ही श्रद्धा है। श्रद्धाके बिना ज्ञान नहीं होता, वह मानवकी अन्तर्दृष्टि खोल देती है। श्रद्धाके बिना गुरुतत्त्वका दर्शन नहीं हो सकता। श्रद्धा-प्रेममय विचारोंमें ही वह शक्ति है जिससे अपने लिये परमानन्दका दिव्य द्वार खोला जा सकता है। कहींपर हताश न होना चाहिये। साधकके निरुत्साह और उदासीन हो जानेपर सद्गुरुके कृपा-बलके आगे आवरण आ जाता है। हताश, निराश और चिन्तित होनेमें सद्गुरु सहायता नहीं कर पाते हैं। यदि कोई अपनी चिन्तामें अधिक व्यस्त रहता है तो वह अपना ही ध्यान, चिन्तन करता है—न कि अपने आराध्यदेवका; इसीसे आराध्यदेवके मध्यमें चिन्ता आवरण बन जाती है। किसी भी परिस्थितिमें ऊपरी कठोरता और भयानकतामें भयभीत नहीं होना चाहिये। कष्टोंके काले-से-काले मेघके पीछे पूर्ण

प्रकाशमय एकरस परमसत्ता सूर्यकी भाँति सदा ही विद्यमान है। संसारके समस्त धर्मोंका प्राण श्रद्धा ही है। श्रद्धाके आधारपर धर्मका महत्त्व दर्शित होता है। श्रद्धा हृदयकी दृष्टि है, श्रद्धालु पुरुषको बहुत सुन्दर शान्ति मिलती है। श्रद्धाके द्वारा ही अन्तर्भावों और सद्गुणोंका सुन्दर विकास होता है। ज्ञान-प्रकाशमें उनकी सद्पयोगिता सिद्ध होती है। जहाँ साधारण व्यक्ति एक पुरुषके नाम-रूपको देखता है, वहीं एक श्रद्धालु व्यक्ति उस पुरुषको देखकर नतमस्तक होकर प्रणाम करता है। उसका प्रणाम केवल बाह्य नाम-रूपके प्रति ही नहीं होता, अपितु श्रद्धा-दृष्टिसे दीखनेवाले उच्चतम ज्ञान तथा सद्गुणों और सद्भावोंके प्रति होता है। श्रद्धालु व्यक्ति किसी महात्मामें ईश्वरीय विभूतिको अनुभव करते हुए— उसीके लिये अपना मस्तक नत करता है और कभी-न-कभी अपने-आपको भी दैवी ज्ञान तथा गुणोंसे सुसज्जित देखता है। जहाँ श्रद्धा प्रबल होती है वहाँ अहंकार श्रद्धास्पदके आगे अभिमानशून्य होता है। श्रद्धामें संशय भयानक दोष है। संशय विनाशका कारण है। मनकी चञ्चलतामें संशय परिपुष्ट होता है, एकाग्रतामें

क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। राग तथा द्वेषसे मनुष्य चञ्चलता बढ़ती है, सुखकी कामना संसारमें नष्ट होती है। ज्ञानी सत्पुरुषके संगसे सद्बिवेक होनेपर सत्पुरुष सुखके बन्धनसे छूट पाता है। श्रद्धालु पुरुष सद्बिवेकी होता है।

साधककी अभीष्ट-सिद्धिके लिये छोटी सम्पत्ति समाधान है। बुद्धिका स्थायीरूपसे परमात्मामें स्थिर हो जाना समाधान है। समाधान होना ही साधकका श्रेष्ठ फल है। वास्तविक ज्ञानका परिचय है। खोजका अन्तिम विश्राम-स्थल है। सत्योपासना अथवा भक्तिके लिये प्रवेश-मुहूर्त है। समाधान होनेपर ही सत्य-लक्ष्यमें विवेकदृष्टि स्थिर होती है। लक्ष्यको स्थिर होकर देखने रहनेसे ही साधक संसारमें भ्रमित होने तथा भूलने से बच सकता है। परमानन्दस्वरूप परमात्मा ही प्राप्ति-मात्रके लिये सत्य-लक्ष्य हैं। उनके योगानुभव किसीको कहीं भी परम शान्ति मिले ही नहीं सकती। इसलिये परमात्माको बुद्धियुक्त होकर देखते रहनेके लिये समाधान अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्र और गुरुके सेवक तथा संशयरहित ज्ञानसे स्थिर समाधान प्राप्त होता है। बिना इसके सत्य-लक्ष्यमें बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती है।

साधु-स्वभाव

दयालुवो महान्तो हि स्वभावादेव साधवः ।

साधूनां समचित्तानां तथा भूतदयावताम् । न च हीनोत्तमः कापि नात्मीयो न परस्तथा ॥

यथा गङ्गा मनुष्याणां पापनाशस्य भाविनी । तथा मन्दसमुद्धारस्वभावाः साधवः स्मृताः ॥

परोपकारप्रकृतिर्न चैषामन्यथा मतिः ।

(स्कन्दपुराण वै० मा०)

‘साधु स्वभावसे ही दयालु और महान् होते हैं। साधुगण समचित्त तथा प्राणियोंके प्रति दयावान् होते हैं। उनके लिये न कोई अधम या श्रेष्ठ है और न अपना या पराया ही। जैसे गङ्गाजी मनुष्योंके पापनाश करती हैं, वैसे ही साधु जीवोंका भलीभाँति उद्धार कर देना ही साधुओंका स्वभाव होता है। परोपकार करना उनका स्वभाव है, उनकी कभी अन्यथा नहीं होती।’

श्रीराम-नाम अमृत है

(लेखक—आचार्य श्रीस्वामी गोपालदत्तजी शास्त्री, काव्य-पुराण-वेदान्त-तीर्थ)

कल्पवृक्ष और अमृतकी कथा हमलोग सुना करते हैं। इनका शास्त्रोंमें वर्णन भी बहुत है। ये दोनों ही स्वर्गके पदार्थ हैं। देवताओंके विशेष उपकारक हैं। अमृतके माधुर्य और जरा-मरणाशक गुणोंकी बड़ी प्रशंसा है। जिससे मरण न हो अर्थात् जिसके सेवनसे जरा-मरण मिट जाते हों, वह अमृत है—अमृत। इस अमृतसे मनुष्योंको भी जीवनदान मिला है, अमरता मिली है। ऐसी कथाएँ सुनी गयी हैं; किंतु इस समय प्रत्यक्षमें ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है।

स्वर्गाय सुधासे नामामृतमें कुछ विशेषता है। इसकी विशेषता यह है कि यह स्वर्गलोक और मर्त्य-लोक दोनोंमें समानरूपसे व्यवहारमें आता है। जैसे मर्त्यलोकके साधारण मनुष्य भी रामनामामृतका पानकर अपना जीवन धन्य करते हैं, वैसे ही देवराज इन्द्र, प्रजापति ब्रह्मा और देवाधिदेव महादेवजी भी नाम-सुधाका स्वाद लेते हैं। इनमें भूतभावन श्रीशङ्करजी महाराज रामनामामृत पीनेमें बड़े दक्ष हैं। रामनामको श्रीशङ्करजीने बड़ी चतुराईके साथ अपने पास रक्खा है। एक बार तैंतीस करोड़ देवताओंमें शतकोटि रामायणके बँटवारेके लिये विवाद छिड़ा। विवाद आपसमें सुलझा नहीं। अन्तमें परम वीतराग दिगम्बर शङ्करजी पंच चुने गये। करोड़, लाख, हजार और सौको तैंतीस भागोंमें बाँटनेपर तैंतीस-त्रिक-नितानवेके अनुसार अन्तमें एक बच गया। जो एक बचा वह ऐसा विलक्षण और लोकोत्तर था, जिसपर परम निःस्पृह दिगम्बर शङ्करका भी मन ललच गया। शङ्करजीने देवताओंसे कहा—'भाइयो! मैंने सब कुछ तो बाँट दिया, बराबर-बराबर बाँटा, अब एक बच गया है, यदि इसे आपमेंसे

किसीको देता हूँ तो आपको अधिक देनेके कारण मैं पक्षपाती हो जाऊँगा। अतः आपलोगोंकी राय हो तो बँटवारेके पुरस्कारमें ही सही, इसे मैं ले दूँ। 'रामायण सत कोटि महँ लिय महेश जिथँ जानि।' शतकोटि रामायणसे शङ्करजीने रामनामको अपने हिस्सेमें लिया। वे इसका निरन्तर जप करते रहते हैं। यहाँ-तक कि वे इस मर्त्यलोकमें भी अपनी अविनाशी काशीपुरीमें मरनेवाले प्राणियोंके कानोंमें तारक 'राम' मन्त्रका उपदेश करते हैं, जिससे वे प्राणी मरकर अमर हो जाते हैं।

श्रीहरि-नाम-कीर्तनकी महिमा आज भी प्रत्यक्ष है। पारलौकिक फल यद्यपि हरिनामकीर्तनके द्वारा अवश्य मिलता है तथापि उसे हम आज अपनी आँखोंसे नहीं देख पाते हैं। परंतु हरिनामकीर्तनका फल प्रत्यक्ष भी देखनेमें आता है। मेरे यहाँ एक प्रसिद्ध वकील हैं, जिन्हें मैं बहुत दिनोंसे जानता हूँ। पहले वे खूब शराब पीते थे। अन्तःकरणसे उन्होंने चाहा कि मैं इस कुटेवको छोड़ दूँ। बहुत प्रयत्न भी किया; किंतु शराब पीना बंद नहीं हुआ। एक दिन उन्होंने अपने मित्र वकील पाण्डेयजीसे कहा कि 'मुझे इस आदतसे आप छुटकारा किसी तरह दिला दें। आपके मित्र बड़े धर्मशील भगवन्नामामृत-पान-प्रायण हैं।' उन्होंने कहा—'कीर्तन कीजिये।' वकील साहबने भगवन्नाम-कीर्तन करना आरम्भ किया। एक दिन वकील साहबने कहा—'पाण्डेयजी! मेरा शराब पीना तो अभी बंद नहीं हुआ।' पाण्डेयजीने कहा—'कीर्तन करते जाइये।' आपकी यह भी इच्छा हुई कि सप्ताहमें एक दिन मेरे यहाँ सामूहिक कीर्तन हुआ करे। पाण्डेयजीने कहा कि 'हो सकता है किंतु उस दिन आपको शराब नहीं पीना होगा।'।

कुछ दिनोंतक यही क्रम चलता रहा । श्रीभगवन्नामकी मन्दाकिनी गङ्गामें सुरासुन्दरी बहकर न जाने किस घाट जा लगी । वकील साहबका शराब पीना सदाके लिये बंद हो गया । इतना ही नहीं, आपका धर्मानुराग इतना बढ़ गया कि अब वे बराबर नाम-जप किया करते हैं ।

इस विशाल जगत्में श्रीहरिनामके द्वारा इस प्रकारसे असंख्य प्राणियोंका अनन्त उपकार कहाँ-कहाँ हो रहा है, इसे कौन बता सकता है ? इसीलिये तो महर्षियोंका कहना है कि सकल आपत्तियोंके हर्ता और सर्व-सम्पत्तियोंके दाता श्रीरामनामको बराबर प्रणाम है । 'अच्युतानन्त गोविन्द' इस नामोच्चारण-भेषजसे सकल रोग नष्ट हो जाते हैं ।

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥
अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

इतना ही नहीं, यह रामनाम साधारण रोगोंका साधारण भेषज काष्ठौषध आदि नहीं है । यह तो परम-रसायन अमृत है । इसीलिये महानुभावोंने भवरोगके रोगियोंको कहा है—

‘निरामयं रामरसायनं पिव ।’

एक प्राचीन भावुक भक्तको जब श्रीहरिनामके अमृतमय रसायनत्वका पता चला, तब वे लोगोंसे कहने लगे—‘सज्जनो ! जन्म-मरणरूपी रोगकी चिकित्साको सुनो । जिस चिकित्साका उदाहरण योगी याज्ञवल्क्य प्रभृति मुनियोंने दिया है, वह औषध है—श्रीकृष्ण-नाम, जो हृदयके अन्धकारको दूर करने-वाला अतुलनीय अमृत है । इस महौषधका भलीभाँति पान करो । पीनेपर यह परमौषध आत्यन्तिक निर्वाण अर्थात् परमपद मोक्षको प्रदान करता है—

हे लोकाः शृणुत प्रसूतिमरणव्याधेश्चिकित्सामिमां
योगज्ञाः समुदाहरन्ति मुनयो यां याज्ञवल्क्यादयः ।
अन्तर्ज्योतिरमेयमेकममृतं कृष्णाख्यमापीयतां
तत्पीतं परमौषधं वितनुते निर्वाणमात्यन्तिकम् ॥

भगवान्के मङ्गलमय मधुर नामोंके उच्चारण करनेसे समर्थ होता हुआ भी यदि कोई भगवन्नामोच्चारण नहीं करता है तो यह महान् आश्चर्य और घोर दुःखप्रद है । कारण, ऐसे लोगोंकी प्रवृत्ति व्यसनों (दुःखों) की ओर है ।

श्रीनाथ नारायण वासुदेव
श्रीकृष्ण भक्तप्रिय चक्रपाणे ।
श्रीपद्मनाभाच्युत कैटभारे
श्रीराम पद्माक्ष हरे मुरारे ॥
अनन्त वैकुण्ठ मुकुन्द कृष्ण
गोविन्द दामोदर माधवेति ।
वक्तुं समर्थोऽपि न वक्ति कश्चि-
दहो जनानां व्यसनभिमुख्यम् ॥

भगवन्नाम सकल पुरुषार्थोंका साधन होते हुए भी स्वयं साध्य परम पुरुषार्थ भी है । इसीलिये सिद्ध योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी भगवन्नामका जपकर अभिमत फलको प्राप्त करते हैं ।

साधकं नाम जपहिं लयलाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥

पवनकुमार श्रीहनुमान्जीने श्रीरामनामके जपके द्वारा ही नामी श्रीरामजीको वश कर रक्खा था ।
सुमिरि पवनसुत पावन नाम् । अपने बस करि राखे राम ॥

जिस समय भगवान् श्रीराघवेन्द्रने अपनी मानवी लीलाका पटाक्षेप करना चाहा, उस समय अपने परिकरोंको उनके अपने अभीष्ट वरदानोंको देकर बिदा किया । सबके अन्तमें श्रीहनुमान्जीको बुलाकर कहा—
‘वत्स ! हनुमान् ! जो चाहो माँग लो ।’ श्रीहनुमान्जीने कहा—‘स्वामिन् ! मैं यही चाहता हूँ कि आपके दिव्य चरित्रोंका श्रवण करता हुआ आपके दिव्यातिदिव्य

संख्या १०]

नामोंको निरन्तर जपता रहूँ। इसके अतिरिक्त मुझे और किसी वस्तुकी भी चाह नहीं है।' वास्तवमें श्रीराम-नामकी ऐसी ही विलक्षण महिमा है कि जिससे शिव-सनकादि भी इसपर मुग्ध रहते हैं। भक्तोंका तो यह सर्वस्व ही है। इसकी महिमाका बखान असम्भव है—
 'हैं कहां लगी नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥
 भगवान्‌के सभी नाम मङ्गलमय हैं। ॐकार भगवान्‌का निर्देश करनेवाला वाचक नाम है—

‘ॐ तत् सत्’ इति ब्रह्मणो निर्देशः,

तस्य वाचकः प्रणवः ।

इस प्रणवके ‘अ’ ‘उ’ ‘म’ इन तीन अक्षरोंमें जो तत् वर्तमान है, वही तत्त्व ‘र’ ‘अ’ ‘म’ में भी रमा हुआ है। राम शब्दके द्वारा समस्त प्राकृत गुणोंसे

रहित दिव्यातिदिव्य समस्त कल्याणगुणनिधान ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है। श्रीराम-नामकी महिमाको कलिपावनावतार श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने एक पद्यमें इस प्रकार कहा है—

ब्रह्माभ्योधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
 श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा ।
 संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
 धन्यास्ते कृतिनः पिवन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ॥

अर्थात् वे कुशल पुरुष धन्य हैं, जो उस राम-नामामृतका निरन्तर पान करते रहते हैं, जो राम-नामामृत वेद-सागरसे प्रकट हुआ है, कलिके मलको समूल नष्ट करनेवाला है, शोभासम्पन्न शम्भुके मुख-चन्द्रमें सदा सुशोभित रहता है, संसार-रोगका मधुर महौषध है तथा श्रीजानकीजीके जीवनका एकमात्र संजीवन है।

गुरु-दक्षिणा

(लेखक—श्रीशुकदेव राय विशारद, वी० ए०)

काङ्गी नाटक—

दृश्य १

(विजनके सूने-से प्रान्तमें एक छोटी-सी कुटिया स्वच्छ लिपी-पुती, दार्यों ओर हवनकुण्ड लता-तरुओंसे घिरा हुआ, कुण्डके समीप ही एक वेदी, जहाँ शिष्यगण विद्याभ्यास करते हैं। वेदीपर ऋषि वरतन्तु बैठे हैं। सामने विद्यार्थियोंका एक बड़ा मौन-मुग्ध बैठाना है।)

वरतन्तु—‘कौत्स ! अब तू सारी विद्याओंमें निपुण हो गया। अब तू जा, अपने ज्ञानके आलोकसे सारे जगत्‌को आलोकित कर। मेरी शुभ कामनाएँ सदा तेरे साथ रहेंगी। मैं तुझे आशीर्वाद और विदा देता हूँ।’

कौत्स—(भक्तिभावके उन्मेषमें हाथ जोड़ता हुआ)
 परंतु महाराज गुरु-दक्षिणा ! मुझे बिना दक्षिणा दिये

कैसे संतोष होगा। मुझे आज्ञा दीजिये—यथाशक्ति पत्र-पुष्प अर्पित करूँ।

वरतन्तु—कौत्स ! मैं तेरी सेवासे अत्यधिक प्रसन्न हूँ और वह दक्षिणासे किसी भी भाँति कम नहीं है। तू चिन्ता न कर।

कौत्स—नहीं महाराज ! कुछ आज्ञा देकर ही मुझे कृतार्थ कीजिये। मैं आपका शिष्य-सेवक हूँ।

वरतन्तु—भला, तुझ अकिञ्चनके पास श्रद्धा-भक्तिके सिवा और है ही क्या जो तू दे सके और वह तो देने दिया ही है। फिर यह हठ काहेका ? जा, तू प्रसन्न रह। मैं तुझे गुरु-दक्षिणाके भारसे उन्मृगण करता हूँ।

कौत्स—यह कैसे होगा महाराज ! कुछ भी तो आज्ञा दीजिये।

[ऋषिका शान्त चित्त किञ्चित् क्षुब्ध-सा हो जाता है, जैसे प्रशान्त समुद्रमें भी वीचिकाएँ उठती हैं। मुखपरकी

खेलती हँसी अवकाश ग्रहण कर जाती है और उसकी जगह हलके क्रोधकी लाली आ जाती है।]

वरतन्तु—(कुछ खीझते हुए—से) अच्छा, तूने चौदह विद्याएँ सीखी हैं न ! तो ला, चौदह सहस्र स्वर्णमुद्राएँ । प्रत्येक विद्याके लिये एक-एक सहस्र, यही तेरी गुरु-दक्षिणा है—जिसे चुकाना ही होगा ।

कौत्स—(नतमस्तक) शिरोधार्य है, गुरुवर ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है ।

[कौत्स गुरुका चरण छूता है और पुलकित-मन विदा होता है । अन्य विद्यार्थीमण्डल उसे विस्मयभरी दृष्टिसे देखते ही रह जाते हैं ।]

दृश्य २

[साकेत नगरी, राजा रघुकी राजधानी । विश्वजित् यज्ञमें सर्वस्व दान हो जानेके बाद एकमात्र अवशेष सम्पत्तिके रूपमें मिट्टीका पात्र, उसीका सकोरा, उसीकी हाँड़ी और थाली एक ओर पड़ी है । साधारण तथा स्वच्छ वस्त्रके भीतरसे राजा रघुका तेज, उनका व्यक्तित्व प्रस्फुटित हो रहा है । राजा रघु एक आसनपर बैठे हैं । सामने परिकर अर्द्धचन्द्राकार बैठा है । सहसा कौत्सका प्रवेश । सभी उठ खड़े हो जाते हैं ।]

रघु—पधारिये महाराज ! (कहते हुए 'दण्डवत्' करते हैं और आसनपर बैठते हैं ।)

कौत्स—(आशीर्वाद देनेकी मुद्रामें) मङ्गल हो महाराज ! (आसन ग्रहण करते हैं ।)

राजा—ऋषिकुमार ! कुशल तो है ? आश्रमवासी सकुशल तो हैं ? गुरुजी सानन्द तो हैं ? लता-तरु मुरझाये तो नहीं हैं ? वन-पशुओंपर कोई संकट तो नहीं आया है ? आश्रमका जलशय वारिपूर्ण है न ?

कौत्स—(प्रसन्न होते हुए) हाँ महाराज, आप-जैसे प्रतापी राजाके राज्यमें भला इन्हें क्या कष्ट होगा ।

राजा—(संतोषकी साँस लेकर) तो आज्ञा हो महाराज ! क्या सेवा करूँ ?

[कौत्स मृत्तिका-पात्रोंको देखते हैं और मौन रह जाते हैं ।]

राजा—तो महाराज ! सेवकको आज्ञा दीजिये, कौत्स दीजिये कि वह अपनी सेवा सादर समर्पित करे ।

कौत्स—(सकुचाते हुए) स्वगत—

(क्या माँगूँ, राजा आज राजा न रहा । वह तो ब्रह्मखारी बना है । भला ये मिट्टीके वर्तन ×...)

प्रकट—'राजन् ! मैं गुरु-दक्षिणाके गुरुत्तर उच्छ्रृण होनेके लिये चौदह सहस्र स्वर्ण-मुद्राओंकी याचना करने आया था । मैंने चौदह विद्याएँ पढ़ी हैं । गुरु-ऋणसे उच्छ्रृण होनेका दूसरा चारा नहीं था । अब तो....']

राजा—नहीं महाराज ! आप संकोच रंचमात्र करें । रघुके कोषमें धनका अभाव भले हो, पर हृदयमें दानशीलताका और उसकी भुजाओंमें दानका अभाव नहीं है । मैं शीघ्र प्रबन्ध किये देता हूँ । चिन्तामुक्त हो जायँ । रघुके प्राण याचकोंको लौटते नहीं देख सकते ।

दृश्य ३

[राजधानीका अन्तः-प्रकोष्ठ । राजा रघु गम्भीर अकेले बैठे हैं । सहसा मन्त्रीका प्रवेश ।]

मन्त्री—जय हो महाराज ।

राजा—आइये मन्त्रिवर ! एक समस्या आ उभरी हुई है । चौदह सहस्र स्वर्ण-मुद्राओंकी याचना खजानेमें कौड़ी नहीं है । जीते-जी याचक निराश लौटेगा ?

मन्त्री—(कुछ सोचकर) तो क्या उपाय है महाराज ?

राजा—कुबेरपर चढ़ाई करनी होगी । साथ शीघ्र तैयार होना होगा । कल सबेरे सेना करेगी ।

मन्त्री—जैसी आज्ञा महाराज !

[पौ फटनेको है । सेना सज रही है । आक्रमणकी तैयारी]

संख्या १०]

कैरियाँ हो रही हैं। कूचका डंका बज रहा है। मुसकराते हुए मन्त्रीका प्रवेश।]

राजा-क्या बात है मन्त्रिवर !

मन्त्री-कोष तो धनसे परिपूर्ण हो गया महाराज !

बल्लईकी आवश्यकता ही नहीं रही !

राजा-(प्रसन्न होता हुआ) अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं मन्त्री ! ठीक है, मादूम होता है करते मेरे मनकी ताड़ ली। अच्छा, तो अब कूचका कार्यक्रम स्थगित कर दें और ऋषिकुमारको बुलावें।

दृश्य ४

[सजा हुआ दरबार। सिंहासनपर महाराज बैठे हैं और वरसनपर ऋषि कौत्स। सामने स्वर्णमुद्राओंकी राशि लगी है। सारी सभा चकित नेत्रोंसे देख रही है। सबके मुख-पर प्रसन्नता है और आश्चर्य है।]

राजा-(स्वर्णमुद्राओंकी ओर संकेत करते हुए) लीजिये महाराज ! दासकी सेवा ग्रहण कीजिये।

कौत्स-(चौदह सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ गिन लेते हैं और बाकी वहीं पड़ी छोड़ देते हैं) मैं संतुष्ट हुआ महाराज !

राजा-ये सारी मुद्राएँ आपकी ही हैं। इन्हें स्वीकार कीजिये।

कौत्स-(गद्गद कण्ठसे) राजन् ! मैं प्रयोजनवश धनका इच्छुक था, उसका लोभी नहीं। मुझे अधिकसे क्या प्रयोजन है ?

राजा-(आनन्द-विह्वल होता हुआ) ऐसा निर्लिप्त ऋषिकुमार !

कौत्स-और ऐसा दानशील राजा !

जय-ध्वनि होती है।

धर्मों रक्षति रक्षितः

स्वप्नमें ईश्वर-दर्शन

(लेखक—श्रीमथुरा पाण्डेय)

[नाम सभी कल्पित हैं, घटना सत्य है]

सुशीला एक साधारण हिंदू-परिवारकी स्त्री है।

उम्रमें पचास पार कर चुकी है। कानके समीपके

कुछ बाल भी सफेद होने लगे हैं। आँखोंकी ज्योति

भी कुछ मंद पड़ गयी है, फिर भी सीने-पिरोनेका

धाम अब भी कर लेती है। घर-गृहस्थीके सारे काम

उसे करने पड़ते हैं। तो भी वह कामोंसे धवराती नहीं

और उसके सारे कार्य समयपर हो जाते हैं।

सुशीला घरके किसी-न-किसी काममें बराबर लगी

रहती है। उसको इस तरह मशीनकी भाँति काम

करते देख एक दिन उसका पुत्र प्रताप झगड़ पड़ा—

‘तुम दिन-रात इतना खटती रहती हो, क्या

तुम्हारे लिये दुनियामें आराम नामकी वस्तु है ही

नहीं ? भला इतना अधिक परिश्रम कर कोई भी जिंदा रह सकता है ?’

‘आराम तो देह-चोर किया करते हैं बेटा ! विश्राम करनेकी भी एक अवस्था होती है। जबतक शरीर चले, कुछ-न-कुछ बराबर करते रहना चाहिये।’ माने उसे समझाया।

‘इतना अधिक परिश्रम करना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक नहीं हो सकता। अधिक मेहनतसे तबीयत खराब हो जाती है।’ पुत्रने मासे फिर कहा।

‘नहीं बेटा ! ऐसी बात नहीं है। भगवान् सब पार लगाते हैं। इतना अधिक परिश्रम करते रहनेपर भी मुझे याद नहीं कि मैं कभी बीमार पड़ी होऊँ।’ माने शान्त स्वरमें कहा। अपनेको तार्किक समझनेवाला प्रताप इस जवाबसे निरुत्तर हो गया।

सुशीलाको भगवान् पर भरोसा है। वह देहातकी अनपढ़ स्त्री है; अतः इस विषयमें वह ग्रन्थोंसे कोई लाभ नहीं उठा पायी है। घरके बाहर पड़ोसकी दो-चार औरतोंसे बातचीत करनेके लिये जानेके सिवा और कहीं जाती नहीं है। स्त्रियोंके आवश्यक व्रत अवश्य करती है। सालमें चार शिवरात्रि और एकादशी-व्रत भी जरूर ही कर लेती है, लेकिन बाहर जाकर तीर्थ करनेका नाम भी नहीं लेती है। कहती है, 'मन शुद्ध रहे तो तीर्थ जानेकी कोई जरूरत नहीं, भगवान् घर बैठे ही बेड़ा पार लगा देंगे।'

प्रताप धार्मिक दृष्टिकोणसे व्रतको महत्त्व तो नहीं देता है, पर शारीरिक स्वास्थ्यके लिये सप्ताहमें एक दिन उपवास करनेका समर्थन करता है। पूजा-पाठका महत्त्व उसके लिये कुछ नहीं है। वह इसे ढोंग कहता और हृदयकी निर्मलता तथा विचारकी पवित्रताको ही सब कुछ समझता है, पर वह माको बड़ा मानता है। कई दफा उसने कहा—'चलो मा, तुम्हें गङ्गा-स्नान करा लाऊँ।' मा जवाब देती—'घरसे बाहर मुझसे नहीं चला जायगा। मेरी चिन्ता मत करो, सब भगवान् पार लगायेंगे।' प्रताप माके इस उत्तरपर चुप रह जाता। सबसे आश्चर्य तो उसे इस बातपर होता कि माको जिन भगवान्का इतना भरोसा है, प्रकटमें उनका नाम लेते हुए वह बहुत कम ही देखता। कभी-कभी उसकी मा सोते समय 'हे राम हे राम' कहा करती। इसी तरह उसके जीवनका क्रम चलता रहता।

कुछ वर्षोंसे सुशीला कुछ चिन्तित रहा करती थी। उसके घरमें कोई बच्चा नहीं था जो अपनी बाल-क्रीड़ासे उसे आनन्द दे सके और शायद वह मन-ही-मन भगवान्से इसके लिये प्रार्थना किया करती। प्रतापकी शादी बारह साल पहले ही हो चुकी थी, पर कोई संतान नहीं हुई थी। अतः जब प्रतापको एक पुत्र पैदा हुआ, तब सबसे अधिक प्रसन्न सुशीला थी।

एक दिन प्रताप खाटपर बैठे 'कल्याण'के अङ्कके पृष्ठ उलट रहा था। मुखपृष्ठपर भगवान् श्रीरामचन्द्रका एक बहुत ही आकर्षक एवं सुन्दर चित्र था। उसने माको बुलाया और कहा—'मा! यह देखो किनका चित्र है? जानती हो?' माने बड़े ध्यानसे उस चित्रको देखा और कुछ देरतक देखती ही रही। उसका चेहरा खुशीसे चमकने लगा। बड़ी उत्सुकतापूर्वक उसने पूछा—'बेटा! तुम बता सकते हो कि ये कौन हैं?'

'हाँ मा! ये भगवान् श्रीरामचन्द्र हैं।'

'सचमुच! क्या ये ही भगवान् रामचन्द्र हैं?'

'हाँ, ये ही हैं। पर यह तो बताओ! तुम इस तरह क्यों पूछ रही हो?'

'बेटा! मैं इन्हें पहचान नहीं सकी। इन्हें देखा है।'

'सचमुच देखा है? कब और कहाँ?'

'बच्चेके जन्मके आठ-दस रोज बाद रातमें मैं सोने लगी थी। मुझे गहरी निद्रा आ गयी और स्वप्नमें मैंने देखा कि एक सुन्दर आकृति, जो ठीक इस चित्रमें है, आकाशमें मुसकरा रही है। उसके शरीरसे दिव्य ज्योति निकल रही है और सिरपर एक सुनहला छत्र कोई अङ्कित हुए है।'

'तुमने छत्र ओढ़ानेवाले व्यक्तिको देखा?'

'नहीं, वहाँ और कोई नहीं दिखलायी दिया।'

'तुम्हें याद है कि उसके कितने हाथ थे?'

'हाँ, मुझे खूब याद है कि मुझे सिर्फ चेहरा ही दिखलायी दिया था।'

'उसने कुछ कहा भी?'

'हाँ, उसने मुसकराते हुए बोले! अब मैं चाहती हो?' कहा था।'

'तुमने कुछ नहीं कहा?'

[भाग २]

मैं तो उस सुन्दर मुसकराते हुए चेहरेको देखती ही रह गयी। मुझे तो कुछ कहनेके लिये ख्याल ही नहीं रहा। मैं आत्म-विभोर हो गयी थी। मैं यह भी तो नहीं जानती थी कि ये ही भगवान् हैं।

‘तुमने भगवान्‌का ऐसा चित्र किसी किताब वगैरह-में पहले कभी देखा था?’

‘कभी नहीं।’

सुशीला ‘कल्याण’में छपे भगवान्‌के उस चित्रको देखती ही रही, जबतक प्रताप उठकर बाहर चला आया।

एक घंटेके बाद प्रताप अचानक मेरे बैठकखानेमें आ पहुँचा। उसके चेहरेपर आश्चर्यके भाव भरे हुए थे। एक तरफ पड़ी हुई आराम-कुर्सीपर बैठनेका इशारा करते हुए मैंने पूछा—‘कहो! क्या हाल-चाल है? आज तो तुम्हारे चेहरेका रंग बदला हुआ है।’

प्रतापने मुझसे सारी घटना कह सुनायी। वह मेरे सके मित्रोंमेंसे है। मेरी और उसकी विचार-धारा प्रायः एक-सी रही है। मैं भी इस बातसे आश्चर्यमें पड़ गया। कुछ देरके बाद मैंने कहा—‘खम्र तो आखिर खम्र ही है। खम्रमें हुई किसी बातको ठीक कैसे माना जा सकता है? खम्र कभी सच्चा नहीं हो सकता। तुलसीदासजीने भी तो खम्रको झूठ ही माना है। यथा—‘सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ। जाँलमुन हानि कछु……’ उसने कहा—‘सो तो ठीक ही है। पर तुम हरिश्चन्द्रकी कथा तो जानते ही हो। खम्रमें ही उन्होंने एक ब्राह्मणको सारा राज्य दे दिया था। जगनेपर वह उस ब्राह्मणके लिये चिन्तित हो गये, तब-तक वही ब्राह्मणदेवता उनके राजमहलके दरवाजेपर आ गये जिनको उन्होंने राज्य दे दिया था। उस समय तो सपनेकी बात सत्य ही हो गयी।’

‘लेकिन वह तो एक असाधारण घटना समझी जाती है।’

‘खम्रमें ही सही, भगवान्‌का दर्शन होना भी तो

एक असाधारण घटना ही है। क्या सभी इसी तरह खम्रमें भगवान्‌के दर्शन पाते हैं?’

‘लेकिन भगवान्‌ने इतने अल्प प्रयासमें ही कैसे दर्शन दिये?’

‘तुम कैसे जानते हो कि प्रयास अल्प ही है? फिर भी सच्चे मनसे भगवान्‌को एक ही क्षण पुकारो तो वे प्रसन्न हो जाते हैं। द्रौपदीके चीर-हरण और गज-ग्राहकी लड़ाईकी कथा जानते ही हो। कितने थोड़े समयमें भगवान् प्रसन्न हो गये? भगवद्दर्शनमें समयका सवाल नहीं है। सच्चे मनसे पुकारनेका सवाल है, हृदयकी निर्मलता चाहिये, बाहरी आडम्बर नहीं।’

‘भगवान् तो जो जिस रूपमें उन्हें याद करता है, उसी रूपमें उसे दर्शन देते हैं। भगवत्स्मरणके लिये तो किसी-न-किसी रूपका ध्यान करना ही पड़ता है; पर प्रताप! तुम्हारी माने तो उस रूपकी कल्पना भी नहीं की थी।’ यही तो आश्चर्य है! हो सकता है, मा बिना किसी रूपको ध्यानमें रखे ही यों ही सच्चे मनसे कभी-कभी ही सही, ‘राम-राम’ कहती रही है और भगवान्‌ने नामको ही आधार मानकर रामके रूपमें दर्शन दे दिये। वे तो सिर्फ हृदयकी भक्ति चाहते हैं, बाहरी दिखावा जरा भी नहीं।’

भगवद्दर्शनके बारेमें प्रतापकी मापर अविश्वासका कोई कारण नहीं था। जब-जब वह उस चित्रको देखती है आत्म-विभोर हो जाती है। ऐसा होते हुए उसे पहले कभी किसीने नहीं देखा था। हमलोग समझा करते थे कि भगवान्‌ने कई बार इस पृथ्वीपर अवतार अवश्य लिया है, पर उनके चित्र जो सर्वत्र देखनेमें आते हैं चित्रकारकी कल्पनाके आधारपर बनाये गये हैं। लेकिन इस सत्य घटाने हमारी आँखें खोल दी है और हमलोगोंकी विचार-धारा एक निश्चित पथकी ओर मुड़ गयी है।

संस्कृत संस्कृतिका वैज्ञानिक क्षेत्र

(लेखक—पं० श्रीविद्याधरजी शास्त्री, एम्० ए०)

दर्शन और विज्ञानके क्षेत्रको आजकल यद्यपि प्रायः पृथक् माना जाता है, परंतु संस्कृत संस्कृतिका क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें पद-पदपर इन दोनोंके समन्वय और पारस्परिक विकासके दर्शन होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकोंकी अपूर्णता उनकी इस गतिमें ही विद्यमान है कि वे भौतिक जगत्के स्थूलरूपसे सम्बन्ध अवश्य रखते हैं, पर इसके सूक्ष्मरूपसे इनका सम्बन्ध न होनेके बराबर होता है। गणित-विज्ञानमें सूक्ष्माति-सूक्ष्म सिद्धान्तोंका विवेचन होनेपर भी चेतन एवं अचेतन तत्त्वोंमें प्रतिक्षण सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके आधारपर होनेवाले परिवर्तनों और समस्त ब्रह्माण्डको प्रभावित करनेवाली नाना ग्रहोंकी गतियोंकी गतिपर इनका ध्यान आकृष्ट नहीं होता। दूसरे शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि आजके विज्ञानने अपने अन्वेषणके लिये जिन तत्त्वोंका आश्रय ले रखा है वे तत्त्व स्वयं किन अन्य तत्त्वोंसे विकसित हुए हैं, अभी इसका ज्ञान आजके विज्ञानमें नहीं है।

‘अचेतन भौतिक तत्त्वोंका रूपान्तर ही गुणपरिणामके अनुसार चेतन तत्त्वके रूपमें विकसित होता है, इस मान्यताके साथ यदि वे यह भी मान लेते कि अचेतनके विकासमें भी चेतनका पूरा हाथ रहता है तो अचेतनके परिष्कारके साथ वे चेतनके परिष्कार और आविष्कारमें भी एक परम रम्य प्रगति दिखा सकते थे। संस्कृत संस्कृतिकी यह विशेषता है कि वह चेतन और अचेतन दोनोंको सुसंस्कृत करती हुई आगे बढ़ती है और अपने जीवनके प्रत्येक कर्ममें इन दोनोंका समन्वय करती है।

भारतीय आचारशास्त्रमें कोई भी ऐसा नियम नहीं है जो किसी-न-किसी वैज्ञानिक आश्रयपर आश्रित न

हो और जिसमें शारीरिक विकासके साथ आध्यात्मिक प्रगतिका विकास भी अपने आप ही न हो जाना हो। यह आजकलके वैज्ञानिकोंका परम दोष है कि वे जीवनकी प्रत्येक घटना अथवा प्रत्येक पदार्थके स्वरूपको उसके आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक त्रिविध रूपमें न देखकर सदा उसके एक ही स्वरूपको देखते रहते हैं। उनकी इस अव्यापक दृष्टि ही यह दुष्परिणाम होता है कि वे आधिभौतिकसे आध्यात्मिक अथवा आध्यात्मिकसे अपनी आधिभौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। भारतीय तात्त्विक दृष्टि इन तीनों रूपोंमें केवल—‘गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते’ त्रिविध गुणोंके तारतम्य और परिवर्तनके खेलको देखती रहती है। यदि आज वैज्ञानिक आज भी इस बातको पूरी तरहसे समझें कि ‘जिस-जिस वैज्ञानिक आविष्कारके द्वारा इन्द्रियोंके बाह्य प्रवृत्तियोंमें प्राबल्य और सात्त्विक गुणका हास होगा, वह-वह आविर्भाव सदा मनुष्यकी आन्तरिक वृत्तियोंको कलुषित और स्वार्थपूर्ण राजस एवं तामस वृत्तियोंसे पूर्ण करता रहेगा’ तो आज भी विश्वमें एक आश्चर्यजनक शान्ति और एक परम आनन्दमय जीवनका अभ्युदय हो सकता है।

संस्कृत संस्कृति दर्शन और विज्ञानमें किसी तरहका अन्तर नहीं मानती। सांख्यदर्शन और वैशेषिक दर्शनमें, यही कारण है कि प्रकृति और पुरुष एवं आत्म तथा अनात्म दोनों तरहके पदार्थोंका एक साथ विवेचन होता है और दोनोंका वास्तविक ज्ञान अन्तःपारस्परिक सहायक होकर एक दूसरेको सर्वतन्त्र कर देता है।

जो यह कहते हैं कि विचारक्षेत्रमें दर्शन और विज्ञानके एक होनेपर भी व्यावहारिक क्षेत्रमें विज्ञान सदा दर्शनसे बहुत दूर रहता है, वे यह नहीं जानते कि उनकी इस अदूरदर्शिताका ही यह कुफल है कि आजके वैज्ञानिक व्यवहारक्षेत्रमें दार्शनिक दृष्टिका अत्यन्ताभाव हो गया है। यदि वैज्ञानिकोंमें दार्शनिक दृष्टि होती तो विज्ञानके द्वारा प्रकृतिका विवंचन करनेकी अपेक्षा वे सदा उसका पोषण करते और

प्राचीन वैज्ञानिक यज्ञोंके प्रचारसे 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' के सिद्धान्तानुसार आजकी जगतीको केवल कोल और पेट्रोलके धूम्रसे आवृत करनेकी अपेक्षा इसको अनुपम हवन-सामग्रीके पावन परिमलद्वारा सर्वथा परितृप्त कर देते।

मेरी भगवान्से यही प्रार्थना है कि समस्त विश्व संस्कृत संस्कृतिके इस महावैज्ञानिक रहस्यको शीघ्र-से-शीघ्र समझे और उसके द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र समस्त विश्वका कल्याण हो।

प्राप्तका आदर करना सीखिये

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरण महेन्द्र, एम्० ए०)

संसारमें दूरीमें आकर्षण है। जो वस्तु समीप है, बुद्ध हम जिसके मालिक हैं, जिसपर हमारा स्वत्व है, हम उसके प्रति न दिलचस्पी लेते हैं, न उसकी सुन्दरता, महत्त्व, लाभ और उपयोगिताको ही समझते हैं। मानव-जगत्की अतृप्तिका यह एक बड़ा कारण है।

जो वस्तु हमारे पास रहती है, हम उससे इतना अधिक परिचित हो जाते हैं कि उसकी उपयोगिता हमारे लिये कुछ अर्थ नहीं रखती। घरमें जो व्यक्ति है, उनसे हमारा काम आसानीसे चलता है। हमारी बूढ़ा मा, बूढ़ा पिता, बड़ा भाई, बहिन इत्यादिके निकट निरन्तर रहते रहनेके कारण हम उनका महत्त्व दृष्टिगत नहीं करते। पुराने कुटुम्बोंमें जो नयी रोशनीके युवक-युवती हैं, वे बूढ़ा पितामहोंका आदर-सत्कार, सेवा इत्यादि करनेमें अपनी प्रतिष्ठाकी हानि समझते हैं। इसका कारण यही है कि हम प्राप्तका अनादर करते हैं।

महाजन रुपया उधार देता है, उसकी दृष्टिमें मूलधनका इतना महत्त्व नहीं है जितना कि सूदका है। उसके पास रुपयेकी कमी नहीं है। यदि वह चाहे तो उसी रुपयेका आदर कर (अर्थात् सदुपयोग

कर) जीवनपर्यन्त सुखी रह सकता है, किंतु उसका लोभ उसके मार्गमें बाधा उपस्थित करता है। वह सूदको वसूल करनेके लिये जमीन-आसमान सिरपर उठा लेता है; मुकदमेवाजीमें फँसता है। वर्षों अदालतमें खड़ा रहकर समय व्यर्थ नष्ट करता है। यदि मुकदमा सफल रहा तो उसे कुर्कीद्वारा मूल धन सूद-सहित प्राप्त होता है। अनेक बार कर्ज लेनेवालोंका दिवाला निकल जाता है और सूदके प्रलोभनमें मूलधन भी जाता रहता है। यदि वह व्यक्ति जो प्राप्त है, उसीका समुचित आदर करता, तो क्यों अपना मूल धन भी व्यर्थ गँवाता ?

लोग स्वयं यह नहीं देखते कि वास्तवमें उन्हें कितनी सौभाग्यशील प्रसन्नता प्रदान करनेवाली सुख-समृद्धि तथा मोददायी वस्तुएँ प्राप्त हैं ? यदि विवेकपूर्ण नेत्रोंसे देखा जाय, तो आपको विदित होगा कि आपके गरीब घरमें निर्धनता, प्रतिकूलता और संघर्षके वातावरणमें भी महाकृपाल प्रभुने आनन्द प्रदान करनेवाली अनेक वस्तुओंकी सृष्टि की है। अन्तर केवल यह है कि आपके स्थूल नेत्र उनके सौन्दर्य और उपयोगिताका अवलोकन नहीं करते।

आपको कौन-कौन वस्तुएँ प्राप्त हैं ? क्या आपके पास उत्तम स्वास्थ्य है ? यदि अच्छा स्वास्थ्य है तो आपको संसारकी एक महान् विभूति प्राप्त है, जिसके सामने संसारका समस्त स्वर्ण, बेशकीमती मूँगे, मोती, हीरे, जवाहिरात, दौलत इत्यादि फीके हैं । वास्तवमें संसारका अस्तित्व ही आपके स्वास्थ्यपर है । आपको जो स्वास्थ्यरूपी सम्पदा प्राप्त है, उसका आदर कीजिये । अपनी पाँचों इन्द्रियों—खाद, घ्राण, श्रवण, स्पर्श, दर्शन इत्यादिके अनेक आनन्दोंका सुख छुटिये । विश्वमें ऐसे सैकड़ों सुख एवं आनन्द हैं, जिनका आधार उत्तम स्वास्थ्य है । जब यह आपको प्राप्त है, तब इसके द्वारा रस-पान करना जीवनमें आनन्द उठाना आपकी बुद्धिपर निर्भर है । बुद्धिके सदुपयोगसे स्वास्थ्यके आधारपर रहनेवाले अनेक सुखोंको प्राप्त कर जीवनको सुख-शान्तिमय बनाया जा सकता है । लम्बी सैरको जाइये, फूलोंसे परिपूर्ण उद्यानमें टहलिये, नदियोंमें खच्छन्दतासे तैरिये, खेलिये-कूदिये, आप बिना किसी रुपये-पैसेके आनन्द प्राप्त कर सकते हैं । स्वास्थ्य, बल, शक्ति, स्वाभाविक सौन्दर्य जो आपको प्राप्त है, उसके आनन्द आपकी पहुँचके भीतर हैं । उन्हें प्राप्त कीजिये ।

यदि आपके पास बहुमूल्य कीमती वस्त्र, आभूषण, सुसज्जित मकान इत्यादि नहीं हैं, तो दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है । जैसे वस्त्र हैं, उन्हींको खच्छ निर्मल रखकर सादगीसे आप अपनी विशेषताएँ प्रदर्शित कर सकते हैं । वस्त्रोंके विषयमें अपनी रुचि सरल बना लीजिये । इस बातके लिये व्यर्थ क्यों दुखी होते हैं कि आप छैल-छत्रीलोंकी तरह सजे-बजे नहीं हैं ? जो व्यक्ति अत्यधिक बनाव-शृङ्गारमें निमग्न रहते हैं

वे प्रायः मिथ्याभिमानी, छिछोरे, अल्पबुद्धि हैं; काफ़ी मायाजालमें झूठा सौन्दर्य लानेकी चेष्टा करते हैं । केवल कुरूप व्यक्तियोंको ही यह विश्वास होता है कि वस्त्रोंद्वारा उनकी कुरूपता छिप जायगी । बहुश्रुत कृत्रिमता और अत्यन्त बनाव-शृङ्गारकी बातोंके अशान्त रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । आपके पास जो, जैसा अच्छा-बुरा है, उसीका सदुपयोग करना प्रारम्भ कर दीजिये । अपने साधारण वस्त्रोंमें ब्रशसे खच्छ कीजिये; यदि मैले हो गये हैं, तो साबुन मोल लेकर उन्हें धो डालिये, इस्तरी कर लीजिये । यदि बाल कटानेके लिये पैसे नहीं हैं, तो उन्हींके धोकर ठीक तरह सँवार लीजिये । खेदके सत्ते खच्छ और चलाऊ वस्त्रोंमें व्यक्ति बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है । आवश्यकता है शऊर और शिष्टाचारकी । स्त्रियाँ प्रायः दूकानोंपर नयी-नयी साड़ियाँ, जम्पके कपड़े, नये डिजाइनके आभूषण देखकर अतृप्त-अशान्त हो जाती हैं । घरमें कलह उत्पन्न हो जाती है । पतिके पास आर्थिक संकट होता है तो वह बेचारा इस कलहको दूर करनेके निमित्त ऋण लेनेको बाध्य होता है । यह महती मूर्खता है । स्त्रियोंको यह देखना चाहिये कि उन्हें प्राप्त कितना है ? कितने कपड़े उनके ट्रंकोंमें भरे पड़े हैं ? फैशन कितनी द्रुतगतिसे परिवर्तित होते हैं ? यदि हर वर्ष पुराने स्वर्ण-आभूषणोंको तुड़ाकर नवीन रूपसे उनका पुनर्निर्माण करवा जायगा, तो असली सोना क्या खाक अवशेष बचेगा ! यदि वे प्राप्तका समुचित आदर करना सीख जायँ और अपनी जो साधारण-सी वस्तुएँ हैं, उन्हींकी सहायतासे अपनी प्रतिभा, योग्यता और विशेषताएँ प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दें, तो सुख-शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सकती हैं ।

प्रभु-भक्ति शाश्वत सुखका अचूक साधन है

(लेखक—पं० श्रीरुलियारामजी कालिया)

आहार, व्यवहार, विचार, देश, भेष, बोली और रंग-रूपकी भिन्नता होते हुए भी मनुष्यमात्र ईश्वरवादी अथवा अनीश्वरवादी सभी शाश्वत सुख चाहते हैं। सुखकी कामना-का कारण हूँदनेपर यही ज्ञात होता है कि सुख मनुष्यजीवन-के लिये ऐसा ही स्वरूप-भूत पदार्थ है, जैसा मीनके लिये जल। जलके वियोगमें मीन तड़पती देखी जाती है और इसके अभावमें उसके प्राणका भी अन्त हो जाता है। लसकती हुई मछलीको भी जलमें डाल दिया जाय तो वह मरती नहीं। यही दशा सुखके अभावमें मनुष्यकी होती है। शारीरिक और मानसिक रोगोंसे पीड़ित मनुष्य यदि प्रतिदिन थोड़ा समय भी निद्रा देवीकी गोदमें जाकर सुषुप्तिके आनन्दका उपभोग न कर पाये तो उसकी जीवनयात्राकी समाप्तिमें कोई सन्देह नहीं। मनुष्यका जीवन जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंमें ही व्यतीत होता रहता है। स्वप्न और सुषुप्तिमें तो वह बेवस है क्योंकि यह बात सर्वविवाद सिद्ध और हमारी अनुभवजन्य है कि हम जाग्रत्-शरीरके आरोग्य और मानसिक चिन्ताओंसे मुक्त होते हुए स्वप्नमें अपने-आपको इसके प्रतिकूल पाते हैं। सुषुप्तिमें तो हमें सुधि ही नहीं रहती, परन्तु जागनेपर सुखके अनुभव-का परिचय अवश्य देते हैं। यदि उस समय सुखका उपभोग न किया होता तो स्मृतिका होना भी सम्भव नहीं था; क्योंकि अनुभूत विषयके न भूलनेको ही स्मृति कहते हैं। ऐसा दर्शनकारोंका मत है। इससे सिद्ध हुआ कि केवल जाग्रत्-अवस्था—, जो हमारे अधीन है, को ही अनुकूल बनानेसे हमें सुखकी प्राप्ति हो सकती है।

सुख-दुःख मनकी ही उपज है। मनका अपने कारणमें लगे होना ही सुखका हेतु है। यद्यपि जाग्रत्-अवस्थामें मनका वासनारहित करना कठिन है परन्तु असम्भव नहीं। सुख-दुःखकी इस परिभाषा-अनुसार स्वाधीनता और अनुकूलता सुख, परार्थीनता और प्रतिकूलता दुःख माने गये हैं। दुःखके अभावका नाम यदि सुख हो तो जड़ पदार्थ पाषाण आदि भी सुखी देखे जाते, पर ऐसा है नहीं। इससे मानना पड़ता है कि सुख भी भाव पदार्थ है अथवा किसी भाव पदार्थका स्वाभाविक गुण है। हमारी दृष्टिमें संसारमें दो ही पदार्थ हैं—जड़ और चेतन। सजीव शरीरमें इच्छा, द्वेष,

प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, श्वास लेना, आँख मीचना और खोलना, अहङ्कार करना, चलना, सब इन्द्रियोंसे काम लेना, धुधा, तृषा, हर्ष और शोकादि होते देखे जाते हैं, और जब ये चिह्न दिखायी नहीं देते तब उसे मृत कहते हैं। आत्मविहीन पदार्थोंके अंदर तथा आत्मरहित मानव-शरीर-में भी इच्छा आदि यह लक्षण नहीं देख पड़ते। अतः ये लक्षण जड़ देहके अतिरिक्त चेतनके ही हैं। सुषुप्तिके दृष्टान्तसे यह बात मनुष्यमात्रके अनुभवसिद्ध है कि दुःख आत्माका स्वभाव हो तो उसका कभी भी अभाव नहीं हो सकता और जड़ पदार्थमें तो दुःख किसीने आज्ञातक अनुभव किया ही नहीं। अतः मानना पड़ता है कि जड़ और चेतनका संयोग दुःख (जो कि शारीरिक और मानसिक भेदसे दो प्रकारका होता है) का निवास-स्थान है।

इस परिणामपर पहुँचकर आगे प्रश्न उपस्थित होता है कि निराकार आत्माका तो निरवयव होनेसे आकाशकी भाँति किसी भी नाम और रूपवाले पदार्थसे संयोग सम्भव ही नहीं। परन्तु यह अटल नियम है कि जहाँ अन्य प्रमाणोंसे निश्चयात्मक ज्ञान न हो वहाँ शब्दप्रमाणकी ही प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है। जैसे हमें अपने पिताके ज्ञानके लिये माता अथवा अन्य सम्बन्धीके कथनपर ही विश्वास करना होता है। यही युक्ति अलौकिक बातोंपर भी लागू होती है। जीवित शरीरमें चेतन और जड़का संयोग प्रत्यक्ष देखा जाता है, इससे किसीको इन्कार भी नहीं हो सकता। जमीन हम जड़, चेतन और उनके परस्पर संयोगकी खोज करने लगते हैं तभी इतने भिन्न-भिन्न विचार उपस्थित होते हैं कि हम अपनी अल्प आयुमें और इसपर भी संसारी धंधोंमें फँसे हुए न तो स्वयं योगके द्वारा इनका साक्षात् कर सकते हैं और न इस विषयपर सभी प्राचीन और अर्वाचीन सिद्धान्त-ग्रन्थोंको भलीभाँति पढ़नेके लिये समय पाते हैं। सर्वसिद्धान्तोंको छोड़ दुःख-निवृत्तिके उपयोगी विषयकी पूर्ति भी होनेसे रही, इसलिये कुछ-न-कुछ कहना ही है।

यह तो सिद्ध हो चुका है कि मनकी स्फुरणाहीनता दुःखनाशक और सुखकी हेतु है। मनमें जन्मान्तरीय संस्कार भरे हुए हैं और नाना संकल्पों और वासनाओंको

नाश किये बिना आनन्दकी उपलब्धि तो स्वप्न-तुल्य है। इसमें सन्देह नहीं कि वासनाके अनुसार विषयकी पूर्तिके लिये सामग्रीकी प्राप्ति तत्काल सुखदायक है। परंतु एक बार-के भोगसे वासना नाश होनेके स्थानमें बढ़ती है जैसे काष्ठ डालनेसे अग्नि। सर्वदा भोग-सामग्रीकी प्राप्ति निश्चित नहीं, ऐसा होता भी रहे तो वह समय भी आ पहुँचता है जब मन तो चाहता है परंतु इन्द्रियाँ भोग-शक्तिसे हीन हो जाती हैं। ऐसी अवस्था और भी दुःखदायिनी होती है। सुख तो इसीमें है—

मन फुरनासे रहित कर, जिस उपाय से होय।

भक्ती चाहे योगसे, चहे ज्ञान से होय ॥

स्फुरणा वस्तुतः न तो जड़में है और न चेतनमें, परंतु अस्मितामें है। अस्मिताका कारण अविद्या है। अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्ममें आत्म-बुद्धि करना अविद्या है। यही अविद्या स्व अर्थात् दृश्य और स्वामी अर्थात् द्रष्टा शक्तियोंके स्वरूपकी प्राप्तिका कारण संयोगका हेतु है। पुरुष और प्रकृतिका अभिन्न ज्ञान ही तो अध्यास है। यह अज्ञान ही दुःखका मूल है। योग अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंके रोकनेसे द्रष्टा स्वरूपमें अवस्थित होता है और अवस्थाओंमें वृत्तियोंसे अपना अभेद मानता है। स्फटिकमणि (यिल्लौर) में काला, पीला, नीला, हरा और लाल आदि कोई रंग नहीं परंतु उसके सम्मुख रखी हुई वस्तु उसे अपने रंगमें उस समयतक रंगे रखती है जबतक कि वह उसके सामनेसे हटायी न जाय। यही दशा द्रष्टाकी समझनी चाहिये। जिसपर चित्तकी वृत्तियोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिनको रोकने अर्थात् परे हटानेसे द्रष्टापर कोई और रंग (प्रभाव) नहीं दिखायी देता।

साधारण ज्ञानके लिये चित्तकी वृत्तियोंके भिन्न-भिन्न रूप और नाम लिखे जाते हैं, जिनका बोध होनेपर उनपर अङ्कुश लगानेका प्रयत्न हो सके। (१) मूढ़—आलस्य-प्रमाद और काम-क्रोधादिके वशमें होकर मनुष्यका अपने कर्तव्यको भूल जाना। (२) क्षिप्त—चित्तका किसी विषयमें स्थिर न होना। (३) विक्षिप्त—वह अवस्था है जिसमें चित्त विषयोंके सुखका अनुभव करता हुआ क्षणिक स्थिरताको प्राप्त होता है, यही बीचकी अवस्था है। (४) एकाग्र-अवस्था वह है जिसमें चित्त किसी एक विषयमें निश्चल हो निर्वात दीपकके समान कुछ समयके लिये स्थिर हो जाता है। (५) निरुद्ध-भूमिका वह है जिसमें चित्त

निरवलम्ब होकर योग-समाधिमें लय रहता है। जिस मनका ही दूसरा नाम है।

भिन्न-भिन्न कार्योंके कारण मनके ही चार नाम हैं। मनन अर्थात् संकल्प-विकल्प करनेसे मन, चिन्तन करनेसे चित्त, निश्चय करनेसे बुद्धि, 'मैपन' का अभिमान होनेसे अहङ्कार। इन चार भेदोंवाला अन्तःकरण कहा जाता है। करण किसी औरके लिये होते हैं। इस नियमके अनुसार करणसे पृथक् कोई कर्ता भी मानना होगा, जो जीवात्मा है।

अब यह अड़चन उपस्थित होती है कि कुछ सन्न जीवात्माको परमात्मासे भिन्न नाना मानते हैं और मनको प्रकृतिका कार्य; एवं प्रकृतिको वे आत्मासे भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व ठहराते हैं। इसके प्रतिकूल कुछ महानुभाव एक ही तत्त्वको जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण सिद्ध करते हैं। हमें इस वाद-विवादसे मुख मोड़कर सुख-प्राप्तिके साधनोंके अपनाना चाहिये, जिनको दोनों ही पक्ष स्वीकार करते हैं। वे करनेमें ही हमारा कल्याण है।

इस विषयमें सभी सहमत हैं कि हमारे खारे हुए सूक्ष्म भागसे मन बनता है और इस मनको एकाग्र करनेके लिये इसका निर्मल और स्थिर होना जरूरी है। मनको दूर करनेके लिये निष्काम कर्म और स्थिरताके लिये उपासनाकी आवश्यकता है। यह जाने बिना कि निष्काम कर्म और उपासना क्या होती है, हम इनके पालनमें श्रद्धा ही कैसे हो सकते हैं। इसके लिये ज्ञानकी जरूरत है।

ज्ञान दो प्रकारका होनेसे ज्ञानियोंके भी दो भेद हो जाते हैं। एक तो शास्त्रोंके ज्ञानवाले, दूसरे वे ज्ञानवाले जो भगवान्के अपने स्वरूप ही हैं। गीता ४।३८के अनुसार ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला और कुछ भी नहीं। ऐसे ज्ञानकी उपलब्धि जितेन्द्रिय, तत्पर हुए श्रद्धावान् पुरुषको ही होती है। इस ज्ञान-प्राप्तिका सुगम उपान प्रभुभक्ति। उसीको उपासना कहते हैं। भक्तिसे ही मन शुद्ध स्थिर, एकाग्र और निरुद्ध होनेपर योग और कैवल्यकी फलस्वरूप सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य और कैवल्यकी प्राप्ति होती है। मनके हारे हार है मनके जीते जीते योगवाशिष्ठ और श्रुतियोंके अनुसार संसारकी लीला मात्र है जो सभी विचार तथा सभी प्रपञ्च मनकी लीलामात्र है जो इसलिये मनको ही नियंत्रित करता है। इसलिये मनको ही नियंत्रित करना ही योग है।

संख्या १०]

और निर्मल करके पूर्ण सुखकी प्राप्ति के लिये प्रभुभक्ति आवश्यक है ।

प्रभुमें विश्वास और उसके नाम-गुणका कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित निष्कामभावसे निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर हम अवश्य ही संसारी कार्योंको करते हुए ही स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें लेह-रहित हो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें लगे हुए प्रारब्धा-नुसार संतोषमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं । हमारे वास्तविक सुखकी अभिलाषा प्रभु-प्रेमसे ही पूर्ण हो सकती है । सुख सुखवान्से ही होता है । ईश्वर सर्वगुणनिधान है, इसलिये उसकी भक्ति भी सुखकी खान है । भक्ति, प्रीति, मैत्री, स्नेह और वात्सल्य—ये सब प्रेमके ही पर्यायवाचक हैं । प्रेम जब अपने बराबरवालोंमें उपजता है, तब वह प्रीति-मैत्री, छोटेमें होनेपर 'स्नेह' और 'वात्सल्य' और बड़ोंके साथ 'भक्ति' नामसे पुकारा जाता है । सारा संसार प्रेमके आधार है । प्रेमका ही अवलम्बनकर माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री और पुत्र एक घरमें बसते हैं । दूरके रहने-वाले भी इसी आकर्षण-बलसे खिंचकर आत्मीयके समान मिली-पैी हो जाते हैं । मनुष्यका समुदाय बाँधकर रहना स्नेहके प्रेमिष्ठ ही है । भार्याका पोषण, संतानका पालन, विद्या और धनका उपार्जन भी प्रेम कहा जाता है । अनजाना पुरुष जब प्रेमपाशमें फँसता है, तब अपने प्रीतिभाजनके लिये प्राणदान-तक कर देता है । मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी प्रेमही-के सहारे जोड़ेसे रहकर अपने अण्डों-बच्चोंका सेवन करते हैं । प्रेम ही स्नेह है जिसका अर्थ चिपकना, रस (गोंद) है । इससे पत्रादि जड़ पदार्थ भी जुड़ जाते हैं । सच पूछो तो जड़ या चेतन सबका मेल प्रेमपर है । जिस दिन प्रेम नष्ट होगा, उसी दिन संसारका भी नाश हो जायगा । जिसके हृदयमें प्रेम नहीं, वह अधम है, उसके लिये निष्ठुर, क्रूर और पापाण्ड्वदय, जो भी कठोर शब्द कहिये, उचित है ।

जो घट प्रेम न संचरे सो घट जान मसान ।

जैसे खाल लोहार की साँस लेत विन प्राण ॥

हममेंसे कोई भी ऐसा नहीं जिसकी यह भावना न हो कि वह सदा बना रहे । जो भी स्थिरता चाहता है उसे प्रेमका सहारा लेना ही होगा । शरीर तो स्थिर कभी रहा नहीं, आत्मा सदा ही स्थिर है । आत्मज्ञानमें अस्मिता ही बाधा बाल्मी है । मैपनका अभिमान गौण, मिथ्या और मुख्य

तीन प्रकारका है । पुत्र, कलत्र आदिमें गौण, शरीरमें मिथ्या और अपने वास्तविक स्वरूपमें मुख्य है । गौण और मिथ्या अभिमानमें आसक्तिरहित होनेके लिये आत्मज्ञान ही एकमात्र उपाय है । केवल भक्ति ही ऐसे ज्ञानका सुगम साधन है । महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि बताया है । सूत्र १ । २३ और सूत्र २ । ४५ में भी ऐसा ही कथन है । सूत्र १ । २३ से १ । २६ तक ईश्वरका लक्षण कहकर सूत्र १ । २७ में 'तस्य वाचकः प्रणवः' ईश्वरका नाम ओ३म् है, ऐसा कहा है । फिर सूत्र १ । २८ में 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'का आदेश है कि उस प्रणवका जप और उसके अर्थका विचारना । आगे सूत्र २९ में जपका फल बताया है ।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

तब योगीके विघ्न नष्ट हो जाते हैं और उसे अपने आत्माका ज्ञान हो जाता है । चिचको विक्षेप देनेवाले नौ विघ्नोंमेंसे एक व्याधि भी है । अर्थात् रोगादि शारीरिक विघ्न । अन्य महात्माओंका भी ऐसा ही अनुभव है । 'सर्व रोगका औषध नाम' (ग्रन्थ साहिब) । इस सूत्रके भाष्यमें भगवान् वेदव्यासजी लिखते हैं ।

ये तावदन्तराया व्याधिभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानात् भवन्ति स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदीयः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ।

'शरीरके रोग आदि जितने विघ्न हैं वे ईश्वरकी भक्तिसे नहीं होते, इसके स्वरूपका दर्शन भी होता है । जैसे ईश्वर पुरुष शुद्ध आनन्दस्वरूप, अद्वितीय और सर्वव्यापक है अर्थात् कर्मफलसे रहित, अविद्यादि क्लेशोंसे रहित, जन्म-मृत्युरहित, ऐसे ही बुद्धिके कारण अपने-आपको उलटा समझनेवाला योगी अपने ऐसे वास्तविक स्वरूपको प्राप्त होता है अर्थात् जान लेता है । अपनी पहचान ही ज्ञान है । यही स्वरूप-ज्ञान है और इसीका नाम कैवल्य है । यही वह अवस्था है जहाँ सभी भेद-भ्रम मिट जाते हैं । 'जीव-ब्रह्मका भेद नहीं और मैं-तूका परिच्छेद नहीं ।' संत-मत भी यही है । श्रुतिका भी ऐसा ही आदेश है—

एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति । (प्रश्न उप० ५ । २)

'हे सत्यकाम ! यह है परब्रह्म (शुद्ध निराकार जो मन-वाणीका विषय नहीं) और अपर ब्रह्म (साकार) यह जो

‘ओम्’ अक्षर है, इसलिये विद्वान् इसी आश्रयसे दोनों (पर-अपर ब्रह्म) मेंसे एकको पा लेता है। कठोपनिषद् अध्याय प्रथम वल्ली २ मन्त्र १५, १७ में भी यमराजने कहा है—‘सारे वेद जिस पदका अभ्यास करते हैं। अर्थात् समस्त वेदका परम तात्पर्य ब्रह्मप्राप्ति है और उनमें उसीके स्वरूपका वर्णन है, कहीं शुद्धका, कहीं शबलका। सारे तप जिसको बतलाते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान करते हैं, वह पद मैं तुझे संक्षेपसे बतलाता हूँ। ॐ यह है, ॐ अक्षर (अपर) ब्रह्म है, यह अक्षर पर (ब्रह्म) है (अर्थात् उसे पाता है)। यह सबसे उत्तम सहारा है, यह सबसे ऊँचा आलम्बन है। जो इस आलम्बनको जानता है, वह ब्रह्मलोकमें महिमावाला होता है।’ गीता ८।१३ में भगवान्का भी आदेश है कि ‘जो पुरुष ॐ ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझको चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है।’ मनु आदि महर्षियोंने भी जपसे परम सिद्धि बतायी है। ओङ्कार दोनों (पर-अपर) की प्राप्तिका साधन है, अपर ब्रह्मकी प्राप्तिद्वारा पर ब्रह्मतक पहुँचता है और यह असन्दिग्ध साधन है। इसे साधन न कहकर प्रभो-पनिषद्में यह कहा है कि ‘ओङ्कार पर और अपर ब्रह्म है।’ जैसे ‘आयुर्वै धृतम्’, धी आयु है अर्थात् आयुका अचूक साधन है। नाम-स्मरणमें किसी आस्तिकको विरोध नहीं। नाम संकेत है, जिस भी नामसे भगवान्का स्मरण किया जाय, वह अवश्य फलीभूत होता है। ‘कलिजुग केवल नाम अधारा’ प्रसिद्ध वाक्य है। जो भी इस साधनको अपनायेगा, सुख पायेगा। अनुभवी महात्माओंका कथन है कि नामके समान मस्ती देनेवाला और कोई पदार्थ नहीं, सुरा आदि मादक पदार्थोंके अतिरिक्त तन, धन और राज्यका मद भी विख्यात ही हैं पर—

जेती नशे संसार दे उतर जान प्रमात ।

नाम खुमारी नानका चढ़ी रहै दिन रात ॥

तुलसी अपने रामको रीझ भजो या खीज ।

खेत पड़े सो जामिहैं उरुटे सीधे बीज ॥

आरम्भमें विद्यार्थियोंको भी तप करना पड़ता है। खेल-कूदमें ध्यान होते हुए भी वह कुछ समय शिक्षाके अर्पण करता है। समय आता है कि सोते हुए भी पाठको बड़बड़ाने लगता है और अन्तिम विद्याका परिणाम सुख

पाता है। आँखें मीची होनेपर हमारी हथेलीपर धरा हुआ रेतके कणका हमें कोई ज्ञान नहीं होता परंतु धीरे-धीरे रखे हुए रेतके कण अधिक मात्रामें होनेसे हमें नेत्रों लगते हैं और आँख भी खुल जाती है। धुंधानिर्वाणके लिये यद्यपि भोजनका प्रथम ग्रास भी तुष्टि और पुष्टि कारण होता है, परंतु पेट भरे बिना हर कोई इस बातको नहीं समझता। भगवान्का नाम एक बार लिया हुआ दुःखनाशक और सुखका परम हेतु है परंतु कुछ काल निरन्तर जपे बिना इसका प्रत्यक्ष फल दिखायी न देनेसे निराश नहीं होना चाहिये। अपना कर्तव्य समझ कर परायण होकर स्मरण करते जाओ। इससे कल्याण हो होगा, हानिका तो कोई भय ही नहीं।

भगवान्ने गीता अ० ७ श्लो० १४ में स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि ‘मेरी मायाको पार करना बड़ा ही कठिन है जो मेरी शरणमें आता है वह मेरी मायासे पार हो जाता है।’ और गीता अध्याय ९ श्लो० ३०, ३१में यह भी बलपूर्वक कहा है कि ‘कितना भी दुराचारी क्यों न हो जो मुझे अनन्यभावसे भजने लगता है वह मुझसे है और मेरे उस भक्तका कभी नाश नहीं होता।’ अनेक बालक यह न जानते हुए भी कि माता-पिता क्या होते हैं, उन्हें तोतली जवानसे पुकारता है, अतः उनके स्नेह अत्यन्त पात्र बना रहता है। ऐसे ही भक्त भी भगवान्का स्नेहभाजन हो जाता है। भक्तके योगक्षेम-निर्वाहके लिये तो भगवान्ने स्वयं प्रतिज्ञा की है। अतः एकमात्र भगवान्पर भरोसा रखकर शुद्ध व्यवहारमें लगे हुए भगवान्के पवित्र नामका स्मरण करते रहना चाहिये। मनुष्य जन्मको सफल करनेका यह सहज मार्ग है। मायावशिक भक्तिसे माया भक्तकी चेरी बन जाती है और अन्तर्गत कृतार्थके प्रति यह नष्ट हो जाती है जैसा कि योग (२।२२) में वर्णन है—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।

सूर्य एक होता हुआ भी नाना जलपात्रोंकी उपस्थिति कारण नाना दिखायी देता है परंतु वह एकसे दो कभी हुआ ही नहीं। ऐसे ही एक ही आत्मा है जो भक्तके रजोगुण और तमोगुणके दबने और सात्विक बुद्धि प्रधानता होनेपर अनुभव-गोचर होता है। भक्त भक्तिसे प्रभावसे सब कुछ वासुदेव ही है—ऐसा ज्ञान प्राप्त करने पर तर जाता है तथा दूसरोंको तारनेयोग्य बन जाता है।

संत-कृपा

(लेखक—श्रीनिरञ्जनदासजी धीर)

श्रीश्यामसुन्दर भगवान् अपने कलिकालग्रस्त जीवोंपर विशेषरूपसे कृपा करके उनको समयके अनुरूप विचित्र तथा विलक्षण प्रत्यक्ष घटनाओंसे सचेत किया करते हैं कि जहाँमें जो कुछ कहा गया है, वह भ्रुव सत्य है। पिछले कुछ वर्षोंमें जो पूर्वजन्मकी स्मृतिके अकाट्य उदाहरण जनताकी दृष्टिमें लाये गये हैं, उनका अभिप्राय भी यही प्रतीत होता है कि जीव प्रत्यक्ष देख ले कि कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है। एक ऐसी ही विचित्र घटना, जो लगभग चालीस वर्ष पहले डेरागाजीख़ाँ नगरमें घटी थी और जिसकी सच्चाईकी जाँच मेरे परम पूज्य मित्रने, जो उस समय एक उच्च राज्य-पदाधिकारी थे, स्वयं घटनास्थल-पर की थी, 'कल्याण'के पाठकोंकी सेवामें उपस्थित की जाती है।

डेरागाजीख़ाँ सिन्ध नदीके किनारे एक भव्य नगर था। उस मुसल्मानी नगरमें भी वैष्णव महात्माओंने जीवों-के कल्याणके लिये गढ़ बना रक्खे थे, इस बातकी कश्मिश लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। मेरे परम पूज्य मित्र जिस समय श्रीविग्रहके दर्शन करने गये, उस समय महात्माजी आरती कर रहे थे। उनकी तेजोमय शोभा आकृतिमें एक विशेष आकर्षण था और वे ऐसे भावसे आरती कर रहे थे, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे साक्षात् श्रीमुरलीमनोहरकी आरती कर रहे हैं, श्रीविग्रहकी नहीं। वे महात्माजी यथार्थमें प्रभुके पूर्ण कृपापात्र थे, यह उनकी हर-एक चेष्टासे सिद्ध हो रहा था।

इस नगरसे तीन-चार मीलकी दूरीपर एक ग्रामका निवासी एक मुसल्मान बलोच मन्दिरके बाहर आकर बैठा रहता और श्रीमहंतजी तथा अन्य साधु-महात्माओंकी जो कुछ सेवा वह कर सकता, बड़े हर्षसे कर दिया करता। महंतजी महाराज भी उसको प्रसाद दिला देते और रात्रिको तो इतना प्रसाद दिला देते, जो उसके तथा उसकी स्त्रीके लिये पर्याप्त होता। कुछ समय ऐसे ही व्यतीत हुआ। फिर उसके सगे-सम्बन्धी तथा अन्य मुसल्मान मित्र उससे कहने लगे कि 'तुम प्रतिदिन काफिरोंके मन्दिरमें पड़े रहते हो, उन्हींका अन्न खाते हो। यह आचार एक मुसल्मानके लिये अयोग्य है। इससे इस्लाम-धर्मकी तौहीन होती

है।' परंतु उस बलोचपर इन लोगोंके कहनेका कुछ भी असर नहीं हुआ।

एक दिन एक प्रसिद्ध मौलवीने उसको बहुत बुरी तरहसे फटकारा, तब वह व्यथित चित्तसे श्रीमहंतजी महाराजके पास आकर रोने लगा और कहने लगा—'महाराजजी ! यह बात मेरी समझमें नहीं आती कि मेरे सहधर्मियोंके रोकनेपर भी मैं यहाँ आये बिना क्यों नहीं रह सकता।' महात्मा तो दयाके प्रतीक ही होते हैं, उनको उसपर दया आ गयी। वे कहने लगे—'यह सत्य है कि तुम नहीं जानते; परंतु मैं जानता हूँ कि तुम यहाँ क्यों आते हो ! बात यह है कि इस जन्मसे पहले तुम अमुक ग्रामके अमुक नामी अरोड़े थे और हमारे सेवक थे। तुम सभी काम हमारी अनुमतिसे किया करते थे। एक समय तुम्हें यह बात शत हुई कि ग्रामोंसे कच्ची खालें (पशुचम) खरीदकर शहरमें बेचनेमें बहुत लाभ होता है। तुमने यह व्यापार करनेके लिये हमसे अनुमति माँगी। हमने कहा 'यह नीच वृत्ति है। इससे मनुष्य पतित हो जाता है। यह व्यापार तुम न करो।' पर तुम लोभके वशीभूत होकर वही व्यापार लगातार एक वर्षतक करते रहे और इस व्यापारमें तुम्हें दस हजार रुपयेका लाभ हुआ। इस धनको तुमने चक्कीके नीचे गड्ढा खोदकर अपने घरमें गाड़ दिया; क्योंकि तुम्हें डर था कि तुम्हारे पड़ोसी मुसल्मान धन चुरा लेंगे। कुछ दिनों बाद तुम मर गये। तुम्हारे बच्चोंको यह धन नहीं मिला। इस समय उनकी बड़ी शोचनीय दशा है। तुम उस ग्राममें जाकर देखो तो तुम्हें अपने पूर्वजन्मकी स्मृति आ जायगी।'।

वह बलोच उस ग्राममें गया तो उसको ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे उससे चिरपरिचित है यद्यपि इस जन्ममें वह पहली ही बार वहाँ गया था। वह उस अरोड़ेके घर बिना पूछे ही पहुँच गया और अपने पूर्वजन्मके लड़केको बुलाकर पूछा तो शत हुआ कि उनकी स्थिति वास्तवमें बड़ी शोचनीय है। महंतजीके आज्ञानुसार उसने उससे प्रतिज्ञा करवाकर कि उसके पिताने जो एक अन्य व्यक्तिके

पाँच-सात सौ रुपये देने थे वह दे देगा और पितृपक्षमें-
गयाजी जाकर अपने पिताका श्राद्ध करा देगा, उसको
चक्कीके नीचेसे वह धन निकाल दिया। उस लड़केसे यह
भी वचन ले लिया था कि जब वह गया पहुँचे तब वहाँसे
तारद्वारा उस बलोचको सूचना दे।

उस दिनसे इस मुसल्मान बलोचको अपने इस जन्म
तथा कर्मोंसे बड़ी घृणा हो गयी और उसने अपने
उद्धारके लिये महंतजीसे सविनय प्रार्थना की। जिस
दिन वह बलोच अपने पूर्वजन्मके पुत्रका तार लेकर
आया कि वह श्रीगयाजी पहुँच गया है, श्रीमहंतजीने
उससे कहा कि 'स्नान करके नये वस्त्र धारण करो
और मेरे पास आओ।' जब वह आया तो श्रीमहंतजीने
उसको भगवन्नाम दान दे दिया। मन्दिरके बाहरके

द्वारके सामने एक चट्टाईपर उसको बिठा दिया।
कहा कि 'श्रीभगवन्नामका जप करते रहो और श्रीविग्रह
अनिमेष दर्शन करते रहो, निद्रा आने लगे तो
श्रीविग्रहका ध्यान मनमें अवश्य रखना।'

वह बलोच बड़े प्रेमसे श्रीविग्रहका दर्शन तथा भगवन्नाम
का जप करने लगा। थोड़े समयमें उसको निद्रा-सी हो
लगी। यह ऐसी दिव्य और आदर्श निद्रा थी जिसके
जानेपर फिर कभी इस स्थूल शरीरमें जागना नहीं होता।
ऐसी निद्राके लिये सभी संत-महात्मा सदा लालायित रहते हैं
परंतु किसी बड़भागीको ही प्रभु तथा महापुरुषोंकी कृपा
यह मिलती है।

वह समय धन्य था जब ऐसे सच्चे प्रभुके पुजारी संत
महंत थे और ऐसे उनके कृपापात्र मनुष्य थे।

वर्णव्यवस्थाको हटाकर क्या चाहते हैं ?

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी, एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

प्राचीन ढंगका सनातन हिंदूसमाज शास्त्रीय वर्ण-
व्यवस्थाके आधारपर निर्मित था, प्रत्येक जाति और
अवान्तर जातिके लोग अपनी जातिके अन्तर्गत योग्य
कन्या-वरका विवाह-संस्कार धार्मिक रीतिसे करते थे
और लोक-परलोककी सिद्धिके लिये योग्य संतानको उत्पन्न
करके उसे अपने वित्तका उत्तराधिकारी बनाकर आयुके
शेष भागमें ऐहिक वासनारहित होकर ईश्वरमें लीन रहते
हुए शरीरत्याग करके परमपदको प्राप्त करते थे। अपने-
अपने कुल-क्रमागत कर्मोंके द्वारा मर्यादित सीमाके अन्तर्गत
संतोषपूर्वक जीविकोपार्जन लोग किया करते थे।
किसीकी जीविकाके किसी अन्य जातीय अनधिकारी पुरुषके
द्वारा छिन जानेका कोई भय नहीं था। रोटी और रोजीके
छीन-छोड़की कोई समस्या समाजके सामने नहीं थी
और न वर-कन्याके मेलकी कोई विषम समस्या थी।
शास्त्रके द्वारा हर विषयकी मर्यादा निर्धारित थी।
मर्यादाके बाहर कोई जहाँ चाहे अथवा जिससे चाहे विवाह
कर ले, इस देशमें ऐसा कोई प्रश्न नहीं था। अमर्यादित
विवाह अथवा जीविकोपार्जन यहाँ बर्बरताका लक्षण
समझा जाता था। बहुत परिश्रम और अनुसन्धानके
पश्चात् त्रिकालदर्शी ऋषियोंने वैध एवं निषिद्ध यौन-
सम्बन्धका दिग्दर्शन शास्त्रोंमें कराया है, जिसके अनुसरणसे

हिंदूसमाजमें चारों वर्णों एवं अनेक अवान्तर वर्णों
लोग योग्य संतानोत्पत्तिसे सब प्रकारकी ऐहिक सुख-सुखी
प्राप्त करते आये थे। वे मस्तिष्कसे परम मेधावी एवं
शरीरसे लौह-सहश होते आये थे। जिस समय विश्वके
भागोंके लोग जंगली अवस्थामें थे—उस समय यहाँ
समृद्धिकी सरिता बह रही थी—कलाओंका विकास चल
सीमापर पहुँचा हुआ था। जीवन सर्वथा मर्यादित
चोरीका नाम नहीं था। (श्रुतौ तस्करता स्थिता)
सीमाबद्ध जीविकासे प्राप्त अन्न-वस्त्रसे लोग संतुष्ट रहते
थे। उद्योगके साथ-साथ कर्मविपाकके सिद्धान्तपर लोग
अद्वैत विश्वास था। समाजमें एक दूसरेके सुख-दुःखसे
'हाय-हाय' नहीं मचती थी। वर-कन्याके मेलकर्म
यही क्रम था। भाग्यमें जिस पुरुषको जैसी कन्या
जिस कन्याको जैसा पुरुष लभ्य था—उसीको संतोषपूर्वक
जीवनसङ्गी बना लिया जाता था। लोगोंको इसका चिन्ता
था कि इस नश्वर शरीरसे ऐन्द्रियिक विषय-भोग कुछ समझने
लिये ही है—चरम लक्ष्य तो है—मोक्ष-लभ, जिसमें धार्मिक
सुख-दुःखका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यही था हमारा सनातन-आर्यलोगोंका जीवन-क्रम। इस
स्थानमें आज हमारे नेतागण क्या चाहते हैं और
उसकी अनुकरण-भित्ति (Pattern) लेना चाहते हैं—

यह विचारनेकी बात है। देशके लिये यह गम्भीर समस्या है।

जो लोग आज देशके भाग्यके सर्वेसर्वा विधाता हैं, वे अपने विचारसे भिन्न विचारवालोंको मूर्ख समझते हैं ! उनकी विचार-पद्धतिपर चलकर यह देश कहाँतक निजत्वके रक्षणपूर्वक अपना कल्याण-साधन कर सकता है, यह विचारणीय है। वैवाहिक प्रथा और वित्तके उत्तराधिकारका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, 'पिण्डं दत्त्वा हरेद्धनम्' का सिद्धान्त यहाँ अनादिकालसे चला आ रहा है। पिछले हिंदूकोडविल या इस प्रकारके अन्यान्य विल इस प्राचीन समाज-व्यवस्थाको अस्त-व्यस्त करनेकी ओर लक्षित है। हमारे नेता इसके सर्वप्रधान समर्थक हैं। विवाहको धार्मिक संस्कार न मानकर जिस दिन यहाँके लोग अमर्यादित समाने रूपसे जिस किसी वर्णकी कन्यासे विवाह करने लगे, उस दिन यहाँका सामाजिक जीवन पशुतुल्य हो जायगा, स्त्रियोंका सतीत्व और पुरुषोंका सदाचार-जैसी मूल्य निधि सर्वथा विनष्ट हो जायगी। इन निधियोंके विनष्ट हो जानेपर हिंदूसमाजका कौन-सा कल्याण शेष रह जायगा, जिसकी पूर्तिके लिये आजके इन नेताओंके झर जनता फूल-माला चढ़ायेगी और उनकी चरणरजको रससे चढ़ायेगी। ये नेता ऐसे ही वैद्य हैं, जो रोग उत्पन्न करके अपनी कुशलता दिखलाना चाहते हैं, पर इन वैद्योंकी शर्त यह है कि रोग दूर हो या नहीं, रोगीका आमूल रूपान्तर होना अनिवार्य है, रूपान्तरित अवस्थामें ही ये वैद्य अपनी श्रमगत दिखलायेंगे। भारतीय जनताको यह जादू कहाँतक भंड है। आज सारा देश विचित्र परिस्थितिमें डाला जा रहा है, 'मान न मान, मैं तेरा मेहमान' वाली बात हर जगह दृष्टिगोचर हो रही है, समाज-सुधारके नामपर उलट-बुलट बातोंका नये-नये रूपमें बिना सिर-पैरके समाजपर लदनेकी चेष्टा की जा रही है।

आर्थिक-स्थिति—अभी इस युगमें जीवनकी सारी समस्याएँ आर्थिक समस्याके अधीन हो रही हैं। वित्तपेक्षा और भोगपेक्षाका यह युग है, धर्मका हास सब ओरसे हो रहा है। अतः भारतीय दृष्टिकोणसे प्राचीन-वर्ण-व्यवस्थाके मापदण्डके अनुसार इस समस्यापर भी यात्किञ्चित् विचार करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। सब कमोंके लिये जीविकाका मार्ग न्यूनाधिक निर्धारित था, आपत्तिकालके लिये थोड़ा-बहुत उलट-फेरका विधान था। खेती एवं व्यापारसे अधिकधिक अन्न और द्रव्यका भण्डार संगृहीत करना

एक वर्ग-विशेष (वैश्य) का काम था। प्रजाहितके कामोंमें अवसर-विशेषपर राजकीय माँगके अनुसार अन्न-धनसे राज्यकी सहायता करना उस वर्गके ऊपर दायित्व था, आजकी भाँति सब किसीसे कर उगाहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। समाजमें मान और प्रतिष्ठाका मापदण्ड धन कभी नहीं था। विद्या एवं कष्ट-सहिष्णुता ब्राह्मणोंके लिये, शूरता एवं त्याग क्षत्रियोंके लिये मानका साधन था। किसी जातिका भी व्यक्ति उत्तम गुणोंके लिये आदरका पात्र होता था।

पूर्वजन्मार्जिता विद्या पूर्वजन्मार्जितं धनम्।

पूर्वजन्मार्जितो दायो अग्रे अग्रे प्रधावति ॥

इत्यादि नीति-वाक्योंपर लोगोंकी आस्था थी। तो भी—

‘अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।’

—के अनुसार लोग उद्योग और अध्यवसायसे विमुख नहीं होते थे। यम-नियम यहाँके लोगोंके जीवनका मुख्य मार्गदर्शक एवं उनके नित्य-नैमित्तिक कार्योंके नियामक थे। हमारे नये युगमें एक महात्मा गाँधीके द्वारा सत्य, अहिंसापर जोर दिये जानेपर इतना उथल-पुथल मचा कि गिने दिनोंमें यहाँसे अंग्रेजी साम्राज्यकी इतिश्री हो गयी। पूर्वमें यहाँ यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) और नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान) का क्रमिक अभ्यास चारों वर्ण और चारों आश्रमके लोग किया करते थे, अपरिग्रह (व्यर्थ संग्रह नहीं करना और कम-से-कम वस्तुओंसे जीवननिर्वाहका अभ्यास डालना) एक ऐसी वस्तु थी जो आजकी दशासे सर्वथा विपरीत थी। आज हमारे नेता पश्चिमीय वातावरणके वायुके झकोरेमें पड़कर हमें उपदेश दे रहे हैं कि जीवनके स्तरको ऊँचा करो, जीवनकी आवश्यकताओं (Necessities of life) को बढ़ाओ और उनकी पूर्तिके लिये सर्वदा अशान्त और बेचैन बने रहो। जैसा कि पश्चिमीय देशोंमें सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। फलतः शासनविधानमें दिनानुदिन एक ओर कर्मचारियोंके वेतन और भत्तेमें वृद्धि होती जा रही है और दूसरी ओर जनताके ऊपर नये-नये करोंका भार बढ़ता जा रहा है। एक वृद्धिके बाद दूसरी वृद्धिके लिये नित्य हड़तालकी धमकी सुनी जाती है और सार्वजनिक जीवनमें चारों ओर अशान्ति एवं बेचैनी पायी जा रही है। सारे लोग टकापन्थी हो रहे हैं। धन ही

मानका एकमात्र साधन हो गया है, जिसे धनार्जनका वैधमार्ग सुगम नहीं है—वह चोरी, डकैती और घूसखोरीसे अपनी एषणाकी पूर्ति कर रहा है, इस प्रकार चारों ओरसे घरमें आग लगाकर पुलिस और फौजकी मात्रा बढ़ाकर शान्तिरक्षाका उपाय ढूँढ़ा जा रहा है। हमारे आधुनिक आत्म-विस्मृत नेता 'संतोषात् परं सुखम्' 'धनाद् धर्मं ततः सुखम्' आदि अपने नीतिशास्त्रके स्वर्ण उपदेशोंके

अमृतमय वाक्य भूल गये हैं। पञ्चवर्षीय-युक्ति योजनाको वे रामबाण समझ रहे हैं, पर अनुभव होता है कि पाँच वर्षोंके पूर्व ही इस भ्रान्तिका निराला हो जायगा। दिनानुदिन चोरी, घूसखोरी और छीना-कटे बढ़ती जायगी, कहीं-न-कहीं इस अंधाधुंध धनलिप्सा विराम होगा, नहीं होगा तो सर्वनाश होगा, जिसे हम चेष्टा करके भी नहीं रोका जा सकेगा।

अनैतिकताका निराकरण

(लेखक—श्रीसंतकुमार अवस्ती, एम्. ए.)

अधिकारानधिकारके आधारपर अविहित कर्मोंके त्याग और विहित कर्मोंके करनेके धर्मानुमोदित न्याय-सम्मत आचरणको 'नैतिकता' की संज्ञा दी गयी है। किसी वस्तुके अधिकारी होनेपर धर्म और न्यायके सहारे शुभ उपायोंद्वारा उस अधिकारको प्राप्त करनेकी प्रक्रियाको सभ्याचरण कहते हैं। अधार्मिक, अन्यायपूर्ण, अशुभ और अनाधिकारिक चेष्टाओंसे हम नैतिक अधःपतन अथवा असभ्याचरणके भागी होते हैं। नैतिक अधःपतन वास्तवमें आचरणकी असभ्यताका द्वितीय अभिधान है। पतिताचरणसे नैतिक पतन होता है और नैतिक पतनसे धर्म और न्यायकी उपेक्षा होनेके कारण दुःखोंकी सृष्टि।

किसीके भले-बुरे आचरणमें हम उसके नैतिक उत्थान एवं पतनके स्वरूपको देखनेका प्रयत्न करते हैं। व्यक्ति की सीमित परिधिसे निकलकर समष्टिके बृहत्तर वृत्तों—समाज, जाति और देश—की नैतिकताको भी आचरणकी इसी कसौटीपर कसा जाता है। जिस समाज, जाति और देशके लोगोका आचरण जैसा होता है, उनकी नैतिकता भी उसी कोटिकी होती है। आज हमारे देशमें आचरणकी भ्रष्टता पग-पगपर परिलक्षित होती है, और यही कारण है कि देशमें कष्टोंकी जैसे बाढ़-सी आ गयी है। कहना न होगा कि देशवासियोंके आचरणकी भ्रष्टतासे उत्पन्न 'धर्मकी उपेक्षा' ही इसका मूल कारण है। देशके उत्तरोत्तर वृद्धिशील नैतिक अधःपतनमें किसीको किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। स्वार्थ, अधर्म और अन्यायके कारण व्यक्ति-व्यक्तिमें विद्वेषकी भावना उत्पन्न हो गयी है, फलतः समाजमें सुखके स्थानपर संतापकी सृष्टि हो रही है, स्वार्थपरता तो

जैसे सीमाका अतिक्रमण कर चुकी है, धर्मसे लोगोको चि हो गयी है और न्यायका गला घोटकर 'स्व' की उपाय ही आजका युग-धर्म माना जाने लगा है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आज जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अनैतिकता परिव्याप्त है। घरमें, घरसे बाहर स्कूल और कालेजोंमें, व्यापार और व्यापारसे सम्बद्ध संस्थाओंमें सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रोंमें प्रायः सर्वत्र ही अनैतिकताका बोलबाला है। पारिवारिक जीवनमें पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी आदि—जैसे पवित्र मान्य बन्धनोंकी मर्यादा नष्ट हो गयी है। पुत्र पितासे बुरा व्यवहार करता है, भाई-भाईमें प्रेम नहीं रह गया है और पति-पत्नी एक दूसरेको अविश्वासमयी शङ्कित दृष्टिसे देखते हैं। स्कूल और कालेज तो जैसे अनैतिकताके केन्द्र बन गये हैं ! इन शिक्षण-संस्थाओंमें अनैतिकता फैल लेती है और मुक्त होकर फलती-फूलती है। उनके उच्च शिक्षाप्राप्त युवक और युवतियोंमें नैतिकताका निम्न अभाव देखा जाता है, न वे मर्यादाका पालन करना जानते हैं और न सामान्य धर्मका निर्वाह करना। परमात्माकी विश्वम्भरता और उसके व्यापकत्वके ज्ञानसे हीन विचारों के अपने-जैसे द्विपदोंको धोखा देकर कोई भी अनैतिक कार्य करके पकड़े न जानेपर उसको अनैतिकता नहीं मानते छोटे-छोटे किंतु चोरीको बुरा समझनेवाले बालकोंसे लेकर बड़े-बड़े लोगतक की हुई चोरीको छिपानेके लिये जुग जुई वस्तुको 'तिड़ी करने, उड़ा देने, पार करने' आदि जैसे शब्दोंका प्रयोग करके दूसरोंको धोखा देनेके साथ-साथ निजको और परमात्माको भी धोखा देने

चाहते हैं। विद्यार्थी-जीवनकी गुरु-शिष्यके पारस्परिक व्यवहारकी पावन परम्परा नितान्त नष्ट हो गयी है। शिष्यों-द्वारा गुरुओंके अपमानित होनेकी अमर्यादापूर्ण घटनाएँ प्रायः नित्य ही समाचारपत्रोंमें छपा करती हैं। विद्यार्थियोंकी उद्वेगता, उच्छृङ्खलता और मर्यादाहीनता आजके विचारकोंके समुच्च विकट समस्याके रूपमें उपस्थित है। पारिवारिक जीवनमें अङ्कुरित होकर और विद्यार्थी-जीवनमें पुष्पित तथा पल्लवित होकर यह अनैतिकता सामाजिक जीवनमें प्रवेश करके उसको पतित कर देती है। उदाहरणके लिये दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। अपने चारों ओर फैले हुए छिन्न-भिन्न समाजकी नष्टप्राय एकसूत्रतामें अनैतिकताके स्थान किये जा सकते हैं। कथनी और करनीमें सामञ्जस्यके अभावको पॉलिसीका जामा पहनाकर समाजका अहित करनेवाले लोगोंकी कमी नहीं है। जिसके कहने और करनेमें कितना ही अधिक अन्तर होता है, वह उतने ही अधिक प्रेमस्तरका मनुष्य गिना जाता है और उससे समाजका जना ही अधिक अहित भी होता है। परंतु आज तो हारा-सारा समाज ही जैसे इसी प्रकारका हो गया है। श्रेणीके वचनका विश्वास नहीं है। किसीके कर्मका विश्वास नहीं है। सभी एक दूसरेको अविश्वासकी दृष्टिसे देखते हैं। यह अनैतिकताकी पराकाष्ठा है, जिसका और भी अद्वैत रूप व्यवसायके क्षेत्रमें देखनेको मिलता है। दूधमें जली मिलावट, धीमें वनस्पति तेलका मिश्रण, काली चिमें पपीतेके बीजोंका पुट, जीरेमें सींकके जीरेका सामञ्जस्य, अधिक मूल्यपर बेचनेके लिये ओषधियोंके छेदोंमें हेर-फेर करनेके जैसे व्यावसायिक अनैतिकताके अनेकानेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। व्यापारीवर्ग तो इतना पतित हो गया है कि वह मानव-जीवनसे खिलवाड़ करता है। राशनकी दूकानोंपर कम तौलने, कूड़ा-करकट भिजाकर गेहूँ आदि बेचनेकी क्रियाएँ नित्यप्रति चला करती हैं। कपड़ेवालोंके यहाँ शीत ऋतुमें मलमल मिल सकती है, तो ग्रीष्म ऋतुमें गाजी और गाढ़ा सुलभ होते हैं। कमी जनानी धोतियोंका अभाव होता है, तो कभी पतानी। यही नहीं, जो कपड़ा खुले बाजार नहीं मिलता है वही चोरबाजारीसे सरलतासे प्राप्त हो जाता है। यही अनैतिकता सरकारी अथवा इतर अधिकारियों और कर्मचारियोंमें दूसरे रूपमें प्रकट होती है। लाल-नीतिके कारण एक तो वैसे ही सरकारी

कार्योंकी सम्पन्नतामें विलम्ब होता है और फिर जहाँके कर्मचारी बात-बातमें बिना पहिए (रुपए) के गाड़ी न चलनेकी चर्चा करते हैं, वहाँ भगवान् ही मालिक हैं। यह तो कोढ़में खाज है। सरकारी योजनाओंकी विफलताके मूलमें उन योजनाओंके कर्मचारियोंकी स्वार्थजन्य अनैतिकता ही होती है। समूचे राष्ट्रकी उपेक्षा करके निजी स्वार्थको सर्वोपरि समझनेवाले मानवोंकी अनैतिकताका यह नितान्त नीच अङ्ग है !

इस प्रकार प्रायः सभी क्षेत्रोंमें मनुष्यका नैतिक स्तर निम्न हो गया है। आर्थिक क्षेत्रका वर्ग-संवर्ष अनैतिकताके ही कारण फल-फूल रहा है। स्वार्थके कारण मनुष्यका आचरण भ्रष्ट होते देर नहीं लगती और आज जबकि स्वार्थसाधन ही युग-धर्म हो रहा है, तब आचरणकी असभ्यताकी गहराईका अनुमान सरलतासे किया जा सकता है। इसी स्वार्थपरताके कारण इस भोगप्रधान युगमें सम्पूर्ण मानव-समाज धनके लिये बावला होकर डोल रहा है। नैतिकताको 'बलाए ताक' रखकर सभी सम्पत्ति-संचयके मोहक जालमें फँसे हैं। आर्थिक क्षेत्रकी इस भाग-दौड़में धनवालोंका चरित्र विशेष भ्रष्ट हो गया है। मकड़ियोंकी भाँति परिस्थितियोंका जाल बुनकर मक्खियोंके समान साधन-हीनोंको फँसाकर उनका जीवन हरण करनेवाले इन धन-कुबेरोंका जब ऐसा चरित्र है, तब बेचारे अभाव और विवशताके सताये हुए लोगोंसे नैतिकताकी माँग करना उनका उपहास करना है। अस्तु,

अनैतिकताके स्वरूपको समझनेके पश्चात् उन कारणोंके भी जाननेकी आवश्यकता है, जिनके कारण मनुष्यका आचरण भ्रष्ट हो जाता है ताकि उनमें आवश्यक सुधार करके नैतिकताकी पुनः स्थापना की जा सके। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आजका मानव बड़ा स्वार्थी हो गया है। उसके प्रत्येक व्यवहारमें पग-पगपर छल-कपटकी छाया दृष्टिगोचर होती है। उसका जीवन एक प्रकारसे कृत्रिम हो गया है। मनुष्यके जीवनका आधार आज त्याग नहीं, वरं भोग है। यही कारण है कि जहाँ त्यागके आधारपर हमारा अतीत नितान्त उज्ज्वल था, वहीं भोगके कारण आज हमारा वर्तमान उतना ही मलिन हो गया है। भोगगर्भित स्वार्थके कारण आज प्रायः सभी प्रकारके नैतिक बन्धन शिथिल पड़ गये हैं, फिर चाहे वे सामाजिक हों अथवा राष्ट्रिय। परंतु इतने पतनके बाद भी आजका

मनुष्य नामक जीव भ्रान्तिके कारण कुत्तेकी शुष्क अस्थिमें निज रक्तास्वादनमें ही मोद माननेकी भाँति पतनको ही उत्थान मानकर प्रसन्न हो रहा है। वास्तवमें प्रत्येक वस्तुका मापदण्ड ही बदल गया है। जिन वस्तुओंका भारतीय विचारकोंने निषेध किया है, उन्हें ही हम आज गौरवसे गले लगा रहे हैं। हमारी विचार करनेकी प्रणाली ही अभारतीय हो गयी है; फलतः हमारा पतन हो रहा है। विचार करते समय हम केवल मस्तिष्कसे काम लेते हैं। हमारे तर्क सहायभूति और श्रद्धासे हीन होते हैं। मस्तिष्क और हृदयके संतुलित सामञ्जस्यके अभावमें हमारे विचार निर्माणकारी न होकर विनाशक हो जाते हैं। इस विनाशसे हम प्रसन्न होते हैं, यह हमारा असभ्याचरण है। यही हमारी अनैतिकता है।

पग-पगपर हम अपनोंका अपमान करते हैं। कुतर्कोंके सहारे बड़े लोगोंके हितकर उपदेशोंको न माननेका जघन्य अपराध नित्य ही होता रहता है। भारतीय शास्त्रकारोंने मांस-भक्षणका निषेध किया है, परंतु पाश्चात्य रीति-नीतिसे प्रभावित व्यक्तियोंके मतसे जब मनुष्यके बत्तीस दाँतोंमेंसे ४ 'केनाइन' दाँत होते हैं, तब सप्ताहमें कम-से-कम वह एक दिन मांस खा सकता है। इन्हीं कुतर्कोंके सहारे ऐसे लोग उक्त प्रकारके निषेधोंको अवैज्ञानिक ठहराते हैं! वास्तवमें, अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिये ऐसे कुतर्क अश्रद्धालु व्यक्ति ही देते हैं जो असभ्य और अनैतिक होते हैं।

विदेश जाते समय महात्मा गाँधीकी महिमामयी जननीने उनको मांस न खानेका दुलारभरा उपदेश दिया था। इंग्लैंडमें मांस खानेके अवसर आनेपर वे अपनी माताके उपदेशके सहारे अपनी रक्षा कर लेते थे, परंतु कालान्तरमें कतिपय सज्जन, जो अण्डेको मांस नहीं मानते, गाँधीजीसे अण्डा खानेका आग्रह करने लगे। परंतु क्या गाँधीजीने अण्डा खाना प्रारम्भ कर दिया ? नहीं, बल्कि उन्होंने विचार किया कि उनकी सरलहृदय माताके 'मांस न खाना' जैसे एक छोटे-से वाक्यांशका अभिप्राय 'मांस न खाना' ही था। कुतर्कके सहारे यदि वे चाहते तो मांस खा सकते थे, परंतु उन्होंने वैसा नहीं किया; क्योंकि सभ्याचरण उनका पथप्रदर्शक था और नैतिकता उनकी सहचरी थी।

हमको अनैतिक बनानेमें जहाँ परिस्थितियोंने सहयोग

दिया है, वहीं विदेशियोंके शासनकालमें उनके धर्म भी हमें कम हानि नहीं पहुँचायी। पश्चिमकी व्यापकताके क्रान्तिके कारण उत्पन्न नास्तिकताकी लहरसे हम प्रभावित हुए, फलतः परमात्माकी व्यापकता और उनके विश्वम्भरतापरसे हमारी श्रद्धा हट-सी गयी। मनुष्यसे छिपा हम कुछ भी करने लग गये और इस प्रकार हमारा पतन हो गया। जब कि वास्तविकता यह है कि परमात्मा सर्वत्र परिव्याप्त है और—

राम झरोखे बैठिके, सबका मुजरा ले।

जाकी जैसी चाकरी, ताको तेसा देव ॥

—उक्त कथनको समझनेके पश्चात् मनुष्य अनेक प्रकारके कुकर्मोंसे बच सकता है। हम घूस लेते हैं, व्यभिचार करते हैं, चोरी करते हैं, असत्य बोलते हैं परंतु मनुष्य छिपाकर हो सकता है हमारे इन कुकर्मोंको मनुष्य जान पाये, परंतु परमात्मा तो देखता ही है, उसने तो कुछ छिपा नहीं है। यदि हमें परमात्माका भय हो, तो प्रकार हम मनुष्यसे भयभीत रहते हैं और प्रयत्न करते कि वह हमारे कुकर्मोंको देख न ले, उसी प्रकार यदि हम यह समझ लें कि परमात्मासे कोई कर्म नहीं छिपाया जा सकता, तो निश्चय है कि हमारे आचरण सुधर जायँ और हम अनैतिकताके दोषसे मुक्त हो जायँ।

अनैतिकताके कारणोंको जाननेके पश्चात् हमको जनमें श्रद्धा जाग्रत् करनी चाहिये। अर्थके समन्वय मनुष्यके स्वार्थको नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिये जिनके पास सम्पत्ति होती है, वे अधिककरी लालसासे व्यवहार करते हैं और जो अभावग्रस्त हैं, वे जीवन-निर्वाह के लिये धनोपार्जन करनेमें छल-कपटका सहारा लिये अनैतिकताको प्रश्रय देते हैं। वास्तवमें स्वार्थ और अनैतिकताको प्रश्रय देते हैं। वास्तवमें स्वार्थ अनैतिकतामें चोली-दामनका साथ है, इसलिये स्वार्थ नष्ट करनेमें ही कल्याण है। निज-हित-साधनमें उसी प्रकार रत होना चाहिये, जिस प्रकार जगत्का भगवती सीताकी खोजके स्वार्थमें भगवान् राम संन्यस्त हुए अंगदको दूत बनाकर रावणके यहाँ भेजते हुए अंगदसे कहा था—

काजु हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकी बोलै ।

दूसरोंको हानि पहुँचाकर अनैतिकताके सहारे

साधन निन्दनीय है। भगवान् राम शत्रुको भी हानि

संख्या १०]

पहुँचना चाहते । मर्यादाका पालन करना कोई उनसे सीखे, सम्याचरण करना कोई उनसे ग्रहण करे । स्वतन्त्रताके अपने जन्मसिद्ध अधिकारके स्वार्थ-साधनके लिये गाँधीजीने भी कभी अधार्मिक अन्यायपूर्ण अनैतिक उपायोंका अवलम्बन नहीं किया । वे सदा ही सत्य और अहिंसाके उपासक रहे ।

सब प्रकारकी अनैतिकताका निराकरण परमात्मामें श्रद्धा करनेसे हो सकता है । परमात्मा सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी है, इस कथनके विश्वाससे उत्पन्न भयके कारण मनुष्य अनेकानेक प्रकारके अनैतिक कार्योंके करनेसे विमुख हो सकता है ।

भगवान्की कृपा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

वैदिकीयासविधातमस्तपतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।

तोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥

(श्रीमद्भा० ६ । ११ । २३)

'मुझे तुम्हारी कृपा-भिक्षा नहीं चाहिये ।' मुनीन्द्रने श्रेय एवं वृणासे लालाजीकी ओर देखा और लौट पड़ा । यह वर्षके इस बालकने यह भी नहीं सोचा कि इस विदेशमें हर सयं अपनेसे दो वर्ष छोटे भाईके साथ अनाश्रित हो गया है और आज तेजस्विताका समय नहीं है । आज कौन है जो उसको मान करनेपर मनायेगा ?

'नन्हा-सा छोकरा और इतनी शान !' लालाजी भुनभुनाये और फिर अपनी बही उलटने लगे । उन्हें डरनेका कोई कारण नहीं था । मुनीन्द्रके पिता यहाँ अपरिचित थे । कहीं कभीके आसपासके रहनेवाले थे वे । किसी कारणसे घर छोड़कर स्त्री-बच्चोंके साथ दिल्लीमें यहाँ पिछले दो वर्ष हुए आये थे । एक छोटी लड़की पहले ही चल बसी, स्त्रीने अपनी पुत्रीका अनुगमन किया । अब सुना कि घर जाकर बैठते हुए ट्रेनमें सन्निपात हुआ और कानपुर अस्पतालमें पुलिसने उन्हें पहुँचा दिया । अस्पतालसे उनका शरीर श्मशान पहुँचाना पड़ा । अब ये दो लड़के रह गये हैं । मुनीन्द्रके पिताने उसे बताया था कि वे जो कुछ बचा पाते हैं, लालाजीके पास जमा करते हैं । अबतक उनके आठ सौ रुपये जमा हो चुके हैं । पितृहीन मुनीन्द्र भाईके साथ घर लौट जाना चाहता है । वह अपने पिताके जमा रुपये माँगने

अपने ही समान अन्य मनुष्योंकी जानकारीसे बचाकर ही मनुष्य प्रायः झूठ बोलता है, चोरी करता है, व्यभिचार करता है, पापाचार और अनाचारमें निरत होता है । परंतु जब उस मनुष्यकी समझमें यह सर्वरूपेण आ जायगा कि परमात्मा सभी स्थानोंमें है और सभीके कर्मोंको सदा-सर्वदा देखता रहता है तो निश्चय है कि वह अपनी अनैतिकता त्यागकर सम्याचरण करने लग जाय । सारांश यह कि नैतिक होनेके लिये मनुष्यको निःस्वार्थी, श्रद्धालु, धार्मिक और प्रभुपरायण होना चाहिये ।

आया था । लालाजीने आश्चर्यके साथ कहा—'कैसे रुपये ? तुम्हारे पिताके कोई रुपये यहाँ जमा नहीं हैं ।' पता नहीं कहाँ-से फिर सहानुभूति जग पड़ी और स्नेहसे बोले—'तुमलोग बच्चे हो । घर जाना चाहो तो दस-बीस रुपये ले जाओ ।'

मुनीन्द्र क्रोधसे तमककर चला गया था । लालाजीको भला उसकी क्या चिन्ता हो सकती थी । वह नन्हा लड़का कर ही क्या सकता था । रही पश्चात्तापकी बात, सो यदि आजकलका व्यापारी इस प्रकार सोचा करे—उँह, छोड़िये भी इन बातोंको ।

मुनीन्द्रने अपने वस्त्र, बर्तन एवं पुस्तकें बेचीं और छोटे भाईको लेकर वह घर लौटा । यह घटना आजकी नहीं, इसे बीते तो आज पूरे सत्ताईस वर्ष हो चुके हैं । अब आज इसका कोई महत्त्व नहीं; किंतु ऐसा कहना भी ठीक नहीं । इसी घटनाका महत्त्व है; क्योंकि मुनीन्द्र आज बड़ी मस्तीसे कहता है—'उन लालाजीके रूपमें पहले-पहल श्यामसुन्दरने मुझपर कृपा की । मैं मूर्ख था, उस समय समझ नहीं सकता था ।'

अच्छा तो इसे कृपाका क्रम कहिये या आपत्तियोंका, क्रम यहींसे प्रारम्भ हुआ । यह तो केवल श्रीगणेश था । इसके पश्चात् घरकी रही-सही चल एवं अचल सम्पत्ति विक गयी या लोगोंने दबा ली, कभी इसके यहाँ और कभी उसके यहाँ इस प्रकार परिचितों एवं सम्बन्धियोंके यहाँ रहकर किसी प्रकार दोनों बच्चोंको जीवनके वर्ष व्यतीत करने पड़े । इस

कष्ट-कथाको बढ़ानेमें हमारा आपका कोई लाभ नहीं, अतः इसे वहीं समाप्त होने दीजिये ।

पिता भगवती सिंहवाहिनीके उपासक थे । बिना दुर्गापाठ किये उनके कण्ठके नीचे जल रुग्णावस्थामें ही उतर सकता था । मुनीन्द्रसे उनका मोह बहुत था । फलतः मुनीन्द्र जब बहुत छोटा था, उसे दुर्गाकवच रटना पड़ा । बड़े सबेरे स्नान करके पिताको जब वह कवचका पाठ सुना देता, तब वे अपने पूजाके आसनपर बैठते और नन्हा बालक कहीं छिपकर फिर सो जाता । पिताके परलोक पधारनेके साथ उसका कवच-पाठ भी छूट गया और छूटा सो छूटा । लेकिन ये श्यामसुन्दर मयूरमुकुटी त्रिभङ्गसुन्दर तो सीधे देवता नहीं हैं । इन्होंने कब मुनीन्द्रको पकड़ा, वह स्वयं नहीं जानता । एक बार एक चित्र सुन्दर लगा, खरीद लाया । अब इन ब्रजराजकुमारको क्या कोई छोड़ सकता है ? ये किसीको पकड़ भर लें—पकड़ना ही सीखा है इन्होंने । पकड़नेको हाथ फैलाये ही रहते हैं । लेकिन छोड़नेका पाठ पढ़ानेवाला गुरु इन्हें नहीं मिला । सो नहीं ही मिला ।

मुनीन्द्र कहता है—“कन्हाई उसपर सदा कृपालु रहा है ।” आप इसका समर्थन नहीं कर सकते और वह भी इस कृपासे पिण्ड छुड़ानेके लिये कम छटपटाया हो, कम रोया हो सो बात नहीं है । उसकी छातीमें भी मांसका कलेजा ही धुक-पुक करता है और कलेजा है तो उमंगें भी रहेंगी ही । कौन धन नहीं चाहता ? किसे बड़प्पन काटने दौड़ता है ? ऊँची कोठी, उत्तम सामग्री, शरीरका सुख किसे अभीष्ट नहीं है ? बहुत हाथ-पैर मारे मुनीन्द्रने । उसे लगकर काम करना आता है ! उसे आजतक किसीने बुद्धू नहीं कहा । जहाँ भी वह लगा दूसरोंको उसकी सदा अपेक्षा रही । इतनेपर भी वह सदा असफल रहा । सदा उसके उद्योग फलहीन होते गये और वह अब कहता है—“ठीक समयपर मेरा श्याम मुझे सम्हाल लेता है ।”

संसार केवल श्रम नहीं चाहता, बहुत कुछ चाटुकारी चाहता है । मुनीन्द्रके कृपालुने उसे कदाचित् ‘मान’ का ही वरदान दिया है । जहाँ सफलता सामने दीखती है, उसका मान उसे कहीं-न-कहीं भिड़ा देता है । श्रम उसका और परिणामके समय उसे पृथक् होना रुचने लगता है । तुच्छता उसे रुचती नहीं । वह कुत्ता नहीं जो पूँछ हिलावे या टुकड़ोंके लिये लड़े ।

अनेक स्थलोंपर उसे ‘मान’ मिला है । उसका करनेवाला हारना नहीं जानता । ‘कर्मका मारा खेतो को बैल मरै या सूखा परै ।’ कारणोंका कहीं अभाव होता किसीको असफल बनानेके लिये ?

“आपने सफल होकर कौन-सा तीर मार लिया है ? उस दिन जब एक मित्र मुनीन्द्रको समझाने लो, तब उसे अद्भुत तर्क किया । वह निश्चिन्त रहता है, मस्त रहता है यह सब तो ठीक; किंतु कंगाल है वह और यह निर्धनता—कौन इसका समर्थन करेगा ?

× × × ×

‘मैं पतित हूँ । अधम हूँ । मेरे-जैसा निकृष्ट कोई नहीं हो सकता ।’ मानधनी मुनीन्द्र आज फफक कर रो रहा है । इधर दो सप्ताहसे एकान्तमें पहुँच ही उसके नेत्र झरने लगते हैं । हिचकियाँ बँध जाती हैं । उसका मुख पीला पड़ गया है । भोजनमें रुचि नहीं रही उसकी । आजकल उसकी सहज सी दुर्लभ हो गयी है ।

‘क्या किया है उसने ? कौन-सी भूल उससे हो गयी ? लेकिन ऐसा कुतूहल ही क्यों ? हज़रत चिरक्रीनकी बात तो मैं नहीं करता । वे मानवसृष्टिके एक अद्भुत अस्तर हो गये हैं । लेकिन क्या, आपको मनुष्यके मूल-मूलके स्वरूप एवं गन्धदिकी व्याख्या सुननी पसंद है ? नहीं है तो फिर मनुष्यके मानसिक स्वलनकी विवेचनामें ही कौतूहल क्यों ? विकार भी तो जीवनके मूल ही हैं । उनके विवेचनसे वक्ता-श्रोताको विकृतिके अतिरिक्त और क्या मिल सकता है ।

‘मेरा कोई प्रायश्चित्त नहीं । मरकर भी मुझे शांति नहीं मिलेगी ।’ मुनीन्द्र आज एक महापुरुषके चरणों गिरकर क्रन्दन कर उठा है । ‘मैंने...’

‘तुमने कुछ नहीं किया है ।’ महात्माने स्नेहसे मस्तकपर हाथ रक्खा उसके और उसे बोलनेसे रोक दिया । किसीसे क्या भूल हुई, यह जाननेसे तो कोई लाभ नहीं । संतने समझाया—‘तुम मुझे एक प्राणी बता दो जो तुम्हारे ही जैसा या तुमसे भी अधिक अपराध न कर चुका हो । कोई कितने जन्मोंसे पुण्यात्मा है ! सर्वश परमात्माके लिये आजके पापी और सौ जन्म पहलेके पापीमें क्या समयका अन्तर होता है ?’

जैसे गीता अतुकी दोपहरीमें व्याससे सूखते कण्ठमें

संख्या १०]

एक नन्हा-सा बरफका टुकड़ा पहुँच गया हो—मुनीन्द्रने मस्तक उठाकर संतकी ओर देखा । अब भी उसकी पलकें और कपोल भीगे हुए थे और उन्हें पोंछनेका उस्ताह अभी लौटा नहीं था ।

‘भगवान् दयासागर हैं । वे इसीलिये पुण्यश्रवा कहे जाते हैं कि जीवोंके पापको वे न देखते और न सुनते ।’ संतने समझाया—किसने कब क्या किया, यह कोई महत्त्वकी बात नहीं । कौन कबसे भूल न करनेका निश्चय करके उन परम कृपालुकी ओर चल पड़ा, वस, इतनी बात महत्त्वकी है । तुम इसे आज और अभी कर सकते हो ।

मुनीन्द्र लौट आया उस दिन आश्वस्त होकर । लेकिन यदि मन इतना शीघ्र मान लिया करता तो श्यामसुन्दर स्वयं उसे ‘मनो दुर्निग्रहं चलम्’ क्यों कहते ? वासनामें, विकार और चञ्चलता । बालकके डगमग रँगोंमें चलनेकी शक्ति नहीं और मायादेवीका यह आँगन फिसलनसे भरपूर भरा है । चलना, उठना और गिरना—लेकिन चले बिना वे पैरोंमें शक्ति आयेगी नहीं । बालक गिरकर उठना चाहे तो चलना आयेगा कैसे ?

कहते हैं कि युवावस्था, स्वाधीनता, अविवेक एवं मन हो तो पतन अनिवार्य हो जाता है । वैसे इनमेंसे श्रेष्ठ एक ही पतनके लिये पर्याप्त है । मुनीन्द्र कंगाल है—वस, यही एक सुविधा है उसे । बुद्धिका निर्णय, बुद्धिका विवेक मनके प्रवाहमें टिक सके, ऐसा तो धीर पुरुषोंमें ही होता है । सामान्य जन मनके प्रवाहमें बहते हैं ।

‘मैं अनुष्ठान करूँगा ।’ कामनाओंकी बाढ़ रुकना नहीं जानती और बुद्धि कहती है कि मर्यादामें रहना ही चाहिये । जब लौकिक साधन नहीं रह जाते, तब मनुष्य आकाशकी ओर देखता है । मुनीन्द्रपर अनेक प्रसिद्धि-प्राप्त सिद्ध पुरुषोंकी कृपा है । उसने थोड़ी संस्कृत पढ़ ली है और खींच-तानकर अभीष्ट ग्रन्थोंका उलटा-सीधा अर्थ भी निकाल लेता है । अब वह अपनी कामनाओंको आराधनासे पूरा करेगा ।

‘ये सब शास्त्र झूठे हैं । कोई देवी-देवता नहीं है । धर्ममें लोगोंको ठगनेका ढोंग फैलाया है धूर्तोंने ।’ आप मुनीन्द्रपर रुष्ट हो सकते हैं, किंतु उसे दोष नहीं दे सकते । वह आधी रातको श्मशानमें गया है । उसने अंधकार-

पूर्ण स्थानमें घंटों नम्र रहकर जप किया है । आज तीन वर्षोंमें वह प्रेत-यक्षिणी, छाया-पुरुष और देवताओंकी आराधनामें लगा है । कई अनुष्ठानोंको वह तीन-चार बार दुहरा चुका है । उसे भय नहीं लगता । प्रमाद उससे हुआ नहीं । विधि जानने और पूर्ण करनेमें वह असाधारणरूपसे सावधान है । इतनेपर भी उसे कोई लाभ नहीं हुआ । देवता तो दूर, प्रेत भी उसे स्वप्नतकमें नहीं दीखा कभी । अब वह जो अविश्वास करता है—क्या दोष है उसका ।

‘तुम क्या प्रत्यक्षको भी स्वीकार नहीं करते ?’ आज एक गुदड़ीधारी सिद्ध मिल गये हैं । उन्होंने मुनीन्द्रको एक मुठ्ठी किसमिस दी है अपने खाली हाथको सामने ही बंद करके ।

‘मेरी समझमें कुछ नहीं आता ।’ मुनीन्द्रके नेत्र मर आये । वह ऐसे चमत्कार और भी स्थानोंपर देख चुका है । अनेक देखी या सुनी घटनाएँ ऐसी हैं, जिनपर वह अविश्वास कर नहीं सकता । ‘मुझे कुछ क्यों नहीं होता ? मैंने ही ऐसा क्या पाप किया है ?’

‘तुम धन्य हो । बड़े सौभाग्यशाली हो तुम ।’ पता नहीं दो क्षण नेत्र बंद करनेके पश्चात् उन संतको क्या हो गया । उनके नेत्रोंसे आँसू झर-झर झरने लगे और मुनीन्द्रसे लिपट पड़े वे । ‘हम तो अभाग्य हैं । जिस श्रमसे हीरा मिल सकता था, हमने उससे काँच खरीद लिया । हमने अपने-आप अपनी चुटिया नन्ही शक्तियोंके हाथोंमें दे दी । तुम्हारा रक्षक ऐसा नहीं है कि उसके सेवककी ओर कोई ऐरा-गैरा आँख उठाकर देख सके ।’

मुनीन्द्रकी समझमें कुछ नहीं आया । संत बहुत देरतक पता नहीं क्या-क्या कहते रहे । स्वस्थ होनेपर उन्होंने कहा—‘भैया ! तुम क्यों सकाम उपासनामें इधर-उधर भटकते हो । जो वच्चा माताकी गोदमें बैठा है, वह चाहे जिससे चाहे जितना रोकर माँगे, पर किसमें साहस है जो वच्चेको अधिका लाल-लाल अँगारा दे देगा । जिसने श्यामसुन्दरके हाथों अपनेको सौंप दिया, उसके सकाम अनुष्ठान सफल ही होंगे—ऐसा आश्वासन कोई नहीं दे सकता ।’

आप आश्चर्य करेंगे, मुनीन्द्र अब बहुत प्रसन्न होता है । वह न रोता और न रुष्ट होता । वह बड़ी प्रसन्नतासे कहता है—‘कन्हाई अपने नन्दे करोंसे मेरी आराधना अस्त-व्यस्त कर देता होगा । बेचारे देवता क्या करें, वह चपल स्वयं ही सारा नैवेद्य मुखमें धर लेता होगा ।’

उसकी कामनाएँ सदा अपूर्ण रहें। उसके उद्योग नष्ट होते रहे और वह कहता है—‘बड़े मजेकी बात है।’ ऐसा मजा क्या आपमेंसे कोई पसंद कर सकता है ?

× × ×

‘मैं आपके लिये नाथद्वारेका प्रसाद ले आया हूँ।’ ग्रीष्मकी तपती दोपहरीमें लगभग दो मील चलकर केवल प्रसाद देने वे आये थे। उनके बड़े भाई नाथद्वारा रहते हैं। वहाँसे जब आते हैं, प्रसाद ले आते हैं। मित्रता होनेके कारण उस प्रसादमेंसे वे मुनीन्द्रको भी थोड़ा देते हैं। लेकिन इस प्रकार उसकी कुटियापर तो कभी प्रसाद पहुँचाया नहीं जाता। वह जब प्रातःकाल नगरमें जाता है, उसका भाग सुरक्षित मिल जाता है उसे। ‘भैया ! अभी नौ बजे ही आये। मैंने सोचा कि आपको अभी दे आऊँ।’ लानेवालेके सौहार्दकी प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी।

‘प्रसादसे तो व्रत भङ्ग होता नहीं; किंतु.....’ श्रद्धासे मस्तक झुकाकर प्रसाद स्वीकार किया गया, लेकिन एक समस्या भी आ गयी सामने। आज मुनीन्द्रको निर्जला एकादशीका व्रत है। प्रसादसे भले व्रत भङ्ग न हो, पर भरपेट नाथद्वारेके उस चपल ठाकुरका यह पक्वान्न प्रसाद पेटमें पहुँचा देनेपर बिना जल पिये कैसे रहा जा सकेगा ? स्वयं जल पीनेसे निर्जल व्रतका नियम तो रह सकता नहीं।

‘आज घरपर ठाकुरजीको पञ्चामृतसे स्नान कराया गया था।’ लगभग ढाई पाव पञ्चामृत ले आये थे वे मित्र। बड़ा संकोच हो रहा था उन्हें भी। बड़ी नम्रतासे उन्होंने कहा—‘मुझे स्मरण ही नहीं रहा कि आप आज व्रत होंगे। आप सदा एकादशीका व्रत करते हैं, यह मैं जानता हूँ और आज तो मैं स्वयं भी व्रत हूँ; किंतु प्रसाद ले आते समय व्रतका कुछ ध्यान ही नहीं आया।’

आज वर्षों बाद भी उस दिनका स्मरण होनेपर मुनीन्द्रके नेत्र गीले हो जाते हैं। उसका एकादशी व्रत तो चलता है; किंतु निर्जल व्रत तो उसी दिन चला गया। कन्हाईको उसकी भूख-प्यासकी इतनी टेढ़ी-सीधी व्यवस्था करनी पड़े, इसे उसके प्राण सह कैसे सकते हैं।

एक निर्जलाकी ही तो बात नहीं है। उसे धुन चढ़ी थी उन दिनों तपस्वी बननेकी। In|Pune|Dona|सीरि|कोरि|Collection|

न मानसिक व्यायाम ही उससे होते; किंतु कोई लक्ष्य उसे करना पड़े, यह भी उसके स्वभावके विपरीत। अपने खटपट की या अपने लिये दूसरोंने खटपट की तो एक ही है। उसने सोचा था, पर्वतमें किसी झरोके पास रहने लगे तो भोजन बनाने तथा वस्त्रादिकी बड़ी खटपट जाय। सारे बन्धन, सारे झमेले समाजके ही तो हैं। समाजमें रहे ही नहीं तो ? लेकिन—‘मेरे मन कछु और है कर्ताकि कछु और।’

‘जंगलोंमें जायेंगे, गुफामें रहेंगे, कन्द-मूल-फल खायेंगे डटकर भजन करेंगे।’ ऐसे स्वप्न तो वे अनुभवहीन लड़के देखें हैं, जिन्होंने जंगलका मुख ही नहीं देखा। कन्द-मूल-फल नामपर जिनके मनमें सदा आम-अमरुद, सेव-अंगूर स्वाद जगता है। भजनका जिन्होंने नाम तो सुना है, किया नहीं है। मुनीन्द्रको अवसर मिलनेपर वनों पर्वतोंमें घूम आनेका व्यसन है। वह जानता है कि आज वनों एवं पर्वतोंमें वर्षमें छिट-फुट दिनोंको बटोरकर तीन मासके लगभग भले घटिया श्रेणीके आदि फल मिलें; पर कोई उनसे जीवन-निर्वाहकी जरूरत नहीं कर सकता। गुफाओंमें प्रायः चमगीदड़ों या वन-पशुओंके आवास होते हैं। वे न भी हों तो मच्छर, दीमक, चींटियाँ, ऊँस आदि बाधाएँ तो हैं। झरनोंके पास वन-पशुओंका आवागमन प्रायः रहता है और भजन तो जो घरपर नहीं कर सकता, बिल्कुल ही नहीं कर सकेगा। वहाँ तो निद्रा, आलस भय तथा उद्धिगता और बढ़ जाती है।

मुनीन्द्रकी योजना दूसरी ही थी। वह वनके छोटे घटिया किस्मके बहुतायतसे मिलनेवाले बेलके फल एक कर लेगा। उदुम्बर (गूलर) पकनेपर उसे सुखकर रख लेगा। आँवलेके द्वारा पोषण तत्त्व मिल जायगा उसे कुछ कड़वे-कपैले कन्द भी मिलते ही हैं। चार तथा कुछ ऋतुमें दस-पंद्रह दिन वे काम चला देंगे। इस प्रकार स्वादकी चिन्ता सर्वथा छोड़ देनेपर पर्वतोंमें जीवन किसे प्रकार बिताया तो जा ही सकता है। वन-पशुओंके भय नहीं लगता; क्योंकि वह जिस दिन पकने पड़ें, उसी दिन उसे कोई अपने पेटमें पहुँचा दे सकेगा, मच्छर, चींटियाँ, दीमक भी हिचकनेका कारण नहीं देखता, अनेक बार वह पर्वतों

[भाग १०]

बूमकर अनुमान कर चुका है कि इनको किसी प्रकार सह लेगा। भजन—यही एक प्रश्न है। भजन होगा या नहीं, इसमें उसे सदा सन्देह रहा है; किंतु परीक्षण तो करना चाहिये।

जहाँ वह रहता है वहाँसे तीन-चार मील दूर एक नौसे ढका पर्वत है। दो-तीन बार घूमनेसे उसमें अच्छा झरना एवं समीप सिर छिपानेयोग्य गुफा मिल गयी है। बिना किसीको कुछ बताये वह चला गया पर्वतमें। यदि परीक्षण सफल हो गया तो ठीक, नहीं तो दो दिन बाद लौट जानेमें तो कोई बाधा है नहीं।

‘मैंने आपको पर्वतपर आते देखा था। यहाँ आपको कष्ट होगा, इसलिये भोजन ले आया हूँ।’ सूर्यास्तके पश्चात् वहाँ उसके लिये दो मील नीचे गाँवसे भोजन तो ले आयेगा और रात्रिके अन्धकारमें वन-पशुओंसे भरे पर्वतीय मार्गसे लौटनेकी आशंका मोल लेगा, यह कोई कैसे अनुमान कर सकता था।

‘आपको यहाँ एक लकड़िहारेने देख लिया था। वह इधर लकड़ी तोड़ने आया था। उसने बताया कि एक बावू पहाड़पर अकेले बैठे हैं।’ मैं आपके लिये दूध और थोड़ी-सी पूड़ियाँ शाकके साथ ले आया हूँ। यह एक रही। वह पहले दिनके स्थानसे दो मील दूर चला गया तो, वहाँ दूसरे सज्जनको आज किसी लकड़िहारेने भेज दिया।

‘आप यहाँ कुछ दिन रहें तो मैं आपके लिये भोजन पहुँचा दिया करूँगा। कल तो मेरी एक गाय भाग गयी थी। उसे ढूँढ़ते मैं नीचे नालेकी ओर आया तो देखा कि आप इधर आ रहे थे। इस ओर यही एक झरना है। मैंने समझ लिया कि आप यहीं रुकेंगे।’ यह तीसरे दिनकी घटना है। मुनीन्द्र अब क्या करे? उसके लिये जब विश्वम्भरको ही खटपट करनी है तो लकड़िहारों, भागी गायों, घूमने निकले खेतिहरोंसे वह कहाँ-कहाँ छिपता फिरेगा। वह उसी दिन लौट आया पर्वतसे।

बहुत संस्मरण हैं, आज उसे पता नहीं क्या-क्या याद आ रहा है। वह धनी नहीं कंगाल है और उसके पास ये ब्राह्मण देवता माँगने आये हैं। इन्हें धन नहीं चाहिये, किसीने इन्हें बहका दिया है कि मुनीन्द्र

अपने कुछ पुण्य संकल्प कर दे तो इनका बीमार पुत्र अच्छा हो जायगा। कहाँ पावे मुनीन्द्र पुण्यको? वह कहता है—‘मैंने जब कुछ करना चाहा, कन्हाईने मेरे घरोंदे अपने चञ्चल चरणोंसे उलट-पलट दिये। मेरे धर्म-कर्म तो कबके उसे भेंट हो गये। मेरे पास पुण्य है कहाँ महाराज?’

× × ×

‘आज आप मेरे यहाँ प्रसाद पावें!’ मुनीन्द्र आज बहुत प्रसन्न है। बड़ी उमंगमें है वह।

‘आज कोई नयी बात है क्या?’ ब्रह्मचारीजीने हँसते हुए पूछा।

‘आज माला छाया हूँ, फूल लाया हूँ, अपने भगवान्-को खूब सजाया है और ढेरसे फल उनके सामने धर दिये हैं। आपको भरपेट मिठाई खिलाऊँगा।’ जब यह मस्तीमें आता है, पूरा बालक बन जाता है।

‘किस बातका उत्सव है?’ उत्सवकी साज-सजा बताकर भी कारण न बताया जाय तो कौतूहल बढ़ना ही चाहिये। आज कोई विशेष पर्व तो है नहीं। वैसे तो हमारे ऋषियोंने इतने पर्व बताये हैं कि वर्षमें कोई दिन ऐसा नहीं, जो पर्व न हो।

‘आपने तो मेरी पुस्तक देखी थी न?’ मुनीन्द्र उल्लासपूर्वक बोला। वह गत दो वर्षोंसे लगातार चार-पाँच घंटे श्रम करता रहा है। ढेरों ग्रन्थ उलट-पलटकर बहुत रुचिसे उसने एक बड़ा-सा ग्रन्थ लिखा है। उसके अनेक परिचितोंने उसके ग्रन्थकी प्रशंसा की है। उसे आशा रही है और उसके मित्र कहते रहे हैं कि उसके ग्रन्थका पर्याप्त सम्मान होगा। उसने योजना बना रखी है कि ग्रन्थ प्रकाशित होनेपर उसके पारिश्रमिकसे वह एक लंबी पर्वतीय यात्रा करेगा।

‘तुम्हारी पुस्तक छप गयी क्या?’ अभी छः महीने पहले एक अच्छे प्रकाशकने देखनेके लिये पुस्तक माँगायी थी। इतनी उत्तम पुस्तकको यदि प्रकाशकने शीघ्रतासे प्रकाशित कर दिया तो कोई आश्चर्यकी बात तो है नहीं; किंतु अभी परसोंतक तो मुनीन्द्र कहता था कि वह प्रकाशक पत्रोंके उत्तर भी नहीं देता है। ग्रन्थ छापकर उसने मुनीन्द्रको चमत्कृत कर दिया—यह अनुमान करना ब्रह्मचारीजीके लिये भी बड़ा सुखद प्रतीत हुआ।

‘मेरी पुस्तक आ गयी है।’ मुनीन्द्र उसी उल्लासमें कह रहा था।

‘तुम ले क्यों नहीं आये ? कैसी छपी है ? क्या मूल्य रक्खा है उसका ?’

‘छपी कहाँ है, वैसे ही लौट आयी है।’ मुनीन्द्रके मुखपर जो हर्ष है, उसे देखते हुए उसकी बातपर विश्वास करना कठिन ही है।

‘लौट आयी है-?’ ब्रह्मचारीजीको ऐसा लगा जैसे उनके लिखे ग्रन्थको ही किसी प्रकाशकने अस्वीकृत करके लौटा दिया हो।

‘प्रकाशक कहते हैं कि ग्रन्थ सुन्दर तो है; किंतु युगकी माँगके अनुरूप नहीं है।’ मुनीन्द्र हँसते हुए कह गया—
‘वे ठीक तो कहते हैं।’

‘क्या ठीक कहते हैं ?’ ब्रह्मचारीजी खिन्न हो गये।

‘आप उदास न हों, मैं आपको आज मिठाई खिलाऊँगा। दूसरे मित्रोंको भी बुलाना है। आप नहीं आयेंगे तो सबको बुरा लगेगा।’ वह हँसता हुआ वहाँसे चला गया।

‘इसने ठीक बात नहीं कही है। पुस्तक लौट आयी हो सकती है; पर कोई अच्छा सुझाव या आश्वासन होना चाहिये उसके साथ।’ ब्रह्मचारीजी सोचने लगे कि ऐसी क्या बात हो सकती है, जिसे मित्र-गोष्ठीमें सहसा प्रकट करके मुनीन्द्र सबको चौंका देनेके प्रयत्नमें लगा हुआ है।

‘तुमने पूरी बात तो अभी बतायी ही नहीं !’ पुस्तक

लौट आयी है, यह मित्रोंने देख लिया। प्रकाशक पत्रपर टीका-टिप्पणी हो चुकी। सबने भोजन कर दिया अब तो घरोंको लौट चलनेका समय हो गया और उत्सव-आयोजन किसलिये हुआ, सो किसीकी भी समझमें नहीं आया।

‘मैंने तो कोई बात छिपायी नहीं है।’ मुनीन्द्रके कुछ रहस्य है नहीं तो बतावे क्या ?

‘तुमने यह आनन्दोल्लास क्यों प्रकट किया, कहाँ बताया तुमने।’ मित्रोंको थोड़ी झुंझलाहट हुई प्रतीक्षा भी एक सीमातक ही मधुर होती है।

‘ओह !’ खूब खुलकर हँसा मुनीन्द्र। श्यामसुन्दरकी इच्छा पूर्ण हुई, इससे बड़ी प्रसन्नताकी बातें लिये और क्या है ? इच्छा तो मेरी पूरी होती या विश्वात्माकी पूरी होती। जहाँ मेरी इच्छा पूरी होती है, वहाँ मेरा स्वार्थ है या विश्वात्माकी इच्छा, सो तो मुझे कुछ पता लगता नहीं किंतु जहाँ मेरी इच्छा नहीं पूरी होती, वहाँ तो यह निश्चय हो गया कि मेरे कन्हाईकी इच्छा पूरी हुई है।’

मित्रोंकी मनोदशाका अनुमान आप भी कर सकते हैं किंतु क्या मुनीन्द्र ठीक नहीं कहता ? क्या हमारी इच्छाकी विफलता नहीं बताती कि प्रभुकी इच्छा पूर्ण हुई है ? प्रभुके अनुग्रहका यह साक्षात्कार हमारे हृदयमें प्रफुल्लित नहीं करता—यही तो अज्ञान है।

गायत्री-गान

(रचयिता—निशिकान्त आयुर्वेदाचार्य)

मेरे रक्षक मेरे स्वामी, सभीका त्राण करते हैं।	तेरे चरणोंमें आकर हम, सभी गुणगान करते हैं॥
जगत्-स्रष्टा, जगत्-भर्ता,	उसीके पाप नाशक तेज-
हैं सुखके धाम वह स्वामी।	का हम ध्यान धरते हैं॥
सत् चिदानन्द ईश्वरका	तेरे उस तेजसे भगवन् !
हृदयमें ध्यान धरते हैं॥	हमारी बुद्धि हो प्रेरित।
करे रक्षा वचाकर दुःखसे,	सदा शुभ कर्ममें रत हो
जैसे सदा सुख दें।	विनय दिन रात करते हैं॥
जगत्में मातृवत् सबका	जो बन कर छन्द-गायत्री,
प्रभू कल्याण करते हैं॥	हैं व्यापक विश्वमें सारे।
लिखा सम्पूर्ण श्रुतियोंमें,	उसी ही ब्रह्मका यह ब्रह्म
जगत्-स्रष्टा है ज्योतिर्मान।	सब गुण गान करते हैं॥

भक्त-गाथा

विश्वासी भक्त श्रीमानसिंहजी

(लेखक—कु० श्रीविजयसिंहजी झाला, वी० ए०, 'साहित्यरत्न')

मानसिंहजीका जन्म कुचोली (मेवाड़) नामक ग्राममें शीशोदवंशीय उच्च राजपूत घरानेमें हुआ था । आपने किसी प्रकारकी डिग्री हासिल नहीं की, न कोई विशेष अध्ययन ही किया । गीताका पाठ आप अवश्य करते । ठाकुरजीकी मूर्तिके दर्शन करते समय उनकी ओरोंमें आँसू उमड़ उठते । वे मन्दिरमें दो क्षणके लिये मस्त हो जाते । वस, उनका एक ध्येय था—सच्चाईसे कार्य करना ।

आप मेवाड़के महाराणा श्रीफतहसिंहजीके यहाँ महारण पदपर थे । महाराणासाहब सच्चाईकी परख करनेवाले थे । मानसिंहजीकी सच्चाईको उन्होंने पहचाना तथा उन्हें एकदम 'गिराई-हाकम' अर्थात् गिराई और डकैतोंको पकड़नेका कार्य सौंप दिया । उस समय मेवाड़में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट था । उसने मानसिंहजीको बुलाया तथा उपर्युक्त कार्य सौंपता हुआ यह बोला—'क्या आप इतने पढ़े-लिखे हैं कि आप यह कार्य सँभाल लेंगे ?' मानसिंहजीने कहा—'मैं पढ़ा-लिखा कुछ नहीं, पर इतना अवश्य जानता हूँ कि मेवाड़में चोरी नहीं होने दूँगा ।' अंग्रेज बहुत खुश हुआ तथा उसने सहर्ष उन्हें वह कार्य सौंप दिया । मानसिंहजीने कुछ ही दिनोंमें अपनी कार्य-कुशलतासे मेवाड़में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली ।

आपको ईश्वरपर अटल विश्वास था । आप महान्-से-महान् विपत्तिको ईष्टदेवका स्मरण करते हुए सहर्ष सह लेते । भगवान् अपने प्रेमी भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करते हैं, यह आपके जीवनमें कुछ घटित घटनाओंसे स्पष्ट होता है ।

एक बार आप उदयपुरसे एकलिङ्गजी तौंगेमें पधार रहे थे । साथमें आपका इकलौता छोटा पौत्र था । अकस्मात् तौंगेके दोनों घोड़े चमक उठे । बाग टूट गयी, संचालक उन्हें सम्हालनेमें असमर्थ हो गया, वचनेकी कोई आशा नहीं थी । घोड़े सरपट दौड़ रहे थे । ऐसी अवस्थामें मानसिंहजीको अपने पौत्रके लिये चिन्ता होना स्वाभाविक था । लेकिन वे शान्त रहे और श्रीएकलिङ्गजीका नाम जपने लगे ।

भगवान् अपने भक्तकी दर्दमरी आवाज सुनते हैं । अकस्मात् एक गाय सड़कपर दौड़ती हुई तौंगेके घोड़ोंके सामने आ गयी । बाग टूटनेसे जमीनपर घसीटी जा रही थी । भगवान्की कृपासे बाग गायके सींगमें उलझ गयी । बागके खिंचनेसे घोड़े तुरंत वहीं रुक गये, तथा संचालकने तुरंत वापस नियन्त्रण कर लिया । इस प्रकार भगवान्ने अकस्मात् आपकी आपत्तिका विघ्नसं किया ।

एक अन्य घटनासे भी आपका भगवान्के प्रति अटूट विश्वास स्पष्ट होता है । मेवाड़के प्रसिद्ध तीर्थ काँकरोलीमें एक बार जैनियों और वैष्णवोंमें झगड़ा हो गया । दोनों दलोंमें समग्र भारतवर्षसे हजारों आदमी एकत्रित हुए । वैष्णवोंको डर हुआ कि कहीं जैनी हमारे मन्दिरकी मूर्ति तालवमें न फेंक दें, इधर जैनियोंको डर लगा कि हमारी दयालशाहकी मूर्ति कहीं तोड़ न दी जाय । काँकरोलीमें ऐसी विकट स्थिति देख महाराणासाहबने मानसिंहजीको वहाँ भेजा । मानसिंहजीने दोनों दलोंको सान्त्वना दी कि जबतक वे जीवित हैं, तबतक कोई किसी मूर्तिको छूतक नहीं सकता । जब आप इस कार्यमें व्यस्त थे, उसी समय आपके

गाँवसे एक आदमी आया कि आपका भानजा सख्त बीमार है। आपको तुरंत वहाँ पहुँचना है। इस प्रकार का समाचार सुन आप असमंजसमें पड़ गये। दोनों ओर विकट स्थिति थी। अन्तमें आप गाँव जानेका निश्चय कर मन्दिरमें दर्शन करने पधारे।

श्रावणके दिन थे। ठाकुरजी बाहर झूलेंमें झूल रहे थे। आप झूलेंके समक्ष पधारे। एक दो मिनट प्रेममें मस्त रहे, आँखोंमें आँसू छलक उठे। तदनन्तर आपने मन्दिरकी ओर देखा और पासके एक पंडेसे कहा—‘आज बड़ी मूर्ति कहाँ है?’ पंडेने झूलेंकी ओर इशारा किया, आपने कहा—‘यह तो श्रीबालमुकुन्दकी मूर्ति है, पहलेकी मूर्ति नहीं दिखायी देती।’ पंडा बोला—‘महाराज! आप धन्य हैं जो आपको बालमुकुन्दके दर्शन हो रहे हैं। हमें तो वही बड़ी मूर्ति दिखायी दे रही है। तथा यहाँ कोई अन्य मूर्ति भी नहीं है।’ यह सुन आप विह्वल हो उठे। दो क्षण वहीं ठहरकर फिर निवास-स्थानपर लौटे और आदमीसे बोले—‘मैं नहीं आऊँगा, ईश्वर सब ठीक करेगा।’ जब वह आदमी वापस गाँव लौटा तब उसे पता लगा कि उनका भानजा बिल्कुल ठीक है। पीछेसे कुटुम्बी यह चिन्ता कर रहे थे कि आदमीको यों ही भेजा।

इसी प्रकारकी एक घटना और सुनिये। एक बार श्रीएकलिङ्गजीके मन्दिरसे कुछ सोनेका जेवर चोरी चला गया। पुलिस उसे प्राप्त करनेमें असमर्थ रही।

तब मानसिंहजी इसका पता लगाने एकलिङ्गजी के कुछ दिन यहाँ ठहरे, लेकिन कोई पता नहीं लगा पर आप हताश नहीं हुए। एक दिन दोपहरको बाहर के इसी विषयमें चिन्ता करते-करते आपको निद्रा आ गई। स्वप्नमें एकलिङ्गजीके नन्दिकेश्वरने अपने सींगसे जगाया। आप तुरंत विस्तरपर उठ बैठे। स्वप्न रहस्य जरा भी नहीं समझ सके। कुछ सोचकर मन्दिरमें दर्शन करने चले गये। ज्यों ही आप एकलिङ्गजीके मन्दिरमें प्रवेश होनेको थे कि उधरसे एक औरतने आकर आपसे इशारा करके ठहराया, उसने चोरीका सब समाचार कह सुनाया। जेवरका स्थान भी बता दिया तथा उस समय मन्दिरका चोरीमें गया हुआ सारा जेवर निकाला गया।

उपर्युक्त कुछ सच्ची घटनाओंसे स्पष्ट है कि आपको ईश्वरपर अटल विश्वास था और ईश्वर आपकी सहायता करते थे। मृत्युकालके दो मास पूर्व आप समस्त कार्योंको छोड़, उदयपुरमें अपनी हवेलीमें निवास करने हरिस्मरण करने लगे। जब आपकी मृत्यु होनेवाली थी, उसके कुछ समय पहले आपने आदेश दे अनन्त विस्तर जमीनपर करा दिया। बिछानेको केवल कान्हा था। उसपर आप एक कुटुम्बीके सहारे विराज पड़े। सामने श्रीठाकुरजीकी मूर्ति रखवा दी। बौत्रको गीताका पाठ करनेको कहा। जब गीताका दूसरा अध्याय हो रहा था तब आपका देहान्त हो गया। उस समय आप मुखपर पूर्ण शान्ति थी।

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु ।
होहि रामको, नाम जपु, तुलसी तजि कुसमाजु ॥

—तुलसीदासजी

गोरक्षाके उपाय

(लेखक—लाल हरदेवसहायजी)

गोवंशका महत्त्व

हमारे भौतिक शरीरका मुख्य आधार है दूध, घी, अन्न, माग आदि खाद्य पदार्थ। इस खाद्य पदार्थके मिलनेका मुख्य साधन है गोवंश। गाय हमें दूध, दही, घी, छाछ तथा अन्य दूधसे बननेवाले पदार्थ देती है। अन्न तथा साग-सब्जीकी खेती तो बैलोंपर निर्भर है ही, कुएँ और रहटद्वारा सिंचाईका काम भी प्रायः बैलोंसे ही लिया जाता है। गाँवमें नवारी और गाँव तथा शहरोंमें बोझ ढोनेका काम बैल ही करते हैं। गोवंशका गोबर-गोमूत्र सर्वोत्तम खाद है। गाय मरनेके बाद भी चमड़ा, हड्डी, खुर, सींग आदिद्वारा शोषण करती है। वास्तवमें गोवंश हमारे देशके आर्थिक तथा शारीरिक ढाँचेका स्तम्भ या मुख्य आधार है। यदि केवलमात्र आर्थिक दृष्टिसे ही गोवंशके उपयोगका हिसाब लगाया जाय तो देशकी कुल आमदनीका अर्ध भागसे अधिक केवलमात्र गोवंशसे प्राप्त होता है। इसीलिये सब जगहोंमें गोधनको सर्वश्रेष्ठ धन माना गया है। १९३५ में देशकी कुल आय (Gross income) २२ अरब रुपये थी। उसमेंसे निम्नलिखित हिसाबसे ११ अरब २५ करोड़ रुपये गोवंशसे मिलते थे।

दूध-घी आदिसे ३०० करोड़,

खादद्वारा २७० करोड़,

हड्डी-खाल आदिसे ४० करोड़,

खेती तथा भारवाहनमें बैलोंका पारिश्रमिक ५२५ करोड़।

आज देशकी सब आय तथा पशुधनसे होनेवाली आय का क्या अनुपात है इसका हिसाब नहीं लगाया गया, पर अनुमानसे मालूम होता है १९३५ तथा आजकी आयके अनुपातमें अधिक फर्क नहीं होगा।

गायसे उत्पन्न किये दूध, घी, अन्न आदि शारीरिक स्वास्थ्य तथा शक्ति प्राप्त करनेके मुख्य स्रोत हैं। हमारे देशकी आमदनीका बड़ा भाग पशुओंद्वारा ही प्राप्त होता है। देशके करोड़ों लोग आर्थिक तथा शारीरिक ही नहीं, सांस्कृतिक तथा धार्मिक दृष्टिसे भी गोवंशको पूज्य मानते हैं। महर्षि विशिष्ट, महर्षि जमदग्नि, महाराजा दिलीप तथा देशके

सैकड़ों लोगोंने समय-समयपर गोरक्षाके लिये अपने प्राणोंकी बाजी लगायी थी। गोरक्षाका प्रश्न हमारे सामने जीवन-मरणका प्रश्न रहा है। जिस तरह हमारा शरीर प्राणशक्तिके सहारे टिका हुआ है उसी तरह हमारे देशके लोगोंका जीवन गोवंशपर ही निर्भर है। हमारी सांस्कृतिक, नैतिक, शारीरिक तथा आर्थिक उन्नतिका आधार गोवंश ही है।

गोवंशका हास तथा विनाश

प्रश्न होता है कि गोवंशका इतना महत्त्व तथा आवश्यकता होते हुए भी गोवंशके प्रति उपेक्षा क्यों? इस प्रश्नका उत्तर स्वयं इतिहासने स्पष्ट शब्दोंमें दिया है।

हिंदू गायको अधुन्या या वध न करनेवाली समझते रहे हैं। मुसलमान-राज्यकालमें भी गोवध नहीं था। या तो बहुत ही कम। बाबरने गोवधनिषेधकी आज्ञा दी। प्रसिद्ध इतिहासकार सर विलियम हन्टर तथा श्री वि० स्मिथके मतानुसार मुगल-राज्यमें दो सौ सालमें गोहत्या नहीं हुई। 'भारतमें अंग्रेजी-राज्य' पुस्तकमें पं० सुन्दरलालजीने लिखा है कि औरंगजेब-जैसे धर्मान्ध बादशाहके राज्यमें भी गोवध बंद था। गोवधका आरम्भ हुआ अंग्रेजी-राज्यके साथ-साथ सन् १८५० के करीब-करीब। जो लोग या जातियाँ किसी देशसे बाहर रहकर उस देशपर शासन किया करती हैं, उनके लिये दो बातें आवश्यक होती हैं—पराधीन लोगोंमें फूटडालना तथा उनकी शारीरिक शक्ति और सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावनाको कमजोर करना। रावणने भी ऐसा ही किया था। गोस्वामी तुलसीदासजीने रामायणके बालकाण्डमें लिखा है—
रावणने भारतके लोगोंको कमजोर करनेके लिये अपने सेनापतियोंको निम्नलिखित आज्ञा दी—

द्विजभोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा ॥

कुघा छीन बरुहीन सुर सहजेहिं मित्रहिं आइ।

तब मारिहुँ कि छाड़िहुँ मलीमौति अपनाइ ॥

प्रथमहिं जिन्ह कहूँ आयसु दीन्हा। तिन्ह करं चरित सुनहु जो कीन्हा ॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं ॥

जिस तरह रावणने दूध, घी, दही आदि पदार्थोंसे शक्ति प्राप्त करनेवाले द्विज-जातिके लोगोंको कमजोर करनेके लिये धार्मिक

कृत्योंको ठेस पहुँचायी। गाय और ब्राह्मणोंको बर्बाद करनेकी कोशिश की। उसी तरह अंग्रेजी राज्यने खाल-मांस-हड्डीका व्यापार बढ़ाकर गोवंशका व्यापारिक वध जारी किया। तरह-तरहसे नस्लको हानि पहुँचायी। गायके नामपर हिंदू-मुसलमानोंको लड़ाया। पश्चिमीय सभ्यता तथा शिक्षाद्वारा हमारी धार्मिक भावनाको कमजोर करके गोवंशके प्रति जो श्रद्धा या भावना थी; उसे शेषप्राय कर दिया।

देश स्वतन्त्र हुआ; अतः जो गोवध अंग्रेजी राज्यके साथ-साथ आरम्भ हुआ था; वह अंग्रेजी राज्यके साथ ही समाप्त हो जाना चाहिये था। पर पश्चिमीय सभ्यता तथा शिक्षासे प्रभावित नेताओं; राज्याधिकारियों तथा विशेषज्ञोंने अपने देशकी भौगोलिक, आर्थिक तथा सामाजिक अवस्थाकी उपेक्षा करते हुए केवलमात्र पश्चिमीय देशोंके दृष्टिकोणोंको; जो हमारे हालातके अनुकूल नहीं; अपनाकर सम्पूर्ण गोनिषेध तो क्या; उपयोगी पशुओंकी उन्नति तथा रक्षाके लिये भी कोई काम नहीं किया। जनताके आन्दोलन करनेपर सरकारने जो वचन दिये; जब उन्हें कार्यरूपमें परिणत करनेका समय आया तो उपेक्षा की। जनताने भी गायके महत्त्व और आवश्यकतापर ध्यान नहीं दिया। इसलिये न तो गोरक्षाके लिये पिछले पाँच वर्षोंमें ठोस आन्दोलन हुआ; न कोई रचनात्मक कार्य ही। इस बेपरवाहीके कारण गोवंशका हास तथा विनाश बढ़ा।

सरकारके कागजी निर्णय

जून-जुलाई सन् १९४७ में जनताने स्वतन्त्रताकी घोषणा-में गोवधनिषेधका उल्लेख करनेके लिये आन्दोलन किया। सरकारने घोषणापत्रमें तो उल्लेख नहीं किया पर जनताके आन्दोलनको ठंडा करनेके लिये १९।११।४७ को गोरक्षाके प्रश्नपर विचार करनेके लिये गोरक्षा तथा उन्नति-कमेटी बनायी। इस कमेटीने ६।१२।४८ को सम्पूर्ण गोवध-निषेधके सिद्धान्तको मानते हुए चौदह वर्षतकके पशुओंका वध सुरंत बंद करने तथा लूली, लैंगड़ी, अपंग तथा वृद्ध गोवंशको रखनेके लिये गोसदनोकी स्थापना करके दो सालके अंदर-अंदर कानूनद्वारा गोवध बंद करनेकी सिफारिश की। सन् १९५० में भारतीय विधानकी धारा ४८ में सब प्रकारके उपयोगी पशुओं तथा गाय और बछड़ोंका वध कतई बंद करना राज्यकी नीति निर्धारित की गयी। १६।४।५२ उस समयके खाद्य तथा कृषिमन्त्री श्रीजयरामदास

दौलतरामजीकी प्रधानतामें हुई केन्द्रिय गोशालाओंके मिटिंगने भी; जिसमें देशभरके सरकारी तथा गैरसरकारी पशुविशेषज्ञ शामिल हुए थे; सर्वसम्मतिसे गोपाष्टमी-पर सरकारी स्तरपर मनाने तथा गोशालाओंको दिये जानेवाले दानपर इन्कम-टैक्स न लिया जानेका प्रस्ताव पास हुआ। महात्मा गाँधीजीने वनस्पति धीका विरोध किया। देखते २७ राज्योंमेंसे १८ ने वनस्पति धीका जमना बंद करने का रंग देनेकी सिफारिश की। अ० भा० काँग्रेस तथा केन्द्रिय एसम्बलीके सदस्योंके बहुमतने भी वनस्पति निषेध-बिलका समर्थन किया।

दुःख है कि गोरक्षा तथा वनस्पति धीके मामलेमें केन्द्रिय सरकार तथा राज्य सरकारोंने न तो जनमतकी परवाह की; न केन्द्रिय सरकारद्वारा बनायी हुई कमेटीकी सिफारिश और विधानकी धारा ४८ पर ही ध्यान दिया। सरकारने विधानकी किसी धाराके भावको बदलनेका अधिकार नहीं; पर २०।१२।५० को भारत-सरकारने राज्यसरकारोंको आदेश दिया कि 'वे गोवध सम्पूर्णतया बंद न करें। जहाँ बंद कर दिये वहाँ पुनर्विचार करें। केवल उपयोगी पशुओंका वध बंद करनेका नियम रखें।' इस आदेशके परिणामस्वरूप जो प्रान्त गोवध सम्पूर्ण बंद करना चाहते थे वे भी नहीं कर सके। पटियाला-यूनियन; राजस्थान; मध्यप्रदेश तथा जहाँ कहीं पहलेसे ही गोवध बंद था; वहाँ ही बालक गोवध बंद हुआ। मध्यप्रदेश तथा दिल्लीमें कानून बना पर उसका अमल सख्तीसे नहीं किया जा सका। भारतसरकारकी ओरसे श्रीजयरामदास दौलतरामने २९।३।४९ में चौदह वर्षतकके पशुओंका वध सुरंत बंद करनेकी घोषणा की। राज्यसरकारोंको कानून बनानेकी आज्ञा दी पर आजतक कितने ही राज्योंमें उपयोगी पशुओंका वध बंद करनेका कानून ही नहीं बना। बम्बई और बंगाल-जैसे प्रान्तोंमें; जहाँ कानून बना; वहाँ अमल नहीं होता। सरकारकी उपेक्षाके कारण आज कलकत्ता; बम्बई तथा अन्य बड़े-बड़े नगरोंमें उपयोगी तथा अच्छी नस्लके पशुओंका वध होता है जो संसारभरमें कहीं नहीं होता। सरकारने अपनी कमेटीके निर्णय होते हुए भी गोपाष्टमीका पर्व सरकारी स्तरपर मनानेकी व्यवस्था नहीं की और न गोशालाओंको दिये जानेवाले दानपर इन्कम-टैक्सकी छूट ही दी। कितनी ही गोशालाओंकी जमीन लेकर उन्हें अपंग बना दिया!

जनमत, गाँधीजीका आदेश तथा कांग्रेसका बहुमत होते हुए भी वनस्पतिका जमाना या उसमें पक्का रंग देना तो कहाँ, वनस्पतिको प्रोत्साहित करनेकी कोशिश की जा रही है। खेती तथा खाद्योत्पादनका मुख्याधार गोवंशपर है। पिछले कुछ वर्षोंमें सरकारने अधिक खाद्योत्पादन योजनापर अनुमान ६५ करोड़ रुपया खर्च किया है। जिसमेंसे गोवंशकी उन्नतिके लिये केवल सात लाख रुपये दिये गये, पर ट्रैक्टर-रासायनिक खादके लिये कई करोड़। देशकी उन्नतिकी पञ्चवर्षीय योजनापर अनुमान अठारह अरब रुपया खर्च होगा। पशुओंके द्वारा देशको आधेसे अधिक आमदनी होती है, पर इस योजनाकमेटीने पशुओंपर खर्च करना तजवीज किया है नार करोड़ या एक प्रतिशतसे भी कम। यह सिद्ध है कि जनताके लगातार आन्दोलन न करनेके कारण सरकारने गोवंशकी उन्नति तथा रक्षाके प्रति पूर्णतया उपेक्षा की है।

गोवधके पक्षपातियोंकी दो दलीलें

जो सज्जन गोवधको जारी रखना चाहते हैं उनकी दो दलीलें हैं। प्रथम, देशमें पशुसंख्या बहुत अधिक है इसे कम करना चाहिये। दूसरे, अपंग तथा वृद्ध गोवंश देशपर बोझ है। यह ठीक है कि हमारे देशमें संसारके कुल पशुओंकी संख्याका चौथा भाग पशु है। संसारके अन्य देशोंमें गोवंश केवलमात्र दूधके काम ही आता है। खेती, सिंचाई, भारवाहन आदिका सब काम घोड़ों या मशीनोंसे होता है। पर हमारे देशमें सब काम गोवंशसे ही लिया जाता है। फिर भी संसारके कितने ही देशोंमें हमसे अधिक पशु हैं। सरकारकी पशुवाजार-रिपोर्टने यहाँ पशुओंकी अधिकताकी आवश्यकता-को दृष्टिमें रखते हुए कुछ देशोंकी पशुसंख्या दी है जो प्रति एक सौ मनुष्योंपर निम्नलिखित है—

भारत	५५,
कनाडा	७७,
डेनमार्क	८६,
ऑस्ट्रेलिया	१९१,
अर्जन्टाइना	२५९,
न्यूजीलैंड	२८१।

यह कहना कि भारतमें पशुसंख्या अधिक है, ठीक नहीं। यदि अच्छी नस्लके पशुओंकी संख्या यहाँ कम है तो यह पशुओंका दोष नहीं। सरकार तथा जनताकी उपेक्षाका

परिणाम है। हमारे देशकी संस्कृति नैतिकताप्रधान है। अतः जिस गायने हमें तृण-घास खाकर दस-पंद्रह वर्ष दूध दिया और बैल दिये, जिस गायने जीवनभर उपकार किया, जो मरनेके बाद भी चमड़ा-हड्डी देगी, ऐसे परोपकारी पशुको वृद्ध या अपंग होनेपर उसकी रक्षा करना हमारा धार्मिक ही नहीं, नैतिक कर्तव्य भी है। यदि हम आज वृद्ध या अपंग पशुओंकी रक्षा करना अपना कर्तव्य न समझेंगे तो कुछ दिनों बाद वृद्ध माता-पिता तथा बीमार अपंग सम्बन्धियोंकी सेवा करना भी छोड़ देंगे। यदि हमने केवलमात्र आर्थिक लाभपर ही दृष्टि रखी तो नैतिक पतन होगा ही, साथ ही मानवताको भी ठेस पहुँचेगी। भारतका उच्च आदर्श केवलमात्र इतिहासकी शेष कथा ही रह जायगी। राजस्थान, काश्मीर, मध्यभारत तथा पटियाला-यूनियन और अन्य भारतीय रियासतोंमें, जहाँ देशकी एक तिहाई पशुसंख्या थी, वर्षों कानूनी तौरपर गोवध बंद रहा, आज भी है, वहाँ वृद्ध और अपंग पशुओंके कारण न तो जनताकी आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा और न कोई समस्या ही उत्पन्न हुई, फिर सारे देशमें यदि सम्पूर्णतया गोवध बंद हो जाय तो कोई कठिनाई उत्पन्न होगी, ऐसा कहना या दलीलें देना उचित नहीं।

संगठित आन्दोलनकी आवश्यकता

जनतन्त्रमें जनताका जागरूक रहना तथा सरकारके प्रति अपने कर्तव्योंका पालन करते हुए जनताके अधिकारोंके लिये वैधानिक आन्दोलन करना अत्यन्त आवश्यक है। जब-तक जनताद्वारा संगठित आन्दोलन नहीं होता, सरकार परवा नहीं करती। इच्छा न होते हुए भी देशके नेताओंने केवलमात्र आन्दोलनसे प्रभावित होकर हिंदीको राष्ट्रभाषा स्वीकार किया, हिंदू-कोड-विल स्थगित करना पड़ा। उचित होगा कि गोवधनिषेध तथा गायोंकी उन्नतिके लिये प्रान्त-प्रान्तमें टोस तथा संगठित आन्दोलन किया जाये। आन्दोलन आरम्भ करनेसे पूर्व यह जाँच की जाय कि उस प्रान्तमें कहाँ-कहाँ कितने-कितने गोवंशका कत्तल होता है। प्रान्तसे बाहर पशु कहाँ-कहाँ बाहर भेजे जाते हैं। सरकारी तथा गैरसरकारी तौरपर गोवंशकी उन्नतिके लिये क्या-क्या कार्य हो रहे हैं। गोसेवा-कार्यसे सहानुभूति रखनेवाले कौन-कौन-से सज्जन हैं। उनके नाम-पते क्या हैं। प्रान्तमें गोरक्षा-कार्यके लिये

संस्थाएँ बनायी जायें। गोवर्धनसे गोपाष्टमी तक गोसप्ताह मनाने का कार्यक्रम रक्खा जाय। इस गोसप्ताहकी तैयारी अभीसे हो। जनतामें गोरक्षाकी भावना उत्पन्न करनेके लिये लिखित तथा मौखिक प्रचार किया जाये। गोप्रदर्शनी हो। भारतीय संसद्, राज्यसभा, लोकल बोर्ड तथा म्यु० बोर्ड आदिके सभासदोंसे मिलकर उन्हें अपने-अपने क्षेत्रमें तथा अधिकारानुसार गोरक्षाके लिये अपना प्रभाव तथा शक्ति लगानेकी प्रार्थना की जाये। जो सभासद् गोरक्षा-कार्यके प्रति

अवहेलना करें, उनके विरुद्ध जनमत तैयार करके वाप आनेका आन्दोलन हो। अपने प्रान्त तथा इलाकेकी अवस्थाके अनुसार हर उचित तरीकेसे गोरक्षाके लिये कार्य किया जाये। इस आन्दोलनका श्रीगणेश गोवर्धनसे हो तथा जबल गोवध कतई बंद न हो, गावोंकी नस्ल-सुधारपर पूर्ण ध्यान न दिया जाये, आन्दोलन जारी रखें। 'संधे शक्ति कलौ युगे' इस वाक्यको सम्मुख रखते हुए गोरक्षाके निर जनताका संगठित होना अत्यन्त आवश्यक है।

श्रीकृष्णकी मधुर बाल-लीला

['श्रीकृष्णायन' से]

लखी विकीर्ण विपिन प्रभु शोभा ।

उपजेठ उर गोचारण-लोभा ॥

चले प्रभात विपिन जब ग्वाला ।

चले लागि पाछे नँदलाला ॥

जब भगवान् श्रीकृष्णने वनमें बिखरी हुई शोभा देखी तो उनका जी गो चरानेके लिये ललच उठा। एक दिन प्रातःकाल जब गोप वनकी ओर जाने लगे तो वे भी उनके पीछे-पीछे हो लिये।

निरखि यशोमति आतुर धाई ।

'कान्ह ! कान्ह !' कहि टेर लगाई ॥

भागै हरि कहि—'धेनु चरइहैं ।

भयउ सयान न मातु डेरइहैं ॥

उन्हें वनकी ओर जाते देख यशोदा घबराकर दौड़ पड़ी और उन्होंने 'कान्ह ! कान्ह !' की टेर लगा दी। हरि यह कहकर भाग गये कि 'मैं गाय चराऊँगा, माँ ! मैं बड़ा हो गया हूँ; डरूँगा नहीं।'।

'जाय जमुन जल पैठि नइइहैं ।

भूख लगे मैं वन-फल खइहैं ॥

माता विविध भाँति समुझावा ।

कहति—'आजु वन हाऊ आवा ॥'

(यमुनाके जलके भीतर पैठकर नहाऊँगा और भूख लगनेपर वनके फल खा लूँगा।'।) माताने बहुत प्रकारसे समझाया कि कृष्ण वनमें न जायें और वे न मानें तो उन्हें डरानेके लिये कहने लगी—'तुनमें आजु हाऊ आवा है।'

एकहु जब न सुनी वनइयाभा ।

पकरि हाथ सौंपे बलरामा—

'देखत रहेहु, कान्ह भम बारे ।

लौटेहु आजु विशेष सबारे ॥'

जब श्रीकृष्ण किसी उपायसे भी न रुक सके—उन्होंने माँकी एक बात भी न सुनी—तब माँने उनका हाथ पकड़कर बलरामको सौंप दिया और कहा—'मेरा कान्ह अभी छोटा है, इसलिये इसे ताकते रहना और आज जल्दी ही लौ आना।'।

दो०—शृंगी फूँकत गोप सब, श्याम बजायी वेणु ।

गो बछरा उछरत चले, चली उड़ति पथरेणु ॥

सब गोपोंने शृंगी और श्यामने वेणु बजायी। गौ और बछड़े उछलते हुए चले जा रहे थे और मार्गमें धूल उड़ती जाती थी।

सजल जलद छबि श्याम शरीरा ।

शोभित तड़ित-काँति कटि चीरा ॥

कंध, वक्ष, युग बाहु विशाला ।

हृदय पदिक, सर्वांगन माला ॥

श्यामका शरीर जलभरे बादलके समान सुन्दर था जिसपर कमरका पीताम्बर बिजलीकी आभाकी तरह शोभा बढ़ा रहा था। उनके कंधे, वक्षःस्थल और दोनों बाहु विशाल थे। वे हृदयपर पदिक पहने थे और गलेसे पतंग तक लंबी माला।

कुंडल युगल लोल अभिरामा ।

मृदु कपोल छविधामा ॥

संख्या १०]

भव्य ललाट रेख गोरोचन ।
ललित चंद्रिका, तरल विलोचन—

कानोंमें सुन्दर कुण्डल झूल रहे थे । उनके कोमल
केश सौन्दर्यकी खानि थे । भव्य ललाटपर गोरोचनकी
रेखा थी । सिरपर सुन्दर चन्द्रिका सुशोभित थी । चञ्चल-नेत्र
ऐसे लगते थे मानो..... ।

कुवलय दल अलि-बाल बँधाये ।

चहत उड़न जनु उड़न न पाये ॥

अरुण अधर दशनन द्युति सोही ।

धरे लालमणि मुक्ता पोही ॥

.....कमल-दल-से नन्दे भौरे बँधे हुए हैं, जो
उड़ना तो चाहते हैं पर उड़ नहीं सकते । लाल होठोंमें
शोंकी चमक ऐसी शोभा दे रही थी, मानो लाल मणियोंमें
मोती पिरोये गये हों ।

बोलत बैन सुमन बरसावत ।

स्रवत सुधा हँसि वेणु बजावत ॥

काँधे कामरि लकुटी सोही ।

गो चारत हरि विश्व विमोही ॥

वे जब बोलते थे, ऐसा लगता था, मानो फूल बरसा
रहे हैं और जब हँसकर वेणु बजाते थे तो ऐसा प्रतीत होता
था मानो अमृत चू रहा है । उनके कंधेपर 'कमली' और
लकुटी सुशोभित थीं । अपने रूपसे विश्वको मोहते हुए
गौ चराते थे ।

दो—सखन सँग खेलत कवहुँ, कवहुँ चरावत गाय ।

नाचत कवहुँ कदम्बतल, मुरली मधुर बजाय ॥

वे कभी सखाओंके साथ खेलते, कभी गाय चराते,
कभी कदम्बरुके नीचे मधुर मुरली बजा-बजाकर
नाचते थे ।

खेलत ग्वालन संग कन्हैया ।

बगरे विपिन वस्स अरु गैया ॥

इतनेहि महुँ वत्सासुर आयी ।

वत्स-वृन्द महुँ गयेउ समायी ॥

जब ग्वालोंके साथ कृष्ण खेल रहे थे तब गाय और
बछड़े जंगलमें यहाँ-वहाँ फैल गये । इतनेमें ही वहाँ
वत्सासुर आकर बछड़ोंमें मिल गया ।

जानि दैत्य-कैतव बनवारी ।

पहुँचे क्रम क्रम तासु पछारी ॥

सहसा कर खल-पूँछ लगायी ।

हतेउ पटकि तरु-मूल कन्हाई ॥

वन-विहारी श्रीकृष्ण उस असुरका छल जानकर धीरे-
धीरे उसके पीछे पहुँच गये और हाथसे उस दुष्टकी पूँछ
पकड़कर उन्होंने उसे पेड़की जड़पर पटककर मार डाला ।
वहरेउ कानन, जीव डेराने ।

चकित सखा, गो-वत्स पराने ॥

पहुँचे साँझ जबहिं ब्रज माहीं ।

कहेउ वृत्त हरि यशुमति पाहीं ॥

उसके पछाड़ खानेसे विपिन घहर उठा और वनके
जीव-जन्तु डर गये । कृष्णके सखा चकित हो गये तथा
गो-बछड़े भाग गये । सायंकालको जब हरि ब्रजमें पहुँचे तो
उन्होंने यशोदासे यह समाचार कहा—

“निकसेउ वन ते जैसेहि हाऊ ।

भागो मोहिं छाँडि बलदाऊ ॥

मइया ! दीन्ह न कोउ सहारा ।

सुमिरि तोहि मैं हाऊ मारा ॥”

“जैसे ही वनसे 'हाऊ' निकला, बलदाऊ मुझे छोड़कर
भाग गये । मैया ! मुझे जब किसीने सहारा न दिया तो
मैंने तेरे नामका स्मरणकर उस 'हाऊ' को मार डाला ।”

दो—लेति बलैया मातु सुनि पुनि पुनि हृदय लगाय ।

वरजेउ केतिक कान्ह ! मैं गो चारण जनि जाय ॥

कृष्णके ये वचन सुनकर माँने उनकी बलैया ली ।
बार-बार उन्हें छातीसे लगाया और कहने लगी—“कान्ह !
मैंने तुझे कितनी बार रोका था कि गौ चराने मत जा ।”

भगवान् श्रीकृष्णकी बाललोलका यह प्रसङ्ग पं० श्रीद्वारिकाप्रसादजी मिश्रके महाकाव्य 'श्रीकृष्णायन' से लिया गया है । मिश्रजीने
धारणारमें रहते समय भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर मनोहर उदार और परम आदर्श दिव्य लीलाओंकी बड़ी मीठी रसीली भाषामें रचनाकर
एक अत्यन्त विशद और महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । 'कृष्णायन' विशाल ग्रन्थ है और अब वह उपर्युक्त रीतिसे टीकासहित प्रकाशित हो रहा
है । टीका बड़ी सरल और सुन्दर है । यह क्रमशः सात काण्डोंमें प्रकाशित होगा । प्रत्येक काण्डका मूल्य २) है । अभी दो काण्ड
प्रकाशित हुए हैं । 'प्रतिभा प्रकाशन लिमिटेड' बर्धारोड, नागपुरसे यह महान् ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है । भगवान् श्रीकृष्णकी
लीलाओंके प्रेमी प्रत्येक नर-नारीको इस ग्रन्थके पढ़ने, सुनने, समझने और गान करनेका आनन्द प्राप्त करना चाहिये ।—सम्पादक

सती द्रौपदी

(लेखक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्गसे आगे]

(७)

जो होनेवाला होता है वह होकर ही रहता है। भगवान् की इच्छा, जीवोंका प्रारब्ध और प्रकृतिकी अनुलङ्घनीय धाराका किसी प्रकार उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता। सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, शीत-उष्ण और पाप-पुण्यका किसी प्रकार मेल नहीं हो सकता। न्याय और अन्यायमें कभी समझौता नहीं हो सकता। यह सब बातें अटल हैं, इनके विपरीत जो चेष्टा करते हैं वे कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। इनके बारेमें पहलेसे ही निश्चय किया जा चुका है। पाण्डवोंके जीवनमें हम यह बात बहुत ही स्पष्टरूपसे देखते हैं कि उनका कौरवोंके साथ मेल करानेके लिये बड़े-बड़े महापुरुषोंने चेष्टा की, परंतु वह सफल नहीं हुई। ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर यही है कि दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिका समन्वय कभी हो ही नहीं सकता। यदि कभी होता हुआ-सा दीखता है, तो वह क्षणिक होता है और फिर टूटते देर नहीं लगती। अभी-अभी हम इस बातको देख सकते हैं।

धृतराष्ट्रने धर्मराज युधिष्ठिरकी सारी सम्पत्ति लौटा दी, उन्हें दासतासे मुक्त कर दिया और वे अपनी राजधानीके लिये रवाना हुए। यदि वह बात यहीं समाप्त हो जाती तो फिर आगे कोई झगड़ा न होता। परंतु ऐसा नहीं हुआ, दुःशासनकी प्रेरणा और शकुनिकी सलाहसे दुर्योधनने अपने पिताके पास जाकर बहुत कुछ उलटा-सीधा समझाया और पुनः जुआ खेलनेकी अनुमति ले ली। गान्धारीके बहुत मना करनेपर भी पुत्र-मोहके कारण धृतराष्ट्रने जुआ खेलनेकी आज्ञा दे दी। उनके पुत्रोंने जाकर युधिष्ठिरको रास्तेमेंसे ही लौटा लिया। युधिष्ठिरने भी दैवकी ऐसी ही इच्छा समझकर उनका धूत-रण-निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और वे अपने भाइयोंके साथ वहाँ लौट आये।

शकुनिने प्रस्ताव किया कि 'राजन् ! बूढ़े राजाने आपकी सारी सम्पत्ति लौटा दी और आपको दासत्वसे मुक्त कर दिया, सो बहुत ही अच्छा किया, अब हम एक दूसरे प्रकारकी बाजी लगाकर चौसर खेलना चाहते हैं। इस बार हम ऐसी बाजी

लगा रहे हैं कि यदि हम लोग हार जायेंगे तो बारह वर्ष तक वनमें रहेंगे, तेरहवें वर्षमें अज्ञातवास करेंगे। उस समय आप हमारा पता नहीं पा सकेंगे। यदि उस वर्षमें हमारा पता लग जाय तो हम फिर बारह वर्ष वनवास करें। वनमें मुनियोंके वेषमें रहना होगा। ऐसे ही यदि आप हार जायेंगे तो आपको भी द्रौपदीके साथ ऐसा ही करना पड़ेगा। इस प्रकार तेरह वर्ष बिता चुकनेपर हम या आप अपना-अपना राज्य प्राप्त कर सकेंगे। कहिये आपको स्वीकार है न ?' शकुनिकी बात सुनकर सभी सभासद् उसको धिक्कारने लगे; परंतु धर्मराज युधिष्ठिरने स्वीकार कर लिया। शेष पाण्डवोंकी इच्छा न होनेपर भी वे युधिष्ठिरके विपरीत भला क्या बोल सकते थे! शकुनिने 'मैं जीत गया' यह कहते हुए पाँसे फेंके और (कपटके पाँसे होनेसे) सचमुच ही जीत गया। वनमें जानेकी तैयारी होने लगी, पाण्डवोंने राजसी पोशाक उतारकर भूगर्भ-धारण किये। दुःशासन उन्हें चिढ़ाने लगा, द्रौपदीको भी वह बहुत कुछ भला-बुरा कहने लगा। भीमसेन धर्मराजके अधीन और धर्मसे बँधे हुए होनेके कारण कुछ कर नहीं सकते थे। उन्होंने दुःशासनको डाँटते हुए कहा—'दुःशासन ! युद्धभूमिमें मैं तुम्हें इन बातोंकी याद दिला-दिलाकर मारूँगा।' सारी सभाको सुनाकर भीमसेनने प्रतिज्ञा की कि 'पापी दुर्योधनको गदा-युद्धमें मारकर मैं इसके सिरपर पैर रखूँगा। और इस बकवादी दुःशासनके हृदयको चीरकर मैं इसका लुत अवश्य पिचूँगा। शीघ्र ही देवता लोग मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी करेंगे।'।

अर्जुनने कहा—'सज्जनोंका यह नियम है कि जो कुछ करना चाहते हैं, उसे करनेके पहले अपने मुँहसे नहीं निकालते, फिर भी मैं आज भरी सभामें इतना तो कह ही देता हूँ कि आजके चौदहवें वर्षमें जो कुछ होगा उसे आप लोग अपनी आँखोंसे देखेंगे।' भीमसेनने कहा—'उस समय पृथिवी दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन और शकुनिके रक्त-तर हो जायगी।' अर्जुनने कहा—'भैया भीम ! मैं तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये यह घोषित करता हूँ कि मैं अपने मुँहसे बड़ाई-कारबोचले, बुरी सलाह देनेवाले, परदोषदायी और

संख्या १०]

हिमाद्रिपरवश कर्णको अवश्य मारूँगा । न केवल कर्णको, जो उसकी सहायता करेंगे, जो मोहवश मुझसे लड़ने आयेंगे, उन सबको मैं यमपुरीमें पहुँचाऊँगा । यदि आजके चौदहवें वर्षके प्रारम्भमें सम्मानके साथ हमारा राज्य हमें नहीं दे दिया गया तो मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि चाहे हिमालय अपने शानसे हट जाय, सूर्य प्रकाश देना बंद कर दे, चन्द्रमा उष्णताकी वर्षा करने लगे, परंतु मेरी प्रतिज्ञा झूठी नहीं हो सकती ।' प्रतापी सहदेवने क्रोधसे आँखें लाल-लाल करके हाथ उठाकर कहा—'कुरुकुलके नाशक शकुनि ! तू जिन्हें ऐसे समझता है वे पैने वाण हैं, ये ही तेरे प्राणोंके ग्राहक रहेंगे । मैं आज ही बतला देता हूँ कि युद्धभूमिमें मैं तुझे और तेरे मित्रोंको सदाके लिये धराशायी कर दूँगा ।' नकुलने कहा—'महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे द्रौपदीका प्रिय करनेके लिये धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मैं अवश्य मारूँगा ।' महाराज युधिष्ठिर इनकी प्रतिज्ञा सुनकर भी कुछ नहीं बोले । वे मग्न रहे थे कि यही सब होनेवाला है ।

युधिष्ठिरने पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीमदत्त, बाह्लीक, अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र तथा अन्य उपस्थित परतियोंको सम्बोधन करके कहा—'मैं अपने भाई और पत्नीके साथ वनमें जा रहा हूँ, आप लोग प्रसन्नतासे मेरा प्रणाम स्वीकार करके आशीर्वाद दीजिये और हम सब सकुशल लौटकर आप लोगोंके दर्शन कर सकें, ऐसी शपथ कीजिये ।' सब लोगोंने मन-ही-मन धर्मराज युधिष्ठिरको आशीर्वाद दिया । विदुरने कहा—'युधिष्ठिर ! आर्या कुन्ती बूढ़ी हैं, वे सदा सुखमें ही रही हैं । उन्हें वनके दुःखोंका ज्ञान नहीं है, इसलिये उनका वनमें जाना ठीक नहीं है । वे यहीं मेरे घरमें आदर-सत्कारके साथ रहें । तुम लोग मेरी यह बात मान लो, भगवान् सर्वत्र तुम्हारा भला करेंगे ।' युधिष्ठिरने उनकी बात मान ली और अपने लिये उपदेश देनेको कहा ।

विदुरने कहा—'धर्मराज ! तुम धर्मके विशेषज्ञ हो, तुम यह जानते ही हो कि यदि किसी धार्मिक पुरुषको कोई अप्रभुसे ठग ले या धोखा दे दे तो वह व्यथित नहीं होता । तुम्हारे सभी भाई, पुरोहित और द्रौपदी एक-से-एक बढ़कर हैं । सब-के-सब धार्मिक हैं और आपसमें सबका प्रेम है । तुम लोगोंमें फूट नहीं पड़ सकती, नियम-पालनके कारण तुम्हारा मन स्वस्थ रहता है । शत्रु तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते ।

हिमाचलपर मेरुसावर्णि ऋषिने, वारणावत नगरमें कृष्ण-द्रौपयन व्यासने, भृगुतुङ्गपर परशुरामने, दृषद्वतीके तटपर भगवान् शङ्करने, अञ्जन पर्वतपर महर्षि असितने, कल्माषी नदीके तटपर महर्षि भृगुने तुम्हें उपदेश किया है । देवर्षि नारद सदा तुम्हारी देख-रेख रक्खा करते हैं । महर्षि धौम्य तुम्हारे पुरोहित हैं, उनके उपदेशोंको तुम कभी मत भूलना । तुम बुद्धिमें पुरुरवासे, धर्मके आचरणमें ऋषियोंसे, क्रोध रोकनेमें यमराजसे, उदारता और दानमें कुवेरसे, इन्द्रिय-संयममें वरुणसे भी बढ़कर हो । तुम चन्द्रमासे शान्ति, जलसे परोपकार-वृत्ति, पृथिवीसे क्षमा, सूर्यसे तेज, वायुसे बल और समस्त प्राणियोंसे आत्म-सम्पत्ति प्राप्त करो । कुल-देवता तुम्हें नीरोग रक्खें, लौटनेपर मैं तुम्हें सकुशल देखूँगा, तुम्हारा कल्याण हो । आजतक तुमने कभी अधर्म नहीं किया है, आगे भी तुम्हारे द्वारा कभी अधर्म न हो ।'

विदुरके उपदेश सुनकर धर्मराजने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम किया और वे चलनेके लिये उद्यत हुए । उधर द्रौपदी कुन्ती एवं अन्यान्य कुलकी वृद्ध स्त्रियोंको प्रणाम करके जब पाण्डवोंके साथ वनमें जानेको तैयार हुई, तब चारों ओर आर्तनाद होने लगा । कुन्तीका गला रूँध-सा गया, वे अचेत हो गयीं । बड़े कष्टसे उन्होंने अपनेको सँभालकर द्रौपदीसे कहा—'बेटी ! तुम साध्वी, सुशीला और पतिव्रता हो । तुम धर्मको जानती हो और सदाचारका पालन करती हो । तुमने अपने गुणोंसे पिता और पति दोनोंके ही कुलको उज्ज्वल किया है । स्वामीके साथ स्त्रीका कैसा बर्ताव होना चाहिये, यह तुम्हें बतानेकी आवश्यकता नहीं है । दुःखमें पड़कर कभी शोकसे अधीर मत होना, मैं तुम्हारे मङ्गलकी कामना करती हूँ । ग्लानि मत करना, धर्म और गुरुजन तुम्हारी रक्षा करेंगे । सहदेवका विशेष ख्याल रखना । वह अभी बालक ही है ।'

रक्तसे भींगे कपड़े पहने हुए द्रौपदीने कुन्तीकी आज्ञा स्वीकार की । जब द्रौपदी आज्ञा लेकर बाहर निकली, तब उसके बाल बिखरे हुए थे । द्रौपदी अपने पतियोंके पीछे-पीछे चलने लगी । विदुरने कुन्तीको समझा-बुझाकर लौटा दिया । यात्राके समय पाण्डव भिन्न-भिन्न प्रकारसे चल रहे थे । युधिष्ठिर अपनी आँखें बंद किये हुए थे, इसका कारण यह था कि वे पाण्डवोंकी भाँति ही कौरवोंपर भी स्नेह रखते थे । वे सोचते थे कि यदि मैं क्रोधकी दृष्टिसे दुर्बोधनको देखूँगा तो वह भस्म हो

जायगा। इसीसे वे अपना मुँह और आँखें ढके हुए थे। भीमसेन बार-बार अपनी बाँहोंको देखते हुए जा रहे थे, इसका मतलब यह था कि बाहुबलमें मेरे समान और कोई नहीं है। युद्धमें इन बाहुओंसे मुझे घोर कर्म करना पड़ेगा। अर्जुन धूल उड़ाते हुए जा रहे थे, उसका अभिप्राय यह था कि वे युद्धमें वैसी ही बाण-वर्षा करके शत्रुओंका संहार करेंगे। नकुलने सारे शरीरमें मिट्टी लगा ली थी, इसका कारण यह था कि वे बहुत ही सुन्दर थे। रास्तेमें उन्हें देखकर स्त्रियाँ मोहित न हो जायँ। सहदेवने अपने मुँहपर मिट्टी लगा ली थी, इसका अर्थ यह था कि कोई मुझे पहचान न सके, शायद उन्हें कुछ लज्जा मालूम हो रही थी। द्रौपदी एक वस्त्र पहने रोती हुई अपने बाल बिखेरे हुए जा रही थी। इसका तात्पर्य यह था कि आज जिस रूपमें मैं जा रही हूँ, आजके चौदहवें वर्ष उसी रूपमें कौरवोंकी स्त्रियोंको भी अपने सम्बन्धियोंको तिलोदक देनेके लिये जाना पड़ेगा। धीर पुरोहित धौम्य नैऋत कुश हाथमें लिये भयंकर यमदेवता-सम्बन्धी साम पढ़ते जा रहे थे। इसका उद्देश्य यह था कि कौरवोंके मरनेपर इसी प्रकार उनके पुरोहित भी इन मन्त्रोंका उच्चारण करेंगे।

पाण्डवोंके वन-गमनके समय सारे हस्तिनापुरमें हाहाकार मच गया। स्त्रियाँ रो रही थीं, पुरुष विलाप कर रहे थे। कौरवोंको छोड़कर ऐसा और कोई नहीं था, जिसकी आँखोंमें आँसू न आ गये हों। पशु-पक्षीतक रोने लगे। जिस द्रौपदीको बड़े-बड़े देवता भी नहीं देख सकते थे, उसे आज पैदल चलनेवाले गाँवके लोग भी देखने लगे। जो पाण्डव पृथिवीके एकच्छत्र सम्राट् थे, उन्हें पहननेके लिये आज वस्त्र भी नहीं थे। द्वारकामें अस्त्र-विद्या सीखनेके लिये गये हुए नन्हें-नन्हें बच्चोंको खबर भी नहीं दी जा सकी। जन्मभरसे जिसकी सेवा की गयी, उस माताको भी छोड़ना पड़ा, दूधके फेनके समान शय्या-पर सोनेवाले पाण्डवोंको आज जमीनमें भी सोनेकी जगह मिलेगी या नहीं इसमें सन्देह हो गया। भला किस सहृदयका हृदय न बिहर उठेगा, किसका कलेजा नहीं थरा जायगा। देवर्षि नारद चमकते हुए क्षमसे आकाशमण्डलसे उतरे, धृतराष्ट्रकी सभामें प्रकट हुए और उन्होंने कहा—‘धृतराष्ट्र! आजके चौदहवें वर्ष भीमसेन और अर्जुनके बलसे समस्त कौरवोंका नाश हो जायगा।’ इतना कहकर

वे झटपट अन्तर्धान हो गये। पाण्डव आगे बढ़ते ही वे द्रोणाचार्यने समझाया, भीष्मपितामहने समझाया, अनेक ऋषियोंने समझाया, परंतु दुर्योधन अपने हठे न हटा, न हटा।

द्रौपदीके अपमानसे सभीको दुःख हुआ था। प्रज्ज शोक मनाया, ब्राह्मणोंने एक दिन अपना नित्यकर्म छोड़ होत्र बंद कर दिया। प्रकृतिने अपने विरोधका विषु प्रदर्शन किया, प्रचण्ड आँधी चलने लगी। विजली कड़क लगी, उल्कापात होने लगे। रथ-शालाओंमें आग लग गयी, ध्वजाएँ टूट गयीं, सियार और गधे चिल्लाने लगे। धृतराष्ट्रने कहा—‘द्रौपदीकी क्रोधपूर्ण दृष्टिसे सारी पृथिवी मर हो सकती है।’ वास्तवमें सतियोंमें ऐसी ही शक्ति होती है। उनके अपमानसे रावण और कौरवोंजैसे लोगें भी सत्यानाश हो जाता है, औरोंकी तो बात ही क्या है!

पाण्डव और द्रौपदीके वनवासका समाचार नारा और फैल गया। देश-देशके राजा उनसे सहानुभूति प्रकट करनेके लिये वनमें आने लगे। चेदि देवें नरेश धृष्टकेतु, कैकय देशके नरेश और भोज, अम्ब एवं वृष्णिवंशके यादव श्रीकृष्णको आगे करके दुर्योधनकी निन्दा करते हुए युधिष्ठिरसे मिलनेके लिये आये। पाण्डवों यथा अवसर सबका स्वागत किया। सबके बैठ बनेर खेदपूर्ण हृदयसे भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंसे कहा—‘अब यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो गयी है कि कौरवोंके स्वार्थवश पाण्डवोंके साथ छल एवं बेईमानी की है। उन पापियोंका खून पीनेके लिये पृथिवी प्यासी हो गयी है। अब वे दिन दूर नहीं हैं, जब ये दुष्ट अपने अनुचरों और बन्धु-बान्धवोंसहित मारे जायँगे और धर्मराज युधिष्ठिर राजगद्दीपर बैठेंगे। इन आततायी, धोखेबाज, दुरात्माओंको मार डालना ही सनातन धर्मके अनुकूल है। मैं यह सब बान स्वयं करूँगा।’ इतना कहते-कहते श्रीकृष्ण अधीर हो उठे। ऐसा जान पड़ा, मानो वे सब लोकोंको जला डालेंगे। अर्जुनने उनकी स्तुति की।

अर्जुनने कहा—‘श्रीकृष्ण! तुम लोक-संचालनके एक मात्र कारण हो, सब क्षेत्रोंमें एकमात्र क्षेत्रज्ञ तुम्हीं हो। तुम सभी तत्त्वों और प्राणियोंके आदि तथा अन्त हो। तुम तपस्याके आधार नित्य यज्ञस्वरूप हो। तुम्हीं इन्द्रको इन्द्र बनाया है। तुम्हीं नारायण हो और तुम्हीं

सब नामों, रूपों, दिशाओं, कालों और वस्तुओंके रूपमें प्रकट हो रहे हो। तुमने ही सूर्यको प्रकाशित कर रक्खा है। अवतार लेकर तुमने अनेकों असुरोंका विनाश किया है। जगत्के दोष तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकते। बड़े-बड़े महर्षि अपने हृदय-कमलमें तुम्हारा चिन्तन करते हैं, प्रलयके समय तब विश्व तुम्हारे अंदर लीन हो जाता है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव तुम्हारे ही शरीरसे उत्पन्न हुए हैं। तुम्हीं हम-भगोंके रक्षक हो। हम तुम्हारे ही भरोसेपर हैं, हम तुम्हारी ही शरणमें हैं। जय इतना कहते-कहते अर्जुनका कण्ठ बगदर हो गया, उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे और वे ओरो कुल बोल न सके, तब भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—मेरे प्यारे अर्जुन ! तुम मेरे ही हो, और मैं तुम्हारा ही हूँ, जो मेरे हैं, वे तुम्हारे हैं। मेरे पास जो कुछ है, उसपर तुम्हारा अधिकार है। जो तुमसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है। जो तुम्हारे पीछे चलता है, वह मेरे पीछे चलता है। वीर अर्जुन ! तुम नर हो, मैं नारायण हूँ। हम दोनों समयके अनुसार लोगोंके कल्याणके लिये यहाँ अवतीर्ण हुए हैं। तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे अभिन्न हूँ। तू दोनोंमें तनिक भी भेद नहीं है।*

अर्जुन और श्रीकृष्णकी बातचीतके समय द्रौपदी भी वहाँ बैठी हुई थी। धृष्टद्युम्न आदि भाई उसको घेरे हुए थे। उसके हृदयमें करुणा, आत्मसम्मान और धर्मराज्यकी रक्षाकी अभिलाषा जग रही थी। उसके चित्तमें योग्यता आदि असुर-भावापन्न लोगोंके नाशके लिये बहुत उत्साह था। वह श्रीकृष्णसे कहने लगी—हे कमल-लय श्रीकृष्ण ! मैंने असित-देवल ऋषिके मुँहसे सुना है कि तुम सारी सृष्टिके मूल हो। जामदग्न्य परशुरामने तुम्हें विष्णु, यज्ञ, यजमान और यजनीय कहा है। बड़े-बड़े ऋषियोंने तुम्हें मूर्तिमान् सत्य और क्षमा कहा है। कश्यप और नारदने बतलाया है कि 'तुम ईश्वरोंके भी ईश्वर हो और जैसे बालक नन्हें खिलौनोंसे खेला करता है वैसे ही तुम ब्रह्मा, शङ्कर और इन्द्रादि देवताओंके साथ खेला करते हो।

सारी प्रकृति और सारे प्राकृत पदार्थ तुम्हारे अन्तर्भूत हैं। आत्मदर्शनसे तू तत् ऋषिगण तुम्हारा ही भजन किया करते हैं। सबके एकमात्र आश्रय तुम्हीं हो। तुम प्रभु, विभु, भूतात्मा और सर्वत्र विराजमान हो। लोक, लोकपाल, नक्षत्र, चन्द्रमा, सूर्य, दिशाएँ और आकाश सब तुममें प्रतिष्ठित हैं। देवताओंकी दिव्यता और मनुष्योंकी मनुष्यता तुम्हारे ही द्वारा सृष्ट है। मैं तुमसे अपना दुखड़ा क्या रोऊँ ? तुम अन्तर्यामी हो फिर भी प्रेमके कारण हृदयकी बात कहे बिना रहा नहीं जाता।

‘श्रीकृष्ण ! मैं धृष्टद्युम्नकी वहिन हूँ, वीर पाण्डवोंकी पत्नी हूँ और तुम मुझसे स्नेह करते हो। ऐसी अवस्थामें क्या यह लज्जाजनक नहीं है कि मैं रजस्वला होनेपर भी भरी सभामें गुरुजनोंके बीच खींचकर लायी जाऊँ और मुझे नग्न करनेकी चेष्टा की जाय। उस समय लोग मुझे देखकर हँस रहे थे। पाण्डवोंके जीवित रहते ही दुष्टोंने मुझसे दासीका-सा व्यवहार किया और गंदी-गंदी बातें बकੀं। मैं महात्मा भीष्म और धृतराष्ट्रकी कुलवधू हूँ। मैं इन पाण्डवोंसे क्या आशा रख सकती हूँ। इनके बाहुबलको, इनकी युद्धचातुरी-को बारंबार धिक्कार है। इन्होंने अपनी धर्मपत्नीको इस प्रकार अपमानित होते एवं कष्ट पाते देखकर भी लापरवाही की। मैं भीमसेनके बल और अर्जुनके गाण्डीव धनुषको धिक्कारती हूँ, क्योंकि उन्होंने अपनी आश्रित धर्मपत्नीकी रक्षाका धर्म पालन नहीं किया।

‘मैं स्त्री हूँ, यह सत्य है, परंतु पुरुषोंके लिये यह नियम है कि स्त्रीपर कोई आपत्ति आ जाय तो वह चाहे कितना ही निर्बल क्यों न हो, प्राणपणसे उसकी रक्षा करे। स्त्रीके सुरक्षित रहनेसे ही सुन्दर संतान प्राप्त हो सकती है, स्त्रीकी रक्षाके बिना पुरुष अरक्षित है। पाण्डवोंने मुझ शरणागतकी प्रार्थनापर ध्यान नहीं दिया, इन्हें कम-से-कम अपने पुत्रोंकी रक्षाके लिये ही मेरी रक्षापर ध्यान देना था। परंतु इन्होंने उस समय कुछ नहीं किया। यह बात भी नहीं थी कि कौरवोंका वह पहला ही अपराध रहा हो। बचपनसे ही ये लोग जानते हैं कि कौरव इनसे शत्रुता रखते हैं। जब पाण्डव विद्या पढ़ते थे, इनके मनमें कोई ईर्ष्या-द्वेष नहीं था, तब उन्होंने कष्टपूर्वक इनको राज्यसे बाहर निकाल दिया। भीमसेनके भोजनमें कालकूट विष डालकर उन्हें मार डालनेकी चेष्टा की गयी। भीमसेनका भाग्य था कि वे बच गये। जब वे गङ्गातटपर बेखटके सो रहे थे, तब उन

* ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥
नरस्त्वमसि दुर्द्धर्षे हरिनारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च ।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥

दुष्टोंने भीमसेनको बाँधकर गङ्गामें डुबो दिया । उन्होंने सोतेमें साँपसे कटवाया, लाक्षाग्रहमें रखकर इन लोगोंको जला डालनेकी चेष्टा की । कितनी आपत्तियोंका वर्णन करूँ, पाण्डवोंका जीवन प्रारम्भसे ही विपत्तिमय हो रहा है । मैं आज अपने बच्चोंसे बिछुड़ी हुई हूँ, मेरी सास आर्या कुन्ती मेरे पास नहीं हैं । मेरा हृदय दुःख और सन्तापसे हर घड़ी जलता रहता है । मुझे यह बात कभी नहीं भूलती कि दुःशासनने पाण्डवोंके सामने ही मेरे केश पकड़कर खींचे । मैं क्रोधसे जली जा रही हूँ । इतना कहते-कहते द्रौपदीका गला भर आया, उनकी आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगी । उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे अपना मुँह ढक लिया, वे कुछ बोल न सकीं ।

थोड़ी देरके बाद अपनेको सँभालकर लंबी साँसें लेती हुई और आँखें पोंछती हुई द्रौपदी कहने लगी—‘श्रीकृष्ण ! इतने दिनोंपर मुझे मालूम हुआ है कि मेरे पति, पुत्र, भाई, बन्धु, पिता-माता और कोई नहीं है । और तो क्या कहूँ श्रीकृष्ण ! तुम भी मुझसे उदासीन हो । ऐसा न होता तो क्या तुमलोग मेरा अपमान सहन कर सकते ? वह दुःख अब भी मेरी छाती जला रहा है, जो कर्णको उस समय हँसते देखकर हुआ था । श्रीकृष्ण ! चार कारण ऐसे हैं जिनसे तुम्हें सर्वदा मेरी रक्षा करनी चाहिये । एक तो तुम मेरे सम्बन्धी हो, दूसरे तुम मेरे सखा हो, तीसरे मैं यज्ञवेदीसे उत्पन्न हुई हूँ और चौथे तुम प्रभु हो । * अब तुम मेरी उपेक्षा नहीं कर सकते, तुम्हें मेरी रक्षा करनी ही पड़ेगी ।’

द्रौपदीके इतना कहकर चुप हो जानेपर वीरोंके सामने ही भगवान् श्रीकृष्णने कहा—‘देवि ! तुम जिनपर क्रोधित हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी इसी प्रकार रोयेंगी । अर्जुनके बाणोंसे उनके पतियोंका सिर कट जायगा । वे खूनसे लथपथ होकर जमीनमें सो जायेंगे । और वे अपनी आँखोंसे देख-देखकर रोयेंगी । जो कुछ पाण्डवोंके

अनुरूप है, वही मैं करूँगा । मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं तुम्हें राजरानी बनाऊँगा । द्रौपदी ! चारों तरफ लौक नीचे गिर पड़े, हिमालय फट जाय, पृथिवी टुकड़े टुकड़े हो जाय, समुद्र सूख जाय, परंतु मेरी बात का व्यर्थ नहीं हो सकती ।’*

भगवान्की बात सुनकर द्रौपदीने टेढ़ी नजर करके अर्जुनकी ओर देखा । अर्जुनने कहा—‘प्रिये ! श्रीकृष्णने जैसा कहा है, वैसा ही होगा । उनकी बात कभी झूठो हो नहीं सकती ।’ धृष्टद्युम्नने कहा—‘बहिन ! तुम दुःख क्यों करती हो ? मैं द्रोणको मारूँगा । मेरा भाई शिखंड भीष्मको मारेगा, दुर्योधनको भीमसेन और कर्णको अर्जुन मार डालेंगे, भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके आश्रमे हम युद्धमें अजेय हैं । इन्द्र भी हमारा बाल बाँका नहीं कर सकते, कौरवोंमें तो रक्खा ही क्या है ।’ द्रौपदीको बहुत संतोष हुआ । उसे ऐसा दीखने लगा मानो कौरवोंका संहार हो चुका है ।

भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहा—‘यदि मैं उस समय द्वारकामें होता तो आप लोगोंको यह कष्ट नहीं उठाना पड़ता । मैं जुएकी खबर सुनकर वहाँ बिना झुलाये आ जाता और जुएका अनर्थमय परिणाम दिखाकर सबको रोक लेता । जुएसे बढ़कर संसारमें अनर्थका कारण और कोई नहीं है । शास्त्रोंने जुएको समस्त दुःखोंका मूल बतलाया है । जुएसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है, जुएका कुफल नष्ट हो जाता था, वही आज आपके मथे आ पड़ा । उन दिनों शाल्वका वध करने चला गया था, वह शिशुपालका मित्र था । आपके यज्ञमें शिशुपालके मारे जानेसे मेरी अनुपस्थिति उसने द्वारकापर चढ़ायी कर दी थी, वहाँके रहनेवालोंके बहुत पीड़ित किया था । जब मैं उसे मारकर लौटा तब जुएका समाचार मुझे मालूम हुआ; परंतु अब किया ही क्या जा सकता है । अब आप स्वयं ही अपने बच्चोंके बचन

* नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च बान्धवाः ।

न भ्रातरौ न च पिता नैव त्वं मधुसूदन ॥

ये मां विप्रकृतां क्षुद्रैरुपेक्ष्यन्ति शोकवत् ।

न च मे शाम्यते दुःखं कर्णो यत् प्राहसत्तदा ॥

चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्यासि नित्यशः ।

सम्बन्धादौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेनैव केशव ॥

* रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भाविनी ।

वीमत्सुशरसञ्छन्नां शोणितौषपरिप्लुतान् ॥

निहतान् बह्विमान् वीक्ष्य शयानान् बहुधातले ।

यत् समर्थ पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि राजां राक्षी भविष्यति ।

पतेत् द्यौर्हिमवान् शीघ्रैव पृथिवी शक्नीभवेत् ॥

अप्येतोमनिभिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ।

संख्या १०]

पड़ गये हैं। अब कुछ दिनोंतक यह कष्ट सहना ही पड़ेगा।' इस प्रकार युधिष्ठिर आदिको समझाकर सबसे यथायोग्य मिलकर भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकाकी यात्रा की। श्रीकृष्णके वियोगसे द्रौपदीको बड़ा दुःख हुआ। सभा सगे-सम्बन्धी चले गये, द्रौपदीके साथ पाण्डव वहीं निवास करने लगे।

[८]

जिनका धर्मसे प्रेम है, वे कैसी भी परिस्थितिमें पड़ जायें, धर्म उनका साथ नहीं छोड़ सकता। वे स्वयं आश्रयहीन होनेपर भी दूसरोंके आश्रय होंगे। वे स्वयं उपकारके पात्र होनेपर भी दूसरोंका उपकार करेंगे। जो सर्वदासे दूसरोंको देते चले आये हैं, वे अपने पास कुछ न रहनेपर भी दूसरोंको कुछ-न-कुछ देंगे ही। इसके ठीक विपरीत जो अधर्मसे प्रेम करते हैं, अन्यायको आश्रय देते हैं, परपीड़नमें ही उत्साह रखते हैं, वे चाहे कितनी भी अच्छी परिस्थितिमें पहुँचा दिये जायें, अपनी दुष्टता नहीं छोड़ेंगे। यह बात कौरव और पाण्डवोंके चरित्रमें बहुत स्वरूपसे दीखती है।

जिस समय द्रौपदीके साथ पाण्डवोंने वनवासके लिये यात्रा की थी, उसी समय बहुत-से ब्राह्मण उनके साथ हो गये थे। उन्होंने आग्रह किया कि 'हम साथ ही रहेंगे, पाण्डव-जैसे धर्मात्माको छोड़कर हम और किसकी शरणमें जायें?' युधिष्ठिरने बड़ी अनुनय-विनय की कि 'ब्राह्मणों! आप हमारे साथ कहाँ जायेंगे? हमारा सर्वस्व हर लिया गया, इस समय हम श्रीभ्रष्ट हैं। वनमें फल-मूल खाकर रहना पड़ेगा, वहाँ बहुत-से हिंसक पशु हैं, हम वहाँ अपने साथ ले जाकर आपको दुखी नहीं देखना चाहते। मेरे छोटे भाई जो फल-मूल आदि लाकर आप लोगोंको संतुष्ट कर सकते थे, वे द्रौपदीकी दारुण विडम्बनासे शिथिल पड़ रहे हैं। वे यदि आप लोगोंका आतिथ्य करनेमें समर्थ न हो सकेंगे तो मुझे बड़ी पीड़ा होगी।' ब्राह्मणोंने कहा—'राजन्! हम तो आपके साथ ही चलेंगे। हमारे भोजन-वस्त्रकी आप चिन्ता न करें। हम अपनी जीविका स्वयं कर लेंगे और जप तथा ध्यानके द्वारा आपकी भलाई करते रहेंगे, इसके अतिरिक्त समय-समयपर सुन्दर-सुन्दर कथा सुनाकर आपका मन भी बहलायेंगे।'।

युधिष्ठिरने कहा—'मेरे हृदयमें आप लोगोंके प्रति कितनी श्रद्धा-कितनी भक्ति और कितना प्रेम है यह मैं नहीं

कहना चाहता; नहीं कह सकता। आप लोगोंकी सहायतासे हमारे क्लेश और संताप दूर होंगे इसमें भी संदेह नहीं, परंतु मेरी दारुण अवस्था मुझे हताश कर रही है, आप लोग हमपर कृपा करके हमारे साथ ही रहना चाहते हैं यह ठीक है, परंतु यह मैं किस प्रकार देख सकूँगा और सहन कर सकूँगा कि मेरे साथ रहनेवाले ब्राह्मण मेरे पास भोजन न करें, दूसरेके पास जायें। मेरा जीवन व्यर्थ है, मुझे धिक्कार है। क्या अब मुझे यही करना बाकी है?'

उन ब्राह्मणोंमें शौनक नामके विद्वान् अध्यात्मविद्यामें बड़े निपुण थे। उन्होंने कहा—'महाराज! संसारमें जहाँ देखो वहीं भय और शोकके सैकड़ों निमित्त हैं, यदि उनसे घबराते रहें तो पैर रखनेकी भी जगह न मिले। परंतु तत्त्वज्ञ लोग किसी भी परिस्थितिमें कभी नहीं घबराते। सब प्रकारकी परिस्थितिमें संतोष ही ज्ञानी पुरुषका लक्षण है। आशा और तृष्णाका अन्त नहीं है, मूर्ख ही उनके चक्रमें चक्राते रहते हैं। संसारमें कौन ऐसा धनी है जो निरुपद्रवभावसे अपना जीवन व्यतीत करता है? धन स्वयं व्याधि है, धनको एक-न-एक दिन छोड़ना ही पड़ता है। जब छोड़ना ही पड़ता है, तब उसका संग्रह क्यों किया जाय? जब कीचड़को धोना ही है, तब लगाया ही क्यों जाय? राजन्! आपकी बातोंसे ऐसा मालूम पड़ता है कि आप धनके लिये चिन्तित हैं और सोचते हैं कि यदि मेरे पास धन होता तो इन ब्राह्मणोंको खिलाकर प्रसन्न होता। परंतु आपकी यह चिन्ता उचित नहीं है, आप स्वयं कुछ मत सोचिये, भगवान्की देनपर प्रसन्न रहिये।'

युधिष्ठिरने कहा—'ब्राह्मण! मुझे धनका अभाव खटकता अवश्य है, परंतु मैं अपने लिये धन नहीं चाहता। सोचिये—मैं गृहस्थ हूँ, मेरे साथ कई व्यक्ति हैं, मुझपर कृपा करनेवाले अनेकों ब्राह्मण हैं। उनका भरण-पोषण किये बिना हम कैसे रह सकते हैं? मेरे पास कोई भूखा आये और मैं उसे भोजन न दे सकूँ, वह मेरे लिये कितने दुःखकी बात है? क्या मैं अतिथियोंको खिलाये बिना ही खा लूँ? क्या मैं कुत्ते, चाण्डाल और पक्षियोंके लिये पृथिवीपर अब रखकर बलिवैश्वदेव किये बिना ही भोजन कर लूँ? आप कहते हैं कि धनके लिये चिन्तित नहीं होना चाहिये, यह ठीक है, परंतु आप ही बतलाइये कि इतना सुन्दर उपदेश करनेवाले आपको भोजन कराये बिना मैं कैसे भोजन करूँ?'

शौनक बोले—‘महाराज ! बड़े कष्टकी बात है । जगत्में उलटी ही बात देख पड़ती है । साधु पुरुष जिससे लज्जित होता है, दुष्ट उसीसे संतुष्ट होता है । मैं आपकी परोपकार-वृत्ति देख रहा हूँ, आपके कष्टसे मुझे भी कष्ट हो रहा है । आप तपस्या करके अपना मनोरथ पूर्ण कर सकते हैं ।’

धौम्यकी सम्मतिसे महाराज युधिष्ठिरने सूर्यकी उपासना की । आराधना करके उन्होंने सूर्यकी स्तुति की । उनकी स्तुतिसे भगवान् सूर्य प्रसन्न हुए और उनके सामने प्रकट होकर उन्होंने वरदान दिया कि ‘तुम्हारी सब इच्छाएँ पूरी होंगी । मैं तुम्हें बारह वर्षतक अन्न देता रहूँगा, यह लो ताँबेका वर्तन । इस पात्रसे द्रौपदी जबतक अन्न बाँटती रहेंगी और स्वयं भोजन नहीं करेंगी, तबतक तुम्हारी रसोईमें अन्न, फल, मूल, शाक आदिकी कमी नहीं होगी । तेरह वर्ष बीतनेपर तुम्हें राज्य मिलेगा ।’ भगवान् सूर्य चले गये, धर्मराजने वह पात्र द्रौपदीको दे दिया । द्रौपदी प्रतिदिन रसोई बनाकर उसी पात्रसे बाँटती, अनेकों अतिथि ब्राह्मण भोजन करते । जैसे राज्य रहनेपर धर्मराज अनेकों व्यक्तियोंके आश्रय थे, वैसे ही वनमें भी रहे । अनेकों ब्राह्मण, दीन, दुखी उनके साथ-ही-साथ चलते, समय-समय-पर उत्सव भी होता और अतिथि ब्राह्मण निमन्त्रित भी किये जाते ।

एक ओर धार्मिक लोग धर्मके प्रभावसे वनमें भी बड़ी उदारता और धार्मिकताके साथ जीवन व्यतीत कर रहे थे, दूसरी ओर दुष्ट कौरव अपनी दुष्टतासे चूकते नहीं थे । यहाँतक कि धृतराष्ट्रने विदुरकी कटु सम्मतिसे ऊबकर उन्हें अपने यहाँसे जानेको कह दिया और वे चले भी गये । परंतु फिर उन्होंने आदमी भेजकर पाण्डवोंके पाससे बुलवा लिया । एक दिन कर्ण, शकुनि और दुर्योधनने यह सलाह की कि इस समय पाण्डव असहाय हैं, हमलोग अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर वनमें चलें और उन्हें मार डालें । उसके अनुसार उन लोगोंने यात्रा भी कर दी, परंतु भगवान् व्यासने आकर उन्हें रोक दिया और वे इस पापसे बच गये । महर्षि मैत्रेयने आकर दुर्योधनको बहुत कुछ समझाया कि तुम अपनी दुष्टता छोड़ो और पाण्डवोंको उनका हक दे दो । परंतु दुर्योधनने उनकी एक नहीं सुनी । मैत्रेय ऋषिने हाथमें जल लेकर शाप दे दिया कि

‘भीमसेनकी गदासे तेरी जाँघ टूट जायगी और कुरुकुलका नाश हो जायगा ।’

भगवान् श्रीकृष्ण और धृष्टद्युम्न आदिके चले जानेपर द्रौपदीके साथ पाण्डव वनमें रहने लगे । वे कभी-कभी एकत्र होते और परस्पर नाना प्रकारकी बातें किया करते । एक दिन पाण्डवोंकी प्रियतमा, सर्वाङ्गसुन्दरी, पद्मपतिव्रता, बुद्धिमती द्रौपदीने कहा—‘धर्मराज ! दुष्ट हृदय भी कैसा होता है ? हम लोगोंको मृगछाल पहनाकर वनमें भेजते समय दुर्योधनको क्या तनिक भी कष्ट नहीं हुआ ? आपकी धार्मिकता और बड़े होनेका ख्याल उसके मनमें तनिक भी नहीं आया ? जब मैं देखती हूँ कि आ कुशासनपर सोये हुए हैं, तब मुझे आपकी रत्नजटित सुकोमल शय्याका स्मरण हो आता है और मेरा कलेजा फटने लगता है । आपके जिस शरीरमें चन्दनका अङ्गराग लगाता था, आज मैं उसे धूलसे मलिन देख रही हूँ । क्या आपका शरीर वल्कल पहनने योग्य है ? भीमसेनके दोनों हाथ क्रोधित सर्पकी भाँति कौरवोंका नाश करनेके लिये लपलपा रहे हैं । अर्जुन आपकी इस दुरवस्थाको देखकर अपने दोनों बाहुओंसे सहस्रबाहुसे भी अधिक वीरता दिखानेको तैयार हैं । वे नकुल और सहदेव आपके लिये अपने प्राणोंको हथेली लिये फिरते हैं, सबसे बढ़कर श्रीकृष्ण आपके सहायक हैं । यह सब होनेपर भी आप क्षत्रियोचित वीरता क्यों नहीं प्रकट करते ? क्या अपने भाइयोंके दुःखसे आपको दुःख नहीं होता । अपने और अपने भाइयोंके दुःखसे न सही, मेरे दुःखसे तो आपको प्रभावित होना ही चाहिये । मैं महाप्रतापी राजा दुपदकी कन्या हूँ, महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू हूँ, धृष्टद्युम्नकी बहिन हूँ और आप-सरीखे वीर पाण्डवोंकी पतिव्रता धर्मपत्नी हूँ । मुझे इस अवस्थामें देखकर क्या आपके हृदयमें आग नहीं भड़कती ? क्षमाको छोड़िये, शौर्यको प्रकट कीजिये, दुष्टोंके नाशके लिये क्रोधित होना भी धर्म है ।

‘क्षमाका भी एक समय होता है और क्रोध प्रकट करने का भी एक समय होता है । मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि क्रोधके अवसरपर आप क्षमा प्रकट कर रहे हैं । दैत्यराज बलिके पूछनेपर भक्तराज प्रह्लादने बतलाया था कि केवल क्षमा करनेसे ही राजाका बहुत कुछ अनिष्ट हो सकता है । लोग उससे दबते नहीं, उसके सामने झुकते नहीं । बहुत से लोग उसे तुच्छ समझने लगते हैं और बहुतसे दोष

अपनाकर उच्छृङ्खल व्यवहार करने लगते हैं। लोभी उसकी धन-सम्पत्ति ले लेना चाहते हैं, उसके कर्मचारी बिगड़ जाते हैं, वेक उसकी आज्ञाका पालन नहीं करते, लोग उसकी स्त्रीका सतीत्व नष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं और स्त्री भी स्वच्छन्द-चारिणी हो जाती है। इसलिये क्षमाके साथ-साथ दण्ड देना भी आवश्यक है। इसी प्रकार जो सर्वदा दण्ड ही देता है, क्षमा नहीं करता, वह कभी-कभी अन्याय कर बैठता है। वह अपने मित्रोंका भी विरोध करता है और सब लोगोंका अप्रिय बन जाता है। खजन उसका साथ छोड़ देते हैं, उपकारी उससे निराश हो जाते हैं; उदासीन भी शत्रु हो जाते हैं और राह चलते लोग भी उससे खीझने लगते हैं। अविचारित दण्डका यही परिणाम है कि अपमान, धनकी हानि, उलाहना, अनादर, संताप, द्वेष, मोह और वैरकी उत्पत्ति आदि अनर्थ प्राप्त होते हैं। इसलिये समयपर नरमी और समयपर गरमी दिखानी चाहिये।

अपने उपकार करनेवालेसे कोई अपराध भी हो जाय तो क्षमा कर देना चाहिये। मूर्खताके कारण किसीसे अपराध हो जाय तो वह भी क्षमा करने योग्य है। जो जान-बूझकर अपराध करे, तो स्वीकार कर लेनेपर और पश्चात्ताप करनेपर एक बार क्षमा कर देना चाहिये। जो अपराध भी करें और अपनेको निरपराध सिद्ध करनेके लिये दलील भी दें, उन्हें दण्ड देना ही उचित है। बार-बार अपराध करनेवालेको क्षमा करना तो स्वयं अपराध है। कभी-कभी लोकनिन्दाके भयसे भी क्षमा करना पड़ता है, परंतु इन बातोंको देश, काल और अपनी क्षमताके साथ मिला लेना चाहिये। धर्मराज ! मेरी समझसे कौरवोंको दण्ड देनेका यही उपयुक्त समय है। वे बार-बार आपकी बुराई कर रहे हैं, इसलिये उन्हें क्षमा नहीं करना चाहिये। अब आप अपना क्षत्रियत्व प्रकट करें, अपना तेज दिखायें और उन दुष्टोंको उनके कियेका दण्ड दें।^{१०}

युधिष्ठिरने द्रौपदीकी प्रशंसा करते हुए कहा—‘द्रौपदी ! तुम बड़ी बुद्धिमती हो, तुम्हारी युक्तियाँ बड़ी प्रबल हैं, परंतु मैं क्रोधको कभी आश्रय नहीं दे सकता। क्रोधसे मनुष्यका नाश हो जाता है, जो क्रोधके वेगको रोक सकता है, उसीका भला हो सकता है। क्रोधी मनुष्य गुरुओंका अपमान कर बैठता है, उसे वाच्य-अवाच्य और कार्य-अकार्यका ज्ञान नहीं रहता। वह इतना अन्धा हो जाता है कि मारने

योग्यकी पूजा और पूजा करने योग्यकी हत्या कर डालता है। बहुतोंने क्रोधके कारण आत्महत्या कर ली है। क्रोधहीन ही सुखी है। द्रौपदी ! मुझे तो कभी क्रोध नहीं आता, क्रोध न करनेसे अपनी और दूसरोंकी भी रक्षा होती है। अपनेको जो पीड़ा पहुँचाता है, उसे भी बार-बार क्षमा करना ही धर्म है। मिथ्याकी अपेक्षा सत्य, निर्दयताकी अपेक्षा दया और क्रोधकी अपेक्षा क्षमा उत्तम है। विना कामके क्रोध हो ही नहीं सकता। कामी और क्रोधीमें दैवी सम्पत्तिके गुण आ ही नहीं सकते। संसारके सभी संत क्षमाका ही गुणगान करते हैं, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण और पितामह भीष्म भी क्षमाकी ही प्रशंसा करते हैं। भरतवंशके लिये यह बड़ा ही दारुण समय है। यदि इस समय मैं क्षमा नहीं करूँगा तो इस वंशका सत्यानाश हो जायगा। क्षमाने मेरा आश्रय लिया है, मैंने क्षमाको अपनाया है। क्षमा ही सनातन धर्म है, चाहे जैसी भी परिस्थिति आ जाय, मैं तो क्षमा ही करूँगा।’

द्रौपदीने कहा—‘महाराज ! जिस ईश्वरने और कर्मके फलोंने आपकी बुद्धिको विपरीत कर दिया है और राज्यपालनके बारेमें पूर्वपरम्परासे प्रचलित धर्मके सम्बन्धमें मिथ्या धारणा उत्पन्न कर दी है, उनको मैं प्रणाम करती हूँ। कर्म ही नित्य पदार्थ है, जो कर्म या उद्योग नहीं करते, लोकापवादसे डरते हैं; क्षमा, दया, सरलता आदिके नामपर अकर्मण्यताको प्रश्रय देते हैं, वे कभी उन्नति नहीं कर सकते। आप संसारके सभी प्रकारके सुखोंके अधिकारी हैं। फिर भी अपने वीर भाइयोंके साथ, जो यह दुर्दशा भोग रहे हैं, इसका कारण केवल आपकी उद्योगहीनता है। आप कभी धर्मसे विचलित नहीं हुए, आपने सर्वदा धर्मको अपने प्राणोंसे भी प्रिय समझा। सभी जानते हैं कि आपका राज्य और जीवन धर्मके लिये है, आप अपने भाइयोंको और मुझको भी छोड़ सकते हैं, परंतु धर्मको नहीं छोड़ सकते। मैं सुना करती थी कि धर्म अपने रक्षककी रक्षा करता है, परंतु आप तो धर्मकी रक्षा करते हैं। धर्म आपकी रक्षा नहीं करता। आपने सर्वदा धर्मका अनुगमन किया है, सदा सर्वस्व-दान देनेके लिये तैयार रहे हैं। आज भी आपका समय धर्मपालनमें ही व्यतीत होता है। पैसेके व्यसनने आपको विपत्तिमें डाल दिया है। मैं आपको इस अवस्थामें देखकर बहुत ही उदास और व्यथित हो रही हूँ।

‘महाराज ! मैंने भाग्यवादियोंकी बहुत-सी बातें सुनी हैं। वे कहते हैं कि जगत्के सभी प्राणी कठपुतली हैं और उन्हें नचानेवाला कोई दूसरा ही है। सब नथे हुए बैलोंकी भाँति अथवा डोरेमें बँधे हुए पक्षियोंकी भाँति दूसरेके अधीन हैं। ईश्वर ही सबसे भला या बुरा कर्म करवाता है, वही इन सब प्राणियोंको उत्पन्न और विनष्ट करता है। यह सब संसारके संयोग और वियोग उसके खिलवाड़ हैं। इससे तो ऐसा मालूम होता है कि जगत्का माता-पिता परमात्मा अपनी संतानके साथ न्याययुक्त व्यवहार नहीं करता। बड़े-बड़े धार्मिक, सच्चरित्र और शीलवान् कष्ट पा रहे हैं। नीच, अनार्य और अधर्मी बड़े सुखसे अपना जीवन बिता रहे हैं। दुर्गोधनकी विशाल सम्पत्ति और आपकी विपत्ति देखकर मेरे मनमें स्वभावसे ही यह बात आ रही है।’

युधिष्ठिरने कहा—‘प्रिये ! तुम क्या कह रही हो ? तुम्हारी-जैसी धर्मप्रिय देवीके मुँहसे ऐसी बात नहीं निकलनी चाहिये। तुम्हारे सुननेमें मीठे वचन नास्तिकताके पोषक हैं। मैं कर्मफल पानेकी इच्छासे कर्म नहीं करता। मैं दानके लिये दान करता हूँ, यज्ञके लिये यज्ञ करता हूँ और अपना

कर्तव्य समझकर करता हूँ, फल हो या न हो, इसकी परवा नहीं। मैं धर्मको दुहना नहीं चाहता। मैं सुखके लिये धर्माचरण नहीं करता। बल्कि ऐसा करनेवालेको मैं निम्नकोटिका समझता हूँ। मैं एक बार तुमसे यह कहता हूँ कि धर्मपर कभी संदेह मत करना। धर्मके प्रपञ्च से क्या नहीं हो सकता ? व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुकदेव, मार्कण्डेय आदिने धर्मके बलसे क्या नहीं प्राप्त किया है। इनके सुखकी तुलनामें किस अधर्मीका सुख रखा जा सकता है, तुम किसीके पास विशेष सम्पत्ति देखकर उसके सुखी होनेकी कल्पना कैसे कर लेती हो ? वह अपने पापोंकी आगमें जलता रहता है, वह सम्पत्ति उसके उद्वेगका ही कारण होती है। केवल बाह्य परिस्थितियों आधारपर धर्मको भला-बुरा कहना तुम्हारे-जैसी देवीका काम नहीं है। यदि धर्मात्माओंका धर्मपालन निष्फल होता तो सारे संसारमें आज अँधेरा-ही-अँधेरा होता। धर्म करने ही तुम्हारा भाई धृष्टद्युम्न पैदा हुआ है। धर्मसे ही तुम्हारा उत्पत्ति हुई है। तुम धर्मपर विश्वास करो, श्रद्धा करो। भगवान्को नमस्कार करो, उन्हें जाननेका यत्न करो। तुम्हारी बुद्धिमें ऐसी बात फिर कभी न आवे।’

नैया पार लगा दे

(रचयिता—बहिन शान्ता स्नातिका)

ओ हरि नैया पार लगा दे !
तुम विनु मेरा यह भव सूना, चल चल, तनिक उसे बहला दे ॥
रात अँधेरी पथ भी सूना, दीपक बिन भय मेरा दूना।
पल पल जलकी बढ़ती सीमा, अरे सहारा दे जा आके ॥
वर्षा घोर पवन पुरवैया, डगमग डोले मेरी नैया।
रक्षक बन जा कृष्ण कन्हैया ! तू कर करुणा सत्वर आके ॥
छिन गिरती छिन ही उतराती, मृत्यु-हिंडोले चढ़ती जाती।
बढ़ती जाती हो मदमाती, रिस क्यों ऐसी, टुक समझा दे ॥
बच्चे करते दैया ! दैया ! नहीं आया अबतक रखवैया।
व्यर्थ पुकार हुई है मैया, रख ले लाज जनक कहलाके ॥
छिन छिन बढ़ती चीख-पुकारें, अंधकार अति, बादल कारे।
क्योंकर त्राण विपतसे पावै, दे जननी बन दर्शन आके ॥
भयसे सुध-बुध सबने खोई, रुठा ईश्वर कहता कोई।
डूबी नौका आओ साई, मैं तब पैयाँ पड़ूँ लजाके ॥

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरमें छपे हुए श्रीमद्भागवत-महापुराणके विभिन्न संस्करण

१-श्रीमद्भागवतमहापुराण-(दो खण्डोंमें)—इसमें मूल श्लोक, श्लोकोंके सामने उनमें आये हुए प्रत्येक शब्दके भावकी रक्षा करते हुए छोटे-छोटे वाक्योंमें सरल व्याख्या, कई स्थलोंपर श्रीभगवान्की मधुर लीलाओंका रहस्य समझनेके लिये नयी-नयी टिप्पणियाँ, प्रारम्भमें स्कन्दपुराणोक्त एक छोटा माहात्म्य, श्रीमद्भागवतकी पूजन-विधि आदि, सप्ताह-पारायणकी विधि, आवश्यक सामग्रीकी सूची, पद्मपुराणोक्त प्रचलित माहात्म्य तथा अन्तमें स्कन्दपुराणोक्त भागवत-माहात्म्य और श्रीमद्भागवत-पाठके विभिन्न प्रयोग दिये गये हैं। आकार २२ × २९ आठ पेजी, मोटा कागज, पृष्ठ-संख्या २०३२, चित्र २५ बहुरंगे, १ सुनहरा, कपड़ेकी सुन्दर दो जिल्दोंमें विभक्त, मूल्य ... १५)

२-श्रीभागवत-सुधा-सागर—यह श्रीमद्भागवतकी श्लोकाङ्कसहित सरल हिंदी व्याख्या है। भाषामें शुक्राक्सुधासागर अथवा शुकसागर या सुखसागरके नामसे प्रचलित ग्रन्थके ही ढंगकी यह पुस्तक है। आकार २२ × २९ आठ पेजी, मोटा कागज, पृष्ठ-संख्या १०१६, चित्र २५ बहुरंगे, १ सुनहरा, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ... ८॥)

३-श्रीमद्भागवतमहापुराण—मूल, मोटा टाइप, आकार २२ × २९ आठपेजी, मोटा कागज, पृष्ठ-संख्या ६९२, भगवान् श्रीकृष्णका दधि-भातका कौर हाथमें लिये सुन्दर बहुरंगा चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ... ६)

४-श्रीमद्भागवतमहापुराण—मूल, गुटका-साइज, पृष्ठ-संख्या ७६८, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ३)

५-श्रीप्रेमसुधा-सागर—यह श्रीमद्भागवतके केवल दशम स्कन्धकी श्लोकाङ्कसहित और विविध टिप्पणियोंसे समन्वित सरल हिंदी व्याख्या है, इसे श्रीकृष्ण-लीलाका आनन्द लेनेवाले भावुक भक्तोंके विशेष आग्रहसे अलग पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है। आकार २२ × २९ आठपेजी, मोटा कागज, पृष्ठ-संख्या ३१६, चित्र १ सुनहरा, १४ बहुरंगे, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ... ३॥)

नयी पुस्तकें

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

लेखक—श्रीप्रमुदत्तजी ब्रह्मचारी

पूरी पुस्तक पाँचों खण्ड तैयार

खण्ड १ के छप जानेकी सूचना संख्या ८ में तथा खण्ड २ तथा ३ की संख्या ९ में दी जा चुकी है। खण्ड ४ तथा ५ भी तैयार हो गये हैं। विवरण इस प्रकार है—

खण्ड ४—पृष्ठ २२४, चित्र बहुरंगे ५, सादे ९, मूल्य ॥=) सजिल्द १)

खण्ड ५—पृष्ठ २८०, चित्र बहुरंगे ३, सादे ६, मूल्य ॥=) सजिल्द १=)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीपरमात्मने नमः

आपको आवश्यकता है—

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार और धर्मकी; घर-परिवार और संसार-के पवित्र प्रेमकी; लोक-परलोकका सरल-सीधा मार्ग बतलानेवालेकी; भय, शोक, चिन्ता, आसुरी-स्वभावके दुर्गुणोंसे छुड़ानेवालेकी; समता, शान्ति, निश्चिन्तता, प्रेम और परमानन्द देनेवालेकी ।

दुनियामें रहते हुए इन सबकी प्राप्ति का सुगम मार्ग—सहज-साधन बतानेमें—

‘तत्त्व-चिन्तामणि’

—आपकी सहायता कर सकती है ।

एक पुस्तक मँगवाकर जरा पढ़कर देखिये, आपकी विचारधारा पलटती है या नहीं ?

इसके लेखक हैं—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

पुस्तककी साइज २०×३०—१६पेजी

भाग १—सचित्र, पृष्ठ-संख्या	३५२,	मूल्य	॥=)	सजिल्द	१)
भाग २—	”	पृष्ठ-संख्या	५९२,	मूल्य	॥=)
भाग ३—	”	पृष्ठ-संख्या	४२४,	मूल्य	॥=)
भाग ४—	”	पृष्ठ-संख्या	५२८,	मूल्य	॥=)
भाग ५—	”	पृष्ठ-संख्या	४९६,	मूल्य	॥=)
भाग ६—	”	पृष्ठ-संख्या	४५६,	मूल्य	१)
भाग ७—	”	पृष्ठ-संख्या	५२०,	मूल्य	१=)

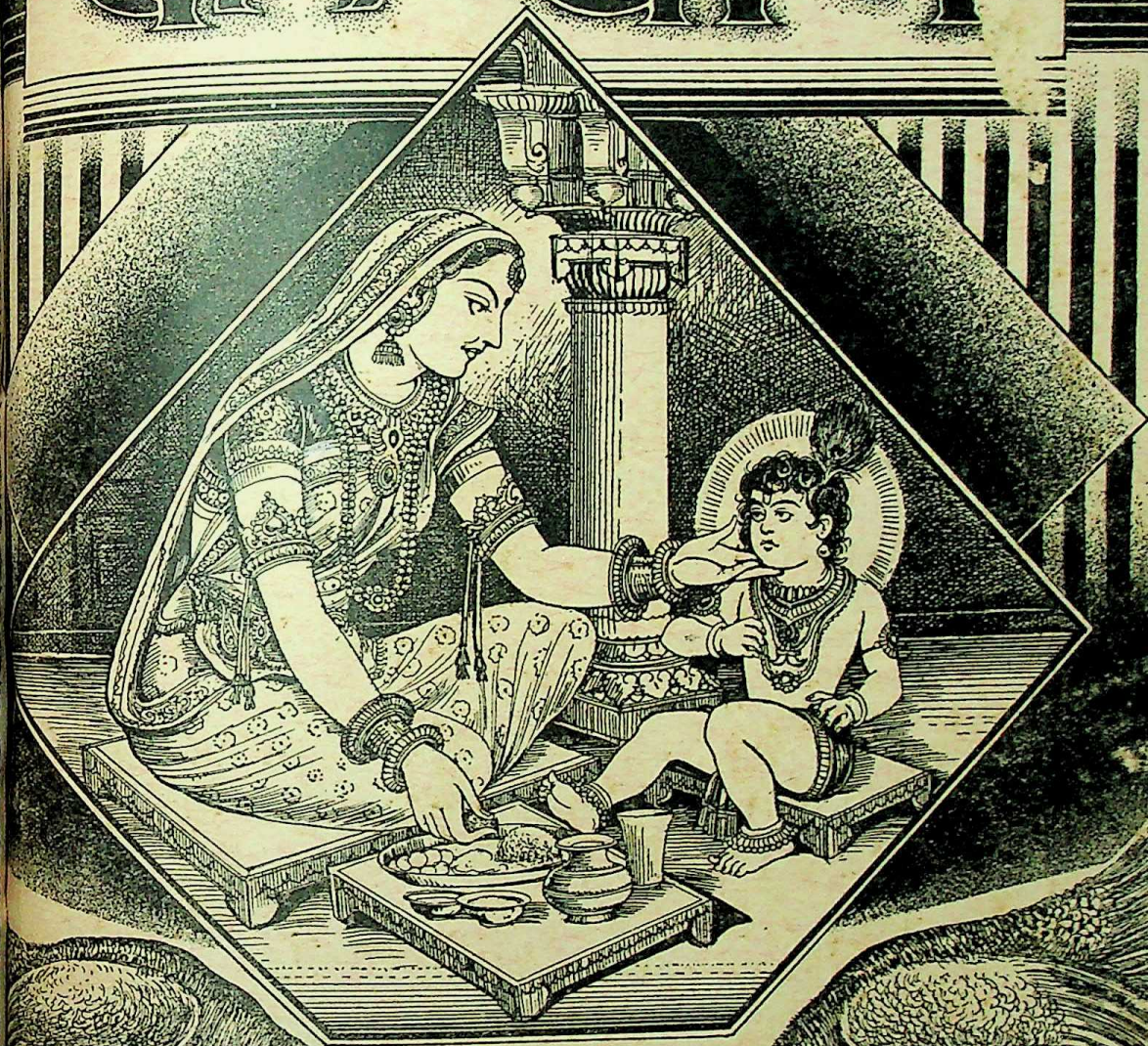
छोटे आकारका गुटका संस्करण

केवल भाग ४—सचित्र, पृष्ठ ६८४, मूल्य ॥=) सजिल्द ॥=)

यह पुस्तक सदा सबके कामकी है ।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कर्मफल



वर्ष २६]

[अङ्क ११

मैगवान
१९५२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २००९, नवम्बर १९५२

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-माखन-खवैया [कविता] (श्रीसूरदासजी)	१३८५
२-कल्याण ('शिव')	१३८६
३-एक क्षणमें भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है ? (श्रीजयदयालजी गोंयन्दका)	१३८७
४-परमपदपर कौन पहुँचते हैं ? [संकलित-पद्मपुराण, भूमिखण्ड]	१३८८
५-बार-बार नहीं पाइये; मनुष-जनमकी मौज (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी)	१३८९
६-श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन	१३९०
७-कुरुक्षेत्रमें अर्जुनका मोह (आचार्य श्रीअश्वयुक्तुमार वन्द्योपाध्याय, एम्. ए.)	१३९१
८-सर्वतापशमनैकभेषजम् [सब रोगोंकी एक दवा भगवद्भक्ति] (आचार्य श्रीबिनोवाजीके विचार)	१३९२
९-रावण क्या थे ? (मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)	१३९३
१०-आत्म-विजयकी सीढ़ियाँ (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्. ए.)	१३९४
११-हिंदु समाज और पर्व (श्रीसुदर्शनसिंहजी)	१३९५
१२-तीसरी राह (श्रीरावी)	१३९६
१३-आध्यात्मिक उन्नतिके लिये सार्विक आहार (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्. ए.)	१३९७
१४-संजीवन बूटी (महात्मा जयगौरीशंकर सीतारामजी)	१३९८
१५-भगवान्का नाम-जप-कीर्तन सर्वपापनाशक है [संकलित-पद्मपुराण, पातालखण्ड]	१३९९
१६-तुलसीका मायावाद (श्रीमती शान्ति गौड़, बी० ए०)	१४००
१७-खेह जलता है [कहानी] (श्री'चक्र')	१४०१
१८-श्रीभगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग, 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुर)	१४०२
१९-कामके पत्र	१४०३
२०-कुमति [कविता] (श्रीआरसीप्रसादसिंहजी)	१४०४
२१-सती द्रौपदी (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)	१४०५
२२-श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (हनुमानप्रसाद पोद्दार)	१४०६

चित्र-सूची

तिरंगा

१-माखन-खवैया

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिल्लिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनंद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

सम्पादक-हनुमानप्रसाद पोद्दार, निम्नलिखित गोस्वामी, एम्. ए., शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक-धनन्नामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कृपालु और प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे निवेदन

यह छत्तीसवें वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है। बारहवाँ अङ्क निकलनेपर इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जायगा। सत्ताईसवें वर्षका प्रथम अङ्क 'बालक-अङ्क' होगा। इस बालक-अङ्कमें—

- (१) बालकोंके स्वभाव, सदाचार, आहार-विहार, शिष्टाचार, पालन-पोषण तथा शिक्षणके सम्बन्धमें बहुत-से उपयोगी लेख होंगे।
- (२) बालकोंके माता-पिता, गुरु, अभिभावकोंके कर्तव्यसूचक कई लेख होंगे।
- (३) बालकोंके संस्कार-सम्बन्धी लेख होंगे।
- (४) बालकोंके खेल-सम्बन्धी लेख होंगे।
- (५) भगवान् श्रीरामका सुन्दर बालचरित्र होगा।
- (६) भगवान् श्रीकृष्णका सुन्दर बालचरित्र होगा।
- (७) प्राचीन कालके बहुत-से आदर्श बालकोंके ज्ञान-भक्ति, सदाचार-प्रधान चरित्र होंगे।
- (८) देश-विदेशके ईश्वरभक्त बालक, वीर-बालक, मातृपितृभक्त बालक, परोपकारी बालक, सत्य-प्रेमी बालक, सेवाव्रती बालक, विश्वासी बालक, त्यागी बालक, चतुर बालक—यों आदर्श बालकोंके बहुत सुन्दर चरित्र होंगे।
- (९) बालकोंको ऊँचा उठानेवाली तथा उनका मनोरञ्जन करनेवाली कहानियाँ होंगी।
- (१०) भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाके बहुत सुन्दर-सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र होंगे।
- (११) संसारके प्राचीन और अर्वाचीन आदर्श बालक-बालिकाओंके बहुत सुन्दर चित्र होंगे।

इस अङ्कके कुछ लेखकोंके नाम

ज्योतिर्मठ, पुरी तथा द्वारिकाके अनन्तश्रीशङ्कराचार्यजी, स्वामीजी सर्वश्रीकरपात्रीजी, श्री-कृष्णबोधश्रमजी, श्रीशिवानन्दजी, श्रीचिदानन्दजी, श्रीविशुद्धानन्दजी, राष्ट्रपति डा० श्रीराजेन्द्र-प्रसादजी, उत्तर प्रदेशके राज्यपाल श्रीकन्हैयालालजी माणिकलालजी मुंशी, मध्यप्रदेशके राज्यपाल श्रीपट्टाभि सीतारामैया, मद्रासके राज्यपाल श्रीश्रीप्रकाशजी, बिहारके राज्यपाल श्रीरंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर, वयोवृद्ध विद्वान् डा० श्रीभगवान्दासजी, संत श्रीबिनोबाजी भावे, श्रीदादा धर्माधिकारीजी, रा० ख० संघके श्रीगोलवलकरजी, बाबा राघवदासजी, उत्तरप्रदेशके मुख्यमंत्री पं० श्रीगोविन्दवल्लभजी पन्त, उत्तर प्रदेशके गृह तथा श्रममंत्री बाबू सम्पूर्णानन्दजी, उत्तरप्रदेशके शिक्षामन्त्री श्रीहरगोविन्द सिंहजी, हिन्दू-विश्वविद्यालयके कुलपति आचार्य श्रीनरेन्द्रदेवजी, डा० अमरनाथजी झा, अजमेरके मुख्य मन्त्री पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय, मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी, सौराष्ट्रके शिक्षामन्त्री श्रीजादवजी, पं० श्रीरामनारायणजी मिश्र, पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, डा० श्रीवासुदेवशरणजी एम्० ए०, डा० श्रीउमेशजी मिश्र एम्० ए०, पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०, पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी एम्० ए०, दीवानबहादुर के० एम्० रामस्वामी, दीवानबहादुर कृष्णलाल मो० झवेरी एम्० ए०, जे० पी० वायसचान्सलर महिला-विश्वविद्यालय, पं० श्रीगंगाशङ्करजी मिश्र एम्० ए०, पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी, पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री, पं० श्रीश्रीपाददामोदर सातवलेकर, कमल श्रीशुकदेवजी पाण्डेय बी०एस०-सी, श्रीजैनेन्द्रजी, श्रीभगवान्दासजी केला, श्रीजयदयालजी पोयन्दका, श्रीफीरोज कावसजी दावर एम्० ए०, श्रीरामनिवासजी शुर्मा, श्रीजयेन्द्रराव भगवान्दास

दूरकाल एम्० ए०, श्रीसंतरामजी वी० ए०, पं० श्रीरामजी शर्मा, पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा, श्रीरामचरणजी महेन्द्र, पं० श्रीवेणीरामजी, डा० श्रीमहम्मद हाफिज सैयद एम्० ए०, श्रीजहूरखान, श्रीविद्यादेवीजी, श्रीशान्तादेवीजी वैद्या आदि-आदि ।

यह अङ्क बहुत आकर्षक तथा बालक-वृद्ध, परमार्थी-संसारी—सभीके लिये बड़े कामका होगा । अतएव जो सज्जन ७॥) रुपये पहलेसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको शायद निराश होना पड़े । इसलिये जिन नये-पुराने सज्जनोंके ग्राहक बनना हो वे मनीआर्डरसे तुरंत ७॥) भेज दें और जिन शिक्षासंस्थाओं या दाताओंको बाँटनेके लिये अधिक अङ्क लेने हों, वे भी पहलेसे सूचना भेज दें, ताकि उनके लिये उनके विशेषाङ्क अधिक छापे जायँ ।

ग्राहकोंको पत्र-व्यवहारमें वी० पी० मँगवाते समय और मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम-पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्टआफिस, जिला, प्रान्त—सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये । मनीआर्डर-कूपनमें ग्राहक-नम्बर जरूर लिखना चाहिये । नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये ।

सजिल्द विशेषाङ्क चाहनेवालोंको १॥) जिल्द-खर्च अधिक अर्थात् ८॥॥) भेजकर कूपनमें लिख देना चाहिये कि १॥) जिल्दके लिये भेजा गया । यह भी याद रखना चाहिये कि सजिल्द अङ्क देरसे मिलेगा ।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीता-दैनन्दिनी (गीता-डायरी) सन् १९५३ ई०

प्रथम संस्करणमें केवल ५०००० प्रतियाँ छपी थीं, जो अधिकांश बिक गयीं; अतः १५००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छपा गया है ।

आकार २२×२९ वत्तीसपेजी, मूल्य अजिल्द ॥=), कपड़ेकी जिल्द ॥॥) मात्र ।

इसमें अठारहों अध्याय सम्पूर्ण गीता, हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और गुजराती तिथियाँ, सूर्योदय-सूर्यास्तका समय तथा मुख्य-मुख्य त्यौहारोंका संकेत किया गया है ।

प्रारम्भमें तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रसूचक तिथिपत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कलेण्डर, त्यागके सोलह तथा ग्रहणके बारह नियमोंकी साधक-नियमावली, नित्य-प्रार्थना और जीवन-सुधारके लिये संत-महात्मा और शास्त्रोंके अनेक मनन करनेयोग्य उपदेश, दैनिक वेतन और मकान-भाड़ेका नक्शा, भारतीय रेलोंके छः विभागोंमें किये गये नये विभाजनका विवरण, रेलयात्रा, डाक, तार, इनकमटैक्स आदिके विषयमें खास-खास जाननेयोग्य बातें, माप-तौलकी सूची, अनुभूत घरेलू प्रयोग, स्वास्थ्यरक्षाके सप्त सूत्र एवं अन्तमें जरूरी बातें नोट करनेके लिये स्मरण-पत्रके कुछ सादे पृष्ठ भी दिये गये हैं । गीताप्रेस की संक्षिप्त पुस्तक-सूची भी दी गयी है ।

एक अजिल्द प्रतिके लिये डाकखर्चसहित १-), दोके लिये १॥॥), तीनके लिये २॥॥), छःके लिये ४॥=) और बारहके लिये ८॥॥=) तथा एक सजिल्दके लिये डाकखर्चसहित १३=), दोके लिये २), तीनके लिये २॥॥=) छःके लिये ५॥॥) और बारहके लिये १०॥॥) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये । यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये । इससे आपके समय और पैसे बच सकते हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

नारी नयी पुस्तकें !

प्रकाशित हो गयीं !!

नारी-शिक्षा

लेखक—श्री. हनुमानप्रसाद पोद्दार

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १६८, मूल्य १/-) मात्र ।

इसमें सती-माहात्म्य, सोलह माताएँ, पतिव्रतका आदर्श, लक्ष्मी-रुक्मिणी-संवाद, नारी और नरका परस्पर सम्बन्ध, भारतीय नारीका स्वरूप और उसका दायित्व, विवाहका महान् उद्देश्य और विवाहकाल, श्रुतकालमें स्त्रीको कैसे रहना चाहिये, गर्भाधानके श्रेष्ठ नियम, सर्वश्रेष्ठ संतान-प्राप्तिके लिये नियम, गर्भिणीके लिये आहार-विहार, प्रसूति-घर कैसा हो ? एक प्रसवसे दूसरे प्रसवके बीचका समय कितना हो, बच्चोंका जीवन-निर्माण माताके हाथमें है, किसके साथ कैसा वर्तव्य करना चाहिये ? सास-ननदका बहू तथा भौजाईके प्रति वर्तव्य, नारीके भूषण, नारीके दूषण, लज्जा नारीका भूषण है, स्त्रीके लिये पति ही गुरु है, स्त्री-शिक्षा और सहशिक्षा, संततिनिरोध, हिंदू-विवाहकी विशेषता, विवाह-विच्छेद (तलाक), विधवा-जीवनको पवित्र रखनेका साधन, भारतीय नारी और राज्य-शासन, वृद्धा माताकी शिक्षा, नर-नारीके जीवनका लक्ष्य और कर्तव्य, हिंदू-शास्त्रोंमें नारीका महान् आदर, इन उन्तीस विषयोंपर प्रकाश डाला गया है । नारी-जातिके सर्वाङ्गीण लाभके लिये ही यह विविध विषयोंका छोटा-सा संकलन पुस्तिकारूपसे प्रकाशित किया गया है । आशा है कि भारतीय नारी इससे लाभ उठायेगी ।

बालकोंकी बातें

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १५२, मूल्य १/-) मात्र ।

यह पुस्तिका गुजरातके प्रसिद्ध भक्त-लेखक—स्व० अमृतलाल सुन्दरजी पट्टियारकी 'बालकोंकी बातों'का संशोधित अनुवाद है । गीताप्रेसद्वारा 'बालसाहित्य' प्रकाशनकी यह पहली पुस्तक है । इसमें बात-चीतके रूपमें बहुत ही उत्तम उपदेश दिया गया है ।

इसमें निम्नलिखित अठारह विषय आये हैं । (१) खेल-कूद—हमें क्यों खेलना चाहिये, बालकोंको प्रति-दिन खेलना ही चाहिये, हमें किस रीतिसे खेलना चाहिये, खेलनेके नियम, जो खुलकर नहीं खेलते उनको बहुत नुकसान होता है, (२) माता-पिता—किसलिये मा-बापका कहना मानना चाहिये, मा-बापका उपकार, जानवर भी बड़ोंका कहना मानते हैं, अबसे मैं हमेशा मा-बापका कहना मानूँगा, अपने ज्ञानका लाभ भाई-बहनोंको देना चाहिये, (३) पढ़ाई—हमें क्यों पढ़ना चाहिये, पढ़नेसे होनेवाला लाभ और न पढ़नेसे होनेवाला पछतावा, तुम मूर्ख रहना पसंद करते हो या बुद्धिमान् होना, पढ़नेसे क्या होता है, पढ़नेके लिये तुम्हें अभी बहुत अच्छा अवसर है, पढ़नेसे होनेवाले लाभ, अब तो मैं जरूर पढ़ने जाऊँगा, (४) ईश्वर—(१), (५) ईश्वर—(२), (६) भक्ति, (७) बालकोंके अच्छे काम, (८) बाँटकर खाना—हमको दूसरोंकी मददकी जरूरत है इसलिये भी हमें दूसरोंकी मदद करनी चाहिये, (९) डरना नहीं, (१०) रोनी सूतवाली लड़की—आनन्दी स्वभाव रखनेमें लाभ, (११) स्वदेश-प्रेम—(१) हमारे बाप-दादोंका स्वदेश-प्रेम, (१२) स्वदेश-प्रेम—(२) स्वदेशपर प्रेम रखनेके लिये क्या करना चाहिये, (१३) स्वदेशी वस्तुएँ—(१), (१४) स्वदेशी वस्तुएँ—(२), (१५) हमारा देश पहले कैसा था, (१६) अपना देश आज कैसा है, (१७) देश आवाद कैसे हो, (१८) बालकोंका निश्चय ।

आशा है कि हमारी शिक्षा-संस्थाओं तथा अभिभावकोंद्वारा इस पुस्तकका आदर होगा और हमारे बालकोंके लिये यह बहुत लाभकारी सिद्ध होगी ।

शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र

(सरल भाषानुवादसहित)

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी पृष्ठ ६४, मूल्य -)॥ मात्र ।

मुनिवर शाण्डिल्यद्वारा विरचित भक्ति-सूत्र सरल भाषानुवादसहित छोटे ट्रेक्टके आकारमें प्रकाशित किया गया है ।

सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन ?

लेखक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २४, मूल्य -) मात्र ।

कल्याणके चालू वर्षके अगस्तके अङ्कमें गये हुए श्रीपोद्दारजीके इस लेखसे जनताका बहुत उपकार हुआ है और हो रहा है । देशके गण्यमान्य लोगोंने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है । उस लेखमें कुछ संशोधन करके आचार्य श्रीविनोबाजी भावे, श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचारीजी, श्रीकन्हैयालाल माणिकलालजी मुंशी तथा उत्तर-प्रदेशके शिक्षामन्त्री श्रीहरगोविन्दसिंहजीकी सुविचारित सम्मतियोंसहित यह पुस्तिका प्रकाशित की गयी है ।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकका नया संस्करण

श्रीमन्महर्षि पाराशर-प्रणीत

श्रीश्रीविष्णुपुराण (सचित्र)

[मूल श्लोक और हिंदी-अनुवादसहित]

आकार २२×२९ आठ पेजी, तीस पौंडके मोटे कागज, पृष्ठ-संख्या ६२४, आठ मुद्रा बहुरंगे चित्र, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ४) मात्र ।

अष्टादश पुराणोंमें श्रीविष्णुपुराणका स्थान बहुत ऊँचा है । इसमें अन्य विषयोंके साथ भूगोल, ज्योतिष, कर्मकाण्ड, राजवंश और श्रीकृष्ण-चरित्र आदि कई प्रसङ्गोंका बड़ा ही अनूठा और विशद वर्णन किया गया है । भक्ति और ज्ञानकी प्रशान्त धारा तो इसमें सर्वत्र ही प्रच्छन्नरूपसे बह रही है ।

संवत् १९९३ में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ था, जो शीघ्र ही विक गया । तभीसे इसके पुनर्मुद्रणके लिये प्रेमी ग्राहक आग्रह करते रहते थे; परंतु युद्धजनित तथा कागजके कोटे आदिकी अन्य कठिनाइयोंके कारण इस कार्यमें विलम्ब होता गया । भगवत्कृपासे अब यह तीसरा संस्करण तैयार हो सका है । जिन्हें आवश्यकता हो मँगवानेकी कृपा करेंगे ।

विशेष सूचना

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकें—

A. H. Wheeler Co. के आसाम, पश्चिम बंगाल, विहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, उड़ीसा आदि राज्योंके रेलवे स्टेशनोंके चुने हुए पुस्तक विक्री-स्टालोंपर मिलनेकी व्यवस्था हो गयी है । आशा है कि इससे प्रेमी पाठकोंको पुस्तकें प्राप्त करनेमें सुविधा हो सकेगी ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णान् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद्वर्ष्म तद्वच्छुभं नेत्रे चेत्तपसोजिते सुरुचिरे याभ्यां हरिर्दृश्यते ।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

वर्ष २६ }

गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २००९, नवम्बर १९५२

{ संख्या ११
पूर्ण संख्या ३१२

माखन-खवैया

× × × × ×
आइ गई कर लिये कमोरी, घर तें निकसे ग्वाल ।
माखन कर दधि मुख लपटानौ, देखि रही नँदलाल ॥
कहँ आप ब्रज बालक सँग लै, माखन मुख लपटान्यौ ।
खेलत तें उठि भज्यौ सखा यह, इहिं घर आइ छपान्यौ ॥
भुज गहि लियौ कान्ह एक बालक, निकसे ब्रजकी खोरि ।
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मन हरि लियौ अँजोरि ॥

—सूरदासजी

कल्याण

याद रखो—मनुष्यकी सच्ची प्रतिष्ठा तो उसके जीवनमें सर्वत्र प्रकाशित दैवी गुणोंमें है—दैवी जीवनमें है । धन और पदसे जीवनकी महत्ताका जरा भी सम्बन्ध नहीं है । धन तो अत्याचारी डकैतोंके पास भी हो सकता है । दुष्ट राक्षस भी समस्त दैवी जगत्को संतुष्ट करनेवाली अपनी राक्षसी शक्तिके द्वारा कुछ समयके लिये विश्व-सम्राट्के पदपर आरूढ़ हो सकते हैं ।

याद रखो—जिन्होंने अपने बुरे आचरणों तथा दुष्ट व्यवहारोंसे मानवतापर कलङ्क लगा दिया है, जो अपने निषिद्ध कर्मोंके द्वारा जगत्के सामने नीच तथा पतित आदर्शकी प्रतिष्ठा कर रहे हैं, वे कुछ समयके लिये इन्द्रियोंके गुलाम, चाटुकार, भ्रान्त और भोग-परायण जनसमूहपर धन और अधिकारकी धाक जमाकर उनके द्वारा भले ही मिथ्या अभिनन्दन तथा प्रतिष्ठा प्राप्त कर लें; परंतु उनको अपने दुष्कर्मोंका भीषण परिणाम अवश्य भोगना पड़ेगा ।

याद रखो—मनुष्य पतित-समाजमें अपने पतित कर्मोंकी प्रमुखतासे प्रशंसा-प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है, वैसे ही, जैसे चोर-डकैतोंके दलमें सफल चोर-डकैत आदर-सम्मान प्राप्त करता है; परंतु इस आदर-सम्मान और प्रशंसा-प्रतिष्ठासे उसका और भी पतन होता है और कर्मफलनियन्ता सर्वशक्तिमान् परमात्माकी दृष्टि, न्याय और दण्डसे वह कभी नहीं बच सकता ।

याद रखो—मनुष्य ऊपरसे भला बनकर, भले-मानुषका वेश धारणकर भोली जनताको ठगनेके लिये दम्भ कर सकता है और उसमें सफल भी हो सकता है; परंतु सर्वान्तर्यामी परमात्माके सामने उसका दम्भ नहीं चल

सकता—उसकी पोल खुल जाती है और उसे अपने कर्मका भयानक फल भोगना ही पड़ता है ।

याद रखो—दम्भी पुरुष चाहे वह मान ले कि मैं बड़ा चतुर हूँ, लोगोंको बड़ी आसानीसे ठग सकता हूँ, पर वस्तुतः वह स्वयं ठगाता है—अपनी सच्ची सम्पत्ति—दैवी सम्पत्तिको खोकर वह अपना बहुत बड़ा नुकसान करता है ।

याद रखो—दैवी सम्पत्तिके लक्षण या दैवी गुण प्रधानतया ये छब्बीस हैं—निर्भयता, अन्तःकरणकी पवित्रता, ज्ञानयोगमें स्थिति, दान, इन्द्रियदमन, यत्न, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निन्दा-चुगली न करना, प्राणियोंपर दया, लालचका अभाव, मृदुता, बुरे कर्मोंमें लज्जा, चपलताका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अद्वेष और मानका अभाव ।

याद रखो—जिनमें ये दैवी गुण हैं, वे संसारके बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्को प्राप्त हो जायेंगे, उनका मनुष्य-जन्म सफल हो जायगा । इसके विपरीत, जिनमें उपर्युक्त आसुरी और राक्षसी भाव होंगे, उनका यहाँ तो पतन होगा ही, वे कर्मबन्धनमें और भी जकड़े जायेंगे ।

याद रखो—मनुष्यका मनुष्यत्व इसीमें है कि वह स्वयं भगवान्को भजे और दूसरोंको भजनमें लगावे । जो इससे विपरीत केवल विषय-भोगमें लगा है, वह पशु है और जो विषय-भोगोंकी प्राप्ति के लिये हिंसा, अन्याय, दम्भ और निषिद्ध कर्मोंका आश्रय लेता है, वह तो पिशाच या राक्षस है ।

‘शिव’

एक क्षणमें भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

(लेखक—श्रीजयदयारजी गोयन्दका)

यूकं करोति वाचालं पङ्क्तुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

एक सज्जनने पूछा है कि “ऐसा कौन-सा ‘क्षण’ होता है जिसमें तुरंत भगवान्की प्राप्ति हो जाती है ?” इसके उत्तरमें निवेदन है कि जैसे बिजली फिट हो जाय तथा पावरहाउससे उसका कनेक्शन हो जाय तो फिर जिस क्षण स्विच दबाया जाता है, उसी क्षण प्रकाश हो जाता है और अन्धकारका भी उसी क्षण नाश हो जाता है । इसी प्रकारसे मनुष्य जब ‘पात्र’ हो जाता है सब तरहकी उसकी पूरी तैयारी होती है, तब परमात्माके विषयका ज्ञान क्षणमात्रमें हो जाता है तथा ज्ञान होते ही उसी क्षण अज्ञानका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । दूसरा उदाहरण है—जैसे किसीको दिग्भ्रम हो जाता है तो उसको पूर्वमें पश्चिमकी और पश्चिममें पूर्वकी प्रतीति होती है, परन्तु जब वह दिग्भ्रम मिटता है, तब क्षणमात्रमें ही मिट जाता है और उसी क्षण दिशाका यथार्थ ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार जब परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब उसी क्षण दिग्भ्रमकी भाँति मिथ्या भ्रम मिट जाता है, और उसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है । तीसरा उदाहरण है—जैसे किसीको रात्रिके समय नीदमें खप आ रहा है, इतनेमें किसी कारणसे वह जग गया, वस, जगते ही खपका सारा संसार क्षणमात्रमें नष्ट हो गया—उसका अत्यन्त अभाव हो गया । इसी प्रकारसे परमात्मामें जगनेसे अर्थात् परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित होनेपर ज्ञानरूपी नेत्रोंके खुलनेसे उसी क्षण यह संसार सर्वथा छिप जाता है । जगनेपर खप-छोप होनेकी भाँति यह संसार लुप्त हो जाता है तथा परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

जैसे दिग्भ्रम अपने-आप ही मिट जाता है,

अथवा अपने जन्मस्थानपर आनेसे भी मिट जाता है; तथा जैसे खपनावस्थामें जब मनुष्य खपको खप समझ लेता है, तब वह अपने-आप जग जाता है अथवा दूसरेके जगानेसे भी जग जाता है । इसी प्रकार मनुष्यको शास्त्रोंका गम्भीर विचार करनेसे संसारको हर समय खपवत् देखनेपर तथा कर्मयोगकी सिद्धि होनेपर जो अपने-आप ही ज्ञान हो जाता है, वह अपने-आप जगना है (गीता ४ । ३८) । तथा महात्माओंके शरण जानेपर उनसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह दूसरेके जगानेसे जगना है (गीता ४ । ३४-३५) । अब दिग्भ्रमके विषयमें यह समझना चाहिये कि जब किसीको दिग्भ्रम हो जाता है, तब वह यदि अपने जन्म-स्थानमें चला जाता है तो उसकी चौबियायी आँखें उसी क्षण ठीक हो जाती हैं । इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थितिरूप जन्मस्थानपर पहुँचनेसे तुरंत ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । विचार कीजिये, यहाँ हमारा जन्मस्थान क्या है ? परमात्माका जो स्वरूप है, वही हमारा जन्मस्थान है, वही हमारा असली आदिस्वरूप है; अतः परमात्माके स्वरूपमें स्थित होते ही संसारका भ्रम मिट जाता है । जैसे दिग्भ्रमके समय भ्रमसे पूर्वकी ओर पश्चिम और पश्चिमकी ओर जो पूर्व दीखता था, वह भ्रम मिटकर यथार्थ दीखने लग जाता है, वैसे ही परमात्मामें भ्रमसे जो यह संसार प्रतीत हो रहा है, यह भ्रम मिट जाता है । अथवा जैसे दिग्भ्रम अपने-आप ही मिट जाता है, इसी प्रकारसे यह संसार-भ्रम भी संसारको हर समय खपवत् समझते रहनेपर किसी-किसीके अपने-आप ही शान्त हो जाता है । एवं जब चित्तकी वृत्तियाँ पूर्णतया सात्त्विक हों तथा साथ ही वैराग्य भी हो तब अपने-आप ही ज्ञान पैदा हो जाता है । ऐसी स्थितिमें किसी संतके द्वारा तत्त्वोपदेश मिल

जाय, तब तो कहना ही क्या है ! फिर तो परमात्माका वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो ही जाता है (गीता ४।३४-३५) । तथा मरनेके समय तो परमात्माके ध्यानमात्रसे ही उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । भगवान् ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गीता ८।५)

‘अन्तकालमें जो मेरा ही स्मरण करता हुआ जाता है, वह मेरे ही भावको प्राप्त हो जाता है—इस विषयमें कोई संशय नहीं है ।’ इसी प्रकारसे भगवान् ने गीता दूसरे अध्यायके ७२ वें श्लोकमें कहा है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

‘हे अर्जुन ! ब्रह्ममें स्थितिरूप (ब्राह्मी) स्थितिको प्राप्त होकर फिर मनुष्य मोहको प्राप्त नहीं होता । यह ब्राह्मी स्थिति अन्तकालमें भी हो जाती है तो पुरुष निर्वाण-ब्रह्मको यानी शान्तिमय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।’ यह अन्तकालकी स्थितिकी महिमा है । इसी प्रकारसे सत्त्वगुणकी स्थितिमें प्राण जानेसे भी बड़ा लाभ है । गीताके १४ वें अध्यायके १८ वें श्लोकमें बताया है कि—‘जिनकी सत्त्वगुणमें स्थिति है, वे ऊर्ध्वको प्राप्त हो जाते हैं ।’ (ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्थाः) इसका अभिप्राय तो यह है कि जिसकी सदा ही सत्त्वगुणमें स्थिति है, वही ऊपरको जाता है; परंतु अन्त समयमें भी कोई यदि सत्त्वगुणको प्राप्त हो जाता है या जिस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, उस समय किसीके प्राण निकलते हैं, तो वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता है । भगवान् ने गीतामें बताया है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।

तदोत्तमविदां

लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥

(१४।१४)

अर्थात् ‘जब यह जीवात्मा सत्त्वगुणकी वृद्धि मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवाले मलरहित पवित्र शुद्ध लोकोंको जाता है ।’ यहाँ अभिप्राय यह है कि वह ऊपरके लोकोंको जाता है और फिर वहीं आगे बढ़कर परमात्माको—परमधामको प्राप्त हो जाता है । (इसका विस्तृत अर्थ गीता-तत्त्वविवेचनी-टीकाके ८ वें अध्यायके २४ वें श्लोककी व्याख्यामें देखा चाहिये ।) इसे कम-मुक्ति कहते हैं । यहाँ यह समझना चाहिये कि जैसे अन्तकालकी यह एक विशेष बात है कि उस समय यदि राजसी-तामसी वृत्तिवाला पुरुष भी भगवान् का ध्यान करता हुआ या भगवान् के तत्त्वज्ञानको समझता हुआ प्रयाण करता है तो वह भगवान् को प्राप्त हो जाता है । इसी प्रकार सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय भी परमात्माके तत्त्वका ज्ञान उसे सहज ही हो जाता है । वह बहुत ही उत्तम समय है, अन्तकालके समान ही महत्त्वपूर्ण तथा सहज है । ऐसे समयमें विशेष सावधान होकर ध्यानकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि यहाँ थोड़े साधनसे ही बड़ा काम हो जाता है । पर यह कैसे पता लगे कि सत्त्वगुणकी वृद्धिका वह समय आ गया है ? इसके लिये भगवान् पहचान बताते हैं । वे गीतामें कहते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

(१४।११)

‘जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता (जागृति) और बोधशक्ति (ज्ञानशक्ति) उत्पन्न होती है, उस समयमें यह समझना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ।’ उस सत्त्वगुणकी वृद्धिके समयमें मनुष्य परमात्माका ध्यान करता है या परमात्माके तत्त्वको जाननेका प्रयास करता है तो उसे बहुत शीघ्र लाभ हो जाता है । ऐसे अवसरपर भगवान् की कृपासे क्षणमात्रमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । ऐसे समय

मनुष्यको अपना समय वैराग्यपूर्वक ज्ञान और ध्यानमें ही बिताना चाहिये। या महात्माओंके सङ्गमें और उनके वचनोंको सुनकर उसीके अनुसार चेष्टा करनेमें लगाना चाहिये—उसीमें स्थित हो जानेका प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करनेसे क्षणमात्रमें ही ज्ञान हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है। यह एक बड़े महत्त्वकी बात है। जैसे अन्तकालमें परमात्माका ध्यान या चिन्तन करते हुए प्राण त्यागनेसे उत्तम-से-उत्तम गति मिल जाती है, वैसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमें भी ऐसी बात हो जाया करती है। अतः जिस समय शरीरमें, मनमें, इन्द्रियोंमें, बुद्धिमें—सबमें जागृति हो, सबमें बाहर-भीतर—सर्वत्र चेतनता-सी प्रतीत हो और ज्ञान (बोध) की बहुलता हो, दुःखोंका अभाव हो, शान्तिकी प्रतीति हो और सात्त्विक सुखका अनुभव हो, उस समय ऐसा समझना चाहिये कि इस समय सत्त्वगुण बढ़ा है। ऐसी अवस्थामें परमात्माके ध्यानकी थोड़ी चेष्टा करनेपर भी बहुत बड़ा लाभ हो सकता है।

ऊपर विजलीका उदाहरण दिया गया था, उससे समझना है कि जैसे विजली लगकर तैयार है, तब-हाउससे उसका सम्बन्ध भी हो गया है, तब बिच दवानेके साथ ही क्षणमात्रमें रोशनी जल जाती है। जैसे ही साधन करते-करते मनुष्य जब एकदम तैयार हो जाता है, पात्र हो जाता है और भगवान्के साथ उसके मनका सम्बन्ध जुड़ जाता है, तब उसे क्षणभरमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे विजलीका बिच दवाते ही क्षणभरमें प्रकाश होकर सारे अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही अपनी पूरी तैयारी होनेपर, पात्र हो जानेपर, योग्यता प्राप्त हो जानेपर थोड़े ही उपदेशसे क्षणमात्रमें ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्माके ध्यानसे, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन—विचारसे, सत्पुरुषोंकी बातें सुननेसे और परमात्माकी कृपासे स्वतः ही हृदयमें जागृति होकर क्षणमात्रमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः

योग्यता प्राप्त करना यानी अधिकारी होना ही तैयार होना है। यह योग्यता यानी पात्रता प्राप्त होती है—अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर। अतः अन्तःकरणकी शुद्धि होनेमें जो समय लगता है, वह तो लगता ही है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि साधनोंके द्वारा जब मल-विक्षेप-आवरणका नाश हो जाता है, तभी अन्तःकरण शुद्ध होता है। इस अवस्थामें जैसे खिच दवानेमात्रसे ही रोशनी हो जाती है, अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही मल-विक्षेप-आवरणका अत्यन्त अभाव हो जानेपर क्षणमात्रमें ही परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति किस प्रकारसे होती है? इस विषयमें श्रीभगवान्ने कहा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्ति तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(गी० १८।५५)

‘परामक्ति यानी परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे (ज्ञानकी परानिष्ठाको तत्त्वज्ञान कहते हैं, उस तत्त्वज्ञानसे) मुझ परमात्माको, मैं जैसा हूँ, जितना हूँ, जिस प्रकारका हूँ, अच्छी प्रकारसे जान जाता है। और मुझे यथार्थ रूपसे तत्त्वतः जानकर तत्काल ही वह मुझमें प्रवेश हो जाता है।’ यह तैयारीकी बात है, तैयारी कब समझी जाय? इसके लिये इसीके पूर्वका श्लोक है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
(१८।५४)

‘सच्चिदानन्दधन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित पुरुष—ब्रह्मभूत पुरुष सदा प्रसन्नचित्त रहता है। वह न किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। चिन्ता, शोक तथा कामनाओंका अत्यन्त अभाव हो जाता है और सारे भूतोंमें अपने-आपको समभावसे देखता है, तब वह मेरी परामक्ति-

को यानी ज्ञानकी परानिष्ठाको प्राप्त हो जाता है ।
सर्वभूतोंमें समभावको देखना क्या है ? भगवान् ने
कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गी० ६ । २९)

‘सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप
योग अर्थात् जीवात्मा और परमात्माकी एकतारूप योगसे
युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी
आत्माको संपूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक
देखता है । और संपूर्ण भूतोंको आत्मामें अपने
संकल्पके आधारपर स्थित देखता है । अर्थात् जैसे
स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने
अन्तर्गत संकल्पके आधारपर देखता है, वैसे ही वह
पुरुष संपूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन
आत्माके अन्तर्गत देखता है अर्थात् सारे भूतोंमें अपने-
आपको वास्तविक रूपसे देखता है ।’ यह है ‘समदर्शन’
इसीका फल है—‘ज्ञानकी परानिष्ठा’ और इसीका
नाम है ‘पराभक्ति’ । इस पराभक्तिसे मनुष्य
परमात्माको यथार्थ रूपमें जान जाता है । भगवान् के
साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त सबके
तत्त्वको वह समझ जाता है । वह फिर परमात्माको
प्राप्त हो जाता है । पर इसके पहले पूरी तैयारी हो
जानी चाहिये । उस तैयारीके लिये इसके पूर्वके निम्न-
लिखित तीन श्लोकोंके अनुसार बनना चाहिये, जिनमें
ज्ञानकी परानिष्ठाने साधनोंका वर्णन है । वे श्लोक हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषो व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लब्धासी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(गीता १८ । ५१—५३)

‘पापरूप मल-दोषसे सर्वथा रहित, विशुद्ध बुद्धि
युक्त, सात्त्विक धृतिके द्वारा अन्तःकरणको कश करके
यानी मन-इन्द्रिय-शरीरको उन-उनके विषयोंसे हटाकर
परमात्माके स्वरूपमें स्थिर करके, शब्द, स्पर्श, रूप, रस,
गन्ध आदि इन्द्रिय-विषयोंका स्वरूपसे सर्वथा त्याग
करके राग-द्वेष तथा उनसे होनेवाले समस्त विकारोंको
छोड़कर पवित्र एकान्त देशका सेवन करे; हल्का और
अल्प सात्त्विक आहार करे; मन, वाणी, इन्द्रिय और
शरीर—सबको जीत ले, अर्थात् उन्हें अपने अनुकूल
बनाकर, उन्हें अपने इच्छानुसार साधन-कार्यमें लगे
लगावे । इस प्रकार करनेवाला पुरुष दृढ़ वैराग्य
आश्रय लेकर निरन्तर ध्यानयोगमें स्थिर रहता है ।
क्योंकि वैराग्यसे अपने-आप ही उपरति होकर परमात्मा-
के ध्यानमें गाढ़ स्थिति हो जाती है । इस प्रकारकी
स्थिति प्राप्त होनेपर वह पुरुष अहंकार, भौतिक बल
आश्रय, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रह—सांसारिक
विषयोंका संग्रह—इन सब अन्तःकरणके विकारोंसे रहित
होकर ममत्व आदि दोषोंसे छूटकर, संकल्प-विकारोंसे
रहित शान्त अन्तःकरणवाला होकर सच्चिदानन्दका
ब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य (पात्र) बन जाता है ।’

जब मनुष्य ध्यानमें स्थित हो जाता है, तब उसके
हृदयके सब विकार नष्ट हो जाते हैं और उसके मन
प्रकारके विषयोंका भी अभाव हो जाता है । मल-
अभाव तो पहले ही हो गया था, अब विक्षेपका भी
अभाव हो जाता है । इस प्रकार जब सारे दोषोंका
सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वह ब्रह्मकी प्राप्ति
अधिकारी बन जाता है । तदनन्तर उसकी स्थिति ब्रह्मके
स्वरूपमें हो जाती है और जिसकी ब्रह्ममें स्थिति होती
है, उसे कहते हैं ‘ब्रह्मभूत’ । ब्रह्मभूत होनेके बादकी
स्थिति ऊपर बतलायी जा चुकी है । इस ब्रह्मभूत
अवस्थाका फल ही है—पराभक्ति—पराज्ञाननिष्ठा
की प्राप्ति । इस ज्ञानसे अज्ञानका नाश हो जाता है ।

वह अज्ञानका नाश ही आवरण-दोषका नाश है। यों मूल-विक्षेप-आवरणका नाश होते ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये इस पराज्ञाननिष्ठाका फल साक्षात् परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है। इस प्रकार क्रमशः तैयारी करके पुरुष जब योग्य हो जाता है, तब क्षण-मात्रमें ही उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, परमात्मा-को यथार्थरूपसे जानकर वह परमात्मामें तद्रूप हो जाता है।

स्वप्नसे जगकर तो पुरुष स्वप्नके संसारको पुनः-पुनः याद करके यह समझता है कि उस समय मेरी अपने शरीरमें 'अहंबुद्धि' और समस्त संसारमें 'इदंबुद्धि' थी, किंतु जागनेके बाद यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि वह 'अहंबुद्धि' और 'इदंबुद्धि' कल्पनामात्र थी। किंतु वहाँ ज्ञानीकी दृष्टिमें तो यह कल्पना भी नहीं रहती। वह संसार ही नहीं है, तब 'अहं' कौन और 'इदं' जेन ? परमात्माकी प्राप्ति होनेके उत्तरकालमें संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ज्ञानमार्गकी दृष्टिसे स्वप्न-जगा हुआ पुरुष तो स्वप्नके संसारको कल्पित—'स्वप्नवत्' समझता है, किंतु ब्रह्मके स्वरूपमें जगे हुए पुरुषके लिये तो यह संसार स्वप्नवत् भी नहीं है; क्योंकि स्वप्नसे जगे हुए पुरुषके तो मन-बुद्धि वे ही हैं, जो स्वप्नमें थे, इसलिये वह स्वप्नके संसारको 'स्वप्नवत्' समझता है; किंतु जब पुरुष ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि यहीं इसी शरीरमें छूट जाते हैं। मन-बुद्धि-शरीर 'ब्रह्म' तक नहीं पहुँचते। फिर इसे स्वप्नवत् भी कौन कैसे देखे ? तथापि यह कहा जाता है कि ज्ञानीके लिये संसार 'स्वप्नवत्' है। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब संसार है ही नहीं, तब स्वप्नवत् क्यों कहा जाता है ?' तो इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः उस ब्रह्मको प्राप्त पुरुषके लिये तो संसारकी स्वप्नवत् भी प्रतीति नहीं होती; क्योंकि उसके लिये तो सृष्टि ही नहीं है; न दृष्टि है, न सृष्टि। वहाँ तो इसका

अत्यन्तभाव है। उसके लिये तो अपनेसे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और वह भी सदासे ही है। पर संसारमें जो उसका शरीर है, उस शरीरमें मन-बुद्धि-अन्तःकरण है। उस अन्तःकरणमें भी वस्तुतः संसार-का, शरीरका और अन्तःकरणका अत्यन्त अभाव तथा परमात्माका भाव है, तथापि उसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि उसके लिये अन्तःकरणसहित यह संसार स्वप्नवत् है। ऐसे महापुरुषकी महिमा कौन कह सकता है ? यह जो अनुभव है कि 'परमात्मा है', वही उसका प्रमाण है। सारे शास्त्र उन महापुरुषोंके अनुभव ही हैं। उन महापुरुषोंके सर्वथा प्रत्यक्ष अनुभवसे अधिक और प्रमाण हो ही क्या सकता है ?

अब परमात्माके विषयमें कुछ समझना है। परमात्माका एक स्वरूप है—सच्चिदानन्दधन 'निर्गुण निराकार' और दूसरा है—'सगुण साकार।' सगुणके दो भेद हैं—एक 'सगुण निराकार' और दूसरा 'सगुण-साकार।' सगुण-निराकाररूपसे जो सारे संसारमें व्याप्त हैं, उन्हें 'ईश्वर' भी कहते हैं और 'परमात्मा' भी। सगुण-साकाररूपसे वे दिव्यधाममें नित्य विराजित रहते हैं और समय-समयपर अपनी इच्छासे अवतार धारण भी करते हैं। वे सत्ययुगमें श्रीविष्णुरूपसे, त्रेतामें श्रीरामरूपसे, द्वापरमें श्रीकृष्णरूपसे प्रकट हुए थे।

'अजातवाद'को माननेवाले आधुनिक वेदान्ती महानुभाव एक 'ब्रह्म'के सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं मानते। उनका यह एक तत्त्व-वस्तुको मानना तो बहुत ही ठीक है, परंतु भगवान्‌के 'सगुण-निराकार-स्वरूप' जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं, जो सृष्टिकर्ता, सबका पालक, ज्ञाता, साक्षी और द्रष्टा है और जो दिव्य अवतार धारण करता है—उसके यानी परमात्माके इन स्वरूपोंके सम्बन्धमें उनकी मान्यता मेरी समझसे ठीक नहीं है। ईश्वरके स्वरूपको वे मायिक बतलाते हैं। वे कहते हैं कि 'प्रपञ्चका अभाव होनेपर सगुण-

निराकार और सगुण-साकारका भी अभाव हो जाता है। एक निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही वस्तुतः सदा रहता है। परंतु वस्तुतः परमात्माके 'सगुण-निराकार' और 'सगुण-साकार'रूपका इस संसारकी तरह कभी अभाव नहीं होता। संसार मायाका प्रपञ्च है—जड है; परंतु परमात्माका सगुण-निराकार और सगुण-साकाररूप उनका अपना ही स्वरूप एवं चेतन है। हाँ, भगवान् जब अवतार लेते हैं, तब एक मायाका परदा अपनेपर अवश्य डाल लेते हैं, इसीसे उनका यथार्थ स्वरूप मूढ़ोंको नहीं दिखायी देता। भगवान् ने गीतामें यही बात कही है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

(७।२५)

मैं सबको प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता हूँ; क्योंकि मैं योग-मायाका पर्दा अपनेपर डाले रहता हूँ। इसलिये मूढ़ोंका समूह, मैं जो अजन्मा, अविनाशी परमात्मा हूँ, इस यथार्थ रूपको नहीं जानता। अवश्य ही, भगवान् अपने श्रद्धालु प्रेमी भक्तोंके सामने इस योगमायाके पर्देको हटा लेते हैं, इसलिये भक्त उन्हें यथार्थ रूपमें जान—देख पाते हैं। भगवान् तो अपात्रों या मूढ़ोंके लिये ही इस पर्देसे अपनेको ढकते हैं।

यहाँ यह समझना चाहिये कि भगवान् श्रीगणेश और श्रीकृष्णका स्वरूप मनुष्योंका-सा है; इसीलिये उन्हें मानुषी-लीला करनेवाला माना गया है। भगवान् विष्णुका स्वरूप देवताका-सा है, उनके शरीरकी धातु देवताओंकी धातु-जैसी है। अतएव उनके दीख पड़नेवाले शरीर तो मनुष्यों और देवताओं-जैसे हैं, पर वास्तवमें वे दिव्य चिन्मय हैं; मायिक नहीं। वस्तुतः भगवान् का निर्गुण-निराकार स्वरूप ही 'सगुण-निराकार' और 'सगुण-साकार' रूपमें प्रकट है। इस बातको आधुनिक वेदान्ती महानुभाव नहीं मानते। वे इसके तत्त्व-रहस्यको नहीं जानते। भगवान् के जो दिव्य चिन्मय गुण हैं, उन्हींका प्रतिबिम्ब संसारपर सत्त्वगुणमें पड़ता है। हमें जो ये दैवी सम्पदाके गुण दिखायी देते हैं, ये मायिक हैं, पर सात्त्विक हैं। सत्त्वगुणमें जो गुण प्रतीत होते हैं, वे सब परमात्माके गुणोंके अंशमात्रके प्रतिबिम्ब हैं। जैसे चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब दर्पणमें प्रतीत होता है, वैसे ही विशुद्ध अन्तःकरणमें ये सब गुणोंके रूपमें प्रतीत होते हैं, तथापि ये जड हैं, चेतन नहीं। किंतु जो भगवान् के गुण हैं, वे तो दिव्य और चिन्मय हैं।

परमपदपर कौन पहुँचते हैं ?

आब्रह्मसदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम् । शुभं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति तद्विदुः ॥

न तत्र मूढा गच्छन्ति पुरुषा विषयात्मकाः । दम्भ-मोह-भय-द्रोह-क्रोध-लोभैरभिदुताः ॥

निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वाः संयतेन्द्रियाः । ध्यानयोगरताश्चैव तत्र गच्छन्ति साधवः ॥

(पञ्चपुराण भूमि० ९५।१५-१७)

ब्रह्मलोकसे ऊपर भगवान् विष्णुका परमपद है, वह शुभ, सनातन, ज्योतिस्वरूप है और उसीको 'परम ब्रह्म' कहते हैं। दम्भ, मोह, भय, द्रोह, क्रोध और लोभसे अभिभूत विषयासक्त अज्ञानी पुरुष वहाँ नहीं जा सकते। ममतारहित, अहङ्काररहित, द्वन्द्वरहित, इन्द्रियविजयी, ध्यानयोगमें सदा लगे हुए साधु पुरुष ही वहाँ जाते हैं।

बार-बार नहिं पाइये, मनुष-जनमकी मौज

(लेखक—स्वामीजी श्रीराममुखदासजी)

पराकृतनमद्वन्द्वं परब्रह्म नराकृति ।

सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ।

ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

सच्चिदानन्दधन पूर्णब्रह्म परमात्माको तथा संत-
महपुरुषोंको सादर अभिवादन कर यहाँ कुछ बातें
रहनेकी चेष्टा करता हूँ। इन बातोंमें जो आपको
अच्छी लगे, सुन्दर दीखें, उन बातोंको तो संत-महात्माओं-
की, शास्त्रोंकी और भगवान्की मानना चाहिये तथा
जो त्रुटियाँ हों, उन्हें मेरी। त्रुटियोंकी ओर ध्यान न
कर अच्छी बातोंकी ओर ध्यान दें; कारण, जो
महपुरुषोंके और भगवान्के वचन हैं, वे मेरे और आपके
के परम हित करनेवाले हैं। उन वचनोंके अनुसार
वचन करनेसे निश्चित कल्याण होता है। आप
वचन करेंगे तो आपका हित और कल्याण है तथा
कलूँगा तो मेरा कल्याण है।

सबसे पहली एक विशेष ध्यान देनेकी बात यह है
कि यह मानव-जीवनका समय बहुत ही दुर्लभ है और
बहुत भारी कीमती है। श्रीमद्भागवतमें बताया है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।

तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥

‘दुर्लभो मानुषो देहः’—यह मनुष्यसम्बन्धी देह—

यह मानव-शरीर महान् दुर्लभ है। इसकी प्राप्ति के
लिए बड़े-बड़े देवता भी ललचाते रहते हैं। ऐसा यह
मानव-शरीर अत्यन्त ही दुर्लभ है; क्योंकि इसमें बड़ी-से-
बड़ी उन्नति हो सकती है, परमात्माकी प्राप्ति हो सकती
है, जीवका कल्याण हो सकता है और सदाके लिये
से परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे दुर्लभ
शरीरको प्राप्त करके जो इसे व्यर्थ ही खो देता है, उसे
बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ता है; क्योंकि यह
सर्वथा अलभ्य, अमूल्य अवसर है। अतः इस अवसरके

एक-एक क्षणको ऊँचे-से-ऊँचे काममें बितानेकी चेष्टा
करनी चाहिये। समयके समान कोई अमूल्य वस्तु नहीं
है। संसारमें लोग पैसोंको बड़ा कीमती समझते हैं, आवश्यक
समझते हैं, किंतु विचार कीजिये, जीवनका ‘समय’ देनेसे
तो ‘पैसे’ मिल जाते हैं, पर पैसे देनेसे यह ‘समय’
नहीं मिलता। हमारे जीवनके लिये हमारे पास हजारों,
लाखों, करोड़ों रुपये रहनेपर भी यदि हमारी आयु नहीं
है तो हमें मरना पड़ता है; किंतु यदि हमारी आयु
बाकी हो और हमारे पास एक भी कौड़ी न हो, तो
भी हम जी सकते हैं। हमारे जीवनका आधार यह
‘समय’ है, न कि ‘रुपया’। इतना होनेपर भी हमारे
भाई लोगोंकी पैसोंमें तो बड़ी भारी आसक्ति, रुचि और
सावधानी है। वे बिना मतलब एक कौड़ी भी खर्च
करना नहीं चाहते; परंतु ‘समय’की ओर ध्यान ही
नहीं है। हमारा समय इतनी देर कहाँ लगा और कहाँ
गया, इसमें हमने क्या उपार्जन किया, क्या कमाया,
इस ओर हमारा खयाल ही नहीं है। बड़े आश्चर्यकी
बात है ! ठीक कहा है श्रीभर्तृहरिने—

‘पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ।’

इस प्रमाद-मदिरासे उन्मत्तता छापी हुई है।
नशेमें जैसे मनुष्यको अपने शरीरका, कपड़ोंका होश
नहीं रहता, ऐसे ही इस विषयमें होश नहीं है, चेत
नहीं है; इधर ध्यान नहीं है, लक्ष्य नहीं है। नहीं
तो, ऐसे अमूल्य समयका इस प्रकार सत्यानाश क्यों
किया जाता ? समय जो निरर्थक ही चला जाता है,
यही उसका सत्यानाश करना है। ऐसे अमूल्य समयको
कीमती-से-कीमती काममें लगानेकी विशेष चेष्टा करनी
चाहिये। क्या करें, विचार करनेसे माद्धम होता है कि
बहुत-से भाई तो ताश, चौपड़, खेल-तमाशोंमें ही
समयको लगा देते हैं; बीड़ी, सिगरेट, हुक्का, चइस,

भाँग आदि नशेके सेवनमें इस समयको बर्बाद कर देते हैं तथा ऐसे ही हँसी-मजाकमें समय खो देते हैं । वे सोचते नहीं कि हम इस आयुमें उपार्जन क्या कर रहे हैं और खर्च कितना हो रहा है ।

समय तेजीसे जा रहा है और समयके बीत जाते ही मौत उसी क्षण आ जायगी । मृत्युमें जो देर हो रही है, केवल हमारे जीवनका समय शेष है, उसीके आधारपर । हम जी रहे हैं, यह बुद्धिके आधारपर नहीं, बल्कि आधारपर नहीं, विद्याके आधारपर नहीं; बल्कि समयके आधारपर, जीवनके आधारपर, आयुके आधारपर । वह आयु इतनी तेजीसे निरन्तर जा रही है कि इसमें कमी आलस्य नहीं होता, कमी रुकावट नहीं होती । यह लगातार दौड़ती चली जा रही है और हम बिल्कुल असावधान हैं । कितने आश्चर्य और दुःखकी बात है ! आश्चर्य इस बातका है कि बुद्धिमान् होकर हम इतनी हानि कर रहे हैं और दुःख इस बातका है कि परिणाम क्या होगा, और वह अपना परिणाम अपनेको ही भोगना पड़ेगा । इस भूल या दुःखका परिणाम और किसीको नहीं भोगना होगा । अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह जल्दी-से-जल्दी आध्यात्मिक उन्नतिमें अपने समयको लगावे । भर्तृहरिने कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोदीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

जवतक स्वास्थ्य ठीक है, वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियोंमें साधन—भजन-ध्यान करनेकी शक्ति है, आयु समाप्त नहीं हो गयी है, विवेकी बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि तभीतक आध्यात्मिक उन्नतिके लिये बड़ा भारी प्रयत्न कर ले; क्योंकि जब घरमें आग लग जाय, तब कोई कहे कि जल्दी करो, कुआँ खुदवाओ, आग लग गयी है, जल चाहिये, जल्दी करो, तो यह सब

सुनकर चाहे कितनी ही जल्दी की जाय, उद्योग कि जाय, किंतु अब कुआँ खुदकर कब जल आयेगा । आग तो बड़े जोरोंसे लग गयी है; इसलिये जल्दी-से जल्दी अपने उद्धारके लिये चेष्टा करनी चाहिये । आध्यात्मिक उन्नतिके लिये देर नहीं करनी चाहिये । दूसरे जो सांसारिक काम हैं, ये आप करेंगे तो भी हो जायँगे और आप न करेंगे तो आपके बेटे-पोते इनको कर लेंगे, परंतु आपका कल्याण कौन-से बेटे-पोते का लेंगे ? आपके पास हजारों-लाखोंकी सम्पत्ति है, बहुत धन है, बड़ा कारोबार है, किंतु आपका रक्षित जाता है और पीछे कोई कुटुम्बी भी नहीं है तो जितना धन है, उसको राज्य सँभाल लेगा, आपकी मिलों-फैक्टरियोंको राज्य चला लेगा; पर आपके उद्धारके कमी रहेगी तो उसको कौन-सा राज्य पूरी कर लेगा । यह काम दूसरेसे होनेवाला नहीं; इस कामको आप स्वयं ही करेंगे तभी होगा; इसलिये मनुष्यको चाहिये कि दूसरे जितने भी काम हैं, उनकी ओर ध्यान न देकर केवल एक आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर ही ध्यान दे । नीतिकारोंने भी कहा है—

‘कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत् ।’

—करोड़ों कामोंको छोड़कर एक भगवान्का स्मरण करना चाहिये । दूसरे मौके तो हरेकको मिल जाते हैं पर यह मौका बार-बार नहीं मिलता ।

खादते मोदते नित्यं शूनकः शूकरः खरः ।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तियेषां तु तादृशी ॥

खाना, पीना, ऐश-आराम करना आदि तो मनुष्य क्या, पशु-पक्षियोंमें भी हो जाता है, परंतु आध्यात्मिक उन्नतिका अवसर मनुष्ययोनिके सिवा और कहीं नहीं है । इसलिये बड़ी सावधानीसे काम लेना चाहिये । आजतकका समय चला गया है, विचार करनेसे दुःख होता है । संतोंने कहा है कि भजनके बिना जो दिन गये वे हमारे हृदयमें खटकते हैं । किंतु भक्तों

संख्या ११]

अब पछिताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत ।
समय चला गया, उसके लिये पछतानेसे क्या
होगा, अब तो यही है कि गयी सो गयी,
अब राख रही को । जो समय बचा है, उसी
समयको सावधानीके साथ ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगानेकी
विशेष चेष्टा करें तो आगे तो नहीं रोना पड़ेगा ।
हो गया सो हो गया, परंतु अब आगेके लिये पूरे सावधान
हो जायँ, तब भी हमारा जीवन सफल हो सकता है ।

आप कहेंगे कि इतने दिन चले गये, अब क्या
होगा ? इसका उत्तर यह है कि अब भी निराश होनेकी
बात नहीं है । जैसे कुएँमें बहुत रस्सी चली जाती है,
पर एक हाथभर भी रस्सी यदि हाथमें रहती है तो
उससे लोटेको कुएँसे बाहर निकालकर जल पी लेते
हैं; पर यदि वह हाथभर भी रस्सी हाथमें नहीं रहती है,
वह भी हाथमेंसे छूट जाती है तो फिर ऐसा नहीं है कि
वह हाथभर ही नीचे जायगी, वह तो कुएँमें ही

नहीं, कुएँके जलके भी नीचे तहमें चली जायगी ।
फिर तो उसे निकालनेके लिये बड़ी रस्सी चाहिये,
कौंदा चाहिये और जब बहुत देर मेहनत करेंगे,
तब कहीं वह लोटा-डोरी मिलेगी । नहीं तो, बड़ी
कठिनाता है । ऐसे ही आजतककी आयु कुएँमें गयी ।
ऐसी गयी कि काम नहीं आयी; किंतु अब भी जो
थोड़ी-सी उम्र शेष है, उसीको अच्छे काममें लगा दें
तो हमारा मनुष्यजीवन सफल हो सकता है; पर
यदि आयुका यह बचा हुआ थोड़ा-सा समय भी
यों ही बीत गया तो फिर सिवा पश्चात्तापके और कुछ
नहीं होगा । क्या पता है कि फिर यह मानव-जीवन
कब मिलेगा ।

बार-बार नहिं पाइये, मनुष-जनसकी मौज ।

मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलता । इसलिये बड़ी
सावधानीके साथ बचे हुए समयको आध्यात्मिक
उन्नतिमें विशेषरूपसे लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५९)

‘तुम्हारे इस लीलाविल्लासकी आड़में एक साथ मुझे
दो वस्तुओंके दर्शन हो रहे हैं देव !’—स्रष्टा ब्रजराज-
कुमारके असमोर्ध्व ऐश्वर्य एवं माधुर्यके बीचमें झूलते हुए
पुकार उठते हैं—‘प्रभो ! एक ओर तुम सर्वकारण-
कारण हो, पर साथ ही उसी समय इस ब्रजपुरमें, ब्रजेन्द्र-
सदनमें, ब्रजराज-ब्रजरानीके पुत्ररूपमें, उनके नीलसुन्दर
होकर तुम्हारा जन्म है । तुममें समस्त विकारोंका सर्वथा
अभाव है, सच्चिदानन्दविग्रह हो तुम; पर साथ ही यहीं
इस ब्रजपुरमें ही, ओह ! क्षुधाकी वेदनासे अमिमृत
होकर क्रन्दन करते हुए तुमने जननीमें नवनीतकी
याचना की है । प्रपञ्चके दोषोंकी गन्ध भी तुममें नहीं
है, परमविशुद्ध हो तुम; फिर भी ब्रजसुन्दरियोंके आवासमें

जाकर तुमने नवनीतका अपहरण किया है । स्वयं
आत्माराम होकर भी इन गोपशिशुओंके साथ सिलकर
नित्य नवीन कौतुक-रचनाका खेल तुम संजगण नहीं
कर पाते । इस प्रकार एक ओर तो तुम प्रपञ्चने सर्वथा
अतीत हो, जगत्—जगत्तिक भावोंका कहीं किञ्चित्-
मात्र कोई भी सम्बन्ध तुमसे नहीं है; तथापि ठीक उसी
समय तुम्हारा जन्म है; दिक्कत, रजनी, पक्ष, मास एवं
वर्षके अनुक्रमसे तुम्हारे श्रीकृष्णमें बुद्धिके दर्शन हुए हैं,
होते हैं; क्षुधा, शिशुसुखन चञ्चलता आदि कनेकों
जगत्तिक भावोंके बोतसे सज्जित तुम्हारे लीलात्मदाकिनी
प्रसरित होती रहती है—विश्वके इन समस्त भावोंके
अनुरूप ही तुम सदा अपने लीलाविल्लासका विस्तार

करते रहते हो ! ऐसा इसलिये, नाथ ! कि अपने स्वजनों-
के प्रति तुममें अपरिसीम कृपा भरी है । और इसीलिये
जो एकमात्र तुम्हारे ही पादपद्मोंके आश्रित हैं, तुम्हारे
चरणसरोरुहकी शीतल छायामें ही जिनका नित्य निवास
है, उन अपने निजजनोंको, शरणागत भक्तोंको अपरिसीम
अनन्त आनन्दका दान करनेके लिये ही तुम्हारी यह
सब रचना है । उनका नित्य-निरन्तर आनन्दसंवर्धन
करते रहनेके लिये ही तुम सर्वथा निष्प्रपञ्चका इस
जगत्में भूतलपर अवतरण है, प्रापञ्चिक लोकव्यवहार-
का, लीलाविलासका विस्तार है विभो !'—

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले ।

प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३७)

रहित प्रपञ्च नाथ सब काला । पुनि अनुकरन करहु जिमि बाला ॥
जे प्रपन्न जन तिनके हेतू । लीला करि तिन कहँ सुख देतू ॥

‘किंतु इस विषयमें ऊहापोहका मेरा यह प्रयास
सचमुच कोई अर्थ नहीं रखता स्वामिन् !’—ब्रजराज-
कुमारकी अचिन्त्य महिमाके सम्बन्धमें पितामह कुछ भी
‘इत्यम्भूत’ निर्णय दे देनेसे शङ्कित होकर कहने लगते
हैं—‘तुम्हारा स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्य, लीलाविलास—
सब कुछ अचिन्त्य, अतर्क्य है प्रभो ! तुम्हें, तुम्हारे
सम्बन्धमें मन-बुद्धिके द्वारा कोई भी कुछ भी जान ले,
यह सम्भव नहीं है महामहिम ! यदि कोई तुम्हें जानते
हैं—भगवत्-तत्त्व जान लेनेका किन्हींको अभिमान है,
तो वे जानते रहें । क्या लाभ है उनके लिये बहुत-सी
बातें कहकर उनकी मूढ़ताका प्रदर्शन करनेसे !
आवश्यकता भी नहीं है इस सम्बन्धमें बहुत बात बढ़ाने-
की । बस, मैं तो अपने लिये कह सकता हूँ और इतना
ही पर्याप्त है भगवन् ! सचमुच चतुर्वेदके आदिप्रवर्तक
मुझमें, मेरे मनमें, मेरी वाणीमें, मेरे शरीरमें यह सामर्थ्य
नहीं कि उसके सहारे तुम्हारी महिमाका ज्ञान प्राप्त हो
जाय । मेरा मन तुम्हारे अचिन्त्य वैभवसिन्धुकी विन्दु-

कणिकाका भी स्पर्श पा लेने योग्य नहीं स्वामिन् ! तुम्हें
प्रत्यक्ष दर्शन कर लेनेपर भी मेरे चक्षु आदि इन्द्रियोंके
लिये तुम अगोचर ही बने हो देव ! मेरी वाणी तुम
अनन्तका यथार्थ प्रवचन कदापि नहीं कर सकती
प्रभो !’—

जानन्त एव जानन्तु किं बहूकृत्या न मे प्रभो ।

मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३८)

जो कोउ कहै प्रभु-वैभव जितौ । हम सम्यक जानत हैं तितौ ॥
जानहु ते जानहु जो जग चर । मो तैं तौ मन, बचन अगोचर ॥

× × × ×

कहत मूढ़ नर कोइ, प्रभु वैभव हम जानि सब ।

तन मन बचनहु जोइ मो कहँ तव महिमा अगम ॥

अस्तु, इतनी देरतक किये हुए स्तवनके प्रभावसे
अब स्रष्टापर ब्रजराजकुमारकी कृपा विशेषरूपसे लहरा
उठती है । जगत्-कर्तृत्व, जगदीशत्व आदि अभिमान
तो कभीका विगलित हो चुका था, इस कृपावाणि
उसके चिह्नतक धो दिये ! परम दैन्यकी सदाके लिये
प्रतिष्ठा हो गयी वहाँ । ब्रजेन्द्रनन्दनके नित्य दास होने-
का विशुद्ध अभिमान जाग उठा । स्रष्टाकी समस्त
धारणाएँ बदल गयीं । फिर तो और कुछ अधिक कहने-
की, निवेदन करनेकी आवश्यकता ही कहाँ रही । हाँ,
खामीकी अनुमति लेकर ही, पूर्ण समर्पण एवं निर्भरता-
की भावनामें निमग्न होकर ही अपने स्थानपर लौट जा
सकता है । यही दासोचित आचार है और इसीका
पालन करते हुए पितामह कहने लगते हैं—‘श्रीकृष्ण-
चन्द्र ! स्वामिन् ! अब मुझे आज्ञा करो, मैं अपने स्थान-
पर ही केवल तुम्हारी सौंपी हुई सेवाका निर्वाह करनेके
लिये लौट जाऊँ । अब और कुछ नहीं कहना है नाथ !
आवश्यकता ही नहीं है कहनेकी । तुम सर्वसाक्षी जो
हो ! सब कुछ पहलेसे ही तुम जानते रहते हो भगवन् !
साथ ही यह समस्त परिदृश्यमान जगत् तुममें ही तो

संख्या ११]

अविष्टित है विभो ! एकमात्र जगन्नाथ तुम्हीं तो हो !
मेरे स्वामी भी तुम्हीं हो श्रीकृष्णचन्द्र ! आजतककी मेरी
ममतास्पद, अहंतास्पद वस्तुएँ—मेरा जगत्, मेरा यह
शरीर—सब कुछ तुम्हें ही समर्पित है हे मेरे परमा-
राध्य ! तुम्हारी ही वस्तुएँ तुम्हें अर्पित हैं भगवन् !
अब आगे मुझ दासके लिये मेरे शक्ति-सामर्थ्य,
अधिकारके अनुरूप सर्वोत्तम व्यवस्था तुम स्वयं अपने-
आप करोगे ही नाथ !'—

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदक् ।

त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत् तवार्पितम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३९)

जग अधीसको तजि अभिमाना । अज बोल्यो सुनु कृपानिधाना ॥
तुम सर्वज्ञ अज्ञ मैं नाथा । यातें विनय सुनिय जदुनाथा ॥
कर जानि नाथ निज मोही । आयसु कछु कीजै जिय जोही ॥

और अब अन्तमें वेदगर्भका यह बृहत् स्तवन
स्रपुटित हो जाता है श्रीकृष्णनमस्कारसे ही । इसका
प्रक्रम भी हुआ था ब्रजेन्द्रनन्दनकी चरणवन्दनासे;
प्रसंहार भी हो रहा है उनके ही पादपद्मोंमें प्रणामसे ।
वितामह अपना नमस्कार निवेदन करते हुए—कुछ भी
कहनेकी आवश्यकता नहीं अनुभव करनेपर भी—दासो-
चित दीनतासे सनकर इतना और कह जाते हैं—
श्रीकृष्णचन्द्र ! अपने अप्रतिम सौन्दर्यसे सबके चित्तको
आकर्षित करनेवाले नीलसुन्दर ! मेरे मन-प्राण भी अब
सदाके लिये आकर्षित होकर निमग्न हो जायँ इसी श्यामल-
सौन्दर्य-सिन्धुमें । और जैसे यदुवंशरूप पद्म विकसित
हुआ है तुम्हारे दर्शनसे ही, भुवन-भास्कररूप हो तुम
सब वृष्णिकुलकमलको प्रस्फुटित कर देनेके लिये, वैसे
ही तुम्हारी यह पद्मज-संतान मैं भी सतत प्रफुल्लित हो
जाऊँ तुम्हारे कृपाकटाक्षको निहारकर । अहा ! तुम्हारे
अविर्भावसे ही धरा, देवगण, द्विजवृन्द, घेनुसमूहरूप
सागर उद्वेलित हुआ है, इन्हें तुमने अपूर्व समृद्धिका
दान किया है, इनकी अभिवृद्धिके लिये तुम चन्द्ररूप
हो गये हो प्रभो ! अतएव मुझ देवाभक्तका संवर्धन भी

तुम नन्दकुलचन्द्रके द्वारा ही सदैव होता रहे, यह
उचित ही है नाथ ! प्रभो ! पाखण्डधर्मरूप रजनीके घोर
अंधकारको विनष्ट कर देनेके लिये तुम सूर्यरूप हो,
चन्द्ररूप हो । मेरा हृत्तल भी अब सदाके लिये आलोकित
रहे तुम्हारे दक्षिणनेत्ररूपी सूर्यदेवकी निर्मल रश्मियोंसे,
मेरा कण-कण उद्भासित बना रहे इस वामदृग्रूप चन्द्र-
की शुभ्र ज्योत्स्नासे, जिससे कि मैं फिर कभी भ्रान्त
न हो सकूँ; कभी अपने स्वामीपर मायाविस्तार करनेकी,
अपने प्रभुके प्रति पाखण्ड रचनेकी वृत्ति मेरी चित्तभूमिमें
उदित न हो सके, यह तिमिर कदापि प्रविष्ट न हो
सके मेरे मानसतलमें । स्वामिन् ! पृथ्वीके भार होकर
उत्पन्न होनेवाले राक्षसोंका विमर्दन करनेवाले हो तुम;
ऐसा सूर्यके समान दुष्प्रवर्ध तेज है तुम्हारा । किंतु
इनसे द्रोह करके भी तुम इन्हें सुदुर्लभ अपनी गतिका
ही दान करते हो दयामय ! कितनी अनुकम्पा भरी है
इस दण्ड-विधानमें ! बस, तुम्हारा यह तेज सदा मुझे भी
अभिभूत किये रहे । तुम्हारी कृपासे परिपूर्ण यह शासन
मुझपर भी अनन्तकालतक बना रहे । ब्रह्मराक्षसके तुल्य
ही आचरण करनेवाला—तुम्हारे प्राणस्वरूप पार्षद
गोपशिशु एवं गोकसोंसे विद्रोह करनेवाला सत्यलोकका
यह उच्छृङ्खल दास भी सदा इस शासनरूप अनुग्रहकी
छायामें ही स्थित रहे । हे महामहिम ! महान्-से-महान्के
लिये सूर्य-चन्द्र-जैसे अत्यन्त तेजस्वी देवगणके लिये—
सबके लिये तुम परम पूज्य हो । सभी निरन्तर तुम्हारी
पूजा ही करते हैं । मेरी पूजा भी अङ्गीकार हो जाय
स्वामिन् ! बस, इतनी-सी पूजा—मेरे जीवनके शेष
क्षणतक, महाकल्प-पर्यन्त तुम्हारे पादपद्मोंमें मेरा
असंख्य प्रणाम स्वीकृत होता रहे भगवन् !'—

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्षमानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।

उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसघु-
गाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४०)

इतनी माँगत अहो अनंत । बंदन करौं कल्प परजंत ॥

× × ×

जदुकुल जलरुह नवल इव, ताहि सुखद जनु सूर ।
धेनु बिप्र छिति सिंधु हित, सुखकर जनु बिधु पूर ॥
छिति पर निसिचर घोर, कंसादिक तम सरिस जग ।
तिन कहँ रबि कर जोर, तुम नासे प्रभु छिनक मँहँ ॥
जग पाखंड धर्म तम भारी । तिन कहँ रबि ससिसम असुरारी ॥
तरनिआदि जगतेज जहाँ ते । तब कटाच्छ लहि भास तहाँते ॥
बारबार प्रभु बिनवौं तोही । करेउ अनुग्रह अतिसै मोही ॥

इस प्रकार पितामहके स्तवनका विराम हुआ । और तब उनके आठों नेत्र ब्रजराजकुमारके मुखचन्द्रसे जा लगे । वहाँ तो सदा सबके लिये—जो भी कातर होकर आँखें उठाता है, उसके लिये परम आश्वासन भरा ही है । अनादिकालसे अबतक किसे निराशा मिली है नीलसुन्दरके उन सलोने दिव्य दृगोंसे ? इसीलिये स्रष्टाके प्राण भी शीतल हो गये । किंतु अब उन्हें शीघ्रातिशीघ्र इस स्थलका परित्याग कर देना है, यह संकेत भी प्राप्त हो चुका है । इसीका अनुगमन वे करते हैं । अपूर्व लहराती हुई भक्तिके आवेशमें वे भूमापुरुष बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी तीन बार परिक्रमा करते हैं; यह सम्पन्न होनेके अनन्तर उनके पादपद्मोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते हैं । बस, अब उन्हें यहाँसे चलना है अपने गन्तव्य स्थान सत्यलोककी ओर । इसीके लिये मौन आदेश है महामहेश्वर श्री-कृष्णचन्द्रका । किंतु ठीक इसी क्षण प्राणोंमें एक स्नेहार्द्र स्पन्दन होने लगा—‘अधिक नहीं दो एक शब्द भी प्रभुके मुखारविन्दसे मेरे लिये निःसृत हो जाते, अहा ! श्रवणेन्द्रिय सदाके लिये कृतार्थ हो जाती ।’ कहना नहीं है कि वाञ्छाकल्पतरु स्वयं भगवान् ब्रजराजकुमार अपने नाममात्रके भृत्योंके सूक्ष्मतम, नगण्य-से-नगण्य मनोरथका भी कितना आदर करते हैं । और चतुर्मुख तो आज अपना सर्वस्व न्यौछावर कर उनके चरणप्रान्तमें अवस्थित हैं । उनके प्राणोंकी यह छवि असंख्य लोकों में फैल गई, जो एक निदर्शन पितामहको और भी प्राप्त हुआ—

भी ब्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रकी ओर ताककर—यह तो सर्वथा असम्भव है । देखते-ही-देखते वाय्वाचेतने अन्तरालसे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका अनन्त ऐश्वर्य आँखोंके स्रष्टाके कर्णपुटोंमें पीयूषसागरका सृजन कर देता है । पितामहके नेत्र तो स्थिर हैं श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणि अश्रुओंके कम्पयुक्त स्मितपर तथा श्रोत्रोंमें भर रही है उनकी सुवास्यन्दिनी वाणी । स्रष्टा एक बार तो सन्न हो गये; पर प्राणोंको वाञ्छित प्राप्त हो गया । ब्रजराज-कुमारने स्रष्टाके उद्देश्यसे इतना-सा कह ही दिया—

तुम ज्ञाता सब धर्म के, तुम तैं सब संसार ।
मेरी माया अति अगम, कोउ न पावै पार ॥
श्रीमुख बानी कही बिलंब अब नैकु न लावहु ।
ब्रज परिकर्मा करहु देह कौ पाप नसावहु ॥

ओह ! इस समयकी अनुभूति उनके वेदज्ञानके आधारपर निर्मित किसी भी शब्दसे तो व्यक्त होने लगी रही । फिर तटस्थ कोई कहे तो क्या कहे ? सचमुच कुछ ऐसा-सा हुआ, मानो पितामहके मन-प्राण विरल हो गये वहाँ, उस वृन्दाकाननके आकाशमें, उन श्रीकृष्णचन्द्रके सुधारसपूरके समान कतिपय शब्दोंके तरङ्गोंमें । मन-प्राणकी छायामात्र अवशिष्ट रही स्रष्टाके ऊँचे कलेवरमें, जिन्हें लेकर वे सत्यलोककी ओर चल पड़े—

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः ।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । १५)

बार बार परिकर्मा दै कै । सुंदर बदन बिलोकन कै कै ।
चल्यौ नाथ कौ माथनवाइ । अधिकारी पै रह्यौ न जाइ ॥

× × ×

एहि बिधि बिधि अस्तुति बहु करेऊ ।
तीनि प्रदच्छिन करि पग परेऊ ।
प्रभु स्वरूप निज हिय मँह राखी ।
भवन गयो बहु बिनती भाखी ।

इतना ही नहीं, ब्रजराजकुमारकी अपरिसीम कृपाका एक निदर्शन पितामहको और भी प्राप्त हुआ—

जिसे वे उनके समक्ष उपस्थित रहते समय जान नहीं पाये, देख नहीं सके। कैसे, कब हुआ, इसकी मीमांसा तो सम्भव नहीं हुई। किंतु जब जगद्विधाता ब्रजराज-कुमारके चरणप्रान्तसे चलकर, वृन्दारण्यकी, ब्रजपुरकी प्रदक्षिणाकर स्वधाम—सत्यलोकके पथमें अग्रसर हो रहे थे, उस समय उन्हें दीखा—वृन्दावनविहारी नील-सुन्दरने अपने वक्षःस्थलको सुशोभित करनेवाली वनमाला उनके उरपर झुला दी है—

करि अस्तुति ब्रह्मा चले हरि दीन्हौ उर हार ।

इस वनमालाके दर्शनसे स्रष्टाकी क्या दशा हुई, इसे कौन बतावे ? इसे वे ही जानते हैं और जानते हैं अन्तर्यामी । शरीरमें अवशिष्ट वह चेतनाकी छाया भी मानो पुनः लौट आयी ब्रजपुरकी रजकणिकामें ही समा जानेके लिये। किंतु सृजन-व्यवहारका निर्वाह भी तो अनिवार्य है। महाकल्पके मध्यमें अनादिकालसे आजतक किसी भी ब्रह्माका परिवर्तन हुआ जो नहीं। इसीलिये ब्रजराजनन्दनकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने स्रष्टामें समयोचित धैर्यका विकास किया। वे प्रकृतिस्थ कर दिये गये। अवश्य ही अभी भी उनका अणु-अणु पुकारता जा रहा है—

धनि बछरा धनि बाल जिनहिं तैं दरसन पायौ ।

उर मेरौ भयो धन्य कृष्ण माला पहिरायौ ॥

धनि जसुमति जिन्ह बस किये अबिनासी अवतारि ।

धनि गोपी जिनकैं सदन, माखन खात मुरारि ॥

धनि गोपी धनि ग्वाल, धन्य ये ब्रजके बासी ।

धन्य जसोदा-नन्द भक्ति-बस किय अबिनासी ॥

जोगी जन अवराधि फिरत जिहिं ध्यान लगाये ।

ते ब्रजवासिनि संग फिरत अति प्रेम बढ़ाये ॥

इधर श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने अनन्त ऐश्वर्यके आवरणको वहीं, पूर्वकी भाँति, बाल्यावेश-रससिन्धुकी ऊर्मियोंमें ही डुबाकर उन्मुक्त विहार करने लग जाते हैं, उन लहरोंमें ही अवगाहन करने लगते हैं। बङ्किम नयनसरोजोंमें गोवत्सोंकी प्रतीक्षा झाँकने लगती है।

एक वर्ष पूर्व जैसे उस दिन गोवत्स-अन्वेषणके प्रयाससे उनके सुन्दर भाल एवं सुचिक्कण कपोलोंपर प्रस्वेद-विन्दुके दर्शन होने लगे थे, ठीक वैसी ही शोभासे श्रीकृष्णचन्द्रका मुखचन्द्र रञ्जित हो उठा। किंतु अब तो पट-परिवर्तन हो चुका था, दूसरे दृश्यकी अवतारणा अपेक्षित है। अतएव अविस्मय वे सर्वथा सामनेके ही तृणसंवलिप्त सुविमल भूभागकी ओर देखने लगते हैं और तुरंत उन्हें दीख जाता है—‘अहा ! यह रही गोवत्सराशि ! नवतृणाङ्कुरोंका आस्वादन ले-लेकर ये मेरे वत्स-समूह परमोल्लासमें भरे कितने हर्षसे सञ्चरण कर रहे हैं !’—

भुवि सुविमलायां नवतृणाङ्कुराचामोदारमोदा
रभसेन चरन्ती पूर्ववत्सा वत्सावलिरथ रथचरण-
पाणिना ददशे । (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पितामहके द्वारा स्थानान्तरित किये हुए, किसी निभृत गिरिगह्वरमें स्थापित वे गोवत्स तुरंत वहाँ कैसे आ गये—इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि एक ओर पितामह रङ्गमञ्चसे अदृश्य होने चले, तथा दूसरी ओर ब्रजेन्द्रनन्दन श्री-कृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाने उन अनन्त गोशावकोंको उस मृदुल तृणमयी भूमिपर उपस्थित कर दिया, उनपरसे अपनी छाया अपसारित कर ली और वह वत्ससमूह पहलेके समान ही—सर्वथा एक वर्ष पूर्वकी, उस क्षणकी मुद्रा एवं स्वभावमें अवस्थित होकर ही—वहाँ घूमने लग गया। इतना ही नहीं, वे असंख्य गोपशिशु भी वहीं तरणितनयाके पुलिनपर उसी प्रकार विराजित कर दिये गये। भावसमाधिसे जागे हुए उन शिशुओंके नेत्रोंमें भी वैसे ही उनके कन्हैया भैया भर आये, सर्वथा वैसे ही वे देखने लग गये—‘अरे, वह देखो, वहाँ है कन्नु, उस तमाल-श्रेणीके अन्तरालमें !’ साथ ही पुलिनका सूक्ष्मतम अंशतक पूर्ववत् साज-शृङ्गारसे सुसज्जित हो उठा। वे शृंग, वेणु, वेत्र, छींके, वे कमलपत्र, कमलदल

आदिसे निर्मित भोजनपात्र, और तो क्या, विविध फलोंसे निकाले हुए, दूर निक्षिप्त हुए छिलकेतक—सभी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों यथास्थान व्यक्त हो गयीं ।

अब एक बार वहाँका समस्त वनप्रान्तर मुखरित हो उठता है श्रीकृष्णचन्द्रके सुमधुर वंशीरवसे । तृण चरते हुए उन असंख्य गोवत्सोंके कर्णपुटोंमें भी यह झङ्कृति जा पहुँचती है । वास्तवमें इस समय वंशी बजी ही है उनके उद्देश्यसे, उनका आह्वान करनेके लिये, उनको एकत्र कर लेनेके लिये । अपने चिरपालकके सकेतोंसे वे सर्वथा परिचित भी हैं । इसीलिये क्षण-भरका भी विलम्ब नहीं होता । ओह ! अर्द्धचर्वित तृणाङ्कुर मुखसे फेंक-फेंककर वे सब-के-सब श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आकर उन्हें वेष्टित कर लेते हैं । और तब ब्रजेन्द्रनन्दन भी उनको लेकर—जहाँ एक वर्ष पूर्व वे अपने सखा गोपशिशुओंके साथ वन-भोजनके परमानन्दमें विभोर हो रहे थे—उस यमुनापुलिनपर ही चले आते हैं—

ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान् ।

वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम् ॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।४२)

कालमानसे एक वर्षकी अवधि समाप्त हो चुकी है, इतने समयके पश्चात् वे गोपशिशु अपने जीवनसर्वस्व प्राणाधार श्रीकृष्णचन्द्रसे मिल रहे हैं । किंतु उन्हें तो यही अनुभूति है कि आधा क्षण बीतते-न-बीतते उनके कन्हैया भैया गोवत्सोंको ढूँढ़कर साथ लिये वहाँ उनके समीप आ पहुँचे हैं । वर्षव्यापी श्रीकृष्णवियोगकी गन्ध-तक उन्हें नहीं मिली; क्योंकि योगमायाशक्तिके अमित प्रभावसे उनके ज्ञानका वह अंश आवृत हो चुका था । ऐसी कल्पना उदय होनेतकके द्वार रुद्ध कर दिये गये थे । कालजनित अवश्यम्भावी परिणामपर भी योगमायाने अपनी तूळिका फेर दी थी । बालकोंकी भोजन-सामग्री, मोदक, शाक, व्यञ्जन आदि भी पर्युसित न हो सके, सर्वथा अविकृत ज्यों-के-त्यों वे सब-के-सब हैं । पुष्प-

पल्लवरचित भोजनपात्रोंकी चमक-दमक भी वैसी ही है, यहाँतक कि उनके मुखके अर्द्धचर्वित ग्रासका स्वर भी वैसा ही बना है । कोई चिह्न नहीं जिसके आचार-पर वे इस वियोगका आभास पा ले सकें । फिर भी इसमें विस्मयके लिये कोई स्थान नहीं । प्राकृत मन भले ही श्रीकृष्णचन्द्रकी योगमायाके अनन्त अघटनघटन-सामर्थ्यका अनुसन्धान पानेमें कुण्ठित हो जाय, उस चिन्मय वैभवके कणमात्रको भी छू लेनेमें सदा असमर्थ बना रहे; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रकी दुरत्यय गुणमयी माया-शक्तिके प्रभावसे तो वह चिरपरिचित है ही । ओह ! उससे मोहित हुए जीव यहाँ क्या-क्या नहीं भूल जाते ! जगतके समस्त जीवोंकी कैसी दशा है ! अनादि बहिर्मुखताके कारण इसी मायासे वे सब-के-सब मोहित हो रहे हैं, मोहित होकर अपने आत्मस्वरूपको ही भूले हुए हैं तथा इसी आत्मविस्मृतिका यह परिणाम है कि देहको 'मैं' एवं पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव, विषय-सम्पद-को ही 'मेरा' अनुभव कर वे अशेष भवयन्त्रणाकी पीड़ा निरन्तर सह रहे हैं ! अनन्त शास्त्र अपने आलोकका दान कर रहे हैं जीवोंकी अनादि अज्ञान-रात्रिका तिमिर हर लेनेके लिये । अगणित आचार्य संत-महन्त द्वारपर आते हैं अज्ञाननिद्रासे जगाकर उसे प्रबुद्ध कर देनेके लिये । पर जीवकी मोहनिशा समाप्त नहीं होती, वह जागता नहीं । आँखें खोलकर वह देखता नहीं, महाप्रबोधको सुनकर भी उसे अपने स्वरूपकी अनुभूति नहीं होती, इतना समझानेपर भी वह निरन्तर अपने आपको भूले ही रहता है । ऐसा दुरन्त प्रभाव है श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बहिरङ्गा मायाशक्तिका ही । फिर उनकी योगमायाके विलासका—उनकी अन्तरङ्गा शक्ति-की महामोहनताका रूप कितना अद्भुत है, हो सकता है, यह कौन कह सकता है ? जो हो, ब्रजेन्द्रनन्दनकी योगमायाके महाप्रभावसे ही गोपशिशुओंको इस श्रीकृष्ण-

विच्छेदका अनुभव ही नहीं हुआ तथा एक वर्षकी अवधि उन्हें क्षणार्धमात्र प्रतीत हुई—

एकस्मिन्नपि यातेऽन्धे प्राणेशं चान्तराऽऽत्मनः ।

कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः ॥

किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।

यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतत्मकम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४३-४४)

बीचों जदपि वर्ष इक काल, बिछुरे सुंदर मोहनलाल । तदपि अर्द्ध छिन मानत भये, अद्भुत प्रभुकी माया छये ॥ कवन कवन माया नहिं भूले, जगत-हिंडोरे बड़े झूले । ये कछु माया करि नहिं मोहे, प्रभुकी इच्छा करि अतिसोहे ॥

किंतु उनके अनुभवका वह आधा क्षण ही उनके समस्त आनन्दोच्छ्वासको प्रशमित कर देनेके लिये पर्याप्त था । भोजन करते-करते बीचमें ही उनके प्राणा-त्म कन्नू भैयाका उन्हें छोड़कर चला जाना साधारण घटना नहीं है । यद्यपि निर्निमेष नयनोंसे वे मानो सतत देख-से भी रहे थे अपने कन्हैया भैयाको ही, पर पुलिन-भोजनके उल्लासका स्रोत तो सर्वथा रुद्ध हो चुका था । इसीलिये अब इस समय जैसे श्रीकृष्णचन्द्र उनके समीप आते हैं कि वस, प्रत्येक शिशुकी धमनीमें तड़ित-लहरी-सी दौड़ जाती है । ओह ! उनके प्राणोंकी वह उत्कण्ठा, नीलसुन्दरके स्वागतकी प्रेमिल त्वरा, उनके रोम-रोमसे प्रसरित आनन्दकी वह कल्लोलिनी— श्रीकृष्णचन्द्र तो बहने-से लग जाते हैं इसी धारामें ! एक साथ समस्त शिशु अपने-अपने आसनसे उठ पड़ते हैं । किसीने नीलसुन्दरके करपल्लवको अपने हाथमें लिया । एकने उनकी ग्रीवामें अपनी भुजाएँ डाल दीं; उसके गुम करतल विभूषित हैं अन्नप्राससे, मुट्टियाँ बँधी हैं और वह झूल रहा है अपने कन्हैया भैयाके कण्ठदेशमें ! कुछ शिशुओंने पीत दुकूलके भिन्न-भिन्न अंश धारण कर लिये । कैसे हुआ, इसका समाधान बहिर्मुख मन तो पानेसे रहा, पर सचमुच हुआ यह कि क्षणमात्र पूर्ण होनेसे पूर्व ही वे असंख्य शिशु अपने प्राणसखाके

श्रीअङ्गोसे जा चिपटे; सवने स्पर्श पा लिया, प्राणोंकी प्रथम ललक पूरी कर ली । श्रीकृष्णचन्द्र भी उनके मध्य-में विराजित रहकर, स्वयं भी इस अप्रतिम सख्य-रस-सुधाका अविराम पान करते हुए झूम रहे हैं; तुमुल आनन्दकोलाहलके नादसे निनादित होकर वहाँकी वनस्थली भी झूम रही है । चर, अचर, स्थावर, जङ्गम सभी स्पन्दित हो रहे हैं । अस्तु, मिलनसुखका आवेग शान्त होनेसे पूर्व ही कतिपय वयस्क शिशु अतिशय उतावले होकर बोल उठे—‘अरे भैया कन्नू ! तुम भले आये । आशा नहीं थी, पर तुम तो इतनी शीघ्रतासे वस्त्रोंको लेकर लौट आये कि क्या कहें !’ इतनेमें तोक अतिशय सरस स्वरमें कहने लगता है—‘इसीलिये तो मैंने स्त्रीकृति दी थी, मैं तो जानता ही था कि कन्हैया भैयाने वंशी बजायी और वस, तरुश्रेणीकी ओठमें बिखरे हुए, दूर चले गये गोवत्स दौड़कर बाहर आ जायँगे, मिल जायँगे और तब हमलोग कन्हैया भैयाके साथ भोजन करेंगे ।’ फिर तो अपने प्राणोंका समस्त प्यार लेकर सभी शिशु एक स्वरमें पुकार उठते हैं—‘भैया रे ! आ जा, देख ले, तेरे बिना एक भी ग्रास हम अपने मुखमें न रख सके । और यह ले, आह ! अबतक तूने भी एक कौर नहीं खा पाया, हाथका ग्रास हाथमें लिये ही तू लौट आया । नहीं-नहीं, अबतनिक भी विलम्ब मत कर, चल, अब सुखपूर्वक भोजन तो कर ले ।’

ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ।

नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४५)

मोहे से तब कहत हैं बाल, बेगि ही आये मोहनलाल । एकौ कवल न पावन पायौ, भैया तो बिनु जाइ न खायौ ॥ तैं हूँ तो हम बिन नहिं खायौ, हाथ कवल वैसे ही आयौ । आवहु बैठहु भोजन करैं, इत ये बच्छ कच्छ मैं चरैं ॥

शिशुओंकी इस उक्तिके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोपर एक समुज्ज्वल हास भर जाता है—

जब ऐसैं बोले ब्रजबाल, बिहँसन लागे नंदके लाल ।

भुवनभास्कर पश्चिम गगनमें ढल चुके हैं। श्रीकृष्ण-चन्द्र कलिन्दनन्दिनीके उस पुलिनपर, अपने पूर्वके आसनपर ही सखाओंसे आवृत होकर उनके साथ भोजन करते हैं ! परमानन्दमें भरकर शिशु अपने इच्छित भोजनद्रव्योंको पूर्वकी भाँति ही कन्हैया भैयाके हाथपर, मुखमें रखते जा रहे हैं और बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र, उनकी प्रीतिके उपहारका रस लेते हुए, सराहना करते हुए हँस-हँसकर भोजन कर रहे हैं; साथ ही अपनी रुचिकी खाद्य वस्तु अपने सखाओंके होठोंपर रखकर सुखसे विभोर होते जा रहे हैं—

ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः ।

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४६)

मंडल करि बैठे पुनि आछे,

जैसें बान बन्धौ हो पाछे ।

अति रुचि सौं मिलि भोजन करयौ,

इहि बिधि वा बिधि कौ मद हरयौ ॥

उपर सत्यलोकमें अभी भी स्रष्टाकी विचित्र दशा है। वे ब्रह्मपदके आसनपर आसीन अवस्थ हैं किंतु उनके सामनेसे इस समय 'तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः'—इन लोकोंका व्यवधान अन्तर्हित हो चुका है और वे व्रजराजकुमारके पुलिन-भोजनके प्रत्यक्ष दर्शन पा रहे हैं। पुनः उनका धैर्य शिथिल हो गया है एवं प्राणोंमें एक रसमय हाहाकारकी लहर-सी उठ रही है—‘आह ! कदाचित् मेरा कौएका शरीर होता ! फिर तो मेरे सौभाग्यकी सीमा नहीं रहती ! प्रभु व्रजराजकुमारके अधरामृतसे सिक्त दधिमिश्रित इन बिखरे हुए अन्नकणोंको अपनी चोंचसे चयनकर, इस सुविमल दिव्याति-दिव्य सीथ प्रसादसे उदरपूर्ति करके मैं कृतार्थ हो जाता।’ सीथ जु परै दही-रस भरे, सदन जाइ बिधि लालच खरे। काक न भयौ फिरयौ इतरातौ, चुनि चुनि सुंदर सीथन खारौ ॥

कुरुक्षेत्रमें अर्जुनका मोह

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्धोपाध्याय, एम्० ए०)

कुरुक्षेत्रका समराङ्गण संसारक्षेत्रकी एक सुस्पष्टप्रतिच्छवि है। देशमें, कालमें सीमाहीन असंख्य प्रकारके जीव-जडसे समन्वित यह विशाल संसारक्षेत्र वस्तुतः ही एक युद्धक्षेत्र है। प्रत्येक जीवको युद्ध करके ही वचना होता है, युद्ध करके ही जीवनका विकास-साधन करना पड़ता है। युद्धके द्वारा ही जीवसमूहमें विचित्र शक्तिकी अभिव्यक्ति होती रहती है। संग्रामक्षेत्रमें विजयलभ और आत्मप्रतिष्ठाकी प्रचेष्टासे ही उनमें विचार-शक्तिका विकास होता है, नाना-प्रकारके गुणोंका भी अभ्युदय होता है। जीवसमूह जन्म ग्रहण करके ही नानाविध प्रतिकूल शक्तिपुञ्जोंके साथ जीवन-संग्राममें प्रवृत्त हो जाता है। इस संग्राममें विजयी होकर संसारमें आत्मप्रतिष्ठा करनेके उद्देश्यसे ही सब जीवोंको संघबद्ध होना पड़ता है। उसी सम्बन्धमें समजातीय जीवोंमें आत्मीयताका बन्धन क्रमशः दृढ़ होता है। इसी भावसे उन्नततर जीवमें परिवार, समाज और जातीयताकी सृष्टि होती है। इस संग्राममें जो अशक्त होते हैं, जिनकी जीवनीशक्ति, आत्मरक्षा और आत्मप्रतिष्ठाकी शक्ति इस संग्रामके अनुपयुक्त होती है, वे

पिसे जाते हैं, संसारक्षेत्रमें क्रमशः वे विलुप्त हो जाते हैं। सृष्टि-प्रवाहमें उनका कार्य समाप्त हो गया, और उनका अस्तित्व अनावश्यक हो गया—यह समझना होगा। यह युद्ध विश्व-संसारका अन्यतम धर्म है।

इस जीव-जगत्का विधान ही ऐसा है कि यहाँ एक दूसरेका खाद्य है। एकजातीय जीवके विनाशपर अन्यजातीय जीवका जीवन-धारण निर्भर करता है। स्थावर जीव जड़ जीवके खाद्य हैं, क्षुद्र जीव बृहत् जीवोंके खाद्य हैं, दुर्बल जीवके खाद्य हैं, क्षुद्र जीव बृहत् जीवोंके खाद्य हैं। इसी कारण प्राणी अपेक्षाकृत सबल प्राणियोंके खाद्य हैं। जीव-जगत्में विभिन्न श्रेणीके जीवोंमें अनवरत संग्राम चलता है। इस संग्रामके भीतरसे ही व्यष्टिभावमें और समष्टिभावमें जीव जगत्में क्रमविकास होता है। दुर्बलतर जीवोंको नष्ट करके प्रबलतर जीवजातिका उद्भव होता है, एवं इस प्रचक्रमें उनकी शक्ति तथा कौशल और भी वृद्धिको प्राप्त होते हैं। प्रबल पशुओंके बीच भी युद्धविग्रहका अभाव नहीं है। एक

संख्या ११]

भाग २२
विक्रि हो
अवश्य है
महः
तर्हित हो
के प्रत्यक्ष
हो गया
र-सी उ
रि होता।
प्रभु व्रज-
विकारे हुए
लक्षित-
हो जाता।
लक्ष हो
थन खातो।
जाते हैं।
और उनका
होगा। यह
एक दूसरे
अन्यजाति
जीव जङ्गल
यह दुर्बल
इसी कारण
चलता है।
भावमें जीव
नष्ट करके
हस प्रवेशमें
होते हैं। एक

बुद्धि-शक्ति-सम्पन्न मनुष्यजातिने अन्यान्य सकल जातीय प्राणियोंको बुद्धिशक्तिके प्रभावसे संग्राममें पराभूत करके अपनी अपना राजत्व प्रतिष्ठित किया है। मनुष्यके डरसे शत्रु, नख और पूँछोंवाले भीषण आकारवाले जीवोंने भी वन, जंगल, पर्वत-गुफाका आश्रय लिया है। मनुष्य अन्न-शास्त्र से सुसज्जित होकर उन छिपे स्थानोंमें भी उनपर आक्रमण करके अपनी संग्रामप्रीति और विजयवासनाको चरितार्थ करता है। फिर मानव-जगत्में भी प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक परिवार, प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति अपने-अपने जीवनकी रक्षा, प्रभाववृद्धि तथा गौरव-प्रख्यापनके निमित्त दूसरोंके साथ संग्राममें प्रवृत्त होता है। जो जाति इस संग्राममें विजय-पताका उड़ानेके लिये जितना ही अधिक उपकरणोंके उद्भावन और संग्रह करनेमें समर्थ होती है, वह जाति उतनी अधिक प्रभावशाली मानी जाती है। इस आत्मप्रतिष्ठा और पर-परामर्शके चेष्टामें कितने ज्ञान-विज्ञानका उत्कर्ष होता है, कितनी प्राकृतिक शक्ति मनुष्यके हाथों लगती है, कितने वनोंका आविष्कार होता है, कितने शिल्प-वाणिज्यका विस्तार होता है। इन सबके मूलमें जीवन-संग्राम ही तो है। इस प्रकार प्राणिसाधारणके संग्रामके अतिरिक्त मनुष्यके बुद्धि-राज्यमें अन्य अनेक प्रकारके संग्राम चलते हैं। आदर्शके सहित आदर्शका युद्ध, भावके साथ भावका संग्राम, मतके साथ मतका संग्राम इत्यादि। मानव-जातिकी जीवनधाराके ऊपर इन सब आदर्श, भाव और मतोंका संघर्ष और संग्राम विशेष परिमाणमें प्रभाव-विस्तार करता है। मानव-जगत्में एक-एक आदर्श, भावधारा और मतकी प्रतिष्ठाके लिये भी अनेक समय अनेक युद्धविग्रहकी सृष्टि होती है, बहुत बड़ा लोकक्षय होता है, अनेकों दुर्बल जातियोंका विनाश होता है। मानव-सम्यक्ताके क्रमविकासके इतिहासमें जितना संस्कृतिका उत्कर्ष साधित हुआ है, मानवकी चिन्ताधारा, भावधारा और कर्मधाराकी जितनी उन्नति हुई है, मनुष्यके अन्तरमें जितना सत्य, मङ्गल और सौन्दर्यका विकास हुआ है, मनुष्य जितना परिपूर्णताकी ओर अग्रसर हुआ है, वह प्रायः इस संग्रामके द्वारा ही हुआ है। संग्राम संसार-प्रवाहका सनातन नियम है, सृष्टिके भीतर भगवान्का अखण्ड विधान है। यह जीवजगत्के क्रमोत्कर्ष-साधनमें भगवान्का अचिन्तनीय कौशल है।

इसके अतिरिक्त इस संसारमें प्राकृतिक नियमसे कितने उत्कापात और वज्रपात, कितने भूमिकम्प और जलप्लावन,

कितने अग्निकाण्ड और ववंडर, कितनी ध्वंसलीला और विप्लव लगातार होते रहते हैं। ये सभी जगत्के नित्यके व्यापार हैं। इस जगत्में उत्पत्ति और ध्वंस, जन्म और मृत्यु, स्वास्थ्य और व्याधि, यौवन और जरा, सुख और दुःख, मिलन और विच्छेद, प्रेम और हिंसा, दया और घृणा, सम्पद् और विपद्, लाभ और हानि, जय और पराजय, एक सूत्रमें ग्रथित हैं। इस प्रकारके द्वन्द्वोंसे ही यह संसार निर्मित है। इस द्वन्द्वके साथ हमारा नित्य परिचय है। इस द्वन्द्व और संग्रामके द्वारा ही विश्वसृष्टिमें भगवान्का निगूढ़ उद्देश्य पूर्ण होता है।

इस द्वन्द्वमें हमलोग एकको चाहते हैं, दूसरेको नहीं चाहते। हमलोग जय चाहते हैं पराजय नहीं चाहते; सुख चाहते हैं दुःख नहीं चाहते; लाभ चाहते हैं हानि नहीं; मिलन चाहते हैं विच्छेद नहीं; उत्पत्ति चाहते हैं विनाश नहीं। किंतु निरपेक्षभावसे विचार करनेपर सहज ही समझमें आ सकता है कि एक पक्षकी जयमें दूसरे पक्षकी पराजय निहित है; एक पक्षके लाभवान् होनेमें दूसरे पक्षकी हानि अवश्यम्भावी है; नूतनकी उत्पत्ति होते रहनेपर पुरातनका ध्वंस अनिवार्य है, विच्छेदकी ज्वालाके विना मिलनका आनन्दलाभ असम्भव है। इसमेंसे एकको छोड़कर दूसरेका सम्भोग सम्भव नहीं है। तथापि एकका त्याग और दूसरेकी प्राप्तिके लिये प्राणियोंकी आकाङ्क्षा भी स्वभावसिद्ध है, एवं इस आकाङ्क्षा-पूर्तिकी चेष्टामें संग्राम भी अनिवार्य है।

यह द्वन्द्व और संग्राम संसारकी चिरन्तन नीति है, यह लगातार देखकर भी, लगातार इस संग्राममें लिप्त रहकर भी हमलोग इसका गम्भीर भावसे अनुभव नहीं करते, व्यापक भावसे इसके तात्पर्यकी पर्यालोचना नहीं करते। किंतु इस संग्रामकी विकट नग्नमूर्ति जब हमारे स्वार्थके क्षेत्रमें भीषण आकारमें प्रकट हो जाती है, इसका अनिच्छित परिणाम जब हमलोगोंको या हमारे प्रिय स्वजनोंको ग्रास करने जानेके लिये मुँह बाये दीखता है, तब हमलोगोंका हृदय भयसे, वेदनासे, दुःखसे आकुल हो उठता है। तब यह संग्राम हमारे निकट मानो एक नये आकस्मिक व्यापारके रूपमें जान पड़ता है, हमारी विचारशक्ति मोहग्रस्त हो जाती है। कर्तव्यबुद्धि स्थान-च्युत हो जाती है, धैर्य और स्थैर्य नष्ट हो जाता है, हमलोग अपनेको भूल जाते हैं। यह हमारी क्लीबताका परिचायक है।

कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये तैयार दो आत्मीय पक्षोंके बीचमें स्थित महावीर अर्जुनकी यही अवस्था हुई। अर्जुन युद्धविद्या-

में पारदर्शी थे। एवं सदासे युद्ध करके ही उन्होंने असाधारण 'महावीर' नामसे ख्याति प्राप्त की थी। उनके इस अनन्य-साधारण गौरवके साथ कितनी वेदनाकी कहानी संलग्न थी, इसपर उन्होंने इतने दिनोंतक उस तरह गम्भीर भावसे विचार नहीं किया था। उनके असामान्य कीर्ति-मन्दिरकी नींवमें कितने कुलोंका ध्वंस और जातियोंका विनाश, कितने नर-नारियोंके आत्मीय स्वजन-विरहका कष्ट क्रन्दन, कितनी रमणियोंका पतिशोक और पुत्रशोकका कठोर आर्तनाद, कितने पिण्डलोप और वर्णसंकरोंकी उत्पत्ति, कितना पुरुषपरम्परागत सामाजिक और साम्प्रदायिक साधनप्रवाहका विलोप निहित है, विजयोन्मत्त अर्जुनके प्राणोंमें इतने दिनोंतक वह वैसी किसी गम्भीर वेदनाकी सृष्टि नहीं कर सका था। उस ओर लक्ष्य करनेका उन्हें अवसर ही कहाँ था? इन्होंने विजयी, वीर, लाभवान् और कीर्तिमान् पुरुषकी दृष्टिसे ही उन सब व्यापारोंका पर्यवेक्षण किया था। जो उनकी विजयसे पराजित थे, उनके वीरत्वसे पिसे हुए थे, उनके लाभसे क्षतिग्रस्त थे और उनकी कीर्तिसे ध्वंसप्राप्त थे, उन लोगोंकी दृष्टिसे उन व्यापारोंको उन्होंने नहीं देखा था। उन लोगोंकी मर्मभेदी यातनाने उनके हृदयमें कभी वैसे विक्षोभका संचार नहीं किया था।

आज संग्रामोद्यत उभय पक्षके आत्मीय-स्वजनोंका मुख देखकर युद्धके भीषण परिणामके सम्बन्धमें वे सजग हो उठे। आज उन्होंने गम्भीर भावसे अनुभव किया कि चाहे जिस किसी पक्षकी ही जीत क्यों न हो, दूसरा पक्ष पराजित और निहत होगा, एवं उस विजित पक्षमें भी उनके निज जन ही थे। इस युद्धके परिणाममें जो लोकक्षय, कुलनाश, कुलधर्म और जातिधर्मका विलोप, वर्णसंकरकी उत्पत्ति और पितृपुरुषका पिण्डलोप होगा, उसकी आशङ्कासे ही वे व्याकुल हो उठे। उनका सदाका आचरित स्वधर्म उन्हें आज नितान्त अधर्मके रूपमें बोध होने लगा। वे धर्म-सम्मूढचेता और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर विषम यन्त्रणाका अनुभव करने लगे।

जिस संग्रामके अवलम्बनसे जीवनधारा प्रवाहित होती है उसी संग्रामकी यह कठोरता और भीषणता जब मनुष्यके चित्तदर्पणपर ऐसे स्पष्टरूपसे प्रतिभात होने लगती है, तब संग्राममें प्रवृत्त होनेके लिये उसका उत्साह नहीं रहता, वह इस कठोर संग्रामक्षेत्रको छोड़कर संन्यास लेनेको इच्छुक हो जाता है, अथवा संग्रामक्षेत्रमें ही निश्चेष्ट होकर अपनी

आहुति देनेको प्रस्तुत हो जाता है। अर्जुनकी भी वही दशा हुई। किंतु संग्रामक्षेत्रसे भागनेको स्थान ही कहाँ? समस्त संसारमें ही तो यह घोर संग्राम चल रहा है। विभिन्न स्थानोंमें, विभिन्न अवस्थाओंमें, विभिन्न प्रकारकी परिस्थितियों में संग्रामका केवल रूप बदलता है। केवल देहकी रक्षा करनेके लिये भी अनेक विरुद्ध शक्तियोंके साथ युद्ध करना पड़ता है। एक विशाल देशकी शान्तिशृङ्खलाकी रक्षाके लिये जो लोग युद्ध करते हैं उनके युद्धकी अपेक्षा यह युद्ध आकार-प्रकारमें पृथक् होता है। परंतु हैं दोनों ही युद्ध। जो व्यक्ति जिस देशकालमें, जैसी शक्ति-सामर्थ्य लेकर जिस अवस्थामें पड़ गया है, उसको उसीके अनुरूप युद्ध करना होगा। इच्छापूर्वक और विचारपूर्वक न करनेपर प्रकृति का भगवद्विधान बलात् उसको युद्धमें नियोजित करेगा। मृत्यु उपस्थित होनेपर भी जीवको स्वभाववश मृत्युके साथ संग्राम करके वचनेकी चेष्टा करनी पड़ती है, एवं अन्तमें मृत्युके हार स्वीकार करके मरना पड़ता है। संसारमें रहकर प्रकृति कोई भी सम्पूर्ण रूपसे अतिक्रम या अग्राह्य नहीं कर सकता।

संसारक्षेत्रमें युद्धकी भीषणता और अनिच्छाका तीव्र भावसे अनुभव करनेपर भी, सम्पूर्ण रूपसे युद्धसे विरत होनेका उपाय नहीं है। जबतक जीवित रहना है, तबतक प्रकृति बाध्य होकर भगवान्‌के सृष्टिविधानसे युद्ध करना ही होगा—चाहे सविचार हो अथवा निर्विचार, स्वेच्छासे हो अथवा अनिच्छासे, सतेजभावसे हो वा निस्तेजभावसे। ऐसी अवस्थामें जिस प्रकारके युद्धमें जिस भावसे अपनेको नियुक्त करनेपर मनुष्योचित आदर्शका अनुवर्तन होता हो, मानव जीवनके चरम लक्ष्यकी सिद्धिमें अनुकूलता दीखती हो, समाजमें शान्ति-शृङ्खला प्रतिष्ठित हो और उन्नततर आदर्शका प्रभाव बढ़ता हो एवं मानवजाति आध्यात्मिक सत्यके उच्चतर सोपानपर आरोहण करती हो तो ऐसे युद्धमें ऐसे भावसे शक्तिके अनुरूप अपनेको लगाना ही विधेय है। युद्धते भागना मनुष्यके वशकी बात नहीं है। किंतु आदर्शको उन्नत करना एवं तदनुसार युद्धका सुनियन्त्रण करना मनुष्यके वशकी बात है।

किंतु मनुष्यका चित्त जितना विशुद्ध होता है, उर्ध्व जितनी ही उत्कर्षताको प्राप्त करती है, वासना-कामनाका बल जितना ही घटने लगता है, हृदयमें प्रेम-मैत्री-करणका जितना ही विकास होता है और देहेन्द्रिय-मनकी चञ्चलता जितनी मिट जाती है, युद्धके प्रति स्वाभाविक ही उतना ही

वैराग्य उत्पन्न होता है, हिंसादि कार्योंमें अरुचि पैदा होती है, सभी कर्म वासनामूलक होनेके कारण बन्धनजनक बोध होते हैं, संसारके कोलाहलसे भागकर शान्ति लाभ करनेके लिये प्राण व्याकुल हो उठते हैं। संसारके चारों ओर ही जब द्वन्द्व, संघर्ष और संग्राम देख पड़ता है, तब समस्त संसार ही दुःखमय रूपसे बोध होता है एवं संसारसे छुटकारा पाना ही परम पुरुषार्थ है—यह ज्ञान होता है।

तब मानवके अन्तःकरण-क्षेत्रमें एक और नये संग्रामका आयोजन होता है। एक ओर संसार अपने स्वाभाविक नियमके अनुसार युद्धके लिये आह्वान करता रहता है, और दूसरी ओर युद्धके प्रति वैराग्य उसके त्यागके लिये, युद्ध-क्षेत्रसे भागनेके लिये उसे उत्साह दिलाता रहता है। तब अन्तःकरणमें कर्म-प्रवृत्तिके साथ संन्यास-प्रवृत्तिका, संग्राम-प्रवृत्तिके साथ संग्राम-त्याग-प्रवृत्तिका एक तुमुल संग्राम आरम्भ हो जाता है। युद्ध त्याग करनेका भी उपाय नहीं दीख पड़ता और युद्धके नानाविध दोषोंके प्रत्यक्ष सामने दीखनेके कारण उसमें रुचि भी नहीं होती। उस समय एक कृत्रिम प्रद किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था उपस्थित हो जाती है। संसारक्षेत्रमें विचारशील मनुष्यमात्रको ही इस समस्यामें पड़ना पड़ता है। सभी युगोंके सभी श्रेणियोंके विचारशील मनुष्योंकी यह समस्या—यह भीतरी संग्राम कुरुक्षेत्र-समराङ्गणमें स्थित मनुष्यप्रवर अर्जुनके चित्तमें उत्कट आकारमें उत्पन्न हो गया। इस समस्याके समाधानके लिये अर्जुन अपने सारथि श्रीकृष्णके शरणागत हुए। इस संसार-समराङ्गणके जो स्रष्टा हैं, जो जीवके स्वभावमें विचित्र भाव, विचित्र प्रवृत्ति, विचित्र रुचि एवं विचित्र अभाव और प्रयोजन उत्पन्न करके समरक्षेत्रके लिये प्रेरणा करते हैं, एवं स्वयं छिपे हुए रहकर उनके विचित्र कर्म और भोगोंको नियन्त्रित करते हैं; जो सभी कर्म-प्रवृत्तियों और भोग-प्रवृत्तियोंके प्रेरक और नियन्त्रावरूपमें प्रत्येक जीवके अन्तरमें विराजमान रहकर भी उनके सामने अपने अस्तित्वतकको छिपाये रखते हैं—विश्वनाथ्यके वही अद्वितीय अभिनेता ही अर्जुनके सारथिरूपमें विद्यमान हैं। सभी मनुष्योंके देह-रथपर वे ही सारथिरूपमें नित्य विराजित हैं। वे सभीके नित्य सुहृद्, नित्य सखा, नित्य चालक हैं; किंतु जितने परिमाणमें मनुष्य अपनेको ही कर्ता और भोक्ता, स्वैच्छाविहारी तथा अपना भाग्यविधाता मानकर अभिमानमें प्रमत्त रहता है, उतने ही परिमाणमें उसके सामने उन

अन्तर्यामी विश्वनाथ्यकार सखाका स्वरूप छिपा रहता है। यद्यपि उनकी सत्ताके सम्बन्धमें पता लगता है, पर उस पतेके लगनेपर कभी भी उन्हें केवल अपना सहायक और इच्छा पूर्ण करनेवाला मात्र समझा जाता है, या कभी कर्म-फल देनेवाला माना जाता है, अथवा कभी उदासीन, निष्क्रिय, सर्वसम्बन्धरहितरूपमें धारणा की जाती है।

विषम संकटमें पड़नेपर जब अभिमान चूर्ण हो जाता है, प्रवृत्ति संकुचित हो जाती है, चञ्चलता दूर हो जाती है, बुद्धि अपनी शक्तिमें विश्वास खोकर प्रकाश पानेके लिये तड़प उठती है, तब भगवान् कृपा करके अपनेको प्रकट करते हैं, संसार-संग्रामका तात्पर्य उसे बतलाते हैं और उसको परम कल्याणका मार्ग दिखाते हैं। अर्जुनके प्राणोंमें भी वही विषम संकट उपस्थित हो गया था। वे दूसरे साधारण मनुष्योंकी तरह भगवान्की दैवीमायासे विमोहित होकर राज्य, ऐश्वर्य, कीर्ति, सुख एवं ऐहिक और पारलौकिक धर्मका अनुसरण करते हुए अभिमानके साथ अपनी विद्या, बुद्धि और शक्तिको जिस दिशामें प्रयोग कर रहे थे, कुरुक्षेत्रमें उभयपक्षीय आत्मीयवर्गको देखकर और उनके परिणामको सोचकर, उस दिशाका स्वरूप मानो नये आकारमें उनके सामने आ गया, पर यही क्या उनका स्वधर्म था? इसी स्वधर्मका अनुष्ठान क्या वे जीवनभर करते रहे थे? क्या इस विभीषिकामय परिणाममें उनके वीर-धर्मका पर्यवसान होना था? यह तो घोरतम अधर्म है! यह तो मनुष्यत्वहीनता है! यह तो पितृ-पितामहादि पुरुषोंतकको नरकमें डुबोनेकी व्यवस्था है! उनकी अन्तरात्मा 'त्राहि' 'त्राहि' कर उठी। उनकी बुद्धि किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी और वे अपने नित्यसुहृद्, स्थितप्रज्ञ सारथि श्रीकृष्णके शरणागत हुए।

इस धर्मसंकटमें पड़े हुए पुरुषप्रवरके सामने भगवान्ने अपनेको प्रकट किया—उनके सखा और सारथिमें विश्व-नियन्ताने प्रकट होकर उनकी सभी समस्याओंका समाधान कर दिया।

दूसरे तत्त्वज्ञानविहीन मनुष्योंकी तरह अर्जुनके विचार-विभ्रमके मूलमें यह जो मिथ्याज्ञान विद्यमान था कि अपने सभी कर्मोंके कर्ता वे स्वयं हैं, किसी कर्ममें प्रवृत्त होना या न होना, इसमें वे स्वतन्त्र हैं और उनकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति और विचारशक्ति उनके सारे कर्मोंकी नियामक है, वे जितने दिन संग्राममें आत्मशक्तिका प्रयोग करके अपने

वंशकी, जातिकी, देशकी, स्वीय स्नेहास्पद, प्रेमास्पद और भक्तिभाजनोंकी, एवं उनके साथ-साथ अपनी भोग-सम्पत्ति, यश, मान और प्रभाव-प्रतिपत्तिकी वृद्धि करते थे, उतने दिनोंतक उन्होंने स्वाधीनभावसे, स्वेच्छासे, विचारपूर्वक अभिमानके साथ इस युद्ध-विग्रहको अपना धर्मसङ्गत कर्तव्य समझकर ही स्वीकार किया था, एवं दूसरे अनेक वंश-जाति और देशकी परस्पर हानि, कीर्तिनाश और ध्वंसका उन्होंने खयाल नहीं किया था। आज जब युद्धका विप्रमय परिणाम अपने ही वंश-जाति और देशके ऊपर पड़नेको हुआ, तब वे इसको अधर्म मानकर भीत और विचलित हो पड़े, उनका कर्तव्य-बोध और पूर्वसंकल्प टह चला !

तो क्या वे इतने दिनोंतक अधर्म ही कर रहे थे ? शास्त्र-समूह जिसको क्षत्रियोंका स्वधर्म कहकर निर्देश करते हैं, वह क्या वस्तुतः ही अधर्म है ? यदि अधर्म ही है तो उस अधर्मको अधर्मरूपमें जानते ही उसका त्याग करना उचित है। अर्जुनने जब मुनिपुण विचारके द्वारा समझ लिया कि यह युद्धकार्य घोरतर अधर्म है, तब बिना विलम्ब ही इसका परित्याग करके उनके लिये संन्यास-व्रतका अवलम्बन करना ही सङ्गत था। अथवा अपने पापोंके प्रायश्चित्तस्वरूप निश्चेष्ट-भावसे शत्रुओंके शस्त्रोंका आघात स्वीकार करके अपने प्राणोंका त्याग करना उचित था।

वे सोचते थे कि मैंने स्वाधीनभावसे ही युद्धव्रत ग्रहण किया था, एवं उसका परित्याग करनेमें भी मुझे पूर्ण स्वतन्त्रता है। यह संसार भगवान्का है, भगवान् ही संसारके सभी व्यापारोंके विधाता और नियन्ता हैं, सभी मनुष्य—सभी जीव उनके हाथके यन्त्रमात्र हैं, उनके संकल्पको रूप देनेके निमित्तमात्र हैं—यह तत्त्व उनके हृदय-दर्पणपर प्रतिभासित नहीं हुआ। इस संसार-स्रोतमें बहता हुआ, संसार-तरङ्गोंपर झुलता हुआ, मायामुग्ध प्रत्येक मनुष्य ही इसी प्रकारके भ्रममें पड़ा है।

इस भ्रमका निराकरण करके अर्जुनको स्वभावस्थ करनेके उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको प्रकट करके उनको समझा दिया कि इस संसारका कर्ता मनुष्य नहीं है, अपितु भगवान् हैं; संसारके व्यापारसमूह मनुष्यकी इच्छासे संघटित नहीं होते, बल्कि भगवान्के विधानसे होते हैं। संसारक्षेत्रमें सर्वत्र ही यह जो संग्राम चल रहा है, यह भगवान्का ही विधान है। जिस जीवको उन्होंने जैसी शक्ति-सामर्थ्य देकर जैसी पारिपाश्विक अवस्थामें स्थापित किया है, उसीके

अनुसार उसका कर्तव्य निरूपित होता है, उसीके अनुसार उसका स्वधर्म निर्धारित होता है और उसीके अनुसार संसार-संग्राममें आत्मनियोग करनेको वह बाध्य होता है। जिसके जीवनमें भगवान्का जो अभिप्राय वा उद्देश्य निहित रहता है, उसको उसका सम्पादन करना ही होगा। मानव-प्रकृतिमें भगवान्ने जो विचारशक्ति और इच्छाशक्ति अनुस्यूत कर रखी है, उसीसे मनुष्यको स्वाधीनताका बोध होता है। मनुष्यके लिये भगवन्निर्दिष्ट प्रकृतिके ही अङ्गीकार एवं भगवन्निर्दिष्ट क्षेत्रमें ही इस स्वाधीनता-बोधकी सार्थकताका सम्पादन सम्भव है। भगवान्के निर्धारित साधनक्षेत्रमें भागनेकी स्वाधीनता उसको नहीं है।

मनुष्य यदि अपनी विचारशक्तिका सम्यक् विकास करके इस तत्त्वज्ञानमें स्थित होकर भगवद्विहित साधनसंग्राममें भगवत्प्रदत्त शक्तिसामर्थ्यको लगाता है, कर्तृत्वभिमान और फलाभिसन्धिकी निरर्थकताको समझकर, केवलमात्र भगवत्-कर्मसम्पादन-बुद्धिसे ही अपनी प्रकृति और अवस्थाके अनुयायी कर्तव्यसाधनमें आत्मनियोग करता है तो वह उसकी स्वाधीनताका यथार्थ सद्व्यवहार है और इसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है। ऐसा होनेपर शोक-मोहका कोई कारण नहीं रहता और चित्तमें अवसाद नहीं होता।

प्रत्येक मनुष्य भगवद्विधानसे विश्वप्रकृति और अपनी प्रकृतिके द्वारा परिचालित होकर क्षेत्रानुयायी कर्ममें प्रवृत्त हो रहा है। किंतु अपनी विचारशक्तिके विकासके तारतम्य नैतिक और आध्यात्मिक जीवनके उत्कर्षापकर्षके अनुसार वह उन्हीं सब कर्मोंको उस महान् या क्षुद्र आदर्शको लक्ष्य करके सम्पादन कर सकता है। जो व्यक्ति अपने देहेन्द्रियकी वृत्ति या बाह्यसम्पत्तिकी वृद्धिको लक्ष्य करके अथवा आत्मीय स्वजन और जाति-बन्धुओंके ऐहिक भोग-सुख या प्रभाव-प्रतिपत्तिको लक्ष्य करके कर्मक्षेत्रमें अपनी शक्तिका प्रयोग करता है, उसका कर्म सुचारुरूपसे अनुष्ठित होनेपर भी उसको क्षुद्र सीमाके भीतर ही बाँध रखता है एवं उस कर्मके फल-पुण्यका फल उसको विशेषरूपसे भोगना पड़ता है। पक्षान्तर-में वही स्वभावोचित कर्म यदि वह समग्र देशके जातिके और समाजके कल्याणको लक्ष्य करके सम्पादन करता है, तो उसीके द्वारा वह दैहिक और पारिवारिक क्षुद्र सीमासे छूट जाता है, उसका नैतिक और आध्यात्मिक जीवन उन्नत स्तरपर जा पहुँचता है, उसके देह-मन-बुद्धि निर्मलतर हो जाते हैं, एवं वह परमार्थ-लाभके पथपर पर्याप्त दूर तक

[११]

अवसर हो जाता है। भगवत्सेवारूप सर्वोच्च आदर्शको लक्ष्य करके स्वधर्मका आचरण कर सकनेपर, इसी कर्मके द्वारा वह संसार-बन्धनसे मुक्तिलाभ करनेमें समर्थ होता है। तब तब सब कर्मोंके आनुपङ्गिक दोष-गुण उसको स्पर्श नहीं करते, तब—

‘हत्वापि स इमंल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ।’

—भगवदाराधना-बुद्धिसे अनुष्ठित स्वधर्मानुमोदित कर्ममें यदि बाहरी दृष्टिसे हिंसादि व्यापार भी हो, तो वे भी अहिंसा-परिणत हो जाते हैं, उस कर्मके बाहरी स्वरूपमें रुद्र-भावके ताण्डव नृत्यके रहनेपर भी, भीतर शान्तभाव और प्रेमका प्रवाह विद्यमान रहता है। संग्रामकी भीषणता तब आध्यात्मिक साधनाके माधुर्यद्वारा परिपूरित हो जाती है।

संसारमें जन्म ग्रहण करके प्रकृतिके नियमसे अनुस्यूत संग्रामसे भागनेसे छुटकारा नहीं मिलता। जो ऐसी अवस्थाओंसे घिरा है, तदनुरूप संग्राममें उसको लगना

ही होगा। इस संग्रामसे मुक्ति पानेका उपाय—भगवान्को सारथि और परिचालकरूपमें अपनेमें प्रतिष्ठित करके एवं सभी व्यापारोंके अद्वितीय कर्तारूपमें उन्हें समझकर, उनके चरणोंपर सम्यक् रूपसे आत्मसमर्पण करके, उन्हींके निर्दिष्ट संग्रामक्षेत्रमें उन्हींके दिये हुए शक्ति-सामर्थ्यसे, उन्हींकी सेवा-बुद्धिसे सुनियन्त्रित भावमें प्रयोग करना है। उनके विधानसे संग्रामक्षेत्रका और संग्रामकी बाहरी आकृतिका जब जैसा परिवर्तन होगा, उसीको मस्तक झुकाकर ग्रहण करना होगा, एवं उसीमें आदर्शको उज्ज्वल रखकर मनुष्यत्वकी साधना करनी होगी। भगवान्के उपदेशसे अर्जुनकी जब यह बुद्धि जाग्रत् हुई, तब ‘राज्यं भोगाः सुखानि च’ उनके कर्मोंके नियामक नहीं रहे, कुलक्षय, वर्णसंकर, धर्महानि इत्यादिकी कथा कहीं मानो विलीन हो गयी, उन्हींने भगवान्के हाथमें यन्त्ररूपसे—‘निमित्तमात्रम्’—अपनेको समझा एवं ‘करिष्ये वचनं तव’ कहकर वे श्रीभगवान्के आदेशानुयायी स्वधर्म-सम्पादनमें त्रती हो गये।

सर्वतापशमनैकभेषजम्

(सब रोगोंकी एक दवा भगवद्भक्ति)

(आचार्य श्रीविनोवाजीके विचार)

[कुछ दिनों पूर्व काशीमें आचार्य श्रीविनोवाजीको ज्वर आ गया था। ज्वर छूटनेपर उन्होंने प्रार्थनाके समय जो महत्त्वपूर्ण संक्षिप्त प्रवचन किया था, निम्नलिखित लेख उसीका सार है। —सम्पादक]

मेरी तो यह धारणा है कि हर रोगों और कष्टोंकी अचूक दवा ईश्वरमें श्रद्धा रखकर भक्तिभावसे उपासनामें लक्ष्मी रहना ही है। यदि आसपास भगवद्भक्तिका आतावरण रहे, भक्तोंद्वारा भजन होता रहे, तब तो कुछ पूछना ही नहीं है। इससे रोगीको परम शान्ति मिलेगी और उसके जीवनकी बीमारी भी दूर हो जायगी।

दो दिन मुझे बुखार आया पर सुबह और शामकी प्रार्थना ज्यों-की-त्यों चलती रही। मेरी धारणा है कि बीमार मनुष्यके आसपास भगवान्के भक्तोंद्वारा सतों और महात्माओंद्वारा लिखित भजनोंको मधुर स्वरमें गान करनेसे बेहतर न तो कोई दवा हो सकती है और

न तो कोई सेवा। जो शान्ति और आराम नामस्मरणसे प्राप्त होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। और जहाँ अनेक भक्त मिलकर सामुदायिक प्रार्थना करते हों, भजन गाते हों, वहाँका तो पूछना ही क्या है।

इस प्रकारकी श्रद्धा न सिर्फ हमारे ही देशमें है, बल्कि दूसरे देशोंमें भी है। परंतु लोग श्रद्धारूपी अचूक दवाके रहते हुए भी नाना प्रकारकी, नाना रूपकी कृत्रिम दवाएँ देते हैं। सूर्य, पानी और आकाश आदि प्राकृतिक चीजोंका लोग उपयोग न करके महुँगे और गलत इलाजको करते हैं।

मनुष्य अज्ञानी होता है। कोई ऋषि ही क्यों न

हो, वह भी बीमार होता है। एक ऋषिने सोमदेवसे ओषधिके लिये पूछा। सोमदेवने ऋषिको उत्तर दिया कि 'पानीमें सभी ओषधियाँ निहित हैं। पानीका सेवन और परमेश्वरका स्मरण करो। सारे रोग दूर होंगे।' ऐसा ऋग्वेदमें लिखा है। पानीके साथ हवा और आकाशकी मदद रोगसे बचनेके लिये लेनी चाहिये।

भगवान् यह नहीं देखता कि भक्त बैठकर भजन कर रहा है या सो करके, खाकर अथवा स्नान करके। वह तो सिर्फ हृदयसे भक्ति चाहता है। दो दिनोंतक मैं पड़ा-पड़ा प्रार्थना सुनता था, पर आज बैठनेकी इच्छा हुई है। भगवान् बड़ा दयालु है। वह इन सब बातों-पर ध्यान नहीं देता। वह तो हृदयकी भक्ति देखकर ही प्रसन्न होता है।

भक्तोंद्वारा जहाँ प्रेमसे भजन गाये जाते हैं, वहाँ भगवान् निश्चितरूपसे ही रहते हैं और जहाँ सामुदायिक भजन श्रद्धावान् भक्तोंद्वारा हो, वहाँ तो ईश्वरका रहना लाजमी ही है। ऐसा भगवान्का कहना है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

आचार्यजीने प्रार्थनामें सम्मिलित लोगोंसे निवेदन किया कि आप बराबर प्रार्थनामें श्रद्धाके साथ सम्मिलित रहें, चाहे आपलोगोंको प्रार्थनाका रहस्य न भी मित हो। कुछ दिनोंके बाद अपने-आप ही भक्तिरस अनुभव होने लगेगा और सभी प्रकारके रोगोंसे आप मुक्त हो जायेंगे।

रावण क्या थे ?

(लेखक—मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

'रावण कौन थे' इस बातको तो प्रायः सभी लोग जानते हैं। रावण सत्कुलप्रसूत साक्षात् महर्षि पुलस्त्यके नाती थे। शिव-विराजिकी पूजा करके उनको प्रसन्न किया था। उनसे वर पाकर सम्पूर्ण राजाओंकी कौन-सी कथा है, उन्होंने देवताओं और लोकपालोंपर विजय प्राप्त की थी। लङ्कापुरी उनकी राजधानी थी। धनपति कुबेरको जीतकर, उन्होंने पुष्पक विमान प्राप्त किया था। कहते हैं कि—

'ब्रह्म सृष्टि जहँ लगी तनुधारी। दसमुख बसबर्ती नर नारी॥'

परंतु 'रावण क्या थे' यह प्रश्न टेढ़ा है। एक ओर तो रावण वेदोंके भाष्यकार थे। अब भी उनके भाष्यके खण्ड जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं, ज्योतिषके पारदर्शी थे, भृगुसंहिताकी भाँति रावणसंहिता भी फलदेशका बड़ा उत्तम ग्रन्थ है। सङ्गीतशास्त्रके बहुत बड़े आचार्य थे, वैद्यकके बहुत बड़े जानकार थे। धनुर्वेदके भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। कर्मठ थे, अग्निहोत्री थे, तपस्वी थे, उपासक थे, क्या नहीं थे ?

दूसरी ओर देखिये तो रावण बहुत बड़े अत्याचार थे। धर्मद्रोही, द्विजद्रोही, देवद्रोही और शास्त्रद्रोही मायावी थे। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि रावणके राज्यमें—

जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससरिस।
आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खोसा।
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह वेद पुराना॥

बरन न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहि।

हिंसापर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवन मिति॥

सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास।

परम प्रबल रिपु सीस पर तदपि न मन कछु त्रास॥

इस भाँति रावणके गुणोंसे बड़ी उनके दोषोंकी तालिका है। ऐसे चमत्कृत गुणों और ऐसे दोषोंका योग एक व्यक्तिमें कहीं देखा नहीं जाता। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि रावण क्या थे ?

इसी प्रश्नको मनमें लेकर श्रीरामचरितमानसमें बहुत दूँदनेपर अङ्गद-संवादमें पता लगा कि रावण क्या थे ?

कौल काम बस कृपिन बिमूढ़ा । अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा ॥
सदा रोगबस संतत क्रोधी । बिष्णु बिमुख श्रुति संत बिरोधी ॥
तन पोषक निंदक अघ खानी । जीवत सब सम चौदह प्रानी ॥

यहाँ दीपकालङ्कार है । प्रसङ्गप्राप्त शब्द 'कौल' है ।
अङ्गदजी रावणको 'कौल' कहते हैं । बात बड़े ठिकानेकी है । वस्तुतः रावणको कौल मान लेनेसे सब सामञ्जस्य ब्रूँ जाता है । आज भी महाविद्वान् कौल ऐसे घोर अनुष्ठानोंको समाश्रय प्रदान करता है, जिसे सुनकर वैष्णव-हृदय तो निश्चय ही काँप उठेगा ।

उन अनुष्ठानोंसे कहा जाता है कि उन्हें बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । जो उन अनुष्ठानोंसे दूर भागते हैं, उन्हें वे पशु कहते हैं, अति तुच्छ दृष्टिसे देखते हैं । प्रबोधचन्द्रोदयकारने कौल-धर्मकी विशेषताओंका दिग्दर्शन करते हुए कहा है कि—

मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुद्धतां
वह्नाब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा ।
सद्यःकृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलै-
रच्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महामैरवः ॥

मस्तिष्क, आँत, चरवीसे भरे हुए ब्राह्मणके मांसकी आहुतियाँ अग्निमें देना, ब्राह्मणकी खोपड़ीमें भरे हुए खसे पारण करना और तुरंतके कटे हुए सिरसे निकली हुई रुधिरकी धारासे, पुरुषोपहार बलिसे कौल लोग महामैरव शिवजीका पूजन करते हैं ।

यह तो हुई उनके धर्मकी विशेषता, अब उनकी मुक्ति की विशेषता सुनिये—

दृष्टं कापि सुखं विना न विषयैरानन्दबोधोज्जिता
जीवस्य स्थितिरेव मुक्तिरुपलावस्थाकथं प्रार्थ्यते ।
पार्वत्याः प्रतिरूपया दयितया सानन्दमालिङ्गितो
मुक्तः क्रीडति चन्द्रचूडवपुरित्यूचे मृडानीपतिः ॥

विना विषयके सुख तो कहीं देखा नहीं गया, फिर सुखोपलब्धि रहित जीवकी स्थितिको मुक्ति मानना परमकी अवस्थाको चाहना है । भगवान् भवानीपतिने कहा है कि पार्वती-सी सुन्दरी प्रियको आलिङ्गित किये

हुए क्रीडा करना, और आप शिव बने रहना ही मुक्ति है । भावार्थ यह कि जिन-जिन क्रियाओंसे मनुष्यका निश्चय पतन होता है (ब्रह्महत्या-सुरापानादि), उन्हींको अपने साधनका सोपान बनाना कौल-धर्मकी विशेषता है ।

गोखामीजी कहते हैं कि कौलादि चौदह पुरुष, जिनकी तालिका ऊपर दी हुई है, हरिभक्त हो नहीं सकते, और जिनके हृदयमें हरिभक्ति नहीं आयी वे शव (मुर्दे) की भाँति अमङ्गलरूप होकर जीते हैं । यथा—
जिन हरि भक्ति हृदय नहि आनी । जीवत सब समान ते प्रानी ॥

अङ्गदजीने रावणके वाक्यसे ही जान लिया कि वह बड़ा भारी कौल है; क्योंकि रावण—

‘मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुद्धतां
वह्ना’.....’

—इसी प्रक्रियाको—

सुर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहि सीस ।
हुत्यौ अनल मह बार बहु हर्षित साखि गिरीस ॥

—कहकर व्यक्त कर रहा है, और—

सिर सरोज निज करन्ह उतारी । पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी ॥
कहकर—

‘सद्यःकृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलै-
रच्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महामैरवः ॥’

यही बात कह रहा है । यह दूसरी बात है कि रावणकी राजसिक श्रद्धा बड़ी ही प्रबल थी । उसने किसी दूसरे ब्राह्मणको बलिके लिये न खोजकर अपने ही सिरोंकी आहुति देकर, अपने ही सिरोंका उपहार शिवजीको दिया ।

रावणकी पारणाके विषयमें तो स्वयं शूर्पणखाने कहा है कि—

करेसि पान सोवसि दिन राती । सुधि न तोहि सिरपर आराती ॥

पार्वतीप्रतिरूपा दयिताके खोजमें ही उसने देव, यक्ष, गन्धर्व, सुर, किन्नर राजकुमारियोंको अपने मुजबलसे जीतकर चरण किया था । उसकी प्रवृत्ति देखकर ही शूर्पणखा कहती है—

तिनके संग नारि एक स्यामा ।

रूपरासि बिधि नारि सँवारी । रति सत कोटि तामु बलिहारी ॥

ऐसी राजसिक श्रद्धाके फलरूपमें उसे अलौकिक सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं । यथा—

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता । भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥
इत्यादि ।

अतः कहा जा सकता है कि रावण निःसन्देह कौल थे, लङ्कामें कौल मतका साम्राज्य था । राम-रावण-युद्ध वस्तुतः दक्षिण और वाम पथकी लड़ाई थी ।

लङ्काभरमें केवल विभीषणजी हरिभक्त थे । हनुमान्-जीने सम्पूर्ण लङ्का छान डाली, कोई हरिभक्त न मिला ।

भवन एक पुनि दीख सोहावा । हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा ॥

रामायुध भंकित गृह सोभा बरनि न जाय ।

नव तुलसिका बृंद बहु देखि हरष कपिराय ॥

विभीषणजी महाबलवान् थे, ब्रह्मास्त्रविद् थे, स्वयं इत्यादि ।

रावणके भाई थे, इसलिये उनका गुजारा वहाँ किसी भाँति हो रहा था । नहीं तो, कौल-समाजमें वैष्णवका निवास कैसे सम्भव था । अतः विभीषणजी सब कुल होनेपर भी महादुखी थे । हनुमान्जीसे कहते हैं—

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी । जिमि दसनन महँ जीह बिचारी ॥

आज भी हरिभक्तों और कौलोंसे काकोलकीय प्रवृत्ति चलती ही रहती है, अतः निश्चयरूपसे कहा जा सकता है कि रावण कौल थे । साथ-ही-साथ यह भी कह देना आवश्यक है कि परम सिद्ध कौलार्च्य होते हुए भी रावणकी वृत्ति महापण्डित होनेके कारण वैराग्यकी ओर झुकती थी, यथा—

कदा निलिम्पनिर्झरीनिकुञ्जकोटरे वसन

विमुक्तदुर्मतिः सदा शिरःस्थमञ्जलि वहन ।

आत्म-विजयकी सीढ़ियाँ

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

संसारका सर्वोच्च पुरुषार्थ आत्म-विजयकी प्राप्ति है । मनुष्य कुछ दूरतक अपने-आपका नियन्त्रण समाज तथा राज्यके भयके कारण रखता है । कुछ लोगोंको ईश्वरका भय अथवा अन्तरात्माकी आवाजका भय रहता है । इनके कारण मनुष्य अपनेको अनेक प्रकारके प्रलोभनोंसे रोके रहता है । परंतु इस प्रकारके भय मनुष्यको स्थायी आत्मविजय नहीं देते । जब किसी प्रकारके भयका अन्त हो जाता है, तब मनुष्यकी इच्छा उस भयसे रोके गये मार्गसे प्रकाशित होने लगती है । फिर भयद्वारा रोकी गयी इच्छा मानसिक-ग्रन्थिका रूप धारण कर लेती है । इसके कारण मनुष्यका आचरण भला बना रहता है; परंतु उसके मनमें कमी शान्ति नहीं रहती । फिर जिन बातोंसे वह अपने-आपको चेतन मनमें रोके रहता है, वे ही बातें वह स्वप्नमें देखता है । यदि किसी व्यक्तिकी अन्तर्हित नैतिक भावना प्रबल हुई तो उसे अपने स्वप्न स्मरण ही नहीं रहते और यदि स्मरण रहते हैं तो वे बेतुके होते हैं । कितने ही मनुष्य जी संयमीक रूपमें, न केवल

प्रसिद्ध रहते हैं, वरं जो अपने-आपको संयमी मानते भी हैं, आन्तरिक मनसे विषयके इच्छुक रहते हैं । उनके भीतरी मनकी प्रबल भोग-वासनाएँ ही उन्हें बाहरी मनसे संत-साधु बननेके लिये बाध्य करती हैं । ऐसे लोगोंके मनमें आन्तरिक शान्तिका अभाव रहता है । यह सभी आत्म-विजय नहीं, यह आत्म-विजयका धोखामात्र है ।

सच्ची आत्म-विजय उसी मनुष्यको प्राप्त होती है, जो अपने भीतरी मनको भलीभाँतिसे जानता है और उस मनकी शक्तिको सुमार्गमें प्रवाहित करनेकी चेष्टा करता है । आत्म-विजयका प्रश्न साधारण मनुष्यका प्रश्न नहीं है । साधारण मनुष्य सुखवादी होता है । उसे सुखवादके दुष्परिणामोंसे भयके द्वारा ही रोका जा सकता है । परंतु इससे मनुष्यमें सच्ची मानसिक परिपक्वता और आत्म-नियन्त्रणकी शक्ति नहीं आती । अपनी मानसिक बनावटको जानकर और अपनी मानसिक शक्तिको पहचानकर ही मनुष्यमें आत्म-नियन्त्रणकी शक्ति आती है ।

आत्म-विजयके इच्छुक व्यक्तिको दो प्रकारकी बातें

जानना है—एक उसकी दबी वासनाएँ, जो उसकी कमजोरियाँ हैं, और दूसरे उसके सच्चे स्वत्वका बल। मनुष्यकी बहुत-सी कमजोरियाँ उनके जाननेमात्रसे नष्ट हो जाती हैं। चेतन मनकी कमजोरियोंकी जड़ कभी-कभी मनुष्यके अचेतन मनमें रहती है। जब मनुष्य अपने अचेतन मनका ज्ञान भलीभाँति कर लेता है, तब उसे चेतन मनकी कमजोरियोंका मूल कारण भी ज्ञात हो जाता है। इस मूल कारणके ज्ञात हो जानेपर चेतन मनकी कमजोरियोंका बल घट जाता है। इस प्रकार मनुष्यके कई मानसिक रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

कितने ही लोग अपनी कमजोरियोंपर अथवा अपनी प्रबल वासनाओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये तपवादी बन जाते हैं। इससे वास्तविक आत्म-विजय प्राप्त नहीं होती। इससे कितने ही लोग रोगी बन जाते हैं। लेखकके एक शिष्यने कामवासनाके अतिक्रमणसे आत्म-ग्लानि होनेपर व्यवहारमें तपवादका अनुसरण किया। इससे उसे क्षय रोग हो गया। कुछ लोगोंको मानसिक रोग हो जाते हैं। तपवाद एक प्रकारका पलायनवाद है। जिस प्रकार रथका अच्छा सञ्चालन घोड़ोंको खड़ा करके रखनेमें नहीं है वरं उनको उचित ढंगसे चलानेमें है। इसी प्रकार अपने जीवनका सच्चा नियन्त्रण इन्द्रियोंको अक्रिय करनेमें नहीं, वरं उन्हें सत्-पथगामी बनानेमें है। न तो भूखे रहकर और न पञ्चाग्नि तपनेसे ही मनुष्यका मन वशमें होता है, बीचमें मार्गसे चलनेसे ही वह वशमें होता है।

मनुष्य वासनाओंसे मुक्त अपने बार-बार विचारके द्वारा होता है। जब उसे ज्ञान हो जाता है कि विषय-सुख झूठा है और इसके अन्तमें दुःख ही होता है, तब उसे मनुष्य न केवल बाहरी वरं भीतरी मनसे भी छोड़ देता है। इसके साथ-साथ विचारके द्वारा मनुष्य अपनी आत्माकी शक्ति और उसमें निहित आनन्दका भी ज्ञान करता है। सभी वस्तुएँ इसलिये प्रिय होती हैं कि हम उनसे अपनी आत्मीयता जोड़ते हैं। जिस वस्तुसे आत्मीयता चली जाती है, वह फिर प्यारी नहीं लगती। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुमें सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय भाव नहीं, वरं अन्तःकरणमें ही ये भाव हैं। जबतक कोई व्यक्ति हमारा प्रिय रहता है, हमें प्यारा लगता है, जब वह हमारा शत्रु हो जाता है, तब फिर हमें उसके सद्गुण भी बुरे लगने लगते हैं। आत्माका मूल्य पहचान लेनेपर हमारा संसारी विषयोंसे

मन हट जाता है। फिर लौकिक घटनाएँ मनमें क्षोभ पैदा नहीं करतीं।

मनुष्यमें आत्म-नियन्त्रणकी शक्ति केवल अपनी कमजोरियोंपर विचार करनेसे नहीं आती। जब मनुष्य अपनी कमजोरियोंको केवल उनपर विजय प्राप्त करनेके लिये ही जानता है, तभी उसका भला होता है; परंतु जब केवल कमजोरियोंपर ही ध्यान जम जाता है, तब उससे भारी अनर्थ होता है। कितने ही लोगोंमें व्यभिचारकी आदतें होती हैं, कितने लोग शराबखोरी, सिगरेट, भाँग, आदिको बुरा समझते हुए भी उनसे अपनेको मुक्त नहीं कर पाते। वे अपनी कमजोरियोंके लिये अपनी भर्त्सना-मात्र करते हैं। इससे उनकी इच्छाशक्ति और भी निर्बल हो जाती है। ऐसी कमजोरियोंका जानना व्यर्थ ही नहीं, अपितु हानिकारक भी है। जिस प्रकार बालकोंको उनकी कमजोरियाँ नहीं बतानी चाहिये, जहाँतक वे उन्हें जीत न सकते हों। इसी प्रकार हमें अपनी कमजोरियाँ नहीं जाननी चाहिये, जबतक हम उन्हें अपने वशमें नहीं ला सकते हैं।

यदि मनुष्यमें कमजोरियाँ हैं तो उसमें उनको जीतनेकी भी महान् शक्ति है। यह शक्ति आत्म-निर्देशकी शक्ति है। आत्म-निर्देशसे मनुष्य न केवल अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोगोंसे मुक्त हो सकता है, वरं वह अपनी साधारण मानसिक कमजोरियोंसे भी मुक्त हो सकता है। अंग्रेजीमें कहावत है He can who thinks he can. जो सोचता है फिर मैं अमुक काम कर सकूँगा, वह उसे अवश्य कर लेता है। चाहे कठिनाई बाहरी हो अथवा आन्तरिक, हिम्मत और आत्म-विश्वाससे ही उसे पार किया जा सकता है। वह साहस और आत्म-विश्वास प्रतिदिनके अभ्यासे बढ़ता है। काम करनेसे ही मनुष्य अपने-आपको पहचानता है और उसे अपनी शक्तिका ज्ञान होता है। यही ज्ञान फिर उसका आत्म-निर्देश बन जाता है। जो व्यक्ति कामसे हिम्मत हार देता है, वह अपने-आपको पहचाननेके अवसरको खो देता है।

कभी-कभी आत्म-निर्देश मनको शान्त करके एकाग्रचित्त होकर किसी विचारको मनमें धारण करनेसे भी बढ़ता है। शरीरकी और मनकी शैथिलीकरणकी अवस्थामें सुझाया हुआ विचार इस प्रसङ्गमें विशेष प्रकारसे प्रभावशाली होता है। मनुष्यकी जटिल-से-जटिल आदत भी कभी-कभी एक ही बारके सन्नर्देशसे सदाके लिये छूट जाती है।

हिंदू-समाज और पर्व

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

यह लोकोक्ति है कि 'हिंदुओंमें सात बार नौ त्योहार हैं।' बात इससे भी कुछ अधिक ही है। कोई दिन ऐसा नहीं, जो पर्व न हो। कोई तिथि ऐसी नहीं, जो पर्व न हो। प्रातः, मध्याह्न, सायं और अर्धरात्रिके सन्ध्यापर्व तो नित्य ही हैं। प्रत्येक दिन अपने ग्रहका पर्व है और प्रत्येक तिथि अपने देवताका। इनके अतिरिक्त देव, मानव-जयन्तियाँ, विजय-पर्व, संक्रान्तियाँ, नक्षत्र, योगादि अनेकों पर्व हैं। किसी-किसी तिथिमें तो पंद्रह पर्वतक पड़ जाते हैं।

पर्वका अर्थ है गाँठ—सन्धिकाल। हिंदू-पर्व सदा सन्धिकालमें ही पड़ते हैं। सन्ध्यासे लेकर बड़े-बड़े यज्ञ सब सन्धिकालमें होते हैं। इस सन्धिकालके कारण ही इनको पर्व कहते हैं। योगदर्शनकारने बताया है कि जाग्रत् एवं सुषुप्तिके मध्यकी स्थितिमें मनका संयम करनेसे समाधिकी प्राप्ति होती है। ध्यानसे निरीक्षण करें तो निद्राकी समाप्ति तथा पूर्ण जाग्रतिके मध्यमें कुछ क्षण उन्मन-स्थितिके होते हैं। मनको अभी बाह्यबोध नहीं हुआ है और निद्राका अज्ञान भी नहीं है। यह स्थिति दृढ़—स्थायी हो जाय तो अज्ञानरहित और स्थूल शरीरकी आसक्तिसे हीन अन्तर्मुख दशा स्थायी हो जायगी। अतः साधकके लिये ये क्षण अत्यन्त बहुमूल्य हैं। जैसे निद्रा और जाग्रतिके सन्धिकालमें मनको अन्तर्मुख होनेका एक निर्वन्ध अवकाश रहता है, वैसे ही प्रत्येक ग्रह-नक्षत्र तथा दूसरे सन्धिकालोंमें भी स्थूलका बन्धन कुछ-न-कुछ शिथिल होता है। उस अवसरसे लाभ उठाकर अन्तर्मुख होनेका प्रयत्न करना ही पर्वका मुख्य उद्देश्य है।

जिस संस्कृतिका मुख्य उद्देश्य ही अन्तर्मुख होना है, वह ऐसा एक भी अवसर छोड़ कैसे सकती है, जिसमें उसके प्रयत्नको थोड़ी भी नैसर्गिक सहायता मिलनेकी आशा हो। हमारा स्थूल शरीर, मन सब समष्टिके नियमोंसे प्रभावित हैं। ग्रह-नक्षत्रादिका हमारे बाह्य एवं आन्तरिक जीवनसे सुदृढ़ सम्बन्ध है। आकाशमें सूर्यपर सूक्ष्म धब्बे दीखनेपर रेडियोमें कितनी गड़बड़ी होती है, यह विज्ञानके आधारण विद्यार्थी भी जानते हैं। यह स्वाभाविक है कि जब दो शक्तियोंके विनिमयका सन्धिकाल होता है, तब मध्यमें दोनोंके प्रभाव कुछ शिथिल हो जाते हैं। जैसे एक साधकके

अन्त और दूसरेके प्रारम्भकी स्थितिमें होता है। ऐसे समय मनपर बाह्य बन्धन शिथिल रहते हैं। मनका निजी स्वरूप तो सार्विक है ही। विकार तो उसमें बाह्य प्रभावसे आते हैं। अतः जब भी बाह्य प्रभाव कुछ शिथिल हो मनको अन्तर्मुख करनेका प्रयत्न अधिक सफल होनेकी आशा रहती है। उस प्रयत्नका मनपर सामान्य प्रयत्नसे अधिक प्रभाव पड़ेगा, यह तो निश्चित ही है; क्योंकि प्रयत्न और मनके बीचके प्रभाव कुछ-न-कुछ ढीले हुए हैं। ऐसा कोई सुयोग छूट न जाय जो हमारे मुख्य उद्देश्यमें सहायक हो सकता हो। इसी दृष्टिसे प्रत्येक सन्धिकालको पर्व माना गया है।

पर्व-कृत्य हैं स्नान, पूजन, जप, दान, हवन, ध्यानादि। इनमेंसे प्रत्येक मनुष्यकी बाह्यवृत्तिको अन्तर्मुख करनेके लिये समर्थ है और उसकी प्रेरणा देता है, यह सब मानते हैं। पर्वोंपर पूजा-विधान, दानकी भिन्नता तथा कौन-सा पर्व किस प्रकारके देवता और किस प्रकारकी आराधनाका है, यह तो शास्त्रोंमें देखनेकी बात है। यह पूजादि भेद सूक्ष्म-विज्ञान है। कौन-सा पर्व, कौन-सा सन्धिकाल किस प्रकारका है, उस समय कौन-सी अधिदेव-शक्ति प्रधान रहती है, हमारा प्रयत्न किस प्रकार हो तो उसमें अधिक सफलता की आशा है, यह सब ज्ञान ही पूजा, देवता, कर्म-भेदका कारण है।

प्रत्येक सन्धिकाल जहाँ मनकी अन्तर्मुखता-दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है, वहीं शरीरकी दृष्टिसे सावधानी रखने योग्य भी। निद्रासे सहसा किसीको जगा देनेपर हानि होती है। ऋतुओंके सन्धिकालमें अनेक रोग होते हैं। उस समय संयमकी अधिक आवश्यकता होती है। इसी प्रकार प्रत्येक सन्धिकाल एक प्रभावकी समाप्ति तथा दूसरेके प्रारम्भकी स्थिति है। ऐसे समय विशेष संयम न करनेसे हानिकी सम्भावना रहती है। विशेष ओषधि एवं आहार ऐसे समयोंमें लाभप्रद होते हैं। चिकित्साशास्त्र ऋतुओंकी सन्धिकालोंके समयके संयम, त्याज्य आहार एवं कर्म तथा लाभप्रद आहार एवं कर्मोंका विशद वर्णन करते हैं। इसी प्रकार पर्व भी सन्धिकाल हैं। उनमें भी दो प्रभावोंका संक्रमण-काल है। अतएव उनके लिये उस संक्रमण-कालके

कुछ कृत्यों एवं पदार्थोंके सेवनका निषेध है। उनके विधानको पालन करनेसे लाभ तथा उलङ्घन करनेसे हानि होती है, भले हम उस सूक्ष्म लाभ या हानिको अनुभव न कर सकें। हम यदि किसी कारखानेके कोयले जलनेसे दूषित प्रभाव अपने ऊपर अनुभव नहीं कर पाते तो इसका यह नहीं कि वायुमें प्रभाव नहीं या हमपर वह पड़ता है। सूक्ष्म प्रभाव सदा अज्ञातरूपसे ही अपना कार्य करते हैं।

मेरे एक मित्र सुना रहे थे कि उनके पड़ोसकी एक लड़की माता अपने लड़केको पानीसे खेलते देखती तो रुष्ट होकर कहती—‘तुझे बम्हनेके घर पैदा होना था। वहाँ जलने-नहाते सड़ जाता।’ मनुष्यका जीवित शरीर सड़ता जलमें अविराम रहनेसे है, प्रक्षालनसे वह निर्मल होता है। वह वात मनुष्यको अब समझनी नहीं है; परंतु इसका जितना उपयोग हिंदू-जातिने किया है, वह अद्भुत है। हमारे शास्त्र जलको तीर्थ—पवित्र करनेवाला कहते हैं। स्नान, सन्ध्या, पूजादि सब कार्य जलसे ही सम्पन्न होते हैं। अतिथि-सत्कारमें कुछ न हो तो जल पर्याप्त है। देव-पूजामें भी। देव-पूजाके षोडशोपचारमें अधिक जलके ही उपचार हैं। पर्व तो जलाशयके द्वारा ही सम्पूर्ण होते हैं।

हिंदू-समाज अपने आवास जलाशयके समीप ही बनाता है। हमारे नित्य-कृत्य एवं पर्व आदि सबमें जलकी आवश्यकता है और स्नानादिके लिये विस्तीर्ण जलाशयको दे दिया गया है। यह सब जानते हैं कि पृथ्वीके समस्त पदार्थोंकी अपेक्षा जल प्रभावका क्रमशः ग्रहण करता है। शीत या उष्णताका प्रभाव जितनी शीघ्रतासे पार्थिव वस्तुपर पड़ता है, उतनी शीघ्रतासे जलपर नहीं पड़ता। अतः देशोंमें समुद्रके कारण ही कठोर गरमी या सर्दी नहीं पड़ती। जैसे जल शीत या उष्णताके प्रभावको धीरे-धीरे ग्रहण करता है, वैसे ही नक्षत्रादिकोंके प्रभावको भी। जलके द्वारा हम पर्वकालमें दो लाभ उठाते हैं। एक तो जलके कारण नक्षत्रोंके बदलते प्रभाव धीरे-धीरे होते हैं, अतः सन्धिकालमें अन्तर्मुखताका अवकाश अधिक मिलता है और दूसरे प्रभाव धीरे-धीरे बदलनेसे शरीरमें विकृतिकी सम्भावना कम रहती है। जिन ग्रहणादि पर्वोंमें शरीरपर अधिक प्रभाव पड़ता है, उनमें पूरे पर्वकालतक

या विशेष-विशेष क्षणोंमें जलमें कटि या कण्ठतक खड़े रहने अथवा डुबकी लगानेका निर्देश है।

कोई प्रभाव वह शारीरिक हो या मानसिक, सर्वत्र वह एक-सा कार्य नहीं कर पाता। जहाँ वह पड़ता है, उस स्थान, पदार्थ, समयके प्रभावसे उसका रूप बदलता है। चिकित्साशास्त्र भी ऋतु-सन्धिकमें पृथक्-पृथक् देशों तथा व्यक्तियोंकी प्रकृति, शरीर-बल आदिका विचार करके ही संयम, ओषधि तथा आचारका विधान करता है। इसी प्रकार प्रत्येक पर्वके समय भी उसके अधिकारीका विचार होता है। कुछ पर्व किसी विशेष वर्गके लिये हैं। कुछ पर्वोंमें किसी वर्गके लिये एक आचारका विधान है और दूसरोंके लिये दूसरे आचारका। किसी पर्वके कुछ आचार एवं संयम विशेष वर्ग या विशेष अवस्थाके व्यक्तिके लिये अनिवार्य नहीं हैं। यह सब विधान अपने भीतर अत्यन्त सूक्ष्म विज्ञान रखता है। केवल कुतर्कसे प्रभावित होकर उसकी उपेक्षा करना हानिकारक है।

पर्वोंके भेद

कर्मकी भाँति ही पर्वोंके भी तीन भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य। कुछ पर्व ऐसे हैं, जिनका समय निश्चित है। सन्ध्यादिसे लेकर दीपावली, होली, एकादशी, चतुर्थी आदि ऐसे ही पर्व हैं। इन पर्वोंको नित्य-पर्व कहा जाता है। कुछ पर्व हैं जो किसी निमित्तसे आते हैं, जैसे ग्रहण, कुम्भ, पुत्रजन्मोत्सव। ग्रह-नक्षत्रादिके योगविशेषसे या किसी प्रधान घटनासे पड़नेवाले ये पर्व नैमित्तिक हैं। ग्रह-शान्ति या कामना-विशेषसे कुछ व्रत, पूजन, उत्सव किये जाते हैं, जैसे श्रीमद्भागवतमें फाल्गुन शुक्लपक्षमें पुत्र-कामनावालेके लिये पयोव्रतका वर्णन है। ऐसे व्रत, पर्व कामना होनेपर ही किये जाते हैं, अतः काम्य कहलाते हैं।

पर्वोंके ऊपरके भेदोंके अतिरिक्त उनका दूसरे प्रकारसे भी भेद किया जाता है। कुछ पर्व तिथि, नक्षत्र, दिन, ग्रहयोगके कारण मनाये जाते हैं, ये दिव्य पर्व हैं। कुछ पर्व विशेष देवताओंके हैं और कुछ पितरोंके। गणेश-चतुर्थी, एकादशी आदि देव-पूजनके पर्व देव-पर्व हैं और पितरोंके तर्पण, श्राद्धके समय पितृपर्व। कुछ कालपर्व हैं, जैसे सृष्टिकी प्रारम्भ-तिथि, युगके प्रारम्भकी तिथि, वर्षके प्रारम्भकी तिथि। कुछ जयन्ती-पर्व हैं। भारतमें मरण-दिवस नहीं मनाया जाता है और सामान्य पुरुषको चाहे उसका व्यक्तित्व

कितना भी महान् हो, महत्त्व नहीं दिया जाता है। जयन्ती-पर्व केवल भगवान्‌के अवतारों या उन महापुरुषोंके ही मनाये जाते हैं, जिन्होंने स्वयं भगवत्प्राप्ति करके समाजको इस ओर विशेष प्रवृत्ति दी।

इन दैवत पर्वोंके पश्चात् प्राणिपर्व होते हैं, जैसे नागपञ्चमी, गोपाष्टमी। समाजके विजयपर्व, उत्थानपर्व और उपार्जनपर्व हैं। विजयादशमी, किसी कार्यके प्रारम्भका महोत्सव तथा नवान्नेष्टि यज्ञ इन पर्वोंके क्रमशः उदाहरण हैं। व्यक्तिके अपने पर्व भी होते हैं, जैसे पुत्र-जन्मोत्सव, विवाहादि। पर्व चाहे जिस प्रकारके हों, उनमें दान, पूजन—ये दो बातें अवश्य रहती ही हैं और वे समय या अवस्थाओंके सन्धिकालमें ही मनाये जाते हैं।

पर्वोंका एक श्रेणी-विभाग उनमें होनेवाले कार्योंके अनुसार भी किया जाता है, कुछ पर्व उपासनापर्व होते हैं, कुछ व्रतप्रधान, कुछ यज्ञप्रधान और कुछ स्नान-प्रधान। कुछ अनुष्ठानपर्व हैं और कुछ महोत्सवप्रधान। पिण्डदान या जप भी कुछ पर्वोंके प्रधान कृत्य हैं। इस प्रकारका विभाग बहुत व्यवस्थित रीतिसे करना सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्येक पर्वमें एक कर्म प्रधान होकर भी दूसरे कर्म किये जाते हैं और अनेक पर्वोंमें कई कर्म प्रधान होते हैं। जैसे एकादशी रात्रि-जागरण एवं उपवास-प्रधान पर्व है; किंतु जप, दान, पूजन, कीर्तन—ये सब इसमें प्रधान ही हैं। विशेषतः संकीर्तन एवं भगवत्पूजन तो एकादशीके मुख्य कृत्योंमें हैं।

इसी प्रकार पर्वोंमें जातीय पर्व भी लोग मानते हैं; परंतु ऐसे पर्व नहीं हैं, जिसे केवल एक जातिके लोग ही मनाते हों। अनन्तचतुर्दशी ब्राह्मण-जातिका, विजयादशमी क्षत्रियोंका, दीपावली वैश्योंका और होलिका शूद्रोंका पर्व कहा जाता है; किंतु इनको यही जातियाँ मनाती थीं, ऐसा कभी नहीं हुआ। इन पर्वोंमें उन जातियोंका, जिनके ये पर्व कहे गये हैं, समाजमें विशेष सम्मान होना चाहिये, बस इस प्रमुखतासे ही ये जातियोंके पर्व कहे गये। पूरा हिंदू-समाज अनादिकालसे अपनेको एक शरीर मानता आया है। उसमें पार्थक्यकी भावना, पृथक्-पृथक् पर्व, पृथक्-पृथक् आदर्श जैसी कोई वस्तु नहीं है। शरीरके अङ्गोंके समान अपने अधिकारके अनुसार सबके कार्य विभिन्न हैं, पर समष्टिरूपसे सब एक हैं। सबका लक्ष्य एवं आचारका आदर्श एक है। अतः सबके पर्व भी एक ही हैं।

दिव्यपर्व

संक्रान्ति, कुम्भ, वारुणी, अर्धोदय, ग्रहणादि दिव्य पर्व हैं। ये विशेष-विशेष ग्रह-नक्षत्रोंके योगके समय होते हैं। संक्रान्तियाँ तो महीने बनाती हैं। दो महीनेकी एक ऋतु और ऋतुओंके संक्रमणकालका प्रभाव तो चिकित्साशास्त्र में बतलाता ही है। एक ऋतुकी दोनों महीनोंमें भी समानता नहीं रहती। सूर्य एक राशिसे दूसरी राशिपर जाते हैं तो ऋतुमें अन्तर आता ही है। शारीरिक दृष्टिसे इस अन्तरसे महत्त्वको समझना कठिन नहीं है। सूर्य हमारे शरीरमें नेत्रोंके देवता हैं। शरीरमें जो उष्णता है वह सूर्यसे ही आती है। बुद्धि भी सूर्यसे ही प्रेरणा प्राप्त करती है। इस प्रकार सूर्य का एक राशिसे दूसरी राशिमें जाना नेत्र, बुद्धि तथा विचारकी समस्त ऊष्माको प्रभावित करता है।

जिस प्रकार सूर्यका सम्बन्ध हमारे शरीरसे है, वैसे ही चन्द्रमाका भी है। चन्द्रमा मनके देवता हैं, रसनेन्द्रिय और जलपर उनका प्रभाव है। चन्द्रमाकी क्षय एवं वृद्धि समुद्रपर जो प्रभाव पड़ता है, उसीसे ज्वार-भाटा आता है। पदार्थोंमें तथा शरीरमें स्थित जलांशको तथा बाहरके जलको भी चन्द्रमा प्रभावित करते हैं। यद्यपि पाश्चात्य ज्योतिर्विद अभी इतना उन्नत नहीं हुआ कि वह सूर्य तथा चन्द्रमा अतिरिक्त जो ग्रह तथा नक्षत्र हैं, उनके पृथ्वीपर पड़नेवाले प्रभावोंको ठीक-ठीक जान सके, फिर भी ग्रहोंका प्रभाव पड़ता है, यह वहाँके ज्योतिर्विद् भी मानते हैं। वे अपने अपने विभिन्न ग्रहोंके प्रभावोंका वर्णन भी करते हैं। ये ग्रह पृथ्वीके सभी भागोंपर एक-से नहीं पड़ते। जब पृथ्वीका जो भाग जिस ग्रहकी सीधी सन्निधिमें होता है, उसी भागपर उस समय दूसरे भागोंसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

कुम्भपर्व सूर्य, चन्द्र एवं बृहस्पतिके विशेष संयोगपर आता है। यह पर्व प्रत्येक तीन वर्षके लगभग अन्तरसे पड़ता है और क्रमशः प्रयाग, हरद्वार, उज्जैन एवं नासिक में मनाया जाता है। एक स्थानपर बारह वर्षमें पुनः पड़ता है। इस कालके मध्यमें अर्धकुम्भीपर्व और पड़ता है। इसी प्रकार वारुणापर्व भी वरुण तथा दूसरे ग्रह-नक्षत्रोंके योगसे होता है। प्रत्येक पर्वके लिये मुख्य स्थान शास्त्रोंमें वर्णित है। कुछ ऐसे पर्व हैं जो उन स्थानोंमें ही प्रभाव प्रकट करते हैं और कुछ अपने स्थानोंमें अधिक तथा अन्यत्र कम प्रभाव रखते हैं। कुम्भपर्व तो निम्नलिखित स्थानोंमें ही होता है—प्रयाग, हरद्वार, उज्जैन, नासिक, अमृतसर, काशी, बंगाल, आदि।

[भाग ११]

दुल्ल स्थान होकर भी जो वहाँ नहीं पहुँच सकते, उनके लिये अपने स्थानपर या उसके पासके तीर्थमें ग्रहणकृत्यका विधान है। क्योंकि ग्रहणका प्रभाव सर्वत्र पड़ता है।

कुम्भपर्वके सम्बन्धमें जो पौराणिक आख्यान है, वह सत्य है और पर्व नक्षत्रयोगके लाभकी दृष्टिसे है, ऐसी बात नहीं है। वह आख्यान ज्यों-का-त्यों अक्षरशः सत्य है और ऐसे ही आख्यान दूसरे पर्वोंके सम्बन्धमें भी हैं। दिव्य जगत् ही स्थूल जगत्का कारण है। अतः दिव्य जगत्की प्रथाएँ ही स्थूल जगत्की प्रथाएँ बनती हैं। स्थूल जगत् ही दिव्य जगत्का ही व्यक्त रूप है, तब उसमें ऐसी कोई बात नहीं सकती जो दिव्य जगत्में न हो। इसी प्रकार ये सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, वरुण, सप्तर्षि, नक्षत्रादि केवल स्थूल पिण्ड ही हैं। वे उन देवताओंके लोक हैं जिनके नामसे उन्हें पूजारा जाता है। पृथ्वीके विशेष-विशेष पदार्थों तथा हमारे मानसिक भावोंसे उनका सम्बन्ध है। वे उन्हें प्रभावित, प्रज्वलित, पोषित करते हैं। जैसे वरुण नक्षत्रका जल-तत्त्वपर प्रभाव है। अतएव इन ग्रह-नक्षत्रोंके संक्रमण, योग आदिके प्रभाव पृथ्वीपर पड़ते हैं और वह प्रभाव स्थूल जगत् तथा मनपर भी व्यक्त होता है। देवत पर्व इस प्रभावके उपयोगी विधानका सम्यक् लाभ उठाने तथा हानिसे बचनेका विधान करते हैं।

ग्रहण

दिव्य पर्वोंमें ग्रहणको लेकर पाश्चात्य जगत्में एक विवाद उत्पन्न कर दिया है। पृथ्वी चलती है और सूर्य स्थिर है, यह पाश्चात्य सिद्धान्त है। यद्यपि पृथ्वीकी गति और आकृतिके सम्बन्धमें पाश्चात्य ज्योतिर्विदोंमें मतभेद नहीं है और आपेक्षवादेन उसमें एक क्रान्ति उपस्थित कर दी है; परंतु जनसाधारण अभी इसी पुरानी भ्रमपूर्ण धारणामें विश्वास करते हैं। इस धारणाके अनुसार ग्रहण पृथ्वी तथा चन्द्रमाके छायाके कारण होते हैं। इस मतमें भी सूर्यग्रहणमें सूर्यका तथा चन्द्रग्रहणमें चन्द्रमाका पूरा प्रभाव संसारपर नहीं पड़ता और चन्द्रग्रहणके समय ज्वार-भाटोंका क्रम वैसा ही नहीं रहता, जैसा दूसरी पूर्णिमाको रहता है। इसी प्रकार सूर्यग्रहणका प्रभाव रेडियोपर पड़ता है। प्राचीन समयसे शास्त्र कहते हैं कि विद्युत्केन्द्र सूर्य है। 'विद्युत्सूर्ये समाहिता' तैत्तिरीय आरण्यकका यह विज्ञान रेडियोद्वारा अब जाना जा सका है। इस प्रकार ग्रहणका प्रभाव पृथ्वीपर पड़ता है, यह पाश्चात्य

धारणासे भी समर्थित है, अतः ग्रहणके आचारके सम्बन्धमें मतभेदका कोई कारण नहीं है।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र पृथ्वीको स्थिर मानते हैं। ग्रहणका कारण चन्द्रमाकी छायाके साथ चलनेवाला एक ग्रह है, जिसे राहु कहा जाता है। यह ग्रह छायापुत्र कहा गया है। चन्द्रमाकी छायाके साथ रहने तथा अन्धकारपूर्ण होनेसे वर्तमान विज्ञान अपने यन्त्रोंसे इसे देखनेमें अभी सफल नहीं हुआ है।

सूर्यग्रहणके समय समस्त पदार्थोंके तथा शरीरमें स्थित उष्णता, विद्युत्में विकृति आती है। नेत्र तथा बुद्धिपर ग्रहणका प्रभाव पड़ता है। उस समय भोजनादिसे अनेक रोग हो सकते हैं। इसी प्रकार चन्द्रग्रहणके समय पदार्थोंके जलीय तत्त्व विकृत रहते हैं। उस समय आहार तथा असंयमसे कफ विकृत होकर रोगका कारण बन सकता है। मनपर चन्द्रग्रहणका प्रभाव पड़ता है; क्योंकि मनके देवता चन्द्रमा हैं। इसलिये ग्रहणके पूर्वसे, जबसे उसका प्रभाव पृथ्वीपर पड़ने लगता है, आहारादि अनेक कार्य वर्जित हैं। उस समय जो घड़ेमें भरा जल या भोजन रक्खा हो, वह भी फिर उपयोग करनेयोग्य नहीं होता। मन तथा बुद्धिपर पड़े प्रभावसे लाभ उठानेके लिये जप-ध्यानादिका विधान है। ग्रहणके समय किये गये जप, यज्ञ, दान प्रभृतिका सामान्यकालकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व वर्णित है।

देखा गया है कि गर्भिणी स्त्री यदि ग्रहणकी ओर देखती है तो गर्भस्थ शिशुके अङ्ग विकृत हो जाते हैं। यह प्रभाव सर्गाभा पशु-जातियोंपर भी पड़ता है। गोबरमें ग्रहणके दुष्प्रभावको निवारित करनेकी शक्ति है। इसलिये ग्रहणकालमें गृह, वस्तु तथा जिन प्राणियोंको गर्भ हो, उन्हें गोबरसे वेष्टित कर देते हैं। सूर्यग्रहणमें नेत्रोंपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और कुछ परीक्षणोंसे सिद्ध हुआ है कि उस समय भोजन करनेसे हुआ अप्रामाण्य रोग कठिनतासे जाता है और उस समय स्त्री-सहवाससे दोनोंकी नेत्र-ज्योति क्षीण हो जाती है। अनेक बार अन्धे होनेका भी भय हो जाता है। दिव्य पर्वोंमें ग्रहणको शास्त्रोंने भी बहुत महत्त्व दिया है। ग्रहणका प्रभाव तर्क एवं परीक्षणसे सिद्ध है। ग्रहणकालमें उच्छृङ्खल-आचारसे मानसिक अव्यवस्था, बुद्धि-विकार तो होता ही है, शारीरिक स्वास्थ्यकी भी बड़ी हानि होती है। अतः इस सम्बन्धमें स्त्रियोंको सावधान रहना चाहिये।

पुरुषोत्तम-मास

हर तीन वर्षके पश्चात् एक चान्द्रमास बढ़ जाता है। यह पूरा महीना ही पर्व होता है। पूरे महीने संयम एवं उपासनाका महत्त्व सामान्य समयसे अधिक है। जब चान्द्रमास-के लगातार दो पक्षोंमें सूर्यकी संक्रान्ति नहीं पड़ती, तब वह एक मास अधिक हो जाता है। चन्द्रमाकी एक पूरी परिक्रमा-में सूर्यका एक राशिसे दूसरी राशिका संक्रमण न हो तो पृथ्वीपर चन्द्रतत्त्वका बल बढ़ेगा। जल, मन, कफमें वृद्धि-जन्य विकृति होगी। इसीसे यह महीना संयमका तथा पुण्यकालका है।

पुरुषोत्तममासमें काशीकी पञ्चक्रोशी परिक्रमा होती है। भगवान् शङ्करके मस्तकपर विराजनेवाले चन्द्रदेवका प्रभाव विश्वनाथपुरीपर अधिक पड़ता है, यह तो सहज स्वाभाविक है। चन्द्रग्रहणका भी खानादि-महत्त्व काशीमें ही अधिक है।

देवपर्व

दिव्यपर्वोंके पश्चात् देवपर्वोंका स्थान है। हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिन-रात्रि होता है। दक्षिणायनके महीने देवताओंका रात्रिकाल है और उत्तरायण दिनका समय। इसलिये महत्त्वपूर्ण मङ्गल कार्य उत्तरायणमें होते हैं। इसी प्रकार एक महीनेके दोनों पक्षोंमेंसे शुक्लपक्ष देवताओंका कार्य-काल है और कृष्णपक्ष विश्रान्तिकाल। अधिकांश पर्व शुक्ल-पक्षमें पड़ते हैं।

कुछ तिथियाँ देवपर्व हैं और दिन तो अपने-अपने ग्रहों-के हैं ही। जिस दिन पृथ्वीपर जिस ग्रहका प्रभाव अधिक रहता है, वह दिन उस ग्रहके नामसे पुकारा जाता है। उस दिन उस ग्रहका व्रत, पूजन करनेसे उसकी शान्ति तथा अनुकूलता प्राप्त होती है। इसी प्रकारकी बात नक्षत्रोंके सम्बन्धमें भी है। गणेशचतुर्थी, एकादशी, प्रदोष आदि तिथियोंके देवताओंके विशेष पर्व हैं। हमारे जीवनमें किसी समय कोई विशेष घटना हुई हो तो उस समय हमें उस घटना और उस स्थलका स्वतः स्मरण होता है। इसी प्रकार जिस देवताके द्वारा किसी समय कोई महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है, उस समय उसका ध्यान उस ओर जाता है। उस समय उसकी

आराधनासे उसका संतोष शीघ्र प्राप्त होता है। अतिरिक्त किस कालमें कौन-सी देवशक्ति भूलोकके सम्पर्कमें रहती है, यह ज्ञान देवशक्तियोंके विशद ज्ञानके बिना शक्य नहीं। भगवान् विष्णुका पर्व एकादशी है, भगवान् शङ्करका प्रदोष। इस प्रकार देवताओंके विभिन्न पर्व हैं। भगवान् शङ्कर या भगवान् विष्णुकी महामहिमाके अनुकूल ही उनके पर्व दूसरे पर्वोंसे महत्त्वपूर्ण हैं। इन पर्वोंसे आचार, विधान, संयम, पूजादि उस देवशक्तिके अनुकूल होती है, जिसका वह पर्व है।

दिव्य पर्वोंकी भाँति देवपर्व भी सन्धिकालकी ओरसे ही मनाये जाते हैं। जिस दिन पूरे दिन-रात्रि एकादशी रहती हो, उस दिन एकादशीका व्रत नहीं होता। व्रत तभी होगा जब एकादशीमें दूसरी तिथिकी भी सन्धि हो। इसी प्रकार गणेश चतुर्थीका पूजन चन्द्रोदयके सन्धिकालमें विहित है। दूसरे भी पर्वोंकी यही दशा है।

पितृपर्व

आश्विन मासका कृष्ण पक्ष पूरा पितृपर्व है। यह मास पितरोंके दिनसे उनका मध्याह्नके समयका भोजनकाल है। इस समय उन्हें पिण्डका स्मरण होता है। इसके अतिरिक्त जिस दिन उनका शरीर छूटा हो, उस दिन भी उनके धराका स्मरण होता है। ऐसे समय पितृश्राद्धके हैं। इनके अतिरिक्त संक्रान्तिके अवसरपर तथा विशेष तीर्थोंमें जानेपर पितृश्राद्धका विधान है। संक्रान्ति-जैसे पर्वोंपर पितृलोकका धरासे सम्पर्क अबाध हो जाता है। राशि द्वारोंसे सब हटकर दूसरे द्वारपर उस समय जाते होते हैं। इस कालमें पितृलोकका सूर्य एवं धरासे सम्पर्क रहता है। ऐसे ही विशेष-विशेष तीर्थोंका पितृलोकसे दूसरे स्थानोंकी अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है। जैसे हमारे शरीरमें कुछ स्थानोंको मर्मस्थान कहा जाता है और वे मस्तिष्कके सीधे सम्पर्कमें होनेसे उन स्थानोंपर लगा आघात बहुत कष्टकर प्रतीत होता है, इसी प्रकार उन तीर्थों तथा समयोंमें दिये गये पिण्डसे पितरोंकी तृप्ति सहज होती है; क्योंकि प्रभाव-ग्रहणके लिये वे सम्पर्कमें होते हैं।

छिन छिन हरिसुमिरन करौ, छिनहू भूलौ नाहिं
सुमिरन सम कछु लाभ नाहिं, हानि भूल-सम नाहिं ॥

तीसरी राह

(लेखक—श्रीरावी)

किसी तपोवनमें एक आत्मज्ञानी महात्मा रहते थे। एक बार किसी गाँवके तीन जाटोंके मनमें उनके शिष्य बनाकर आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा हुई। तीनों उस तपोवनकी ओर चल दिये।

उन संत महात्माको किस प्रकार अपना गुरु बनाकर उनसे आत्मज्ञान प्राप्त किया जाय, इसी विषयपर वे तीनों राहमें बातें करने लगे। पहले जाटने कहा—

‘आत्मज्ञानका मार्ग दुनियादारीके मार्गसे अलग है। मैं तो जाकर महात्माजीके पैरोंपर गिर जाऊँगा और उनके पैरोंकी धूल अपने माथेपर लगा दूँगा। अगर इतनेपर उन्होंने मुझे आत्मज्ञानका उपदेश कर दिया तब तो ठीक है ही, नहीं तो मैं उनके आश्रमके द्वारपर यों ही बिना खाये-पिये रोता-पुकारता पड़ा रहूँगा। कभी-न-कभी उन्हें मुझपर दया आयेगी ही और इस मेरी भक्तिको इतना पक्का देखकर मुझे आत्मज्ञानका उपदेश दे देंगे।’

दूसरे जाटने कहा—‘भाई! तुम्हारी बात कुछ-कुछ तो ठीक है, पर उसमें एक बात जरा धोखेकी है। संतोंके दरबारमें रोने-धोनेकी महिमा बहुत बड़ी है और संतलोग दयालु भी बहुत होते हैं। लेकिन भूखे-प्यासे रहनेकी बात ऐसी है कि जबतक सधी, सधी और जब न सधी तो न सधी। इसलिये मैं तो महात्माजीकी मिलकर सेवा करूँगा। उनके चरण दबाऊँगा, स्नान कराऊँगा, उनकी हरेक छोटी-बड़ी, ऊँच-नीच सेवा करूँगा और उनका हरेक काम करनेके लिये चौबीसों घंटे उनके द्वारपर मुस्तैद रहूँगा। संतोंको और क्या चाहिये! वे सेवासे ही प्रसन्न होते हैं। मेरी सेवासे प्रसन्न होकर वे किसी-न-किसी दिन मुझे आत्मज्ञानका उपदेश जरूर कर देंगे।’

इसपर तीसरे जाटने, जो उन सबमें तगड़ा था, अपना मोटा लट्ठ धरतीपर धमकते हुए कहा—

‘मेरा तो भाई! जनमका साथी यह लट्ठ है। मैंने दुनियामें जो कुछ कमाया है, इसीके बलपर, और महात्माजीसे जो कुछ पाऊँगा वह भी इसीके बलपर। संतलोगोंके सेवक भी बहुत होते हैं। तुम्हें महात्माजीने आज्ञा दे दी कि बस करो वेठा, बस, तुम आराम करो और दूसरे सेवकोंको सेवा करने दो तो तुम्हारा काम तो इस हुकुम-वरदारीमें ही चौपट हो जायगा; और महात्माजीने अगर तुम्हारे रोने-धोनेपर तरस खाकर किसी चेलेके हाथों एक पत्तल कड़ाह-परसाद तुम्हारे पास भेजकर तुम्हें हुकुम भेजा कि ‘वेठा! रो मत, हाथ-मुँह धोकर यह हलवेका प्रसाद पा ले’ तो तुम भी उनका हुकुम मानोगे ही और तुम्हारा भी असली मामला यों ही टरकता रहेगा। इन सबसे तो भाई! मेरा यह लट्ठवाला नुस्खा ही सबसे पक्का है।’

‘लट्ठ!’ पहले जाटने कहा—‘अरे मूर्खे! लट्ठके बलपर कहीं आत्मज्ञान प्राप्त किया जाता है! संतोंका तेज तू नहीं जानता। एक कोपभरी दृष्टि तेरी तरफ उठा देंगे तो लट्ठसमेत वहींपर भस्म हो जायगा।’

तीनों जाटोंमें इस प्रकार कुछ आलोचना-प्रत्यालोचना और फिर दू-दू, मैं-मैंकी भी नौबत आ गयी। लेकिन तीसरे जाटके लट्ठके संकेतसे यह मतभेद बहुत जल्द समाप्त हो गया; और तय हुआ कि तीनोंका मार्ग अपने-अपने लिये ठीक है और उसीपर तीनोंको अमल करना चाहिये।

आत्मज्ञानके ये तीनों जिज्ञासु जब महात्माजीके आश्रममें पहुँचे, तब पहला जाट उनके सामने पृथ्वीपर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगा; दूसरा सीधे उनके पैरोंपर हाथ लपकाकर उन्हें दबाने लगा; और तीसरेने उनके सामने अपने लट्ठका सिरा धरतीपर पटकते हुए कहा—

‘महात्माजी ! मुझे आत्मज्ञान चाहिये । आपके पास यह ज्ञान है और मैंने सुना है कि ज्ञान देनेसे घटता नहीं है, इसलिये मुझे आत्मज्ञान देनेमें आपका कोई बाधा नहीं है । इसपर भी अगर आपको मेरी विनती माननेमें कोई आनाकानी हो तो महाराज ! मैं तो एक सीधा-सादा जाट हूँ; समझ लीजिये कि आप हैं और मेरा यह लट्ट है !’

महात्माजीने इन तीनों जिज्ञासुओंका यथावत् समाधान करते हुए पहलेको अपने हाथोंसे उठाकर उसके माथेपर हाथ फेरा, दूसरेकी पीठ थपथपायी और तीसरेके साहस और पौरुषकी प्रशंसा की । उन्होंने वचन दिया कि यथाधिकार तीनोंको आत्म-ज्ञान देनेका प्रयत्न करेंगे ।

अगले दिन तीनोंको बुलाकर महात्माजीने पहले जाटको भजन-पूजनसम्बन्धी कुछ प्रार्थनाओं और स्तोत्रोंको कण्ठस्थ कर लेनेका आदेश देते हुए उसे उसके इच्छानुसार जी खोलकर भक्ति-पूजा करनेका उपदेश दिया; दूसरे जाटको अपने आश्रमके नये पौधोंको जल देनेकी सेवा सौंप दी और तीसरेसे कहा—

‘रातको तुम अपना लट्ट लेकर मेरी कुटियाके द्वारपर ही रहा करोगे । आधीरातके बाद कुछ भूत-प्रेत यहाँ मेरी समाधिमें विघ्न करनेके लिये आते हैं, उन्हें दूर रखनेका काम तुम्हारा होगा । रातको इस पहरके लिये तुम्हें कुछ अधिक जागना पड़ेगा, इसलिये दिनके भोजनमें तुम्हें कुछ कमी करनी पड़ेगी ।’

‘कुटियाके द्वारपर तो महाराज ! मैं आपके बिना कहे भी लट्ट लेकर पहरा दूँगा; और आधीरात नहीं पूरी रात पहरा दूँगा, चाहे उस जागरणके लिये मुझे कुछ कम नहीं, आधा-चौथाया पेट भरकर ही रहना पड़े । भूतोंसे अधिक तो मुझे आपका पहरा

देना है; किसी रात चुपचाप कुटियासे निकलकर आते चले गये तो मेरे हाथसे सारा मामला ही निकल जायगा ।’

महात्माजी मुसकराये और तीनों साधक अपने-अपने कामपर लग गये । वर्षोंतक यह क्रम चलता रहा ।

एक दिन सुबह जागनेपर पहले और दूसरे जाटोंके देखा कि महात्माजीके आसनपर यह तीसरा जाट विराजमान है और महात्माजीका पता नहीं है । इस तीसरे जाटके मुखके चारों ओर एक अभूतपूर्व तेजका किरणें-सी फैल रही हैं । उसने इन दोनों जाटोंको सम्बोधित करते हुए कहा—

‘मेरे प्यारे बच्चो ! आत्मज्ञानकी सिद्धि पुरुषार्थसे ही होती है, किसीसे भीख माँगने या अविचारपूर्ण मनमानी सेवा करनेसे नहीं । कोई किसीको कोई वस्तु दे नहीं सकता, प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थसे ही सब कुछ प्राप्त सकता है । महात्माजीने मेरे विवेकहीन पुरुषार्थके बाहरी टुटपुँजिये धनियोंकी ओरसे मोड़कर, मेरे विवेकपूर्ण पुरुषार्थको मेरे भीतरके ही महाधनिकोंको छूनेकी ओर प्रवृत्त किया । मैंने अपने भीतरके शत्रुओंको पराजित किया और भीतरके ही खजानेको छुटा । मुझे आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी । इस आश्रममें रहकर अधिकारी जिज्ञासुओंका पथप्रदर्शन करनेका काम मुझे सौंपकर महात्माजी दूसरे, इससे भी बड़े कामके लिये अपने अगले कार्य-क्षेत्रको चले गये हैं ।’

इस कथाके समर्थनमें मेरे कथा-गुरुने ईसाई संतोंकी उस उक्तिकी ओर संकेत किया है, जिसमें उन्होंने कहा है कि ‘स्वर्गका राज्य बलप्रयोगसे ही प्राप्त किया जाता है ।’
‘The kingdom of heaven is taken by force’ say the Christian Mystics.

आध्यात्मिक उन्नतिके लिये सात्विक आहार

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)

‘जसा भोजन वैसे विचार’—इस तथ्यमें गहरी सत्यता है। हम जैसा कुछ खाते हैं, वैसा ही मन बनता है, खाये हुएसे ही रुधिरकी उत्पत्ति होती है। इसमें वे ही गुण आते हैं, जो गुण हमारे भोजनके थे। भोजन हमारे मन, बुद्धि, अन्तःकरणके निर्माणमें सहायक है। भारतीय संस्कृतिमें अध्यात्म-मार्गका अवलम्बन करनेवाले योगी-महात्मा, ऋषि-मुनि इत्यादि सात्विक प्रवृत्तिके व्यक्तियोंके लिये सात्विक भोजनकी ही योजना है।

मनुष्यकी सर्वाङ्गीण उन्नति तब होती है, जब वह प्राकृतिक रूपसे मिलनेवाले भोजनसे अपने आपको पुष्ट करता रहे। मृदुता, सरलता, सहानुभूति, शान्ति अथवा उग्रता, क्रोध, कपट, घृणा इत्यादि सब स्वभावके गुण-दोष भोजनपर ही निर्भर करते हैं। जो व्यक्ति उत्तेजक भोजन करते हैं, वे किस प्रकार संयमसे रह सकते हैं? वे शुद्ध बुद्धिका विकास कैसे कर सकते हैं? और वे कैसे दीर्घायु हो सकते हैं? राजसी आहार करनेवाले व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि उत्तेजक भोजन करनेपर भजन-पूजन, स्वाध्याय या संयम सम्भव नहीं है।

हमारे द्वारा प्रयुक्त भोजनका तथा हमारे विचारोंका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। भोजन हमारे संस्कार बनाता है, जिनके द्वारा हमारे विचार बनते हैं। यदि भोजन सात्विक है तो मनमें उत्पन्न होनेवाले विचार सात्विक और पवित्र होंगे; इसके विपरीत उत्तेजक या राजसी भोजन करनेवालोंके विचार अशुद्ध और विलासी होंगे। जिन जातियोंमें मांस, अंडे, लहसुन, प्याज, मद्य, चाय, तम्बाकू इत्यादिका प्रयोग किया जाता है, वे प्रायः विलासी, विकारमय और गंदे विचारोंसे परिपूर्ण होते हैं। उनकी कामेन्द्रियाँ उत्तेजक रहती हैं, मन कुकल्पनाओंसे परिपूर्ण रहता है, क्षणिक प्रलोभनमें अन्तर्द्वन्द्वसे परिपूर्ण

हो जाता है। भोजन हमारे स्वभाव, रुचि तथा विचारोंका निर्माता है।

पशु-जगतको लीजिये। बैल, भैंस, घोड़े, गधे, हाथी, बकरी इत्यादि शारीरिक श्रम करनेवाले पशुओंका मुख्य भोजन घास-पात, हरी तरकारियाँ या अनाज रहता है। फलतः वे सहनशील, शान्त, मृदु होते हैं। इसके विपरीत सिंह, चीते, भेड़िये, बिल्ली इत्यादि मांसभक्षी चञ्चल, उग्र, क्रोधी, उत्तेजक स्वभावके बन जाते हैं। घास-पात तथा मांसके भोजनका यह प्रभाव है। इसी प्रकार उत्तेजक भोजन करनेवाले व्यक्ति कामी, क्रोधी, झगड़ाधुर, अशिष्ट होते हैं। विलासी भोजन करनेवाले आलस्यमें डूबे रहते हैं; दिन-रातमें दस-बारह घंटे वे सोकर ही नष्ट कर देते हैं। सात्विक भोजन करनेवाले हलके, चुस्त, कार्योंके प्रति रुचि प्रदर्शित करनेवाले, कम सोनेवाले और मधुर-स्वभावके होते हैं। उन्हें कामवासना अधिक नहीं सताती। उनके आन्तरिक अवयवोंमें विष-विकार एकत्रित नहीं होते। जहाँ अधिक भोजन करनेवाले अजीर्ण, सिरदर्द, कब्ज, सुस्तीसे परेशान रहते हैं, वहाँ कम भोजन करनेवालोंके आन्तरिक अवयव शरीरमें एकत्रित होनेवाले कूड़े-कचरेको बाहर फेंकते रहते हैं, विष-सञ्चय नहीं हो पाता।

भोजनकी उपयोगिता स्पष्ट करते हुए एक वैद्य-विशारद लिखते हैं—‘भोजनसे शरीरका छीजन, जो हर समय होता रहता है, दूर होता है। यदि यह छीजन दूर न होगा तो कोष दुर्बल हो जायँगे और चूँकि शरीर कोषोंका एक समूह है, कोषके दुर्बल होनेसे सम्पूर्ण शरीर दुर्बल हो जायगा। कोषोंको वे ही पदार्थ मिलने चाहिये, जिनकी उन्हें आवश्यकता हो, जैसे गरमी तथा स्फूर्ति देनेवाले, उनको पुष्ट करने और अच्छी

हालतमें रखनेवाले पदार्थ। कोषोंके अंशोंके टूटने-फूटनेसे शरीरमें बहुत-से विषैले अम्ल-पदार्थ एकत्रित हो जाते हैं। इनको दूर करनेके लिये क्षार बनानेवाले पदार्थ (पके-मीठे फल, खट्टे फल, नीबू, आम, चकोतरे, अनन्नास, रसभरी, कच्ची या प्राकृतिक ढंगसे पकाई गयी साग-सब्जी, दूध, घी, मीठा दही, छाछ) खाने चाहिये।

भोजनका आध्यात्मिक उद्देश्य

भोजन करनेका एक आध्यात्मिक उद्देश्य है। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने गीताजीमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न करनेवाले भोजनोंकी ओर संकेत किया है। जिस व्यक्तिका जैसा भोजन होगा, उसका आचरण भी तदनुकूल होता जायगा। भोजनसे हमारी इन्द्रियाँ और मन संयुक्त हैं—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः, स्मृतिलभ्मे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। (छान्दोग्य)

अर्थात् 'आहारकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि होती है। सत्त्वकी शुद्धिसे बुद्धि निर्मल और निश्चयी बन जाती है, फिर पवित्र और निश्चयी बुद्धिसे मुक्ति भी सुलभतासे प्राप्त होती है।'

जिन्हें काम, क्रोध, उत्तेजना, चञ्चलता, निराशा, उद्वेग, ध्वराहट, शक्तिहीनता या अन्य कोई मनोविकार है, उन्हें उसकी चिकित्सा भोजनद्वारा ही करनी चाहिये। सात्त्विक भोजनसे चित्त निर्मल हो जाता है, बुद्धिमें स्फूर्ति रहती है। अन्यान्य जगत्में उपवासका अत्यधिक महत्त्व है। अधिक खाये हुए अन्न पदार्थको पचाने और उदरको विश्राम देनेके लिये हमारे ऋषियोंने उपवासकी योजना की है। भोजनमें चित्त-वृत्तियाँ लगी रहनेसे किसी उच्च विषयपर ध्यान एकाग्र नहीं होता। उपवाससे काम, क्रोध, रोगादि फीके पड़ जाते हैं और मन हठात् दुष्कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता। सात्त्विक अल्पाहार करनेवाले व्यक्ति अध्यात्म-मार्गमें दृढ़तासे

अग्रसर होते हैं। जो अन्न बुद्धिवर्धक हो, वीर्यवर्धक हो, उत्तेजक न हो, कब्ज न करे, रक्त दूषित न करे, सुपाच्य हो—वह सत्त्वगुणयुक्त आहार है। अध्यात्म-जगत्में उन्नति करनेके इच्छुकोंको, पवित्र विचार और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले तथा ईश्वरीय तेज उत्पन्न करनेवाले अभ्यासियोंको सात्त्विक आहार करना चाहिये।

सात्त्विक आहार क्या है ?

सात्त्विक आहार

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(गीता १७।८)

जो ताजा, रसयुक्त, हलका, स्नेहयुक्त, पौष्टिक, हृद्य और मधुर हो और जिससे आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ती हो, उसे सात्त्विक आहार कहते हैं। जैसे गेहूँ, चावल, जौ, साठी, मूँग, अरहर, चना, दूध, घी, ऊँख, फल, सेंधा नमक, रताळ, सकरकन्द, तकारियाँ, शाक इत्यादि। शाकोंमें घीया, तुरई, खीरा, पालक, पेथी आदिका विशेष महत्त्व है। ये हलके, सुपाच्य तथा शुभ प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करनेवाले पदार्थ हैं। फलोंमें आम, तरबूज, खरबूज, आलुबुखारा, नारंगी इत्यादि उत्तम हैं। दही भूलोकका अमृत है। सात्त्विक पुरुष दही, छाछ, मक्खन इत्यादिका खूब प्रयोग कर सकते हैं।

खामी शिवानन्दजीके अनुसार 'हरे तजे शाक, दूध, घी, बादाम, मक्खन, मिश्री, मीठे संतरे, सेव, अंगूर, केले, अनार, चावल, गेहूँकी रोटी, मखाना, सिंघाड़े और कालीमिर्चका सेवन किया जा सकता है। सात्त्विक आहारसे चित्तकी एकाग्रता प्राप्त होती है।' 'दहीकी लस्सी, मिश्रीका शरबत, नारंगी, नीबूके रसका प्रयोग सात्त्विक है। नीबूको खटाईमें गिनना भूल है। साक इसका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकते हैं। इससे पित्तका शमन होता है तथा रक्त शुद्ध होता है। और फलोंका परित्याग कर दूध

सेवन करना चाहिये । इससे इच्छाशक्ति बलवती होती है तथा जिह्वापर नियन्त्रण प्राप्त होता है ।

प्रसिद्ध आत्मवादी डा० दुर्गाशंकर नागरकी सम्मति इस प्रकार है—‘आध्यात्मिक पुरुषको अवस्था, प्रकृति, ऋतु तथा रहन-सहनके अनुसार विचारकर शीघ्र पचनेवाला सात्त्विक भोजन करना चाहिये । फलहार सब आहारोंमें श्रेष्ठ है । संतरे, सेव, केले, अंगूर, चूसनेके आम आदि फल उत्तम होते हैं । फलहारसे उतरकर अन्नाहार है । रोटी, मूँग, अरहरकी दाल, चावल, शाक, भाजी, दूध, मक्खन, घी आदिका समावेश अन्नाहारमें होता है । आटा हाथका पिसा हुआ चोकरसहित उपयोगमें लेना चाहिये ।’

गेहूँ और जौ सत्त्वगुणी अनाज हैं; चनेका अधिक उपयोग वायुकारक होता है । कच्चे चनेको छिलके सहित भिगोकर नसों फूटनेपर खाना बलकारी है । यही बात मूँगके सम्बन्धमें भी है । दालोंमें मूँग, मोठ, अरहर श्रेष्ठ हैं । सिंघाड़े, सकरकन्द सत्त्वगुणी हैं । चावल हितकर अनाज है । जो इसे पचा सकें, अवश्य लें । फलोंके रस, बादाम, खीरेके बीज, सौंफ, इलायची, गुलाबके फूलोंकी ठंडाई मिश्री मिलाकर पीना उत्तम है । गुड़ सर्वोत्कृष्ट मीठा है । गोदुग्ध सात्त्विक है ।

मनको विकृत करनेवाला राजसी आहार क्या है ?

राजसी आहार

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

(गीता १७ । ९)

‘कड़वा, खट्टा, नमकीन, बहुत गरम, तीखा, रूखा, जलन पैदा करनेवाला, ऐसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले आहार राजस लोगोंको प्रिय होते हैं ।’ राजसी आहारका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे मन तथा इन्द्रियोंपर पड़ता है । मनमें क्लृप्पनाएँ, वासनाकी

उत्तेजना और इन्द्रियलोलुपता उत्पन्न होती है । मनुष्य कामी, क्रोधी, लालची और पापी बन जाता है; उसके रोग, शोक, दुःख, दैन्य अभिवृद्धिको प्राप्त होते हैं । मनुष्यकी आयु, तेज, सामर्थ्य और सौभाग्यका तिरोभाव होता है । बुद्धि मलिन होती है ।

राजसी आहारकी सूची देखिये

करेल, नीम, इमली, बहुत नमकीन, सोडा आदि क्षार, गरमागरम चीजें, राई, गरम मसाला, भाड़के भूजे पदार्थ, लालमिर्च, तेलके तले हुए गरिष्ठ पदार्थ, बाजारमें बिकनेवाली मिठाइयाँ, खड़ी, पूड़ी-कचौड़ियाँ, मालपुआ, तली हुई दालें, अधिक मिर्च-मसालेवाले पदार्थ, उत्तेजक तरकारियाँ; केवल जिह्वाके स्वादमात्र-के लिये तैयार की गयी बाजारू चाटें, पकौड़ी, समोसे, दही-वड़े, खस्ता कचौरियाँ, मसालेदार काबुली चने, चाय—ये सभी चीजें दुःख, चिन्ता और रोग पैदा करती हैं । इनके अतिरिक्त खानेका पान, चूना, तम्बाकू, आदि भी राजसिक हैं ।

हिंदूशास्त्रमें प्याज तथा लहसुन वर्जित हैं । इसका प्रमुख कारण यह है कि ये उत्तेजना उत्पन्न करनेवाली तरकारियाँ हैं । ये तमोगुणी हैं । राजसी, तामसी, विलासी व्यक्ति इनका प्रयोग करते हैं । इनसे इन्द्रियाँ कामुक हो उठती हैं । इन्हें खानेवाले लोग विलासी, क्रोधी, विक्षुब्ध और उत्तेजनाओंमें फँसे रहते हैं । उनके मुँहसे दुर्गन्ध आती है ।

दालोंमें उर्द-मसूर पौष्टिक होते हुए भी अपने गुणोंमें तामसिक हैं । यही कारण है कि हिंदू मसूरकी दालसे परहेज करते हैं । वह ठाकुरजीके भोगमें निषिद्ध है । चटनियाँ, अचार, तेल, खट्टाई, सोंठ भी राजसिक हैं । रोटीमें नमक डालकर पकानेसे वह भी मनकी राजसिक वृत्तिको प्रोत्साहित करती है । कुछ लोग बर्फके बिना पानी नहीं पी सकते; सोडा—लैमन बार-बार पीते हैं ।

आध्यात्मिक दृष्टिसे यह बुरा है। राजसी आहारसे मन चञ्चल, क्रोधी, लालची होता और विषय-वासनामें लगता है।

तामसी आहार क्या है ?

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

(गीता १७।१०)

मनुष्यका भोजन अनाज तथा तरकारियाँ हैं। एक-से-एक सुखादु और गुणकारी फल परमात्माकी सृष्टिमें हैं; मेवोंका ढेर मनुष्यको सुखी करनेके लिये उत्पन्न किया गया है, दूध और शहद-जैसे अमृत-तुल्य पेय पदार्थ मानवके लिये सुरक्षित हैं। किंतु शोक ! महाशोक ! मनुष्य फिर भी तामसी आहार लेता है।

तामसी आहारोंमें मांस आता है। मांस-मछलीका प्रयोग केवल खादमात्रके लिये बढ़ रहा है। अंडोंका प्रयोग किया जा रहा है। भाँति-भाँतिकी शक्तिवर्द्धक जान्तव दवाइयाँ, मछलियोंके तेल, गुठिकाएँ, व्यसन इत्यादि तामसीवृत्ति उत्पन्न करते हैं। तामसी आहारमें अधपका, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूँठा और विषम (अर्थात् वेमेल भोजन) भी सम्मिलित है। बिस्कुट, डबलरोटी, चाकलेट, आमलेट, मांससे तैयार होनेवाले नाना पदार्थ, कॉड-लिवर-आयल, विलायती दवाइयाँ, काफी, कोको, शराब, कोकिन, गोंजा, चरस, अफीम, चंडू, सिगरेट, बीड़ी इत्यादि सब तामसीवृत्ति उत्पन्न करते हैं।

तामसी आहारसे मनुष्य प्रत्यक्ष राक्षस बन जाता है। ऐसा पुरुष सदा दुखी, बुद्धिहीन, क्रोधी, लालची,

आलसी, दरिद्री, अधर्मी, पापी और अल्पायु बन जाता है।

जितना ही अधिक अन्न पकाया जाता है, उतना ही उसके शक्ति-तत्त्व विलीन हो जाते हैं। खाद चाहे बढ़ जाय किंतु उसके विटामिन पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। कई-कई रीतियोंसे उबालने, भूनने या तेलमें पूड़ी-कचौड़ीकी तरह तलनेसे आहार निर्जीव होकर राजसी-तामसी बन जाता है। विलायती दूध, सूखा दूध, रासायनिक दवाइयाँ, बाजारू मिठाइयाँ निर्जीव होकर अपना शक्ति-तत्त्व नष्ट कर देती हैं।

भोजनमें सुधार करना शारीरिक कायाकल्प करनेका प्रथम मार्ग है। जो व्यक्ति जितनी शीघ्रतासे गलत भोजनोंसे बचकर सही मार्गपर आरुढ़ हो जायेंगे, उनके शरीर दीर्घकालतक सुदृढ़, पुष्ट और स्मृतिमान् बने रहेंगे। क्षणिक जिह्वासुखको न देखकर, भोजनसे शरीर, मन और आत्माका जो संयोग है, उसे सामने रखना चाहिये। जबतक अन्न शुद्ध नहीं होगा, अन्य धार्मिक, नैतिक या सामाजिक कृत्य सफल नहीं होंगे। अन्नशुद्धिमें सबसे बढ़कर आवश्यक है—शुद्ध कमाईके पैसेका अन्न। जिसमें झूठ, कपट, छल, धूर्त, अन्याय, वस्तुओंमें मिलावट आदि न हो—इस प्रकारकी आजीविकासे उपार्जित धनसे जो अन्न प्राप्त होता है वही शुद्ध अन्न है। अतएव व्यापार, नौकरी या अन्य पेशेमेंसे यह पाप निकलना चाहिये। नहीं तो, शुद्ध आहार स्वप्नकी-सी बात हो जायगी।

इसके बाद जातिसे सात्त्विक, निर्माणमें सात्त्विक भावमें सात्त्विक और स्थानकी दृष्टिसे भी जो सात्त्विक होता है, वही शुद्ध सात्त्विक आहार है और उसीसे पवित्र मन बनता है तथा आध्यात्मिक उन्नति होती है।

‘शास्त्र-वाणी’

भक्तस्य पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा ।

न हि पूतस्त्रिभुवने श्रीकृष्णसेवकात् परः ॥

वसुन्धरा भक्तकी पदधूलिसे तुरंत पवित्र होती है, इस जगत्में श्रीकृष्णसेवकसे बढ़कर कुछ भी पवित्र नहीं है।

संजीवन बूटी

(लेखक—महात्मा जयगौरीशंकर सीतारामजी)

१—दुष्ट और बुरे मनुष्योंका स्मरण और उनकी जन्मान्तरसे अन्तरके कोठारमें भरे पड़े रहते हैं, सब चर्चा करनेसे मन मलिन हो जाता है, पाप-वासनाएँ दग्ध हो जाते हैं।

२—जहाँ अन्धकार-ही-अन्धकार है, वहाँ प्रकाश कैसे मिल सकता है। जिस मनुष्यमें स्वयं ज्ञान-भक्ति नहीं है, वह तुमको ज्ञान-भक्ति कहाँसे और कैसे दे सकता है। सच्चे संत-महात्माका सत्सङ्ग करो, तभी तुम्हारा अन्धकार दूर होगा।

३—जगत्की सारी वस्तुएँ प्रकृतिसे बनी हैं, बराबर बदलती रहती हैं, उत्पत्ति और विनाशके प्रवाहमें बहती रहती हैं। एक अवस्थामें सदैव रहनेवाली नहीं हैं, फिर उनपर एकाग्रता कैसे सम्भव है ? प्रकृतिके इस रहस्यको समझनेकी कोशिश कीजिये।

४—राम-नाम जपनेसे हृदयमें सद्गुण आते हैं, दिव्य भावना उत्पन्न होती है, विचार और स्वभाव निर्मल होते हैं, ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं, शान्ति, प्रसन्नता और प्रेम-की लहरें उठने लगती हैं। पाप-संस्कारोंके बीज, जो

५—भक्तोंके हृदयमें अहर्निश राम-नाम रहता है, उनके जीवनका सहारा केवल राम-नाम ही है।

६—भक्तोंके हृदयमें सदैव ईश्वरका वास रहता है, उनके लिये कोई चीज दुर्लभ नहीं है। सांसारिक मनुष्य उनको नहीं समझ पाते, इसीलिये उनका अपमान करते हैं और दूर भागते हैं।

७—भक्तकी रक्षा भगवान् माताके समान करते हैं। संसारमें कोई भी भक्तका अपमान करके कुशलसे नहीं रह सकता।

जो अपमान भक्त कर करे। राम रोष पावक मँह जरई ॥

८—भक्तका सङ्ग करनेसे कई जन्मोंका पाप दूर होता है। भक्तोंका दर्शन अमोघ है, भक्तोंका उपदेश अनमोल और अनुपम है। अवश्य ही यह सब बातें असली भक्तके लिये हैं, बनावटीके लिये नहीं।

भगवान्का नाम-जप-कीर्तन सर्वपापनाशक है

कीर्तनाद् देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः। दुरितानि विलीयन्ते तमांसीब दिनोदये ॥

गाथां गायन्ति ये नित्यं वैष्णवीं श्रद्धयान्विताः। स्वाध्यायनिरता नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

वासुदेवजपासक्तानपि पापकृतो जनान्। नोपसर्पन्ति तान् विप्र यमदूताः सुदारुणाः ॥

(पद्मपुराण, पाताल० ९२। १३—१५)

‘अमिततेजस्वी देवाधिदेव भगवान् विष्णुके कीर्तनसे सब पाप वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे दिन उगनेपर अँधेरा। जो मनुष्य नित्य श्रद्धापूर्वक श्रीविष्णुभगवान्की गुण-गाथा गाते तथा नित्य स्वाध्यायमें लगे रहते हैं, वे दिव्यलोकमें जाते हैं। विप्रवर ! भगवान् वासुदेवके नाममें जिनकी आसक्ति हो जाती है, वे मनुष्य पहले पाप करनेवाले भी रहे हों, तो भी भयानक यमदूत उनके पास नहीं फटकने पाते।’

तुलसीका मायावाद

(लेखिका—श्रीमती शान्ति गौड़, बी० ए०)

नारीके रूप-लावण्यकी क्षणिक वासनामें आसक्त तुलसीने एक दिन अपनी पत्नीके श्रीमुखसे सुना—

‘अस्थि-चरममय देह यह, तामे जैसी प्रीति ।

तैसी जो श्रीराम महँ, होत न तव भवमीति ॥’

यह बाण था, जिसकी तीक्ष्ण नोंक थी ज्ञानसे ओतप्रोत । लक्ष्य भेदकर निकल गया । फलतः तुलसी सांसारिक माया-मोहका रहस्य-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सन्नद्ध हो गये । स्त्रीकी सीख थी असीम प्रभावशालिनी, फिर मर्म भिदकर भी तो रह गया था । तुलसीका जिज्ञासु कवि सुचिर सत्सङ्ग एवं सुमहान् अध्ययनके सहारे अध्यात्म-तत्त्वके उस स्तरतक पहुँच गया, जहाँके आगे सभी प्राप्य क्षीण पड़ जाते हैं । तुलसीकी सर्वगर्भा लेखनीने साहित्य-जगत्में वे-वे रत्न प्रसूत किये जो अमूल्य हैं, अलौकिक हैं और हैं आदि-सत्यसे पूर्ण । सबसे प्रमुख गुण है—आध्यात्मिकता, जिसकी आभा उनकी सहज ज्योतिको और अधिक उद्दीप्त करती है ।

रोगी अपने उस रोगका निदान भली प्रकार कर पाता है, जिसकी पीड़ा एवं यातनाने उसे रुग्ण-शय्यापर पड़े रहनेको विवश किया हो । मायाके द्वारा प्रेरित मोहयुक्त भ्रमके रोगने तुलसीको भी अपना लक्ष्य बनाया था । कर्मप्रवीण कविने उस रोगका उन्मूलन करनेका जैसे दृढ़ निश्चय कर लिया था । अस्तु, तुलसीके मानसमें ही हमें यत्र-तत्र सर्वत्र माया, जीव एवं तुलसीके इष्ट रामकी सत्ताका निरूपण दिखायी पड़ता है ।

तुलसीके मायावादकी विशद विवेचना हमें मानसके उत्तरकाण्डमें प्राप्त होती है । संघर्षोंका नाम ही संसार है । संसारमें जन्मप्राप्त प्राणी सुख-दुःख आदि अनेक द्वन्द्वोंके संघर्षमें पड़कर इतना निमग्न हो जाता है एवं उसपर मोहका आवरण इतना अधिक छा जाता है कि वह स्वयंको भूल जाता है । ईश्वरकी, ब्रह्मकी, जगन्नियन्ताकी अमोघ सत्तामें संदेह होने लगता है । इसी मोह और ममताका नाम माया है । इसी मायासे विमूढ़ नर संसारमें अनेक अकाण्ड-ताण्डव किया करते हैं—

‘करहिं मोहवस नर अघ नाना । स्वारथ-रत परलोक नसाना ॥’

इस सर्वव्यापिनी मायाके आकर्षण-जालमें सभी प्राणी

आबद्ध हो जा रहे हैं । तुलसीकी इन पंक्तियोंमें मायाकी व्यापकता परिलक्षित होती है—

‘आकर चारि लाख चौगसी । जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ॥
फिरत सदा माया के प्रेर । काल कर्म स्वभाव गुन धेर ॥’

विश्वमें रहकर प्राणियोंके अंदर जो अहंभावका उदय होता है, वह मायाकी व्यापकताकी ओर संकेत करता है । मायामें पड़कर ही मानव अहंके मदमें विस्मृत हो जाता है । जितने दृश्य पदार्थ हैं सब मायासे युक्त हैं; अर्थात् माया उन सबपर अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है । अहं मायाका विषयगामी स्वरूप है । यह माया बड़ी प्रबल है । केवल संसृतिके अकिञ्चन जीव ही उसके भ्रमपाशमें नहो पड़ते, वह तो सुर, असुर, नाग, नर सभीको अपने अज्ञानावरणमें छिपाये हुए है । मायाकी इसी व्यापकताका आभास हमें—

‘सिव चतुरानन देखि डराहीं । अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥’

—से मिलता है । इस मायाकी महत्ता स्वयं शिवजीने स्वीकार की है—

‘प्रभु माया बलवंत भवानी । जाहि न मोह कवन अस ग्यानी ॥’

ज्ञानियोंको भी माया वशीभूत कर लेती है । ज्ञानके दुर्ज्ञेय पथका अनुसरण करता हुआ ज्ञानी बहुधा अहंभावसे आविर्भूत हो उठता है । उसे भी माया अपने इन्द्रजालमें आबद्ध कर लेती है ।

यह माया ब्रह्मकी माया है । इसके दो स्वरूप हैं—विद्यामाया एवं अविद्यामाया । विद्यामाया परमेश्वरकी सृष्टि-दायिनी शक्ति है । यह संसारका पोषण करती है । अविद्यामायामें आसक्त जीव किसी निश्चयसे अति दूर भ्रमोंके दाल्याचकमें चकित-सा पड़ा रहता है । यह ‘नट मरकटकी नाई’ जीवोंको बाँधकर मनोवाञ्छित नृत्य कराती रहती है । इस विषम मायाके वशमें सुर, असुर, नाग, नर सभी आ जाते हैं ।

यहाँपर यह जिज्ञासा होती है कि इस मायाका एवं ईश्वर—ब्रह्मका क्या सम्बन्ध है । माया ईश्वरकी शक्तिविशेष है । ईश्वर ही उसका एकमात्र आश्रय है । तुलसीकी वेदोंकी स्तुतिमें ‘बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे’ में यही भाव व्यक्त होता है । माया

‘जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई । बरिआई विमोह मन करई ॥’
‘सिव विरंचि कहूँ मोहइ को है बपुरा आन ।’

तथा—

वह जीवपर तो अज्ञानकी ऐसी घोर यवनि का डालती है, जिससे सहज मुक्ति सम्भव नहीं रह जाती । पर वही ईश्वरकी आकाशकारिणी है । वह ‘रघुवीरकी दासी’ है । प्रभुके भ्रूसंकेतपर उसके कार्य-कलाप गतिशील होते हैं । वह इतनी शक्तिशालिनी है कि लवनिमेषमें ब्रह्माण्डोंकी रचना कर डालती है ।

स्व निमेष महुँ भुवन निकाया । रचइ जासु अनुसासन माया ॥

संसारके समस्त प्राणियोंको मोहावरणमें आच्छन्न करना एक अतीव दुष्कर साधना है—फिर माया क्या अकेले ही इसमें सिद्धि प्राप्त करती है अथवा उसके कोई सहायक भी है ? इसका समाधान भी तुलसीके मायावादसे हो जाता है । माया अकेली नहीं—उसका अपरिमित परिवार है—यौवन, ममता, मत्सर, शोक, चिन्ता, मनोरथ तथा—

सुत वित लोक ईषना तीनी । केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥
वह सब माया कर परिवारा । प्रबल अमिति को बरनै पारा ॥

उपर्युक्त कथित गुण जिन-जिन उपादानोंसे प्रकट होते हैं, उन्हींमें अविद्या-शक्तिका प्रवेश स्वीकार करना पड़ता है ।

क्य है माया, जिसका—

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड ।
सेनापति कामादि मट दंभ कपट पाण्ड ॥
इतना होनेपर भी—जगत्-मोहिनी होनेपर भी वह प्रभुके भ्रुकुटि-संकेतपर नाचती रहती है—

सो प्रभु भ्रू बिलास खगराजा । नाच नटी इव सहित समाजा ॥
राम मायापति हैं—अतएव इस मायासे यदि कोई मुक्त होनेकी आकाङ्क्षा रखता है तो केवल एक उपाय है—वह है मायापति भगवान्की भक्ति ।

हरि माया कृत दोष गुन विनु हरि भजन न जाहिं ।
भजिअ राम तजि काम सब अस विचारि मन माहिं ॥
मायाका प्रभाव प्रभुके भजनसे ही दूर होता है । क्योंकि माया प्रभुको प्रसन्न करनेवाली ‘नर्तकी’ है—उनके इशारेपर नाचनेवाली नटी है और भक्ति उनकी पटरानी है । भक्तिके सामने मायाका नाच बंद हो जाता है । भक्तिसे माया डरती है । अतएव जहाँ रामभक्ति निवास करती है, वहाँ माया संकुचित होकर अपनी प्रभुता हटा लेती है—

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ । नारि वर्ग जानइ सब कोऊ ॥
पुनि रघुवीरहि भगति पिआरी । माया खुलु नर्तकी विचारी ॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया । तते तेहि डरपति अति माया ॥
राम भगति निरुपम निरुपायी । बसइ जासु उर सदा अबायी ॥
तेहि विलोकि माया सकुचाई । करि न सकइ कछु निज प्रभुताई ॥

अविद्या-मायाका प्रभाव क्षीण होनेपर विद्यामायाकी शीतल छाया प्राप्त होती है; क्योंकि वह परमात्माकी आह्लादिनी शक्ति है । आध्यात्मिक क्षेत्रमें सीता; राधा अथवा योगमाया इसी विद्यामायाके स्वरूप माने गये हैं । ‘पदनिर्वाण’ अर्थात् मायासे मुक्तिकी प्राप्ति तभी हो सकती है, जब भगवान् अनुकूल हों । सत्-चित्-आनन्दस्वरूप भगवान् ब्रह्मका स्वरूप राम-नाम ही उस पदनिर्वाणके स्तरतक ले जानेमें समर्थ हो सकता है । अस्तु, मायाके जालकी ग्रन्थियोंसे दृढ़ाबद्ध प्राणीकी मुक्तिका उपाय भी तुलसीने खोज निकाला—

विनु सतसंग न हरि कथा तेहि विनु मोह न भाग ।
मोह गएँ विनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
भगवान्के सम्बन्धमें अज्ञानका कारण केवल मोह है । तुलसीदासजी इसका उल्लेख यथावसर करते चलते हैं—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी । प्रभुपर मोह धरहिं जड़ प्राणी ॥

आकाश-मण्डलपर जब घन-पटल छा जाते हैं, तब मनुष्यको सूर्यके छिप जानेका भ्रम हो जाता है; किंतु वास्तविकता तो कुछ और ही है । सूर्यके ऊपर बादल तो केवल आवरणमात्र हैं । इसी प्रकार जलयुक्त सीपमें रजतका अस्तित्व न होनेपर भी मोहमय प्राणीको चाँदीका आभास मिलता है । ऐसे समस्त भ्रम भगवत्-कृपासे ही विनष्ट होते हैं; क्योंकि ‘विनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ।’ तुलसी अपने मायावादके उपसंहारमें इसी निष्कर्षपर आते हैं कि भक्ति ही इस मायाकी परवर्ती स्थिति है । भगवान्के युगल-चरणोंकी अमृत-सरितामें ही मायाके विकारोंका प्रक्षालन अवश्य हो सकता है ।

अब तुलसीके राम-ब्रह्मका स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है । तुलसीकी मुखर-भारतीने सब कुछ कह डाला है । इस अध्याय-क्षेत्रमें कोई भी विषय उनकी व्यञ्जनासे परे नहीं रह पाया । उन्होंने अपने प्रभुका स्वरूप अत्यन्त विचित्र बताया है । जीवका प्रभुसे क्या सम्बन्ध है ? ईश्वर जगत्से किस प्रकार सम्बन्ध रखता है ?—आदि सभी कुछ तो तुलसीके इसी मायावादके अङ्गसे प्रतीत होते हैं ।

‘जगत् प्रकाश्य प्रकासक रामू’ में तुलसीके आराध्यके विश्वव्यापी स्वरूपकी झाँकी मिलती है।

व्यापक ब्रह्म अखंड अनन्त। अखिल अमोघ एक भगवंता ॥

—में ब्रह्मका निर्गुण रूप भासित होता है। वही ‘गिरागोतीत’, ‘निर्गुण’, ‘निराकार’, ‘निर्मोह’ ब्रह्म सगुण बनकर हमारे सम्मुख अवतरित होते हैं—

भक्त हेतु भगवान् प्रभु राम धरेउ तनु भूप ।

किण चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥

जिस प्रकार अनेक वेश धारणकर नट नृत्य करता है, अनेकों भावोंका प्रदर्शन करता है, किंतु वह स्वयं उन्हीं भावोंका भोगी नहीं होता—उसी प्रकार ब्रह्म निर्लिप्त, अजर-अमर होते हुए भी मानवका शरीर प्रकट करके भक्तोंकी रक्षा-हेतु कौतुक करता रहता है। ब्रह्मके समस्त गुणोंका आरोपण तुलसीने अपने इष्ट-देवता राममें किया है।

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु कर्म करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ प्रान बिनु वास असेषा ॥
असि सब भौति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं वरनी ॥

जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।

सोइ दसरथसुत भगत-हित कोसलपति भगवान् ॥

निर्गुण और सगुणकी इस प्रकार एकता करके तुलसीने सगुण रूपकी दुर्लभता बतलायी है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ ।

सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥

रामका यह स्वभाव है कि वे किसीका अहङ्कार नहीं रखते। कारण यही है कि ‘सकल सोकदायक अभिमाना ।’ बच्चेके शरीरमें व्रण हो जाता है—दयाद्रविता मा ‘कठिन की नाई’ उसे चिरा देती है। इस प्राथमिक पीड़ाका अन्ततः परिणाम सौख्यप्रद होता है। ठीक इसी प्रकार भगवान् भी हितके कारण अपने जनोंका अभिमान दूर कर देते हैं। भगवान्की जीवपर बड़ी ममता होती है; क्योंकि जीव ब्रह्मका ही तो अंश है—

ईश्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

जीव परवश है। भगवान्पर किसीका बन्धन नहीं। यों तो ईश्वर एवं जीव एक हैं, किंतु भेद केवल इतना है कि ईश्वर माया एवं प्रकृतिके स्वामी हैं और जीव उसमें लिप्त। अतएव जीव जब मायासे मुक्ति पाकर पुनः अपने अंशमें मिल जाता है, तब उसे परम-पद प्राप्त होता है। जब प्राणी उस स्तरपर पहुँच जाता है, जिसके आगे कुछ भी प्रायः नहीं है, तभी ‘पद-निर्वाण’ की स्थिति आती है। अतः सगुणोपासक तुलसीने भक्तको ज्ञानी, योगी, तपस्वी, विरक्त, संन्यासी, सिद्ध—सभीसे ऊँचा बताया है; क्योंकि इन सबमें भक्ति ही निर्भय तथा निश्चयरूपसे प्रभु-पद-दायिनी है। उन्होंने अनेक स्थलोंपर स्वयं भगवान्के मुखसे भक्तकी प्रशंसा करायी है। भक्ति स्वतन्त्र है और अन्य साधनाएँ भक्तिके ही आश्रित हैं। भक्ति-पथकी निर्वाधताका एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है कि भक्त सदैव अपने समस्त आदर्शस्वरूप भगवान्की मूर्ति देखना चाहता है; इसीलिखे वहाँ अहंभावके आनेके सभी द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं। ज्ञानी ज्ञानके आधारपर ब्रह्ममें लीन हो जानेके स्वप्न देखता है और जब कभी उसे ‘अहं ब्रह्माऽस्मि’ का आभास मिलता है, उसमें अहंभाव एवं अभिमानका उदय हो जाता है। यही वह विन्दु है, जहाँ प्रकाण्ड ज्ञानियोंका भी पतन हो जाता है। भक्तिके निर्मल पथमें ऐसे विन्दुओंकी सम्भावना नहीं रहती। रामके सेवकोंको अविद्या प्राप्त नहीं होती—‘प्रभु प्रेरित तेहि व्यापै बिद्या’ अतः—

‘ताते नास न होइ दास कर । भेद भगति वाढ़इ विहंगर ॥’

तुलसीके राम भी अपने प्रिय जीवोंको आदेश देते हैं कि ‘मम-गुन-ग्राम-नामरत, गत ममता मद मोह’ यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें योगिराज कृष्ण कहते हैं—‘सर्वधर्मात् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।’ फलतः—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वात ।

ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पैल बिषान ॥

—क्योंकि

राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ ।

सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रवि रात न जाइ ॥

तुलसीके मायावादका सार है—‘निजको निज प्रभुकी

निजतामें निमज्जित कर प्रभुकी परमानन्दमयी अलौकिक

आभामें तन्मय हो जाना ।’

स्नेह जलता है

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

‘अच्छा तुम आ गये ?’ माताके इन शब्दोंको आप नाहें तो आशीर्वाद कह सकते हैं; किंतु कोई उत्साह नहीं था इनके उच्चारणमें। उसने अपनी पीठकी छोटी गठरी एक ओर रखकर माताके चरण छुये और तब थका हुआ एक ओर भूमिपर ही बैठ गया।

‘मा मुझे देखते ही दौड़ पड़ेगी। दोनों हाथोंसे एकड़कर हृदयसे चिपका लेगी। वह रोयेगी और इतने दिनोंतक न आनेके लिये उलाहनें देगी।’ वर्षोंसे पता नहीं क्या-क्या आशाएँ, उमंगें, कल्पनाएँ मनमें पाले हुए था वह। ‘मैं माँके पैर छूऊँगा। अपने हाथों उसके नेत्र पोंछूँगा। उसे मनाऊँगा। वह बड़े स्नेहसे मेरी एक-एक बात पूछेगी। मेरे लिये दौड़ेगी स्वयं चाय बनाने और मैं उसे मना करूँगा।’ जाने कितनी बातें.....लेकिन क्यों वह ऐसी आशा करता था ? वह कौन-सी सम्पत्ति लेकर घर लौटा है कि उसका स्वागत हो, उसे स्नेह मिले। वह मड़कीले कपड़ोंमें आता, सबके लिये सुन्दर उपहार लाता, नमकते जूतेका मच्-मच् शब्द करता द्वारमें प्रवेश करता—अवश्य उसका स्वागत होता। वह मैले फटे-चिथड़े लपेटे, गंगे पैर, पीला-पीला चेहरा, रोगसे दुर्बल शरीर लिये मनहूसीकी मूर्ति बना आया है। घरमें अन्न नहीं है, इस वर्षका लगान दिया नहीं गया, बच्चोंके शरीरपर भी वस्त्र नहीं और सबकी जिसपर आशा अटकी थी, वही स्वयं मिश्रक-सा बना आ पहुँचा है। घरकी समस्याएँ ही क्या कम हैं, अपना ही दुःख, अपना ही अभाव क्या छोटा है ? और ऐसी अवस्थामें जब वह भी एक प्राणीकी रोटीका भार बढ़ाने ही आया है—घरवालोंके सारे अभाव, सारे क्लेश जैसे आज नये हो उठे हैं। क्षोभ ऐसे बढ़ गया है, जैसे पके घावपर ठोकर लग गयी हो। उसका स्वागत ? सब गुमसुम हैं, सब नेत्रों एवं चेष्टाओंसे ही उपेक्षा व्यक्त करते हैं; कोई घरसे निकल जानेको नहीं कहता, यही क्या कम है।

‘तुम अपना यह खजाना कहीं ऊपर रख दो।’ चाय नहीं, जल नहीं, दो मीठे शब्दतक नहीं। कोई

अपरिचित भी घरमें आया होता तो उससे पूछा जाता कि वह कहाँसे आया है। यहाँ अपने ही घर वह पूरे दो वर्षपर लौटा है और कोई उससे कुशलतक नहीं पूछता। उसकी वही स्नेहमयी भाभी झल्लाई, झुंझलाई कह रही हैं—‘बच्चा आता होगा। कहीं तुम्हारे बहुमूल्य रत्न उठा न ले।’

कितना कष्ट सहकर, कितनी कृपणतासे वह भाभीके लिये एक साड़ी लेनेको कुछ पैसे बचा सका। बीमारीके पीछे दूधतक तो उसने लिया नहीं। ‘भाभी हँसती-दौड़ती आयेगी और मेरी गठरी उठाकर भाग जायेगी। मैं उन्हें रोक्कूँगा, खीझूँगा और वे मेरी लायी साड़ी पहिनकर मेरे लिये जलपान लिये अपनी कोठरीसे निकलेंगी।’ उससे सदा हँसकर बोलनेवाली, अपने पुत्रके समान उसके भोजन-वस्त्रादिकी खोज-खबर लेनेवाली भाभी इतनी रूखी हो जायेगी, इसकी तो कभी स्वप्नमें भी उसे आशा नहीं थी। उसकी मैली छोटी गठरीमें एक उजली लाल किनारेकी तह की हुई साड़ी है, किसी दुर्बलके मलिन शरीरमें छिपे दया एवं सहानुभूतिसे पूर्ण निर्मल हृदयकी भाँति। किस साहससे वह अब उसे निकाले ?

‘बच्चा आता होगा’—बच्चा मोहन ! भाभीकी बात कानोंमें टकराकर सूनी रह गयी। कल्पनाने एक दूसरा चित्र उपस्थित किया। जब चारों ओर रोष, तिरस्कार, उपेक्षाका अन्धड़ चल रहा है, एक शीतल झकोरा आता जान पड़ा। ‘मोहन—नन्हा, गोल-मटोल, सुन्दर किलकता-सा मोहन !’ छिः मनुष्य ! भगवान् काल क्या तेरी कल्पनाके लिये अपने पद रोके खड़े रहेंगे ? बच्चा युवक होता है, युवक वृद्ध होता है; किंतु वर्षों पीछे भी तू उसे अपने उसी पुराने रूपमें पानेकी आशा करता है ? मोहन अब वही एक वर्षका शिशु नहीं, वह तीन वर्षका हो गया है, यह तुझे क्यों स्मरण नहीं आता ?

‘मोहन ! आओ भैया !’ एक नंगा धूलि-भरा दुबला-सा गोरा बालक दौड़ता आया और अपने घरमें एक अपरिचितको देखकर सहमा-सा खड़ा हो गया उसी विचित्र मनुष्यको देखता हुआ। ‘मैं तुम्हारा चाचा हूँ

भैया !' अब भी आशा थी कि बालक पहचान लेगा और समीप आ जायगा; किंतु बालकके नेत्र स्पष्ट कहते हैं—'तुम कौन हो ? मैं तो किसी चाचाको नहीं जानता । मुझे तुम्हारे पास डर लगता है । क्या पता तुम होआ हो या भकौआ । मैं नहीं आऊँगा ।'

'देखो, मैं तुम्हारे लिये घोड़ा लाया हूँ ।' अब गठरी खोली गयी । लकड़ीका एक छोटा-सा लाल-हरा चमकता घोड़ा—बालकके नेत्र खिलौनेपर लग गये । बार-बार पुचकारनेपर डरता-डरता धीरे-धीरे आगे बढ़ा वह । हाथ बढ़ाकर खिलौना ले लिया उसने और चांचाने उसे गोदमें खींच लिया । बालक छटपटाने लगा गोदसे छूटनेके लिये । उसे अपना खिलौना चाहिये । चाचासे उसे कोई मतलब नहीं ।

'मा ! मा ! मेरा घोड़ा !' दौड़ता हुआ बालक अपनी माताके पास पहुँचा ।

'चल ! घोड़ा ले आये हैं ये—दे दे उनका घोड़ा उन्हें ।' माताने बच्चेके हाथसे छीनकर खिलौना फेंक दिया उसके सामने । पट्से करके वह गिरा और उस लकड़ीके घोड़ेका एक कान तथा एक पैर टूट गया । बालक सन्न हो गया । उसका मुख लटक गया और एक मिनट बाद उसके नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगे । अन्तमें हिचकियाँ लेता हुआ वह माकी गोदमें ही मुख छिपाने दौड़ा; पर माने क्रोधसे झटक दिया भूमिपर उसे ।

'भामी !' उसके मुखसे और शब्द नहीं निकले । बारीय हथेलीपर मस्तक रखकर झुक पड़ा वह । उसे लगता है कि पूरी पृथ्वी घूम रही है—घूमती जा रही है ।

'तुम ऐसे भूमिमें क्यों बैठे हो ?' बड़े भाई पता नहीं कबसे आकर उसके सामने खड़े हैं । उसने उनके पैरोंमें सिर रख दिया और बच्चोंकी भाँति हिचकियाँ लेकर रोने लगा । 'उठो, चटाईपर बैठो ! अरे, चाय तो ले आओ ।' पत्नीको उन्होंने आज्ञा दी ।

'भैया !' उससे बोला नहीं जाता है । उसके नेत्रोंकी धारा रुकती नहीं है ।

'तुम बीमार हो गये थे ?' बड़े भाईमें स्नेह है या नहीं, कहना कठिन है; किंतु शिष्टाचार तो है ही ।

'मैं मरते-मरते बचा हूँ । मर-खपकर जो कुछ बचा पाया था, बीमारीकी मेंट हो गया ।' उसने भरे कण्ठसे

कहा—'भाग्यमें तुम्हारे चरणोंके दर्शन थे, इसीसे मैं पहुँच सका ।'

'चलो, अब दो-चार दिनमें यहाँका हवा-पानी खस कर देगा तुम्हें ।' आश्वासन दिया बड़े भाईने और साथ ही घरका समाचार भी दिया—'लगान दो वर्षका वाकी है । पिछले वर्ष खेतोंमें कुछ हुआ ही नहीं । घरमें इस काँ कुछ भी नहीं है । उधारके अन्नसे कई महीनोंसे एक समय भोजन करके काम चलाया जा रहा है । पासमें दूसरे गाँवके जमींदार एक बाँध बनवा रहे हैं । अच्छी मजदूरी है । मुझे तो खेतोंमें अवकाश ही नहीं मिलता ।'

'मैं कलसे ही वहाँ कामपर लग जाऊँगा ।' वह और क्या कहे ? दो वर्षपर घर लौटा है, लम्बी बीमारीने रक्त मांस चूस लिया है और घरपर दो घूँट चाय मिलनेसे पहले ही उसे वह सब सुना दिया गया है, बड़ी शिष्टता एवं आत्मीयतासे । संसार जब उसकी हड्डियाँ खँखेड़ना ही चाहता है, भागकर कहाँ जायगा वह ?

X

X

X

पहाड़की तराईमें एक छोटा-सा गाँव है । मिट्टीकी दीवारें और फूसके छप्पर एक दूसरेसे सटे हुए छोटे-छोटे घर हैं चारों ओर कँटीली बाड़से घिरे हुए । समीपके वनसे चीता, शेर, तेंदुआ कभी-कभी रातमें इस घेरेबन्दीमें भी घुस पड़ते हैं और कोई पशु उठा ले जाते हैं । बकरीयाँ, भैंसें और गायें—इनके गोबरसे पूरा गाँव ही गोष्ट हो गया है । गाँवके एक ओर तो वन है; किंतु तीन ओर खेत हैं । ऊँची-ऊँची मेड़ें और उनपर सूखे काँटोंकी बाड़ । इतना सब न किया जाय तो क्या सूअर और हिरन खेती बनने देंगे; फसलके दिनोंमें रात-रातभर जागकर शशक, सेही, धुगाल आदिसे रखवाली करनी पड़ती है ।

सूखे मुख, दुर्बल देह, फटे मैले वस्त्र—कठोर श्रम करनेवाले ये ग्रामवासी किससे कम तपस्या करते हैं ? किस तपोवनसे घटकर है इनका यह ग्राम ? लेकिन कहाँ तपस्वीका निर्लिप्त आनन्दमग्न मानस और कहाँ..... मनुष्य तो मनुष्य ही है । वह नगरोंमें रहे या सुदूर वन्य ग्रामोंमें । वही दौड़-धूप, वही रोटी-कपड़ा, वही घर-खेत, वही स्त्री-बच्चे और चिन्ता, लालसा, श्रम—वासनाकी अशान्तिपूर्ण धुआँ क्या स्थानभेदसे मन्द पड़ना जानती है ?

इस छोटे गाँवमें एक छोटा-सा घर है । दो भाई,

उनकी एक बृद्धा माता, बड़े भाईकी स्त्री और उस स्त्रीकी गोदमें एक वर्षका एक छुँघराले बालोंवाला गोलमटोल गोरा सुन्दर शिशु । इतना परिवार है । पहाड़के पासके खेत वैसे ही बंजर होते हैं और फिर इस ओर वर्षाकी कमी प्रायः रहती है । परिवार दरिद्र है; किंतु है स्नेही । सब एक दूसरेसे गहनभूति रखते हैं ।

रामनाथ यह पूरा नाम है उसका । मा और भैया उसे रामू कहते हैं और इसीसे गाँववाले भी उसे रामू ही कहते हैं । गठा हुआ पुष्ट शरीर है । नागपञ्चमीको जब एक महीना रह जाता है, गाँवके अखाड़ेकी उसीसे शोभा होती है । गाँवमें सभी उसका सम्मान करते हैं ।

‘बेटा, तू भी कुछ काम किया कर खेतपर !’ मा उसे यदा-कदा उपदेश करती हैं ।

‘अभी तो वह बच्चा है, उसके खेलने-खानेके दिन हैं ।’ बड़े भाई कभी उससे कुछ करनेको कहते नहीं । वह स्वयं कुछ करता है तो उसे मनाही करते हैं ।

‘आज तुमने एक रोटी कम खायी है !’ गरीबका घर है । भरणपेट भोजन जिस दिन मिले, उस दिन पर्व समझना चाहिये; लेकिन भाभी स्वयं चाहे उपवास कर लें, उसके लिये पूरा भोजन बचा रखती हैं और बैठकर आग्रह करके भोजन कराती हैं उसे ।

मोहन—एक वर्षका छोटा-सा मोहन तो अपने चाचासे ही चिपका रहता है । रातको नींद डूटनेपर वह ‘चाचा, चाचा’ कहकर ही रोता है । रामूका सम्पूर्ण सुख तो मोहन ही है ।

‘मैं रंगून जाऊँगा !’ एक दिन अचानक रामूने घरको अपने प्रस्तावसे चौंका दिया । रंगूनसे लौटा है विजयपाल । सिरपर अंग्रेजी ढंगसे कटे सुन्दर बाल हैं; हाथोंमें एक सस्ती घड़ी बाँधी है; शरीरपर उजले मलमलका कुर्ता है; पैरोंमें चमचम करता बूट है । रामू विजयपालसे मिल आया है । ‘रंगूनमें रुपये तो जैसे बरसते हैं !’ पता नहीं क्या-क्या कहा है विजयपालने उससे । अब वह भी रंगून जायगा ।

मा रोती है । भैया कहते हैं—‘तुम यहीं काम करो ।’ भाभी रोक रही हैं और साथ ही पूछती भी हैं—‘मेरे लिये क्या लाओगे ?’ नन्हे मोहनको कुछ पता नहीं । चाचा उसे कहता है—‘तेरे लिये घोड़ा लाऊँगा, हाथी लाऊँगा;

पैरगाड़ी लाऊँगा !’ वह हँसता है । उसे क्या पता कि रंगून कोई चिड़िया है, हिरन है या मिठाई है ।

‘मैं रंगून जा रहा हूँ ।’ पड़ोसके गाँवमें एक लड़की है; छिपकर रामूको उससे यह बात कहनी पड़ी; जब वह अपनी गायें वनमेंसे लौटा रही थी । उसने एक बार मुड़कर देखा रामूकी ओर और केवल ‘हूँ !’ कहा ! रामूको लगा कि उसकी आँखें भर आयी हैं । ‘मैं जल्दी ही लौट आऊँगा । तेरे लिये बहुत-से गहने और रेशमकी साड़ियाँ लाऊँगा ।’ रामूने साथ चलते-चलते कहा । उसने सिर झुका लिया । पैरोंकी गति बढ़ी या मन्द हुई, कुछ उलझनकी बात है । रामू और वह बचपनसे साथ खेले हैं । वनमें दोनों साथ बकरियाँ चराते थे और झरखेरी एकत्र करते थे । लेकिन अब उसकी रामूके साथ मँगनी हो गयी है । अब बात बदल गयी और सम्भवतः बदली बातने गूँगी कर दिया उसे । वह गूँगी हो नहीं गयी है, केवल रामूके पास रहनेपर गूँगी हो जाती है ।

अन्तमें विजयपालके साथ रामू रंगूनके लिये चल पड़ा । बड़े भैया उसे स्टेशनतक पहुँचा गये । गाँवसे दूरतक तो बहुत-से लोगोंने पहुँचाया था । जब गाड़ी स्टेशनसे चल पड़ी, उसके नेत्रोंसे अश्रु टपक रहे थे । विजयपाल रंगूनके किस सुयशका वर्णन कर रहा है, इसका उसे तनिक भी ध्यान नहीं था ।

× × ×

वह रंगून अपने लिये—अपने सुखके लिये गया ? उसका अन्तरात्मा जानता है या फिर घट-घटकी जाननेवाला जानता है । अपनी जन्मभूमि, अपने संगी-साथी, अपना सौहार्दपूर्ण परिवार छोड़नेमें उसे कितनी व्यथा हुई थी, वही जानता है । रंगून पहुँचनेपर भी कई दिनोंतक उसे घरकी स्मृति ही दिन-रात बनी रहती थी । न भोजन अच्छा लगता था; न वस्त्र । किसीसे बोलना अखरता था । भरे-भरे नेत्र देखकर आस-पासके लोग समझाते और कभी-कभी परिहास भी करते थे ।

घर छोड़कर वह गया था; उसे जाना पड़ा था कहना ठीक होगा । बड़े भाई दिनभर श्रम करते थे और इतनेपर भी दोनों समय पेट भरनेको सूखी रोटी जुटती नहीं थी । भाभीकी साड़ीमें रोज एक पैबंद बदता जाता था । नन्हे मोहनको पिलानेके बदले बकरीका दूध बेचना पड़ता

था। दूध बेचा न जाय तो लगान कहाँसे आवे ? वह कबतक यह सब देखता ? उससे कोई कुछ कहता नहीं था; किंतु उसके भी तो नेत्र थे।

रंगूनका वैभव—वहाँकी चकाचौंध, लेकिन वह सब सच होकर भी उसके लिये स्वप्न था। उसे तो एक छोटी-सी गंदी कोठरी, दिनभर हड्डीतोड़ परिश्रम और रूखी रोटी या उबला चावल नमकके साथ मिलता था। सब उसका परिहास करते थे। सब उसे कृपण बतलाते थे। एक-एक कौड़ी दाँतसे पकड़ना सीख गया था वह। परिश्रम और पैसा—उसके भाई, उसकी भाभी, उसके भाईका नन्हा पुत्र मोहन—और वह उन सबके लिये ही तो रंगून आया है। वह पैसा जोड़नेमें जुट गया है। एक पैसेका साग लेना या सिरमें अधेलेका तेल डाल लेना उसे बहुत बड़ा अपव्यय जान पड़ता है। वह यहाँ क्या सुख भोगने आया है ?

विजयपालने अब उससे मिलना भी बंद कर दिया है। वह स्वस्थ है, देखनेमें सुन्दर है, उसका शरीर सुगठित है। विजयपाल उसे अपने साथ कुछ आशा लेकर ही तो लिवा लाया था। एक अच्छी धनी बर्मी स्त्री उससे विवाह कर लेगी। वह धनी हो जायगा और विजयपालको भी लाभ होगा। अधिक नहीं तो वह उसके धानके खेतों और बगीचोंका प्रबन्धक ही बन जायगा। अधिकांश भारतीय ऐसा करते हैं। बर्मा में विवाह करके रहना और वहाँसे स्वदेश सम्पन्न होकर लौटना—एक कुप्रथा बन गयी है। बर्मी स्त्री-बच्चोंको तो साथ लाना नहीं पड़ता, स्वदेशमें कौन जानता है कि किसने कहाँ क्या किया था ! लेकिन रामनाथ है कि उल्टेसे सीधा होना जानता ही नहीं। विजयपालने सब साँठ-गाँठ बैठा ली है; किंतु रामू तो गाँवकी उस बकरी चरानेवालीको प्राण दिये बैठा है। भला, वह कहाँ भागी जाती है ! रुपये लेकर जायगा तो उसके पिता नाक रगड़ेंगे इसके पैरोंपर, लेकिन इस गाँवारको कौन समझाये ? यह तो कहता है—‘कोई जाने या न जाने, धर्म तो जानता है। मैं किसीको धोखा दूँगा तो भगवान् मुझे कैसे क्षमा करेंगे ? मुझसे यह सब नहीं होगा। अपने पसीनेकी कमाई ही मुझे लेनी है। पाप और बेईमानीका पैसा मुझे नहीं चाहिये।’

चोरोंके समूहमें रहकर कोई चोरी न करे तो क्या चैन पायेगा ? जब समाजमें ही पाप घर कर जाता है, तब सत्पुरुषों-

को संकट उठाने—तप करनेके लिये तत्पर रहना ही चाहिये। रामनाथ जहाँ काम करता है, विजयपाल तथा उसके साथ वहीँसे उसका टिकट कटा देनेके प्रयत्नमें लगे रहते हैं। वह तो अपने परिश्रम और धैर्यसे टिका है। उसके संकट एवं कृपणताने उसके संगी-साथी रहने ही नहीं दिये हैं।

कोई भाग्यको क्या करे ? कठोर परिश्रम, रूखा तथा अपर्याप्त भोजन, नन्ही गंदी कोठरीमें मुरगी-सा बंद रहना, समुद्री नगरका अनभ्यस्त जलवायु—रामनाथ दुर्बल हो गया। बार-बार ज्वर आने लगा उसे। गरीबोंकी श्रृंखला और चिकित्सा जैसी हो पाती है, संसार जानता है। रामनाथ विदेशमें अकेला और उसपर भी अत्यन्त कृपण। जितना वह जोड़ पाता उसका एक बड़ा भाग ज्वर आनेपर बहुत काट-कपट करनेपर भी व्यय हो जाता। अन्तमें वह गिर पड़ा चारपाईपर और पूरे छः महीने चलने-फिरने योग्य होनेमें लगे।

‘तुम यदि जीना चाहते हो तो अपने घर चले जाओ !’ सभी एक ही सलाह देते हैं।

‘बड़े भाई, भाभी, मोहन’ रामनाथको जीना तो है। उसके चित्तमें स्मृतियोंका प्रवाह चल रहा है। अन्तमें परिचितोंने एक दिन कलकत्ते जानेवाले जहाजमें बैठा दिया उसे।

‘तुम्हारे रंगून आनेके छः महीने पीछे चौधरीने अपनी लड़कीकी सगाई अन्तूसे कर दी। तुम्हारे भाईसे खेले पानीको लेकर लड़ाई हो गयी थी उनकी !’ कलकत्तेमें गाँवके कई लोग रहते हैं। रामनाथ उनके पास आया तो उसे यह समाचार मिला—‘पिछले वर्ष उसका विवाह भी कर दिया चौधरीने।’

विपत्ति अकेली नहीं आया करती। इस समाचारका प्रभाव कहिये, समुद्री-यात्राका कारण कहिये या भोजनादिकी मार्गकी गड़बड़ी बताइये, रामू कलकत्तेमें ही बीमार हो गया। उसे सरकारी अस्पतालमें भरती कराना पड़ा। जब वह एक महीने बाद अस्पतालसे निकला, उसकी रही-सही पूँजी भी समाप्त हो गयी थी। उसके कपड़े फट गये थे; किंतु अब उसके पास पैसे कहाँ थे नये कपड़े बनवानेको ?

‘रामू अस्पतालमें बीमार है’ रामूके भाईको घरपर यह समाचार मिल गया था। खेत सींचने हैं, बोनो हैं, बरकी मरम्मत न हो तो वर्षा में टिकेगा ही नहीं वह और

गाँवकी सीमाके उस पार तो है नहीं। एक गरीब कृषकको इतनी बड़ी यात्रा करना परलोककी यात्रा प्रतीत होती है, वह बात नित्य खेलोंमें ही घूमनेवाले या हवाई जहाजसे दूर होनेवाले कैसे समझ सकते हैं।

जैसे बीमारी बिना बुलाये आयी थी, विदा करनेकी प्रतीक्षा किये बिना चली भी गयी। गरीबोंका चिकित्सक भाग्य ही होता है, रामूको तो अस्पताल भी मिल गया था। लेकिन वह स्वस्थ होकर प्रसन्न हुआ, यह कहना उसके साथ अन्याय करना होगा।

× × ×

‘बाबा ! अब आप ही मुझे शरण दो।’ गाँवसे कोस-दूर वनमें एक झरनेके पास भगवान्का मन्दिर है; एक कुण्डल संत वहाँ रहते हैं। पासके गाँवोंसे कच्चा अन्न माँग लेते हैं। यह एकान्त बहुत अनुकूल जान पड़ता है भजनके लिये। रामनाथ सायंकाल ग्रामसे चलकर मन्दिरपर आया और गिर पड़ा संतके चरणोंमें। फूट-फूटकर रो रहा था वह। ‘मैं यहाँकी सब सेवा करूँगा। आप जो आज्ञा करेंगे, मान देकर भी उसे पूरा करूँगा। मुझे अब घरमें नहीं जाना है।’

आज ही रामनाथ दो वर्षपर घर लौटा है और आज घरसे यह विरक्ति ? लेकिन कौन है घरपर जो उसके जानेसे प्रसन्न हुआ हो ? किसे उससे स्नेह है ? एक कल्पना—एक भावुकता थी मनमें और घरसे निकल पड़ा था वह। वह चौधरीकी लड़की, उसकी नहीं, नहीं, अन्तूकी स्त्री इन्हींसे जल लेकर लौट रही थी। रामनाथको देखकर भी उसने देखना नहीं चाहा। उसके पैरोंकी गति बढ़ गयी।

‘तुम भी मुझे पहचानती नहीं हो ?’ रामनाथ पास चला गया।

‘दूसरेकी स्त्रीसे रास्तेमें इस प्रकार बोलते तुम्हें लजा नहीं आती ?’ डाँट दिया उसने—‘तुम गाँवके नाते उनके भाई लगते हो, सो जानती हूँ। दरवाजेपर आओगे तो हुक्का बढ़ाकर दे दूँगी।’ रामनाथके पैर वहाँ भूमिमें गड़-से गये। वह नहीं देख सका कि किसीने उसे मुड़कर देखा भी या नहीं देखा। वहाँसे वह सीधे ही मन्दिरके लिये चल पड़ा। अब उसे पूरा संसार सूना जान पड़ता है।

‘संसार जिन्हें धक्का देकर निकाल देता है, वे भगवान्की शरणमें आते हैं।’ संत जैसे अपने-आपसे कह रहे थे—

‘लेकिन कम ही होते हैं जो फिर संसारके पुकारनेपर उधर न दौड़ जायें। बहुधा वे स्वयं दूसरे मार्गसे उसी संसारको बार-बार पकड़नेका प्रयत्न करते हैं। वैराग्य तो उनकी वस्तु है जो संसारको झटककर आते हैं।’

‘बाबा, आप मुझे मन्त्र दे दो।’ रामनाथ रोते हुए आग्रह कर रहा था—‘मैं अब आपके चरण छोड़नेवाला नहीं हूँ।’

‘तुम साधु बनकर क्या करोगे ?’ संतने पूछा।

‘भगवान्का भजन करूँगा और आपकी सेवा करूँगा।’ रामनाथने बिना किसी संकोचके कहा।

‘भगवान्का भजन तो ऐसे होता नहीं।’ संत समीप ही आसनपर बैठ गये। ‘सेवा अवश्य तुम कर सकते हो। इस प्रकार किसीको साधु बनानेका अर्थ बिना मजदूरी दिये एक मजदूर पानेका प्रयत्न करना है।’

‘बाबा ! भेड़ तो जहाँ जायगी, वहीं मुड़ेगी।’ रामनाथको संतकी बातका बुरा नहीं लगा। ‘मैं घरपर भी मजदूर ही था, आपकी सेवा करूँगा तो पुण्य तो होगा ! घरकी मजदूरी तो गधेको अन्न खिलाना भी नहीं रही।’

‘लेकिन साधु किसीको केवल अपनी सेवाके लिये साधु बनावे, यह बहुत बड़ा पाप है।’ संतने कहा—‘साधुका वेश भजनका वेश है।’

‘मैं भजन करनेको ‘ना’ कहाँ कहता हूँ।’ रामनाथने आग्रह किया।

‘अच्छा तुम यहीं बैठो और रातमें सोनेका समय होने-तक ‘राम-राम’ कहते रहो। रोटियाँ मैं तुम्हें दे दूँगा।’ संतने समझानेका उपाय सोच लिया।

‘राम, राम, राम, राम’ रामनाथ कबतक ‘राम-राम’ करता रहे। दो मिनट, चार मिनट, दस मिनट। वह ऊब गया। इधर-उधर देखने लगा। अन्तमें आधे घंटेमें ही उठ खड़ा हुआ। ‘आप मुझे कोई सेवा बताओ ! इस प्रकार मुझसे बैठे नहीं रहा जायगा।’

‘यही मैं कहता था कि भजन इस प्रकार नहीं होता।’ संतने समझाया—‘भजन करना बहुत उत्तम है; किंतु उसे कायदेसे सीखना पड़ता है। जो घरपर भजन नहीं करता, घर छोड़नेपर उससे भजन नहीं हो सकता। तुम मेरी बात मानोगे ?’

‘अवश्य मानूँगा ।’ रामनाथने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया ।

‘देखो, परदेशमें तुम बराबर भाई, भाभी, भतीजे आदिका स्मरण करते थे । उस समय तुम मोहवश उनका स्मरण करते थे ।’ संत धीरे-धीरे समझा रहे थे । ‘अब भी तुम उन्हींका स्मरण कर रहे हो । अब तुम यह सोच रहे हो कि वे सब कितने निष्ठुर हैं । यदि तुम घर इस समय छोड़ दोगे तो यह स्मरण बना ही रहेगा । यह भी स्नेहका ही फल है और यह तुम्हें जलता ही रहेगा ।’

‘पहले भी मैं जलता ही रहा हूँ ।’ रामनाथको बड़ा आश्चर्य हुआ । उसे लगा कि साधुने उसके चित्तकी बात जान ली है । उसकी श्रद्धा बढ़ गयी ।

‘अरे भाई ! दियेमें जबतक तेल है, तबतक वह जलेगा ही !’ साधु कह रहे थे—‘जबतक चित्तमें संसारका स्नेह है, तबतक वह जलता रहेगा । इस स्नेहको निकाल देनेका उपाय यह है कि तुम घर लौट जाओ । अब तुमको घरके लोगोंके प्रेमका रहस्य ज्ञात हो गया है । अब वे फिर जब तुम्हारा आदर-सत्कार करने लगे, तब भूलना मत कि अपने

स्वार्थवश ही वे ऐसा कर रहे हैं । तुम घरपर काम करो । बचपनसे अबतक उन लोगोंने तुम्हारा पालन-पोषण किया है, उनकी सेवा करना तुम्हारा कर्तव्य है । उनके पास रहकर उनकी सेवा कर्तव्य समझकर करते रहो और भगवान्के नामका जप करनेका अभ्यास करो । ऐसा करनेसे भजन होने लगेगा और मनमें जो मोहरूपी स्नेह है, वह दूर हो जायगा ।’

‘आप मुझे घर न भेजें ।’ रामनाथ कातर हो रहा था ।

‘तुम अपनेको आजसे साधु ही मानो !’ संतने कहा । ‘घरके लोगोंकी सेवा मेरी बात मानकर करो । घरपर ऐसे रहो, जैसे वह तुम्हारा घर नहीं है । तुम वहाँ अतिथि बनकर रहते हो । घर तो उन लोगोंका है । वे जैसा कहें, जो चाहें—उनमें तुम उनका अनुमोदन और सहायता करो ।’

रामनाथ घर लौट आया । वह गृहस्थ साधु—उत्तम शान्ति, उसका आनन्द तबतक कैसे जाना जा सकता है जबतक स्नेहकी ज्वालासे मुक्त होकर अपने घरमें ही रहें अपनेको स्थायी अतिथि नहीं बना लेता ।

श्रीभगवन्नाम-जप

गतवर्ष ‘कल्याण’के प्रेमी तथा श्रद्धालु पाठक-पाठिकाओंसे नाम-जप करने-करवानेके लिये प्रार्थना की गयी थी । बड़े ही हर्षकी बात है कि सदाकी भाँति इस बार भी ‘कल्याण’के पाठक-पाठिकाओंने हमारी प्रार्थनापर ध्यान दिया और नाम-जप करने-करानेमें बड़ी तत्परताके साथ प्रयत्न किया । हमारे पास जो सूचनाएँ आयी हैं, उनमेंसे, ऐसा सन्देह है कि सब लिखी नहीं गयी हैं, तथापि जितनी लिखी गयी हैं, उनके अनुसार भारतके सभी प्रान्तोंमें जप हुआ है । जप-स्थानोंकी संख्या ६२७ है और मन्त्र-जपकी संख्या है—२२,३८,७४,३००; इनकी नाम-संख्या ३,५८,१९,८८,८०० (तीन अरब अष्टावन करोड़ उन्नीस लाख आठ सौ) होती है । इस सन्देह, अश्रद्धा, अविश्वास और मिथ्या तर्कके भयानक कालमें भी इतना भगवन्नाम-जप हुआ, यह भगवान्की कृपाका द्योतक है और इससे यह सिद्ध है कि नास्तिकताका पूरा प्रभाव अभी देशमें नहीं फैल पाया है । विश्वहित और आत्महितके लिये जिन महानुभावों और महाभागा देवियोंने स्वयं जप

किया है, दूसरोंको प्रेरणा करके करवाया है, हम उनका हृदयसे साधुवाद करते हैं और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं ।

एक बड़ा लाभ इस बार भी यह हुआ है कि बहुतसे सज्जनोंने जीवनभरके लिये नाम-जप करनेका निश्चय कर लिया है । जपकी जो संख्या ऊपर लिखी है, वह पूरी नहीं है । कई सज्जनोंने तो संख्या लिखी ही नहीं । कुछ सूचनाएँ लिखी नहीं गयीं । इसके सिवा सोलह नामके मन्त्रके अतिरिक्त दूसरे भगवन्नामोंका भी बहुत जप हुआ, वह भी इसमें शामिल नहीं है । भारतके अतिरिक्त एशियाके तथा यूरोपके देशोंमें भी जप हुआ है, यह सौभाग्यका विषय है । स्थानोंके नाम इस बार जगहकी कमीसे नहीं दिये गये, अगले अङ्कमें देनेका विचार है ।

नाम-जप-विभाग—‘कल्याण’कार्यालय
पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कामके पत्र

(१)

पुराना सब बुरा, नया सब अच्छा

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपको कृपापत्र मिला । समाचार विदित हुए । 'आपको यह विश्वास हो गया है कि पुरानी बातें सभी वृणित थीं और नयी सभी अच्छी हैं और इसलिये आप नवीनताके उपासक और प्राचीनताके विनाशक बन गये हैं ।' इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । आपको ही नहीं, आज बहुतोंको दुर्भाग्यवश ऐसा ही विश्वास न्यूनाधिक-हूपमें हो रहा है । 'नवीनता'के और 'प्रगति' के मोहक नामोंपर आसुरी भावोंका आना तो बहुत ही सहज है, अनेकों बार तो कर्तव्य, नीति, धर्म और अध्यात्मके नामपर भी आसुरी शक्तियाँ अपना काम किया करती हैं । जब मनुष्यकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, तब उसे सब कुछ विपरीत ही भासता है । भगवान् ने नीतिमें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्यान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

(१८ । ३२)

'अर्जुन ! जो तमोगुणसे ढकी हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है एवं सारे ही अर्थोंको (सभी बातोंको) विपरीत ही देखती है, वह बुद्धि तामसी है ।'

यह कोई नहीं कह सकता कि पुरानी बातें सभी अच्छी थीं और उनका अंधे होकर अनुसरण करना चाहिये या नवीन जगत्की प्रत्येक वस्तुका बहिष्कार ही करना चाहिये । ऐसा कहना न तो बुद्धिमत्ता है और न व्यावहारिक ही । जगत्में बहुत-से दोष हैं, उनको हटाना भी परम आवश्यक है । परंतु जैसे अन्धे होकर प्राचीनका अनुसरण बुरा तथा हानिप्रद है, वैसे ही अन्धे होकर पुरातनका त्याग और नवीनका ग्रहण

भी अत्यन्त अनिष्ट और हानिप्रद है । इस समय जगत्में आसुरी शक्तियोंका बड़ा प्राबल्य है; वे उन्नति, प्रगति, सुधार, उद्धार, समत्व, आर्थिक समुन्नति आदि अनेकों मोहन रूपोंमें जनतापर आक्रमण कर रही हैं और बड़ी ही चतुराईसे विषयवासना, आसक्ति, काम, क्रोध, लोभ, हिंसा और छल-कपटकी मायाका जाल फैला रही हैं । कोई वस्तु पुरानी है, इसीलिये उसका नाश कर देना चाहिये, चाहे वह सत्य, शिव और सुन्दर ही हो, यह एक प्रकारका पागलपन है; इससे सावधान रहना चाहिये । पर क्या किया जाय । आसुरी भावनाकी (माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः) मायाने ज्ञान हर जो लिया है । भगवान्की ओर जाते हुए समाजको माया-मुग्ध करके कल्याणमार्गसे विमुख कर देना, मानवको विलास-वैभव और वैर-हिंसाके विष-भरे स्तरपर पहुँचानेका प्रयास करना, नाना प्रकारके कपट-छलसे उसे नीचे गिरा देना—आसुरी शक्तियाँ बड़ी आतुरतासे इसीकी बाट देखा करती हैं और अवसर पाते ही अपना काम बड़ी प्रव्रलतासे शुरू कर देती हैं । तमोमयी आसुरी शक्तियोंके प्रयासका ही फल है कि आज समता, उन्नति, सुधार, समाजके आर्थिक अभ्युदय, मनोरञ्जन, उच्चस्तरके जीवन-निर्माण आदि नामोंपर भ्रष्टाचार, अनाचार, चोरी, डकैती, कलह, वैर, संहार, दलबंदी, सहस्रों वाद और मत, असंतोष और अशान्ति आदिका उदण्ड नग्न नृत्य हो रहा है और उसीको जागृति, उन्नति, प्रगति, विकास, समत्व आदिका नाम देकर मिथ्या गर्व किया जा रहा है ! यहाँतक कि ललिताकला—जैसे चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला आदिको सांस्कृतिक प्रतीक बताकर असंयतरूपमें उनका प्रचार-प्रसार करके जगत्में कामुकता, उच्छृङ्खलता, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, अनाचार और असत्य आदिको

गर्व तथा गौरवके साथ अपनाया जा रहा है। धर्म तथा ईश्वरके भयकी बात तो रही ही नहीं। ऐसे कामोंके लिये कानूनी छूट चाही जाती है और वह दी भी जा रही है। गंदे चित्र, गंदे गाने, नग्ननृत्य, भले घरोंकी कन्याओंका सिनेमाकी अभिनेत्री बननेमें उल्लास-उत्साह, समाजमें उनका गौरव, विद्यार्थी और अध्यापक समाजमें भी उनकी प्रतिष्ठा-पूजा तथा सत्कार, सफाईके साथ चोरीसे धन कमानेकी प्रवृत्ति और ऐसे सफल धनिकोंका समाजमें सम्मान आदि सब तमोमय विपरीत दर्शन आसुरी शक्तियोंके प्रबल षड्यन्त्र और उनके बाहर-भीतर मोहक रूपसे आक्रमणका ही परिणाम है। इसीसे पवित्र, सुन्दर, सत्य और कल्याणकारी भी प्राचीनमें अविश्वास एवं घृण्य तथा सर्वथा अपवित्र, अंदरसे अपार असुन्दर, मिथ्या और हानिकारक भी अर्वाचीनमें विश्वास एवं प्रीति हो रही है ! भगवान्ने आसुरी सम्पत्तिके तीन रूप बतलाये हैं—मोहिनी, आसुरी और राक्षसी। 'मोहिनी' 'काम'में फँसाती है, 'आसुरी' 'लोभ'में और 'राक्षसी' 'क्रोध'में। ये काम, क्रोध, लोभ ही आत्माका पतन करके उसे नरकानलमें जलानेवाले हैं। भगवान्ने स्पष्ट ही कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

(गीता १६। २१)

‘काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार तथा आत्माका नाश करनेवाले हैं। इससे इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।’

आज व्यष्टि-समष्टि सभी इन त्रिविध वैरियोंके वशमें होकर अपना सर्वनाश कर रहे हैं। इसीका फल महान् दुःख है, जिससे सारा जगत् संतप्त है और इसी कारण जगत्में अभी दुःखोंकी और भी भयानक बढ़ आनेकी सम्भावना है ! इन बुराइयोंसे छूटनेका एक ही उपाय है—वह है भगवान्की शरणागति—भगवान्का भजन। भगवान्ने कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता ७। १४)

‘मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया बड़ी दुस्तर है, परंतु जो पुरुष मेरे शरण हो जाते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं।’

मायासे तरनेका यह उपाय तो कोई करता नहीं, और जिससे दुःख-संताप बढ़ते हैं, नरकामिमें जलना पड़ता है, सांसारिक विषयोंसे, सुखकी मिथ्या आशासे होनेवाले उस काम-क्रोध-लोभके आश्रयको कोई छोड़ नहीं; तब कैसे जगत्का वास्तविक सुधार-संस्कार होगा, कैसे असली समत्वकी प्राप्ति होगी, कैसे सुख होगा और कैसे सच्ची शान्ति होगी ?

आपको बुरा लग सकता है, पर सत्य यही है कि तमोगुणके प्रभावसे आपकी बुद्धि सब कुछ विपरीत देख रही है और आपके वास्तविक लाभके लिये इसे छुटकारा पाना आपके लिये नितान्त आवश्यक है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

चोरी-डकैतीसे प्राप्त धनकी पूजा चोरी-डकैतीकी ही पूजा है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण।

आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद ! आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित है—

समाजमें अनाचार, चोरी, छल, विश्वासघात आदि बढ़नेका प्रधान कारण है—विषयसुखमें विश्वास तथा अनाचार, चोरी, छल एवं विश्वासघातसे रुपये पैदा करनेवालोंका समाजमें सम्मान-सत्कार और प्रतिष्ठा। चोरी-डकैतीसे प्राप्त धनकी और ऐसे धनिकोंकी पूजा वस्तुतः चोरी-डकैतीकी ही पूजा है। समाजके सब लोग अच्छी तरह जानते हैं, अनुक व्यक्ति इस-सब प्रकारसे पाप करके पैसे कमाता है और धनवान् बन उसके

[भाग ११]

जानेपर समाजमें सर्वत्र उसकी पूछ, प्रतिष्ठा, उसका सम्मान-सत्कार होता है; यहाँतक कि बड़े-बड़े विद्वान्, उच्च अधिकारी, धार्मिक पुरुष, साधु-महात्मा—सभी बड़ी-बड़ी सभाओंमें उसका सम्मान करते हैं, तब भी उसकी इच्छा होती है कि हम भी ऐसे ही पैसे कमाकर उस प्रतिष्ठाको प्राप्त करें। सबके मनसे पापकी भावना पैदा होती है। रह जाती है, केवल किसी प्रकार भी अन्याय, असत्य, परस्वापहरण, चोरी, घूस, हिंसा (अदि उपायोंसे) पैसा पैदा करनेकी अदम्य लालसा। इसी कारण इतने पाप होते हैं। खाने-पीनेके पदार्थोंमें भी दवाइयोंमें भी नकली चीजें मिलायी जाती हैं, नकलीको असली बनाकर बेचा जाता है, फिर उनका धन करनेवाले भले ही बीमार हो जायँ या तुरंत ही मर जायँ; यह राक्षसीपन इसीलिये आ गया है कि शुद्ध धनको समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है। उसके लिये कोई भी नैतिक या सामाजिक दण्ड नहीं है। समाजका सबसे बड़ा दण्ड होता है 'किसीसे घृणा करना।' अब घृणा कौन करे—घृणा मनसे होती है, जब जब सभी लोग यही करते हैं और करना चाहते हैं तब ऐसा करनेवालेके प्रति किसके मनमें कैसे घृणा होगी।

२-पापकर्म बनना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। मनुष्य दुर्बल प्राणी है। मन, इन्द्रिय उसके वशमें नहीं है, वह परिस्थितिसे बाध्य है। इससे अनिच्छा होनेपर भी परिस्थिति, अभ्यास या आसक्तिवश पाप बन जाता है। यहाँ देखना तो यह है कि पापसे उसका मन घबराता है, घृणा करता है, पाप उसके हृदयमें शूल-सा चुभता है एवं उसे पश्चात्ताप होता है अथवा वह उत्साहसे तत्पुर्वक पाप करता है, पाप उसे प्रिय प्रतीत होता है एवं पाप करके वह गर्व-गौरवका अनुभव करता है। यदि पापमें घृणा है और पाप करनेके बाद हृदय जलता है तो उसके लिये उपाय है—सीधा उपाय है। वह उपाय

है दयासागर भगवान्की दयापर विश्वास करके उन्हें पुकारना—प्रार्थना करना। यह कहना कि 'भगवन् ! मेरा मन वशमें नहीं है, इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, मेरे हृदयमें विषय-वासना भरी है, इच्छा न होनेपर भी अवसर आनेपर मैं अपनेको सँभाल नहीं पाता। पापमें प्रवृत्त हो जाता हूँ और उस समय मुझे उसमें सुख मिलता है। परंतु नाथ ! आप अन्तर्यामी हैं, सब जानते हैं—पीछे मैं जल करता हूँ। अभी भी मेरा हृदय पापके पश्चात्तापसे जल रहा है। आप शक्ति दीजिये। दया करके मुझे पापसे बचाइये, मेरी रक्षा कीजिये। पापका अवसर आनेपर मैं पापपर प्रहार करके उसपर विजय पा सकूँ—ऐसी ही व्यवस्था कर दीजिये। मैं केवल आपके भरोसे हूँ। मुझ-सरीखे बार-बार पाप-पङ्कमें फँसनेवालेपर, आपके सिवा दूसरा कौन है, जो सौहार्द रखे, जो दया करे। एकमात्र आप ही ऐसे हैं, जिनका दिव्य द्वार मुझ-सरीखे पापी-तापीके लिये भी सदा खुला है, जिनकी गोद मुझ-सरीखे मलायतन नीचको भी स्थान देनेके लिये सदा तैयार है। मैं कहाँ जाऊँ, मेरी सुननेवाला आपके सिवा और कौन है?' इस प्रकारके निश्चय-से कातरताके साथ ऐसी प्रार्थना करनेपर तुरंत सुनवायी होती है। भगवान् पापोंको नहीं देखते, वे देखते हैं हृदयके वर्तमान यथार्थ भावको। और जब सच्चा विश्वास देख पाते हैं, तब तुरंत उसे अपनाकर उसके पाप-तापोंका नाश कर उसे अपना भक्त बना लेते हैं और उसके लिये सनातनी शान्तिका मङ्गल-विधान करके उसके भक्त होने तथा कभी पतन न होनेकी घोषणा कर देते हैं। देखिये गीताके नवम अध्यायके तीसवें-इकतीसवें दो श्लोकोंको—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

‘यदि अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभावे मेरा आश्रय करके मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है। वह तुरन्त ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमा शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन ! तुम सत्य जानो— मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।’

अतएव धवराने तथा निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है, सब्बे भावसे भगवान्को पुकारिये। पापोंका नाश हो जायगा, आप भक्त बन जायँगे। परंतु इसलिये प्रार्थना मत कीजिये कि जिससे आपको पाप करनेमें सुविधा हो जाय। ‘नित्य पाप करते जाओ और प्रार्थनासे उसे धोते जाओ’—यह धोखा है। जो प्रार्थनाके बलपर पाप करना चाहता है, उसके पाप वज्रलेप हो जाते हैं। शेष भगवत्कृपा।

(३)

नारीका गुरु पति ही है

प्रिय बहिन ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि जब किसी भी पुरुषको गुरु बनाना और उनकी शरण लेना स्त्रीके लिये पाप है, तब भगवान्को गुरु बनाना और उनकी शरण होना भी तो पाप ही होगा ? क्योंकि भगवान् भी तो पर-पुरुष हैं। इसके उत्तरमें निवेदन है कि पतिव्रता स्त्रीके लिये तो शास्त्रोंकी यही आज्ञा है कि वह केवल पतिको ही गुरु माने और पतिमें ही परमेश्वर-बुद्धि करके उसकी सेवा करे। स्त्रीका गुरु एकमात्र पति ही है। बृहन्नारदीय पुराणमें कहा गया है—

भर्ता नाथो गतिर्भर्ता दैवतं गुरुरेव च।

(उत्तरभाग १४।४०)

पति ही स्वामी है, पति ही गति है, पति ही देवता और गुरु है।

स्कन्दपुराण काशीखण्ड तथा ब्रह्मपुराणमें उल्लेख है—

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥
(स्क० का० ४।४८)

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥
(ब्रह्म० ८०।४७)

पति ही देवता, पति ही गुरु और पति ही धर्म, तीर्थ तथा व्रत है। इसलिये सबको त्यागकर एक पतिकी ही भलीभाँति सेवा-पूजा करे।

ब्राह्मणोंके लिये अग्नि गुरु है, वर्णोंमें ब्राह्मण गुरु है, स्त्रियोंका पति गुरु है और अभ्यागत सकल गुरु है।

भगवती सीताजीने कहा है—

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्वन्धुः पतिर्गुरुः।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः॥
(वा० रा० ७।४८।१७)

‘स्त्रीके लिये तो पति ही देवता, पति ही वन्धु तथा पति ही गुरु है। अतएव प्राण देकर भी नारीको विशेषरूपसे पतिका प्रिय कार्य करना चाहिये।’

पद्मपुराणमें पतिव्रताशिरोमणि देवी सुकल्ये इतिहासमें भगवान् विष्णुके राजा वेनके प्रति वचन हैं—

भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता देवता दैवतैः सह।
भर्ता तीर्थं च पुण्यं च नारीणां नृपतन्दन॥
(भूमि० ४१।७५)

‘राजन् ! पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु, पति ही देवताओंसहित उसका इष्ट देवता एवं पति ही तीर्थ तथा पुण्य है।’

इसलिये स्त्रीको पतिरूपमें ही परमेश्वरकी सेवा करनी चाहिये। तथापि स्त्री यदि भगवान्की पूजा-अर्चना करे तो उसमें कोई दोषकी बात नहीं है; क्योंकि भगवान् सबके अन्तरात्मा हैं, प्रियतम हैं, स्वामी हैं, सद्गुरु हैं तथा सर्वस्व हैं। अतएव परमात्माकी सेवते स्त्रीको कोई भी दोष नहीं आती, वे परपुरुष नहीं हैं।

ही तो पाप है । जो लोग ऐसा काम करते हैं, वे तो पाप करते ही हैं और जो इसमें सहायता करते हैं तथा इसका समर्थन करते हैं वे भी पाप ही करते हैं ।

(२) आप लिखते हैं कि 'प्राचीन कालमें अच्छे-अच्छे लोग मांस खाते थे, इसलिये अब मांस खानेमें क्यों आपत्ति होनी चाहिये ?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो यह कहा भी नहीं जा सकता कि प्राचीन कालमें अच्छे लोग मांस खाते थे; क्योंकि अच्छे लोगोंने तो मांसकी जगह-जगह बड़ी निन्दा की है । फिर यदि प्राचीन कालमें कोई मांस खाता भी हो तो उसकी देखा-देखी अब भी मांस खाना चाहिये, यह सोचना बुद्धिसङ्गत बात नहीं है । मांस खाना पाप है, क्योंकि मांस बिना जीवहिंसाके मिलता नहीं, फिर इस पापको करनेवाला चाहे प्राचीन कालका मनुष्य हो, चाहे अर्वाचीनका, वह पाप ही करता है । मांस खाना राक्षसोंका काम है । इसलिये मांसका सर्वथा त्याग ही करना चाहिये । प्राचीन लोगोंने बड़े-बड़े त्याग किये थे, उनका अनुकरण करनेकी बात तो नहीं की जाती, पर किसीने मांस खाया था, व्यभिचार किया था तो उसकी नकल करनी चाहिये । यह वास्तवमें अपने पाप-वासनासे पूर्ण चित्तका धोखा है, इस धोखेसे जरूर बचना चाहिये ।

(३) आप लिखते हैं कि 'मैं भजन करना चाहता हूँ पर भजन नहीं बनता ।' सो आप भजन करना चाहते हैं—यह तो बहुत ही अच्छी बात है । भगवान्की बड़ी कृपा है आपपर और कोई महान् पुण्य आपका सहायक है चाहे आपका हो या आपके पूर्व-पुरुषोंका—जिसके कारण आपके मनमें भजनकी चाह होती है, चाह होती है तो कुछ-न-कुछ भजन भी होता ही होगा । यह चाह भी तो भजन ही है; परंतु भजन नहीं बनता—इसका कारण तो प्रत्यक्ष है । आप वेश्या-सेवनको बुरा नहीं मानते और मांस खानेका

वे तो अपने आत्मा ही हैं । हाँ, परमात्मा बननेवाले मनुष्योंसे जरूर सावधान रहना चाहिये; क्योंकि वे निश्चय ही परपुरुष हैं और उनकी सेवासे सतीत्वकी मर्यादापर आघात लगना सम्भव है । अपने लिये तो भगवान्ने स्वयं ही कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९ । ३२)

‘अर्जुन ! पाप-योनियाले प्राणी भी हों तो वे भी तथा स्त्री, वैश्य और शूद्रादि भी मेरे शरण हो जायँ तो वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ।’

इसलिये भगवान्की उपासनामें कोई पाप नहीं है वरं भगवान्की उपासना ही परम धर्म है । स्त्रीको पतिकी उपासना भी भगवान्की उपासनाके रूपमें ही करनी चाहिये—भोग प्राप्त करनेवाले किसी मनुष्य-विशेषके रूपमें नहीं । यही नारी-धर्म है । इस नारी-धर्ममें श्रद्धा-विश्वास तथा सत्यताके साथ लगी हुई स्त्रीको इसीसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है । शेष भगवत्कृपा ।

(४)

वेश्या-सेवन, मांस-भक्षण पाप ही है

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका निम्नलिखित उत्तर है ।

(१) आपने लिखा कि 'वेश्याकी जीविका परपुरुषका सेवन है, उसका यह सहज पेशा है । तथा जो आदमी वेश्याके पास जाता है, वह उसे पैसा देता है । फिर यह पाप क्यों माना जाता है ?' आपका यह प्रश्न बड़ा विचित्र है । फिर तो चोर-डकैत कहेंगे कि चोरी-डकैती हमारी जीविका है, इसमें पाप कैसा, और पैसा देकर किसीकी हत्या करनेवाला कहेगा कि मैंने पैसे दिये हैं इससे वह पाप क्यों ? वास्तवमें वेश्याका परपुरुष-सेवन तथा किसी पुरुषका वेश्या-सेवन

भी समर्थन करते हैं और आपके लिखनेके अनुसार ये दोनों दोष आपमें हैं भी ! मनुष्यमें दोष हो सकते हैं, पर यदि वह उन्हें दोष मानता है तो उनसे छूटनेकी चेष्टा भी करता है पर आप तो इन्हें दोष ही नहीं मानते ! तब, भगवान्‌का भजन कैसे बनेगा ? भजन तो वेश्या और मांसका बन रहा है। इसीसे आप, 'वेश्याकी जीविका है और प्राचीन कालमें अच्छे लोग मांस खाते थे'—यह तर्क रखकर मुझसे भी इनका समर्थन करवाना चाहते हैं ! भाई साहब ! इस पापके पथका परित्याग कर दीजिये। 'वेश्या और मांसका कभी सेवन नहीं करेंगे' यह दृढ़ प्रतिज्ञा कीजिये और प्रतिज्ञा कीजिये इन्हें भलीभाँति पाप समझकर ! केवल मेरे कहनेसे ही नहीं। मेरे कहनेसे भी त्याग कर देंगे तो भी आपको लाभ तो होगा ही, और मैं भी आपका उपकार मानूँगा, पर आपके द्वारा इनका यथार्थ त्याग तो तभी होगा, जब आपकी बुद्धि इन्हें पाप मान लेगी। शेष भगवत्कृपा।

कुमति

(रचयिता—श्रीआरसीप्रसादसिंहजी)

तेरी मति बौराई, बाबा ! तेरी मति बौराई !

कौड़ीको तो खूब सँभाला,
फँक दिया हरि-हीरा।
घरकी नारी सती न भाती,
पर-रमणीसे क्रीड़ा ॥

लोभ-दृष्टिसे देख रहा तू
निशिदिन वस्तु पराई।
तेरी मति बौराई, बाबा !
तेरी मति बौराई !

परनिन्दासे खिल उठता तू
जैसे फूल कमलका।
पर-दोषोंको सदा ढूँढ़ता,
जैसे कीड़ा मलका ॥

तेरे हाथोंसे न किसीकी
होती कभी भलाई।
तेरी मति बौराई, बाबा !
तेरी मति बौराई !

रामचरणका अमृत छोड़कर
विषय-चारि-विष पीता।
नर-तन पाकर शूद्र श्वान-सा
किस प्रकार तू जीता ?

प्रेम-दूधमें तू पड़ता है
बनकर कलह-खटाई।
तेरी मति बौराई, बाबा !
तेरी मति बौराई !

देवालयमें किया दण्डवत्,
चन्दन-तिलक लगाया।
किन्तु, उसी प्रभुके भक्तोंका
तूने रुधिर बहाया ॥

माको भी अपमानित करते
तुझको लाज न आयी।
तेरी मति बौराई, बाबा !
तेरी मति बौराई !

सती द्रौपदी

(लेखक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

द्रौपदीने कहा—“धर्मराज ! आप धर्मके शाता हैं, आप मूर्तिमान् धर्म हैं, आप ही ऐसी बात कह सकते हैं। मैं दुःखकी मारी हुई हूँ। अपने देवताके समान पतियोंको ऐसी अवस्थामें देखकर मैं विह्वल हो गयी हूँ। ईश्वर और धर्मपर आन्तरिक श्रद्धा होनेपर भी मेरे मुँहसे ऐसे शब्द निकल गये हैं। मेरा उद्देश्य ईश्वर या धर्मकी निन्दा करना नहीं है। अभी मेरा हृदय शान्त नहीं हुआ है। यदि अपने मनकी सभी बातें मैं बाहर न निकाल दूँ, तो मेरा कलेजा फट जायगा। सुनिये, मेरी बात और भी ध्यानसे सुनिये।

‘संसारमें अवतक जितने बुद्धिमान् हुए हैं, सबने कर्म किया है। पशु भी माताका दूध पीते हैं, छाँहमें जाकर बैठते हैं, कर्मके द्वारा ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। प्रकृतिमें सर्वत्र क्रिया हो रही है। कर्मके रहस्यको जाननेवाला दुर्लभ है, यदि रक्षा या बढ़ानेकी क्रिया न की जाय तो सुमेरुके बराबर सम्पत्ति भी नष्ट हो जायगी। कर्मके बिना कोई रह ही नहीं सकता। भाग्यवादी और जड़वादी दोनों ही निन्दनीय हैं, जो परिश्रम और चेष्टा छोड़कर भाग्यके भरोसे बैठा रहता है, वह पानीमें पड़े हुए कच्चे घड़ेकी तरह नष्ट हो जाता है। सब कुछ कर्मका ही फल है। ये बड़े-बड़े नगर, भवन, उनका उपयोग और उनके सम्बन्धमें नये-नये आविष्कार कर्मसे ही होते हैं। तिलोंमें तेल, गायमें दूध और लकड़ीमें आग है, परंतु बिना निकाले उनसे कोई लाभ नहीं उठा सकता। भाग्य भी पूर्वसंज्ञित कर्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कर्म कभी निष्फल नहीं होता। अकर्मण्यता दरिद्रताकी जननी है। बड़े-बड़े ऋषियोंने इस बातको स्पष्ट घोषित कर दिया है। हमारी यह दुर्दशा पौरुषका आश्रय न लेनेके कारण है। कर्मकी सफलतामें सन्देह करके यदि आप लोग निश्चेष्ट बैठे रहें तो फिर हमें कभी राज्य नहीं मिल सकता। आशवान् दृढ़ और तत्पर पुरुष ही सारे संसारको अपने वशमें कर सकता है। अपनी शक्तिके अनुसार समझ-बूझकर उद्योग करना ही उत्तम है। पराक्रमका आश्रय लेकर साम, दान, दण्ड, भेदका यथावसर प्रयोग करना चाहिये। मैं असमर्थ हूँ, ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिये। यह तो आत्माका अपमान है। यदि सफलतामें विलम्ब हो

तो अपने उद्योगमें ही त्रुटि देखनी चाहिये। मैंने अपने पिताकी गोदमें बैठकर विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मणके मुँहसे बृहस्पतिकी पूरी नीति सुनी है। मैं आपसे सत्य कहती हूँ, अब हमलोगोंका इसीमें कल्याण है कि पौरुषके द्वारा शत्रुओंको परास्त करके पुनः अपनी सम्पत्ति प्राप्त की जाय।’

द्रौपदीकी बात सुनकर भीमसेनकी साँस लंबी चलने लगी। वे क्रोधित होकर धर्मराजको उत्तेजित करने लगे कि अभी कौरवोंपर चढ़ाई कर दी जाय और राज्यका उद्धार कर लिया जाय; परंतु युधिष्ठिरने उन्हें बहुत समझाया और कहा कि ‘जब हम बारह वर्षतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवास करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, तब किसी भी कारणसे वह प्रतिज्ञा तोड़ी नहीं जा सकती।’ इस प्रकार लोगोंमें बातचीत हो ही रही थी कि भगवान् व्यासदेव वहाँ पधार गये। स्वागत-सत्कारके बाद उन्होंने कहा कि ‘मैं यह विद्या बतलाता हूँ, इसके द्वारा अर्जुन भगवान् शंकर और इन्द्रको प्रसन्न करके सिद्धि प्राप्त करे। तब तुमलोग कौरवोंको आसानीसे जीत सकोगे।’ युधिष्ठिरने उनसे वह विद्या प्राप्त कर ली और फिर अर्जुनको उसका उपदेश किया। भगवान् वेदव्यासकी सम्मतिसे अर्जुनने वह अनुष्ठान किया। अनुष्ठान करनेके लिये यात्रा करते समय द्रौपदीने भगवान्से प्रार्थना की, मङ्गल-कामना की और अर्जुनको सिद्धि-प्राप्तिके लिये उत्साहित किया। अर्जुन मन्त्रसिद्धिके लिये चले गये।

अर्जुनके वियोगसे पाण्डवोंको बड़ी व्यथा हुई। द्रौपदीके हृदयकी अवस्था तो अवर्णनीय हो गयी थी। ब्राह्मणोंकी सम्मतिसे युधिष्ठिरने तीर्थयात्राका निश्चय किया, वे अनेकों तीर्थोंमें घूमते रहे। द्रौपदी और अनेकों ब्राह्मण उनके साथ-साथ थे। द्रौपदी अपने हाथोंसे परसकर सबको खिलाती, सबके भोजन कर लेनेपर स्वयं भोजन करती। यात्रामें जिन-जिन महात्माओंसे उनकी भेंट हुई, उन्होंने जो-जो कथाएँ सुनीं और वे जिन-जिन तीर्थोंमें गये, उनका विस्तृत वर्णन महाभारतके वनपर्वमें पढ़ना चाहिये। द्रौपदी उन लोगोंके साथ पैदल ही चलती, उसे कभी इस प्रकार चलनेका अभ्यास नहीं था। कहीं बड़े जोरकी आँधी चलती, कभी कड़ाकेकी गरमी पड़ती, मूसलाधार वर्षा होती और शरीरको

ठिठुरानेवाला जाड़ा पड़ता। द्रौपदी मौन-भावसे सब सहन करती और केवल सहन ही नहीं करती, अपनेको ऐसी अवस्थामें भी पतियोंकी सेवा करते देखकर अपने जीवनको सफल मानती।

एक बार जब वे लोग अर्जुनसे मिलनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित होकर गन्धमादन पर्वतकी ओर जा रहे थे, तब रास्तेमें बड़े उत्पातका सामना करना पड़ा। आँधी, पानी, पथरोंकी वर्षा, पेड़ोंका टूटना आदि अनेकों प्रकारके उपद्रव होने लगे। अन्धकारके कारण साथके कई लोग बिछुड़ गये, परंतु भीमसेन धनुष-बाण लिये हुए द्रौपदीके साथ ही रहे। उत्पात बंद होनेपर जब सब लोग ऊपर चढ़ने लगे, तब द्रौपदी बिल्कुल थक गयी। घबराहटके मारे उसका शरीर काँपने लगा, वह अपने शरीरको न सम्हाल सकनेके कारण बैठ गयी। द्रौपदीसे बैठा भी रहा नहीं गया, वह जमीनपर लोट गयी। यह दशा देखकर नकुलसे नहीं रहा गया, वे दौड़कर सबसे पहले द्रौपदीके पास पहुँचे और उसे उठाकर उन्होंने धर्मराजसे कहा—“महाराज ! पाञ्चालराजकी कुमारी कमलनयनी द्रौपदी, जिसे आजतक कोई कष्ट नहीं सहना पड़ा, इस समय थक जानेके कारण पृथिवीपर गिर पड़ी है। इसे आप धीरज दीजिये।”

युधिष्ठिर बहुत दुखी हुए। वे सहदेवके साथ दौड़कर उसके पास गये, उसके उतरे हुए चेहरेको देखकर बहुत ही उदास हुए। उसका सिर अपनी गोदमें रखकर वे विलाप करने लगे। वे कहने लगे—“जो द्रौपदी सुसज्जित भवनमें सुकोमल शय्यापर शयन करती थी, वह इस समय पृथिवीपर पड़ी हुई है। मेरे कारण इस अनिन्द्य सुन्दरीका मुखमण्डल मलिन हो गया है, चरण शिथिल पड़ गये हैं। मैंने जुआ खेलकर बड़ा बुरा काम किया। क्या महाराज द्रुपदने यही सोचकर हमें अपनी प्यारी कन्या दी थी ? क्या उनके मनमें कभी यह कल्पना रही होगी कि मेरी कन्या इस प्रकार वन-वनमें घूमेगी ? परंतु दुःखकी बात है कि आज वही हो रहा है।” युधिष्ठिरका विलाप सुनकर धौम्य आदि ब्राह्मण उनके पास चले आये और उन्होंने मन्त्र पढ़कर आशीर्वाद देकर ढाढस बँधाया। धीरे-धीरे द्रौपदी होशमें आयी, स्वस्थ हुई। अब प्रश्न यह हुआ कि आगे कैसे चला जाय ? भीमसेनने कहा कि मैं अकेला ही आपको, द्रौपदीको और नकुल-सहदेवको लादकर ले चलूँगा। यदि आप कहें तो मेरा पुत्र घटोत्कच बड़ा बलवान् है, उसे बुला दूँ। आप आज्ञा देंगे

तो वह सबको लादकर ले चलेगा।” युधिष्ठिरने आज्ञा दे दी। भीमसेनके स्मरण करते ही घटोत्कच वहाँ आ गया।

घटोत्कचके आज्ञा माँगनेपर भीमने कहा—“वेदा ! तुम्हारी माता द्रौपदी थक गयी है, चल नहीं सकती। तुम बलवान् हो और साथ ही तुममें इच्छानुसार चलनेकी शक्ति है, तुम उसे लादकर ले चलो। आकाशमार्गसे इस प्रकार धीमी चालसे चलो कि हमारा साथ न छूटे और इसे कष्ट भी न हो।” घटोत्कचने कहा—“पिताजी ! मैं अकेला ही द्रौपदी, धौम्य, धर्मराज, नकुल और सहदेवको ले चल सकता हूँ। इस समय तो मेरे पास और भी बहुतसे आकाशचारी वीर राक्षस हैं, वे ब्राह्मणोंसहित आप सबको ले चलेंगे।” भीमने स्वीकार कर लिया। घटोत्कच द्रौपदीके और अन्यान्य राक्षस पाण्डवोंको अपने कंधोंपर लेकर आकाशमार्गसे चले। दूसरे राक्षसोंने ब्राह्मणोंको अपने कंधोंपर बैठा लिया। महातपस्वी लोमश अपने तपोबलके प्रभावसे सूर्यके समान सिद्धमार्गसे चलने लगे। रास्तेमें अनेकों वन-उपवन, पर्वत-शिखर, नदी-नाले आदि देखते हुए वे बदरिकाश्रम पहुँचे। पहाड़ोंमें अनेक विचित्र धातुएँ थीं। अनेकों रत्नोंकी खानें थीं। अनेकों जातिके पशु-पक्षी घूम रहे थे। नदियाँ बह रही थीं, वृक्ष फूले-फले हुए थे।

नर-नारायणके दर्शन करके उन लोगोंको बड़ा आनन्द मिला। वे वहाँ कई दिनोंतक सुखपूर्वक निवास करते रहे। एक दिन अचानक पूर्वोत्तरकोणकी हवाने वहाँ एक सूर्यके समान चमकता हुआ सहस्रदल कमल पहुँचा दिया। उस दिव्य गन्धयुक्त दर्शनीय पुष्पको देखकर और लेकर द्रौपदी बहुत प्रसन्न हुई। उसने भीमसेनको दिखाकर कहा कि “यह पुष्प कितना सुगन्धित, कितना रमणीय, कितना बढ़िया है। इसने मेरा मन चुरा लिया है। मैं यह पुष्प धर्मराजको भेंट करूँगी। क्या तुम ऐसे और भी पुष्प ला सकते हो ? तुम अवश्य ला सकते हो। जाओ न, ले आओ। मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।” द्रौपदी वह फूल लेकर धर्मराजके पास चली गयी। भीमसेन मत्त मातङ्गकी भाँति बड़ी मस्तीसे अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर कमलपुष्पके लिये रवाना हुए। रास्तेमें हनुमान्जीसे भेंट हुई। उन्होंने युद्धमें सहायता करनेका वचन दिया। बहुतसे दैत्य-दानवोंका संहार करके भीमसेन उस सौगन्धिक वनमें पहुँचे। जब द्रौपदीसे युधिष्ठिरको यह समाचार मालूम हुआ, तब वे भीमसेनके साथ घटोत्कच आदिकी सह-यात्रा

वहाँ जा पहुँचे। उस तालाबमें खूब जल-विहार किया और कुछ दिनोंतक वहीं रहे। इसके बाद पर्वतके अनेक स्थानोंपर विचरते रहे। जब अर्जुन स्वर्गसे लौट आये, तब उनसे मिलनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण भी आये।

कुशल-समाचारके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे कहा—‘देवी ! अब तुम्हारे सौभाग्यके दिन आनेमें अधिक विलम्ब नहीं है। अर्जुन शस्त्रविद्या प्राप्त करके लौट आये हैं। तुम्हारे पुत्र द्वारकामें बड़ी लगनके साथ धनुर्वेदका अभ्यास कर रहे हैं। वे सदा सत्सङ्गमें रहते हैं और सदाचारमें बड़े निपुण हो गये हैं। उन्हें तुम्हारे पिता और भाइयोंने कई बार बुलाया, राज्य देनेके लिये प्रलोभित भी किया; परन्तु उन्हें अपने नाना या मामाके पास रहना अच्छा नहीं लगता। वे द्वारकाको छोड़कर स्वर्गमें भी नहीं जाना चाहते। युद्धविद्यासे उनका विशेष प्रेम है। जैसे आर्या कुन्ती या तुम उन्हें सच्चरित्रता सिखातीं, उनका लालन-पालन करतीं, वैसे ही द्वारकामें बहिन सुमद्रा उनकी देख-रेख रखती हैं। प्रद्युम्न जैसे अपने पुत्रोंको शिक्षा देते हैं, वैसे ही अभिमन्यु और तुम्हारे पुत्रोंको भी देते हैं। तुम प्रसन्न रहो, कोई चिन्ता मत करो।’ भगवान् श्रीकृष्णने सुधिष्ठिरको आश्वस्तन दिया और बहुत प्रिय, मधुर और हितकारी वचनोंसे उन्हें समझाया। सब लोग वहीं रहने लगे, मार्कण्डेय ऋषिने बहुत दिनतक वहाँ रहकर नाना प्रकारके इतिहास सुनाये। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेश दिये।

इस बार भगवान् श्रीकृष्णके साथ सत्यभामा भी आयी हुई थीं। ऋषि, महर्षि, श्रीकृष्ण और पाण्डव एक-आश्रममें बैठे बातचीत कर रहे थे, और दूसरे स्थानपर सत्यभामा और द्रौपदी बैठकर आपसमें कुरुवंश और यदुवंशके सम्बन्धकी विचित्र बातें कर रही थीं। उसी सिलसिलेमें सत्यभामाने पूछा—‘सखी ! तुम अपने वीर पतियोंको किस व्यवहारसे संतुष्ट रखती हो ? वे तुमपर कभी क्रोध नहीं करते, तुम्हारा मुँह ताका करते हैं। उनमें कभी ईर्ष्याका भाव नहीं देखा जाता। वे सब-के-सब तुम्हारे वशमें रहते हैं। क्या इसके लिये तुमने कोई व्रत, तप या उपवास किया है ? किसी मन्त्र, दवा, अंजन या जड़ी-बूटी आदिका सहारा लिया है ? तुम मुझे भी कोई ऐसा ही उपाय बतलाओ कि जिससे मैं अपने पतिको वशमें कर सकूँ।’ भाग्यशालिनी द्रौपदीने कहा—‘बहिन ! तुम यह

क्या पूछ रही हो ? क्या कभी पतिव्रता स्त्री अपने पतिको वशमें करना चाहती है ? पतिव्रता तो सर्वदा अपने पतिके वशमें रहती है और रहना चाहती है। यह तो स्त्रियोंके ओछेपनका सूचक है कि वे अपने पतिको वशमें करना चाहें। तुम बुद्धिमती हो, श्रीकृष्णकी प्यारी हो, तुम्हारे मुँहसे ऐसा प्रश्न शोभा नहीं देता। देखो बहिन ! तुम्हें मैं एक बड़े रहस्यकी बात बताती हूँ। जब पतिको यह मालूम होता है कि मेरी स्त्री मन्त्र-यन्त्रके द्वारा मुझे वशमें करना चाहती है, तब वह उससे धवराने लगता है और जैसे लोग घरमें सोंपके रहनेसे चिन्तित रहते हैं, वैसे ही चिन्तित हो जाता है। जब पति चिन्तित हो गया, तब घरवालोंको शान्ति और सुख कैसे मिल सकता है ? इसलिये मन्त्र-यन्त्रसे पतिको वशमें करनेकी चेष्टा बहुत ही बुरी है। उससे पति तो वशमें होता नहीं, बुराई पैदा हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पतिको वशमें करनेके लिये भूलसे ऐसी दवा खिला दी जाती है, जिससे पति सर्वदाके लिये बीमार हो जाता है या मर जाता है। ऐसी स्त्रियोंसे धूर्त शत्रु भी लाभ उठाते हैं। खानेके लिये या शरीरमें लगानेके लिये ऐसे चूर्ण दे देते हैं, जिससे पति पीड़ित, कोढ़ी, असमयमें ही वृद्ध, नपुंसक, पागल, अन्धे या बहरेतक हो जाते हैं। इसलिये पतिको वशमें करनेके लिये ऐसी चेष्टा कदापि नहीं करनी चाहिये।

‘बहिन ! पतिको प्रसन्न रखना और उनके वशमें हो जाना ही उन्हें अपने वशमें करनेका सच्चा उपाय है। मैं अहङ्कार, कामवासना, क्रोध आदि दुष्ट भावोंसे वचकर पतिव्रताके साथ पाण्डवोंकी और उनकी अन्य स्त्रियोंकी सेवा करती हूँ। मेरे मनमें कभी ईर्ष्या नहीं होती, मनको सदा उनके अनुकूल रखती हूँ और वाणीसे कभी अप्रिय वचन नहीं बोलती हूँ। शरीरसे सेवा करती हूँ, उनका मन रखती हूँ और कभी उनपर सन्देह नहीं करती। बुरी जगहपर नहीं बैठती, खराब चाल नहीं चलती, दुराचारिणी स्त्रियोंसे कभी बात नहीं करती। कभी ऐसी दृष्टिसे नहीं देखती जिससे निन्दित विचार प्रकट होते हों। मेरे पति सर्वगुणसम्पन्न हैं। मैं किसीके रूप, गुण, अवस्था, सज-धज आदिसे आकर्षित नहीं होती। उनके स्नानके बाद स्नान करती हूँ, उनके भोजनके बाद भोजन करती हूँ, उनके सो जानेपर सोती हूँ। उनकी तो बात ही क्या, जबतक घरके दूसरे लोग या सेवक स्नान, भोजन या शयन

नहीं करते, तबतक मैं भी नहीं करती । मेरे पति कहीं बाहरसे आते हैं, तब मैं आगेसे उठकर उनका स्वागत करती हूँ । भीतर ले आती हूँ, आसनपर बैठाती हूँ और अपने हाथों पानी लाकर उनके हाथ-पैर, मुँह धुलाती हूँ । घर और घरकी सब सामग्रियोंको साफ-सुथरा रखती हूँ, स्वच्छता और पवित्रताके साथ भोजन बनाकर ठीक समयपर खिलाती हूँ । भण्डारेमें ठीक-ठिकानेसे अन्न रखती हूँ । उनकी रुचिके अनुसार ही काम करती हूँ । आपसके विनोदके अतिरिक्त हँसती नहीं हूँ । द्वारपर खड़ी नहीं रहती । घरसे मिले हुए बागमें भी बहुत देरतक नहीं ठहरती । न बहुत हँसती हूँ, न खीझती हूँ । झमककर किसीसे कड़वी बात नहीं कहती । अवसर आनेपर बचा जाती हूँ । पतिसे अलग रहना मुझे अच्छा नहीं लगता । पतिके परदेश जानेपर मैं फूल, माला, सुगन्ध आदिसे अपनेको सजाती नहीं । मेरे पति जिस वस्तुको पसंद नहीं करते, उसे मैं भी पसंद नहीं करती । उनकी बात मानती हूँ, उनका जैसे हित हो, वे जैसे प्रसन्न हों, वही मेरा व्रत है । जब मैं उनके पास जाती हूँ, तब पवित्र होकर सुन्दर वस्त्र, आभूषण, सुगन्धित वस्तु धारण करके ही जाती हूँ ।

मेरी सासने अपने कुटुम्बियोंके साथ जैसा व्यवहार करना मुझे सिखाया है, मैं वैसा ही करती हूँ । भिक्षा देना, देव-पूजा करना, श्राद्ध और पर्वके दिन अच्छे-अच्छे भोजन बनाना, माननीय पुरुषोंकी पूजा और सत्कार करना तथा दूसरे जो मेरे कर्तव्य मुझे मात्तम हैं, उनका दिन-रात सावधानीसे पालन किया करती हूँ । विनयके भावको कभी नहीं छोड़ती । पति ही स्त्रियोंका देवता और एकमात्र गति है, भला, कौन पतिव्रता अपने पतिका अप्रिय करना चाहेगी ? मैं उन्हें हीन-दृष्टिसे नहीं देखती । उनसे अच्छा भोजन नहीं करती । उनसे बढ़-चढ़कर कपड़े और गहने नहीं पहनती । अपनी सासकी निन्दा कभी नहीं करती, उनकी सेवा करती हूँ । जो काम करती हूँ, बड़ी लगनसे करती हूँ । जिसको वशमें करना हो, बिना शर्तके उसके वशमें हो जाना ही वशमें करनेका सच्चा उपाय है । इतना वशमें हो जाना चाहिये कि वशमें करनेकी याद ही न रहे ।

‘बहिन ! आर्या कुन्तीको मैं अपने हाथसे परसकर भोजन कराती हूँ । उनकी सब तरहकी सेवा स्वयं करती हूँ, उनसे बढ़कर न भोजन करती और

कभी ऐसी बात नहीं कहती, जो उन्हें बुरी लगे । मेरे महाराज युधिष्ठिरके यहाँ सोनेके थालोंमें आठ हजार ब्राह्मण प्रतिदिन भोजन करते थे । अठासी हजार स्नातक यज्ञ ब्राह्मणोंको अन्न-वस्त्र दिया जाता था । दस हजार संन्यासियोंको भोजन दिया जाता था । मैं बालिकेवदेके बाद इन सबको भोजन कराती थी और यथायोग्य पूजा करती थी । घरमें लाखों दासियाँ थीं । मुझे उनके नाम, रूप, खाने-पहननेका हाल सब कुछ मात्तम था । कन्या, किशोरी, क्या काम किया, किसका क्या काम बँधा हुआ है, यह सब मैं जानती थी । लाखों हाथी-घोड़े थे; उनकी गिनती, उनका प्रबन्ध मैं ही करती थी । सारे महलका, सब नौकरोंका, समस्त परिवारका, गाय, भेड़ आदि पशुओंका, उनके चरानेवाले रखवालोंका क्या प्रबन्ध हुआ है, यह मैं देखती रहती थी । राज्यकी आमदनी और खर्चका कुल हिसाब मैं जानती थी और उसकी जाँच-पड़ताल भी करती थी । मैं दिन-रात अधिक-से-अधिक परिश्रम करके इतने कामोंका बोझ सम्हाले रखती थी कि जिनका भार साधारण पुरुष नहीं सम्हाल सकते । पाण्डवोंका मुझपर इतना विश्वास था कि वे बस, दो ही काम करते थे—प्रजाकी रक्षा और दान । उनके खजानेमें अथाह धन था । मैं दिनको दिन नहीं समझती थी, रातको रात नहीं समझती थी । भूख और प्यासकी परवा नहीं करती थी । मुझे अपने पतियोंकी सेवा करनेमें इतना आनन्द आता कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकती । उद्वेग तो कभी मुझे हुआ ही नहीं । मैं हमेशा पतियोंके उठनेके पहले उठ जाती और सोनेके बाद सोती । मैंने पतियोंके साथ ऐसा ही व्यवहार किया है । मेरे मनमें उनके वशमें करनेकी इच्छा कभी नहीं हुई । मैं उनके वशमें रहना चाहती हूँ । वे मुझसे प्रसन्न हैं, यह मेरे लिये बड़े सौभाग्य की बात है । इसीमें मैं अपने जीवनकी सार्थकता समझती हूँ ।’

सत्यभामाने कहा—‘बहिन ! मेरे मनमें मन्त्र-यज्ञ करनेकी कोई बात नहीं थी । मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण मुझे यों ही बड़ा प्रेम करते हैं । तुम इसके लिये दुःख मत करो । मैं तुम्हारी सखी हूँ, इसलिये विनोदके रूपमें ही मैंने वह बात कही है । मैं तुम्हारे दुःखका कारण बनी, इसके लिये मुझे क्षमा करो ।’ द्रौपदीने कहा—‘बहिन ! सुनो । मैं तुम्हें पतिको वशमें करनेका सच्चा उपाय बताती हूँ । वह उपाय सर्वथा वैयर्थ्य है । यदि तुम इसका आचरण कर

वकीगी
पतिके
तब मैं
कामना
लौकिक
है । श्री
करो कि
तुम उ
आवें,
हो जा
बिछाक
कोई क
तुमसे
तुम उ
द्वारा
क्री कि
मित्र
खिला
शस म
प्रकट
अपने
साथ
आदि
वाली
दुष्टा
वंशक
उनके
चेष्टा
इसक
की उ

[९]

तुम्हारी तो अपने पतिको सौतोंसे छीन सकोगी । स्त्रीके लिये पतिके समान कोई देवता नहीं है । पतिकी प्रसन्नतासे स्त्रीके तब मनोरथ पूरे होते हैं । पतिके क्रोधसे उसकी सब कामनाएँ निष्फल हो जाती हैं । पतिके प्रसादसे ही स्त्रियोंको लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक आनन्द प्राप्त होता है । श्रीकृष्णकी सेवा तुम इतने निष्कपट भावसे क्लेश सहकर करो कि वे केवल तुम्हींको चाहने लगे । वे जान जायँ कि तुम उनसे सच्चे हृदयसे प्रेम करती हो । जब वे दरवाजेपर आवें, तब तुम उनका स्वागत करनेके लिये आँगनमें खड़ी हो जाया करो । भीतर आनेपर उन्हें सुन्दर आसन बिछाकर बैठाओ और अपने हाथसे पैर धोओ । वे दासीसे कोई काम करनेको कहें तो तुम स्वयं कर दो । यदि श्रीकृष्ण तुम्हें कोई बात कहें और वह छिपानेके योग्य न हो, तो भी तुम उसे दूसरेसे मत कहो; क्योंकि जब वह बात दूसरेके द्वारा उनके कानमें पहुँचेगी, तब वे सोच सकते हैं कि मेरी श्री किसी बातको गुप्त नहीं रख सकती । जो तुम्हारे पतिके मित्र हों, हितचिन्तक हों, उन्हें अच्छी-अच्छी चीजें खिलाओ, उनका सत्कार करो । उनके विरोधियोंको अपने पास मत फटकने दो । पर-पुरुषके आगे तुम्हारी मस्ती न प्रकट हो । पुरुषोंके आगे न बहुत बोले और न तो अपने हृदयके भाव प्रकट होने दो; लज्जा और संकोचके साथ रहो । जो तुम्हारे पुत्र लगते हैं, प्रद्युम्न और सांभ्र आदि उनके साथ भी एकान्तमें मत बैठो । क्रोध करने-वाली, शराब पीनेवाली, अधिक खानेवाली, कर्कशा, चोर, दुष्ट और चञ्चल स्त्रियोंका सङ्ग कभी मत करो । अच्छे वंशकी, पापसे डरनेवाली, पतिव्रता स्त्रियोंसे मित्रता करो; उनके पास बैठो-उठो । अपने पति जैसे प्रसन्न हों वैसी चेष्टा करो । स्त्रियोंके लिये यही सच्चा उपदेश है । जो स्त्री इसका अनुकरण करती है, वह सब प्रकारके सुख-सौभाग्यकी अधिकारिणी होती है ।

इसी प्रकार समय-समयपर दोनोंमें बातें होती रहीं । भगवान् श्रीकृष्णने बहुत दिनोंतक रहनेके बाद वहाँसे प्रस्थान करनेका विचार किया । सत्यभामाने द्रौपदीको बहुत कुछ आश्वासन दिया और बतलाया कि अब वे दिन दूर नहीं हैं कि जब तुम्हारे सारे शत्रु मारे जायँगे । उसके पुत्रोंका कुशल-समाचार भी बताया और कहा कि वे शीघ्र ही सारे पृथिवीके वीरोंमें पूजनीय होंगे । सबको समझा-बुझाकर सत्यभामा और श्रीकृष्ण

सज्जन पुरुषोंमें यह स्वाभाविक गुण होता है कि यदि दूसरा कोई उनका अनिष्ट करना चाहे तो वे यथाशक्ति अनिष्टसे अपनेको बचानेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु अनिष्ट करनेवालेका अनिष्ट नहीं करना चाहते । वे स्वभावसे ही सबका हित चाहते हैं और हित चाहनेमें यह भेदभाव नहीं रखते कि कौन मेरा शत्रु और कौन मेरा मित्र है ? वे दुस्वीको देखकर दयार्द्र हो जाते हैं, अनिष्ट करनेवालेको देखकर उसके अंदर सद्बुद्धिका सञ्चार करनेके लिये तड़पने लगते हैं और पुण्यात्माको देखकर उसके पुण्यकी अभिवृद्धिके लिये सचेष्ट हो जाते हैं । उनके जीवनका यही नियम है । वे जब घोर विपत्तिमें पड़ जाते हैं, उनका कोई सहारा नहीं रहता, तब वे भगवान् श्रीकृष्णको पुकारते हैं और श्रीकृष्ण दौड़कर उनकी रक्षा करते हैं । इस विषयमें द्रौपदीका बड़ा अनुभव था । उसने अपने जीवनमें अनिवार्य विपत्ति उपस्थित होनेपर भगवान् श्रीकृष्णको समय-समयपर पुकारा था और श्रीकृष्ण सब काम छोड़कर उसकी रक्षाके लिये दौड़े आये थे ।

पाण्डव वनवासी हो गये । यद्यपि वे अपनी कार्य-सिद्धिमें लगे हुए थे । किसीके आश्रित नहीं थे, बहुतांश आश्रय थे । उनमें दैन्यका सञ्चार नहीं हुआ था, तथापि कौरव यही समझते थे कि पाण्डव दीन हो गये, दरिद्र हो गये, असहाय हो गये । हमारे पास महान् ऐश्वर्य है, अब वे हमारा मुकाबला क्या कर सकते हैं ? इसी समझसे उनके मनमें यह दुर्बुद्धि आयी कि चलो हमलोग वनमें चले और अपने ऐश्वर्यका प्रदर्शन करके पाण्डवोंको कुढ़ावें, उनका अनादर करें । वे सज-धजकर हस्तिनापुरसे वनके लिये रवाना हुए ।

गन्धर्वराज चित्रसेनसे अर्जुनकी बड़ी मित्रता थी । जब उन्हें कौरवोंका यह दुर्विचार मालूम हुआ कि ये मेरे मित्र अर्जुन और उनके भाइयोंको चिढ़ानेके लिये जा रहे हैं, तब उन्होंने ऐसा निमित्त उपस्थित कर दिया कि गन्धर्वोंसे कौरवोंका युद्ध हो गया । उस युद्धमें कौरवोंकी बहुतसी सेना मारी गयी, बहुतसे वीर बेहोश हो गये । औरोंकी तो क्या कथा, वीरवर कर्ण भी अपना रथ नष्ट हो जानेपर विकर्णके रथपर सवार होकर भग गये । दुर्योधन पकड़ लिया गया और गन्धर्व उसे लेकर अपने लोकको चले गये । सेनाके जो कुछ सामान्य सेवक अवशेष रह गये थे, उन्होंने जाकर पाण्डवोंसे प्रार्थना की कि राजा दुर्योधनको गन्धर्व पकड़े

लिये जा रहे हैं, आपलोग उनकी रक्षा करें। युधिष्ठिरने सोच-विचारकर भीम, अर्जुन आदि अपने छोटे भाइयोंको आज्ञा दी कि 'देखो भैया, यों तो जब हमारा कौरवोंसे विरोध हो, तब हम पाँच भाई और कौरव सौ भाई हैं; परंतु जब कौरवोंका और किसीसे विरोध होता है, तब हम सब मिलकर एक सौ पाँच भाई हैं। हम पाँचोंके रहते कोई कौरवोंका अपमान करे, यह असह्य है। तुमलोग अभी जाओ और सुलहसे अथवा युद्धसे उनको छुड़ा लाओ।' पाण्डवोंने अपने बड़े भाई युधिष्ठिरकी आज्ञा शिरोधार्य की।

पहले गन्धर्वोंसे अर्जुनका घमासान युद्ध हुआ। जब यह बात गन्धर्वराज चित्रसेनको मालूम हुई, तब वह आया और अर्जुनसे उसने भी युद्ध किया। जब चित्रसेन बहुत पीड़ित हो गये, तब उन्होंने अपनेको अर्जुनके सामने प्रकट किया और दोनोंमें कुशल-मङ्गल हुआ। चित्रसेनने अर्जुनसे कहा—'भाई अर्जुन! दुर्योधन और कर्णका दुष्ट विचार देवराज इन्द्रको स्वर्गमें ही मालूम हो गया था। वे सब अपना ऐश्वर्य दिखाकर तुम्हें कुढ़ानेके लिये, तुम्हारी दुर्दशाका स्मरण दिलानेके लिये और यशस्विनी द्रौपदीकी हँसी करनेके लिये यहाँ आये थे। देवराज इन्द्रकी आज्ञाके अनुसार ही हम लोगोंने दुर्योधनको पकड़ा था। अब तुम जैसा कहो, हम वैसा करनेको तैयार हैं।' अर्जुन दुर्योधन और गन्धर्वोंको साथ लेकर युधिष्ठिरके पास आये। युधिष्ठिरने समझा-बुझाकर गन्धर्वोंको विदा कर दिया और दुर्योधनको यह कहकर लौटा दिया कि 'मेरे प्यारे भाई दुर्योधन! बिना सोचे-विचारे कोई साहसका काम नहीं करना चाहिये। यह जो दुर्घटना घट गयी, इसके लिये किसी प्रकारका खेद मत करना, ऐसी ही होनी थी। अब तुम अपने भाइयोंके साथ अपनी राजधानीमें जाओ और वहाँ सुख भोगो।' दुर्योधन वहाँसे लौट गया।

दुर्योधनको पहले तो बड़ा पश्चात्ताप हुआ, परंतु पीछे उसकी बुद्धि बदल गयी। वह धर्मात्मा पाण्डवोंको और भी कष्ट पहुँचानेकी चेष्टा करने लगा। एक दिन यशस्वी, तपस्वी और तेजस्वी ऋषि दुर्वासा घूमते-घामते दस हजार शिष्योंके साथ दुर्योधनके अतिथि हुए। दुर्योधनने बड़ी विनयसे उनका स्वागत-सत्कार किया, वे कई दिनतक दुर्योधनके यहाँ रहे। दुर्योधन बड़ी तत्परतासे दिन-रात उनकी सेवामें लगा रहा। महर्षि दुर्वासाने कई प्रकारसे दुर्योधनकी परीक्षा भी ली, परंतु वह उनकी परीक्षामें उत्तीर्ण होता, सदा ही भोजन

तैयार कराकर वे भोजन नहीं करते थे। कभी भोजनके लिये मना करके चले जाते थे और भोजनके समय दस हजार शिष्योंके साथ आकर पंक्तिमें बैठ जाते थे; परंतु दुर्योधनको ओरसे किसी प्रकारकी असावधानी नहीं हुई, दुर्वासा बहुत ही प्रसन्न हुए।

दुर्वासाने दुर्योधनसे कहा—'बेटा! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वरदान माँग सकते हो। मेरे प्रसन्न होनेपर संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है।' दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई। मरकर जीवित होनेपर जितना हर्ष किसी साधारण मनुष्यको हो सकता है, उससे भी अधिक हर्ष दुर्योधनको हुआ। दुर्योधनने कुटिल शकुनि और कर्णसे पहले ही सलाह कर ली थी कि दुर्वासाले क्या वर माँगना होगा। दुर्योधनने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! हमारे वंशमें महाराज युधिष्ठिर ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। उनके गुण, सच्चरित्रता और शील-स्वभावकी महिमा सारे संसारमें प्रख्यात है। वे बड़े धर्मात्मा हैं और इस समय अपनी धर्मपत्नी द्रौपदी तथा छोटे भाइयोंके साथ वनमें निवास कर रहे हैं। मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि जैसे आप शिष्योंके साथ मेरे यहाँ पधारकर अतिथि हुए हैं, वैसे ही उनके यहाँ भी हों। यदि आप मुझपर विशेष कृपा कर रहे हैं तो ऐसे समयमें जाकर उनके अतिथि होइये, जब यशस्विनी द्रौपदी ब्राह्मणों और पतियोंको खिला-पिलाकर स्वयं भी खा-पी करके विश्राम कर रही हो।' दुर्वासाने दुर्योधनकी प्रार्थना स्वीकार की और वे वहाँसे विदा हुए। आज कौरवोंमें बड़ी प्रसन्नता है, वे सोच रहे हैं कि दुर्वासाको भोजन न करा सकनेके कारण पाण्डवलोग अवश्य ही दुर्वासाले को धाँसते भस्म हो जायेंगे।

भोले दुर्वासाले दुर्योधनकी प्रार्थनाके अनुसार ठीक वैसे ही समयपर पाण्डवोंके अतिथि हुए। पाण्डवोंने आसन पर बैठकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की और हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'ब्रह्मन्! ज्ञान-सन्ध्या आदि नित्य कर्मोंको समाप्त करके आइये और भोजन कीजिये।' दुर्वासाले आनेका उद्देश्य ही यही था। उनके मनमें यह बात नहीं आयी कि वनवासी युधिष्ठिर इस समय मुझे दस हजार शिष्योंको कहाँसे भोजन करायेंगे। उन्होंने स्वीकार कर लिया और वे शिष्योंके साथ नदीतटपर जाकर गोता लगानेके बाद परमात्माका ध्यान करने लगे। यह समय बड़ी विपत्तिका था। वह

संख्या ११]

दुर्वासाके स्वभावसे परिचित थी। वह जानती थी कि यदि इस समय दुर्वासाको भोजन नहीं मिलेगा तो वे शाप देकर पाण्डवोंको नष्ट कर देंगे। बहुत सोचने-विचारनेपर भी उसे कोई उपाय नहीं सूझा। वह घोर चिन्तामें पड़कर अशरण-शरण, अनाथ-नाथ, दीनबन्धु भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गयी। और चारा ही क्या था—और सहारा ही किसका था ? ऐसे अवसरपर श्रीकृष्णके अतिरिक्त और सहायता ही ढौन कर सकता है ? उसका शरीर जड़ सा हो गया, उसके हाथोंकी बरबस अञ्जलि बँध गयी, आँखोंसे आँसूकी धारा बूट निकली। वह मन-ही-मन कहने लगी—‘श्रीकृष्ण ! मेरे प्यारे श्रीकृष्ण ! तुम्हारी बाँहें बड़ी लंबी हैं, तुम देवकी-नन्दन होनेपर भी अच्युत हो, तुम वसुदेवपुत्र होनेपर भी जगदीश्वर हो। जिसने तुम्हें प्रणाम किया, उसका घोर संकट तुमने टाल दिया। तुम्हीं विश्वके विधाता हो, तुम्हीं विश्वके संहारकर्ता हो और तुम्हीं स्वयं विश्व हो। मेरे प्रभु ! मेरे स्वामी ! मेरे सर्वस्व ! तुम्हीं मेरे रक्षक हो, तुम्हीं सबके रक्षक हो, वास्तवमें तुम्हीं सबसे परे पुरुषोत्तम हो। तुम्हारी ही शक्तिसे चित्तकी वृत्तियोंमें चेतनाका सञ्चार होता है। तुम्हारी ही चेतनासे चित्तवृत्तियाँ ज्ञानके संचयमें समर्थ होती हैं। मैं हृदयसे तुम्हें प्रणाम करती हूँ। तुम सर्वश्रेष्ठ हो, तुम्हीं सबको वर देनेवाले हो, तुम अनन्त हो। जिन्हें किसीका सहारा नहीं है, तुम उनका सहारा हो। प्राण, इन्द्रिय और मनकी वृत्तियाँ तुम तक पहुँचनेमें असमर्थ हैं। हे सबके स्वामी ! हे सबसे बढ़कर स्वामी ! मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। शरणागतवत्सल श्रीकृष्ण ! कृपा करके मेरी रक्षा करो। नीलकमलके समान साँवले शरीरवाले, कमलकोषके समान लाल नेत्रवाले, पीताम्बर और कौस्तुभमणि धारण करनेवाले श्रीकृष्ण ! सभी प्राणी तुमसे उत्पन्न होकर तुममें ही विलीन हो जाते हैं। तुम्हीं एकमात्र सबकी परम गति हो। तुम परमसे भी परम ज्योति, विश्वात्मा और सर्वव्यापी हो। विद्वानोंने तुम्हें ही इस जगत्का परम बीज और सब ऐश्वर्योंकी खान कहा है। देवेश ! तुम हमारे स्वामी हो, इसलिये हम किसी भी आपत्तिसे नहीं डरते। स्वामिन् ! कौरवोंकी सभामें जैसे तुमने दुःशासनसे मेरी रक्षा की थी, वैसे ही इस महासंकटसे भी मुझे बचाओ। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ।’*

भगवान् श्रीकृष्ण कहाँ नहीं हैं ? उनसे क्या छिपा हुआ है, कोई सच्ची प्रार्थना करे और वे वहाँ उपस्थित न हो जायें, यह असम्भव है। द्रौपदीकी प्रार्थना द्वारिकामें पहुँची, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण शय्यापर लेटे हुए थे, पास ही रुक्मिणी थीं; उन्होंने अपनी नाँद छोड़ दी। रुक्मिणीसे कहा भी नहीं, वे बात-की-बातमें द्रौपदीके पास पहुँच गये। उन्हें देखते ही द्रौपदी आनन्दातिरेकसे पुलकित हो गयी और प्रणाम करके दुर्वासाके आनेका सब हाल कह सुनाया। श्रीकृष्णने कहा—‘पाञ्चाली ! मैं द्वारिकासे यहाँ आते-आते थक गया हूँ, मुझे बड़े जोरसे भूख लगी है, पहले शीघ्र मुझे भोजन कराओ, पीछे देशभरकी बातें सुनाना।’ श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर द्रौपदी बहुत ही लज्जित हुई। उसने कहा—‘प्रभो ! जबतक मैं भोजन नहीं करती, तभीतक सूर्य भगवान्के दिये हुए पात्रमें अन्न रहता है, फिर कुछ नहीं रहता। इस समय मैं भोजन कर चुकी हूँ, अब उसमें कुछ नहीं है।’ श्रीकृष्णने कहा—‘द्रौपदी ! मुझे भूख लग रही है और तुम दिह्यगी कर रही हो। थके-मौदेके साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये। शीघ्र जाओ, वह पात्र मेरे पास ले आओ, विलम्ब नहीं करना, भला !’ श्रीकृष्णका आग्रह देखकर द्रौपदी वह पात्र उठा लयी। उसके एक किनारेपर सागका एक टुकड़ा लगा हुआ था। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं देखकर उसे उठा लिया और उसे खाकर कहा—

विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रमोडव्यय ॥
 प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर ।
 आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्त्तक नतासि ते ॥
 वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव ।
 पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर ॥
 सर्वोध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता ।
 पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल ॥
 नीलोत्पलदलद्वयाम पद्मगर्भोद्वेक्षण ।
 पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण ॥
 त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम् ।
 परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः ॥
 त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम् ।
 त्वया नाथेन देवेश सर्वोपद्रव्यो भयं न हि ॥
 दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा ।
 तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥

* कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय ॥

वासुदेव जगन्नाथ

प्रणतचित्तिनाशन ।

(म० भा० व० प० २६३)

‘भनेन यज्ञभुग् विश्वात्मा भगवान् प्रीयताम् ।’

अर्थात् ‘इस अन्नसे यज्ञाधिपति देवाधिदेव विश्वात्मा भगवान् प्रसन्न और तृप्त हों ।’ यों कहकर भगवान् श्रीकृष्णने सहदेवसे कहा—‘सहदेव ! तुम जाकर शीघ्र ही सुनियोंको बुला लाओ । उनसे कहना कि आपलोग चलकर भोजन कीजिये ।’ सहदेवने श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन किया ।

दुर्वासा और उनके शिष्य स्नान करके अधमर्षण कर रहे थे, एकाएक उन सबको अजीर्णकी डकार आयी । उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा कि मानो उन्होंने अभी खूब डटकर भोजन किया है । सब जलके बाहर निकले, एकने दूसरेको देखा, सबने सबके मनका भाव समझ लिया । उन्होंने दुर्वासासे कहा—‘महाराज ! हमलोग युधिष्ठिरसे भोजन-सामग्री तैयार करनेके लिये कहकर यहाँ आये थे, परंतु अब अचानक हमारा पेट भर गया है, अन्न गलेतक लगा हुआ है, अब हम वहाँ चलकर क्या भोजन करेंगे ? व्यर्थ रसोई बनवाकर हमने उन्हें कष्ट दिया । अब क्या किया जाय ?’ दुर्वासाने कहा—‘यह बात तो सर्वथा सत्य है कि हमने पाण्डवोंका अपराध किया है, अब ऐसा उपाय करना चाहिये कि वे क्रूरदृष्टिसे देखकर हमपर रुध्न हो जायँ । राजर्षि अम्बरीषका प्रभाव मैं अबतक नहीं भूल सका हूँ, मैं भगवत्प्रेमी भक्तोंसे बहुत डरता हूँ । पाण्डव महात्मा, धर्मात्मा, वीर, विद्वान्, तपस्वी, सदाचारी और भगवान्के परम भक्त हैं । जैसे आग रुईके ढेरको जला सकती है, वैसे ही वे क्रोधित होनेपर हमको भस्म कर सकते हैं । इसलिये उनसे पूछे बिना ही हमलोग यहाँसे भग चलें । इसीमें हमारा कल्याण है ।’ दुर्वासाकी बात सुनकर उनके सब शिष्य इधर-उधर भग गये । सहदेवने इधर-उधर घाटोंपर ढूँढ़ा, उन लोगोंका कहीं पता नहीं चला । वहाँ रहनेवाले तपस्वियोंसे सहदेवको मालूम हुआ कि वे लोग भग गये । सहदेवने लौटकर सब समाचार पाण्डवोंको सुनाया । युधिष्ठिरको बड़ी चिन्ता हुई, वे सोचने लगे । अब न जाने कितनी रात गये दुर्वासा आवेंगे और भोजन माँगेंगे । उस समय वे हमलोगोंको शाप दे सकते हैं । श्रीकृष्णने उन्हें सारी बात बतायी और अपने आगमनका प्रयोजन बतलाकर कहा कि ‘जो लोग धर्मके अनुसार आचरण करते हैं, वे सब प्रकारकी विपत्तियोंसे छूट जाते हैं ।’ पाण्डवोंने उनकी स्तुति की—‘प्रभो !

यह सब तुम्हारी ही कृपाका फल है । समुद्रमें डूबते हुए मनुष्य जैसे जहाजके सहारे उबर जाते हैं, वैसे ही हम तुम्हारे भरोसे दुस्तर विपत्तियोंसे बचते रहते हैं । हम तुम्हारी शरण हैं ।’ द्रौपदी और पाण्डवोंकी अनुमति लेकर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिकाको लौट गये । पाण्डव ब्राह्मणों और अपनी प्यारी पत्नी द्रौपदीके साथ एक वनसे दूसरे वनमें विचरने लगे ।

एक दिन पाँचों पाण्डव वनमें गये हुए थे, आश्रमपर द्रौपदी अकेली थी । दैववश सिन्धुदेशका राजा जयद्रथ उसी रास्तेसे निकला । अनुपम सुन्दरी द्रौपदीको देखकर वह मोहित हो गया । द्रौपदीकी अङ्गकान्तिसे सारे वनको जगमगाते हुए देखकर वह एकटक द्रौपदीको देखने लगा और सोचने लगा कि यह कोई अप्सरा है, देवकन्या है, अथवा मनमोहिनी माया है । उसका मन विचलित हो गया । उसने अपने मित्र राजा कोटिकास्यको बुलाकर कहा—‘मित्र ! अब मैं ब्याह करने न जाऊँगा, मैं तो इसी सुन्दरीसे विवाह करूँगा । तनिक जाकर पता तो लगाओ कि यह स्त्री कौन है ?’ कोटिकास्यने द्रौपदीके पास जाकर उसके रूप, सौन्दर्य, गुण आदिकी बहुत प्रशंसा की और उसका परिचय पूछा । द्रौपदीने अपने शरीरको सम्हालकर कहा—‘भाई ! मेरी-जैसी स्त्रीको पर-पुरुषसे बात नहीं करनी चाहिये; परंतु इस समय यहाँ और कोई नहीं है, इसलिये मैं तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये विवश हो रही हूँ ।’ इस प्रकार कहकर द्रौपदीने अपना और अपने पतिराजको परिचय दिया और कहा कि ‘मेरे पति अभी आनेहीवाले हैं, तुमलोग थोड़ी देरतक ठहर जाओ, वे आनेपर तुम्हारा विधिवत् स्वागत-सत्कार करेंगे ।’ द्रौपदी इतना कहकर अतिथि-सत्कारके लिये पर्णशालाके अंदर चली गयी और कोटिकास्य जयद्रथके पास लौट आया । कोटिकास्यकी सब बातें सुनकर जयद्रथ पागल-सा हो गया और बिना पूछे पर्णशालाके अंदर घुस गया । वह द्रौपदीके पास जाकर कुशल-समाचार पूछने लगा । द्रौपदीने कहा—‘भाई ! तुम बैठ जाओ, मेरे पति आकर तुम्हारा स्वागत करेंगे ।’ जयद्रथने कहा—‘देवि ! मेरा सब स्वागत हो चुका, अब मेरे रथपर बैठकर मेरे साथ चलो और अखण्ड सुख तथा ऐश्वर्यका भोग करो । राज्यश्रीहीन दीन उदासीन पाण्डवोंको छोड़ दो । चलो, समूचे सिन्धु-सौवीर देशकी महारानी बनकर मेरे साथ मजेसे नैन करो ।’ द्रौपदीका हृदय काँप

संख्या ११]

उठा, उसकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं; वह उस स्थानसे पीछे हट गयी। द्रौपदीने उसे झिड़ककर कहा—‘खबरदार ! बस, अब ऐसी बात जवानसे निकाली तो । ऐसी बात कहते तुझे लज्जा नहीं आती ? दुष्ट ! तू राजा बना बैठा है ।’

द्रौपदी मन-ही-मन सोचने लगी कि इसके पास सेना है, सहायक हैं, यह स्वयं बलवान् है, यदि मुझे बलात् पकड़ ले जाय तो मैं क्या करूँगी ? कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये कि यह कुछ देर बिजलम जाय और तबतक मेरे पतियोंमेंसे कोई-न-कोई आ जाय तो मेरी रक्षा हो सके । द्रौपदीका मुँह लाल हो गया, आँखोंमें खून उतर आया । वह कहने लगी—‘मूर्ख ! जो कभी युद्धमें विचलित नहीं हुए, उन पाण्डवोंके सम्बन्धमें ऐसी बात कहते समय तेरी जीभ गिर जानी चाहिये । क्या तेरे मित्रोंमें ऐसा कोई तेरा हितैषी नहीं है जो तुझे नरकमें गिरनेसे बचा ले ? क्या तू धर्मराजको जीत सकता है ? इस समय तेरी चेष्टा वैसी ही है जैसे कोई सोये हुए सिंहको लात मारकर, उसकी गर्दनके बाल उखाड़कर भागनेकी चेष्टा कर रहा हो । तू किसी भी लोकमें किसी भी कन्दरामें छिपकर अर्जुनके वाणोंसे नहीं बच सकता । नकुल और सहदेवसे युद्ध करते समय तू अनुभव करेगा कि तूने विपैले नागकी पूँछपर पैर रक्खा है ।’

जयद्रथने कहा—‘मुझे धमकाओ मत, मैं पाण्डवोंको अपनेसे नीच समझता हूँ । तुम्हें मेरे साथ चलना ही होगा, मैं तुम्हें बलात् पकड़कर ले चूँगा ।’ द्रौपदीने कहा—‘मैं अबला नहीं हूँ, मैं पाण्डवोंकी धर्मपत्नी होनेके कारण महाबलशालिनी हूँ । मैं तेरे सामने कभी दीन वचन नहीं कह सकती । मेरे रक्षक भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, तेरी क्या मजाल जो मुझे छु सके । गाण्डीव धनुषकी टङ्कार सुनकर तू भाग जायगा । यदि अपने पतियोंके विरुद्ध कभी एक बात भी मेरे मनमें नहीं आयी है, तो मैं सत्य-सत्य शपथ करके कहती हूँ कि कुछ ही क्षणोंके बाद तुझे अपने पतियोंके कैदमें देखूँगी । मैं देखूँगी कि वे तेरे सिरके बाल पकड़कर घसीटते हुए लिये आ रहे हैं । यदि तू मुझे बलपूर्वक ले जायगा तो भी मैं तुझसे नहीं डर सकती । अभी-अभी पाण्डव आते हैं ।’ द्रौपदी कह ही रही थी कि जयद्रथने झपटकर उसे पकड़ना चाहा । द्रौपदीने पुरोहित धौम्यको अपनी रक्षाके लिये पुकारते हुए, अपने दुपट्टेको इस प्रकार झटका कि जयद्रथ कटे हुए पेड़की तरह चारों खाने चित्त जमीनपर गिर पड़ा । धौम्यने

आकर बहुत समझाया-बुझाया, परंतु उसने उनकी एक बात नहीं सुनी । द्रौपदी भी उसके स्पर्शसे बचनेके लिये पुरोहित धौम्यके चरण छूकर बारंबार लंबी साँस भरती हुई जयद्रथके रथपर सवार हो गयी । उसने रथ हाँका, धौम्य उसके पीछे-पीछे चलने लगे ।

वनमें गये हुए पाण्डवोंके सामने अनेकों अशकुन होने लगे । युधिष्ठिरने प्रेरणा की कि हमें यह वन सूना-सा दीग्व रहा है, शीघ्र-से-शीघ्र आश्रमपर चलो । आश्रमपर पता लगाकर भीमसेन और अर्जुनने जयद्रथका पीछा किया । उनके भयंकर शब्दसे वह वन गूँज उठा । उन्हें देखकर जयद्रथकी हिम्मत पस्त हो गयी । वह डरकर द्रौपदीसे पूछने लगा—‘ये जो पाँचों वीर मेरी ओर दौड़े आ रहे हैं, वे कौन-कौन हैं बतलाओ तो सही ।’ द्रौपदीने कहा—‘मूर्ख ! यह नीच कर्म करनेके बाद तू उन धर्मात्माओंका परिचय पूछ रहा है । ये पाँचों वीर मेरे स्वामी हैं, अब तेरे पक्षका कोई आदमी नहीं बच सकता । उनका दर्शन हो जानेके बाद न मुझे दुःख और न तेरा कुछ डर है । अब तू शीघ्र ही मरनेवाला है, इसलिये धर्मका ख्याल करके तेरे प्रश्नका उत्तर दे देना चाहिये । सुन, जिनकी ध्वजाके सिरेपर बँधे हुए दो मृदङ्ग रथ चलनेके समय स्वयं ही बजते रहते हैं, जिनके शरीरका रंग सोनेके समान उज्ज्वल और चमकीला है, जिनकी नाक तुकीली और ऊँची है, जिनके दोनों नेत्र विशाल हैं और जो धर्मके मर्मज्ञ हैं, वे मेरे पति युधिष्ठिर हैं । इसी प्रकार द्रौपदीने पृथक्-पृथक् सबका परिचय दिया । तबतक पाण्डव पहुँच चुके थे, पैदल सेनाने शस्त्र त्याग करके हाथ जोड़ लिये । इससे पाण्डवोंने उसपर प्रहार नहीं किया । सवारोंके प्राणोंके लाले पड़ गये ।

हमें न युद्धका विशेष वर्णन करना है और न तो किसको किसने मारा, यही बतलाना है । युद्धका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि जयद्रथ चुपकेसे रणभूमि छोड़कर भग गया । युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव द्रौपदीको लेकर आश्रमपर लौट आये । भीमसेन और अर्जुन जयद्रथको पकड़नेके लिये आगे बढ़े । युधिष्ठिरने कहा—‘भाई ! जयद्रथ दुर्योधनका बहनोई है, इसलिये वह हमारा भी बहनोई है । दुर्योधनकी बहिन दुःशला और माता गान्धारीके दुःखका ख्याल करके उसे मारना मत, भला !’ द्रौपदीने कहा—‘नहीं, नहीं, उस कुलकलङ्क नराधमको जीता न छोड़ना ।’ भीमसेन और अर्जुनने जाकर जयद्रथको पकड़ लिया और

बाल खींचकर घसीटते हुए, घुँसोंसे खूब पीटा। भीमसेनकी मारसे वह बार-बार बेहोश हो जाया करता था। अर्जुनने कहा कि 'बड़े मैयाकी बात याद रखना।' भीमसेनने लज्जा होकर मारना बंद कर दिया। उसके सिरके बाल उखाड़ डाले, रूप-विरूप कर दिया, पाँच चोटियाँ रख दीं। वह चुपचाप खड़ा रहा, सिटपिटाया नहीं। भीमसेनने कहा— 'तुझे मैं एक शर्तपर छोड़ सकता हूँ, वह यह है कि अब तुम आजसे अपनेको राजा मत कहना, जहाँ जाना, दास ही बताना।' जयद्रथने बिना ननु-नचके भीमसेनकी शर्त मंजूर कर ली।

भीमसेन जयद्रथको बाँधकर युधिष्ठिरके पास ले आये। उसकी दुर्दशा देखकर पहले तो युधिष्ठिरको हँसी आ गयी, परंतु फिर उन्होंने अपनेको समझलकर उसे छुड़वा दिया। द्रौपदीने भी कहा— 'हाँ, हाँ, अब इसे छोड़ दो।' राजा जयद्रथ मर गया, दास जयद्रथ जीवित रहे; इससे पाण्डवोंका

गौरव बढ़ता ही है। धर्मराजने जयद्रथको धर्मका उपदेश दिया और कहा कि 'भगवान्‌का भजन करो और अनपेक्षित कुर्म करनेका विचार त्याग दो। भगवान् तुम्हें सद्बुद्धि दें। तुम्हारा कल्याण हो।' जयद्रथसे कुछ कहते नहीं बना, वह सिर नीचा करके वहाँसे विदा हो गया।

द्रौपदी-हरणसे पाण्डवोंको बड़ा दुःख हुआ। वे अपना दुर्बलतासे व्यथित हो गये। मार्कण्डेय ऋषिने रामायणकी कथा सुनायी और बताया कि 'भगवान् रामचन्द्रकी धर्मपत्नी सीताका भी हरण हो गया था और उन्हें तुमसे भी अधिक विपत्तियोंका सामना करना पड़ा था। इसके लिये चिन्तित होना उचित नहीं है। इस घटनामें भी तुम्हारे कल्याणका बीज है। भगवान्‌की प्रत्येक देनको उत्सुकता और प्रसन्नताके साथ ग्रहण करना चाहिये। इसीमें जीवोंका परम कल्याण है।' पाण्डव वनमें द्रौपदीके साथ वनवासके बारहवें वर्षके अवशेष दिन व्यतीत करने लगे।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम् । स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे ॥

'मनुष्योंमें वे भाग्यवान् तथा निश्चय ही कृतार्थ हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं भगवान्‌का नाम स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं।'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इस समय समस्त विश्वमें हाहाकार मचा है। सब ओर अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, कलह, कलुष, संग्राम और संहार बढ़ रहे हैं। धर्म तथा ईश्वरके प्रति बढ़नेवाली अश्रद्धासे मनुष्य पिशाच हुआ चला जा रहा है। इसीसे आधिदैविक दुःख भी बढ़ रहे हैं। युद्ध, बाढ़, अवर्षा, अकाल, अन्नकष्ट, व्याधि आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। पता नहीं, ये उपद्रव कितने और बढ़ेंगे। ऐसी दशामें इस विपत्तिसे त्राण पानेके लिये श्रीभगवान्‌का आश्रय ही एकमात्र उपाय है। भगवदाश्रयके लिये भगवन्नामका आश्रय आवश्यक है। भगवन्नामसे ऐसा कौन-सा विघ्न है, जो नहीं टल सकता और ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो नहीं मिल सकती। प्रतिबन्धक

प्रबल होनेपर देर भले ही हो जाय, परंतु नामका अमोघ फल तो होता ही है। इस घोर कलियुगमें तो जीवोंके लिये भगवन्नाम ही एकमात्र अवलम्बन है। अतएव भारतवर्ष तथा समस्त विश्वके कल्याणके लिये, लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक सुख-शान्ति के लिये तथा साधकोंके परम लक्ष्य एवं मानव-जीवन के परम ध्येय भगवान्‌की प्राप्ति के लिये संवको भगवन्नामका जप-कीर्तन करना चाहिये। 'कल्याण' के भाग्यवान् ग्राहक-अनुग्राहक तथा सभी पाठक-पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम-जप करते-कराते आये हैं। प्रतिवर्षकी भाँति गतवर्ष २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की गयी थी। प्रसन्नताकी बात है कि सैकड़ों जगह हजारों मन्त्रोंका जप किया है। स्थानों

की सूची आगामी अङ्कमें प्रकाशित की जायगी । हम इन सभी जापकोंके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं ।

इस वर्ष भी अपने देशके, धर्मके तथा विश्वके कल्याणके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करके 'कल्याण' के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंको नाम-जप करना-कराना चाहिये । गतवर्षकी भाँति इस वर्ष भी २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की जाती है । आगामी कार्तिक शुक्ला १५ से जप आरम्भ किया जाय और चैत्र शुक्ला १५ तक हो । पूरे पाँच महीनेका समय है ।

भगवान्का नाम इतना प्रभावशाली होनेपर भी इसका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र, वृद्ध-बालक सभी कर सकते हैं । इसलिये 'कल्याण' के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्याणकी भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक जप करें और प्रेमके साथ विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे करवायें । नियमादि सदाकी भाँति हैं ।

यह आवश्यक नहीं कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय । प्रातःकाल उठनेसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है । संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रखी जा सकती है अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या पाद रखकर भी गिनती की जा सकती है । बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये । पेसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है । किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं । भगवन्नामका जप जितना भी हो जाय, उतना ही उत्तम है । भगवन्नामकी शरणागति अमोघ है और वह महान् भयसे तारनेवाली है ।

जो लोग जपका नियम करें-करावें, वे नीचे लिखे

अनुसार जोड़कर सूचना भेजनेकी कृपा करें ।

मेरा तो विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो शीघ्र ही हमारी प्रार्थनासे भी बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है । अतएव सबको इस महान् पुण्य कार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये ।

१. जप किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, इस नियमकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ को समझनी चाहिये । उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत उत्तम है ।

२. सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रम के नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं ।

३. प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये ।

४. सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें । जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं । सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल अपना नाम और पता लिख भेजें ।

५. संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं । उदाहरणार्थ—यदि ऊपर दिये हुए 'सोलह' नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिन मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है । जिसमें भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद कर देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं । जिस दिनसे जो भाई जप करें उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब भी इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये ।

६. संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है ।

७. सूचना भेजनेका पता—नाम-जप-विभाग 'कल्याण'—कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याण-सम्पादक

श्रीगीता-जयन्ती

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

‘सम्पूर्ण धर्मोंको मुझमें त्यागकर तुम केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ । मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा । तुम शोक मत करो ।’

श्रीमद्भगवद्गीता सर्ववेदमयी, सर्वशास्त्रमयी, सर्वयोगमयी, सर्वसिद्धिमयी, सर्वमन्त्रमयी और सर्व-कल्याण-सिद्धान्तमयी है । इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, अभ्यासयोग, ध्यानयोग आदि समस्त साधनोंका संक्षेपमें बड़ा महत्त्वपूर्ण वर्णन है । किसी भी क्षेत्रका, किसी भी दुविधामें पड़ा हुआ, किसी भी देश, जाति, धर्मका मनुष्य गीतासे दिव्य प्रकाश प्राप्त कर सकता है । गीता सारी उलझनोंको सहज ही सुलझा देनेवाला सरल सिद्ध वाङ्मय है । इससे अन्धकारमें पड़े हुएोंको प्रकाश, मार्ग भूले हुएोंको सन्मार्ग, निराश प्राणियोंको निश्चित आशाकी ज्योति, शोकग्रस्तोंको उल्लासमय प्रसाद, कर्तव्यविमूढ़ोंको कर्तव्यज्ञान, पापियोंको पापनाशका सहज साधन, राजनीतिक कर्मियोंको दिव्य नीतिकी शिक्षा, कर्मप्रणव पुरुषोंको बन्धनसे मुक्त करनेवाले निष्कामकर्मकी प्रक्रिया, भक्तोंको उच्चतम भक्तिका स्वरूप, ज्ञानियोंको दिव्य ज्ञानका प्रकाश—कल्याणमय कल्पतरुकी भाँति जो जिस कल्याण—वस्तुको चाहता है, उसे वही मिलती है । गीतामाता स्नेहमयी जननीकी भाँति सभी संतानोंको नित्य कल्याण-मार्ग प्रदान करती है । वर्तमान विपत्तिग्रस्त, कलह-क्लेशसे त्रस्त और संदेह-अविश्वासके पाशमें आवद्ध प्राणिजगत्को यदि सर्वाङ्गीण मुक्तिका मार्ग मिल सकता है तो वह श्रीमद्भगवद्गीतासे ही । अतः गीतामाताकी ही सबको शरण ग्रहण करनी चाहिये ।

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ल ११ गुरुवार तारीख २७ नवम्बरको श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है । इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताजीके क्रियात्मक अध्ययनकी स्थायी योजना बननी चाहिये । पर्वके उपलक्ष्यपर श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये ।

- (१) गीताग्रन्थका पूजन ।
- (२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन ।
- (३) गीताका यथासाध्य पारायण ।
- (४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताप्रचारके लिये सभाएँ, गीतातत्त्व और गीतामहत्त्वपर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नामकीर्तन आदि ।
- (५) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण ।
- (६) प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्की विशेष पूजा ।
- (७) जहाँ कोई अड़चन न हो वहाँ श्रीगीताजीकी शोभा-यात्रा ।
- (८) लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीताप्रचारमें सहायता करें ।

कालदास



सिवाजी १०५२

हरे राम हरे राम हरे राम हरे राम हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण हरे हरे
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २००९, दिसम्बर १९५२

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-सालिगराम मुखमें [कविता]	... १४४९
२-कल्याण ('शिव')	... १४५०
३-मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता, भगवत्प्राप्तिके कुछ विघ्न और उनसे छूटनेके उपाय (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	... १४५१
४-प्रार्थना [संकलित]	... १४६३
५-श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन	... १४६४
६-स्याम सुजान [कविता] (श्रीसूरदासजी)	... १४७०
७-मनका मरण (श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)	... १४७१
८-शरणागतवत्सल राम (श्रीरवि शर्मा)	... १४७३
९-प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण (श्री म० त्रि० भट)	... १४७६
१०-परमेश्वरकी प्राप्ति [कविता] (श्रीअम्बादत्तजी शर्मा 'अम्ब')	... १४७९
११-भगवती सीताजीके लक्षण (श्रीरामलालजी पहाड़ा)	... १४८०
१२-नटवर [कविता]	... १४८२
१३-हिंदुओंके पर्व (श्रीसुदर्शनसिंहजी)	... १४८३
१४-हलाहल-पान (स्वामी श्रीसूर्यप्रकाशजी)	... १४८८
१५-देशके कल्याणके लिये संस्कृत, आयुर्वेद, हिंदी तथा गीता-रामायणके प्रसार-प्रचारकी आवश्यकता (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	... १४८९
१६-अज्ञान [कहानी] (श्री'चक्र')	... १४९३
१७-मन्त्र-सिद्धि	... १४९८
१८-उपदेश [कविता] (संकलित)	... १५००
१९-श्रीभगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग, 'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर)	... १५०१
२०-अभिलाषा [कविता]	... १५०२
२१-कामके पत्र	... १५०३
२२-सती द्रौपदी (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)	... १५०५

चित्र-सूची

तिरंगा

१-सालिगराम मुखमें

... १४४९

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७।।)
विदेशमें १०)
(१५ शिल्लिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनंद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ७।।)
विदेशमें १०)
(१० पैस)

पुराने और नये ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र निवेदन

यह 'कल्याण' के छत्तीसवें वर्षका अन्तिम बारहवाँ अङ्क है। इस अङ्कमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो गया है। सत्ताईसवें वर्षका प्रथम अङ्क (विशेषाङ्क) 'बालक-अङ्क' होगा। इसमें बालकोपयोगी लेख और चरित्रोंके अतिरिक्त अन्य भी प्रायः सभी तरहके लोगोंके लिये उपयोगी सामग्री रहेगी। ज्ञानमार्गियोंके लिये ज्ञानी बालकोंके उपदेशयुक्त चरित्र, भक्तोंके लिये भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णकी मधुरतम बाललीलाएँ और उनके सुन्दर-सुन्दर चित्र, सदाचार और शिष्टाचारकी विशेषता माननेवालोंके सदाचार-शिष्टाचारका विवेचन, शिक्षाशास्त्रियोंके लिये शिक्षासम्बन्धी दोष-गुणका निरूपण और नवीन सुन्दर योजनाएँ, धर्म और संस्कृति-प्रेमियोंके लिये धर्म तथा संस्कृतिकी महत्ता बतलानेवाले लेख तथा धर्मपर जीवन न्योछावर करनेवालोंके चरित्र, वीरताका महत्त्व बतलानेवाले वीरबालकों तथा वीरबालिकाओंके चरित्र आदि रहेंगे। देशके सभी क्षेत्रोंमें बड़े-बड़े पूज्य महानुभावोंने इस अङ्कके लिये लेख लिखे हैं। लेखकोंके कुछ नाम पिछले अङ्कमें छप चुके हैं। इस बालक-अङ्कमें—

- (१) बालकोंके स्वभाव, सदाचार, आहार-विहार, शिष्टाचार, पालन-पोषण तथा शिक्षणके सम्बन्धमें बहुत-से उपयोगी लेख होंगे।
- (२) बालकोंके माता-पिता, गुरु, अभिभावकोंके कर्तव्यसूचक कई लेख होंगे।
- (३) बालकोंके संस्कार-सम्बन्धी लेख होंगे।
- (४) बालकोंके खेल-सम्बन्धी लेख होंगे।
- (५) भगवान् श्रीरामका सुन्दर बालचरित्र होगा।
- (६) भगवान् श्रीकृष्णका सुन्दर बालचरित्र होगा।
- (७) प्राचीनकालके बहुत-से आदर्श बालकोंके ज्ञान-भक्ति, सदाचारप्रधान चरित्र होंगे।
- (८) देश-विदेशके ईश्वरभक्त बालक, वीर-बालक, मातृपितृभक्त बालक, परोपकारी बालक, सत्यप्रेमी बालक, सेवाव्रती बालक, विश्वासी बालक, त्यागी बालक, चतुर बालक—यों आदर्श बालकोंके बहुत सुन्दर चरित्र होंगे।
- (९) बालकोंको ऊँचा उठानेवाली तथा उनका मनोरञ्जन करनेवाली कहानियाँ होंगी।
- (१०) भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाओंके बहुत सुन्दर-सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र होंगे।
- (११) संसारके प्राचीन और अर्वाचीन आदर्श बालक-बालिकाओंके बहुत सुन्दर चित्र होंगे।

यह बालकोंकी शिक्षाके लिये तथा बालकसम्बन्धी अनेकों समस्याओंके समाधान चाहनेवालोंके लिये एक विश्वकोष-सा काम देगा। इसमें ८०० पृष्ठोंसे कुछ अधिक ठोस सामग्री होगी। यह अङ्क सर्वथा संग्रह करनेयोग्य, मित्रों, विद्यार्थियों, कन्याओं, शिक्षासंस्थाओं, पुस्तकालयों आदिको उपहार-पुरस्कार देने और वितरण करने योग्य होगा।

अतएव जो सज्जन पहलेसे ७।।) मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायेंगे, उनको शायद निराश होना पड़ेगा; क्योंकि 'बालक-अङ्क'की माँग बहुत अधिक रहनेकी सम्भावना

है। इसलिये जिन नये-पुराने सज्जनोंको ग्राहक बनना हो, वे मनीआर्डरसे तुरंत ७॥) भेजनेकी कृपा करें, जिससे उनका विशेषाङ्क सुरक्षित हो जाय। मनीआर्डर फार्म दसवें अङ्कमें भेजा जा चुका है। विशेषाङ्ककी वी० पी० से प्रतीक्षा करनेवाले ग्राहकोंमेंसे सबको अङ्क मिलना बहुत कठिन है, क्योंकि तबतक अङ्कोंके समाप्त हो जानेकी सम्भावना है।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में किये जा रहे हैं। अतः सारे पत्र-व्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय तथा मनीआर्डर-रूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोष्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये।

पत्रव्यवहारमें और रुपये भेजते समय मनीआर्डर रूपनमें अपना ग्राहक-नंबर जरूर लिखनेकी कृपा करें। नंबर याद न हो तो कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिख दें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें।

ग्राहक-नंबर न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें विशेषाङ्क नये नंबरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नंबरकी वी० पी० दुबारा जायगी। ऐसा भी सम्भव है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उसके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें, आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न करें और प्रयत्न करके नये ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेका कष्ट करें। इस कृपाके लिये 'कल्याण' आपका आभारी होगा।

जिन महानुभावोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक मनाहीका एक कार्ड अवश्य लिख दें। ऐसा करनेसे उनके सिर्फ तीन पैसे खर्च होंगे, पर 'कल्याण' कई आने डाकखर्च के नुकसान तथा समयके अपव्ययसे बच जायगा।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है। इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग रुपये भेजने तथा अलग आर्डर लिखना चाहिये और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलग।

सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये। इस वर्ष जिल्दोंकी जुजबंदीकी सिलाईकी व्यवस्था की गयी है। सजिल्द अङ्क जानेमें देर हो सकती है।

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजना चाहें, वे पूरी बीमा बेंचकर अथवा मनीआर्डरसे भेजें। सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्ड पत्रसे रुपये न भेजें। ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं। कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ न पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेवारी 'कल्याण' और 'गीताप्रेस'की नहीं होगी।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

की कृपा
का है।
कठिन

वहारमें,
प्राप्ति,

खरबनेकी
हों तो

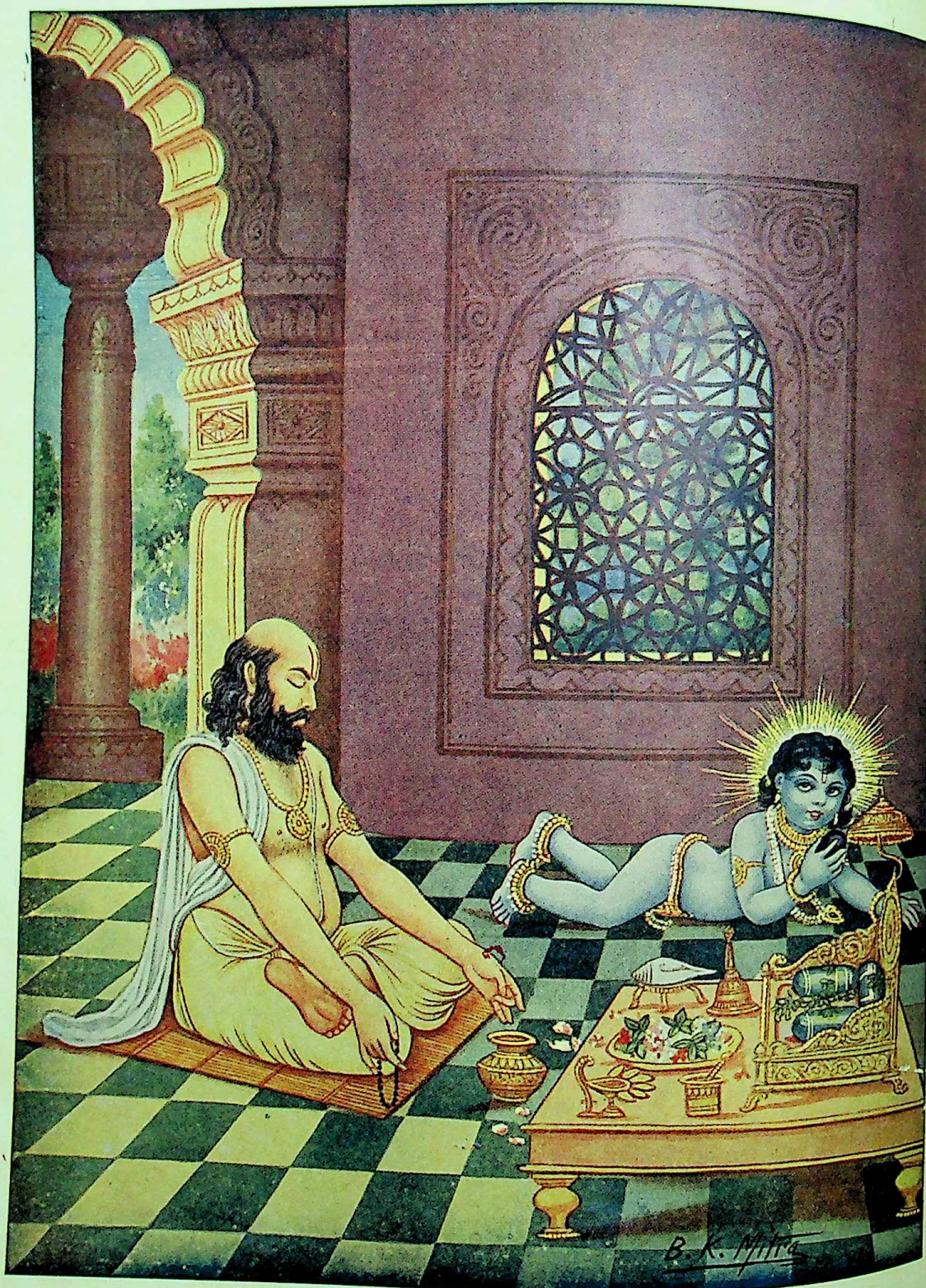
सेवामें
ऐसा भी
के नाम
वापस
करें।

क कांड
कवर्च-

ग है।
चाहिये
अलग
अलग।
ल्लोंकी

अथवा
रास्तेमें
मेवारी

पुर)



सालिगराम मुखमें

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद्वर्षं तद्वच्छुभं नेत्रे चेतपसोजिते मुरुचिरे ग्राम्यां हरिर्दृश्यते ।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

वर्ष २६ }

गोरखपुर, सौर पौष २००९, दिसम्बर १९५२

{ संख्या १२
पूर्ण संख्या ३१३

सालिगराम मुखमें

हँसत गोपाल नंदके आगँ, नंद सरूप न जान्यौ ।
निर्गुन ब्रह्म, सगुन लीलाधर, सोई सुत करि मान्यौ ॥
एक समय पूजा कै अवसर, नंद समाधि लगाई ।
सालिग्राम मेलि मुख भीतर, बैठि रहे अरगाई ॥
ध्यान विसर्जन कियौ नंद जब, मूरति आगे नार्हीं ।
कह्यो गोपाल देवता कह भयौ, यह विसमय मन मारहीं ॥
मुख ते काढ़ि तबै जदुनंदन, दियौ नंद कै हाथ ।
सरदास स्वामी सुखसागर, खेल रच्यौ ब्रजनाथ ॥

कल्याण

याद रखो—भगवान्‌के कृपा-बलसे जीवनकी सारी कठिनाइयाँ वैसे ही दूर हो जाती हैं जैसे सूर्यके प्रकाशसे अन्धकार ।

याद रखो—कठिनाइयाँ सारी मनमें होती हैं, बड़े बड़े अन्धकारका निर्माण संसारको इसी रूपमें सत्य माननेवाला तुम्हारा विषयासक्त मन ही करता है । भगवान्‌के कृपा-बलसे मनकी यह भ्रान्ति मिट जाती है । मलिन मन धुल जाता है, फिर किसी कठिनाईकी कल्पना भी नहीं रहती, सर्वत्र सर्वदा सरलताके साथ सदानन्दमयी प्रभु-कृपाकी झाँकी होती रहती है ।

याद रखो—फिर जीवन-मरण, संयोग-वियोग, लाभ-हानि, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, जय-पराजयके कोई भी द्वन्द्व किसी प्रकारका असर नहीं करते; सभी कृपामयकी कृपा-लीलाके मधुर दृश्य बन जाते हैं ।

याद रखो—जबतक तुम अपनेको भाग्यहीन, दुर्दशाग्रस्त, दुखी, निराश्रय, निराश, असहाय मानते हो, तबतक तुमने भगवान्‌के परम कृपाबलको नहीं अपनाया है । भगवान्‌के कृपाबलका आश्रय लेते ही भाग्य चमक उठता है, दुःखके बादल तितर-बितर हो जाते हैं, परम आश्रय पाकर चित्त उल्लसित हो उठता है, 'निराश और असहाय' माननेकी वृत्ति ही नष्ट हो जाती है । जिसको भगवत्-कृपाका आश्रय हो, उसमें निराशा और असहायताकी भावना क्यों रहने लगी ?

याद रखो—तुम भगवान्‌के कृपापात्र हो, स्नेह-पात्र हो, अपने हो, प्यारे हो—जगत्‌में चाहे तुम दीन, दुखी, वृणित, अपमानित, उपेक्षित, विषय-पदार्थहीन, मलीन—कुछ भी माने जाते हो, कैसे भी दीखते हो—भगवान्‌की आत्मीयता, उनका प्यार किसी अवस्थामें जरा भी कम नहीं होता । सर्वभूत-सुहृद् भगवान्‌का स्वभाव बदले, तब कहीं उसमें कमीकी शङ्का

हो । नित्य सम एकरस भगवान्‌का सर्वभूत-सौहार्द नित्य है; क्योंकि वह उनका स्वभाव है । फिर तुम अपनेको—सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वथा और सर्वदा प्रीतिभाजन, प्रिय होनेपर भी, दीन-हीन भाग्यहीन मानते हो, इसीसे तुम दीन-दुखी रहते हो । अपनी इस झूठी मान्यताको छोड़ दो । भगवान्‌के अनुग्रहका, उनके सौहार्दका, उनकी प्रीतिका अनुभव करो और उनके कृपाबलको अपनी सम्पत्ति मानकर, उसपर अपना हक मानकर उससे सम्पन्न हो जाओ ।

याद रखो—जगत्‌के यह सारे दुःख-क्लेश, सारे अभाव-अभियोग, सारे शोक-विषाद तभीतक हैं—जबतक तुम्हें भगवान्‌की कृपाके दर्शन नहीं हुए । जिस क्षण भगवत्कृपाकी झाँकी तुम्हारे मनने की, उसी क्षण भगवत्कृपाका परम बल तुम्हारा सारा अभाव मिटा देगा ।

याद रखो—अभावकी वृत्ति मनसे पैदा होती है और जिस वस्तुका यथार्थमें अभाव है, उसकी कल्पनासे अभावकी वृत्ति शान्त होती नहीं, इसीसे प्रत्येक विषय-लाभ अभावकी अभिवृद्धि करनेवाला होता है । अभावका नाश तो होगा, भाववाली—जो है, सदा है, सदा रहेगी, उस सच्ची वस्तुकी प्राप्तिसे और वह सच्ची वस्तु है नित्य सत्य भगवान् ।

याद रखो—ये नित्य सत्य भगवान् ही आनन्द-दाता हैं, आनन्दके केन्द्र हैं, आनन्दमय हैं । इन भगवान्‌की प्राप्ति होती है, इनकी महती कृपासे और वह कृपा सदा सबके अधिकारकी वस्तु है; क्योंकि स्वभावसे ही सर्वसुहृद्‌की वस्तु है । तुम यदि उसको दुर्लभ, अपने अधिकारसे परेकी वस्तु मानोगे तब तो तुम उससे वञ्चित ही रहोगे; पर अधिकारकी मानते ही तुम्हारा उसपर अधिकार हो जायगा और वह तुम्हारे सारे दुःख-क्लेशोंको मिटाकर तुम्हारे हृदयमें परम शान्ति-के सुखद अनन्त सागरको लहरा देगी ।

‘शिव’

मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता, भगवत्प्राप्तिके कुछ विघ्न और उनसे छूटनेके उपाय

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता और हमारा कर्तव्य

मनुष्य-जीवन बड़ा दुर्लभ है, बड़े पुण्य-संचयसे भगवान्की कृपा होनेपर ही यह प्राप्त होता है। इसका एक-एक क्षण भगवत्स्मरणमें और भगवान्की सेवामें बीतना चाहिये, पर बड़े ही खेदकी बात है कि हमारा बहुत-सा समय वों ही बीत गया और अब भी बीता ही जा रहा है, इसलिये शीघ्र सचेत होकर हमें अपने कर्तव्यका पालन करते हुए मनुष्य-जीवनको सफल बनाना चाहिये, जिससे भविष्यमें पश्चात्ताप न करना पड़े।

सदाकी भाँति दीपमालिकके महोत्सवका निश्चित समय आया और चला गया, किंतु प्रतिक्षण क्षीण होनेवाले इस मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयका हमने किस हदतक सदुपयोग किया, यह हमें विचारना चाहिये। केवल मनुष्यका ही शरीर ऐसा है, जिसमें यह जीव सदाके लिये जन्म-मरणसे छुटकारा पाकर परमात्माको प्राप्त कर सकता है। यदि हमने अपनी असावधानीसे इस दुर्लभ मानव-जीवनको पशुओंकी भाँति आहार, निद्रा और मैथुनमें लगा दिया तो हमारा जीवन पशु-जीवन ही समझा जायगा। श्रीचाणक्यने कहा है—

आहारनिद्रामयमैथुनानि

समानि चैतानि नृणां पशूनाम् ।

ज्ञानं नराणामधिको विशेषो

ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥

(चाणक्यनीति १७ । १७)

‘आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें ज्ञान अधिक है, किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंकी ही तुल्य हैं।’

अतः हमलोगोंको अपने समयका सदुपयोग करना चाहिये, नहीं तो, अन्तमें हमको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस विषयमें श्रुति हमें चेतावनी देती हुई कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

भूतेषु भूतेषु विचित्र्य धीराः

प्रेत्यास्माद्धोकादभृता भवन्ति ॥

(केनोपनिषद् २ । ५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

‘यदि इस मनुष्य-शरीरमें परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर—परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।’

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि समस्त प्राणियोंमें परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही अपना जीवन सफल बनावे। मनुष्यका जन्म बहुत ही दुर्लभ है, वह ईश्वरकी कृपासे हमें प्राप्त हो गया है। ऐसा सुअवसर पाकर जीवनके महत्त्वपूर्ण समयका एक क्षण भी हमें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। जिस कामके लिये हम आये हैं, उसे सबसे पहले करना चाहिये। जो काम हमारे बिना हमारे जीवितावस्थामें दूसरे कर सकते हैं, वह काम उन्हींसे करा लेना चाहिये, उस काममें अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये। और जो काम हमारे मरनेके बाद हमारे उत्तराधिकारी कर सकते हैं, चाहे वह कैसा भी जरूरी क्यों न हो, उस काममें भी अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये। पर जो काम हमारे बिना न हमारे जीवनकालमें और न मरनेपर ही, दूसरे किसीके द्वारा सम्पन्न हो सकता है तथा जो हमारे इस लोक और परलोकमें परम कल्याण करनेवाला है और जिस कामके लिये ही हमें यह मनुष्यशरीर मिला है एवं जिस काममें थोड़ी भी कमी रहनेपर हमें पुनः जन्म लेना पड़ सकता है, साथ ही, जिस कार्यकी पूर्ति हमारे बिना किसी दूसरेसे भी कभी हो ही नहीं सकती, उस कामको तो सबसे अधिक महत्त्वका और सबसे अधिक जरूरी समझकर तत्परताके साथ सबसे पहले हमें करना ही चाहिये। वह काम है—परमात्माकी प्राप्ति। उसकी प्राप्तिका उपाय है—ईश्वरकी भक्ति, उत्तम गुणोंका संग्रह, उत्तम आचरणोंका सेवन, संसारसे वैराग्य और उपरति, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, परमात्माके तत्त्वका यथाथ ज्ञान, मन और इन्द्रियोंका संयम, दुखी और अनाथोंकी निष्काम सेवा आदि-आदि। अतः इन्हीं कामोंमें अपना समय अधिक-से-अधिक लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

अधिकतर समयमें यह मन व्यर्थका ही चिन्तन करता रहता है, जो कि हमारे लिये बहुत ही खतरेकी चीज है। अतः मनको व्यर्थ चिन्तनसे हटाकर भगवान्‌के चिन्तनमें लगाना चाहिये तथा भगवान्‌के जप-ध्यानके समय हमें जो निद्रा और आलस्य घेर लेते हैं, उनको विवेक, विचार और हठसे हटाना चाहिये। नहीं तो, आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।

कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥

ईश्वरकी हमलोगोंपर बड़ी भारी अहेतुकी दया है, जो कि हमें उसकी कृपासे मनुष्यका शरीर मिला है। श्रीराम-चरितमानसमें कहा है—

आकर चारि लच्छ चौरासी । जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥
कबहुँ करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

इसपर हमें विचार करना चाहिये। पृथ्वीपर असंख्य जीव हैं, उनमें मनुष्य बहुत ही कम संख्यामें हैं—अत्यन्त परिमित हैं। ऐसे दुर्लभ मनुष्यशरीरको पाकर जो मनुष्य आलस्य, प्रमाद, पाप और भोगोंमें अपना जीवन बिताता है, उसकी मूर्खता नहीं तो और क्या है !

ईश्वरकी कृपासे हमें उत्तम धर्म, उत्तम काल, उत्तम देश और उत्तम सङ्ग भी मिला है; क्योंकि वैदिक सनातन धर्म, जिसको हम 'हिंदूधर्म'के नामसे कहते हैं, सबसे पहलेका यानी अनादि है। अन्य जितने भी मत-मतान्तर धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं—सब इसके बादके हैं और इसीकी सहायतासे बने हैं। इसलिये यह सबसे श्रेष्ठ भी है। तीनों लोकोंमें पृथ्वी श्रेष्ठ है और पृथ्वीमें आर्यावर्त (भारतवर्ष) श्रेष्ठ है, जिसे हम 'हिंदुस्थान' कहते हैं। कभी ऐसा था कि सारी पृथ्वीके लोग इस भारतवर्षसे ही धार्मिक शिक्षा पाया करते थे। मनुस्मृतिमें कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य

सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(२ । २०)

'इसी देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंके पाससे अखिल भूमण्डलके सभी मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।' अतः यह भारत देश

अध्यात्म-विषयमें सब देशोंमें उत्तम माना गया है और अब भी अध्यात्मविषयमें उत्तम है।

यद्यपि कलियुग महान् अनर्थका मूल और पापोंकी जड़ है, किंतु इसमें एक बड़ा भारी गुण है कि केवल भगवान्‌की भक्ति करनेसे इसमें मनुष्यका उद्धार हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलियुग सम जुग आन नहिं जौ नर कर विस्वास ।

गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

अध्यात्मविषयक धार्मिक ग्रन्थोंका सङ्ग भी इस समय प्रायः बहुत ही सुलभ है। इस प्रकारकी सब सामग्री पाकर अपनी अकर्मण्यताके कारण हम यदि ईश्वर-प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो यह हमारे लिये बहुत ही लजा और दुःखकी बात है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरे भवसागर नर समाज अस पाइ ।

सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

अतएव हमलोगोंको आलस्य-निद्रा, पाप-प्रमाद, स्वाद-शौक, ऐश-आराम, भोग-विलास, दुर्व्यसन-दुराचार और कलुष-कालिमा आदिको विषके समान समझकर त्याग करना चाहिये। तथा भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्याय, सेवा-संयम, सद्गुण-सदाचार, ज्ञान-वैराग्य आदिको अमृतके समान समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा सेवन करना चाहिये। एवं भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और प्रभावका तत्त्व-रस-ज्ञाननेके लिये उनका श्रवण, पठन, कीर्तन और स्मरण करते हुए मनुष्यजीवनको सार्थक बनाना चाहिये।

यह याद रखना चाहिये कि मनुष्यका जीवन बहुत ही उपयोगी, दुर्लभ और सर्वोत्तम होनेपर भी है यह क्षणिक। अब तो है, पर एक क्षणके बादका इसका भरोसा नहीं है। न मालूम काल कब आकर इसका कलेवा कर जाय। मनुष्यका शरीर केवल भोग भोगनेके लिये ही नहीं है—आहार, निद्रा और मैथुन आदि तो पशुशरीरमें भी मौजूद है। फिर मनुष्यके शरीरको पाकर जो आहार, निद्रा और मैथुनमें ही अपना समय बिताता है, वह मनुष्यके रूपमें पशु ही है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पहि तन कर फल बिषय न भाई । स्वाँड स्वल्प अंत दुखदाई ॥

नर तनु पाइ बिषय मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई । गुंजा ग्रहइ परस मनि खेई ॥

अतएव, मनुष्यका शरीरको पाकर अपना जीवन धार्मिक

शीघ्र अपने आत्माका उद्धार हो, उसी काममें लगाना चाहिये। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।
(१।३३)

‘इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस (दुर्लभ) मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।’

मनुष्यका जन्म इतना मूल्यवान् है कि यदि कोई लाख रुपये खर्च करे तो भी उसे एक क्षण भी नहीं मिल सकता। अतः मनुष्यजीवनके एक क्षणको भी व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। समय बीता जा रहा है। ज्ञानियोंको ज्ञानके द्वारा, भक्तोंको भक्तिके द्वारा और योगियोंको योगके द्वारा तथा व्यापारियोंको शुद्ध व्यापारके द्वारा अपने आत्माका कल्याण शीघ्र हो, इसके लिये कटिबद्ध होकर पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

आत्माके कल्याण अथवा परमात्माकी प्राप्तिके शास्त्र-विहित अनेकों मार्ग हैं। असलमें मुख्य आवश्यकता है लक्ष्य ठीक रखनेकी। यदि लक्ष्यपर निरन्तर अचूक दृष्टि है तो फिर किसी भी मार्गसे चलकर साधक लक्ष्यतक पहुँच सकता है और अपने ध्येयको प्राप्त कर सकता है। लक्ष्यकी अचूक दृष्टि उसे मार्गभ्रष्ट होनेसे सदा बचाती रहती है। तुलाधार और नन्दभद्र नामक व्यापारियोंने व्यापारके द्वारा ही अपना उद्धार किया था। इनकी कथा क्रमशः महाभारत और स्कन्दपुराणमें विस्तारसे आती है। इनका सत्य व्यापार था, सबके साथ समताका व्यवहार था, निष्कामभाव था और व्यापारके द्वारा ही परमात्माको प्राप्त करना इनका साधन था। आज भी यदि कोई इस प्रकारसे व्यापार करे तो उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि ऐसे निष्कामी पुरुषमें लोभका सर्वथा त्याग होता है, वह कर्तव्यबुद्धिसे या भगवत्प्रीत्यर्थ ही व्यापार करता है—जो भूगुणप्राप्तिका सहज हेतु होता है। जैसे लोभी मनुष्य धनके लोभसे व्यापार करता है, वैसे ही स्वार्थत्यागी सात्त्विक पुरुष संसारके हितको सावधानीके साथ सामने रखते हुए ही कर्तव्यबुद्धिसे या भगवान्की प्रसन्नताके लिये व्यापार करता है। जैसे लोभीके यह भाव रहता है कि रुपये अधिक कैसे पैदा हों, उसी प्रकार निष्कामीके यही भाव रहता है कि लोगोंका अधिक-से-अधिक हित कैसे हो अथवा भगवान्में प्रेम या भगवत्प्राप्ति कैसे हो। भगवान्की प्रीति और भगवत्प्राप्तिका जो उद्देश्य है, यह कामना होते हुए भी निष्काम

ही है। जिस व्यापारमें कामना, आसक्ति, स्पृहा, अहंता, ममताका त्याग है, वही व्यापार या शास्त्रविहित कर्म निष्काम है और भगवत्प्राप्ति करानेवाला है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(२।४७)

‘तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलमें कमी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका यानी अहंता, ममता, वासना, आसक्ति आदिका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ।’

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(२।७१)

‘जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्ति-को प्राप्त होता है ।’

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८।४६)

‘जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।’

परंतु आजकल कई प्रकारके ऐसे विपरीत भावोंकी आँधी-सी आ गयी है कि जिससे मनुष्य अपने जीवनके असली ध्येयको भूलकर, लक्ष्य-भ्रष्ट-सा होकर अन्याय और अधर्मपर उतारू हो गया है। इसीसे समाजभरमें अनेकों प्रकारसे नैतिक और शारीरिक भ्रष्टाचारका विस्तार हो रहा है। बुरे कर्ममें बुराईकी भावना निकलकर उसमें गौरव-बुद्धि होने लगी है। ऐसे ही कुछ विषयोंकी चर्चा यहाँ की जाती है। इनसे पारमार्थिक हानि—साधनपथमें बड़ी भारी रुकावट तो हो ही रही है—सामाजिक पतन भी पराकाष्ठाको पहुँच रहा है तथा लोगोंके संताप-दुःखोंकी वृद्धि हो रही है। इन्हींमें एक विषय है—

व्यापारमें सत्यता और समताका अभाव

अर्थोपार्जनके जितने साधन हैं—आजकल प्रायः सभी

दूषित हो गये हैं। प्राचीनकालमें अर्थोपार्जनके साधनोंमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, धोखेबाजी नहीं थी। सत्य-व्यवहार था। व्यवहारमें यथासाध्य समभाव था। सत्य और सम व्यवहारका रूप संक्षेपमें यह है—

व्यापार करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना और वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आदत, दलाली और कमीशन ठहराकर उससे अधिक लेना या कम देना, इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्यायका प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्व (हक) को हड़प लेना—इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याय-युक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य-व्यवहार है।

जैसे, असली घीमें बेजिटेबल (जमाया तेल) मिलाना, सरसों, बादाम और नारियल आदिके तेलमें ह्वाइट ऑयल मिलाना; रूई, पाट, ऊन आदिमें जल दे देना अथवा दिखाये हुए नमूनेकी अपेक्षा खराब माल देना, जीरेमें कंकड़ और दाल आदिमें मिट्टी मिलाना, आटेमें खराब आटा या इमलीके बीजोंका चूर्ण मिलाना और दूधमें जल मिला देना आदि भी असत्य-व्यवहार है। इन सबसे रहित जो व्यवहार है, वही पवित्र और सत्य-व्यवहार है।

सबके साथ पक्षपातसे रहित होकर समतापूर्वक व्यवहार करना। एक चतुर व्यापारकुशल व्यक्तिको जिस भावमें वस्तु दी और ली जाय, उसी भावमें दूसरे भोले व्यापार-शान्शून्य व्यक्तिको भी देना और लेना। सारांश यह कि वस्तुमें तथा मूल्यमें पक्षपात, विषमता या किसी प्रकारका भी भेदभाव न करना समव्यवहार है।

आजकल धनलोभताके मोहमें प्रायः लोग केवल धन कमानेके लिये ही व्यापार करते हैं। उन लोभी मनुष्योंके हृदयमें क्रय-विक्रयके समय यही भाव रहता है कि कैसे रुपये अधिक मिलें। लोभके दो भेद होते हैं—अनुचित और उचित। अनुचित लोभ तामसी है और उचित लोभ राजसी है। जिस लोभके वशीभूत होकर मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करके अन्यायसे धन संचय करता है तथा न्यायसे प्राप्त हुए उचित कार्यपर भी खर्च नहीं करता, यह लोभ अनुचित और तामसी है। जो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करके अन्यायसे धन संचय करता है, यह लोभ अनुचित और तामसी है। जो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करके अन्यायसे धन संचय करता है, यह लोभ अनुचित और तामसी है। जो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करके अन्यायसे धन संचय करता है, यह लोभ अनुचित और तामसी है।

बेईमानीसे तो धनोपार्जन नहीं करता और न न्याययुक्त कार्यके प्राप्त होनेपर खर्च करनेमें कंजूसी ही करता है, किन्तु न्यायसे प्राप्त हुए रुपयोंका खूब संग्रह करनेकी इच्छा रखता है, यह लोभ उचित और राजसी है। इन राजसी-तामसी लोभके कारण ही व्यवहारमें सत्यता और समता नहीं रह गयी है।

व्यापारमें कठिनाइयाँ

इस समय ऐसे कई प्रबल कारण भी बन गये हैं, जिनको लेकर ईमानदारी और सचाईसे काम करनेपर अर्थोपार्जन होना बहुत कठिन-सा हो गया है, इस दिशामें सरकारकी नीति भी एक मुख्य कारण है।

सरकारने जो रूई, सूत, कपड़ा, गेहूँ, चावल, चीनी, लोहा, सीमेंट और कागज आदि बहुत-सी वस्तुओंके भावों पर तथा उनके यातायातपर प्रतिबन्ध लगा रखे थे, उससे देशकी बहुत हानि हुई और हो रही है। गहराईसे देखा जाय तो इसमें सरकारको भी कोई लाभ नहीं है; क्योंकि जो कुछ इससे मिलता है, वह (कहीं-कहीं तो शायद उससे अधिक) इसकी व्यवस्थामें खर्च हो जाता है। जो लोग इस प्रकारके नियन्त्रणोंको कायम रखनेमें सम्मति देते हैं, उनमेंसे बहुतोंका तो अपना स्वार्थ है और बहुतसे वास्तविकतासे अनभिज्ञ हैं। देखा जाता है कि कपड़े और सूतका प्रतिबन्ध कुछ ढीला करनेसे जनताको सूत और कपड़ा सस्ते मूल्यमें मिलने लगा है। (इधर कई प्रकारके कपड़ोंपरसे प्रतिबन्ध हटा लिया गया है। इसके लिये हम सरकारको धन्यवाद करते हैं।) इसी प्रकार इधर लोहा, सीमेंट, कागज वगैरहमें भी ज्यों-ज्यों नियन्त्रणमें ढिलाई आयी है, त्यों-ही-त्यों लोगोंको कुछ-कुछ सहूलियत मिलने लगी है।

महात्मा गाँधीजीने गम्भीरताके साथ इसके रहस्य और तत्त्वको समझा था, इसलिये नियन्त्रणको देशके लिये हानिकर समझकर उन्होंने इसका घोर विरोध किया था, किन्तु थोड़े ही समयके बाद वे परलोक सिधार गये। आज यदि वे रहते तो हमारा अनुमान है कि इस प्रकारका नियन्त्रण नहीं रह पाता। अतः हमारा सरकारसे विनम्र अनुरोध है कि वे इस विषयपर गम्भीरतासे विचार करें और इसके वास्तविक हानि-लाभको समझकर जनताके हित और सुविधाके लिये नियन्त्रण हटा दें और देखा

करके वह एक परलोकवासी महात्माके उपदेश तथा आदेशका अनुसरण करनेका आदर्श उपस्थित करें।

इसी तरह विक्रय-कर (सेलटैक्स) में भी बड़ी गड़बड़ी है। विभिन्न प्रान्तोंमें विभिन्न प्रकारसे इसकी व्यवस्था है। उत्तर प्रदेशमें प्रतिरूपया एक पैसा टैक्स है और जितनी बार माल बेचा जायगा, उतनी ही बार उसपर यह टैक्स लगेगा। यह व्यापारियोंके लिये बड़ी भयानक चीज है। मान लीजिये यदि तीसी-सरसों-जैसी चीजोंका, जिनका बड़ा व्यापार तथा क्रय-विक्रय होता है, भाव २४) रुपये मन हो, तो उसकी एक बारकी खरीद-विक्रीसे उसपर १=) सेलटैक्स चढ़ जायगा। व्यापारी लोग तो दो-चार आना मनके नफेसे ही क्रय-विक्रय करते हैं, यदि वह माल चार बार खरीद-विक्री होगा तो १॥) मन तो टैक्स ही हो जायगा। ऐसी दशामें जो व्यापारी खरीददारसे सेलटैक्स लेता है, उसका माल नहीं विकता और जो सेलटैक्सकी चोरी करता है, सरकारको टैक्स न देकर खरीददारको छोड़ देता है, उसका माल विक जाता है। ऐसी परिस्थितिमें लोग यदि सेलटैक्सकी चोरी करना चाहें तो इसमें क्या आश्चर्य है? और यदि इस प्रकारकी चोरी होती हो और होने लगे तो इससे सरकारको अर्थकी हानि होगी और व्यापारियोंको धर्मकी। प्रतिरूपया एक पैसा सेलटैक्स कम नहीं है। पर वह लगना चाहिये—एक ही बार। जितनी बार खरीद-विक्री हो उतनी ही बार सेलटैक्स लगाये जानेसे तो व्यापारमें बड़ी भारी असुविधा है। बंगालमें यद्यपि एक मालकी विक्रीपर एक ही बार टैक्स लगाया जाता है, किंतु वहाँ एक दूसरा बड़ा दोष है। वहाँ टैक्सकी दर तीन पैसा प्रति रूपया है, जो बहुत अधिक है, इसलिये वहाँ भी व्यापारी सेलटैक्सकी चोरी करना चाहें तो इसमें क्या आश्चर्य है?

व्यापारिकोंके मनमें सहज ही यह बात आ सकती है कि सरकारको तीन पैसे न देकर मैं प्रतिरूपया एक पैसे नफेपर माल बेचूँगा तो मेरा माल पहले और अधिक बिकेगा और यदि वह ऐसा कर पाता है तो उसे न तो तीन पैसे सेलटैक्स और कम-से-कम एक पैसा अपना मुनाफा रखकर चीजको महँगी करना पड़ता है, न दूसरी जगह सस्ती मिलनेके लोभसे ग्राहक ही उसके यहाँसे लौटकर जाता है। उसका व्यापार अच्छा चलता है और इसलिये वह अपने-आपको कानूनी पंजेसे बचाये रखनेकी चेष्टा करता हुआ सेलटैक्सकी चोरी करने लगता है। उदाहरणके लिये देखिये—

एक व्यापारीने ६) सेर मूल्यपर घी खरीदा है। वह यदि उसपर साढ़े चार आने सेलटैक्सके और डेढ़ आना अपना मुनाफा जोड़ता है तो उसके घीकी कीमत ६।=) सेर होती है। किंतु जो सेलटैक्सकी चोरी करके ६=) में घी बेच देता है, उसको डेढ़ आनेके बजाय तीन आने—यानी दो पैसे रूपया मिल जाता है—और उसका घी पहले विक जाता है। पर जो सेलटैक्स देकर ६।=) में घी बेचना चाहता है, उसका नहीं विकता। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि सेलटैक्स देनेवालेका तो एक पैसे रूपये मुनाफेपर भी माल नहीं विकता और सेलटैक्सकी चोरी करनेवालेको दो पैसा रूपया मुनाफा मिलता है और माल धड़ाधड़ विकता है। यह देखकर चोरी न करनेवालेके मनमें भी स्वाभाविक ही चोरी करनेकी आती है, क्योंकि इसीमें उसका व्यापार बढ़ता है। इसी प्रकार अन्य सब चीजोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। इससे सरकारको आर्थिक हानि होती है और व्यापारियोंमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी बढ़ती है। इसी प्रकार अन्यान्य प्रान्तोंमें भी अलग-अलग व्यवस्था है। बम्बईमें अभी नयी कर-योजना हुई है। उसके कारण वहाँ जो असंतोष फैला है, उससे प्रायः सभी परिचित हैं। अतएव सभी प्रान्तीय सरकारों और केन्द्रिय सरकारको उचित विचार करके ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिसमें 'कर' बहुत थोड़ा हो, सभी प्रान्तोंमें एक-सा हो, घरके कामकी चीजोंपर तथा ज्ञानवर्धक पुस्तकादिपर न हो तथा जितना हो, वह आसानीसे प्रायः पूरा वसूल हो जाय। सरकारको दिक्कत, परेशानी और हानि न हो, तथा व्यापारियोंको झूठ, कपट, चोरी और छिपाव न करना पड़े। 'कर' की मात्रा थोड़ी होगी, एक बार ही लागू होगी और अफसरोंमें भी घूसकी वृत्ति नहीं होगी तो सुधार होना कोई बड़ी बात नहीं है।

इसी प्रकार इन्कमटैक्समें भी सरकारके द्वारा सुधारकी बहुत भारी आवश्यकता है। चालीस हजार रूपयोंसे अधिक आमदनी होनेपर इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स और सरचार्ज मिलाकर आठ आने प्रति रूपयेसे अधिक लग जाता है, एक लाखके ऊपरकी आमदनीपर इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स और सरचार्ज मिलाकर करीब तेरह आने प्रति रूपया लगता है और डेढ़ लाखके ऊपरकी आमदनीपर तो इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स और सरचार्ज मिलाकर करीब चौदह आने प्रति रूपया हो जाता है। इस प्रकार एक लाखके ऊपर आमदनीपर रूपयेमें चार आने भी घरमें नहीं बचते

और डेढ़ लाखके ऊपरकी आमदनीपर तो दो आने भी बचना कठिन है क्योंकि इन्कमटैक्स लगनेके बाद जो बचता है, वह खर्चमें ही खत्म हो जाता है। कानूनके अनुसार पूरा-पूरा टैक्स सरकारको दिया जाय तो अधिक कमानेवालेके सिरपर श्रृण हो सकता है, क्योंकि अधिक पैदा करनेवालेका खर्च भी अधिक होता है। ऐसी परिस्थितिमें लोग इन्कमटैक्स आदिकी चोरी करें और कुछ लोग घूस देकर बच जायें तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; पर इस चोरीमें यदि कोई सफल भी हुए तो उनका जो नैतिक पतन होता है, वह बहुत ही शोचनीय, भयानक और खेदजनक है। ऐसे लोग यदि कई छूटे-सच्चे फर्म बनावें, प्रतिवर्ष फर्म बदलें, नकली बहीखाते रक्खें, छूटे बिल बनावें और पूरा-पूरा जमा-खर्च न करें तो उनको सत्यका कितना अधिक नाश करना पड़ता है और कितनी मानसिक-पतनकी वेदना भोगनी पड़ती है, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। यह बड़ी विचारणीय बात है। इससे सरकारको आर्थिक हानि होती है, सरकारी अफसरोंका नैतिक पतन होता है और चोरी करनेवाले व्यापारियोंको भयङ्कर अधर्ममें रत रहना पड़ता है।

कुछ दिनोंपूर्व सरकारने ऐसी घोषणा की थी कि कोई व्यक्ति या फर्म छिपाये हुए रुपये प्रकाशित कर देगा तो उसपर सरकार कोई जुर्माना नहीं करेगी और उचित इन्कमटैक्स निर्धारित कर देगी। इसपर बहुत लोगोंने अपनी आय बतला दी। जिससे सरकारको भी करोड़ों रुपये इन्कमटैक्सके मिले। इसी प्रकार यदि इन्कमटैक्सकी दरमें कमी कर दी जाय तथा अन्य सभी प्रकारोंपर ध्यान देकर सुधार किया जाय तो दोनों ओर लाभ हो सकता है तथा चोरी-छूठमें भी बहुत कमी हो सकती है।

जिस प्रकार रजिस्टर्ड कम्पनियोंपर इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स और सरचार्ज मिलाकर कुल प्रति रुपया आठ आना करीब टैक्स निर्धारित किया हुआ है, उनके चाहे कितनी ही आमदनी हो, इस सीमासे अधिक उनसे टैक्स नहीं लिया जाता, इसी प्रकार यदि सारी जनताके लिये ही यह निर्णय कर दिया जाय कि सरचार्ज, सुपरटैक्स और इन्कमटैक्स सब मिलाकर आठ आने प्रति रुपयेसे अधिक किसीसे नहीं लिया जायगा तो बहुत कुछ सुविधा हो सकती है।

ऐसा भी सुना जाता है कि अफसरोंको प्रसन्न न कर सकनेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे व्यापारी पकड़े जाते हैं, तो उनपर छूटे-सच्चे मुकदमे चलते हैं। फिर उनपर अनाप-शनाप टैक्स लगा दिया जाता है, उनमेंसे कई ऐसे होते हैं जो उसे देनेमें सर्वथा असमर्थ होते हैं। तब उन्हें बड़ी परेशानी भोगनी पड़ती है और सरकारको टैक्सके रुपये पूरे नहीं मिलते। जैसे कोई फर्म एक सालमें एक लाख रुपये टैक्स देता है, उसपर चालीस-पचास या सत्तर-अस्सी लाख रुपये टैक्स लग जाता है और उस फर्मके पास दस लाख रुपयेसे अधिककी पूँजी नहीं होती है तो ऐसी हालतमें उससे सरकार टैक्स कैसे और कहाँसे वसूल कर सकेगी?

हमारे इस कथनका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि नियन्त्रणके कारण उत्पन्न हुई असुविधासे, सेलटैक्स या इन्कमटैक्ससे रुपये बचानेकी इच्छासे कोई व्यापारी यदि छल-कपट या चोरी-छिपाव करता है तो वह उचित करता है, चोरी-बेईमानी तथा छल-कपट किसी भी कारणसे कोई भी करता है, वह निश्चय ही पाप करता है और अपने परमार्थ-पथमें स्वयं ही बड़ा भारी विघ्न उपस्थित करता है। हमारा तो यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि सरकारकी इन सब नीतियोंसे तथा सरकारी कर्मचारियोंकी घूस लेनेकी प्रवृत्तिसे व्यापारियोंको इस प्रकारके कुकर्म करनेमें प्रेरणा मिलती है, जो नहीं मिलनी चाहिये और यदि इन बातोंमें उचित सुधार हो जाय तो वैसी प्रेरणाका मिलना भी बहुत कम हो जानेकी सम्भावना है।

मैं तो यही मानता हूँ कि इन सब कारणोंके साथ ही आजकल लोगोंमें धार्मिक विश्वास, परलोक, कर्मफल और ईश्वर आदि शास्त्रीय विषयोंमें अनास्था या अश्रद्धा हो जानेसे आडम्बरका बाहरी खर्च बढ़ा लेनेसे तथा एक-दूसरेकी देखा-देखी विलासिता, शौक और अपव्ययमें लग जानेसे पैसा अनुचित लोभ अत्यधिक बढ़ गया है। इसीसे बेईमानी, चोरी, छूठ, कपट, धोखेबाजी आदि पापोंके करनेमें जरा भी हिचक, ग्लानि, संकोच और भय नहीं रह गया है। असत्य और चोरी तो मामूली-सी बात हो गयी है। चारों ओर अधर्म बढ़ रहा है। इसीलिये दुःख और संताप भी बढ़ रहा है। इसीलिये पुण्य-दानकी प्रवृत्ति भी कम हो गयी है। मेरी व्यापारी भाइयोंसे यह प्रार्थना है कि वे इन पाप-कर्मोंके निवारण के लिये जो आवश्यक है, उसे कर लें।

ध्यान देकर सचाईके साथ, प्राणियोंके हितकी दृष्टिसे—
प्रोपकार-वृत्तसे कार्य करें। प्रोपकार सकामभावसे किया
जाय तो कामनाकी सिद्धि होती है और निष्कामभावसे किया
जाय तो पापोंका नाश और अन्तःकरणकी शुद्धि होकर
परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

यदि कोई इन्कमटैक्स या सेलटैक्सकी चोरी करते हैं
तो वास्तवमें भूल करते हैं, उन्हें ऐसा कदापि नहीं करना
चाहिये। धनी लोगोंको चाहिये कि वे अपने संचित धनमेंसे
कुछ हिस्सा निकालकर उसका जनहितके कार्यसंचालनके
लिये दूर दूर बना दें। ऐसे विशुद्ध जनहितके ट्रस्टोंपर इन्कम-
टैक्स नहीं लगता और वह धन केवल जनसेवामें ही लग
सकता है।

व्यापारियोंका कर्तव्य

व्यापारियोंको चाहिये कि व्यापारमें सदा सचाईका ही
व्यवहार करें—जो व्यापार सचाईके साथ किया जाता है,
उससे व्यापारकी भी उन्नति होती है; क्योंकि सचाईसे बड़ी
बचची साख जमती है और सब लोग विश्वास करने लगते
हैं। संसारकी ओर दृष्टि डालनेसे आज संसारभरमें अंग्रेजोंका
व्यापार अपेक्षाकृत सच्चा समझा जाता है। इसीलिये वे
व्यापारमें बड़े कुशल माने जाते हैं। सचाईके कारण उनके
व्यापारकी उन्नति भी काफी हुई है। जिस समय हिंदुस्थानमें
अंग्रेजोंका राज्य था, उस समय यहाँ अंग्रेजोंका व्यापार
भी बहुत था। आयात-निर्यातका तथा कुछ दिनों पहले-
क जूट आदि मिलोंका अधिकांश व्यापार उन्हींके हाथमें
था। उस समय उनकी व्यापारी-सचाईके पद-पदपर प्रमाण
मिलते थे। कपड़े, सूत, रूई आदिके, सरसों, तीसी, तिल
आदि तेलहनके या गेहूँ, चावल आदि गल्लेके व्यापारमें
बड़ी मंदी-तेजी होनेपर भी अंग्रेज व्यापारी बहुत बड़ा
घाटा सहकर भी प्रायः कभी बेईमानी नहीं करते थे।
मिलान्तसे बहुत कपड़ा आता था, पर अत्यधिक बाजार
तेज होनेपर भी वे न तो सूतमें खराब रूई देते थे, न
कपड़ोंमें सूत कम देते थे और न नापमें ही कम देते
थे। कुछ भी खराबी होती या नापमें कपड़ा जरा भी कम
होता या तो उसका तुरंत बट्टा कर देते। वे तेज बाजारमें
मंदीमें बेचा हुआ माल देनेसे और मंदे बाजारमें तेजमें
लिया हुआ माल लेनेसे कभी इन्कार नहीं करते थे।
अंग्रेज मिलवाले इसका भी ध्यान रखते थे कि बाजार मंदा

हो जानेपर लेनेवालोंको नुकसान न हो। किसीको दलाली,
एजेंसी या वेनियनशिपका काम दे देते तो फिर लाभके कारण
कभी वे ऐसा मौका नहीं ढूँढ़ते थे कि थोड़ी-सी कोई भूल दीख
पड़े तो उससे दलाली, एजेंसी या वेनियनशिपका काम
छुड़ाकर स्वार्थवश किसी दूरेको दे दें। इसी सचाई
तथा सद्ब्यवहारसे लोगोंमें उनका इतना विश्वास था कि
लोग अधिक दाम देकर या कम दाम लेकर भी उन्हींसे माल
खरीदना-बेचना चाहते थे। अब भी प्रायः यही बात है।

इन्कमटैक्सके विषयमें भी उनके बहीखाते तथा
रजिस्ट्रोंपर सरकार विश्वास करती थी। अब भी उनके
बहीखाते और रजिस्ट्रोंके विषयमें हिंदुस्थानियोंकी अपेक्षा
जनता और सरकार अधिक विश्वास करती है। हमारे
व्यापारी भाइयोंको भी सत्य तथा परहितपर ध्यान देकर
व्यापारका सुन्दर आदर्श रखना चाहिये। यदि पूर्ण सचाई-
के व्यापारके साथ निष्कामभाव भी रहे तो अन्तःकरण शुद्ध
होकर उस व्यापारके द्वारा ही अति शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति
भी हो सकती है।

इसी प्रकार सरकारी कर्मचारी तथा अन्य पेशेवाले सभी
भाइयोंको यह ध्यान रखना चाहिये कि अन्याय, अधर्म तथा
असत् कमाईका पैसा कभी न आये। किसी भी निर्दोष
पेशेको भगवत्पूजारूप कर्म बनाकर निष्कामभावसे उसे करते
हुए परमात्माकी प्राप्तिरूप परमफल लाभ करके मानव-जीवन-
को सफल बनाया जा सकता है।

गंदा साहित्य और सिनेमा

इधर शारीरिक और मानसिक पवित्रताका नाश करने-
वाले गंदे साहित्य और मनोरञ्जनके नामपर चलनेवाले
गंदे चलचित्रोंसे हमारे चरित्रका बड़ी बुरी तरहसे नाश हो
रहा है। चरित्र ही नहीं—समय, अर्थ, स्वास्थ्य तथा धर्मका
भी इनके कारण बड़ी तेजीसे हास हो रहा है। इनसे
समाजभरमें आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और सामाजिक
पतन हो रहा है। बहुत-से लोग, जो घरकी स्त्रियोंको और
बाल-बच्चोंको थियेटर-सिनेमा आदिमें साथ ले जाते हैं, वे
बहुत भूल करते हैं। वे अभी इस परिणामको नहीं सोच
रहे हैं कि सिनेमाके बीभत्स और अश्लील चरित्र और
चित्रोंको देखकर सबकी बुद्धि विचलित और भ्रष्ट हो जाती
है। कभी-कभी तो ऐसे अश्लील दृश्य आते हैं कि उन्हें
देखकर बच्चे माता-पिताके सम्मुख और माता-पिता बच्चोंके

सम्मुख लज्जित हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि माता-पिता और बालकोंके परस्पर न्यायोचित शील-संकोचका भी हास हो जाता है। स्वास्थ्यपर भी बहुत बुरा असर पड़ता है। धन और मनुष्य-जन्मके अमूल्य समयका अपव्यय तो प्रत्यक्ष है ही।

यदि यह कहा जाय कि धार्मिक सिनेमा देखनेमें तो लाभ ही है तो ऐसी बात नहीं है। प्रथम तो सिनेमामें शुरूसे लेकर आखिरतक प्रायः सभी लोगोंका उद्देश्य दर्शकोंके चित्तको आकर्षित करके धन कमाना है। इसलिये उसमें सच्ची धार्मिकता कभी नहीं आ सकती। दूसरे अभिनेता-अभिनेत्री चाहे कैसे भी हों, उनके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वे लोग सव इन्द्रियविजयी हैं और धार्मिक भावनासे ही सिनेमामें आये हैं। जवान उम्र, रात-दिन शृङ्गारके वातावरणमें रहना, वैसे ही अभिनय करना, शौकीनी तथा विलासके लिये स्वतन्त्रता, रूप-सौन्दर्यका विज्ञापन, धनकी अधिकता—ये सभी ऐसे कारण हैं, जो मनुष्यको कर्तव्यभ्रष्ट करके प्रमादमें नियुक्त कर सकते हैं। ऐसे वातावरणमें रहनेवाले नट-नटियोंसे शुद्ध धार्मिक भावनाकी प्राप्ति दर्शकोंको होगी, यह आशा करना सर्वथा वातुलतामात्र है।

बड़े खेदकी बात तो यह है कि माता-पिता धनके लोभसे अपने तरुण बालक-बालिकाओंको सिनेमाके नट-नटी बनानेमें सहमत हो जाते हैं। वे इस बातको भूल जाते हैं कि इसका परिणाम क्या होगा। सच्ची बात तो यह है कि जो तरुण-तरुणियाँ सिनेमा क्षेत्रमें अभिनय करते हैं और इसमें धनलाभ तथा मान-सम्मान प्राप्त करके गौरव मानते हैं, वे अपने-आपको विषयभोगरूपी आगमें झोंककर स्वयं ही अपना नैतिक और धार्मिक पतन कर रहे हैं ! जैसे सौन्दर्यके लोभी शलभ (पतंग) दीपककी शिखा देखकर सुख-भोगकी दृष्टिसे उसके समीप जाते हैं और तड़प-तड़पकर मरते तथा जलकर भस्म हो जाते हैं, वैसी ही दशा यहाँ होती है। वे कीड़े तो भविष्यके दुष्परिणामका ज्ञान न होनेसे सहज ही कालका कलेवर बन जाते हैं, परंतु जो मनुष्य होकर भी भविष्यके दुष्परिणामको बिना सोचे नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक सुख और भोगके लिये ऐसे कार्योंमें सम्मिलित होते हैं, उनके लिये क्या कहा जाय। ईश्वरने विवेक और बुद्धि दी है, मनुष्य होकर भी हम यदि

उस विवेक-बुद्धिसे काम न लें तो यह हमारे लिये बहुत ही लज्जा, दुःख और परितापकी बात है।

रात-दिन जिस प्रकारके वातावरणमें मनुष्य रहता है और जैसा काम करता है, वैसा ही उसका मन बन जाता है। फिर उसके मनमें भी वही वातावरण छा जाता है और बार-बार वही दृश्य सामने आते रहते हैं। इस निश्चित सिद्धान्त तथा अनुभवके अनुसार गंदे सिनेमाके नट-नटियोंके तथा उनके दर्शकोंके मनमें भी वैसा ही जगत् बन जाता है और उनका सहज ही नैतिक, धार्मिक और सामाजिक पतन होता है। आजकल जो गली-गलीमें दीवालोंपर सिनेमाके शृङ्गारचित्र चिपके रहते हैं, दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रोंमें सिनेमाओंके सचित्र विज्ञापन रहते हैं तथा बड़े-बड़े शहरोंमें तो बड़ी वारातकी तरह बड़े समारोह और गाजे-बाजेके साथ धूम-धूमकर सिनेमाओंका विज्ञापन किया जाता है, इन सबको देख-सुनकर स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। उनके मनमें दबे हुए दुर्भाव जाग्रत् हो जाते हैं और नये-नये बुरे भाव और बुरे संस्कार उत्पन्न होते और अपना धर कर लेते हैं, जिससे उनका जीवन नष्ट हो जाता है। इस प्रकारकी हानिकारक मनोरञ्जनकी वृत्तिको, जो भविष्यमें विनाश करनेवाली है, तुरंत रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये, नहीं तो इनके बुरे संस्कार जमकर बहुत बुरा परिणाम होना सम्भव है। कला और मनोरञ्जनके नामपर लोगोंका इस प्रकारका पतन न तो वस्तुतः किसी सरकारको इष्ट होना चाहिये और न सिनेमा आदिमें अभिनय करनेवालोंके हितैषी माता-पिता (अभिभावक) आदिको ही; पर इस समय तो सभी ओर मानो मोह-सा छाया है। देशका दुर्भाग्य है !

अभिनय करनेवाली लड़कियोंके अङ्गसंचालन और कामोत्तेजक दृश्योंसे युक्त चित्र और चरित्रोंको देखकर हजारों मनुष्य उनपर पापदृष्टि करते हैं। हम बातको समझकर उनके माता-पिताओंको लज्जा आनी चाहिये और अपमानका बोध होना चाहिये। यह प्रवृत्ति यों ही बढ़ती गयी तो पता नहीं आगे चलकर समाजकी क्या दशा होगी और व्यसनमें फँसे हुए लोगोंकी दुर्दशाकी भाँति गंदे सिनेमाके शौकीनोंकी भी कैसी बुरी दशा होगी।

आजकल सिनेमाकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गयी है कि बहुत से नर-नारी घर-द्वार फूँककर, धर्म-कर्म खोकर, माता-पितासे लड़-झगड़कर और शील-संकोच, लज्जा-मर्यादाका

नाश करके भी सिनेमा देखते हैं। मजदूरलोग भी मनोरञ्जनके नामपर कठिन मजदूरीके पैसे सिनेमामें बरबाद करके अपना पतन करते हैं और बहुतसे बालक चोरी करके सिनेमा देखते हैं। मनोरञ्जनके नामपर समाजमें चौतरफ फैला हुआ यह रोग बड़ा ही भयानक है।

अंग्रेजी सिनेमाओंमें तो पात्रोंके अङ्गसंचालनके साथ नम्र स्वरूप भी दिखाये जाने लगे हैं। इनको देखकर कौन ऐसा संयमी पुरुष है, जिसके मनमें विकार उत्पन्न होकर पतन न हो। क्या यह वाञ्छनीय है कि मनोरञ्जनके नामपर सिनेमाके इस पापको यों ही उत्तरोत्तर बढ़ने दिया जाय और हमारा तरुणसमाज उसका बुरी तरह शिकार होकर अपने जीवनसे हाथ धो बैठे और हमारे राष्ट्रका भविष्य अन्धकारमय हो जाय ?

अतः सरकारसे हमारी प्रार्थना है कि इन बातोंपर सरकारको ध्यान देना चाहिये और सेंसर-बोर्डको बड़ी कड़ाईके साथ काम लेकर इस बुराईकी बाढ़को मजबूत बाँध बाँधकर तुरन्त रोक देना चाहिये।

आजकल हमारे कुछ लेखक भी ऐसे साहित्यका निर्माण कर रहे हैं, जिसको पढ़नेपर पढ़नेवालेके मनमें विकार उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे विकारोंसे बल, बुद्धि, स्मृति, ज्ञान, तेज और आयुका विनाश होना और नाना प्रकारके रोगोंका शिकार हो जाना अनिवार्य हो जाता है।

सिनेमाका असर हमलोगोंके वर्तमान जीवनपर बहुत ही बुरा पड़ रहा है। लोग अपने कपड़े और पोशाकपर भी सिनेमाके चित्र बनाने लगे हैं तथा जिन कपड़ोंको पहननेमें भले घरकी महिलाएँ लजा करती हैं, उन्हीं कपड़ोंको हमारी युवती बालिकाएँ पहनने लगी हैं। यह कितना भारी पतन है।

इतना ही नहीं, हमारे समाजमें इस समय नास्तिकताका भी जोरोंसे प्रचार किया जा रहा है। इसके फलस्वरूप कुछ लोग धर्म, ईश्वर, ज्ञान, वैराग्य, हिंदू-संस्कृति, सदाचार और सद्गुणोंको धृणाकी दृष्टिसे देखने लगे हैं तथा बिना सोचे-समझे ही प्राचीन कालसे चली आयी हुई आदर्श मर्यादाको आडम्बर कहने लगे हैं ! यही स्थिति बनी रही तो भविष्यमें उच्छृङ्खलता तथा धर्मविरोधी वातावरण और अराजकता उत्तरोत्तर बढ़ सकती है। अतः

हमें सचेत होकर इस बढ़ती हुई गतिको रोकना चाहिये। इस प्रकारकी हानि देखकर भी यदि हमारी आँखें नहीं खुलेंगी तो फिर कब और कैसे खुलेंगी ?

जब मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह भलेको बुरा और बुरेको भला देखने लगता है, तब उसका सुधार होना कठिन हो जाता है; क्योंकि जो मनुष्य बुराईको बुराई मानता है, उसका तो सुधार हो सकता है; किंतु जो बुराईको भलाई मान बैठता है, उसका सुधार कठिन है। अतः लोक और परलोकमें कल्याण चाहनेवाले भाई-बहनोंसे हमारी यह प्रार्थना है कि उन्हें न तो स्वयं ऐसे नाटक-सिनेमा देखने चाहिये और न अपने बालक-बालिकाओंको ही दिखाने चाहिये। इनकी बुराईयोंको समझकर स्वयं इनका त्याग करेंगे, तभी अपने बालक-बालिकाओंको रोक सकेंगे। बालक अनुकरणप्रिय तो होते ही हैं, पर बुरी बातोंका असर उनपर जितना जल्दी होता है उतना अच्छी बातोंका नहीं होता। जितनी बुराईयाँ हैं, आरम्भमें क्षणिक सुखकारक होनेसे अमृतके तुल्य दीखती हैं, पर उनका परिणाम विषके तुल्य है। और जो भलाईयाँ हैं, वे साधनकालमें कठिन होनेसे विषके तुल्य दीखती हैं, पर परिणाममें वे अमृतके तुल्य हैं। इसलिये जो वर्तमानमें सुखदायी प्रतीत होती है, उसीको लोग ग्रहण करते हैं। जैसे रोगी कुपथ्यका परिणाम न देखकर कुपथ्य कर लेता है, उसी तरह विषयासक्त पुरुष भी परिणामको नहीं देखते और विनाशकारी प्रवृत्तियोंमें पड़कर अपने जीवनको पतनके गर्तमें डाल देते हैं; किंतु जब परिणाममें दुःख पाते हैं, तब धोर पश्चात्ताप करते हैं, पर उस पश्चात्तापसे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।

अतएव समस्त नर-नारियोंसे पुनः सविनय प्रार्थना है कि ऐसे सिनेमा-नाटक आदिको न तो देखना चाहिये और न किसीको दिखाना चाहिये तथा न इसके लिये अभिरुचि ही पैदा करनी चाहिये।

विधवाओंके धनपर अनुचित लोभ

जब बुराई आती है, तब चारों ओरसे आया करती है। अन्यान्य पापोंके साथ समाजमें एक पाप और बढ़ रहा है जो सामाजिक और नैतिक दृष्टिसे तो महान् हानिकर है ही, परमार्थ-पथका भी महान् प्रतिबन्धक है। वह है—विधवा बहनोंके प्रति घरवालोंका दुर्व्यवहार। सचमुच विधवा माता-बहनोंकी आज बड़ी ही दयनीय दशा है। सम्यः

इज्जतदार और सुशील विधवा बहिनोंकी इस दुःखमय दुर्दशा-को देखकर, जिसके हृदयमें थोड़ी भी दया होती है, उसका हृदय भी द्रवीभूत हो जाता है। बहुत-सी विधवाओंकी बातें सुनकर तथा उनकी दुर्दशाको स्वयं देखकर यहाँ आज उसका कुछ दिग्दर्शन कराया जा रहा है। गरीब घरोंकी तो बात ही क्या है, जो धनी कहलाते हैं और अपने-को इज्जतदार मानते हैं, उनमेंसे भी अधिकांश भाइयोंका विधवाओंके साथ व्यवहार बहुत ही नीचे दर्जेका हो रहा है। विधवाओंपर जो अत्याचार हो रहे हैं, उनको सुनकर प्रत्येक हृदयवान् प्राणीको वेदना होती है और उनके दुःखको देखकर रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। यहाँ मैं कुल-शीलकी मर्यादाके खयालसे किसीका नाम नहीं बतलाकर विधवाओंपर होनेवाले अत्याचारोंकी कुछ बातें बतलाता हूँ।

विधवा स्त्रियोंके आभूषण, पतिके मरनेपर समुराल और नैहरवाले सहायताके रूपमें जो कुछ देते हैं वह धन, तथा समुराल और नैहरसे विवाह, द्विरागमन आदिके समय मिले हुए रुपये, जेवर और वस्त्र, एवं जीवितावस्थामें पति अपनी जीवन-बीमा बेचकर उसका उत्तराधिकार अपनी स्त्रीको दे जाता है वह धन, तथा इसके अतिरिक्त भी जो विधवा स्त्रीकी खास-सम्पत्ति होती है, वह सभी स्त्रीधन है। इस सब धनके रहते हुए भी विधवा स्त्री अन्न और वस्त्रके लिये दुखी देखी जाती है। इसका कारण यह है कि विधवाकी यह सारी सम्पत्ति या तो विधवाके समुरालवालोंके अधिकारमें रहती है या नैहरवालोंके। जिनमेंसे कई समुरालवाले तो बलपूर्वक विधवाकी सम्पत्तिपर अधिकार जमा लेते हैं। कुछ तो इतने दुष्ट होते हैं कि उसका इतना धन होनेपर भी, वह चाहे अन्न-वस्त्रके बिना दुःख पावे, कितनी रोवे-कलपे, वे उसे कुछ भी नहीं देते और कह देते हैं कि 'तेरा केवल खानेमात्रके लिये कुछ रुपये मासिक लेने भर-का ही अधिकार है, धन-सम्पत्तिपर नहीं।' इस प्रकार सूखा जवाब दे देते हैं और फिर खानेके लिये मासिक खर्च भी नहीं देते। वह बेचारी असहाया स्त्री अपना दुःखमय जीवन बड़े कष्टसे बिताती है। लोक-लाजके खयाल-से वह उनपर दावा भी नहीं करती और यदि दावा करे भी तो उसे कोई मदद भी नहीं देता। ऐसी स्त्रियोंके लिये कोई ऐसा वकील बैरिस्टर भी नहीं जो बिना फीस लिये ही उत्साहके साथ उनका कार्य कर दे; वे भोली-भाली स्त्रियाँ न तो कुछ जानती ही हैं और न नैहर तथा समुरालवालोंके कुलकी लाजसे

स्वयं कोर्टमें जाकर अपने हकका दावा करनेका नाम लेती हैं। कहीं ऐसा कुछ करनेकी बात भी कह दे तो उसको सम्पत्तिको हजम करनेवाले वे लोग उसे और भी तंग करने लग जाते हैं। दूसरा आदमी कोई सहायता करता ही नहीं। कोई करना चाहता है तो वे लोग उसको भी गालियाँ देते हैं।

इस प्रकारका व्यवहार इस समय, जो बड़े इज्जतदार माने जाते हैं, उन लोगोंमें भी हो रहा है। इसका अर्थ यह नहीं कि सभी ऐसा करते हैं। ईश्वर और धर्मको माननेवाले कई अच्छे लोग भी हैं। कुछ नैहरवाले यह चेष्टा करते हैं कि यह समुरालसे सारी धन-सम्पत्ति लकर हमारे पास रख दे। माता-पिताको छोड़कर उन सम्पत्तिके रक्षक बने हुए भाई-बन्धुओंमें भी कई ऐसे होते हैं, जो उसकी धन-सम्पत्तिको हड़प लेते हैं और वह विधवा बेचारी रोती ही रह जाती है। संकोचके मारे वह कुछ भी कह नहीं सकती और भीतर-ही-भीतर रोती रहती है। ऐसी कई स्त्रियोंकी घटनाएँ स्वयं मैंने देखी-सुनी हैं, उनमेंसे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

एक इज्जतदार घरकी विधवा स्त्री है, उसकी अवस्था करीब २० वर्षकी है। उसके पतिका देहान्त होनेपर उसके नैहर और समुरालवालोंने विधवाको सहायता देनेकी पद्धतिके अनुसार भविष्यमें जीवन-निर्वाहके लिये कुछ रुपये दिये थे, वे रुपये तथा उसके पतिकी जीवन-बीमाके पाँच हजार रुपये और उसके कीमती वस्त्रादि बेचकर जो रुपये मिले, वे सब उस स्त्रीके जेठ (पतिके बड़े भाई) ने विधवा स्त्रीको व्याजके लोभ-के बहानेसे फुसलाकर उससे ले लिये तथा बादमें माँगनेपर यह उत्तर दिया कि 'अभी हमारे पास रुपये नहीं हैं, जब होंगे, तब देंगे।' उसके लिये कई अच्छे पुरुषोंने चेष्टा भी की, किंतु उनको भी यही जवाब मिला कि 'जब होंगे तब देंगे।' यह घटना पतिके मरनेके दो ही सालके अंदर हो गयी। वे उसको इन रुपयोंका व्याज भी नहीं देते। अब बताइये, वह बेचारी विधवा अपना जीवन किस प्रकार निर्वाह करे ?

एक दूसरी गरीब विधवा स्त्री करीब १८ वर्षकी है, उसके पतिकी मृत्यु होनेके बाद उसके नैहर और समुरालसे जो जेवर, वस्त्र आदि विवाह तथा द्विरागमनमें मिले थे, उनपर उसके सास-ससुर पहलेसे ही अधिकार किये हुए हैं और उसका पिता गरीब है, वह बेचारी अपने पित्तके यहाँ ही

है। उसके सास-ससुर उसे उसका स्त्रीधन भी नहीं देते और न मासिक खर्चके लिये ही कुछ देते हैं।

एक अन्य इज्जतदार घरकी विधवा स्त्री करीब २५ वर्षकी है। उसके ससुर और पुत्र भी मर चुके हैं। उसके गहने, कपड़े, धन, मकान आदि चल-अचल सारी सम्पत्तिपर उसके जेठ-जेठानी (पतिके बड़े भाई और भाभी) अधिकार किये बैठे हैं, उसे कुछ भी नहीं देते। गहना-कपड़ा भी नहीं देते और न चल-अचल सम्पत्तिका हिस्सा ही देते हैं और न खर्चके लिये ही कुछ देते हैं।

इन तीनों स्त्रियोंका जो हाल ऊपर लिखा गया है, उसे मैंने अपनी आँखों देखा है। सैकड़ों-हजारों ऐसी ही दुर्दशाग्रस्त विधवा बहिनें हैं। यहाँ स्थान-संकोचसे अधिक उदाहरण नहीं दिये जाते। सोचिये, ऐसी अवस्थामें उन विधवा बहिनोंका जीवन-निर्वाह किस प्रकार हो। ऐसी बहिनोंको अदालतमें जानेके लिये भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अदालतमें जानेसे धन, धर्म और इज्जत बर्बाद होती है तथा बुद्धिकी कमी होनेसे वे अदालतमें जा भी नहीं सकती और यदि जायँ तो उनकी सहायता भी कौन करे। उनकी दयनीय दशाको देखकर कौन ऐसा सहृदय पुरुष होगा, जिसके हृदयमें कुछ दयाका संचार होकर अश्रुपात न हो।

कुलीन घरोंकी गरीब स्त्रियाँ तो और भी दुखी हैं, उनको दूसरोंसे सहायता लेनेमें भी बड़ी लजा आती है; किंतु अभावके कारण लेनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। ऐसी विधवा माताओंके लिये जो भाई मासिक सहायता देते हैं, वे धन्यवादके पात्र हैं। सभी भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे अपनी जानकारीमें जो कोई दुखी विधवा माता-बहिन हो, तो उनकी यथाशक्ति तन, मन, धनसे कर्तव्य समझकर सहायता करें।

दहेजसे हानि

इस समय कन्याओंके विवाहका प्रश्न भी बहुत ही जटिल हो रहा है; क्योंकि हमारे देशमें दहेजकी प्रथा ने भयानक रूप धारण कर लिया है। लड़केके अभिभावक कन्यावालोंसे अधिक-से-अधिक धन-सम्पत्ति लेना चाहते हैं और कन्यावालोंको कहीं-कहीं अपनी शक्तिसे अधिक ऋण लेकर भी विवाह करना पड़ता है, नहीं तो, उस कन्याका विवाह होना कठिन हो जाता है। कोई-कोई लड़की तो

अपने माता-पिताकी गरीबीको देखकर उनके दुःखसे दुखी होकर आत्महत्या तक कर लेती है! किसी लड़कीके गरीब माता-पिता उस लड़कीके विवाहयोग्य धन न होनेके कारण ऐसी भावना करने लगते हैं कि लड़की बीमार होकर किसी प्रकार मर जाय तो ठीक है और यदि लड़की बीमार हो जाती है तो उसका उचित औषधोपचार भी नहीं करते। इन सबमें प्रधान हेतु दहेजकी कुप्रथा है।

इन उपर्युक्त हत्याओंका पाप अनुचित दहेज लेने-वालोंको लगता है। जो बिल्कुल दहेज नहीं लेता, वह तो अपना जीवन सफल बनाता ही है; दहेज देनेवाले लड़कीका अभिभावक जितना देना चाहे, उससे कम लेनेवाला भी धन्यवादका पात्र है। अपने द्वारा प्रतीकार करनेपर भी दहेज देनेवाला प्रसन्नतापूर्वक आग्रह करके जो कुछ देता है; (अवश्यही पता यह लगा लेना चाहिये कि इसके देनेमें इसको ऋणग्रस्त होना या घर-जमीन बेचने तो नहीं पड़े हैं।) उसीको लेकर संतुष्ट हो जाता है; उसे भी हम उतना दोषका भागी नहीं मानते; किंतु जो विवाहके लिये मोल-तौल करता और अधिक-से-अधिक लेना चाहता है तथा अधिक देनेवालेकी लड़कीसे ही विवाह करता है और लड़कीवाला अपनी सामर्थ्यके अनुसार लड़केवालेको देकर संतोष कराना चाहता है, इसपर भी लड़केवालेको संतोष नहीं होता; ऐसे पुरुष ही उपर्युक्त पापके भागी होते हैं।

अतएव सभी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि वर्तमानमें जो दहेज-प्रथा उत्तरोत्तर बढ़ रही है, इस बढ़ती हुई बाढ़को जिस किसी प्रकारसे यथाशक्ति रोकनेकी चेष्टा करें, नहीं तो, समाजका पतन और विनाश होनेकी सम्भावना है। विशेषकर हमारी प्रार्थना दहेज लेनेवालोंसे है कि वे दहेज लेनेका यथाशक्ति त्याग करें। जितना वे त्याग करें, उतने ही वे धन्यवादके पात्र हैं। दहेजका दिखावा भी दहेज-प्रथाके चालू रहने तथा बढ़नेके कारण है, उसे भी तुरंत बंद करना चाहिये।

यह सोचना चाहिये कि मनुष्यके जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है। इस भगवत्प्राप्तिके साधनमें परस्पर सहायता करना सबका धर्म है। जो ऐसा न करके किसीके हृदयमें महान् चिन्ता उत्पन्न कर देते हैं, वे वास्तवमें बड़ा अनर्थ कर देते हैं। जबरदस्ती दहेज लेनेवाले लोग कन्याके पित्तके हृदयमें चिन्ता उत्पन्न करके उन्हें भगवत्प्राप्तिके साधनमें

गिरा देते हैं। इसलिये भी दहेजकी प्रथा बंद होनी चाहिये।

साधनकी आवश्यकता

ऊपर थोड़े-से बहुत बड़े-बड़े पापरूप विघ्नोंकी चर्चा की गयी है। दोष तो और भी बहुत आ गये हैं। अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पान, चरित्रनाश, गुरुजनोंका अपमान, सदाचारका अभाव, हिंसा-प्रतिहिंसा-वृत्ति, असंतोष, अनुशासनहीनता, दलबंदी, डाह और द्रोह आदि बहुत-से दोष बड़ी तेजीसे समाजमें बढ़ रहे हैं। ईश्वर तथा धर्मके प्रति आस्थाका अभाव होता जा रहा है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके नामपर मन-इन्द्रियोंकी गुलामी बढ़ रही है। यम-नियमका पालन घट रहा है। ये सभी देशके नैतिक पतन और सर्वाङ्गीण दुर्दशाके प्रमाण हैं और लौकिक, पारलौकिक तथा पारमार्थिक हानिके साधन हैं। इन सबसे बचना और समाजको बचाना सबका परम कर्तव्य है। इसी उद्देश्यसे क्षुद्र प्रयासके रूपमें गोरखपुरमें 'साधन-संघ'के नामसे एक संगठन किया गया है, जिसमें सम्मिलित होनेके लिये १६ नियम त्याग करनेके और १२ ग्रहण करनेके बनाये गये हैं। नियम निम्नलिखित हैं, जो इन नियमोंमेंसे सबका या कमका पालन करना चाहें वे इसके सदस्य बन सकते हैं। सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता, नियमपालन ही शुल्क है। नियम ये हैं—

साधनके नियम

त्याग करनेके नियम

(१) पराये अहितका त्याग—जान-बूझकर किसीका अहित न करना।

(२) असत्यका त्याग—जान-बूझकर असत्य नहीं बोलना।

(३) परस्वापहरणका त्याग—जान-बूझकर किसी दूसरेका हक न लेना।

(४) परस्त्रीका—परपुरुषका स्पर्शत्याग—जान-बूझकर पुरुषके लिये परस्त्रीका स्पर्श न करना और स्त्रीके लिये पर-पुरुषका स्पर्श न करना। माता, दादी, नानी आदि बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों और पिता, बड़े भाई, पुत्र आदि पुरुषोंका स्पर्श इस नियममें विशेष बाधक नहीं है। बीमारीकी दशामें वैद्य, डाक्टर या परिचारक स्पर्श कर सकता है।

(५) क्रोधका त्याग—मनमें भी क्रोध न आवे तो

सर्वोत्तम है, पर मनमें आ भी जाय तो, उसकी क्रिया बाहर न हो; क्रोध आनेपर मिथ्या, कठोर और अपशब्द न बोलें या ऐसी अन्य चेष्टा (मारपीट) आदि न करें।

(६) परापवादका त्याग—जान-बूझकर किसीकी चुगली या निन्दा न करना।

(७) मिथ्या साक्ष्यका त्याग—झूठी गवाही नहीं देना।

(८) अश्लील चिन्तनका त्याग—गंदी हँसी-मजाक न करना।

(९) चर्मसेवनका त्याग—चमड़ेको व्यवहारमें बिल्कुल न लाना (मोटर, रेल, रिक्शा आदिके लिये यह नियम लागू नहीं है)।

(१०) मादक वस्तुका त्याग—तम्बाकू, बीड़ी, भाँग, गाँजा, चरस आदिका सेवन न करना (बीमारीके लिये मनाही नहीं है)।

(११) समय नष्ट करनेकी प्रवृत्तिके त्याग—ताश, चौपड़ आदि न खेलना, जहाँतक हो व्यर्थकी बातें न करना।

(१२) वेश्यानृत्य-त्याग—वेश्याका नाच न देखना।

(१३) सदाचारनाशक चित्रपटोंका त्याग—सिनेमा बिल्कुल ही न देखना।

(१४) घत-त्याग—किसी भी हालतमें जुआ न खेलना।

(१५) अभक्ष्यभक्षण-पानका त्याग—(क) मांस-मद्यका सेवन कतई न करना। (ख) लहसुन-प्याजका सेवन न करना। दवाके रूपमें करना पड़े तो बादमें उचित प्रायश्चित्त करना।

(१६) हिंसायुक्त जूतोंका त्याग—मारे हुए पशुके चमड़ेके जूतोंको व्यवहारमें न लाना।

ग्रहण करनेके नियम

(१) सबमें भगवद्बुद्धि—जहाँतक बने, जिस किसीसे व्यवहार करना पड़े, उसमें भगवद्बुद्धि करना।

(२) भगवत्स्मरण—प्रत्येक पंद्रह मिनटपर भगवान्का (नाम, रूप, लीला, गुण आदिका) स्मरण करना और स्मरण आनेपर न भूलनेका प्रयत्न करना।

(३) सूर्योदयसे पूर्व जागरण—सूर्य उदय होनेसे पहले ही उठ जाना ।

(४) प्रातःस्मरण और प्रणाम—प्रातःकाल उठते ही भगवान्‌का स्मरण करना और पृथ्वीमाताको प्रणाम करना ।

(५) गुरुजन-अभिवादन—घरमें माता, पिता, गुरु, दादा, दादी, ताऊ, ताई, पति, सास, ससुर, जेठ, जेठानी आदि गुरुजनों, वृद्धोंको प्रतिदिन प्रणाम करना । पदमें बड़ी हों परंतु कम उम्रकी हों, उन स्त्रियोंके चरणोंको पुरुष स्पर्श न करे और स्त्री अपने पतिको तथा पिता आदिको छोड़कर अन्य सभी पुरुषोंको दूरसे प्रणाम करे ।

(६) सन्ध्या-गायत्री-सेवन—यज्ञोपवीतधारी द्विज प्रातः सायं दोनों समय सन्ध्या करे और दोनों समय गायत्री-की कम-से-कम एक-एक माला (१०८ मन्त्रों) का जाप करे । अथवा अपने-अपने धर्मके अनुसार दोनों समय उपासना करे ।

(७) गीताध्ययन—प्रतिदिन श्रीमद्भगवद्गीताके एक अध्यायका पाठ करना (हो सके तो अर्थसहित) ।

(८) सत्सङ्ग-स्वाध्याय—प्रतिदिन कम-से-कम आधा घंटा सत्सङ्ग करना । सत्सङ्गके अभावमें (गीता, रामायण, भागवत, भक्तचरित, संतवाणी अथवा अपने-अपने धर्मग्रन्थ आदि सद्ग्रन्थोंका) स्वाध्याय करना ।

(९) भगवन्नाम-जप—प्रतिदिन भगवान्‌के जिस नाममें अपनी रुचि हो, उसी नामका कम-से-कम एक हजार जप करना ।

(१०) कर्तव्यपालन—घरमें—बाहरमें अपने जिम्मे जो काम हो, स्वस्थ शरीर होनेपर उससे जरा भी जी न चुराना । सदा उत्साह और प्रेमसे कार्य करना ।

(११) पवित्र वस्त्र-धारण—यथासाध्य देशी हाथके बुने कपड़े पहनना ।

(१२) नियमपालन-निरीक्षण—प्रतिदिन कम-से-कम पंद्रह मिनट इस बातकी जाँच करनेमें लगाना कि लिये हुए नियमोंमें आज किन-किनका पूरा पालन हुआ; किनका नहीं हुआ या अधूरा हुआ । कितनी भूलें हुई और क्यों हुई तथा भूलोंके लिये प्रायश्चित्तरूप दण्डविधान करना एवं कल भूल न हो—इस बातका दृढ़ निश्चय करना ।

[प्रत्येक भूलके लिये एक समयका उपवास अथवा भगवान्‌के किसी भी नामका एक हजार जप—अथवा 'हरे राम' आदि सोलह नामोंके मन्त्रकी एक मालाका जप—प्रायश्चित्त्स्वरूप करना चाहिये ।]

निवेदन

नियम सभी उपयोगी हैं—इनका यदि अच्छी तरह पालन किया जाय तो उपर्युक्त सभी दोष मिट सकते हैं और मानव-जीवनकी सफलताका सरल मार्ग प्राप्त हो सकता है । अतएव इन नियमोंका पालन स्वयं विश्वासपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे करवाना चाहिये । नियमावली तथा सदस्य बननेपर नियम भरनेकी डायरी व्यवस्थापक—'साधकसंघ' गीताप्रेस, गोरखपुरको पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं ।

प्रार्थना

जौं प्रसन्न प्रभु मो पर नाथ दीन पर नेहु ।
निज-पद-भगति देह प्रभु पुनि दूसर वर देहु ॥
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

हे प्रभो ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और हे नाथ ! यदि इस दीनपर आपका स्नेह है, तो पहले अपने चरणोंकी भक्ति देकर फिर दूसरा वर दीजिये ।

जैसे कामीको स्त्री प्रिय लगती है और लोभीको जैसे धन प्यारा लगता है, वैसे ही हे रघुनाथजी ! हे रामजी ! आप मुझे निरन्तर प्रिय लगिये ।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(६०)

श्रीकृष्णचरण-सरोजोंसे स्पृष्ट हुआ अजगरका वह मृत शरीर अभी भी ज्यों-का-त्यों बना है; ठीक इस प्रकार मानो आज अभी कुछ समय पूर्व ही अघासुर-मोक्षकी लीला सम्पन्न हुई हो। एक वर्षपर्यन्त व्यतीत हुए कालकी प्रतिक्रिया उसपर भी तनिक-सी नहीं हुई। योगमायाकी छायाने उसे ढककर वैसे ही अविकृत बने रहने दिया—

योगमाययैव तावत्कालपर्यन्तं तत्तदाच्छादित-
मासीदिति ज्ञेयम् । (सारार्थदर्शिनी)

अस्तु, इसीकी ओर ब्रजेन्द्रनन्दन अपने सखाओंका ध्यान आकर्षित करने लगते हैं। वन-भोजनके अनन्तर वनसे ब्रजमें लौटते हुए वे जान-बूझकर इसी पथसे आये और उस महाविशाल सर्पके मज्जारक्तपङ्क्ति प्राणशून्य कलेवरकी ओर संकेत कर बोले—‘अरे मैयाओ ! मरा हुआ साँप तो वैसे ही पड़ा है, उधर भी पुनः देख भर लो तो सही ।’ फिर तो कतिपय चञ्चल शिशु उसी ओर छूट पड़े, हर्षातिरेकवश उच्चस्वरसे पुकार उठे—

अहो महोज्ज्वलं नः खेलागद्वरमिदं जातमिति... ।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

‘अरे, रे, मैया ! यह तो हमलोगोंके खेलके लिये एक बड़ी ही सुन्दर गुफा बन गयी रे !’

किंतु अब सन्ध्याके किञ्चित् रक्ताभ श्याम परिधानकी आभा वनप्रान्तरोंमें, आकाशमें परिव्याप्त हो चुकी थी। कौतुकका अब समय जो नहीं रहा था। साथ ही अजगरके चर्मको दिखानेका उद्देश्य तो था कि बस, अतीतका संस्मरणमात्र उद्बुद्ध हो जाय। वह हो चुका। अतएव श्रीकृष्णचन्द्र उन शिशुओंको निवारणकर झूमते हुए आगे ही बढ़ते चले गये, वे ब्रजकी ओर ही अग्रसर होने लगे—

दर्शयंश्चर्मजगरं न्यवर्तत वनाद् वज्रम् ।

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४६)

चले घरनि अजगरहि दरसते, हियनि सरसते, सुखन बरसते ।
× × ×
गृह कहूँ चले बाल लिये साथ । अजगर-चर्म देखावत नाथा ॥

और इस ब्रजप्रवेशके समय उनके महामरकत-श्यामल श्रीअङ्गोंकी निराली शोभा, उनकी विविध रसमयी चेष्टाएँ और ब्रजपुरन्ध्रियोंकी प्रतीक्षा—बस, देखते ही बनती है। मस्तक तो मयूरपिच्छनिर्मित मनोहर मुकुटसे मण्डित है। घुँघराली अलकोंमें विविध वर्णके मँह-मँह करते हुए कुसुमसमूह गुम्फित हो रहे हैं। अन्य अङ्गोंमें भी यथायोग्य कुसुमोंके ही आभरण सुशोभित हैं। अत्यन्त नवीन, रंग-विरंगे गैरिक आदि वन्य-धातुओंसे श्याम कलेवरपर सुन्दरातिसुन्दर विविध चित्रोंका निर्माण किया हुआ है। अपने बिम्बविडम्बि अधरोंपर कभी तो वे वंशीको धारणकर उससे अनेक रसमय अत्यन्त स्फुट स्वरोंका सृजन करते हैं, कभी तरुपत्रोंको मोड़कर बनाये हुए वाद्ययन्त्र (सीटी) में अपने परम सुरभित मुखश्वास भरकर अद्भुत मनोहर रागकी एक ऊँची, अतिशय मधुर तान छेड़ देते हैं और कभी गूँज उठता है उनका मेघगम्भीर शृङ्गनाद। इस प्रकार वाद्योत्सवमें वे निमग्न हो रहे हैं। उनकी वह सखामण्डली भी परमानन्दमें डूब रही है। प्रत्येक शिशु अपने हृत्तलके सुखको अवरुद्ध करनेमें असमर्थ होकर मधुर उच्च स्वरसे उनकी ही पवित्र कीर्तिका गान कर रहा है; प्रत्येकके कण्ठसे ब्रजेन्द्रनन्दनकी ही प्रशंसाके गीत झर रहे हैं; सर्वथा अपनी ही प्रतिभासे रचित एवं तालबन्धसमन्वित गाये हुए उन मधुर गीतोंमें एकमात्र भरा है नन्दनन्दनके सुयशका वर्णन, अघासुर आदिके उद्धारके समय व्यक्त हुई उनकी बाल्यचेष्टामयी पुनीत कीर्तिका चारु चित्रण

और फिर वे नन्दलाडिले सहसा कभी इन समस्त गान-
वाद्यके रागरंगका विराम करके उन गोवत्सोंका नाम ले-
लेकर आह्वान करने लगते हैं, इस अद्भुत गान-वाद्यके
उत्सव-सुखसे विभोर, विह्वल, उच्छृङ्खल हुई अपार
गोवत्सराशिको संयत करने लगते हैं; अपने परम सुखद
करस्पर्शके दानसे, अनेक नवीन-नवीन प्रेमिल चेष्टाओंसे
उनका उपलालन करते हुए इन्हें बुला-बुलाकर गन्तव्य
दिशाकी ओर प्रेरित करने लगते हैं। उधर प्राणोंकी
उत्कण्ठा लिये वात्सल्यवती गोपसुन्दरियाँ, अपने समस्त
कार्य स्थगित कर, सब कुछ विसर्जन कर, भूलकर
एकमात्र इनकी ही आकुल प्रतीक्षामें उन्मादिनी-सी हुई
अपने द्वारोंपर आकर खड़ी हैं, उनके नेत्र केन्द्रित हैं
उस दिशामें, वनके उस पथकी ओर ही, जिधरसे ये
स्नेह-नन्दन आयेंगे, नहीं-नहीं आ रहे हैं। वंशीनाद
गूँज जो रहा है। अहा! वह देखो, वे रहे उनके
प्राणाराम श्रीकृष्णचन्द्र! दृगोमें वह श्याम ज्योति पूरित
हो गयी। फिर कहाँ सम्भव है इससे आगेकी दशाका
चित्रण? जो हो, इस प्रकार अद्भुत विचित्र साज-शृङ्गार-
से विभूषित हुए, अपनी परम रमणीय चेष्टाओंसे पद-
पदपर सुख-सरिताका सृजनकर उसमें अवगाहन करते
हुए, सखाओंको निमग्न करते हुए गोपीजननयनानन्दवर्धन
श्रीकृष्णचन्द्रने ब्रजपुरमें प्रवेश किया—

बर्हप्रसूननवधातुविचित्रिताङ्गः

प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गारवोत्सवाढ्यः ।

वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्ति-

गौपीहगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४७)

गातनि धातके चित्र बनाये, सीसनि मोरके चंद सुहाये ।

बेनु संगदल ललित बजावत, नव नव गीत पुनीतन गावत ॥

पंकज फेरत बछरन घेरत, लै लै तिनके नाम निबेरत ।

गोपि-दृगनके उत्सव रूप, ब्रज आये नैद-नंद अनूप ॥

×

×

×

बरह सुमन नव धातु अनूपा । ताकरि तन चित्रित बहु रूपा ॥

बेनु शृंग रव दल अति सोहन । करत हासरस आवत मोहन ॥

गनत वरस, पोंछत करनि, मंद मंद मुसुकात ।

गुन गावत आवत सखा, गोपिन सुखप्रद तात ॥

एहि विधि करत केलि जदुनंद । आए निज गृह आनंदकंद ॥

ब्रजरानी एवं ब्रजराजके कर्णपुटोंमें भी अपने नीलमणि-
के वंशीनादकी सुधा पूरित हो चुकी थी। दोनोंपर ही
उसका उन्मादी प्रभाव व्यक्त हो चुका था। ध्वनिने
उसके मन-प्राणोंको भी आकर्षित कर लिया था। और
फिर वात्सल्य-स्नेहकी ऐसी प्रखर धारा उमड़ी कि हृदय
विगलित हो उठा, मन-प्राणोंके पीछे वह भी वह चला
उसी दिशामें तथा अब उनके शरीर प्रासादमें, गोष्ठमें
अवरुद्ध रहें, यह सम्भव जो नहीं। और दिन तो
गृहतोरणके समीप ही नीलसुन्दरकी वाट देखी जाती,
पर आज देखते-ही-देखते ब्रजदम्पति भी तोरणसे बहुत
आगे विस्तीर्ण, उन्मुक्त राजपथपर आकर अवस्थित हो
गये हैं—

**स्नेहभरनिर्भरनिर्भुग्गृहदयाभ्यां तन्मुरलीनाद-
गुणेनाकृष्टाभ्यां पितृभ्यां प्रतोलीतलमुपसेदे ।**

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

वे न जाने और भी कितनी दूर आगे बढ़ जाते,
पर उनकी आँखोंमें भी पूर्ण हो गयी वह इन्द्रनीलद्युति;
वहाँसे उन्हें मानो अपने प्राणोंकी एकमात्र निधि प्राप्त
हो गयी। साथ ही सात्त्विक भावोंका उन्मेष हो आया।
जडिमासे समस्त अङ्ग अवश हो गये। जहाँ-कै-तहाँ वे
शान्त खड़े ही रह गये। उनमें गतिका संचार तो तब
हुआ, जब नीलसुन्दर सर्वथा सामने निकट-से-निकट
आकर उपस्थित हो गये अपनी जननीके भुजपाशमें बँध
जानेके लिये। ब्रजेश्वर तो एक-दो पग चलकर भी सजल
नेत्रोंसे देखते ही रहे, पर ब्रजरानी प्राणोंकी ललक
लेकर दौड़ी और श्रीकृष्णचन्द्रको उन्होंने अपने अङ्कमें
धारण कर लिया। ओह! इस मिलन-सुखका वर्णन कोई
कैसे करे? इसमें एक विचित्र विशेषता है। यह मिलन
है तो एक दैनन्दिनी घटना, पर प्रतिदिन ही इसमें

गत दिवसकी अपेक्षा सुखकी एक ऐसी अभिनव अप्रतिम लहर परिव्याप्त हो जाती है, जिसकी झाँकी इस प्राकृत जगत्में कहीं सम्भव जो नहीं। कदाचित् वे चञ्चल असंख्य शिशु श्रीकृष्णचन्द्रके साथ न हों, अपनी विविध चेष्टाओंसे, तुमुल आनन्द-कोलाहलसे प्रतिदिन ही भावान्तर उत्पन्न कर देनेमें हेतु न बन जायँ तो कहना कठिन है कि मैयाकी यह नित्य-नूतन सुखमयी मिलन-समाधि कितने कालके पश्चात् टूट पाये। और आज तो इन बालकोंको बड़ी त्वरा है वनकी एक विशेष घटना सुना देनेकी। इसीलिये शीघ्र-से-शीघ्र मैयाका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करनेका प्रयास आरम्भ हो जाता है।

इन अगणित शिशुओंकी माताएँ वहीं खड़ी हैं। आज उन माताओंका ध्यान पुनः अपनी संतानकी ओर नहीं, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर है। निरन्तर एक वर्षतक अपनी ही संतानके प्रति उमड़ता हुआ प्यार आज सहसा अन्तर्हित क्यों, कैसे हो गया? इस ओर उनकी वृत्ति ही नहीं। मानो क्षणभरके लिये कभी कोई भी अन्तर उनके भावप्रवाहमें हुआ ही नहीं था, सदा श्रीकृष्णचन्द्र ही उनके मन-प्राणोंमें समाये हुए हैं, इस प्रकार आकुल नेत्रोंसे वे नन्दनन्दनको निहार रही हैं। यन्त्रकी भौंति कतिपय गोपसुन्दरियोंने अपनी गर्भजात संतानको गोदमें भी उठा लिया, स्वाभाविक वात्सल्यवश हाथसे पुत्रके अङ्गका धूलि-सम्मार्जन भी वे करती जा रही हैं, पर उनके नेत्रोंमें भी भरे हुए हैं श्रीकृष्णचन्द्र। उनके प्राणोंकी वृत्ति भी समायी हुई है श्रीकृष्णचन्द्रमें ही, पर आज शिशुओंने इन अपनी माताओंको ही माध्यम बनाया; ब्रजरानीको अपनी ओर अभिमुख कर लेनेके उद्देश्यसे अपनी माताओंका अञ्चल धारणकर बड़े उल्लासमें भरकर वे सब कहने लगते हैं—‘री मैया! क्या कहूँ, ऐसी बात है कि सुनते ही सबका मन अत्यन्त आश्चर्यसे भर उठेगा और हम सबोंके लिये

भी थोड़ी हँसनेकी-सी बात हो गयी। हमारे कान मैयाने काम तो बड़े ही साहसका किया। ओह! बलिहारी है इसके साहसकी! बस, पूछे मत, दूसरेके लिये तो वह अत्यन्त दुष्कर है; अरे दुष्कर क्या, दूसरा उसे कर ही नहीं सकता। पर है वह बहुत ही विनोदकी बात। इतना ही नहीं, हमलोग तो आज सबके-सब मूर्ख सिद्ध हो गये, ठगे गये थे, भीषण विषकी प्रचण्ड अग्निमें भस्म हो गये थे, पर धन्य है कहैया मैयाकी चतुराईको! यह चतुरशिरोमणि जो ठहरा। इसने तुरंत हम सबोंको जीवित कर लिया।’

जननि ! जननितान्तविस्सापकं सापकं चास्माकं मतिसाहसपुष्करं दुष्करं दुरासदं रासदं कर्मकृतवान् । अस्मानपि विषमविषमहानलदग्धानविदग्धानविलम्बेनैव जीवयामास च स चतुरशिरोमणिः ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू)

यह सुनते ही माताएँ तो ‘सन्न’ रह गयीं। केवल दो-एक अपने दुर्-दुर् करते हुए हृदयको दबाकर—‘हैं! क्या हुआ? कैसे हुआ?’—कहकर किल्ला उठाँ। शिशु तो कहनेके लिये उतावले थे ही। उन सबने अतिशय उच्च स्वरसे सबको सुना-सुनाकर कहना आरम्भ किया—‘री! तुम सब ध्यानसे सुनो, आज यशोदा मैयाके लाडिलेने, इस नन्दनन्दनने एक महा-विशाल अजगरको मार डाला और हम सबोंके प्राण बचा लिये।’

अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुता । हतोऽविता वयं चास्मादिति वाला व्रजे जनुः ॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।४८)

बील्यौ एक बरष जिहि काल, ब्रज में कहत भए ब्रजबाल । आज एक नन्द-जू के लाल, मारयौ व्याल महा बिकराल ॥

फिर तो ब्रजरानी भी भावसमाधिसे जागीं ही। उन्होंने भी आदिसे अन्ततक वनमें घटित आजकी इस घटनाका पूर्ण विवरण सुन ही लिया। अपने नीलमणि-को-माहात्म्यके अङ्गमें धारण किये एवं दक्षिण हस्तकी

तर्जनी होठोंपर रखकर विस्फारित नेत्रोंसे वे पासमें खड़े श्रीव्रजेश्वरकी ओर देखने लग जाती हैं, किंतु व्रजेश्वरके नेत्र निमीलित हैं। वे मन-ही-मन अपने एवं अपनी प्रजा व्रजवासीजनोंके पुत्रोंकी अयाचित ऐसी रक्षाके लिये अपने इष्टदेव श्रीनारायणके चरणोंमें न्यौछावर हो रहे हैं। जो हो, परस्पर बड़ी देरतक यही चर्चा चलती रहती है, किंतु इसी बीचमें व्रजरानीको अपने नीलमणिके मुखपर वन-भ्रमणकी श्रान्ति दीख गयी और वे तनिक भी विलम्ब न कर अपने गृहकी ओर चल पड़ीं। नीलसुन्दर उनके अङ्गमेंसे उतरकर आगे-आगे चले और जननी स्नेह-विह्वल हुई पीछे चलीं। सामने रोहिणी मैयाके दर्शन हुए। श्रीरोहिणीने भी प्राणोंकी ललकसे श्रीकृष्णचन्द्रको अपने अङ्गमें भर लिया। पर दाऊ मैया कहाँ गये?—नीलसुन्दरने एक ही प्रश्नकी झड़ी लगा दी। रोहिणी माताके अन्य समस्त स्नेह-मनुहारकी ओर जैसे आज इस समय उनका ध्यान ही नहीं। बलराम-जननीने भी किञ्चित् इसकर गृहालिनदकी ओर संकेत कर दिया। मैयाके संकेतका तात्पर्य स्पष्ट था, श्रीकृष्णचन्द्र जान गये—दाऊ मैया रुठे बैठे हैं। आज वन न जानेका, रोक लिये जानेका इतना दुःख बलरामको हुआ कि उन्होंने भोजनतक नहीं किया, यहाँतक कि वंशीनाद सुनकर भी अपने अनुजका स्वागत करने भी वे नहीं आये। क्यों आवें? वास्तवमें उन्हें दोष तो अनुजका ही प्रतीत हुआ। 'कन्तू यदि मुझे भी साथ ले चलनेका हठ कर लेता, अथवा मेरे शास्त्रोचित कृत्य जन्म-नक्षत्रोत्सवके अनन्तर किञ्चित् विलम्बसे वन जाता तो मैया बाध्य हो ही जाती मुझे भी साथ भेज देनेके लिये।' यह भावना रह-रहकर उनके नेत्रोंमें अश्रुसंचार कर देती और वे अलिनदपर ही मुँह फुलाये बैठे रहते। पर अब धैर्य कहाँ, श्रीकृष्णचन्द्र 'दाऊ मैया' कहकर उन्हें पुकार जो रहे हैं। स्तम्भकी ओटसे एक परम

सुन्दर समुज्ज्वल गौर तेजोमयी चञ्चल ज्योति-सी निकली और श्रीकृष्णचन्द्रके कण्ठसे जा लगी। अप्रज-अनुजको इस प्रकार मिलते देखकर दोनों माताओंके नेत्र पुनः छलक उठे।

अब पर्याप्त अतिकाल हो चुका है। इसलिये जननी पुत्रसंलालनमें लग जाती हैं। इतनी देर गोप-सुन्दरियोंकी, नहीं-नहीं वहाँ उपस्थित समस्त व्रजवासी-जनोंकी दृष्टि तन्मय हो रही थी श्रीकृष्णचन्द्रमें, पर अब तो व्रजरानी अपनी इस अप्रतिम निधिको लेकर प्रासादके अन्तर्भागमें प्रविष्ट हो गयीं। अब चार पहरके लिये यह अवसर नहीं कि निकटसे नील-सुन्दरको निहारकर उनके नेत्र शीतल होते रहें। अतएव वे सब भी अपने आवासकी ओर चल पड़ते हैं, पर जा रहे हैं यन्त्रवत्, केवल शरीरसे ही। उनका मन तो वहाँ नन्दभवनमें ही सन्नद्ध है, श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर वह मन अन्यत्र जा जो नहीं सकता। एक वर्षके लिये श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने एक रचना रच दी थी। स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन ही उन सबके गृहोंमें उनके पुत्र होकर क्रीड़ा कर रहे थे। केवलमात्र नाम एवं आकृति उनके गर्भजात संतानकी थी, पर वास्तवमें वहाँ नन्दनन्दनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था, कोई नहीं था, उन असंख्य शिशुओंके स्थानपर केवल सर्वत्र भरे थे श्रीकृष्णचन्द्र ही। इसलिये बाह्यदृष्टिमें उनकी वृत्ति अपने पुत्रोंके प्रति ही सम्पूर्णतया आकर्षित हो जानेपर भी वह वस्तुतः केन्द्रित थी—तन्मय थी यशोदानन्दनमें ही, किंतु आज उस एक वर्ष पूर्वकी ही धाराका सङ्गम हो गया। श्रीकृष्णचन्द्र पितामहके मनोरथ पूर्णकर अपने स्थानपर अवस्थित हो गये। शिशु ब्रह्ममोहनका अभिनय हो जानेके अनन्तर अपने स्थानपर आ गये। तब गोपसुन्दरियाँ भी अपने उस पूर्वके भावमें निमग्न होंगी ही, हो ही गयीं। सब कुछ वैसे-के-वैसे हो ही गया। जिस

प्रकार आजसे एक वर्ष पूर्व वे सन्ध्या समय श्रीकृष्णचन्द्रको नन्द-भवनतक पहुँचाकर, उनका अनुगमन कर गृह लौटती थीं, ठीक वैसे ही, उसी भावनामें बहती हुई वे आज भी अपने गृहकी ओर लौटी जा रही हैं, लौट आयो हैं । स्वाभाविक वात्सल्यवश अपने-अपने पुत्रोंको अङ्कमें धारण करके आयी हैं तथा आकर उनका संखालन भी कर रही हैं, पर उनकी आँखोंमें भरा है नन्दप्राङ्गण और वे वहाँसे स्पष्ट देखती जा रही हैं—‘वह देखो, ब्रजरानी नीलमणिको स्नान करा रही हैं, उनका गात्र-सम्मार्जन कर रही हैं, केश-संस्कार कर रही हैं आदि ।’

ब्रजवासियोंकी, विशेषतः इन वात्सल्यवती गोप-सुन्दरियोंकी यह भावना—अपनी गर्भजात संततिकी अपेक्षा भी अत्यधिक अपरिसीम मात्रामें ब्रजेशतनय श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति उनके स्नेहका यह प्रवाह आपाततः आश्चर्यका विषय अवश्य है; क्योंकि सौन्दर्य, माधुर्य एवं दैहिक सम्बन्धको लेकर ही तो प्राणोंका प्यार प्रसरित होता है । इसमें भी दैहिक सम्बन्धकी ही प्रधानता रहती है । अपनी संतान सुन्दर नहो, गुणहीन हो, एवं किसी अन्य व्यक्तिका शिशु रूप एवं गुणोंकी खान हो, फिर भी प्यारका उन्मेष जितना-जैसा अपने शिशुपर होता है, उतना-वैसा अन्यकी सलोनी संततिपर नहीं, किंतु इन वात्सल्यमयी ब्रजसुन्दरियोंके प्यारकी प्रखर और निर्मल धारा तो अपने शिशुओंको एक ओर रखकर सदा बहती रहती है श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही, ब्रजेश्वर-के पुत्रपर ही । यह भी नहीं कि ये ब्रजेन्द्रनन्दनको परब्रह्म पुरुषोत्तमके रूपमें अनुभव करती हों । उनके वात्सल्यमसृण हृदयमें इस तत्त्वज्ञानके लिये टिकने तकको स्थान जो नहीं । वे तो निरन्तर अनुभव करती हैं श्रीकृष्णचन्द्रको ब्रजरानीके नीलमणिके रूपमें ही । और कदाचित् सौन्दर्य ही उनके प्यारमें हेतु होता तो फिर इस एक वर्षके लिये स्नेहका यह प्रवाह, इन

श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति उमड़ते हुए कोटि प्राणोंका प्यार अपनी संततिके लिये ही लौट क्यों आता ? अतएव स्पष्ट है कि ब्रजरामाओंका स्नेह है निरन्तर श्रीकृष्णके उद्देश्यसे ही, वे भले ही किसी भी रूपमें उनके समक्ष क्यों न आवें । और इसीलिये वह विस्मयकी बात है ही कि आखिर ब्रजपुरवासियोंका अपने शिशुओंकी अपेक्षा भी यशोदरानीके नीलसुन्दरके प्रति ऐसा अपरिसीम स्नेह किस हेतुसे है ? सौन्दर्य-निर्बन्धन, भगवत्ताकी स्मृति, दैहिक सम्बन्ध—ये हेतु नहीं, फिर उनका प्रेम सतत इस दिशामें ही, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही क्यों बहता रहता है ? किंतु इसका समाधान भी अत्यन्त स्पष्ट है । जगत्में सर्वत्र सत्रके प्रेमकी धारा—भले ही अनजानमें हो—बहती रहती है एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रको ही पा लेनेके उद्देश्यसे । जगत्के समस्त प्राणी वास्तवमें प्रेम करते हैं अपनी आत्मासे ही । सबके लिये परम प्रिय वस्तु है अपनी आत्मा ही । पुत्र, वित्त आदिसे भी जो प्रेम है, वह सब है आत्मसुखके हेतुसे ही । इसीलिये अपनी अहङ्कारास्पद आत्माके प्रति जिस प्रकारका प्यार होता है, उस प्रकारका प्यार ममतास्पद वस्तु—पुत्र, धन, गृह आदिके प्रति कदापि नहीं होता । जिनके मन-बुद्धिपर अविभक्त का आवरण है, उनके जीवनमें भी इस सत्यके प्रत्यक्ष दर्शन होते ही हैं । वे अपने इस नश्वर देहको ही आत्माके रूपमें अनुभव करते हैं तथा इसीलिये उनमें भी जो प्रेम अपने शरीरके प्रति होता है, वह दैहिक वस्तु—पुत्र-कलत्र आदिके प्रति नहीं ही होता । और कदाचित् विवेकके किञ्चिन्मात्र आलोकसे अन्तस्तत्त्वा तिमिर क्षीण होने लगे, सत्यकी स्मृति का अवकाश आ जाय, सचमुच तनिक-सा यह भान होने लगे कि मैं यह शरीर नहीं, शरीर मेरी वस्तु है,—अविवेकके कारण मानी हुई अहन्तास्पद वस्तु, ममताका विषय, अतएव प्रेम के लिये ही, इस समय देहसे भिन्न निश्चय किये हुए,

संख्या
अहन्ता
आसन
को देह
थी, वह
जीवित
नहीं र
कि अ
आत्मसु
जगत्
हैं ? ये
आत्मा
योगमाय
देहीका
ब्रजेन्द्र
प्रतीत
एक क
अनुस
के अति
लिये स
परे भी
ही अ
अप्राकृ
की स
कार्यक
उस म
वस्तु
सं
इत
तव
न
देह
यश

अहन्तास्पद आत्माके समान यह शरीर प्यारा नहीं होता । आसन्न मृत्युके समय भी अविवेककी दशामें अपने-आप-को देह माननेके कारण जो जीवनकी प्रबल आशा होती थी, वह विवेकके जाग उठनेपर नहीं होती; शरीर जीवित रहे, या नष्ट हो जाय, इस सम्बन्धमें आग्रह नहीं रह जाता । इस प्रकार यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि अपनी आत्मा ही सबके लिये प्रियतम वस्तु है, आत्मसुखके लिये ही यह समस्त परिदृश्यमान चराचर जगत् प्रिय प्रतीत होता है । और ये श्रीकृष्णचन्द्र कौन हैं ? ये नराकृति परब्रह्म ही तो समस्त आत्माओंके आत्मा हैं । जगत्का परम मङ्गल करनेके लिये ही ये योगमायाका आश्रय लेकर यहाँ पधारे हैं । इनमें देह-देहीका भेद नहीं, फिर भी लीलापुरुषोत्तम ये ब्रजेन्द्रनन्दन जनसाधारणकी दृष्टिमें देहधारीके समान ही प्रतीत होते हैं । जब कभी किन्हींपर इनकी कृपाकी एक कणिका टुलक पड़ती है और वे इनके तत्त्वका अनुसन्धान पा लेते हैं, फिर उनके लिये इन श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त और कोई सत्ता ही नहीं बचती । उनके लिये स्थावर-जङ्गम अखिल जगत् श्रीकृष्णस्वरूप है; इससे परे भी ब्रह्म, परमात्मा, नारायण—सभी श्रीकृष्णचन्द्रकी ही अभिव्यक्ति हैं । श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त प्राकृत-अप्राकृत अन्य कोई वस्तु है जो नहीं । सभी वस्तुओंकी सत्ता अपने कारणमें ही तो है । कारण-सत्तासे ही कार्यकी सत्ता है । और ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उस कारणके भी परम कारण जो ठहरे । फिर कौन-सी वस्तु श्रीकृष्णसे भिन्न है ?—

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव बल्लभः ।

इतरेऽपत्यविच्चाद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥

तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् ।

न तथा ममतालम्बिपुत्रविचगृहादिषु ॥

देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ।

यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यल्लये च तम् ॥

देहोऽपिममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः ।

यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी ॥

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।

तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।

जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्तु चरिण्यु च ।

भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्वह किञ्चन ॥

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ।

तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५०—५७)

अब ऐसे स्वयं इन श्रीकृष्णचन्द्रको ही पा लेनेके अनन्तर ब्रजपुरवासी क्यों नहीं अपने समस्त प्राणोंका सम्पूर्ण प्रेम एकमात्र इन्हींको समर्पित कर दें । नीलसुन्दरको एक बार प्यार कर लेनेके अनन्तर फिर अन्य किसी प्रीत्यास्पद वस्तुकी सत्ता ही कहाँ है कि जिसमें मन उलझे ? इसीलिये ब्रजसुन्दरियाँ भूल गयी हैं अपने शिशुओंको और तन्मय हो रही हैं नन्दप्राङ्गणमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्रमें ।

अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्रकी आजकी दिनचर्या समाप्त हुई । वे शयन करने चले जाते हैं ब्रजरानीके अङ्गमें, शारदीय प्रसादनोसे विभूषित ब्रजेन्द्रगेहिनीके शयनमन्दिरमें । और जब किरणमाली अवसे चौदह घड़ीके पश्चात् पुनः अपने अंशुजालका विस्तार कर वृन्दाकाननको उद्भासित करने आयेंगे, तब, उस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी पौगण्डोचित लीलाकी एक सुन्दर योजना निर्मित होगी । कौमारलीला-रसका आस्वादन कर चुके बाल्यलीलाविहारी । एक-से-एक बढ़कर परम मनोहारिणी लीलाओंकी अवतारणा कर ब्रजपुरवासियोंको इन्होंने परमानन्दसिन्धुमें निमग्न कर दिया है । उनकी वह निलायन-क्रीड़ा—ओह ! कोई कैसे भूले अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी उस अद्भुत प्रेमाधीनताको ! श्रीकृष्णचन्द्र अपनेको

छिपा लेते, पर शिशु उन्हें अनायास ढूँढ़ लेते। और जब श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें ढूँढ़ने चलते, तब देखने ही योग्य होती ब्रजराजकुमारकी बाल्यभङ्गिमा, सर्वज्ञ-सर्वेश्वरकी वह बाल्यरसमत्तता ! क्या कहना है, अथक परिश्रम करके भी वे एक शिशुको भी ढूँढ़ निकालनेमें असफल ही रहते। सर्वज्ञशिरोमणि प्रभुकी वह असमर्थता एवं शिशुओंका योगीन्द्रमुनीन्द्रगणोंके लिये निर्विकल्प समाधिमें भी प्राप्त न होनेवाले स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको ढूँढ़कर बाहर लाते समयका वह उल्लास कितना आश्चर्यजनक है। और जिस समय नीलसुन्दरविनन्दिनीसे सङ्गमित किसी क्षुद्र स्रोतपर अथवा गिरिराजसे प्रसरित हुई किसी निर्झरकी एक छोटी धारापर सेतुकी रचना करते और उस सेतुपर श्रीराघवेन्द्रकी लङ्का-विजयलीलाका अभिनय करने लगते, उस समय जो भी उस क्रीड़ाका दर्शन करता, उसके नेत्र प्रेमावेशसे बहने लगते, शरीर अवश हो जाता। ब्रजरानी, ब्रजेश भी देखने जाते और देखकर स्तब्ध रह जाते। तथा फिर भावावेश शिथिल होनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके कपोलोंपर चुम्बन अङ्कित करते हुए पृच्छते—‘नीलमणि ! तू रघुकुलचन्द्रकी

लीलाओंका इतना सुन्दर अनुकरण कैसे सीख गया ? बता तो सही मेरे लाल ।’ श्रीकृष्णचन्द्र उत्तरमें केवल हँस देते। इसके अतिरिक्त जिस समय वे वानरोंका अनुकरण करते हुए तरुशाखाओंपर कूदने लगते, उस समयकी झाँकी ब्रजपुरके वृद्ध, वयस्क, शान्त, गम्भीर गोपोंतकको चञ्चल बना देती। जो जहाँ सुनता, वहाँसे दौड़ पड़ता एक बार नन्दनन्दनको उल्लासमें भरकर वृक्षोंपर वानरोंकी भाँति कूदते हुए देख लेनेके उद्देश्यसे। इस प्रकार ब्रजमें मधुरातिमधुर विविध, परम रसमय संस्मरणकी निधि बिखेरते हुए ब्रजराजकुमार लीलासिन्धुमें संतरण कर रहे थे और अब उनके बाल्यवयस्का अवसान हो चुका था।

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्ब्रजे ।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोटप्लवनादिभिः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ६१)

चौर भाव बहु आनि, सेतुबन्ध मरकट क्रिया ।
अपर खेल सुख मानि, खेलत गयो कुमार वय ॥
इमि विहार करि कृष्ण ब्रज, सब काहू सुख दीन ।
यह कुमार वयकी कथा, बरनी तोहि प्रवीन ॥

स्याम सुजान

फिरति वननि वृंदावन, वंसीबट, सँकेत बट
नागर कटि काछे, खौरि केसरकी किए ।
पीत-वसन, चँदन-तिलक, मोर-मुकुट, कुँडल-झलक
स्याम-धन-सुरंग-छलक, यह छवि तन लिये ॥
तनु त्रिभंग, सुभग अंग, निरखि लजत अति अनंग
गाल-बाल लिये संग, प्रमुदित सब हिए ।
सूर स्याम अति सुजान, मुरली-धुनि करत गान
ब्रज-जन-सन कौ महान संतत सुख दिए ॥

—सूरदासजी

मनका मरण

(लेखक—श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)

‘क्या शान्ति नहीं मिलेगी ? आसक्तिके हाथोंसे क्या छुटकारा नहीं होगा ?’

‘होगा, होगा ।’

‘बताओ, मुझे कैसे शान्ति मिलेगी ? बताओ, बताओ, कैसे मेरे सब दुःखोंकी निवृत्ति होगी ? तुम्हींको लेकर दिन-रात रह सकूँगा, कब वह दिन होगा ?’

‘जिस दिन तुम्हारा मन मर जायगा ।’

‘मन कैसे मरेगा, बताओ । मनके मरनेपर तुमको पा जाऊँगा, कहते हो, तो छो, आज मैं मनको मारनेके लिये कमर बाँधे खड़ा हूँ । बताओ उपाय, दो शक्ति, तुम जो कहोगे वही करूँगा । मन्त्रका साधन अथवा शरीर-कापतन—यह निश्चय करके ही मैं तुम्हारे पास आया हूँ ।’

‘कर सकोगे ? तो सुनो—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

समझे ?’

‘क्या कहा, साफ-साफ बताओ ।’

‘सर्वत्र मुझको देखो और मुझमें सबको देखो । इसी-से शान्ति मिल जायगी और मन मर जायगा ।’

‘कैसे—कहाँ देखूँ ?’

‘पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पञ्चभूत मैं हूँ । इन पञ्चभूतोंमें मुझको देखो । श्रोत्र, त्वक्, जिह्वा, चक्षु, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, मन—इन्हीं ग्यारह इन्द्रियोंमें मुझको देखो । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पञ्चतन्मात्रामें मुझको देखो ।’

‘मैं तुम्हारी ये सारी बातें समझ नहीं पा रहा हूँ ।’

‘देखो, जो देख रहे हो—सभी मैं हूँ । देव-दानव, यक्ष-राक्षस, गन्धर्व-किन्नर, नर-नारी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जल-स्थल, अनिल-अनल—सब मैं हूँ । दो पैर-वाले, चार पैरवाले, बहुत पैरोंवाले, बिना पैरवाले—

सब मैं हूँ । सब शब्द और सब रूप मैं हूँ, रोग-शोक, मान-अपमान, हँसी-रुलाई, शान्ति-अशान्ति, शत्रु-मित्र, तिरस्कार-पुरस्कार—सब मैं हूँ । मेरे सिवा जगत्में और कुछ भी नहीं है । क्यों, तुम चुप कैसे हो गये ?’

‘सभी तुम हो, ओहो, क्या आनन्द है !’

दृश्यते श्रूयते यद् यत् स्मर्यते वा रघूत्तम ।
त्वमेव सर्वमखिलं त्वद् विना नान्यकिञ्चन ॥

‘जो देखा जाता है, जो सुना जाता है—सब तुम्हीं हो ! अखिल जगत् सभी तुम हो । तुम्हारे सिवा अन्य कुछ नहीं है !’ अभी मैं तुमको सर्वत्र प्रत्यक्ष नहीं कर पाया हूँ, तथापि मानो शान्तिके सागरमें डूबा जा रहा हूँ—अहा हा ! सब तुम हो ! सब तुम हो ! सभी तुम हो !’

‘हाँ, सब मैं हूँ, सब मैं हूँ—सभी मैं हूँ । नैयायिकों-के सप्त पदार्थ मैं हूँ, वैशेषिकका विशेष मैं हूँ, सांख्यके चौबीस तत्त्व मैं हूँ, पुरुष मैं हूँ, पातञ्जलके यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधि मैं हूँ, क्लेश-कर्म-विपाक-आशयसे अपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर मैं हूँ, उपनिषद्का ब्रह्म मैं हूँ, योगीका परमात्मा मैं हूँ, वेदान्तका अद्वयज्ञान मैं हूँ, भक्तोंके भगवान् राम-कृष्ण मैं हूँ । भक्त-अभक्त मैं हूँ, शाक्त मैं हूँ, शक्ति मैं हूँ, श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्ण मैं हूँ, रामायणके राम मैं हूँ, देवीभागवतकी देवी मैं हूँ, शिवपुराणके शिव मैं हूँ, सौरके सूर्य मैं हूँ, गाणपत्यके गणेश मैं हूँ और वैष्णवों-के विष्णु मैं हूँ ।’

‘ओहो, क्या आनन्द है ! तमाम जटिल प्रश्नोंकी मीमांसा हो गयी, शङ्काओंका समाधान हो गया । कहो, कहो, और भी कहो ।’

‘मैं ईसा हूँ, मैं ईसाई हूँ; मैं मुहम्मद हूँ, मैं मुसल्मान

हूँ; मैं ब्राह्मण हूँ, मैं चाण्डाल हूँ; मैं देवता हूँ, मैं पिशाच हूँ; मैं पापी हूँ, मैं पुण्यवान् हूँ; मैं ज्ञानी हूँ, मैं मूर्ख हूँ; मैं शिष्य हूँ, मैं गुरु हूँ; मैं श्रोता हूँ, मैं वक्ता हूँ; मैं संकल्प हूँ, मैं विकल्प हूँ; मैं स्वर्ग हूँ, मैं नरक हूँ; मैं अँघरा हूँ, मैं उजियाला हूँ; मैं योग हूँ, मैं भोग हूँ; मैं मुक्ति हूँ, मैं बन्धन हूँ—मैं ही सब हूँ। देखो, अच्छी तरह नजर पसारकर देखो, प्रत्येक अणु-परमाणुमें मैं हूँ। राग-द्वेष किसपर करोगे ? सब जो मैं ही हूँ; मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है। था मैं, हूँ मैं, रहूँगा मैं। जिसकी हिंसा करोगे, मेरी ही हिंसा होगी। इस अनन्त ब्रह्माण्डमें एकमात्र मैं हूँ।'

‘अहो ! क्या आनन्द है। बताओ मैं क्या करूँ, क्या करनेसे मेरा यह भाव सदा बना रहेगा—बता दो।’

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतीषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

‘आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, तारा, सब जीव, दसों दिशाएँ, वृक्ष, नदी, समुद्र—सभी मेरे शरीर हैं, यह समझकर अनन्यभावसे प्रणाम करो।’ योगिराज कविने मनके मरणका यह उक्तम उपाय बतलाया है। प्रणाम करो—प्रणाम करो।

चेतसैवानिशं सर्वभूतानि प्रणमेत् सुधीः ।
ज्ञात्वा मां चेतनं शुद्धं जीवरूपेण संस्थितम् ॥

(अध्यात्मरामायण)

‘जीवरूपमें स्थित शुद्ध चेतन मुझको जानकर चित्त-के द्वारा सब भूतप्राणियोंको सदा प्रणाम करो।’ यों

प्रणाम करते-करते जब तुम मेरे परम भक्त हो जाओगे, तब तुम देहके द्वारा प्रणाम कर सकोगे—

विसृज्य स्यमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥
(श्रीमद्भा० ११।२९।१६)

‘बन्धु-बान्धव हँसे तो हँसे—मैं ब्राह्मण, यह चाण्डाल—इस दैहिक दृष्टिका त्याग करके कुत्ता, चाण्डाल, गाय, गदहा—सभीको प्रणाम कर सकोगे।’ प्रणाम—प्रणाम ही मनकी मृत्युका एक प्रधान उपाय है। इस प्रकार प्रणामके द्वारा जिस दिन तुम अपनेको खो डालोगे, उसी दिन देखोगे—

अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नान्यत् ततः कारणकार्यजातम् ।

‘मैं हरि हूँ, यह सब जनार्दन ही है; कार्य-कारण कुछ भी उससे भिन्न नहीं है।’

ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति ॥

(श्रीविष्णुपुराण)

‘इस प्रकारका जिसका मन है, उसको संसारसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरोग नहीं होते।’

‘इतने दिनों बाद मनके मरणकी दवा मिली। प्रणाम-प्रणाम ! ऊपर-नीचे, आगे-पीछे प्रणाम-प्रणाम। हे राम ! प्रणाम-प्रणाम।’

‘एक बात और याद रखकर प्रणाम करना। वह क्या है, जानते हो ? राम राम बोलना और प्रणाम करना। जो कुछ देखो, जो सुनो, जिसकी ओर आकृष्ट होओ या जिससे मन हटे, बिना विचारे सभी जगह राम-राम जपना और जपते हुए ही प्रणाम करना। करके देखो—होगा ही।’

शरणागतवत्सल राम

(लेखक—श्रीरवि शर्मा)

रावणके यहाँ स्वयं सृष्टिकर्ता ब्रह्मा वेदपाठ करते थे और भोलेनाथ शिवजी भयवश स्वयं अपनी पूजा करानेको नित्य आते थे तथा दैत्य और देवता दुखी होकर दीन और दयाके पात्र बने दूरसे ही सिर नवाया करते थे—
वेद पढ़ें विधि, संशु सभीत पुजावन रावनसों नितु आवैं ।
दानव-देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि तैं सिरु नावैं ॥

(कवितावली)

मेघनादके द्वारा बँधे हुए श्रीमारुतनन्दनने रावणकी ऐसी सभा देखी कि जिसकी प्रभुताईका वर्णन नहीं किया जा सकता । उन्होंने देखा—देवता और दिक्पाल सब हाथ जोड़े विनयके साथ भयभीत हुए रावणकी ओँ ताक रहे हैं, उसकी आँखके इशारेकी बाट जोह रहे हैं—

समुख सभा दीखि कपि जाई । कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई ॥
जो रें सुरदिसिप बिनीता । शृकुटि बिलोकत सकल समीता ॥

(रामचरितमानस)

वेदविरुद्ध आचरण करनेवाले रावणने पृथ्वी, मुनिगण और साधुओंको शोकयुक्त कर दिया तथा देवलोकको उजाड़ दिया ।

वेद विरुद्ध मही, मुनि साधु सलोक किए, सुरलोक उजारो’
ऐसे महाप्रतापी रावणके सम्मुख उसके प्रतिकूल बोलना साक्षात् मृत्युको बुलाना ही तो है ।

भक्तराज विभीषण रावणसे कहते हैं—

वचन उर कुमति बसी बिपरीता । हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥
कालराति निसिचर कुल केरी । तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥

रावण ! तुम्हारे हृदयमें कुबुद्धि आ बसी है, तुम्हें सुराईमें भलाई तथा शत्रुमें मित्र दीखता है; याद रखो, जानकीजीके प्रति तुम्हारी कलुषित प्रीति ही इसका परिणाम है । वह जानकी तुम्हारे कुलके लिये कालरात्रि बन रही है ।

ब्रह्माके बनाये वेदोंपर भाष्य करनेवाला अभिमानी रावण यह सुनकर जल उठा; क्योंकि अभिमानीकी बुद्धि प्रायः ठीक सम्मति नहीं देती । उसे हर समय अपने अभिमानका नशा रहता है । वह समझता है कि मुझसे बढ़कर दूसरा कौन समझदार है । फिर, यहाँ तो चारों वेदोंका जानकार रावण है । जितना मनुष्य बड़ा, उतना ही उसका घमंड बड़ा; और जितना घमंड बड़ा, उतनी ही बुद्धिकी असमर्थता बड़ी ।

एक बार अग्निमें अपने सिरोंको होमते समय रावणने देखा कि उसके कपालमें विधाताका यह विधान लिखा है कि रावण मनुष्यके द्वारा मारा जायगा । यह पढ़कर रावण हँसा और कहने लगा कि ‘ब्रह्मा अव बूढ़े हो गये हैं, इससे उनकी बुद्धि भी बूढ़ी हो गयी है । रावण और मनुष्यसे मरे ! अरे मूर्ख ब्रह्मा !’ वास्तवमें तो रावणकी ही मति भ्रष्ट थी; पर ऐसा न होता तो गोसाईजीके ये शब्द कैसे चरितार्थ होते—

‘मूर्ख हृदय न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम ।’

मूर्खको ब्रह्माके समान गुरु मिल जाय तो भी उसके हृदयमें चेत नहीं होता ।

रावण क्रोधसे जल उठा, उसकी भौहें तन गयीं और वह क्रूदकर सिंहासनसे नीचे खड़ा हो गया और दो बादलोंके टकरानेसे जैसा भयङ्कर शब्द होता है, वैसे ही कड़ककर विभीषणसे बोला—‘अरे दुर्बुद्धे ! निश्चय ही तेरी मृत्यु आ पहुँची है । मेरे ही अन्नपर पलनेवाले कीड़े ! तू मेरी ही बुद्धिको भ्रष्ट बतलाता है । जब देखो तभी बस, शत्रुकी ही बड़ाई करता है । मेरी ही छत्र-छायामें जीवनयापन करता है, फिर भी सदा उन तपस्वी छोकरीके गुण गाता है । कुलझार ! बता तो जगत्भरमें कौन ऐसा माईका लाल है जो मेरी भुजाओं-

से पिसा न हो ? बड़ा नीतिमान् बना फिरता है, डरपोक कहींका ! जा दूर हो मेरी आँखोंके सामनेसे और उन्हीं मेरे डरसे सहमे हुए छेकरोंके पास जाकर उन्हें नीति बतला ।' इस प्रकार गरजता हुआ रावण विभीषणके समीप पहुँच गया और विजली जैसे वृक्षपर गिरती है, विभीषणको लात मारकर उन्हें दरबारसे बाहर फेंक दिया । और एकदम यह घोषणा करनेकी आज्ञा दी कि 'मेरे राज्यमें जो कोई भी विभीषणको आश्रय देगा, वह मेरा शत्रु होगा ।'

मुँहके बल गिरे हुए विभीषण उसी प्रकार काँपते हुए उठे जैसे हवाके झोंकेसे पीपलका पत्ता; और उठते ही उनके कानोंमें रावणकी वह घोषणा पड़ी । वे सोचने लगे—अब क्या किया जाय ? मैं कहाँ जाऊँ ? कौन मुझे आश्रय देगा ? प्रवाहित जलमें जलके भँवरकी जो दशा होती है, वही दशा उनके मनकी थी । सोचते-सोचते उन्हें माताका ध्यान आ गया, वे तुरंत माके पास पहुँचे और चरणोंमें पड़कर रोने लगे । माताके आश्वासनपर उन्होंने सारी घटना सुना दी । बलवान्से सभी डरते हैं तथा दीनको सभी धमकाते हैं, विभीषणकी माता कहने लगी—'बेटा ! क्या हुआ जो रावणने तेरे लात मार दी । आखिर वह तेरा बड़ा भाई ही तो है । एक तो वह तेरा स्वामी, फिर पितातुल्य ज्येष्ठ भ्राता, फिर राक्षसपति । उसके तो अपमानमें भी तेरा सम्मान ही है । तू क्रोधका त्याग कर दे और जाकर रावणके चरणोंमें सिर रखकर उससे क्षमा माँग ले । वह तो हमारा अन्नदाता है । तेरी इसीमें भलाई है और फिर मैं जगत्भरमें ऐसा कोई देखती भी तो नहीं कि जो रावणकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके तुझे आश्रय दे सके । हाँ, हो सकता है, यदि भगवान् रामकी शरण प्राप्त करके तू अभय हो जाय ? परंतु राम रावणके शत्रु हैं, अतः शत्रुकी शरण जानेकी अपेक्षा तो भाईके पक्षमें रहकर उसके व्यवहारकी रक्षा करना ही उत्तम है ।'

भक्तराज विभीषणने माताके चरणोंमें सिर दबाया

और तुरंत वहाँसे उठकर वे चल दिये । चलते-चलते सोचने लगे कि 'अब क्या करूँ ?' माताके अन्तिम शब्द उनके कानमें अभीतक गूँज रहे थे । 'शत्रुकी शरणमें जानेकी अपेक्षा भाईकी शरणमें रहकर उसके व्यवहारकी रक्षा करना ही उत्तम है' तो क्या मैं फिर रावणकी शरणमें जाऊँ, उस दुष्टसे क्षमा माँगूँ—जिसने भरी सभामें लात मारते हुए मुझे अपने अनप पलनेवाला कीड़ा कहकर अपमानित किया । मेरे ही अपमानकी बात नहीं है, वह तो सदा-सर्वदा परात्मा ब्रह्म श्रीमद्राघवेन्द्र महाप्रभुका अपमान करता है । वह उनका नाम-जप करने या भजन करनेवालोंका शत्रु है । ढूँढ़-ढूँढ़कर उन्हें सताता तथा उपीड़ित करता रहता है । सदा अपने बल, अपने ऐश्वर्यके अहंकारसे फूला रहता है । ऐसे मूर्तिमान् अधर्मकी शरणमें कदापि नहीं जाना चाहिये, बल्कि ऐसे भाईको तो अपना भाई कहना भी पाप है ।

'जाके प्रिय न राम बैदेही ।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥'

'वरमसिधारा तरुतलवासे,

वरमिहमिक्षा वरमुपवासी ।

वरमपि घोरे नरके पतनं,

न च धनगर्वितबान्धवशरणम् ॥'

महापुरुषोंने ऐसा ही कहा है कि जिसके मनमें भगवान् श्रीसीतारामजीसे स्नेह न हो, वह यदि अपना परम स्नेही भी हो तो भी उसे कोटि वैरियोंके समान त्याग देना चाहिये ।

धनसे गर्वित बन्धुकी शरणमें जानेकी अपेक्षा जो तलवारकी धारपर चलना, भिक्षा माँगकर खाना, उपवास कर लेना, यहाँतक कि यदि नरकमें भी गिरना पड़े तो वह भी अच्छा है ।'

इन्हीं विचारोंमें निमग्न विभीषण, समुद्रके पार जहाँ भगवान् रामकी सेनाका पड़ाव था, उस ओर चले ।

भगवान् रामकी सेनाका पड़ाव था, उस ओर चले । हृदयमें पवित्रता आ गयी ।

मनमें रामचरण-दर्शनकी महती उत्कण्ठा जाग उठी, उनके मनमें बड़े ही श्रेष्ठ मनोरथोंकी लहरियाँ उछलने लगीं । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

चलेउ हरषि रघुनाथक पाहीं । करत मनोरथ बहु मन साहीं ॥
देखिहउँ जाइ चरन जलजाता । अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ॥
जे पद परसि तरी रिपिनारी । दंडक कानन पावन कारी ॥
जे पद जनकसुताँ उर लाए । कपट कुरंग संग धर धाए ॥
हर उर सर सरोज पद जेई । अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई ॥

जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ ।

ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥

विभीषणजी हर्षित होकर मनमें अनेकों मनोरथ करते हुए श्रीरघुनाथजीके पास चले । [वे सोचते जाते थे] मैं जाकर भगवान्‌के कोमल और लाल वर्णके सुन्दर चरणकमलोंके दर्शन करूँगा, जो सेवकोंको सुख देनेवाले हैं, जिन चरणोंका स्पर्श पाकर ऋषिपत्नी अहल्या तर गयीं और जो दण्डकवनको पवित्र करनेवाले हैं । जिन चरणोंको श्रीजानकीजीने हृदयमें धारण कर रक्खा है, जो कपटमृगके साथ पृथ्वीपर उसे पकड़नेको दौड़े थे और जो चरणकमल साक्षात् शिवजीके हृदयरूपी सरोवरमें विराजते हैं, मेरा अहोभाग्य है कि उन्हींको आज मैं देखूँगा । जिन चरणोंकी पादुकाओंमें भरतजीने अपना मन लगा रक्खा है, क्या आज मैं उन्हीं चरणोंको अभी जाकर इन नेत्रोंसे देखूँगा ?

इस प्रकार प्रेम-मनोरथ करते हुए वे वहाँ जा पहुँचे, परंतु साहस करनेपर भी वे पड़ावके भीतर नहीं जाते थे । उनके मनमें रह-रहकर विचार उठते थे कि मुझ-से पतितको भगवान्‌ क्या सचमुच अपना लेंगे ? निरन्तर तमोगुणमें रत रहनेवाला, सभी साधनोंसे हीन, मैं किस मुँहसे उनकी शरणमें जाऊँ । इन्हीं विचारोंमें मग्न विभीषणको कुछ वानरोंने देख लिया और झट वानरराज सुग्रीवसे कह दिया कि 'बाहर कोई बड़ा तेजस्वी राक्षस खड़ा है, जो भीतर आनेकी कुचेष्टा कर रहा है ।'

तेजस्वी राक्षसका शब्द सुनते ही वानरराज सुग्रीवने

कुछ बलवान् वानरोंको शीघ्र विभीषणको पकड़ लानेके लिये भेजा । इधर दीनवत्सल करुणावरुणालय भगवान् राघवेन्द्रने मारुतनन्दनसे कहा—'पवनपुत्र ! शीघ्र जाओ । लंकेशके भाई विभीषण भयभीत होकर मेरी शरण आये हैं, उन्हें सुग्रीवकी आज्ञासे वानरोंने बंदी बना लिया है तथा घेरकर वे उन्हें सुग्रीवके पास लिये जा रहे हैं । ऐसा न हो, कहीं विभीषणका अहित अथवा अपमान हो । तुम जाओ और ऐसी व्यवस्था करो जिसमें सम्मानपूर्वक उनको मेरे ही पास सीधा लाया जाय ।'

भक्त विभीषणने लक्ष्मणजीसहित सुन्दरताके उद्गम-स्थान महाप्रभु भगवान् श्रीरामचन्द्रको दस-पंद्रह हाथकी दूरीसे ही शिलापर आसीन देखा और वहाँ उनके नेत्र निर्निमेष हो गये । वे हाथोंकी अञ्जलि बाँधे वहाँ खड़े रह गये । उन्हें भगवान्‌के सौन्दर्यने स्तम्भित कर दिया । भगवान्‌के कमल-सरीखे नेत्र, हाथीकी सूँडके समान विशाल भुजाएँ, सिंहके समान ऊँचे कंधे तथा हाथोंकी अभय प्रदान करनेवाली मुद्राने विभीषणको रोमाञ्चित कर दिया । वे अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे गद्गद-वाणीमें रुद्धकण्ठसे बोल उठे—

'दीनबन्धु ! मैं आपके शत्रुका भाई, जन्म और कर्मसे निशाचर, उलूक पक्षीकी तरह स्वभावसे ही अन्धकाररूपी पापमें प्रवृत्त रहनेवाला विभीषण हूँ । अपने लिये जगत्‌भरके सभी आश्रय बंद पाकर आपकी शरणमें आया हूँ । रावणकी क्रोधरूपी आगने मुझे उसी प्रकार भस्म कर दिया, जैसे धानके खेत सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे भस्म हो जाते हैं । हे श्यामसुन्दर ! आपका यह मेघ-सा रंग देखकर मुझे उसी प्रकार शान्ति और प्रसन्नता मिल रही है, जैसी वर्षासे उन जली हुई खेतियोंको मिलती है । हे शरणमें आये हुएकी रक्षा करनेवाले ! मुझे बचाओ, मुझे अपनाओ ।'

भक्तराज विभीषण द्रवित तो पहले ही हो चुके थे, अपनी दशा तथा भगवान्‌की अभय प्रदान करनेवाली मुद्रा तथा उनकी कीर्तिके स्मरणसे उन्हें आवेश आ गया

तथा वे वहीं दूर भगवान्‌के चरणोंकी ओर दण्डवत् गिर पड़े। विभीषणको गिरना ही पड़ा ? कदापि नहीं, जिसके नामकी शरणमें आकर गिरे हुए उठ गये, क्या कहीं स्वयं उसकी शरणमें जाकर विभीषण सचमुच गिर सकते थे ? यह कैसे हो सकता है—

अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा ॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा

सर्वज्ञ, सर्वव्यापकने उसी समय उतनी ही दूरी अपनी भुजाओंको दैत्यराज बलिकी सभामें बढ़ाये हुए चरणोंकी तरह, कौरवोंकी सभामें नग्न द्रौपदीकी लाज-रक्षाके लिये बढ़े हुए चीरकी भोंति बढ़ा लिया और गिरते हुए विभीषण बीचमें ही उनकी भुजाओंमें थाम लिये गये और तुरंत हृदयसे लिपटा लिये गये। विभीषण निहाल हो गये। भगवान्‌की भक्तवत्सलता सार्थक हुई।

प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण

(लेखक—श्री म० त्रि० भट)

इस संसारमें मनुष्य कुछ-न-कुछ कर्म करता है। कर्म किये बिना वह रह ही नहीं सकता। मनसे, वाणीसे और शरीरसे—यों तीन प्रकारसे कर्म हो सकते हैं। इन कर्मोंमें कुछ अच्छे होते हैं, कुछ खराब भी होते हैं। शास्त्र और ईश्वरके आशानुसार चलनेवाले समझदार मनुष्यकी प्रवृत्ति अच्छे कर्मोंमें होती है और मनमानी करनेवाला, मनकी तरंगोंके अनुसार नाचनेवाला मनुष्य कभी-कभी बुरे कर्म भी कर बैठता है।

अच्छे या बुरे किसी भी कर्मका फल मिले बिना नहीं रहता। कुछ कर्मोंका फल तुरंत मिलता है और कुछ कर्मोंका फल इस जन्ममें न मिलकर अगले जन्ममें मिलता है; परंतु मन, वाणी या शरीरसे किये हुए किसी भी कर्मका फल मिले बिना नहीं रहता।

जो कर्म परिपक्व होकर फल देनेके लिये तैयार हो, उसे 'प्रारब्ध' कहते हैं। जो कर्म अभी फल देनेके लिये तैयार नहीं हैं, पर संचयरूपमें संग्रहालयमें पड़े हैं तथा जिनका फल भविष्यमें मिलना शेष है, वे 'संचित' कहलाते हैं और वर्तमान जीवनमें जो कर्म—पुरुषार्थ किया जाता है, उसे 'क्रियमाण' कहते हैं।

किसान जमीनमें बीज बोता है, उसे क्रियमाण-पुरुषार्थ कह सकते हैं। जो बीज अभी उगने बाकी हैं, वे संचित हैं और पहले बोये हुए बीजोंकी फसल जो वर्तमानमें प्राप्त है, उसे प्रारब्ध कहा जाता है।

एक प्रकारसे देखा जाय तो मनुष्यमात्र किसान है। मनुष्य जैसा बीज बोयेगा, जैसे कर्म करेगा, वैसे ही फल उसे प्राप्त होगा।

उसको भविष्यमें मिलेगा। यह निश्चित बात है। किसान तो खेतमें जाकर बीज बोता है, पर मनुष्य तो जहाँ हो, जिस स्थितिमें हो, वहाँ उसी स्थितिमें निरन्तर सर्वकालमें कर्मरूप बीज बोता ही रहता है। किसान बीज बोनेके एक औजारसे और एक प्रकारसे बीज बोता है, पर मनुष्य तो शरीरसे, मनसे, वाणीसे और वृत्तियोंसे—यों अनेकों प्रकारसे बीज बोता है—कर्म करता है और भविष्यमें उसका फल उसे प्राप्त होता है।

कहावत है, 'बोये जैसा फले और करे जैसा पावे।' खेतमें जुआँर बोयी हो तो जुआँर मिलेगी और गेहूँ बोये होंगे तो गेहूँ मिलेंगे। इसी प्रकार जिसने सत्कर्मरूप बीज बोये होंगे—उसे सुखकी फसल मिलेगी और जिसने मनमाने दुष्कर्मरूपी बीज बोये होंगे—उसे दुःखकी फसल लेनी पड़ेगी। सत्कर्मोंका फल सुख और दुष्कर्मोंका फल दुःख होता है। यह निश्चित है।

कोई किसान जुआँर बोकर गेहूँ फलनेकी आशा नहीं रखता। जो बोया होगा, वही फलेगा—इस बातको वह समझता है, पर अधिकांश मनुष्य दुःखके बीज बोकर सुखकी आशा करते हैं, यह हास्यास्पद है।

सुखकी इच्छा रखते हुए भी सत्कर्ममें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती और दुःखकी जरा भी इच्छा न होनेपर भी और दुःख अच्छा न लगनेपर भी वह ऐसे कर्म करता है, जिसके फलरूपमें उसे दुःखका ही अनुभव करना पड़ता है। अधिकांश मनुष्य दुःखके बीज बोकर—बुरे कर्म करके सुख-भोगकी इच्छा रखते हैं, यह देखकर विवेकी मनुष्योंको ऐसा मनुष्यपर दया आती है।

खेतमें गेहूँ बोये होंगे तो चाहे जैसे विघ्न आनेपर भी फलेंगे तो गेहूँ ही । उसमें जुआँर नहीं फलेगी । और जुआँर बोयी होगी तो करोड़ों उपाय करनेपर भी गेहूँ फलनेका प्रसंग कभी आ ही नहीं सकता । अपने जो बोया होगा, वही मिलेगा ।

पिछले जन्मोंमें किये हुए अच्छे या बुरे कर्मोंका फल भुगतानेके लिये जगत्में जीवोंका वर्तमान जन्म हुआ है । पशु-पक्षी आदिका जन्म तो केवल प्रारब्ध भोगनेके लिये ही होता है, पर मनुष्यका जन्म प्रारब्ध भोगने तथा कर्मोंके द्वारा नये प्रारब्धका निर्माण करनेके लिये होता है । इसमें भी किन कर्मोंका फल कब दिया जायगा, इसका अधिकार कर्म-देवताका है । मनुष्यका तो कर्म करनेमें ही अधिकार है । श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है—

‘कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।’

(२ । ४७)

तेरा अधिकार केवल कर्म करनेमें ही है, कर्मका फल तो यथासमय कर्मदेवताकी ओरसे ही मिलनेवाला है और यह अधिकार उसीको है ।

हम देखते हैं कि कुछ अनाज दो ही महीनेमें पक जाते हैं तो कुछ तीन-चार महीनोंमें पककर तैयार हो जाते हैं; परंतु आम, कटहल, जामुन आदि वृक्षोंके फल लगनेमें कई वर्ष लग जाते हैं । इसी प्रकार कुछ कर्म तुरंत फल देते हैं, कुछ थोड़े दिनों बाद फल देते हैं और कुछ कर्मोंका फल मिलनेमें बहुत समय लगता है; परंतु छोटा हो या बड़ा, अच्छा या बुरा—कोई भी कर्म फल दिये बिना नहीं रहता । कोई भी कर्म बाँझ नहीं होता ।

अग्निका स्पर्श करते ही तुरंत जल जाता है । पत्तोंका श्लाघ दो-तीन घंटेमें परचा दिखाता है । बहुत परिश्रम किया हो तो उसकी थकान दूसरे दिन मालूम होती है । किसी दुष्टको गाली दी हो तो उसका फल तुरंत ही तमाचेके रूपमें मिल जाता है, पर यदि किसी बड़े आदमीको गाली दी हो, उसका अपमान किया हो तो तुरंत ही कुछ नहीं होता, लेकिन मौका मिलनेपर वह बड़ा आदमी उसको ऐसी सँझसीसे जकड़ता है कि सहज ही पाँच-चार सौके गडढेमें उतार देता है ।

किसी कर्मका फल तुरंत न मिले तो इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इसका फल अब मिलेगा ही नहीं ।

किसी भी कर्मका फल समयपर मिले बिना नहीं रहेगा । यह बात उतनी ही निश्चित है, जितना किसवेर सूर्यका उदय होना ।

बीज एक ही बोया होता है, पर उसके फल असंख्य होते हैं । इसी प्रकार कर्मका फल भी अनेक रूपोंमें मिलता है । इससे यह सिद्ध होता है कि प्रारब्धका निर्माण करनेवाला पुरुष स्वयं ही है । भूतकालमें किये हुए कर्मके परिपक्व फलका नाम ही ‘प्रारब्ध’ है । प्रारब्धका पारसल अपने-आप ही कहींसे अचानक आकर नहीं टपक पड़ता । वह तो अपना ही बनाया हुआ है । मनुष्य आज जो सुख या दुःख भोगता है, वह उसीके पहले—विगत जन्मोंमें किये हुए कर्मोंका ही फल है । इस जन्ममें किये हुए कर्मोंके फल तो जब वे पक जायँगे, तब भविष्यमें—अगले जन्मोंमें मिलेंगे । आज किये हुए कर्म—क्रियमाण संचितमें जमा हो रहे हैं । उनका फल व्याजसमेत मिलेगा ही । वे व्यर्थ नहीं जायँगे । ईश्वरके दरबारमें सदा न्याय ही होता है । जैसी कीमत वैसा माल । जैसा कर्म वैसा फल । प्रातः-स्मरणीय संत श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥
कठिन करम गति जान विधाता । जो सुम असुम सकल फल दाता ॥

कर्मके नियमको नहीं जाननेवाले लोग कहते हैं कि ‘आज तो ‘कसाईके घर कुशल और धर्मिके घर धाड़ (हाका) ।’ की कहावत चरितार्थ हो रही है । काला बाजार करनेवाले, घूस लेनेवाले, अन्यायसे धंधा करनेवाले गाड़ी-मोटरोँपर चढ़ते और बाड़ी-बँगलोंमें सुख भोगते हैं और सदाचारी प्रामाणिक तथा धर्मात्मा पुरुष उन धनियोंके मुकाबलेमें दुःखका अनुभव कर रहे हैं ।’ परंतु विवेकी और जानकार पुरुष इस बातको समझते हैं कि आज सुखी दीखनेवाले जो मनुष्य कुकर्म कर रहे हैं, वे इसीलिये सुखी हैं, तथा जो धर्मात्मा सदाचारी पुरुष सत्कर्म करते हैं, सदाचार और न्यायके अनुसार वर्तते हैं—वे इसीलिये दुखी हैं, तब फिर बुरे कर्मका क्या फल होगा ? यह तो पिछले जन्मोंके अच्छे-बुरे कर्मोंका फल इस जन्ममें लोग भोग रहे हैं और इस जन्मके कर्मोंका फल उन्हें अगले जन्मोंमें मिलेगा । कर्मदेवताके बहीखातोंमें हमारे खातेमें क्या जमा-नाम है, इसको हम नहीं जानते । पर सच तो यह है कि आजका पकाया हमें आगामी कल खाना है; इसलिये हम तो रोज ही बासी-अष्टमी करते हैं ।

कोई आदमी कलकत्तेमें आमका बगीचा लगाकर

अहमदाबादमें आकर चाहे बबूलके पेड़ बोये, पर कलकत्तेमें पके हुए आमोंके पारसल तो उसको मिलेंगे ही। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इस मनुष्यने बबूल बोया है, इसीलिये इसके पास आमके पारसल आ रहे हैं। उसने पहले आम बोये थे, वही पककर उसे आज मिल रहे हैं; परंतु वह आज जो बबूल बो रहा है, इसके काँटे तो उसे भविष्यमें मिलेंगे ही। यही निश्चित सिद्धान्त है।

इस प्रकार विगत जन्मोंमें जीवात्माने यदि अच्छे कर्म किये हों और इस जन्ममें वह बुरे कर रहा है, तो भी उसे पिछले जन्मोंके शुभ-कर्मोंका फल—सुख तो इस जन्ममें मिलना स्वाभाविक ही है।

किसी किसानने इस वर्ष जुआँर बोयी हो, पर पिछली सालके फले हुए गेहूँ घरमें भरे हों और वह उन्हें खाता हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि इसने जुआँर बोयी है—इसीलिये यह गेहूँ खा रहा है; जुआँरका फल तो अभी भविष्यके गर्भमें है। खेतमें इस बार जुआँर बोयी हो, इससे घरमें पहलेके भरे हुए गेहूँ जुआँर नहीं बन जायँगे। वे गेहूँ तो गेहूँ ही रहेंगे; पर उन गेहूँके समाप्त हो जानेपर जब जुआँर पककर घर आवेगी, तब तो उसे जुआँरपर ही गुजर करना पड़ेगा। यह बात सबको याद रखनी चाहिये।

किसी एक धनी सेठके घर एक परमहंस भिक्षाके लिये आये। सेठकी पुत्रवधू नीचे खड़ी थी। उसने कहा—“महाराज! आपने इस बड़ी हवेली और वैभवको देखकर ‘भिक्षाम् देहि’ की पुकार लगायी होगी; परंतु हमलोग तो बासी-ठंडा खाते हैं और भूखे ही सोनेवाले हैं। अतः आप दूसरे घर पधारिये।” परमहंस तो चल दिये; परंतु उस पुत्र-वधूकी सास यह सब सुन रही थी, वह लाल-पीली हो गयी। उसने बहूको घरमें बुलाकर धमकाते हुए कहा—“अपने घरमें रोज भौँत-भौँतिके भोजन रसोइया बनाता है, दो-तीन दिनोंके अन्तरसे मिठाई बनती है। नित्य सुबह-शाम तू गरमागरम भोजन करती है, फिर उस साधुसे तैने कैसे कहा कि हम तो बासी खाते हैं। क्या रोज तू भूखी सोती है? ऐसी झूठी-झूठी बातें नीचे खड़ी होकर क्यों बकती और घरकी बदनामी करती है? कलकी आयी हुई तू घरकी इस प्रकार इज्जत खोती है। खींचकर जीम निकाल लूँगी—समझी? बहूने नम्रतासे कहा—“सासजी! मैं कभी झूठ बोलती ही नहीं? मैंने साधुसे सच ही कहा है। अपने यहाँ नित्य भौँत-भौँतिके भोजन बनते हैं और हम सब भोगियाँ घर

बैठकर जीमते हैं, यह सत्य है। पर यह है तो बासी-ठंडा ही; क्योंकि यह पिछले जन्ममें किये हुए सत्कर्मका फल है। इसमें इस जन्मका कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है। पिछले जन्मका बासी-ठंडा इस जन्ममें खा रहे हैं और वैभव भोग रहे हैं; परंतु आनेवाले कल—भावी-जन्मके लिये हमलोग कुछ नहीं करते। इस सामग्री या धनमेंसे नया कुछ भी नहीं बोते, परोपकार या धर्मके काममें जरा भी हाथ लंबा नहीं करते, अतएव भावी जन्ममें तो हमलोग भूखे ही सोते हैं। यह निश्चित है। अब आप ही बताइये, मैंने साधुसे क्या झूठ कहा है?” सासकी आँखके पदें खुल गये और दूसरे ही दिनसे वहाँ ‘सदाव्रत’ चालू हो गया।

इससे सिद्ध होता है कि हमलोग पिछले जन्मोंके किये हुए कर्मोंका फल भोग रहे हैं। किसान तो अपनी फसलकी अदला-बदली भी कर सकता है; परंतु किये हुए कर्मोंके फलकी अदला-बदली नहीं की जा सकती। यह तो जो कर्म करता है, उसीको उसका फल भोगना पड़ता है। सत्कर्मवाले मनुष्यका सारा कुटुम्ब सुखका अनुभव करता है और दुष्कर्मवालेका सारा कुटुम्ब दुःखानुभव करता है। ऋणानुबन्धसे सुख-दुःख भुगतानेके लिये ही जीवोंका कौटुम्बिक संयोग होता है। किसी मनुष्यके पास इत्र हो तो उसकी सुगन्धका लाभ आस-पासवालोंको मिलता है और शराबी मनुष्य आस-पास दुर्गन्ध फैलाता है। घरमें सुगन्धित अगरवत्ती जलायी हो तो आस-पासके घरोंतक उसकी सुगन्ध फैल जाती है और बहुतोंको वह मिलती है। किसीने अपने बँगलेके कम्पाउंडमें फूलोंका बगीचा लगाया हो तो उसकी खुशबू तथा स्वच्छ हवाका लाभ आस-पासके लोगोंको भी मिलता है और किसीने आँगनमें गंदगी फैला रखी हो तो वह आस-पासके लोगोंको रोगका शिकार बनाती है।

ईश्वरकी इच्छा तो सब प्राणियोंको सुखी करनेकी और सुखी देखनेकी ही होती है; परंतु जीव अपने कर्मोंके द्रष्टा ही सुखी-दुखी होता है। इसमें ईश्वरका कोई दोष नहीं है। कहीं कुछ बुरी बात हो जाती है तो मनुष्य उसे ‘ईश्वरकी इच्छा’ कह देता है। पर यह उसकी भूल है—वह बात ईश्वरकी इच्छासे नहीं हुई है; अपने कर्मको लेकर ही हुई है। ईश्वर किसीको दुखी करता ही नहीं।

रेलमें लंबी सफर करनेवाले लोग दुपहरको भोजनके समय अपने पासका घरसे लाया हुआ जो खानेका सामान होता है, उसीको खाते हैं। सबकी चीजें अलग-अलग होती

हैं, पर कोई परस्पर ऐसा द्वेष नहीं करता कि यह तो लड़्डू, पूड़ी तथा भुजिया उड़ा रहा है और मुझे यह सत्तू और बेसड़ाका मोठा रोट मिला है? सब अपनी-अपनी चीजें खाकर संतोषका अनुभव करते हैं। इसी प्रकार इस संसाररूपी रेलगाड़ीमें सभी मुसाफिर हैं, जिसकी टिकट जहाँ पूरी हुई वहीं उसको उतर जाना है और नये लोगोंको चढ़ना है। ये सभी अपना-अपना प्रारब्धरूपी पाथेय साथ बाँधकर लाये हैं और उसीका उपभोग करते हैं।

पुण्यकर्म क्या है और पाप-कर्म कौन-से हैं—इसकी व्याख्या महर्षि व्यास भगवान् ने संक्षेपमें बता दी है—‘प्रोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।’ (दूसरेका उपकार करना पुण्य और दूसरेको पीड़ा पहुँचाना पाप।) जिस कार्यसे प्रभु प्रसन्न हों, वह पुण्यकार्य है, और जिस कार्यसे प्रभु नाराज हों, वही पापकर्म कहलाता है।

अपनी अपेक्षा सुखी मनुष्यको देखकर उससे ईर्ष्या न करके वह पुण्यशाली जीव अपने उत्तम कर्मका फल भोग रहा है—यों समझकर उसके प्रति मैत्रीभावना रखना और अपनेसे दुखी जीवको देखकर उसका तिरस्कार न करके यह बेचारा अपने दुष्कर्मोंका फल भोग रहा है—ऐसा मानकर उसके प्रति दया—करुणाकी भावना रखनी चाहिये। प्रत्येक जीव अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोग रहा है। इसमें किसी दूसरेका हस्तक्षेप नहीं है। एक जगह कहा है—

‘सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुतुब्धिरेषा ।’

सुख या दुःखका देनेवाला दूसरा कोई नहीं है। यह अपना ही निर्माण किया हुआ है। दूसरेके द्वारा दिया हुआ नहीं है। तथापि यह दूसरेने किया है, ऐसा कहना कुतुब्धि है।

जैसे खेतमें पड़े हुए दाने अथवा घासके बीज पूरे वर्षभर जमीनमें गड़े रहनेपर भी सड़ नहीं जाते या नष्ट नहीं होते; परन्तु दूसरे वर्ष बरसात होते ही उग निकलते हैं, वैसे ही किया हुआ अच्छा या बुरा, छोटा या बड़ा कोई भी कर्म किसी समय फल दिये बिना नहीं रहता। परन्तु जो बीज जल जाता है, वह नहीं उगता। वैसे ही अपने संचित कर्मोंको जिसने ज्ञानाग्निके द्वारा जलाकर भस्मसात् कर डाला है, वे कर्म फल देनेमें समर्थ नहीं होते। अतएव ज्ञान-सम्पादन करके संचित कर्मोंके बीज नाश करने और कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर निष्कामभावसे भुने बीजकी भाँति अच्छे क्रियमाण कर्मोंको फलोत्पादनमें असमर्थ बना देनेके लिये सावधानीके साथ सतत प्रयत्न करना चाहिये। प्रारब्ध तो किसीको नहीं छोड़ता। उसे द्रष्टाके रूपमें रहकर क्रोध तथा डाह न करके शान्तिके साथ भोगना चाहिये। इसीमें मानव-जन्मकी सफलता है। और ‘जगे तभीसे सबेरा’ ऐसा मानकर और कुछ भी न हो तो कम-से-कम अच्छा प्रारब्ध निर्माण करनेके लिये तो कटिबद्ध होकर प्रबल पुरुषार्थ करना ही चाहिये।

परमेश्वरकी प्राप्ति

(रचयिता—श्रीअम्बादत्त शर्मा ‘अम्ब’)

जन्म मिला ‘अम्ब’ परमात्म-तत्त्व जाननेको,

साधन सुगम सच्चे ‘वेद’ बतलाते हैं।

किंतु हम मुख्य ध्येय ध्यानमें न लाते कभी,

झूठे झगड़ोंमें सारा जीवन गँवाते हैं ॥

देखो, धीरे पुरुष समझते सभीमें उसे,

भिन्नताके भेदे भाव पास भी न आते हैं।

त्यागकर देह वे तो परम प्रसन्नतासे

अमृतस्वरूप परमेश्वरको पाते हैं ॥

भगवती सीताजीके लक्षण

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

श्रीएकनाथ महाराजने श्रीभावार्थ-रामायण लिखी है। सीताकी खोजके लिये सुग्रीवजी वानरोंको अनेक दिशाओंमें भेज रहे हैं। अङ्गद, हनुमान्, जाम्बवान् आदि प्रमुख नायकोंको दक्षिण दिशामें जानेका आदेश दिया गया। सब वानर अभिमानमें आकर यत्र-तत्र चले, परंतु हनुमान्जीको एक कल्पना खड़ी हुई कि स्वरूप निश्चय हुए बिना वस्तुप्राप्ति नहीं होती। वस्तु समक्ष आ जानेपर भी स्वरूप न जाननेके कारण उसकी उपलब्धि नहीं होती। इसलिये सद्गुरु-मुखसे सद्भाव रखकर वस्तुके स्वरूपका निश्चय सुन लेना अत्यावश्यक है, नहीं तो व्यर्थ भटकना पड़ता है। जैसे सामान्यतः सब नर-नारी सुषुप्तिदशामें निज-स्वरूपमें लीन होते हैं, पर वहाँ उसको प्राप्तकर स्थिर नहीं रहते; क्योंकि सद्गुरु-मुखसे निज-रूपके लक्षणोंका ज्ञान उन्होंने प्राप्त नहीं किया है। अतएव निज-रूपकी भेंट होनेपर भी वे पुनः दैन्य-स्थितिमें आते रहते हैं। अस्तु।

स्वयं श्रीराम अपने श्रीमुखसे हनुमान्जीको लक्षणोंका वर्णन करके सावधान करते हैं—

‘भैया हनुमान् ! तू मुझे एकान्तमें पृच्छनेको आया। तुझमें और मुझमें भिन्नता नहीं, अतः तुझे यथार्थ सीता-स्वरूप कहूँगा। मेरा सत्स्वरूप चैतन्यधन है और सीता ही मेरी सम्पूर्ण चिच्छक्ति है। सीता और मैं अभिन्न हूँ। हममें अणुमात्र भी भिन्नता नहीं है।

श्रीरामकी मधुरताका साकार स्वरूप सीता है। मानो श्रीराम रस है तो सीता नीर है। श्रीराम घृत है तो सीता क्षीर है। चित्-चिन्मात्र अर्थात् व्यक्त-अव्यक्तरूप ही श्रीराम और सीता है।

अग्नि अन्य द्रव्यमें संचरित होनेसे उस वस्तुके आकारकी दिखलायी देती है। इस तरह सीता भी चिन्मात्र होते हुए विश्वरूपमें अर्थात् व्यक्तस्थितिमें साकार दिखायी देती है।

चीनीका नारियल सर्वाङ्ग चीनी ही है। उसकी रोटीको पृथक् माननेवाला तुच्छबुद्धि है। इस तरह सीता सच्चिद्घन है। उसमें पाञ्चभौतिक मानव-शरीरकी कहीं जड़ता नहीं है। नारियल सर्वाङ्ग चीनी है। वैसे ही सीता सर्वाङ्गीण साकार सच्चिदानन्दकला है। उसका इन्द्रिय-व्यापार स्वभावतः चिन्मात्र है। व्यक्तातीत अनिर्वचनीय है।

अर्धनारी-नटेश्वर एक शरीरमें दो रूप भासते हैं, वैसे ही सीताजी और श्रीरामचन्द्रजी अभिन्नाकारमें ही भिन्न भासते हैं। पुरुषभाग स्वयं तिरोहित होकर निज-इच्छासे प्रकृतिको नाच नचाता है और जब प्रकृतिभाग लुप्त होता है, तब पुरुषपद प्रकट होता है।

भ्रान्तिका परदा पड़नेसे पुरुष एवं प्रकृतिका मिथ्या भाग होता है। इसी प्रकार परदेके परे या परदेके व्यापारका अभाव होनेपर सीताजी या श्रीरघुनन्दन चैतन्यधन-स्वरूप हैं। भ्रान्ति परदेका व्यापार होनेपर यह निज निर्णय है, सामान्यजन जिसकी खोज नहीं करते। पर तू उसी निर्णय-को ध्यानसे सुन।

जब नटेश्वर दोनों भागोंका व्यापार चलाते हैं, तब सीताजी और श्रीरामचन्द्र देवकार्यार्थ अवतार (नररूपमें प्रकट होना) धारण करते हैं। देवोंको निजपदोंपर स्थापित करते, भक्तोंमें सुखका संचार करते और खलीला कर आदर्श चरित्र समाजमें रखते हैं।

अवतारकी खलीलाका सगुण स्वरूप सीता है। उसके स्वरूपकी सुन्दरता, हे कुशल हनुमान् ! ध्यान लाकर सुन—

सीता नित्य है, उसमें गमनागमन नहीं। यही पहचाननेका मुख्य लक्षण है। सीताका चलना (भौतिक)चरणहीन है। चरणोंके बिना ही उसकी गति है। (यथा केन्द्रोद्भासी शक्ति केन्द्रसे सम्बन्ध रख परिधितक नित्य प्रवाहित होकर काम करती है) द्रव्यहीन द्रव्यपद ही सीताका निजपद है। जहाँ जीवत्व या शिवत्वका उच्छेद हो जाता है, वहीं स्थिरपद सीताजीका है। सुवर्णका नाग तीनों भागोंमें फण, मध्य शरीर और पूँछमें सुवर्ण ही है, वैसे ही सीताजीका गुल्फ, जानु, चरण आदि भाग केवल सुन्दर चिन्मात्र है। सीताजीके गुह्य अङ्गोंका यही भाव है कि उनका अत्यन्त गुह्य (रहस्यमय तत्त्व) श्रीरामचन्द्र ही हैं। वहीं रति-सुखका सार (तत्त्व) है। और श्रीराम स्वयं असार-सार हैं। असारको सार करनेवाले श्रीराम ही हैं। श्रीसीताजीका निज उदर मलहीन सर्वथा शुद्ध है, जठरमें चैतन्याग्नि ही वैश्वानर होकर रहती है। जो जीव और शिवका पीढ़र (प्रिय स्थान, माता-पिताका घर) है।

सीताजीके हृदय-मन्दिरमें श्रीरघुनन्दन नित्य निवास करते हैं। हे हनुमान् ! यही मुख्य लक्षण है। श्रीराममें एवं श्रीरामके ध्यानमें वह सुख सम्पन्न रहता है। श्रीसीताजी जीव और शिवस्वरूप अपने स्तनोंका अमृत पिलाकर जगत्को जीवित रखती हैं। (प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्गसे पोषणकर संसारके जीवोंका पालन करती हैं।) जीव और शिवरूपी स्तनोंको ढकनेवाली चोलीके अविद्या और विद्या दोनों पल्ले हैं, जो त्रिगुणी नाड़ेसे कसकर बंधे हुए हैं। भला रामके बिना इस गाँठको कौन खोले ! श्रीराम ही सीताजीके कण्ठमें मङ्गलसूत्रमणि हैं। यह सती स्त्रीका सर्वोत्कृष्ट भूषण है। कण्ठपर चिबुक, जहाँ तिल ही राम-श्यामताका प्रतीक है, जिसको देखकर रावण श्याम-कलङ्ककी शङ्का करता है। स्त्रियोंके अधरपर नासिकामें सोनेकी नथ रहती है, जिसमें मोतियों (मुक्तों) का आनन्द रहता है। परमात्मा रामका भजन न करनेसे मुक्त (मुक्ति प्राप्त किये हुए पुरुष भी) स्थितिसे गिरकर नाशको प्राप्त होते हैं। श्रीरामाश्रित ही मुक्तकी मुक्ति किंवा अमुक्ति है। सामान्य जनोंके मुखमें नाक श्लेष्मसे पीड़ित रहता है; पर जानकीजीके मुखमें नाकपर श्रीरामका तेज चढ़ा हुआ है। जानकीजीके नयनोंमें सुनीतिसे देखनेका स्वभाव है, जिससे वे परिपूर्ण श्रीरामको ही देखती हैं। जानकीजीके भौतिक नेत्र क्षराक्षरके भेदको छोड़कर भूतमात्रमें अक्षर, चिदचिन्मात्रस्वरूप श्रीराम ही देखते हैं। श्रीसीताजीके निज श्रवण नित्य सावधान रहते और 'श्रीरघुनन्दन' अक्षरोंको सुनकर समाधान पाते हैं। श्रीसीताजीके कपालको धन्य है, जो श्रीरामको नमन करनेसे सफल है और प्रेमकुङ्कुमसे उज्ज्वल है और श्रीरामके (चिन्तनमें) सुखसे उल्लसित है। सीताजी समस्त हस्त-क्रियाके होते हुए श्रीरामजीको देखती हैं; क्योंकि श्रीराम ही हाथोंके हाथ हैं और श्रीराममें हाथ कर्मनिर्मुक्त रहता है।

श्रीसीताजीके निज सिरपर सर्वश्रेष्ठशिरोमणि श्रीराम ही हैं, जिसपर चिद्रत्नका अलंकार शोभा दे रहा है। स्त्रियाँ चूड़ामणिके ऊपर सिरपर एक विशेष अलंकार (सुवर्णघटित) धारण करती हैं। परम पीयूषको शुद्ध कर श्रीमुखमें धरा हुआ है। यह सुखोंका परम सुख है। इस प्रकार रामप्रिया सीताजीका अलौकिक सुख-सुवास है। जानकीजीका मन ही सुमन है, जो रामध्यानसे (सुवाससे) परिपूर्ण है। श्रीराम-ध्यानमें सावधान होकर मन स्वयं मनमें ही लय होकर निर्मल

हो गया है। मन संकल्प-विकल्पको छोड़कर राममय हो गया है। सीताजीके चित्तमें रामचिन्तन सतत चल रहा है, जिससे वह चिन्ताहीन हो गया है, श्रीराममें समाधिस्थ हो जानेसे चित्त निजरूपमें लीन होकर चैतन्यधन हो गया है। श्रीरामका अहर्निश स्मरण करते रहनेसे सीताजीको देह-भान नहीं रह गया है। वे यथार्थ वैदेही हैं। वे 'अहम्' पूर्ण परब्रह्म-स्थिति-सम्पन्न हैं। जिस तरह लवणका पुतला समुद्रमें बुलकर 'समुद्ररूप'में लीन हो जाता है, वैसे ही श्रीसीताजी श्रीराममय हो गयी हैं। सीताजीको देहमें निज बुद्धिजनित अभिमान नहीं है, न वहाँ प्रपञ्च है और न परलोक-कामनाकी व्याधि है तथा न जन्म-मरणकी पीड़ा है। वहाँ तो श्रीराममें नित्य समाधि है। सीताजी 'आत्मबुद्धि'में सदा जाग्रत् हैं। जानकीजीको अपने देहमें अणुमात्र ममता नहीं है। देह होते हुए 'विदेही'का वर्ताव रखती हैं। यही लक्षण नित्य दृष्टिगोचर होता रहता है। सीताजीके ये वही लक्षण हैं। अब सावधान होकर आन्तरिक गुण भी सुनो। सीताजी साकार सगुण हैं, किंतु गुण निर्गुणमें नित्य अगुण ही है। उनपर गुणोंका कुछ प्रभाव नहीं होता। यों तो जानकीजीका 'स्थान' सबको साधारण दीखता है, किंतु व्यापकरूपमें उनके मानसे गगन भी छोटा है। वे सामान्यरूपमें गगनसे अधिक विशाल हैं। सीताजीकी निज महिमा वेद-शास्त्रोंको भी अगम्य है। उनके शरीर-संगठनका वर्णन करते हुए वेद-शास्त्रोंकी चारों वाणी शिथिल पड़ जाती है। सीताजीकी रूपरेखा, गुण, लक्षण, शरीर-संगठन आदिका वर्णन हुआ, अब उनकी स्थितिकी महिमाको सावधान होकर सुन लो। जहाँ कहीं सीताजी रहती हैं (व्यक्त साकाररूपमें प्रकट होती हैं) वहाँ वृक्ष, पशु, पक्षी और पत्थर भी 'राम-राम' स्मरण करते रहते हैं। जानकीजी जिस जलाशय (पानी) को स्पर्श करती हैं, उसमें प्रत्येक अणु नित्य श्रीरघुनन्दनका स्मरण करता है। वे मानो 'जानकी-जीवन'में निमग्न हो जाते, जिससे श्रीराममें समाधान पाते हैं। जानकीजी जिस जीव (प्राणी) को अपना स्पर्श करती हैं, वह भी राम-चिन्तनमें निमग्न हो जाता है और उसका 'आत्माराम' समाधान पाता है। सीताजीकी निज (आसन) भूमि भी नित्य श्रीरामचन्द्रका स्मरण करती है। सीताजीके अङ्गका स्पर्श पाकर वायु भी श्रीराघवेन्द्रका स्मरण करती है। सीतास्वरूपका वर्णन सुनकर हनुमान्को आनन्द-मूर्छा आ गयी। रामजी आलिङ्गन करते हुए 'रामत्व' भूल गये। इस तरह

‘सीताजी’ का नखशिख वर्णन भावार्थ-रामायणके आधारपर किया गया है। इसके साथ मानसकार महात्माजीका वर्णन भी मिलानेसे विशेष रस आ जाता है।

बालकाण्डमें—

सुंदरता कहूँ सुंदर करई। छत्रिगृहें दीपसिखा जनु बरई ॥
जौ छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई ॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू ॥

पहि विधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।

तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल ॥

अयोध्याकाण्डमें—

हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देखि लोगू ॥
मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली। जिअ कि लवन पयोधि मराली ॥
नव रसाल बन विहरन सीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला ॥
रहहु भवन अस हृदय विचारी। चंदवदनि दुखु कानन भारी ॥
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहैं भोगू ॥

अरण्यकाण्डमें—

हा गुन खानि जानकी सीता। रूप सील व्रत नेम पुनीता ॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगजैनी ॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना ॥
कुंदकली दाडिम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी ॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंता ॥
श्रीफल कनक कदलि हरग्राही। नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥

यहाँ भी सीताजी चिन्मय शक्तिस्वरूपा हैं। शिखा दीपसे संलग्न रहती है; दीपान्तर्गत उपकरणकी सहायतासे प्रकट होती है और सर्व पदार्थोंको प्रकाशित करती है। शक्तिमान्से शक्ति संलग्न रहकर सुन्दर प्रकृतिको (व्यक्त रूपको) सुन्दर कर रही है। सीताजीकी समता हूँदनेमें कवि व्यस्त है और भौतिक वस्तुओंको तुलनामें सर्वथा अयोग्य मानता है। अब सूक्ष्म चिन्मय उपकरणोंसे एक प्रतीक (लक्ष्मी) (शाखा-चन्द्रन्यायसे लक्ष्य करानेवाली) को निकालता है; पर क्रान्त-

दर्शनद्वारा उसको ‘समतूल’ कहनेमें भी संकोच होता है; क्योंकि सीताजीका विग्रह अचिन्त्य अतीन्द्रिय है। वह केवल ‘ज्ञानगम्य’ है। सीताजी ‘हंस’ पर बैठकर हंस परमतत्त्व एवं ‘अहं सः’ निज स्वरूपकी ओर जाने तथा ले जानेवाली ऋतम्भरारूपा आदिशक्ति हैं। वह ‘लीन मन’के अमृतसे पोषित होती है। ऐसी ‘सीता’ अन्य स्थानोंमें दर्शनके योग्य नहीं है। वह राममय निज स्वरूपके रसमें सदा मग्न रहती है। वह विषयोंमें शोभित नहीं होती। वहाँ उसका निज स्वरूप तिरोहित हो जाता है। सीताजी स्वयं प्रकाशित करती हैं। हे नाथ ! (मुझको सदा अपने साथ बाँध रखनेवाले) मैं अत्यन्त सूक्ष्मसे स्थूलकी ओर जानेवाली हूँ (सुकुमारी हूँ) और तुम वाञ्छनीय केन्द्र (वन-हृद्देश) के योग्य हो। तुमको तप (सृष्टिहेतु ज्ञानमय तप) योग्य है और मुझे (तुम्हारी चिन्मय शक्तिरूपाको) व्यक्त होकर जीवोंको कर्मभोगमें सहायता करना ही योग्य है।

इस तरह सीताजी रूप, शील, व्रत, नेम आदि गुणोंकी खानि हैं। सो, हे खग (ब्रह्मरसमें गमन करनेवाले सिद्ध), मृग (तत्त्वान्वेषणमें लगे हुए साधक), मधुकर (अनेक मुद्रा-आसन आदिका रस एकत्रित करनेवाले योगी) जन! क्या तुमने मृगनयनी (तत्त्वान्वेषणके मार्गमें ठीक नीतिपूर्वक ले जानेवाली चिन्मयी शक्ति) को देखा किंवा पहचाना है? यदि नहीं पहचाना है तो उसके ज्ञानके अभावमें निर्लज्ज होकर पार्थिव भौतिक पिण्डोंकी प्रशंसा करते रहो। ‘खंजन’ ‘माहीं’ तक भौतिक पिण्डोंकी नामावली है, जिनका लक्ष्य अवयवोंकी सुन्दरताको प्रकट करना है। सीताजी चिन्मय होनेके कारण उनके स्पर्शसे साकार विग्रहमें ये सभी अवयव भी सुन्दरताके सुवासके सुरसके अधिकारी हैं, सामान्य स्त्रियोंके अवयव भौतिक विकारोंसे मलीन रहते हैं किंतु सीताजीके अवयवोंमें, व्यवहारोंमें लोकातीत अपूर्व दिव्य चिन्मय आनन्द-रसका प्रवाह होता रहता है।

नटवर

मोरपिच्छ सिर, कर्णिकार श्रुति, स्वर्णवर्ण तन पीताम्बर।
पुष्पमाल गल, वैजयन्ति कल, नटवर वपु अतिशय सुन्दर ॥
मुरलि-छिद्र शुचि अधर-सुधा-रस भरत, करत लीला मनहर।
प्रविशत वृन्दाविपिन ग्वाल सब गावत ललित कीर्ति सुखर ॥

हिंदुओंके पर्व

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्कसे आगे]

काल-पर्व

जिस दिन सृष्टि हुई थी वह तिथि पर्व है। इसी प्रकार युगकी प्रारम्भिक तिथि पर्व है। वर्षकी प्रथम तिथि तो सभी देशों और जातियोंमें पर्व मानी जाती है। हिंदू-समाज अचानक पर्व नहीं मानता। सृष्टिकी प्रथम तिथि तो सृष्टि एवं प्रलयकी भाँति अयनसम्पत्तासे सम्बन्ध रखती ही है, युगतिथि भी संक्रमण सन्धिकी तिथि है। हमारा प्राचीन संवत् वसन्तसम्पत्तासे प्रारम्भ होता था। सौरवर्ष संक्रान्तिसे और नाक्षत्रवर्ष भी नक्षत्रसंक्रान्तिसे ही प्रारम्भ होता है। चन्द्रवर्षका प्रारम्भ भी चन्द्रमाकी राशिसंक्रान्तिसे मानते हैं। वह चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे प्रारम्भ होता है। यही विक्रमीय संवत्सरकी आरम्भ तिथि है। किसी व्यक्तिके जन्म या विजयादिसे संवत् चलना भारतीय परम्परामें होता तो राम-नवमी और जन्माष्टमी तथा विजयादशमीसे महत्त्वपूर्ण जन्म एवं विजय-दिवस भारतमें दूसरे नहीं माने जाते, किंतु इनसे संवत्का प्रारम्भ नहीं होता।

विक्रम संवत्का यह नाम क्यों पड़ा, यह ऐतिहासिकोंके सम्मुख एक विवादका प्रश्न है; क्योंकि चन्द्रगुप्त प्रथमकी ही उपाधि विक्रमादित्य है। उनसे पूर्व विक्रम नामक सम्राट्की शोध इतिहास नहीं देता। उससे पूर्व तो मालवामें गणराज्य था; उस समय जब कि यह संवत् प्रचलित हुआ। 'मालव गणराज्यकी शकोंकी विजयरूप विक्रम प्रकाशके कारण संवत् प्रचलित हुआ और इससे यह विक्रम संवत् पूरी जातिके विक्रमका द्योतक है। पीछे चन्द्रगुप्त प्रथमने जब विक्रमादित्यकी उपाधि धारण की; तब संवत्का नाम उनसे सम्बन्धित हो गया।' यह आजकलके ऐतिहासिक अन्वेषकोंकी मान्यता है। इस मान्यतामें दोष यह है कि भारतमें इससे पूर्व कोई संवत् जाति या व्यक्तिके आधारपर चला हो, ऐसा उदाहरण नहीं है! शालिवाहनने विदेशियोंका अनुकरण करके अपना संवत् चलाया; पर उसे भारतमें आदर नहीं मिला। शक संवत्की भाँति विक्रम संवत् भी नाम या पराक्रमपर चला, इसकी अपेक्षा यह अधिक संगत एवं भारतीय परम्पराके अनुकूल है कि चैत्र शुक्ल

प्रतिपदाको जो अनेक ग्रहयोग मिलते हैं, उनके अनुसार मालव गणराज्यके ज्योतिर्विदोंने इसे विक्रम-योग माना हो और उस योगमें युद्धयात्रा करके विजय पानेसे उन्होंने इसे स्थायी संवत्का रूप दे दिया हो। जो भी हो, विक्रम-संवत्का प्रारम्भ भी अनेक ग्रहयोग एवं सन्धिकालसे ही होता है।

जो लोग आक्षेप करते हैं कि भारतने यूनानियोंसे ज्यौतिष सीखा, उनको सोचना चाहिये कि जिस जातिकी कालगणना सन्धिकालसे प्रारम्भ होती है, जिसके सब यज्ञ, महोत्सव, पर्व सन्धिकालमें होते हैं, यदि वह ग्रह-नाक्षत्रोंकी सूक्ष्म गतिका ज्ञान नहीं रखती थी तो सन्धिकालका निर्णय कैसे होता था। बिना ठीक-ठीक सन्धिकालका ज्ञान हुए क्या उनमें पर्व एवं यज्ञादिका विधान किसी समाजमें बनना सम्भव है? कालसम्बन्धी पर्व भी संक्रमण कालके दिव्य पर्वोंकी भाँति हैं; अतः उनके प्रभावादिके सम्बन्धमें पृथक् कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

जयन्तियाँ और उत्कर्ष-दिवस

अभी कह आये हैं कि विक्रम संवत् किसी सम्राट् या गणराज्यका विक्रम प्रतीक हो; यह इसलिये अशक्य प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृतिमें व्यक्तियोंके नश्वर रूपकी तथा देश या जातिके भौतिक उत्कर्षकी कोई महत्ता नहीं है। जयन्तियाँ मनायी जाती हैं भगवान्के अवतारोंकी या उन महापुरुषोंकी जिनका स्मरण हममें भगवान्की स्मृति जाग्रत् करता है। भगवत्सन्निध्य-प्राप्त महापुरुषोंको तथा भगवान्के अवतारोंको छोड़कर दूसरे किसीकी जयन्ती मनाना शरीरको मुख्यता देना है; यश या भोगवृत्तिको प्रोत्साहित करना है।

भारतने रघु, दिलीप और भगवती गङ्गाको लानेवाले महाराज भगीरथकी जयन्ती नहीं मनायी। हम सत्ययुगसे चली आती नृसिंह—वामन जयन्तियाँ मना रहे हैं, अतः दीर्घकालके कारण विस्मरणका तो प्रश्न ही नहीं है। वाल्मीकि, कालिदास, वररुचि, वाराहमिहिरके ज्ञान हमारे पास सुरक्षित हैं। उनके यश एवं ज्ञान रूपका हमने आदर

किया है; परंतु उनके नश्वर रूपका हमारी संस्कृतिमें महत्त्व नहीं। उनके स्मारक और जयन्तियाँ हम नहीं मनाते।

इसी प्रकार हम महान् सम्राटोंके अश्वमेध दिवस भूल गये। विजयादशमी तो भगवती महिषमर्दिनी एवं भगवान् श्रीरामका पावन स्मरण है। उत्कर्ष तो भगवान्का स्मरण करने योग्य है। ऐसा उत्कर्ष, ऐसी जयन्ती जो हमें अन्तर्मुख करे। मनुष्य या जातिका उत्कर्ष, स्मरण मनुष्य या जातिको उसी भौतिक उत्कर्षकी प्रेरणा देगा, भोग एवं यश-वृत्ति बढ़ावेगा, बहिर्मुख करेगा।

असुरोंने भोग एवं शरीरको महत्ता दी। यश-इच्छा भी शरीरको लेकर ही है और देहात्मवादके असुरप्रवर्तक विरोचनने यशके लिये शरीरका त्याग कर दिया। बेबोलीनियाके पुराने राजाओंका जो विवरण प्राप्त हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि वे अपने नामके साथ असुर उपाधि लगाते थे। पाश्चात्य सभ्यता इसी बेबोलीनियाकी प्राचीन संस्कृतिका विकास है, यह पाश्चात्य पुरातत्त्व एवं इतिहासके विद्वान् स्वीकार करते हैं, अतः पाश्चात्य सभ्यतामें यश एवं भोगके उत्कर्ष ही प्रधान हों और उनके स्मरण रक्खे जायँ, यह स्वाभाविक है। महान् विजेताओं, विजयों या विद्वानोंके स्मरण, स्मारक वहाँकी वृत्तिके अनुरूप हैं।

जातीय पर्व, जातीय उत्कर्ष, दिवस, कालिदास, वररुचि या प्रताप और गाँधी-जयन्ती, स्वतन्त्रता-दिवस अथवा ऐसा ही कोई और दिवस, देशभक्तोंकी तिथियाँ, स्मारक—ये सब उत्सव भारतमें पाश्चात्य प्रभावसे आये हैं और वह भी अंग्रेजोंके प्रभावसे। जिनके यहाँ मृत्यु एक महान् घटना है, जो देहको सुरक्षित रखते हैं, वे तो मरण-दिवस मनावें यह ठीक है, परंतु हमने भी उनकी देखा-देखी मरण-दिवस मनाना प्रारम्भ कर दिया, जब कि हमारे यहाँ मृत्यु कोई महान् घटना नहीं। वह भी नव-जीवनकी भूमिकामात्र है। इस प्रकारके अन्धानुकरणमें समाज आज नहीं देखता है कि इन नूतन पर्वोंसे जो प्रभाव उत्पन्न होता है, जिन प्रभावोंके लिये ही इनको प्रचलित किया जा रहा है, वे हमारी संस्कृतिके सर्वथा विपरीत हैं। वे हमें बहिर्मुख करते हैं।

प्राणि-पर्व

विश्वमें हम जिन्हें साधारण प्राणी मानते हैं, उनमें भी कुछ दिव्य प्राणी हैं। नाग और सौतेले कितने प्राणियोंमें

हैं। जैसे ग्रामके अधिष्ठाता देवता और ग्राम-शक्तिकी पूजा ग्रामदेव (डीह) तथा ग्रामकालीके रूपमें अनादिकालसे भारतमें प्रचलित है, वैसे ही ग्रामनागकी पूजा भी चलती है। विवाहादि विशेष अवसरोंपर तो ये पूजित होते ही हैं, इनकी पूजाके पर्व भी हैं।

ग्रामदेव तथा ग्रामकाली तो ग्रामकी अधिष्ठातृ-शक्तियाँ हैं। हिंदू-धर्म प्रत्येक पदार्थका अधिष्ठातृ-देवता मानता है। ग्रामनागके सम्बन्धमें यह जान लेना उचित है कि नगरमें यह शक्ति पूजित हो ऐसा विधान तो है; किंतु नागपञ्चमीको नगरके लोग भी नगरसे बाहर जायँ नागपूजनके लिये, आदेश यही है। जो पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। ब्रह्माण्डमें हमारी पृथ्वीका धारण भगवान् शेष तथा दिग्गज करते हैं। ये गज भी नाग ही कहे जाते हैं। शरीरके धारक पञ्च-प्राण, स्थूल प्राण, अपान आदि प्राणोंसे भिन्न नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय हैं। इनका वर्णन योगशास्त्रमें आता है। प्राणोंका भी एक नाम नाग है और उनकी आकृति सर्पाकार मानी जाती है। इस प्रकार ग्राममें भी नागोंका निवास होता है और ये ग्रामकी सूक्ष्म व्यवस्थासे अपरोक्ष रूपसे सम्बद्ध हैं।

मुझे अपना स्मरण है और मेरा अनुमान है कि प्रत्येक ऐसे व्यक्तिको इसका अनुभव होगा, जिसने ग्रामोंमें कुछ वर्ष व्यतीत किये हों कि वर्षाकालके प्रारम्भमें ग्रामके किसी कोनेका नाग बोलता है। टनटनाती ऐसी दीर्घ ध्वनि होती है जो कम-से-कम एक मीलके घेरेंमें स्पष्ट सुनी जा सके। ग्रामके लोग इसे नागकी ठनकार कहते हैं। एक या दो बार कुछ सेकेण्ड यह ध्वनि होती है। जिस कोनेमें ध्वनि हुई हो, उसके अनुसार वर्षा तथा मानव एवं पशु-स्वास्थ्यका भविष्य जाना जाता है, जो कि प्रायः ठीक ही प्रमाणित होता है।

दुर्भाग्यसे राजपूतानेकी नागपूजक जाति भी अपने आचारसे गिरकर हीनशक्ति होती जा रही है। अन्यथा ये लोग न तो कोई उपाजन करते थे और न किसीका दान या उपहार स्वीकार करते थे। यहाँतक कि किसीके कुएँसे जल पीनेपर दो पैसा कुएँपर छोड़ जाते थे। किसीको सर्प काटे तो उसकी चिकित्सा मन्त्रद्वारा करते थे और उसके यहाँ जलतक नहीं लेते थे। इन लोगोंका कहना है—प्रत्येक ग्राममें एक सर्पोंका राजा होता है। वह दूसरे सर्पपर चढ़ता है, दीमक तथा मधु-मक्खियोंमें

जैसे भ्रान्त है। ये लो-
वह अपने-
एक सिक-
वी। अब-
सुना जात-
गो-म-
हैं। सच्चा-
कोई अ-
होता ही-
नित्य गो-
तो नित्य-
और नाग-
परंतु इन-
वनाये रह-
प्रथम दिन-

मान-
सामाजिक-
हिंदू-संस्कृ-
पूजनसे अ-
देवशक्तिके-
कृपासे वह-
करके कृ-
पुनः देव-
लिये का-
उद्योगका-
मनुष्यको-
अन्न का-
आहुतियाँ-
अहंकार,
दूसरे-
पुत्र उत्प-
तो गृह-प्र-
व्यक्तिको-
अर्चन,
इन उत्क-

जैसे 'रानी' होती है, सर्पमें वैसे राजा होना तो कठिन नहीं है। ये लोग ब्रह्म बजाकर उस राजाको संतुष्ट करते और वह अपने बिलसे इन्हें स्वर्णके सिक्के दिला देता। सर्प एक-एक सिक्का लाकर सम्मुख डाल जाते। यही इनकी जीविका थी। अब भी इनमें दो-चार ऐसे वृद्ध पुरुष हैं, यह सुना जाता है।

गो-माता सर्वदेवमयी हैं। शास्त्र उनकी महिमासे भरे हैं। सच्चाईसे गोमाताकी आराधना करके अमीष्ट प्राप्त करना कोई अद्भुत बात नहीं है। विशेष अवसरोंपर तो गोपूजन होता ही है, शास्त्रके अनुसार प्रत्येक हिंदू-गृहस्थके घरमें नित्य गोपूजन होना चाहिये। भोजनसे पूर्व गोप्रास निकालना तो नित्य-कर्म है। गो-माताकी पूजाका पर्व गोपाष्टमी है और नागपूजाका पर्व नागपञ्चमी। ये पर्व तो अनादि हैं; परंतु इनमें होनेवाली महत्त्वपूर्ण घटनाएँ इन्हें नित्य नूतन बनाये रहती हैं। जैसे गोपाष्टमी श्रीकृष्णचन्द्रके गोचारणका प्रथम दिन है। श्यामसुन्दरने इस दिन गो-पूजन किया था।

मानव-पर्व

मानव-पर्व तीन प्रकारके होते हैं, एक तो ऐसे पर्व जो सामाजिक रूपसे मनाये जाते हैं, जैसे नवान्नेष्टि-यज्ञ। हिंदू-संस्कृति देव-संस्कृति है। प्रत्येक उद्योगका प्रारम्भ देव-पूजनसे और प्रत्येककी समाप्ति देव-पूजनसे होती है। उद्योग देवशक्तिके संतोषके लिये किया जा रहा है और उसीकी कृपासे वह पूर्ण भी होगा। आपादमें हल, बैल, क्षेत्रका पूजन करके कृषिका प्रारम्भ इसीका द्योतक है। उद्योगकी पूर्णतापर पुनः देव-शक्तिका पूजन होता है। किसान जिस दिन हल चलानेके लिये कार्तिकमें विराम प्राप्त करता है, वह उत्सव मनाता है। उद्योगका जो फल प्राप्त हो, वह देवताकी कृपाका प्रसाद है। मनुष्यको तो यज्ञशेषका भोजन करना चाहिये। नवीन अन्न काटनेसे पूर्व देव-पूजन होगा। देवताके लिये उसकी आहुतियाँ देकर ही वह हमारे उपयोगके योग्य बनेगा। अहंकार, भोगवृत्ति—इनको कहीं स्थान नहीं है।

दूसरे प्रकारके पर्व होते हैं व्यक्तिके जीवनसे सम्बन्धित। पुत्र उत्पन्न हुआ, विवाह हुआ, नवीन घर बनाया गया तो गृह-प्रवेश हुआ, ये सब व्यक्तिके पर्व हैं। इनमें भी व्यक्तिको वही व्रत, जप, हवन, पितर एवं देवताओंका अर्चन, ब्राह्मणोंका पूजन, दान आदि करना है। अपने इन उत्कर्षोंमें वह प्रमत्त न हो जाय, यह न मान ले कि यह

वाह्य समृद्धि उपभोग बनेगी, उसमें गर्व एवं बहिर्मुखता न बढ़े, यह ऐसे उत्कर्षके अवसरोंपर अत्यन्त आवश्यक है। ईश्वरीय शक्तिकी कृपासे ही यह उत्कर्ष प्राप्त होते हैं और उनकी सार्थकता भगवान्की ओर लगनेमें ही है, यह उसी समय स्मरण करना आवश्यक है। राजतिलकसे लेकर सामान्य जीवनके उत्कर्षतक सबमें समानरूपसे पूजनादिका विधान है।

एक प्रकारके और पर्व होते हैं, जिन्हें काम्य पर्व कहना चाहिये। किसी कामनासे किसी देवताकी मनौती की गयी, उसका पूजन, इसी प्रकार उद्देश्यविशेषसे किये गये पूजन-समारोह। सम्राटोंके राजसूय, अश्वमेध महायज्ञोंसे लेकर किसी झोंपड़ीके श्रद्धापूर्वक किये गये निष्काम कीर्तन भी इसीके अन्तर्गत हैं। ऐसे पर्वोंका कोई समय नहीं निश्चित है। हमारी कामना, इच्छा, श्रद्धा ही इनका कारण है। पुराने ग्रन्थोंको छान डालिये, आपको ऐसा एक भी समारोह न प्राप्त होगा जब कि वह केवल मनोरंजनके उद्देश्यसे या किसी भौतिक उद्देश्यके प्रचारके लिये किया गया हो। चाहे भरतमुनिके नाटकोंका आयोजन हो या महाराज पृथुका प्रजा-सम्मेलन, सब एक प्रकारकी आराधना एवं सत्सङ्ग-गोष्ठी हैं। भोगके समारोह तो देवताओंके भोगलोक या असुरोंके यहाँ ही शक्य है। मनुष्यका जीवन तुच्छ भोगोंमें व्यतीत करनेके लिये नहीं प्राप्त हुआ है। पाश्चात्य वैदेशिक प्रभावसे पूर्व भारतीय मनोवृत्तिमें व्यर्थ मनोरंजन तथा लौकिक प्रचारके विषैले कीट प्रविष्ट नहीं हुए थे। हमारे समारोह भागवत-सप्ताह, यज्ञसत्र, पुराणसत्र, कथा-कीर्तन-पूजन उपदेशमय ही थे और इन समारोहोंमें सब प्रकारकी गान, नृत्य, वाद्य, चित्रादि कलाओंका इतना उच्च विकास हुआ है कि एक स्वरसे विश्वके कलामर्मज्ञ उसे मानव-शक्ति-की उच्चतम कला स्वीकार करते हैं। इतनेपर भी हमारी कला सदा देवताके लिये, ईश्वरीय शक्तिके लिये, अन्तर्मुखताके लिये ही रही। 'कला कलाके लिये' या 'कला उपयोगके लिये।' कहनेवाले प्रकारान्तरे 'कला वासनाके लिये' और 'कला मानवके लिये' कहते हैं। 'स्वान्तःसुखाय' में जो अन्तर्मुखताके दिव्य आनन्दका संकेत है, वह आजकी मानस-परिधिसे परे होता जा रहा है।

तीर्थ और पर्व

देहतत्त्वके सम्बन्धमें बताते समय यह कहा जा चुका है कि स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका व्यक्त रूप है। समस्त पदार्थ

संकल्प या भावजगत्के मूर्तरूप हैं। भावजगत् या देवजगत् जैसे पदार्थोंके रूपमें मूर्त हुआ है, वैसे ही स्थानोंके रूपमें भी। इसीलिये जैसे पदार्थोंके सम्बन्ध अपने मूल भावजगत्-रूप देवताओंसे हैं, प्रत्येक पदार्थके अधिष्ठातृ देवता हैं, वैसे ही स्थानोंके सम्बन्ध भी दिव्य जगत्से हैं। भावजगत्में राजस, तामस, सात्त्विक सभी प्रकारकी शक्तियाँ और उनके स्थान हैं। उनमें भी राजस और तामस ही अधिक हैं। पदार्थों और प्राणियोंमें हम इसीलिये सात्त्विक पदार्थ, सात्त्विक प्राणी थोड़े ही पाते हैं। मनुष्योंकी संख्या विश्वके दूसरे प्राणियोंमें बहुत थोड़ी है। इसी प्रकारकी बात स्थानके सम्बन्धमें है। पृथ्वीमें पुण्य-भूमि तो बहुत थोड़ी है और वह भारतवर्ष है। सम्पूर्ण भारत ही पुण्य-भूमि, तीर्थ-भूमि है।

जैसे मनुष्य ही कर्मयोनि है, इसी योनिसे जीव भगवद्धामका सम्बन्ध प्राप्त कर सकता है, वैसे ही भगवद्धामोंके सम्बन्ध भी भारतभूमिसे ही हैं। जैसे भगवान्के अवतार इस पुण्यभूमिमें होते हैं, वैसे ही उनके अवतारके समय उनके दिव्यधामोंका भी प्राकट्य इस पृथ्वीपर हो जाता है। जहाँ-जहाँ भारतमें इस प्रकार भगवान्का प्रादुर्भाव हुआ, चाहे वह पूर्णचरित करनेके लिये हुआ हो या किसी महापुरुषको दर्शन देनेके लिये अत्यल्प कालको हुआ हो, प्रभु तो हमारे देशमें आनेसे रहे; जैसे हमें जब किसी देवता या ऋषिके दर्शन होते हैं, तब उनके साथ उनका भाव देव भी व्यक्त रहता है, वे हमारे कल्पित स्थूल देशमें नहीं होते, वैसे ही भगवान्के साथ उनका नित्य देश भी व्यक्त होता है। जैसे भगवद्दर्शन-प्राप्त महापुरुष परमपावन हो जाता है, वैसे ही वह स्थूल देश जो चिन्मय देशका सान्निध्य पा चुका हो, पावन हो जाता है, ऐसे ही देश 'तीर्थ' कहे जाते हैं; क्योंकि वे दूसरोंको पवित्र करनेकी शक्ति प्राप्त कर चुके हैं।

जब कोई व्यक्ति किसी तीर्थमें जाता है, तब वह उस तीर्थके पावनकारी प्रभावको प्राप्त करता है। चुंबकका लोहेपर पूरा प्रभाव पड़े, इसके लिये आवश्यक है कि लोहेपरके जंगको दूर कर दिया जाय। शरीर या उदरको साबुन या ओषधिसे स्वच्छ करते समय हमें विशेष प्रकारके व्यवहारकी आवश्यकता होती ही है। इसी प्रकार हमपर तीर्थका पूरा पावनकारी प्रभाव पड़े, इस उद्देश्यसे तीर्थके प्रभावके अनुरूप वहाँके आचारका विधान शास्त्रोंमें है।

उस आचारके उलङ्घनसे दोष एवं हानि उत्पन्न होती है।

क्योंकि कोई प्रभाव हमपर पड़ रहा हो और हम उसके विपरीत चेष्टा करें तो हानि होना स्वाभाविक ही है।

प्रत्येक तीर्थ भिन्न-भिन्न भगवद्धामों या दिव्यलोकोंके प्रभावसे युक्त होता है। देवभूमियोंका वहाँसे सम्बन्ध होता है। अतएव वहाँ उस देवभूमिके अनुरूप कृत्य होते हैं। जैसे गया पितृलोकसे सम्बन्धित तीर्थ है। वहाँ दिये गये पिण्ड पितरोंको अक्षय्य तृप्ति देते हैं। जब कोई तीर्थयात्री अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है, तब वह पूजनादि करके, प्रस्थान करता है। तीर्थमें जबतक वह रहता है, वह पूरा समय उसके लिये पर्वकाल है। उसे तीर्थमें निर्दिष्ट नियमोंका पालन करना पड़ता है। घर लौटनेपर वह पुनः पूजा, यज्ञादि करके यात्राको साङ्ग पूर्ण करता है। इस प्रकार तीर्थमें जानेपर पर्व होता है। इसके अतिरिक्त कुछ तीर्थोंके कुछ विशेष पर्वकाल हैं। जैसे प्रयागमें माघ मास। इन समयोंमें इन तीर्थोंका अपने नित्य-दिव्यधामोंसे विश्वकी गतिके कारण अधिक निकट सम्पर्क हो जाता है और ग्रहयोगके प्रभाव भी वहाँ अनुकूल रहते हैं।

जयन्ती आदि पर्व क्यों ?

अवतार या भक्त-जयन्तियाँ, विजयादशमीके समान उत्कर्ष-दिवस, प्राणिपर्व, मानवपर्व और स्थानपर्व पर्व क्यों कहे जाते हैं ? इनमें अन्तर्मुखताकी प्रेरणा है और इस दृष्टिसे ये आवश्यक भी हैं, यह तो ठीक; किंतु इनमें पर्व-रूपता—सन्धिकाल क्या है ? बात यह है कि हमारे शास्त्रोंने सन्धिका परम उद्देश्य जीव एवं ब्रह्मकी सन्धि माना है। सन्ध्याका भी शास्त्रीय अर्थ है जीव-ब्रह्मकी सन्धि और योगका भी शास्त्रीय अर्थ यही है। इस आत्म-परमात्मके प्रयत्नके लिये जो काल प्रतिदिन निश्चित है, उसे सन्ध्या कहते हैं और जो काल नित्य न आकर किसी विशेष अवसरों, कारणोंसे उपस्थित होते हैं, उन्हें पर्व कहते हैं। सन्ध्या और पर्वके अर्थ प्रायः एक ही हैं। इसी प्रकार उन प्रयत्नों का ज्ञान जो भगवान् तथा जीवकी एकताकी सिद्धिके लिये हैं, योग, उपासना या उपनिषद् कहते हैं। ये सब शब्द प्रायः एक ही अर्थके द्योतक हैं। स्वरूप-भेदकी सूचनाके लिये ही ये पृथक्-पृथक् हैं।

दिवस एवं रात्रिका सन्धिकाल तो प्रातः एवं सायं ही होता है; परंतु सन्ध्याकृत्यका काल तो इन दोनों कालोंके मध्यवर्ती है। जैसे सन्ध्या-शब्दका लक्ष्यार्थ एक

है—जीव

सन्ध्याका

कर्मका

लक्ष्यार्थ

कालोंका

काम्यक

है, इसी

देखकर

निश्चित

ही क्रिय

जो सुहृ

एवं व्य

शोक-ह

उ

कारण

है। उ

आते

यात्रादि

लगते

शास्त्रों

कुतूह

वृत्तिक

वृत्तिक

है। प्र

उससे

महोत्स

वृत्ति

देवस

श्रद्धा

रखत

ज्ञान

साम

वात

नहीं

भ्रा

है—जीव-ब्रह्मात्म-सन्धि और वाच्यार्थमें प्रातः-सायंकी सन्ध्याका काल प्रधान होनेसे एवं ठीक सन्ध्याकालमें सन्ध्या-कर्मका विधान होनेसे इसे सन्ध्या कहा गया, वैसे ही पर्वका लक्ष्यार्थ तो एक ही है। वाच्यार्थमें ग्रह-नक्षत्रादिके सन्धि-कालोंकी प्रधानता होनेसे सबको पर्व कहा गया है। जो काम्यकर्मोंके पर्व होते हैं यज्ञादि, वे मुहूर्त देखकर होते ही हैं, इसी प्रकार ग्रह-प्रवेश तथा विवाहादि संस्कार भी मुहूर्त देखकर होते हैं और तीर्थयात्रा तथा प्राणिपर्व भी मुहूर्तोंसे निश्चित हैं। इन सबको तो सन्धिकालकी दृष्टिसे निर्धारित ही किया जाता है। पुत्र-जन्मादि बहुत थोड़े-से पर्व ऐसे हैं जो मुहूर्तोंकी सन्धिकी अपेक्षासे नहीं होते। ऐसे पर्व अव्यक्त एवं व्यक्त जीवनकी सन्धि तथा श्रम एवं परिणाम अथवा शोक-हर्षकी भावात्मक सन्धिके कारण पर्व कहलाते हैं।

मेले

कुम्भ, संक्रान्ति, प्रयागका माघस्नान, ग्रहण आदिके कारण स्थान-विशेषका आध्यात्मिक महत्त्व हो जाता है। अतएव उन अवसरोंपर वहाँ दूर-दूरसे श्रद्धालु यात्री आते हैं। इनके अतिरिक्त विजयादशमी, शिवरात्रि, रथ-यात्रादि पर्वोंका जिन तीर्थोंमें विशेष महत्त्व है, वहाँ भी मेले लगते हैं। रथयात्रादि उत्सवोंको पूरे समारोहसे मनानेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है। मनुष्यके भीतर समारोह, धूम-धाम, कुतूहलकी एक स्वाभाविक वृत्ति है। किसी स्वाभाविक वृत्तिका दमन सबके लिये सहज साध्य नहीं होता। यदि वृत्तिको सुव्यवस्थित आधार न मिले तो वह विकृत होती है। प्रत्येक वृत्तिको बिना दमन किये ठीक मार्गमें लगाकर उससे लाभ उठाना ही सहज एवं श्रेष्ठ मार्ग है। देवयात्रा-महोत्सवादिके हमें उच्च प्रेरणा मिलती है, हमारी कुतूहल-वृत्ति तो तृप्त होती ही है, हम उसकी तैयारीमें दीर्घकालतक देवता या आराध्यके चिन्तनका लाभ भी पाते हैं। मेलोंमें श्रद्धालुओं एवं संतोंके दर्शनों, सत्सङ्गका लाभ जो महत्त्व रखता है, उसे समझा जा सकता है।

आज कहा जाता है कि भारतीय मेले विचार-विनिमय, ज्ञानके आदान-प्रदान एवं सांस्कृतिक लाभके लिये तथा सामाजिक उत्थानके लिये थे। आजकी भावनामें तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि भारतमें ज्ञान कभी अनिश्चित नहीं था। शास्त्र नित्य है और मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंका ज्ञान भ्रान्तिहीन है, इसमें यहाँ कभी सन्देह नहीं किया गया।

‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’ की बात जिज्ञासुके लिये है और उसे निरन्तर सत्सङ्ग एवं मननकी प्रेरणा देती है। ऋषिगण परस्पर ‘वाद’से नूतन ज्ञानका आविष्कार करते या दूसरेको प्रदान करते थे, ऐसी कोई बात नहीं। शास्त्र तो नित्य हैं। वे ईश्वरीय ज्ञान हैं। ऋषियोंकी ज्ञानप्राप्तिकी प्रणाली ‘वाद’ नहीं, समाधिमें मन्त्रदर्शन और जिज्ञासुको उपदेश है, ‘वाद’ तो उनके आश्रमके छात्र परस्पर करते थे। इसी प्रकार भौतिक उन्नति हिंदू-जातिके लिये कभी साध्य नहीं बनी, अतः उसके लिये साधन भी ढूँढ़े नहीं गये। मेले उसके साधन भी कभी नहीं थे।

मेलोंका मुख्य विधान तो पर्व तथा उस पर्वका जो उस स्थानविशेषपर सूक्ष्म आध्यात्मिक लाभ है, उसे प्राप्त करना ही है। कुम्भ या ग्रहण तथा दूसरे पर्व जो कहीं मेलोंके रूपमें होते हैं, उनके वास्तविक पावन उद्देश्यको छोड़कर उन्हें मिलने-जुलने तथा प्रचारका साधन बतलाना तथा इस दृष्टिसे उनकी महत्ता मानना शास्त्रों, पर्वों तथा उनके उद्देश्यों—सबको अस्वीकार करना है। पर्वकी पावनताका लाभ उठाने आकर वहाँ जो महापुरुषोंके सत्सङ्ग एवं उपदेश तथा शास्त्र-श्रवणका लाभ है, यह आनुपंगिक लाभ है। यद्यपि यह लाभ भी महान् है। इसकी महानता स्वयं शास्त्रोंने स्वीकार की है।

पर्वोंकी आवश्यकता और सुधार

पर्व किसी भी जातिके जीवन-चिह्न हैं। वे जातिको जाग्रत् रखते हैं और हिंदू-पर्व तो अपने भीतर गम्भीर प्राकृतिक तथ्य रखते हैं। पर्वोंके द्वारा संस्कृतिकी परम्परा रक्षित रहती है; साथ ही ग्रहणादि हिंदू-पर्व तो ऐसे हैं कि उन्हें मानवमात्रको ही मनाना चाहिये। उनको माननेमें सभीका लाभ है और उनकी उपेक्षामें मनुष्यकी हानि ही है।

वर्तमान समयमें नवीन पर्व चलाये जा रहे हैं और प्राचीन पर्व छुप्त होते जा रहे हैं। श्रीजानकीनवमी और श्रीराधाष्टमी-जैसे पर्व देशके बहुत थोड़े भागोंमें मनाये जाते हैं। रामनवमी और जन्माष्टमीकी छुट्टियाँ बंद करनेकी भी चर्चा की जाती है। इनके स्थानपर जो पर्व चलाये जा रहे हैं, उनमें पाश्चात्य भौतिकवादकी प्रेरणा है। शरीर, यश, वैभव, चाहे वह व्यक्तिका हो या समाजका, उसका स्मरण भौतिक प्रेरणा ही देगा। ऐसे पर्वोंके प्रचलनका उद्देश्य समाज, जाति या राष्ट्रकी भौतिक उन्नति ही मानी जाती है। शरीरको महत्त्व देनेके लिये ऐतिहासिक पुरुषोंकी

जयन्तियाँ और स्मारक प्रचलित किये जाते हैं। यह सब प्रयत्न चाहे वे देखनेमें कितने भी मोहक हों; हिंदू-संस्कृतिकी परम्पराके प्रतिकूल हैं। हमारी संस्कृतिका लक्ष्यपथ ही उससे आच्छन्न होता है। उससे समाज दिग्भ्रान्त ही होगा।

जो प्राचीन सनातन पर्व हैं, वे आध्यात्मिक भावनासे ओतप्रोत हैं। उनमें ही हिंदू-संस्कृतिकी जीवन-प्रेरणा है। उनमेंसे जो लुप्त हो गये हैं या होते जा रहे हैं, उनको

प्रचलित करनेकी आवश्यकता है। उनके वास्तविक मर्मको छोड़कर दूसरा अर्थ भी करना उनके उद्देश्यको नष्ट करना है। कुछ पर्वों और विशेषतः मेलोंमें समयके कारण विकार भी आये हैं। असंयम, आचार-च्युति तथा बहिर्मुखताके जितने कार्य या प्रलोभन मेलोंमें, पर्वोंपर मिलते हैं, सब विकृतियाँ हैं। उनका परिष्कार आवश्यक है; किंतु उसे अधिक आवश्यक है पर्वकृत्योंका रक्षण, उनके उद्देश्यका ज्ञान; उनको लुप्त होनेसे बचना।

हलाहल-पान

(लेखक—स्वामी श्रीसूर्यप्रकाशजी)

देवों और असुरोंके समुद्रमन्थनका प्रसङ्ग पुराणोंमें प्रसिद्ध है। दोनोंने मिलकर सागरका जो मन्थन किया तो इससे सर्वप्रथम हलाहलका दर्शन हुआ। वह हलाहल क्या था, साक्षात् मृत्युका ही मूर्तिमान् स्वरूप था। उसे देखकर दोनों पक्षोंके छक्के छूट गये और उससे बचनेके लिये दोनोंने उमापति भगवान् श्रीशङ्करकी शरण ली। बहुत अनुनय-विनय करनेपर भोलानाथ प्रकट हुए। सहज दयालु अवदर दानीने हँसते हुए अमय और मधुर वाणीमें पूछा—“आपलोग क्या चाहते हैं?” दोनों पक्षोंने कातर स्वरमें अपनी वेदनाको व्यक्त करते हुए कहा—“सर्व-समर्थ प्रभो! अग्निसे भी कई गुने दाहक इस भयङ्कर हलाहलको आप किसी उचित स्थानपर रखिये, नहीं तो हम सब अभी क्षणभरमें भस्म हो जायँगे।” देव और असुरोंके वेदनायुक्त वचन सुनकर परहित-निरत श्रीभोले बाबाने हलाहलसे कहा—“भैया! यहाँ आओ, हम तुम्हें आसन देते हैं, बैठो।” इस प्रकार कहकर उसे ‘र’-कारके आसनपर बैठाया और ऊपर ‘म’कारका छत्र धर दिया, अर्थात् उसे अपने कण्ठमें स्थिर कर लिया। तबसे ‘यथा नाम तथा गुणः’ की लोकोक्तिके अनुसार भोले-नाथका नीलकण्ठ नाम सार्थक हो गया।

उपर्युक्त प्रसङ्गसे हमें कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। आज घर-घरमें समुद्रमन्थन हो रहा है, पान

बातमें विचार-भेदके नामपर विषम वैमनस्य अपना भयानक रूप प्रकट कर रहा है और उस वैमनस्य—हलाहलसे भयानक विषकी ऐसी ज्वाला निकलती है कि परस्परका समीका प्रेमबन्धन सर्वनाश होने जा रहा है। सृष्टिमें जहाँ दृष्टि डालते हैं, वहाँ ऐसी ही दयनीय दशा दृष्टि-गोचर होती है। यदि समाजके विचारशील और बुद्धिमान् व्यक्ति इस जहरको पान करनेका प्रयत्न करें तो सम्भव है कि यह हलाहल हमारी भ्रातृभावना और एकताको नष्ट करनेमें असफल हो जाय। वर्तमान समयमें एक और रोग चारों ओर फैला हुआ है और बड़े वेगसे बढ़ रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपना अलग मत रखता है और एक दूसरेका अहित-साधन करनेको तैयार है। किसीको वैर-विरोध छोड़नेके लिये कहा जाता है तो इसके उत्तरमें वह कहता है, हम तो विरोध मिटानेके लिये बिल्कुल तैयार हैं; किंतु, प्रतिपक्षवाले जरा भी ठस-से-मस नहीं होना चाहते; इसलिये हम भी क्यों अपने विचारको छोड़ें। वास्तवमें बात यह है कि यदि इस प्रकार लोग अपनी-अपनी ऐंठपर अड़े रहें तो कलह क्योंकर शान्त होगा। प्रत्येक व्यक्ति या पक्षको समझना चाहिये कि एक पक्ष थोड़ा-सा झुके तो उसके पहले ही दूसरेको निःसंकोच झुक जाना चाहिये; तभी झगड़ा मिटता है और सारे प्रश्न अपने-आप हल हो जाते हैं।

प्रतिपक्ष
में ठीक
नहीं हो
सबको
ऐसा नि
बातको
जायगा;
और दे
भगाना
स्वयं अ

व
देशमें स
इसी क
भाषाका
पाण्डवों
अधिक
ग्रन्थ स
क्योंकि
याज्ञवल्
ये। मि
आधार
नीति;
होता है
प्रचलि
कोने-क
कोई म
न पाय
कहीं म
कोई नि
चले ज

प्रतिपक्षी ठीक हो जायगा तब यह भी है कि सामान्यतः मैं ठीक होऊँगा—सभी ऐसा विचार करें तो कोई भी ठीक नहीं होगा। यह सत्य है कि साधारणतया अपना मान सबको प्रिय होता ही है, इसीलिये मनुष्यके मनमें ऐसा विचार उपस्थित हो जाता है कि यदि हमारी बातको किसीने अस्वीकार किया तो हमारा अपमान हो जायगा; पर वैमनस्य—वैरके परिणामसे घरको, जातिको और देशको बचानेके लिये इस मानापमानके भूतको भगाना ही बुद्धिमान् मनुष्यका कर्तव्य होना चाहिये। स्वयं अमानी होकर दूसरेके मानकी रक्षाके लिये सब

तैयार हो जायँ तो किसीका अपमान नहीं होगा और स्वतः ही सबके मानकी रक्षा हो जायगी। अतएव पाठकोंसे मेरा नम्र निवेदन है कि यदि आपको शान्ति-की साँस लेनेकी इच्छा है और भविष्यकी संतानके लिये भविष्य उज्ज्वल बनानेकी उदारता है तो पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति और सौहार्द बढ़ानेका शुभ-प्रयास अवश्य और निःसन्देह करना चाहिये। इस अमृतोपम प्रयासका फल भी अमृतरूप ही होगा और सभी आत्माओं-के आशयमें कल्याण-भावनाकी पवित्र धारा अखण्डरूपसे बहने लगेगी।

देशके कल्याणके लिये संस्कृत, आयुर्वेद, हिंदी तथा गीता-रामायणके प्रसार-प्रचारकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संस्कृत भाषा

वर्तमान परिस्थितिपर विचार करनेसे पता लगता है कि देशमें संस्कृत भाषाका दिनों-दिन हास होता जा रहा है। इसी क्रमसे हास होता गया तो एक दिन हमारे देशसे संस्कृत भाषाका लुप्त-प्राय-सा हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं है। पाण्डवोंके राज्यशासनके समयतक तो इसका बहुत ही अधिक प्रचार था। नीति, धर्म और अध्यात्मविषयक सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषामें ही थे और यही राजभाषा भी थी; क्योंकि राजनीतिक कार्य तथा दण्डविधान आदि सब मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि स्मृतियोंके आधारपर ही किये जाते थे। मिताक्षरा कानूनमें अब भी कुछ रूपमें इन्हीं स्मृतियोंके आधारपर दायभाग और दण्डविधान किया जाता है। नीति, धर्म और अध्यात्मविषयक साहित्यको देखनेसे मालूम होता है कि संस्कृत भाषा सारे हिंदुस्थानमें व्यापक रूपसे प्रचलित थी; उसीके प्रतापसे हिंदुस्थानके सभी प्रान्तोंके कोने-कोनेमें अब भी संस्कृत भाषा मिलती है। भारतवर्षमें कोई भी ऐसा प्रान्त और जिला नहीं, जहाँ संस्कृत भाषा न पायी जाती हो। संस्कृतको जाननेवाला कोई भी पण्डित कहीं भी चला जाय, उसे संस्कृतमें बात करनेवाला कोई-न-कोई मिल ही जाता है एवं हिंदुस्थानके किसी भी प्रान्तमें चले जाइये—श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण एक ही

मिलेंगे, कहीं भेद नहीं मिलेगा। इससे हमारे संस्कृत भाषा और धार्मिक ग्रन्थोंकी अनादिता, उपादेयता और व्यापकता सिद्ध होती है। इस संस्कृत भाषाके पूर्वकी कोई अन्य भाषा और श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणके पहलेका कोई भी धार्मिक ग्रन्थ, संस्कृत वर्णमालाके पूर्वकी कोई अन्य वर्णमाला देखने-सुननेमें नहीं आती; इसीसे इनकी अनादिता सिद्ध होती है। सम्राट् विक्रमके समयमें भी संस्कृतका बड़ा अच्छा प्रचार था। उसके बाद भी संस्कृत-प्रसार रहा। बौद्धयुगमें धार्मिक विरोधके नाते संस्कृतपर प्रहार हुए और फिर मुसल्मानी शासनमें संस्कृतके नाशकी काफी चेष्टा हुई।

सुना जाता है कि वेदोंकी कुल ११३१ शाखाएँ थीं, जिनमें अब केवल लगभग १२ मिलती हैं। सामवेदकी १००० शाखाओंमें केवल ३ मिलती हैं। यही दशा वेदके ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्रादिकी तथा वेदाङ्ग एवं अन्यान्य धर्मग्रन्थोंकी है। इन सब वैदिक शाखाओं तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थोंका इतना नाश कैसे हुआ? इसपर निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि वैदिक धर्मके विरोधियों तथा विदेशी अत्याचारियोंके द्वारा ही हमारी यह सारी अमूल्य ग्रन्थ-सम्पत्ति नष्ट कर दी गयी। कहा जाता है कि उज्जैनके राजा मतादित्यने हजारों ब्राह्मणोंकी तमाम पुस्तकोंको जलवा दिया था। बौद्धोंके द्वारा 'सह्याद्रिखण्ड' (पुस्तकालय) का

नाश किया जाना प्रसिद्ध है। मुसलमानोंने अलेक्जेंड्रियाके पुस्तकालयको जला दिया था। महमूद और नादिरशाहने भी संस्कृतके अगणित धर्मग्रन्थोंका नाश किया। कुछ मुसलमान बादशाहोंने तो संस्कृतकी पुस्तकोंको 'हमाम' गरम करनेके लिये जलाया था। इस प्रकार हमारा यह अमूल्य ज्ञानकोष ध्वंस कर दिया गया। यों पहले तो इसका अत्याचारियोंने नाश किया, पर उसमें तो हम निरुपाय थे; लेकिन बड़े खेदकी बात है कि अब बचे-खुचेका हम अपनी अवहेलना तथा मूर्खतासे नाश कर रहे हैं !

किंतु इसको बचाना हमारा परम कर्तव्य है। संस्कृत भाषाके बचनेसे ही धर्म भी बचेगा; क्योंकि हमारे जितने भी मूल धार्मिक-ग्रन्थ हैं, उनका आधार संस्कृत भाषा ही है और यह संस्कृत भाषा कितनी प्राञ्जल और मधुर है, इसका तत्त्व इस अमृतमय भाषाका आस्वादन करनेवाले विद्वान् ही जानते हैं। संस्कृतका व्याकरण भी अलौकिक है। वैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण जगत्की किसी भी भाषाका नहीं है।

इस प्रकारके संस्कृत भाषारूपी अलौकिक रत्नका यदि हमारे भारतवर्षमें अभाव हो जायगा तो फिर पुनः इसका प्रादुर्भाव होना बहुत कठिन होगा। अतः हम सरकारसे और देशवासियोंसे प्रार्थना करते हैं कि जिस प्रकार यह संस्कृत भाषा जीवित रहे, इसका उत्तरोत्तर अधिक प्रचार हो और यह सर्वाङ्गीण समृद्धिको प्राप्त हो, इसके लिये सभीको शक्ति-अनुसार प्रयत्न करना चाहिये।

आयुर्वेद-विज्ञान

इसी प्रकार आयुर्वेद-विज्ञानका भी बड़ी तेजीसे अभाव होता जा रहा है। आयुर्वेदीय चिकित्सा, निदान और ओषधियोंके नाम, रूप, स्वभाव, गुण और उनके निर्माणका जो महान् ज्ञान त्रिकालज्ञ ऋषियोंको था, वह क्रमशः लुप्त होता ही चला गया। इस समय हमारे अनुमानसे वह प्रायः नब्बे प्रतिशत लुप्त हो चुका है और जो बचा-खुचा है, उसका भी दिन-पर-दिन हास होता जा रहा है। आस्थावान् विद्वान् वैद्य उठते चले जा रहे हैं। जो हैं, उनकी इसके प्रति अनास्था बढ़ रही है। इसीका परिणाम है कि आज देशके बड़े-बड़े वैद्य भी प्रायः अपने बच्चोंको डाक्टरी पढ़ाते हैं और स्वयं भी डाक्टरी दवाओंका व्यवहार करते हैं। यह निश्चित है कि भारतवासियोंके लिये भारतवर्षकी आयुर्वेदोक्त देशी ओषधियाँ जितनी उपयुक्त हो सकती हैं, उतनी विदेशी ओषधि नहीं। कहा भी है—

‘यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।’

इस देशमें आयुर्वेद-विज्ञान एक दिन कितना उन्नत था, इसका पता महाभारतकी इस कथासे लगता है— महाभारतके आदि-पर्वमें कथा आती है कि धन्वन्तरिके वंशमें उत्पन्न कश्यप नामके एक ब्राह्मण थे। वे ओषधियोंसे मृत व्यक्तिको भी जीवित करनेकी शक्ति रखते थे। उन्हें जब पता लगा कि राजा परीक्षितको तक्षक नाग डँसनेवाला है, तब वे परीक्षितके पास जानेके लिये घरसे चले। रास्तेमें उनकी तक्षकसे भेंट हो गयी। मानवरूपधारी तक्षकके पूछनेपर कश्यपने अपने वहाँ जानेका यह हेतु बतलाया कि ‘राजा परीक्षितको तक्षक काटेगा, तो मैं उन्हें अपनी ओषधिसे जिला दूँगा।’ यह सुनकर तक्षकने कहा, ‘तक्षकके काटे हुएको कौन जिला सकता है?’ फिर उसने अपना परिचय देते हुए कहा कि ‘मैं ही तक्षक हूँ। मैं इस वृक्षको डँसकर भस्म करता हूँ, तुम इसे जिला दो।’ तक्षकके काटते ही वृक्ष जलकर भस्म हो गया। तब कश्यपने मन्त्र और ओषधियोंके बलसे पुनः उसे जीवित करके तुरंत हरा-भरा कर दिया। तक्षकने अपने मानकी रक्षाके लिये कश्यप ब्राह्मणको बहुत-सा धन देकर उसे वहींसे लौटा दिया।

इससे हमें यह ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ आयुर्वेदने कितनी अद्भुत उन्नति की थी कि जिसके द्वारा मृत मनुष्य ही नहीं, समूल जले हुए वृक्षको भी हरा-भरा किया जा सकता था। ऐसी आदरणीय विद्याका शनैः-शनैः लोप होता जा रहा है। यह कितने परितापका विषय है! अब भी यह विज्ञान जिस रूपमें वर्तमान है, यदि सरकार तथा देशवासी और निष्ठावान् सद्बुद्ध ध्यान देकर इसके रक्षण, अन्वेषण और संवर्द्धनकी ओर ध्यान दें, तो इसमें इतने महान् गुण छिपे हैं कि उनके प्रकट होनेपर जगत् चकित हो सकता है। परंतु इसके लिये सबके सम्मिलित प्रयत्नकी आवश्यकता है। हम सरकारसे, देशवासियोंसे और वैद्य महोदयोंसे विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वे इस ओर ध्यान दें और आयुर्वेदकी रक्षा तथा उन्नति करके अपने कर्तव्यका पालन करें।

डाक्टरी दवाओंमें प्रायः मांस, मज्जा, चर्बी, ग्रन्थियाँ, मदिरा आदि अपवित्र घृणित पदार्थोंका भी प्रयोग किया जाता है, जो सब प्रकारसे अपवित्र, हिंसापूर्ण अतएव अवाञ्छनीय है। देशवासियोंको चाहिये कि विदेशी डाक्टरी दवाइयोंको कतई काममें न लेकर चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि भारतीय आयुर्वेदीय शास्त्रोंमें बतलायी हुई वनस्पति,

घातु और रस आदि पवित्र दवाओंके सेवनका ही दृढ़ नियम ले लें। यदि किसीसे सर्वथा ऐसा न हो सके तो कम-से-कम यह तो निश्चय करें कि जहाँतक हो डाक्टरों की दवा काममें न लेकर देशी आयुर्वेदीय दवाके प्रयोगकी ही विशेषरूपसे चेष्टा रखेंगे। इन ग्रन्थों और ओषधियोंके निर्माणकर्ता ऋषि त्रिकालश्च और अनुभवी थे, उनका अनुभव और ज्ञान अलौकिक था। ऐसा अनुभव वर्तमान युगके मनुष्योंमें सम्भव नहीं है। हमें उन ऋषियोंके अनुभव और ज्ञानका सम्मान करके उससे लाभ उठाना चाहिये।

हिंदुस्थान और हिंदी भाषा

हमारे इस भारतवर्षका नाम पहले 'आर्यावर्त' था, जिसे वर्तमानमें हम हिंदुस्थान कहते हैं। सुसत्मान भाई 'हिंदू' शब्दका आक्षेपसे काफिरके अर्थमें प्रयोग करते हैं, किंतु हमारे लिये 'हिंदू' शब्द पवित्र और गौरवकी वस्तु है। हमारे इस देशका नाम हिंदुस्थान क्यों पड़ा? हिमालयका 'हि' और 'विंदु' का 'न्दु'—इस प्रकार इन दोनोंके आदि और अन्तके दो शब्दोंको लेकर 'हिंदु' शब्द बना है। हिमालयसे तात्पर्य है—उत्तरमें स्थित सबसे ऊँचा गौरीशङ्कर पहाड़ (हिमगिरि) और विंदुसे अभिप्राय है—पूर्व और पश्चिमसहित दक्षिण समुद्र। हिमालयसे लेकर दक्षिण समुद्रतकके बीचका जो देश है, उसका नाम है—'हिंदुस्थान' और जो उसमें बसते हैं, उनकी जाति है 'हिंदू' तथा उनकी भाषा है 'हिंदी'। उनका जो धर्म है, वही 'हिंदूधर्म' कहलाता है और उनके चाल-चलन, आहार-व्यवहार तथा वेश-भूषाको कहते हैं—'हिंदू-संस्कृति'। इन सबकी रक्षासे ही हिंदूजाति और हिंदूधर्मकी रक्षा हो सकती है।

अतः हिंदुस्थानमें निवास करनेवाले भाइयोंको अपनी रक्षाके लिये अपने हिंदुस्थानकी भाषा, वेश-भूषा, खान-पान और चाल-चलनको ही अपनाये रहना चाहिये, विदेशी प्रभावमें आकर इन्हें कभी नहीं बदलना चाहिये। जो जाति अपनी संस्कृतिको छोड़कर दूसरी जातिकी संस्कृतिको अपना लेती है, वह नष्ट हो जाती है।

हमारी प्राचीन भाषा है संस्कृत और वर्तमान भाषा है हिंदी तथा हमारी लिपि देवनागरी है। हमारी प्राचीन भाषा संस्कृत यदि राष्ट्रभाषा न हो सके तो हिंदी भाषा तो राष्ट्रभाषा अवश्य होनी ही चाहिये। तथा हर तरह हमें हिंदीकी रक्षा करनी चाहिये। श्रुति, स्मृति, इतिहास

पुराणोक्त जो अनादिकालसे चला आनेवाला सनातन धर्म है, वही हमारी आर्यजाति हिंदुस्थानियोंका सनातन हिंदूधर्म है। प्रत्येक हिंदुस्थानी भाईको ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे हमारा हिंदूधर्म, हिंदूजाति, हिंदीभाषा और हिंदू-संस्कृति कायम रहे।

गीता-रामायणका प्रचार

संस्कृतमें श्रीमद्भगवद्गीता और हिंदीमें गोस्वामी तुलसीदासजीकृत रामचरितमानस—ये दोनों उत्तम शिक्षा देनेवाले सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। इनके अनुसार आचरण करनेपर मनुष्यका जीवन उच्चकोटिका हो जाता है। इन दोनों ग्रन्थोंकी महात्मा गाँधीजीने भी बहुत प्रशंसा की है। इनको सारे संसारके लिये उपयोगी कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। इनकी शैली बड़ी ही सुन्दर है। इनमें श्लोक, छन्द, चौपाई, दोहे आदि काव्यकी दृष्टिसे भी अत्यन्त रसयुक्त, मधुर, सुन्दर और विशुद्ध हैं। अतएव इन दोनों ग्रन्थोंका सार्वजनिक प्रचार होना बहुत ही आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद मिलते हैं, उतने किसी भी संस्कृत या हिंदीके अन्य ग्रन्थपर नहीं मिलते। इससे सिद्ध होता है कि यह बहुत उच्चकोटिका ग्रन्थ है और सभी सम्प्रदायवालोंने इसको अपनाया है तथा भारतवर्षके सभी प्रान्तोंमें इसका सम्मान है। इसी प्रकार विदेशोंमें भी इसका बड़ा आदर है। रामचरितमानसका हिंदी वाङ्मयमें सबसे बढ़कर स्थान है, भारतके सभी प्रान्तोंमें इसका समादर है। विदेशोंमें भी लोग इसे मानते हैं। अभी रूसी भाषामें इसका अनुवाद हुआ है। गीताप्रेस, गोरखपुरमें भी श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसके प्रकाशनको प्रथम स्थान दिया गया है। दोनों ग्रन्थ प्रचुर संख्यामें और सस्ते मूल्यमें दिये जाते हैं।

गीता-रामायण-परीक्षा-समितिके नामसे गीताप्रेसके अन्तर्गत एक अलग विभाग भी है, जिसका उद्देश्य है कि गीता और रामायणका बालकोंको विशेष ज्ञान हो। इसके लिये अलग-अलग परीक्षाएँ रखी गयी हैं। सैकड़ों स्कूल-कालेजों तथा पाठशालाओंमें इनकी परीक्षाएँ होती हैं, जिनमें कई जगह तो इनका अध्ययन करना अनिवार्य है। जो सज्जन इन परीक्षाओंके सम्बन्धमें विशेष जानना चाहें, वे 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति'की नियमावली गोरखपुरसे मँगाकर जान सकते हैं।

जिन भाइयोंने पाठशालाएँ, हाई-स्कूल और कालेज खोले रखे हैं या जो उनमें सहायता देते हैं, उनमें तथा

सरकारसे हमारी यह प्रार्थना है कि वे अपनी संस्थाओंमें गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रचारित गीता-रामायणकी परीक्षाएँ रखें, जिससे बालक इनके लाभसे वञ्चित न रहें।

इसी प्रकार मनुष्यमात्रके लाभके लिये एक विभाग और है, जिसका नाम—'गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ' है। इसमें गीता-विभागमें ५ प्रकारके और श्रीरामायण-विभागमें ३ प्रकारके सदस्य बनाये जाते हैं। प्रत्येक वर्ण, जाति और आश्रमके नर-नारी, बालक, युवा, वृद्ध—सभी इसके सदस्य बन सकते हैं। सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। प्रेमपूर्वक गीता और रामायणका पारायण और अध्ययन ही इसकी सदस्यताका मूल्य है। अबतक २६००० के लगभग सदस्य बन चुके हैं, और बन रहे हैं। सदस्योंके प्रकार नीचे दिये जाते हैं, पाठकोंको उन्हें पढ़कर तथा समझकर उनका घर-घर प्रचार करना चाहिये।

श्रीगीता-विभागमें सम्मिलित होनेवाले सदस्योंके निम्न पाँच प्रकार हैं—

(१) जो नित्य सम्पूर्ण गीताका (१८ अध्यायोंका) अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमसहित एक पाठ करें।

(२) जो नित्य गीताके नौ अध्यायोंका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(३) जो नित्य गीताके छः अध्यायोंका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(४) जो पंद्रह दिनोंमें सम्पूर्ण गीताका प्रेमपूर्वक अर्थसहित एक पाठ करें। इस प्रकार वर्षभरमें २४ पाठ अर्थ-सहित करें तथा इसके अतिरिक्त सालभरमें २४ पाठ मूलके भी करें।

(५) गीताके अनुसार जीवन बनानेके लिये प्रतिदिन कम-से-कम एक घंटा गीताके श्लोकोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। (पाँचवें प्रकारके सदस्य उन्हीं लोगोंको बनना चाहिये जिनका गीतापर अध्ययन हो और जो गम्भीरताके साथ उसके अर्थपर विचार कर सकते हों।)

गीताका पाठ करनेवाले प्रत्येक सज्जनसे, विशेषकर ५वें प्रकारके सदस्योंसे यह निवेदन है कि यदि हो सके तो प्रतिदिन 'गीताप्रेससे प्रकाशित गीता-तत्त्वविवेचनी' टीकामेंसे गीताके दो श्लोकोंका भावसहित प्रेमपूर्वक पठन और मनन करें।

श्रीरामायण-विभागमें सम्मिलित होनेवाले सदस्योंके निम्न तीन प्रकार हैं—

(१) जो नित्य नवाह्न-पारायणकी रीतिसे श्री-रामचरितमानसका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(२) जो नित्य मासपारायणकी रीतिसे अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(३) जो नित्य कम-से-कम सात दोहोंका (चौपाई-छन्द आदिसहित) प्रेमपूर्वक अर्थसहित पाठ करें। इस प्रकार सालभरमें सम्पूर्ण रामायणके कम-से-कम दो पाठ कर लें।

जो सज्जन उपर्युक्त दोनों विभागों या किसी एक विभागके अन्तर्गत सदस्य बनना चाहें, वे गोरखपुर 'गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ' पो० गीताप्रेसके नामसे पत्र देकर आवेदन-पत्र भेगा लें। 'कल्याण'के गत पाँचवें अङ्कके पृष्ठ १०६४ पर आवेदन पत्रका कार्ड लगा था, जिनके पास वह कार्ड हो, वे उसे भरकर भेज सकते हैं।

इनमें जो अर्थसहित गीता-रामायणका पाठ है, उससे बहुत अधिक लाभ होता है। एक भाई जो नित्यप्रति गीताके अठारहों अध्यायोंके केवल श्लोकोंका ही पाठ करता है, उससे वह श्रेष्ठ है जो अर्थ और भावसहित केवल एक अध्यायका ही नित्य पाठ करता है। और वह तो सबसे श्रेष्ठ है, जो कम-से-कम किसी एक श्लोकके अर्थ और भावको समझकर उसके अनुसार भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारयुक्त अपना जीवन बनाता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण रामायणका मूल पाठ करनेवालेकी अपेक्षा जो अर्थ और भाव समझकर मूल पाठ करता है या भाव समझकर अर्थसहित पाठ करता है, वह बहुत उत्तम दर्जेका है और उससे भी श्रेष्ठ वह है, जो रामायणका अर्थ और भाव समझकर यथाशक्ति उसके अनुसार अपना जीवन बनाता है।

अतः हमारी सभी पाठक-पाठिकाओंसे यह प्रार्थना है कि गीता और रामायणके पाठ करनेका नियम यथाशक्ति लेना चाहिये तथा उसके अर्थ और भावको समझकर उसके अनुसार जीवन बनानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त गीता और रामायण दोनों ही अध्यात्मदृष्टिसे तो बहुत लाभकी वस्तु हैं ही, साथ-ही-साथ संस्कृत और हिंदीके ज्ञानकी दृष्टिसे तथा बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक लाभकी दृष्टिसे भी बहुत उपयोगी हैं। अतः सरकारसे तथा भारतवासी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि साम्प्रदायिक दृष्टिको छोड़कर सभीके बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक तथा व्यावहारिक लाभकी दृष्टिसे इनका प्रचार करें।

अज्ञान

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

एक विख्यात व्यापारीने विष खाकर आत्महत्या कर ली। उनके सिरहाने एक बंद लिफाफा पाया गया। उसमें लिखा मिला—“मुझे बहुत बड़ा घाटा हुआ है। सब हिसाब चुका देनेपर अब मेरे पास कुल दो करोड़ रुपये बच रहेंगे। मैं दरिद्र हो गया। दरिद्रताके इस जीवनसे बचनेके लिये मैं मर रहा हूँ।” समाचार-पत्रोंमें बड़े मोटे अक्षरोंमें शीर्षक-उपशीर्षक देकर समाचार छपा था। पूरा नाम-पता दिया गया था। संसारकी इतनी असाधारण घटना—केवल दो करोड़ रुपये बच रहते हैं जिसके पास ऐसा धनी या कंगाल अपनी कंगालीकी कल्पनासे व्यथित होकर मर गया था। समाचार-पत्रोंके कालम भरनेके लिये तथा समाचार-पत्रोंके पाठकोंके लिये यह कौतूहलप्रद समाचार था और आप इस समाचारको उत्साहप्रद भी कह सकते हैं; क्योंकि इसे भेजनेवाले संवाददाता, छापनेवाले सम्पादक एवं पढ़नेवाले पाठकोंमेंसे सबने उत्साह दिखलाया। इस समाचारसे समाजका या पाठकोंका क्या हित हुआ? यह प्रश्न पूछना सभ्यता नहीं है। समाचार-पत्रका काम समाचार छापना है—उत्साहप्रद समाचार। पाठक उससे हितके लिये उत्साह प्राप्त करेगा या अहितके लिये, यह ठेका उसने नहीं ले रक्खा है।

‘वज्रमूर्ख था यह करोड़पति।’ निरञ्जनके पास इतने पैसे नहीं हैं कि वह समाचारपत्र खरीदकर पढ़ सके। उसे व्यसन है पढ़नेका, सो एक दूकानपर जाकर पढ़ लेता है। समाचार देखकर वह स्वयं बड़बड़ाने लगा—“एक करोड़पति, इतना उपार्जन करनेवाला, व्यवहार तथा व्यापारमें अत्यन्त चतुर और इतना मूर्ख निकला।”

‘क्या मूर्खता की उसने?’ दूकान जिनकी है, वे पढ़े-लिखे सुसभ्य पुरुष हैं। मिलनसार तो हैं ही, विचारशील एवं उदार हैं। उन्होंने निरञ्जनकी ओर देखते हुए कहा—‘हम सभी ऐसी मूर्खता नित्य कर रहे हैं। हममेंसे किसे अपनी स्थितिपर संतोष है? अपनी स्थिति यदि सहसा गिर जाय, हममेंसे कितने हैं, जिन्हें धक्का नहीं लगेगा? उस व्यापारीके पास दो करोड़ बच रहे थे, आप यही सोचते हैं। एक भिखमोंके लिये किसीकी जेबमें दो रुपये पड़े हैं

यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना हमारे आपके लिये किसीके पास दो करोड़ बच रहना।’

‘और वह दो रुपये जेबमें रखकर व्याकुल होनेवाला भी उतना ही मूर्ख है?’ निरञ्जन धूम पड़ा दूकानदारकी ओर।

‘हम सब अपनेसे ऊपरकी ओर ही देखते हैं। हमारी अशान्तिका यही कारण है।’ दूकानदारने स्वस्थचित्तसे कहा—‘हम अपनेसे नीचेकी ओर देखें तो अशान्तिका कारण कभी मिले ही नहीं। अन्ततः नन्ही-सी झोंपड़ीमें पूरे परिवारको लेकर पड़े रहनेवाले, फटे चीथड़ोंमें जीवन व्यतीत कर देनेवाले, ज्येष्ठकी दोपहरीमें सड़कपर कंकड़ कूटनेवाले भी तो मनुष्य ही हैं। उनका काम जैसे चलता है, हमारा वैसे चल ही नहीं सकता, ऐसी क्या विशेषता है हममें?’

‘क्या विशेषता है मुझमें? मेरे सामने ही तो ननक रहता है। स्त्री है, तीन बच्चे हैं और कितनी छोटी, कितनी टूटी झोंपड़ी है उसकी।’ निरञ्जनके हाथसे समाचार-पत्र गिर गया। ‘वे स्त्री-पुरुष मजदूरी करते हैं। भला क्या मिलता होगा उन्हें? कितने प्रसन्न रहते हैं वे। मैं भी कितना मूर्ख हूँ। मैं भी तो आज उस व्यापारीकी भाँति आत्महत्या करने जा रहा था। मेरी जेबमें अब भी दो रुपये हैं और.....’ उसके नेत्र भर आये। उसके तो आगे-पीछे कोई है नहीं। इतने बड़े संसारमें जब इतने मनुष्य जीवित हैं, वही क्यों बहुत अधिक सुविधा चाहता है? क्यों उसका जीवन सादगीसे नहीं चल सकता। वह अध्यापकी कर लेगा और इतना पर्याप्त है उसके लिये।

‘वह व्यापारी इसलिये मूर्ख नहीं था कि रुपयेकी चिन्तासे वह मर गया।’ दूकानदारने कहा—‘उसकी मूर्खता यही थी कि इतना अधिक धन एकत्र करनेमें वह लगा रहा। इतने धनकी चिन्ता लिये वह इतने दिन जीवित रहा। ऐसा धन, जिसका कोई उपयोग नहीं था उसके लिये और जिसके पीछे वह ठिकानेसे सो भी नहीं सकता था।’

‘उसके भोजनालयमें तो टेलीफोन था ही, शयनागार तथा

घौंचालयमें भी टेलीफोन लगे थे । वहाँ भी वह शान्तिसे खाना, बैठना या सोना नहीं चाहता था—चाह नहीं सकता था । समाचारपत्रमें मृत व्यक्तिके विषयमें बहुत कुछ छपा है और उसे निरञ्जन पढ़ चुका है । 'डाक्टरोंने उसे केवल शाकके रसपर रहनेकी सलाह दी थी और कई वर्षोंसे वह दूसरा कोई भोजन कर नहीं सका था ।'

'हम सभी एक-से हैं । हम सबके मनको व्यर्थ-निष्प्रयोजन कार्य प्रलुब्ध करते हैं और हम सदा उन्हें पूर्ण करनेके प्रयत्नमें रहते हैं । अवसर न मिले और हम उन्हें पूर्ण न कर सकें, यह दूसरी बात है ।' दूकानदार गम्भीरतासे कह रहे थे—'हम सबको पेट भरनेको थोड़ा-सा अन्न चाहिये और बैठने-सोनेको थोड़ी-सी छाया । लेकिन हममेंसे कितने हैं जो बहुत बड़ी रकम एकत्र करना नहीं चाहते ! कौन नहीं सोचता कि उसका घर भी विशाल एवं भव्य बने !'

'ओह, यदि हम इस प्रकार सोचने लगें—कितनी चिन्ताएँ घट जायँ । कितनी शान्ति मिले मनुष्यको ।' निरञ्जनने मस्तक झुका लिया । 'क्यों मनुष्य सोचता नहीं ! पूरे कुएँमें ही भाँग क्यों पड़ी है ?'

'इसलिये कि हम सब मूर्ख हैं !' दूकानदार खुलकर हँस पड़े ।

'सब-के-सब मूर्ख !' निरञ्जन चौंका और आप भी चौंकेंगे । जो व्यक्ति सारे संसारको—एक ओरसे वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री आदि बड़े-बड़े सभी विद्वानोंको मूर्ख कहे, उसका सिर ठिकाने है, ऐसा माननेको क्या आपका चित्त चाहेगा ? आप नहीं सोचते कि उसे अपने मस्तिष्कका कहीं परीक्षण कराना चाहिये ? लेकिन निरञ्जन आज इन बातोंको उड़ा देनेकी मनःस्थितिमें नहीं है । उसका मस्तिष्क इतना व्यापक भी नहीं कि चाहे जितना वह सुनता जाय । उसके दोनों कानोंके छिद्र ब्रह्माजीने ठीक सीधमें नहीं बनाये । एक कानसे सुनी बात दूसरेसे फुर्र-से निकल नहीं पाती, कुछ गलेसे नीचे-ऊपर हो जाती है । आज जो उसने सुना है, उसे मस्तिष्कमें ठिकानेसे जमा देने या फिर वहाँसे निकाल बाहर करनेके लिये उसे अवकाश चाहिये ।

x

x

x

'मैं दर्शन करने जा रहा हूँ ।' निरञ्जन नियमसे यहाँ मन्दिरमें दर्शन करने जाता है । आज उसका मन समाचार-पत्र पढ़नेमें नहीं लगा, अतः शीघ्र उठ खड़ा हुआ ।

'आप दो मिनट रुकें तो मैं भी चलता हूँ ।' दूकानदारको दूकान बंद करनेका अवकाश चाहिये । दूकानपर दूसरा कोई नौकर तो है नहीं, कहीं जाना हो तो ताला बंद करके ही जाना पड़ता है ।

'आप ऐसे ही चलेंगे ?' ये महोदय बड़े विचित्र प्रार्थना हैं । जो धोती पहन रखी है, उसीका एक छोर कंधेपर डाले ये दूकानमें दिनभर डटे रहते हैं । अब मन्दिर जाते समय भी गलेमें एक कुर्ता डाल लेना इनको आवश्यक नहीं प्रतीत होता ।

'इस गरमीमें इतना क्या पर्याप्त नहीं है ?' हँस पड़े वे । 'कुछ पहन लेनेसे मुझे तो कोई सुख मिलेगा नहीं और दूसरे क्या कहेंगे, यह केवल धोखा है । क्या हम आप पर देखते चलते हैं कि किसके शरीरपर कैसे वस्त्र हैं और किसका वेश कैसा है ?'

'हम कहाँ देखते हैं कि किसके वस्त्र मैले हैं, किसके उज्ज्वल हैं । किसके कपड़े फटे हैं और किसके कपड़ोंपर धब्बे हैं । किसका जूता चमकता है और किसके जूतोंमें डकड़े जुड़े हैं । किसकी दाढ़ी घुटी है और किसकी चिकनी है ।' निरञ्जन सोचने लगा—'घरसे चलते समय हम अपने वस्त्र, जूते आदि कितना देखते हैं । शीशेमें कितनी बार मुख देखते और केश ठीक करते हैं । दाढ़ीपर किस प्रकार हाथ फेरते हैं । हमें लगता है कि सारा बाजार हमें और हमारे वस्त्रादिको ही देखेगा । जब कि हम दूसरोंकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते ।'

'बहुत गंदा या बहुत उत्तम वेश दृष्टि खींचता है ।' दूकानदारने चलते-चलते कहा—'हम असाधारणताकी ओर आकर्षित होते हैं; किंतु इससे हानि-लाभ क्या ? किसी हमको देखा तो और न देखा तो । कोई हमारे विषयमें क्या सोचता है, इससे हमें क्या हानि-लाभ । हम दूसरोंके देखने या सोचनेकी चिन्तासे कितने अधिक व्यस्त बनते हैं ! कितने व्यग्र होते हैं इसके लिये और क्या अर्थ है इसका ?'

'ऐसे तो हम बहुत-से काम व्यर्थ ही करते हैं ।' निरञ्जनने कहा ।

'प्रायः अधिकांश काम व्यर्थ करते हैं ।' दूकानदारने और स्पष्ट किया—'और उन व्यर्थ कामोंके लिये चिन्तित रहते हैं, क्लेश उठाते हैं तथा अनेक बार उन्हें करके हानि

संख्या
भी उठ
करते हैं
'ज
निरञ्ज
'स
है और
होती है
होता ।
बहुतसे
रहना क
'क
है कि म
कितने
है । पै
व्यस्त
मुसभ्य
स्वास्थ्य
मिलता
'
कर रह
समाजके
ही, ऐस
'
वर्णन
था ।
प्रकाश
गति त
जा रहे
'
चेताव
'
ऐसे सा
अधिव
कुछ
प्रतिभा
प्रकाश
यह भी
'
पुस्तक

भी उठाते हैं। इतनेपर भी जान-बूझकर हम उन्हें करते हैं।

‘जान-बूझकर हानिप्रद कर्म कोई क्यों करेगा?’ निरञ्जनने शङ्का की।

‘सब जानते हैं कि परस्त्रीकी ओर कुभावसे देखना पाप है और इससे मानसिक तथा कुछ अंशोंमें शारीरिक हानि भी होती है। इसे देखनेसे किसी प्रकारका कोई लाभ नहीं होता। दूकानदार सहज भावमें कह रहे थे—ऐसे और भी बहुतसे कार्य हैं। गर्मियोंमें शरीरपर वस्त्रोंका भार लादे रहना क्या लाभ पहुँचाता है किसीको?’

‘फैशन’ निरञ्जन कहते-कहते रुक गया। उसे स्वयं लगता है कि मूर्खताका ही दूसरा नाम कदाचित् ‘फैशन’ है और कितने मजेकी बात है कि इसे सम्यक्ताका चिह्न माना जाता है। फैशनके नामपर पार्टियोंमें अल्लम-गल्लम भोजन, अस्त-व्यस्त वार्तालाप, असङ्गत चैष्टाएँ—क्लब-जीवन तथा सुसभ्य पार्टियोंके बहुत अधिक संस्मरण हैं उसके पास। स्वास्थ्य एवं चरित्र दोनोंकी बलिके अतिरिक्त और क्या मिलता है उसमें?

‘शिक्षा बढ़ रही है, सम्यक्ता बढ़ रही है, समाज प्रगति कर रहा है।’ निरञ्जनने दूसरे प्रकारसे सोचना चाहा। समाजके उर्वर-मस्तिष्क मनुष्यके इस अज्ञानको भी मिटावेंगे ही, ऐसी सम्भावना थी उसके स्वरमें।

‘साथ-साथ मूर्खता भी बढ़ रही है, यह कह देनेसे वर्णन पूरा हो जाता है।’ दूकानदारके स्वरमें व्यङ्ग्य नहीं, खेद था। ‘समाज आज प्रगति तो कर रहा है; किंतु वह प्रगति है प्रकाशसे अन्धकारकी ओर। ज्ञानसे अज्ञानकी ओर हमारी गति तीव्र होती जा रही है। हम मूर्खसे वज्रमूर्ख बनते जा रहे हैं।’

‘आप पूरे विद्वद्गर्गको मूर्ख कह रहे हैं।’ निरञ्जनने चेतावनी दी।

‘विश्वके उच्चतम मस्तिष्क आज इस प्रयत्नमें लगे हैं कि ऐसेसाधन प्राप्त किये जायँ जिनसे कम-से-कम समय और व्ययमें अधिक-से-अधिक प्राणियोंका संहार सम्भव हो।’ दूकानदारको कुछ अधिक नहीं कहना था। उन्होंने कहा—‘मुझे उनकी प्रतिभा एवं विद्यामें कोई सन्देह नहीं है; किंतु वह प्रतिभा प्रकाशमें दौड़ रही है या अन्धकारमें भटकती जा रही है, यह भी क्या तर्कसे सिद्ध करना होगा?’

‘विज्ञानका चरम लक्ष्य समाजकी सेवा है।’ निरञ्जनने पुस्तकोंमें रटे शब्द दुहराये।

‘अर्थात् आवश्यकताकी बुद्धि करना।’ दूकानदार शान्त बने रहे। ‘अनावश्यक पदार्थोंकी बुद्धि और उनके संग्रहकी प्रवृत्ति मनुष्यमें उत्पन्न करना। मनुष्यके जीवन एवं मनमें अशान्ति तथा अस्थिरताको बढ़ाना।’

‘आपकी विचार-शैली ही विचित्र है!’ निरञ्जनकी बात ही सम्भवतः आप भी, कहेंगे।

‘शैलीका आग्रह कहाँ करता हूँ मैं। मैं तो विचारका आग्रह करता हूँ। हम क्या कर रहे हैं? क्यों कर रहे हैं? क्या परिणाम प्राप्त होगा इससे? वह परिणाम न हो तो क्या बिगड़ जाय? इन बातोंको हम विचार लिया करें—बस, इतनेसे ही सारी उलझनें सुलझ जायँ।’ दूकानदारने कहा—‘लेकिन हम विचार नहीं करना चाहते। विचार करनेकी बात भी सुनना नहीं चाहते और फिर भी हम विद्वान् हैं, बुद्धिमान् हैं—पता नहीं क्या-क्या हैं!’

‘सब लोग एक ओरसे बुद्धू हैं!’ निरञ्जन मुँहमें ही बुदबुदाकर रह गया। अब मन्दिर आ गया है। मन्दिरके भीतर कोई भी बातचीत न करनेका नियम बना लिया है उसने। भगवान्‌के इस दिव्यपीठके सम्मुख वह अपनेको एकाग्र रखना चाहता है।

X X X

ये दूकानदार सहोदय भी अद्भुत प्राणी हैं। पिताकी आज्ञासे एम्. ए. पास करनेके पश्चात् इन्होंने वकालत पढ़ी और जब वकालत करनेका समय आया तो कहने लगे—‘यह तो धूर्त बनानेकी विद्या है।’ पिताकी मृत्युके पश्चात् घरमें जो कुछ था, उससे जोड़-बटोरकर यह कागज, कापी, स्लेट, पेन्सिल आदि ‘स्टेशनरी’ की दूकान कर ली इन्होंने। अभी युद्धकालके पिछले वर्षोंमें जब दूसरे दूकानदार इधर-उधरसे माल एकत्र करने और विक्री बंद रखनेमें व्यस्त थे, जब कि वस्तुओंके दाम इस प्रकार बढ़ते जा रहे थे कि बेचनेकी अपेक्षा बचानेमें ही बहुत लाभ था, इनकी दूकानपर भीड़ लगी रहती थी।

‘इस पेन्सिलका बाजारमें ६ पैसे भाव हो गया है और आप जबतक खरीदने जायँगे सात पैसे भी हो सकता है!’ एक हितैषीने एक बार सावधान करना चाहा। ऐसे अकारण कृपाछ बहुत मिलते हैं। बिना पूछे ऐसी शुभ सम्मति प्राप्त होती ही रहती है।

‘मैंने इसे चार पैसेके भावमें खरीदा था। अब पाँचके भावसे बेच रहा हूँ।’ बड़ी निश्चिन्ततासे इन्होंने उत्तर

दिया—‘यदि आगे सातके भावसे खरीदना पड़ा तो आठके भाव बेचूँगा।’

‘अभी तो महँगीके दिन हैं। आप चाहे जैसा कर सकते हैं।’ कहनेवालेने व्यङ्ग्य किया—‘जब मंदीके दिन आयेंगे कोई ग्राहक नहीं सुनेगा कि आपने सात पैसेके भाव खरीदा है।’

‘मैं जानता हूँ कि मंदी आवेगी एक दिन और यह भी जानता हूँ कि जनता कृतज्ञ नहीं हुआ करती; किंतु मैं किसीसे कृतज्ञता कहाँ चाहता हूँ। मैं अपना कर्तव्य पालन करता हूँ, किसीपर उपकार तो करता नहीं।’ इनका ऐसे अवसरोंपर बँधा उत्तर है—‘सस्ती आवे या महँगी, मेरा प्रारब्ध तो जो है, वही रहेगा।’ आप जानते ही हैं कि ऐसे दूकानदारकी दूकानमें बहुत माल भरा नहीं रह सकता। जब मंदी आयी—दूसरोंके लिये ही वह आयी। इन्होंने तो जैसे उसका कमी अनुभव किया ही नहीं।

ऐसे विचित्र प्राणीको निरञ्जन उस दिन प्रस्तुत कर सका किसी प्रकार अपने यहाँ भोजन करनेके लिये। ‘मिर्च नहीं, खटाई नहीं, यह नहीं, वह नहीं—अनेक सूचनाएँ’ निमन्त्रण स्वीकार करनेके साथ दीं इन्होंने।

‘मना करनेपर भी आपने परस दिया! इसे छोड़ना पड़ रहा है, क्षमा करेंगे।’ बड़ी नम्रतासे कह रहे थे। भोजन करानेवालोंका स्वभाव अभ्यागतको हठपूर्वक अधिक खिलानेका होता है। निरञ्जनने भी ऐसा ही किया था, किंतु इन्होंने तो उसमेंसे ग्रास ही नहीं तोड़ा। ‘मैं इसे हठपूर्वक पेटमें पहुँचा तो सकता हूँ, लेकिन ऐसा करनेसे पेट और पदार्थ दोनों खराब होंगे। पदार्थ बाहर रह गया तो किसी पशु-पक्षीके तो काम आ ही जायगा।’

‘आप स्वादको कोई महत्त्व नहीं देते?’ निरञ्जनने भोजनके पश्चात् पूछा।

‘बहुत महत्त्व देता हूँ।’ हँस पड़े वे। ‘इसीलिये मूर्खता करके उसे नष्ट नहीं कर देना चाहता।’

‘स्वाद लेनेमें भी विचारकी आवश्यकता होती है।’ निरञ्जनको लगता है कि अत्यधिक दार्शनिकताने इन बेचारेको अजीब बना डाला है।

‘पदार्थका स्वाद तबतक जबतक वह गलेसे नीचे न उतर जाय। लेकिन यदि अविचारपूर्वक कोई स्वाद लेने लगे तो पेट खराब हो जायगा और स्वाद लेना सर्वथा बंद हो जायगा।’ उस व्यापारीको शाकके रसपर रहना पड़ता

था, यह स्मरण दिलाकर वे बोले—‘यही दशा प्रत्येक इन्द्रियके स्वादकी है। जिसका अविचारपूर्वक सेवन होगा, उसीकी स्वादशक्ति नष्ट हो जायगी।’

‘एक महन्तजीको इत्रका अत्यधिक व्यसन था।’ निरञ्जनने बताया—‘वे काले कपड़े पहनते थे पर्याप्त इत्र मलनेकी सुविधाके लिये; किंतु उनकी नासिकाने अन्तमें गन्ध ग्रहण करना ही छोड़ दिया।’

‘ऐसे लोग अब भी हैं, जिन्होंने कामुकतावश अधिक विवाह किये अथवा अनाचारका आश्रय लिया। उनकी क्या गति होती है, जानते हो?’ पूछा उन्होंने।

‘वे प्रायः नपुंसक हो जाते हैं और ओषधियोंके पीछे पड़कर अपना पूरा स्वास्थ्य नष्ट कर लेते हैं।’ निरञ्जन स्वयं इस विषयमें कठोर संयमका पक्षपाती है और मित्रोंको भी संयमके लिये प्रेरित किया करता है।

‘इन्द्रिय कोई भी हो, उसके विषयका अत्यधिक सेवन उसे असमर्थ बना देता है।’ उन्होंने अपने मूल विषयपर आते हुए कहा—‘समाजकी विषयोन्मुख प्रवृत्ति विचारपूर्वक नहीं है। विषय-सुखकी वृद्धि और उसके अधिकाधिक सेवनकी लोलुपता मूर्खता है। आज पूरा समाज इस मूर्खतासे ग्रस्त है, जिसका परिणाम रोग, शोक, अशान्ति एवं विनाशके अतिरिक्त और कुछ नहीं।’

‘पूरा समाज मूर्ख!’ यह बात गलेसे नीचे नहीं उतरती। निरञ्जन यहाँ पहुँचकर झुँझला उठता है। अब अतिथिको भी अपनी दूकान जानेकी शीघ्रता है। ताम्बूल तो उन्हें चाहिये नहीं, दो दाने इलायची और.....

X X X

‘आप सबको मूर्ख क्यों कहते हैं?’ निरञ्जन आज उनकी दूकानपर जमकर बैठ गया है। जब इनकी बातें बुद्धिपूर्वक होती हैं तो भूल कहीं इनके तर्कमें है या अपनी झल्लाहटमें, इसे आज वह समझ लेना चाहता है।

‘आप क्या समझते हैं कि सब लोग शानी हैं?’ वे हँसे। उन्हें पता है कि निरञ्जन क्यों झल्लाता है और इस झुँझलाहटमें बचपन कहाँ छिपा है।

‘नहीं तो।’ चौंका वह—‘शानी संत तो संसारमें बहुत थोड़े होते हैं।’

‘सामान्य मनुष्य अशानी हैं।’ उन्होंने केवल व्याख्या की—‘चाहे वे कितने भी बड़े विद्वान् या लोकनेता क्यों न हों।’

‘यह संसार ही अज्ञानजन्य है।’ निरञ्जनने पुस्तकीय भाषा प्रयुक्त की—‘इसलिये संसारके व्यवहार अज्ञान-प्रवृत्त हैं और संसारी पुरुष अज्ञानी हैं, इसमें तो कोई सन्देह है नहीं।’

‘अज्ञानका ही दूसरा नाम मूर्खता है।’ वे हँस रहे थे—‘हमलोग पुस्तकीय भाषाको बोलते हुए भी उसको समझना नहीं चाहते—समझते नहीं, यही हमारी कठिनाईका कारण है।’

‘अज्ञानका क्या अर्थ करते हैं आप?’ निरञ्जनको एक अद्भुत प्रकाश प्राप्त हुआ। ‘वह दर्शन-शास्त्रका छात्र रह चुका है और इतनी साधारण बात आजतक उसकी समझमें नहीं आयी।’

‘अज्ञानका अर्थ है विचारहीनता, मूर्खता, न जानना या ऐसा ही जो कोई और नाम तुम दे सको।’ उन्होंने कहा—‘अज्ञान कोई ऐसा हौआ नहीं है, जो समाधि लगाने या किसी असाधारण स्थितिमें पहुँचनेसे दूर होता हो। वह तो मूर्खता है हमारी और उसे विचार करनेका स्वभाव अपनाकर दूर किया जा सकता है।’

‘शास्त्र कहते हैं कि यह संसार अज्ञानजन्य है।’ निरञ्जनकी शङ्का अनेक हृदयोंमें उठ सकती है।

‘संसारके अधिकांश व्यवहार इसीलिये चल रहे हैं कि उनके करनेवाले मूर्ख हैं। वे विचार नहीं करते अपने कार्यके विषयमें।’ बड़ी स्थिरतासे उन्होंने कहा—‘आप देखते ही हैं कि विषय-प्रवृत्ति हानिकर है और आँख मूँदकर सभी उसी ओर दौड़ रहे हैं। यदि लोग अपने कार्योंके विषयमें विचार करने लगें तो क्या रूप रहेगा संसारका?’

‘इतने बड़े-बड़े विद्वान्, विचारशील और सब अविवेकी!’ निरञ्जन चिन्तनकी गहराईसे बोल रहा था—‘क्यों ऐसा होता है?’

‘आपके प्रश्नका अर्थ है कि अज्ञानका स्वरूप क्या है और कारण क्या है?’ वे फिर हँसे—‘अरे भाई! विचारसे जिसका पता लगे, स्वरूप-बोध हो, वह अज्ञान नहीं हुआ करता। जिसका कोई युक्तिसंगत कारण नहीं, विचार करनेपर जो नहीं टिकता, वही तो अज्ञान है।’

‘आप शानी हैं?’ निरञ्जनके नेत्रोंमें उल्लास आया।

वह कितना भाग्यवान् है कि एक छिपे हुए शानी महापुरुषसे उसका परिचय है।

‘नहीं भाई!’ उन्होंने दृढ़ स्वरमें कहा—‘मैं भी मूर्ख ही हूँ। विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि शरीरके सुख-दुःख, मान-अपमान और एक लकड़ी या पत्थरके खम्भेके सुख-दुःख, मान-अपमान एक-जैसे ही हैं। शरीर भी जड़ है। इतनेपर भी शरीरके सुख-दुःख, मानापमान आदिका मुझे पूरा अनुभव होता है और सुख तथा मानकी प्राप्ति तथा दुःख एवं अपमानसे बचनेके लिये मैं प्रयत्न करता रहता हूँ। विचारके विपरीत आचरण करनेवाले ही तो मूर्ख कहे जाते हैं?’

‘तो शानी क्या कोई काम करता ही नहीं?’

‘शानी काम करता है या नहीं करता, यह तो शानी जाने।’ उन्होंने दूसरे ढंगसे उत्तर दिया—‘लेकिन कोई विचारशील न तो दूसरेके कामको अपना मानेगा और न धूपमें पड़े पत्थरके गरम होनेसे तापका अनुभव करके हाय-हाय करेगा। हवा चलती है, पेड़के पत्ते हिलते हैं, टहनियाँ टूटती हैं, कोई पत्ते हिलने और टहनियोंके टूटनेसे हँसे या रोवे तो उसे आप क्या कहेंगे? वृक्षकी भाँति, बाहर पड़े पत्थरकी भाँति यह शरीर और इन्द्रियोंके साथ मन भी जड़ है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर जड़ हैं। इनके दुःखसे संतप्त होना, इनके सुखके लिये व्यस्त रहना, इनके कार्योंको अपना कार्य मानना ही तो अज्ञान है।’

निरञ्जनको गीताका एक श्लोक स्मरण आया—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

और तब उसे फिर स्मरण आया—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

उसने पूछा—‘यह अज्ञान कैसे दूर हो?’

‘मनुष्य सदा सावधान रहे। विचारशील रहे। अपनेको मूर्ख न बनावे।’ उन्होंने कहा—‘जो कुछ भी करना है, उसके विषयमें पूरा-पूरा विचार करे। विचार न करना या अधूरा विचार करना ही मूर्खता है—अज्ञान है। अज्ञान तो ज्ञानसे—विचारसे ही दूर होता है।’

विचारसे अज्ञान दूर होता है। हम आपमेंसे कोई भी क्या अपनेको विचारहीन समझता है? लेकिन क्या हम सचमुच विचार करना प्रारम्भ करना चाहते हैं?

मन्त्र-सिद्धि

कुछ दिनों पहले 'कल्याण' के एक पाठक महोदय ने यह शङ्का की थी कि 'श्रीरामायण' में भरद्वाज मुनिके द्वारा सदलबल भरतजीके आतिथ्यमें जो विशाल सामग्रियोंकी व्यवस्थाका वर्णन है, वह कवि-कल्पना है, या वास्तवमें उसमें कोई तथ्य है।' उन्हें उस समय शास्त्रोंमें विश्वास करनेकी तथा मन्त्र एवं तपसे उत्पन्न सिद्धियोंकी बात लिख दी गयी थी। अब मुझे श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाके द्वारा निम्नलिखित मास्टर श्रीश्रीरामजीका लिखा वक्तव्य प्रकाशनार्थ मिला है। इस वक्तव्यको लिखनेवाले सज्जन इन सब बातोंमें विश्वास करनेवाले नहीं थे, पर अब उनका मत बदल माहूम होता है। मैं स्वयं कुछ दिनों पहले दिल्ली गया था, तब श्रीजुगलकिशोरजीने मुझे वह मिश्रीकी ईंट दिखलायी थी और सारा हाल सुनाया था। जिन विशिष्ट सज्जनोंके सामने यह घटना हुई, उनके लिखित प्रमाणपत्र भी उन्होंने मुझे पढ़ाये थे। कुछ समय पहले काशीके स्वामीजी श्रीविशुद्धानन्दजीके भी ऐसे ही कुछ प्रयोग मैंने देखे थे, जिनको वे 'सूर्य-विज्ञान' के द्वारा सम्पन्न बतलाते थे। इन सब चीजोंको प्रत्यक्ष देखकर मन्त्र-जप और तपःसिद्धिपर विश्वास करना ही पड़ता है। आधुनिक विज्ञान हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियोंकी मन्त्र-शक्तिके सामने अभी सर्वथा नगण्य है—यह प्राचीन विमान-निर्माण, अस्त्र-शक्ति, मन्त्रशक्ति आदिके वर्णनसे सिद्ध है।

यह सत्य है कि आजकल धूर्तता बहुत बढ़ गयी है और अधिकांश लोग चमत्कार दिखाकर, सोना आदि बना देनेका विश्वास दिलाकर x x x लोगोंको ठगते एवं धोखा देते हैं, उनसे अवश्य सावधान रहना चाहिये। धोखेबाजोंकी नीच करतूतें लोगोंमें अवश्य अविश्वास पैदा करती हैं; परंतु उससे 'सत्य'का नाश नहीं होता। वस्तुतः उनका वह धोखा भी सिद्धियोंकी

सत्यताके आधारपर ही चलता है। मन्त्रसिद्धिसे देवता प्रत्यक्ष आज भी हो सकता है और सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं। यदि निम्नलिखित घटनाओंमें कोई धोखा नहीं साबित होता तो मन्त्रसिद्धिके ये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

मन्त्र-सिद्धिका अद्भुत चमत्कार

बिरला हाउस, नयी दिल्लीसे मास्टर श्रीरामजी लिखते हैं—दिल्लीमें अनुमान दो-ढाई माससे एक वैष्णव साधु आये हुए थे, जिनका नाम बाबा गोपालदास है। वे यहाँपर आर्यनिवास नं० १, डाक्टर लेनपर ठहरे थे। छतके ऊपर एक गोल-सा छोटा कमरा है, उसीमें वे रहते थे। उन्होंने गोपालका एक चित्र काष्ठकी चौकीपर रख छोड़ा था। उस चित्रके चारों तरफ कनेरके पुष्प चढ़ाये हुए रक्खे रहते थे। गोपालदास बाबा उस चौकीके पास ही एक दरिपर बैठे तुलसीकी माला फेरते थे। जो लोग उनके पास जाते, वे भी उसी दरिपर बैठ जाते थे। उनके पास जाने-वालोंको प्रसाद देनेके लिये बाबाजी ईंटके छोटे-छोटे टुकड़े अनुमान ४,५ तोले वजनके एक हरे केल्लेके टुकड़ोंमें गोपालकी मूर्तिके सामने आधा मिनट रखकर उठा लेते थे, तो ईंटके वे टुकड़े सफेद मिश्रीके टुकड़ोंमें बदल जाते थे और वे उन मिश्रीके टुकड़ोंको उन लोगोंको दे देते थे, जो उनके दर्शनके लिये जाते। कभी-कभी ईंटका टुकड़ा कलाकंदमें बदल जाता था। यह अद्भुत परिवर्तन कैसे हो जाता है? सो तो वह बाबाजी ही जानते हैं, और किसीको पता चला नहीं है। विज्ञानवेत्ता इस कारणको ढूँढ़ निकालें तो दूसरी बात है।

उक्त बाबाजीके पास जर्मन-राजदूत, जापानी-राजदूत, (संसदके अध्यक्ष) श्रीमावलङ्कर, श्रीसत्यनारायण-मिश्र आदि गये थे।

इनको भी राजदूतके तो यह लेनेकी प्र

इन विशेष उ श्रीजुगलकिशोरजीके लेलेके ह बाबाजीके खड़े हो जपते रहे गयी तो श्रीबिरला सनमें र

दूसरे का वृत्ता जानेवालों बाबाजीके एक नंब बाबाजीके कि गोपाल टुकड़े ब वन जान बृहस्पति और कई और उस एक चौ पत्तेसे उ तक बा उठाया ईंट निव श्रीजुगल

इन्को भी इसी प्रकारका प्रसाद दिया गया था। जर्मन-राजदूतके साथ एक जर्मन महाशय भी थे। उन्होंने तो यह चमत्कार देखकर बाबाजीसे अपना शिष्य बना लेनेकी प्रार्थना भी की।

इन दो प्रकारके चमत्कारोंके अतिरिक्त तीन चमत्कार विशेष उल्लेखनीय हैं। पहला चमत्कार तो यह है कि श्रीजुगलकिशोरजी विरलाने एक ताँवेकी चमचीको एक केलेके हरे पत्तेमें लपेटकर अपने हाथमें लिया और बाबाजीके कहनेके अनुसार श्रीविरलजी सूर्यके सामने खड़े हो गये। बाबाजी भी पासमें खड़े कुछ मन्त्र जपते रहे। दो-तीन मिनट बाद ही चमची निकाली गयी तो सोनेकी बन गयी थी। अभीतक वह चमची श्रीविरलजीके मुनीम डाढ़रामजीके पास उसी आर्य-भवनमें रक्खी हुई है।

दूसरा चमत्कार यह हुआ कि इस मिश्रीके प्रसादका वृत्तान्त सुनकर एक महाशयने बाबाजीके पास जानेवालोंमेंसे किसीको यह बात कह दी कि हम तो बाबाजीकी मन्त्रसिद्धि तब मानें जब कि वे पूरी-की-पूरी एक नंबरी ईंटको मिश्रीकी ईंट बना दें। ऐसी बात बाबाजीको सुनायी गयी तो बाबाजीने झट कह दिया कि गोपालजीकी कृपासे मिट्टीकी ईंटके टुकड़े मिश्रीके टुकड़े बन जाते हैं तो पूरी मिट्टीकी ईंटका मिश्रीकी ईंट बन जाना कौन बड़ी बात है। अतएव १८ सितम्बर बृहस्पतिवारको रात्रिके ८ बजे श्रीविरलजीके तथा और कई सज्जनोंके सामने एक नंबरी ईंट मँगायी गयी और उसको धो-पोंछकर एक सज्जनके हाथसे काष्ठकी एक चौकीपर वह ईंट रखवा दी गयी तथा एक केलेके पत्तेसे उस ईंटको ढक दिया गया। तीन-चार मिनट-तक बाबाजी कुछ मन्त्र जपते रहे। फिर उस ईंटको उठाया गया तो केलेके पत्तेमेंसे एकदम श्वेत मिश्रीकी ईंट निकली। वह ईंट (विरल-हाउस, दिल्लीमें) श्रीजुगलकिशोरजी विरलके पास रक्खी हुई है।

सो ये दोनों चीजें तो मौजूद हैं, कोई भी देख सकता है।

तीसरी अद्भुत घटना तो मैंने स्वयं अपनी आँखोंसे देखी है। उस समय बाबू जुगलकिशोरजी विरल, गायनाचार्य पण्डित रमेशजी ठाकुर तथा 'नवनीत'के संचालक श्रीश्रीगोपालजी नेवटिया उपस्थित थे। अनुमान दिनके दस बजे होंगे। उस समय किसीने बाबाजीसे कहा कि 'एक दिन आपने पानीसे दूध बनाया था, परंतु उस दिन प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, माधव-प्रसादजी विरल आदि जो सज्जन देखने थे, उनको संतोष नहीं हुआ था। सो बाबाजी इस प्रकारसे दूध बनायें कि किसीको भी संदेह न रहे। इसपर बाबाजी बहुत हँसे और बोले, उन लोगोंकी श्रद्धाकी स्यात्, परीक्षा की गयी होगी। इसके बाद बाबाजीने कहा, 'अच्छ एक काठका पत्र बाहर रक्खो और उसपर यह पानीकी बाल्टी रख दो।' बाबाजीने जैसा कहा वैसा ही किया गया। बाबाजीने अपनी चद्दर, जो ओढ़ रखी थी, वह भी उतार दी और एक कौपीन तथा उसपर एक तौलिया ही रक्खा और स्वयं दूर खड़े हो गये तथा सबको कह दिया कि उस बाल्टीको एक दफे फिर अपनी आँखोंसे देख लो। सबने वैसा ही किया। बाबाजीने एक आदमीसे कहा कि 'तुम इस पट्टेपर बाल्टीके पास बैठकर ओम्का जप करते रहो। फिर बाबाजी उस बाल्टीके पास गये और उसमेंसे कठोरी पानीकी भरी और सबको वह पानी दिया गया। सबने कहा, यह तो पानी ही है। फिर बाबाजी श्री-गोपालजीकी मूर्तिके पास जा बैठे और वह बाल्टी अपने पास मँगा ली। बाल्टी गमछेसे ढक दी गयी और एक लाल फूल, जो गोपालजीकी मूर्तिपर चढ़ा हुआ था, अपने हाथसे बाल्टीमें डाल दिया। उसके पश्चात् जब गमछा हटाया गया, तब एकदम सफेद दूध देखनेमें आया। सबको एक-एक कठोरी दूध दिया

गया । शेष दूध बिरला-हाउस पहुँचाया गया, जो अनुमानतः ढाई सेर था । वह दूध गरम करके जमाया गया और दूसरे दिन उसमेंसे मक्खन निकाला गया ।

बाबाजीकी ऐसी ही अनेक सिद्धियोंका हाल गोखामी गणेशदत्तजी सुनाया करते हैं; परंतु यहाँपर तो संक्षेपमें इतना ही उल्लेख किया गया है । इन कुछ आश्चर्यजनक बातोंको देखकर मनमें आया कि विज्ञान-वेत्ताओंसे विनयपूर्वक निवेदन करूँ कि आर्य-ऋषियों और मुनियोंद्वारा सम्मानित पातञ्जल-योगदर्शनके सूत्र 'जन्मोषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' में एक मन्त्रसिद्धि भी मानी गयी है । मन्त्रसिद्धिका चमत्कार देखनेका अवतक मुझे कोई अवसर नहीं मिला था, परंतु ये कुछ चमत्कार अपनी आँखोंसे देखकर मुझे मन्त्रसिद्धिमें पूर्णतया विश्वास हो गया है । साथ ही एक प्रकारका विस्मय भी उत्पन्न हो गया है । उसी विस्मयके कारण आधुनिक विज्ञानवेत्ताओंसे यह निवेदन करनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई है कि आप पातञ्जल-योगदर्शनके उपर्युक्त मन्त्रमें वर्णित मन्त्रसिद्धिको मानते हैं या नहीं ? और

यदि नहीं मानते हैं तो या तो आप भी ऐसे ही चमत्कार अपने विज्ञानद्वारा करके दिखायें और यदि आप दिखानेमें समर्थ नहीं हैं तो आप अपने अभिमानको त्यागकर भारतीय आर्यशास्त्रोंमें बतायी हुई मन्त्रसिद्धिको सहर्ष स्वीकार कर लें; क्योंकि आप तो अपनेको ब्राह्मण ही सत्यका पुजारी घोषित करते रहते हैं ।

आशा है बुद्धिमान् विज्ञानवेत्ता इन रहस्योंकी जाँच-पड़ताल करके एक निर्णयपर पहुँचेंगे । केवल यह कह देनेसे कि 'यह सब निराधार है' काम नहीं चलेगा । किसी वस्तुको उसकी पूरी जाँच-पड़ताल किये बिना ही निराधार कह देना तो बहुत आसान बात है । जो अपनेको सत्यका पुजारी कहता हो, उसका कर्तव्य है कि या तो इन घटनाओंकी जड़-में कोई धूर्तता या वञ्चना हो तो उसको साबित कर दे या यह स्वीकार कर ले कि हमको विज्ञानके द्वारा तो इनका कोई रहस्य मालूम नहीं हो सकता, इसलिये योगदर्शनके उस सूत्रमें वर्णित मन्त्रसिद्धिको ही मानना न्यायसंगत होगा ।

उपदेश

दया धर्मका मूल है नरक मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छाँड़िए जब लग घटमें प्रान ॥
जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप ।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ क्षमा तहँ आप ॥
तुलसी या संसारमें भाँति भाँतिके लोग ।
सब सों हिलमिल चालिए नदी नाव संजोग ॥
तुलसी या संसारमें पाँच रतन हैं सार ।
सत्य वचन अरु दीनता, दया, धर्म, उपकार ॥
प्रिय भाषण पुनि नम्रता आदर प्रीति विचार ।
लज्जा क्षमा अयाचना—ये भूषण उर धार ॥

(संकलित)

श्रीभगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

गतवर्षके नाम-जपकी संख्याकी सूचना 'कल्याण' के ११ वें अङ्कमें दी जा चुकी है । ६३९ स्थानोंके नाम नीचे दिये जाते हैं । कुछ नाम भूलसे छूट गये होंगे । इसके लिये उन स्थानोंके महानुभाव क्षमा करें । स्थानोंके नाम केवल उत्साह-वृद्धिके लिये ही प्रकाशित किये जाते हैं । इस बार भी नाम-जपके लिये प्रार्थना की गयी है । 'कल्याण'के समस्त पाठक-पाठिकाओंसे निवेदन है कि वे स्वयं नाम-जप करें तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंसे करावें ।

स्थानोंके नाम

अंचलगुम्मा, अक्कलकोट, अकवरपुर, अकोणा, अकोला, अगोस, अचलजाम्, अन्ता, अनन्तनागा (काश्मीर), अम्बाथुर, अम्बारी, अम्बाला, अमरनगर, अमरपुर घाट, अमरसर, अमरावती, अमृतसर, अमरेली, अमरोहा, अमरौघा, अमलापुरम्, अमलीहा चौवेपुर, अरथू, अराकुवेल्ली (विजगापट्टम्), अरियालूर, अरुण्डेलपेटा, अल्लेपी, अलवर, अल्लमपुर, अलूर, अवाड़ (राजस्थान), अष्टरंग, अहमदाबाद, आडवा, आगरा, आजमगढ़, आबूरोड, आमगाँव, आरा, आरी (छिन्दवाड़ा), आलन्द, आलमेल, आलुमपुर, आसनापुर, इन्दौर, इगमोर, इचाक, इटकी सेनेटोरियम्, इटरी, इटादी, इटारसी, इलाहाबाद, उडक्कमपेलियम, उदयपुर, उन्थू, उनौलीवाजार, उमल्ला, उस्का बाजार, ऊँचगाँव सानी, ऊगरपुर, ऊजान, ऊना, ऊमरपुर, ओगलेवाड़ी, ओटकामन्ड, औडेचखुर्द, क्विलोन, कटगी, कटनी, जंकशन, करकल (मद्रास), करखीला, करनाल, कर्वाड़, कल्लाडहा, कलकत्ता, कलिंगपटनम्, कलियानपुर-जागू, कवर्धा, कसरावाँ, काँचिपुरम्, काँपा, काण्डूर, कातरकी, कादरगंज, कादिवीगहा, कानपुर, कार्नी, कालसर, किरकी, कुँवरा, कुचामन सीटी, कुचेरा, कुम्हरावंड फार्म, कुम्हारौल, कुलगौड़, कुसहा, कैथा, कैलगढ़ स्टेट, कैलमली, कोइम्बर, कोइलवेलवा, कोटायम, कोठीचारकला, कोडगल, कोडरी, कोडागाँव, कोल्हापुर, कोलगी, कोलाघाट, कोसाना, कोहड़ा, कौसानी, खंभात, खकसीस, खगड़ा, खजुरानी, खजुरी, खडगलाट, खंडवा, खपटिहाकला, खरगडीहा, खामगाँव, खाराधोड़ा नवांगाम, खासा, खुर्जा, खुरई, खेड़ा, खेड़ावझेड़ा, खेड़ी औधड़, खेतीखान, खेरतलु (बड़ौदा),

खेरी-सावलीगढ़, खैराटुंडारसुना, गंगानगर, गंगापुरवेनी, गंगावती, गंदूर, गढ़गाँव, गढ़पुरा, गणपतगंज, गणेशपुर, गढ़देपुर, गनाई, गर्वाजंग बाजार, गर्चा, गांगरौली, गाजियाबाद, गारासणी (गवा), गारौली, गिधौरी, गुटांकल, गुजरा, गुन्वी, गुरदासपुर, गुलबर्गा, गुलाबघाटी रानीवाग, गुनूपुर, गैरतलाई, गोडुगुपेटा, गोधा, गोरखपुर, गोरीविदनूर, गोविन्दगढ़, धुनवारा, चन्डौत, चन्दावाँना, चकना, चकपुरवा, चकसाहो, चकाई, चकौंध, चन्दा, चाण्डक, चान्दा, चामी, चारला, चालीसगाँव, चासकमान, चितराँव, चिलवरीया, चित्रकूट, चीरी, चूरू, चेथरिया, चेवरोल, चोपड़ा, चौमुहँ, छतरपुर, छपरा, छिउलहा, छिताड़, जगदलपुर, जवलपुर, जम्बू तवी, जमालपुर, जरवलरोड, जरिगुम्मा, जयनगर, जयपुर, जलगाँव, जसपुरनगर, जसेला, जामनगर, जालन्धूर, जालहल्ली, जुटोघ, जुन्हैटा, जुकुल, जैतोलस्यूँ, जैसिंहपुर, जोधपुर, जोरावरडीह, जौनपुर, झाँसड़ी, झाँसी, झाटूला, झालोद, टुंडी, टुण्डला, टुरदुरा, डुमरी, डूगेरगढ़, डेहरी, डोंगरगढ़ (दुर्ग), डौंडी, तवाड़ा, तम्बोर, तरवारा, तरैया, तलाला, तलीमिरईदो, तारोवड़ा गाँव, तिनसुकिया, तिलहर, तिलौथू, तुंगसुंगवस्ती (दार्जिलिंग), तेलंगा, थानगढ़, थोरीथाला, दड़िमा, दरभंगा, दलावईपटनम् (कोयम्बतूर), दावनगिरि (मैसूर), दहेगाँव, दाखिया, दिग्गी, दिल्ली, दिलीपनगर, दुवार, दुर्ग, दुवहर, देगलूर, देगाम, देतराव, देमाल, देव, देवकली, देवगना, देवनपुर, देवरी, देवापुर, देवीनवागाम, देवीसराय, देहरादून, दैसरा, धंधुका, धांगधरा (सौराष्ट्र), धमतरी, धमदाहा, धरणगाँव, धारवाड़, धुन्वर, धुरी रेल्वे जंकशन, धुलिया, धूम, धोलपुर, नकहरा, नगलाकला, नगलातौर, नजविद (कृष्णा), नवी दिल्ली, नरवारा, नरसापुर, नरेन्द्रपुर, नलियाकच्छ, नवडीहा, नवसारी, नवादा, नवावगंज, नवाशहर, नान्देड़, नागपुर, नागबंदर, नागरवाड़ा, नाचिनेपल्लि, नादी, नादनेर, नाथद्वारा, नासिक, निमियाँ, निरवाँगी-कवटी चामला, नूराबाद, नेदुमनगढ़ (त्रिवन्द्रम्), नैताले, नैनीताल, नौसारी, पंडरिया, पंडरपुर, पंदे, प्रयाग, पखनाहा, पड़कौली, पचिगाँव, पटना, पट्टीसाम, पटियाला, पतिया, पथरी, पथाड़ा,

परवेजनगर, परशुरामपुर हंडिया, परसागढ़ी, पलयाड़
(सौराष्ट्र), पलोहावड़ा, पाटन, पाण्डेपुर, पातनेमिकुर,
पाणेया, पाताबोझ, पानकनैर गाँव, पालकोट,
पाली, पिछोर, पिथोरा, पिलखुवा, पीठड़, पीठापुरम्,
पिलवाई, पीलीभीत, पुलाथुर, पूना, पूठिया, पेटलाद,
पेंडरा, पेरवा, प्रोद्गादूर, पोखरेड़ा, पोझिया, पोथिया,
पोनकल, पोपड़ा, पोखबंदर, पोलाभूर, फतहनगर, फतेनगर,
फतेरवेड़ी, फतेहपुर राजस्थान, फतेहपुर (यू० पी०),
फतेहपुर (बाराबंकी), फरह, फाजिलका, फूप, बंगलोर,
ब्यावर, बगसरा, बगरू, बड़हिया, बटलावाजार, बड़ाको-
उपगल, बड़ी खादू, बड़ौनी, बदलपुरा, बधरा, बन्नापुर,
बनारस, बबियाल, बम्हई, बम्हनी, बरकाथाना, बरदरी,
बरेला, बरेली, बरोरह, बलाट, बलरामपुर, बलरामपुर-
तलगाड़, बलिया, बसंतराय, बसै, बहेड़ा, बाबोरी, बाँसी,
बागलकोट, बामनवास, बामरा, बामौती, बाराबंकी, बाल-
समुद, बालीपाड़ा, बालापुर, बावल, बास, ब्राह्मणवाड़ा,
बिलासपुर, बिस्कोहर, बीकानेर, बीनागा, बुढानपुर, बुधकीहाट,
बुनगाई, बुरानपुर, बेतिया, बेतियागंज, बेनीगंज, बेलखरा,
बेलगाम, बेलार, बेहटा, बेहराबुजुर्गा, बैजनी, बैरिहा,
बोचड़िया, बोड़ला, बोँदा, भंडारा, भगवतीपुर, भगवानपुर,
भड़ौच, भयसरी, भरतपुर, भरथना, भरथीपुर, भरफोड़ी, भरव-
लिया, भद्रावती, भोंडेड़ा, भागलपुर, भाडले, भानोत, भायला,
भालौद, भावनगर, भीखापुरा, भुजकच्छ, भुल्लरहेड़ी, भंजुरहेड़,
भउरानीपुर, मकडाई, मखनी, मझिगवां, मझौली, मणिपुर
दहिला, मथुरा, मदनगंज, मदनूर, मद्रास, मधुवनी, मधुराही,
मनवाँ, मनेर, मनोहरथाना, मरदानपुर, मल्कापुर, मसली-
पट्टम्, महामलपुर, महारानीपेटा, महियारी, महुआँव, महुआपुर,
माजगाँव, माड़िय-पोखरिया, माधवपुर, मानिकपुर, माले-
गाँव सिटी, मिर्जापुर, मिनावड़ा नं० ३३५, मिरौना,
मुईरपुर रेज, मुंगेली, मुजफ्फरपुर, मुबारकपुर, मुपेड़,

मुरारिया, मुरादाबाद, मुरौना, मुलताई, मुलवासा, मेरठ,
मेरामण्डेली, मेहदौली, मेंहरड़ा, मेहरोनी, मेहसना, मैदगी,
मैथाबड़ावाजार, मैनपुरी, मैसूर, मोती ताम्बड़ी, मोदीनगर,
मोहम्मदपुरखाले, यवतमाल, यशौली, रत्नगिरि, रमासी,
रसुवाराय, रसुना, राजकोट, राजमहल, राजपीपला, राजका,
रामपुर, राजाभात टी० ई०, रानीगंज, रानीवाग-चौधानपाड़ा,
रानीला, रामनगर, रामपुर, रामपुरा, रामवड़ागाँव,
रामानुजगंज, रायपुर, रायपुर (२), रिनाक, रूदावल, रैगाँव,
रैया, रैसैना, लंघवा, लक्ष्मणपुर, लक्ष्मीपुर, लखतर,
लखनऊ, लखावटी, लखीमपुर (नार्थ), लन्दन (इंग्लैंड),
लश्कर, लुधियाना, लोटना, वधावली, वड़नगर, वदरा,
वम्हनी, व्रजनगर, वरंगल, वराही, वादगाँव, वाट्येर,
वासुदेवपुर, विजयनगर, विनैका, विशाखापट्टनम्, विरमगाम,
विस्कोहरवाजार, विसम्हरा, विसौली, वीरगाँव, वेरावल,
वोरोड़ी, शंकरपुर, शमीरपुर, श्रीकुरमास, श्रीनेव.सपुरतालुक,
शान्ताक्रुज, शाहजहाँपुर, शाहपुरपट्टी, शाहाबाद, शिलानाथ-
रूपौली, शुजालपुर सीटी, शेंदुरवाड़ा, शेगाँव, शेरगढ़, शेरपुर,
शोलापुर, संखलपुर, संदूर, संसोली, सआदतगंज, सकड़ी,
सम्बलपुर, समस्तपुरबुजुर्गा, समनापुर, समदुआ, सरस्वतीनगर,
सरायपुख्ता, सलपा, सलेम, सहनिहा, सहारनपुर, साँई
सागर, समहुता, सामोज, सासराम, साहबगंज, सिंगरी,
सिंगाही, सिकंदराबाद, सिकदारवर वाडीह, सिन्नर,
सिन्हापाली (कालाहॉडी), सियरही मठिया, सिंहोरा,
सीतापुर, सीवना, सुगाँव, सुजाइयापुर कलई, सुजानपुर,
सुन्दरपुर, सुनाम, सुम्बुकवस्ती, सुमेरपुर, सुरेन्द्रपुर,
सुलतानपुर, सूठी, सूरत, सेलीहाट, सोजीत्रा, सोदपुर,
सोलापुर, सोरोटपार, सोहागपुर, सौधेमऊ, हंसकेर,
हथवांस, हंडालपुर, हत्था, हृदयनगर, हाँसी,
हांगकांग (चीन), हांपाहेड़ी, हाजीपुर, हाथरस,
हाथीपुर, हीरोपट्टी, हैदराबाद, होलागढ़, होलालगुंडी।
नाम-जप-विभाग—‘कल्याण’-कार्यालय, गोरखपुर

अभिलाषा

मिलिहैं कव अंग छार है श्रीवन-बीथिन धूर।
परिहैं पदपंकज-जुगल मेरे जीवन मूर ॥
कव कालिंदी-कूलकी हैहौ तरुवर-डार।
ललितकिसोरी लाडिले झूलें झूला डार ॥

कामके पत्र

(१)

मृत्युके बाद कैसा शरीर मिलता है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला था । आपने जिन प्रसंगोंकी बातें लिखी हैं, वे झूठी भी हो सकती हैं और सच्ची भी । मेरा तो विश्वास है, इस प्रकारकी घटनाओंमें अधिकतर दो चीजें होती हैं—अपने मनके बहम—मानसिक कल्पनाका परिणाम और ढोंग । मैंने कई जगह ऐसा ही अनुभव किया है, परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रेतयोनि होती ही नहीं । प्रेतयोनि होती है और वे राग-द्वेषवश उनकी अपनी-अपनी न्यूनाधिक शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार क्रिया भी करती हैं, जो किसीके अनुकूल होती है और किसीके प्रतिकूल । मरनेके बाद आतिवाहिक देहके अनन्तर कर्मानुसार जीवोंको जब देवदेह या प्रेतदेह मिलता है, तब उसका रूप, रंग, वय वैसा ही होता है जैसा इस जन्ममें था । भेद इतना ही होता है कि देवादि-देह तेजःप्रधान होनेसे दिव्य प्रकाशमय उज्ज्वल होते हैं और प्रेतादि-देह वायुप्रधान होनेसे प्रकाशरहित या तमयुक्त होते हैं । देवदेह भी पहचाने जा सकते हैं—रामायणमें जब लंकाविजयके पश्चात् दशरथ महाराज देव-देहसे पधारते हैं, तब सब उन्हें पहचान लेते हैं । दिव्यलोकमें भगवान्की सेवा करते हुए अर्जुनको युधिष्ठिर महाराजने पहचान लिया था, यह कथा महाभारतके स्वर्गरोहण पर्वमें आती है । इसी प्रकार प्रेतदेह भी पहचाने जा सकते हैं; क्योंकि वे भी उसी सकल-सूरतके होते हैं, जैसे पूर्व शरीरमें थे । शास्त्रोंमें भी इसके अनेक प्रमाण हैं । यहाँ श्रीमार्कण्डेय-पुराणका एक प्रमाण उद्धृत किया जाता है—

वाय्वग्रसारी तदरूपं देहमन्यं प्रपद्यते ।
तत्कर्मजं यातनार्थं न मातृपितृसम्भवम् ।
तत्प्रमाणवयोऽवस्थासंस्थानैः प्राग्भवं यथा ॥

(१० । ६४)

‘(मृत्युके बाद मनुष्य) वायुके सहारे चलनेवाला— अर्थात् वायुप्रधान वैसे ही दूसरे शरीरको धारण कर लेता है, जो रूप, रंग, उम्र, अवस्था आदिमें ठीक पहलेके-जैसा ही होता है । यह शरीर माता-पिताके द्वारा उत्पन्न नहीं होता, कर्मजनित होता है और यातनाभोगके लिये ही मिलता है ।’

इससे आप समझ गये होंगे कि तत्त्वतः ऐसी बातें सत्य हैं; परंतु जो हो रहा है, उसमें तो अधिकांश ठगी या बहम ही सम्भव है और इन दोनोंसे वचना ही चाहिये ।

इनसे बचकर भी, मृत-सम्बन्धियोंके प्रति आदर-पूर्वक व्यवहार करना चाहिये और उनके लिये यथा-योग्य अन्न-जल-वस्त्रादिका दान तथा श्राद्ध-तर्पण आदि अवश्य करने चाहिये । गयाश्राद्ध भी परम आवश्यक है ।

(२)

स्वतन्त्र विवाह

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपने कालेजमें शिक्षा प्राप्त करनेवाली एक सत्रह वर्षकी क्षत्रिय-कन्या और उन्नीस वर्षके ब्राह्मण-युवकमें प्रेम होने, उनके परस्पर विवाह करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करने और कन्याके अभिभावकोंके द्वारा इसके विरुद्ध मत प्रकट करनेकी बात लिखकर मेरी सम्मति पूछी, इसके लिये धन्यवाद । सच बात यह है कि इस प्रकारकी चीज वस्तुतः प्रेम है ही नहीं, यह तो मोह-

का आकर्षण है, जो हमारे आजकलके कालेजोंकी शिक्षा और संसर्गका कटु फल है। यह आर्यनीति नहीं है, एक प्रकारका यथेच्छाचार है, जो सर्वथा त्याज्य है। विवाहका सर्वोत्तम निर्णय माता-पिताके द्वारा ही होता है और यदि ये दोनों युवक-युवती धर्म तथा सदाचारकी रक्षा करना चाहें और यथार्थ प्रेमका भी आदर करें तो उन्हें अपने माता-पिताके इच्छानुसार विवाहका आग्रह छोड़ देना चाहिये और अपने पवित्र प्रेमको—भाई-बहिनके पवित्र प्रेमकी भाँति आजीवन निबाहना चाहिये। इसीमें सब प्रकारसे मङ्गल और कल्याण है।

पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनमें परस्पर अभीतक केवल मन-वाणीका ही व्यवहार है या शारीरिक दोष भी आ चुका है; क्योंकि आजकल ऐसी घटनाएँ बहुत होती हैं और हमको दूसरे कई युवक-युवतियोंके ऐसे पत्र भी मिले हैं जिनमें स्पष्टरूपसे इस दोषको स्वीकार करके आगेके लिये राय माँगी गयी है। यदि यहाँ ऐसी बात हो चुकी हो अथवा वे दोनों किसी प्रकार भी अपना मत बदलनेको राजी न हों तो वैसी अवस्थामें या तो कन्याके अभिभावकोंको, स्वयं कन्या या अन्य कोई सज्जन, जिनका उनपर प्रभाव पड़ता हो, समझाकर इस धर्मसंकटकी स्थितिमें उनकी अनुमति प्राप्त कर लें। यदि अनुमति न मिले, और मत बदलने योग्य स्थिति भी सर्वथा न हो तो वे घरवालोंसे सम्बन्ध तोड़कर अपना विवाह इच्छानुसार कर लें। वालिग लड़कीको कानूनन कोई रोक नहीं सकता। अवश्य ही ऐसा करना संस्कृति और धर्म तथा सदाचारकी दृष्टिसे उचित तो नहीं है। यह मेरा स्पष्ट मत है।

कन्याके अभिभावकोंसे भी मेरा नम्र निवेदन है कि वे परिस्थितिको भलीभाँति समझ लें। यदि कन्यामें कोई दोष घट चुका हो या कन्या किसी प्रकारसे भी

अपना मत बदलनेको तैयार न हो तो उसे इच्छानुसार करनेके लिये स्वतन्त्रता दे देनी चाहिये। इस उम्रके युवक बच्चे तो हैं नहीं, जो आपकी डाँटसे मान जायँगे। घर तथा इज्जतका उन्हें ख्याल होता तो वे ऐसी बात उठाते ही नहीं। ऐसे प्रसङ्गोंमें यह निश्चय तो पहले ही कर लिया जाया करता है कि 'चाहे कुछ भी हो, हम अपनी बातपर डटे ही रहेंगे। सारे बन्धनोंको तोड़कर ही तो प्रेमको निभाना है।' (यद्यपि वस्तुतः यह प्रेम नहीं है, है वासना ही।) अतएव मान-इज्जतकी दृष्टिसे भी आप उन्हें नहीं रोक सकते। असर्वग-विवाहकी अशास्त्रीयताका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा; क्योंकि ऐसे युवक-युवतियाँ इन शास्त्रोंको भी प्रमाण नहीं मानते। ऐसी अवस्थामें कन्याके स्नेहवश अथवा उसका जीवन सुखी बनानेके लिये ही अपने मन तथा मतके एवं कुटुम्बकी रीति-नीतिसे सर्वथा विरुद्ध होनेपर भी उसे विवाहकी अनुमति दे देना ही उचित माध्यम होता है। इसे आपद्-धर्म समझना चाहिये। इसके विपरीत करनेसे वे मानेंगे तो नहीं ही, किसी प्रकारकी दूसरी बड़ी बुराई भी उत्पन्न हो सकती है।

सच्ची बात तो यह है कि जवान लड़कियोंको कालेजोंमें पढ़ाना तथा लड़कोंसे अबाध मिलने-जुलने देना ही इस प्रकारकी बुराइयोंकी जड़ है। माता-पिता पीछे पछताते हैं (और ऐसे युवक-युवतियोंको भी मनमानी करनेपर भविष्यमें बहुत पछताना पड़ता है—इसके प्रमाण मेरे पास हैं) पर उच्च शिक्षाके नामपर लड़कियोंके जीवनका सर्वनाश करने और उन्हें विषय-वासनाकी जलती भट्ठीमें झोंक देनेसे बाज नहीं आते। यही मोह है। और फल तो वही होगा, जैसे बीज बोये जायँगे।

सती द्रौपदी

(लेखक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

(१०)

अपनी प्रतिज्ञाका पालन, नियमोंपर दृढ़ता और भगवान्‌का भरोसा मनुष्यको सब प्रकारकी आपत्तियोंसे बचा लेता है। अनेकों प्रकारकी विपत्तियोंसे मुक्त होनेका एकमात्र साधन है—नियमोंमें बँध जाना। जो नियमोंका उल्लङ्घन करके अपने जीवनको मर्यादाहीन और उच्छृङ्खल बना देते हैं, वे किसी भी बातपर स्थिर नहीं रह सकते। नीतिशास्त्रमें कहा गया है कि जैसे मलिन वस्त्रवाले पुरुष जहाँ-कहीं भी बैठ जाते हैं, उन्हें वस्त्रकी गन्दगीका ख्याल नहीं रहता, वैसे ही एक बार सदाचारके नियमसे च्युत हुए पुरुष शक्ति और सुविधा रहनेपर भी सदाचारके नियमोंका पालन करनेमें प्रमाद करने लगते हैं। इसीसे संसारके सभी महापुरुष जीवनके नियमनका आदर करते हैं और अपने-आपको अपने ही बनाये नियमोंसे नियन्त्रित रखते हैं।

द्रौपदीके जीवनमें वह समय बड़े ही कष्टका था। जीवनकी और परिस्थितियोंमें वह अपनेको द्रुपदकी पुत्री, पाण्डवोंकी पत्नी और श्रीकृष्णकी सखी कहकर विपत्तियोंसे त्राण पा सकती थी; परंतु अब ऐसे दिन आ गये कि वह इन बातोंको भी नहीं कह सकती थी। वनवासके बारह वर्षोंमें अब केवल एक दिन ही अवशेष था, कलसे सबको अज्ञातवास करना था। पाण्डव सब-के-सब वीर थे, वे अपनी रक्षा अकेले रहकर भी कर सकते थे; परंतु द्रौपदी क्या करे? कैसे करे? कहाँ रहे? यह प्रश्न था। युधिष्ठिरकी चिन्ताका पारावार न था। वे सोचते थे, हमलोग तो विराट-नगरमें रहकर अपनेको छिपा सकते हैं; परंतु द्रौपदी वहाँ अपनेको किस प्रकार छिपायेगी? द्रौपदीने सामान्य स्त्रियोंकी भाँति कभी कोई काम किया नहीं, क्या यह वहाँ दासी होकर रहेगी? हमलोग द्रौपदीको प्राणोंसे भी बढ़कर प्यार करते हैं, यह सर्वथा आदरणीय है। इसकी व्यवस्था कैसे हो?

महाराज युधिष्ठिर यही सब सोच रहे थे। उनकी चिन्ता द्रौपदीसे छिपी न रही। उसने महाराजसे कहा—‘राजन्! आप मेरे लिये कोई चिन्ता न करें। बड़े लोगोंके

घर अच्छे वंशकी ऐसी स्त्रियाँ रहा करती हैं, जो रनिवासमें शृङ्गारका काम करती हैं। उन्हें ‘सैरन्ध्री’ कहते हैं। मैं अपनेको वहाँ सैरन्ध्रीके रूपमें ही प्रकट करूँगी। सैरन्ध्रीपर लोगोंका विश्वास होता है। मैं राजभवनमें अपनी रक्षा कर दूँगी। मैं वहाँ कहूँगी कि मेरे जीवनके कुछ नियम हैं, मैं उनका उल्लङ्घन नहीं कर सकती। मैं यह भी कहूँगी कि पहले मैं महाराज युधिष्ठिरके रनिवासमें काम कर चुकी हूँ। मैं केशोंका शृङ्गार करनेमें बड़ी निपुण हूँ। महारानी सुदेष्णा बड़े अच्छे स्वभावकी हैं, वे मेरी रक्षा करेंगी।’ युधिष्ठिरने स्वीकृति देकर कहा कि वहाँ बड़ी सावधानीसे रहना, कोई तुम्हें पहचान न ले।

पाण्डवोंने विराट-नगरकी यात्रा की। रास्तेमें द्रौपदीके थक जानेपर युधिष्ठिरकी आज्ञासे अर्जुनने द्रौपदीको कंधेपर ले लिया। पर्वतशिखरके पास श्मशानके निकट एक शमीका वृक्ष था। उसपर उन्होंने अपने शस्त्रास्त्र बाँधकर रख दिये। उन लोगोंने आपसमें संकेत करनेके लिये अपने नाम रख लिये, अब उनका नाम हो गया—जय, जयंत, विजय, जयत्सेन और जयद्वल। सब-के-सब महाराज विराटकी राजधानीमें पहुँचे। युधिष्ठिरने बड़े प्रेमसे गद्गद-स्वरसे मा दुर्गाकी स्तुति की, जिससे उन्होंने प्रकट होकर उन्हें वरदान दिया कि मैं सब प्रकारसे तुम्हारी रक्षा करूँगी। क्रमशः पाण्डव राजा विराटके दरबारमें गये और उन्होंने उनकी इच्छाके अनुसार पाँचोंको अपने पास रख लिया।

विराट-नगरमें द्रौपदीको अकेली जाती देखकर बहुत-से स्त्री-पुरुष उसके पास जा-जाकर पूछने लगे कि ‘तुम कौन हो और यहाँ क्या करना चाहती हो?’ मैली साड़ी पहने हुए द्रौपदी जब अपनेको सैरन्ध्री बतलाती, तब सहसा किसीको विश्वास नहीं होता। विराटकी रानी सुदेष्णा अपने महलकी छतपर खड़ी होकर नगरकी ओर देख रही थी। द्रौपदीपर दृष्टि पड़ते ही उसने उसको अपने पास बुलवा लिया और कहा कि ‘कल्याणी! तुम कौन हो? क्या काम करना चाहती हो?’ द्रौपदीने कहा—‘मैं सैरन्ध्री हूँ, पहले महाराज युधिष्ठिरके रनिवासमें रहती थी। उनके राज्य-

त्यागके कारण मैं आश्रयहीन हो गयी हूँ। मैं आश्रय पानेपर खूब मन लगाकर काम करूँगी।' रानीने कहा—'सुन्दरी! तुम्हारे मुँहसे यह बातें शोभा नहीं देतीं, तुम तो बहुत-सी दासियोंकी स्वामिनी होने योग्य हो। तुम्हारा शरीर सर्वाङ्गसुन्दर है, बाल बड़े चिकने हैं, वाणी हंसकी-सी है। तुम्हारे चेहरेपर आत्मसम्मानकी झलक है। मैं तो तुम्हें देवकन्या, चन्द्रपत्नी, रोहिणी अथवा विष्णुप्रिया महालक्ष्मी समझ रही हूँ। सच-सच कह दो न कि तुम कौन हो?' द्रौपदीने कहा—'रानीजी! मैं देवी-दानवी कुछ नहीं हूँ, मैंने आपसे कह दिया न, कि मैं पाण्डवोंके रनिवासमें रह चुकी हूँ, मैंने कृष्णपत्नी सत्यभामाकी सेवा की है। बाल सँवारना, उबटन लगाना, फूलोंके गजरे बनाना मैं जानती हूँ। मैं बड़े सुखसे रही हूँ, इसलिये मेरा शरीर दासियोंका-सा नहीं जान पड़ता। पाण्डवोंके वनवाससे मुझे बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। इस समयमें आश्रय चाहती हूँ।'।

रानी सुदेष्णाने कहा—'तुम्हें मैं बड़ी प्रसन्नतासे रख सकती हूँ, परंतु मुझे एक डर है, तुम्हारा सौन्दर्य देखकर राजा तुमपर मोहित हो सकते हैं। रनिवासकी स्त्रियाँ मुग्ध होकर तुम्हें एकटक देख रही हैं। महलके भीतरके वृक्ष तुम्हें देखनेके लिये कुछ झुक-से गये हैं। तुम्हारे रूपलावण्यको देखकर वे मुग्ध हो जायेंगे, इसीसे मैं तुम्हें अपने पास रखनेमें हिचक रही हूँ।' द्रौपदीने कहा—'रानीजी! राजा विराट अथवा संसारका और भी कोई पुरुष मेरा स्पर्श नहीं कर सकता, क्योंकि पाँच नौजवान गन्धर्व मेरे स्वामी हैं और वे गुप्तरूपसे सर्वदा मेरी रक्षा किया करते हैं। वे बड़े बली हैं, मुझपर किसीकी आँख लगते ही वे जान जाते हैं और उसको नष्ट कर डालते हैं। मैं किसीकी जूँटन नहीं छूती, किसीके पैर नहीं धोती, इससे वे प्रसन्न रहते हैं। जो मुझसे यह काम करवाना चाहता है, उसपर वे नाराज हो जाते हैं। कोई पुरुष मेरा धर्म बिगाड़ नहीं सकता। मेरे पति गन्धर्व इस समय बड़े संकटमें पड़े हुए हैं, इसलिये मुझे आपका आश्रय लेना पड़ा है, फिर भी मेरी रक्षा करनेके लिये वे सर्वदा सावधान रहते हैं।' सुदेष्णाने द्रौपदीकी बातें मान लीं और अपने पास उसे रख लिया।

विराट-नगरमें कीचक नामका एक विराटका साला रहता था। वही वहाँ सेनापति था। उसके लिये वह

कलुषित थे। द्रौपदीपर दृष्टि पड़ते ही वह मोहित हो गया, तरह-तरहसे वह द्रौपदीको प्रलोभन देने लगा। वह द्रौपदीकी प्रशंसा करके अपनी अधीनता बतलाकर भोगविलासकी लालच देकर द्रौपदीको अपने जालमें फँसानेकी चेष्टा करने लगा। द्रौपदीने कहा—'भाई! मैं हीनवंशकी सैरन्त्री हूँ। लोग मुझे वृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। मुझसे ऐसी बातें करना तुम्हारे योग्य नहीं है। मैं तो परायी स्त्री हूँ, मुझपर स्वभावसे ही दया करनी चाहिये। अपने धर्मका उल्लङ्घन मत करो, पापके वश मत होओ। जान-बूझकर नरककी धधकती हुई आगमें मत कूदो।' द्रौपदीकी बात सुनकर भी कीचकने नहीं सुनी, वह जानता था कि परस्त्रीको पानेका संकल्प भी महापाप है, फिर भी वह कामवश होकर साम, दान, दण्ड और भेदका आश्रय लेकर द्रौपदीको पानेकी चेष्टा करने लगा।

एक दिन कीचककी सलाहसे किसी कामके बहाने सुदेष्णाने द्रौपदीको उसके घर भेज दिया। द्रौपदी दासी थी, वह जानेमें हिचकती थी, फिर भी रानीकी आज्ञा पालन करनेके लिये उसे जाना ही पड़ा। वहाँ जानेपर कीचकने द्रौपदीके चादरका कोना पकड़ लिया, द्रौपदी भगकर राजसभामें आयी। कीचकने उसका पीछा किया और राजसभामें आते-आते द्रौपदीके बाल पकड़कर उसे जमीनमें गिरा दिया और एक लात मारी। उस समय भीमसेन और युधिष्ठिर दोनों ही सभामें मौजूद थे। वे दोनों क्रोधसे अधीर हो उठे, युधिष्ठिरने भीमसेनको सावधान कर दिया। द्रौपदीने राजा विराटसे कहा—'महाराज! मैं उन महापुरुषोंकी स्त्री हूँ, जिनके वैरी संसारमें सुखकी नींद नहीं सो सकते, जो क्रोधित होनेपर तीनों लोकोंका नाश कर सकते हैं। आप कीचकको दण्ड दीजिये, आप चुपचाप क्यों देख रहे हैं? यह तो राजाका धर्म नहीं है।' द्रौपदीके बहुत कुछ कहनेपर भी राजाने कीचकको कोई दण्ड नहीं दिया। कीचक उनका सेनापति था और वे उसके प्रभावसे डरते थे। युधिष्ठिरने कहा—'सैरन्त्री! तुम रनिवासमें सुदेष्णाके पास जाओ, यहाँ मत रहो। तुम्हारे स्वामी गन्धर्व समय आनेपर अपना काम करेंगे।' द्रौपदीकी आँखें लाल हो रही थीं, बाल बिलखे हुए थे। सुदेष्णाने उसे बहुत समझाया और कहा कि कहो तो कीचकको प्राणदण्ड दिला दूँ। द्रौपदीने कहा—'कहो तो कीचकको प्राणदण्ड दिला दूँ। द्रौपदीने कहा—'कहो तो कीचकको प्राणदण्ड दिला दूँ, और किसीके दण्ड

देनेकी
अब व
क
रहा
पास
स्वामी
नींद
सोइये
प्रकार
विस्तार
भीमसेन
समय
तुम
जाय।
भीमसेन
मिलना
लेना।
कन्याएँ
जाया
बढ़िया
पहुँच
कीचक
देख
थी।
उठ
करती
अनुसा
कह दि
र
गये,
स्पर्श
छुमाने
करनेव
तुम्हारे
प्रशंसा
कोमल
रसिक
जैसा

देनेकी आवश्यकता नहीं । कीचककी मृत्यु समीप है, अब वह बच नहीं सकता ।'

कीचकके किये हुए अपमानसे द्रौपदीका कलेजा जल रहा था । रातको सबके सो जानेपर छिपकर वह भीमसेनके पास गयी और रोकर करुण-स्वरसे कहने लगी—'हे स्वामी ! अमी पापी कीचक जीवित है और आप सुखकी नींद सो रहे हैं । उठिये, मुर्देकी तरह निर्जीवभावसे मत सोइये । सिवा मुर्देके और किसकी स्त्रीका अपमान इस प्रकार किया जा सकता है ।' भीमसेनके पूछनेपर बड़े विस्तारसे द्रौपदीने अपनी करुण-कथा कह सुनायी । भीमसेनने द्रौपदीको आश्वासन दिया और कहा कि 'इस समय प्रकटरूपसे कीचकको मारनेका अवसर नहीं है, इसलिये तुम ऐसा उपाय करो कि कीचक मुझे एकान्तमें मिल जाय । कोई जानने न पावे और मैं उसे मार डालूँ ।' भीमसेनने आगे कहा कि 'कल संध्याके समय तुम कीचकसे मिलना और रातको मिलनेके लिये एक स्थान निश्चित कर लेना । मेरे ख्यालसे राजा विराटकी नाट्यशालामें, जहाँ कन्याएँ दिनमें नृत्य आदि सीखती हैं और रातको चली जाया करती हैं, ठीक होगा । वहाँ एक मजबूत पलंगपर बढ़िया सेज भी लगी हुई है । रातको वहाँ किसी तरह कीचक पहुँच जाय तो मैं उसे वहीं मार डालूँगा । सावधान ! कीचकसे मिलते और वादा करते समय तुम्हें और कोई देख न ले ।' द्रौपदीके मनमें पापियोंके प्रति बड़ी घृणा थी । वह चाहती थी कि संसारसे पापियोंका अस्तित्व उठ जाय, वे मिट जायँ । इसके लिये वह प्राणपणसे चेष्टा करती थी । उसने भीमसेनकी बात मान ली और उसीके अनुसार रातको नाट्यशालामें कीचकको आनेके लिये कह दिया ।

रातको भीमसेन अन्धकारमें जाकर उसी स्थानपर बैठ गये, समयपर कीचक आया । अँधेरेमें भीमसेनके शरीरका स्पर्श करके उसने सोचा कि यह द्रौपदी है । वह स्त्रियोंको लुभानेवाली अनेकों प्रकारकी बातें कहकर द्रौपदीको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगा । भीमसेनने कहा—'मेरे सौभाग्यसे तुम्हारे-जैसा सुन्दर पुरुष प्राप्त हुआ है । तुम्हारी अपनी प्रशंसा भी ठीक ही है, परंतु इसके पहले तुमने कभी ऐसा कोमल स्पर्श नहीं किया होगा । अहा ! तुम बड़े कामकलारसिक हो—रसिकशिरोमणि हो । स्त्रियोंको रिझानेमें तुम्हारे-जैसा निपुण और कौन है ?' इस प्रकार कहते हुए भीमसेन

उछल पड़े—'रे पापी ! अपने पापका मजा चख ।' इस प्रकार कहते हुए उन्होंने कीचकके बाल पकड़कर ऐसा धक्का दिया कि वह जमीनमें गिर पड़ा । कुछ समयतक कुत्सी होती रही, अन्तमें भीमसेनने उसे कुचल डाला । उसके सिर, पैर आदिको उसके शरीरमें ही घुसेड़कर उसे एक मांसका लोथड़ा बना दिया । किसीको पतातक नहीं चला । भीमसेन वहाँसे गायब हो गये । लोगोंने कीचकके शरीरको पहचानकर निश्चय किया कि सैरन्ध्रीका अपमान करनेके कारण उसके स्वामी गन्धर्वोंने ही कीचककी यह दशा की होगी ।

कीचककी मृत्युका समाचार उसके भाई-बन्धुओंको मिला । वे नाट्यशालामें आये, कीचककी दशा देखकर उनके रोंगटे खड़े हो गये । वे कीचककी लोथको मरघटपर ले जानेके लिये सजा ही रहे थे कि उनकी दृष्टि द्रौपदीपर पड़ गयी । उन्होंने कहा कि 'इसी पापिनीके कारण कीचककी मृत्यु हुई है, इसलिये इसे अमी मार डालना चाहिये ।' किसीने कहा—'नहीं, नहीं, मारनेकी आवश्यकता नहीं है, इसे बाँधकर श्मशानपर ले चलो और कीचकके शवके साथ ही इसे भी जला डालो ।' राजा विराटसे अनुमति माँगी गयी, वे कीचकके उपद्रवी भाई-बन्धुओंसे बहुत ही डरते थे । उन्होंने उपकीचकोंकी बात मान ली । उन सबोंने द्रौपदीको कीचककी लाशके बराबर बिठाकर बाँध लिया और श्मशानकी यात्रा की । द्रौपदी अनाथकी भाँति चिल्लाने लगी और जोर-जोरसे कहने लगी—'जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्रथ ! मेरे पाँचो स्वामियो ! मेरी पुकारपर ध्यान दो, ये उपकीचक मुझे जलानेके लिये श्मशानकी ओर ले जा रहे हैं ।' भीमसेनके कानोंमें यह आवाज पहुँची, उन्होंने बड़ी कर्कश-ध्वनिसे उत्तर दिया—'डरो मत, गन्धर्वोंने तुम्हारी आवाज सुन ली है ।' द्रौपदीको कुछ धैर्य हुआ ।

चटपट वेश बदलकर फाटक बिना खोले ही चहार-दीवारी लाँघकर भीमसेन श्मशानकी ओर बढ़े । एक बहुत ऊँचा और मोटा ऊपरसे सूखा बड़ा-सा पेड़ उखाड़ लिया और उसे कंधेपर रखकर वे बड़े वेगसे उपकीचकोंकी ओर दौड़े । उस समय भीमसेनका पैर जिस वृक्षसे लगा जाता था, वही टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाता था । उपकीचकोंने उन्हें गन्धर्व ही समझा । भला, मनुष्यमें भी ऐसी शक्ति हो सकती है ? वे सब-के-सब घबरा गये, बचनेका कोई उपाय न देखकर उनका दिल धड़कने लगा । उन्होंने

सोचा कि शायद सैरन्ध्रीके छोड़ देनेसे हमलोगोंकी जान बच जाय, इसलिये वे द्रौपदीको छोड़कर नगरकी ओर भगे; परंतु भीमसेनने उनका पीछा करके कुचल डाला और उसी वृक्षसे उन सबको मार डाला। द्रौपदीका बन्धन काटकर दिलासा देते हुए जोरसे उन्होंने कहा—‘अब तुम्हें कोई डर नहीं है, जो तुम्हें क्लेश देगा उसे यों ही मौतके मुँहमें जाना होगा।’ भीमसेन चले गये। रातों-रात यह खबर नगरमें फैल गयी, बहुत-से नगरनिवासी मरघटपर आ गये।

नगरवालोंने लौटकर वहाँकी सब बात राजा विराटको सुनायी। विराट द्रौपदीसे बहुत ही भयभीत हुए, उन्होंने अपनी रानीसे कहा—‘प्रिये ! सैरन्ध्रीके आते ही तुम मेरी ओरसे उससे कह देना कि ‘तुम्हारी जहाँ इच्छा हो जा सकती हो। हम तुम्हारा बुरा नहीं चाहते, गन्धवोंका पराक्रम देखकर हम भयभीत हो गये हैं। यह भी कह देना कि गन्धर्व तुम्हारी रक्षा करते हैं, इसलिये राजा स्वयं तुमसे कहनेका साहस नहीं करते। स्त्रियाँ स्त्रियोंसे कहें इसमें कोई दोष नहीं है।’ सुदेष्णाने उनकी बात स्वीकार कर ली। द्रौपदी जब श्मशानसे लौटकर नगरमें आने लगी, तब उसे देखकर नगरवासी इधर-उधर भागने लगे। वे गन्धवोंसे डर रहे थे। द्रौपदीने पाकशालाके सामने आकर संकेतसे ही अपनी कृतज्ञता प्रकट की और नाट्यशालाके सामने आनेपर बृहन्नला-वेशधारी अर्जुनको प्रेमभरा उलाहना दिया। अर्जुनने इशारेसे ही द्रौपदीको अपनी वेदना और समवेदना जतायी। द्रौपदी उन कन्याओंके साथ ही राज-भवनमें गयी। सुदेष्णाने जाते ही राजाकी आज्ञा सुना दी। इसपर द्रौपदीने कहा—‘रानीजी ! अब मैं यहाँसे चली जाऊँगी। अब आप कृपा करके केवल तेरह दिन और अपने पास रहने दें। तेरह दिनके बाद मेरे स्वामी गन्धवोंका मनोरथ पूर्ण हो जायगा और वे आपका बड़ा हित करेंगे, इसलिये इस समय आप सुझे रहनेकी अनुमति दे दें।’ सुदेष्णाने द्रौपदीकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। द्रौपदी सुखसे रनिवासमें रहने लगी।

जब जासूसोंसे कीचक-वधका वृत्तान्त कौरवोंको मालूम हुआ, तब उनके मनमें इस बातकी शंका हुई कि हो-न-हो पाण्डव वहीं छिपे हैं। भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर और कृपाचार्यके मना करनेपर भी उन लोगोंने विराट-नगरपर चढ़ाई कर दी। एक ओरसे सुशर्माके गौरवोंका वृक्ष काटनेके

लिये विराटकी गोशालापर आक्रमण किया और उसका मुकाबला करनेके लिये विराटके चले जानेपर दूसरी ओरसे कौरवोंने धावा बोल दिया। सुशर्माने विराटको हरा ही दिया था; परंतु युधिष्ठिरकी सलाहसे भीमसेन उस युद्धमें आगे कर दिये गये और उन्होंने सुशर्माको मार डाला। उसी समय कौरवोंका आक्रमण होनेपर विराट-नगरमें उनका मुकाबला करनेवाला कोई नहीं था। राजकुमार उत्तरने कहा कि ‘यदि कोई चतुर सारथी मिल जाय तो मैं कौरवोंका सामना कर सकता हूँ।’ द्रौपदीने अर्जुनकी प्रेरणासे उत्तर-कुमारसे कहा—‘भैया ! ये जो आपके सामने बृहन्नला हैं, ये पहले सारथीका काम कर चुके हैं। ये नपुंसक होनेपर भी धनुर्विद्यामें बड़े निपुण हैं। ये पाण्डवोंके पास थे, तब मैं भी वहीं थी, इसलिये मैं इनको जानती हूँ। तुम इन्हींको सारथी बनाकर कौरवोंका सामना करो।’ कुमार उत्तरने अर्जुनको सारथी बनाया। युद्धमें उत्तरके डरने और रोने-चिल्लानेपर भी अर्जुनने उसे रथमें बाँधकर स्वयं ही अपना पूरा पराक्रम प्रकट किया और कौरवोंपर विजय प्राप्त की।

समयपर पाण्डव प्रकट हुए। विराटने उनका सम्मान किया। उन्होंने अपनी कन्या उत्तरासे अर्जुनके विवाहका प्रस्ताव किया। अर्जुनने कहा—‘उत्तराके प्रति मेरा पुत्री-भाव है, इसलिये मैं विवाह नहीं कर सकता।’ अभिमन्युके साथ विवाहका निश्चय हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम, काशिराज, शैव्य आदिको निमन्त्रण भेजा गया। सबके आनेपर उत्तराके साथ अभिमन्युका विवाह हुआ। वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर द्रौपदी और पाण्डव अपने मित्रों और सम्बन्धियोंसे मिलने-जुलने लगे, आनन्द मनाने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंको इतना धन दिया कि वे धनी हो गये। विराट और द्रुपदने भी पर्याप्त सम्पत्ति दी। अब उनके सामने केवल एक ही प्रश्न रहा कि अपना पैतृक-राज्य कैसे प्राप्त किया जाय ?

(११)

संतोंके जीवनमें धर्मसंस्थापन और अधर्मविनाश—इन दोनोंके सामान्यरूपसे रहनेपर भी किसीमें पहलेकी विशेषता होती है तो किसीमें दूसरेकी। बहुत-से महापुरुषोंमें दोनों ही बातें होती हैं। सच्ची बात तो यह है कि एक बात दूसरेकी सहायक है। आसुरी-सम्पत्तिके नाशसे दैवी-सम्पत्तिकी अभिवृद्धि होती है और दैवी-सम्पत्तिकी अभिवृद्धिसे आसुरी-अवतक संसारमें जितने सज्जन

पुरुष हुए हैं, सबने एक स्वरसे इस बातपर जोर दिया है। द्रौपदीके जीवनमें जहाँ धर्म-संस्थापनकी प्रेरणा देखी जाती है, वहीं अधर्म-निवारणके लिये उत्तेजना भी देखी जाती है। वह कौरवोंके साथ समझौतेका प्रश्न उपस्थित होनेपर अप्रसन्न होती है, विरोध करती है और ऐसी चेष्टा करती है कि किसी-न-किसी प्रकार उनका नाश हो जाय। इसका केवल इतना ही कारण है कि वे दैवी-सम्पत्तिके विरोधी हैं, अधर्मके पोषक हैं। धर्मराज्यके संस्थापनके लिये उनका नाश आवश्यक है।

वनवासके बारह वर्ष और अज्ञातवासका एक वर्ष व्यतीत हो गया। द्रुपद, विराट, श्रीकृष्ण, बलराम, सात्यकि आदि एकत्र हुए। कौरवोंसे किस प्रकारका व्यवहार किया जाय, यह चर्चा चलने लगी। यहाँके दूत वहाँ और वहाँके दूत यहाँ जाने-आने लगे। कोई सन्धिके पक्षमें था तो कोई विरोधके पक्षमें। कौरवोंकी ओरसे सन्धिके संदेश लेकर सञ्जय आये। उन्होंने युधिष्ठिर-आदिसे धृतराष्ट्रका संदेश कहा। अर्जुन और श्रीकृष्णसे बात करनेके लिये वे अर्जुनके अन्तःपुरमें गये। उस समय श्रीकृष्ण, सत्यभामा, अर्जुन और द्रौपदी वहीं थे। उस महलमें बिना आज्ञाके नकुल, सहदेव और अभिमन्युका भी प्रवेश नहीं था। सञ्जयने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन शरीरमें उत्तम चन्दन लगाये, विविध प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर एक ही बहुमूल्य आसनपर बैठे थे। श्रीकृष्णके पैर अर्जुनकी गोदमें और अर्जुनके पैर द्रौपदीकी गोदमें थे। श्रीकृष्णका सिर सत्यभामाकी गोदमें था। अर्जुनने सञ्जयको स्वर्णपीठपर बैठनेका इशारा किया; परंतु उनकी हिम्मत नहीं पड़ी। वे आज्ञा पाकर धृतराष्ट्रका संदेश सुनाने लगे। उसका आशय यह था कि पाण्डव धर्मात्मा हैं, उन्हें राज्यके कारण निरीह प्रजाका और भाई-बन्धुओंका रक्तपात नहीं करना चाहिये अर्थात् कौरव उन्हें राज्य भी न दें और पाण्डव युद्ध भी न करें। अर्जुनने सञ्जयको उत्तर नहीं दिया। श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श करके उन्हें उत्तर देनेके लिये प्रेरित किया।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—“सञ्जय! चालाकीकी बातोंसे काम नहीं चल सकता। यदि पाण्डवोंका राज्य उन्हें नहीं मिल जायगा तो किसी भी दशामें युद्ध नहीं रुक सकता। तुम जाकर बड़ोंको प्रणाम और छोटोंको हमारा कुशल-प्रश्न कहकर पितामह भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने कुरुवृद्ध

धृतराष्ट्रसे कहना। तुम मेरा नाम लेकर उनसे कहना कि ‘कुरु राज! अब आपके सिरपर महाभय आ गया है। आप ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर यज्ञ कर लीजिये। स्त्री-पुत्र आदिके साथ आमोद-प्रमोद, सुपात्रोंको धनदान, स्वजनोंका भला कर लेना ही कौरवोंके लिये श्रेयस्कर है। अब वह दिन दूर नहीं, जब सारी पृथ्वीपर युधिष्ठिरका राज्य होगा। मैं उस समय हस्तिनापुरमें नहीं था, मेरे न रहनेके कारण द्रौपदीको ‘गोविन्द-गोविन्द’ कहकर कौरवोंकी सभामें रोना-चिखाना पड़ा था। आज भी वह बात मेरे हृदयमें खटक रही है। उसकी खटक घटी नहीं, बढ़ती ही गयी। मैं द्रौपदीकी इच्छा पूरी करूँगा और उसे सुखी करूँगा। जो अर्जुनसे शत्रुता करेगा, वह गाण्डीव धनुषके द्वारा मौतके घाट उतारा जायगा। मैं अर्जुनकी सहायता करूँगा। कौन है ऐसा कौरवोंमें जो अर्जुनका सामना कर सके? उस दिन विराट-नगरकी लड़ाईमें यह बात प्रत्यक्ष हो चुकी है। त्रिलोकोंका कोई भी वीर अर्जुनके सामने खड़ा नहीं रह सकता। कौरवोंकी जो इच्छा हो करें, सन्धि करें या युद्ध। दोनों ही स्थितियोंमें उन्हें पाण्डवोंका राज्य देना ही पड़ेगा।” श्रीकृष्ण चुप हो गये। सञ्जयने लौटकर धृतराष्ट्रसे सब बातें कह दीं।

जब दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होने लगी, तब पाण्डवोंकी ओरसे यह निश्चय हुआ कि पहले सन्धिके संदेश लेकर श्रीकृष्ण कौरवोंके पास जायँ और बिना युद्धके ही यदि काम चल जाय तो इतना बड़ा रक्तपात क्यों किया जाय? कुछ लोग शान्तिके पक्षपाती थे और कुछ युद्धके। भीमसेनको शान्तिका प्रस्ताव करते देखकर द्रौपदी शोकसे व्याकुल हो उठी। उसने युद्धका समर्थन करनेवाले सात्यकि और सहदेवकी बड़ाई की और श्रीकृष्णसे कहा—“भगवन्! कौरवोंका क्रूर व्यवहार आपसे छिपा नहीं है। पाण्डवलोग जिसके कारण राज्य-सुखसे भ्रष्ट होकर इतने कष्ट भोगते रहे हैं, वह भी आप जानते हैं। सञ्जयके सन्धि-प्रस्ताव लानेपर धर्मराजने यहाँतक कह दिया कि हमें केवल अर्बस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत—ये चार गाँव और एक कोई पाँचवाँ गाँव मिल जाय, तो मैं सन्धि कर दूँ; परंतु दुर्योधनने उनकी यह बात भी नहीं मानी। आप सन्धि कराने जा रहे हैं, तो जाइये भगवन्! परंतु पाण्डवोंके न्याय और कौरवोंके अन्यायपर दृष्टि अवश्य रखियेगा।

‘केशव! आप भले-भले कौरवोंकी सभामें जाइये; परंतु दुर्योधन आधा राज्य दिये बिना ही यदि सन्धिके

प्रस्ताव करे तो आप मंजूर मत कीजियेगा। कौरवोंको जीतना कठिन नहीं है, पाण्डव और संजय मिलकर बड़ी आसानीसे उन्हें हरा सकते हैं। ऐसी आशा नहीं है कि साम या दानके द्वारा कौरव मान जायेंगे। उनपर कृपा करनेकी आवश्यकता नहीं है, अपने जीवन और जीविकाकी रक्षाके लिये साम और दानके द्वारा न माननेपर शत्रुओंको दण्ड देनेका ही विधान है। वीर पाण्डव, सच्चे हितैषी पाञ्चाल और यशस्वी यादवोंको मिलकर कौरवोंको उनके कुकर्मका फल चखाना चाहिये। विजयमें ही क्षत्रियोंका यश है। लोभवश अन्याय करनेवालेको मारना क्षत्रियोंका धर्म है। मैंने विद्वानोंके मुँहसे सुना है कि अवध्यका वध करनेसे जो पाप होता है, वही पाप वध्यका वध न करनेसे होता है। इसलिये ऐसा उपाय कीजिये जिससे पाण्डवों, पाञ्चालों और यादवोंको उस पापका भागी न होना पड़े। श्रीकृष्ण ! इस पृथ्वीपर मेरे समान दुखिया और कौन स्त्री होगी। मैं महाराज द्रुपदकी अयोनिजा कन्या, धृष्टद्युम्नकी बहिन, आपकी प्रिय सखी, धर्मात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू और वीर पाण्डवोंकी धर्मपत्नी हूँ। मेरे गर्भसे पाँच महारथी पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं। मैं ऐसी सौभाग्यवती होकर पाण्डवोंके सामने और आपके जीते-जी सभामें अपमानित की गयी। मैंने वह क्लेश सह लिया। उस समय पाण्डवोंको क्रोधरहित और निश्चेष्ट देखकर मैंने मन-ही-मन 'हे गोविन्द ! मेरी रक्षा करो', इस प्रकार पुकारकर तुम्हारा स्मरण किया था और तुमने मेरी रक्षा भी की थी। राजा धृतराष्ट्रने जब मुझसे वर माँगनेको कहा, तब मेरे वर माँगनेसे ही ये पाण्डव दासभावसे छूटे। कमलनयन श्रीकृष्ण ! आप मेरा दुःख जानते हैं। मैं अपने पति और भाई-बन्धुओंके साथ दुःखके घोर समुद्रमें डूब रही हूँ, आप हमारी रक्षा कीजिये। कौरवोंने बलपूर्वक मुझे दासी बनानेकी चेष्टा की थी। यदि ऐसी चेष्टा करनेपर भी वे जीवित रहें तो अर्जुनके धनुष धारण करनेको और भीमसेनके बली होनेको शत-शत धिक्कार है। यदि आप मुझपर कृपा करते हैं, अनुग्रह रखते हैं, तो शीघ्र-से-शीघ्र कौरवोंको अपने क्रोधकी आगमें भस्म कर दीजिये।

द्रौपदी, नागिनके समान विखरे हुए अपने काले-काले लंबे केशोंको बायें हाथमें लेकर, आँखोंमें आँसू भरकर गिड़गिड़ाती हुई कहने लगी—'श्रीकृष्ण ! जब मेरे शत्रु सन्धिके प्रस्ताव करें, कर्तव्यका निश्चय होने लगे, तब

दुःशासनके हाथोंसे खींचे गये मेरे इन बालोंको याद रखियेगा। यदि भीमसेन और अर्जुन युद्धसे विमुख हो जायेंगे, दीन-भाव स्वीकार करके सन्धि कर लेंगे तो मेरे बूढ़े पिता, मेरे महारथी भाई और अभिमन्युके साथ मेरे पाँचों पुत्र कौरवोंसे युद्ध करेंगे। जबतक दुष्ट दुःशासनके काले हाथको कटकर धूलमें लोटते मैं न देख लूँगी, तबतक मेरा हृदय शान्त नहीं हो सकता। मेरे हृदयमें क्रोधकी आग धधक रही है। तेरह वर्षतक मैंने उसे दवा रक्खा था, अब मुझसे वह क्लेश नहीं सहा जाता। आज भीमसेनके कातर वचन मेरे कलेजेमें बाणकी तरह चुभ रहे हैं। मेरा कलेजा फटा जा रहा है।' द्रौपदी सिसक-सिसककर रोने लगी। उसका शरीर असह्य वेदनासे काँपने लगा।

श्रीकृष्णने द्रौपदीको धीरज बँधाते हुए कहा—'पाञ्चाली ! अब वह दिन दूर नहीं है, जब तुम कौरव-कुलकी स्त्रियोंको रोते-कलपते देखोगी। मैं युधिष्ठिरकी आज्ञासे बड़े-बड़े वीरोंके द्वारा कौरवोंका नाश कराऊँगा। यदि कौरव कालवश होकर मेरी बात नहीं सुनेंगे तो उनके शरीर धूलमें पड़े-पड़े छटपटायेंगे और कुत्ते, सियार, गिद्ध उन्हें नोच-नोचकर खायेंगे। चाहे नक्षत्रोंसहित आकाशमण्डल फटकर गिर पड़े, हिमालय अपनी जगहसे टल जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायें, परंतु मेरा कहना झूठ नहीं हो सकता। रोओ मत, मैं सत्य कहता हूँ—तुम थोड़े ही दिनोंके बाद देखोगी कि तुम्हारे पतियोंने शत्रुओंको मार डाला है और वे सारी पृथ्वीका एकच्छत्र साम्राज्य भोग रहे हैं।' भगवान् श्रीकृष्णने सबकी सम्मतिसे यात्रा की।

श्रीकृष्ण कौरवोंके पास गये। उनकी कुछ ऐसी ही इच्छा थी, सन्धि नहीं हुई। युद्धकी तैयारी हुई और दोनों ओरसे लड़कर अनेकों वीरोंने सद्गति प्राप्त की। युद्धके समय द्रौपदीका कुछ विशेष वर्णन नहीं मिलता। फिर भी वह युद्धके समय शिविरमें ही रहती थी और दिनभरके थके-माँदे वीरोंकी हर तरहसे सेवा करती थी। ऐसी कथा सुनी गयी है कि एक दिन कौरवोंके अत्यन्त आग्रहसे भीष्मपितामहने पाँच बाणोंसे पाण्डवोंको मारनेकी प्रतिज्ञा कर ली। उस समय श्रीकृष्णके कहनेसे उनके साथ द्रौपदी भीष्मपितामहके पास गयी और उसने भीष्मसे सौभाग्यवती होनेका आशीर्वाद प्राप्त कर लिया।

युद्धके अन्तमें जब दुर्योधन जंघा टूट जानेपर युद्ध-भूमिसे भाग निकला, तब भीष्मपितामहने रातके समय

द्रौपदीके सोते हुए पाँच पुत्रोंकी हत्या कर डाली। द्रौपदीको बड़ा शोक हुआ, उसने कहा—‘अश्वत्थामाका वध हुए बिना मैं जीवित नहीं रह सकती।’ अर्जुन और भीमसेनने अश्वत्थामाका पीछा किया। श्रीकृष्ण भी उनके साथ गये। अश्वत्थामाने घबराकर ब्रह्मशिर अस्त्रका प्रयोग किया, जिसके उपसंहारका उसे स्वयं ज्ञान नहीं था। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि ‘तुम भी ब्रह्मशिर अस्त्रका प्रयोग करके अश्वत्थामाके अस्त्रका तेज कुण्ठित कर दो और फिर दोनोंका उपसंहार कर लो।’ ऐसा ही किया गया। ब्रह्मशिर अस्त्रके व्यर्थ होनेपर अश्वत्थामा डरकर भागा। उसने उत्तराके गर्भपर अपने अस्त्रका प्रयोग किया, जिससे पाण्डवोंके वंशका बीज ही नष्ट हो जाय। भगवान् श्रीकृष्णने उस गर्भकी रक्षा की। उसी गर्भसे परीक्षितका जन्म हुआ। भगवान् श्रीकृष्णने अश्वत्थामाको शाप दिया कि तुम तीन हजार वर्षतक ऐसे निर्जन देशमें अकेले घूमोगे, जहाँ तुमसे बात करनेवाला कोई नहीं होगा। तुम्हें कोई छुएगा नहीं, तुम कोढ़ी हो जाओगे। भगवान् व्यासने श्रीकृष्णके शापका समर्थन किया।

श्रीमद्भागवतमें कथा आती है कि अर्जुन अश्वत्थामाको बाँधकर द्रौपदीके सामने ले आये। पहले तो द्रौपदी अश्वत्थामाके मारनेपर ही तुली हुई थी, परंतु जब उसने अश्वत्थामाको बँधा हुआ देखा तब उसका हृदय दयासे भर गया। उसने अश्वत्थामाको नमस्कार किया और अर्जुनसे कहा—‘छोड़ दो, छोड़ दो, यह ब्राह्मण है, हमसे श्रेष्ठ है। जिन भगवान् द्रोणसे तुमलोगोंने रहस्यके साथ सारे चतुर्वेदका अध्ययन किया था, अस्त्रोंका प्रयोग और उपसंहार सीखा था, वही गुरुदेव पुत्रके रूपमें तुम्हारे सामने उपस्थित हैं। तुमलोगोंका वंश बड़ा यशस्वी है, कहीं ब्राह्मण-वधका कलंक न लग जाय। ब्राह्मण पूजा करनेके योग्य हैं, वध करनेके योग्य नहीं। मैं अपने पुत्रोंकी मृत्युसे दुखी होकर रो रही हूँ, अश्वत्थामाकी माता गौतमीकी भी मेरे ही समान रोना न पड़े’ धर्मराज युधिष्ठिरने द्रौपदीके वचनोंका समर्थन किया, परंतु भीमसेनने उनका विरोध करके अश्वत्थामाके मारनेका ही समर्थन किया। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—‘तुम इसके सिरकी मणि निकाल लो, इससे दोनों ही बातें बन जाती हैं।’ अर्जुनने वैसा ही किया। अश्वत्थामा उदास होकर चला गया।

भारतीय महायुद्धमें सगे-सम्बन्धियों, हित-मित्रोंकी मृत्युसे युधिष्ठिरको बड़ा शोक हुआ। विशेष करके इसलिये कि इस

युद्धका निमित्त उन्हींको बनना पड़ा। वे इतने शोकग्रस्त हो गये कि राज्य करनेकी बात तो अलग रही, मृत व्यक्तियोंकी अन्त्येष्टि-क्रियासे भी विरत हो गये। अर्जुन, भीमसेन, नकुल, सहदेवने समझाया कि ‘अब शत्रुओंका नाश हो गया, आप अकंटक पृथ्वीका राज्य भोगें।’ परंतु युधिष्ठिरके चित्तमें किसीकी बात नहीं बैठी। कुल-कामिनियोंमें श्रेष्ठ धर्मदर्शिनी द्रौपदी धर्मराजके पास जाकर बड़े मीठे स्वरसे समझाने लगी—‘स्वामिन् ! तुम्हारे भाई बड़े शोकग्रस्त हो रहे हैं, इन लोगोंने तुम्हारे साथ कितना कष्ट उठाया है। सदा, हवा और अनेकों प्रकारके दुःख सहते समय आप इनसे कहा करते थे कि हम युद्धमें शत्रुओंको जीतकर सारी पृथ्वीका शासन करेंगे। आपके सारे शत्रु मारे गये और अब जब राज्य करनेका समय आया, तब आप इस प्रकार उदास हो गये हैं। क्या इन वीरोंके जीवनमें दुःख-ही-दुःख बढ़ा है ? क्या हम अपने जीवनमें सुखका दिन कभी नहीं देखेंगे ? यह पृथ्वी वीरोंकी भोग्या कहीं गयी है। दण्डहीन राजा पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता। उसकी प्रजा भी सुखसे नहीं रह सकती, इसलिये क्षत्रिय-धर्म और प्रतापका आश्रय लेकर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना और पृथ्वीका उपभोग करना तो आपका जन्मसिद्ध अधिकार है। आपमें क्षमाके साथ क्रोध, दानके साथ ग्रहण, भयके साथ अभय और निग्रहके साथ अनुग्रह विद्यमान है। यह राज्य आपको विद्या, दान, सन्धि, याचना और यज्ञसे नहीं प्राप्त हुआ है। बड़े-बड़े वीरोंको मारकर यह राज्य मिला है, इसपर शासन करना ही आपका कर्तव्य है। आपने बहुत समयतक पृथ्वीका शासन किया है। सारी प्रजा आपको राजाके रूपमें देखनेके लिये लालायित है। मेरी सास कुन्तीने मुझसे कहा था कि ‘विजय प्राप्त होनेके बाद तुम्हारी यह सब विपत्तियाँ दूर हो जायँगी और तुम बड़े सुखसे रहोगी।’ सो आप मेरी चिरसंचित आशापर पाला डाल रहे हैं। आप अपने भाइयोंकी बात मानिये, मेरा आग्रह अम्बीकार मत कीजिये। आप मान्धाता और अम्बरीषकी भाँति निखिल भूमण्डलके शासक होकर शोकको छोड़कर धर्मके अनुसार सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन, प्रजाका पालन, शत्रुओंपर विजय और नाना प्रकारके यज्ञ करके ब्राह्मणोंका भोजन-वस्त्र आदिका दान कीजिये। मेरे स्वामी ! हमलोगोंको निराश मत कीजिये।’

द्रौपदीके समझानेके बाद अर्जुन, व्यास, श्रीकृष्ण आदिने समझाया, जिससे युधिष्ठिरका शोक कम हुआ और

उन्होंने युद्धमें मृत व्यक्तियोंका अन्त्येष्टि-संस्कार किया। उनका राजसिंहासनपर अभिषेक हुआ और वे धर्मपूर्वक प्रजा-पालन करने लगे। श्रीकृष्णकी प्रेरणासे द्रौपदीके साथ सभी लोग भीष्मपितामहके पास गये, वहाँ उन्होंने भीष्म-पितामहके मुँहसे नाना प्रकारके इतिहास, पुराण, उपदेश सुने। उस समय उपदेशके अथसे इतितक द्रौपदी वहाँ उपस्थित थी।

एक दिन उपदेशके समय ही द्रौपदीको हँसी आ गयी। भीष्मपितामहसे वह छिपी न रही, उन्होंने द्रौपदीसे कहा—‘बेटी! मैं जानता हूँ कि तुम बड़ी साध्वी, सदाचारपरायण और मर्यादामें स्थित हो। तुम्हें अकारण हँसी नहीं आ सकती। हँसनेका कुछ-न-कुछ कारण अवश्य होगा। इस समय तुम्हें किस कारणसे हँसी आयी है?’ द्रौपदीने कहा—‘दादाजी! उपदेश सुनते-सुनते मेरा मन दूसरी जगह चला गया था। मैं सोचने लगी कि जब दादाजी ऐसे तत्त्वज्ञानी हैं, तब इन्होंने दुःशासनके वस्त्र खींचते समय उसे रोका क्यों नहीं? जुआ ही क्यों नहीं बंद कर दिया? हँसी इस बातपर आयी कि उस दिन तो बार-बार एक प्रश्न पूछनेपर आपने मेरा उत्तर नहीं दिया। उस दिन आपका ज्ञान न जाने कहाँ चला गया था, आज यह उपदेश सुनकर एकाएक मुझे उस दिनकी बातें याद हो आयीं। इसीसे हँसी आ गयी।’ भीष्मपितामहने कहा—‘बेटी! उन दिनों मैं कौरवोंका अन्न खाता था, उसी अन्नसे मेरे शरीरका खून और मन बनता था। उसके प्रभावसे मेरे मन-बुद्धि दूषित हो गये थे, इसीसे मैं ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सका। अब युद्धमें अर्जुनके वाणोंके लगनेसे मेरे शरीरका दूषित रक्त निकल गया है और कई दिनोंतक उपवास करनेके कारण मन शुद्ध हो गया है। श्रीकृष्णने मेरी बुद्धिमें तत्त्वज्ञान प्रकाशित कर दिया है, इससे मैं इन प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर दे रहा हूँ।’ द्रौपदीका समाधान हो गया।

भीष्मकी मृत्युके अनन्तर पाण्डवोंने अश्वमेध महायज्ञ किया, उसमें द्रौपदीका प्रधान हाथ था। उसीकी सम्मतिसे उलझे हुए काम सुलझ जाया करते थे। वह छोटे-से-छोटे कामको भी अपनी दृष्टिके सामने रखती थी। कोई कठिन समस्या उपस्थित होनेपर स्वयं श्रीकृष्णको याद करती थी और पाण्डवोंको भी याद करनेको कहती थी। उसके स्मरण करते ही श्रीकृष्ण आ जाते थे और किसी भी विषय समस्याके हल होते विलम्ब नहीं होता था। सच्ची बात कही

जाय तो यही कहना होगा कि द्रौपदीका जीवन श्रीकृष्णमय था। वह विपत्तिके दिनोंमें जिस प्रकार श्रीकृष्णकी याद करती थी वैसे ही सम्पत्तिके दिनोंमें भी श्रीकृष्णकी स्मृतिमें ही तन्मय रहती थी।

धर्मराज युधिष्ठिरने बहुत दिनोंतक पृथ्वीपर राज्य किया। बड़े-बड़े यज्ञ, दान, व्रत आदि करते रहे। कुटुम्बमें पूर्णतः शान्ति थी, प्रजा सुखी थी, न आधि थी न व्याधि। धर्मराजके राज्यमें इस प्रकार धर्म-संस्थापन हो गया था कि लोगोंको सत्ययुग-सा प्रतीत होता था। दुराचारी, व्यभिचारी, चोर, डाकू आदिका अभाव-सा हो गया था। राज्यके किसी अङ्गमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं थी। सभी अपने कर्तव्यपालनमें तत्पर थे। द्रौपदी घरके काम-काजके साथ-ही-साथ राज्यके सभी विभागोंपर दृष्टि रखती थी। उसपर राज्यका भार छोड़कर युधिष्ठिर तो निश्चिन्तसे ही रहते थे। उनके जिम्मे केवल एक ही काम था—दान करना। वे वस्त्र, दान ही करते रहते थे। द्रौपदीके सङ्गसे बहुतोंमें भगवान्‌के प्रति श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, भक्तिकी जागृति हुई। संसारके इतिहासमें जितनी सती, साध्वी और भगवद्भक्ता देवियाँ हुई हैं, उनमें द्रौपदीका प्रधान स्थान है। द्रौपदी स्वर्गकी लक्ष्मी थी, राधाकी ही अंशभूता भगवान्‌की विशेष शक्ति थी। वह धर्मद्रोहियोंके नाश और धर्मसंस्थापनाके उद्देश्यसे अवतीर्ण हुई थी। जबतक पृथ्वीमें रही अपना काम करती रही। जब उसके अवतारका कार्य पूरा हो गया, भगवान् श्रीकृष्ण अपने परिकरोंके साथ अन्तर्धान हो गये, तब द्रौपदीने भी भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करते हुए पतियोंका अनुगमन किया और पतिव्रता सती-साध्वी स्त्रियोंके लिये वाञ्छनीय सद्गति प्राप्त की।

हमारी लोहकी जड़ लेखनी द्रौपदीके गुणगानमें सर्वथा असमर्थ है। भगवान् करें, कोई द्रौपदी-सी नारी पुनः पृथ्वीमें अवतीर्ण होकर सारे संसारमें भगवद्भक्तिका, पति-सेवा, राज्य-व्यवस्था, गृह-प्रबन्ध आदि स्त्रियोंके कर्तव्य-पालनका, आत्म-सम्मान, उत्साह और धैर्य आदि सद्गुणोंका आदर्श स्थापित कर दे और जगत्‌के धर्मप्रेमियोंको अपने चरण-चिह्नोंपर चलाकर सारे जगत्‌का कल्याण कर दे। प्रातःस्मरणीया द्रौपदीके स्मरणसे उसका भगवान्‌के प्रति अविचल विश्वास हमारे हृदयमें भी आवे और हम भी उसीकी सति-साध्वी स्त्रियोंके लिये वाञ्छनीय सद्गति प्राप्त करें—यही वाञ्छनीय है।

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष २६

सं० २००८-२००९ वि०

सन् १९५२

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार]

*

[प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७।।)

विदेशोंके लिये १०) [१५ शिल्लिङ्ग]

प्रति संख्या १३)

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याणके छब्बीसवें वर्षकी निबन्ध-सूची

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या	क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-अघमर्षण (प्रो० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	...	११५२	२३-ईश्वर और धर्म मानवकी माँग है (एक महात्माका प्रसाद)	...	१२००
२-अध्यात्मकी ओर [कहानी] (श्री 'चक्र')	...	१०५०	२४-ईश्वर-पूजन (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)	...	१२९४
३-अनैतिकताका निराकरण (श्रीसंतकुमार अवस्थी, एम्० ए०)	...	१३६०	२५-उत्तरार्ध भक्तमाल (भक्तप्रवर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी कृत, नागरी-प्रचारिणी-सभाके द्वारा प्रकाशित 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' से)	...	२०
४-अपने कामको ईमानदारीसे पूर्ण करना ही प्रभुकी पूजा है (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)	...	११००	२६-उदासीनाचार्य श्रीचन्द्रजी (स्वामी श्रीसर्वदानन्दजी महाराज, दर्शनरत्न)	...	४४६
५-अमर मरण (श्रीगोपीनाथ कृष्ण कुण्डे)	...	११५६	२७-एक क्षत्रिय भक्त (श्रीसुदर्शनसिंहजी)	...	८०६
६-अमृतत्व (पं० श्रीशम्भुनाथजी चतुर्वेदी)	...	८९२	२८-एक भक्त राजा	...	१६७
७-अरुणगिरिनाथ (विद्वान् के० एस्० चिदम्बरम्, एम्० ए० 'भारद्वाजन्')	...	३९३	२९-एक क्षणमें भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है ? (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	...	१३८७
८-असुर भक्त गुडाकेश	...	२५७	३०-एकादशीव्रत-विज्ञान (पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा, शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्या-भूषण, विद्यानिधि)	...	९५४
९-असुरराज भक्त वृत्र	...	२५९	३१-कच्छके महान् भक्त दादा मेकण (श्री-बदरुद्दीन राणपुरी)	...	७०५
१०-अज्ञान [कहानी] (श्री 'चक्र')	...	१४९३	३२-कटु-मिष्ट (श्रीबालकृष्ण बलदुवा)	...	९२४
११-आचार और विचार [कहानी] (श्री 'चक्र')	...	१२२७	३३-कण्डु मुनि	...	७२
१२-आचार्य बलदेव विद्याभूषण	...	५२०	३४-कर्णाटकके संत कवि कनकदास (श्री मि० कृ० राजगोपाल, बी० ए० 'साहित्यविशारद')	...	११६७
१३-आचार्य श्रीकण्ठ	...	३०७	३५-कर्तव्यकी जड़ मत काटो [कहानी] (श्री 'चक्र')	...	९०९
१४-आचार्य श्रीश्रीधरस्वामी	...	३३४	३६-कर्म-मीमांसा (स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)	...	१०८९
१५-आत्म-परीक्षा (श्रीरावी)	...	१०५६	३७-कर्महीन (श्रीरावी)	...	१२९३
१६-आत्म-विजयकी सीढ़ियाँ (पं० श्रीलालजी-रामजी शुक्ल, एम्० ए०)	...	१४१०	३८-कल्याण ('शिव') ८७४, ९३८, १००२, १०६६, ११३०, ११९४, १२५८, १३२२, १३८६, १४५०	...	१५०३
१७-आदिकवि वाल्मीकि	...	६०	३९-कल्याणका आगामी विशेषाङ्क—'बालक-अङ्क'	...	१३१९
१८-आध्यात्मिक उन्नतिके लिये सार्विक आहार (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)	...	१४१९		...	६२९
१९-आरण्यक मुनि	...	७४		...	
२०-आराध्यपाद श्रीनन्दकिशोर मुखोपाध्याय (पं० श्रीगौरीशङ्करजी मिश्र)	...	७४६		...	
२१-आसामके भक्तवर श्रीशङ्करदेव तथा उनके शिष्य (स्वामी श्रीभूमानन्दजी महाराज)	...	६८१		...	
२२-आस्तिकवाद और नास्तिकवाद (एक महात्माका प्रसाद)	...	१३२३		...	

४१-कामके पत्र ११५, ११३, ११७५, १२४३, १४३३, १५०३	६८-गोरा कुम्हार ...	४११
४२-कुछ नहीं (श्रीआनन्दीप्रसादजी मिश्र 'निर्द्वन्द्व') ...	६९-गोवंशका भीषण हास क्यों ? (श्रीश्रीरामजी शर्मा सम्पादक 'विशाल भारत') ...	१२३५
४३-कुछ महत्त्वपूर्ण बातें (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	७०-गोसाईं श्रीविठ्ठलनाथजी ...	३३७
४४-कुछ सार विषयोंपर विचार (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	७१-गोस्वामी श्रीरूपलालजी महाराज (चश्मावाले बाबा) ...	३८२
४५-कुमार वज्रनाभ ...	७२-गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी ...	३४२
४६-कुमारी संध्या ...	७३-चित्रकूटके परम त्यागी श्रीरामनारायण ब्रह्मचारीजी (धर्मभूषण श्रीकामतासिंहजी वकील) ...	७७५
४७-कुरुक्षेत्रमें अर्जुनका मोह (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्. ए.)	७४-चिन्तन (श्रीगणपतिजी पारीक.) ...	१२२१
४८-कूवा कुम्हार ...	७५-चिन्तनके कुछ क्षण (श्रीदक्खिणी गुप्ता, एम्. ए.) ...	१२८४
४९-कृष्णभक्ता श्रीयशोदामाई (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ...	७६-चोखा मेला ...	४१७
५०-गङ्गा-जमुनावाह (बाबा श्रीहितशरणजी महाराज) ...	७७-जननी कौसल्या ...	२०८
५१-गन्धर्वराज पुष्पदन्त ...	७८-जनीजनार्दन ...	४२६
५२-गान्धीजीकी दिव्य वाणी ...	७९-जब वैष्णव यमलोक पधारे [कहानी] (श्री'चक्र') ...	११७०
५३-गायक भक्त त्यागराज ...	८०-जाकी रही भावना जैसी (प्रो० श्रीरामचरण- जी महेन्द्र, एम्. ए.) ...	११६२
५४-गायकाचार्य तानसेन ...	८१-जाको राखे साँझों मार सकै ना कोय ...	१०५८
५५-गीता-दण्डवती भक्त जोग परमानन्द	८२-जीव गोस्वामी ...	५०२
५६-गीतामें उपासना (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	८३-जीवन-धन (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्. ए.) ...	१२२२
५७-गुजरातके महान् भक्त श्रीप्रीतमदासजी ...	८४-जीवन्ती वेश्या ...	२९६
५८-गुरु-दक्षिणा (श्रीशुकदेवराय, विशारद, बी० ए०) ...	८५-ज्ञानतत्त्वान्वेषण (आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्. ए.) ...	९८३
५९-गुरु नानकदेवजी (कुमारी श्रीनिर्मला माथुर) ...	८६-ज्ञानविभावना (श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्. ए०) ...	९०२
६०-गुरुभक्त आरुणि या उद्दालक ...	८७-ठाकुर उद्धारणदत्त ...	५४८
६१-गुरुभक्त उत्तङ्क ...	८८-ठाकुर किशनसिंह ...	५८१
६२-गुरुभक्त उपमन्यु ...	८९-ठाकुर मेघसिंह ...	५६८
६३-गुरुभक्त कल्याणस्वामी (श्री एम्. एन्. धारकर) ...	९०-ठाकुर रामचन्द्र कविराज ...	५०५
६४-गोपाल चरवाहा ...	९१-डाकू भगत ...	५३३
६५-गोपियोंका विशुद्ध प्रेम अथवा रासलीलाका रहस्य (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	९२-तपोधन पण्डित बचानि आचारी (महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस') ...	७६७
६६-गो-माताकी सेवासे (एक गो-सेवक कृषक) ...	९३-तीन संस्कारी प्राणी (श्रीसुदर्शनसिंहजी)	१३०८
६७-गोरक्षाके उपाय (लाला हरदेवसहायजी)	९४-तीसरी राह (श्रीरावी)	१४१७

१५-तुलसीका मायावाद (श्रीमती शान्ति गौड़, बी० ए०) ... १४२४	१२४-परम भक्तिमती द्रौपदी ... २३७	१४६-
१६-त्यागमयी भीलनी ... ३००	१२५-परम भागवत नाभादासजी ... ६११	१४७-
१७-त्यागी भक्त विठ्ठलदास ... ४८१	१२६-परम भागवत राजा अम्बरीष ... १४८	१४८-
१८-दक्षिणी तुलसीदास ... ४८६	१२७-परम वैष्णव श्रीदेवनायकाचार्यजी (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ... ७८७	१४९-
१९-दाताकी जय हो [कहानी] (श्री 'चक्र') १८६	१२८-परम शिवभक्ता लल्लेश्वरीजी (पं० श्री- अमरनाथजी सप्रू) ... ६२८	१५०-
१००-दीनबन्धुदास और उनका कुटुम्ब ... ५८५	१२९-परमहंस अनन्त महाप्रभुजी महाराज (वावा- श्रीराघवदासजी) ... ७६७	१५१-
१०१-दुर्गाभक्त पण्डित राधानाथ दूवे ... ८०३	१३०-परमहंस रामदासजी (श्रीकेशरीनन्दन- प्रसादजी) ... ७२४	१५२-
१०२-दुर्भावपूर्ण भावनाओंको इस प्रकार जीत लीजिये (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०) १२८	१३१-परमहंस श्रीसियालालशरणजी महाराज [श्रीप्रेमलताजी] (श्रीस्नेहलताजी) ... ७२३	१५३-
१०३-देवर्षि नारद ... ५०	१३२-परमहंस श्रीसीताशरणजी ... ८०१	१५४-
१०४-देशबन्धु भक्त चित्तरञ्जनदास ... ६९७	१३३-परमहंस स्वामी श्रीसियारामजी महाराज (श्रीरामरक्खाजी) ... ७९०	१५५-
१०५-देशके कल्याणके लिये संस्कृत, आयुर्वेद, हिंदी तथा गीता-रामायणके प्रसार-प्रचारकी आवश्यकता (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १४८९	१३४-परमाचार्य श्रीयुगलानन्दशरणजी महाराज (श्रीरामलालशरणजी) ... ७१७	१५६-
१०६-दैत्यराज विरोचन ... २४८	१३५-परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ... ११२५	१५७-
१०७-दो मित्र भक्त ... ८७	१३६-परमेष्ठी दर्जी ... ५९३	१५८-
१०८-दृढ़निश्चयी ब्राह्मण भक्त ... ५२७	१३७-पश्चिमीय विचारधारामें ईश्वरका आकर्षण (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा, एम्० एल० ए०) ... ४००	१५९-
१०९-धन्ना जाट ... ५९०	१३८-पहलवान भक्त धनुर्दास ... ७४३	१६०-
११०-धर्म और भगवान्की नित्यता (एक महात्माका प्रसाद) ... १२७७	१३९-पागल हरनाथ ठाकुर ... १२६९	१६१-
१११-धर्मात्मा [कहानी] (श्री 'चक्र') ... ११११	१४०-पापमें आकर्षण है, सावधान ! (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०) ... ६७९	१६२-
११२-'नमोऽकिञ्चनवित्ताय' (पं० श्रीजानकीनाथ- जी शर्मा) ... ९५८	१४१-पूज्य स्वामी इन्दिराकान्ततीर्थ श्रीपाद वडेर (श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत) ... १२६२	१६३-
११३-नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना ... ८०७	१४२-प्रकृति-पुरुष-विचार (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १२८६	१६४-
११४-नाम-कीर्तनसे शत्रुपर विजय ... ८६५	१४३-प्रतीकोपासना और शिवलिङ्ग-रहस्य (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) ... १०३२	१६५-
११५-नाम-साधना (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) ... ८८५	१४४-प्रपत्तिकी विशेषता (प्रो० जयनारायण मल्लिक, एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार) ... १२८८	१६६-
११६-निष्काम भक्त तुलाधार ... २७८	१४५-प्रभु अतुलकृष्ण गोस्वामी (आचार्य श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी, एम्० ए०, विद्याभूषण, साहित्यरत्न) ... ७५०	१६७-
११७-नेता कौन है ? (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा, एम्० एल० ए०) ... १२२५		१६८-
११८-पं० श्रीअमोलकरामजी शास्त्री ... ७३१		१६९-
११९-पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज ... ७१९		१७०-
१२०-पयहारी श्रीकृष्णदासजी ... ६१४		१७१-
१२१-परदुःखकातर महाराज रन्तिदेव ... १३८		१७२-
१२२-परब्रह्म श्रीरामजी (श्रीकुन्दनलालजी नन्होरिया) १७२		१७३-
१२३-परम भक्त संत श्रीहरिहर वावाजी (पं० श्रीब्रह्मदत्तजी चतुर्वेदी, एम्० ए०) ... ७८६		

१४६-प्रभुचरणरसिक हरिरायजी	...	३४७	१७३-ब्रह्मचारी श्रीकुलदानन्दजी (ब्रह्मचारी	७४२
१४७-प्रभु जगद्वन्धु	...	७४३	श्रीगंगानन्दजी)
१४८-प्रभु-भक्ति शाश्वत सुखका अचूक साधन है	१७४-ब्रह्म, ब्रह्मकी प्राप्ति और प्राप्त पुरुषका
(श्रीरुलियारामजी कालिया)	...	१३५३	स्वरूप (हनुमानप्रसाद पोद्दार)	...	१२०९	...
१४९-प्रभु श्रीनित्यानन्द	...	३४१	१७५-ब्रह्मर्षि वशिष्ठ	५३
१५०-प्रश्नका दान (श्रीरावी)	...	१२३२	१७६-ब्रह्मर्षि विश्वामित्र	५९
१५१-प्रसिद्ध भक्त श्रीजादवजी महाराज	...	७९६	१७७-ब्रह्मर्षि श्रीसत्यदेवजी महाराज (पण्डित
१५२-प्रह्लादजननी कयाधू	...	२९०	श्रीवनवारीलालजी शर्मा)	...	७५४	...
१५३-प्राचीन ग्रन्थोंमें राजधर्म (व्योहार	१७८-ब्राह्मण देवमाली	१०६
श्रीराजेन्द्रसिंहजी)	...	१२१९	१७९-भक्त अक्रूर	१७५
१५४-प्राप्तका आदर करना चाहिये (प्रो०	१८०-भक्त अंगदसिंह	५७४
श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)	...	१३५१	१८१-भक्त अप्पर	३९४
१५५-प्रार्थनासे रोगनाश (श्रीमती सी० ई०	१८२-भक्त उद्धव गोसावी (श्रीविठ्ठल रंगराव देश-
एच० रेव० एच० जे० गार्लेण्ड)	...	९९१	पाण्डे, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)	...	४३५	...
१५६-प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण (श्री म०	१८३-भक्त उद्धवजी	१८६
त्रि० भट)	...	१४७६	१८४-भक्त ऋधराज जाम्बवान्	...	२६५	...
१५७-प्रेमिणी हसीना और हमीदा	...	६६४	१८५-भक्त कण्णप (चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचारीजी)	...	३९०	...
१५८-प्रेमी कवि वालाशङ्कर	...	७१२	१८६-भक्त कवीरजी	...	४४२	...
१५९-प्रेमी चक्रिक भील	...	२७९	१८७-भक्त कवि अखा (श्रीसीतारामजी सहगल)	...	७०६	...
१६०-प्रेमी जटायु	...	२६४	१८८-भक्त कवि केशव (श्रीवदरुद्दीन राणपुरी)	...	७०८	...
१६१-प्रेमी भक्त गणेशनाथजी	...	४५८	१८९-भक्त कवि मुक्तेश्वर	...	४२६	...
१६२-बन्धु महान्ति	...	५४०	१९०-भक्त कविरत्न जयदेवजी	...	४८८	...
१६३-बहिन सरस्वती	...	६५९	१९१-भक्त कवि श्रीदयारामभाई (जोशी श्री-	...	७०७	...
१६४-बाबा दूधनराम औधड़ (महात्मा श्री-	जीवनलाल छगनलालजी)
जयगौरीशंकर सीतारामजी)	...	७६६	१९२-भक्त कानस्वामी (गोसाई	...	७०९	...
१६५-बाबा रघुपतिदासजी (बाबा श्रीलक्ष्मणदासजी	पीताम्बरपुरी, प्रेमपुरी)	...	८००	...
महाराज)	...	७७२	१९३-भक्त कान्हड़दासजी (श्रीसुधाकरजी पुजारी)	...	२८७	...
१६६-बाबा श्रीरघुवीरदासजी (भक्त श्रीरामशरण-	१९४-भक्त किरात और नन्दी वैश्य
दासजी)	...	७८६	१९५-भक्त कुञ्जविहारीसिंहजी (पं० श्रीजानकी-	...	७७४	...
१६७-बार-बार नहीं पाइये, मनुष-जनमकी मौज	नाथजी शर्मा)	...	३५१	...
(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी)	...	१३९३	१९६-भक्त कुम्भनदासजी	...	४११	...
१६८-बालक मोहन	...	५६३	१९७-भक्त कूर्मदास	...	५१९	...
१६९-बालभक्त ओमप्रकाश	...	८०३	१९८-भक्त कृष्णदास कविराज	...	७१६	...
१७०-बावन बाबा	...	७६९	१९९-भक्त केशवदासजी (श्रीवदरुद्दीन राणपुरी)	...	७०१	...
१७१-बुखाराके भक्त बाजन्द (वैद्य श्रीवदरुद्दीन	२००-भक्त खीमसाहेब (श्रीमाणेकलाल शंकरलाल
राणपुरी)	...	७७५	राणा)	...	७०३	...
१७२-बोधमाला (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई	२०१-भक्त गंगसाहेब (श्रीमाणेकलाल शंकरलाल
ह्यास)	...	९६८, १०३६, ११०४	राणा)	...	५४६	...

२०३-भक्त गजेन्द्र	२७२	(विद्याभूषण, सांख्य-साहित्य-वेदान्त-पुराण- तीर्थ श्रीव्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य)...	५७८
२०४-भक्त गरीबदासजी	६१८	२३४-भक्त देवाजी पुजारी	...
२०५-भक्त-गाथा [विश्वासी भक्त श्रीमानसिंहजी] (कु० श्रीविजयसिंहजी झाला, बी० ए०, साहित्यरत्न)	१३६९	२३५-भक्त नामदेव	...
२०६-श्रीचिदम्बर दीक्षित	९०५	२३६-भक्त नारायणदास	...
२०७-भक्त गिरवर	४६७	२३७-भक्त निषादराज तथा केवट भक्त	...
२०८-भक्त गोकर्ण	१२०	२३८-भक्त निषाद वसु और उसका पुत्र	...
२०९-भक्त गोवर्धन	६१९	२३९-भक्त नीलाम्बरदास	...
२१०-भक्त गोविन्ददास	६१२	२४०-भक्त पट्टिणत्तु, पिळ्ळैयार (पं० श्रीविश्वम्भरदत्तजी शर्मा, शास्त्री)	...
२११-भक्त गोस्वामी विजयकृष्णजी	८४१	२४१-भक्त पण्डित लक्ष्मणप्रसादजी ववेल्ले (श्रीमैयालाल हरिवंशजी आर्य)	...
२१२-भक्त ग्वारिया बाबा (श्रीसुदर्शनसिंहजी)	७३२	२४२-भक्त पद्मनाभ	...
२१३-भक्त चण्डीदास	४९५	२४३-भक्त पयाहारी बाबा (श्रीजानकीदेवी द्वे)	...
२१४-भक्त चतुर्भुज	६२४	२४४-भक्त पर्वतजी	...
२१५-भक्त चन्द्रहास	१४०	२४५-भक्त पाण्डव	...
२१६-भक्त-चरितकी उपादेयता (परशुराम- पुरीस्थ श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर अनन्त- श्रीविभूषित, श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी महाराज)	८३८	२४६-भक्त पुण्डरीक	...
२१७-भक्त चेता माली	८०५	२४७-भक्त पुरन्दरदासजी	...
२१८-भक्त चोलराज और भक्त विष्णुदास ब्राह्मण	१६३	२४८-भक्त पुरुषोत्तम	...
२१९-भक्त जनाबाई	६३०	२४९-भक्त प्रचेतागण	...
२२०-भक्त डाक्टर दुर्गाचरण	७३९	२५०-भक्त प्रतापराय	...
२२१-भक्त तुलाधार वैश्य	२७४	२५१-भक्तप्रवर श्रीराधिकादासजी महाराज (एक भक्त)	...
२२२-भक्त दत्तात्रेयजी आण्णाबोवा (श्रीरामचन्द्र दादोभावे)	६७८	२५२-भक्तप्रवर स्वामी हरिदासजी [हरिपुरुषजी] (श्रीमङ्गलदासजी स्वामी)	...
२२३-भक्त दर्जी और सुदामा माली	२८३	२५३-भक्त प्रह्लाद	...
२२४-भक्त दामाजी पन्त	४०६	२५४-भक्त प्रेमनिधि	...
२२५-भक्त दामोदर और उनकी धर्मपत्नी	४७९	२५५-भक्त वननेका सरल साधन (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	...
२२६-भक्त दामोदरदासजी (धर्मभूषण पं० श्री- मधुसूदनाचार्यजी महाराज)	६७५	२५६-भक्त बाबा ताजुद्दीन (श्रीसैयद कासिम अली 'साहित्यालङ्कार')	...
२२७-भक्त दाशरथि स्मृतिभूषण (संत श्री- सीतारामदास औंकारनाथ महाराज)	७५१	२५७-भक्त बाबा मनोहरदासजी (श्रीनिरञ्जनदासजी)	...
२२८-भक्त दासीजीवण	७११	२५८-भक्त बालकराम	...
२२९-भक्त नन्दलाल (श्रीरामचन्द्रजी विजयवर्गी)	७५७	२५९-भक्त वालीग्रामदास	...
२३०-भक्त नरसी मेहताजी	४५४	२६०-भक्त विल्वमङ्गल	...
२३१-भक्त नरहरि सुनार	४१७	२६१-भक्त-भक्ति-भगवान्की वन्दना	...
२३२-भक्त नवीनचन्द्र	५२९	२६२-भक्त भद्रतनु और उनके गुरु दान्त	...
२३३-भक्त नागरीदासजी और उनका परिवार	५२९	२६३-भक्त भद्रमति	...
				२६४-भक्त भलराजजी (चौधरी श्रीशिवसिंहजी)	...

२६५-भक्त भाणसाहेव (श्रीमाणिकलाल शङ्करलाल राणा) ...	६९९	२९५-भक्तराज सुदर्शन (पं० श्रीश्यामानन्दजी झा, सा० आ०, पु० शास्त्री) ...	१९९
२६६-भक्त भीम कुम्हार और उसकी पत्नी ...	२८१	२९६-भक्त राजा इन्द्रधुम्न ...	१३४
२६७-भक्त भुवनसिंह चौहान ...	५७२	२९७-भक्त राजा तोण्डमान ...	१९७
२६८-भक्त मनकोजी बोधला ...	४१८	२९८-भक्त राजा पुण्यनिधि ...	१६८
२६९-भक्त मयूरध्वज ...	१९२	२९९-भक्त रामकृष्ण मुनि ...	१००
२७०-भक्त महर्षि मुद्गल ...	१२२	३००-भक्त रामचन्द्र ...	४७१
२७१-भक्त-महिमा, भक्त होनेके उपाय तथा भक्तिके विभिन्न प्रकार ...	८४०	३०१-भक्त रामदास ...	५८३
२७२-भक्त महेश (श्रीगोपालचन्द्र चक्रवर्ती, वेदान्तशास्त्री) ...	७५४	३०२-भक्त रामदास चमार ...	५९५
२७३-भक्त महेशदासजी (दीवानवहादुर श्रीकेशवदासजी) ...	४५०	३०३-भक्त रामनारायण ...	३९६
२७४-भक्त महेश मण्डल ...	५४९	३०४-भक्त रामरूपजी (श्रीरामलखनदासजी, श्रीवैजनाथदासजी) ...	६७४
२७५-भक्त माणिक्य वाचक ...	३९५	३०५-भक्त रामहरि भट्टाचार्य ...	५३१
२७६-भक्त माधवदासजी ...	६०७	३०६-भक्त रामानुज ...	१०२
२७७-भक्तमाल (भक्तराज श्रीनाभाजी महाराजकृत)	३	३०७-भक्त राव जगतसिंहजी (श्रीसिरेहमलजी पंचोली) ...	५७७
२७८-भक्त मुनि उतङ्क ...	७६	३०८-भक्त रैदासजी ...	४५२
२७९-भक्त मुनिजी [स्वामी नरहर्यानन्दजी] (श्रीभगवानदासजी) ...	४३८	३०९-भक्त रोमहर्षणजी ...	२८२
२८०-भक्त मुरारीदास ...	५५८	३१०-भक्त ललिताचरण ...	५६५
२८१-भक्त मोरारसाहेव (श्रीमाणिकलाल शङ्करलाल राणा) ...	७०२	३११-भक्त लाखाजी और उनका आदर्श परिवार ...	६०९
२८२-भक्त यज्ञनारायणजी पाण्डेय (पं० श्री-शिवनाथजी दूवे, साहित्यरत्न) ...	७७१	३१२-भक्त लालाजी (पं० श्रीमङ्गलजी उद्धवजी शास्त्री) ...	७११
२८३-भक्त रघुनाथदास ...	५०६	३१३-भक्त लाला भगवानसहायजी (श्रीवासुदेवजी चामलीकर 'मृगाङ्क') ...	७७३
२८४-भक्त रमावल्लभदासजी ...	४२९	३१४-भक्त लोकनाथ गोस्वामी ...	५१३
२८५-भक्त रसखान ...	३६३	३१५-भक्त लोकमान्य तिलक ...	६८४
२८६-भक्त रसिकमुरारिजी ...	३७९	३१६-भक्त लोचनदास ...	५१८
२८७-भक्त रौंका-बाँका ...	४१५	३१७-भक्तवर उमापतिजी त्रिपाठी (पं० श्री-अम्बिकेश्वरपतिजी त्रिपाठी) ...	७७०
२८८-भक्तराज काकभुशुण्डि ...	२६३	३१८-भक्तवर पं० मोहनलालजी अग्निहोत्री (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ...	७८४
२८९-भक्तराज गरुड़जी ...	२६२	३१९-भक्तवर पं० श्रीहरनारायणजी (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ...	७८७
२९०-भक्तराज पण्डित देवीसहायजी ...	७७०	३२०-भक्तवर पीपाजी (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ...	५८४
२९१-भक्तराज भीखजन (श्रीदेवकीनन्दनजी खेडवाल) ...	६१७	३२१-भक्तवर श्रीगुमानसिंहजी (स्वर्गीय महाराजा श्रीचतुरसिंहजी देव) ...	७६२
२९२-भक्तराज भीष्मपितामह ...	१७१	३२२-भक्तवर श्रीप्यरेलालजी (भक्त श्रीरामशरण-दासजी) ...	७८६
२९३-भक्तराज श्रीगुलाबरावजी महाराज (श्रीरामनारायणजी श्रीवास्तव) ...	६७९	३२३-भक्तवर श्रीमगनलाल हरिभाई न्यास ...	७९८
२९४-भक्तराज श्रीनारायणजी भट्टाचार्यका महा-प्रस्थान (श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ) ...	१०५९		

३२४-भक्तवर श्रीरामाजी (डा० श्री- सत्यनारायणसहायजी) ...	७२६	३५४-भक्त श्रीभट्टजी
३२५-भक्त विठ्ठलपंत (कुमारी राजेन्द्री श्रीवास्तव, विशारद) ...	४०८	३५५-भक्त श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण (आचार्य श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी, एम० ए०, विद्या- भूषण, साहित्यरत्न) ...	३७३
३२६-भक्त विमलतीर्थ ...	५८८	३५६-भक्त श्रीराजेन्द्रसिंहजी (एक अज्ञेय) ...	७५१
३२७-भक्त विष्णुचित्त और उनके शिष्य नरपति ...	१२३	३५७-भक्त श्रीरामचरणजी रामसेनेही ...	७६५
३२८-भक्त विष्णुपुरीजी ...	५०३	३५८-भक्त श्रीरूपकलाजी ...	४५०
३२९-भक्त वैकट ...	४७५	३५९-भक्त श्रीशिरधर बाबा (श्रीहरिकान्तप्रसाद- सिंहजी) ...	७२१
३३०-भक्त वेङ्कटरमण ...	४७७	३६०-भक्त श्रीश्यामदासजी महाराज (श्रीजानकी- शरणजी 'स्नेहलता' रामायणी) ...	३९८
३३१-भक्त शङ्कर पण्डित ...	५५३	३६१-भक्त श्रीसरोजकुमार (श्रीफणीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय) ...	७२३
३३२-भक्त शास्त्रीजी शङ्करलाल माहेश्वर (वैद्य श्रीवदरूदीन राणपुरी) ...	७९५	३६२-भक्त श्रीहंसकलाजी (श्रीद्वारकाप्रसादसिंहजी बी० ए०) ...	७२१
३३३-भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी ...	४४०	३६३-भक्त श्रीहरिदासजी महाराज ...	७९७
३३४-भक्त श्यामसुन्दर चक्रवर्ती (श्रीसुरेश- चन्द्र देव) ...	६९६	३६४-भक्त श्रीहरिबापू (वैद्य श्रीवदरूदीन राणपुरी) ...	८००
३३५-भक्त श्रीअरविन्द (श्रीश्यामसुन्दर झुनझुन- वाला, एम० ए०) ...	६९४	३६५-भक्त श्रीहरिव्यासदेवजी ...	३७४
३३६-भक्त श्रीआशुधीरजी (पं० श्रीश्यामसुन्दरजी चतुर्वेदी, शास्त्री, साहित्यरत्न) ...	३६१	३६६-भक्तश्रेष्ठ ध्रुव ...	१२८
३३७-भक्त श्रीएकनाथजी ...	४२२	३६७-भक्तश्रेष्ठ युधिष्ठिर ...	१७८
३३८-भक्त श्रीकबुभाईजी (श्रीभगवानदासजी जैथल्या) ...	७९८	३६८-भक्त संतदासजी (श्रीनेहपालसिंहजी, रिटायर्ड आई० ई० एस०) ...	७८५
३३९-भक्त श्रीकृष्णदासजी ...	३५४	३६९-भक्त सञ्जय ...	२८५
३४०-भक्त श्रीगदाधर भट्टजी ...	३६८	३७०-भक्त समाधि वैश्य ...	२७३
३४१-भक्त श्रीगोविन्ददासजी ...	३५५	३७१-भक्त सम्बन्ध ...	३९४
३४२-भक्त श्रीचतुर्भुजदासजी ...	३५९	३७२-भक्त साँवता माली ...	४१६
३४३-भक्त श्रीछीतस्वामीजी ...	३५८	३७३-भक्त सालवेग ...	६०४
३४४-भक्त श्रीजाम्भोजी महाराज (डा० श्रीहरिवंश- सिंहजी तथा श्रीरमेशचन्द्रजी शास्त्री) ...	४५६	३७४-भक्त सुधन्वा ...	१८९
३४५-भक्त श्रीडाह्याभाई (श्रीदास तुलसी) ...	८०२	३७५-भक्त सुव्रत ...	६७
३४६-भक्त श्रीतुकारामजी चैतन्य ...	४३०	३७६-भक्त सूरदासजी ...	३४८
३४७-भक्तवर श्रीदादूजी ...	४४३	३७७-भक्त सेठ रमणलाल ...	६२२
३४८-भक्त श्रीनन्ददासजी ...	३५७	३७८-भक्त सेन नाई ...	६०१
३४९-भक्त श्रीनरहरिदेवजी ...	३८५	३७९-भक्त स्वामी रामअवधदास ...	६७२
३५०-भक्त श्रीनिवास आचार्य ...	५१४	३८०-भक्त स्वामी श्रीरामतीर्थ ...	७५५
३५१-भक्त श्रीपतिजी (श्रीमदनमोहनजी खण्डेलवाल) ...	३६२	३८१-भक्त हरिदासजी ...	५६७
३५२-भक्त श्रीपरमानन्ददासजी ...	३५३	३८२-भक्त हरिदास डाकोरवाला ...	७९५
३५३-भक्त श्रीभगवानदासजी मधुकरिया (श्री- अञ्जनीनन्दनशरण श्रीशीतलसहायजी) ...	३५३	३८३-भक्त हरिदास यवन ...	५१६

३८५-भक्त हरिमेषा और सुमेषा	...	१२३	४१५-भगवान् शङ्कराचार्य	३०४
३८६-भक्तहृदय कुम्भकर्ण	...	२५२	४१६-भगवान् शेष	२६२
३८७-भक्त होथी (श्रीमाणेकलाल शंकरलाल राणा)	...	७७८	४१७-भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जन्मकुण्डली और फलादेश (प्रे०—पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)	१०१९
३८८-भक्ति और भक्त (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)	...	८५६	४१८-भगवती सीताजीके लक्षण (श्रीरामलालजी पहाड़ा)	१४८०
३८९-भक्तिकी परम आदर्श श्रीगोपीजन	...	२२७	४१९-भजन करो (श्रीनारायण स्वामी)	१२३४
३९०-भक्तितत्त्वका विवेचन (प्रो० जयनारायण मलिक, एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)	...	८४८	४२०-भरद्वाज मुनि	६२
३९१-भक्तिमती आण्डाल या रङ्गनायकी	...	३११	४२१-भविष्यजीवनकी झाँकी (प्रो० श्रीजयनारायण मलिक, एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)	११४८
३९२-भक्तिमती कर्ममैतीवाई	...	६३३	४२२-भागवतधर्म (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	८३५
३९३-भक्तिमती कर्मठीवाई (श्रीचन्द्रमावाले बाबा)	...	६३५	४२३-भागवत महीपति	४६२
३९४-भक्तिमती कुँअर-रानी	...	६६२	४२४-भाग्यवती मालिन	२९९
३९५-भक्तिमती गजदेवी और हरदेवी	...	६५१	४२५-भाग्यवती यज्ञपत्रियाँ	२२५
३९६-भक्तिमती चन्द्रलेखा	...	६६६	४२६-भाग्यवती विदुरपत्नी	२९८
३९७-भक्तिमती डा० एनी बेसेंट	...	६८४	४२७-भिक्षु श्रीअखण्डानन्दजी	८०१
३९८-भक्तिमती निर्मला	...	६५६	४२८-मणिदास माली	५९९
३९९-भक्तिमती मङ्गलागौरी (श्रीदेवेन्द्रराय पुरुषोत्तमराय मजूमदार, वी० ए०, कोविद)	...	६४७	४२९-मधु गोस्वामी	५२०
४००-भक्तिमती रविया	...	६२५	४३०-मधु-ब्रह्म (श्रीवसन्तरामजी)	९४६
४०१-भक्तिमती वनमाला (श्रीजयनारायणप्रसादजी)	...	७८०	४३१-मनका मरण (श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)	१४७१
४०२-भक्तिमती विष्णीवाई (बाबा श्रीहितदासजी)	...	६४९	४३२-मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता, भगवत्प्राप्तिके कुछ विघ्न और उनसे छूटनेके उपाय (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१४५१
४०३-भक्तिमती शबरी	...	२९२	४३३-मन्त्र-सिद्धि	१४९८
४०४-भक्तिमती श्रीगोपी मा (श्रीनिरञ्जनदासजी धीर)	...	७८१	४३४-महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख	६९
४०५-भक्ति या प्रार्थनासे सब मनोरथोंकी सिद्धि	...	८५६	४३५-महर्षि अत्रि	५४
४०६-भक्तोंका आराध्य श्रीभगवान्का दिव्य कैशोर (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न)	...	८४७	४३६-महर्षि ऋषु	५५
४०७-भक्तोंका चारित्र्य (पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्य-प्रेमी 'डॉगीजी')	...	८२७	४३७-महर्षि कपिल	५७
४०८-भगवद्भक्तिका रहस्य (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	...	८३०	४३८-महर्षि कश्यप	५७
४०९-भगवान्की कृपा (श्रीशम्भुनाथजी चतुर्वेदी)	...	९२५	४३९-महर्षि दधीचि	७८
४१०-भगवान्की कृपा [कहानी] (श्री 'चक्र')	...	१३६३	४४०-महर्षि भृगु	५५
४११-भगवान्को जगाओ (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)	...	९६७	४४१-महर्षि मुद्गाल	८६
४१२-भगवान् ब्रह्मा	...	४६	४४२-महर्षि मैत्रेय	१०८
४१३-भगवान् वेदव्यास	...	१०९	४४३-महर्षि शरभङ्ग	८५
४१४-भगवान् शङ्कर	...	४३	४४४-महर्षि शाण्डिल्य	६२
			४४५-महर्षि शुक्राचार्य	५८
			४४६-महर्षि शौनक	११२
			४४७-महाकवि मुकुन्दराज	४०५

४४८-महात्मा जडभरत	९९	४७९-महाराज श्रीरामदासजी (श्रीतुलसीजी)	...	७१५
४४९-महात्माजी	श्रीपावनहारी	बाबा	...	४८०-महीकाँठाके भक्त मेहाजल (श्रीमाणिकलाल	...	५०८
(भक्त श्रीरामशरणदासजी)	७७९	शंकरलाल राणा)	...	५०९
४५०-महात्मा प्रयागदासजी (श्रीउदयप्रताप-	७८९	४८१-माता कैकेयी	...	५१०
नारायणब्रह्मादुर पाल)	७८९	४८२-माता देवकी	...	५११
४५१-महात्मा बालि	२६६	४८३-माता यशोदा	...	५१२
४५२-महात्मा रामसुखजी (श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री)	४५१	४८४-माता रोहिणी	...	५१३
४५३-महात्मा विदुरजी	२८४	४८५-माता सुमित्रा	...	५१४
४५४-महात्मा शिशिरकुमार घोष	६८२	४८६-मानव-जीवनमें विश्वासकी महत्ता (श्री'सौरभ')	...	५१५
४५५-महात्मा श्रीअग्रदासजी	६१४	४८७-मानसकी स्वप्न-कथाएँ (श्रीकुन्दनलालजी	...	५१६
४५६-महात्मा श्रीअवधदासजी	७३१	नन्हौरया)	...	५१७
४५७-महात्मा श्रीमस्तरामजी	महाराज	...	७१३	४८८-मामा प्रयागदासजी	...	५१८
(वैद्य बदरुद्दीन राणपुरी)	७१३	४८९-मार्कण्डेय मुनि	...	५१९
४५८-महात्मा श्रीसदाशिव ब्रह्मेन्द्र (श्रीयुत एन्०	६७७	४९०-मिथिलके राजा बहुलाश्व और ब्राह्मण श्रुतदेव	...	५२०
कनकराज अय्यर, एम्० ए०)	६७७	४९१-मीराबाई	...	५२१
४५९-महात्मा सरयूदासजी	महाराज	...	७१०	४९२-मुक्ति-विवेचन (स्वामी श्रीचिदानन्दजी	...	५२२
(पं० श्रीअम्बाप्रसाद नर्मदाशङ्करजी शुक्ल,	७१०	सरस्वती)	...	५२३
एम्० ए०, साहित्यरत्न)	७१०	४९३-मृत्युपर शोक नहीं! [दो पत्र] (श्रीअरविन्द)	...	५२४
४६०-महादानी बलि	२४९	४९४-मेघस्वामी (श्रीवदरुद्दीन राणपुरी)	...	५२५
४६१-महान् भक्त और पारमार्थिक लेखक	७९७	४९५-मेवातके भक्त स्वामी श्रीलालदासजी	...	५२६
श्रीअमृतलाल पट्टियार	७९७	(श्रीकृष्णगोपालजी)	...	५२७
४६२-महान् भक्त रविसाहेब (श्रीमाणिकलाल	७००	४९६-मैत्री-भावनाका अभ्यास (पं० श्रीलालजी-	...	५२८
शङ्करलाल राणा)	७००	रामजी शुक्ल, एम्० ए०)	...	५२९
४६३-महान् भक्त विष्णुस्वामी	३०३	४९७-यशोपवीत-तत्त्व (श्रीसूर्यनारायणजी शास्त्री,	...	५३०
४६४-महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी	३३५	काव्यतीर्थ)	...	५३१
४६५-महाभागवत ज्योतिपन्त	४६३	४९८-युवराज अङ्गद	...	५३२
४६६-महामना भक्त मालवीयजी	६८५	४९९-रघु केवट	...	५३३
४६७-महाराज उग्रसेन	१७३	५००-रघुनाथदास महापात्र	...	५३४
४६८-महाराज दिलीप	१५२	५०१-रणवारीवाले सिद्ध श्रीकृष्णदासजी	...	५३५
४६९-महाराज परीक्षित	१९३	(श्रीशङ्करसिंहजी, बी० ए०)	...	५३६
४७०-महाराज पृथु	१३२	५०२-रसिकभक्त अनन्तफंदी	...	५३७
४७१-महाराज प्रियव्रत	१२६	५०३-रसिकभक्त प्रेमगोपीजी (श्री जी०	...	५३८
४७२-महाराज भर्तृहरि	३०८	भीखमचन्दजी पुरोहित, विशारद)	...	५३९
४७३-महाराज मनु	१२४	५०४-रसिकभक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (राय श्री-	...	५४०
४७४-महाराज मुचुकुन्द	१४३	अम्बिकानाथसिंहजी)	...	५४१
४७५-महाराज रघु	१५३	५०५-रसिकभक्त रामजोशी	...	५४२
४७६-महाराज ब्रजनिधि	५५९	५०६-रसिकभक्त बिद्यापति	...	५४३
४७७-महाराज श्रीचतुरसिंहजी	७६३	५०७-रसिकभक्त सरसमाधुरीजी (श्रीरामलखनदास-	...	५४४
४७८-महाराज श्रीरघुराजसिंहजी (श्रीगुरु रामान्यारेजी	७६१	जी, श्रीवल्लभाचार्यजी)	...	५४५
अग्निहोत्री)	७६१			

५०८-सिद्धेश्वर स्वामी हरिदासजी	...	३६४	५३८-विष्णुभक्त राजा श्वेत	...	१३६
५०९-राजर्षि खट्वाङ्ग	...	१४७	५३९-विसोवा सराफ	...	४१२
५१०-राजर्षि भरत	...	१३१	५४०-वेदान्त-दर्शन—एक विहङ्गम दृष्टि (साहित्य-		
५११-राजा आसकरणजी	...	३६०	महामहोपाध्याय पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र		
५१२-राजा चित्रकेतु	...	१४४	‘पंकज’ शास्त्री, बी० ए०, काव्यतीर्थ,		
५१३-राजा प्रतापरुद्र	...	५०६	साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य, न्यायाचार्य,		
५१४-राजा रत्नग्रीव	...	१६५	साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)	...	१२१४
५१५-राजा रुक्माङ्गद	...	१५०	५४१-वैदिक प्रार्थना (श्रीरामलालजी पहाड़ा)	...	१००३
५१६-राठौड़ राव श्रीगोपालसिंहजी	...	७६३	५४२-वैराग्यकी महिमा (साधुवेषमें एक पथिक)	...	१२१८
५१७-रानी रत्नावती	...	६४४	५४३-ब्रजसखा गोपकुमार	...	१८५
५१८-राम-गीता (श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी,			५४४-शक्ति-उपासना और चण्डीकी रहस्य-विद्या		
एम० ए०)	...	९०७	(श्रीहरिनारायणजी बायम)	...	८९७
५१९-रामभक्त कम्बर	...	३९९	५४५-शरणागतभक्त श्रीविभीषणजी	...	२५३
५२०-रामभक्त मोरोपन्त	...	४६०	५४६-शरणागतवत्सल राजा शिवि	...	१३९
५२१-रामभक्त राजा सुरथ	...	१६२	५४७-शरणागतवत्सल राम (श्रीरवि शर्मा)	...	१४७३
५२२-रामभक्त श्रीगोपीनाथाचार्य (श्रीकन्हैयालाल			५४८-शाकद्वीपीय ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें भ्रम-		
भाईशंकर दवे)	...	७०८	संशोधन (पं० श्रीरामकुमारजी शास्त्री,		
५२३-रामहृदय श्रीहनुमान्जी	...	२६८	व्याकरणाचार्य)	...	९३६
५२४-रावण क्या थे ? (मानसराजहंस पं०			५४९-शान्तोबा और उसकी धर्मपत्नी	...	४८३
श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)	...	१४०८	५५०-शिवभक्त अप्पय्य दीक्षित	...	३८८
५२५-रावण-पत्नी मन्दोदरी	...	२९१	५५१-शिवभक्त उपमन्यु	...	९६
५२६-ललितकिशोरीजी और नथुनीबाबा	...	३८७	५५२-शिवभक्त चाण्डाली	...	३०१
५२७-वर्णव्यवस्थाको हटाकर क्या चाहते हैं ?			५५३-शिवभक्त मंकणक	...	९८
(श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी, एम० ए०, काव्यतीर्थ)	...	१३५८	५५४-शिवभक्त महाकाल	...	९२
५२८-वात्सल्यभक्त नन्दबाबा	...	१७६	५५५-शिवभक्त राजा चन्द्रसेन और श्रीकर गोप	...	१९५
५२९-वात्सल्यभक्त महाराज दशरथ	...	१५६	५५६-शिवभक्त बाणासुर	...	२५१
५३०-वात्सल्यभक्त श्रीवसुदेवजी	...	१७४	५५७-शिवभक्त वैश्वानर	...	८८
५३१-विदेह-भक्त राजा जनक (श्रीकृपानारायणजी)	...	१५४	५५८-श्रीअभिनवगुप्ताचार्य	...	३०७
५३२-विद्यावारिधि श्रीकृष्णानन्ददासजी (श्री-			५५९-श्रीआनन्दीबाईजी (श्रीरामदासजी शास्त्री)	...	७८१
रामदासजी शास्त्री)	...	७३४	५६०-श्रीकुन्तीदेवी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	...	२३४
५३३-विद्या, श्रद्धा, उपनिषद् (श्रीचारुचन्द्र			५६१-श्रीकुलशेखर आलवार	...	३१३
चट्टोपाध्याय, एम० ए०)	...	१०३०	५६२-श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन	...	१०२०,
५३४-विरक्त रामभक्त श्रीबनादासजी (बाबा			१०७३, ११४२, १२०३, १२६८, १३९५, १४६४		
श्रीराघवदासजी, एम० एल्० ए०)	...	५५७	५६३-श्रीकेशव भट्ट काश्मीरी	...	३७२
५३५-विरही भक्त रघुजी	...	७५८	५६४-श्रीगणेशजी	...	४१
५३६-विवाहित स्त्रियोंके कर्तव्य (श्रीजयदयालजी			५६५-श्रीगोविन्द प्रभु	...	६१३
गोयन्दका)	...	८७६	५६६-श्रीघनानन्दजी	...	३७५
५३७-विश्वासी भक्त गाँधीजी	...	६८८	५६७-श्रीचित्रकूटके मौनी बाबा (धर्मभूषण	...	७७५
			श्रीकामतासिंहजी, वकील)	...	

५६८-श्रीजगन्नाथदास गोस्वामी (राजा श्रीलक्ष्मी- नारायण हरिचन्दन जगदेव पुरातत्त्वविशारद, विद्यावाचस्पति; त्रिमूर्तिविनोद) ...	५३८	५९२-श्रीमत्स्वामी प्रणवानन्दजी (ब्रह्मचारी श्रीरमेशजी) ...	महाराज ...
५६९-श्रीजगन्नाथप्रसाद परमहंस (श्रीरामस्वरूपजी)	८०५	५९३-श्रीमद्देवमुरारीजी (महन्त श्रीरघुनाथदासजी महाराज) ...	७४९ ...
५७०-श्रीजानकीवरशरणजी महाराज (श्रीजानकी- शरणजी 'स्नेहलता'रामायणी) ...	७१७	५९४-श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामायणके प्रचारकी योजना ...	६१९ ...
५७१-श्रीज्ञानेश्वर ...	४०९	५९५-श्रीमधुर कवि आळवार ...	१०६२ ...
५७२-श्रीन्यायचक्रराज ...	४२९	५९६-श्रीमधुसूदन सरस्वती ...	३२५ ...
५७३-श्रीधारशी भगत ...	७१४	५९७-श्रीमध्वाचार्यजी (पं० श्रीनारायणाचार्यजी वरखेड़कर) ...	४९३ ...
५७४-श्रीध्यानदासजी महाराज (श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री) ...	४५२	५९८-श्रीमुनिवाहन (तिरुप्पनाळवार) ...	३३२ ...
५७५-श्रीनारदीय भक्तिसूत्राणि ...	२	५९९-श्रीयमराजजी ...	३१८ ...
५७६-श्रीनारायण स्वामीजी ...	३८७	६००-श्रीयामुनाचार्य ...	४८ ...
५७७-श्रीनिम्बार्काचार्यजी ...	३३०	६०१-श्रीरानाबाईजी (श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री) ...	३२५ ...
५७८-श्रीनीलन् [तिरुमङ्गैयाळवार] ...	३२१	६०२-श्रीरामकृष्ण परमहंस ...	४५१ ...
५७९-श्रीपरशुरामदेवजी ...	३८४	६०३-श्रीरामचरितकी उज्ज्वलता (श्रीकान्तशरणजी)	७३८ ...
५८०-श्रीपोयगै आळवार, भूतत्ताळवार और पेयाळवार ...	३१९	६०४-श्रीरामदास काठियावाबाजी (स्वामी श्री- परमानन्ददासजी) ...	१०९२ ...
५८१-श्रीबुद्ध भक्त ...	७७१	६०५-श्रीराम-नाम अमृत है (आचार्य श्रीस्वामी गोपालदत्तजी शास्त्री, काव्य-पुराण-वेदान्त- तीर्थ) ...	७४३ ...
५८२-श्रीभक्त कोकिलजी ...	७५९	६०६-श्रीराम-नामके आदितियाजी (पं० झाबरमल्लजी शर्मा) ...	१३४३ ...
५८३-श्रीभक्तनाममालिका [संस्कृत श्रीभक्त- सहस्रनाम] (पं० श्रीवनमालीदासजी शास्त्री- कृत) ...	३५	६०७-श्रीरामानुजाचार्य ...	७३६ ...
५८४-श्रीभक्तामृत (पं० श्रीरघुवर मिट्टलाल शास्त्री, विद्याभूषण, साहित्याचार्य, काव्य-वेदान्त-तीर्थ, एम० ए०, एम० ओ० एल्०) ...	८२१	६०८-श्रीरूप-सनातन ...	३२६ ...
५८५-श्रीभक्तिसार [तिरुमडिसै आळवार] ...	३२०	६०९-श्रीलक्ष्मणजी ...	४९६ ...
५८६-श्रीभगवतरसिकजी (साहित्याचार्य पं० श्री- लोकनाथजी द्विवेदी, सिलाकारी, साहित्यरत्न)	३६७	६१०-श्रीललितकिशोरीजी और श्रीललितमाधुरीजी	१५९ ...
५८७-श्रीभगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग, कल्याण- कार्यालय, गोरखपुर) ...	१४३२, १५०१	६११-श्री [हित] लाल स्वामीजी (बाबा श्री- हितशरणजी महाराज) ...	३८६ ...
५८८-श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ...	१४४८	६१२-श्रीविठ्ठलविपुलदेवजी ...	३८० ...
५८९-श्रीभरतजी ...	१५८	६१३-श्रीविष्णुनारायण (भक्तपदरेणु) ...	३६६ ...
५९०-श्रीभानुदासजी ...	४२१	६१४-श्रीविष्णुचित्त (पेरि-आळवार) ...	३१५ ...
५९१-श्रीमत्स्वामी अनन्ताचार्यजी महाराज (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ...	७१६	६१५-श्रीवीरजी भक्त (वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)	३०९ ...
		६१६-श्रीवेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्य या श्रीवेदान्त- देशिकाचार्य ...	७९४ ...
		६१७-श्रीव्यासदासजी ...	३२१ ...
		६१८-श्रीशठकोपाचार्य ...	३७६ ...
		६१९-श्रीशत्रुघ्नकुमारजी ...	३२३ ...
		६२०-श्रीश्यामिन्दलीय भक्तिसूत्राणि	१६१ ...

६२१-श्रीशान्तिदेवी (श्रीवीरवहादुरसिंहजी चौहान, 'प्रभाकर') ... ७८२	६४८-सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र ... १५१
६२२-श्रीशुकदेवजी ... ११०	६४९-सत्सङ्गकी महिमा और उसका सदुपयोग (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज) ... १२५९
६२३-श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु ... ३३८	६५०-सत्सङ्ग-वाटिकाके विखरे सुमन (एक सत्सङ्गी) ९३१
६२४-श्रीश्रीनामामृत-लहरी [भगवन्नाम-माहात्म्य] (श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ) ... ९६३	६५१-सदन कसाई ... ६०२
६२५-श्रीसंतदास बाबाजी ... ७४४	६५२-सनकादि कुमार ... ४९
६२६-श्रीसुवंशनाथजी त्रिपाठी (पं० श्रीराजमङ्गल- नाथजी त्रिपाठी, एम० ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्याचार्य) ... ६७४	६५३-सभी वर्णाश्रमोंमें मुक्ति (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०६७
६२७-श्रीसूरदास मदनमोहनजी ... ३७१	६५४-समता [दो पत्र] (श्रीअरविन्द) ... ८७५
६२८-श्रीस्वामिनारायण (पं० श्रीनारायणचरणजी, तर्क-वेदान्त-तीर्थ) ... ५५२	६५५-समता क्या है ? (श्रीस्वामीजी महाराज) १२७४
६२९-श्रीहरिरामदासजी महाराज ... ४४९	६५६-समर्थ गुरु रामदास स्वामी ... ४३३
६३०-श्रीहितधुवदासजी (श्रीचश्मावाले बाबा) ३८१	६५७-सर्वतापशमनैकभेषजम् [सब रोगोंकी एक दवा भगवद्भक्ति] (आचार्य श्रीविनोबाजीके विचार) ... १४०७
६३१-षट्सम्पत्ति और उनकी उपयोगिता (साधु- वेष्टमें एक पथिक) ... १३४०	६५८-साधक-नियमावली (साधक-संघ, गीता- प्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) ... ११८१
६३२-संजीवन बूटी (महात्मा जयगौरीशङ्कर सीतारामजी) ... १४२३	६५९-साध्वी सख्खाई ... ६३१
६३३-संत-कृपा (श्रीनिरञ्जनदासजी धीर) ... १३५७	६६०-सार वचन (महात्मा जयगौरीशङ्कर सीताराम) ... १२३४
६३४-संत गङ्गानाथजी महाराज (श्रीगङ्गारामजी कोठारी) ... ७३७	६६१-सावधान ! अज्ञानसे परिचित रहना (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०) ... १०४२
६३५-संत श्रीनागा निरङ्कारीजी (स्वामीजी श्री- पलकनिधिजी महाराज) ... ७५६	६६२-सिद्ध श्रीकृष्णदासजी महाराज गोवर्धनवाले (ठाकुर श्रीशङ्करसिंहजी, बी० ए०) ... ७२७
६३६-संत श्रीब्रह्मचैतन्यजी महाराज (श्रीभैरव- शङ्करजी शर्मा) ... ६७६	६६३-सिद्ध श्रीमधुसूदनदासजी महाशय (श्रीशङ्कर- सिंहजी, बी० ए०) ... ७२८
६३७-संस्कृत संस्कृतिका वैज्ञानिक क्षेत्र (पं० श्रीविद्याधरजी शास्त्री, एम० ए०) ... १३५०	६६४-सिद्ध श्रीरामकृष्णदासजी (श्रीशङ्करसिंहजी, बी० ए०) ... ७२९
६३८-सखा सुग्रीव ... २६७	६६५-सिनेमा-मनोरञ्जन या विनाशका साधन ... १२३८
६३९-सखा सुदामा ... ११३	६६६-सिन्धुके भक्त शाह अब्दुल लतीफ (श्री- बदरुद्दीन राणपुरी) ... ७७६
६४०-सख्यभक्त अर्जुन ... १७९	६६७-सुखी जीवनका रहस्य (स्वामी श्रीचिदा- नन्दजी) ... ८८०
६४१-सचिव सुमन्त्र ... २७५	६६८-सुखी संसारका सुखी मानव (पं० श्रीराजेश्वर- प्रसादजी चतुर्वेदी, एम० ए०) ... १०४४
६४२-सच्ची शिक्षा ... ८९१	६६९-सुतीक्ष्ण मुनि ... ८४
६४३-सती अनसूया ... २०६	६७०-स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा और पातिव्रत्यका प्रभाव (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १००६
६४४-सती उत्तरा ... २४२	६७१-स्नेह जलता है [कहानी] (श्री'चक्र') ... १४२७
६४५-सती देवहूति ... २०४	६७२-स्वप्नमें ईश्वर-दर्शन (श्रीमथुरा पाण्डेय) ... १३४७
६४६-सती द्रौपदी(स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती) ११८४, १२४८, १३१०, १३७६, १४३९, १५०५.	६७३-स्वस्थ मनुष्य [कहानी] (श्री 'चक्र') ... १३०१
६४७-सत्य, क्षमा, तितिक्षा, इन्द्रियदमन आदिकी महिमा ... ११०२	

६७४-स्वामी रामवल्लभाशरणजी	...	७१८	६८१-स्वामी श्रीसियारामशरणजी [श्रीरूपलताजी]	...	७२०
६७५-स्वामी शिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी (पं०	...	७४५	(श्रीरामगुलामजी नाटाणी)	...	१०९०
श्रीमहेन्द्रनाथ भट्टाचार्य)	...	७२५	६८२-हमारा आदर्श क्या है ? (श्रीनलिनीकान्तगुप्त)	...	१४८८
६७६-स्वामी श्रीगोमतीदासजी	...	६१६	६८३-हलाहल-पान (स्वामी श्रीसूर्यप्रकाशजी)	...	१४८९
६७७-स्वामी श्रीचरणदासजी महाराज	...	७८४	६८४-हिंदू समाज और पर्व (श्रीसुदर्शन सिंहजी)	...	१४९२, १४९३
६७८-स्वामी श्रीनिरञ्जनानन्दजी तीर्थ (पं०	...	५०४	६८५-हिमालयके एक भक्त योगीका पुराना वृत्तान्त	...	१३०६
श्रीब्रह्मानन्दजी मिश्र)	...	३४४	[श्रीकालेबाबा] (श्री'मायेश' भारद्वाज)	...	१०२७
६७९-स्वामी श्रीप्रकाशानन्दजी सरस्वती	...	६८७-हृदयकी सरलतासे प्रभुका साक्षात्कार (पं०	...	८८४	
६८०-स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी (श्रीअर्जुन-	...		श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	...	
प्रसादजी शुक्ल, एम्० ए०)	...		६८७-होलीके लिये आवाहन (श्री 'दुर्गेश')	...	

कविता

१-अभक्तकी प्रार्थना	...	८११	१९-निर्मल भक्तिका पंथ (पं० श्रीसूरजचन्दजी	...	८५४
२-अभिलाषा	...	१५०२	सत्यप्रेमी 'डॉंगीजी')	...	
३-अवतार-वन्दना (भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी-	...	३४	२०-नैया पार लगा दे (बहिन शान्ता स्नातिका)	...	१३८४
कृत 'गीत-गोविन्द' के एक पदका अनुवाद)	...		२१-परमेश्वरकी प्राप्ति (श्रीअम्बादत्त शर्मा 'अम्ब')	...	१४७९
४-अवधकी वीथियोंमें खेलते हुए चारों भैया	...	८७३	२२-पुकार (प्रो० श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव, एम्०	...	९१४
(श्रीतुलसीदासजी)	...		ए०, एल्-एल्० बी० साहित्यरत्न)	...	९०४
५-अष्टभुज भगवान् (श्रीमद्भागवत ४ । ७ ।	...	१२५७	२३-पूजाके बारह फूल (अकिञ्चन)	...	
९ से ११ के आधारपर)	...		२४-प्रह्लादकृत श्रीनृसिंहजीकी स्तुति (श्रीप्रभुदत्तजी	...	२४४
६-आरती (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्०	...		ब्रह्मचारीकृत 'श्रीभागवतचरित' से)	...	
ए०, आचार्य) विशेषाङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ	...	९४५	२५-भक्तका प्रभुमय संसार (श्रीयुगलसिंहजी	...	८२८
७-आवत गोधनकौं अगुआये (श्रीहरीशजी	...	१०९९, १५००	एम्० ए०, बार-एट्-ला)	...	
साहित्यालङ्कार)	...		२६-भक्त नरसीजीकी हुंडी (डा० श्रीरणवीरसिंहजी	...	४५५
८-उपदेश	...	८३७	शक्तावत 'रसिक')	...	
९-उलाहना (श्रीअमरनाथजी जौहरी, एम्० ए०)	...	१२४७	२७-भक्त-भक्ति-भगवान् (पं० श्रीरामनारायण-	...	८१०
१०-एक खेल भर तेरा, मालिक ! एक खेल भर	...	११२०	दत्तजी पाण्डेय शास्त्री 'राम')	...	
(श्रीबालकृष्ण बलदुवा, बी० ए०, एल्-	...		२८-भक्त-वाणी (श्रीभगवतरसिकजी)	...	१०००
एल्० बी०)	...	१२४७	२९-भक्तोंके भोले भगवान् (श्रीलक्ष्मीनारायणजी	...	८३९
११-ऐसी रहनी रहिये (श्री 'भगवतरसिक' जी)	...	११२०	गुप्त 'कमलेश')	...	८९५
१२-ऐसी वेदना समा गयी (श्रीरूपनारायणजी	...	१०२६	३०-भगवत्पूजन और शुद्ध सत्कर्म (अकिञ्चन)	...	८४६
चतुर्वेदी)	...	१४३८	३१-भगवद्भक्त (श्रीरघुनाथप्रसादजी 'साधक')	...	१०६५
१३-कुमति (श्रीआरसीप्रसादसिंहजी)	...	११९३	३२-भगवान्की झाँकी (श्रीमद्भागवत ३ । २१ ।	...	
१४-खीझे माखन-खवैया (श्रीसूरदासजी)	...	१३६८	९-११के आधारपर)	...	१२०८
१५-गायत्री-गान (निशिकान्त, आयुर्वेदाचार्य)	...	१०८१	३३-मनका मोह (श्रीआरसीप्रसादसिंहजी)	...	१३८५
१६-चाह और स्थिति ('श्रीभारतेन्दु' जी)	...	१४८२	३४-माखन-खवैया (श्रीसूरदासजी)	...	६४३
१७-चेतावनी (सूरदासजी) तीसरे अङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ	...		३५-मीराँ-चरित्र (पं० श्रीवासुदेवजी गोस्वामी)	...	९३७
१८-नटवर	...		३६-मैं दूहिहों मोहि दूहन सिखावहु (श्रीसूरदासजी)	...	

३७-मैं स्वरूप पहचान न पाया (श्रीमोहनलाल गुप्त 'मधुप' एम० ए०)	...	११९२	१३। ११ के अनुसार)	...	१३२१
३८-रंगभूमिमें श्याम-गौर-किशोर (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी)	...	११२९	४४-विधिका विधान (श्रीगौरीशङ्करजी गुप्त)	...	१२३३
३९-रसखानि ('श्रीरसखान'जी)	...	१०८५	४५-विनती (श्रीकवीरदासजी)	...	१०३१
४०-रामनाम-महिमा (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी)	१२३७		४६-विनती (श्रीविहारीलालजी)	...	१०४९
४१-राम ! मैं तेरी शरण ! (श्रीश्यामसुन्दरजी बाजपेयी)	...	८२९	४७-वे दिन कब आवेंगे (श्रीभारतेन्दुजी)	...	११६१
४२-राम-श्यामका वन-विहार (श्रीमद्भा० १० । ८ । ७—११ के अनुसार)	...	१००१	४८-श्रीकृष्णकी मधुर बाल-लीला (श्री 'कृष्णायन'से)	...	१३७४
४३-वन-भोजनकी झाँकी (श्रीमद्भा० १० ।			४९-समर्पण	...	८०८
			५०-सालिगराम मुखमें (श्रीसूरदासजी)	...	१४४९
			५१-स्याम सुजान (श्रीसूरदासजी)	...	१४७०
			५२-हरिनाम (श्रीकवीरदासजी)	...	१२५६

संकलित

१-अभिलाषा	...	११४७	११-भक्त-वाणी ४१, ४५, ४८, ९८, १४७, १५०, १७७, २०२, २०७, २४३, २४८, २५७, २७०, २८२, २८९, २९१, २९८, ३५२, ३७४, ३७८, ३७९, ३८९, ४२६, ४८२, ४९२, ५०३, ५२४, ५२६, ५४८, ५५६, ५८२, ६११, ६७७, ६७८, ६८३, ७०४, ७०९, ७१०, ७५३, ७५६, ७७९, ७८८, ७८९
२-अमृत और मृत्यु (महाभारत, शान्तिपर्व)	१२०२		१२-भक्ति प्राप्त करनेके उपाय (श्रीमद्भा० ११। ११। २०-२४) दूसरे अङ्कका चौथा आवरणपृष्ठ
३-कुसङ्गसे हानि (महाभारत, वनपर्व)	१११०		१३-शास्त्र-वाणी
४-घिङ्कार है (श्रीधरस्वामी)	१००५		१४-संतकी वृत्ति
५-न त्यागनेके छः गुण और त्यागनेके छः दोष (महाभारत-उद्योगपर्व)	१२२४		१५-सदुपदेश ('महाभारत'से)
६-परमपदपर कौन पहुँचते हैं ? (पद्मपुराण, भूमिखण्ड ९५। १५—१७)	१३९२		१६-साधु-स्वभाव (स्कन्दपुराण वै० मा०)
७-परीक्षा (शिवपुराण ज्ञानसं० १०। २९)	१२१३		
८-प्रार्थना	१४६३		
९-भगवान्का नाम-जप-कीर्तन सर्वपापनाशक है (पद्मपुराण, पातालखण्ड)	१४२३		
१०-भक्त और भगवान् (नारदपाञ्चरात्र)	८०९		

चित्र-सूची

रंगीन			६-चतुर्विध भक्त	मुखपृष्ठ
१-अवधकी वीथियोंमें लट्टू खेलते हुए चारों भैया	...	८७३	७-तपस्विनी	८०९
२-अष्टभुज भगवान्	...	१२५७	८-देवर्षि नारदजी	५०
३-कर्दमको कृतार्थ करनेवाले भगवान् श्रीहरि	१०६५		९-परम भक्त श्रीहनुमान्जी	२६९
४-खीसे माखन-खवैया	...	११९३	१०-भक्त ध्रुव	१२९
५-गोस्वामी तुलसीदासजी	...	४४१	११-भक्त प्रह्लाद	२४५
			१२-भक्तिके नौ प्रकार	२०८

१३-भगवान् शङ्कर	४१	१४-दो मित्र भक्त	८८
१४-भगवान् श्रीराधा-मनमोहनकी झाँकी	१	१५-नरसीजीके साँवलशाह सेठ	...	४३५	५१
१५-भगवान् श्रीरामचन्द्रकी झाँकी	७६	१६-नीलन् आळवार	...	३२१	५५
१६-भगवान् श्रीशङ्कराचार्य	३०४	१७-पं० मोहनलालजी अग्निहोत्री	...	७९६	५६
१७-मतवाली मीरा	६४१	१८-पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज	...	७१७	५७
१८-महर्षि व्यासदेव	५०	१९-परम भक्त श्रीग्वारिया बाबा	...	७३८	५८
१९-महाप्रयाणके समय भीष्मपर भगवान्की कृपा	१७३	२०-पागल हरनाथ	...	७४९	५९
२०-महाराष्ट्र-संत ज्ञानेश्वरजी	४२४	२१-प्रभु जगद्वन्धु	...	७४९	६०
२१-माखन-खवैया	१३८५	२२-प्रभु श्रीअतुलकृष्ण गोस्वामी	...	७५६	६१
२२-मैं दुहिहौं मोहि दुहन सिखावहु	९३७	२३-प्रेममतवाली विदुरानी	...	२९२	६२
२३-रंगभूमिमें श्याम-गौर-किशोर	११२९	२४-बहिन सरस्वती	...	६५३	६३
२४-राम-श्याम और ग्वालवालोंकी वन-क्रीड़ा	१००१	२५-भक्त अंगदसिंहजी	...	५६५	६४
२५-वन-भोजनकी झाँकी	१३२१	२६-भक्त उतङ्क	...	६९	६५
२६-श्रीश्रीनिश्चार्काचार्य	३४०	२७-भक्त कण्डु मुनि	...	६८	६६
२७-श्रीमध्वाचार्य	३३२	२८-भक्त कण्णप्प	...	२९३	६७
२८-श्रीरामानन्दाचार्य	३३२	२९-भक्त कबीर	...	४३४	६८
२९-श्रीरामानुजाचार्य	३३२	३०-भक्त कब्बूभाई	...	७९७	६९
३०-श्रीवल्लभाचार्य	३३२	३१-भक्त करमैतीबाई	...	६१७	७०
३१-श्रीश्रीचैतन्य	३४०	३२-भक्त कवि जयदेवजी	...	४७७	७१
३२-संत एकनाथजी प्यासे गदहेको जल पिला रहे हैं	४२४	३३-भक्त किरात और नन्दी वैश्य	...	२९२	७२
३३-संत शठकोपाचार्य	३०४	३४-भक्त कूबा कुम्हार	...	६०४	७३
३४-संत सूरदासजी	४४१	३५-भक्त कोकिलजी	...	७५७	७४
३५-समदृष्टि श्रीशुकदेवजी	१११	३६-भक्त गंगाधरदास	...	५४९	७५
३६-सालिगराम मुखमें	१४४९	३७-भक्त गणेशनाथजी	...	४६८	७६

इकरंगे

१-अतिथि-सत्कार	४७६	४०-भक्त गुलाबरावजी	...	६८२	...
२-ऋषि अगस्त्य, राजा शङ्ख	६८	४१-भक्त गोपाल चरवाहा	...	५८९	...
३-कल्याणस्वामीकी गुरुभक्ति	४३४	४२-भक्त गोवर्धन	...	६०५	...
४-कुलशेखर आळवार	३२०	४३-भक्त गोविन्ददास	...	६०५	...
५-गंगाबाईके पतिपर भगवत्कृपा	६०५	४४-भक्त चक्रिक भील	...	२९२	...
६-गजदेवीपर कृपा	६५२	४५-भक्त चन्द्रहास	...	१६८	...
७-गोस्वामी विठ्ठलनाथजी	३६८	४६-भक्त जगन्नाथदास गोस्वामी	...	५४८	...
८-गौरी और उसका पुत्र उदयराज	४६९	४७-भक्त जनाबाई	...	६१७	...
९-जमींदार-बधूकी रक्षा	६५३	४८-भक्त जाम्भोजी	...	४३५	...
१०-ठाकुर किशनसिंहजी	५८८	४९-भक्त जोग परमानन्द	...	४६९	...
११-ठाकुर सरोजकुमार	७५६	५०-भक्त ज्योतिपंतपर गणेशजीकी कृपा	...	५६५	...
१२-डाकू भगत	५४८	५१-भक्त ठाकुर मेघसिंहजी	...	४१७	...
१३-डाक्टर एनी बेसेंट	६८३	५२-भक्त ठाकुरराम

५३-भक्त तुलाधार शूद्र	...	१६९	९२-भक्त राजा श्रीचतुरसिंहजी	...	७६८
५४-भक्त त्यागराज	...	४७७	९३-भक्त राजा सुरय	...	१६८
५५-भक्त त्र्यम्बकराज	...	४१७	९४-भक्त राधिकादासजी	...	७९६
५६-भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी	...	४७७	९५-भक्त रामचन्द्र	...	४६९
५७-भक्त दामाजी पंत	...	४०१	९६-भक्त रामचरणजी	...	४३५
५८-भक्त दीनबन्धुदास	...	५८८	९७-भक्त रामदास चमार	...	५८९
५९-भक्त धनुर्दासकी पत्नी हेमाम्बा	...	४०१	९८-भक्त रामनामके आदित्या	...	७९६
६०-भक्त धन्ना जाट	...	५८८	९९-भक्त रामनारायण	...	४०१
६१-भक्त नवीनचन्द्र	...	५२१	१००-भक्त ललिताचरण	...	५६५
६२-भक्त नानक	...	४३४	१०१-भक्त विठ्ठलदास	...	४७६
६३-भक्त पं० श्रीदेवीसहायजी	...	७६८	१०२-भक्त विमलतीर्थ	...	५८८
६४-भक्त परमेश्वरी दर्जी	...	५८९	१०३-भक्त विष्णुचित्त और उनके शिष्य	...	८९
६५-भक्त पुण्डरीकको भगवद्दर्शन	...	८८	१०४-भक्त वृत्तासुर	...	१६९
६६-भक्त पुरन्दरदासकी स्त्री	...	४१७	१०५-भक्त वेंकट और रमाया	...	४७६
६७-भक्त पद्मनाभ	...	८९	१०६-भक्त वेंकटरमण	...	४७६
६८-भक्त प्रतापराय	...	५२०	१०७-भक्त वैश्वानर	...	८९
६९-भक्त प्रेमनिधि	...	५६४	१०८-भक्त शङ्कर पण्डित	...	५४९
७०-भक्त बन्धु महान्ति	...	५४८	१०९-भक्त शान्तोबा	...	४७७
७१-भक्त बालीग्रामदास	...	५४८	११०-भक्त शिवि	...	१४०
७२-भक्त भद्रतनु	...	६९	१११-भक्त श्रीचित्तरंजनदास	...	६८९
७३-भक्त भानुदासजीको सूर्य-दर्शन	...	४१६	११२-भक्त श्रीजादवजी महाराज	...	७९७
७४-भक्त मणिदास माली	...	६०४	११३-भक्त श्रीरघुजी	...	७५७
७५-भक्त मनकोजी बोधला	...	४१६	११४-भक्त श्रीव्यासदासजी	...	४००
७६-भक्त महेश मण्डल	...	५४९	११५-भक्त श्रीशिरधर बाबा	...	४०१
७७-भक्त माणिक वाचक	...	२९३	११६-भक्त श्रीहरिदासजी महाराज	...	७९७
७८-भक्त मोहन गोपालभाईके साथ	...	५६४	११७-भक्त सखूबाई	...	६१७
७९-भक्त रघु केवट	...	५८९	११८-भक्त सदन कसाई	...	६०४
८०-भक्त रघुनाथदास	...	५२०	११९-भक्त सालवेग	...	६०४
८१-भक्त रघुनाथ महापात्र	...	५२०	१२०-भक्त सुधन्वा	...	१६९
८२-भक्त रत्नग्रीवका विमानारोहण	...	१६८	१२१-भक्त सुव्रत	...	६८
८३-भक्त रन्तिदेव	...	१४०	१२२-भक्त स्वामी लालदासजी	...	४६८
८४-भक्त रमणलाल	...	६१७	१२३-भक्त स्वामी हरिदासजी	...	४३५
८५-भक्त रसखान	...	३६९	१२४-भक्त हरिदासजी	...	५६५
८६-भक्त रसिकमुरारी हाथीको दीक्षा दे रहे हैं	...	४००	१२५-भक्त हरिनारायण	...	४६८
८७-भक्त रसिकमोहन विद्याभूषण	...	७५६	१२६-भक्त हिम्मतदास	...	५६४
८८-भक्त राँका-बाँका	...	४१६	१२७-भक्तिके बारह आचार्य	...	१४१
८९-भक्त राजा चित्रकेतु	...	१६८	१२८-भक्तिमती कर्मठीबाई	...	६५२
९०-भक्त राजा पुण्यनिधि	...	१६९	१२९-भक्तिमती यशोदामाई	...	७६९
९१-भक्त राजा रघुराजसिंहजी	...	७६८	१३०-भक्तिमती शबरी	...	२९२

१३१-भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र	...	७६९	१६७-श्रीधारशी भक्त	...	
१३२-भिक्षु अखण्डानन्दजी	...	७९७	१६८-श्रीनन्दकिशोर मुखोपाध्याय	...	७०९
१३३-महर्षि ऋषभ	...	६८	१६९-श्रीनामदेवजी	...	७४८
१३४-महर्षि दधीचि	...	६९	१७०-श्रीपयहारीजी और महाराजा पृथ्वीराज	...	४१६
१३५-महर्षि मुद्गल	...	८८	१७१-श्रीपरशुरामदेवजी	...	६१६
१३६-महात्मा गांधीजी	...	६८८	१७२-श्रीपोयगै, भूतत्ताळवार और पेयाळवार	...	४००
१३७-महात्मा मत्तरामजी	...	७०९	१७३-श्रीबनादासजी	...	३२१
१३८-महात्मा शिशिरकुमार घोष	...	६८३	१७४-श्रीभट्टजीको श्रीराधाकृष्णके दर्शन	...	५६४
१३९-महामना मालवीयजी	...	६८८	१७५-श्रीमुनिवाहन (तिरुप्पनाळवार)	...	४००
१४०-मामा प्रयागदासजी	...	६८२	१७६-श्रीमोरारसाहेब	...	३२१
१४१-मालतीपर भगवत्कृपा	...	५२१	१७७-श्रीयुगलानन्यशरणजी	...	७०८
१४२-यवनभक्त हरिदास	...	५२०	१७८-श्रीरविसाहेब	...	७१६
१४३-योगी भक्त श्रीअरविन्द	...	६८९	१७९-श्रीरामकृष्ण परमहंस	...	७०८
१४४-रानी रत्नावती	...	६५२	१८०-श्रीरूपकलाजी	...	७३९
१४५-रामभक्त कम्बर	...	३२१	१८१-श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी	...	७३८
१४६-रामभक्त श्रीगोपीनाथचार्य	...	७०८	१८२-श्रीविप्रनारायण (भक्तपदरेणु)	...	७३९
१४७-रामलगनपर हनुमान्जीकी कृपा	...	६८२	१८३-श्रीशङ्करलाल माहेश्वर शास्त्री	...	३२०
१४८-रामहरिके बदले पुत्रकी इत्या	...	५२१	१८४-श्रीशिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्दजी	...	७०९
१४९-लोकमान्य तिलक	...	६८३	१८५-श्रीश्रीअनन्तमहाप्रभुजी	...	७४८
१५०-विश्वनाथजीपर कृपा	...	६५२	१८६-श्रीसत्यदेवजी महाराज	...	७६८
१५१-विष्णुचित्त (पेरियाळवार)	...	३२०	१८७-श्रीसंतदास बाबाजी	...	७५६
१५२-शिवभक्त महाकाल	...	८९	१८८-श्रीसियारामशरणजी	...	७४९
१५३-श्रीअनन्ताचार्यजी	...	७१६	१८९-श्रीसियालालशरणजी (प्रेमलताजी)	...	७१७
१५४-श्रीआण्डाल (रंगनाथकी)	...	३२०	१९०-श्रीस्वामिनारायणजी	...	५४९
१५५-श्रीकाठियाबाबाजी	...	७४९	१९१-श्रीहितहरिवंशजी	...	३६८
१५६-श्रीकुलदानन्द ब्रह्मचारी	...	७३९	१९२-संत श्रीसियारामजी	...	७५७
१५७-श्रीकेशव काश्मीरी	...	३६९	१९३-समर्थ रामदास (छत्रपति शिवाजी)	...	४३४
१५८-श्रीगोमतीदासजी	...	७३८	१९४-स्वामी प्रणवानन्दजी महाराज	...	७४८
१५९-श्रीचरणदासजी	...	६१६	१९५-स्वामी रामतीर्थ	...	७५७
१६०-श्रीजानकीवरशरणजी	...	७१६	१९६-स्वामी रामवल्लभाशरणजी	...	७१६
१६१-श्रीजीसहित श्रीरंगीलालजी	...	३६८	१९७-स्वामी श्रीअग्रदासजी	...	६०५
१६२-श्रीडाह्याभाई	...	७९६	१९८-स्वामी श्रीमद् इन्दिराकान्ततीर्थ	...	६८२
१६३-श्रीदयारामभाई	...	७०८	१९९-स्वामी श्रीसरयूदासजी महाराज	...	७०९
१६४-श्रीदाशरथि स्मृतिभूषण	...	७४८	२००-स्वामी हरिदासजी, अकबर और तानसेन	...	३६९
१६५-श्रीदुर्गाचरण नाग	...	७३९	२०१-हसीना-हमीदापर कृपा	...	६५३
१६६-श्रीदेवनायकाचार्यजी महाराज	...	७६९			

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई तज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७।। और भारतवर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिंग) नियत है। **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष सौर माघ या जनवरीसे आरम्भ होकर सौर पौष या दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरी-से ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो, तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जाने-

की अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य भेजनी पड़ेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको सन्-विरंगे चित्रों-वाला जनवरीका अङ्क (चाहू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) सात आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है; ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ॥३॥ वाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'-की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१२) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) **प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।** 'कल्याण' के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चाहू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें) पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे भेजनेवालोंसे चंदा कुछ कम नहीं लिया जाता।
व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित या अनुवादित कुछ पुस्तकें

विनय-पत्रिका—सानुवाद, पृष्ठ ४७२, सचित्र, मूल्य १) सजिल्द	१।=)
भगवच्चर्चा भाग १—(तुलसीदल)—सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य ॥) सजिल्द	॥।=)
भगवच्चर्चा भाग २—(नैवेद्य)—सचित्र, पृष्ठ २६४, मूल्य ॥) सजिल्द	॥।=)
सत्सङ्गके बिखरे मोती—ग्यारह मालाएँ, पृष्ठ २४४, सचित्र, मूल्य	॥।)
दोहावली—सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १९६, मूल्य	॥)
उपनिषदोंके चौदह रत्न—पृष्ठ ९०, सचित्र, मूल्य	।=)
लोक-परलोकका सुधार—[कामके पत्र] (प्रथम भाग) पृष्ठ २२०, मूल्य	।=)
लोक-परलोकका सुधार—[कामके पत्र] (द्वितीय भाग) पृष्ठ २४४, मूल्य	।=)
लोक-परलोकका सुधार—[कामके पत्र] (तृतीय भाग) पृष्ठ २९२, मूल्य	॥)
लोक-परलोकका सुधार—[कामके पत्र] (चतुर्थ भाग) पृष्ठ २८८, मूल्य	॥)
लोक-परलोकका सुधार—[कामके पत्र] (पञ्चम भाग) पृष्ठ २८०, मूल्य	॥)
नारी-शिक्षा—नयी पुस्तक, पृष्ठ १६८, मूल्य	।=)
प्रेम-दर्शन—नारदकृत भक्तिसूत्रोंकी टीका, पृष्ठ १८८, सचित्र, मूल्य	।=)
भवरोगकी रामबाण दवा—पृष्ठ १०२, मूल्य	।=)
कल्याण-कुञ्ज [भाग १]—मननीय तरंगोंके संग्रह, सचित्र, पृष्ठ १३६, मूल्य	।)
कल्याण-कुञ्ज [भाग २]—सचित्र, पृष्ठ १६०, मूल्य	।=)
कल्याण-कुञ्ज [भाग ३]—सचित्र, पृष्ठ १८४, मूल्य	।=)
प्रार्थना—इक्कीस प्रार्थनाओंका संग्रह, सचित्र, पृष्ठ ५६, मूल्य	≡)
मानव-धर्म—(मनुकथित धर्मके दस लक्षण) पृष्ठ ९८, मूल्य	≡)
साधन-पथ—साधनोपयोगी चुनी हुई बातें, सचित्र, पृष्ठ ६८, मूल्य	≡)॥
भजन-संग्रह—[भाग ५] (पत्र-पुष्प)—पृष्ठ १४०, मूल्य	≡)
स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी—(दो बहिनोंके संवादरूपमें) पृष्ठ ५६, मूल्य	→)॥
गोपी-प्रेम—(माधुर्य प्रेमका अनूठा वर्णन) पृष्ठ ५२, मूल्य	→)॥
मनको वश करनेके कुछ उपाय—पृष्ठ २४, मूल्य	→)।
सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन—नयी पुस्तक, पृष्ठ २४, मूल्य	→)
आनन्दकी लहरें—पृष्ठ २४, मूल्य	→)
ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्यरक्षाके अनेक उपाय, पृष्ठ ३२, मूल्य	→)
हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप—पृष्ठ २४, मूल्य	→)

यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेतासे पूछिये । इससे आपको भारी डाकखर्चकी बचत होगी ।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

Compi ed
1999-2000

